सम्पादक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

# मीमांसादर्शन

सम्पादक

**वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**

**माता भगवती देवी शर्मा**

प्रकाशक

**युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट**

**गायत्री तपोभूमि, मथुरा**

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं० – २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मूल्य ३०० रुपये

* प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

सम्पादक
**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**
**माता भगवती देवी शर्मा**



* प्रथम आवृत्ति (संशोधित-परिवर्धित संस्करण)
**( कार्तिक पूर्णिमा-संवत् २०६२ )**

* **मूल्य ३०० रुपये**

* मुद्रक
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

# ॥ समर्पण ॥

जिन्होंने मीमांसादर्शन के प्रणेता आचार्य जैमिनि के सूत्र '**अथातो धर्म जिज्ञासा**' को युगानुरूप परिवेश प्रदान किया, काल प्रभाव से जनमानस में प्रविष्ट धर्म की प्रतिगामी परिभाषा को निरस्त कर ऋषि-सूत्र – **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** के अनुसार धर्म को वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस का सोपान सिद्ध किया, मानवीय कर्म-पुरुषार्थ को संकीर्ण स्वार्थपरता के सम्मोहन से उबारकर उसे वेद- सम्मत यज्ञीय अनुशासन से आबद्धकर, सार्थक-कल्याणकारी जीवनयज्ञ बनाने की प्रचण्ड प्रेरणा का संचार किया, जिनकी कृपा-कोर से मीमांसादर्शन का यह नवीन संस्करण प्रस्तुत स्वरूप ले सका, उन्हीं युगाचार्य युगऋषि के पाद-पद्मों में यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

**नव्यं संस्करणं यस्य कृपादृष्ट्या प्रकाशितम्।**
**मीमांसादर्शनञ्चैतत् तस्मा एव समर्पितम्॥**

# प्रकाशकीय

युगऋषि द्वारा आर्ष ग्रन्थों के जनसुलभ संस्करण जन-जन तक पहुँचाने के निमित्त प्रारम्भ 'ज्ञानयज्ञ' के क्रम में वेद, उपनिषदों के पश्चात् षड्दर्शनों के नवीन संस्करण प्रस्तुत करने के प्रयास की पूर्णाहुति 'मीमांसादर्शन' के प्रस्तुत संस्करण के साथ सम्पन्न हो रही है। जैसा कि 'वेदान्तदर्शन' के प्रकाशकीय निवेदन में उल्लेख किया जा चुका है, मीमांसादर्शन का कलेवर बड़ा होने के कारण शृंखला के इन दो दर्शनों को संयुक्त के स्थान पर एकल ही प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संशोधित संस्करण में आचार्यश्री के सूत्र-निर्देशों को ही आधार मानते हुए सूत्रों की व्याख्या की गयी है। जैसा कि विज्ञजन जानते हैं कि मीमांसादर्शन का शुभारम्भ धर्म की जिज्ञासा के साथ किया गया है और धर्म-कर्म की व्याख्या यज्ञीय प्रक्रिया को मुख्य मानकर की गयी है। ऐसी स्थिति में यज्ञ के सन्दर्भ में भ्रान्तियों का निवारण करके उसे अनुशासित, लोकहितकारी परिवेश प्रदान करना आवश्यक हो गया था। मीमांसकों ने इस प्रयोजन की पूर्ति कुशलतापूर्वक की है। आचार्यश्री ने भी यज्ञीय परिपाटी की गरिमा को पुन: प्रतिष्ठित करते हुए 'यज्ञ' को युगानुरूप परिवेश प्रदान किया। अस्तु; मीमांसादर्शन के प्रगतिशील प्रस्तुतीकरण का दायित्व भी उन्हें निभाना था। मीमांसादर्शन के पूर्व और इस संस्करण द्वारा उसी पुनीत दायित्व के निर्वाह का विनम्र प्रयास किया गया है।

इस नवीन संस्करण की भूमिका में उनके द्वारा लिखित भूमिका को ही आधार बनाया गया है। सूत्रों के प्रतिपादन के लिए ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों के उपयुक्त संक्षिप्त उद्धरण देने का प्रयास भी किया गया है; ताकि अध्येताओं की दृष्टि में वस्तुस्थिति आ सके। सूत्रों की अनुक्रमणिका भी परिशिष्ट रूप में जोड़ दी गयी है। महर्षि जैमिनि रचित मीमांसादर्शन के लुप्तप्राय सूत्रों को खोजकर शबर स्वामी द्वारा प्रस्तुत भाष्य और उसके आधार पर प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट द्वारा प्रस्तुत बृहत् टीका के पुण्य-प्रयोजनों की पूर्ति में **वेदविभाग** का यह विनम्र प्रयास सार्थक योगदान प्रस्तुत कर सकेगा, ऐसा विश्वास है।

# विषय-सूची



**परिशिष्ट**

# भूमिका

किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने की विधि को मीमांसा कहते हैं। भारतीय धर्म का मूल ग्रन्थ वेद है। वेद के दो भाग हैं-एक को कर्मकाण्ड, दूसरे को ज्ञानकाण्ड कहते हैं। कर्मकाण्ड में याज्ञिक क्रियाओं एवं अनुष्ठान की विधियों का वर्णन किया गया है। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, जीव एवं प्रकृतिगत पदार्थों के स्वरूप और सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। एक परिभाषा के अनुसार 'इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय बतलाने वाले ग्रन्थ को वेद कहा जाता है।' इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार धर्माचरण से ही हो सकता है। हमें जो 'करना चाहिए' और जैसा 'होना चाहिए' जैसे प्रश्नों का समाधान धर्मशास्त्र या वेद ही कर सकते हैं, मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति इन्हीं प्रश्नों की वास्तविक जानकारी के लिए हुई है। कर्मकाण्ड एवं ज्ञान के निरूपण में दिखाई पड़ने वाले आपाततः विरोधों को दूर करने का लक्ष्य लेकर मीमांसा दर्शन की प्रवृत्ति होती है। इसे 'कर्म मीमांसा' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड की मीमांसा की गई है; परन्तु सामान्य तौर पर इसे मीमांसा नाम से ही अभिहित किया गया है। ज्ञानकाण्ड का यथार्थ निरूपण करने वाले दर्शन को ज्ञान मीमांसा कहते हैं, जिसे सामान्यतया वेदान्त कहते हैं। वेद का पूर्व खण्ड कर्मकाण्ड तथा उत्तरखण्ड ज्ञानकाण्ड होने के कारण मीमांसा को पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त को उत्तर मीमांसा कहते हैं। मीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकाण्डों की समस्याओं और शंकाओं का समाधान किया गया है, इसी कारण दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए भी इसकी उपादेयता बढ़ जाती है; परन्तु दूसरा पक्ष इसीलिए इसे दर्शन मानने से इनकार भी करता है। उसका कहना है कि इसके मूल सूत्रग्रन्थ में प्रमाणों के अतिरिक्त और किसी भी दार्शनिक तत्त्व का समावेश नहीं है। मीमांसा का मुख्य विषय 'धर्म' को जानना तथा वेदार्थ का विचार करना है। मीमांसा में प्रमाणों का विचार अन्य दर्शनों की तरह केवल दार्शनिक 'प्रमेय' को जानने के लिए नहीं है; परन्तु बाद में सूत्र के व्याख्याकारों ने आत्मा, मुक्ति, शरीर, इन्द्रिय आदि दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन भी इसमें किया है। फिर भी अन्य दर्शनशास्त्रों की तरह इन तत्त्वों का विचार इसमें बहुत समन्वित नहीं है, इस बात को कुमारिलभट्ट ने भी स्वीकार किया है। इसलिए मीमांसा को दर्शनशास्त्र में परिगणित करने के लिए युक्ति दी जा सकती है कि मीमांसा में 'धर्म' का विचार किया गया है। जो लोक और परलोक में कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है, 'धर्म' कहलाता है। धर्म पर विचार करना दर्शनशास्त्र का ही विषय है।

षड्दर्शनों में मीमांसा दर्शन की परिगणना का एक कारण यह भी है कि इसके सूत्रों की व्याख्या करने वालों ने प्रमाण-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा आदि विषयों का विशद विवेचन किया है। दर्शन का प्रतिपादन युक्ति-प्रधान होता है और युक्तियों का आधार लौकिक अनुभव होता है; परन्तु मीमांसा दर्शन की विशेषता यह है कि यहाँ उक्तियों का प्रयोग मुख्य रूप से आप्त वचनों के समर्थन एवं उनकी पुष्टि के लिए किया गया है।

## मीमांसा का उद्गम स्थल

मीमांसा दर्शन के सूत्रों को महर्षि जैमिनि प्रणीत माना गया है और अन्य दूसरे दर्शनों की तरह इसके विचार सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध सूत्रों के रूप में हुए हैं। वेद जिसका विधान करें, वह धर्म है और जिसका निषेध करें, वह अधर्म है। धर्म के विचार प्रसंग में कायिक, वाचिक तथा सत्कर्मों का विचार करना आवश्यक है। इसी विचार के द्वारा अंत:करण को पवित्र किया जा सकता है। मीमांसा-शास्त्र प्रत्येक जिज्ञासु के लिए आध्यात्मिक चिन्तन की शिक्षा देता है। इसलिए भी इसे दर्शनशास्त्र कहने में कोई आपत्ति नहीं है। 'धर्म' (कर्त्तव्य) पालन का विचार जिस शास्त्र में होता है, उसे दर्शनशास्त्र कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। 'धर्म' का विचार करके यदि जीवन के सभी कर्म किये जायें, तो मानव जीवन का परम लक्ष्य अवश्य मिलेगा।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि जब वैदिक धर्म पर बौद्धों के द्वारा बहुत आक्षेप किये जा रहे थे, उस समय वेद की रक्षा के लिए मीमांसा शास्त्र की रचना की गयी। यही कारण है कि न्याय शास्त्र की तरह से मीमांसा शास्त्र की जन्मभूमि भी मिथिला ही कही जाती है। मीमांसा के जितने ग्रन्थ एवं आचार्य मिथिला में हुए हैं, उतने अन्य क्षेत्रों में नहीं हुए हैं। पन्द्रहवीं सदी की एक 'प्रशस्ति' के आधार पर यह कहा जाता है कि जिस समय मिथिला में महाराजा मिथिलेश भैरवसिंह थे, उस समय एक पुष्करिणी का यज्ञ हुआ था, उसमें आमन्त्रित विद्वानों में केवल मीमांसा विद्वानों की संख्या चौदह सौ थी।

## मीमांसा का साहित्य

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि मीमांसा-शास्त्र का उद्भव उस समय हुआ था, जब बौद्धों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था, लोग वैदिक-धर्म से हटते जा रहे थे। इसका प्रमाण आचार्य माधव (वेदविद्) ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में किया है-

**बौद्धादिनास्तिकध्वस्तो वेदमार्ग: पुरा किल।**
**भट्टाचार्य: कुमारांश: स्थापयामास भूतले॥**

अर्थात् बौद्ध आदि मतावलम्बियों ने जिस वेद-मार्ग को प्राचीन काल में नष्ट कर दिया था, कुमारिल भट्टाचार्य ने पृथ्वी पर फिर से उसी मार्ग को स्थापित किया।

मीमांसा-शास्त्र के रचनाकार महर्षि जैमिनि के एक हजार वर्ष बाद कुमारिल भट्टाचार्य का समय माना जाता है, जो शंकराचार्य जी के समकालीन थे। वे मीमांसा शास्त्र के बड़े ही प्रसिद्ध विचारक थे। मीमांसा के मूल ग्रन्थ में सूत्रों की संख्या २७४५ बताई गई है, जबकि वर्तमान में उपलब्ध मीमांसा दर्शन के संस्करणों में यह संख्या अलग-अलग पाई जाती है। श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य के शाबर भाष्य संस्करण (सन् १८८३, कलकत्ता) में सूत्रों की संख्या २७२२ है। षड्दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने संस्करण में सूत्रों की संख्या २७३१ मानी है। परम पूज्य गुरुदेव ने मीमांसा दर्शन के अपने संस्करण में सूत्रों की संख्या २७४२ दी है। इन सभी संस्करणों के समीक्षात्मक अध्ययन-अनुसन्धान के बाद इस संशोधित संस्करण में सूत्रों की संख्या २७४१ स्वीकार की गयी है, जो हर दृष्टि से युक्तियुक्त है। ये सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण इस दर्शन

का नाम द्वादशाध्यायी या द्वादश-लक्षणी मीमांसा भी कहा जाता है। अन्य चार अध्यायों की रचना भी महर्षि जैमिनि ने की थी, जिन्हें संकर्ष या देवता काण्ड कहा जाता है। इनमें सूत्रों की संख्या ४३६ है। इस तरह १६ अध्यायों में यह दर्शन पूर्ण हुआ। मीमांसा शास्त्र का साहित्य बहुत विस्तृत है, पूर्वकाल में विद्वान् लोग इसका कारण यह मानते हैं कि इस शास्त्र की रचना लोक एवं वेद में प्रचलित न्यायों के आधार पर हुई होगी। वर्तमान समय में मीमांसा के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायरत्नाकर, न्यायकणिका, न्यायमाला आदि में न्याय शब्द का प्रयोग किया गया है।

**जैमिनि से पूर्व के आचार्य**

महर्षि जैमिनि का सूत्रग्रन्थ इस शास्त्र का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। ईसा के पूर्व लगभग तीसरी सदी इनका समय माना गया है; परन्तु इस सूत्र ग्रन्थ को देखने से ऐसा लगता है कि जैमिनि इसके आदि प्रवर्त्तक नहीं हैं; क्योंकि इन सूत्र ग्रन्थों में कार्ष्णाजिनि, ऐतिशायन, बादरि, बादरायण, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय एवं आलेखन इन आठ आचार्यों के नाम तथा उनके मतों का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों में आपिशलि, उपवर्ष, बोधायन और भवदास इन प्राचीन आचार्यों के मतों का भी उल्लेख है।

## मीमांसा के सम्प्रदाय

मीमांसा शास्त्र का प्रमुख भाष्य शबर स्वामी का है, उसके बाद तीन व्याख्याता हुए हैं, जिन्हें तीन सम्प्रदायों के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। १-कुमारिल भट्ट २-प्रभाकर मिश्र एवं ३-मुरारि मिश्र। मीमांसा में इनके मतों को भाट्टमत तथा गुरुमत के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मुरारि मिश्र नाम के व्याख्याता की परम्परा पर न अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, न उनके अनुयायी।

**मीमांसा के भाष्यकार**

जैमिनि-प्रणीत मीमांसा सूत्र के प्रथम भाष्यकार शबर स्वामी माने जाते हैं। इनका समय द्वितीय शती विक्रमी कहा जाता है। इनके भाष्य को शाबर भाष्य कहा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त भाष्य के पूर्व एवं पश्चात् भी मीमांसा सूत्रों पर उपवर्ष भर्तृहरि, भवदास, देव स्वामी, भर्तृमित्र आदि विद्वानों ने भी वृत्तियों की रचना की थी, परन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। शबर स्वामी का पूर्व नाम आदित्य देव था। कहा जाता है कि जैनियों के भय के कारण इनको जङ्गल में भागना पड़ा तथा शबर (भील) के रूप में रहकर समाज से छुपकर भाष्य करना पड़ा, यही भाष्य मीमांसा का मूल ग्रन्थ माना जाता है।

**कुमारिलभट्ट**- शबरस्वामीकृत भाष्य को कुमारिल ने अपनी विद्वत्ता एवं परिश्रम के द्वारा संकलित करके उस पर भाष्य किया। बौद्ध मत का खण्डन करके वैदिक मत की स्थापना के लिए उन्होंने इस शास्त्र को प्रचारित किया। जिसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है-

**प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।**
**तामास्तिक पथे कर्त्तृमयं यत्नः कृतो मया॥**

(श्लोक वार्तिक-१०)

अर्थात् 'लोकायती-भौतिकवादी अर्थात् नास्तिकों ने मीमांसा शास्त्र पर अधिकार कर लिया था, उसका उद्धार करके मैंने उसे आस्तिक पथ पर लाने का प्रयास किया।'

कुमारिल भट्ट अपने युग के बड़े ही प्रौढ़ व्याख्याकार मीमांसक हैं। इनके ग्रन्थों को मीमांसा शास्त्र का विश्वकोश भी कहा जाता है। इन्होंने

कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपने मत में दीक्षित करके इसका प्रचार-विस्तार कराया। प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर शंकराचार्य से इनका वार्तालाप हुआ था, ऐसा शंकर-दिग्विजय में उल्लेख है। कुमारिल भट्ट ने शाबर भाष्य पर तीन वार्तिक लिखे हैं- १- **श्लोक वार्तिक** (प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का कारिका बद्ध व्याख्यान), २- **तन्त्र वार्तिक** (प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से तृतीय अध्याय तक गद्यमय व्याख्या), ३- **टुप्टीका** (अन्तिम नौ अध्यायों की व्याख्या)।

**मण्डन मिश्र** (छठी या सातवीं सदी) बहुत बड़े मीमांसक तथा वेदान्त के ज्ञाता थे। शंकराचार्य से इन्हीं का शास्त्रार्थ हुआ था, पराजित होने के बाद इनके शिष्य सुरेश्वराचार्य नाम से विख्यात हुए। मण्डन मिश्र ने 'भावना विवेक (विधि विवेक), मीमांसानुक्रमणी' नामक ग्रन्थों का लेखन किया था। मण्डन मिश्र को कुमारिल का सम्बन्धी एवं अनुयायी भी माना जाता है।

**प्रभाकर मिश्र** (६८० से ७५० ई.) भाट्ट मत को मानने वालों में सबसे विद्वान् शिष्य थे। कुमारिल इनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुए थे, जिसके कारण इनको 'गुरु' की उपाधि दी थी। शाबर भाष्य पर इन्होंने 'लघ्वी' और 'बृहती' नाम की टीकाएँ लिखी थीं। जिनमें बृहती का कुछ अंश प्रकाशित हुआ, शेष अप्रकाशित है। गुरु नाम से इनका स्वतंत्र मत भी चला। इनके मत में कई अवान्तर मतों का भी प्रवर्त्तन हुआ, उन प्रवर्त्तकों में 'चन्द्र' नाम के एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने अपना स्वतन्त्र मत भी चलाया था।

**पार्थ सारथि मिश्र** (१०५०-११२० ई०) भाट्ट मत के अन्य अनुयायियों में थे। जिन्होंने श्लोकतन्त्रवार्तिक पर 'न्याय रत्नाकर' और टुप्टीका पर 'तन्त्ररत्न' नामक ग्रन्थ लिखा। उनके मौलिक ग्रन्थों में 'न्यायरत्न माला' और 'शास्त्रदीपिका' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

**शालिक नाथ मिश्र** का समय नवीं सदी से पहले का है। इनको प्रभाकर का प्रधान शिष्य माना गया है। इन्होंने 'दीप शिखा' एवं 'ऋजुविमल नामक पञ्चिका' दो भाष्य प्रभाकर के ग्रन्थों पर लिखे हैं। इनकी टीका सरल-सुबोध होने के कारण विषय को समझने में सुविधा होती है। इनको प्रभाकर का शिष्य तथा गुरु-परम्परा का मुख्य व्याख्याता कहा जाता है। गुरु परम्परा के अन्य अनुयायियों में **भवनाथ नन्दीश्वर** तथा **रामानुजाचार्य** का नाम उद्भट विद्वानों में लिया जाता है।

**मुरारि मिश्र** (लगभग ११ वीं सदी)- मीमांसा दर्शन के तीन व्याख्याकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र के बाद मुरारि मिश्र का नाम आता है। इनके विषय में **'मुरारेस्तृतीयः' पन्थाः** यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है। इसके बारे में विद्वानों का कहना है कि भाट्ट तथा गुरु मतों के रहने के बाद इन्होंने एक अलग तीसरा मार्ग खोज निकाला था। इन्होंने मीमांसा दर्शन के तत्त्वों के विषय में अपनी एक अलग सम्मति बनाई थी। इनका मत भी कुमारिल और प्रभाकर की तरह ही विद्वत्तापूर्ण माना जाता है। इनका 'प्रामाण्यवाद' पर बहुत महत्त्वपूर्ण विचार है; परन्तु वर्तमान समय में इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं।

**खण्डदेव** (१७ वीं सदी) दक्षिण भारत के मीमांसा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्होंने भाट्टमत के प्रतिपादन के लिए 'भाट्ट कौस्तुभ' नाम की एक बृहत् व्याख्या लिखी है। इन्होंने 'भाट्ट दीपिका' एवं 'भाट्ट रहस्य' नाम के दो मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी। इन्होंने 'मीमांसा कौस्तुभ' नाम की भी एक टीका लिखी है।

**शम्भु कविमण्डन** (१६४०-१७००)

खण्डदेव के शिष्य थे, जिन्होंने 'भाट्ट दीपिका' पर 'प्रभावती' नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी है।

**अप्पय दीक्षित** (१५२०-१५९३)- भाट्ट मत के समर्थन में इन्होंने 'विधिरसायन' की रचना करके उसकी व्याख्या की थी। इनके 'उपक्रमपराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' एवं 'चित्रकूट' नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

भाट्ट मत की परम्परा के **आपदेव** (१५८०-१६५० ई०) ने 'मीमांसा न्याय प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा। उसी ग्रन्थ पर उनके पुत्र **अनन्तदेव** (१६००-१६७०ई०) ने 'भाट्टालंकार' नाम के व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की। आपदेव के 'मीमांसा न्याय प्रकाश' पर २०वीं सदी में **महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी शास्त्री** ने 'सार विवेचिनी' एवं **वासुदेव शास्त्री** (२०वीं सदी) ने 'प्रभा' नामक व्याख्याएँ कीं। **स्वामी केवलानन्द सरस्वती** (२०वीं सदी) ने 'मीमांसाकोश' नाम का एक संग्रह-ग्रन्थ लिखा है। भाट्टपरम्परा के अन्य भी विद्वान् मीमांसक हुए हैं, जिनके नाम हैं- गंगा भट्ट, अप्पय भट्ट आदि। ये दक्षिण भारतीय विद्वान् हैं। मिथिला में मीमांसा शास्त्र के शतशः विद्वान् हुए हैं। बौद्धों के समय में मीमांसा का प्रचार चरम पर था, बाद में आचार्य शंकर द्वारा उसका खण्डन करके वेदान्त द्वारा वैदिक धर्म की स्थापना की गई। मीमांसा शास्त्र यज्ञ के उपकार एवं वेद के अर्थों का प्रतिपादन करने के लिए बना था; परन्तु लोगों में यज्ञाचरण न होने के कारण यह शास्त्र शिथिल हो गया।

## मीमांसा के विषय

महर्षि जैमिनि ने मीमांसा के १२ विषयों को १२ अध्यायों में निबद्ध किया है। इसी कारण इसका अपर नाम **द्वादश लक्षणी** भी प्रसिद्ध है। ये विषय हैं-

**१-धर्म जिज्ञासा** (प्रमाण लक्षण-परिभाषा आदि)। **२- कर्मभेद** (कर्म का प्राधान्य-अप्राधान्य एवं भेद-अभेद)। **३- शेषत्व** [शेष (अंग), शेषी (अंगी) विश्लेषण]। **४- प्रयोज्य-प्रयोजक भाव** (नित्य-नैमित्तिक कर्म विवेचन)। **५- कर्मों में क्रम** (यागानुष्ठान में कर्मों का क्रम)। **६- अधिकार** (यज्ञादि कर्मों का अधिकार)। **७- सामान्य अतिदेश** (सामान्य कर्मों के विधान का अन्य कर्मों में भी विधान)। **८- विशेष अतिदेश** (विशेष कर्मों के विधान का अन्य कर्मों में भी विधान)। **९- ऊह** (तर्क द्वारा मन्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध करना)। **१०- बाध** (प्रकृति याग के विधानों का विकृति याग में निषेध)। **११- तन्त्र** (एक कर्म द्वारा अनेकों के उपकार की प्रक्रिया)। **१२- आवाप** (पृथक्-पृथक् कर्मों द्वारा अनेकों के उपकार की प्रक्रिया)।

पारिभाषिक शब्द होने के कारण यज्ञ एवं वेदों के मन्त्रार्थ के साथ इनका विशिष्ट सम्बन्ध है। इनके विषय ही बारह अध्यायों में सविस्तार प्रतिपादित हुए हैं।

## मीमांसा के सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन का प्रधान विषय 'धर्म' है। इसलिए धर्म जिज्ञासा वाले प्रथम सूत्र- **अथातो धर्मजिज्ञासा** के बाद द्वितीय सूत्र में ही सूत्रकार ने धर्म का लक्षण बतलाया है- **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः** अर्थात् प्रेरणा देने वाला अर्थ ही धर्म है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म मनुष्य की इच्छा पर निर्भर होने वाली चीज नहीं है। धर्म एक शाश्वत नियम है। जिसका हर

व्यक्ति को पालन करना ही चाहिए। मनुष्य के करने योग्य तीन प्रकार के कार्य होते हैं-प्रथम वे कार्य, जो प्रकृति की प्रेरणा पर करने होते हैं, जैसे- खाना, पीना, सोना, शौच आदि। द्वितीय वे कार्य हैं, जो शासन के आदेश से करने होते हैं। जैसे- किसी की वस्तु न छीनना, स्त्रियों पर कुदृष्टि न डालना, किसी को न मारना-पीटना आदि। तीसरे वे कार्य हैं, जिनको नैतिक नियमों में बाँधा गया है, जिनमें प्राकृतिक और राज्य के नियमों की तरह दबाव नहीं होता, परन्तु जिनसे अपना तथा समाज दोनों का कल्याण होता है, उन्हें करने की प्रेरणा मानव को दी जाती है। जैसे- परोपकार, क्षमा, संयम, दान, उदारता आदि। इसलिए सूत्रकार ने धर्म का बहुत युक्ति-युक्त लक्षण बतलाया है कि महापुरुषों, वेद, वेदमूलक स्मृतियों एवं शास्त्र तथा लोकोपकारी उपदेशकों की प्रेरणा या आदेश मानकर किये जाने वाले कार्य ही धर्म हैं।

## धर्म की परीक्षा

मीमांसा के सूत्रकार भी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को प्रमाण मानते हैं, लेकिन उनका मत है कि धर्म का निर्माण एवं उसकी पहचान 'शब्द' के द्वारा ही सम्भव है। उसे प्रत्यक्ष एवं अनुभव द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि मीमांसा के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र क्रमांक १ से ४ में उल्लेख है, जो ज्ञान पुरुष को इन्द्रियों एवं बाह्य पदार्थ के संयोग से होता है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है; परन्तु यह ज्ञान अनित्य है तथा कभी भी बदल सकता है। शक्ति-क्षीण इन्द्रियाँ कुछ का कुछ समझ लेती हैं। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण के द्वारा धर्म सम्बन्धी निर्णय नहीं लिया जा सकता है; क्योंकि वह दोनों तथ्यों पर निर्भर होता है, जबकि धर्म नीति का विषय है, जिसे प्रत्यक्ष रूप से न देखा जा सकता है और न उसे अनुभव ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के सीमित ज्ञान के कारण व्यक्ति यथार्थ को समझने की भूल भी कर बैठता है। इन सब बातों पर दृष्टि रखते हुए धर्म का निर्धारण इस आधार पर होना चाहिए कि जिससे किसी को भ्रम न हो तथा उसमें बार-बार बदलने की गुंजाइश ही न रहे।

मीमांसा का ऐसा मानना है कि इस प्रकार के निर्णय वेद के ही हो सकते हैं। मीमांसा दर्शन १.१.५ में इसका प्रतिपादन किया गया है कि वेद का प्रत्येक शब्द अपने अर्थ से स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध है। ईश्वरोपदिष्ट धर्म का यथार्थ साधन होने के कारण यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। वेदादेश अपनी अर्थ सत्यता के कारण अपने आप में प्रमाण है। अस्तु, मीमांसा दर्शन धर्म के सम्बन्ध में मात्र वेद को ही निर्णायक मानता है। कर्मकाण्डों की विस्तृत व्याख्या के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों के उन्हीं अंशों को प्रमाण माना जा सकता है, जो वेदानुकूल हों।

## तत्त्व विमर्श

मीमांसा की तात्त्विक दृष्टि यथार्थवादी है। वह जगत् को उसी रूप से सत्य मानता है, जिस रूप में हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण करती हैं अथवा वह इन्द्रियों को जिस रूप में प्रतीत होता है। जिस प्रकार न्याय एवं वैशेषिक दर्शन परमाणुवाद का समर्थन करते हैं, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन परमाणु की सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु वह उसे अनुमान का विषय न मानकर

प्रत्यक्ष ही मानता है, यद्यपि मीमांसा के सम्प्रदायों में तत्त्व मान्यता के सन्दर्भ में किंचित् मतभेद है।

कुमारिल भट्ट जगत् की रचना पाँच तत्त्वों-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं अभाव से मानते हैं, जबकि प्रभाकर मिश्र-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय (परतन्त्रता), शक्ति, सादृश्य एवं संख्या इन आठ पदार्थों की सत्ता को मानते हैं। मीमांसा के तृतीय आचार्य मुरारि मिश्र एकमात्र ब्रह्म को ही एक पदार्थ मानते हैं; किन्तु व्यवहार में धर्मि (घट)- धर्म (घटत्व), आधार (अनियत आश्रय) एवं प्रदेश विशेष (घट का अनियत स्थान) इन चार को और स्वीकार करते हैं। मुरारि ब्रह्म के अन्तर्गत द्रव्य, काल एवं देश की परिकल्पना करते हैं।

## अपूर्व सिद्धान्त की अभिनव कल्पना

मीमांसा दर्शन में वर्णित अपूर्व नामक एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख किसी और दर्शन में नहीं मिलता। यह मीमांसा की अपनी ही नूतन परिकल्पना है। अपूर्व शब्द का अर्थ है- जो पूर्व में विद्यमान न था। तात्पर्य यह है- कर्मों का वह फल जो पहले विद्यमान नहीं था (अर्थात् कर्मों से नया उत्पन्न होने वाला पाप-पुण्य रूप प्रतिफल)। मीमांसा दर्शन कर्मवादी है। वह कर्म पर सर्वाधिक विश्वास रखता है। यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**। वेद का कथन है कि **स्वर्गकामो यजेत्** अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाला यजन कर्म करे। इस यजन रूप अनुष्ठान में एक प्रतिकूलता यह है कि यजन कर्म तो आज किया जा रहा है और उसका प्रतिफल भविष्य में प्राप्त होगा। वह किस प्रकार मिलेगा, कौन उसको देगा? (क्योंकि मीमांसा की दृष्टि में ईश्वर कर्मफल प्रदाता नहीं है)। इसी प्रश्न के समाधान के लिए मीमांसा ने कर्म को ही वह उत्तरदायित्व सौंपा है। कर्म के करने से अपूर्व अर्थात् पुण्य या पाप की उत्पत्ति होती है और उस पुण्य या पाप के परिणाम-स्वरूप अच्छा-बुरा फल प्राप्त होता है। इस प्रकार 'अपूर्व' की परिकल्पना मीमांसा की अपनी अभिनव दृष्टि है, जो कर्म और उसके फल के बीच में सेतु का कार्य करती है। शांकर भाष्य (३.२.४०) के अनुसार-मीमांसा की दृष्टि में बिना किसी अपूर्व (पाप-पुण्य) को उत्पन्न किये वर्तमान में विनष्ट होने वाला कर्म कालान्तर में फल-प्रदाता हो ही नहीं सकता। अस्तु; कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था अथवा फल की पूर्वावस्था ही अपूर्व नाम से जानी जाती है।

## कर्म सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन का प्रमुख आधार कर्म-सिद्धान्त है। कर्म से अभिप्राय वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्डों के अनुष्ठान से है। मीमांसा दर्शन कर्म के प्रति इतनी दृढ़ आस्था रखता है कि वह कर्म को ईश्वर-तुल्य प्रभावशाली मानता है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कर्म के प्रति मीमांसा की भावना वर्णित करते हुए कहा है- **कर्मेति मीमांसकाः**। कर्म-मीमांसा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को वेद प्रतिपादक अभीष्ट साधक कार्यों में नियोजित करना एवं उसे अपना वास्तविक कल्याण करने को प्रेरित करना है। वेदों में वर्णित इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि देवताओं को आहुति दी जाती है। वेदों में इनके स्वरूप का वर्णन भी सम्प्राप्य है; किन्तु मीमांसा दर्शन में देवता मात्र सम्प्रदान कारक के द्योतक पद मात्र हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। देवता मन्त्रात्मक होते हैं तथा देवताओं की सत्ता

उन मन्त्रों को छोड़कर उनसे पृथक् नहीं हुआ करती, जिनके द्वारा उनके निमित्त होम का विधान किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किस निमित्त किया जाए। इस सन्दर्भ में सामान्यत: तो यही कहा जा सकता है कि किसी कामना की पूर्ति के लिए किया जाए; परन्तु विशिष्ट रूप ये यह कहा जा सकता है कि निष्काम भाव से किया जाय। वस्तुत: प्रातिभचक्षु ऋषियों ने जिन वेद मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का हमारे निमित्त उपदेश किया है, उनका अनुष्ठान निष्काम भाव से करने से हमारा कल्याण ही होगा। अस्तु; निष्काम अनुष्ठान करने को प्रेरित करना मीमांसा दर्शन के कर्त्तव्य-शास्त्र का सर्वोत्कृष्ट बिन्दु है।

इस प्रकार मीमांसा में कर्म-महिमा सर्वोपरि है। वास्तव में जगत् में प्रत्यक्ष कर्ता-धर्ता एवं फल-प्रदाता कर्म ही है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसे स्वीकारते हुए मानस में लिखा है- **कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥** जगत् में अनेक जातियों या देशों की जो भी उन्नति-अवनति दृष्टिगोचर होती है, उसका मूल कर्म ही है।

## प्रमाण मीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रामाण्यवाद अन्य दर्शनों की अपेक्षा एक अद्भुत वैलक्षण्य लिए हुए है। यद्यपि इसमें माना तो उन सभी प्रमाणों को गया है, जो अन्य दर्शनों में मान्य हैं। ये हैं- **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण।** तथापि मीमांसा-दर्शन शब्द या आगम प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को वास्तविक नहीं मानता। उसका सर्वाधिक विश्वास शब्द प्रमाण पर है। यहाँ तक कि जब वह प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण पर विचार-विमर्श करता है, तो उसका परीक्षण भी वेद-आगम या शब्द प्रमाण के आधार पर करता है। अस्तु; यदि कोई तथ्य प्रत्यक्षत: भी है और वह शब्द प्रमाण के द्वारा मान्य नहीं है, तो वह भी संदेहास्पद है।

मीमांसा के दो मतों-भाट्ट (कुमारिल भट्ट द्वारा संचालित) तथा गुरु (प्रभाकर मिश्र द्वारा संचालित) में प्रमाण मीमांसा के सन्दर्भ में थोड़ा अन्तर है। भाट्ट जहाँ उपर्युक्त छहों प्रमाणों को मानते हैं, वहीं गुरुमत वाले अंतिम प्रमाण अनुपलब्धि को नहीं मानते। इस प्रकार मीमांसक स्वयं प्रकाशित होने से ज्ञान को स्वत: प्रमाण मानते हैं; जबकि अन्य मत (न्याय आदि) ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए दूसरे की आवश्यकता बताते हैं, इसलिए वे परत: प्रामाण्य को मानते हैं।

## मीमांसा दर्शन का ईश्वरवाद

ईश्वर के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन की क्या मान्यता है? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, साथ ही विवादित भी; क्योंकि अनेक विद्वान् मीमांसा दर्शन को खुलेआम अनीश्वरवादी और नास्तिक दर्शन कहते हैं। उनका मन्तव्य है कि मीमांसा ने ईश्वरीय अस्तित्व के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा, न ही उसकी पूजा-उपासना की आवश्यकता पर बल दिया। इतना ही नहीं मीमांसा को सृष्टि निर्माण, कर्मफल एवं वेदों के सृजन आदि किसी भी कार्य के लिए ईश्वर का अस्तित्व अपेक्षित नहीं है।

वस्तुत: ऐसा है नहीं कि परमात्मा की

सत्ता को मीमांसा ने सर्वथा अस्वीकार किया हो। यह सत्य है कि कई भाष्यकारों ने ईश्वर की चर्चा में खण्डन-परक विचार प्रस्तुत किये हैं; किन्तु मीमांसा के मूल सूत्रों में ईश्वर विरोध कहीं नहीं है। उदाहरणार्थ-मीमांसा दर्शन ६.३.१ में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म बताया गया है- **सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथा भूतोपदेशात्।** इसी प्रकार इसी के अगले सूत्र ६.३.२ में यज्ञादि अनुष्ठानों, उपासना आदि को परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त बताया गया है- **अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्।** इतना ही नहीं, परमात्मा की ओर से उदासीन रहकर किये जाने वाले कर्म को सदोष कहकर उसी कर्म को उत्तम बताया गया है, जो परमात्मा से सम्बन्धित हो- **तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात्** (मीमांसा० ६.३.३)।

मीमांसा दर्शन में इन सब सूत्रों के होते हुए उसे निरीश्वरवादी कहना एवं उस पर नास्तिक होने का लांछन लगाना उचित नहीं है। मीमांसा दर्शन के ईश्वरवादी और आस्तिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ईश्वरवादी दर्शन वेदान्त के प्रणेता महर्षि बादरायण (वेदव्यास) ने ईश्वर की सिद्धि के सन्दर्भ में मीमांसाकार महर्षि जैमिनि का उदाहरण दिया है- **ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः** (वेदान्त ४.४.५) अर्थात् आचार्य जैमिनि के अनुसार मुक्त स्थिति में जीव ब्रह्म के आनन्दादि गुणों को धारण करता है। इससे स्पष्ट है कि मीमांसा-प्रणेता ईश्वर की सत्ता को मानकर उसके सच्चिदानन्द स्वरूप में विश्वास रखते थे। उनके आस्तिक होने के प्रमाण महर्षि वेदव्यास ने वेदान्त-दर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद के सूत्रों क्रमशः १२,१३ और १४ में भी दिये हैं।

मीमांसा शास्त्र के आचार्यों-कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र आदि के ग्रन्थों में जो ईश्वर की सर्वज्ञता व उसको अनुमान द्वारा सिद्ध करने का विरोध है, वह वस्तुतः ईश्वर की सत्ता को नकारना नहीं है; वरन् यह प्रतिपादित करना है कि ईश्वर के सम्बन्ध में वेद में जो कहा गया है, वही सत्य है। उसे तर्कों, अनुमान आदि के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। समय के प्रभाव से प्राचीन ग्रन्थों में भी कालान्तर में बहुत पाठान्तरों और मतभेदों का हो जाना स्वाभाविक ही है। एक शब्द कई अर्थों का वाचक होता है। विद्वान् लोग एक ही वाक्य के कई प्रकार के अर्थ करते हैं, जिससे कालान्तर में यह अर्थभेद इतना अधिक हो जाता है कि कुछ शतकों में एक ही ग्रन्थ की कई बातें एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यकता पड़ती है कि वास्तविकता को खोजकर उन प्रतिकूलताओं को दूर किया जाय। मीमांसा शास्त्र की रचना भी इसी प्रतिकूलता का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड जब विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गये और लोग एक दूसरे के विपरीत विधानों का प्रयोग करने लगे, तब महर्षि जैमिनि ने उन कर्मकाण्डों की भिन्नताओं का विश्लेषण करके उनके सम्बन्ध में वैदिक वाक्यों के वास्तविक अर्थ को प्रकाशित करने के लिए मीमांसा सूत्रों का सृजन किया।

## मीमांसा-शास्त्र और यज्ञ

यज्ञ भारतीय संस्कृति का जनक और भारतीय जीवन पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंग है। यह सर्वविदित है कि दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है, जो भारतीय धर्म का मूल आधार है।

ऋग्वेद की प्रथम ऋचा ही अग्नि की स्तुति और यज्ञ की महत्ता से प्रारम्भ होती है-**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्** (ऋग्वेद १.१.१)। इस ऋचा का अभिप्राय यही है कि यज्ञ मानव का प्रधान धर्म-कृत्य है, इसी के द्वारा जीवन सार्थक हो सकता है, देव शक्तियों के अनुग्रह से ही जीवन उन्नत हो सकता है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रमुख साधन यज्ञ ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता में तो सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ही यज्ञ का आविर्भाव निर्दिष्ट है, जिसमें कहा गया है कि प्राणी यज्ञ के साथ फलें-फूलें और अपनी समस्त आकांक्षाओं को पूर्ण करें- **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।** (३.१०)। यही कारण रहा है कि एक भारतीय के जीवन में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त विभिन्न संस्कारों के क्रम में किसी न किसी प्रकार यज्ञ समाविष्ट रहता है। वैदिक धर्म के सभी पर्व-त्यौहारों में भी विविध रूपों में यज्ञ प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे- होली तो प्रत्यक्ष यज्ञ पर्व ही है, दीपावली में दीपयज्ञ की प्रधानता है, आदि।

प्रारम्भिक काल में अग्निहोत्रपरक यज्ञों का ही प्राधान्य था। वे वेद-सम्मत भी थे; पर ज्यों-ज्यों ज्ञान मार्ग का- ब्रह्म विद्या का प्रसार-विस्तार होता गया, त्यों-त्यों प्रकाण्ड विद्वान् उपनिषद् शिक्षा को कल्याणकारी मानकर स्वीकार करते गये और कर्मकाण्ड प्रधान अग्निहोत्रपरक 'दर्शपूर्णमास', 'ज्योतिष्टोम', 'अश्वमेध' आदि जैसे यज्ञ गौण होते गये और मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों को 'यज्ञ' संज्ञा प्रदान की जाने लगी। स्मृतियों में वर्णित पंचयज्ञों की मूल यही विचारधारा है। ये यज्ञ हैं- स्वाध्याय, तर्पण, होम, बलि और अतिथि सत्कार। इन्हें क्रमशः ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ के नाम से जाना जाता है। धर्मग्रन्थों में इन यज्ञों को सभी वर्णों द्वारा करणीय बतलाया गया है। यज्ञों की व्याख्या यहाँ तक हुई कि विभिन्न वर्णों के स्वाभाविक कृत्यों को भी यज्ञ कहा गया है। यह प्रसिद्धि है कि -

**आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।**
**परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजास्तथा॥**

(आरम्भ यज्ञ-विशिष्ट कार्यों का शुभारम्भ-क्षत्रिय यज्ञ, हवि यज्ञ-हवन सामग्री से किया जाने वाला वैश्य यज्ञ, परिचारयज्ञ-सेवा कार्य-शूद्र यज्ञ और जप यज्ञ-मन्त्र जप-चिन्तन-मनन आदि ब्राह्मण यज्ञ कहे जाते हैं।) इस प्रकार समाज के अस्तित्व के रक्षण एवं उत्कर्ष के लिए आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य यज्ञरूप ही हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि यज्ञ किसी एक ही क्रिया अथवा क्रिया पद्धति की संज्ञा नहीं है; वरन् विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न योग्यता और साधनों द्वारा लोकमंगल के लिए किये गये परमार्थपूर्ण कृत्य यज्ञ की श्रेणी में आ सकते हैं। मीमांसा दर्शन यज्ञ के सर्वप्राचीन और स्थूलरूप अग्निहोत्र को यज्ञ मानता है। उसकी दृष्टि में ज्योतिष्टोम, दर्शपौर्णमास, सोमयाग, अश्वमेधादि अग्निहोत्र व कर्मकाण्ड-परक यज्ञ ही यज्ञ हैं। इन्हीं के कर्मकाण्डों की विधि व्यवस्था, सामग्री आदि के सम्बन्धों में निर्दिष्ट विधि वाक्यों का इसमें विवेचन किया गया है। पर इन सभी में उसने यज्ञीय भावना (त्याग-परमार्थ की भावना) को प्रमुखता दी है, इसके अभाव में यज्ञ अपूर्ण है। मीमांसा यज्ञ को प्रमुख धर्म-कृत्य मानता है, जिसके द्वारा स्वर्ग ही नहीं ईश्वरप्राप्ति तक सम्भव है। इसी कारण महर्षि जैमिनि अपने मीमांसाशास्त्र का शुभारम्भ धर्म से

करते हैं- **अथातो धर्मजिज्ञासा** (मीमांसा १.१.१)। उनकी दृष्टि में कर्मकाण्ड-मूलक धर्म के द्वारा- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

## मीमांसा और पशुबलि

मीमांसा शास्त्र के सन्दर्भ में सबसे अधिक आक्षेप-युक्त उक्ति यह सुनी जाती है कि उसमें यज्ञ पशुओं का वध करके उनके अंग-अवयवों की यज्ञ में आहुति दिये जाने का विधान वर्णित है। इससे बहुसंख्य पण्डित समुदाय में मीमांसा के प्रति एक प्रकार की विरक्तता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो गया है। यह तथ्य इतिहास भी स्वीकार करता है कि मध्यकाल में यज्ञों में पशु बलि का बहुत प्रचार हो गया था। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह पशु-हिंसा यज्ञों में सदा से चलती आयी है और क्या शास्त्रों में इसका विधान निर्दिष्ट है? इस सम्बन्ध में गहन चिन्तन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदों और शास्त्रों में इसका कोई विधान नहीं; वरन् बाद में स्वार्थी, धूर्तों और पाखण्डियों ने वेद-शास्त्रों में ऐसे अंश प्रक्षिप्त कर दिये, जिनसे यज्ञों में हिंसा का समर्थन होता है? महाभारत में उल्लेख है-

**सुरा-मत्स्या-मधु-मांसमासवं कृसरौदनम्।**
**धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥**

(महा० शान्ति० २६५.९)

अर्थात्- शराब, मछली आदि का यज्ञ में बलिदान धूर्तों द्वारा प्रवर्तित किया गया है। वेदों में मांस-बलि का विधान निर्दिष्ट नहीं है।

वास्तविकता यह है कि कर्मकाण्ड मूलक धर्म में पहले से ही दैवीय एवं आसुरी दोनों प्रकार की पद्धतियों का प्रचलन रहा है। त्रेता युग में वेदों के भाष्यकार रावण ने अपने वेदभाष्य में कई जड़ी-बूटियों, हव्य पदार्थों का अर्थ पशुपरक लिया, जिससे उस प्रवृत्ति (आसुरी प्रवृत्ति) के मांसभक्षी लोगों ने वेद-वाक्य मानकर यज्ञों में पशुबलि का समर्थन और प्रयोग भी किया, फलतः उसका प्रचार बढ़ता गया। उल्लेखनीय है कि यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले कई पदार्थ ऐसे हैं, जिनका अर्थ पशु-पक्षियों का भी निकलता है। जैसे 'अज' का अर्थ पुराना चावल भी है और बकरा भी। इसी प्रकार 'छाग' बकरी व बकरी के दूध को भी कहते हैं। (वैदिक कोश भाग-२, पृष्ठ ५५४)

यह बात मोटी बुद्धि से भी समझी जा सकती है कि जब यज्ञ का उद्देश्य वातावरण को शुद्ध करना तथा जन कल्याण है, तब उसमें पशु मांस की दुर्गन्ध युक्त आहुतियाँ कैसे दी जा सकती हैं।

मीमांसा दर्शन में तो स्पष्ट रूपेण यज्ञ में मांस के उपयोग का निषेध किया गया है। **मांस-पाकप्रतिषेधश्च तद्वत्** (मीमांसा १२.२.२) अर्थात् वैदिक कर्मों में विहाराग्नि में मांस पकाने का निषेध है। इसी प्रकार एक अन्य सूत्र में भी यह तथ्य वर्णित है- **मांस पाको विहितप्रतिषेधः स्याद, वाऽऽहुतिसंयोगात्** (मीमांसा १२.२.६) अर्थात् यज्ञ के साथ सम्बन्धित होने के कारण रसना के स्वाद मात्र के लिए मांस पाक का कड़ा विरोध है।

अस्तु; मीमांसा में पशुबलि प्रसंग पर गहन विचार करने से यह तथ्य उजागर होता है कि उसका उद्देश्य वेदों के प्रामाण्य का प्रतिपादन और उसके सिद्धान्तों के अनुसार यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना है। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में कहीं भी पशुबलि या मांस के उपयोग का वर्णन नहीं मिलता।

यदि कहीं पशुओं का नामोल्लेख हुआ भी है, तो वह उन पशुओं को दान करने के सन्दर्भ में है, न कि उन्हें काटकर बलि देने के सन्दर्भ में; क्योंकि यज्ञ हिंसारहित कर्म है, उसमें हिंसा नहीं हो सकती।

## मीमांसा और मोक्ष

विभिन्न दार्शनिक विषयों में मोक्ष भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। समस्त दर्शनों में मानव जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य मोक्ष विवेचित किया गया है। फलस्वरूप मीमांसा में भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों से जहाँ पाप-पुण्य होकर जीव बन्धन में पड़ता है, वहीं निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार विनष्ट हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र एवं दु:खों से निवृत्ति और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अन्य दर्शनों में जहाँ कर्म-संन्यास या अनासक्त कर्म के द्वारा मोक्ष वर्णित है, वहीं मीमांसा कर्मकाण्ड द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का तथ्य विवेचित करता है। मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसा में प्राय: तीन मत संप्राप्त होते हैं- १.कुमारिल मत, २. प्रभाकर मत, ३. अन्य मीमांसकों का मत।

**१. कुमारिल मत-**

प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट दु:ख के आत्यन्तिक विनाश और आनन्द के मन द्वारा अनुभव को मोक्ष अथवा मुक्ति की अवस्था मानते हैं। उनकी दृष्टि में आनन्दानुभूति की स्थिति ही मोक्ष है-

**दु:खात्यन्तसमच्छेदे सति प्रागात्म वर्तिन:।**
**सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलै:॥**

**२. प्रभाकर मत-**

प्रभाकर मिश्र के अनुसार आत्मा में ज्ञान एवं सुख-दु:खादि अनेक गुण विद्यमान रहते हैं। इन गुणों के विनष्ट हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है और यही स्थिति मोक्ष है। उनकी दृष्टि में मोक्ष की अवस्था में आत्मा को आनन्दानुभूति नहीं होती है।

**३- अन्य मीमांसकों का मत-**

कुछ अन्य मीमांसक नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करते रहने तथा निषिद्ध और काम्य कर्मों को त्याग देने पर मोक्ष प्राप्त होने की बात कहते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसा करने से जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाना ही मोक्ष है। वेदान्ती लोग इस मत का खण्डन करते हैं कि किसी भी प्रकार के कर्म करते रहकर प्रारब्ध बनते रहेंगे और मोक्ष की स्थिति सम्भव नहीं।

वास्तव में न मीमांसा के अनुसार केवल कर्मवाद से मोक्ष प्राप्त होता है और न वेदान्त के अनुसार ज्ञान मात्र से; वरन् यदि इन दोनों का समुच्चय-समन्वय बन पड़े, तभी मुक्तावस्था सम्भव है। आत्मज्ञान के साथ शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों का आचरण भी आवश्यक है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन विभिन्न दार्शनिक विषयों जैसे- तत्त्व विचार, प्रमाण विमर्श, कर्म सिद्धान्त, ईश्वरवाद, मोक्ष मीमांसा, यज्ञीय भावना और दया भाव के साथ कर्मवाद पर विशेष बल देता है। 'अपूर्व' की परिकल्पना मीमांसा दर्शन का अपना वैशिष्ट्य है। यदि विवेक की कसौटी पर कसकर कर्मवाद को अपनाया जाये, तो जीवन लक्ष्य की सहज प्राप्ति सम्भव है।

# ।। अथ मीमांसादर्शनम् ।।

## ।। अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।।

**मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय का नाम 'धर्म जिज्ञासा' है। सूत्रों का प्रारम्भ 'अथातो धर्म जिज्ञासा' से किया गया है। सृजेता ने मनुष्य को अद्भुत क्षमताओं से सम्पन्न बनाया है। यदि वह बहक जाए, तो सृष्टि को तहस-नहस भी कर सकता है और अनुशासित प्रगति करे, तो देवों को भी पीछे छोड़ सकता है। उसे बाहर के दबाव से अनुशासित नहीं रखा जा सकता, अस्तु उसके लिए 'धर्मानुशासन' की ही व्यवस्था बनानी पड़ती है। सूत्र है 'धारणात् धर्म इत्याहुः' अर्थात् ज्ञान को जीवन में धारण करने से धर्म बनता है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' ( वैशेषिक दर्शन १/१/२ ) के अनुसार धर्म अपने सही रूप में लौकिक अभ्युदय और आध्यात्मिक निःश्रेयस दोनों की सिद्धि करता है। मनुष्य को यही चाहिए भी। इसीलिए ज्ञान के शिखर को छूने वाले ऋषि 'धर्म की जिज्ञासा' से इस दर्शन का शुभारम्भ करते हैं।**

**वेद को ज्ञान का श्रेष्ठतम स्रोत कहा गया है तथा 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमम् कर्म' के अनुसार 'यज्ञ धर्म-कर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप है। अस्तु, मीमांसाकार ने धर्म के संदर्भ में वेद एवं यज्ञीय विधि-विधान को ही धर्म के प्रमुख स्रोत-साधन मानकर सूत्रों की विवेचना की है। समस्त धर्मग्रन्थ वेद के अनुगामी होकर ही अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्पसूत्र एवं स्मृतियाँ आदि सभी धर्म विषयक उपदेश करते हैं, किन्तु वेदार्थ की अनुकूलता तक ही उनके उपदेश मान्य हैं। इस प्रथम अध्याय में उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए वेदानुकूल यज्ञ-अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता एवं प्रामाणिकता की विवेचना की गई है। महामुनि जैमिनि को उन धर्मों की विवेचना अपेक्षित है, जो शास्त्रों एवं विधि-वाक्यों द्वारा निर्देशित हों। यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि यह मीमांसा दर्शन 'न्याय दर्शन' के कतिपय भागों में उठी शंकाओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। अतः सावधानी एवं एकाग्रता के साथ भली-भाँति समझकर ही इस दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। मानव के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के उद्देश्य से अब आचार्य वेदोक्त धर्म का विवेचन करते हुए प्रथम सूत्र प्रस्तुत करते हैं —**

**( १ ) अथातो धर्म जिज्ञासा ।। १ ।।**

**सूत्रार्थ—**अथ = (वेदाध्ययन के) अनन्तर, अतः = अब (यहाँ से), धर्म जिज्ञासा = धर्म-ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा, जो अभ्युदय एवं मोक्ष की प्राप्ति में साधन रूप है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' पद मांगलिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। आचार्यों ने 'अथ' पद का अर्थ 'आनन्तर्य' भी किया है। आनन्तर्य का आशय अनन्तर से है, अब यहाँ जिज्ञासा होगी कि किसके अनन्तर ? उत्तर है ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर, जब व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करना है, धर्मानुशासन को समझना अनिवार्य हो जाता है। आत्म कल्याण एवं जन हित की दृष्टि से क्या करणीय है, क्या अकरणीय, यह भली प्रकार समझकर, तदनुसार अपने अभ्यास में ढाल कर ही सार्थक प्रगतिशील जीवन जिया जा सकता है। मीमांसादर्शन इसी विवेचन के साथ अपना प्रवेश द्वार खोलता है ॥ १ ॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि धर्म विषयक विवेचन के शुभारम्भ से पूर्व क्या यह जान लेना आवश्यक नहीं कि 'धर्म ' क्या है ? शिष्य के इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—**

## ( २ ) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** चोदना = प्रेरणा या प्रवर्तक वाक्य, लक्षण: = जिसके द्वारा कोई भी द्रव्य लक्षित अथवा बोधित हो, (इस प्रकार) अर्थ: = शास्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य विषयों को, धर्म: = धर्म कहते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रानुसार प्रेरणा और लक्षण के अर्थों में धर्म समझने योग्य है। उदाहरणार्थ-गर्मी या प्रकाश के लिए अग्नि चाहिए यह ज्ञान हुआ। अग्नि को प्रदीप्त करना 'प्रेरक क्रिया' हुई तथा धूम्र या प्रकाश उसके लक्षण हुए। ठीक इसी प्रकार ऐसी प्रेरणा अथवा वे प्रवर्तक वाक्य, जो वेद विहित शुभ कर्मों (जिनके सम्पादन से दु:खों का नितान्त शमन एवं परमानन्द की प्राप्ति होती हो), पुण्य मांगलिक अनुष्ठान के रूप में सम्पन्न किये जाते हैं, धर्म कहे जाते हैं॥ २॥

**जिज्ञासु प्रश्न करता है कि धर्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रमाण किसे मानें? आचार्य ने समाधान के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा—**

## ( ३ ) तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = धर्म (के), निमित्त = के लिए, परीष्टि: = परीक्षण प्रक्रिया (वेद के प्रकाश में) करते हैं।

**व्याख्या—** धर्म सनातन है, उसके लिए सनातन ज्ञानसम्मत प्रमाण हेतु प्रयास करते हैं। वेदों की आज्ञा अथवा उनका निर्देश ही धर्म विषयक प्रमाण है या अन्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाण भी धर्म परीक्षण में प्रमाण माने जाएँगे। उपर्युक्त विवेचन में प्रतिज्ञा रूप से यह कथन किया गया है कि धर्म के विषय में मात्र वेदाज्ञा ही प्रमाण है, प्रत्यक्षादि नहीं। उपर्युक्त कथन कहाँ तक सत्य एवं युक्ति संगत है, अगले क्रम में उसी की परीक्षा की जायेगी॥ ३॥

**धर्म की अस्तित्व सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रयुक्त नहीं होता; उसी निषेधात्मक भाव की अभिव्यक्ति सूत्रकार अगले सूत्र में कर रहे हैं—**

## ( ४ ) सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के साथ, सत्सम्प्रयोगे = उपलब्ध पदार्थ का संयोग होने से, पुरुषस्य = पुरुष के लिए, बुद्धिजन्म = जो ज्ञान प्रकट होता है, तत् = वह, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष होने से, विद्यमानोपलम्भनत्वात् = विद्यमान पदार्थ की उपलब्धि का हेतु होने से, अनिमित्तम् = धर्मज्ञान में कारण (प्रमाण) नहीं है।

**व्याख्या—** इन्द्रियों को प्रत्यक्ष पदार्थों के संयोग से ही अनुभव होते हैं। लौकिक संसारोन्मुख बुद्धि भी जो प्रत्यक्ष विद्यमान है, उसी आधार पर निष्कर्ष निकालती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं अर्थापत्ति इन चारों प्रमाणों की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति धर्म के ज्ञान में न होने से इनको धर्म-ज्ञान का समाधान नहीं माना जा सकता। सूत्रकार ने सूत्र में प्रयुक्त 'विद्यमानोपलम्भनत्वात्' पद से स्पष्ट रूप से यह माना है कि विद्यमान अर्थ की उपलब्धि प्रत्यक्ष से ही होती है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से संयोग स्थापित करके उन-उन पदार्थों का ज्ञान कराने में समर्थ हैं; इसलिए ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में माना गया है। धर्म के विषय में यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। अतएव मात्र ब्रह्मोन्मुख चेतन प्रज्ञा से उभरे विधि वाक्य ही धर्म-ज्ञान कराने में सर्वथा समर्थ हैं। ऐसा सूत्रकार का कथन है॥ ४॥

**शिष्य अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कह रहा है कि धर्म के अस्तित्व की सिद्धि में न तो प्रत्यक्षादि प्रमाण माने जाते हैं और न ही शब्द प्रमाण ? तो क्या इस विषय की प्रामाणिकता बिना प्रमाण के ही है? आचार्य ने कहा—**

**( ५ ) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरे-कश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दस्य = शब्दों का, अर्थेन = अर्थ से, तु = तो, सम्बन्धः = सम्बन्ध, औत्पत्तिकः = स्वाभाविक अथवा नित्य है, च = और, तस्य = उसके (अर्थात् धर्म के), ज्ञानम् = यथार्थ ज्ञान का साधन, उपदेशः = ईश्वरोपदिष्ट (वेद वाक्य) होने से, (वह) अनुपलब्धे = अनुपलब्ध, अर्थे = अर्थ में, अव्यतिरेकः = व्यभिचारी एवं विरोधी भाव वाला नहीं होता, बादरायणस्य = आचार्य व्यास जी के मतानुसार, तत् = वह वेद वचन, अनपेक्षत्वात् = अपने अर्थ की सत्यता के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न रखने के कारण, प्रमाणम् = धर्म विषयक विवेचन में स्वतः प्रमाण है।

**व्याख्या—** लोक व्यवहार में यह देखा जाता है कि शब्दों को सुनकर उनके अर्थ को समझकर भी साक्षात्कार हुए बिना तद्विषयक संशय का निराकरण नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ- किसी ने कहा देखो! सामने के गाँव में आग लगी है, धुआँ स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इसे सुन-समझकर भी श्रोता को पूर्णतः विश्वास नहीं होता। वह स्वयं जाकर देखना चाहता है। यहाँ संशय का कारण सूचना देने वाले पर अविश्वास है। हो सकता है वह व्यक्ति असत्य कथन कर रहा हो? वेदों के अपौरुषेय होने के कारण वेद-वाक्यों में भ्रम आदि की सम्भावना दूर-दूर तक परिलक्षित नहीं होती। मन्त्र द्रष्टा ऋषि भय एवं पक्षपात (फीयर एण्ड फेवर) से मुक्त होते हैं, इसीलिए धर्म ज्ञान के साधन में वेद वचनों का उपदेश सर्वदा व्यभिचार रहित होता है। विधि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ में किसी प्रकार का कोई विपर्यय भी नहीं मिलता और यही कारण है कि वेद के वचनों की प्रामाणिकता में किसी अन्य प्रमाण की यत् किंचित् भी अपेक्षा नहीं रहा करती। ऐसी मान्यता आचार्य बादरायण की है॥ ५॥

**उपर्युक्त विवेचन में आचार्य ने यह कहा कि शब्द लौकिक भी होते हैं और वैदिक भी। इस मीमांसा दर्शन में पूर्वपक्ष ( लौकिक ) के अन्तर्गत शब्द को अनित्य तथा उत्तर पक्ष ( वैदिक ) के अन्तर्गत नित्य माना गया है। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं—**

**( ६ ) कर्मैके तत्र दर्शनात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** एके = कुछेक (कतिपय) आचार्यों का मानना है कि, कर्म = कार्य है (शब्द) तत्र = शब्द के उत्पन्न होने में प्रयत्न आदि के, दर्शनात् = देखे जाने के कारण।

**व्याख्या—** शब्द की उत्पत्ति उच्चारण रूपी प्रयत्न के अनन्तर ही देखी जाती है, इस कारण शब्द प्रयत्नपूर्वक किया गया कर्म है; ऐसा कतिपय आचार्यों का मत है। वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक दो प्रकार के शब्द होते हैं। पहला वर्णात्मक-मनुष्यों द्वारा वर्णों के रूप में बोला जाता है। मनुष्य द्वारा प्रयत्न करने पर उसके मुख से शब्द उच्चरित होता है। दूसरा है ध्वन्यात्मक- इसकी उत्पत्ति भी घंटा-घड़ियाल, ढोल-मृदंग, सितार- वीणा आदि से प्रयत्नपूर्वक की जाती है। इसके अतिरिक्त मानवेतर प्राणियों (पशु-पक्षियों आदि) के द्वारा एवं शिशुओं एवं मूक व्यक्तियों द्वारा उच्चारित ध्वनि वर्णों से रहित होने के कारण ध्वन्यात्मक शब्दों की ही श्रेणी में आती है तथा उसकी भी उत्पत्ति यत्नपूर्वक ही होती है। अतः उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के शब्द यत्नपूर्वक उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं; क्योंकि नियम यह है कि जो वस्तु यत्न से प्राप्त होती है, उसकी नित्यता सिद्ध नहीं होती॥६॥

**शब्द की अनित्यता के और भी कारण आचार्य अगले छः सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

**( ७ ) अस्थानात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अस्थानात् = (अस्थिर) ठहरने वाला न होने से भी (शब्द अनित्य हैं)।

**व्याख्या—** शब्दों के अस्थिर कहे जाने का कारण यह है कि उच्चारण के पूर्व न तो वह उपलब्ध होता है और न ही उच्चारण के अनन्तर उसका अस्तित्व रहता है। शब्द की विद्यमानता यदि सुनिश्चित होती, तो उसकी उपलब्धि भी किसी न किसी रूप में अवश्य अनुभव की जाती। अतएव इस अस्थिरता के कारण भी शब्द की अनित्यता ही सिद्ध होती है, जिससे उसे नित्य कहना किसी भी प्रकार युक्ति युक्त नहीं है॥ ७॥

**( ८ ) करोतिशब्दात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** करोतिशब्दात् = शब्द करता है (शब्द के विषय में ऐसा प्रयोग होने से भी)।

**व्याख्या—** जिस प्रकार कुम्भकार जब घड़ा बनाता है, तो उसके लिए 'कुम्भकार: घटं करोति' इस प्रकार के पदों का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही शब्द के विषय में भी होता है। उदाहरणार्थ- **'यज्ञदत्त: शब्दं करोति'** यज्ञदत्त शब्द करता है। इस प्रकार का जो व्यवहार लोक प्रचलन में प्रयुक्त होता है, वह मात्र अनित्यधर्मी पदार्थों के लिए ही सुनिश्चित है, न कि नित्यधर्मी पदार्थों के लिए॥ ८॥

**( ९ ) सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** सत्त्वान्तरे च = इसके अतिरिक्त अन्य देशों में स्थित पुरुषों में भी, यौगपद्यात् = (शब्दों की) एक ही समय में साथ-साथ उपलब्धि होने के कारण भी।

**व्याख्या—** एक ही शब्द एक साथ विभिन्न देशों में रहने वाले अनेकों पुरुषों द्वारा एक ही साथ उच्चारित होने के कारण भी शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है। जैसे मथुरा, काशी, हरिद्वार आदि विभिन्न स्थानों के विभिन्न व्यक्ति एक ही समय 'मैं करता हूँ', 'मैं खाता हूँ' आदि शब्द बोल सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द एक से अधिक स्थलों में एक साथ बोला जा रहा है। यदि शब्द नित्य होता, तो उसका अनेक होना सिद्ध न होता, अतएव नानात्व-युक्त होने से शब्द अनित्य है॥ ९॥

**( १० ) प्रकृतिविकृत्योश्च॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिविकृत्यो: = प्रकृति अथवा विकृति के कारण, च = भी (शब्द अनित्य माना जाता है)।

**व्याख्या—** प्रकृति एवं विकृति का भाव शब्दों में उसी प्रकार दृष्टिगोचर हुआ करता है, जैसे पदार्थों में देखा जाता है। उदाहरणार्थ- सुवर्ण यदि प्रकृति है, तो उसके विकार केयूर एवं कुण्डल आदि हैं तथा मिट्टी यदि प्रकृति है, तो उसके विकार कुम्भकार द्वारा निर्मित घट आदि हैं। इसी तरह से शब्दों की प्रकृति एवं विकृति को भी समझा जा सकता है, जैसे- 'दध्यत्र' के प्रयोग में 'इ' एवं 'य' को देखकर शब्द की प्रकृति एवं विकृति सरलतापूर्वक समझी जा सकती है (दधि+अत्र =दध्यत्र)। इस प्रकार प्रकृति-विकृति के भाव जहाँ कहीं भी हों, वहाँ अनित्यता का होना सुनिश्चित रहा करता है। इसके साथ-साथ प्रकृति विकार में पारस्परिक सदृशता भी दृष्टिगत होती है। जिस तरह मिट्टी एवं घड़ा, सुवर्ण एवं कुण्डल-केयूर में पारस्परिक सदृशता है, वैसे ही 'दध्यत्र' में प्रयुक्त 'इ' एवं 'य' में भी है, क्योंकि दोनों ही तालुस्थानीय हैं। इस प्रकार से प्रकृति-विकृति भाव की विवेचना करने से भी शब्द का अनित्यत्व परिलक्षित होता है॥ १०॥

**( ११ ) वृद्धिश्च कर्त्तृभूम्नाऽस्य॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** कर्त्तृभूम्ना = शब्दकर्त्ताओं की संख्या अधिक होने पर, अस्य = इस शब्द की, वृद्धि: = वृद्धि (बढ़ोत्तरी) होने से, च = भी, शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** शब्द का उच्चारण जब एक व्यक्ति करता है, तो वह मन्द होता है, किन्तु जब अनेक व्यक्ति एक साथ करते हैं, तो शब्दध्वनि तीव्र होकर अपनी महत्ता का अनुभव कराती है। ऐसी स्थिति में एक ही वस्तु, जो मन्द भी हो तथा तीव्र भी हो जाती हो, उसे नित्य नहीं माना जा सकता। सामूहिक प्रयत्न को शब्द का

अभिव्यञ्जक नहीं कहा जा सकता, कारण यह कि अभिव्यञ्जक कितना भी छोटा अथवा बड़ा, अल्प हो अथवा महान्; अभिव्यङ्ग्य की स्वरूपात्मक स्थिति को परिवर्तित करने में वह समर्थ नहीं हो सकता। इस तरह शब्द की अनित्यता प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाती है। अतएव धर्म विषयक ज्ञान में शब्द को निमित्त कहना अप्रामाणिक ही होगा॥ ११॥

**पिछले छह सूत्रों में सूत्रकार ने शब्द का नित्यत्व एवं अनित्यत्व विषयक पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया। अब उनका समाधान सूत्रानुसार क्रमशः कर रहे हैं। पहले छठवें सूत्र का उत्तर देते हुए कहते हैं-**

### ( १२ ) समन्तु तत्र दर्शनम्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उस नित्यत्व एवं अनित्यत्व के समर्थकों में, दर्शनम् = शब्द का क्षणिक दर्शन (ज्ञान का होना), तु = तो, समम् = समान रहता है।

**व्याख्या—** अनित्यवाद के पक्षधर यदि शब्द को प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न हुआ मानते हैं, तो नित्यत्व को मानने वाले भी शब्द की उत्पत्ति यत्नपूर्वक होती है, ऐसा ही कहते हैं। इस प्रकार से दोनों के मत में क्षणिक समानता ही परिलक्षित होती है। उस उच्चारण रूप प्रयत्न को शब्द की उत्पत्ति कहें अथवा अभिव्यक्ति, इस कथन से शब्द की उपलब्धता में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि शब्द का यह क्षणमात्र दर्शन दोनों पक्षों (नित्य एवं अनित्य) में से किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं करता। शब्द की नित्यता एवं स्थायित्व को यदि प्रभावी साक्ष्यों द्वारा उत्पन्न कर दिया जाय, तो उच्चारण के अनन्तर उत्पन्न होने वाले शब्द के क्षणिक दर्शन को सुनिश्चित ही शब्द की अभिव्यक्ति कहा जायेगा। पूर्वपक्ष के तर्कों का क्रमिक रूप से आचार्य आगे समाधान करते चल रहे हैं॥ १२॥

**अब सूत्र १३ से २१ तक शब्द की नित्यता का प्रतिपादन है। पूर्वपक्षी ने सातवें सूत्र में कहा कि शब्द का स्थायित्व ही नहीं है, न तो वह उच्चारण से पूर्व उपलब्ध होता है और न ही उच्चारण के अनन्तर। आचार्य ने समाधान देते हुए कहा—**

### ( १३ ) सतः परमदर्शनं विषयानागमात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** सतः = शब्द की विद्यमानता का, परम् = केवल अभिव्यञ्जक (प्रयत्न के पूर्व एवं पश्चात् के समय में), अदर्शनम् = अनुपलब्धता से वह, विषयानागमात् = शब्द का ग्रहीता श्रोत्ररूप विषय का अभाव होने से होता है।

**व्याख्या—** शब्द के विद्यमान रहते हुए भी दूसरे क्षणों में उसकी जो अनुपलब्धता परिलक्षित होती है, उसका कारण मात्र शब्द की अव्यक्तता की स्थिति ही है। आशय यह है कि शब्द में स्थायित्व है, परन्तु प्रयत्न के पूर्व एवं प्रयत्न के अनन्तर जो शब्द का दर्शन नहीं होता, उसमें उसका अभिव्यञ्जक जब रहता है, तो शब्द का प्रकटीकरण एवं श्रवण सब कुछ अनुभव में आता है, अन्यथा नहीं। अभिव्यञ्जक के अभाव में उच्चारण रूप यत्न के पूर्व एवं अनन्तर शब्द अपने स्थायित्व के रहते हुए भी अदृश्य रहता है। अभिव्यञ्जक अपनी सामर्थ्यानुसार जिस प्रदेश में शब्द की अभिव्यक्ति करता है, क्षमता के उसी अनुपात में उतनी ही परिधि में वह सुनाई पड़ता है, ऐसा समझना चाहिए॥ १३॥

**पूर्वोक्त अष्टम सूत्र ( पूर्वपक्ष ) का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—**

### ( १४ ) प्रयोगस्य परम्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** प्रयोगस्य = उच्चारणरूप प्रयोग के, परम् = भाव वाला है।

**व्याख्या—** करोति, पचति आदि क्रियायें जो लोक व्यवहार में देखी जाती हैं, उनका भाव मात्र उनके उच्चारण तक ही है। शब्द के साथ जो 'कृ' धातु लगाकर 'शब्दं कुरु' का प्रयोग किया जाता है, उसका आशय

'शब्द का उच्चारण करो' है, न कि शब्द का नवनिर्माण करना। अतएव उच्चारण के अभिप्राय से ही पकाता है, करता है, ऐसा कहा जाता है, मूल कर्त्ता होना उसका भाव कदापि नहीं है, इससे शब्द की नित्यता ही परिलक्षित होती है॥ १४॥

**पूर्व पक्ष में स्थापित नवम सूत्र का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—**

## ( १५ ) आदित्यवद्यौगपद्यम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** यौगपद्यम् = एक साथ (शब्द का अनेक देशों में, एक समान होना), आदित्यवत् = सूर्य की भाँति ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** नवें सूत्र में जो यह कहा गया था कि अनेक देशों में स्थित अनेक द्वारा एक ही समय में एक ही शब्द की उपलब्धि होने से शब्द की एकता एवं नित्यता सिद्ध नहीं होती, निराधार है। आचार्य शब्द को सूर्यवत् समझाते हुए कहते हैं- जैसे सूर्य विभिन्न देशों में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों द्वारा साधन आदि के एक रहते हुए, एक होकर भी साथ-साथ (युगपत्) दिखाई देता है, उसी प्रकार शब्द भी (आकाश व्यापी) एक होते हुए साधनों (संयोगादि) के रहते हुए सुदूर स्थित व्यक्तियों द्वारा एक साथ ही सुना जाता है। शब्द की अभिव्यक्ति कराने वाले अभिव्यञ्जक साधन जिस देश में उपलब्ध होंगे, वहाँ शब्द की भी उपलब्धता होगी। अतएव यौगपद्य के कारण शब्द की नित्यता बाधित नहीं होती॥ १५॥

**इसी क्रम में पूर्वपक्ष के दसवें सूत्र का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—**

## ( १६ ) वर्णान्तरमविकारः॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** वर्णान्तरम् = किसी एक वर्ण की जगह दूसरे वर्ण का प्रयोग करना, अविकारः = वर्ण का विकार नहीं है।

**व्याख्या—** दसवें सूत्र में जो प्रकृति-विकृति के भाव से शब्द की अनित्यता का कथन किया गया था, उसका भी कोई आधार नहीं बनता। दधि+अत्र में 'इ' के स्थान पर अन्य वर्ण 'य' का जो प्रयोग हुआ है, वह शब्दों में प्रकृति-विकार भाव के कारण न होकर अभिधानकों के आदेश के कारण हुआ है। अभिधानकों ने किसी एक वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण की प्रयुक्ति का आदेश दे रखा है। शब्द की नित्यता को स्वीकार न करने वाले व्याकरण शास्त्र में उपर्युक्त सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है। इसके साथ ही न्याय दर्शन भी जो शब्द को अनित्य मानता है, उसने भी शब्दों के प्रकृति-विकार भाव की मान्यता को न मानकर, सिद्धान्त के रूप में उक्त आदेश पक्ष को ही स्वीकारा है॥ १६॥

**पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत ग्यारहवें सूत्र का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—**

## ( १७ ) नादवृद्धिपरा॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** नादवृद्धिपरा = बोलने वालों की संख्या अधिक होने से नाद में बढ़ोत्तरी होती है (शब्द में नहीं)।

**व्याख्या—** ग्यारहवें सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से जो यह कहा गया था कि शब्दकर्त्ता व्यक्तियों की अधिकता होने से शब्द में बढ़ोत्तरी हो जाती है तथा अधिकता के अभाव में एक व्यक्ति का शब्द मन्द पड़ जाता है। पूर्वपक्षी का यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जो पदार्थ सावयव होते हैं, उन्हीं में घटना-बढ़ना देखा जाता है और जो पदार्थ अवयव विहीन होते हैं, उनमें यह क्रिया नहीं होती। मन्दता एवं तीव्रता रूपी धर्म शब्द का नहीं; अपितु नाद का है। शब्द निरवयव होने से घट-बढ़ नहीं सकता। अतएव पूर्वपक्षी का यह आक्षेप भी आधारहीन है॥ १७॥

**पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये समस्त आक्षेपों का समाधान करने के अनन्तर अब ( सूत्र क्र० २१ तक )**

वक्ष्यमाण हेतुओं द्वारा शब्द की नित्यता की सिद्धि में पहला कारण बतलाते हुए कहते हैं—

**( १८ ) नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** नित्य:स्यात् = नित्य है (शब्द), तु = न कि (अनित्य), दर्शनस्य = उच्चारण रूप में उसका दर्शन, परार्थत्वात् = श्रोता के ज्ञान के लिए होने के कारण।

**व्याख्या—** शब्द नित्य है; क्योंकि उसका उच्चारण परार्थरूप में अन्य लोगों (श्रोताओं) को शब्दार्थ का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है। शब्द का उच्चारण किये बिना गुरु अपने शिष्य (श्रोता) को कुछ भी अर्थज्ञान रूप लाभ नहीं करा सकता, अतएव शब्द ही अर्थ के ज्ञान में कारण है। शब्द को अनित्य मानना उचित नहीं, यदि शब्द अनित्य होता, तो उच्चारण होते ही उसका विनाश हो जाता और उस विनाश की दशा में वह श्रोता तक पहुँच कर अर्थज्ञान करा ही नहीं पाता। इसके साथ-साथ यह भी देखा जाता है कि शब्दों का आदान-प्रदान विद्याध्ययन के रूप में बारम्बार होता रहता है, यदि शब्द अनित्य होता, तो अनेकबार वह व्यवहार में न आता। उत्पन्न होकर तत्काल विनष्ट होने से शब्द की उच्चारण रूपी उत्पत्ति हर बार नवीनता लिए हुए होती, न कि बारम्बार उन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति। अतएव शब्द अनित्य न होकर नित्य है। शब्द एवं उसके अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध है, वह भी नित्य है, तभी तो वे उच्चरित होकर अन्य व्यक्ति तक जाकर अभीष्ट अर्थ का ज्ञान कराते हैं॥ १८॥



**( १९ ) सर्वत्र यौगपद्यात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** यौगपद्यात् = एक ही साथ एक ही समय में प्रत्यभिज्ञान होने से, सर्वत्र = समस्त शब्दों में।

**व्याख्या—** गो शब्द का जब उच्चारण किया जाता है, तो उससे सर्वत्र, एक साथ ही गो माता का बोध हो जाता है, अत: इससे भी शब्द का स्थायित्व सिद्ध होता है। वृद्धजनों द्वारा जो वार्तालाप आपस में हुआ करता है, उससे घर के छोटे-छोटे बच्चे भी शब्दों को सुनकर शब्दार्थ का आशय समझ लिया करते हैं। वैसे तो शब्दार्थ बोध के विभिन्न कारण हुआ करते हैं, किन्तु सामान्यजनों के लिए उपर्युक्त विधि ही सर्वोत्तम है। 'गाय लाओ, गाय लाओ' शब्द का उच्चारण सुनते-सुनते एवं गाय को देखते-देखते बालक को गाय शब्द एवं गाय दोनों की पहचान हो जाती है। आशय यह है कि बालक को यह गाय है, यह भैंस है तथा यह बकरी है आदि जाति विशेष की पहचान गाय, भैंस एवं बकरी शब्द सुनते ही हो जाया करती है, सूत्र का तात्पर्य यही है। लोक व्यवहार में सर्वत्र ऐसा व्यवहार एक साथ ही देखने को मिलता है, जिससे शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है॥ १९॥

**( २० ) संख्याऽभावात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** संख्याऽभावात् = पद के साथ संख्या का भाव न होने से भी (शब्द नित्य है)।

**व्याख्या—** मैं प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त्त में १०८ बार गायत्री मन्त्र का जप नियमित रूप से करता हूँ। इस कथन में संख्या का सम्बन्ध जपरूप क्रिया के साथ है, मन्त्र के साथ नहीं। शब्दस्वरूप गायत्री मन्त्र तो शब्दत: एक ही है, उसे कितनी ही बार जपा जाय, वह बदलता नहीं। वैसे कोई भी पद (गाय, राम, वायु आदि) अपने पूर्व के उच्चारण स्वरूप से भिन्न नहीं हुआ करता अर्थात् एक ही शब्द को बार-बार उच्चारित किया जाता है। शब्द का यह एकत्व सादृश्य-मूलक भी नहीं है, कारण कि ऐसा कोई नहीं कहता कि अमुक ने जैसा पहले गाय शब्द कहा था, वैसा ही अब भी कहा, वरन् स्वर आदि की भिन्नता होने पर ही गाय जैसा नहीं 'गाय' ही समझते हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि शब्द के साथ संख्या का अभाव है एवं उसकी नित्यता भी प्रमाणित है॥ २०॥

## ( २१ ) अनपेक्षत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ**—अनपेक्षत्वात् = (शब्द के विनाशत्व का)अपेक्षित ज्ञान उपलब्ध न होने के कारण भी (शब्द नित्य है)।

**व्याख्या**— जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, थोड़े समय के पश्चात् उनका विनाश भी हो जाता है, जैसे-घट-पट आदि। सामान्य व्यक्ति भी इतना ज्ञान रखता है कि मिट्टी से घट एवं सूत से पट किसी ने बनाया है, जो एक दिन नष्ट हो जायेगा। ये पदार्थ सावयव हैं। यहाँ शब्द के विषय में इस प्रकार का अपेक्षित ज्ञान दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि शब्द के जन्मदाता हेतु ये हैं, ऐसा कोई नहीं कह सकता। जब किसी ने देखा ही नहीं तो कहे कैसे? इस आधार पर शब्द के विनाशत्व के हेतु भी नहीं बतला सकता; क्योंकि उसे इनका सुनिश्चित ज्ञान ही नहीं है। अतएव शब्द की उत्पत्ति विनाशत्व के हेतुओं का पूर्णत: अभाव होने से शब्द की नित्यता प्रमाणित हो जाती है॥ २१॥

**जिज्ञासु प्रश्न करता है- शब्द तभी उच्चरित होता है, जब आन्तरिक वायु मुख में पहुँचकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों पर अपना संयोग-विशेष स्थापित करती है, उस अभिघात से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में सुनिश्चित तौर पर कैसे कहा जा सकता है कि शब्द की उत्पत्ति एवं विनाशत्व के हेतु ही नहीं हैं? आचार्य ने उत्तर दिया-**

## ( २२ ) प्रख्याऽभावाच्च योगस्य॥ २२॥

**सूत्रार्थ**—प्रख्याऽभावात्=उत्पत्ति विषयक विशिष्ट ज्ञान न होने के कारण, च=भी, योगस्य=संयोग-विशेष का।

**व्याख्या**— शब्दोत्पत्ति एवं शब्दाभिव्यक्ति में वायु के साथ संयोग का सुनिश्चित ज्ञान न रहने के कारण ऐसी आशङ्का होना स्वाभाविक है। आचार्य ने कहा कि वायु अथवा वायु का संयोग-विशेष, शब्द की अभिव्यक्ति में समवायि, असमवायि, उपादान कारण न होकर मात्र निमित्त ही हैं; क्योंकि शब्द निरवयव हैं। शब्द की उत्पत्ति वायु से हुई होती, तो शब्द का ज्ञान त्वचा से अवश्य होता; क्योंकि वायु का गुण स्पर्श ही है। उस दशा में कर्णेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण न हुआ करता; क्योंकि जिसका जो कार्य है, उसका सम्बन्ध उसके अवयवों से अवश्य होता है, जैसे- तन्तु का पट से एवं मिट्टी के कणों का घट से। इस तरह शब्द के साथ भी वायु का सम्बन्ध होना चाहिए था, जो नहीं है। अतएव शब्द वायु का कार्य नहीं हो सकता। इस तरह से आचार्य ने कहा कि शब्द वायु का विकार न होने से नित्य है॥ २२॥

**शब्द की नित्यता में आचार्य ने और भी हेतु दिया—**

## ( २३ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २३॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लक्षणों (प्रमाण) के उपलब्ध होने से भी (शब्द नित्य है)।

**व्याख्या**— वेदों में शब्द नित्यत्व के प्रमाण उपलब्ध होने से भी शब्द की नित्यता प्रमाणित होती है। ऋग्वेद की ऋचा (८/७५/६) 'वाचा विरूप नित्यया' में वाक् (वाणी) की नित्यता का कथन किया गया है। अग्नि स्तवन के इस सूक्त के ऋषि विरूप एवं देवता अग्नि हैं। 'लीनमर्थगमयति बोधयति इति लिङ्गम्' अर्थात् गुह्य अर्थ के प्रसङ्ग के अवसर पर प्रकटीकरण करने वाला लिङ्ग अथवा प्रमाण है। शब्द की नित्यता का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर प्रस्तुत ऋचा से शब्द का नित्यत्व पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाता है॥ २३॥

**जिज्ञासु शिष्य कहता है कि शब्द तथा शब्दार्थ को यदि नित्य मान भी लिया जाये, तो भी वेद के वचनों को धर्म में प्रमाण मानना तर्क संगत नहीं, इसी आशङ्का की आचार्य अग्रिम सूत्र में अभिव्यक्ति करते हैं—**

## ( २४ ) उत्पत्तौ वाऽवचना: स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ**— उत्पत्तौ वा = शब्द एवं शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य की मान्यता देने पर भी, अवचना: = (वेदों के वचन धर्म विषयक ज्ञान) कराने वाले नहीं, स्यु: = हो सकते, अर्थस्य = अर्थ ज्ञान के, अतन्निमित्तत्वात् = विषय वस्तु निमित्तक न होने के कारण।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'वा' पद पूर्वपक्ष की स्थापना करने वाला है। शिष्य की आशङ्का का भाव आचार्य ने व्यक्त करते हुए कहा कि शब्द एवं शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है तथा शब्द समूह भी नित्य है, इस स्थिति में शब्दों से शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त करने में किसी अन्य की अपेक्षा भी नहीं होगी। फिर भी पदार्थ ज्ञान एवं वाक्यार्थ के ज्ञान में भिन्नता है और पदार्थ को वाक्यार्थ का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। अतएव पदार्थ ज्ञान के रहते हुए भी वेद वचन धर्म-विषयक ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ ही होंगे। कारण कि पद का सम्बन्ध पदार्थ से होता है, वाक्यार्थ से नहीं॥ २४॥

**आचार्य ने शिष्य की आशङ्का का समाधान करते हुए कहा—**

## ( २५ ) तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** तद्भूतानाम् = वर्तमान पदों का अपने उन-उन अर्थों में, क्रियार्थेन = क्रियावचन पदों के साथ, समाम्नाय: = पाठ का उच्चारण किये जाने पर उन शब्दों के समुदाय से वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, अर्थस्य = वाक्यार्थ ज्ञान के, तन्निमित्तत्वात् = पदार्थ ज्ञान निमित्तक होने के कारण भी।

**व्याख्या—** पदों का अपने-अपने अर्थों से नित्य सम्बन्ध होता है। पूर्व सूत्र में जो यह कहा गया है कि पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ किसी तरह का सम्बन्ध ही नहीं बनता तथा वाक्य पदबोधित अर्थ की अवहेलना करके दूसरे किसी अर्थ का ज्ञान कराता है, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। इस तरह का कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वाक्य पदार्थ से अलग होकर किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है। क्रिया का ज्ञान कराने वाले शब्दों का वाक्य में विद्यमान रहना आवश्यक होता है। पद के अर्थों के बिना वाक्यार्थ की कोई उपयोगिता ही नहीं; क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में पदार्थ ज्ञान ही हेतु होते हैं। शब्दों का अर्थ समझने के अनन्तर ही वाक्य का अर्थ ज्ञान हुआ करता है। उदाहरणार्थ- 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस वेद वाक्य में स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्रसंज्ञक हवन का धर्मानुष्ठान करना चाहिए। इस वाक्य में पदार्थ के ज्ञान से ही वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सका। क्रियावाची पद भी इस वाक्य में विद्यमान है। अत: विधि वाक्यों को अपने अर्थों का बोध कराने के लिए किसी अन्य आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती। वेद वचन धर्म ज्ञान में स्वत: साक्ष्य हैं॥ २५॥

**शिष्य प्रश्न करता है— माना कि लौकिक व्यवहार से पदों के द्वारा पदार्थ ज्ञान एवं उससे वाक्यार्थ का ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु क्या यही नियम वैदिक वचन समुदायों ( वाक्यों ) के लिए भी लागू होता है? समाधान के भाव से आचार्य ने कहा—**

## ( २६ ) लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्ष: स्यात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** लोके = लोक प्रचलित वाक्यों में, सन्नियमात् = नियम से सम्बन्धित होने के कारण विधि वाक्यों में भी, प्रयोगसन्निकर्ष: = वाक्य प्रयोक्ता गुरु परिपाटी द्वारा पद-पद का सम्बन्ध ज्ञान होने पर वाक्यार्थ की उत्पत्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** लोक व्यवहार में प्रचलित वाक्यों में पद-पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो जाया करता है और तब अपनी आकांक्षा के अनुरूप पद-प्रयोक्ता पुरुषों द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान के बोध के लिए उनकी प्रयोगात्मक उपयोगिता सिद्ध कर ली जाती है। इसी तरह वेदों में भी गुरु परम्परा के अनुसार पदार्थ ज्ञानपूर्वक किया गया वाक्य प्रयोग वाक्यार्थों का ज्ञान कराने में सर्वथा समर्थ हुआ करता है। अतएव शब्द समूह स्वरूप वैदिक वाक्यों द्वारा अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान कराना नि:सन्देह सिद्ध है॥ २६॥

**शिष्य ने आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा- जब वेद स्वत: ( स्वयमेव ) ही प्रमाण हैं, तो क्या उन्हें अपौरुषेय मानना चाहिए? इसी जिज्ञासा का उल्लेख आचार्य ने प्रस्तुत किया है—**

**( २७ ) वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, एके = कतिपय व्यक्ति, वेदान् = वेदों की अनित्यता का कथन करते हुए, पुरुषाख्याः = विशेष पुरुषों द्वारा लिखा गया है, ऐसा बताते हुए, सन्निकर्षम् = वेद से उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं।

**व्याख्या—** वेदों में जो प्रसङ्गपूर्वक विभिन्न ऋषियों के नामों का उल्लेख किया गया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि वेद रचना अनेकों ज्ञानी पुरुषों द्वारा की गई है, जिनकी उत्पत्ति का समय भी बहुत प्राचीन नहीं हो सकता। वैदिक संहिताओं - आथर्वण, वाजसनेयि, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, शाकल में पुरुषों के जुड़े नाम ही इनके रचयिता होने का प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनके कारण वेदों को पौरुषेय कहना ही उचित है। अतएव वेदों से सम्बन्धित नाम वाले ऋषिगण ही वेदकर्त्ता हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण नहीं माने जा सकते॥ २७॥

**उपर्युक्त विवेचन के पक्ष में एक और भी हेतु प्रस्तुत किया—**

**( २८ ) अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अनित्यदर्शनात् = जन्म-मृत्यु धर्मी पुरुषों का वेदों में उल्लेख होने के कारण भी।

**व्याख्या—** जन्म-मृत्युधर्मी पुरुषों का उल्लेख वेदों में उपलब्ध होने के कारण भी वेदों की अपौरुषेयता का खण्डन होता है। तैत्तिरीय संहिता (५.१.१०) में उल्लेख मिलता है कि प्रवाहण के आत्मज बवर ने कामना की ('बवरः प्रावाहणिरकामयत्')। इसी प्रकार से 'कुसुरुविन्द्र औद्दालकिरकामयत्' अर्थात् उद्दालक के आत्मज कुसुरुविन्द्र ने कामना की (७.२.२)। इन विधि वाक्यों से यही प्रतीत होता है कि प्रवाहण एवं उद्दालक के पुत्रों बवर एवं कुसुरुविन्द्र की उत्पत्ति के पश्चात् ही संदर्भित संहिता की रचना की गई। ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के शुभारम्भ में ही उनसे सम्बन्धित ऋषियों के नाम निर्दिष्ट होने से कतिपय विद्वानों का कथन है कि वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। उनका स्मरण निरन्तर बना रहे, इसीलिए सूक्त के आरम्भ में ही उनका नाम जोड़ा गया है। कुछ आचार्य कहते हैं- मन्त्र रचयिता होने से उनके नाम का उल्लेख है। इस प्रकार से कुल मिलाकर वेदों की अपौरुषेयता संशयात्मक ही है॥ २८॥

**अब आचार्य ने उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करने के भाव से अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( २९ ) उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दपूर्वत्वम् = शब्द विषयक नित्यता को , तु = तो (पूर्व में ही) उक्तम् = कह दिया है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'तु' पद पूर्वपक्ष द्वारा स्थापित आशङ्का का निराकरण एवं सैद्धान्तिक पक्ष की अभिव्यक्ति का द्योतक है। सूत्रकार ने कहा- हमने पूर्व में ही शब्द की नित्यता को प्रमाण के आधार पर सिद्ध कर दिया है। अध्ययन एवं अध्यापनरूप क्रिया में प्रयुक्त वेद शब्दमय ही है, तो फिर शब्दमय वेद पौरुषेय एवं अनित्य कैसे हो सकता है ? पुनः वेद के अनित्यत्व एवं उसके पौरुषेय होने का कथन करना न्याय संङ्गत नहीं, क्योंकि वेद नित्य एवं अपौरुषेय है॥ २९ ॥

**जिज्ञासु शिष्य ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो जन्म-मरण धर्मी पुरुषों का नाम वेदों में होने का क्या कारण है ? आचार्य ने कहा—**

**( ३० ) आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—** आख्या= नाम आदि का उल्लेख, प्रवचनात् = अध्ययन-अध्यापन रूप प्रवचन करने के कारण है।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय में स्थापित विभिन्न सूक्तों के साथ जो विशिष्ट ऋषि-महात्माओं के नाम संयुक्त हैं, वे मात्र उनके उस विषय के अध्ययन-अध्यापनरूप प्रवचन करने के कारण ही हैं, न कि उनके रचनाकार होने से। जिस ऋषि ने जिस विषय, जिस किसी शाखा का विशेष रूप से पठन-पाठनरूप प्रवचन किया-

कराया है, वे उसके प्रवक्ता बन गये, जिससे उनका नाम भी उस विषय के साथ व्यवहृत होने लगा। अतः जिनका नाम वेदों में मिलता है, वे अपने-अपने उन-उन विषयों के प्रवक्ता (प्रवचन कर्त्ता) थे, कर्त्ता नहीं॥ ३० ॥

**इस पर शिष्य प्रश्न करता है, अनित्य पुरुषों का नाम वेदों में कैसे आया? आचार्य ने समाधान करते हुए कहा—**

## ( ३१ ) परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्॥ ३१ ॥

**सूत्रार्थ—** परम् = जिन प्रावाहणि आदि शब्दों का प्रस्तुतीकरण किया गया है वे, तु =अनुपयुक्त हैं (क्योंकि), श्रुतिसामान्यमात्रम् = मात्र सुनने में सामान्य हैं (नाम नहीं) उनका अर्थ अलग है।

**व्याख्या—** अट्ठाइसवें सूत्र में वेदों की अनित्यता एवं पौरुषेयता के पक्ष में जो कारण उपस्थित किये गये थे, वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं, क्योंकि प्रावाहणि आदि नाम रूप पदों को अपत्यार्थक की मान्यता प्रदान कर यह आवश्यक नहीं कि बवर व प्रवाहण को विशिष्ट व्यक्ति मान लिया जाये। मात्र श्रवण, उच्चारण अथवा लेखन में ही 'प्रावाहणि' आदि शब्द अपत्यार्थक जैसे प्रतीत होते हैं, जबकि यह अपत्यार्थक न होकर अन्य अर्थ को बतलाते हैं। धात्वर्थ के आधार पर तीव्रता से बहने वाला वायु ही 'प्रवाहण' है। बवर अथवा बर्वर आदि शब्द उस तीव्रगामी वायु की ध्वनि के अनुकरण मात्र ही हो सकते हैं। इस तरह इन पदों का आशय समझने से यह प्रतीत होता है कि प्रवाहण एवं बवर आदि जो नाम वेद में आये हैं, उनका किसी पुरुष विशेष से सम्बन्ध नहीं, वे शब्द मात्र हैं। अतएव इससे वेदों की अपौरुषेयता बाधित नहीं होती॥ ३१ ॥

**जिज्ञासु शिष्य कहता है कि जन्म-मरण धर्मा पुरुषों के नाम के उल्लेख से सम्बन्धित प्रसङ्गों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेकों प्रसङ्ग हैं, जो बहुत ही अटपटे एवं शङ्का उत्पन्न करते हैं। जैसे 'गावो वै सत्र मासतः' एवं 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इनका क्या समाधान है? सूत्रकार ने कहा—**

## ( ३२ ) कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्॥ ३२ ॥

**सूत्रार्थ—** कृते = कार्यों में, वा = शङ्का करना उचित नहीं, विनियोगः = विनियोग, स्यात् = होता है, कर्मणः = कर्मों के साथ, सम्बन्धात् = सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** वैदिक वाक्यों द्वारा वेदों में यज्ञ रूप कल्याणकारी कर्मों के सम्पादन की ही प्रेरणा दी गई है, क्योंकि प्राणी का सम्बन्ध कर्मों से है। उदाहरणार्थ- अथर्ववेद (१९.१.६) में कहा गया है- 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' अर्थात् जब देवों ने विराट् पुरुष को हवि मानकर यज्ञ का शुभारम्भ किया। तात्पर्य यह है कि परमात्मा द्वारा प्रदत्त वस्तु से यज्ञ को विस्तारित किया। यह कथन असम्भाव्य न होकर करने योग्य सार्थक कर्म है। इस प्रकार के जितने भी वैदिक वाक्य हैं, जिनके द्वारा अनुष्ठेय धर्म (यज्ञ-यागादि) की स्तुति की गई है, वे सभी अटपटे प्रतीत होते हुए भी प्रमाण ही माने जाते हैं और इसी कारण उनको असम्भाव्य भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार वेद वाक्यों की प्रामाणिकता है, वैसे ही उन अर्थवादी वाक्यों की प्रामाणिकता समझनी चाहिए॥ ३२ ॥

## ॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

# ॥ अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**पिछले प्रथम पाद में आचार्य ने पद-पदार्थ एवं उनके सम्बन्धों की नित्यता की प्रामाणिकता सिद्ध करने के अनन्तर वेद स्वतः प्रमाण हैं, यह बतलाया। इस पर शिष्य आशङ्का करता है कि इस प्रामाणिकता से तो जो वाक्य कर्म में प्रवृत्ति के बोधक न होकर प्रामाणिक वस्तु की अभिव्यक्ति करते हैं, वे धर्म में प्रमाण नहीं माने जा सकते। उदाहरणार्थ- 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' आदि वाक्य। इन वाक्यों में प्रवृत्ति का उत्पादक कोई विधि अर्थक शब्द न होने के कारण इनकी प्रामाणिकता ही संदिग्ध हो जायेगी। शिष्य की जिज्ञासा के विभिन्न पक्षों को आचार्य स्वयं ही ( सूत्र क्र० १ से ६ तक ) सूत्रित करते हुए द्वितीय पाद का शुभारम्भ करते हैं—**

**( ३३ ) आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** आम्नायस्य = वेद के ऐसे वाक्य, क्रियार्थत्वात् = कर्म अनुष्ठान का बोधक (प्रयोजन बतलाने वाला) भर होने से, आनर्थक्यम् = अर्थहीन माने जाते हैं, अतदर्थानाम् = जिनका प्रयोजन कर्मानुष्ठान स्वरूप नहीं होता, तस्मात् = उसी से (उन वाक्यों की), अनित्यम् = अनित्यता (धर्मज्ञान में अप्रमाण होने) का, उच्यते = कथन किया गया है।

**व्याख्या—** मीमांसा शास्त्र की वर्तमान मान्यता के अनुसार कर्मानुष्ठान का प्रयोजन बतलाने वाले वाक्यों को छोड़कर शेष सभी वाक्य धर्म का ज्ञान कराने में अप्रमाण ही सिद्ध होंगे। उपर्युक्त वाक्य जिनका उल्लेख शिष्य ने किया है, वे ब्राह्मण ग्रन्थों एवं तैत्तिरीय आदि संहिताओं से प्रस्तुत किये गये हैं, जो अपना ही आशय स्पष्ट करते हैं, किसी यज्ञ-यागादि अनुष्ठान का विधान नहीं करते भले ही ये ग्रन्थ भी ऋषियों द्वारा ही कहे हुए हैं; क्योंकि इनमें धर्म कर्तव्य बोध का अभाव है, अतएव इनकी उपादेयता समाज (धर्म कर्म) के लिए सिद्ध नहीं होती। अत: ऐसे वाक्य धर्म हेतु प्रमाण नहीं हो सकते॥ १ ॥

**( ३४ ) शास्त्रदृष्टविरोधाच्च॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** शास्त्रदृष्टविरोधात् = शास्त्र एवं दृष्ट (प्रत्यक्ष) विरोध से, च = भी।

**व्याख्या—** यहाँ दो अन्य हेतुओं का उल्लेख किया गया, जिनके कारण अक्रियार्थक (सिद्धार्थक) वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जाता। प्रथम- शास्त्र विरोध एवं दूसरा दृष्टविरोध।

**१. शास्त्र विरोध-** मीमांसा शास्त्र कहता है कि यदि कोई अक्रियार्थक वाक्य अपना सम्बन्ध, स्तवन आदि अर्थवाद स्वरूप होकर किसी वैदिक वाक्य से नहीं रखता, तो उस स्थिति में उसके वैदिक वाक्य को कल्पित कर लिया जाता है। (मै.सं. ४.५.२) 'स्तेनं मनः' 'अनृतवादिनी वाक्' इसी प्रकार के वाक्य हैं। ऐसे वाक्य तो सिद्ध अर्थ के केवल अनुवाद होने के कारण फलरहित ही हैं। इन्हें सार्थक बनाने के लिए शब्द विपर्यय का आश्रय लेकर इस तरह की कल्पना करनी होगी-'स्तेयं कुर्यात्' 'अनृतं वदेत्' अर्थात् चोरी करे, असत्य भाषण करे। इस शब्द विपर्यय से शास्त्र विरोधी स्थिति बन गई; क्योंकि शास्त्र कहता है- स्तेयं न कुर्यात्, अनृतं न ब्रूयात्' चोरी न करे, झूठ न बोले, शास्त्र द्वारा प्रतिपादित विधि यही है। उक्त कल्पित विधि से शास्त्र विधि का स्पष्ट विरोध है।

**२. दृष्ट विरोध-** 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः। तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' अग्नि का धूम्र ही दिन में दिखाई देता है, लपटें नहीं। रात में आग की लपटें ही दिखाई पड़ती हैं, धूम्र नहीं। जबकि दिन में आग की लपटें एवं रात्रि में अग्नि का धूम्र बराबर दृष्टिगत होते हैं, अतएव उपर्युक्त कथन प्रत्यक्ष (दृष्ट) का विरोधी है। अत: पद एवं पदार्थ सम्बन्धों की नित्यता के आधार पर शब्द के प्रामाण्य का

कथन करना उचित न होकर संशयात्मक ही है॥ २॥

**( ३५ ) तथा फलाभावात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** फलाभावात् = फल का अभाव होने से (जिस प्रकार वाक्य में वर्णित रहता है) तथा = वैसा (न होने से भी)।

**व्याख्या—** ऐसे वाक्य जिनसे उनके अपने ही अर्थ की सार्थकता सिद्ध न होती हो, जिनसे पुरुष को न तो शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने का एवं न ही अशुभ कर्मों से निवृत्ति होने का दिशा निर्देश ही मिलता हो, वे क्रियार्थक न होने से निरर्थक ही हैं। सिद्धार्थ वाक्यों में ऐसा कुछ भी न होने के कारण उन्हें अप्रमाण ही माना जायेगा; क्योंकि पदार्थ का स्वरूप-मात्र जानने से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। उदाहरणार्थ- 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' अर्थात् जो ऐसा जान लेता है, उसका मुखमण्डल सुशोभित हो जाता है। यह वाक्य यदि गर्ग त्रिरात्र सम्बन्धी अध्ययन एवं उसके फल का केवल अनुवाद ही है, तो ऐसा अनुवाद किस काम का; क्योंकि पढ़ने वाले का मुखमण्डल सुशोभित ही नहीं हुआ। इस तरह वाक्य में वर्णित फल का व्यवहार में अभाव होने से अक्रियार्थ शब्दों की प्रामाणिकता संदेहास्पद ही है॥ ३॥

**( ३६ ) अन्यानर्थक्यात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यानर्थक्यात् = (वैदिक वाक्यों को छोड़ शेष) अन्य वाक्यों के अर्थरहित होने से (भी अक्रियार्थक वाक्य प्रामाणिक नहीं हैं।)

**व्याख्या—** वेदों में वर्णित विधि-वाक्यों के अतिरिक्त दूसरे वाक्यों के अर्थहीन होने के कारण भी उनका अप्रामाण्य ही मान्य है। श्रुति में उल्लेख मिलता है कि यज्ञीय अनुष्ठान की पूर्णाहुति से यजमान अपनी समस्त कामनाओं की प्राप्ति कर लेता है। ''पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'' इस वाक्य की सत्यता एवं सार्थकता यदि प्रमाणित होती, तो उस यज्ञीय अनुष्ठानरूपी एक ही कर्म से कर्ता यजमान की सारी मनोकामनायें पूर्ण हो जानी चाहिए थीं तथा उसे दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों के अनुष्ठान नहीं करने पड़ते। अत: इस एक कर्म के द्वारा ही यजमान की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी, ऐसी मान्यता से अन्य कर्मों की अर्थहीनता हो जाने से भी अक्रियार्थक वाक्यों की अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है॥ ४॥

**( ३७ ) अभागिप्रतिषेधाच्च॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** अभागिप्रतिषेधात् = अप्राप्ति का निषेध होने से, च = भी (प्रसङ्ग में प्राप्त वाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती)।

**व्याख्या—** जिसकी उपलब्धि ही नहीं है, उस वस्तु का निषेध निर्देशित किये जाने से भी अक्रियार्थक वाक्य प्रमाण नहीं हो सकते। जिस अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्नि चयन की उपलब्धि ही नहीं है, ब्राह्मण ग्रन्थ उसी का निषेधात्मक निर्देश करता है- 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्योनान्तरिक्षे न दिवि' अर्थात् अग्नि का चयन धरती पर नहीं करना चाहिए, न तो अन्तरिक्ष में और न द्युलोक में ही । अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में तो अग्नि का चयन किया ही नहीं जा सकता, इसे भला कौन नहीं जानता? इस अर्थहीन निषेध के कारण उपर्युक्त वाक्य अपने में स्वयं ही अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं॥ ५॥

**( ३८ ) अनित्यसंयोगात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** अनित्यसंयोगात् = जन्म-मरण धर्म वाले पदार्थों से सम्बन्ध होने से भी (सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण नहीं हैं)।

**व्याख्या—** वेदों में जन्म-मृत्यु, जरा आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनित्यधर्मी पुरुषों का वर्णन किया गया

है। अनित्यता से सम्बन्धित अनेक प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होते हैं- शब्द के नित्यानित्य विषय की विवेचना के क्रम में पूर्वपक्ष द्वारा (१.१.२८) वह प्रसङ्ग आया है तथा जिसका समाधान भी (१.१.१३) वहाँ किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में जो आक्षेप व्यक्त किया गया है, उसका लक्ष्य मात्र सिद्धार्थक अथवा अक्रियार्थक शब्द ही है। प्रवाहण एवं बवर आदि जन्म-मरणधर्मी पुरुषों का वर्णन उपलब्ध होना, जो अनित्यता से सम्बन्ध रखते हैं, उन वाक्यों की अप्रामाणिकता में सहायक हैं। अतएव सिद्धार्थक वाक्यों का धर्म विषयक विवेचन में प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता॥ ६॥

**उपर्युक्त शङ्काओं के समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—**

**( ३९ ) विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** विधिना = वैदिक वाक्यों में, तु = तो, एकवाक्यत्वात् = एक वाक्यता होने के कारण, स्तुत्यर्थेन = वेद वाक्यों के स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा, विधीनाम् = वैदिक वाक्यों के ही अंग, स्युः = कहे जाते हैं।

**व्याख्या—** ऋषि का आशय यह है कि सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाले वे अक्रियार्थक वाक्य भी विधि वाक्यों के अंग होने से उन विधि वाक्यों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं, भले ही उनका प्रयोजन स्तुति-स्तवन के लिए पूर्णतः न हुआ हो। वैदिक वाङ्मय एवं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जितने भी सिद्धार्थक (अक्रियार्थक) वाक्य दृष्टिगत होते हैं, उन सबकी वैदिक वाक्यों के साथ कहीं न कहीं एकवाक्यता भी है। इस एकवाक्यता के फलस्वरूप स्तुति विधान का बोध कराने वाले वे अक्रियार्थक वाक्य भी विधि वाक्यों के समान ही प्रमाण हैं॥ ७॥

**आचार्य ने और भी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा—**

**( ४० ) तुल्यं च साम्प्रदायिकम्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और सुनिश्चित ही, तुल्यम् = समान है, साम्प्रदायिकम् = (सृष्टि के आदि काल से चली आ रही) गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त होने से वे सिद्धार्थक वाक्य।

**व्याख्या—** सृष्टि के शुभारम्भ से ही गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा जो अध्ययन-अध्यापनरूप कर्म सम्पादित होता चला आ रहा है, उस परम्परा से विधि वाक्य के साथ अक्रियार्थक वाक्यों की प्राप्ति समान रूप से होती आ रही है। ऐसी व्यवस्था दोनों के लिए समान रीति से लागू है। अतएव ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अक्रियार्थक वाक्यों द्वारा जो स्तुतिरूप पाठ उपलब्ध है, वह प्रमादवश अथवा आपात स्थिति में किया गया है। अक्रियार्थक अर्थवादी वाक्यों की प्रामाणिकता भी वेद वाक्यों के समान ही है, ऐसा सुनिश्चित समझना चाहिए॥ ८॥

**शास्त्र विरोध एवं दृष्ट विरोध का आश्रय लेकर प्रस्तुत द्वितीय पाद के दूसरे सूत्र में शिष्य ने जो आशङ्का व्यक्त की थी, सूत्रकार अगले सूत्र में उसी का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( ४१ ) अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोग-भूतस्तस्मादुपपद्येत॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** अप्राप्ता = अप्राप्त है, च = और, अनुपपत्तिः = अर्थ का वाक्यों में अनुपपन्न होना, प्रयोगे = (सिद्धार्थक वाक्यों के विधि वाक्य मानकर उनके) प्रयोग में, हि = निश्चय ही, विरोधः = विरोध, स्यात् = होता है, तु = परन्तु, शब्दार्थः = शब्दार्थ तो (अन्य अर्थ का द्योतक होने से), अप्रयोगभूतः = (वाक्यार्थ विषय ही न होने से) विधिवाक्यरूप नहीं है, तस्मात् = इस कारण, उपपद्येत = (अक्रियार्थक वाक्यों को) उपपन्न मानना चाहिए॥

**व्याख्या—** प्रस्तुत पाद के द्वितीय सूत्र में जो शास्त्र विरोध एवं दृष्ट विरोध का प्रसङ्ग अक्रियार्थक वाक्यों की विवेचना में जिज्ञासु शिष्य ने उठाया था तथा उन वाक्यों की अनुपपन्नता की अभिव्यक्त की थी, वह अनुपपत्ति, 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' अर्थात् (वह रोया, जो रोया वह रुद्र का रुद्रत्व है) इन अक्रियार्थक वाक्यों का जो अर्थ निकलता है, वह पूर्व प्रयोगभूत क्रियात्मक स्वरूप वाला नहीं है। इसके साथ-साथ असम्भाव्य होने के कारण ऐसे वाक्यों के क्रियात्मक स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि क्रियात्मक स्वरूप की कल्पना की जाये, तो उपर्युक्त वाक्य का अर्थ होगा- रुद्र रोया, अन्यों को भी रोना चाहिए। ऐसा ही वाक्य- 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' अर्थात् प्रजापति ने अपनी वपा (शरीर की चमड़ी) उखाड़ी, दूसरों को भी उखाड़ना चाहिए। इसी प्रकार 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' अर्थात् देवताओं ने यज्ञमण्डप में यज्ञ करते समय दिशाओं को नहीं पहचाना, अन्यों को भी यज्ञकाल में यज्ञवेदी पर दिशाओं को नहीं पहचानना चाहिए। इन सभी वाक्यों से जो भी अर्थ निकलता है, अक्रियार्थक वाक्यों में उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती; क्योंकि कोई रोता तभी है, जब वह अपने प्रियजनों के विछोह से दु:खी हो या किसी प्रकार के आघात से आहत हुआ हो। मात्र इच्छा या विधि से किसी का रोना दृष्टिगत नहीं होता। ऐसे ही न तो कोई अपने शरीर की चमड़ी ही उधेड़ता है और न ही यज्ञ के समय दिशा ही भूलता है। इस प्रकार इन सभी वाक्यों के शब्दार्थ विधि के अनुरूप न होने से न तो शास्त्र के विराधी हैं और न ही दृष्ट(प्रत्यक्ष) विरोधी; क्योंकि क्रिया से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अतएव अक्रियार्थक वाक्यों के रूप में इनकी प्रामाणिकता स्वत: सिद्ध ही है॥ ९॥

**जिज्ञासु शिष्य इस पर पुन: प्रश्न करता है कि अक्रियार्थक अथवा सिद्धार्थक वाक्यों की जिस उपपन्नता का कथन उपर्युक्त विवेचन में किया गया है, वह कैसी है? आचार्य ने कहा—**

**(४२) गुणवादस्तु॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** तु = (अक्रियार्थक वाक्यों की अभिव्यक्ति) तो, गुणवाद: = गौण ही है।

**व्याख्या—** अक्रियार्थक वाक्य जो सिद्ध अर्थ का बोध कराते हैं, सर्वत्र उनकी उपलब्धता विधेय की स्तुति आदि में पायी जाती है, किसी अन्य अर्थ अथवा वाद में नहीं। अत: उनकी यह अभिव्यक्ति गुणवाद (गौण) कही गई है। कारण यह कि कहीं तो इन सिद्धार्थक वाक्यों द्वारा विधेयार्थ की स्तुति की जाती है और कहीं उससे भिन्न किसी अन्य अर्थ की। अतएव उस उपपन्नता में कहीं से कोई दोष परिलक्षित नहीं होता; क्योंकि सिद्धार्थक वाक्यों द्वारा जो कथन किया है, वह कथनरूप स्तुतिवादिता गौण होने से गुणवाद ही है॥ १०॥

**जिज्ञासु शिष्य पुन: कहता है कि पूर्व विवेचन के क्रम में जो 'स्तेनं मन:' एवं 'अनृतवादिनी वाक्' आदि अक्रियार्थक (अर्थवादी) वाक्यों की उपलब्धि हुई है, उनके द्वारा जो गुणानुवाद किया गया है, वह किस कारण से? उन वाक्यों में गुणवाद का निमित्त क्या है? आचार्य ने उत्तर दिया—**

**(४३) रूपात्प्रायात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** प्रायात् = प्रायोवाद (प्राय: वेदों में उपलब्ध कथन अथवा वाद में) से, (तथा) रूपात् = रूप में समानता की स्थिति होने से।

**व्याख्या—** मीमांसा दर्शन में 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपि तु स्तोतुम्' यह वाक्य मिलता है। इसके द्वारा यह स्वीकार किया है कि निन्दा में प्रयुक्त होने वाले वाक्य यथार्थत: विधेय के स्तुत्यबोधक हुआ करते हैं। इस न्याय के अनुसार 'स्तेनं मन:' आदि अर्थवादी अक्रियार्थक वाक्यों का आशय इस तरह सुवर्ण की स्तुति करना है कि सुवर्ण सभी प्रकार के दोषों से रहित है।

सूत्र में जो 'रूप' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका आशय लाल, हरे, नीले, पीले रंग से सम्बन्धित न

होकर चोरी करने वाले चोर की स्थिति अर्थात् अपने आपको गुप्त रखना है, जिससे किसी को उस पर संदेह न हो जाये। ऐसे ही मन भी स्वभावतः प्रच्छन्न ही रहता है। इसी एकरूपता अथवा समानता के कारण मन को स्तेन होना बतलाया है, जो एक औपचारिक अथवा गौण प्रयोग है। मन का यह निन्दा वाक्य 'हिरण्यं हस्ते भवति' 'अथ गृह्णाति' रूप इस वैदिक वाक्य के सुवर्ण (हिरण्य) की स्तुति का बोध कराने वाला है, जैसा कि विवेचन के प्रथम अनुच्छेद में ही बताया गया।

इसी प्रकार 'अनृतवादिनी वाक्' का जो प्रसङ्ग आया है, वह ऋतवादिनी वाणी को ही औपचारिक रूप में अनृतवादिनी कहा है, कारण कि लोक में वाणी बहुधा अनृतवादिनी ही हुआ करती है। इसका प्रयोग सुवर्ण के स्तवन में हुआ है, जिससे मैले मन की निन्दा का कथन किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि मन की निर्मलता के समान ही सुवर्ण की भी निर्मलता होनी चाहिए। उसे मिलावट वाला न होकर खरा होना चाहिए। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद वाक्य के समान अक्रियार्थक अर्थवादी वाक्यों की भी प्रामाणिकता है॥ ११॥

**शिष्य ने आशङ्का व्यक्त की–अक्रियार्थक वाक्यों की प्रामाणिकता वैदिक वाक्यों के समान ही है तथा शास्त्र विरोध की स्थति भी नहीं बनती,परन्तु दृष्टविरोध की स्थिति तो है ही ? उसका भी तो निराकरण होना चाहिए। आचार्य ने कहा—**

**( ४४ ) दूरभूयस्त्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** दूरभूयस्त्वात् = अधिक दूरी होने से।

**व्याख्या—** प्रस्तुत पाद के द्वितीय सूत्र में दृष्ट विरोध के प्रसङ्ग में जो यह कहा गया है कि दिन में आग एवं रात्रि में धुआँ नहीं दिखाई पड़ता, वह कथन भी दूरी के अधिक होने के कारण गुणवाद ही है। दिन में सूर्य के प्रकाश की प्रबलता के कारण अग्नि की लपटें प्रकाशित नहीं हो पाती हैं; परन्तु देखने वाले एवं आग की बीच की दूरी अधिक होने से आकाश में उठने वाला धुआँ अपनी ऊर्ध्वगामिता के कारण ही दिखाई दिया करता है। ऐसे ही ठीक इसके विपरीत रात्रि के मध्य धुआँ अन्धकार में विलीन हो जाने के कारण स्पष्ट नहीं दिखता; किन्तु अग्नि की लपटें दूरी की अधिकता होते हुए भी देखने वाले को स्पष्ट दीखती हैं। अतएव उपर्युक्त कथन भी गुणवाद ही है, यथाभूत न होकर मात्र औपचारिक ही है॥ १२॥

**दृष्ट विरोध के एक अन्य दृष्टान्त ( मैत्रायणी संहिता १.४.११ से प्रस्तुत ) का परिहार करते हुए आचार्य ने कहा—**

**( ४५ ) अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अपराधात् = स्त्री के अपराधी होने से, कर्त्तुः = उत्पन्न करने वाले जार पुरुष के, च = भी, पुत्रदर्शनम् = पुत्र का दर्शन हुआ करता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय प्रसङ्गों में जिस समय ऋषि, प्रवर आदि के वरण का अवसर उपलब्ध होता है, उस समय ऋषि, प्रवर आदि के साथ ऋषि, पितर आदि का उल्लेख करना भी अपेक्षित हुआ करता है, जिसके द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि यज्ञ करने वाला ब्राह्मण ही है। यहाँ प्रश्न यह है कि समाज में रहने वाले जिस व्यक्ति को सभी जानते हैं कि अमुक व्यक्ति ब्राह्मण है, फिर उसके विषय में ऐसा सन्देह क्यों होता है ? पुत्र के नाम के साथ पिता का नाम जोड़कर उसका परिचय कराने का क्या कारण है ? उसी के समाधान के भाव से यहाँ जानना अपेक्षित है 'प्रवरे प्रवर्यमाणे ब्रूयात्, देवाः पितरः' (मैत्रायणी संहिता १.४.११)। इस वैदिक वाक्य का अर्थवादी-वाक्य है-न चैतद्विद्मः। यदि मात्र प्रवर का ही कथन किया जाये, तो उससे अब्राह्मण को भी ब्राह्मण की मान्यता देनी पड़ती है। यह जानना नितान्त कठिन है कि अमुक व्यक्ति अपने संस्कृत पिता की सन्तान है अथवा मातृ अपराध से किसी जार-पुरुष (लम्पट) का पुत्र है। अतएव इसमें सन्देह का होना

स्वाभाविक है। कारण कि मातृ-अपराध से जार-पुत्रों की उपलब्धि समाज में हुआ करती है, अतः उक्त संशयों के निराकरण हेतु ही ऋषि, प्रवर आदि के साथ ऋषि, पितर आदि का भी निर्देशात्मक कथन करना अपेक्षित माना गया है॥१३॥

**शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि एक स्थल पर तो यह कहा गया कि स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा वालों को ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करना चाहिए। कहीं ऐसा कथन किया गया है कि कौन जानता है स्वर्ग है भी या नहीं? आचार्य ने उत्तर दिया—**

## ( ४६ ) आकालिकेप्सा॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** आकालिकेप्सा = वर्तमान कालिक सम्भावित फलेच्छा (का ज्ञान उक्त वाक्यों द्वारा होता है)।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम-यात्रा का आयोजन अनवरत चलने के कारण धूम्र का अधिक होना सहज एवं स्वाभाविक है। लम्बे समय तक याज्ञिक प्रक्रिया के चलने से यज्ञशाला में धुआँ एकत्रित होकर घुटन पैदा न कर दे, अपितु उसका निष्कासन होता रहे; इसका निर्देश वैदिक वाक्य करता है- 'दिक्षु अतीकाशान् करोति' अर्थात् यज्ञमण्डप का निर्माण करते समय धुएँ के निष्कासन हेतु सभी दिशाओं में झरोखों का निर्माण कर लेना चाहिए। उक्त वैदिक वाक्य का शेष यह है- 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति' अर्थात् कौन जानता है कि उस परलोक में स्वर्ग की सत्ता है भी, अथवा नहीं? इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग की प्राप्ति तो मरने के बाद होगी; परन्तु यहाँ तो धुएँ की घुटन से अभी ही मृत्यु हो जायेगी। अतएव सर्वप्रथम धुएँ के निकलने का मार्ग खिड़की-झरोखा आदि का निर्माण यज्ञशाला के निर्माण के साथ ही करना चाहिए। तत्काल प्राप्त होने वाले कष्ट के निवारण हेतु मनुष्य का प्रयत्नशील होना स्वाभाविक है, यह सभी मानते हैं। अतएव इस प्रसङ्ग में शास्त्रीय दृष्ट विरोध की आशङ्का सर्वथा अनुचित है॥ १४॥

**अब जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि अक्रियार्थक वाक्यों की अप्रामाणिकता में 'शोभतेऽस्य मुखम्' का दृष्टान्त आया था, उसका भी तो निस्तारण आवश्यक है। आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—**

## ( ४७ ) विद्याप्रशंसा॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** विद्या प्रशंसा = (उक्त दृष्टान्त से) ज्ञानस्वरूप विद्या की प्रशंसा की गयी है।

**व्याख्या—** 'शोभतेऽस्य मुखम्' वाक्य 'गर्ग त्रिरात्र' क्रतु के लिए प्रयुक्त विधिवाक्य का ही एक अंग है तथा उसी क्रतु की स्तुति करने वाला है। अतः जब क्रतु-विषयक ज्ञान का ज्ञाता होने मात्र से ही मुख सुशोभित होने लगता है, तब उसके विधिवत् अनुष्ठानादि के फल के विषय में कहना ही क्या? इस तरह यह विद्यारूपी ज्ञान की ही प्रशंसा की गई है। अतः ऐसे वाक्य विधि के ही अंग हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १५॥

**शिष्य प्रश्न करता है कि प्रस्तुत द्वितीय पाद के चतुर्थ सूत्र में पूर्णाहुति से ही समस्त कामनाओं की प्राप्ति का कथन करके, अन्य ज्योतिष्टोम आदि अनुष्ठानों का अर्थहीन होना ही तो बतलाया है, उसका भी परिहार होना चाहिए। आचार्य ने उत्तर दिया—**

## ( ४८ ) सर्वत्वमाधिकारिकम्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** सर्वत्वम् = सम्पूर्णता का, आधिकारिकम् = आधिकारिक कथन (गौण है)।

**व्याख्या—** पूर्व के प्रसङ्ग में आया हुआ 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' यह अर्थवादी वाक्य, वैदिक वाक्य 'पूर्णाहुतिं जुहोति' का अंग है। आधिकारिक होने से जिस कर्म का शुभारम्भ हो चुका है, उसे पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाना चाहिए। कोई भी अनुष्ठान तभी सफलीभूत होता है, जब विधि-विधान पूर्वक उसे पूर्णरूपेण सम्पन्न कर लिया जाये, आधा-अधूरा कर्म कभी भी फलदायी नहीं हो सकता। विधि वाक्य 'पूर्णाहुतिं जुहोति' का आशय ही है कि शुभारम्भ हो चुके अधिकृत अनुष्ठान की पूर्णाहुति अवश्य ही होनी चाहिए; क्योंकि

पूर्णता के अभाव से फलाभाव होना स्वाभाविक है। अतएव उपर्युक्त अर्थवाद का पोषक-वाक्य पूर्णाहुति के यज्ञीय विधि-विधान का स्तोता है, जिसके द्वारा सभी अधिकृत अनुष्ठानों की पूर्णाहुति के विधि-विधान की स्तुति की गई है। अन्य किसी अनुष्ठान की सार्थकता में इससे बाधा नहीं आती। अत: प्रसङ्गप्राप्त उक्त कथन गौण ही है॥ १६॥

**शिष्य ने आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा- उपर्युक्त समाधानपरक विवेचन से अक्रियार्थक (अर्थवादी) वाक्यों की अर्थहीनता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। गत प्रसङ्ग में कहा गया कि अधिकृत धर्मानुष्ठानों की पूर्णाहुति से समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं; परन्तु समाधान की स्थति में वह कथन असार्थक सिद्ध हुआ। सूत्रकार ने इस आपत्ति का दूसरे ढंग से समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा—**

**( ४९ ) फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणत: फलविशेष: स्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** लोकवत् = लोक प्रचलित व्यवहार के तुल्य, फलस्य = स्वर्गादि फल विशेष की, कर्मनिष्पत्ते: = (अनुष्ठानपरक) कर्मों द्वारा प्राप्त सिद्धि से, तेषाम् = उन्हीं कर्मों के, परिमाणत: = परिमाण (छोटा-बड़ा आकार) के अनुरूप ही, फलविशेष: = विशेष फल-भेद का होना, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** सामान्य रूप से सभी को यह विदित है कि जो व्यक्ति कम समय तक मजदूरी करता है, उसे उसी अनुपात में कम पारिश्रमिक मिलता है। इसके विपरीत अधिक समय तक कार्य करने वाले को पारिश्रमिकरूप फल भी अधिक मिला करता है। लोकव्यवहार की इसी रीति-नीति के समान पूर्णाहुति होम विधि-विधान के विषय में भी समझना चाहिए। जो लघु अनुष्ठान करेगा, उसे लघु तथा जो गुरुतर पुरश्चरणों की पूर्णाहुति सम्पन्न करेगा, उसे स्वर्गादिरूप गुरुतर फलोपलब्धि होगी। अत: यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्णाहुति सहित यज्ञ पूर्वक किए गए छोटे-बड़े अनुष्ठानों के प्रतिफल तदनुरूप ही मिलते हैं। अतएव अक्रियार्थक अर्थवादी वाक्यों की भी सार्थकता है॥ १७॥

**शिष्य की आशङ्का के समाधान हेतु आचार्य इसी द्वितीय पाद के पाँचवें एवं छठवें सूत्र में प्रसङ्ग वश उठाई गई आपत्तियों का परिहार करते हैं—**

**( ५० ) अन्त्ययोर्यथोक्तम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** अन्त्ययो: = अन्त में उठाई गई दोनों आपत्तियों का समाधान भी, यथोक्तम् = पूर्व के समाधान-परक कथन से, वैसा ही समझ लेना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि दोनों आपत्तियों का समाधान भी पूर्व के समाधानपरक वक्तव्यों से ही समझ लेना चाहिए। पाँचवें सूत्र में 'अभागिप्रतिषेधाच्च' से आपत्ति की गई थी कि अग्नि का चयन न तो पृथिवी पर न अन्तरिक्ष में और न ही द्युलोक में करें। अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्नि का चयन करना मनुष्य के लिए सम्भव ही नहीं; किन्तु पृथ्वी पर इस प्रकार के निषेध से अग्नि के बिना यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान कोई कैसे कर सकेगा? अतएव उक्त कथन अर्थहीन है।

आचार्य ने समाधान देते हुए कहा -उक्त अर्थवादी वाक्य 'रुक्ममुपदधाति' का अंग है, जिससे सुवर्ण की स्तुति का कथन किया गया है, उसका आशय यह है कि नंगी पृथिवी पर भी अग्नि का चयन न करके सुवर्णखण्ड आदि का आधार देकर ही धरती पर अग्नि का चयन करना चाहिए।

वेदों में मरणधर्मा अनित्य व्यक्तियों का उल्लेख होने से वैदिक वाङ्मय को नित्य नहीं माना जा सकता, यह आपत्ति छठवें सूत्र में उठाई गई थी। जिसका समाधान आचार्य ने प्रथम पाद के अन्तिम सूत्रों की विवेचना से ही कर दिया है कि विशेषत: मन्त्र संहिताओं के किसी भाग में कहीं भी लोक व्यवहार में प्रयुक्त व्यक्ति विशेष के नाम पद आदि का समान रूप से दोनों स्थानों (लोक एवं वेद) में उपलब्ध होना पाया जाता

है, वह समानता उच्चारण के अनन्तर केवल सुनने मात्र की ही है। उनके अर्थों में वैसी समानता नहीं रहती। अतएव इस तरह के वाक्यों के आधार पर वेदों की अनित्यता का कथन करना अनुचित एवं असंगत है। इस प्रकार आचार्य ने दोनों आपत्तियों का समुचित समाधान प्रस्तुत किया॥ १८॥

**शिष्य प्रश्न करता है- अर्थवादी वाक्यों का प्रयोजन जब बहुधा फलों का निर्देश करना ही है, तो क्यों न उन्हें फलविधि की मान्यता प्रदान कर दी जाये? इस मान्यता से विधि वाक्य होने के कारण उन वाक्यों की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जायेगी। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में शिष्य के इसी प्रश्न को सूत्रित किया है—**

## (५१) विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** विधि: = वैदिक वाक्य, वा = ही, स्यात् = हैं, अपूर्वत्वात् = अपूर्व होने के कारण, वादमात्रम् = स्तुति की मात्रा अभिव्यक्ति, हि = निश्चय ही, अनर्थकम् = अर्थहीन है।

**व्याख्या—** (तैत्तिरीय संहिता २/१/१) विधि वाक्यों के समान पाठरूप में प्रस्तुत वाक्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि 'औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्वा उदुम्बर ऊर्क्' का पाठ वेद वाक्यों जैसे ही किया गया है। इस अर्थवादी वाक्य का अर्थ है- उदुम्बर-गूलर की लकड़ी का बना हुआ यूप होता है, उदुम्बर निश्चय ही ऊर्जा-शक्ति-सम्पन्न है; ऊर्जा ही पशु (अन्न) है, ऊर्जा से ही ऊर्जा उत्पन्न होती है, अत: पशुओं-अन्नों की उपलब्धि करता है, ऊर्जा को अवरुद्ध करने के लिए (जिससे वह यजमान के पास स्थिर रहे) ऊर्जा उत्पन्न होती है, ऊर्जा उसे (यजमान को) सदैव उपलब्ध होती रहे। उपर्युक्त वाक्य वैदिक वाक्यों के समान पढ़े जाने से सन्देह होता है- क्या इस वाक्य का तात्पर्य फलविधान का निर्देश करना है या यूप विधि की स्तुति-मात्र ही है? संशय का निराकरण करते हुए आचार्य ने कहा- इसे फलविधि का निर्देश ही समझना चाहिए; क्योंकि यह वाक्य ऐसे अर्थ का विधान करता है, जो अन्य किसी वाक्य द्वारा उपलब्ध नहीं होता। अतएव यह कहना कि ऐसे वाक्य मात्र विधि-वाक्यों की स्तुति करने वाले हैं, निश्चित रूप से निरर्थक ही होगा। यद्यपि स्तवन आदि का प्रयोजन भी मीमांसा शास्त्र में स्वीकार्य है, परन्तु यहाँ स्तुति का ज्ञान लक्षणावृत्ति से होता है; क्योंकि जहाँ सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाले वाक्यों की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए कोई दूसरा पथ परिलक्षित न होता हो, तो वहाँ लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर विधि वाक्यों की स्तुति द्वारा ही उनकी प्रामाणिकता का निर्वहन किया जाता है; किन्तु यहाँ तो ऐसी स्थिति नहीं है, अतएव इसे फलविधि ही मानना चाहिए॥ १९॥

**दूसरे शिष्य की इसी विषय से सम्बन्धित आशङ्का को सूत्रकार स्वयं ही सूत्रित कर रहे हैं—**

## (५२) लोकवदिति चेत्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** लोकवत् = लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त स्तुति के तुल्य ही विधि स्तवन भी अर्थपूर्ण हो सकता है, इति चेत् = ऐसी मान्यता बना लेने पर तो उसकी अर्थहीनता अमान्य होगी।

**व्याख्या—** वैदिक प्रचलन में भी लोक प्रचलन की ही रीति-नीति लागू होनी चाहिए। उदाहरणार्थ-किसी ने यज्ञदत्त से कहा कि गाय खरीदनी ही है, तो देवदत्त की गाय क्यों नहीं खरीद लेते, उसकी गाय अधिक दूध देने के साथ-साथ हर बार बछिया ही दिया करती है तथा उसके बच्चे भी नष्ट नहीं होते। लोक व्यवहार में यह बहुधा देखने को मिलता है। खरीदना यहाँ विधि वाक्य है, मात्र खरीदो भर कह देने से खरीदने वाला सरलता पूर्वक तैयार नहीं होता, परन्तु जब उसे गाय के गुणों की जानकारी हो जाती है, तब खरीदने में वह विलम्ब नहीं करता। यही स्थिति वेदों में भी है। सिद्धार्थक वाक्यों द्वारा कर्मों की स्तुति किये जाने से कर्म के प्रति कर्त्ता के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और उस सुरुचि के कारण वह तन्मयतापूर्वक मनोभिलषित कर्मानुष्ठान में सहज ही लग जाता है। अतएव ऐसी स्थिति में अर्थवाद ही कहना चाहिए,फलविधि नहीं। इस मान्यता से

सातवें सूत्र में कही गई शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन भी नहीं होगा॥ २०॥

**आचार्य ने उक्त जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से प्रस्तुत सूत्र में कहा —**

**( ५३ ) न पूर्वत्वात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्वत्वात् = पहले से ही दूसरे प्रमाणों द्वारा लौकिक व्यवहार का ज्ञान होने से, (उपर्युक्त कथन) न = उचित नहीं है।

**व्याख्या—** आचार्य का मत है कि किसी क्रिया से सम्बन्धित महत्त्व यदि पहले वर्णित नहीं है, तो उसे क्रिया-प्रेरक के रूप में स्थान देना उचित है। प्रसङ्गतः विधि-वाक्यों में जो उदुम्बर ऊर्क्-अर्थात् उदुम्बर ऊर्जा है, उदुम्बर का यूप निर्माण करने से ऊर्जा प्राप्त होती है, ऐसा किसी दूसरे प्रमाणों से ज्ञात न होकर मात्र विधि वाक्यों द्वारा ही बोधित है। अतएव अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात न होने से पूर्व में अभाव होने के कारण वह स्तुत्य रूप (अक्रियार्थक) अर्थवादी वाक्य फलविधि ही है, सिद्धार्थक नहीं। इसलिए उदुम्बर अर्थात् गूलर का यूप विनिर्मित करने से ऊर्जारूपी फल की उपलब्धि होती है, ऐसा मानना ही औचित्यपूर्ण है॥ २१॥

**अब आचार्य मूल आशङ्का का समाधान करने के भाव से अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( ५४ ) उक्तन्तु वाक्यशेषत्वम्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** वाक्य शेषत्वम् = वाक्यों के अंगभूत हैं, तु = यह तो, उक्तम् = कहा जा चुका है।

**व्याख्या—** सिद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाले वाक्य विधि द्वारा विधान किये गये अर्थ की स्तुति करने के कारण वैदिक वाक्यों के अंग होकर ही उस अर्थ का ज्ञान कराया करते हैं। वैसे ही अत्यधिक स्पष्ट अर्थ का ज्ञान कराने वाले सिद्धार्थ बोधक वाक्य भी वैदिक वाक्यों के अंग बनकर अर्थ का ज्ञान कराते हैं। अतः उस स्थिति में उनमें विधि-वाक्यों की कल्पना अनिवार्य हो जाया करती है। अतएव उक्त अर्थवाद स्तुति ही है, उसे फलविधि कहना ठीक नहीं होगा॥ २२॥

**उपर्युक्त समाधानपरक विवेचन के अनन्तर आचार्य युक्तिपूर्वक शिष्य की आशङ्का का निवारण करते हैं—**

**( ५५ ) विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत,**
**तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और यदि, विधिः = विधि वाक्यों को उनमें कल्पित कर लिया जाये, तो वह कल्पना उन वाक्यों को, अनर्थकः = अनर्थक बना देगी, क्वचित् = (क्योंकि) कहीं-कहीं, तस्मात् = उससे (अर्थवादी वाक्यों से) स्तुतिः = स्पष्ट रूप से स्तवन की, प्रतीयेत = प्रतीति होती है, तत् सामान्यात् = अतः उस समानता के कारण, (जिनमें स्पष्ट स्तवन का अभाव रहा करता है) इतरेषु = उन अन्य वाक्यों में भी, तथात्वम् = वैसा ही स्तुति का भाव समझना चाहिए।

**व्याख्या—** इस प्रकार के वाक्य भी कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं, जहाँ विधि-बोधित अर्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती। अतएव ऐसे स्थानों में विधि-वाक्यों की सार्थकता बनी रहे, इस हेतु वहाँ यदि स्तुति की कल्पना कर ली जाती है, तो उससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसी समानता के आधार पर उन वाक्यों के सम-तुल्य अर्थवादी वाक्यों में स्तुति की कल्पना कर लेना सर्वथा न्यायसङ्गत ही होगा।

'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' अर्थात् जल की योनि से उत्पन्न अश्व है। शास्त्र के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है- जल से पैदा हुए अश्व की भावना करनी चाहिए; किन्तु विधि अर्थ के अनुसार ऐसा होना संभव नहीं। कारण यह कि जल से घोड़े की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में अश्वों को ऊर्जा का पर्याय मानकर जल से ऊर्जाप्राप्ति का भाव ले लेना चाहिए। ऐसे ही अन्य स्थलों पर भी स्तुति रूप कल्पित भाव

करना किसी भी स्थिति में अनुचित नहीं है॥ २३॥

**उक्त विवेचन में और भी युक्ति प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—**

**( ५६ ) प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकरणे = प्रसङ्गप्राप्त प्रकरण में, सम्भवन् = सम्भव होने पर, च = भी, तं प्रति = जिसमें वह वाक्य पढ़ा है, उस प्रकरण के प्रति, अपकर्षः = अपकर्ष की, कल्प्येत न = कल्पना नहीं करनी चाहिए, हि = क्योंकि, विध्यानर्थक्यं = (इससे) विधि-वाक्यों की अनर्थकता की उपलब्धि होगी।

**व्याख्या—** जो वाक्य जिस प्रकरण में पढ़े गये हैं, उनको स्तुति की मान्यता दिये जाने पर यदि उनकी संगति बैठती है, तो स्तुति मान लेना प्रासंगिक होगा। परन्तु यदि उन्हें विधि की मान्यता प्रदान कर दी जाये तथा प्रसङ्ग- प्राप्त उक्त प्रकरण में उन वाक्यों का सम्बन्ध विधि के साथ सम्भव न हो पाने की स्थिति में, उससे ही सम्बन्धित किसी अन्य प्रसङ्ग में उन्हीं वाक्यों को आकर्षित करके ले जाया जाना, निसन्देह अप्रासङ्गिक ही होगा। उदाहरणार्थ- तै.सं. (२/६/३) में दर्श-पौर्णमास के प्रसङ्ग के अन्तर्गत जो 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स दैवतः, तस्मादविदहता शृपयितव्यः स दैवत्वाय' पाठ आता है, उसका अर्थ है- पाक प्रक्रिया के अन्तर्गत जो पुरोडाश जल जाये, वह निर्ऋति देवता के लिए तथा जो अधपका (कच्चा) रह जाये, वह रुद्र के लिए, जो भली-भाँति पक जाये उस पुरोडाश को देवता के योग्य समझना चाहिए। दर्श पौर्णमास यज्ञानुष्ठान में निर्ऋति देवता के लिए पुरोडाश का उपयोग न होने से यह कथन विधिवाक्य के अनुसार निरर्थक हो जाएगा। फिर अन्य अनुष्ठानों में जहाँ निर्ऋति देव को पुरोडाश का विधान है, वहाँ जला हुआ पुरोडाश देना होगा, यह अनर्थ होगा। इसलिए इस स्थल पर इसको स्तुति की ही मान्यता देना उचित होगा; क्योंकि यह पुरोडाश के पकाने की प्रक्रिया की स्तुति है। इस स्तवन से यह कहा गया है- पुरोडाश की पाक-प्रक्रिया इतनी कुशलता से पूर्ण की जाये कि न तो वह जले और न ही कच्चा अथवा अधपका रह जाये। स्तुति रूप में यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है॥ २४॥

**प्रस्तुत प्रकरण में विधि वाक्यों की कल्पना करने की स्थिति में अर्थाभिव्यक्ति दोष का प्राकट्य होता है, आचार्य यही अभिव्यक्ति अगले सूत्र में करते हैं —**

**( ५७ ) विधौ च वाक्यभेदः स्यात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, (उपर्युक्त प्रकरण में) विधौ = विधि कल्पित मान्यता से, वाक्यभेदः = वाक्यभेद दोष, स्यात् = हो जायेगा।

**व्याख्या—** अन्न को इस प्रकार पकाना चाहिए कि वह जलने न पाये 'अविदहता श्रपयितव्यः' इस वैदिक वाक्य का स्तोता होते हुए भी 'यो विदग्धःस नैर्ऋतः' आदि स्तुति वाक्य को दग्धरूप गुण का विधान करने वाला भी क्यों न मान लिया जाये? आचार्य ने इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा-ऐसी मान्यता से वाक्यभेद-रूप दोष की उत्पत्ति होगी। कोई एक वाक्य जब किसी एक अर्थ की अभिव्यक्ति करके चरितार्थ हो जाता है और तब यदि उसी वाक्य से किसी अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाये, तो नियमानुसार वहाँ वाक्य-भेद-दोष हो जाया करता है। इस दोष को शास्त्र ने अर्थाभिव्यक्ति दोष की संज्ञा प्रदान की है। अतएव विधि वाक्यों की कल्पना न करके उन्हें विधि वाक्यों का अंग मानना ही न्यायोचित है॥ २५॥

**अर्थवाद के उक्त क्रम में तीसरे प्रकार के अर्थवाद का प्रस्तुतीकरण करने के भाव से आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहते हैं कि हेतु पद का प्रयोजन सिद्धार्थ-बोधक वाक्यों को प्रमाणित करना होता है—**

**( ५८ ) हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् = अर्थवत्ता से युक्त होने के कारण तथा उपपत्ति युक्ति द्वारा प्रसङ्ग में आये हुए वाक्यों के, हेतुः = हेतु का कथन करना, वा = ही, (तात्पर्य) स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'शूर्पेण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते' चातुर्मास्य यज्ञों के प्रकरण में आये इस वाक्य का अर्थ है- सूप से हवन करता है; क्योंकि उसके द्वारा अन्न की सिद्धि की जाती है। प्रसङ्गगत इस वाक्य को हेतुविधि की मान्यता दी जाये? या स्तवनपरक मानें? ऐसी संशयात्मक स्थिति उत्पन्न होती है। इस वाक्य को हेतु विधि की मान्यता देने का कोई औचित्य ही नहीं है; क्योंकि शूर्प (सूप) के हेतुत्व के विधान का कथन करता है। यहाँ जिज्ञासु शिष्य आपत्ति कर सकता है कि सूप द्वारा हवन किस प्रकार हो सकेगा? समाधानपरक उत्तर देते हुए श्रुति ने कहा- 'तेन हि अन्नं क्रियते' क्योंकि उसी से अन्न की सफाई होती है। यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले अन्न की स्वच्छता-सफाई जब तक सूप से नहीं कर दी जाती, तब तक अन्न को यज्ञीय नहीं बनाया जा सकता। उक्त वाक्य से इसी अर्थ का विधान होता है कि हवन का हेतु सूप है। अतएव इन्हीं सब कारणों से 'शूर्पेण जुहोति' आदि वाक्यों को अर्थवाद की मान्यता न देकर, हेतुविधि मानना ही सर्वाधिक उपयोगी होगा॥ २६॥

**समाधान हेतु प्रकरण प्राप्त उपर्युक्त वाक्यों में हेतुविधि के स्वरूप न होकर ये अर्थवाद स्वरूप ही हैं, इसी सिद्धान्त पक्ष के प्रस्तुतीकरण का भाव लेकर आचार्य ने कहा—**

**(५९) स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** तु = (तो शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है) यह पद तो, स्तुतिः = (पुरोडाश के साधन शूर्प की) स्तुति है, शब्दपूर्वत्वात् = शब्दपूर्वक होने के कारण, अचोदना = प्रेरणा अथवा विधि न होने से, तस्य = उस अन्न को सिद्ध करने वाले पात्रों की स्तुति करता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग-प्राप्त 'शूर्पेण जुहोति' वाक्य में सूप की स्तुति है; क्योंकि उससे विधि (सूप से हवन) की प्रेरणा नहीं ली जा सकती। 'तेन हि अन्नं क्रियते' पद को सूप के सन्दर्भ में ही मानना चाहिए। यज्ञ के अन्य उपकरणों के सन्दर्भ में नहीं।

वैसे भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'शूर्पेण जुहोति' यह प्रत्यक्ष रूप से शब्द द्वारा निर्देशित होने से प्रत्यक्षतः विधि है। 'तेन हि अन्नं क्रियते' आदि वाक्य के आश्रय से अन्य उपकरणों को अनुमान से हवन का साधन बतलाया गया है; क्योंकि प्रत्यक्ष को अनुमान की अपेक्षा समर्थ कहा गया है। अतएव 'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य को हेतुविधि की मान्यता न देकर स्तुति-वाक्य मानना ही उचित एवं न्याय संगत होगा॥ २७॥

**शिष्य आशङ्का करता है कि पुरोडाश की सिद्धि में शूर्प की अपेक्षा दर्वी बटलोई, चमचा आदि का महत्त्व कम नहीं, अपितु उससे कहीं अधिक ही है। इनका हेतुत्व यदि 'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य से बोध कराये जाने के कारण व्यर्थ है, तो इस वाक्य को स्तुति करने वाला वाक्य ही कहना चाहिए। इसी आशङ्का को आचार्य अग्रिम सूत्र में व्यक्त करते हैं—**

**(६०) व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** व्यर्थे = प्रयोजन सिद्ध न होने पर, स्तुतिः = स्तुति है, ऐसा कथन करना, अन्याय्य = न्यायोचित नहीं होगा, इति = इस प्रकार, चेत् = यदि कहा जाये तो।

**व्याख्या—** यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले अन्न (पुरोडाश) को भलीभाँति सिद्ध करने में बटलोई, चमचा आदि सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। जबकि शूर्प (सूप) में इन गुणों का सर्वथा अभाव है, अतः ऐसी स्थिति में 'तेन हि अन्नं क्रियते' आदि को सूप की स्तुति करने वाला कहना न्यायसंगत नहीं माना जा सकता॥ २८॥

**अगले सूत्र से आचार्य ने इस आशङ्का का समाधान करते हुए कहा—**

**(६१) अर्थस्तु, विधिशेषत्वाद्यथा लोके॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो ( आशङ्का निवारण हेतु प्रयुक्त है ), विधि शेषत्वात् = विधि वाक्यों का अंग होने से, यथा = जैसे, लोके = सांसारिक व्यवहार में, अर्थः = अर्थ प्रयोजन है।

**व्याख्या—** जैसे विधेय अर्थ की महत्ता का कथन करने वाले सिद्ध अर्थ के बोधक (अक्रियार्थक) वाक्य विधि वाक्यों के अंग माने जाते हैं, वैसी ही व्यवस्था वेद में भी है। अतएव वैदिक वाक्यों में स्तुतिपरक वाक्यों की कल्पना करना अर्थहीन नहीं हो सकता; क्योंकि इस तरह के वाक्य, वैदिक वाक्यों के अंग होने के कारण सार्थक ही माने जाते हैं।

'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य 'शूर्पेण जुहोति' विधिवाक्य का अंग है, अतः उसे हेतु-विधि मानना ही उचित है; क्योंकि 'तेन हि अन्नं' वाक्य वेद विहित शूर्प का स्तावक है। अनुमानित चमचा, बटलोई, कटोरा आदि साधनों से यज्ञीय अन्न (पुरोडाश) का उत्तम पाक- अपने प्रयोजन का त्याग करके, शूर्प द्वारा सम्पादित यज्ञीय अन्न की स्वच्छता-सफाई आदि का निर्देश करता हुआ शूर्प (सूप) की स्तुति करता है। शूर्प द्वारा पहले जब अन्न साफ-सुथरा कर लिया जाता है, तभी आगे की पाक-प्रक्रिया हेतु बटलोई आदि की आवश्यकता पड़ती है। अतः शूर्प के गुणों की ही प्रशंसा की गई है। लौकिक व्यवहार में भी देखा-सुना जाता है-यह बालक तो सिंह है, 'सिंहो माणवकः' ऐसा कहने से 'सिंह' शब्द अपने जन्तु-विशेष के अभिप्राय को छोड़कर बच्चे में शौर्य-साहस जैसे गुणों को दर्शाते हुए उसकी स्तुति करता है। उक्त वाक्यों में भी यही तात्पर्य समझना न्यायोचित है। अतएव 'तेन हि अन्नं क्रियते' आदि वाक्यों की सार्थकता बाधित नहीं होती॥ २९॥

**आचार्य ने युक्तिपूर्वक कथन किया कि प्रसङ्ग प्राप्त उपर्युक्त वाक्य 'तेन हि अन्नं क्रियते' को यहाँ यदि हेतु विधि की मान्यता दी जाती है, तो इससे वैदिक वाक्यों में अव्यवस्था होने की सम्भावना में वृद्धि हो जायेगी—**

**( ६२ ) यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्,**
**सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** च = और (पुरोडाश के साधक पात्रों को), यदि=यदि, हेतुः = (यज्ञीय अन्न की सिद्धि का) हेतु माना जाता है, तो भी उक्त हेतुत्व, अवतिष्ठेत = (शूर्प में ही) अवस्थित होना चाहिए, निर्देशात् = (विधि वाक्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से) निर्देश दिये जाने से, सामान्यात् = (तृतीया विभक्ति 'तेन' पद की) समानता से, (अन्न, बटलोई आदि पात्रों को पुरोडाश का कारण माना जाता है) इति चेत् = यदि ऐसा कथन किया जाये तो, विधीनाम् = वेद वचनों में, अव्यवस्था = अव्यवस्था रूप व्यतिक्रम, स्यात् = हो जायेगा।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग में प्राप्त 'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य का आश्रय लेकर यदि समस्त अन्न के साधनों को हेतु मानकर, यह कह दिया जाये कि सभी के द्वारा हवन का विधान किया जाना उचित है, तो इस व्यवस्था से बटलोई, चमचा आदि के साथ-साथ हवा, पानी, मिट्टी, हल, बैल आदि समस्त पदार्थों की गणना भी अन्न के साधक हेतुओं में होने लगेगी। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से विधि वाक्यों में व्यतिक्रम उत्पन्न हो जायेगा और इस अव्यवस्था के कारण 'जुहोति' एवं 'शूर्पेण जुहोति' का भेद ही मिट जायेगा। चाहे जिस पात्र एवं साधनों से हवन की विधि पूर्ण कर ली जायेगी। शास्त्र ने इस अव्यवस्था को रोकने के लिए वेद विहित शूर्प को ही पुरोडाश (यज्ञीय अन्न) के साधन में हेतु माना है और इसीलिए 'तेन हि अन्नं क्रियते' से शूर्प की स्तुति की गई है। अतएव हेतु-वाक्यों का प्रयोजन स्तुत्य-अर्थवाद की अभिव्यक्ति ही है, ऐसा माना जाना उचित है॥ ३०॥

**यहाँ से अब आचार्य इस विषय पर विचार करते हैं कि मन्त्र अपने शब्दों के अनुरूप अर्थों का बोध कराते हैं या मात्र उच्चारण स्वरूप ही हैं। मन्त्रों की सार्थकता एवं निरर्थकता के परीक्षण के क्रम में सर्वप्रथम अनर्थकता के पक्ष के प्रतिपादित करने के भाव से सूत्रकार ने क्र० ३१ से ३९ तक सूत्र प्रस्तुत किये हैं—**

**( ६३ ) तदर्थशास्त्रात्॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ—** तदर्थशास्त्रात् = ब्राह्मण आदि शास्त्रों द्वारा उस अर्थ का बोध कराये जाने के कारण (तो मन्त्रों की अर्थहीनता ही जान पड़ती है)।

**व्याख्या—** संशयात्मक परिस्थिति में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहा- मन्त्र कर्म से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ के कारण अपनी सार्थकता के साधक नहीं माने जा सकते। यज्ञानुष्ठान स्वरूप कर्म में उनकी (मन्त्रों की) उपयोगिता केवल उच्चारण तक ही है, ऐसा जानना चाहिए; क्योंकि मन्त्रोच्चारण करने पर भी यज्ञानुष्ठानरूप-कर्म के साथ उनका सम्बन्ध शास्त्र के वचनों द्वारा ही विनिर्मित किया जाता है। जैसा कि (यजुर्वेद १/२२) के मन्त्र 'उरु प्रथस्व' का उच्चारण कर्मानुष्ठानों के अवसर पर होता है, परन्तु ब्राह्मण वाक्य 'इति प्रथयति' से ही प्रथन का विधान हुआ है। अत: यदि मन्त्र की सार्थकता होती तो कर्मानुष्ठान में आयी प्रथन की प्रक्रिया का वह अवश्य ही ज्ञान कराता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यज्ञानुष्ठानरूप-कर्मों में मन्त्रोच्चारण की उपयोगिता अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों आदि के द्वारा ज्ञान कराये जाने के कारण मन्त्र की सार्थकता बाधित होती है॥ ३१ ॥

**( ६४ ) वाक्यनियमात्॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ—** वाक्यनियमात् = (मन्त्रों में) वाक्यों की नियमितता का क्रम नियमपूर्वक होने से (भी मन्त्रों की अर्थहीनता का ज्ञान होता है)।

**व्याख्या—** मन्त्रों में वाक्यों के नियोजन की एक नियत व्यवस्था होती है, जो आनुपूर्वी कही जाती है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि मन्त्रों के शब्दानुक्रम तथा आनुपूर्वी में कोई उलटफेर अथवा व्यतिरेक नहीं हुआ करता। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' के व्यतिरेकी क्रम (पुरोहितम् अग्निमीळे अथवा ईडेऽग्निपुरोहितम्) की स्थिति में भी सही अर्थ का ज्ञान हो जाया करता है, परन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रकार यदि मन्त्र से अर्थ का ज्ञान हो जाया करता, तो पदों की आनुपूर्वी का नियम निष्प्रयोजन हो जाता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध नहीं है॥ ३२ ॥

**( ६५ ) बुद्धशास्त्रात्॥ ३३ ॥**

**सूत्रार्थ—** बुद्ध = ज्ञात कार्यों का, शास्त्रात् = शास्त्र निर्देशपूर्वक कथन किये जाने से (भी मन्त्रों की अर्थहीनता स्पष्ट होती है।)

**व्याख्या—** यज्ञ से सम्बन्धित सम्पूर्ण विधि-विधान की जानकारी रखने वाले व्यक्ति को ही यज्ञानुष्ठानादि धर्म कार्यों में अधिकारपूर्वक मान्यता दी जाती है। उस यज्ञानुष्ठान की समस्त प्रक्रिया को जानने वाले ऋत्विक् को वही बातें बताना (जैसे- 'बर्हिस्तृणीहि, अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि') अर्थात् बर्हि बिछाओ, प्रज्वलित अग्नि के लिए सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करो आदि से मन्त्रों की अनर्थकता ही सिद्ध होती है॥ ३३ ॥

**( ६६ ) अविद्यमानवचनात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** अविद्यमान = जो विद्यमान नहीं है, ऐसे पदार्थों का, वचनात् = वेद वचनों (मन्त्रों) द्वारा कथन किये जाने से (भी मन्त्र की अर्थहीनता स्पष्ट है)।

**व्याख्या—** मन्त्रों का प्रयोजन मनुष्योपयोगी अर्थों को प्रकाशित करके मानव-मात्र का कल्याण करना है, परन्तु वैदिक वाङ्मय में कुछ ऐसे मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे अविद्यमान अर्थ का निर्देश मिलता है। (ऋग्वेद (४/५८/३) के चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश मन्त्र का अर्थ है- 'चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ वाले, तीन तरह से बँधा

हुआ वृषभ बारम्बार शब्द करता है, ऐसा महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ। किसी भी यज्ञ में ऐसे अर्थवाला पदार्थ प्रयुक्त होता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। इस मन्त्र का विशेष नियोग मैत्रायणी संहिता (१/६/२) के अनुसार अग्नि के उपस्थान में मिलता है। इसके अतिरिक्त (५/१६/४) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अग्नि स्थापन के प्रसङ्ग में घृत से सराबोर तीन समिधाओं को उक्त मन्त्र द्वारा अग्नि में डालने का विधान है। इस विनियोग का मन्त्र के अर्थ से किसी भी तरह मेल नहीं खाता, अतएव इस प्रतिकूलता से उक्त मन्त्र की अर्थहीनता ही प्रमाणित होती है॥ ३४॥

## ( ६७ ) अचेतनेऽर्थबन्धनात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** अचेतने = जड़ पदार्थों को, (लक्ष्य करके) अर्थबन्धनात् = (उनसे) अर्थ का बन्धन होने के कारण (भी मन्त्रों की निरर्थकता स्पष्ट है)।

**व्याख्या—** जड़ पदार्थों को लक्ष्य करके उनके द्वारा प्रार्थना रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जाने से भी मन्त्र अर्थ से रहित हैं, ऐसा माना जाता है। तैत्तिरीय संहिता १/३/१३ का मन्त्र 'शृणोतु ग्रावाण:' का अर्थ है- हे सोम को कूटने-पीसने वाले पत्थरो! सुनो। इस मन्त्र में जड़ पदार्थ पत्थर से प्रार्थनापरक कथन किया गया है, तो क्या जड़ पत्थर भी कभी किसी की प्रार्थना सुनने में समर्थ हो सकते हैं? और यदि सुनें भी, तो क्या सुनने के पश्चात् कोई समाधान देने में सक्षम हो सकते हैं? सर्वथा अक्षम ही होंगे। अतएव इस विवेचन से मन्त्रों की अर्थहीनता स्पष्टत: परिलक्षित होती है॥ ३५॥

## ( ६८ ) अर्थविप्रतिषेधात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** अर्थविप्रतिषेधात् = अर्थ का विरोध होने के कारण (भी मन्त्र निरर्थक हैं)।

**व्याख्या—** मन्त्र में प्रयुक्त पदों का यथार्थत: यदि कोई अर्थ होता है, तो उसके द्वारा अभिव्यक्त किये गये अर्थ में पारस्परिक विरोध की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है। उदाहरणार्थ 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋग्वेद १.८९.१०) मन्त्र में अदिति ही द्युलोक है और अदिति ही अन्तरिक्ष है, इस कथन में एक ही अदिति को द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक दोनों ही बताये जाने से परस्पर विरोधी भाव उत्पन्न होता है, जिससे मन्त्र की अर्थहीनता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' में कहा कि रुद्र एक ही है दूसरा नहीं। इसके विपरीत अन्य स्थल पर 'असंख्याता: सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' से कहा कि जो रुद्र भूमि पर अवस्थित हैं, वे सहस्रों एवं असंख्य हैं। पहले कहा रुद्र एक है,फिर कहा सहस्र हैं। इस तरह दोनों मन्त्र परस्पर विरोधी कथन करते हैं। सहस्र कहकर फिर असंख्य कहना भी विरोधी भाव ही है। इस प्रकार पारस्परिक विरोध के कारण मन्त्रों की अर्थहीनता का ही प्रमाण मिलता है॥ ३६॥

## ( ६९ ) स्वाध्यायवदवचनात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** स्वाध्यायवत् = पठन-पाठनरूप स्वाध्याय के अनुकूल, अवचनात् = वाक्यार्थों के कथन की विधि- व्यवस्था न होने से (भी मन्त्र अर्थहीन हैं)।

**व्याख्या—** शास्त्र में स्वाध्याय के हेतु जो विधि-व्यवस्था दी गई है वह है - 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य: (शतपथ. ११.५.७.१०)' अर्थात् मन्त्रोच्चारणरूप पाठ मात्र (स्वाध्यायपूर्वक) वेदों का अध्ययन करना चाहिए, इस वाक्य में यह तो कहा गया कि अक्षरों के अभ्यास रूप में पाठ करना चाहिए, किन्तु अर्थज्ञान की विधि-व्यवस्था का कथन कहीं नहीं किया गया है।

छात्रों द्वारा वेदपाठ के समय कोई स्त्री यज्ञ के उपयोग में आने वाले धान को ऊखल में कूट रही है, स्वाध्यायरत छात्र उसी समय अकस्मात् धान कूटने में विनियोग किये जाने वाले मन्त्र का उच्च स्वर से पाठ

करने लगता है। मन्त्रपाठ का प्रयोजन यद्यपि धान कूटने वाली उस क्रिया-से नहीं है; परन्तु दोनों कर्म एक ही साथ सम्पन्न हो रहे हैं। आशय यह है कि यदि छात्र धान कूटते समय तत्संदर्भित मन्त्रों का उच्चारण न करता, तो भी धान कूटने की प्रक्रिया चलती रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि मन्त्रार्थ का वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव इससे भी मन्त्रों की निरर्थकता ही सिद्ध होती है॥ ३७॥

**( ७० ) अविज्ञेयात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** अविज्ञेयात् = अविज्ञेय (न जानने योग्य) होने के कारण भी (मन्त्र निरर्थक हैं)।

**व्याख्या—** विभिन्न मन्त्रों में प्रयुक्त पदों का अर्थ जानने योग्य न होने के कारण भी मन्त्रों को निरर्थक माना जाता है। वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनका अर्थ ज्ञात करना सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ- (ऋग्वेद १०.१०६.६) का मन्त्र- '**सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥**' इस प्रकार के बहुत से ऐसे मन्त्र हैं, जिनका कोई ऐसा अर्थ नहीं निकलता, जिसकी मानव जीवन में कोई सही उपयोगिता हो। अत: इससे भी मन्त्रों का अर्थहीन होना ही प्रमाणित होता है॥ ३८॥

**( ७१ ) अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अनित्य संयोगात् = (मन्त्रों में जन्म-मरण धर्मा) अनित्य पदार्थों का संयोग होने के कारण, मन्त्रानर्थक्यम् = मन्त्रों की निरर्थकता है।



**व्याख्या—** मन्त्रों में ऐसे-ऐसे पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जो नित्य न होकर अनित्य से सम्बन्धित हैं। मन्त्रों को जब नित्य-अनादि-अपौरुषेय कहा गया है, तो उनमें फिर अनित्य पदार्थों का उल्लेख नहीं होना चाहिए। ऋग्वेद ३/५३/१४ का मन्त्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है— '**किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया न:॥**' इसमें यह कहा गया है कि नैचाशाख नामक नगर है, जिसका राजा प्रमगन्द नाम से जाना जाता है। उस देश विशेष का नाम कीकट है। इस मन्त्रार्थ का प्रयोजन यदि ऐसा ही है, तो प्रसङ्गप्राप्त नगर, देश, राजा आदि का अस्तित्व इस मन्त्र के अस्तित्व की अपेक्षा प्राचीन माना जायेगा, जो मन्त्र की नित्यता में बाधा उपस्थित कर देगा। अतएव इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्र निष्प्रयोजन हैं॥ ३९॥

**क्रमानुसार नौ सूत्र प्रस्तुत करके सूत्र सं० इकतीस से उन्तालीस तक नौ हेतुओं द्वारा धार्मिककृत्य-स्वरूप यज्ञानुष्ठानों में मन्त्रों का प्रयोजन मात्र उच्चारण तक होना कहा तथा यह भी निर्देश स्पष्ट रूप से किया कि मन्त्रों के अर्थ यज्ञानुष्ठानरूप धर्म-कार्य में यज्ञ से सम्बन्धित क्रिया-कलापों का बोध करायें, ऐसा उनका उद्देश्य नहीं। वेदपक्ष की स्थापना करने के भाव से सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( ७२ ) अविशिष्टस्तु वाक्यार्थ:॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** अविशिष्ट: = अन्यों से भिन्न नहीं है, वाक्यार्थ: = वैदिक वाक्यार्थ, तु = तो ।

**व्याख्या—** वैदिक मन्त्रों के वाक्यों का अर्थ लोक-प्रचलित वाक्यों के अर्थ से विशिष्ट (भिन्न) नहीं होते। लोक एवं वेद में ये वाक्यार्थ समानतापूर्ण प्रतीत होते हैं। मन्त्रों में प्रयुक्त पदों का अपना-अपना एक अविशिष्ट अर्थ हुआ करता है। क्रिया, कारक आदि अनेक पद-समूह सम्मिलित होकर जब किसी वाक्य की रचना करते हैं, तब उनके द्वारा एक विशिष्ट अर्थ अभिव्यक्त होता है, अर्थाभिव्यक्ति की यह परम्परा लोक में प्रचलित वाक्यों तथा विधि-वाक्यों दोनों में समानरूप से प्रचलित है। अतएव यदि लोक-प्रचलित वाक्यों की सार्थकता मान्य है, तो विधि-वाक्य तो सर्वथा सार्थक ही माने जायेंगे॥ ४०॥

**शिष्य ने प्रश्न किया- 'तां चतुर्भिरादत्ते' इस वेद वाक्य को क्या अर्थहीन कहा जाये? सूत्रकार ने उत्तर देते हुए कहा—**

## ( ७३ ) गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ ४१ ॥

**सूत्रार्थ—** गुणार्थेन = गुणों के लाभ हेतु, पुनः = फिर से, श्रुतिः = पढ़ा गया है।

**व्याख्या—** (शतपथ ब्राह्मण ६/१/३/४३) 'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' मन्त्र में अग्नि की स्थापना के समय चार मन्त्रों द्वारा जो अभ्रि का ग्रहण करना कहा है वह कथन-पाठ गुण-लाभ हेतु हुआ है। - देवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा, अभ्रिरसि हस्त आधाय आदि का पाठ संख्यारूप गुणों के लाभ हेतु कुदाल (अभ्रि) को हाथ में धारण करने के समय यजुर्वेद के चार मन्त्रभाग विशेषरूप से नियुक्त किये गये हैं। संख्या का वहाँ कोई निर्देश नहीं किया गया है। अतः ऐसी स्थिति में व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत के जैसा विकल्प उपलब्ध होगा। जिस प्रकार यज्ञ-कार्य सम्पन्न करने में धान एवं जौ का विकल्प उपस्थित है- धान से यज्ञ करे अथवा जौ से, जो भी हो उससे ही करे। ठीक ऐसे ही मन्त्रों की संख्या चार होने पर भी चाहे एक मन्त्र से अभ्रि का आधान करे अथवा दो, तीन या चारों से। अतएव 'तां चतुर्भिरादत्ते' रूप विधि चारों मन्त्र भागों के सम्मिलित स्वरूप के नियमन की अभिव्यक्ति करती है। इससे मन्त्रों की सार्थकता कहीं से भी बाधित नहीं होती। अतएव मन्त्र अर्थहीन नहीं हो सकते॥ ४१ ॥

**उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि करते हुए सूत्रकार ने कहा—**

## ( ७४ ) परिसंख्या॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** परिसंख्या = परिसंख्या स्वीकार न करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठानों के समय किसी विशेष कर्मकाण्डपरक क्रियापद्धति आदि के विषय में जब संदेह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि अमुक कार्य का सम्पादन किस तरह सुचारु रूप से किया जाये? शास्त्र ने ऐसी संदिग्धता के निवारण हेतु तीन तरह के मार्ग बतलाये हैं, जिनमें पहला है विधि, दूसरा नियम और तीसरा परिसंख्या। जहाँ अन्य किसी भी प्रकार से कार्य की उपलब्धता न हो, वहाँ वेद वाक्यों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से उसकी विधि-व्यवस्था का कथन किया जाता है। उदाहरणार्थ- 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' यह विधि का स्वरूप हुआ।

दूसरा नियम यह है कि जिस कर्म के सम्पादनार्थ समान सामर्थ्य वाले दो प्रबल आधार उपलब्ध हों, वहाँ विकल्प की स्थिति बनी रहती है, ऐसे समय में एक के नियम की व्यवस्था बनानी पड़ती है। जैसे- 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' यहाँ उदित एवं अनुदित दोनों हवन के वाक्य समतुल्य सामर्थ्य वाले हैं, अतः एक का नियमन करना पड़ता है या तो उदित में ही हवन करे अथवा अनुदित में। जहाँ ऐसे नियम की अनिवार्यता अपेक्षित नहीं रहती, वहाँ विकल्प को स्वीकार किया जाता है। जैसे- व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत, यह नियम का स्वरूप हुआ।

अब तीसरा है परिसंख्या- यह वह विधि है, जहाँ कल्याण एवं अकल्याण दोनों में ही कर्म की उपलब्धि होने की स्थिति में अकल्याण के त्याग की विधि-व्यवस्था का कथन किया जाता है। उदाहरणार्थ-यजुर्वेद (२२/२) का मन्त्र 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य'। इस मन्त्र के अगृभ्णन् पद से जो तात्पर्य सामने आता है, उससे घोड़ा एवं गदहा दोनों की लगाम का ग्रहण करना है। घोड़े की लगाम पकड़ना कल्याणकारी है, गदहे की लगाम पकड़ना नहीं। ऐसी स्थिति में 'अश्वाभिधानीमादत्ते' रूप वचन घोड़े की रशना (लगाम) ग्रहण करने का विधान बतलाता है। इस प्रकार का अर्थ परिसंख्या विधि के आधार पर ही स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि 'अश्वाभिदानीमादत्ते' वाक्य में

परिसंख्या विधि की परिकल्पना आवश्यक नहीं है; क्योंकि 'इमाम गृभ्णन् रशनामृतस्य' मात्र इतने संकेत से अभीष्ट वाक्यार्थ की पूर्ति नहीं होती। वाक्यार्थ की पूर्णता 'इमाम गृभ्णन् रशनामृतस्य, इति अश्वाभिधानीमादत्ते' इतने सन्दर्भ से होती है। इस वाक्य का अर्थ है- ऋत की इस रशना (लगाम) को ग्रहण किया, यह कहते हुए घोड़े की लगाम पकड़ लेता है। सम्यक् रूप से एकत्रित इतने संदर्भ का एक साथ अर्थ किये जाने पर 'गदहे की लगाम पकड़ने वाले' सामान्य अर्थ की उपलब्धि ही नहीं होती, तब उसके निवारणार्थ परिसंख्या विधि का प्रयोग अनावश्यक ही होगा॥ ४२॥

**जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि मन्त्रों की नियमितता एवं उनके पदानुपूर्वी होने से क्या तात्पर्य है? सूत्रकार ने कहा—**

**( ७५ ) अर्थवादो वा ॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह तो, अर्थवादः = अर्थवाद ही है।

**व्याख्या—** 'उरु प्रथस्व' मन्त्र के द्वारा पुरोडाश (यज्ञीय अन्न) के प्रथन (फैलाने) की स्थिति प्राप्त होने पर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' इस वाक्य का उद्देश्य कर्म की प्रशंसा करना होता है। अतएव इसे प्रशंसापरक अर्थवादी वाक्य ही जानना चाहिए। मन्त्रों द्वारा प्रथनरूप कर्म की उपलब्धि होने पर फिर से उसकी अभिव्यक्ति करना प्रथन कार्य की स्तुति से यज्ञ करने वाले यजमान की समुन्नति का द्योतक होने के कारण उपर्युक्त वाक्य अर्थवाद ही है। ऐसे ही 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते, इति अश्वाभिधानीमादत्ते इति पुरोडाशं प्रथयति आदि के समझाने के पश्चात् मन्त्रों की सार्थकता के विषय में कोई संशय नहीं रह जाता॥ ४३॥

**शिष्य ने प्रश्न किया कि मन्त्रों की नियमितता एवं उनके पदानुपूर्वी होने से क्या तात्पर्य है? सूत्रकार ने कहा—**

**( ७६ ) अविरुद्धं परम्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** अविरुद्धम् = विरोधी नहीं है, परम् = वाक्य नियम का (अगला) हेतु।

**व्याख्या—** मन्त्रों की सार्थकता स्वीकार करने पर मन्त्रों का नियत पदानुपूर्वी होना उनकी सार्थकता के साथ विरोध करना नहीं है। नियत क्रम से पदानुपूर्वक मन्त्रोच्चारण करने पर जो अर्थ ज्ञान प्राप्त होता है, उलटफेर वाले पाठ में भी वही अर्थ उपलब्ध होता है। अतएव मन्त्रों की नियत क्रमबद्धता पदानुपूर्वी-मन्त्रों का निरर्थक होना प्रमाणित नहीं करती। यथार्थरूप से मन्त्रों का पदानुपूर्वक एक नियमित क्रम में रहना अत्यधिक आवश्यक रहा करता है। व्यतिक्रम की स्थिति में अर्थ में उलटफेर की सम्भावना बनी रह सकती है॥ ४४॥

**समाधानपरक विवेचना के इसी क्रम में आचार्य अगले सूत्र में कहते हैं—**

**( ७७ ) सम्प्रैषे कर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** सम्प्रैषे = सम्प्रैष मन्त्रों में, कर्मगर्हा = ज्ञात हुए का ज्ञान करानेरूप कर्म-विषयक न्यूनता की जो उपलब्धता होती है, संस्कारत्वात् = वह याज्ञिक का संस्काररूप होने के कारण उसे, अनुपालम्भः = दोष नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** अग्नीत् याज्ञिक को अपने विषय का पूर्णज्ञान है, उसे अपने कर्त्तव्य निर्धारण के लिए किसी अन्य आश्रय की अपेक्षा नहीं है, अतः ऐसे अवसर पर सम्प्रैष मन्त्र 'अग्नीत् अग्नीन् विहर' द्वारा आग्नीध्र अध्वर्यु को यह निर्देश देना कि हे अग्नीत्! अग्नियों को धिष्ण्यसंज्ञक स्थलों पर ले जाओ। आशय यह है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड के समय कर्त्तव्य ज्ञान के विस्मरण की स्थिति न उत्पन्न हो, अपने आदेश द्वारा सम्प्रैषण-मन्त्र उसी का स्मरण कराते हैं। यही स्मर्त्ता का संस्कार माना गया है। यद्यपि स्मृति कराने के और भी हेतु हो सकते हैं, परन्तु यज्ञीय अनुष्ठान के समय सम्प्रैष-मन्त्र द्वारा कर्त्तव्य का

स्मरण कराना शास्त्र की अपनी विधि-व्यवस्था है ॥ ४५ ॥

**शिष्य ने प्रश्न किया- वैदिक वाङ्मय में जड़ पदार्थों को सम्बोधित करके जो कथन किया गया है तथा जो पदार्थ उपलब्ध ही नहीं है, उनका उल्लेख होने का क्या उद्देश्य है ? सूत्रकार ने उत्तर देते हुए कहा—**

## ( ७८ ) अभिधानेऽर्थवादः ॥ ४६ ॥

**सूत्रार्थ—** अभिधाने = कथन की अभिव्यक्ति में, (अनुपलब्ध एवं जड़पदार्थ-विषयक) अर्थवादः = अर्थवाद है।

**व्याख्या—** जड़ पदार्थों को सम्बोधित करके मन्त्रों में जो कथन मिलता है, वह तथा उनमें मिलने वाला अनुपलब्ध-पदार्थ-विषयक उल्लेख मात्र अर्थवाद है। स्तुति स्वरूप यह गौण कथन औपचारिक ही है। अतएव इस प्रकार के मन्त्रों का उच्चारण करने से धर्म-विशेष किसी अदृष्ट फल की उत्पत्ति होती हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। 'चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा' आदि मन्त्र से जो अनुपलब्ध अर्थ का कथन किया गया है, वह सूर्य देवता का प्रतीक यज्ञाग्नि का (आलंकारिक) स्तुतिरूप अर्थवाद है। उनके कल्पित विग्रह एवं कर्म-कथन द्वारा उनका गुणगान ही किया गया है। ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु एवं होता ये चारों ऋत्विज् ही यज्ञाग्नि के चार सींग हैं। तीनों सवन ही यज्ञाग्नि के तीन पैर हैं। मन्त्र के सातों छन्द ही उसके सात हाथ हैं। ऋक्, यजुः एवं साम यज्ञाग्नि के यही तीन बन्धन हैं। तीन प्रकार के बन्धनों से बँधा हुआ यह यज्ञाग्नि ही वह वृषभ है, जो यजमान की समस्त कामनाओं की पूर्ति करके मांगलिक वर्षा का हेतु बनता है। यही वृषभ अपनी प्रज्वलन शक्ति से शब्दोच्चारण करता है तथा मनुष्य मात्र में समाविष्ट है अर्थात् सभी मनुष्य यज्ञाग्नि एवं उससे होने वाले धार्मिक यज्ञानुष्ठान के अधिकारी हैं। अतएव उक्त वैदिक वाक्य यज्ञाग्नि का स्तोता होने से अर्थवाद ही है, इसके द्वारा अविद्यमान-अर्थ के कथन की कल्पना करके मन्त्र की सार्थकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। मन्त्रों की अनर्थकता की आशङ्का सर्वथा निराधार ही है॥ ४६ ॥

**शिष्य ने पुनः प्रश्न किया कि वैदिक वाक्यों में जो परस्पर विरोध का भाव परिलक्षित होता है, उसका क्या कारण है? सूत्रकार ने बताया—**

## ( ७९ ) गुणादविप्रतिषेधः स्यात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** गुणात् = गुणों की अभिव्यक्ति से, अविप्रतिषेधः = विरोध का न रहना ही , स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत द्वितीय पाद के सूत्र छत्तीस में प्रसङ्गगत वैदिक वाक्य 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' का अदिति पद (अविभाजित मूल) प्रकृति का पर्याय है, जो जगत् का प्रमुख उपादान कारण है। द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह सब प्रकृति का ही भेद है। मन्त्र में जो अदिति को द्यौः एवं अन्तरिक्ष कहा गया है उसका हेतु कार्य-कारण भाव ही है। शास्त्र के विधान से इसे कारण में कार्य का उपचार ही माना जायेगा। इसी प्रकार 'एको रुद्रः शतं रुद्राः' वाक्य में एक ही रुद्र की अपरिमित शक्ति सामर्थ्य की स्तुतिरूप है। रुद्र के माहात्म्य को दर्शाने के लिए ही शतं का प्रयोग हुआ है, जो औपचारिक ही है। अतएव इसे गौण प्रयोग ही माना जायेगा। इस प्रकार इन प्रयोगों से मन्त्रों की सार्थकता में कोई बाधा नहीं आती॥ ४७॥

**जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया कि अध्ययन की विधि-व्यवस्था जैसा कोई नियम अर्थज्ञान के लिए क्यों नहीं पाया जाता; अर्थज्ञान के अभाव में यज्ञरूप कर्मानुष्ठान क्यों किये जाते हैं? सूत्रकार ने बताया—**

## ( ८० ) विद्यावचनमसंयोगात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** विद्यावचनम् = अर्थज्ञान की कथन रूप अभिव्यक्ति उस स्थिति में ही सम्भव है जब, असंयोगात् = अर्थज्ञान का संयोग स्वाध्याय के साथ हो ही नहीं।

**व्याख्या—** अर्थज्ञान का संयोग स्वाध्याय के साथ स्वीकार न किये जाने की स्थिति में ही अर्थज्ञान की विधि व्यवस्था का सर्वथा अभाव है; ऐसा कथन किया जा सकता है। पूर्व प्रसङ्गगत मन्त्र 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' मन्त्र के उच्चारण एवं मन्त्रार्थज्ञान दोनों की विधि-व्यवस्था को बतलाता है। स्वाध्याय का आशय उच्चारणसहित शब्द-शब्दार्थ को विधिवत् समझना ही है। विद्यार्थी द्वारा पाठ करते समय प्रसङ्ग-प्राप्त अवहनन मन्त्र का उच्चारण स्वर में स्मरण किया जाना उसको (अवहनन मंत्र को) याद करना ही है। उसी समय स्त्री द्वारा धान कूटे जाने-रूप-कर्म का उस मन्त्र-पाठ प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध न होने से मन्त्र को अनुपयुक्त एवं निरर्थक बताना सर्वथा अनुचित है। यज्ञार्थ कूटे जाने वाले धान में यज्ञीय संस्कार तथा कूटने वालों में यज्ञीय भाव का संचार करना उस पाठ का उद्देश्य है, न कि धान कूटने की प्रेरणा देना। अतएव उस समय सम्पन्न हो रही धान कूटने-रूप-क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध न होने से मन्त्र की अर्थहीनता का कथन अन्यायपूर्ण है॥ ४८॥

**शिष्य ने प्रश्न किया- वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त ऐसे मन्त्र जिनका कोई अर्थ ही नहीं निकलता, उनके विषय में क्या कहेंगे? समाधान के भाव से आचार्य ने कहा—**

### (८१) सतः परमविज्ञानम्॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** सत: = विद्यमानता की स्थिति में, परम् = किसी अन्य हेतु से जो अर्थहीनता का कथन किया गया है, (उसे) अविज्ञानम् = अर्थ को ग्रहण करने की पात्रता का अभाव होने के कारण ही जानना चाहिए।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय के पदों को प्रयोजनरहित एवं अर्थहीन बतलाना व्यर्थ ही है; क्योंकि बहुधा सामान्य मन्त्रों के अर्थ भी आलस्य-प्रमाद आदि व्यवधानों के कारण भली प्रकार समझ में नहीं आते। सृण्येव, जर्फरी, तुर्फरीतू आदि प्रत्येक पदों का अपना कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है। इन पदों का विवेचन क्रमश: इस प्रकार है- १. (सृण्याऽइव) सृण्येव- का लोक प्रचलित अंश अंकुश है, जिससे हाथी को महावत अपने वश में रखता है। सृणि के कार्य दो तरह के हैं- प्रथम हाथी को विचलित न होने देना अर्थात् उसे उसकी सीमा में ही रहने के लिए बाध्य करना। दूसरा- गतिशीलता हेतु धक्के देकर आगे बढ़ाना। २. जर्फरी- का अर्थ है शारीरिक अदृश्यता का भाव। यह पद 'जृभ जृभि गात्र विनामे' धातु से उत्पन्न है। ३. तुर्फरीतू- तृफ धातु से निष्पन्न होने वाला यह पद हिंसार्थक माना जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद १/१६९/३ के मन्त्र- ''अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति। अग्निश्चिद्धिष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसी॥'' में भी सामर्थ्यवान् सूर्य की वर्षा के द्वारा स्तवन के साथ सूर्य के सहयोगी मरुद्‌गणों की भी स्तुति की गई है। ऋचा का अर्थ इस प्रकार है- हे इन्द्र! आपकी वह प्रसिद्ध-शक्ति (ऋष्टि) हम प्राणियों के कल्याण हेतु उपयोगी स्थल पर पहुँच गई है, मेघों में परिपूर्ण पुरानी जलराशि को बरसाने के लिए अब मरुद्‌गण भी तत्पर हो गये हैं। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि का प्रज्वलन होता है, उसी प्रकार आप विद्युत्स्वरूप होकर बादलों में दीप्तिमान् होते हो। द्वीप जैसे जल से घिरा रहता है, वैसे ही बादलों ने जलराशि को अपने अन्दर धारण कर रखा है। आपकी शक्ति ने मरुद्‌गणों की सहायता से वर्षा के रूप में उसको पृथिवी पर प्राणि-मात्र के मंगल हेतु बिखेर दिया है। अत: वेदमन्त्रों को निरर्थक कहना महान् मूढ़ता का परिचायक है॥ ४९॥

**शिष्य ने प्रश्न किया कि वेदों में अनित्य (जन्म-मरणधर्मा) पदार्थों के कथन का क्या उद्देश्य है? सूत्रकार ने उत्तर दिया—**

### (८२) उक्तश्चानित्यसंयोग:॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** अनित्यसंयोग: = अनित्य के साथ संयोग के दोष का समाधानपरक कथन, च = भी, उक्त: = पहले ही किया जा चुका है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र उनतालिसवें सूत्र की व्याख्या में प्रसङ्ग-प्राप्त

कीकट, प्रमगन्द एवं नैचाशाख आदि अनित्य पदार्थों के संयोग का जो कथन किया गया था, अनित्य-विषयक इस आशङ्का का समाधान तो शास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के इकतीसवें सूत्र 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' से ही किया जा चुका है। जिस प्रकार 'प्रावाहणि' आदि पदों को व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार कीकट, प्रमगन्द एवं नैचाशाख आदि पदों को भी देश-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष के वाचक होने की मान्यता नहीं दी जा सकती। कीकट पद का सामान्य अर्थ कृपण है, जिनसे परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसे भोगवादी संस्कृति के उपासक जिस देश-विशेष में रहते हों, वही प्रदेश कीकट हो सकता है; किन्तु उक्त मन्त्र में अर्थ का ऐसा भाव न होकर मात्र कृपण जनों के लिए ही कीकट का प्रयोग मानना चाहिए।

प्रमगन्द पद का तात्पर्य है— अतिशय ब्याजभोगी। इसी प्रकार नैचाशाख पद अधर्माचरण से युक्त, कुत्सित विचार वाले नीच कुल में उत्पन्न जनों का बोध कराने वाला है। अतएव इन पदों के आधार पर वैदिक मन्त्रों में अनित्य संयोग का कथन करना कदापि न्यायोचित नहीं माना जा सकता। कारण यह कि उक्त कथन व्यक्ति-विशेष अथवा स्थान-विशेष का बोधक न होकर सामान्य अभिव्यक्ति मात्र है॥ ५०॥

**शिष्य ने जिज्ञासा व्यक्त की, कि क्या कोई ऐसा हेतु भी है, जो मन्त्रों की सार्थकता में स्वतन्त्र प्रमाण हो? आचार्य ने कहा—**

## ( ८३ ) लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गोपदेशः = लक्षणों (देव बोधक शब्दों) का मन्त्रों में निर्देश होना, च = भी, तत् = उसके (मन्त्रों के), अर्थवत् = सार्थक होने का ज्ञान कराता है।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता ३/१/६ का मन्त्र 'आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रमभिमृषेत्' का अर्थ है- अग्निदेवता के पूजन से सम्बन्ध रखने वाली ऋचा से आग्नीध्र का स्पर्श करना चाहिए। इस प्रकार जिस मन्त्र का प्रतिपाद्य-विषय अग्नि देवता है, उसी मन्त्ररूपी ऋचा से आग्नीध्र के स्पर्श करने का निर्देशात्मक कथन प्राप्त होने से यह प्रमाणित हो जाता है कि मन्त्र अर्थ से परिपूर्ण हैं। अतएव मन्त्रों में लक्षणों का बोध (देवता-बोध) कराने वाले शब्दों का उपदेशात्मक कथन मन्त्र की सार्थकता सिद्ध करता है॥ ५१॥

**उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने के लिए आचार्य ने और भी हेतु दिया—**

## ( ८४ ) ऊहः॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** ऊहः = ऊह (तर्क) से भी मन्त्रों की सार्थकता प्रमाणित होती है।

**व्याख्या—** प्रकृतियाग में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का विकृतियाग में प्रयोग किये जाने की स्थिति में, विकृति-याग विषयक अर्थ के समतुल्य पदों का मन्त्र में प्रयोग कर लिया जाना ही 'ऊह' कहलाता है। वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञों को दो भाग में विभाजित किया गया है। पहला 'प्रकृतियज्ञ', दूसरा 'विकृतियज्ञ'। प्रत्यक्ष निर्देशात्मक स्वरूप के अभाव की स्थिति में शास्त्र की ऐसी विधि-व्यवस्था है कि प्रकृतियज्ञों की तरह ही विकृतियज्ञों में भी अध्याहार (ऊह) कर लेना चाहिए। 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या' का पालन करने पर यहाँ असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/३/६ का अग्नीषोमीय पशु सम्बन्धी मन्त्र 'अन्वेनं मातानुमन्यतामनुपितानु भ्राता सर्गेभ्योऽनु सखा सयूथ्यः' विकृति यज्ञ के अन्तर्गत बहुपशुकयज्ञ पूर्व वर्णित मन्त्र ही उपलब्ध होता है। उस स्थिति में भी एक असामञ्जस्य प्रत्यक्ष होता है, वह यह कि प्रकृति यज्ञानुष्ठान में सामान्यतः पशु अकेला ही है, उसके अनुरूप मन्त्र के अन्तर्गत एक वचनान्त पद तो पूर्णतः उपयुक्त है, किन्तु विकृति यज्ञानुष्ठान में पशुओं की बहुलता होने से एक वचनान्त पदों का प्रयोग सामञ्जस्य पूर्ण नहीं हो सकता।

उस परिस्थिति में ऊह (तर्क) का आश्रय लेकर मन्त्रों में प्रयुक्त एक वचनान्त पदों की जगह एनान्, मातरः, पितरः, भ्रातरः, सखायः आदि बहुवचनान्त पदों को स्थापित कर लेना चाहिए, किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में शास्त्र के आचार्यों ने ऊह के प्रयोग को नकारा है। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' अर्थात् निषेध उसी का होता है, जिसकी उपलब्धता हो, इस नियम से जब मन्त्र में उपलब्ध पदों की सार्थकता स्वीकार कर ली जाये, तभी ऊह की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा ऊह का प्रयोग एवं उसके निषेध के कथन का सवाल ही नहीं उठता। इस आधार पर ऊह के उपदेश से भी मन्त्रों का अर्थवान् होना प्रमाणित हो जाता है॥ ५२॥

**इसी क्रम में आचार्य ने एक और हेतु प्रस्तुत किया—**

**(८५) विधिशब्दाश्च॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** विधिशब्दाः = वैदिक शब्द, च = भी, मन्त्रों की प्रामाणिकता में प्रमाण हैं।

**व्याख्या—** किसी भी अर्थतत्त्व की विधि-व्यवस्था बतलाने वाले शब्द बहुधा मन्त्रों के व्याख्यान भूत हुआ करते हैं। आशय यह है कि जो अर्थ मन्त्रों द्वारा विवक्षित एवं (सिद्ध) उपपादित किया हुआ होता है, विधि शब्द प्रायः उसी अर्थ का अनुवाद किया करते हैं। जैसे- यजुर्वेद- ३/१८ का मन्त्र है 'शतं हिमाः' इस मन्त्र के पदों का अर्थ है- 'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म' अर्थात् मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ। सौ वर्ष जीवित रहना यहाँ पर विधि शब्दों से ही स्पष्ट हुआ, जिससे मन्त्रों की सार्थकता पुनः प्रमाणित होती है। इस प्रकार से गत प्रसङ्ग में आचार्य ने यह सिद्ध किया कि मन्त्रों की सार्थकता अक्षुण्ण है एवं मन्त्र समस्त मानव के सुख समुन्नति का कथन करते हैं॥ ५३॥

**॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥**

# ॥ अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**पिछले विवेचना क्रम में सूत्रकार ने वेदों की प्रामाणिकता का कथन किया। इस अधिकरण में अब स्मृति की प्रामाणिकता का कथन करते हैं। जिन कर्मानुष्ठानों के विधि-विधान-विषयक शब्दकोष में कोई वेद का शब्द विधानकर्त्ता के रूप में प्राप्त नहीं है, फिर भी स्मृतिकारों के द्वारा उस कर्मानुष्ठान की विधि-व्यवस्था का कथन किया जाता है। ऐसे अनुष्ठानों को किस रूप में सम्पन्न करना चाहिए, इसी विषय पर संशयात्मक स्थिति से परिपूर्ण विवेचना करने के भाव से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए आचार्य ने तृतीय पाद का प्रथम सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ८६ ) धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** धर्मस्य = धर्म की, शब्दमूलत्वात् = शब्दमूलकता की स्थिति होने पर, अशब्दम् = जो क्रियायें अशब्द मूलक हैं, अनपेक्षम् = उनकी क्रियाशीलता का कोई प्रयोजन नहीं, स्यात् = है।

**व्याख्या—** मनुस्मृति (२/६) में कहा गया है- वेदोऽखिलो धर्ममूलम् अर्थात् वेद-वेदाङ्ग सहित सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है। जिन कर्मों का विधान वेदों ने बताया है, वस्तुतः वे ही करणीय हैं। यदि इस सिद्धान्त को मान्यता दी जाये, तो ऐसे कर्म जिनका प्रतिपादन वेदों ने नहीं किया है, उन्हें आचरणीय एवं करणीय नहीं माना जाना चाहिए। आचार्य जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र के शुभारम्भ में ही (सूत्र १/१२) ''चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'' से कह दिया कि वेद-वचनों से जिन कर्मों की प्रेरणा प्राप्त हो, वे ही कर्म धर्मानुष्ठान के रूप में मानव के लिए आचरणीय हैं। प्रश्न उठ सकता है कि जिन कर्मों का प्रतिपादन वेदों ने नहीं किया है, किन्तु उन कर्मों के अनुष्ठाता उनकी क्रियापद्धति आदि का सम्यक् ज्ञान रखते हैं तथा वह परम्परानुगत भी है, अतः इस स्थिति में उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करने में क्या व्यवधान हो सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का कोई औचित्य नहीं है; क्योंकि झूठ-फरेब, चोरी-डकैती, ठगी-धोखाधड़ी करने वाले भी अपने-अपने कार्यों के विशेषज्ञ हो सकते हैं और इनकी परम्परा भी प्राचीन है; किन्तु इन कर्मों को धर्म के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया जाता। कारण यह कि विधि के शब्द इन कर्मों का निर्देश नहीं करते। इसी प्रकार अष्टका-संज्ञक आदि कर्मों को भी अवैदिक ही मानना चाहिए। अतएव वेदों के शब्द ही भले-बुरे, आचरणीय अथवा अनाचरणीय की विवेचना करके मानव को धर्माचरण की प्रेरणा देते हैं॥ १॥

**उपर्युक्त संशय का निराकरण करने के भाव से आचार्य ने पूर्वपक्ष की आशङ्का का समाधान प्रस्तुत सूत्र से किया है—**

**( ८७ ) अपि वा कर्तृ सामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और वे कर्म (स्मार्त्त आदि) भी (अप्रामाणिक नहीं माने जा सकते), कर्तृ सामान्यात् = क्योंकि अनुष्ठान कर्त्ताओं के समान रहने से, प्रमाणम् = (वह) प्रामाणिक है, अनुमानम् = ऐसा अनुमान उसके मूलभूत शब्द से, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** स्मृति प्रतिपादित जितने भी कर्म हैं, वे सभी स्मार्त्त कर्म की श्रेणी में आते हैं। स्मृति शब्द का अर्थ भी दो प्रकार का बतलाया गया है। प्रथम- वेदों का अनुगमन करने वाले धर्मशास्त्र, द्वितीय-स्मरण। स्मार्त्त कर्मों में से कतिपय कर्म ऐसे हैं, जिनकी प्रेरणार्थक-वैदिक शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्देशित विधि-व्यवस्था नहीं है; किन्तु श्रौत, कल्प आदि सूत्रग्रन्थों में उनका कथन उपलब्ध है। ये स्मार्त्त कर्म प्रथम श्रेणी में आते हैं। श्रौत, गृह्य, कल्प आदि ग्रन्थ वेदों के अनुगामी होने के साथ-साथ उन अनुष्ठानकर्त्ताओं द्वारा ही अनुष्ठित किये जाते हैं और वे प्रत्यक्षतः प्रेरणा प्रदान करने वाले वेद के पदों द्वारा निर्देशित किये गये कर्मों की अनुष्ठान प्रक्रिया का सम्पादन करते हैं। स्मार्त्त कर्मों की प्रामाणिकता उपर्युक्त आधार पर सिद्ध हो जाती है तथा इन

सबके मूलभूत उन प्रेरणा देने वाले वैदिक शब्दों को अनुमान से जान लेना चाहिए, जो उस समय उपलब्ध रहे होंगे, परन्तु किसी कारण से सम्भवत: आज उपलब्ध नहीं हैं।

परम्परानुगत कुछ स्मार्त्त कर्म ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, मात्र स्मरण के आधार पर ही जिनका प्रचलन लोक व्यवहार में है। इन कर्मों के भी अनुष्ठाता वही हैं, जो वेद विहित कर्मों के माने जाते हैं। अतएव सूत्र में प्रयुक्त 'कर्तृ सामान्यात्' से समानता के आधार पर इन कर्मों की प्रामाणिकता भी मान्य होनी चाहिए और इन कर्मों के भी प्रेरणा देने वाले वैदिकशब्द-समूहों के अस्तित्व का अनुमान लगा लेना चाहिए, जिनकी आज कतिपय कारणों से उपलब्धता नहीं है। स्मृति की प्रामाणिकता का अनुमान द्रष्टा एवं प्रवक्ता की स्थिति समान होने से की जाती है। जो ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा हैं, वही ऋषि श्रौत, गृह्य, कल्प आदि के प्रवक्ता भी माने जाते हैं। गम्भीरतापूर्वक वेदों का अध्ययन करने के उपरान्त लोक कल्याण के भाव से अनेक महापुरुषों (आप्त पुरुषों) ने अनेक तरह के विषयों को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थों का प्रवचन किया है। यही प्रमुख आधार स्मार्त्त कर्मों की प्रामाणिकता का हेतु है। अतएव वेदविहित कर्मों की तरह ही स्मार्त्त आदि कर्मों का प्रामाण्य भी सिद्ध हैं॥ २॥

**शिष्य ने प्रश्न किया- श्रुति के साथ स्मृति के विरोध की स्थिति में स्मृति की अनुपपन्नता का आधार क्या होगा? सूत्रकार ने उत्तर देते हुए कहा—**

**(८८) विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** विरोधे = श्रुति एवं स्मृति के पारस्परिक विरोध की स्थिति में, तु = तो, अनपेक्ष्यम् = अपेक्षा (से स्मृति) अप्रमाण मानी जाती, स्यात् = है, असति = अविरुद्ध होने की स्थिति में, हि = निश्चय करके, अनुमानम् = (स्मरण मूलक श्रुति का) अनुमान लगा लिया जाता है।

**व्याख्या—** जिस स्थल पर श्रुति एवं स्मृति के बीच में एक का दूसरे के साथ विरोध की स्थिति हो, वहाँ स्मृति का आदर नहीं करना चाहिए, उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए; क्योंकि वह प्रमाण हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत जहाँ श्रुति के साथ स्मृति का किसी तरह का कोई विरोध नहीं है, ऐसी स्थिति में स्मृति की श्रुतिमूलक प्रामाणिकता हेतु उस समय उपलब्ध न होने वाली श्रुति का सम्भावित होना मान लिया जाता है। इस प्रकार स्मृति की प्रामाणिकता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। उदाहरण से इसे भली प्रकार समझा जा सकता है-'औदुम्बर्या: सर्ववेष्टनम्' अर्थात् गूलर की डाली (शाखा) को पूरी तरह कपड़े से लपेट देना चाहिए, यह कथन याज्ञिकों की स्मृति पर आधारित है। दूसरा वाक्य उस गूलर की शाखा को स्पर्श करने का कथन करता है 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' अर्थात् उद्गाता गूलर की शाखा का स्पर्श करते हुए सामगान करे। अब यहाँ यह परस्पर विरोधी स्थिति है। पहले वाक्य ने शाखा पर कपड़ा लपेटने का निर्देश किया, कपड़े से पूरी तरह लिपटी शाखा का स्पर्श किसी भी तरह नहीं हो सकता, अतएव स्मृति का कथन यहाँ अप्रामाणिक हो जाता है, अनादरणीय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रुति के विरोध की स्थिति में स्मृति को अप्रामाणिक माना जाना ही न्यायोचित है॥ ३॥

**श्रुति विरोधी स्मृति के अप्रामाण्य हेतु आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र से दूसरे निमित्त का कथन किया—**

**(८९) हेतुदर्शनाच्च॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, हेतुदर्शनात् = हेतु का दर्शन होने के कारण भी श्रुतिविरोधी-स्मृति प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

**व्याख्या—** श्रौत-स्मार्त्त आदि कर्मानुष्ठानों की प्रवृत्ति में लोभ आदि हेतु का परिलक्षित होना भी श्रुति का

विरोध करने वाली स्मृति की अप्रामाणिकता का कारण है। गत सूत्र की व्याख्या में जो उदाहरण दिया गया- औदुम्बरी (गूलर) की शाखा को पूरी तरह कपड़े से लपेटना चाहिए। हो सकता है लोभी याजकों ने कपड़े के लोभ में पड़कर ऐसी प्रथा का प्रचलन चला दिया हो और शनैः-शनैः उसने स्मृति का स्वरूप ले लिया हो। यह वाक्य भी इसी आशय को दर्शाता है- 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' वैसर्जन हवन से सम्बन्ध रखने वाले वस्त्र को अध्वर्यु ग्रहण करता है। 'यूप हस्तिनोदानमाचरन्ति' अर्थात् यूप पर लपेटा गया वस्त्र दान कर दिया जाता है। श्रौत-स्मार्त्त कर्मों के अनुष्ठाता व्यक्तियों द्वारा ही ये समस्त कर्म सम्पादित किये जाते हैं। इन समस्त कर्मों की प्रवृत्ति के मूल में लोभ हेतु दिखाई देने के कारण उपर्युक्त स्मार्त्तकर्म अभिनन्दनीय न होने के कारण प्रमाण नहीं माने जा सकते॥ ४॥

**जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया- 'आचान्तेन कर्त्तव्यम्', 'यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यम्', 'दक्षिणाचारेण कर्त्तव्यम्' अर्थात् आचमन यज्ञोपवीत धारण करना आदि कर्म तथा दाहिने हाथ का उपयोग आदि जो वाक्य प्राप्त हैं, इनको श्रुति के अनुकूल मानें या प्रतिकूल माना जाये? सूत्रकार ने बताया—**

**( ९० ) शिष्टाऽकोपेऽविरुद्धमिति चेत्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** शिष्टाऽकोपे = शिष्ट शास्त्रों द्वारा उपदेशित कर्मों के कोपरहित एवं सुव्यवस्थित रहने की स्थिति में (वह आचमन आदि स्मार्त्तकर्म), अविरुद्धम् = श्रुति के विपरीत नहीं है, इति चेत् = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आचार्य ने सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए कहा कि आचमन, यज्ञोपवीत धारण आदि स्मार्त्त कर्मों से शास्त्रों द्वारा उपदेशित किये गये वेदविहित यज्ञीय अनुष्ठानों में किसी भी प्रकार की अव्यवस्था (प्रकोप आदि) होने की सम्भावना की आशङ्का नहीं रहा करती। तात्पर्य यह है कि वेद वाक्यों द्वारा निर्देशित कर्मानुष्ठानों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले आचमन, यज्ञोपवीत धारण आदि कार्यों से कोई गड़बड़ी नहीं होने पाती। अतएव इन उपर्युक्त कार्यों को श्रुति विरोधी न मानकर इन्हें प्रमाण की ही मान्यता देनी चाहिए॥ ५॥

**अगला सूत्र भी पूर्वपक्ष से सम्बन्ध रखते हुए पूर्व स्थापित विचार का निस्तारण करने के भाव से कहता है कि यदि पूर्वोक्त विचार को मान्यता दें, तो—**

**( ९१ ) न शास्त्रपरिमाणत्वात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** शास्त्रपरिमाणत्वात् = वेदविहित यज्ञीय कर्मानुष्ठानों के शास्त्रों द्वारा परिमित होने के कारण (पूर्वोक्तविचार), न = उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

**व्याख्या—** समस्त वैदिक कर्मानुष्ठानों का शास्त्र की विधि-व्यवस्था से आबद्ध होने के कारण यह कहना कि आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि कृत्यों से वेदविहित यज्ञीय अनुष्ठानों में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होगी, न्यायोचित नहीं है। यज्ञीय विधि-विधान की एक नियमित व्यवस्था जो शास्त्रों द्वारा निर्धारित की गई है, उसके अनुरूप ही समस्त अनुष्ठानों का सम्पादन होना चाहिए। आचमन एवं यज्ञोपवीत धारण आदि से उसमें व्यवधान पड़ना असम्भावित नहीं है। दृष्टान्त वाक्य है- 'वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत' अर्थात् घास (कुशा) का गुच्छा बनाकर वेदी बनायी जाये। वेद का अर्थ यहाँ पर घास का गुच्छा बनाना है। कृत्वा पद का तात्पर्य है- करने के अनन्तर अर्थात् वेद के निर्माण के तुरन्त बाद (व्यवधान रहित) वेदिका बनायी जाये। स्मार्त्त के विधि-विधान 'आचान्तेन कर्त्तव्यम्' के अनुरूप वेदिका बनाने से पहले ही यदि आचमन की क्रिया सम्पन्न की जाती है, तो कुशा की मुट्ठी (गुच्छा) एवं वेदिका बनाने का व्यवधानरहित क्रम बिगड़ जाता है। क्रम बिगड़ने की स्थिति में वेद विहित कर्मानुष्ठान बाधित होता है। यह व्यवधान उपस्थित न हो, इसके लिए स्मार्त्त का विधान एवं उसकी प्रामाणिकता को न मानना आवश्यक हो जाता है। ठीक यही बात यज्ञोपवीत-धारण के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। मात्र दाहिने हाथ से कार्य करने से समय की अधिकता से कार्य में

विलम्ब के साथ-साथ हाथ के थकने की भी सम्भावना बनी रहती है। इस तरह उपर्युक्त स्मार्त्त विधि-व्यवस्था को अप्रामाणिक मानना ही न्यायोचित होगा॥ ६॥

**शिष्य की जिज्ञासा का विधिवत् समाधान देते हुए आचार्य ने कहा—**

**( ९२ ) अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** कारणाग्रहणे = कारण का ग्रहण न होने की स्थिति में, (उपर्युक्त कर्म) प्रयुक्तानि = याज्ञिकों (शिष्ट पुरुषों) के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, प्रतीयेरन् = ऐसा समझना चाहिए, अपि वा = अथवा पूर्वपक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त हुआ है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'अपि वा' पद पूर्व पक्ष द्वारा उठाई गई आशङ्का के निवारणार्थ है। इस पद का आशय है कि आचमन एवं यज्ञोपवीत-धारण आदि कर्मों को प्रमाणविहीन नहीं माना जा सकता। लोभ आदि कारणों के दिखाई न पड़ने से इन कर्मों का प्रयोग शिष्टाचार से युक्त याज्ञिक-पुरुषों द्वारा किया गया है, ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। इस तरह के स्मार्त्त कर्मों की प्रवृत्ति में अनादर भाव वाले लोभ आदि कारणों की उपलब्धता दृष्टिगत न होने से उन स्मार्त्त कर्मों की प्रामाणिकता अभीष्ट है। गत सूत्र की विवेचना में कहा जा चुका है कि आचमन आदि कर्मों के द्वारा वेद-विहित किसी भी यज्ञानुष्ठान में बाधा नहीं आती। अवसरानुकूल समस्त कर्मों की सिद्धि होती है, अपेक्षा के अनुरूप जहाँ इनकी उपयोगिता है, वहाँ ये कर्म सम्पादित किये जाते हैं। यज्ञीय अनुष्ठान में क्रियारूप से जहाँ जिस अर्थ की उपलब्धता होती है, वहाँ उसका रहना आवश्यक एवं अपेक्षित होता है। वहाँ क्रम को गौण एवं अर्थ को मुख्य माना जाता है। कारण कि इस तरह के अपेक्षित यज्ञीय अनुष्ठानों से उनके क्रम में कोई विशेष व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। वेद एवं वेदिका बनाने के क्रम में यदि आचमन आदि क्रियाएँ बीच में ही सम्पन्न हो जाएँ, तो कोई बाधा नहीं आती। अतएव उपर्युक्त स्मार्त्त कर्मों की प्रामाणिकता भी शास्त्र द्वारा अनुमोदित है॥ ७॥

**जिज्ञासु शिष्य कहता है- यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ ऐसे हैं, जिनका अर्थ दो तरह का निकलता है, अतः वहाँ विकल्प की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। उस स्थिति में किस अर्थ की मान्यता स्वीकार की जाये? इसी जिज्ञासा को आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( ९३ ) तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** तेषु = उनमें, विरोधस्य = विरोध के, अदर्शनात् = दृष्टिगोचर न होने से, विप्रतिपत्तिः = विशिष्ट ज्ञान की, समा = समानता, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञीय अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों के विषय में 'यवमयश्चरुः' 'वाराही उपानहौ' 'वैतसे कटे संचिनोति' आदि वाक्य उपलब्ध होते हैं, जिनके अर्थ क्रमशः 'चरु जौ का बना हुआ होता है', 'सुअर की चमड़ी से विनिर्मित जूते' एवं 'वैतस चटाई पर एकत्रित करता है'। इन समस्त संदर्भों में यव, वराह, वेतस पद पढ़े गये हैं। इन्हीं पदों का अर्थ अन्य विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से किया है। एक ने 'यव' को जौ कहा, तो अन्य ने उसी यव का अर्थ 'मालकांगनी' बताया। वराह का अर्थ एक ने सुअर, तो अन्य ने काला कौआ अथवा काला पक्षी किया। इसी प्रकार वेतस का अर्थ एक ने बेंत, तो अन्य ने जामुन बताया। इन सभी अर्थों में विरोध न देखे जाने से अर्थ में समानता पायी जाती है। इस तरह दोनों अर्थों को यथासमय स्वीकार करना कहाँ तक उचित माना जा सकता है?॥ ८॥

**शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र में बताया—**

**( ९४ ) शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का निवारणार्थ प्रयुक्त है, शास्त्रस्था = वेद शास्त्रों में वर्णित विधि-विधान की ही

प्रामाणिकता है, तन्निमित्तत्वात् = शास्त्र के ज्ञाता शिष्ट पुरुषों के पदों के अर्थज्ञान में निमित्त होने के कारण।

**व्याख्या—** दोनों तरह के अर्थ जो विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा प्रचलित किये गये हैं, समानता पर आधारित होने के कारण उनको प्रमाण की मान्यता नहीं दी जा सकती। कारण यह कि उन पदों के अर्थ का ज्ञान शास्त्र अथवा शास्त्रों के ज्ञाता शिष्ट पुरुषों द्वारा प्राप्त होता है। किसी शब्द के अर्थ की मान्यता इससे स्वीकार्य नहीं होती है, कि उस शब्द का प्रचलन किसी वर्ग-विशेष में पाया जाता है। व्याख्याकार ने उसका अर्थ किया हो, अपितु शब्द या किसी के यथार्थ अर्थ का सुनिश्चित निर्धारण वेद-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुरूप शिष्टाचारी पुरुषों द्वारा किये जाने वाले व्यवहार के आधार पर किया जाता है। तभी वह अर्थ प्रामाणिक माना जाता है।

दृष्टान्त में प्रयुक्त वाक्य 'यव' का सुनिश्चित अर्थ 'जौ' माना गया है। जौ एवं मालकांगनी में एक विशेष गुण यह है कि अन्य अनाजों के सूख जाने पर भी ये दोनों हरे -भरे रहा करते हैं, इस समानता के आधार पर दोनों के प्रामाण्य का कथन करना उचित नहीं होगा। शास्त्र जिसे अपने वाक्यों द्वारा प्रमाणित करे, उसी की प्रामाणिकता मान्य होती है। शास्त्रों में वर्णित पुरोडाश की विधि-व्यवस्था के क्रम में उपलब्ध पाठ- 'यत्रान्या ओषधयोम्लायन्ति अथैते मोदमाना वर्धन्ते' (शतपथ ब्राह्मण ३/६/१/१०) में कहा कि अन्य ओषधियों के मलीन हो जाने पर भी यह 'जौ' प्रसन्नतापूर्वक बढ़ती रहती है। यहाँ 'जौ' का स्पष्ट कथन किया गया है, जिसकी अर्थाभिव्यक्ति इसी क्रम में परम्परागत प्रयोग में आती रही है। अतएव प्रियंगु के अर्थ में इसके प्रयोग को गौण ही माना जाता है। इस तरह से यह सुनिश्चित होता है कि जौ का ही पुरोडाश निर्माण में उपयोग है।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण १/७/९) 'वराही उपानहौ उपमुञ्चते' को भी वैसा ही समझना चाहिए। राजसूय यज्ञों के प्रकरण में पढ़े जाने वाले इस वाक्य का अर्थ है- राजा सुअर के चर्म से विनिर्मित जूतों को मन्त्र पाठ करते हुए उतारता है। यहाँ वराह शब्द का अर्थ सुअर ही प्रमाणित है। इसी तरह से 'वेतस' शब्द का अर्थ नरकुल, सरकण्डा आदि न होकर 'बेत' ही है, ऐसा मानना चाहिए॥ ९॥

**जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है- ब्राह्मण आदि जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें विधि से सम्बन्धित एवं अर्थवाद से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न विषयों का कथन किया गया है। इन सभी में से किस-किस अर्थ की प्रामाणिकता स्वीकार्य है? आचार्य ने उत्तर दिया—**

**(९५) चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** चोदितम् = विधि की प्रेरणा से बोध होने वाला अर्थ, तु = भी, अविरोधात् = विरोधी न होने से, प्रमाणेन = प्रमाणरूप शास्त्रों द्वारा, प्रतीयेत = प्रमाणित प्रतीत होता है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** अनार्यों के द्वारा प्रयुक्त किया गया पद-पदार्थ भी यदि प्रमाणभूत शास्त्रों का विरोधी नहीं है, तो उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं आती। अनार्यों द्वारा प्रयुक्त किये गये उक्त शब्दों को यदि आर्यों का समूह प्रयुक्तता के अयोग्य मानता है, तो यह सर्वथा अनुचित ही होगा।

जिनको अनार्य कहकर सम्बोधित किया गया है, यथार्थतः वे आर्यों के ही वंशज हैं। इनकी भाषा एवं आचार-विचार में आया परिवर्तन समयानुकूल अपने पहले के समाज से कट जाने के कारण ही हुआ होगा। उनकी भाषाएँ एवं उनमें प्रयुक्त बहुतेरे शब्द आज की आर्यों की प्राचीन भाषा में खोजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ- यजुर्वेद २४/३९ के 'वाजिनां कामाय पिकः' वाक्य में प्रयुक्त 'पिक' पद कोयल के पर्याय के रूप में सुनिश्चित है। कामशास्त्र में 'वाजी' तथा 'काम' शब्द के गूढ़ अर्थ पर ध्यान केन्द्रित करने पर 'पिक' का अर्थ स्पष्टरूप से कोयल पक्षी ही होता है। वैसे भी बहुत समय से 'पिक' का अर्थ कोयल ही होता आ रहा

है। इससे यह स्पष्ट है कि आर्य 'पिक' से कोयल का ही अर्थ करते रहे हैं। अतएव लोक प्रचलन में प्रयुक्त विषयों में अनार्यों द्वारा किये गये पद-पदार्थ के प्रयोग यदि शास्त्रीय विधान के विरुद्ध नहीं हैं, तो उन्हें मान्यता देने में अनुचित जैसा कुछ भी नहीं है॥ १०॥

**शिष्य ने जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा वेद का अङ्ग होने से कल्प सूत्रों को परतः प्रमाण माना जा सकता है या नहीं ? आचार्य ने यही भाव प्रस्तुत सूत्र में व्यक्त किया—**

**( ९६ ) प्रयोगशास्त्रमिति चेत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगशास्त्रम् = (विधि प्रतिपादित धर्मानुष्ठान का कथन करने वाले कल्प सूत्र) प्रयोगशास्त्र हैं, इति चेत् = यदि ऐसी मान्यता स्वीकार की जाये, तो ?

**व्याख्या—** वेदों में वर्णित समस्त यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों के समान ही कल्पसूत्रों ने भी उन्हीं धर्मानुष्ठानों का विधि-विधान बतलाया है। अतएव वेद-वाक्यों की तरह कल्पसूत्र भी प्रामाणिक स्वीकार करने चाहिए। कल्प सूत्रों को 'श्रौत' पद से व्यवहार में लाये जाने का हेतु भी यही है। अतः कल्पसूत्रों को नित्य एवं अपौरुषेय-श्रुतियों का पूरक मानकर उनकी प्रामाणिकता का कथन करना न्यायविरुद्ध नहीं हो सकता॥ ११॥

**अगला सूत्र गत सूत्र से ही सम्बन्धित है। सम्पूर्ण कल्पसूत्रों को यदि प्रयोग शास्त्र मान लिया जाता है, तो—**



**( ९७ ) नासन्नियमात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** असन्नियमात् = वेदों की तरह स्वर आदि से नियमपूर्वक, सुसम्बद्धता का अभाव होने के कारण कल्प सूत्रों की प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता वेदों के सदृश मान्य न होने से, न = गतसूत्र का कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** वेदों को नित्य एवं अपौरुषेय इसलिए माना जाता है; क्योंकि स्वर तथा पदानुपूर्वी के आधार पर किया गया नियमन एवं सुसम्बद्धता के अत्यधिक सुदृढ़ होने के कारण राई-रत्ती भी ढील बरतने अथवा चरमराने के छिद्र उनमें नहीं हैं। कल्पसूत्रों में इस स्थिति एवं ऐसी व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। इनका स्वरूप एवं नियमन वेदों जैसा नहीं है, अतएव कल्पसूत्रों को पौरुषेय होने से स्वतः प्रामाण्य स्वीकार्य न करके परतः प्रामाण्य ही मानना चाहिए। आपस्तम्ब, बौधायन आदि संज्ञाओं से कल्पसूत्रों की प्रसिद्धि से यह प्रत्यक्ष है कि इनके निर्माता पुरुष ही हैं, जिनके द्वारा कल्पसूत्रों की रचना की गई । ऐसी स्थिति में कल्प सूत्रों को स्वतः प्रामाण्य मानना सर्वथा अनुचित है॥ १२॥

**आचार्य ने उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि के लिए अगले सूत्र से एक और हेतु दिया—**

**( ९८ ) अवाक्यशेषाच्च॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अवाक्यशेषात् = कल्पसूत्रों में विधिवाक्य एवं स्तुत्य वाक्यों के शेष न होने से, च = भी (उनका स्वतः प्रामाण्य अमान्य है)।

**व्याख्या—** जितने भी ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, वे सभी वेदों के अंग एवं अर्थवाद-स्वरूप होने के कारण, वेदों के समान ही प्रामाणिक माने जाते हैं। कल्पसूत्र न तो अर्थवाद से युक्त हैं और न ही वेदों के अंगभूत हैं, अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के सदृश कल्पसूत्रों की प्रामाणिकता मान्य नहीं हो सकती॥ १३॥

**कल्पसूत्रों की व्याख्या करने वाले आचार्य सत्यनिष्ठ एवं सत्यवक्ता हैं, अतएव उनके द्वारा कथित कल्पसूत्र अप्रामाणिक नहीं माने जा सकते। ऐसा कहना भी उचित नहीं, कारण यह कि—**

**( ९९ ) सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सर्वत्र = समस्त कल्पसूत्रों में, सन्निधानशास्त्रात् = सन्निधि (ब्राह्मण ग्रन्थों एवं संहिता

आदि) शास्त्रों से, प्रयोगात् = विरुद्धार्थ प्रयोग की उपलब्धता से, (कल्पसूत्रों को स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जा सकता)।

**व्याख्या—** ऐसे ब्राह्मण ग्रन्थ एवं संहिताएँ, जिनमें यज्ञीय अनुष्ठानों के विधि-विधानरूपी कर्मों का प्रमुख रूप से प्रतिपादन हुआ है, उन्हें सन्निधिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। कल्पसूत्रों में बहुधा ब्राह्मण-ग्रन्थों के विपरीत अर्थ का प्रयोग होने से उनका (कल्पसूत्रों का) स्वतः प्रामाण्य प्रमाणित नहीं है। आपस्तम्ब नामक कल्पसूत्र में कहा गया है- 'सर्वाणि हवींषि पर्यग्निं करोति' अर्थात् समस्त हविरूप द्रव्यों का पर्यग्निकरण हुआ करता है; किन्तु कल्पसूत्र का यह कथन प्रत्यक्ष श्रुति 'पुरोडाशं पर्यग्निं करोति' के विपरीत भाव वाला सिद्ध होता है। कारण यह कि शास्त्र द्वारा मात्र पुरोडाश का ही पर्यग्निकरण प्रमाणित है, न कि हविस्वरूप अन्य द्रव्यों का। अतएव इससे सिद्ध होता है कि कल्पसूत्रों की स्वतः प्रामाणिकता अमान्य है॥ १४॥

**अनेकों स्थानों में अनेक प्रकार के आचरण-व्यवहार विषयक प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता की विधिवत् विवेचना करने के भाव से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए आचार्य ने कहा—**

## (१००) अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** अनुमान = अनुमान के, व्यवस्थानात् = (आचरण-विषयक) व्यवस्थान से, तत्संयुक्तं = उससे (व्यवस्था से)सम्बन्धित जो आचार-व्यवहार है, प्रमाणम् = वही प्रमाण, स्यात् =होता है, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** स्मृति एवं उससे सम्बन्धित अन्य आचार-व्यवहार आदि की प्रामाणिकता का सम्पूर्ण प्रामाण्य श्रुति पर ही निर्भर है, ऐसी शास्त्र की व्यवस्था है। जहाँ स्मृति द्वारा प्रतिपादित किये गये किसी भी कर्म के लिए श्रुति की उपलब्धि प्रत्यक्षरूप से नहीं होती, वहाँ पर स्मृति के ही अनुकूल श्रुति का अनुमान किया जाना चाहिए। स्मृति द्वारा प्रतिपादित कर्मों की प्रामाणिकता के लिए श्रुति का अनुमान जिन आधारों पर हुआ करता है, उन्हीं आधारों का आश्रय लेकर उनके आचार एवं व्यवहार-मूलक श्रुति के अनुमान द्वारा उन आचारों की प्रामाणिकता मानी जानी चाहिए। उदाहरणार्थ-महिलाओं में पर्दाप्रथा एवं कला मंच से नृत्य आदि अभिनय का किया जाना विचारणीय है। उन कारणों को जानना चाहिए, जिनने पर्दा प्रथा को जन्म दिया। यवनों के शासन काल में उनकी कामुकता एवं वासनात्मक दृष्टि से बचने एवं मुस्लिम शासकों द्वारा अपहृत किये जाने के भय से ही महिलाओं ने अपना मुँह ढकना प्रारम्भ कर दिया हो। खुले रूप में नृत्य-अभिनय आदि के विषय में भी ऐसी ही सम्भावना पायी जा सकती है। कुछ प्रदेशों में महिलाओं द्वारा किये जाने वाले नृत्य (गुजरात का गर्बा एवं राजस्थान में विवाह आदि के समय होने वाले नृत्योत्सव आदि) की निन्दा नहीं की जाती।

सामाजिक परम्पराओं एवं देशाचारों में समयानुकूल परिवर्तन होता रहता है। आज की स्थिति में पर्दा प्रथा का लगभग समापन ही हो चला है तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बालिकाओं को भाग लेने हेतु प्रोत्साहित भी किया जाता है। नृत्य-संगीत को कला मानकर उसकी अभिवन्दना भी की जाती है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इन कलाओं में अश्लीलता आदि विकृति प्रविष्ट न होने पाये। इस तरह इन उक्त देशाचारों एवं लोकप्रचलित परम्पराओं के मूल में जाने से ऐसा अनुमान होता है कि इनकी मूलभूत श्रुति की कल्पना में किसी प्रकार का व्यवधान स्वीकार्य नहीं है। अतएव इनकी प्रामाणिकता भी स्मृतिवत् ही मानी जाये॥ १५॥

**पूर्वपक्ष से आरोपित आशङ्काओं का समाधान आचार्य ने इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया —**

## (१०१) अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद्विधानस्य॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण का सूचक है, जिसका आशय यह है कि उपर्युक्त विषय की यथार्थता (एवं उसके), विधानस्य = विधान के, तन्न्यायत्वात् = उस विषय में न्यायोचित होने के कारण,

सर्वधर्मः = सबका धर्म, स्यात् = होता है (वह देशाचार)।

**व्याख्या—** भारतीय पर्वों में कुछ ऐसे विशिष्ट पर्व हैं, जिन्हें हर एक भारतीय अपना धर्म मानकर उन पर्वों को श्रद्धा-भक्ति के साथ मनाता है। भारत से बाहर विदेशों में रहनेवाले प्रवासी भारतीय भी होली, दीवाली, दशहरा, दुर्गापूजा आदि पर्वों को पूरी आस्था से सम्पन्न किया करते हैं। उक्त पर्वों-त्यौहारों को मनाना किसी प्रदेश अथवा देश-विशेष का आचार-व्यवहार न होकर सम्पूर्ण देश एवं समाज का धर्म है, जिसको सभी समान रूप से मान्यता देते हैं, अतएव इन पर्वों के मनाने एवं इनसे सम्बन्धित होने वाली प्रक्रिया में देश विशेष को लेकर कहीं सामान्य अन्तर की उपलब्धि संभव है, वह देश विशेष का आचार-व्यवहार मात्र ही है। अतः उसके लिए शब्द मूलकता को खोजना ही बेकार है। उक्त त्यौहारों-पर्वों को मनाना वांछित रूप से प्रमुख आचार धर्म है, देश विशेष अथवा दिशा विशेष का इसमें किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं है; क्योंकि इसकी श्रुतिमूलकता उसी रूप में न्यायसंगत है। थोड़े-बहुत विभेदों के कारण आचार से सम्बन्धित विषय में शब्द मूलकता की खोज करना किसी भी तरह आवश्यक प्रतीत नहीं होता॥ १६॥

**ऐसे आचार-व्यवहार जो सामान्यतः वर्ग-विशेष अथवा पारिवारिक प्रचलन के आधार पर किन्हीं विशेष कारणों वश किसी समय में आरम्भ कर दिये गये हों, ऐसा माना जा सकता है। उनके कारणों का अनुमान भी लगाया जा सकता है। अगले सूत्र में आचार्य ने यही भाव व्यक्त किया—**

## (१०२) दर्शनाद्विनियोगः स्यात्॥ १७॥



**सूत्रार्थ—** दर्शनात् = दिखाई देने वाले हेतुओं के देखे जाने से, (ऐसे आचारों में) विनियोगः = विशिष्ट नियम एवं विधि व्यवस्था, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—** जो निमित्त दृष्टिगत हों, उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त आचार धर्म आदि की विधि-व्यवस्था जान लेनी चाहिए। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रविष्ट होने वाले बालकों को विशेष रंग का वस्त्र-यज्ञोपवीत आदि धारण कराना, दो अथवा तीन शिखाओं की स्थापना, ब्रह्मदण्ड एवं मेखला आदि में (उनके उपादान तत्त्वों में) विशेष भेद होना आदि आचार-व्यवहारों के निमित्त कारण प्रत्यक्षरूप से देखे जाते हैं। इन आचारों के प्रचलन के शुभारम्भ में संभवतः यही आधार रहे होंगे। उपर्युक्त धर्माचरणों से सहज ही बालक के कुल एवं जाति आदि का ज्ञान हो जाया करता है, उसके लिए विशेष प्रयास नहीं करने पड़ते। इसी हेतु उक्त आचारों का विधान स्मृतियों में वर्णित है। पर्व-त्यौहारों अथवा ऋतुओं से सम्बन्धित आचार-व्यवहार के विषय में प्रदेश, देश अथवा दिशा आदि में होने वाले विशेष भेद के लिए किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष हेतु नहीं देखा जाता, जिसके द्वारा उनके मूल हेतुओं को ढूँढ़ना आवश्यक हो तथा उस आधार पर उनके शब्दमूलक होने की कल्पना करना अपेक्षित हो॥ १७॥

**उपर्युक्त लघु आचारों एवं धर्मों को पूर्णतः व्यवस्थित एवं नियमित किया जाना साधनों के अभाव में सम्भव नहीं, यही भाव आचार्य ने अगले सूत्र में व्यक्त किया—**

## (१०३) लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गाभावात् = साधनों के न होने से, च = तथा, नित्यस्य = नित्यनियमित व्यवस्था का अभाव होने से।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग प्राप्त होली, दीवाली आदि पर्वों के आचार से सम्बन्धित विभेदों के व्यवस्थापन एवं उनके नियमन के लिए उपयुक्त साधन का अभाव होने से उनकी व्यवस्था एवं शब्दमूलक होने की कल्पना हेतु प्रयास करना निरर्थक ही होगा। उपर्युक्त आचार धर्मों में देश एवं काल क्रम से विशेष भेद का हो जाना

अस्वाभाविक नहीं और इसी कारण उनकी नियमितता एवं समानरूप से उन्हें नियन्त्रित करना संभव नहीं हो सकता। सामाजिक प्रचलन का प्रवाह प्रत्यक्ष बाधाओं को ही नहीं, अपितु आस-पास के व्यवधानों को भी अपने साथ लेकर बहता है। इस प्रवाह को काल कुछ समय के लिए नियमित जैसी स्थिति में ला देता है। समय के अन्तर से उसे भी पूर्व जैसी अवस्था उपलब्ध हो जाती है। जिन आचार-व्यवहार का धर्म -विवेचन आचार्य ने किया है, उन विशेष रंग के वस्त्रों-यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला एवं उनके उपादान तत्त्वों में से कुछ भी आज दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए इन दैशिक एवं अवान्तर आचार-व्यवहार सम्बन्धी धर्मों को व्यवस्थित एवं नियमित करने के प्रयासों की साधनों के अभाव के कारण उपेक्षा ही करनी चाहिए॥ १८॥

**आचार्य ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि में एक और सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा—**

## ( १०४ ) आख्या हि देशसंयोगात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** आख्या = संज्ञाओं का निर्धारण, हि = निश्चित रूप से, देशसंयोगात् = देश के सम्बन्धों से हुआ करता है।

**व्याख्या—** पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि नामों का निर्धारण दिशा अथवा देश के सम्बन्धों से ही निश्चित रूप से होता है। आचार-व्यवहार आदि की व्यवस्था उनके आधार पर आश्रित नहीं रहा करती। किसी भी देश का जो केन्द्र होता है, उसकी अपेक्षा पूर्व-दिशा आदि के आधार पर उस ओर बसे प्रदेश का नामकरण दिशा के नाम पर ही कर दिया जाता है, जैसे पूर्वाञ्चल, पश्चिमी प्रदेश, दाक्षिणात्य, उत्तराञ्चल आदि। पूर्वाञ्चल का निवासी यदि किसी कारण विशेष से पश्चिमी देशों में रहने लगे, तो भी वह अपने पूर्वाञ्चल के ही आचारों को अनुष्ठित करता है। दक्षिण का व्यक्ति यदि उत्तर में जाकर निवास करने लगे, तो वह दक्षिणी रीति-रिवाज ही अपनाये रहता है, उत्तरी रीति-रिवाजों के प्रति उसकी आस्था नहीं रहती। यही स्थिति अन्य देश में रहने वाले व्यक्तियों की भी समझनी चाहिए। सूत्र का आशय यह है कि व्यक्तियों का सम्बन्ध देश विशेष के साथ न होने की स्थिति में भी उस देशाचार की उपलब्धता एवं उसकी विधि-व्यवस्था देशों के संयोग के आधार पर आश्रित नहीं है॥ १९॥

**शिष्य ने कहा- देश के सम्बन्ध से संज्ञा का मानना उचित नहीं; क्योंकि अन्य देश में बस जाने पर भी पहले वाली संज्ञा बनी रहती है। इसी आशङ्का को आचार्य ने अगले सूत्र में व्यक्त किया—**

## ( १०५ ) न स्याद् देशान्तरेष्विति चेत्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** देशान्तरेषु = दूसरे देश में रहने की स्थिति में भी, स्यात् = (वह संज्ञा बनी) रहती है, इति चेत् = यदि ऐसा कथन किया जाये, न = तो उचित नहीं।

**व्याख्या—** पूर्वाञ्चल, उत्तराञ्चल, दाक्षिणात्य आदि संज्ञाओं का होना यदि देश-विशेष के साथ सम्बन्ध होने से माना जाये, तो उस देश को छोड़कर किसी अन्य देश में चले जाने पर उन संज्ञाओं का अभाव हो जाना चाहिए; जबकि ऐसा नहीं है। मथुरा निवासी व्यक्ति माथुर नाम से जाना जाता है, परन्तु मथुरा से जाकर जब वह कहीं और बस जाता है, तो भी उसे मथुरा वाला कहा जाता है। अतएव यह कहना कि यह संज्ञा देश के सम्बन्ध के कारण है, उचित नहीं। कारण कि यह कथन अनैकान्तिक है॥ २०॥

**शिष्य की जिज्ञासा का समाधान आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र में किया—**

## ( १०६ ) स्याद्योगाख्या हि माथुरवत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** योगाख्या = योग के कारण आख्या, हि = निश्चय ही है, माथुरवत् = माथुर की संज्ञा के समान, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ के चौथे अध्याय के तृतीय पाद के कुछ सूत्रों में किसी गाँव, शहर अथवा प्रदेश आदि से सम्बन्ध रखने के कारण उसके निवासी व्यक्तियों एवं उनके समाज का नाम पड़ने के विभिन्न कारणों एवं परिस्थितियों का वर्णन किया है। उसमें कहा कि मथुरा नगर में जन्मे, वहाँ रह चुके, रहते हुए एवं रहने को तत्पर किसी भी कारण के उपलब्ध होने की स्थिति में उस व्यक्ति के लिए माथुर शब्द का प्रयोग सर्वथा उचित है। इन कारणों के उपलब्ध रहने से उस आख्या में देश एवं काल का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता; परन्तु वर्ग-विशेष एवं परिवारों में होने वाला आचार-व्यवहार, देश आदि से उपनिबद्ध न होकर उसका निबन्धन परिवार एवं वर्ग के साथ है। व्यक्ति अपना देश छोड़कर जब किसी अन्य देश में जाकर रहने लगता है, तो वह अपने पहले वाले आचार-व्यवहार का ही अनुष्ठान करता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि आचार-व्यवहाररूप धर्म के परिपालन में देश आदि का संयोग निमित्त नहीं हुआ करता। मथुरा में न रहने पर भी माथुर संज्ञा की उपलब्धता बनी रहने से उसके आचार-व्यवहार में किसी तरह का भेद उत्पन्न नहीं होता॥ २१॥

**जिज्ञासु शिष्य ने आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा कि आचार-व्यवहार देश आदि का निमित्त भले ही न हो, परन्तु देश को आचार आदि कर्मों का अङ्ग तो माना ही जा सकता है। अगले सूत्र में आचार्य ने यही भाव व्यक्त किया है—**

**( १०७ ) कर्मधर्मो वा प्रवणवत्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवणवत् = प्रवण के समान, वा = ही, कर्मधर्मः = देशाचाररूप-कर्म के अंग (धर्म) हैं देश।

**व्याख्या—** 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' (आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ८/१/५) इस वाक्य का अर्थ है- पूर्व दिशा की ओर ढलान वाले देश में वैश्वदेव संज्ञक याग से यजन करना चाहिए। ढलान वाला देश जिस प्रकार यहाँ कर्म का अंग है, वैसे ही आह्नीनैवुक कर्म बहुधा श्यामतायुक्त काली मिट्टी वाले देश में सम्पन्न होने से वहाँ भी उस कर्म को देश का अंग मानना चाहिए। दोनों की स्थिति समान होने से देश को कर्म के नियामक की मान्यता देना उचित ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ २२॥

**आचार्य ने जिज्ञासु शिष्य को उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया—**

**( १०८ ) तुल्यन्तु कर्त्तृधर्मेण॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** कर्तृधर्मेण = कर्त्ता के धर्म के साथ, तु = तो, तुल्यम् = समानता है (देश के श्यामल आदि कर्मों के अंगों की)।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आचार-व्यवहाररूप धर्मों के अनुष्ठानकर्त्ता पुरुष के शरीर का रंग यदि साँवला है, तो वह उक्त आचार स्वरूप धर्म आदि को अनुष्ठित करने में नियामक नहीं हो सकता। अनुष्ठान करने वाले पुरुष का वर्ण गौर भी तो हो सकता है। अतएव ऐसे ही देश आदि से सम्बन्धित श्यामलता को भी आचार धर्मों के नियामक की मान्यता नहीं दी जा सकती। जिन आचार-धर्मों की अभिव्यक्ति ऊपर की गई है, उनका प्रचलन परिवार अथवा वर्ग विशेष तक ही देखा जाता है। पीली मिट्टी वाले प्रदेश में यदि उस वर्ग विशेष के व्यक्ति निवास करते हैं, तो उपर्युक्त आचार धर्मों को वे वहाँ भी अनुष्ठित करते हैं तथा यदि उस वर्ग से भिन्न वर्ग के व्यक्ति श्यामलतायुक्त मिट्टी वाले प्रदेश में निवास करते हैं, तो उनके द्वारा वहाँ उस आचार-व्यवहार रूप धर्म एवं उनके अनुपालन में उसे (देश विशेष को) नियामक हेतु की मान्यता नहीं दी जा सकती। यहाँ इस प्रसङ्ग में गत सूत्र में आगत 'प्रवण' का दृष्टान्त तर्क संगत नहीं है। कारण यह कि श्रुति का प्रत्यक्ष निर्देश प्रवण में वैश्वदेव यजन हेतु मिलता है, जबकि इस तरह का कोई निर्देश आचार धर्म के विषय में प्राप्त नहीं होता॥२३॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि पशु विशेष का बोध कराने के लिए व्यवहाररूप में जैसे 'गो' पद को प्रयुक्त किया जाता है तथा उसी तरह से गाय, गावी, गोवी आदि का भी प्रयोग होता है। इन सभी पदों को समान रूप से व्यवहार में लाना चाहिए या नहीं? इन्हीं भावों को आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र में व्यक्त किया—**

**( १०९ ) प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगोत्पत्ति = प्रयोग रूप में उच्चारण किये गये शब्द समूहों की उत्पत्ति, अशास्त्रत्वात् = शास्त्र से सम्बद्ध नहीं होने से, शब्देषु = शब्दों की प्रयुक्तता में, व्यवस्था = शास्त्रों के द्वारा उनके नियन्त्रण की व्यवस्था, न = नहीं, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** अर्थ को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से ही शब्दों के समूह का उच्चारण किया जाता है तथा उच्चारण की यह प्रक्रिया लोकव्यवहार के आधार पर आश्रित है और यह शास्त्रों से असम्बद्ध है। उदाहरणार्थ-गो पद के उच्चारण करने से जिस तरह के पशु का ज्ञान हुआ करता है, उसी प्रकार वैसे ही पशु का ज्ञान गाय, गावी आदि शब्दों के उच्चारण से भी हुआ करता है। अनेक शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करने में, लोकव्यवहार में बहुधा दृष्टिगोचर होता है। पाणिः, हस्तः, करः आदि पदों का प्रयोग एकमात्र हाथ की अभिव्यक्ति हेतु होता है। अतएव इस लोक प्रचलन में प्राप्त उदाहरणों के आधार पर शब्दों की मान्यता समानरूप से बिना किसी संकोच के स्वीकार की जाने योग्य है। अतएव अभीष्ट बोध्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाला हर एक पद प्रमाणभूत होने से व्यवहार में लाने योग्य है॥ २४॥

**शिष्य की जिज्ञासा का समुचित समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया है—**

**( ११० ) शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दे = गाय, गावी, गोवी आदि अशिष्ट पदों के विषय में, प्रयत्ननिष्पत्तेः = गो आदि शिष्ट पदों का उच्चारण प्रयत्न सहित सम्पन्न करने की स्थिति में, अपराधस्य = उक्त अशिष्ट पदों (गाय, गावी आदि) के उच्चारण स्वरूप अपराध का भागीदार होना हो सकता है।

**व्याख्या—** शिष्टता सम्पन्न साधु पदों के उच्चारण रूप अभिव्यक्ति में शिष्टता-भलेपन का भाव तथा साधुता से रहित असाधु पदों की अभिव्यक्ति (उच्चारण) में अशिष्टता-बुरेपन का भाव लोक व्यवहार में समझा जाता है। लोक में सम्पन्न होने वाले आचार-व्यवहार के क्रम में असाधुता युक्त शब्दों का प्रयोग न होकर शालीनतायुक्त साधु पदों का ही व्यावहारिक प्रचलन हो, इसके लिए यह अपेक्षित है कि शब्दों को सुसंस्कृत-शिष्ट बनाने की विधा को सीखा व समझा जाये। इस प्रकार का प्रयास करने वाले सफलता प्राप्त कर सबके सराहनीय हो जाते हैं। जो इसके विपरीत असाधु शब्दों-वाक्यों का व्यवहार करते हैं, वे हेय एवं घृणास्पद समझे जाते हैं। यद्यपि अर्थ की अभिव्यक्ति करने में जो शब्द समर्थतायुक्त हैं, उन सबका व्यावहारिक प्रयोग होता है, परन्तु शिष्टता-अशिष्टता का ध्यान दिये बिना उनका प्रयोग करना साधुता नहीं है॥ २५॥

**उपर्युक्त विवेचन में और भी युक्ति प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने कहा—**

**( १११ ) अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अनेक शब्दत्वम् = अनेक शब्दों द्वारा एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति का होना भी, अन्यायः = अन्याय ही है।

**व्याख्या—** साधुता विहीन शब्दों में अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता का सर्वथा अभाव होता है। गावी आदि असाधु-पदों का उच्चारण होने पर उसे सुनने वाले व्यक्ति को उस उच्चारित ध्वनि से 'गो' (साधु पद) की समानता के बोध की स्मृति हो जाती है और वह यह समझ जाता है कि 'गो' के अर्थ में ही उक्त 'गावी' पद कहा गया है। अतएव यह कहना कि साधु एवं असाधु दोनों तरह के पदों की परम्परा पूर्वकाल से ही

अविच्छिन्न रूप से अनवरत चली आ रही है, उचित नहीं। मात्र साधु पदों की ही ऐसी परम्परा है; क्योंकि साधु पदों में ही अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है। जितने भी असाधु पद हैं, वे सभी केवल उनके (साधु पदों के ) अपभ्रंश ही हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि एक ही पद 'गो' की अर्थाभिव्यक्ति हेतु 'गावी' आदि अनेक पदों का प्रयोग अनुचित है।

पूर्व प्रसङ्ग में आये हुए उदाहरणों में जो हस्त:, कर: पाणि: आदि साधु पदों का प्रयोग एक ही 'हाथ' के अर्थ में होना बतलाया गया है, उसको गम्भीरतापूर्वक देखने पर प्रत्येक पद की सूक्ष्म भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। 'हन्' धातु से निष्पन्न हस्त पद हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हाथ से प्रहार करके किसी को चोट पहुँचायी जाती है। 'कृ' धातु से निष्पन्न कर: पद का सामान्य अर्थ करना होता है। समस्त कार्यों के सम्पादन में हाथों की भूमिका रहती है। इसी तरह 'पण' धातु से निष्पन्न 'पाणि' पद का प्रयोग स्तुति अर्थ में किया जाता है। स्तुति का भाव मन में आते ही दोनों हाथ स्वत: ही जुड़ जाते हैं। सामान्य प्रयोगों में इन सूक्ष्म भावों एवं अर्थों का यद्यपि उतना ध्यान नहीं रखा जाता और वैसे भी सूत्र में प्रयुक्त प्रथम पद से जो भाव अभिव्यक्त होता है, वह इस अर्थ के अनुकूल नहीं बैठता, तथापि इन सूक्ष्म अर्थों की पूर्णत: उपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती, आभिधानिक आचार्यों का ऐसा मत है॥ २६॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि जिन साधु एवं असाधु पदों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनकी यथार्थता कैसे जानी जाये ? प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने कहा—**

## ( ११२ ) तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = वहाँ, तत्त्वम् = उस वास्तविकता का ज्ञान, अभियोगविशेषात् = विशेष प्रयत्नों से, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत गो, गावी आदि शब्द विषयक साधु-असाधु की यथार्थता का ज्ञान प्रयत्न विशेष से ही हुआ करता है। प्रयत्न विशेष के अभाव में कठिन शब्द एवं उनके ज्ञातव्य अर्थ को समझ पाना सम्भव नहीं हो पाता। शब्द समूहों के संरक्षण हेतु निरन्तर प्रयासरत रहने वाले शालीनता सम्पन्न विद्वज्जनों द्वारा जिन शब्दों को 'साधु' की संज्ञा दी गई, उन्हें ही साधु समझना चाहिए, शेष सभी को असाधु तथा अपभ्रंश ही जानना चाहिए। अतएव जिन-जिन शब्दों का प्रयोग विद्वज्जनों ने वाङ्मय में किया है, वे सभी शब्द शिष्टाचारी जनों द्वारा मान्यता दिये जाने से साधु ही हैं। इस प्रकार 'गो' पद को छोड़कर गाय, गावी आदि समस्त पद अपभ्रंश ही हैं॥ २७॥

**शिष्य ने प्रश्न किया- जब 'गो' एवं 'गावी' पदों के अर्थ का आशय एक ही है, तो गावी आदि शब्दों को एवं उसके अर्थ सम्बन्ध को भी तो अनादि ही मानना चाहिए ? आचार्य ने इसके उत्तर में अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ११३ ) तदशक्तिश्चानुरूपत्वात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** अनुरूपत्वात् = 'गो' एवं गावी दोनों पदों की उच्चारणाभिव्यक्ति में समानता होने से, च = भी, तदशक्ति: = उसमें (गो शब्द के उच्चारण में) अशक्ति है अर्थात् गावी आदि असाधु पदों की उत्पत्ति का कारण है।

**व्याख्या—** 'गो' पद का शुद्ध उच्चारण न कर पाने की स्थिति में असमर्थता वश किसी अशिक्षित व्यक्ति द्वारा 'गावी' कहा गया और उस गावी को सुनने वालों ने भी कहना शुरू कर दिया और इस निरन्तर कहने की प्रक्रिया से शिक्षा विहीन जनों में 'गावी' पद 'गो' के स्थान पर प्रचलित हो गया होगा। सास्ना से सम्पन्न विशेष पशु गाय के अर्थ में ही 'गो' पद अनादिकाल से प्रयुक्त होता आ रहा है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गावी आदि पद 'गो' के अनुरूप होने से निश्चित रूप से उसके अपभ्रंश ही हैं। अभीष्ट 'गो' पद

का ज्ञान भी उसके उच्चारण से हो जाया करता है॥ २८॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने कहा कि साधु पदों को उच्चारित करते समय यदि विभक्ति विपर्यय भी हो जाए, तो उससे अभीष्ट अर्थ के ज्ञान में किसी तरह की बाधा नहीं आती—**

## (११४) एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा इसी तरह से, एकदेशत्वात् = साधु पदों के एक देशीय होने के कारण, विभक्तिव्यत्यये = पद, वचन एवं लिङ्ग आदि विभक्ति का उलटफेर होने की स्थिति में भी, स्यात् = (अभिलषित अर्थ की प्रतीति) हो जाया करती है।

**व्याख्या—** अभीष्ट अर्थ में साधु पदों का प्रयोग करते समय यदि असावधानी अथवा कतिपय अन्य कारण वश प्रयोक्ता (वक्ता) के द्वारा विभक्ति (पद-वचन, लिङ्ग आदि) का उलट-फेर हो जाने की स्थिति में भी असाधु पदों के एकदेशीय (एक देश में विद्यमान) होने से सहजतापूर्वक अर्थज्ञान हो जाया करता है। उदाहरणार्थ किसी से पूछा-आप कहाँ से आए, उत्तर मिला-वाराणसी; यद्यपि वाक्य अपूर्ण है, परन्तु श्रोता ने यथार्थ समझ लिया। इसी प्रकार 'ग' की समरूपता के कारण, साधु पद 'गो' की स्मृति से गावी आदि असाधु पदों का अर्थ भी सहज ही ज्ञात हो जाता है। आशय यह है कि असाधु पदों के एक देशीय होने से श्रोता जब साधु पदों की स्मृति करता है, तो उसे इच्छित अर्थ का ज्ञान हो जाता है॥ २९॥

**शिष्य की जिज्ञासा है - लौकिक एवं वैदिक पदों में समानता है अथवा नहीं? और यदि इनमें समानता है, तो क्या इनके अर्थ भी अभिन्न हैं? आचार्य ने समाधान के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (११५) प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** अविभागात् = लौकिक तथा वैदिक पदों का विभाग न होने के कारण, प्रयोगचोदनाभावात् = प्रयोगात्मक कर्मों की प्रेरणा विशेष विधि की सिद्धि होने से, अर्थैकत्वम् = दोनों के अर्थों में एकता है।

**व्याख्या—** लौकिक एवं वैदिक पदों में पारस्परिक भिन्नता का सर्वथा अभाव है। वैदिक पद ही लौकिक हैं, लोक-प्रलचन एवं वेद-व्यवहार दोनों में समान शब्द ही प्रयुक्त होते हैं। उनके अर्थों में भी समानता है। वैदिक व्यवहार में कर्मों की विधि-व्यवस्था जिन पदों के द्वारा जिन अर्थों की अभिव्यक्ति के अभिप्राय से निधारित की गई है, वैसा ही अभिप्राय उन्हीं शब्दों द्वारा लोक व्यवहार में भी प्राप्त होता है। दोनों की स्थिति में किसी तरह का भेद नहीं है। उदाहरणार्थ- 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्' अर्थात् हे सुवर्ण के पत्तों से युक्त वनस्पति! देवताओं के लिए हवियों का हवन करो। यह वैदिक वाक्य आहवनीय अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अग्नि को वनस्पति इसलिए कहा, क्योंकि वनस्पति ऊपर को उठती है और अग्नि भी प्रज्वलित होकर ऊपर की ओर ही उठती है। अतः समानता के आधार पर ही अग्नि को वनस्पति कहा है। अग्नि में दूध, दही, घी, हवन सामग्री आदि द्रव्यों की हवि आहुति रूप में प्रदान की जाती है, उसे अग्नि देवों तक पहुँचाते हैं। वनस्पति भी जल, वायु आदि पहुँचाया करती है। अग्नि की लपलपाती एवं चमचमाती लपटों को ही वनस्पति (अग्नि) के सुनहरे पत्तों की संज्ञा दी गई है। लोक व्यवहार में प्रयुक्त अर्थ एवं वेद-व्यवहृत अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, यह स्पष्ट हुआ । इस तरह के अनेक दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि दोनों में समानता ही है॥ ३०॥

**उपर्युक्त विवेचन में जो शब्द एवं शब्दार्थ की बात कही गई है, वह शब्दार्थ व्यक्ति ही है, जाति (समूहवाचक) नहीं, अगले सूत्र में इसी सन्दर्भ का हेतु दिया गया है—**

## (११६) अद्रव्यशब्दत्वात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** अद्रव्यशब्दत्वात् = द्रव्य व्यक्ति शब्द का वाचक न होने के कारण (शब्दों का अर्थ जाति है, ऐसा मानने पर अन्वय की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी)।

**व्याख्या—** शब्द का अर्थ यदि आकृति अथवा जाति माना जाये, तो 'ब्राह्मण को छः गायें दान में दो, चौबीस गायें दो, सौ गायें दो', इस तरह के वाक्यों में छः, चौबीस तथा सौ आदि संख्या का अन्वय, जाति अथवा आकृति के एक (समान) होने के कारण उसके (जाति के) साथ सम्भव ही नहीं। व्यक्ति एक न होकर अनेक हैं, अतएव उसका अन्वय तो प्रत्येक संख्या के साथ सम्भव है, इसलिए शब्द का अर्थ व्यक्ति को ही समझना एवं मानना चाहिए॥ ३१ ॥

**उपर्युक्त कथन के पक्ष में एक अन्य हेतु भी प्रस्तुत करते हैं—**

### ( ११७ ) अन्यदर्शनाच्च॥ ३२ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अन्यदर्शनात् = अन्य का दर्शन होने के कारण भी (शब्द का अर्थ जाति न होकर व्यक्ति ही है)।

**व्याख्या—** 'यदि पशुरूपा कृतः पलायेत' 'अन्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेत' इस वैदिक वाक्य का अर्थ यह है कि उपाकृतपशु, ऐसा पशु जिसका स्पर्श कुशा के द्वारा उपयुक्त समय पर यज्ञीय मन्त्रोच्चारण के साथ किया जा चुका हो, यदि वह यूप में बाँधे जाने से पहले ही पलायन कर जाये, तो उसके ही समान रंग एवं आयु वाले दूसरे पशु को उपाकरण की क्रियाओं से सम्पन्न करके उसे यूप में बाँध कर यज्ञ की शेष क्रियायें सम्पन्न कर लेनी चाहिए। अब यहाँ यदि पशु शब्द का अर्थ जाति माना जाता है, तो जाति तो एक ही है और वह भागने की क्रिया कर नहीं सकती तथा एक होने से 'अन्य' शब्द के साथ उसका अन्वय भी नहीं हो सकता। दोनों ही पशुओं की जाति एक होने से शब्द के अर्थ को व्यक्ति (प्रत्यक्ष पशु) ही मानना उचित है, व्यक्ति भाग भी सकता है तथा व्यक्तियों में भिन्नता बनी रहने से पशु शब्द का अन्वय भी 'अन्य' शब्द के साथ न्यायसंगत है॥ ३२ ॥

**इस जिज्ञासा का समुचित समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

### ( ११८ ) आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्॥ ३३ ॥

**सूत्रार्थ—**क्रियार्थत्वात्= क्रियार्थ होने के कारण, तु= तो, आकृतिः=आकृति शब्द ही वाचक है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'तु' पद इस बात का द्योतक है कि शब्द का वाच्य व्यक्ति नहीं हो सकता; क्योंकि क्रिया का प्रयोजन होने के कारण आकृति ही शब्द का वाच्य है। लोकव्यवहार में प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चे अपने बड़े-बूढ़ों के बोलने का सहजरूप से अनुकरण करते हुए ठीक वैसे ही उस शब्द की शक्ति को ग्रहण कर लिया करते हैं। अनुकरण की ऐसी प्रक्रिया जाति में ही होना सम्भव है। जैसे घोड़े को देख व समझ लेने पर बच्चा घोड़ा 'शब्द' को ग्रहण कर लेता है और जब भी घोड़ा उसके सामने आता है, तो वह तुरन्त ही घोड़ा 'शब्द' का उच्चारण करता है, गाय अथवा भैंस को घोड़ा नहीं कहेगा॥ ३३ ॥

**अब आचार्य अगले सूत्र से शब्द को आकृति की मान्यता देने पर होने वाले दोषों का स्मरण कराते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर के सूत्रों में किया जा चुका है—**

### ( ११९ ) न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत्॥ ३४ ॥

**सूत्रार्थ—** क्रिया = 'व्रीहीन्वहन्ति' धान कूटने की क्रिया, न स्यात् = नहीं होनी चाहिए (जाति पक्ष में), इति चेत् = यदि ऐसा कथन किया जाये तो, अर्थान्तरे = (तथा) अन्य की जगह में, विधानम् = अन्य के ग्रहण का विधान, द्रव्यम् = दक्षिणा रूप में (छः गायें दे दो, चौबीस एवं सौ दे दो आदि भी), न = नहीं होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आकृति को यदि शब्द का अर्थ मानें तो 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीन्वहन्ति' आदि क्रियाओं का होना संभव ही नहीं होगा तथा अन्य के स्थान में अन्य का विधान भी न हो सकेगा और इसके साथ-साथ गो आदि द्रव्यों की संख्या (छः गायें दक्षिणा में दे दो, चौबीस दे दो, सौ दे दो) भी नहीं मानी जायेगी, यदि वैसा कथन किया जाये, तो इकतीसवें सूत्र की व्याख्या में इसको समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि आकृति को शब्द के अर्थ की मान्यता देने पर प्रोक्षण अर्थात् भिगोना तथा अवहनन अर्थात् कूटना आदि कर्मों का होना संभव ही न होगा। अर्थान्तर होने पर पूर्व में उपाकृत पशु के अभाव में अन्य पशु से उसका विधान भी न हो सकेगा और गो आदि द्रव्यों में छह, चौबीस, सौ आदि का अन्वय भी न हो सकेगा, यदि ऐसा कहा जाये, तो ?॥ ३४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त समस्त आशङ्काओं का समाधान करते हैं—**

## ( १२० ) तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** तदर्थत्वात् = उसके (शब्द के) आकृति वाले अर्थ से युक्त होने से, प्रयोगस्य = (प्रोक्षण आदि कर्मानुष्ठानों के) प्रयोग में, अविभागः = किसी तरह का व्यवधान नहीं आता।

**व्याख्या—** आकृति को शब्द का अर्थ मान लेने पर प्रोक्षण आदि कर्मानुष्ठानों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि यज्ञीय द्रव्यों को विशेषताओं से युक्त एवं सीमित करके आकृति ही उसे निर्धारित भी करती है। व्रीहि पद का कथन करते ही समस्त अन्नों से भिन्न यज्ञीय अन्न का अर्थ अभिव्यक्त होता है। उसकी आकृति भी भिन्न होती है, जो उसकी अपनी विशेषता है। यह आकृति यदि व्रीहि शब्द के उच्चारण के तत्काल बाद स्मृति पटल पर न उभरे, तो उसका (व्रीहि द्रव्य का) बोध ही न हो। यद्यपि प्रोक्षण उस आकृति का नहीं होता, परन्तु जिस द्रव्य का प्रोक्षण किया जाता है, उस द्रव्य का निर्धारण तो आकृति ज्ञान से ही होता है। अतएव 'व्रीहीन् प्रोक्षति' जैसे पदों में आकृति के वाचक व्रीहि आदि शब्दों को आकृति के आश्रयभूत द्रव्यभूत द्रव्यों का उपलक्षण ही समझना चाहिए। इसीलिए सूत्रकार ने कहा कि आकृति को शब्द का अर्थ मानने पर कर्मानुष्ठान रूप प्रयोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। 'उपाकृतः पशुः पलायेत' में भी पशु पद को आकृति वाचक मानने पर अन्य पशु का चयन किया जाना संभव होता है। 'षड्गावो देयाः' आदि में भी आकृति वाचक 'गो' शब्द आकृति के आश्रय भूत द्रव्यों का उपलक्षण होने के कारण छः, चौबीस एवं सौ आदि की संख्या के अन्वय में किसी तरह का व्यवधान नहीं आता। आकृति जाति एवं व्यक्ति तीनों ही शब्द के अर्थ अभीष्ट हैं॥ ३५॥

## ॥ इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

## ॥ अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**गत अधिकरणों में अपूर्व अर्थ के विधि-विधान द्वारा वेद वाक्यों की प्रामाणिकता, स्तुतिपरक होने के कारण अर्थवादी वाक्यों की प्रामाणिकता तथा अनुष्ठेय प्रयोजनों के प्रकाशक होने के कारण मन्त्रों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन आचार्य द्वारा किया गया। इस पर शिष्य का कहना यह है कि 'उद्भिदा यजे बलभिदा यजेत' 'अभिजिता यजेत' 'विश्वजिता यजेत' आदि वेद-वाक्यों को अपूर्व अर्थ का विधान करने वाला विधि वाक्य माना जाये? अथवा गुण विशेष का कथन करने वाला गुणविधि माना जाये? इनमें पहला सिद्धान्तपक्ष है तथा दूसरा पूर्वपक्ष। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा के समुचित समाधान के लिए पूर्वपक्ष को प्रथम सूत्र में प्रस्तुत किया—**

### ( १२१ ) उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** समाम्नायैदमर्थ्यम् = विधेयार्थ में वेदों की प्रामाणिकता का (प्रयोजन का) कथन, उक्तम् = कह दिया गया है, तस्मात् = अतएव, सर्वम् = सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में विहित, तदर्थम् = उसका प्रयोजन (विधि, स्तवन, अनुष्ठेय आदि प्रयोजनों के प्रकाशन के लिए) स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** इस मीमांसा दर्शन के पहले अध्याय के दूसरे पाद में यह कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का प्रयोजन यज्ञ-यागादि का निष्पन्न होना है, जो विधि, स्तवन एवं अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन रूप तीन प्रकार का है। पहला विधिरूप, दूसरा स्तवन, तीसरा मांगलिक। उक्त 'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्य उपर्युक्त तीनों विधाओं में से किसी एक के अन्तर्गत भी नहीं आते, वस्तुतः गुणविधि के अन्तर्गत आते हैं, गुण का विधान बतलाने वाले वाक्य 'गुणविधि' कहलाते हैं, जैसे- 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की कामना हो, तो यज्ञ करे। यह विधिवाक्य हुआ। इसके अन्तर्गत जब किसी साधन-विशेष का उल्लेख हो, तो यह गुणविधि होता है-'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' (इन्द्रिय की दृढ़ता के लिए 'दधि' से हवन करे।) यहाँ यज्ञ के साधनभूतद्रव्य (दधि) का उल्लेख गुणविशेष के रूप में हुआ है। उद्भिदा यजेत, बलभिदा यजेत, अभिजिता यजेत, विश्वजिता यजेत आदि वैदिक वाङ्मय के वाक्य भी यज्ञ का साधन-द्रव्य बतलाने के कारण गुणविधि ही हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १॥

**आचार्य ने पूर्वपक्ष का समुचित समाधान करते हुए सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

### ( १२२ ) अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = उपर्युक्त वाक्यों को गुणविधि न मानकर, नामधेयम् = नामधेय मानना, स्यात् = उचित है, अविधायकत्वात् = गुणविधि का विधानकर्त्ता न होने के कारण, यद् उत्पत्तौ = जिसकी उत्पत्ति में, अपूर्वम् = पूर्व से अज्ञात कर्मों का विधि-विधान हुआ करता है (उद्भिद् आदि पद यागविशेष की संज्ञा ही है)।

**व्याख्या—** 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य द्वारा किया गया यज्ञविधान पहले से ही उपलब्ध है। इसमें प्रमुख कर्म का निर्देश विधि-वाक्यों द्वारा प्रकारान्तर से प्राप्त होता है। इस प्रकार की कामना वाले पुरुषों को 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' अर्थात् दहीरूपी द्रव्य से हवन करना चाहिए। इस वाक्य में दधि द्रव्य से हवन करने का विधान बतलाना ही गुणविधि है; जबकि उद्भिद् आदि शब्दों से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वह अन्य किन्हीं वाक्यों द्वारा पहले से ज्ञात नहीं है। आशय यह है कि किन्हीं अन्य विधिवाक्यों द्वारा उनका विधान न बतलाने के कारण उपर्युक्त वाक्यों को गुणविधि मानना न्यायसंगत नहीं है।

प्रसङ्गागत उद्भिद् आदि पदों को यागविशेष की संज्ञारूप मानने पर किसी तरह का कोई दोष उपस्थित नहीं होता। 'उद्भिदा यजेत' में यजेत पद का अर्थ होगा- 'यागेन इष्टं भावयेत्' इसमें 'याग' तो करण है ही, उद्भिदा आदि पद भी करण हैं; क्योंकि तृतीया विभक्ति के साथ उसका निर्देश किया गया है। उद्भिदादि पदों को यदि याग का नामधेय स्वीकार न करके गुणविधि की मान्यता दी जाती है, तो उन पदों को

याग के साधन-द्रव्य का वाचक भी मानना पड़ेगा, जिसके कारण वाक्यों में समानाधिकरण के सामञ्जस्य हेतु उक्त पदों में मत्वर्थलक्षणा भी उपस्थित होगी। अतएव श्रुति तथा लक्षणा की पारस्परिक स्पर्धा में श्रुति को ही मान्यता मिलती है। लक्षणा के हट जाने की स्थिति में यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रसङ्गागत उद्भिदादि पद श्रुतिमूलक समानाधिकरण्य के कारण याग आदि के नामधेय ही है॥ २॥

**अब शिष्य की जिज्ञासा यह है कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' आदि वैदिक वाक्यों को वेद वाङ्मय में देखा जाता है, जिनका अर्थ है- पशु की कामना वाले को चित्रा से यजन करना चाहिए, ये कर्म की संज्ञा है अथवा गुण विधि? प्रमुख याग में विशिष्ट फल की इच्छा से उसमें प्रवृत्ति के प्रेरक होने से तो इन्हें गुणविधि ही मानना चाहिए। शिष्य की इसी जिज्ञासा का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( १२३ ) यस्मिन् गुणोपदेशः प्राधानतोऽभिसम्बन्धः॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** यस्मिन् = जिन वाक्यों में, गुणोपदेशः = गुणों का उपदेश किया गया हो (उन वाक्यों का), प्रधानतः = प्रमुख धातुरूप प्रयोजन के साथ, अभिसम्बन्धः = अभीष्ट सम्बन्ध हुआ करता है।

**व्याख्या—** जिन वाक्यों में गुणविधि अथवा नामधेय होने की सन्देहात्मक स्थिति हो तथा उनके द्वारा गुणों का उपदेश किया गया हो, ऐसे वाक्यों का प्रधान-धातु-अर्थ के साथ अभीष्ट सम्बन्ध हुआ करता है। आशय यह है कि धातु-अर्थ से सम्बन्धित वाक्यगत पद विशिष्ट कर्म के संज्ञारूप होते हैं। 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य द्वारा किया गया चित्रगुण का विधान स्त्री-पशु के विषय से सम्बन्धित है और यह उक्त विधि-विधान 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' में लागू नहीं होता; क्योंकि नियमकर्त्ता (नियामक) का लिङ्गभेद है। इस लिङ्ग भेद के आधार पर उसके फल में भी वह विधान लागू नहीं हो सकेगा। अतएव अग्नीषोमीय याग का इसे गुणविधि की मान्यता न देकर कर्म विशेष की मान्यता देना ही उपयुक्त एवं न्याय संगत होगा॥ ३॥

**उपर्युक्त विवेचन में प्रसङ्गागत वाक्यों को कर्मविधि की मान्यता दिये जाने पर शिष्य ने कहा- 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' एवं 'आघारमाघारयति' में 'अग्निहोत्र' शब्द एवं आघार गुणविधि है अथवा कर्मों के नामधेय? यदि इनको गुणविधि मानें तो? आचार्य ने कहा—**

**( १२४ ) तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उस अग्निहोत्र में अग्नि के देवता स्वरूप गुणों की, च = तथा, प्रख्यम् = उपांशुयाग के आघार में घृत के गुणों की जानकारी देने वाला, अन्य शास्त्रम् = निश्चित अन्य शास्त्र है।

**व्याख्या—** विधिवाक्य उसे कहते हैं, जिसके द्वारा अविदित अर्थ का ज्ञान निर्देशरूप में प्राप्त होता है। दर्विहोम नामक विशिष्ट यज्ञ में यद्यपि अग्नि के देवतास्वरूप गुणों का निर्देशात्मक कथन उपलब्ध नहीं हैं; परन्तु एक दूसरे वाक्य से जो स्तवन किया जाता है, वह अग्निदेवता के लिए ही है। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इस वाक्य से अग्नि एवं प्रजापति के लिए सायंकाल हवन करने का विधान किया गया है। अतएव अग्निदेवता के रूप आदि गुणों का विधायक न होने से 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' वाक्य गुणविधि नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'आघारमाघारयति' में भी आज्यद्रव्यरूप गुण का विधान मानना उचित नहीं; क्योंकि 'चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य' वाक्य द्वारा उक्त विधान प्रकारान्तर से विदित है। अतः यह मान्यता सुनिश्चित है कि ये कर्म विशेष के नामधेय ही हैं॥ ४॥

**अब जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का यह है कि 'अथैष श्येनेन अभिचरन् यजेत' आदि में प्रयुक्त श्येन आदि शब्दों को कर्म का नामधेय माना जाये अथवा गुणविधि? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—**

**( १२५ ) तद्व्यपदेशञ्च॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्व्यपदेशम् = उस श्येन आदि शब्दों का व्यपदेश उनकी नामधेयता में निमित्त है।

**व्याख्या—** शास्त्रों में आये हुए 'श्येन' आदि शब्द यागविशेष का कथन करने के कारण प्रसिद्ध हैं। यागविशेष का नामधेय मानने की स्थिति में 'श्येनेन यजेत' आदि 'श्येन नाम्ना यागेन इष्टं भावयेत्' श्रुति के द्वारा बोधित प्रमुख अर्थ की उपलब्धि होती है। 'श्येन' शब्द का यागादि कर्म के साथ समानाधिकरण्य प्रत्यक्षरूप से परिलक्षित है। गुणविधि की मान्यता देने पर मत्वर्थ लक्षणा से ही इनका समानाधिकरण्य सम्भव हो सकेगा। 'श्येनवता यागेन इष्टं भावयेत्'। प्रत्यक्षरूप से श्रुति के द्वारा बोधित अर्थ की उपलब्धता में लक्षणा करना किसी भी तरह से न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

'यथा वै श्येनो निपत्य आदत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्य आदत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन' अर्थात् जैसे श्येन (बाज़) पक्षी अपने शिकार (दूसरे पक्षी) को झपट कर दबा लेता है, वैसे ही यह श्येन-याग अपने से द्वेष रखने वाले विरोधियों (शत्रुओं) को झपट्टा मारकर प्राणहीन कर देता है, अभिचार कर्म करते हुए जिसके लिए श्येन-याग के द्वारा यजनरूप कर्म का सम्पादन किया जाता है। इस वाक्य में झपटनेरूप सादृश्य के कारण ही श्येन शब्द का प्रयोग याज्ञिक क्रियाओं में किया जाता है। लोक व्यवहार में भी प्राय: सदृशता के आधार पर ही कहते सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति सिंह के सदृश साहसी एवं पराक्रमी है। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि 'श्येन' शब्द कर्म का नामधेय है॥ ५॥

**शिष्य प्रश्न करता है कि वाजपेय आदि शब्दों को गुणविधि मानना चाहिए अथवा नहीं? इसी भाव को अगले सूत्र में व्यक्त किया—**



## ( १२६ ) नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** नामधेये = वाजपेय नाम वाले शब्द में, गुणश्रुतेः = अन्न की गुणश्रुति होने के कारण, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये कि, विधानम् = (वाजपेय यज्ञ) गुणविधि, स्यात् = है (विधि कहना उचित है)।

**व्याख्या—** 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' अर्थात् स्वाराज्य की इच्छा वाला या स्वर्ग में राज्य चाहने वाला अथवा अपने पौरुष (सामर्थ्य) से प्रकाशमान होने वाले व्यक्ति को वाजपेय (अन्नोत्पादन-संसाधन बढ़ाने वाले) यज्ञों से यजन करना चाहिए। जिस यज्ञ में यवागू (जौ) का पान होने का विधान है, वही वाजपेय कहलाता है। वाज का अर्थ अन्न होने से 'वाज' शब्द अन्नगुण का विधायक है, अतएव वाजपेय शब्द को गुणविधि मानना ही उचित होगा॥ ६॥

**शिष्य की आशङ्का का निराकरण करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १२७ ) तुल्यत्वात् क्रिययोर्न॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** क्रिययो: = वाजपेय एवं दर्शपौर्णमास यज्ञरूप दोनों कर्मों में, तुल्यत्वात् = समानता की स्थिति होने के कारण, न = इसे गुणविधि नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** वाजपेय शब्द को गुणविधि मानने की स्थिति में वाजपेय एवं दर्शपौर्णमास दोनों ही यज्ञ समानरूप से अन्न-साधन-यज्ञ बन जाते हैं। दर्शपौर्णमास का जो पुरोडाश है, वह अन्नमय है, जिसके कारण वाजपेय यज्ञ दर्शपौर्णमास का विकृतिस्वरूप यज्ञ बन जायेगा। शास्त्र की विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत विकृति यज्ञों को भी प्रकृति यज्ञों के समान ही सम्पन्न करने का निर्देश प्राप्त है-'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस व्यवस्था से दर्शपौर्णमास प्रकृतियाग में जितने भी क्रिया-कलाप सम्पन्न किये जायेंगे, वे ही सब कुछ वाजपेय यज्ञ में भी करने पड़ेंगे, जिसके परिणामस्वरूप 'सप्तदीक्षो वाजपेय:' एवं 'सप्तदशोपसत्को वाजपेय:' इन वाक्यों के आधार पर वाजपेय यज्ञों में शास्त्रविहित दीक्षा एवं उपसत् का विधान (जिसका दर्शपौर्णमास यज्ञ में सर्वथा अभाव है) पूर्ण न हो सकेगा; किन्तु गुणविधि की मान्यता देने पर वाजपेय यज्ञों में भी वही क्रिया-कलाप

उपलब्ध होंगे, जिनका सम्पादन दर्शपौणमास यज्ञों में हुआ करता है, जबकि उन क्रियाकलापों की शास्त्र द्वारा अभीष्टता नहीं बतलायी गई है। अतएव वाजपेय शब्द को कर्म का नामधेय मानना ही उचित है, गुणविधि मानना नहीं॥ ७॥

**किये गये उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि में हेतु प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—**

## ( १२८ ) ऐकशब्द्ये परार्थवत्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** ऐकशब्द्ये = एक ही शब्द 'यजेत' के उच्चरित होने पर उसे गुणविधान हेतु, परार्थवत् = वैदिक अर्थ से अलग अनुवादस्वरूप अर्थ से युक्त मानना पड़ेगा, जो शास्त्रानुकूल नहीं होगा।

**व्याख्या—** गत सूत्र के विवेचन में आया हुआ 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' वाक्य वाजपेयसंज्ञक यज्ञ का विधायक है। 'यजेत' कर्म में 'यज्' धातु एवं प्रत्यय-विधि का प्रकाशक होने से उसका 'यागेन इष्टं भावयेत्' याग के द्वारा अपने कल्याण का भाव करना चाहिए यह अर्थ होता है। अब अगला प्रश्न यह है कि किस यज्ञ के द्वारा - 'केन यागेन' अर्थात् किस नाम से उस यज्ञ का परिचय प्राप्त होता है? उत्तर मिला-'वाजपेयेन'- वाजपेय यज्ञ के द्वारा। अब प्रश्न है कि किसे ऐसा भाव करना चाहिए? उसी वाक्य से ही उत्तर मिला-'स्वा राज्यकाम:' स्वाराज्य की कामना वाला व्यक्ति वाजपेय नाम वाले यज्ञ से अपने मंगल का भाव करे। इस वाक्य के समन्वयन में किसी तरह की बाधा नहीं है।

दूसरी तरफ वाजपेय को गुणविधि मानने की स्थिति में 'वाजपेय' शब्द का अर्थ अन्न माना जायेगा, और तब मत्वर्थ लक्षणा के बिना यज्ञ के साथ उस अन्नरूप गुण का अन्वय असम्भव होगा। 'वाजवता यागेन इष्टं भावयेत्' यह उस अन्वय का स्वरूप होगा और इस स्थिति में इसके विधानकर्त्ता पद के अभाव में किस यज्ञ में इसका गुण विधान सम्भव होगा? 'यजेत' पद का किसी प्रमुख यज्ञ का विधानकर्त्ता होना सम्भव नहीं; क्योंकि वह क्रिया पद है तथा मत्वर्थ लक्षणा द्वारा गुणविधान के साथ उसका अन्वय भी है और 'वाजपेय' के वाज को अन्न गुण एवं वाजपेय पद को कार्य का द्योतक मानते हुए एक ही पद 'वाजपेय' में ही कर्मनाम एवं गुणविधि की मान्यता दिये जाने की स्थिति में वाजपेय पद का जो अन्वय निकलेगा, वह कदापि शास्त्रसम्मत नहीं होगा। अतएव 'वाजपेय' पद को गुणविधि न मानकर कर्मनाम ही मानना न्यायोचित है॥ ८॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है कि आग्नेय एवं अग्नीषोमीय को गुणविधि कहना उचित होगा या कर्मनामधेय? समाधान के भाव से आचार्य ने अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

## ( १२९ ) तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** न चेदन्येनशिष्टा: = यदि उनका कथन किन्हीं दूसरे वाक्यों द्वारा न किया गया हो, तु = तो, तद्गुणा: = उन कर्मों एवं उनके गुणों के विषय में सन्देह करना उचित नहीं, विधीयेरन् = (क्योंकि) उनका विधान विधि द्वारा किया जा चुका है, अविभागात् = (अत:) विभागरहित होने की स्थिति में, विधानार्थे = विधान के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों में (सन्देह ठीक नहीं)।

**व्याख्या—** उन कर्मों एवं गुणों का यदि किन्हीं अन्य वचनों से विधान नहीं किया गया है, तो उनके विधान हेतु प्रयुक्त किये गये तद्धित प्रत्ययान्त शब्द आग्नेय एवं अष्टाकपाल आदि में एक साथ उच्चारणरूप कर्म के उपलब्ध होने के कारण यहाँ उनके विधान की व्यवस्था दी गई है। गुणों का विधान किन्हीं अन्य वाक्यों से हो जाने की स्थिति में ही किसी शब्द को कर्म के नामधेय होने की मान्यता दी जाती है। जबकि यह प्रसङ्ग ऐसा है ही नहीं- 'अग्निर्देवताऽस्य इति आग्नेय:' अर्थात् आग्नेय यह इसलिए है; क्योंकि इसका देवता अग्नि है। इस

वाक्य में प्रयुक्त 'आग्नेय' शब्द अग्नि देवता का विधायक है। इसी प्रकार 'अष्टसु कपालेषु संस्कृतः इति अष्टाकपालः' इस वाक्य का अष्टाकपाल पद 'कपाल' का विधायक है। इस विधान में यह बतलाया गया है कि अष्टाकपालों (विशिष्ट मृत्तिका पात्रों) में पकाया हुआ हव्य-द्रव्य ही अग्नि देवता के लिए होना चाहिए, न कि किन्हीं अन्य पात्रों का पकाया हुआ । अतएव प्रस्तुत वाक्य से अग्नि, कपाल एवं पुरोडाश तीनों की ही जो सम्मिलित विधि-व्यवस्था उपलब्ध होती है, अन्य किन्हीं वाक्यों द्वारा उसका विधान न किये जाने से वह अपूर्व है। अष्टकपालों में पकाया गया पुरोडाश याग के अभाव में अग्नि देवता को किसी भी तरह समर्पित नहीं किया जा सकता। देवता को समर्पित करने के पवित्र प्रयोजन से द्रव्यों का त्याग ही 'याग' है। देवता एवं द्रव्यों के विधि-विधान के अभाव में याग-कर्मों का विधान सर्वथा असम्भव ही है। इसीलिए यहाँ देवता, द्रव्य एवं याग तीनों का सम्मिलित स्वरूप सामने रखकर ही विधान किया गया है। किन्हीं अन्य वाक्यों से द्रव्य के गुणों एवं देवताओं की उपलब्धि भी नहीं है॥ ९॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले बर्हि आदि शब्दों को जातिवाचक माना जाये अथवा नहीं ? आचार्य ने कहा—**

## (१३०) बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** बर्हिराज्ययोः = बर्हि एवं आज्य आदि शब्दों में, असंस्कारे = संस्कारों का अभाव होने पर भी, शब्दलाभात् = इन शब्दों की व्यावहारिकता स्वरूप लाभ होने के कारण, अतत्शब्दः = बर्हि एवं आज्य आदि शब्दों को संस्कार निमित्तक नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मकाण्ड के क्रम में बर्हि (कुशा) को काटते समय उसे मन्त्रोच्चारण करके संस्कारित करने का विधान है, परन्तु उस संस्कारित करने की प्रक्रिया के पूर्व भी लोक-व्यवहार में 'बर्हि' पद से ही उसका प्रयोग हुआ करता है। लोक प्रचलन में होने वाला यह उक्त प्रयोग संस्कार की सदृशता से होना सर्वथा असम्भव ही है; क्योंकि इन पदों का प्रयोक्ता, संस्कार शब्द एवं संस्कार पद्धति के ज्ञान से नितान्त वंचित रहते हुए भी उनका प्रयोग किया करता है। 'बर्हि' पद का प्रयोग होते रहते हुए विशेष यज्ञों में ही उसे संस्कारित करने की प्रक्रिया पूरी की जाती है। अतएव 'बर्हि' पद संस्कार-निमित्तक न होकर जातिवाचक ही है। यही स्थिति 'आज्य' शब्द की भी है, इसका भी प्रयोग 'बर्हि' की भाँति ही होता रहता है तथा विशिष्ट यज्ञों में उसे मन्त्रों से संस्कारित किया जाता है। अतएव आज्य भी जातिवाचक शब्द है॥ १०॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध 'प्रोक्षणीरासादय' वाक्य का 'प्रोक्षणी' पद यौगिक, जातिवाचक अथवा संस्कार-निमित्तक इन तीनों में से किस श्रेणी में आता है ? संस्कार प्रयोगों के क्रम में इसे बहुधा प्रयुक्त होते देखा भी जाता है, तो क्यों न इसे जातिवाचक मान लिया जाये ? आचार्य ने कहा—**

## (१३१) प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** प्रोक्षणीषु = प्रोक्षणी पद में, अर्थसंयोगात् = उपसर्ग, धातु, प्रत्यय समूह के अर्थ का संयोग होने के कारण 'प्रोक्षणी' पद यौगिक पद है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'प्रोक्षणी' शब्द का अर्थ होता है- प्रकृष्टता पूर्ण अभिषिंचन, अपनी अपेक्षा के अनुरूप आर्द्र करने का करण (साधन)। यज्ञीय कर्मानुष्ठानों में जिस प्रकार जल द्वारा यज्ञीय अन्न (पुरोडाश) के आपेक्षिक आर्द्रीकरण की प्रक्रिया की जाती है, वैसे ही अन्य स्थानों पर भी दही एवं घृत आदि से पुरोडाश (हवि) के अभिषिंचन का विधान किया जाता है। इसी प्रकार 'प्रोक्षणी' शब्द को जातिवाचक मानने की स्थिति में दही, घृत आदि का ग्रहण न होकर सर्वत्र जल ही ग्राह्य होता है; किन्तु धात्वर्थ के अनुसार 'प्रोक्षण' शब्द का यौगिक अर्थ (पुरोडाश हवि के आर्द्रीकरण का साधनरूप द्रव्य) करने की स्थिति में जल, दधि एवं घृत

अपनी अपेक्षा के अनुरूप जहाँ जिसकी अनिवार्यता हो, उसी का ग्रहण हो जाया करता है और ऐसी दशा में इसमें सामञ्जस्य भी बना रहता है तथा लोक प्रचलित 'प्रोक्षणी' पद का प्रयोग भी जल के लिए निर्बाधगति से चलता रहता है। अतएव 'प्रोक्षणी' प्रोक्षण आदि पद यौगिक हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ ११॥

**शिष्य ने कहा- 'निर्मन्थ्य' पद भी तो 'प्रोक्षणी' के ही समान प्रचलित है। इसका प्रयोग अग्नि के अर्थ में हुआ करता है। 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' अर्थात् निर्मन्थ्य ( अग्नि ) से ईंटों को पकाते हैं। इस शब्द को संस्कार निमित्तक मानें या जाति निमित्तक ? आचार्य ने उत्तर दिया—**

## ( १३२ ) तथा निर्मन्थ्ये॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** निर्मन्थ्ये = निर्मन्थ्य शब्द में भी, तथा = उसी तरह से अग्नि का अर्थ संयोग समझना चाहिए।

**व्याख्या—**अग्निचयन-विषयक प्रसङ्ग में आये हुए वाक्य 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' का जो तात्पर्य निकलता है, उसी तरह के भाव आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (१६/१३/७) में पठित वाक्य 'निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति' के भी हैं। इसका अर्थ है निर्मन्थ्य (अग्नि) से ईंटें पककर लाल हो जाती हैं। इस आधार पर यदि 'निर्मन्थ्येन' पद को संस्कार निमित्तक मानें, तो मात्र विशिष्ट संस्कारों से उत्पन्न की गई अग्नि में ही ईंटें पकाने का विधान उपलब्ध होगा और यदि जातिवाचक मानें, तो (बिना अरणी के मन्थन किये) किसी भी प्रकार से प्राप्त अग्नि में ईंटों को पकाने की प्रक्रिया स्वीकार की जायेगी। इन दोनों मान्यताओं से 'निर्मन्थ्य' पद का प्रयोजन पूर्ण नहीं होता। निर्मन्थ्य पद का अभिप्राय है- मन्थन करने पर तत्काल उत्पन्न अग्नि में ईंटों को पकाया जाये। अतएव इस पद को यौगिक मानना ही न्यायोचित है; क्योंकि निर्मन्थ्य पद का प्रयोग मन्थन द्वारा तत्काल उत्पन्न अग्नि का बोध कराता है॥ १२॥

**'वैश्वदेव' पद गुणविधि है या याग का नामधेय ? शिष्य की इस जिज्ञासा को आचार्य ने स्वयं सूत्रित किया—**

## ( १३३ ) वैश्वदेवे विकल्प इति चेत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—**वैश्वदेवे = वैश्वदेव पद में, विकल्पः = (देवता का) विकल्प समाहित है, इति चेत् = ऐसा यदि कहा जाता है, तो यह कहना अनुचित है।

**व्याख्या—** चातुर्मास्य यज्ञ के चारों पर्वों का वर्णन मैत्रायणी संहिता (१/१०/१) में किया गया है। इनके सम्पन्न करने की प्रक्रिया चार-चार महीने के अन्तर से पूरी किये जाने की बात भी कही गई है। पहला पर्व फाल्गुन मास की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है, जिसे 'वैश्वदेव' की संज्ञा प्राप्त है। आषाढ़ पूर्णिमा को सम्पन्न किये जाने वाले दूसरे पर्व का नाम 'वरुण प्रघास' है। तीसरा पर्व कार्तिक की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है और उसे 'साकमेध' कहते हैं। चौथा 'शुनासीरीय' पर्व अपनी इच्छानुसार फाल्गुन की पूर्णिमा से किसी भी मास की पूर्णिमा को सम्पन्न कर लिया जाता है। उपर्युक्त संहिता में चातुर्मास्ययाग प्रकरण के शुभारम्भ में ही अष्ट यागों का पाठ उपलब्ध होता है- 'आग्नेयोऽष्टाकपालः, सौम्यश्चरुः, सवित्रोद्वादशकपालः, सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः मारुतः सप्तकपालः, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्यावापृथिवीया एक कपालः।' यह पाठ अग्नि, सोम, सविता, पूषा, मरुत्, वैश्वदेव, द्यावापृथिवी-इन सभी आठों देवताओं के प्रयोजन से अष्ट यागों का विधान बतलाता है। जिन देवताओं का उल्लेख अष्ट याग में किया गया है, 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य उन देवों के स्थान पर (विकल्परूप में) विश्वेदेवा देवता को प्रस्तुत करता है। ऐसे ही 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' के द्वारा विकल्परूप से अग्नि आदि का विधान हुआ है। ऐसा विधान किये जाने से व्रीहिभिर्यजेत तथा यवैर्यजेत के समान विकल्प मिलता है। अतएव देवों के गुणों का विधान करने से इसे गुणविधि मानना चाहिए॥ १३॥

**शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित करने के अनन्तर आचार्य ने कहा—**

**( १३४ ) न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** न वा = गुणविधि नहीं माना जा सकता, प्रकरणात् = प्रकरण के द्वारा, च = तथा, प्रत्यक्षविधानात् = प्रत्यक्ष विधान द्वारा भी (गुणविधि नहीं है वैश्वदेव शब्द), प्रकरणम् = सामान्य प्रकरण में, द्रव्यस्य = द्रव्यों का, हि = निश्चय ही, न = विकल्प नहीं होता।

**व्याख्या—** चातुर्मास्य यज्ञों के प्रकरण में ज्ञात होता है कि वैश्वदेव शब्द गुणविधि न होकर याग का नामधेय है। कारण यह कि उस प्रकरण में द्रव्य अथवा देवतारूप गुणों का विधि-विधान उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकरण में आये हुए वाक्य 'आग्नेयोऽष्टाकपाल:' का अर्थ होगा- 'अष्टाकपालेन पुरोडाशेन यागसाधनेन देवमग्निं भावयेत्'। इससे प्रत्यक्षरूप से अष्टाकपाल पुरोडाशरूप साधन वाले अग्नि देवता से सम्बन्धित याग का विधान परिलक्षित होता है। इस प्रकरण में अग्नि सहित सोम, सविता, आदि देवों का भाव करते हुए आठ यज्ञों का वर्णन उपलब्ध है और इन्हीं आठों में विश्वेदेव भी हैं। ज्योतिष् शास्त्र के अनुसार 'विश्वेदेव' पद १३ की संख्या का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है, अतएव विश्वेदेव तेरह हैं, ऐसा प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रकरण में आठ से ही तेरहों का ग्रहण हो जाता है। छत्रिन्याय अथवा दण्डि न्याय से। इसी से आठों का समूह वैश्वदेव कहा जाता है और ये सभी यागों के नामधेय हैं न कि गुणविधि॥ १४॥

**'वैश्वदेव' शब्द गुणविधि नहीं है, इसी को दूसरे प्रकार से समझाते हुए आचार्य कहते हैं—**

**( १३५ ) मिथश्चानर्थसम्बन्ध:॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और , मिथ: = दोनों का, अनर्थसम्बन्ध: = अर्थ सम्बन्ध सिद्ध न होने से भी वैश्वदेव शब्द गुणविधि नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** पूर्व के विवेचनात्मक प्रसङ्ग में प्राप्त वाक्य 'वैश्वदेव' को गुणविधि नहीं माना जा सकता; क्योंकि उत्पत्ति वाक्य द्वारा उपलब्ध होने के कारण अग्नि आदि गुण पहले से ही प्राप्त हैं। अतएव उनका यज्ञ- सम्बन्ध होने की स्थिति में प्रकरण से ज्ञात हुए 'विश्वेदेव' रूपादि गुणों का सम्बन्ध सर्वथा अमान्य है; क्योंकि अग्नि आदि गुणों का संयोग होने के कारण यज्ञ का आकांक्षाहीन हो जाना होता है और आकांक्षाहीनता की विशिष्टिता के कारण सम्बन्ध होने की सम्भावना ही नहीं रहती तथा सम्बन्ध के अभाव की स्थिति में उसे गुणविधि मानने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतएव गुणविधि की कल्पना पूर्णत: निराधार है। अतएव 'वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत' में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' शब्द वसन्त में अनुष्ठान करने योग्य आग्नेय आदि पूर्वोक्त आठों यागों का नामधेय है, न कि गुणविधि॥ १५॥

**वैश्वदेव शब्द गुणविधि नहीं है, इसकी उपपन्नता में आचार्य एक दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

**( १३६ ) परार्थत्वाद् गुणानाम्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** गुणानाम् = गुणों के, परार्थत्वाद् = अन्य प्रधान यागों के लिए होने के कारण भी।

**व्याख्या—** गुणविधि वाक्यों का उद्देश्य अन्य प्रधान यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यरूप साधन-सामग्री एवं उससे सम्बन्धित देवता तथा उनके गुणों का विधान बतलाना है। इस आधार पर यदि 'वैश्वदेव' पद को गुणविधि की मान्यता दी जाती है, तो वह दूसरे आग्नेय आदि प्रधान यागों में मात्र 'विश्वेदेव' देवता एवं उसके गुणों का ही विधान बतलायेगा तथा उस स्थिति में अग्नि आदि सातों देवों को अलग-अलग आहुति न देकर मात्र 'विश्वेदेव' को ही लक्ष्य करके हवि द्रव्य की समस्त आहुतियाँ दी जायेंगी। आशय यह है- देवता के एक होने की स्थिति में यदि हवन करने योग्य हविरूप द्रव्य की अनेकता है, तो उन सभी का सम्मिश्रण करके एक आहुति दे देने की शास्त्रीय विधि-व्यवस्था उपलब्ध है। इस व्यवस्था के आधार पर 'वैश्वदेव' पर्व की आठ

आहुतियों के स्थान पर एकमात्र आहुति ही शेष रहेगी, जिससे शास्त्रीय व्यवस्था का उल्लंघन होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१/६/३) में 'वैश्वदेव' पर्व की तीस आहुतियों का उल्लेख है-प्रयाज की ९, अनुयाज की ९, मुख्य यज्ञ की ८ एवं आघार तथा आज्य भाग की २-२ कुल मिलाकर ३० आहुतियाँ। अब यदि वैश्वदेव को गुणविधि माना जाता है, तो मुख्य याग की आठ आहुतियों में से सात कम हो जाने से तेईस ही रहेंगी, जो शास्त्र सम्मत नहीं है। अग्नि आदि आठों देवताओं के उद्देश्य से अष्टाकपाल आदि आठों हवि-द्रव्यों की अलग-अलग आहुति प्रदान किये जाने से शास्त्र की अनुकूलता विखण्डित नहीं होती। अतएव वैश्वदेव को याग का नामधेय मानना ही उचित होगा, न कि गुणविधि॥ १६॥

**जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि अष्टाकपाल के अष्टत्व आदि को अर्थवाद माना जाये अथवा गुणविधि? सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए उसे गुणविधि की मान्यता देते हुए विवेचना प्रारम्भ की—**

## (१३७) पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** पूर्ववन्तः = पूर्व से विदित अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले वाक्य, अविधानार्थाः = (अर्थवाद हैं) वे विधान के लिए नहीं हुआ करते, (किन्तु) समाम्नाये = अष्टाकपाल, नव कपाल आदि समाम्नाय में, तत्सामर्थ्यम् = उस अविदित अर्थ के विधान की सामर्थ्य है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' वाक्य-पुत्र उत्पत्ति होने पर द्वादश कपालों में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देशात्मक कथन करता है। 'यदष्टाकपालो भवति' आदि संदर्भित वाक्य से आठ अथवा नौ कपाल आदि में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देश दूसरे किसी वाक्य द्वारा विदित नहीं हुआ है और यदि किसी अन्य वाक्य द्वारा विदित हुआ होता, तो यह निर्देशात्मक कथन उस वाक्य का शेष अथवा अर्थवाद माना जाता। इस प्रकार स्पष्टरूप से यह परिलक्षित हुआ कि प्रस्तुत संदर्भ वैश्वानर यज्ञ के अन्तर्गत उसकी प्रयोगात्मक प्रक्रिया में पहले उपलब्ध द्वादशकपाल होने के स्थान पर अष्टाकपालतारूप, गुणों का विधान बतलाता है। अतः इन्हें अर्थवाद न मानकर गुणविधि मानना ही न्यायसंगत होगा। अष्टत्व आदि गुणविधि ही है॥ १७॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करने के भाव से सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने अगले सूत्र में बताया—**

## (१३८) गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** तु = सूत्र में प्रयुक्त हुआ यह पद पूर्वपक्ष की आशङ्का का समाधान करता है। गुणस्य = अष्टाकपाल आदि वाक्य द्वारा बारह कपाल आदि पुरोडाश के गुणों के, विधानार्थे = विधान करने के अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी, अतद्गुणाः = आठ अथवा बारह कपाल आदि गुणों का विधान नहीं हो सकता, (तथा) प्रयोगे = याग की प्रकारान्तर विधि में योग्यताविहीन होने के कारण (समर्थ न होने से), अनर्थकाः = अनर्थक अथवा निष्फल, स्युः = हो जाते हैं, वे अष्टाकपाल आदि, हि = क्योंकि, तं प्रति = अन्य याग विधान के प्रति बिना अर्थवाद की मान्यता दिये हुए प्राकृतयाग से उनका सम्बन्ध एवं, अर्थवत्ता = प्रयोजनीयता पूर्ण, न = नहीं, अस्ति = है।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता (२/२/५) काम्य-इष्टियों के प्रकरण के अन्तर्गत प्रजाकाम अथवा पशुकाम वाले याजकों के लिए वैश्ववानर याग का निर्देश मिलता है। इस याग का अनुष्ठान बारह कपालों में पकाये गये पुरोडाशरूप हविर्द्रव्य से करने का विधान है। पुत्ररूप फल के प्राप्त होने पर 'अष्टाकपाल' आदि का वर्णन है। हविर्द्रव्य में भी किसी तरह का अन्तर नहीं रहता, मात्र कपाल संख्या के अन्तर के आधार पर किसी अन्य

प्रकार के याग का विधान करने की सामर्थ्य इन वाक्यों में नहीं रहती। सबसे पहले पाठ किये गये 'वैश्वानरं द्वादश-कपालं निर्वपेत्' वाक्य से बारह कपाल वैश्वानर-प्रधान-यज्ञ का प्रत्यक्षरूप से निर्देश मिलता है। इन उपर्युक्त वाक्यों से जो उपलब्धि होती है, उसमें किसी द्रव्य अथवा देवता आदि के गुणों का प्राप्त होना नहीं पाया जाता। आशय यह है कि इसमें गुणों का विधान नहीं मिलता, जिससे इन्हें गुणविधि माना जाये। अतएव अष्टाकपाल आदि गुणविधि न होकर अर्थवाद ही हैं, ऐसा मानना चाहिए। द्वादश कपाल वैश्वानरयज्ञ की स्तुतिस्वरूप होने से अष्टाकपाल आदि को स्तुति करने वाले अर्थवादी वाक्य ही मानना न्यायोचित है, गुणविधि मानना नहीं॥ १८॥

**शिष्य पुनः आशङ्का करता है कि अष्टाकपाल एवं द्वादश कपाल में जो आठ एवं बारह की संख्या का प्रयोग हुआ है, वह परस्पर भिन्न है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि अष्टाकपाल आदि वाक्य द्वादशकपाल के शेष हैं, उचित नहीं। इसी जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित करते हुए अगला सूत्र दिया है—**

## ( १३९ ) तच्छेषो नोपपद्यते॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तच्छेषः = अष्टाकपाल आदि वाक्य द्वादश कपाल आदि वाक्य का शेष (अर्थवाद) है, (ऐसा) न = नहीं, उपपद्यते = सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** पूर्व प्रसङ्ग में आये हुए वैदिक वाक्य 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' का 'अष्टाकपालो भवति' आदि वाक्य शेष अथवा अर्थवाद है, यह कहना न्यायोचित नहीं; क्योंकि 'द्वादशकपाल' शब्द में विद्यमान बारह की संख्या 'अष्टाकपाल' 'नवकपाल' आदि शब्दों में विद्यमान आठ एवं नौ की संख्या से नितान्त भिन्न है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'अष्टाकपाल' आदि वाक्य 'द्वादशकपाल' आदि के शेष अथवा अर्थवाद हैं? कोई यह कैसे सिद्ध कर सकता है कि अष्टाकपाल वाक्य द्वादश कपाल वाक्य की स्तुति करता है? पूर्व विवेचन में कहा जा चुका है कि द्वादशकपाल एवं अष्टाकपाल आदि शब्दों का अर्थ है बारह एवं आठ कपालों में पकाया अथवा संस्कृत किया गया यज्ञीय-अन्न (पुरोडाश) और यह पुरोडाश हविर्द्रव्य का जिस प्रकार वाचक है, ऐसे ही अष्टाकपाल आदि शब्दों के विषय में भी समझ लेना चाहिए॥ १९॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने शिष्य की आशङ्का का समुचित समाधान किया—**

## ( १४० ) अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** विधानार्थे = विधान करने वाले वाक्य में स्थित द्वादश संख्या में, अविभागात् = अष्ट आदि संख्या का अन्तर्भाव अथवा अविभक्त होने से, स्तुत्यर्थेन = स्तुति के प्रयोजन से किया गया निर्देश, उपपद्येरन् = अष्टाकपाल आदि वाक्यों का कथन सिद्ध हो जायेगा।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् ' विधि वाक्य वैश्वानर याग का विधान बतलाता है और इस वाक्य में प्रयुक्त द्वादशकपाल पद के अन्तर्गत आने वाली बारह की संख्या के अन्दर ही अष्ट आदि संख्या आ जाती है। इस प्रकार द्वादश के भीतर ही विद्यमान होने के कारण अष्टम, नवम आदि संख्या उसका (द्वादश) का अंश है। अतएव अंश के द्वारा अंशी की प्रशंसा करना न तो आश्चर्यजनक है और न ही असम्भव। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टाकपाल आदि वाक्य गुणविधि न होकर अर्थवाद ही हैं॥ २०॥

**उक्त विवेचन पर शिष्य ने पुनः अपनी आशङ्का प्रकट की, उसी को आचार्य ने अगले सूत्र में स्वयं कहा—**

## ( १४१ ) कारणं स्यादिति चेत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** कारणम् = विशिष्ट प्रवृत्ति के निमित्तकारण, स्यात् = हैं, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो यह ठीक नहीं।

**व्याख्या—** 'अष्टाकपाल' एवं 'द्वादशकपाल' की स्तुति करने वाले वाक्य अर्थवाद तो नहीं माने जा सकते;

परन्तु वे क्लिष्ट पवित्रता आदि शुचितास्वरूप फल के कारण अवश्य हैं और यह कारणरूपता क्रिया अथवा अर्थवादरूप गुण हुए बिना असम्भव है, अत: इसे गुणविधि मानना ही उचित है॥ २१॥

**उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए अगले सूत्र में आचार्य ने बताया—**

## (१४२) आनर्थक्यादकारणं कर्त्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** अकारणम् = अष्टाकपाल आदि वाक्य पवित्रता आदि फल के मूल अथवा कारण नहीं, आनर्थक्यात् = क्योंकि उन वाक्यों की अनर्थकता से उसके फल में उनकी प्रयोजनता नहीं है, कर्त्तु:हि = निश्चितरूप से यज्ञ करने वाले यजमान को ही, कारणानि = पवित्रता आदि फल की उपलब्धि से वह यज्ञ करने वाले (कर्त्ता) को उपलब्ध न होने के स्थान पर उससे उत्पन्न पुत्र को मिलते हैं, गुणार्थ: = स्तुतिरूप गुण प्रयोजन हेतु, हि = ही, विधीयते = उनका विधान सम्पन्न होता है।

**व्याख्या—** अष्टाकपाल वाक्य का अर्थ यदि उससे भिन्न मानकर उसमें गुणविधि होना स्वीकार किया जाये, तो उस स्थिति में अनेक इष्टियों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और इस मान्यता से शुभारम्भ एवं समापन की जो एकवाक्यता है, वह नष्ट होगी तथा इससे जो विधान उपलब्ध होता है, वह एक ही इष्टि का है; क्योंकि 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति' से शुभारम्भ होकर 'यद् द्वादशकपालो भवति जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति, तक एक ही इष्टि का उपसंहार किया है। यदि मध्य में पठित अष्टाकपाल आदि वाक्य भी गुणविधि रहे होते, तो इस तरह का समापनरूप उपसंहार ही क्यों होता? अतएव यह मात्र अर्थवाद ही है, इसे गुणविधि नहीं कहा जा सकता॥ २२॥

**अब शिष्य कहता है कि 'यजमान: प्रस्तर:, यजमान एककपाल:' आदि वाक्य संदेहयुक्त हैं, इन्हें क्या माना जाए? अर्थवाद अथवा गुणविधि? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—**

## (१४३) तत्सिद्धि:॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** तत् = प्रस्तर एवं एक कपालरूप संस्कृत पुरोडाश द्वारा, सिद्धि: = यजमान की मनोकामना पूर्ण होती है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार अष्ट कपाल, द्वादश कपाल का एक अवयव अथवा भाग है, उसी तरह से यजमान (कुशमुष्टि) प्रस्तर का अवयव नहीं है, अपितु यजमान उसकी स्तुति करने वाला है। ऐसा कोई नियम या विधि व्यवस्था भी नहीं है कि स्तुति करने वाला मात्र अवयव ही हो और कोई अन्य नहीं। गुणों की सदृशता के आधार पर अन्य की स्तुति अन्य के द्वारा भी की जा सकती है, जिसका दृष्टान्त भी मिलता है- 'सिंहोदेवदत्त:' का सिंह शब्द गुणों की सदृशता के आधार पर ही देवदत्त की स्तुति करता है। देवदत्त में सिंह के समान गुण विद्यमान हैं। इसी तरह 'यजमान: प्रस्तर:' आदि में यज्ञ के साधनादि गुणों के होने से प्रस्तर अथवा कुशमुष्टि आदि का यजमान शब्द स्तुति करता है। अत: यहाँ गुणविधि न होकर अर्थवाद ही है॥ २३॥

**जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि 'आग्नेयो वै ब्राह्मण:' 'ऐन्द्रो वै राजन्य:' 'वैश्वदेवो हि वैश्य:' आदि वाक्य जो संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में पठित हैं, क्या इन्हें गुणविधि माना जाये? आचार्य ने अगले सूत्र में उत्तर दिया—**

## (१४४) जाति:॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** जाति: = जन्म में समानता होने के कारण गुण-विशेष के आधार पर यहाँ ब्राह्मणादि वर्णों को आग्नेय आदि की संज्ञा प्रदान कर उनकी स्तुति की गई है।

**व्याख्या—** 'आग्नेयो वै ब्राह्मण:' आदि सभी वाक्य अर्थवादी हैं। इन वाक्यों में प्रयुक्त आग्नेय आदि पदों से अग्नि एवं उसके गुणों की अभिव्यक्ति की गई है। ये अर्थवादी वाक्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि की स्तुति का

कथन करते हैं। अर्थवाद की मान्यता दिये जाने से यद्यपि यहाँ वाक्य की सार्थकता समाप्त हो जाती है, फिर भी इन्हें गुणविधि की मान्यता देना इसलिए उचित नहीं, क्योंकि अग्नि आदि स्वतन्त्र द्रव्य हैं। अत: अग्नि में ब्राह्मण के गुण उपलब्ध नहीं। अतएव जिस प्रकार यह देवदत्त सिंह है, इस कथन में सिंह के गुणविशेष के सादृश्य के आधार पर देवदत्त को सिंह कहा गया है, वैसे ही उत्पन्न प्रकाशादि गुणविशेष की सदृशता से ब्राह्मण आदि को अग्नि कहकर उनकी स्तुति की है। क्षत्रिय को इन्द्र कहकर स्तुति की गई है तथा वैश्य को विश्वेदेव कहकर उनके समस्त गुणों के कारण ब्राह्मणादि सभी को अग्नि आदि की संज्ञा प्रदान कर उनकी स्तुति किया जाना गुणविधि न होकर अर्थवाद ही है॥ २४॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि 'यजमानो यूप:' 'आदित्यो यूप:' आदि वाक्यों को गुणविधि माना जाये या अर्थवाद ? आचार्य ने समाधान के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया है—**

**( १४५ ) सारूप्यात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** सारूप्यात् = समानरूपता होने के कारण ही यूप को आदित्य एवं यजमान कहकर उसकी स्तुति की गई है।

**व्याख्या—** यज्ञीय पशु को बाँधने के लिए यूप की स्थापना की जाती है और यूप की ऊँचाई एवं पुरुष (यजमान) की ऊँचाई में समानता रहती है, इसी समानता अथवा सारूप्य के आधार पर 'यजमानो यूप:' कहा गया है, जबकि यजमान एवं यूप गुणों में एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार कपड़ा लपेटने एवं घृत चुपड़ने से यूप की तेजस्विता बढ़ जाती है और उसी तेजस्वितारूप गुण की समानता से ही उसे आदित्य कहा गया है- 'आदित्यो यूप:'। अतएव ये स्तुतिस्वरूप अर्थवादी वाक्य हैं॥ २५॥

**अब जिज्ञासु शिष्य यह आशङ्का करता है कि तैत्तिरीय संहिता में पठित 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्य: पशवो गो अश्वा:' एवं 'अयज्ञो वा एष योऽसामा' आदि वाक्यों को अर्थवाद माना जाये अथवा गुणविधि ? आचार्य ने समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १४६ ) प्रशंसा॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रशंसा = गौ एवं अश्व से अन्य अजा एवं महिष आदि सभी अपशु हैं, इस कथन से गाय एवं अश्व की प्रशंसा की गई है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य जो तैत्तिरीय संहिता से उद्धृत किये गये हैं, इनके द्वारा अन्य पशुओं (अजा एवं महिष) की तुलना में गाय एवं घोड़े की स्तुति की गई है। आशय यह है कि अजा एवं महिष आदि पशुओं की निन्दा करके गौ एवं अश्व की प्रशंसा की गई है। अतएव उक्त सभी वाक्य अर्थवाद हैं। 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोऽयम्' वाक्य, छन्दोम नाम वाले स्तोमों से रहित सत्रों का निन्दापरक कथन करके छन्दोम नामक स्तोमों से युक्त सत्रों की स्तुति करने के लिए है। ऐसे ही 'अयज्ञो वा एष योऽसामा' वाक्य साम से रहित यज्ञ की निन्दा करके उसके मुकाबले में साम से युक्त यज्ञ की स्तुति करता है। यहाँ अन्य पशुओं की निन्दा करना यथार्थ तात्पर्य नहीं है, अपितु गो एवं अश्व की स्तुति करना यथार्थ तात्पर्य है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उक्त सभी वाक्य स्तुतिस्वरूप अर्थवाद ही हैं॥ २६॥

**जिज्ञासु शिष्य पुन: आशङ्का करता है कि तैत्तिरीय संहिता ( ५.३.४ ) में पठित 'सृष्टीरुपदधाति' वाक्य गुणविधि है या अर्थवाद ? आचार्य ने समाधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा—**

**( १४७ ) भूमा॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** भूमा = 'सृज्' धातुयुक्त मन्त्रों की बहुलता के कारण उक्त वाक्य, उपर्युक्त प्रकरण में पढ़े गये 'सृज्' धातु से रहित मन्त्रों से भी इष्टिकाओं (ईंटों) के विधान को बतलाता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत वाक्य 'सृष्टीरुपदधाति' में प्रयुक्त सृष्टि शब्द सृष्टि एवं असृष्टि दोनों के लिए व्यवहार में लाया गया है। उक्त प्रसङ्ग में जहाँ अग्नि संचयन क्रिया का प्रकरण चल रहा होता है, वहाँ उनमें सृष्टि पद वाले मन्त्रों का इष्टिका के उपधान में उसका विधि-विधान गुणरूप से उपलब्ध होता है अथवा उनका रूपान्तरण अनुवादरूप में करके सृष्टि एवं असृष्टि दोनों पद वाले मन्त्रों से इष्टिका के उपधान का विधान प्राप्त है; जबकि यहाँ सृष्टि के साथ 'उपदधाति' क्रिया का योग होने के कारण सृष्टि शब्द वाले मन्त्रों की रचना (उपधान) में गुणरूप से उनका विधि-विधान होना उचित तो है, किन्तु यह संगत नहीं होगा। कारण यह कि अग्नि की चयन प्रक्रिया के प्रकरण में पठित होने से वह मन्त्र स्वतः आगत है; क्योंकि उसका विधान करना संभव नहीं। इसलिए मन्त्र के अनुवाद पूर्वक ईंटों के निर्माण का विधि-विधान मानना ही उचित है॥ २७॥

**आचार्य द्वारा गत आशङ्काओं का समाधान कर दिये जाने पर शिष्य ने पुनः अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा- 'प्राणभृत उपदधाति' आदि वाक्यों को क्या माना जाये? अर्थवाद या गुणविधि? समाधान के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (१४८) लिङ्गसमवायात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गसमवायात् = 'प्राण' स्वरूप लिङ्ग के सम्बन्ध से 'प्राण' लिङ्गविहीन मन्त्रों की भी अभिव्यक्ति हो जाया करती है।

**व्याख्या—** प्राणभृत् संज्ञक इष्टकाओं की संख्या पचास कही गई है। शुक्ल यजुर्वेद में तेरहवें अध्याय के अन्तर्गत पाँच कण्डिकाओं में इनके मन्त्रों का पाठ उपलब्ध है। हर एक कण्डिका का विभाग कर उसे दस भागों की दस बार आवृत्ति करके प्रत्येक इष्टका का उपधान एक-एक मन्त्र से किया जाना प्राप्त है। पाँच कण्डिकाओं के दस-दस विभाग करने पर पचास बार की आवृत्ति द्वारा प्राणभृत् नामक पचास इष्टकाओं का निर्माण (उपधान) सम्पन्न किया जाता है। इन पाँचों में से मात्र प्रथम कण्डिका के द्वितीय, तृतीय एवं दशम भाग अथवा मन्त्र में 'प्राण' शब्द का पाठ किये जाने से उनमें ही 'प्राण' लिङ्ग का समवाय है, सैंतालीस। जो शेष रह जाते हैं, उनमें प्राणलिङ्ग का सर्वथा अभाव रहता है। प्रसङ्गागत वाक्यों को यदि ऐसी दशा में गुणविधि की मान्यता दी जाती है, तो 'प्राण' रूप लिङ्ग जितने मन्त्रों में उपलब्ध हैं, इष्टकाओं का उपधान मात्र उन्हीं मन्त्रों के द्वारा सम्पन्न होगा और शेष मन्त्रों की निरर्थकता प्रत्यक्ष हो जायेगी। अतएव 'प्राणभृत उपदधाति' को अर्थवाद मानना ही उचित एवं न्यायसंगत होगा॥ २८॥

**जिज्ञासु शिष्य ने पुनः आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा कि वैदिक वाङ्मय में पठित वाक्य 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' के समापन अथवा उपसंहार में 'तेजो वै घृतम्' घृत का स्तुति करने वाला अर्थवादी वाक्य है। अक्ताः शर्करा का विशेषण है, जिसका अर्थ होगा चिकनी की गई और चिकनाई हेतु घी एवं तेल दोनों का ही प्रयोग होता है। ऐसी स्थिति में जो सन्देह होता है, उसका समाधान क्या है? सूत्रकार ने समाधान करते हुए कहा—**

## (१४९) सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** सन्दिग्धेषु = विहित अर्थों में सन्देह की स्थिति उत्पन्न होने पर, वाक्यशेषात् = वाक्यशेष (उपसंहार) से अर्थ का निश्चित निर्धारण करना चाहिए।

**व्याख्या—** उपक्रम एवं समापन अथवा उपसंहार के बीच में विरोध की स्थिति उत्पन्न होने पर संदिग्ध वाक्यों में वाक्य-शेष से ही सुनिश्चित अर्थ का निर्धारण करना चाहिए। चिकनाईरूप साधन-द्रव्य घृत की प्रशंसा उपसंहार वाक्य द्वारा किये जाने से श्रुति द्वारा बोध कराया गया यह अर्थ प्रत्यक्षतः परिलक्षित होता है कि घृत के द्वारा ही शर्करा में चिकनापन उत्पन्न करना चाहिए। घृत का स्वरूप तेजस्विता से युक्त होता है, घृत से आक्त शर्करा की चयन प्रक्रिया में किया गया उपधान यज्ञकर्त्ता यजमान के अन्दर तेजस्विता स्थापित करता

है। अतएव प्रसङ्गागत 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/५ का यह वाक्य स्तुतिस्वरूप होने के कारण गुणविधि न होकर अर्थवाद ही है॥ २९॥

**जिज्ञासु शिष्य पुनः अपनी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहता है कि 'स्रुवेणाऽवद्यति,' 'स्वधितिनाऽवद्यति' 'हस्तेनाऽवद्यति' आदि वाक्यों में भी सन्देह की स्थिति बनी हुई है- 'स्रुवा से अवदान करता है, छुरी से अवदान करता है' एवं 'हाथ से अवदान करता है'। सन्देह है कि क्या प्रयोजन के अनुरूप विशेष आहवनीय द्रव्य का किसी स्रुवा आदि विशेष साधन से ही अवदान किया जाना चाहिए? सूत्रकार ने समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १५० ) अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थात् = अर्थ अथवा पद की सामर्थ्य से, वा = ही, (द्रव्य के अवदान की) कल्पना = कल्पना करना उचित है, (कारण कि) एकदेशत्वात् = सामर्थ्य अथवा पदबोध्य पदार्थ का एक भाग हुआ करता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का आशय यह है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड में प्रयुक्त पद के अपनी सामर्थ्य के अनुरूप जिस साधन के द्वारा जिस द्रव्य का अवदानरूप कर्म करना सम्भव है, उसकी कल्पना से भी अर्थ का निर्णय किया जा सकता है। कारण यह कि पद का बोध कराने वाली वस्तु की सामर्थ्य उसका एक अङ्ग होता है। प्रसङ्गागत वाक्यों 'स्रुवेण अवद्यति' आदि में स्रुवा आदि साधनों के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कर्म के विषय में अव्यवस्था का कथन करना उचित नहीं। स्रुवा, छुरी एवं हाथ आदि साधनगत सामर्थ्य के अनुरूप जिस साधन के द्वारा हवन करने योग्य, जिस द्रव्य का अवदान सहजरूप से संभव हो, उसके अनुसार ही कर्म का सम्पादन करना चाहिए। यज्ञाग्नि में घृत का सर्वदा उपयोग हुआ करता है और शीतकाल में घी जम (कड़ा हो) जाता है, ऐसी स्थिति में स्रुवा अथवा हाथ से उसका अवदान कठिन होने के कारण वहाँ स्वधिति (छुरी) की बात कही गई है अर्थात् पदार्थ की योग्यता के अनुरूप ही उसके अवदान का निरूपण करना बतलाया है। अतः सामर्थ्यानुसार (योग्यता के अनुरूप) अर्थ का निर्णय कर लेना चाहिए॥ ३०॥
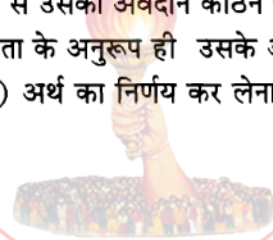


**॥ इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥**

# ॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

**मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय में वेदानुकूल कर्मों को धर्म बतलाकर प्रेरणात्मक धर्म-प्रमाण का निरूपण सम्पन्न किया। आचार्य ने उसके अन्तर्गत विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति आदि तत्त्वपूर्ण निर्णय एवं गुणविधि तथा कर्मनामधेय आदि का सम्यक् विवेचन किया। अब इस द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम धर्म के क्रियात्मक स्वरूप एवं कर्म प्राधान्य एवं अप्राधान्य तथा भेद-अभेद विषयक विवेचन किया जायेगा। द्रव्य अथवा गुण के वाचक संज्ञावाले पद, कर्म के निर्देशक न होकर मात्र आख्यात-पद क्रिया के निर्देशक हुआ करते हैं, आचार्य ने इसे ही स्पष्ट करते हुए इस अध्याय के प्रथम पाद का प्रथम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १५१ ) भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते॥ १॥

**सूत्रार्थ**—भावार्थाः = क्रियात्मक भाव से युक्त अर्थ वाले 'यजेत' 'जुहुयात्' आदि आख्यात पद, कर्मशब्दाः = कर्म का बोध कराने वाले पद हैं, तेभ्यः = उनसे, क्रिया = याग, हवन, दान आदि फल रूप कर्त्तव्य का किया जाना, प्रतीयेत = ऐसे ज्ञान की प्रतीति हो, हि = क्योंकि, एषः = यह, अर्थः = उपर्युक्त कर्मस्वरूप भाव को, विधीयते = धर्म बतलाया है।

**व्याख्या**— पूर्व विवेचनों में प्रसङ्ग वश आये हुए 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्य ज्योतिष्टोम यज्ञ की कामना वाले सकाम मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'यजेत' एवं 'जुहोति' आदि आख्यात सभी पदों के अतिरिक्त जो भी द्रव्य अथवा गुणवाचक पद हैं, उन सभी के अपने जो भी अर्थ हैं, उन सभी के साथ प्रजा-पशु अथवा स्वर्ग की इच्छा रखने वाले सकाम व्यक्ति का सीधा सम्बन्ध न होकर आख्यात-पद बोध्य याग आदि के साथ सीधा सम्बन्ध हुआ करता है। 'यजेत' 'जुहोति' आदि जितने भी आख्यात-पद हैं, उनसे यज्ञादि अनुष्ठान रूप कर्मों का बोध हुआ करता है। सूत्र में प्रयुक्त 'क्रिया' पद यज्ञीय कर्मानुष्ठानों से उद्भूत होने वाले 'अपूर्व' का संकेतक है। 'तेभ्यः क्रिया प्रतीयते' अर्थात् मांगलिक यज्ञीय कर्मानुष्ठानों से उत्पन्न कर्म (अपूर्व) का ज्ञान होता है। आख्यात पद से प्राप्त ज्ञान एवं उसके द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञ का अनुष्ठान ही वह धर्म है, जिससे अपूर्व की उत्पत्ति होती है और वह अपूर्व ही स्वर्ग का प्रदाता है, इसी उद्देश्य से स्वर्गकामी व्यक्ति यज्ञीय कर्मानुष्ठान की दिशा में संपूर्ण प्रयास से लग जाता है। इस प्रकार सर्वत्र विधि वाक्यों में प्राप्त संज्ञा एवं आख्यातान्त पदों के मध्य मात्र आख्यातान्त पद ही धर्म का निरूपण करने वाले हैं॥ १॥

**उपर्युक्त कथन पर जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि याग आदि के सहायक होने के कारण क्या द्रव्य-गुणवाचक पदों को भी अपूर्व का विधायक एवं भावार्थक मानना चाहिए? इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( १५२ ) सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्॥ २॥

**सूत्रार्थ**— सर्वेषाम् = द्रव्यवाचक एवं गुणवाचक समस्त पदों की, भावः = भावोत्पादकता, अर्थः = अर्थ है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो यह उचित नहीं है।

**व्याख्या**— 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' आदि वाक्यों में आये हुए गुणवाचक एवं द्रव्यवाचक समस्त पदों की भावना रूप क्रिया अर्थ है, ऐसा कहना उचित नहीं। शिष्य के कथन का तात्पर्य यह है कि आख्यात-पद यजेत में 'यज्' धात्वर्थ यज्ञ प्रत्यय 'त' से बोध कराये जाने के भावों की अपेक्षा रखता है। 'यजेत अर्थात् यागेन भावयेत्' अर्थात् यज्ञ से उत्पन्न किया जाना चाहिए। भावों की अपेक्षा जैसे धात्वर्थ को रहा करती है, वैसे ही पूर्व प्रसङ्गात-श्येन, दर्श-पूर्णमास, स्वर्गकाम, सोम, चित्रा, पशुकाम, अभिचरन् आदि पदों को भी 'त' प्रत्यय बोधित भावों की अपेक्षा रहा करती है। इस मान्यता के अभाव में तो उन सभी वाक्यों में इन पदों का पाठ किया जाना भी असंगत माना जायेगा। अतएव 'यजेत' की तरह श्येन आदि दूसरे पदों को भी (भाव अर्थ

वाले) अपूर्व का विधान करने वाला माना जाना चाहिए। धात्वर्थ के जैसे ही सोम आदि पद भी अपने व्यावहारिक सार्थकता हेतु भावों की आकांक्षा रखते हैं; क्योंकि इन पदों के प्रयोग बिना न तो कर्मानुष्ठानों का सम्पन्न होना हो सकता है और न ही स्वर्गादि की कामना। अतएव भावाकांक्षा स्वरूप उक्त समानता के होते हुए आख्यात की सीमा रेखा से अन्य पदों को बहिष्कृत कर देना अनुचित ही माना जायेगा॥ २॥

**नाम एवं आख्यात पदों के लक्षणों ( स्वरूप ) का क्रमपूर्वक उपपादन की क्रिया सम्पन्न करते हुए आचार्य अग्रिम दो सूत्रों द्वारा शिष्य की आशङ्का का निराकरण करते हैं—**

## ( १५३ ) येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** स्वे = अपने सोम, श्येन, चित्रा, स्वर्गकाम आदि अर्थ में, प्रयोगे = प्रयोग करने पर, येषाम् = जिन सोमेन आदि पदों का, उत्पत्तौ = उच्चारण रूप अभिव्यक्ति के समय में, रूपोपलब्धिः = अपने अभिधेय रूप अर्थ की प्रत्यक्ष उपलब्धि हो जाती है, तानि = उन सभी पदों को, नामानि = नाम की संज्ञा दी जाती है, तस्मात् = उच्चारण के समय अर्थ (रूप) की उपलब्धि हो जाने से, तेभ्यः = उन सबके लिए, पराकाङ्क्षा = (अपने स्वार्थ-सिद्धि हेतु) अन्य की इच्छा नहीं रहा करती, स्वे प्रयोगे = (क्योंकि) अपने अभिधेय अर्थ के उच्चारण रूप प्रयोग की स्थिति में, भूतत्वात् = अर्थ की सिद्धि बनी रहती है।

**व्याख्या—** सिद्ध एवं साध्य दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं। ऐसे अर्थ जो अपने वाचक पदों की उच्चारण रूप अभिव्यक्ति के समय में उपलब्ध रहते हैं तथा अपनी उपपन्नता (सिद्धि) हेतु किन्हीं अन्य साधनों की अपेक्षा अथवा आवश्यकता अनुभव नहीं करते, वहाँ पर उनके सिद्ध और वाचक पदों की संज्ञा 'नाम' के रूप में जानी जाती है। 'सोम' आदि द्रव्य गुण वाचक शब्द का दृष्टान्त यह है कि - ऐसे अर्थ जो अपने वाचक पदों की अभिव्यक्ति की अवधि में तो अनुपलब्ध रहते हों, परन्तु उच्चारण रूप अभिव्यक्ति के समय के पश्चात् विभिन्न द्रव्यादि साधनों एवं पुरुष के उच्चारण रूप उद्योग (प्रयास) द्वारा उद्भूत हों, उन्हें 'साध्य' तथा उनके वाचक 'आख्यात' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ जुहोति, यजति, ददाति आदि के उच्चारण के समय याग, दान, होम आदि अनुपलब्ध थे, किन्तु पुरुष के उद्योग रूप पुरुषार्थ के अनन्तर उपलब्ध हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में शिष्य ने इस तरह के पदों को आख्यात पदों की सीमा में रखे जाने का जो भाव रखा था, वह आधारहीन एवं अयुक्तिसंगत है॥ ३॥

**विवेचना क्रम की निरन्तरता बनाये रखते हुए सूत्रकार अगले सूत्र से आख्यात पदों का स्वरूप समझाते हैं —**

## ( १५४ ) येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि- तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** येषाम् = जिनकी (पदों की), तु = तो, उत्पत्तौ = अभिव्यक्ति स्वरूप उत्पत्ति की अवधि में, अर्थे स्वे = अपने वाच्यार्थ में, प्रयोगः = प्रयोग, न = नहीं, विद्यते = होता है, (अर्थात् पदों की उच्चारण अवधि में उन पदों का अर्थ अनुपलब्ध रहा करता है), तानि = वे सभी पद, आख्यातानि = आख्यात कहलाते हैं। तस्मात् = इसी से, तेभ्यः = उन सभी आख्यात पदों के द्वारा अपूर्व की, प्रतीयेत = प्रतीति कर ली जाती है; (क्योंकि) प्रयोगस्य = उनके अनुष्ठानादि प्रयोजन रूप प्रयोग का आधार, आश्रितत्वात् = पुरुष के प्रयत्न पर आश्रित होने से।

**व्याख्या—** उच्चारण रूप उत्पत्ति के अवसर पर जिन पदों के अर्थ विद्यमान न हों, परन्तु द्रव्य आदि विभिन्न साधनों के द्वारा तथा पुरुष के उद्योग रूप प्रयत्न के पश्चात् उनके अर्थ की सिद्धि होती हो, ऐसे पदों को आख्यात

कहते हैं। सूत्र का यही सारांश है। पूर्व वर्णित वाक्य में 'यजेत' पद स्वर्ग के अभिलाषी पुरुषों को क्रियानुष्ठान रूप यज्ञों को सम्पन्न कर 'अपूर्व' को उत्पन्न करने की प्रेरणा देता है। 'यागेन भावयेत्' अर्थात् यज्ञ साधन से अपूर्व का निष्पादन, यजेत अर्थ यही है। दूसरी तरफ द्रव्यवाचक एवं अन्य गुणवाचक सोम आदि पदों का अर्थ एवं उसकी सत्ता पुरुष के प्रयत्न पर आश्रित नहीं है। सोम पद का अर्थ पद के अभिव्यक्त होने की अवधि में बना रहता है और उसी के फलस्वरूप सोम पद अपने अर्थ का बोध करा कर आकांक्षा रहित हो जाता है। पुरुष के उद्योग की उसे कोई अपेक्षा नहीं रहती। इसी से आख्यात पद अपूर्व के उपपादक माने गये हैं॥ ४॥

**जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया कि यागादि कर्मानुष्ठानों से भविष्य में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलों का शुभारम्भ क्यों माना गया है? आचार्य ने अगले सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया —**

## ( १५५ ) चोदना पुनरारम्भः॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** चोदना = अपूर्व (उक्त कर्मों की प्रेरणा) वेदों के विधि-विधान में उपलब्ध है, पुनः = जिसके हेतु, आरम्भः = भविष्य में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलों का शुभारम्भ (उपदेश) मिलता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त पुनः पद यतः के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'स्वर्गकामो यजेत' आदि से वेदों में स्वर्ग की कामना करने वालों के लिए याग का विधि-विधान प्राप्त है। जैसे सांसारिक जनों द्वारा किये गये कर्मों का कर्म-फल प्राप्त होता है, वैसे ही यज्ञ-दानादि कर्म जो परमात्मा कृत वेदाज्ञा से सम्पन्न होते हैं, उनसे भविष्य के स्वर्गादि फलों का शुभारम्भ हुआ करता है॥ ५॥

**अब जिज्ञासु की जिज्ञासा यह है कि कर्मजन्य अपूर्व के बोधक भाव पदों के कितने विभाग हैं? यजति, जुहोति, ददाति के अतिरिक्त जो दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति पद हैं इन्हें क्या कहा जाये? समाधान रूप में सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया —**

## ( १५६ ) तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** तानि = आख्यात पदों द्वारा वे यागादि कर्म जो अपूर्व कहलाते हैं- वे, द्वैधम् = दो तरह के हुआ करते हैं, गुणप्रधानभूतानि = गुणभूत एवं प्रधानभूत (गुणभूत को गौण एवं प्रधानभूत को मुख्य कहते हैं)।

**व्याख्या—** आख्यात पद के, जो क्रिया पद भी कहलाते हैं, दो विभाग किये गये हैं— पहला गुणभूत एवं दूसरा प्रधानभूत। जिनके द्वारा गौण कर्मों का निरूपण किया जाता है, वे गुणभूत तथा प्रधान कर्मों का प्रतिपादन करने वाले प्रधान भूत कहलाते हैं। यजति, जुहोति, ददाति आदि प्रधान अथवा मुख्य कर्म के वाचक हैं तथा दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति आदि पद संस्कार-कर्म अथवा गुणभूत के वाचक हैं। ये सभी भाववाचक पद विशेष प्रयोजन वाले हैं। जिस प्रकार मुख्य भाववाचक पदों से स्वर्ग प्राप्ति रूप अपूर्व का ज्ञान होता है, उसी तरह गौण भाववाचक पदों से यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों के संस्कार आदि के द्वारा अंशरूप में अपूर्व का ज्ञान प्राप्त होता है। दोषों से रहित, पवित्र एवं सुसंस्कारित द्रव्य ही यज्ञोपयोगी माना जाता है, ऐसी शास्त्र की व्यवस्था है। मुख्य कर्मों के अवयव भूत होने के कारण ये कर्म तत्सम्बन्धी अपूर्व का ज्ञान कराने वाले तो हुआ करते हैं, किन्तु अपूर्व का प्रत्यक्ष बोध नहीं कराते॥ ६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार प्रधान भूत पदों के लक्षणों का कथन करके शिष्य की आशङ्का का निवारण करते हैं—**

## ( १५७ ) यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** यैः = आख्यात पदों के द्वारा बोधित जिन कर्मों द्वारा, द्रव्यम् = यज्ञाहुति के रूप में उपयोगी चरु, पुरोडाश, घृत आदि द्रव्यों को, चिकीर्ष्यते = सुसंस्कारित स्वरूप में अभीष्ट होता है, न = नहीं है, तानि = वे सभी पद, प्रधानभूतानि = प्रधानभूत कहलाते हैं। (कारण कि याज्ञिक हवन आदि की दृष्टि से) द्रव्यस्य = द्रव्यों के, गुणभूतत्वात् = संस्कारादि कर्मों के गौण होने के कारण।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि कुछ ऐसे आख्यात पद बोध्य कर्म जो न तो द्रव्य को संस्कारित करने वाले हैं और न ही उनके उत्पादक, परन्तु स्वयं ही द्रव्य को उत्पन्न करने वाले साधक हैं, वे कर्म प्रधानभूत कहलाते हैं। उदाहरणार्थ- दान, हवन, यज्ञादि। इन सबका मांगलिक अनुष्ठान प्रत्यक्ष रूप से अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा स्वर्गादि की उपलब्धि का साधन हुआ करता है। प्रधान अथवा मुख्य कर्मों के यही लक्षण हैं॥ ७॥

**आचार्य प्रधानभूत कर्मों का लक्षण बतलाने के उपरान्त अब अगले सूत्र में गुणकर्म का लक्षण बतलाते हैं —**

## ( १५८ ) यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो और, यैः = ऐसे कर्म जो, चिकीर्ष्यते = अभीष्ट संस्कारादि के निमित्त, द्रव्यम् = द्रव्य की अपेक्षा रखते हैं, तत्र = वहाँ उन सभी कर्मों में, गुणाः = गुणकर्म (गौण) की, प्रतीयेत = प्रतीति होती है, ऐसा समझना चाहिए। (कारण कि) तस्य = उन आख्यात पद बोध्य कर्मों का, द्रव्यप्रधानत्वात् = द्रव्य प्रधान होने के कारण द्रव्य का संस्कार ही उन कर्मों का मुख्य लक्षण है।

**व्याख्या—** ऐसे कर्म जो द्रव्य के उत्पादक एवं उसे सुसंस्कारित करने वाले हैं; परन्तु स्वयं द्रव्य साध्य नहीं हैं, उन्हें गुणकर्म अथवा गौण कर्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ- 'व्रीहीन् अवहन्ति' धान कूटता है। आख्यात पद 'अवहन्ति' का अर्थ यहाँ धान कूटने तक ही है, जिसका उद्देश्य है- धान कूटकर चावल एवं तुष (भूसी) को अलग करना। ऐसे ही 'तन्दुलानि पिनष्टि' (अर्थात् चावल पीसता है) में चावल के पीसने पर 'पिनष्टि' क्रिया की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। यही कर्म द्रव्य के संस्कार माने जाते हैं। अपने प्रयोग द्वारा इन पदों के अभीष्ट फल सम्पन्न हो जाने से ये दूसरे किसी फल की उत्पत्ति के लिए नपुंसक सिद्ध होते हैं। ये मात्र मुख्य अथवा प्रधान कर्मों के लिए सुसंस्कारित द्रव्यों को प्रस्तुत कर मात्र उनके उपयोगी भर हैं, अतएव इन्हें गौण कर्म माना जाता है॥ ८॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि 'स्रुचः सम्मार्ष्टि, अग्निं सम्मार्ष्टि, परिधिं सम्मार्ष्टि वाक्य जिनका अर्थ क्रमशः स्रुचों को, अग्नि को, परिधि को सम्मार्जित अथवा साफ करना है; तथा 'पुरोडाशं- पर्यग्निकरोति' अर्थात् पुरोडाश के चारों तरफ अग्नि को परिक्रमा के तुल्य दायें तरफ से लगाकर चारों तरफ घुमाता है। अतएव ये प्रधान कर्म या गौण कर्म पर्यग्निकरण एवं सम्मार्जन किस कर्म के अन्तर्गत आते हैं?**

**समाधान के भाव से आचार्य जिज्ञासा को सूत्रित करते हैं—**

## ( १५९ ) धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, प्रयाजवत् = प्रयाज कर्म की तरह, धर्ममात्रे = स्रुवा आदि का धर्ममात्र सम्मार्जन (झाड़-पोंछ कर रखना) रूप कर्म भी, कर्म = प्रधान कर्म, स्यात् = होने चाहिए, (क्योंकि उनके द्वारा) अनिर्वृतेः = किसी तरह के दृष्ट फल की सृष्टि नहीं पायी जाती।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सभी वाक्य (शिष्य ने जिन्हें संदेह युक्त कहा है) दर्शपूर्णमास यज्ञों के प्रकरण में पठित हैं। स्रुच्, उपभृत एवं ध्रुवा नाम वाले तीनों यज्ञीय उपकरणों को कुश से पूरी तरह साफ (सम्मार्जित) किया जाता है। ऐसे ही अग्नि के ऊपर राख की परत जम जाने पर उसे भी कुशा (घास) द्वारा झाड़ दिया जाता है। परिधियों (ढाक एवं वसाद की समिधा) को भी इसी प्रकार (साफ) सम्मार्जित कर करते हैं। इस सम्मार्जित कर्म में किसी दृष्ट फल की प्रतीति नहीं होती। अतएव सातवें सूत्र में वर्णित विधि-व्यवस्था के अनुसार इन समस्त कर्मों को अपूर्व अथवा अदृष्ट को उत्पन्न करने वाला प्रधान (मुख्य) कर्म ही माना जाये। उदाहरणार्थ- 'प्रयाजान् यजति' में प्रयाज से अपूर्व को उत्पन्न करे तथा स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि में स्रुच् आदि को सम्मार्जित कर उसके द्वारा अपूर्व का उत्पादन करे, यह अर्थ ज्ञात होता है॥ ९॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( १६० ) तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्मः स्यात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** तुल्यश्रुतित्वात् = समानतापूर्वक श्रवण होने से, इतरैः = अवहनन आदि गौण कर्म, सधर्मः = समान धर्म वाले, स्यात् = हैं, वा = पूर्वपक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त है।

**व्याख्या—** पूर्व प्रसङ्ग में प्रयुक्त 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' वाक्य में 'स्रुच्' पद द्वितीया विभक्ति के साथ प्रयोग में आया है। इस प्रकार के वाक्यों (व्रीहीन अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि आदि) में द्वितीया विभक्ति समान रूप से श्रवण की जाती है। द्वितीया विभक्ति कर्मकारक होती है, उपर्युक्त वाक्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय प्राप्त है। पाणिनि व्याकरण के नियमानुसार जो कर्त्ता को परम अभीष्ट हो, उसे ही कर्म की संज्ञा प्राप्त है। धान को कूट कर छिलका अलग करके शुद्ध चावल बनाना ही कर्त्ता को परम अभीष्ट है और इसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग भी प्रत्यक्ष है तथा अवहनन द्वारा धान का संस्कारित स्वरूप ही उसका दृष्ट फल है। जब दृष्ट फल की प्रत्यक्ष अनुभूति होती हो, तो वहाँ अदृष्ट अथवा अपूर्व की कल्पना अति अन्यायपूर्ण होगी। अतएव व्रीहीन अवहन्ति आदि वाक्यों की तरह 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि में भी द्वितीया विभक्ति के समान सुने जाने से उनके जैसे इनको भी प्रधान अथवा मुख्य कर्म नहीं माना जाता॥ १०॥

**इस पर शिष्य ने अपनी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा—द्वितीया विभक्ति का प्रयोग क्या मात्र प्रधान कर्मों में ही होता है? गौण कर्मों में क्यों नहीं? इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने स्वयं सूत्रित किया—**

## ( १६१ ) द्रव्योपदेश इति चेत्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्योपदेशः = 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में द्रव्य की प्रधानता का उपदेश है, इति चेत् = ऐसा माना जाए? (तो यह उचित नहीं)।

**व्याख्या—** प्रधान कर्मों के अतिरिक्त द्वितीया विभक्ति का प्रयोग गौण कर्मों में भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ—'सक्तून जुहोति' अर्थात् अग्नि में सत्तुओं की आहुति देता है। इस वाक्य में सक्तु पद प्रधान न होकर गौण है, कारण कि सक्तु हवन अथवा यज्ञ के लिए है। सक्तु इसी प्रकार 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' 'मारुतान् जुहोति' 'एककपालं जुहोति' आदि वाक्यों में भी द्वितीया विभक्ति परिलक्षित होती है। गौण अथवा गुणभूत पदार्थों में द्वितीया विभक्ति की मान्यता से द्रव्य की अप्रधानता एवं सम्मार्जन कर्म के प्रधानता की प्रतीति होती है, अतएव सम्मार्जन को अदृष्ट अथवा अपूर्व का उत्पादक मान लेना चाहिए॥ ११॥

**आचार्य शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

## ( १६२ ) न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं (गौण कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा कहना ठीक नहीं), तदर्थत्वात् = हवन, यज्ञ आदि के हेतु होने के कारण, लोकवत् = लोक की भाँति (लोक में भी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग परिलक्षित होता है), च = तथा, तस्य = उसके (स्रुच् आदि के), शेषभूतत्वात् = अङ्गभूत होने के कारण (यज्ञीय साधन आज्याहुति आदि हवि को ग्रहण करने में स्रुच् आदि यज्ञीय उपकरण अपेक्षित होते हैं और इसी से वे उसके अङ्ग हैं)।

**व्याख्या—** पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गौण अथवा गुणभूत कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग नहीं होता। अतः यज्ञ में द्रव्य गौण है और इसमें द्वितीया विभक्ति होगी नहीं, तो फिर 'सक्तून जुहोति' में गौण द्रव्य 'सक्तु' के होते द्वितीया विभक्ति कैसे हो सकती है? समाधान यह है — 'सक्तून जुहोति' का अर्थ है — 'सक्तुभिर्हविर्द्रव्यैः होमं भावयेत्' अर्थात् 'सक्तु' नाम वाले हवि द्रव्यों के द्वारा हवन की सिद्धि करनी चाहिए। क्रियापद 'जुहोति' में 'हु' का अर्थ हवन तथा 'ति' का अर्थ भावना समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में यहाँ कर्त्ता को होम अर्थ ही परम अभीष्ट हवन का परम अपेक्षित साधन रूप द्रव्य 'सक्तु' ही है। अतएव सक्तु

गौण एवं होम यहाँ प्रमुख है, किन्तु सक्तुओं के हवन के लिए होने से सक्तु पद के आगे किया गया द्वितीया विभक्ति का प्रयोग औपचारिक अर्थात् गौण ही है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रिया पद बोध्य याग (होम) ही मुख्य है, अन्य उनके साधनभूत सभी द्रव्य गौण हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि देवताओं की स्तुति के साधन स्तोत्र एवं शस्त्र को गुणभूत मानें अथवा प्रधान? सूत्रकार शिष्य की इस जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित करते हैं—**

**( १६३ ) स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधानत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** स्तुतशस्त्रयोः = स्तोत्र एवं शस्त्र ये दोनों, तु = तो, संस्कारः = संस्कार कर्म हैं, याज्यावत् = याज्या ऋचा के समान, (इसी तरह) देवताऽभिधानत्वात् = देवताओं के गुणों का कथन करने के कारण स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों को संस्कार कर्म ही मानना उचित है।

**व्याख्या—** देवताओं के गुणों का वर्णन सामगान द्वारा किये जाने को स्तोत्र कहते हैं तथा यथापठित ऋग्मन्त्रों का पाठ करते हुए देवताओं के गुणों के कथन को शस्त्र कहा जाता है। श्रौत यज्ञों में हवि रूप द्रव्य की आहुति प्रदान करने के लिए दो प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग होता है। जिसमें प्रथम मन्त्र का प्रयोजन मन्त्रोच्चारण पूर्वक अभीष्ट देवता का स्मरण करना तथा दूसरे मन्त्र से उसी अभीष्ट देवता को लक्ष्य करके हविद्रव्य की आहुति देना है। इनमें पहला मन्त्र 'पुरोनुवाक्या' एवं दूसरा 'याज्या' कहलाता है। अतएव जैसे देवताओं का गुणकथन याज्या में याग साधन के रूप में उपकारक है तथा उसे संस्कार कर्म माना जाता है, उसी तरह से स्तोत्र एवं शस्त्र भी हैं; अतः इन्हें भी गुणकर्म अथवा संस्कार कर्म ही कहना चाहिए॥ १३॥

**अगले सूत्र में आचार्य शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हैं—**

**( १६४ ) अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो (यह पूर्वपक्ष की निवृत्ति का संकेतक है), अर्थेन = अर्थ के अनुकूल, अपकृष्येत = अन्यत्र ले जाया जाना चाहिए, देवतानामचोदना = देवता वाचक नामों से युक्त मन्त्रों द्वारा किये जाने वाले स्तवन एवं शंसन के इस विधान को, अर्थस्य = स्तवन तथा संशनरूप क्रियाओं का, गुणभूतत्वात् = देवताओं के प्रति गुणभूत (गौण) होने के कारण।

**व्याख्या—** सोम यज्ञों के अनुष्ठान में महेन्द्र देवता को लक्ष्य करके किये जाने वाले माहेन्द्र ग्रहयाग के सान्निध्य में 'इन्द्र प्रगाथ' का पाठ उपलब्ध है। इसमें इन्द्र की स्तुति के मन्त्र हैं तथा 'इन्द्र प्रगाथ' का अर्थ भी यही है। ऋग्वेद ६/३२/२२,२३ के इन मन्त्रों से जब सामगान के रूप में देवता इन्द्र की स्तुति की जाती है, तब इसे स्तोत्र तथा जब यथा पठित मन्त्रों से पाठपूर्वक देवता की प्रशंसा की जाती है, तब उसे शस्त्र कहते हैं। देवता के स्तवन रूप ये स्तोत्र तथा शस्त्र अपूर्व के उत्पादक स्वतन्त्र कर्म हैं, ऐसा मानना चाहिए। इन्हें संस्कार कर्म कहना सर्वथा दोषपूर्ण ही है॥ १४॥

**शिष्य पुनः आशङ्का करता है, जिसे सूत्रकार अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित कर रहे हैं—**

**( १६५ ) वशावद्वा गुणार्थं स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वशावत् = वशा की तरह, (ऐन्द्रप्रगाथ) वा = निश्चय ही, गुणार्थम् = देवताओं के गुणों का निर्देश करने के लिए, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'वशा' दूध एवं ऊन देने वाली भेंड़ अथवा दुधारू बकरी को कहते हैं। पूर्व प्रसङ्ग में आये हुए ऐन्द्रस्तोत्र-शस्त्र को अपकर्षण करके अन्यत्र ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि महेन्द्र एवं इन्द्र दोनों से एक ही देवता का बोध होता है। 'महेन्द्र' पद महत्त्व गुणों से युक्त इन्द्र का बोध कराता है; जबकि 'इन्द्र' पद महत्त्व गुण से हीन इन्द्र का कथन करता है; पर शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में

आता है, जब गुणोपदेश से हीन पद भी गुणयुक्त अर्थ के उपदेश हेतु प्रयोग किये जाते हैं। उदाहरणार्थ- तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/६/८ एवं यजुर्वेद २१/४१ वाक्य ('छागस्य वपायामेदसोऽनुब्रूहि') अर्थात् 'छाग की वपा एवं मेद के लिए कहो' में 'छाग' पद जातिवाचक है, जो पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग सबका बोध कराता है। यह 'छाग' पद यहाँ छागी का वाचक है। कहा गया है-'सा वा एष सर्व देवत्या यदजा वशा' अर्थात् वह वशा (वन्ध्या बकरी) समस्त देवताओं वाली है। छागी वाचक छाग पद मूल रूप में गुणहीनता की स्थिति में प्रयोग होने पर भी बाँझपने के गुण से युक्त अजा (बकरी) का उपदेश करता है। ऐसे ही ऐन्द्र प्रगाथ का 'ऐन्द्र' पद गुणों से हीन होते हुए भी गुणयुक्त इन्द्र अर्थात् महेन्द्र का बोध करायेगा, अतएव इन्द्र से सम्बन्धित इस स्तोत्र एवं शस्त्र को संस्कार कर्म मानना ही उचित होगा॥ १५॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया है—**

## (१६६) न श्रुतिसमवायित्वात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** न = यह कथन उचित नहीं, (क्योंकि उनमें) श्रुतिसमवायित्वात् = 'महेन्द्र' पद का श्रुति के साथ समवाय होने के कारण।

**व्याख्या—** पूर्व विवेचन में जो यह कहा गया कि 'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कार कर्म की मान्यता देने पर उसको अन्यत्र ले जाना अर्थात् अपकर्षण करना अनपेक्षित होगा, तो ऐसा कहना उचित नहीं। स्तोत्र, शस्त्र आदि मन्त्रों में इन्द्र पद का पाठ सुनने में आता है, न कि महेन्द्र। इसके साथ-साथ उसमें इन्द्र पद से तद्धित 'अण्' प्रत्यय 'साऽस्य देवता' (४/२/२४) पाणिनि व्याकरण के नियमानुसार 'इन्द्रो देवता अस्य प्रगाथस्य, इति ऐन्द्रः प्रगाथः' इस वाक्य में तद्धित प्रत्यय की प्रकृति 'इन्द्र' है। प्रत्यय की प्रकृति यह होती है कि वह जिस प्रकृति के सम्मुख होता है, उससे संयुक्त होकर वह उसी का ज्ञान कराता है, न कि किसी अन्य का। 'माहेन्द्र' पद से जो 'अण' प्रत्यय किया गया है, उसकी प्रकृति महेन्द्र तथा प्रकृति एकदेश इन्द्र है। अतएव वहाँ इन्द्र का सम्बन्ध है, महेन्द्र का नहीं। फलस्वरूप यह स्पष्ट होता है कि 'इन्द्र' 'महेन्द्र' से भिन्न देवता हैं, तो जिस यज्ञ में इन्द्र देवता की अनिवार्यता है, वहाँ ऐन्द्र प्रगाथ का अपकर्ष आवश्यक रूप से होना चाहिए। इसमें प्रस्थान एवं सन्निधि दोष की अभिव्यक्ति की जा चुकी है। अतएव स्तोत्र, शस्त्र कर्म को प्रधान कर्म ही मानना उचित है, संस्कार कर्म मानना नहीं॥ १६॥

**अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य हेतु देते हुए 'इन्द्र' एवं महेन्द्र देवता के भिन्न स्वरूप का निरूपण करते हैं—**

## (१६७) व्यपदेशभेदाच्च॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** व्यपदेशभेदात् = नाम मात्र के निर्देश अथवा व्यपदेश के भेद से, च = भी 'इन्द्र' 'महेन्द्र' से भिन्न देवता हैं; ऐसा बोध होता है।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास प्रकरण में भिन्न-भिन्न कथनों द्वारा दोनों की भिन्नता का अन्तर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। उसमें पठित 'बहुदुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः' एवं 'बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः' इन वाक्यों का उच्चारण गो-दोहन के अनन्तर किया जाता है। इन दोनों प्रयोगों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र एवं महेन्द्र में भिन्नता है॥ १७॥

**उक्त विवेचना की पुष्टि में आचार्य और भी हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

## (१६८) गुणश्चानर्थकः स्यात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा (इन्द्र एवं महेन्द्र को एक ही मानने पर), गुणः = महत्त्व रूपी गुण, अनर्थकः = निरर्थक-व्यर्थ, स्यात् = हो जायेगा।

**व्याख्या—** वैदिक वाक्यों द्वारा जब यह जान लिया जाता है कि इस यज्ञीय अनुष्ठान का अभीष्ट देवता 'इन्द्र'

है, हवि रूप आहुति उन्हें ही अर्पित करनी है; ऐसी स्थिति में (इन्द्र एवं महेन्द्र को एक मानने) जहाँ अभीष्ट देवता महेन्द्र हैं, वहाँ इन्द्र को ही महेन्द्र की हवि प्राप्त होगी, जिससे इन्द्र के महत् गुण की अभिव्यक्ति निरर्थक सिद्ध होगी। वैसे भी जो विशेषण अपने विशेष्य को अन्य से संयुक्त न करे, वह विशेषण बिना प्रयोजन वाला हुआ करता है। 'महान' विशेषण है एवं 'इन्द्र' विशेष्य। अतएव यह स्पष्ट है कि इन्द्र एवं महेन्द्र पृथक्-पृथक् देवता हैं॥ १८॥

**इसी प्रसङ्ग में भिन्नता के पक्ष में और भी हेतु आचार्य द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (१६९) तथा याज्यापुरोरुचोः॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही (इन्द्र एवं महेन्द्र दोनों को अभिन्न मानने पर), याज्या पुरोरुचोः = याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या द्वारा की गई दोनों की भेदपूर्वक अभिव्यक्ति व्यर्थ ही होगी।

**व्याख्या—** इन्द्र की याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या एवं महेन्द्र की याज्या और पुरोऽनुवाक्या के भेद के कारण से भी इन देवताओं की पारस्परिक भिन्नता का प्रमाण मिलता है। इन्द्र की पुरोऽनुवाक्या ऋग्वेद १/८/१ की 'एन्द्र सानसिं रयिम्' मन्त्र रूप ऋचा है और याज्या 'प्र ससाहिषे पुरुहूत शत्रून्' ऋचा भी ऋग्वेद १०/१८०/१ की है; जबकि महेन्द्र की याज्या 'भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्' ऋग्वेद १०/५०/४ एवं पुरोऽनुवाक्या 'महाँइन्द्रो य ओजसा' भी ऋग्वेद ८/६/१ की ऋचा है। इनके द्वारा इन्द्र एवं महेन्द्र की भिन्नता प्रत्यक्ष है। अतएव ऐसी स्थिति में यदि दोनों को एक माना जाता है, तो याज्या एवं पुरोऽनुवाक्या में विकल्प की प्राप्ति होगी और तब किसी एक का (याज्या एवं पुरोऽनुवाक्या का) बाध मानना पड़ेगा, जो शास्त्र के प्रतिकूल होगा॥ १९॥

**सूत्र १५ में प्रसङ्गात् 'वशावत्' दृष्टान्त का समाधान सूत्रकार अग्रिम सूत्र में करते हैं—**

## (१७०) वशायामर्थसमवायात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** वशायाम् = मन्त्र में पढ़ा गया 'छाग' शब्द का प्रयोग जो बकरी या भेड़ के अर्थ में हुआ है, अर्थसमवायात् = अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध होने से वह युक्त है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार वशा गुण विशिष्टता से युक्त अजा का निरूपण करके 'एष छागः' इस मन्त्र में मात्र अजावाचक 'छाग' पद से विधान किया गया है, वैसे ही महत् विशिष्ट गुण वाले इन्द्र का प्रतिपादन करके 'अभित्वाशूर नो नुमः' इस मन्त्र में मात्र इन्द्र पद से विधान किया गया है, पूर्व में कथित यह दृष्टान्त उचित नहीं। कारण कि 'छाग' पद वशा युक्त अजा विशेष का अनुसरण करता है न कि केवल अजा का अनुगमन; किन्तु 'इन्द्र' पद माहात्म्य विशेष से युक्त 'इन्द्र' का अनुगमन करने वाला न होकर मात्र इन्द्र का ही अनुगामी है। अतएव इन कारणों से वशा विशिष्ट अजा का विधान करके उसका निरूपण इन्द्र पद से करना संभव नहीं; क्योंकि इन्द्र अपने में पूर्ण देवता है तथा उसे हवि रूप आहुति के लिए किसी दूसरे विशेषणों की अपेक्षा नहीं रहा करती। ऐसी स्थिति में 'ऐन्द्रप्रगाथ' को यदि संस्कार कर्म की मान्यता दी जाती है, तो इन्द्र देवता विषयक कर्म में उसका अपकर्षण आवश्यक होगा, जिससे दोष की उत्पत्ति होगी। अतएव स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानना ही सर्वथा उचित एवं न्यायसंगत होगा॥ २०॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि 'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कार कर्म की मान्यता देने पर यदि प्रयोजन पूर्ति हेतु उसका अपकर्षण करना पड़े, तो क्या वह अनुचित होगा? इसी जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—**

## (१७१) यच्चेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का के प्रकारान्तर का द्योतक है, जो यह संकेत करता है कि 'ऐन्द्र प्रगाथ' प्रधान कर्म नहीं है, यच्चेति = और पूर्व का कथन कि संस्कार कर्म की मान्यता दिये जाने पर ऐन्द्र प्रगाथ का अपकर्ष हो जाये, अर्थवत्त्वात् =अर्थपूर्ण होने के कारण वह, स्यात् = हो जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि इन्द्र सम्बन्धित स्तोत्र-शस्त्र (ऐन्द्र प्रगाथ) को संस्कार कर्म की मान्यता दिये जाने पर इन्द्र देवता का लक्ष्य कर सम्पन्न किये जाने वाले कर्म के प्रसङ्ग में अर्थात् ऐन्द्र प्रगाथ की अर्थवत्ता जहाँ पूर्ण होती हो, वहाँ यदि उनका स्थान परिवर्तन होता हो, तो उसमें प्रयोजन सहित होने के कारण कोई हानि नहीं मानना चाहिए। इन्द्र देवता को लक्ष्य करके जहाँ कर्मों का विधान किया गया है, उस लिङ्ग के आधार पर स्तोत्र-शस्त्र (ऐन्द्र प्रगाथ) अपनी क्रम व्यवस्था एवं सान्निध्य का त्याग कर उस स्थल पर लाया जाता है, तब वहाँ शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता। अतएव 'ऐन्द्र प्रगाथ' को गुणकर्म मानने में कोई हानि नहीं है॥ २१॥

**सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १७२ ) न त्वाम्नातेषु॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो यह पद 'ऐन्द्र प्रगाथ' के अपकर्षण का बाधक है। आम्नातेषु = प्रत्यक्ष रूप से पठित क्रियाओं में जहाँ कोई अन्य उद्देश्य, न = नहीं रहा करता, वहाँ अपकर्ष असम्भव है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त विधि से यदि सभी जगह अपकर्ष की मान्यता स्वीकार की जाती है, तो इस तरह के अनेकों स्थानों में उसकी निरर्थकता भी सिद्ध होगी, कारण कि वहाँ (अपकर्ष का) उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। अतएव जिस स्थल पर उन मन्त्रों का पाठ होता है, वहाँ पर वे परमात्म देवता की स्तोत्र द्वारा स्तुति एवं शस्त्र द्वारा प्रशंसा करके अपूर्व के उत्पादक होने के कारण प्रधान कर्म होते हैं, ऐसा मानना ही उचित है। शाबर भाष्य में यम देवता से सम्बन्धित कुछ मन्त्रों में स्पष्ट निर्देश मिलता है, जिनके द्वारा स्तोत्र एवं शस्त्र का प्रधान कर्म होना प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ- 'याम्या: शंसति, शिपिविष्टिवती: शंसति, पितृदेवत्या: शसंति, आग्निमारुतं शंसति अर्थात् यम देवता वाले मन्त्रों का पाठ करता है, पितृ देवता वाले मन्त्रों का पाठ करता है, अग्नि एवं मरुत् देवता वाले मन्त्रों का पाठ करता है। ये सभी प्रसङ्ग यदि मात्र देवता का ही प्रस्तुतीकरण करते हैं, तो इनका अपकर्षण (स्थानान्तरण) उस देवता के उद्देश्य से जहाँ उनसे सम्बन्धित कर्मों का विधान हो, उन प्रसङ्गों में होना चाहिए, किन्तु ऐसा असम्भव होने से इनका स्थानान्तरण अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि इन सभी मन्त्रों का किन्हीं अन्य स्थलों पर उपयोग नहीं होता, अत: इस तरह के स्तोत्र एवं शस्त्र को उनके उसी स्थान में जहाँ उनकी उपयोगिता हो, प्रधान कर्म मान लेना चाहिए। ऐसे ही 'ऐन्द्र प्रगाथ' का स्थानान्तरण भी सर्वथा अनुचित है, वह भी प्रधान कर्म ही है॥ २२॥

**अन्यत्र उपयोगी न होने के कथन पर शिष्य द्वारा की गई आपत्ति को आचार्य ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( १७३ ) दृश्यते॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** दृश्यते = याम्यादि मन्त्रों की उपयोगिता एवं उनके प्रसङ्ग अन्यत्र भी देखने को मिलते हैं।

**व्याख्या—** इन्द्र देवता से सम्बन्धित यज्ञ-यागादि में जैसे 'ऐन्द्र प्रगाथ' मन्त्रों का स्थानान्तरण प्रयोजन युक्त है, वैसे ही उन-उन देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञों में याम्यादि मन्त्रों का स्थानान्तरण भी सप्रयोजन है। अतएव स्तोत्र-शस्त्र को गुण कर्म मानना ही न्यायोचित है॥ २३॥

**अगले सूत्र में आचार्य शिष्य की जिज्ञासा का समुचित समाधान इक्कीसवें सूत्र की आशङ्का को भी ध्यान में रखकर कर रहे हैं—**

## ( १७४ ) अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौति शंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी, श्रुतिसंयोगात् = श्रुति संयोग से (श्रूयमाण सप्तमी विभक्ति के संयोग के कारण) अतएव, प्रकरणे = माहेन्द्र ग्रह के प्रकरण में पढ़े जाने वाले, स्तौति शंसती = स्तौति तथा शंसति धात्वर्थ के आधार पर, क्रियोत्पत्तिम् = क्रिया स्वरूप अदृष्ट की उत्पत्ति का, विदध्यातम् = विधान बतलाते हैं।

**व्याख्या**— 'ऐन्द्र प्रगाथ' (स्तोत्र-शस्त्र) का प्रधान अर्थ देवताओं की स्तुति करना है, स्वरूप का अभिधान करना गौण अर्थ के अन्तर्गत आता है। प्रधान अर्थ गौण अर्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। जहाँ पर प्रधान अर्थ की उपलब्धता हो, वहाँ गौण अर्थ के ग्रहण का कोई औचित्य नहीं बनता। 'स्तौति' धात्वर्थ का आधार लेने पर भी देवता का नाम स्तवन के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। अतएव धात्वर्थ की प्रधानता से स्तुति-प्रशंसा ही प्रधान कर्म है, देवताओं का प्रस्तुतीकरण करने वाले संस्कार कर्म नहीं। गौण अर्थ को मान्यता दिये जाने से एक तो प्रकरण विच्छेद होगा, दूसरे अन्य मन्त्रों का स्थानान्तरण भी स्वीकार करना पड़ेगा और उसे जब स्तुति रूप प्रधान कर्म माना जाता है, तब किसी तरह का दोष उपस्थित नहीं होता॥ २४॥

**स्तुति-प्रशंसा के मुख्य कर्म होने में हेतु प्रस्तुत करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र दिया—**

## ( १७५ ) शब्दपृथक्त्वाच्च॥ २५॥

**सूत्रार्थ**— च = और, शब्द पृथक्त्वात् = स्तोत्र एवं शस्त्र शब्दों में भिन्नता का बोध होने से भी।

**व्याख्या**— अग्निष्टोम यज्ञों में शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है कि स्तोत्र एवं शस्त्र की संख्या बारह-बारह नियत की गई है। इनको प्रधान कर्म न मानने की स्थिति में बारह संख्या का नियत होना असम्भव होगा। कारण यह कि स्तोत्र एवं शस्त्र को संस्कार कर्म की मान्यता दिये जाने से इनकी अर्थवत्ता देवताओं के प्रकाशन तक सीमित हो जायेगी, जिसके फलस्वरूप देवताओं की स्तुति एवं प्रशंसा दो न होकर एक ही मानी जायेगी। स्तोत्र एवं शस्त्र की संख्या का नियतत्त्व उसे प्रधान कर्म स्वीकार करने पर ही होता है, इसी आधार पर यह कहा गया है कि तीन ऋचाओं का साम एक 'स्तोत्र' तथा ऐसे ही यथा पठित तीन ऋचाओं का एक 'शस्त्र' माना जाता है। ऐसा न मानने की स्थिति में भेद का आश्रय लेने पर तो हर एक ऋचा स्तुति-प्रशंसा के रूप में गिनी जायेगी, जिससे बारह की नियत संख्या का होना नहीं हो सकेगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१/२/२) में स्तोत्र-शस्त्र बारह की संख्या में नियत हैं, ऐसा कहा गया है, जिससे इनका प्रधान कर्म होना प्रमाणित होता है॥ २५॥

**स्तुति-प्रशंसा ( स्तोत्र-शस्त्र ) प्रधान कर्म हैं, इसी को प्रमाणित करने हेतु सूत्रकार ने और भी कारण बताया—**

## ( १७६ ) अनर्थकञ्च तद्वचनम्॥ २६॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा (स्तुति एवं प्रशंसा दोनों का एक फल होता है, ऐसा मानने पर), तद्वचनम् = दोनों का निरूपण रूप कथन, अनर्थकम् = निरर्थक माना जायेगा।

**व्याख्या**— स्तोत्र-शस्त्र दोनों से यदि एक ही विधि-विधान से दोनों का लाभ प्राप्त हो जाये, तब तो अग्निष्टोम यज्ञ में दोनों का विधान जो अलग-अलग मन्त्रों द्वारा किया गया है, वह निरर्थक माना जायेगा। ऐसी स्थिति में वहाँ 'आग्नेयीषु स्तुवन्ति' 'आग्नेयीषु शंसन्ति' स्तुति-प्रशंसा के इस विलक्षण विधान की प्रक्रिया ही प्रयोजनहीन हो जायेगी, जिस प्रक्रिया द्वारा स्तोत्र-शस्त्र का प्रधान कर्म होना सिद्ध होता है। अतएव यह सुनिश्चित होता है कि उपर्युक्त विधि-विधान की सफलता व सार्थकता स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानने पर ही है॥ २६॥

**इसी कथन को सिद्ध करने में आचार्य अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७७ ) अन्यश्चार्थः प्रतीयते॥ २७॥

**सूत्रार्थ**— च = और स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानने से, अन्यः = दूसरे (स्तोत्र जन्य कर्म से भिन्न), अर्थः = शस्त्र से उत्पन्न फल की, प्रतीयते = प्रतीति होती है।

**व्याख्या**— स्तोत्र एवं शस्त्र भिन्न-भिन्न फल वाले हैं, यह ज्ञान शास्त्र द्वारा हुआ करता है। 'सम्बद्धे वै स्तोत्रं च शस्त्रं च' मैत्रायणी संहिता (४/८/७) का यह वाक्य दोनों की भिन्नता स्पष्ट करता है; क्योंकि सम्बद्ध कथन करने की भावनाओं की प्राथमिक आधारशिला इन दोनों की पारस्परिक भिन्नता है। दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में ही सम्बन्ध की सम्भावना पायी जाती है, इसी कारण स्तोत्र एवं शस्त्र भिन्न-भिन्न अदृष्ट की उत्पत्ति किया

करते हैं। 'स्तुतमनुशंसति' विधि वाक्य में स्तोत्र के पश्चात् शंसति का कथन भी दोनों की भिन्नता का कथन करता है। इस तरह ज्ञात हुआ कि स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों पृथक् एवं स्वतन्त्र कर्म होने से प्रधान कर्म हैं, ऐसा प्रमाणित होता है॥ २७॥

**और भी हेतु उक्त प्रसङ्ग में सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( १७८ ) अभिधानं च कर्मवत्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और , अभिधानम् = स्तोत्र-शस्त्र के विधान का कथन भी, कर्मवत् = प्रधान कर्म के समान ही शास्त्र में उपलब्ध है।

**व्याख्या—** शास्त्रों में स्तोत्र-शस्त्र के विधि-विधान का कथन भी प्रधान कर्म के समान ही दृष्टिगत होता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'सन्ध्याम् उपासति' 'समिधो यजति' अग्निहोत्र यागादि प्रधान कर्मों का द्वितीया विभक्ति के साथ जैसे निर्देश प्राप्त हैं,उसी प्रकार स्तोत्र-शस्त्र का भी निर्देश शास्त्र में मिलता है। उदाहरणार्थ-(स्तोत्र) 'पृष्ठानि उपयन्ति'। शस्त्र का-प्रउगं शंसति, 'निष्केवल्यं शंसति'। यहाँ 'पृष्ठ' संज्ञक स्तोत्र तथा 'प्रउग' तथा 'निष्केवल्य' संज्ञक शस्त्र का द्वितीयान्त निर्देश है। इससे भी स्तोत्र-शस्त्र का प्रधान कर्म होना सिद्ध होता है॥ २८॥

**सूत्रकार इसी की सिद्धि में एक और हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १७९ ) फलनिर्वृत्तिश्च॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—**च =और स्तोत्र-शस्त्र का प्रधान कर्म होना, फलनिर्वृत्तिः = फल की सिद्धि से भी प्रमाणित होता है।

**व्याख्या—** 'एष वै स्तुतशस्त्रयोर्दोह:' अर्थात् निश्चय ही यह स्तोत्र-शस्त्र के कर्म का फल है। शास्त्र में उपलब्ध यह वाक्य स्तोत्र एवं शस्त्र के नाम द्वारा अदृष्ट के उत्पादन रूप फल की प्रामाणिकता का उपदेशक है। शास्त्रों में उपलब्ध उक्त वाक्य से इस बात की पुष्टि होती है कि स्तोत्र एवं शस्त्र प्रधान कर्म हैं। देवता की संज्ञा द्वारा फल का उपदेश यहाँ प्राप्त नहीं है। ऐसा तभी होता है, जब देवता के गुणों की अभिव्यक्ति द्वारा उनको देवता का स्मरण कराने वाला ही मान्य होता है॥ २९॥

**उपर्युक्त प्रसङ्ग की पूर्णता के अनन्तर शिष्य ने जो जिज्ञासा प्रकट की, उसे अगले सूत्र में सूत्रकार ने स्वयं सूत्रित किया—**

**( १८० ) विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** विधिमन्त्रयो: = विधि का विधान करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ तथा मन्त्रों में पढ़े जाने वाले क्रियापदों की, ऐकार्थ्यम् = एकार्थता (समान अर्थ का होना), एक शब्द्यात् = दोनों स्थलों पर शाब्दिक समानता के कारण होती है।

**व्याख्या—** वेदों के अन्तर्गत आने वाला यह मन्त्र ऋग्वेद (६/२८/३) का है— न ता नशन्ति दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवाँश्च याभिर्यजति ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ गो विषयक इस सूक्त का देवता गाय है। इसका अर्थ है-वे गायें नष्ट नहीं होतीं, तस्कर उनको पीड़ा नहीं देता, शत्रु उन पर आक्रमण नहीं करता, देवताओं के प्रयोजनार्थ जिनके घृत एवं दूध से यज्ञ एवं दान कर्म सम्पन्न किया जाता है, गो स्वामी उनके साथ लम्बे समय तक रहे, गोपति उन गायों का वियोग कभी भी अनुभव न करे। यजति एवं ददाति आख्यात पदों का इस मन्त्र में मात्र इतना ही प्रयोजन है कि यजन एवं दान कर्म अभीष्ट हैं, अतएव इन्हें सम्पन्न करते रहना चाहिए। जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका प्रयोजन द्रव्य, देवता, अनुष्ठानादि मांगलिक कर्म एवं सम्पूर्ण विधि-विधान की अभीष्टता है। यह उचित नहीं, प्रयोजनों में सर्वत्र समानता होनी चाहिए अर्थात् मन्त्रों में भी आख्यात पदों को विधि का विधान कर्त्ता स्वीकार किया जाना चाहिए॥ ३०॥

**शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—**

## (१८१) अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, प्रयोगसामर्थ्यात् = प्रयोग के सामर्थ्य से, मन्त्रः = मन्त्रों में प्रयुक्त आख्यात पद, अभिधानवाची = क्रियमाण (धात्वर्थ वाले) यज्ञ, दानादि कर्मों का मात्र बोधक, स्यात् = हुआ करता है (जिसमें उसकी सफलता भी सन्निहित है)।

**व्याख्या—** दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किये गये मन्त्र में 'यजति' 'ददाति' आदि आख्यात पदों का प्रयोजन अथवा फल मात्र इतना ही है कि गाय के घी एवं दूध के द्वारा यज्ञानुष्ठानों का सम्पादन करना चाहिए तथा गोदान का मांगलिक कर्म भी करते रहना चाहिए। यजति एवं ददाति आदि आख्यात पदों से जिनका प्रयोग ब्राह्मण भाग में किया गया है, यदि इनसे मात्र इतनी ही अर्थ सिद्धि होती है, तो उन्हें फलहीन ही मानना चाहिए। कारण कि उनकी अभिव्यक्ति तो मन्त्रगत पदों द्वारा की जा चुकी है, अतएव वहाँ पर आख्यात पदों को यज्ञ-दानादि का विधान करने वाला माना जाता है अर्थात् वे आख्यात पद धात्वर्थ मात्र की अभिव्यक्ति न करके यज्ञ से सम्बन्धित 'द्रव्य', देवता एवं क्रिया सभी के विधि-विधान की अभिव्यक्ति करते हैं। मन्त्र तो मात्र क्रिया की उपादेयता का कथन करते हैं, परन्तु ब्राह्मण उसके विधि-विधान को बतलाते हैं, इसी से मन्त्र को अभिधायक की मान्यता दी गई है॥ ३१॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि मन्त्र के लक्षण क्या हैं? अगले सूत्र में आचार्य ने उत्तर दिया—**

## (१८२) तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** तच्चोदकेषु = कर्म की उपादेयता के प्रेरक (अग्निहोत्र कर्म के विधायक) एवं सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वेद वाक्यों को, मन्त्राख्या = (लोक व्यवहार में) मन्त्र के नाम से जाना जाता है।

**व्याख्या—** मन्त्र को अभिधायक अथवा अभिधान वाची कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र से कर्म की सार्थकता का कथन किया जाता है। ऐसे वाक्य जो कर्म की उपादेयता एवं अनुपादेयता का बोध कराते हैं, मन्त्र के नाम से जाने जाते हैं। वेद वाक्यों में कर्मों का विधि-विधान एवं सिद्ध अर्थ का अभिधान मिलता है और इन दोनों को मन्त्र के नाम से जाना जाता है। पूर्व में विधि एवं मन्त्र दोनों के ही विभाग की अभिव्यक्ति करते थे। मन्त्रों के अतिरिक्त किसी दूसरे विधान करने वाले वाक्यों को विधि नहीं कहा है, जिससे ब्राह्मण को मन्त्र मानने वालों की मान्यता खण्डित हो जाती है। यदि ऐसी स्थिति न होती, तो सूत्र का स्वरूप 'तदभिधायकेषु मंत्राख्या' होता, अतएव मन्त्रों के ग्रहण में ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण न होकर संहिता का ग्रहण होता है, यही मानना चाहिए॥ ३२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ब्राह्मण की व्याख्या करते हुए उसके लक्षणों का कथन करते हैं—**

## (१८३) शेषे ब्राह्मणशब्दः॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** शेषे = वेदों (आम्नाय) का वह भाग जो मन्त्रों के अतिरिक्त शेष रहता है, ब्राह्मणशब्दः = ब्राह्मण पद है, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञादि अनुष्ठानिक प्रक्रिया की सम्पन्नता में जो ग्रन्थ व्यवहार में लाये जाते हैं, मीमांसाकार ने उन्हें (१/२/१) 'आम्नाय' पद बताया है। 'श्रुतिस्तु वेद आम्नाय' अर्थात् श्रुति, वेद एवं आम्नाय समानार्थक हैं। वैदिक साहित्य में वेद शब्द का व्यावहारिक प्रयोग पूर्णतः पारिभाषिक है, जिस प्रकार पाणिनि के अष्टाध्यायी में वृद्धि एवं गुण। अतएव 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आदि का क्षेत्र मात्र यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों की व्यावहारिकता तक ही सीमित है। इस व्यावहारिकता का प्रयोगात्मक स्वरूप यदि और कहीं दिखे, तो उसे

नितान्त औपचारिक ही जानना चाहिए। इस प्रसङ्ग में मन्त्र तथा ब्राह्मण के भेद को स्पष्ट करने के लिए आख्यात पदों के प्रयोग को प्रमुख आधार माना है। आख्यात पद धात्वर्थ मात्र का बोधक होता है, मात्र कर्मों की उपादेयता-अनुपादेयता का ज्ञान कराता है, वह 'पद' मन्त्र कहलाता है। वैदिक साहित्य के जिन ग्रन्थों में बहुलता के कारण मात्र धात्वर्थ का ही कथन न करके द्रव्य, देवता, कर्म आदि सभी के विधान को जो आख्यात पद अभिव्यक्त करते हैं, वे सभी पद ब्राह्मण माने जाते हैं। सूत्र का यही तात्पर्य है॥ ३३॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि ऊह, प्रवर तथा नामधेय आदि को मन्त्र कहें या ब्राह्मण? ऊह आदि पदों को किस रूप में किया जाना जाये? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान दिया—**

## ( १८४ ) अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्, आम्नातेषु हि विभागः॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** अनाम्नातेषु = उनमें जो पहले से पढ़े नहीं गये हैं, अमन्त्रतत्वम् = मन्त्र संज्ञा संभव ही नहीं, हि = क्योंकि, आम्नातेषु = जो पूर्व में पढ़े गये हैं उनमें, विभागः = मन्त्र एवं ब्राह्मण का विभाग माना गया है।

**व्याख्या—** ऊह, प्रवर एवं नामधेय ये न तो मन्त्र हैं और न ही ब्राह्मण। इसी कारण इनके अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं, उनका विभाग स्वीकार किया गया है। जिन विषयों से सम्बन्धित ऐसा निर्देश कि अमुक पद मन्त्र हैं तथा अमुक ब्राह्मण, जो आचार्यों द्वारा दिया गया है; इन सभी पदों का प्रयोग उनके लिए ही होता है। अतएव उक्त ऊह आदि न तो मन्त्र हैं और न ही ब्राह्मण॥ ३४॥

**विभाग को स्पष्ट करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १८५ ) तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** यत्र = (जिनमें) जहाँ, जिन मन्त्रों में, अर्थवशेन = छन्दों एवं शास्त्रों के अनुकूल, पाद व्यवस्था = (चरणों) पादों की व्यवस्था है, तेषाम् = उस व्यवस्था में जो ऋचाएँ उपलब्ध हैं, उन्हें ऋग्वेद की संज्ञा दी गई है।

**व्याख्या—** वैदिक संहिताओं का वर्णन ऋक्, यजुः, साम की संज्ञा से सर्वत्र मिलता है। छन्द के प्रमुख रूप से दो ही विभाग छन्दः शास्त्र में उपलब्ध हैं- वैदिक एवं लौकिक। गायत्री आदि को वैदिक तथा आर्या आदि को लौकिक की संज्ञा दी गई है। सूत्र में प्रयुक्त 'पादव्यवस्था' का आशय छन्द की आबद्ध रचनात्मक प्रक्रिया से है। कोई छन्द तीन चरणों वाले तथा कोई छन्द चार चरणों वाले होते हैं। गायत्री छन्द तीन पाद वाला एवं अनुष्टुप् चार पाद वाला होता है। जिन मन्त्रों में ऐसी 'पाद व्यवस्था' दिखाई पड़े, उन्हें ऋक् नाम से जानना चाहिए। उनकी प्रसिद्धि ऋग्वेद के नाम से है॥ ३५॥

**शिष्य की जिज्ञासा के अनुरूप सूत्रकार अगले सूत्र में साम का लक्षण कह रहे हैं—**

## ( १८६ ) गीतिषु सामाख्या॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** गीतिषु = जिनको गीत के रूप में उच्चारित किया जाये, ऐसे मन्त्रों को, सामाख्या = साम की संज्ञा दी गई है।

**व्याख्या—** ईश्वरोपासना हेतु जिन मन्त्रों का हमें वेद रूप परमात्मा द्वारा बोध प्राप्त हुआ, वह गाये जाने योग्य होने से 'साम' के नाम से प्रसिद्ध हुए। गीति शास्त्र के अनुसार गीत की तरह से गाये जाते हुए मन्त्रों में प्रामाणिक(आप्त) जन 'साम' की संज्ञा का व्यवहार भी करते हैं। 'गीति' पद का प्रयोग भी सूत्र में गीति युक्त मन्त्र के अर्थ में हुआ है, केवल गान के लिए नहीं॥ ३६॥

**क्रमानुसार अगले सूत्र में आचार्य ने यजुष् का विवेचन किया—**

## ( १८७ ) शेषे यजुः शब्दः॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** शेषे = शेष वे मन्त्र जो न तो गाये जा सकें तथा न तो चरणबद्ध ही हैं, यजुः शब्दः = वे सभी यजुः शब्द से जाने जाते हैं।

**व्याख्या—** शेष सभी मन्त्र यजुर्वेद संज्ञक हैं। आशय यह है कि जो न तो गीतिरूप हैं और न ही चरणबद्ध हैं, ऐसे मन्त्रों की प्रसिद्धि यजुर्वेद के रूप में है॥ ३७॥

**निगद संज्ञक मन्त्रों के विषय में शिष्य की जो आशङ्का है, उसे सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—**

**( १८८ ) निगदो वा चतुर्थः स्याद्धर्मविशेषात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = पूर्वपक्ष का बोध कराने वाला है, निगदः = ऐसे मन्त्र जो छन्द प्रबन्ध से युक्त एवं साम मन्त्रों के अतिरिक्त स्पष्ट अर्थ के बोधक हैं तथा जिनकी यजुः संज्ञा भी नहीं है वे, धर्मविशेषात् = धर्म की विशिष्टता के कारण ऋक्, साम एवं यजुः से भिन्न, चतुर्थः = चौथे प्रकार के, स्यात् = होने चाहिए।

**व्याख्या—** मन्त्र में प्रयुक्त 'धर्म विशेष' पद का तात्पर्य शास्त्र के अनुसार- 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' 'उच्चैः साम्रा' 'उपांशु-यजुषा' 'उच्चैर्निगदेन' ऋक् मन्त्रों का प्रयोग ऊँचे स्वर में होता है, साम का भी ऊँचे स्वर के साथ, यजुः का उपांशु तथा निगद का उच्च स्वर के साथ प्रयोग किया जाता है। यजुः के सामुख्य में यही निगद की धर्म-विशिष्टता है, जो यजुः द्वारा उपांशु एवं निगद मन्त्रों से उच्च स्वर में प्रयोग होता है; किन्तु ऋक् एवं साम मन्त्रों के उच्च स्वर की समानता के आधार पर निगद को ऋक् एवं साम में अन्तर्हित नहीं किया जा सकता । कारण कि निगद न तो चरणबद्ध होकर छन्द प्रबन्ध के अन्तर्गत आते हैं और न ही गेय होने से गीतिरूप हैं। अतएव निगद को चौथे प्रकार का ही मानना चाहिए॥ ३८॥

**इसी मान्यता की पुष्टि करते हुए आचार्य दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८९ ) व्यपदेशाच्च॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, व्यपदेशात् = लोक प्रचलित शब्दात्मक व्यवहार से भी यह ज्ञात होता है कि निगद चौथे प्रकार का है।

**व्याख्या—** लोक व्यवहार की अभिव्यक्ति में ऋग्वेद का पाठ किया जा रहा है, सामगान चल रहा है, निगद मन्त्रों का उच्चारण किया जा रहा है, यजुष् मन्त्रों का नहीं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि निगद ऋक्, साम एवं यजुः से भिन्न हैं॥ ३९॥

**उपर्युक्त निगद विषयक विवेचना के विषय में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष रखते हैं—**

**( १९० ) यजूँषि वा तद्रूपत्वात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** तद्रूपत्वात् = यजुओं के समान रूप वाला होने के कारण, यजूँषि = निगद यजुष्, वा = ही है। ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** साम एवं ऋक् से यजुष् मन्त्रों के स्वरूप में भिन्नता है। यजुष् मन्त्र न तो चरणबद्ध हैं और न ही गेय। ऋक् मन्त्रों का छन्दोबद्ध रचनात्मक स्वरूप पाद-प्रबन्ध के कारण ही है तथा ऐसे ऋक् मन्त्र जो यज्ञ के समय गीत रूप में गाये जाते हैं, साम कहलाते हैं। यजुष् मन्त्रों का स्वरूप दोनों से भिन्न है तथा निगद नामधारी मन्त्र भी इसी प्रकार दोनों से भिन्न गद्यरूप हैं, जिससे इन निगद मन्त्रों को यजुष् के भीतर ही रखा जाता है। इन मन्त्रों की उच्चारण रूप अभिव्यक्ति उपांशु होने से इन्हें विशिष्ट नाम निगद दिया गया है। इनका स्वरूप भी यजुष् मन्त्रों जैसा ही है॥ ४०॥

**निगद मन्त्रों का उच्च स्वर से उच्चरित होने रूप धर्म विशिष्टिता का क्या कारण है? सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—**

**( १९१ ) वचनाद् धर्मविशेषः ॥ ४१ ॥**

**सूत्रार्थ—** वचनाद् = शास्त्र के वचन 'उच्चैर्निगदेन' से, धर्मविशेषः = उनका (निगद मन्त्रों का) उच्चैस्त्व धर्म विशिष्टता मानी जाती है।

**व्याख्या—** यजुष् मन्त्रों में कुछ मन्त्रों का उच्चारण उपांशु न होकर उच्च स्वर में भी होता है और यह शास्त्र प्रतिपादित भी है, परन्तु इतने भर से निगद संज्ञक मन्त्रों की यजुष् से भिन्नता नहीं सिद्ध होती। शास्त्र द्वारा किया गया प्रतिपादन भी सप्रयोजन है॥ ४१ ॥

**शास्त्रीय प्रतिपादन की क्या सार्थकता है, उस प्रयोजन का कथन सूत्रकार अगले सूत्र में बतलाते हैं—**

**( १९२ ) अर्थाच्च ॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और (जो निगद की धर्म विशिष्टता का कथन किया गया है वह), अर्थात् = उसकी अर्थवत्तता (प्रयोजन युक्तता) के कारण है।

**व्याख्या—** शास्त्र द्वारा निगद मन्त्रों की विशिष्टता का प्रयोजन दूसरों को बोध कराना है। ऊँचे स्वर से उच्चारण किये बिना, अन्य पुरुषों को यज्ञीय विधि-विधान एवं उससे सम्बन्धित क्रिया-कलापों का बोध होना संभव नहीं। ऐसा उपांशु से हो नहीं सकता, अतः इसी प्रयोजन विशिष्टता के कारण निगद मन्त्रों का पाठ उच्च स्वर से किया जाता है॥ ४२ ॥



**अगले सूत्र में आचार्य ने इस विवेचन को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—**

**( १९३ ) गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ ॥**

**सूत्रार्थ—** व्यपदेशः = यह मन्त्र यजुष् है तथा यह निगद ऐसा व्यपदेश (शास्त्रीय वचन), गुणार्थः = गुणों की अर्थवत्ता का बोध कराने हेतु होता है।

**व्याख्या—** निगद मन्त्र यजुष् मन्त्र की समानता वाले हैं; परन्तु उच्च स्वर से उच्चारित किया जाना निगद मन्त्रों का एक विशिष्ट गुण माना जाता है। स्थान विशेष के एक होने पर भी कार्य भिन्नता होने से किसी प्रकार की विसंगति अथवा असमञ्जस की स्थिति नहीं उत्पन्न होती। लोक व्यवहार में प्रायः ऐसा देखा-सुना जाता है- साधु-संन्यासियों को यहाँ बैठने को विनयपूर्वक कहें तथा विप्र मण्डली को वहाँ। इसी तरह यजुष् मन्त्रों को ही ऊँचे स्वर में उच्चारण करने रूप गुण से निगद कहा जाता है॥ ४३ ॥

**फिर तो उच्च स्वर से उच्चरित होने वाले सभी मन्त्रों को निगद ही कहना चाहिए ? शिष्य की इसी जिज्ञासा को आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित करते हैं—**

**( १९४ ) सर्वेषामिति चेत् ॥ ४४ ॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वेषाम् = उच्च स्वर से उच्चरित होने वाले सभी मन्त्रों को निगद की संज्ञा दी जानी चाहिए, इति चेत् = ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** ऊँचे स्वर में बोलने के गुण से युक्त होने वाले सभी मन्त्रों को निगद ही मानना चाहिए। ऋक् एवं साम के मन्त्र भी उच्च स्वर से बोले जाते हैं, अतएव उनकी भी संज्ञा निगद ही होनी चाहिए॥ ४४ ॥

**शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( १९५ ) न ऋग्व्यपदेशात् ॥ ४५ ॥**

**सूत्रार्थ—** न = ऋक् मन्त्रों को निगद संज्ञक नहीं कहा जा सकता, ऋग्व्यपदेशात् = लोक व्यवहार में ऋक् नाम का कथन होने के कारण।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय में याज्ञिक परम्परा के अन्तर्गत ऐसे सिद्धान्त की मान्यता है कि निगद संज्ञक मन्त्रों

के द्वारा यज्ञ नहीं किया जा सकता- 'अयाज्या वै निगदः'। उसी परम्परा में दूसरा वाक्य- 'ऋचैव यजन्ति' अर्थात् ऋक् मन्त्रों से ही यजन करते हैं। इन वाक्यों से विशिष्ट प्रयोजन के साथ ऋक् मन्त्रों से निगद मन्त्रों का पृथक्त्व स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। वैसे भी ऋक् मन्त्र छन्द प्रबंध के अन्तर्गत चरणबद्ध होते हैं; जबकि निगद मन्त्र छन्द प्रबन्ध के अनुशासन से रहित हैं। जिस अर्थ का ज्ञान कराने के लिए जो पद नियत हैं, उन पदों का प्रयोग वहीं अभीष्ट होता है; अतएव ऋक् मन्त्रों को निगद की संज्ञा देना सर्वथा असंगत है॥ ४५॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न अब यह है कि किन लक्षणों से वाक्य की पहचान होती है ? वाक्य क्या है ? अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान परक उत्तर दिया—**

## ( १९६ ) अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाक्षं चेद्विभागे स्यात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** अर्थैकत्वात् = अर्थ अथवा प्रयोजन की पूर्णता (एकत्व) होने से, वाक्यम् = वाक्य, एकम् = एक होता है, चेत् = परन्तु यदि, विभागे = उसका विभाग करने पर अर्थात् पदों को अलग करने पर उस वाक्य को, साकांक्षम् = आकांक्षा युक्त, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** किसी अन्य पद के बिना जब कोई एक पद वाक्यार्थ का बोध कराने में असमर्थ हो,तो वही आकांक्षा कहलाती है। पदों का वह समूह जो अर्थ के अनुरूप एक प्रयोजन को पूर्ण करता है, उसे एक वाक्य (यजुः) कहा जाता है; परन्तु यदि उस पद समूह में से कोई पद अलग करके उसका विभाग कर दिया जाये, तो बचे हुए शेष पद समूह के अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए आकांक्षा की अपेक्षा बनी रहे। उदाहरणार्थ- 'देवदत्तः गच्छति' यदि इतना ही जानना हो, तो यह वाक्य आकांक्षा रहित है, परन्तु इस वाक्य में से यदि एक पद को अलग कर दिया जाये, तो फिर यह वाक्य नहीं रह जायेगा। कारण कि प्रयोजन की पूर्णता के लिए कर्त्ता को क्रिया एवं क्रिया को कर्त्ता की आकांक्षा बनी ही रहती हैं और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए इस वाक्य 'ग्राम' आदि पदों का नियोजन करना ही पड़ेगा- 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' देवदत्त गाँव को जाता है। इस वाक्य में भी यदि यह जानने की आकांक्षा होगी कि देवदत्त किस साधन से गाँव जा रहा है, तो यह पद समुदाय भी पूर्ण वाक्य नहीं होगा। इस स्थिति में आकांक्षा पूर्ति हेतु रथेन, अश्वेन, पद्भ्याम् आदि कोई पद जोड़ने पर ही वाक्य आकांक्षाहीन होकर पूर्ण वाक्य बनेगा। जैसे देवदत्तः पद्भ्यां वा रथेन वा अश्वेन ग्रामं गच्छति। इस तरह यह स्पष्ट हुआ कि जितनी प्रयोजनाभिव्यक्ति की अभीष्टता हो, उतने के हेतु जितना पद समुदाय पूर्ण रूपेण समर्थ हो, उसे ही वाक्य कहा जाता है ॥४६॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि 'इषे त्वा' 'ऊर्जे त्वा' एवं 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' आदि पदसमुदाय को क्या मानें ? वाक्य अथवा भिन्न वाक्य ? आचार्य ने उत्तर दिया—**

## ( १९७ ) समेषु वाक्यभेदः स्यात्॥४७॥

**सूत्रार्थ—** समेषु = पारस्परिक आकांक्षा से रहित पद समुदायों में, वाक्यभेदः = वाक्य भिन्नता, स्यात् = माननी चाहिए।

**व्याख्या—** ऐसे वाक्य जिनके पद समूह पारस्परिक आकांक्षा की अपेक्षा नहीं रखते, उनमें गुण प्रधान भावों का अभाव होने से वे समान माने जाते हैं। इस प्रकार के वाक्यों को भिन्न मानना चाहिए। जिज्ञासु के उपर्युक्त वाक्यों में 'इषे त्वा' से एक अर्थ की तथा 'ऊर्जेत्वा' से दूसरे अर्थ की सिद्धि होती है, अतएव उपर्युक्त पद समूह एक वाक्य न होकर अर्थभेद के कारण भिन्न वाक्य हैं॥ ४७॥

**यज्ञानुष्ठान के समय कर्मकाण्ड प्रक्रिया में 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि भाग को प्रथम भाग की तरह 'या ते अग्ने रजाशया' आदि हर एक के अनन्तर पाठ रूप में उच्चारित करना चाहिए? या लौकिक वाक्यों का उच्चारण करके**

**उपर्युक्त पाठ का अनुषङ्ग न स्वीकार कर इसकी पूर्ति करनी चाहिए? आचार्य ने शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## (१९८) अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** अनुषङ्गः = पृष्ठ भाग से सम्बद्ध होने वाला वाक्य शेष, वाक्यसमाप्तिः = वाक्य को पूर्ण करके वाक्य समापन करता है, सर्वेषु = समस्त वाक्यों में, तुल्ययोगित्वात् = तुल्य (समान) सम्बन्ध युक्त होने के कारण (उसमें कोई बाधा नहीं आती)।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत् वैदिक वाङ्मय के 'या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषवचो अपावधीत् स्वाहा'। या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया' वाक्य में 'या ते अग्नेऽयाशया' के आगे स्वाहा पर्यन्त तक जो पाठ उपलब्ध है वह 'या ते अग्ने रजायशा एवं या ते अग्ने हरायशा इन दोनों के आगे पूर्ण रूप से पढ़ा जाना चाहिए, तभी जाकर वाक्यार्थ पूर्ण माना जाता है। ऐसी स्थिति में 'या ते अग्ने रजाशया' और 'या ते अग्ने हराशया' पद समूह के साथ 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि शेष वाक्य का सम्बन्ध होने में किसी प्रकार के व्यवधान अथवा बाधा का संदेह (आशङ्का) करना वृथा ही है। प्रयोजन की प्रतिपूर्णता ही मुख्य है, उसकी पूर्णता हेतु समुदायी की बाधा उपेक्षित हो जाती है। अतः शास्त्रीय व्यवधान की प्रतीति संभव ही नहीं॥ ४८॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि गत सूत्र की विवेचना के आधार पर बनी मान्यता के अनुरूप क्या 'सं ते वायुर्वातेन गच्छताम्' सं यजत्रैरङ्गानि संयज्ञपतिराशिषा, मैत्रायणी संहिता (१/२/१५) के इन मन्त्रों में 'गच्छताम्' क्रिया पद का अनुषङ्ग आगे के वाक्यों में होना चाहिए? अगले तथा इस द्वितीय पाद के अन्तिम सूत्र में सूत्रकार ने समाधान किया—**

## (१९९) व्यवायान्नानुषज्येत॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** व्यवायात् = मध्य में व्यवधान का अन्तर आ जाने के कारण पूर्व पठित का, अनुषज्येत = अनुषङ्ग (सम्बन्ध), न = नहीं होता।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि पूर्व विवेचन में तुल्य रचनाक्रम के पदसमूहों के बीच में आ जाने पर व्यवधान की श्रेणी में मान्यता न देकर पूर्व में पठित पद समूह के साथ अनुषङ्ग स्वीकार किया गया है; किन्तु प्रकृत संदर्भ में यह व्यवस्था लागू नहीं होती। पहले पद समूह में एकवचनान्त 'गच्छताम्' क्रिया पद का एकवचनान्त 'वायुः' का प्रयोग कर्त्तृ पद के साथ होना उचित है। आगे वाले पद समुदाय में 'अङ्गानि' बहुवचनान्त कर्त्तृ पद के रहने से रचना का क्रम पूर्व में पठित वाक्य से उल्टा हो गया है, अतएव इस व्यवधान की उपेक्षा सर्वथा अनुचित ही मानी जायेगी। अतः क्रिया पद गच्छताम् का सम्बन्ध (अनुषङ्ग) समापन वाक्य में एकवचनान्त 'यज्ञपतिः' कर्त्तृ पद के साथ होना संभव नहीं, उस स्थल पर 'गच्छताम्' क्रिया पद का अध्याहार किया जाना ही न्यायोचित है॥ ४९॥

## ॥ इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

# ॥ अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**मीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय के विगत प्रथम पाद में कतिपय आख्यात पदों के वाच्य, गौण एवं प्रधान भाव, ऋक्, साम तथा यजुः मन्त्रों के लक्षण व विभाग तथा पदों का पूर्वापर सम्बन्ध विषयक विवेचन सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत किया गया। क्रमानुसार इस द्वितीय पाद में कतिपय आख्यात पदों पर आधारित कर्म स्वरूप धर्म के विभिन्न भेदों का निरूपण करने के निमित्त उनकी विवेचना का शुभारम्भ करते हुए आचार्य ने पहला सूत्र प्रस्तुत किया —**

## (२००) शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** शब्दान्तरे = शब्द का भेद होने के कारण यजति, जुहोति, ददाति आदि के रूप में, कर्मभेदः = कर्म का भेद हो जाया करता है (क्योंकि), कृतानुबन्धत्वात् = आख्यात भेद से कर्म भेद का सम्बन्ध निश्चित है। (प्रत्ययार्थ भावना एवं धात्वर्थ का साहचर्य नियत रहता है)।

**व्याख्या—** आख्यात पद यजेत जुहोति, ददाति आदि एवं जुहोति से ददाति आदि तथा ददाति आख्यात पद से यजेति, जुहोति इत्यादि आख्यात भेद के कारण पद भिन्न है और इस पद भिन्नता का सम्बन्ध क्रियाभेद के साथ सुनिश्चित है। उदाहरणार्थ - 'कटं करोति', 'पुरोडाशं पचति', 'ग्रामं गच्छति' आदि में क्रमशः 'करोति' का कर्त्ता के साथ, 'पचति' का पाक के साथ एवं 'गच्छति' का गमन के साथ योग है। अतएव यदि उक्त आख्यात पदों का एक ही कर्म में अर्थ किया जाये, तो शब्दान्तर का प्रयोग (व्यावहारिक स्वरूप) पूर्णरूपेण भ्रष्ट हो जायेगा, इसलिए उन पदों को एक ही क्रिया का वाचक बतलाना उचित नहीं; क्योंकि याग, होम, दान इत्यादि पृथक्-पृथक् कर्म के वाचक हैं। इनके अनुष्ठान से जिस अपूर्व की उत्पत्ति होती है, उसमें भी भिन्नता रहा करती है। इनके द्वारा अनेकों अपूर्व उत्पन्न होते हैं। यही व्यवस्था सर्वमान्य है, ऐसा समझना चाहिए॥ १॥

**उपर्युक्त अर्थ में आशङ्का की अभिव्यक्ति करते हुए शिष्य कहता है— क्रियाभेद से अपूर्व का भेद होने का तात्पर्य है कि जहाँ क्रिया के भेद का अभाव हो, वहाँ अपूर्व का भेद होगा ही नहीं। उदाहरणार्थ— 'समिधो यजति,' 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', 'स्वाहाकारं यजति', तैत्तिरीय संहिता (२/६/१) का वाक्य है। इस वाक्य में एक ही क्रिया पद यजति का पाँच बार प्रयोग हुआ है, अतएव पूर्व व्यवस्था के आधार पर तो इस 'यजति' पद से एक ही अपूर्व की उत्पत्ति माननी चाहिए। अगले सूत्र में आचार्य ने इस आशङ्का का समाधान प्रस्तुत किया—**

## (२०१) एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** एवम् = इस तरह, एकस्य = एक क्रियापद (यजति) का, पुनः = दूसरी बार, श्रुतिः = सुना जाना, अविशेषात् = कर्मों में विशेष अन्तर न मानने के कारण, हि = निश्चय ही, अनर्थकम् = निरर्थक, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत् पाँचों पद समूहों ('समिधो यजति 'तनूनपातं यजति' 'इडो यजति' 'बर्हिर्यजति' 'स्वाहाकारं यजति' में पाँच बार पढ़े गये एक ही क्रिया पद 'यजति' के इस प्रकार बार-बार प्रयोग से यह प्रयोजन सिद्ध होता है कि ये सभी यज्ञानुष्ठान रूप कर्म एक- दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु यह कर्म भिन्नता यदि स्वीकार न की जाये तो 'यजति' पद के बारम्बार श्रवण अर्थात् 'यजति' पद का अभ्यास अवश्य ही अर्थहीन सिद्ध होगा। अतएव कर्मों में भिन्नता के कारण उपर्युक्त समस्त कर्म एक ही अपूर्व के उत्पादक न होकर भिन्न-भिन्न अपूर्व को उत्पन्न करते हैं॥ २॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता में 'आघारमाघारयति' 'आज्यभागौ यजति' 'स्विष्टकृते समवद्यति' तथा य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते, 'य एवं विद्वान् अमावस्यां यजते' आदि वाक्य भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में आते हैं। इन सबको अपूर्व कर्मों का विधायक माना जाये? या आग्नेय आदि यागों का अनुवादक मानें? सूत्रकार ने समाधान करते हुए कहा—**

## ( २०२ ) प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो (यह पद निश्चायक अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त है।) पौर्णमास्यां = पौर्णमासी तथा अमावस्या पद ('य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' एवं 'य एवं विद्वान् अमावस्यां यजते') जो इन वाक्यों में पढ़ा गया है, वे वाक्य, प्रकरणम् = प्रकरण में उपलब्ध 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल:' आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट विधान किये गये कर्मों के अनुवादक ही हैं। (कारण कि) रूपावचनात् =इन वाक्यों में द्रव्य एवं देवता के स्वरूप की अभिव्यक्ति न किये जाने से (रूप का भान नहीं होता)।

**व्याख्या—** याग के स्वरूप की अभिव्यक्ति करते हुए कात्यायन श्रौत सूत्र का कथन है कि देवता के प्रयोजनार्थ द्रव्य का त्याग ही यज्ञ कहलाता है। 'द्रव्यं, देवता-त्याग:' इन तीनों पदों में से त्याग स्वरूप अंश की निर्देशात्मक अभिव्यक्ति 'यजते' क्रिया पद के द्वारा हो सकती है। शेष बचे दोनों पदों (द्रव्य-देवता) की इन वाक्यों में अभिव्यक्ति नहीं की गई है। ऐसी दशा में अदृष्ट के उत्पादक विधि के रूप में यदि इन वाक्यों को प्रधान यज्ञ की मान्यता दी जाती है, तो वह सर्वथा अनर्थक ही होगी। इस अनर्थकता का कारण यह है कि इस बात का तो ज्ञान ही नहीं है कि जिस 'त्याग' का प्रसङ्ग चल रहा है वह त्याग कौन से द्रव्य का तथा किस देवता के प्रयोजनार्थ है; क्योंकि उपर्युक्त वाक्यों में न तो द्रव्य का निर्देश है और न ही देवता का। अत: मात्र त्याग के कथन से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव प्रकरण द्वारा यह ज्ञात करना पड़ेगा कि यह त्याग कौन से पदार्थ का तथा किस देवता के प्रयोजनार्थ हुआ है। प्रकरण में पढ़ा गया तैत्तिरीय संहिता का वाक्य 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल:' से लेकर 'ऐन्द्रं पय:' तक त्याग के भाव से द्रव्य एवं देवता दोनों की उपदेशात्मक अभिव्यक्ति होने के कारण ये अदृष्ट को उत्पन्न करने वाले वही छह प्रमुख यज्ञ हैं। जिन्हें लक्ष्य करके उपर्युक्त 'य एवं विद्वान्' आदि वाक्य पढ़े गये हैं। विधि पूर्वक कथित छह यज्ञों के अनुवादक के रूप में ही 'यदाग्नेय:' आदि विधिवाक्यों की उपयोगिता है, ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि उन विद्वद्वाक्यों में 'पौर्णमासीं अमावस्यां' आदि एक वचनान्त पदों से अनेकों यज्ञों का ग्रहण किस आधार पर होगा? इसका समाधान यह है कि इन पदों का एक वचनान्त प्रयोग लोक व्यवहार में यज्ञों के एक समूह पर आधारित है। उदाहरणार्थ— लोक व्यवहार में एवं शास्त्रों में यूथ, सभा, परिषद् वन, कुल आदि सभी पदों का प्रयोग समूह के लिए प्रचलित है तथा सबकी मान्यता भी उसे मिली हुई है॥ ३॥

**उपर्युक्त कथन पर जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि विद्वद्वाक्य यदि आग्नेय आदि यज्ञों के अनुवादक हैं, तो उन्हें प्रयाज आदि का भी अनुवादक मानना चाहिए? आचार्य ने अगले सूत्र में इसका समाधान देते हुए कहा—**

## ( २०३ ) विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्ति: स्यात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** विशेषदर्शनात् = सौर आदि विकृत यज्ञों में प्रयाज आदि की विशिष्टता दृष्टिगोचर होने से, च = तथा, सर्वेषाम् = आग्नेय,आधा एवं प्रयाज सभी की प्रधानता होने की स्थिति में, हि = निश्चय ही, सौर आदि विकृत यज्ञों में प्रयाज आदि की, अप्रवृत्ति: = प्राप्ति नहीं, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** आग्नेय यज्ञों को प्रधान कर्म माना गया है और जो प्रधान कर्म हैं, उनका अतिदेश नहीं हुआ करता। और यदि सान्निध्य के कारण प्रयाज आदि को प्रधान कर्मों की मान्यता दी जाती है, तो विकृत यज्ञों में प्रयाज आदि की उपलब्धता नहीं पायी जायेगी। जबकि सौर यज्ञ में प्रयाज की उपलब्धता शास्त्र द्वारा कही गई है। उदाहरणार्थ— 'यो ब्रह्मवर्चसकाम: स्यात् तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत्' [तै.सं. (२/३/२)]। इस वाक्य का अर्थ है— जिसे ब्रह्मवर्चस की कामना हो उस हेतु वह इस सौर यज्ञ का अनुष्ठान करके सूर्य देवता वाले चरु

का हवन करे। इसमें (सौर यज्ञ में) अतिदेश है — 'प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' इस वाक्य से प्रकृत सौरयाग में प्रति प्रयाज कृष्णल की आहुति देने की विधि व्यवस्था है। प्रयाज आदि को प्रधान कर्म मानने की स्थिति में तो प्रकृत सौर विकृत यज्ञों में फिर तो प्रयाज आदि की उपलब्धता का सर्वथा अभाव ही होना चाहिए; क्योंकि सिद्धान्त यह है कि विकृत यज्ञों में प्रधान कर्मों का अतिदेश नहीं हुआ करता। अतएव प्रयाज आदि के विकृत यज्ञों में श्रवण किये जाने से आग्रेय आदि प्रधान कर्मों के केवल सान्निध्य मात्र से इनको प्रधान कर्म की मान्यता नहीं दी जा सकती। अत: समान भाव के कारण सामान्य होने पर भी 'य एवं विद्वान्' आदि विद्वद्वाक्यों को प्रयाज आदि का अनुवादक न मानकर आग्रेय आदि षड्यागों का ही अनुवादक मानना चाहिए॥ ४॥

**उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा को समुचित समाधान की भावना से आचार्य स्वयं ही सूत्रित करते हैं —**

## ( २०४ ) गुणस्तु श्रुतिसंयोगात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ —** तु = सूत्र में प्रयुक्त हुआ यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। गुण: = उन विद्वद्वाक्यों द्वारा बतलाये गये कर्म में द्रव्य एवं देवता रूप गुणों का होना, श्रुतिसंयोगात् = श्रुति (स एवं विद्वान् आदि) के संयोग के कारण ही है।

**व्याख्या-** 'य एवं विद्वान्' एवं 'यदाग्रेयोऽष्टा कपाल:' आदि वाक्यों द्वारा दर्शपौर्णमास नामक आग्रेय आदि यज्ञों का विधान प्रतिपादित नहीं करते, परन्तु वाक्य में कथित कर्मों में द्रव्य एवं देवता के रूप आदि का विधान बतलाते हैं। तात्पर्य यह है कि 'यदाग्रेय' आदि वाक्य प्रधान न होकर गुण-कर्म हैं, अत: मात्र रूप का कथन करने के कारण विद्वद्वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक न मानकर अनुवादक ही मानना चाहिए।॥५॥

**आचार्य ने अगले सूत्र में शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान दिया—**

## ( २०५ ) चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते- हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु सूत्र में प्रयुक्त है। चोदना = कर्म विधान करने वाले प्रेरक वाक्य हैं (यदाग्रेयोऽष्टाकपाल: आदि) न कि गुणविधि; (क्योंकि) गुणानाम् = (उपर्युक्त वाक्यों में द्रव्य देवता के) गुणों का, युगपत् = एक साथ, शासनात् = कथन किये जाने से, (यदि उन्हें), चोदिते = कर्म विधि प्रेरक वाक्य जाना जाये तथा 'यदाग्रेय:' आदि वाक्यों द्वारा गुणों का कथन होने से वह गुणविधि है, तो उस स्थिति में,तदर्थत्वात् = उन विद्वद्वाक्यों द्वारा विहित कर्मों के प्रयोजनार्थ होने से, तस्य-तस्य = उस-उस अग्नि देवता तथा अष्टाकपाल पुरोडाश आदि द्रव्यों का अलग-अलग, उपदिश्येत = उपदेश होना चाहिए॥ ६॥

**व्याख्या—** शास्त्र की विधि-व्यवस्था के अनुसार गुणविधि वाक्य किसी अन्य कर्मविधि हेतु द्रव्य या देवता में से किसी एक ही गुण रूप विशेषता का विधायक हो सकता है, दो गुणों का विधान एक वाक्य द्वारा नहीं किया जा सकता। यदि विद्वद्वाक्यों को अदृष्ट कर्मों का विधायक मानकर उनमें अपेक्षित द्रव्य व देवता के रूपादि गुणों के निमित्त 'यदाग्रेयोऽष्टाकपाल:' आदि वाक्यों को गुणों का विधायक माना जाये, तो जैसे 'आघारमाघारयति' में कथित आघार संज्ञक कर्म को आवश्यक 'ऋतुत्व' तथा 'सन्तत' रूपादि गुणों का ऋजुमाघारयति सन्तत माघारयति के द्वारा जैसे पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है, वैसे ही 'यदाग्रेय' आदि वाक्यों के द्वारा भी होता; किन्तु उनमें द्रव्य देवता रूप-गुणों का एक विधान प्राप्त होने से यह अनुमान किया जाता है कि उन वाक्यों में प्राप्त द्रव्य के देवता के रूपादि गुणों की विशिष्टता गुण विधायक न होकर अपूर्व कर्मों की विधायक है॥ ६॥

**'यदाग्नेयः' आदि वाक्य गुणविधि न होकर प्रधान कर्मों के अनुवादक हैं, इसी मान्यता की पुष्टि में सूत्रकार अगले सूत्र में और भी हेतु देते हैं—**

**( २०६ ) व्यपदेशश्च तद्वत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, व्यपदेशः = व्यावहारिक अभिव्यक्ति स्वरूप व्यपदेश भी, तद्वत् = उसी प्रकार का है, जिसके द्वारा आग्नेय आदि यज्ञों के समुच्चय का ज्ञान हुआ करता है।

**व्याख्या—** उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते-आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे। अमावस्या कर्म में समर्पित की जाने वाली ये सभी आहुतियाँ एक ही साथ अनुष्ठित होती हैं। जो प्रथम हवि है, वह आग्नेय तथा उसके आगे की दो हवियाँ ऐन्द्र कहलाती हैं। (अमावस्या कर्म में प्रसङ्ग प्राप्त यह कथन इन हवियों के समुच्चय का प्रकटीकरण करता है, इसमें) यहाँ जो तीन समूह स्वरूप हवि का उपदेश किया गया है, वह 'यदाग्नेय' आदि के गुणविधि के अन्तर्गत नहीं आता। कारण यह कि उसके द्वारा अमावस्या कर्मानुष्ठान में अग्नि एवं इन्द्र संज्ञा वाले विभिन्न देवताओं का विधान उपलब्ध है, किन्तु विद्वद्वाक्यों में वर्णित; अमावस्या कर्म (याग) एकाकी है और एक यज्ञीय कर्मानुष्ठान में देवों का समुच्चय होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्वद्वाक्य आग्नेयादि प्रधान कर्मों के अनुवादक हैं॥ ७॥

**उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**



**( २०७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग की उपलब्धता होने से भी (उक्त विवेचन की पुष्टि होती है)।

**व्याख्या—** इस प्रकार के लक्षणों (लिङ्ग) की उपलब्धता से भी कि 'चतुर्दश पौर्णमास्याम्' एवं 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों को गुणविधि नहीं माना जा सकता, वह विकल्प न होकर आग्नेय आदि हवियों का समुच्चय ही है। पौर्णमास कर्म में चौदह एवं अमावस्या कर्म में तेरह आहुतियाँ दी जाती हैं, प्रस्तुत प्रमाणभूत वाक्य यही सिद्ध करता है — 'चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्याम्' प्रयाज की ५, अनुयाज की ३, प्रधान याग की ३, (आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय उपांशु याग, अग्नि सोमीय पुरोडाश) आज्यभाग की २, स्विष्टकृत् की १ यह कुल चौदह आहुतियाँ पौर्णमास यज्ञीय कर्म की हैं। अमावस्या कर्म की प्रयाज की ५, अनुयाज की ३, आज्य की २, स्विष्टकृत् की १ = ११ एवं प्रधान याग में से आग्नेय पुरोडाश की १ तथा ऐन्द्रदधि एवं ऐन्द्रपय दोनों की सम्मिलित १ अर्थात् ११+२ =१३ पौर्णमास में १४ तथा अमावस्या में १३ आहुतियों की संख्या पूर्ति तभी हो सकती है जब 'यदाग्नेय' आदि को प्रधान कर्म के विधायक की मान्यता प्रदान की जाये। विद्वद्वाक्यों का यदि इन्हें गुणविधि मानें, तो 'य एवं विद्वान्' आदि वाक्यों में उपर्युक्त आहुतियों के हेतु उनका विधान करने वाला कोई पद ही नहीं है। यही इस मान्यता में वह लिङ्ग है, जिससे यह सिद्ध होता है कि 'यदाग्नेय' आदि वाक्य गुणविधि न होकर अपूर्व कर्मों के विधायक हैं॥ ८॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत उपलब्ध विद्वद्वाक्यों में जैसे पौर्णमासी पद आग्नेय आदि याग समूहों का अनुवादक है, इसी प्रकार उपांशु याज जो 'जामि वा 'आदि वाक्य में पढ़े गये हैं, क्या वे भी अपूर्व के विधायक हो सकते हैं? सूत्रकार ने शिष्य की इसी जिज्ञासा को अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( २०८ ) पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** पौर्णमासीवत् = पौणमासी पद जिस तरह विद्वद्वाक्यों का अनुवादक है, (वैसे ही) उपांशु याजः = 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में पठित उपांशु याज पद भी अनुवादक ही, स्यात् =होने चाहिए।

**व्याख्या—** 'य एवं विद्वान्' आदि वाक्यों में जिस प्रकार द्रव्य देवता आदि याग के स्वरूपों की निर्देशात्मक अभिव्यक्ति का अभाव होने से वह आग्नेय आदि यज्ञ-समूहों का अनुवाद करने वाला है, वैसे ही

'उपांशुयाज मन्तरा यजति' में भी यज्ञ का स्वरूप एवं द्रव्य-देवता के निर्देश का अभाव होने से इसे अपूर्ण कर्म के विधायक की मान्यता नहीं दी जा सकती। 'विष्णुरुपांशु यष्टव्य:' आदि वाक्यों में यज्ञ के स्वरूप एवं उससे सम्बन्धित द्रव्य देवता आदि के उपदेशात्मक निर्देश एवं यष्टव्य: इस वैदिक निर्देश के कारण विष्णु आदि यज्ञों का अदृष्ट कर्म माना जाना उचित होगा तथा उपांशु याज उन्हीं यज्ञों का अनुवादक है, यही मानना उपयुक्त है॥ ९॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान देते हुए बताया—**

## ( २०९ ) चोदना वाऽप्रकृतत्वात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** वा = इस पद का प्रयोग पूर्वपक्ष की मान्यता के खण्डन हेतु हुआ है। चोदना = अपूर्व कर्मों का विधान करने वाला है, अप्रकृतत्वात् = प्रकृत याग के प्रस्तुत प्रकरण में उपलब्ध न होने के कारण।

**व्याख्या—** 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में प्रयुक्त पद 'उपांशु याज' विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले कर्म समूहों का अनुवादक नहीं हो सकता, किन्तु वह अपूर्व कर्मों का विधान करने वाला है। कारण यह है कि प्रस्तुत प्रकरण में विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित यागों का यहाँ इस प्रकरण में कोई विधायक वाक्य उपलब्ध नहीं है, जब उनके विधान का ही सर्वथा अभाव है, तो उपांशु याज को उनका अनुवादक कैसे माना जा सकता है? 'विष्णुरुपांशु' आदि वाक्य उसके स्तुतिकर्त्ता अर्थवाद मात्र हैं। यही समझना चाहिए॥ १०॥

**जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न करने पर आचार्य उपांशु यजन को स्पष्ट रूप से समझाने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २१० ) गुणोपबन्धात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** गुणोपबन्धात् = उपांशुत्व गुण सम्बन्ध के कारण से, उपांशु याग की संज्ञा है।

**व्याख्या—** 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' वाक्य के आधार पर उपांशु याज की संज्ञा एवं उसका कथन उपलब्ध होता है। होंठों के भीतर ही भीतर होने वाला उच्चारण उपांशु कहलाता है। इस उपांशु याग का अनुष्ठान पूर्णमासी को ही सम्पन्न किया जाता है, अमावस्या को निषेध किया गया है। उपांशु याग में विष्णु, प्रजापति, अग्नीषोम इन्हीं तीन देवताओं के उद्देश्य से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। अग्नीषोम तथा प्रजापति की उपांशु धर्मिता रूप गुणों का उल्लेख वेदों में सहज सुलभ है। इस प्रकार से विष्णु की उपांशुता का कथन उसी रूप में तो वहाँ उपलब्ध नहीं है, किन्तु मन्त्रों के अन्तर्गत होने वाली अभिव्यक्ति से देवताओं की गणना सूची में विष्णु की भी समाविष्टता है। इस विषय का विवेचन सूत्रकार ने मीमांसा दर्शन (१०/८/५२-५३) में किया है। आचार्यों के विधान के अनुसार प्रधान होने के कारण मात्र देवता के नाम एवं पद का उच्चारण ही उपांशु करना चाहिए, अवशेष मन्त्र का उच्चारण उपांशु न करके उच्च स्वर से करना चाहिए। इस सबका सार संक्षेप आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के वाक्य 'उपांशुयाज: पौर्णमास्यामेव भवति वैष्णवोऽग्नीषोमीय: प्राजापत्यो वा' से स्पष्ट हो जाता है। उपांशुत्व गुणों से संयुक्त होने के कारण उपांशु याज अपने आप में एक स्वतन्त्र याग है। इसकी अपनी स्वतन्त्र संज्ञा है, किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में आग्नेय एवं अग्नीषोमीय यागों की निरन्तरता का प्रवाह गतिमान् रखने तथा मन्त्रोच्चारण के थकान से बचने के लिए इस उपांशु का उपयोग उनके अन्तराल में किया गया है, अतएव यह यहाँ उनकी स्तुति करने वाला अर्थवाद है, जिसमें किसी दोष की भी सम्भावना नहीं है॥ ११॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उपांशु याज के प्रधान कर्म होने की पुष्टि करने के भाव से हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २११ ) प्राये वचनाच्च॥ १२॥

**सूत्रार्थ**- च = और, प्राये = प्रधान कर्मों के प्रकरण में, वचनात् = उपांशुयाज का पाठ पूर्वक कथन होने से (भी यह सिद्ध होता है कि उपांशु याज अपने रूप में प्रधान कर्म है)।

**व्याख्या**- प्रधान कर्मों के प्रकरण में उपलब्ध उपांशु याज का पाठ 'तस्य वा एतस्याग्नेय एव शिरः हृदयमुपांशुयाजः पादावग्नीषोमीयः' इस प्रकार है। इसका अर्थ है— पौर्णमासी कर्म का मस्तक 'आग्नेय याग' है, हृदय उपांशु याज है तथा चरण अग्नीषोमीय है। लौकिक व्यवहार में भी ऐसा देखने को मिलता है कि जिनकी गिनती श्रेष्ठजनों के नाम ग्रहण में की जाती है, वे सभी श्रेष्ठजन प्रधान रूप से सम्मानित होते हैं। अतएव प्रमुख पंक्ति में उपांशु याज का कथन (पाठ) उपलब्ध होने से उपांशु याज को प्रधान ही मानना युक्तियुक्त है॥ १२॥

**वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध वाक्य 'आघारमाघारयति' एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक माना जाये अथवा अनुवादक ? शिष्य की इसी जिज्ञासा को आचार्य ने तीन सूत्रों द्वारा सूत्रित किया, जिनमें प्रथम सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—**

## (२१२) आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** आघाराग्निहोत्रम् = आघार एवं अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं, न कि अपूर्व के विधायक, (कारण यह कि) अरूपत्वात् = उनसे अपूर्व के विधायक स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य अपूर्व के विधायक इसलिए नहीं हो सकते; क्योंकि उनमें द्रव्य देवता आदि का कथन नहीं है। अपूर्व विधि की मान्यता वहीं होती है, जहाँ वाक्य में द्रव्य एवं देवता तथा उनसे सम्बन्धित कर्मों का विधान उपलब्ध होता है। यही उसका स्वरूप एवं गुण विशिष्टता है। अतएव पूर्व वर्णित प्रत्येक वर्ग का प्रथम वाक्य अपने वर्ग के आगे के वाक्यों द्वारा निर्देशित प्रकृत कर्म का अनुवाद करता है॥ १३॥

**अनुवादक होने के उपर्युक्त कथन की पुष्टि हेतु अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## (२१३) संज्ञोपबन्धात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ**- संज्ञोपबन्धात् = संज्ञा का समाधान मिलने से भी उसे विधायक नहीं कहा जा सकता।

**व्याख्या**- आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति, वाक्यों में आघार तथा अग्निहोत्र संज्ञक उपबन्ध (निर्देश) होने के कारण नाम विशेष आघार तथा अग्निहोत्र 'आघारमाघारयति' एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' ये दोनों वाक्य यज्ञीय कर्म की मात्र संज्ञा का ही निर्देश करते हैं, न कि स्वरूप का। आशय यह है कि मात्र संज्ञा के निर्देशक उपर्युक्त वाक्य यह बतलाते हैं कि उक्त कर्मों की सिद्धि वाक्यान्तर से है, ये वाक्य उन्हीं वाक्यों के अनुवादक हैं॥ १४॥

**उपर्युक्त विवेचन की प्रामाणिकता में आचार्य और भी हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

## (२१४) अप्रकृतत्वाच्च॥ १५॥

**सूत्रार्थ**- च = तथा, अप्रकृतत्वात् = प्रकरण प्राप्त वाक्यों में द्रव्य देवता की उपलब्धता न होने से भी उपर्युक्त वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या**- अग्निहोत्र एवं आघार वाक्यों में द्रव्य एवं देवता की उपलब्धता न होने से उन्हें अपूर्व का विधायक नहीं माना जा सकता। कारण यह कि अपूर्व विधि के लिए देवता एवं द्रव्य का निर्देश किया जाना अनिवार्य होता है, जबकि यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। अतएव उपर्युक्त वाक्यों को अनुवादक ही मानना चाहिए॥ १५॥

**तीनों सूत्रों में शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित करने के अनन्तर अब अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## (२१५) चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद जिज्ञासा के समाधान का सूचक है। जिसका तात्पर्य यह है कि पूर्व प्रसङ्गात् 'आघारमाघारयति' एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्य अनुवादक नहीं है, किन्तु चोदना = अपूर्व कर्म के विधायक हैं, शब्दार्थस्य =उपर्युक्त वाक्यों के शब्दार्थ के, प्रयोगभूतत्वात् =प्रयोगभूत होने के कारण (अनुवादक नहीं हैं), अतः तत्सन्निधेः=उन वाक्यों की सामीप्यता से, गुणार्थेन='ऊर्ध्वमाघारयति' एवं 'दध्ना जुहोति' में ऊर्ध्व एवं दधि आदि के गुण विधान के उद्देश्य से, पुनः श्रुतिः =आघारयति एवं जुहोति आदि को पुनः सुना जाता है।

**व्याख्या—** पूर्व प्रसङ्ग में जो यह आक्षेप प्रस्तुत किया गया कि 'आघारमाघारयति' आदि वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसके लिए उसमें द्रव्य-देवता का स्वरूप एवं निर्देश होना अनिवार्य होता है; किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। अतएव उक्त आक्षेप आधारहीन है। उपर्युक्त वाक्य अनुवादक न होकर अपूर्व कर्मों के विधायक ही हैं। उनमें आघार एवं अग्निहोत्र कर्म की कर्त्तव्यता की प्रतीति होती है जिसका तात्पर्य है कि पुरुषों को अग्निहोत्र एवं आघार कर्म करते रहना चाहिए। इस तरह से 'आघारमाघारयति' एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों से आघार एवं अग्निहोत्र संज्ञक विधि-विधान का निर्देश किया गया है। उपर्युक्त वाक्य मात्र कर्मों की संज्ञा के निर्देशक न होकर आघार तथा अग्निहोत्र कर्मान्तर का विधान करने वाले हैं। प्रसङ्गागत 'ऊर्ध्वमाघारयति' एवं 'दध्नाजुहोति' आदि आघार क्रिया के आघारण के साथ-साथ ऊर्ध्व, ऋजु एवं सन्तत गुणों के सम्बन्धों के विधायक हैं, जो यह बतलाते हैं कि आघारण किस तरह किया जाये। उपर्युक्त वाक्य आघार कर्म का विधान नहीं बतलाते प्रत्युत वाक्य के अन्तर्गत विहित आघार क्रिया में आघारण की मात्र इतिकर्त्तव्यता को बतलाते हैं, इन प्रसङ्गागत पदों में क्रिया निर्देश का सर्वथा अभाव है।

'दध्ना जुहोति','पयसा जुहोति' आदि वाक्य भी इसी तरह मात्र अग्निहोत्र यज्ञीय कर्म में सम्पन्न की जाने वाली हवन प्रक्रिया के साथ द्रव्य के सम्बन्धों के विधायक हैं, न कि अग्निहोत्र यज्ञीय प्रक्रिया के विधान करने वाले। इनमें अग्निहोत्र प्रक्रिया का निर्देश उपलब्ध ही नहीं है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य द्वारा वह अपूर्व कर्म जाना जाता है। अतएव उपर्युक्त वाक्य मात्र द्रव्यान्तर का विधान करने वाले हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १६॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि वैदिक वाङ्मय में पठित 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' तथा 'सोमेन यजेत' आदि वाक्यों को अपने प्रसङ्ग में पढ़े जाने से उन्हें अनुवादक माना जाये अथवा अपूर्व कर्मों का विधायक? अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

**( २१६ ) द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको-**
**द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** पशुसोमयोः = 'अग्नीषोमीयं' एवं 'सोमेन यजेत' यह दोनों वाक्य, द्रव्य संयोगात् = पशु एवं सोम द्रव्य से संयुक्त होने के कारण, चोदना = अपूर्व कर्म के विधानकर्त्ता हैं, प्रकरणे = प्रकरण में पठित 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' एवं 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों का विधायक माना जाये तो, द्रव्य संयोगः = पशु एवं सोम द्रव्य का संयोग, हि = निश्चय ही, अनर्थकः = प्रयोजन विहीन सिद्ध होगा, (अतएव) तस्य = सोम तथा पशु का श्रवण, गुणार्थेन = गुणरूप से भी उसका श्रवण, न हि = नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' तथा 'सोमेन यजेत' आदि वाक्य अपूर्व कर्मों के विधानकर्त्ता हैं। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' एवं ऐन्द्र वायवं गृह्णाति वाक्यों द्वारा 'अग्नीषोमीय पशुयाग एवं सोम याग का विधि-विधान उपलब्ध नहीं होता। कारण यह कि हृदय आदि शारीरिक अंग-अवयव न तो पशु हैं और न ही ऐन्द्रवायव सोम रस को सोम माना जा सकता है।' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्यों में क्रमशः पशु एवं सोम पद से क्रमानुसार सींग, पूँछ एवं चार पद से युक्त आकृति विशेष का ज्ञान प्राप्त होता है,

शास्त्रों द्वारा किये गये निर्देश एवं लोक में किया जाने वाला व्यवहार इसका स्पष्ट प्रमाण है। पशुओं के अंग-अवयवों जिह्वा, छाती एवं हृदय आदि का बोध प्रकृत में पढ़े गये पशु पद के उच्चारण से नहीं किया जा सकता। अतएव इन उक्त पदों को पशु याग का विधान कर्त्ता नहीं माना जा सकता। 'सोमेन यजेत' भी इसी तरह आकृति विशेष के कारण सोमलता का वाचक है। कदाचित् यदि किन्हीं स्थलों पर सोम पद का अर्थ सोम रस मिलता हो, तो उसे गौण ही मानना चाहिए। इस प्रकार 'पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य प्रकृत में पठित वाक्यों के अनुवादक न होकर अपूर्व कर्मों के विधायक हैं, यही मानना युक्तियुक्त है॥ १७॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न अब यह है कि 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' एवं 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में द्रव्य का निर्देश है, तो क्या उन्हें विधि वाक्य नहीं माना जाना चाहिए ? सूत्रकार ने इसका समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( २१७ ) अचोदकाश्च संस्कारा: ॥ १८ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संस्कारा: = प्रकृत में पठित वाक्यों में प्रयुक्त पशु एवं सोम रूप द्रव्यों के संस्कार, अचोदका: = याग कर्मों के विधान कर्त्ता नहीं है।

**व्याख्या—** गत सूत्र में प्रसङ्गवश आये हुए 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' में ग्रहण एवं 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' वाक्य में अवद्यति अर्थात् अवदान रूप संस्कार अपूर्व यागों के विधान कर्त्ता नहीं माने जा सकते। 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि तो इन्द्र एवं वायु आदि देवताओं के निमित्त दिये जाने वाले सुसंस्कारित द्रव्य दान के केवल संकल्प मात्र का ही बोध कराते हैं, परन्तु देवता के निमित्त किये जाने वाले द्रव्य के दान का संकल्प याग के अभाव में सम्पन्न ही नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में याग के विधि-विधान का अवलोकन करना होगा, जिसे 'सोमेन यजेत' वाक्य द्वारा बतलाया गया है। अतएव प्रकृत में पठित उक्त वाक्य किसी याग कर्म के विधान कर्त्ता नहीं हैं। अपितु विधि वाक्यों द्वारा बोधित यज्ञीय कर्मानुष्ठान में अपेक्षित द्रव्यों के संस्कार मात्र को ही निर्देशित करते हैं। देव विशेष से संस्कार युक्त द्रव्य का संयोग तथा उसका निर्देश अदृष्टार्थक ही हो सकता है। प्रसङ्ग प्राप्त 'पशुमालभेत' के प्रकरण में पढ़े जाने वाले 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' वाक्यों द्वारा पशुयाग में अपेक्षित अंग-अवयव हृदय, जिह्वा, वक्ष तथा इन अंगों से उपलक्षित अन्य अंग-अवयवों को स्वच्छ-पवित्र बनाने रूप अवदान संस्कार को निर्देशित किया गया है। पशुओं के अंग-अवयवों के अवदान रूप संस्कारों का बोध कराने तक ही ये वाक्य सीमित हैं,न कि याग कर्म के विधान कर्त्ता हैं; किन्तु यज्ञीय प्रक्रिया के अभाव में संस्कारों की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। अतएव 'पशुमालभेत' वाक्य द्वारा उस यज्ञीय प्रक्रिया का विधि-विधान बतलाया गया है और इन वाक्यों की उस यज्ञीय कर्मानुष्ठान में उपयोगिता होने के कारण ये वाक्य उसके शेष हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १८॥

**नोट- 'आलभेत' पद का अर्थ मारना करके कतिपय नये टीकाकारों ने विवेक का आश्रय न लेकर मीमांसा को दूषित किया है। प्राप्ति अर्थ वाले लभ् धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होने पर इस पद की सिद्धि होती है तथा आङ् उपसर्ग जुड़ जाने पर 'आलभेत' पद का अर्थ होगा भली-भाँति प्राप्त करना, स्पर्श करना आदि। धात्वर्थ में मारना अर्थ तो किसी प्रकार हो नहीं सकता। वैदिक वाङ्मय में इस पद का प्रयोग स्पर्श करने के अर्थ में परिलक्षित होता है। इसी तरह अवदान पद का अर्थ भी स्वच्छ-पवित्र, साफ-सुथरा होता है।**

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि 'सोमेन यजेत' को अपूर्व विधि मानने पर तो 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' की तरह विकल्प मानना पड़ेगा; क्योंकि देवता निर्देश रूप प्रयोजन दोनों का एक ही है। अतएव 'सोमेन यजेत' को अपूर्व विधि मानना क्या उचित होगा ? आचार्य ने कहा—**

## ( २१८ ) तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वा- दनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तद्भेदात् = उस (पात्र अथवा देवता) के भेद से, कर्मणः = कर्म (सोमयाग) की, अभ्यासः = (अभ्यास) आवृत्ति होती है, द्रव्यपृथक्त्वात् = क्योंकि ग्रह संज्ञक पात्रों में स्थापित किये गये सोमरस रूपी द्रव्य के पृथक्-पृथक् होने के कारण (ही संस्कार भेद उपलब्ध होता है)। द्रव्यगुणीभावात् = द्रव्य (सोमरस) के प्रतिग्रहण के गुणभूत होने के कारण उसका भी, भेदः = संस्कार का भेद अर्थात् अभ्यास हुआ करता है, हि = क्योंकि एक बार ग्रहणोपरान्त याग सम्पन्न करने की स्थिति में, अनर्थकम् = 'अश्विनो दशमो गृह्यते' आदि क्रम विधान अर्थहीन, स्यात् = हो जाया करता है।

**व्याख्या—** 'ऐन्द्र वायवं गृह्णाति,' एवं 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' वाक्य मात्र द्रव्य के साथ देवता के सम्बन्ध को प्रकाशित करते हैं। इन वाक्यों में ऐसा कोई भी निर्देश नहीं कि जिससे यह संकेत मिलता हो कि इन्द्र एवं वायु या मित्र-वरुण के लिए याग सम्पन्न करना चाहिए । इन वाक्यों का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि इन्द्र, वायु देवता-सम्बन्धी सोम रस (द्रव्य) का ग्रहण करता है तथा मित्र , वरुण देवता-सम्बन्धी सोमरस का ग्रहण करता है। 'सोमेन यजेत' वाक्य को अपूर्व विधि न मानने की स्थिति में तो यह सोमरस द्रव्य ग्रहण स्वरूप संस्कार अर्थहीन ही सिद्ध होगा; क्योंकि विधि के अनुपलब्ध रहने से ग्रह संज्ञक पात्रों में ग्रहण किये गये सोमरस रूपी द्रव्य से यजन की क्रिया का सम्पादन ही नहीं हो सकेगा, जिसके कारण सोमरस का यह संस्कार अनर्थक हो जायेगा। पात्र विशेष में जिस देवता को संकल्प कर सोमरस रूप द्रव्यस्थापन किया जाता है, उस द्रव्य का यजन भी उसी संकल्पित देवता के लिए सम्पन्न किया जाता है। इन्द्र-वायु देवता मित्र-वरुण देवता दोनों के सोमरस रूप द्रव्यों में भेद है। देवता भेद एवं पात्र भेद होने के कारण याग की आवृत्ति हुआ करती है। इसी तरह ग्रहण की आवृत्ति होना भी आवश्यक होता है। कारण यह कि ग्रहण संस्कार कर्म होने के कारण गौण तथा सोमरस रूपी द्रव्य सुसंस्कारित होने के कारण प्रधान है और इसका अभ्यास (आवृत्ति) भी आवश्यक है। अतएव 'सोमेन यजेत' को अपूर्व विधि स्वीकार किये जाने पर देवता भेद के कारण एक ही सोमयाग का अभ्यास (आवृत्ति) मान्य होने से दस ग्रहों का समुच्चय उपयुक्त हो जाता है; परन्तु यदि उपर्युक्त वाक्यों को विधान कर्त्ता मानकर 'सोमेन यजेत' वाक्य को उनका अनुवादक माना जाता है, तो इसका आशय यह होगा कि एक मात्र देवता से ही यज्ञीय प्रक्रिया की सम्पूर्णता का होना और ऐसी स्थिति में ग्रहों का समुच्चय व्यर्थ ही होता है। अतः दशों पात्रों का एक साथ ग्रहण करने के पश्चात् विभाग पूर्वक यज्ञीय प्रक्रिया का सम्पादन नहीं करना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक पात्र भेद एवं देवता भेद के समान उनके ग्रहण का भेद भी समीचीन एवं उचित है। अतः 'सोमेन यजेत' वाक्य को अपूर्व विधि ही मानना चाहिए॥ १९॥

**जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का यह है कि 'खादिरे बध्नाति' एवं 'पलाशे बध्नाति' आदि वाक्यों में स्तम्भ रूप द्रव्य होने के कारण 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्य में विधान किये गये समान द्रव्य भेद होने से याग की आवृत्ति करनी चाहिए? सूत्रकार ने कहा नहीं, ऐसा उचित नहीं; क्योंकि—**

**( २१९ ) संस्कारस्तु न भिद्यते परार्थत्वात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** तु = (तो) यह पद आशङ्का के निवारणार्थ है। संस्कारः = पशु-बन्धन रूप संस्कार की आवृत्ति, भिद्यते = यूप भिन्नता होने से, न = नहीं होगी; क्योंकि, परार्थत्वात् = पशु बाँधने के निमित्त होने से यूप, गुणभूतत्वात् = गुणभूत होने के कारण (गौण) है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मकाण्ड में पशु बन्धन की प्रक्रिया पूरी करने के लिए खैर अथवा ढाक की लकड़ी का एक स्तम्भ गाड़ा जाता है, जिसे यूप कहते हैं। शिष्य ने अपनी आपत्ति में कहा कि जिस प्रकार यूप निर्माण में खैर अथवा ढाक या बहेड़ा आदि लकड़ियों में विकल्प माना है, वैसे ही 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि में भी मैत्रावरुण-सोमरस द्रव्य का विकल्प स्वीकार्य होना चाहिए। सूत्रकार ने कहा कि ऐसा कहना सर्वथा अनुचित

है, क्योंकि ग्रह पात्रों में स्थापित सोमरस रूप द्रव्य सोमयाग का प्रधान साधन है, जिसका विकल्प संभव ही नहीं; परन्तु यूप की स्थिति इससे भिन्न है; क्योंकि पशु बन्धन के निमित्त खैर या ढाक अथवा बहेड़ा किसी भी लकड़ी का यूप उपयोगी हो सकता है, ऐसा सुना जाता रहा है। जबकि याग प्रक्रिया के प्रति इन्द्र-वायु आदि श्रुत नहीं, अपितु ग्रह ग्रहण के प्रति सुने जाते हैं, अतएव स्तम्भ रूप द्रव्य के कारण पशु बन्धन रूप संस्कार की आवृत्ति संभव नहीं॥ २०॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते' तथा 'सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजायतेराप्त्यै' आदि वैदिक वाङ्मय में पठित वाक्यों में प्रयुक्त सत्रह की संख्या पृथक् अपूर्व विधि है या सत्रह पशु समुदाय वाला एक कर्म है? सूत्रकार ने अगले सूत्र में जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( २२० ) पृथक्त्वनिवेशात् संख्याया कर्मभेद स्यात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** पृथक्त्व निवेशात् = पृथक्ता का ज्ञान कराने में उपलब्ध रहने के कारण, संख्यया = सत्रह संख्या होने से, कर्मभेदः = यहाँ कर्मभेद, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय में पशुयाग के प्रसङ्ग में पठित 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते' वाक्य में प्रयुक्त सप्तदश संख्या का तात्पर्य सप्तदश पशुयागों का विधान करना है। पशुओं में भिन्नता है अर्थात् सभी पशु पृथक्-पृथक् हैं, याग की पूर्णता एक पशु के प्रदान किये जाने से हो जाती है। पशुयाग को पृथक्-पृथक् मानने पर ही सप्तदश संख्या की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। अतएव संख्या के आधार पर यहाँ कर्मभेद मानना न्यायोचित है। द्रव्य ही याग का प्रमुख साधन होता है, उसके भेद के कारण ही याग भेद हो सकता है, विशेषतः संख्या भेद से उसका भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अतएव द्रव्य साधन से सम्पन्न होने वाला सप्तदश याग एक नहीं माना जा सकता॥ २१॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि ज्योतिष्टोम यज्ञों के प्रकरण में पठित ज्योतिः आदि पद ज्योतिष्टोम के प्रतीक के रूप में उसके अनुवादक माने जाते हैं तथा उसमें सहस्रदक्षिणा रूप गुण का विधान बतलाते हैं अथवा इन संज्ञाओं के ये स्वतन्त्र विधि हैं? आचार्य ने अगले सूत्र में शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( २२१ ) संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ-** च = तथा, संज्ञा = ज्योति आदि नाम भी कर्म के भेद कर्त्ता हैं, उत्पत्तिसंयोगात् = क्योंकि विधि वाक्यों में सुने जाने के कारण कर्म के विधायक वाक्यों के साथ उसका संयोग है।

**व्याख्या-** अथैष ज्योतिः, अथैषविश्वज्योतिः, अथैषसर्वज्योतिः। एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत, आदि विधि वाक्यों में पढ़े गये ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः पद अपूर्व कर्मों के विधान कर्त्ता हैं। ज्योतिष्टोम यज्ञों के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण उक्त संज्ञायें ज्योतिष्टोम की प्रतीक होने के साथ-साथ उन्हीं की अनुवादक हैं, ऐसा कथन करना सर्वथा अनुचित है। अनुचित इसलिए कि इनकी अभिव्यक्ति का शुभारम्भ 'अथ' पद के साथ किया गया है, जो यह दर्शाता है कि इनका कथन पूर्व में किया ही नहीं गया। तो फिर इन संज्ञा-पदों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक नहीं ही माना जाना चाहिए; क्योंकि विधि-वाक्यों द्वारा ही ज्योतिः, विश्वज्योतिः आदि कर्मान्तरों का विधान किया गया है। प्रकरण की तुलना में वाक्य की महत्ता अधिक बलवती होती है, इस कारण प्रकरण बल से भी उक्त नामों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक नहीं माना जा सकता; क्योंकि मात्र एक दो वर्णों की समानता के आधार पर उक्त संज्ञाओं को ज्योतिष्टोम का प्रतीक मान लेना कदापि उचित नहीं होगा। उदाहरणार्थ-गृहबोधक 'शाला' पद के 'ला' अक्षर की समानता यदि 'माला' पद के साथ कर दी जाये, तो 'माला' पद गृह बोधक कभी भी नहीं हो सकता। ठीक यही स्थिति ज्योतिः, विश्वज्योतिः एवं सर्वज्योतिः संज्ञक पदों में भी हुआ करती है, ऐसा समझना चाहिए। यह तीनों उपर्युक्त पदों का पाठ ज्योतिष्टोम यज्ञों में

किया गया है। तीनों पदों में प्रयुक्त 'ज्योतिः' पद का अनुवाद करके उस वाक्य द्वारा उसमें एक सहस्र दक्षिणा युक्त इस संज्ञा से तीन यागों के विधान को बतलाया है। ताण्ड्य ब्राह्मण (१६/१/११) एवं आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (१३/५/१) में ज्योतिष्टोम याग की दक्षिणा १०१२ (द्वादशं सहस्रं दक्षिणा = द्वादश अधिक सहस्र = १०१२) बताया है; किन्तु इन ज्योतिः आदि यागों में दक्षिणा का विधान एक हजार गायों के दान का ही है। ऐसी स्थिति में यदि इन पदों को ज्योतिष्टोम का अनुवादक स्वीकार किया जाता है, तो ताण्ड्य ब्राह्मण एवं आपस्तम्ब सूत्र में वर्णित दक्षिणा का उक्त विधान बाधित होगा, जिसमें अनिष्ट की संभावना है। अतएव 'ज्योति' आदि पदों को ज्योतिष्टोम का अनुवादक नहीं माना जा सकता। ज्योतिष्टोम एवं ज्योतिः आदि यागों में दक्षिणा का भेद होने से ज्योतिः आदि याग ज्योतिष्टोम आदि यागों से पृथक् अपूर्व कर्म हैं, ऐसा स्पष्ट होता है॥ २२॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यह है कि चातुर्मास याग के वैश्वदेव प्रकरण में पठित 'तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्'। इस वाक्य का अर्थ है कि तप्त दूध में दही डालता है, जिसके कारण दूध फट जाता है। उसके गाढ़े भाग को आमिक्षा एवं पतले वाले भाग को वाजिन कहते हैं। उक्त वाक्य में कहा कि विश्वेदेव देवताओं के लिए आमिक्षा एवं वाजिन देवताओं के लिए वाजिन है, तो क्या वाजी पद विश्वेदेव देवताओं का अनुवाद कर्त्ता होकर उसमें वाजिन गुणों का विधान बतलाता है या दोनों पृथक् कर्म हैं? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान किया—**

## (२२२) गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अपूर्वसंयोगे = अपूर्व के साथ संयोग होने में (कर्म के विधान होने में), वाक्ययोः = दोनों वाक्यों ('सा वैश्वदेवी आमिक्षा' एवं 'वाजिभ्यो वाजिनम्') के, समत्वात् = समानता युक्त होने से, गुणः = देवता रूप गुण-कर्म का भेद कर्त्ता हुआ करता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का आशय यह है कि उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'वैश्वदेवी' पद में तद्धित प्रत्यय एवं दूसरे 'वाजिभ्यः' पद में चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग द्वारा देवता के रूप एवं गुणों का समान रूप से विधान किये जाने के कारण इन वाक्यों में कोई भी एक वाक्य दूसरे वाक्य का अनुवादक नहीं माना जा सकता। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि आमिक्षा रूप द्रव्य से बोधित होने के कारण वैश्वेदेव याग पहले से ही आकांक्षा रहित है, जिससे द्रव्य का संयोग सम्भव ही नहीं। इसके अतिरिक्त विश्वेदेव पद का अनुवाद भी वाजिभ्यः पद द्वारा नहीं किया जा सकता है, कारण यह कि वह उनका पर्याय वाचक नहीं है। अतएव 'वाजिभ्यो वाजिनम्' वाक्य वैश्वदेव याग में देवता के गुणों का विधान कर्त्ता नहीं, किन्तु कर्मान्तर का विधायक है। कहने का भाव यह है कि देवता के साथ द्रव्य का संयोग नियामक तद्धित प्रत्यय अथवा चतुर्थी विभक्ति पूर्वक हुआ करता है, ऐसा पूर्व में इसी विवेचन के अन्तर्गत कहा जा चुका है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि दूसरे वाक्य का चतुर्थ्यन्त पद 'वाजी' विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक नहीं माना जा सकता। दोनों वाक्यों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा दोनों ही अलग-अलग कर्मों के विधान कर्त्ता हैं॥ २३॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने 'वाजिभ्यो वाजिनम्' को गुणविधि बतलाने हेतु जो अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, वाक्यों का उदाहरण दिया गया, उसको स्पष्ट किया—**

## (२२३) अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, यह पद आशङ्का निवारण हेतु प्रयुक्त है। अगुणे = गुण रहित कर्म का विधान कर्त्ता है, कर्म शब्दे = अपूर्व कर्म के विधायक वाक्य में, तत्र = वहाँ (उसमें पठित 'दध्ना जुहोति' आदि से बतलाये गये कर्म में) गुणः = गुण के विधान की, प्रतीयेत = प्रतीति की जानी चाहिए।

**व्याख्या-** कर्म का विधान करने वाले किसी वाक्य में यदि देवता अथवा द्रव्य रूप गुणों के निर्देश का अभाव

रहता है, तो वहाँ उसके सन्निकट पढ़े गये वाक्यों में गुण का विधान देख लेना चाहिए। उपर्युक्त दध्ना जुहोति आदि में द्रव्य रूप गुण का विधान संयुक्त है; क्योंकि अग्निहोत्र हवन के विधान कर्त्ता 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में द्रव्य रूप गुण का निर्देश नहीं है। ऐसी स्थिति में वहाँ द्रव्य गुण की आकांक्षा सन्निकट पढ़े गये दध्ना जुहोति आदि वाक्यों द्वारा पूर्ण होती है। जबकि वाजिभ्यो वाजिनम् की स्थिति उससे भिन्न है; क्योंकि यहाँ द्रव्य एवं देवता दोनों का निर्देश प्राप्त है॥ २४॥

**'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' अर्थात् इन्द्रिय की कामना वाले के लिए दधि से हवन करना चाहिए, अग्निहोत्र के प्रकरण में ऐसा पाठ मिलता है। इस पर जिज्ञासु शिष्य यह कहता है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' कहने के अनन्तर फिर आगे इन्द्रिय कामना वाले के लिए दधि से हवन करने का विधान बतलाया, तो क्या यह दधि होम इन्द्रिय फल के लिए कर्मान्तर का विधान करता है अथवा यह दधि होम कर्मान्तर है ? शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( २२४ ) फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** फलस्य = फल के, कर्मयोगित्वात् = कर्मयोगी (कर्म के साथ योग) होने से, (एवं) फलश्रुतेः = फल का श्रवण किये जाने से, तु = तो, कर्म = यह दधि होम अपूर्व कर्म ही, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों की कामना करने वाले को चाहिए कि वह दधि से हवन करे। जैसे कृषि कार्य के अभाव में व्रीहि (अन्न) मिलना सम्भव नहीं, वैसे ही दधि होम जिसका फल इन्द्रिय पुष्टि है, उसे कर्मान्तर मानने पर ही सिद्ध किया जा सकता है। 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' एक वाक्य है तथा इसे गुणभूत मानने की स्थिति में 'दध्ना' का इन्द्रिय एवं होम दोनों के साथ एक साथ संयोग हो पाना संभव नहीं और यदि 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्' अर्थात् दही के द्वारा इन्द्रिय फल की सिद्धि करना कहा जाये, तो दधि से हवन करने की बात रह जाती है और यदि 'दध्ना होमं भावयेत्' दही के द्वारा हवन की सिद्धि करनी चाहिए, ऐसा कहें तो इससे फल का कथन ही नहीं हो पायेगा; किन्तु वाक्य भेद उत्पन्न हो जायेगा। अत: इसे अग्निहोत्र का शेष मानकर अग्निहोत्र में दही रूप गुण द्वारा फल का विधान कर्त्ता कहना उचित नहीं। अत: अग्निहोत्र कर्म दधिहोम कर्म से पृथक् होने से दधिहोम को कर्मान्तर मानना ही उचित होगा॥ २५॥

**सूत्रकार अब शिष्य की जिज्ञासा का अगले सूत्र में समाधान करते हैं—**

## ( २२५ ) अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** अतुल्यत्वात् = तुल्य (समान) न होने से, वाक्ययोः = उपर्युक्त दोनों वाक्यों के, तु = तो उसे (दधिहोम) को कर्मान्तर कहना उचित नहीं, तस्य = उसका (दधिहोम का) गुणे = इन्द्रियरूप गुण में फल सम्बन्ध, प्रतीयेत = प्रतीत होता समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस वाक्य में अग्निहोत्र कर्म के साथ स्वर्ग प्राप्ति रूप फल का कथन है, जबकि इसके प्रतिकूल 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में दही द्रव्य रूप गुण के साथ फल का कथन किया गया है, न कि कर्म के साथ । कर्म के साथ यदि फल का कथन किया गया होता, तो यह भी पहले वाक्य की तरह ही कर्मान्तर का विधान करने वाला होता। इस वाक्य में कहीं भी ऐसी प्रतीति नहीं होती कि इन्द्रिय रूप फल की प्राप्ति हेतु हवन करे, परन्तु इतना ही अर्थ प्राप्त होता है कि इन्द्रिय कामना वाला दही से होम करे। आशय यह है कि इन्द्रिय की कामना करने वाले के लिए दधि द्रव्य रूप गुण से होम की उपलब्धि होती है। अतएव प्रमुखत: यह वाक्य दधि द्रव्य रूप गुण का विधान करता है, अत: दधिहोम को कर्मान्तर नहीं माना जा सकता, अपितु अग्निहोत्र होम में दधि द्रव्य रूप गुण से फल के सम्बन्ध का कथन है, ऐसा समझना चाहिए॥ २६॥

**शिष्य की जिज्ञासा पर सूत्रकार अगले सूत्र में 'वारवन्तीय' आदि के कर्मान्तर होने का कथन करके समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २२६ ) समेषु कर्मयुक्तं स्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** समेषु = समान वाक्यों में, कर्मयुक्तम् = अपूर्व कर्म के साथ फल का संयोग, स्यात् = होना चाहिए (आशय यह है कि इस प्रकार के वाक्यों में अपूर्व विधि सहित उसके फल का निर्देश हुआ करता है।)

**व्याख्या—**'त्रिवृदग्निष्टुद् अग्निष्टोमः, तस्य वायव्यासु एक विंशम् अग्निष्टोमसामत्वा ब्रह्मवर्चसकामास' यजेत ताण्ड्य ब्राह्मण (१७/६/१-२) में पठित इस वाक्य में ब्रह्मवर्चस की कामना वाले के लिए जिस प्रकार अग्निनुष्टुत् अग्निष्टोम सोमयाग करके उसके द्वारा यजन का विधान है, उसी प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण (१७/७/१) में पठित 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयम् अग्निष्टोम साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' वाक्य में पशु की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए वारवन्तीय साम याग करके उसके द्वारा यजन का विधान किया गया है। वाक्य में प्रयुक्त एतस्य सर्वनाम पद पूर्व में निर्देशित विधि का परामर्श कर्त्ता न होकर मात्र प्रसङ्ग की स्मृति कराता है। वह इस कारण से कि पूर्व में पढ़ी गई अग्निष्टुत् अग्निष्टोम साम की रेवती नाम वाली ऋचा है ही नहीं, अतएव इस स्थल पर उसका परामर्श आधारहीन होने के कारण युक्ति-युक्त नहीं होगा।

ताण्ड्य ब्राह्मण (१७/७/१) के वाक्य को यदि पशुरूप फल की सिद्धि हेतु पूर्व में पढ़े गये याग में वारवन्तीय साम रूप गुण का विधान कर्त्ता मानें, तो इसमें वाक्य भिन्नता का दोष प्रकट हो जाता है। वैसी दशा में पहला वाक्य बनेगा-वारवन्तीय सामरूप गुण याग का साधन है। दूसरे वाक्य का स्वरूप होगा- याग पशुरूप फल का साधन है और तब वाक्य को गुण तथा फल दोनों का विधान कर्त्ता मानना होगा, कारण यह कि दूसरा कोई वाक्य पशुरूप फल का विधान करने वाला दीखता ही नहीं, अतः द्वितीय वाक्य को गुण का विधान कर्त्ता न मानकर पहले वाले याग से पृथक् पशुरूप फल से युक्त वारवन्तीय साम-गुण विशिष्ट अपूर्व कर्म का विधान करने वाला मानना ही उचित होगा॥ २७॥

**'यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः सौभरेण स्तुवति। हीष् इति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्ग् इत्यन्नाद्य कामाय ॐ इति स्वर्ग कामाय, सर्वे वै कामाः सौभरम्' अर्थात् जिसे वृष्टि की कामना हो, जिसे अन्न की कामना हो तथा जिसको स्वर्ग की कामना हो, वह सौभर साम से स्तुति करे। इसके पश्चात् पाठ का अर्थ है— वृष्टि चाहने वाले व्यक्ति के लिए सौभर साम का समापन हीष् पद से करना चाहिए तथा अन्न आदि की कामना करने वाले व्यक्ति को सौभर साम का समापन ऊर्ग् पद से करना चाहिए। स्वर्गकामी व्यक्ति के लिए सौभर साम का समापन 'ऊ' पद से करना चाहिए। सौभर साम से समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं।**

**जिज्ञासु शिष्य कह रहा है कि आनुपूर्वी से पढ़े गये इन दोनों वाक्यों में एक ही कर्म का विधि-विधान उपलब्ध है? अथवा पृथक् कर्मान्तर के विधान हैं? शिष्य की इस जिज्ञासा को आचार्य ने अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( २२७ ) सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** सौभरे = सौभर साम से सम्बन्ध रखने वाले, निधने = निधन के विषय में, पुरुषश्रुतेः = 'कुर्यात्' क्रियापद बोध्यकर्त्ता पुरुष का प्रयत्न सुने जाने से, कामसंयोगः = फल विषयक कामना के संयोग का बोध होता है। (आशय यह है कि सौभर साम याग से एक फल एवं निधन से दूसरा फल हुआ करता है, वृष्टि रूप फल ही दोनों स्थानों पर है, परन्तु दुहरा होने के कारण अच्छी वृष्टि का विधान बतलाया गया है।)

**व्याख्या—** उपर्युक्त दोनों वाक्यों को एक ही कर्म का विधान कर्त्ता मानने पर वृष्टि, अन्नाद्य एवं स्वर्ग इन समस्त फलों का विधान पहले वाले वाक्य से ही हो जाने की स्थिति में दूसरा वाक्य अर्थहीन हो जायेगा। अतएव निधन वाक्य की सार्थकता बनी रहे, इसके लिए इसे कर्मान्तर माना जाना आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रकार सौभर साम वृष्टि आदि फलों का साधन भूत है, उसी तरह 'हीष्' आदि पद के द्वारा संकेत प्राप्त निधन भी वृष्टि आदि फलों का साधनभूत है। अतः इन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् कर्म मानना ही उचित एवं युक्ति-युक्त होगा॥ २८॥

**सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अगले एवं वर्तमान पाद के अन्तिम सूत्र में किया—**

**( २२८ ) सर्वस्य उक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = पूर्वपक्ष के परिहार के लिए यह पद प्रयुक्त है। सर्वस्य = प्रस्ताव से लेकर निधन तक समस्त सौभर साम याग का, उक्तकामत्वात् = अभिव्यक्त की गई कामनाओं वाला होने से, पुनः श्रुतिः = द्वितीय वाक्य में वृष्टि आदि फल का दुबारा सुना जाना, निधनार्था = निधन के व्यवस्थापन हेतु, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'वा' पद पूर्वपक्ष का निवारण करता है, जो यह स्पष्ट करता है कि निधन का फल दूसरा हुआ करता है। वृष्टि की कामना वाला व्यक्ति 'हीष्' पद को उच्चरित करे, निधन वाक्य का ऐसा अर्थ नहीं होता, प्रत्युत् 'हीष्' पद सौभर साम के समापन को प्रकाशित करता है। अब यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि कौन से सौभर साम के समापन का? वृष्टिकाम, अन्नाद्य काम एवं स्वर्गकाम तीनों में से किसका? उत्तर यह है कि- वृष्टि की कामना वाले सौभर साम का समापन (निधन) 'हीष्' पद के उच्चारण के साथ करना बतलाया है। विभिन्न कामनाओं से युक्त सौभर साम के निधन (समापन) हेतु विभिन्न पदों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। 'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्' वाक्य इस बात की व्यवस्था का कथन करता है कि वृष्टि की कामना युक्त सौभर साम का समापन 'हीष्' पद के उच्चारण के साथ ही किया जाना चाहिए न कि अन्य पद के साथ। ऐसे ही अन्न आदि की कामना वाले सौभर साम का समापन ऊर्क पद का निधन (समापन) अन्य पद के साथ न करके 'ऊर्क' पद के साथ करना चाहिए और स्वर्ग की कामना वाले सौभर साम का समापन मात्र 'ऊ' पद के साथ ही होता है। इसी विधि-व्यवस्था हेतु हर एक निधन (समापन) के साथ दुबारा फल को निर्देशित किया गया है। अतएव फल की निर्देशात्मक पुनरुक्ति न तो अतिरिक्त फल का विधान करती है और न ही प्रमाद युक्त पाठ है। इस तरह सौभर साम का शुभारम्भ प्रस्ताव से लेकर निधन (समापन) तक अपने सम्पूर्ण अवयवों का सम्पादित करता हुआ कामना के अनुरूप 'हीष्' 'ऊर्क' एवं 'ऊ' पदों सहित पूर्ण हो जाता है। भिन्न-भिन्न न होकर यह एक ही कर्म है। अतः निधन (समापन) वाक्य कर्मान्तर का विधान कर्त्ता नहीं है, ऐसा समझना चाहिए॥ २९॥

## ॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

# ॥ अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

**पिछले पाद के अन्तर्गत प्रसङ्गवश ग्रह संज्ञक दस काष्ठ पात्रों का वर्णन किया गया। दस काष्ठ पात्रों में विभिन्न देवताओं को लक्ष्य करके संस्कारित सोम-रस भरे जाने की बात कही गयी, परन्तु समस्त पात्रों का एक साथ भरा जाना सम्भव न हो पाने के कारण क्रमपूर्वक इस क्रिया का सम्पादन किया जाता है। कौन सा प्रसङ्ग उपस्थित होने पर किस देवता को लक्ष्य करके पात्र को पहले आपूरित किया जाये, इस अधिकरण में इसी विवेचन को सूत्रकार प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित करते हुए वे कहते हैं—**

**( २२९ ) गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत् संयोगस्याशेषभूतत्वात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो यह शब्द निषेध के अर्थ में प्रयुक्त है। गुणः = रथन्तरसाम एवं बृहत्साम आदि ये पद ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता स्वरूप गुण के विधान कर्त्ता नहीं हैं, क्रतु-संयोगात् = क्योंकि पदों में बहुब्रीहि समास होने से उसी आधार पर क्रतु के साथ इन पदों का सीधा संयोग होने के कारण एवं, संयोगस्य = क्रतु के साथ संयोग के, अशेषभूतत्वात् = अशेषभूत अर्थात् पूर्ण क्रतु का स्वरूप होने से, कर्मान्तरम् = कर्मान्तर अथवा इन पदों के क्रतु विशेष होने का, प्रयोजयेत् = प्रयोजक है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि रथन्तरसाम एवं बृहत्साम इन दो सामों के अलावा जिसका दूसरा कोई साम न हो, इन दोनों पदों से वही क्रतु अभीष्ट माना गया है। उसका अशेषभूत अथवा पूर्ण क्रतु होना उसी स्थिति में स्पष्ट हुआ करता है; किन्तु ज्योतिष्टोम याग के गायत्र, त्रिवृत् आदि दूसरे भी बहुत से साम हैं, अतएव रथन्तर एवं बृहत्साम ये दोनों क्रतु ज्योतिष्टोम याग से पृथक् कर्म हैं, ऐसा मानना चाहिए। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि रथन्तर एवं बृहत्साम आदि सामगुण हैं तथा रथन्तर साम आदि जिस कर्म में उपलब्ध हैं, उस कर्म विशेष से संयोग की प्राप्ति से उस कर्म को इस ज्योतिष्टोम कर्म से भिन्न सिद्ध करता है। वह इसलिए कि प्रकृत याग में जगत् संज्ञक कोई साम नहीं तथा विषय में प्रयुक्त वाक्यों में 'जगत्' साम वाले कर्म विशेष की अभिव्यक्ति की गई है। अतएव वह वाक्य रथन्तर एवं बृहत्साम आदि पदों के द्वारा ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उसमें ग्रह-ग्रहण स्वरूप गुण विशिष्टता का किसी प्रकार का विधायक न होकर मात्र वह गुण विशेष 'रथन्तर साम' एवं 'बृहत्साम' आदि के कर्मान्तर का विधायक है, ऐसा मानना उचित होगा॥ १ ॥

**अगले सूत्र में आचार्य शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हैं—**

**( २३० ) एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** तु = इस पद का प्रयोग पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु हुआ है। इसका आशय यह है कि रथन्तर एवं बृहत्साम कर्मान्तर नहीं अपितु, एकस्य = एक ही ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग हैं, लिङ्गभेदात् = लिङ्ग रूप विशेषण के भेद से, प्रयोजनार्थम् = ग्रह-ग्रहण रूप प्रयोजन के निमित्त, उच्येत = उन वाक्यों की अभिव्यक्ति की गई है, (अतएव) गुणवाक्यत्वात् = ग्रह-ग्रहण रूप विशेष गुण का विधान कर्त्ता होने से, एकत्वम् = कर्म में एकता है (रथन्तर एवं बृहत्साम ज्योतिष्टोम याग से पृथक् कर्म न होकर उसी के शेष हैं, ऐसा समझना चाहिए)।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत रथन्तर साम एवं बृहत्साम ज्योतिष्टोम की ही विशेषण परक अभिव्यक्ति करते हैं। उस समय जिस ग्रह संज्ञक पात्र को सोम रस से भरा जाय, उस क्रिया के अनुसार वह रथन्तर या बृहत्साम संज्ञक हो जाता है। इसी उद्देश्य को रथन्तर साम यस्मिन् क्रतौ (जिसमें रथन्तर से संदर्भित क्रिया हो, वह रथन्तर) तथा बृहत्साम यस्मिन् क्रतौ सः (जिसमें बृहत्साम संदर्भित क्रिया हो वह बृहत्साम) जैसे वाक्यों से स्पष्ट किया गया है। किस सामगान वाले ज्योतिष्टोम याग के समय किस ग्रहसंज्ञक पात्र को

सोमरस से प्रथम आपूरित किया जाये, इस प्रयोजन विशेष के लिए ही ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में उक्त वाक्यों का कथन किया गया है। ढाक की कठौती (ग्रह पात्र) में सोमरस भरे जाने की प्राथमिकता का सामगान एवं बृहत्सामगान निमित्त (लिङ्ग) हैं। जिस ज्योतिष्टोम याग के क्रम में रथन्तर साम का गान किया जाता है, वह गान माध्यन्दिन में ही क्यों न किया जाये, ऐन्द्रवायव ग्रह पात्र ही उस ज्योतिष्टोम याग में सर्वप्रथम सोमरस से पूर्ण किया जाता है, जबकि उस ग्रह पात्र को प्रातः सवन में भरा जाना चाहिए। कौन सा सामगान माध्यान्दिन सवन में किया जाना है, उसी के अनुरूप प्रातः सवन में विशेष देवता वाले ग्रह पात्र में सोमरस भरने की प्राथमिकता का निर्धारण भी होना है, इस सबकी जानकारी याज्ञिकों को रहा करती है। किसी तरह का कोई वस्तु सत् द्रव्य साम गान नहीं है। यज्ञीय क्रियाओं एवं यज्ञीय भावों में उनके ज्ञान के आधार पर यदि कार्य-कारण भाव की कल्पना कर भी ली जाये, तो इसमें किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं आता। आशय यह है कि ज्योतिष्टोम याग में जो स्तोत्र गान किया जाता है, उसमें सामगान के विकल्प का विधान है तथा विकल्प के उसी विधान के अनुसार ग्रह-ग्रहण रूप गुण की विधि-व्यवस्था के निमित्त ही उक्त वाक्य अभिव्यक्त किये गये हैं। अतएव यह ग्रह-ग्रहण रूप कर्म ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने के कारण कर्मान्तर नहीं हो सकता, परन्तु ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उसमें रथन्तर साम एवं बृहत्साम आदि ज्योतिष्टोम के विशेषणों के प्रभाव के कारण-ग्रहण रूप गुण विशिष्टता का विधायक है॥ २॥

**अवेष्टि के प्रसङ्ग में पठित 'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आहुतिमाहुतिं हुत्वा अभिघारयेत्' यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्' वाक्य राजसूय याग के अन्तर्गत ब्राह्मणादि वर्गों का जो निर्देश एवं उसके अनुसार विशेष हवि को मध्य में रखने रूप गुण का विधान कर्त्ता है? या यह अपूर्व विधि है? शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

## ( २३१ ) अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** अवेष्टौ = अवेष्टि संज्ञक इष्टि में, यज्ञसंयोगात् = राजसूय यज्ञ के साथ संयोग सम्बन्ध होने से (उक्त वाक्य में ब्राह्मण आदि का सुना जाना), क्रतुप्रधानम् = इनके मुख्य क्रतु अपूर्वविधि होने का, उच्यते = कथन करता है।

**व्याख्या—** 'राजा राजसूयेन यजेत' की विधि-व्यवस्था के अनुसार मात्र राजा ही राजसूय यज्ञ करने का अधिकार रखता है। अवेष्टि नामक इष्टि राजसूय क्रतु का ही शेषभूत यज्ञीय कर्म है। 'राजा राजसूयेन यजेत' वाक्य में प्रयुक्त 'राजन्' पद विशेष रूप से क्षत्रिय वर्ण का कथन करता है। जबकि क्षत्रिय के अतिरिक्त ब्राह्मण एवं वैश्य आदि भी राज्य करने वाले हो सकते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्तियों को राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी नहीं माना है और यदि वह व्यक्ति जो प्रशासन से रहित है, किन्तु क्षत्रिय वर्ण का है, तो वह राजसूय यज्ञ करने का अधिकरी है, ऐसा स्वीकार किया गया है। अतएव लोक-व्यवहार में क्षत्रिय से अतिरिक्त ब्राह्मण, वैश्य आदि के लिए 'राजन्' पद का प्रयोग नैमित्तिक होने के कारण गौण माना जाना चाहिए। आशय यह है कि ब्राह्मण एवं वैश्य आदि को 'राजन्' की संज्ञा तो दी जा सकती है, किन्तु एक तरह की औपचारिक ही होगी। इसलिए अवेष्टि कर्मों के अन्तर्गत 'यदि ब्राह्मणो यजेत' आदि वाक्यों से ज्ञात होने वाला यज्ञीय कर्म राजसूय यज्ञ में गुण विशिष्टता का विधान कर्त्ता न होकर कर्मान्तर है, ऐसा सुनिश्चित समझना चाहिए। इसके प्रतिकूल इन्हें गुणविधि की मान्यता देने पर ब्राह्मण आदि के द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठानादि का विधि-विधान उलटा हो जायेगा, जो राजसूय की विधि-व्यवस्था के विपरीत ही होगा॥ ३॥

**'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' तैत्तिरीय ब्राह्मण में पठित इस वाक्य का अर्थ है ब्राह्मण वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में एवं वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि का आधान करे। उक्त वाक्य**

**ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके अग्न्याधान हेतु वसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि समय ( ऋतु ) विशेष के विधान कर्त्ता हैं ? या अग्न्याधान के विधानकर्त्ता हैं ? शिष्य की इस जिज्ञासा का सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान किया—**

**( २३२ ) आधानेऽसर्वशेषत्वात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** असर्वशेषत्वात् = अग्न्याधान के शेष न होने से, आधाने = आधान के विषय में पठित उक्त वाक्य अग्नि के आधान का प्रतिपादन करते हैं।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'शेष' पद का प्रयोग 'अङ्ग' अर्थ में हुआ है। कोई भी मांगलिक कृत्य अथवा यज्ञानुष्ठान अग्नि के अभाव में पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकते, इस आधार पर अग्नि समस्त कर्मों का शेष है। अतएव अग्नि को सभी कर्मों का अशेष बतलाना सङ्गत नहीं, इसके कारण उक्त पद का यथार्थ अर्थ जानना आवश्यक हो जाता है। आचार्य का भाव है कि-अनुष्ठान करने वाले किसी एक व्यक्ति द्वारा आधान किये हुए अग्नि में किसी दूसरे अनुष्ठाता द्वारा अनुष्ठेय कर्म का सम्पादन नहीं किया जा सकता। अनुष्ठान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने अनुष्ठेय कर्मों के हेतु अग्न्याधान स्वयं करे। क्रय आदि उपायों अथवा याचना द्वारा अग्नि की प्राप्ति कर लेना किसी भी प्रकार शास्त्रानुकूल नहीं माना जा सकता। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्य का प्रमुख उद्देश्य अग्न्याधान में है तथा ये वाक्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों के लिए समय विशेष में होने वाले अग्न्याधान के विधान कर्त्ता हैं। इसी विवेचन में बताया कि दूसरे उपायों से प्राप्त अग्नि में किया जाने वाला अनुष्ठान फल रहित ही होता है, अतएव उपुर्यक्त वाक्य को अग्न्याधान का विधान-कर्त्ता मानना पूर्णत: न्यायोचित है॥ ४॥

**वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता में पठित 'दाक्षायण यज्ञेन यजेत प्रजाकाम:, साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकाम:, सक्रमयज्ञेन यजेत अन्नाद्यकाम:' अर्थात् प्रजा की इच्छा वाले व्यक्ति को दाक्षायण यज्ञ से, पशु की कामना करने वाला साकम्प्रस्थायीय यज्ञ से तथा अन्नाद्य की कामना वाले व्यक्ति संक्रमण यज्ञ के द्वारा यजन करना चाहिए। शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या ये उपर्युक्त वाक्य दर्श-पौर्णमास में दाक्षायण आदि निमित्त द्वारा फलाभिव्यक्ति करके प्रकृत यज्ञों के गुण विधि माने जाते हैं या उक्त संज्ञक कर्मान्तर हैं ?**

**आचार्य ने अगले सूत्र में शिष्य जिज्ञासा को सूत्रित किया—**

**( २३३ ) अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** अयनेषु = दाक्षायण आदि अयन नामक इन वाक्यों में, चोदनान्तरम् = कर्मान्तर (भिन्न कर्म) का विधान है (अतएव उनमें), संज्ञोपबन्धात् = विशिष्ट नाम का निर्देश होने से कर्म संज्ञा का सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** 'दाक्षायण यज्ञेन यजेत प्रजाकाम:' इस वाक्य में 'अयन' पद 'दाक्षायण' में प्रयुक्त हुआ है। इस एक वाक्य के 'अयन' पद से संलग्न होने के कारण साथ में पढ़े जाने वाले दूसरे वाक्यों को भी यह संज्ञा प्रदान कर दी गई। यही स्थिति लोक व्यवहार में भी परिलक्षित होती है, जब समूह में पाँच-सात व्यक्ति जा रहे होते हैं और उस समूह में से मात्र एक ही व्यक्ति छाता ताने हुए होता है, तो उस एक ही छाते के होने से लोग कहते हैं कि वो देखो छतरी वाले लोग कितनी मस्ती भरी चाल से चले जा रहे हैं। ऐसे ही किसी एक नाम में 'अयन' पद के सम्मिलित हो जाने से उसके साथ में पढ़े जाने वाले सभी वाक्यों को अयन संज्ञक बताया है। सूत्र में बहुवचनान्त 'अयनेषु' पद का प्रयोग इसी हेतु हुआ है। अत: दाक्षायण एवं 'साकं प्रस्थायीयेन' आदि संज्ञक किसी गुण विशेष के विधायक न होकर अपूर्व कर्म के विधायक हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**इसी मान्यता की पुष्टि में सूत्रकार और भी हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

**( २३४ ) अगुणाश्च कर्मचोदना॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अगुणात् = किसी अन्य गुण के निर्देशात्मक विधान का अभाव होने से ('दाक्षायणयज्ञेन

यजेत आदि उपर्युक्त वाक्य'), कर्मचोदना = अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त 'दाक्षायण यज्ञेन यजेत' आदि वाक्यों को यदि कर्मान्तर का विधान कर्त्ता माना जाये, तो उस स्थिति में इनके द्वारा किया जाने वाला उपदेश ही अर्थहीन हो जायेगा। उक्त सभी वाक्यों के साथ किन्हीं गुणों की अभिव्यक्ति नहीं की गई है और यदि किसी तरह गुणों की कल्पना उनमें कर भी ली जाये, तो यज्ञ एवं गुणों के संयोग की जानकारी करके उसके यज्ञीय अनुष्ठान की विधि-व्यवस्था स्वीकारी जाये; किन्तु यहाँ गुणों के निर्देश के न होने में मात्र याग के अनुष्ठान की विधि-व्यवस्था का ही बोध हुआ करता है॥ ६॥

**कर्मान्तर का विधायक होने की उपर्युक्त मान्यता के पक्ष में सूत्रकार ने एक दूसरा हेतु भी दिया—**

## ( २३५ ) समाप्तं च फले वाक्यम्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, (दाक्षायणयज्ञेन यजेत आदि) वाक्यम् = वाक्य, फले = सन्तति एवं मोक्ष रूप फल का कथन करने में अपनी उपयोगिता सिद्ध करके, समाप्तम् = आकांक्षा रहित-पूर्ण हो जाया करते हैं।

**व्याख्या—** 'दाक्षायणयज्ञेन' आदि वाक्य यदि गुणविधि होते, तो फल के साथ कर्म सम्बन्ध का कथन करने के अनन्तर आकांक्षा रहित न हो जाते, किन्तु गुण के विधान कर्त्ता होने से आकांक्षा युक्त बने रहते। जबकि उक्त वाक्य फल के निर्देश के साथ समाप्त हो जाते हैं। अतएव ये गुण विधि न होकर कर्म विधि ही हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**आगे के सूत्रों में अब सूत्रकार शिष्य की विस्तार पूर्ण जिज्ञासा का समाधान करते हैं—**

## ( २३६ ) विकारो वा प्रकरणात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। इस पद से यह आशय स्पष्ट होता है कि 'दाक्षायण यज्ञेन' आदि वाक्य कर्म विधि न होकर, प्रकरणात् = दर्शपौर्णमास याग के प्रकरण में पठित होने के कारण, विकार: = गुण विशेष के विधानकर्त्ता हैं (दर्शपौर्णमास में गुण विशेष के विधायक हैं।)

**व्याख्या-** उत्साह से युक्त यजमान को 'दक्ष' तथा यज्ञानुष्ठान सम्पन्न कराने वाले ऋत्विजों को 'दाक्ष' एवं आवृत्ति को अयन कहते हैं। जिस यज्ञानुष्ठान में 'दाक्ष' कर्तृक आवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, उसे 'दाक्षायण' यज्ञ कहा जाता है। उपर्युक्त समस्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग के विकृत स्वरूप होने से उन दाक्षायण आदि वाक्यों के विशिष्ट गुणों के विधान कर्त्ता हैं। ऐसी मान्यता से दर्शपौर्णमास प्रकरण की सामंजस्यता का भाव भी बना रहता है॥ ८॥

**समाधान परक उपर्युक्त विवेचन के पक्ष में सूत्रकार ने और भी कारण बतलाये—**

## ( २३७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = 'दाक्षायण यज्ञेन' आदि उपर्युक्त वाक्यों के विकृतिरूप कर्म होने में लिङ्ग का दिखलायी पड़ना भी यह सिद्ध करता है कि उक्त वाक्य कर्मान्तर न होकर दर्शपूर्णमास याग के गुण का विधान करने वाले हैं।

**व्याख्या—** वेद वाङ्मय के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण (११/१/२/१३) में —'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। यदि दाक्षायण याजी स्याद्, अथोऽपि पंचदशैव वर्षाणि यजेत। अत्र ह्येव सा सम्यक् सम्पद्यते। द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावस्ये। अत्र ह्येव खलु सा सम्पद् भवति' यह वाक्य पाठ रूप में प्राप्त होता है। इस वाक्य का अर्थ है-तीस वर्षों तक दर्शपौर्णमास याग का यजन करना चाहिए। यदि दाक्षायण याग सम्पन्न करने वाला हो ,तो उसे पन्द्रह वर्ष तक ही यजन करना चाहिए। दाक्षायण याग को दर्श-पौर्णमास का शेष (अङ्ग) माने जाने की स्थिति में ही इस कथन की सामंजस्यता संभव है। तीस वर्षों में सम्पन्न होने वाला दर्श-पौर्णमास

यज्ञानुष्ठान दाक्षायण याजी द्वारा प्रत्येक पूर्णिमा एवं अमावस्या में प्रातः व सायं दोनों समय दो-दो यज्ञ सम्पन्न किये जाने से पन्द्रह वर्षों में ही पूर्ण कर लिया जाता है। इसको समझने में यह अभिव्यक्ति इस बात का लिङ्ग है कि दाक्षायण याग एवं दर्शपौर्णमास याग दोनों में भिन्नता का सर्वथा अभाव है॥ ९॥

**गत पाँचवें सूत्र में प्रयुक्त 'संज्ञोपबन्धात्' के आधार पर जो उक्त 'दाक्षायणयज्ञेन यजेत' आदि वाक्यों को कर्मान्तर कहा, अगले सूत्र में आचार्य उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २३८ ) गुणात्संज्ञोपबन्धः॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** गुणात् = गुणविशिष्टता के बारम्बार किये जाने वाले कथन से, संज्ञोपबन्धः = दाक्षायण आदि नामों का उपबन्ध किया गया है।

**व्याख्या—** जिज्ञासु शिष्य ने पूर्वपक्ष के प्रसङ्ग में कहा था कि दाक्षायण आदि संज्ञा दर्श-पौर्णमास याग के नहीं हैं, अतएव दाक्षायण आदि नामों को दर्शपौर्णमास का शेष (अङ्ग) नहीं मानना चाहिए; क्योंकि उन्हें कर्मान्तर मानना ही उचित है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि दक्ष+अयन के मेल से 'दाक्षायण' पद बना है तथा प्रसङ्गगत वाक्यों में 'दाक्षायण' संज्ञा प्रथम है। 'दक्ष' पद विशिष्ट व्यक्ति संज्ञक तथा अयन का तात्पर्य गति अथवा प्रवृत्ति से है। दक्ष नामक पुरुष द्वारा गतिमान् किये जाने से ही इस याग को दाक्षायण कहते हैं। आशय यह है कि 'दाक्षायण' शब्द बारम्बार की प्रवृत्ति रूप गुण की अभिव्यक्ति करता है, इसी कारण दाक्षायण यज्ञ कहलाता है, किसी अपूर्व कर्म विधि से प्रयोजन रखने के कारण नहीं, ऐसा समझना चाहिए॥ १०॥

**पूर्वपक्ष की ओर से सातवें सूत्र में कर्मान्तर होने में वाक्य के आकांक्षा रहित होने का जो कारण प्रस्तुत किया गया था, अगले सूत्र में सूत्रकार ने उसको स्पष्ट किया—**

## ( २३९ ) समाप्तिरविशिष्टा॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** समाप्तिः = फल के निर्देश के अनन्तर उस वाक्य का आकांक्षा रहित हो जाना, अविशिष्टा = कर्मफल के सम्बन्ध एवं गुण फल के सम्बन्ध दोनों में समान रूप से है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार मोक्ष एवं प्रजा रूप सन्तति आदि फल के साथ कर्म सम्बन्ध का कथन किये जाने से वह वाक्य आकांक्षा रहित हो जाता है, वैसे ही फल के साथ उन गुणों के सम्बन्धों का कथन करने से भी वह वाक्य आकांक्षा-विहीन हो जाता है। आशय यह है कि दोनों ही स्थिति में कर्मविधि से सम्बन्धित फल निर्देश हो या गुण विधि का; फल के कथन के अनन्तर वाक्य की पूर्णता समान ही बनी रहती है, किसी तरह का भेद नहीं रहता। अतएव वाक्यों का आकांक्षा रहित होना कर्मान्तर का विधायक नहीं माना जा सकता, इसलिए उन्हें गुणविधि ही मानना चाहिए॥ ११॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि वेद वाङ्मय में कुछ ऐसे भी वाक्य प्राप्त होते हैं, जिनका पाठ किसी कर्म विशेष के प्रकरण में नहीं किया गया है तथा उनके द्वारा विहित गुण आदि का सम्बन्ध प्रकृत यज्ञ के साथ हुआ करता है, ऐसे वाक्य गुणविधि हैं अथवा भिन्न कर्म या याग युक्त कर्म? शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य ने स्वयं सूत्रित किया—**

## ( २४० ) संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणे = प्रकरण में पाठ न किये जाने वाले वाक्य, अकर्मशब्दत्वात् = कर्म के विधानकर्त्ता शब्द के वहाँ अभाव से उक्त वाक्य, च = भी, संस्कारः = वेद विहित कर्म में संस्कार विशेष के विधान कर्त्ता होने के कारण संस्कार कर्म ही हैं (गुणविधि हैं)।

**व्याख्या—** 'वायव्यं श्वेतं', एवं 'सौर्यं चरुं' आदि दर्शपूर्णमास यागों के प्रकरण में अपठित वाक्यों को विधि वाक्य की मान्यता नहीं दी जा सकती। अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने में जो वाक्य समर्थ होता है, उसे ही विधि

वाक्य माना जाता है, जैसा कि आचार्यों का मत है- 'अज्ञातार्थबोधको विधि:'। 'वायव्यं श्वेतं' तथा 'सौर्यं चरुं' आदि वाक्यों में ऐसा एक भी पद नहीं है, जो इन वाक्यों को विधि वाक्य होना सिद्ध कर सके। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम:' एवं 'ब्रह्मवर्चस काम: सौर्यं चरुं निर्वपेत्' वाक्यों में प्रयुक्त 'आलभेत' एवं 'निर्वपेत्' पदों से भी किसी अज्ञात अर्थ के प्रकरण में पढ़े जाने वाले वाक्यों ('ईषामालभते' तथा 'चतुरो मुष्टीन्निर्वपति') से यह जाना गया है। अतएव दर्शपूर्णमास यागों के प्रकरण में अपठित उपर्युक्त वाक्य स्पर्श रूप संस्कार गुण के विधान कर्त्ता हैं, न कि अपूर्व कर्मों के विधायक। उक्त वाक्य उसी के अनुवादक होकर उनमें सम्पन्न किये जाने वाले संस्कार विशिष्टता का ही बोध कराते हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

**अगले सूत्र में जिज्ञासा के द्वितीय पक्ष को सूत्रकार ने सूत्रित किया—**

## ( २४१ ) यावदुक्तं वा कर्मण: श्रुतिमूलत्वात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्व पक्ष का ही द्योतक है। यावदुक्तम् = उपुर्यक्त वाक्यों में जितना बताया है कि उक्त वाक्य स्पर्श एवं निर्वाप मात्र संस्कार कर्म के विधायक हैं, वही कर्त्तव्य है। कर्मण: = (क्योंकि) कर्म के, श्रुतिमूलत्वात् = श्रुतिमूलक होने से श्रुति के कथन में ही कर्म की सम्पूर्णता जाननी चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त दोनों वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में यदि नहीं पढ़े गये, तो उस दशा में तो वे स्पर्श आदि के अनुवादक होकर श्वेत आदि गुणों के विधायक भी नहीं हो सकते; क्योंकि अप्रकरण पठित होने के कारण उनके साथ कोई संयोग ही नहीं बनेगा और सम्बन्ध के अभाव में गुण-विधान भी कैसे किया जा सकता है? अतएव उपर्युक्त दोनों वाक्य सम्पूर्णता आदि फल हेतु मात्र स्पर्श तथा निर्वाप भाव कर्मों के ही विधायक हैं। श्रुति मूलक होने से स्पर्श एवं निर्वाप का वहाँ श्रवण है तथा उसी के अनुरूप कर्म का विधान भी स्वीकार किया गया है। अत: प्रकरण में पढ़े गये आलम्भ एवं निर्वाप कर्मान्तर ही हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ १३॥

**शिष्य द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा एवं उसके विकल्प रूप द्वितीय पक्ष का सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान किया—**

## ( २४२ ) यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के परिहार के लिए प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि दर्शपूर्णमास प्रकरण में न पढ़े गये आलम्भ एवं निर्वाप जितना वाक्य में बताया गया है, उतना कर्म नहीं है। प्रत्युत, यजति: = उक्त वाक्य प्रधान कर्मों के विधायक (याग) हैं। द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात् = द्रव्य, फल एवं (भोक्ता) देवता तीनों का संयोग प्राप्त होने से, एतेषाम् = द्रव्य, फल, देवता तीनों के, कर्मसम्बन्धात् = याग कर्म-प्रधान कर्म का सम्बन्ध होना नियत होने से भी उक्त वाक्य याग कर्म हैं।

**व्याख्या—** द्रव्य एवं देवता तथा फल भोक्ता (देवता) का उक्त वाक्यों में निर्देश है। वाक्य में प्रयुक्त ये सभी आलम्भ-निर्वाप के सम्पूर्ण याग होने के प्रयोजक हैं, प्रयोजन ही उसका फल है। जिस वाक्य के द्वारा द्रव्य, फल एवं भोक्ता तीनों का सम्बन्ध सुना जाये, वह प्रधान कर्म का विधान कर्त्ता माना जाता है। सूत्र में जबकि 'देवता' पद का वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु याग के स्वरूप के अन्तर्गत द्रव्य के साथ देवता का सम्बन्ध सुनिश्चित ही होता है। अतएव 'द्रव्य' पद के उल्लेख के साथ देवता का भी ग्रहण हो जाया करता है, ऐसा समझना चाहिए। इस नियम के आधार पर उक्त वाक्यों से भी श्वेत पशु आदि द्रव्य, वायु आदि देवता एवं ब्रह्मवर्चस (श्रुति) आदि फल सम्बन्धों को सुना जाता है। अतएव वे वाक्य-यावदुक्त कर्म के विधायक न होकर प्रधान कर्म के विधायक हैं। कहने का भाव यह है कि गुणविधि की मान्यता से फल श्रवण निरर्थक हो

जाता है और यावदुक्त निर्णय रूप कर्म जो अतिदेश से उपलब्ध होता है, उसे विधान के रूप में स्वीकार करना युक्ति युक्त नहीं। अतएव यही मानना समीचीन है कि वे उक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता हैं॥ १४॥

**इसी मान्यता की पुष्टि में सूत्रकार ने और भी हेतु प्रस्तुत किया—**

## ( २४३ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = उक्त मान्यता की सिद्धि में अन्य लक्षणों के दृष्टिगोचर होने से भी उक्त कथन युक्तिसंगत है।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता में पठित 'सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत्' अर्थात् सोम तथा रुद्रदेवता वाले चरु का निर्वाप करे। यहाँ चरु के विधि-विधान का पाठ भी है- 'परिश्रिते याजयति' चतुर्दिक् घिरी हुई वेदिका पर याग को सम्पादित कराता है। यह परिश्रयण कहलाता है। परिश्रयण का अर्थ है चतुर्दिक् घेरना। उसके अनुसार परिश्रयण विधि वाक्य में 'यजति' पद के द्वारा विधि के द्वारा विधि के कथन का सामञ्जस्य उसी स्थिति में स्थापित हो सकता है, जब इसे याग रूप कर्म की मान्यता दी जाये। प्रकृति याग में यदि इनको यावदुक्त कर्म की मान्यता दी जाती है, तो उसकी पुनराभिव्यक्ति 'यजति' पद से सिद्ध नहीं हो सकती, कारण यह कि याग का सम्पादन इन युग्म पक्षों से हो नहीं सकेगा। उन वाक्यों में याग विधायक होने में लिङ्ग है। अतएव 'आलभेत' एवं 'निर्वपेत्' यावदुक्त कर्म न होकर यागरूप हैं, ऐसा सुनिश्चित मानना चाहिए॥ १५॥

**अग्निहोत्र प्रकरण में गो दोहन प्रसङ्गान्तर्गत 'वत्समालभते, वत्सनिकान्ता हि पशवः' मैत्रायणी संहिता का यह वाक्य मिलता है। शिष्य की जिज्ञासा यह है कि पूर्व की तरह 'वत्सालम्भ' याग रूप है या संस्कार? सूत्रकार ने अगले सूत्र में बताया—**

## ( २४४ ) विशये प्रायदर्शनात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** विशये = अग्निहोत्र प्रकरण में सुना जाने वाला 'वत्समालभते' के प्रति संशय की स्थिति- यह याग स्वरूप है अथवा संस्कारकर्म? सूत्रकार ने संशय का निराकरण किया, प्रायदर्शनात् = गोदोहन आदि के प्रसङ्ग में उस समय बछड़े का स्पर्श मात्र संस्कार अभिप्रेत है।

**व्याख्या—** पूर्व विवेचन में यह बताया जा चुका है कि यज्ञीय कर्मानुष्ठानों में देवता का निर्देश अपेक्षित-आवश्यक हुआ करता है। यहाँ पर उपस्थित प्रसङ्ग में किसी देवता का नाम नहीं है, इस कारण यह 'आलम्भ' याग कर्म नहीं माना जा सकता। कारण यह कि याग का फल सर्वथा अदृष्ट ही माना गया है, जबकि वत्सालम्भ का फल दृष्टगत है। अतएव यह याग कर्म न होकर बछड़े का स्पर्श रूप संस्कार कर्म ही है। गाय को दुहने के समय उसके बछड़े को लाकर गाय के थन से लगाया जाता है, थनों में भरपूर दूध आ जाने पर बछड़े को गाय के सम्मुख रखा जाता है। गाय उसे चाटती रहती है तथा पुरुष भी बछड़े पर हाथ फिराता रहता है, तो इस क्रिया से गाय प्रसन्न होकर जल्दी दूध उतार दिया करती है। इससे गोदोहन की प्रक्रिया में व्यवधान भी नहीं आता। बछड़े का इस प्रकार का आलम्भन बछड़े का स्पर्श स्वरूप संस्कार ही है॥ १६॥

**इसी मान्यता की पुष्टि हेतु आचार्य ने अगले सूत्र से अन्य हेतु प्रस्तुत किया—**

## ( २४५ ) अर्थवादोपपत्तेश्च॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थवादोपपत्तेः = अर्थवाद के द्वारा भी उक्त अर्थ उपपन्न (सिद्ध) होता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिस स्थल पर गोदोहन के अन्तर्गत 'वत्समालभते' वाक्य आया है, वहीं पर 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' यह इस अर्थवाद वाक्य को भी पढ़ा गया है, जिसका अर्थ यह है कि निश्चय ही पशु वत्सप्रिय होते हैं। इन पशुओं में गाय सर्व प्रथम है। भैंस के बच्चे के अभाव में भी भैंस का दूध अन्य उपायों से निकालते देखा जाता है, किन्तु यदि गाय का बच्चा मर जाता है, तो उसकी खाल में भूसा भरकर उसे बछड़े

की आकृति में गाय के सामने खड़ा किया जाता है, जिसको गाय चाटा करती है। इस अर्थवाद वाक्य की सामंजस्यता 'आलभति' का अर्थ स्पर्श रूप संस्कार किये जाने पर ही बैठती है॥ १७॥

**अग्नि चयन के प्रकरण में पठित तैत्तिरीय संहिता के वाक्य 'एतत् खलु वै साक्षादन्नं यदेष चरुः, यदेतं चरुमुपदधाति' तथा इसी क्रम में 'मध्यत उपदधाति, बार्हस्पत्यो भवति' प्राप्त होते हैं। शिष्य की जिज्ञासा यह है कि उक्त वाक्य प्रधान कर्म (त्याग) के विधायक हैं या उपधान रूप संस्कार के विधानकर्त्ता? सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया —**

## (२४६) संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्व पक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि चरुमुपदधाति वाक्य याग हेतु चरु का विधायक नहीं है, अर्थशब्देन = उपधान स्वरूप क्रिया के वाचक अर्थ के साथ, संयुक्तः = संयुक्त चरु पद, तदर्थः = उपधान के निमित्त है, न कि याग के निमित्त, (क्योंकि) श्रुतिसंयोगात् = 'उपदधातु' श्रुति के साथ प्रत्यक्ष संयोग होने के कारण उक्त चरु मात्र उपधान के निमित्त ही है।

**व्याख्या—** अग्निचयन के प्रकरण में पठित 'चरुमुपदधाति' वाक्य जंगली धान्य नीवार से विनिर्मित चरु के उपधान स्वरूप संस्कार का विधायक है। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने कहा कि चरु का सम्बन्ध 'यजति' के साथ न होकर 'उपदधाति' के साथ है। 'उपधान' रखने के अर्थ में प्रयुक्त है, कोदो अथवा साठी के चावल को इष्टिका (ईंटों) पर रखकर पकाया जाता है, पकने पर वही चरु बनता है। चार मुट्ठी चावल का भात 'चरु' तैयार करना एवं उसका स्थान विशेष में रखा जाना ही 'उपधान' कहलाता है। नीवार के द्वारा विनिर्मित किया गया चरु अग्निचयन प्रक्रिया के लिए लायी गई ईंटों (इष्टिकाओं) के बीच रखा जाता है, यही चरु कहलाता है। 'चरुमुपदधाति' वाक्य 'उपधान' के साथ 'चरु' का सीधा सम्बन्ध बतलाता है। इस वाक्य में 'यजति' पद के श्रवण का अभाव है, ऐसी स्थिति में 'यजति' की कल्पना किये जाने से प्रत्यक्ष रूप से सुने जाने वाले 'चरुमुपदधाति' श्रुति द्वारा ज्ञात कराये जाने वाले अर्थ में व्यवधान उपस्थित होगा। अतएव प्रत्यक्ष श्रुति की उपस्थिति में अन्य कल्पना निन्दनीय ही होगी।

इसी प्रकार चरु की प्रशंसा के लिए ही संहिता में 'यह चरु बृहस्पति वाला है'— 'बार्हस्पत्यो भवति' वाक्य से कहा गया है। जबकि यह सम्बन्ध ग्रहण करने योग्य नहीं है; क्योंकि इसमें भी याग हेतु द्रव्य-देवता के सम्बन्ध का पूर्णतः अभाव है। अतएव उक्त वाक्य चरु की यागार्थता के विधायक न होकर चरु के उपधान रूप संस्कार के विधानकर्त्ता हैं, ऐसा मानना न्यायोचित है॥ १८॥

**तैत्तिरीय संहिता में पठित 'त्वाष्ट्रं पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य (पात्नीवत कर्म विशिष्ट संज्ञक विवरण के अन्तर्गत) का अर्थ है- पर्यग्निकरण से संस्कारित त्वष्टा देवता वाले पशु का उत्सर्जन करते हैं। शिष्य जानना चाहता है कि यह पर्यग्निकृत पशु का विधान है? या यह पात्नीवत-कर्म पृथक् याग है? अगले सूत्र में आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान दिया—**

## (२४७) पात्नीवते तु पूर्ववत्वादवच्छेदः॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** पात्नीवते = वाक्य विशेष (पर्यग्निकृतं पात्नीवतं) में, तु = तो, पूर्ववत्वात् = पूर्वनिर्देशित कर्म के होने से, अवच्छेदः = उसी पूर्व निर्दिष्ट कर्म से सम्बन्धित होने से उसी का अनुवाद है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गात् वाक्य 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' में प्रयुक्त 'पात्नीवत' कर्मान्तर न होकर त्वाष्ट्र पात्नीवत का अनुवाद है। 'त्वाष्ट्रं पात्नीवत' संज्ञक यज्ञानुष्ठान में पठित 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत ' में विहित त्वष्टा देवता वाले पशु के आलम्भन का अनुवाद किया गया है। पशु को आवश्यकतानुसार स्पर्श करके पर्यग्निकरण के पश्चात् उसका उत्सर्जन (छोड़) कर दिया जाये। ऐसी मान्यता दिये जाने की स्थिति में पात्नीवत के पृथक्

कर्म होने की कल्पना भी नहीं करनी होगी और न ही किसी वाक्य द्वारा पशु के उत्सर्जन (उत्सृजन्ति पद बोधित) की विधि-व्यवस्था में व्यवधान आयेगा। वैसे भी 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' वाक्य द्वारा पशु का पात्नीवत सम्बन्ध पूर्व में ही ज्ञात होने के कारण 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य से पर्यग्निकृत पशु के साथ पात्नीवत कर्म का सम्बन्ध-विधान आवश्यक नहीं। अतएव इसके पुनर्विधान को यहाँ अनर्थक ही माना जाना चाहिए। विशेषणों के समान होने की दशा में अन्यतर विशेषण-विशेष अर्थ का अनुवादक हो सकता है, उसमें किसी प्रकार दोष नहीं होगा। अतएव 'पात्नीवत' 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' का अनुवाद ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ १९॥

**शिष्य अपनी जिज्ञासा को रखते हुए आगे कहता है- एष वै हविषा हविर्यजति, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय जुहोति' ( यह निश्चय ही हवि से हवि का यजन करता है, जो अदाभ्य का ग्रहण कर सोम के लिए हवन करता है ) तथा 'परा वा एतस्यायुः प्राण एति, योऽशुं ( इसकी आयु अथवा प्राण दूर चला जाता है, जो अंशु का ग्रहण करता है ) क्या ये ज्योतिष्टोम याग में ग्रह विधि है? या अदाभ्य एवं अंशु संज्ञक पात्र विशेष है? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( २४८ ) अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ**—अद्रव्यत्वात् =द्रव्य एवं देवता के निर्देश का अभाव होने से, केवले =केवल अदाभ्य एवं अंशु संज्ञा मात्र के श्रवण से यह दोनों ग्रह, कर्मशेषः = ज्योतिष्टोम यज्ञीय कर्मानुष्ठान के शेष( अङ्ग), स्यात् = होने चाहिए।

**व्याख्या**— यज्ञीय कर्मानुष्ठान में द्रव्य एवं देवता का होना सुनिश्चित माना जाता है। यज्ञीय कर्म उसे ही कहा जा सकता है, जिसके विधान में द्रव्य एवं देवता दोनों का कथन (निर्देश) प्राप्त हो। प्रसङ्गागत वाक्यों में न तो द्रव्य का ही निर्देश है और न ही देवता का, अतः इन्हें स्वतन्त्र याग नहीं माना जा सकता। द्रव्य एवं देवता दोनों को याग का स्वरूप कहा गया है, जिसमें इन दोनों की उपलब्धता हो, वही याग का विधायक है। सूत्र में पढ़ा जाने वाला 'द्रव्य' पद देवता का भी उपलक्षण माना जाता है। अपठित से भी उपर्युक्त नियमानुसार 'द्रव्य' पद के द्वारा देवता का ग्रहण हो जाया करता है। 'अदाभ्य' एवं 'अंशु' ज्योतिष्टोम यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले वे पात्र हैं, जिनमें सोमरस का ग्रहण होता है। ज्योतिष्टोम याग कर्म में ग्रहसंज्ञक पात्र विशिष्टता के विधायक हैं, न कि याग विशेष के, ऐसा समझना चाहिए॥ २०॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यह है कि अग्निचयन विषयक वाक्यों- 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' आदि में प्रयुक्त 'अग्नि' पद ज्योतिष्टोमयागादि से पृथक् अग्निसंज्ञक विशिष्ट कर्म का वाचक है? या याग विशेष का? सूत्रकार ने शिष्य की इस जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित किया—**

## ( २४९ ) अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत॥ २१॥

**सूत्रार्थ**— अग्निः = 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' इस वाक्य में 'अग्नि' पद, तु = तो, लिङ्गदर्शनात् = उसके बोध कराने वाले 'अग्निस्तोत्रम्' आदि स्तोत्र एवं शस्त्र रूप लिङ्ग (हेतु) के दृष्टिगोचर होने से, क्रतुशब्दः = यज्ञ संज्ञक शब्द, प्रतीयेत = प्रतीत होता है।

**व्याख्या**— जिस पदार्थ का सम्बन्ध जिसके साथ सुनिश्चित होता है, उसके कुछ लक्षण नियमबद्ध हो जाया करता है, उन्हीं लक्षणों के दृष्टिगोचर होने पर उनका ज्ञान सहजता पूर्वक हो जाया करता है। ऐसे स्तोत्र एवं शस्त्र का भी याग के साथ एक सुनिश्चित सम्बन्ध है- 'अग्नेः स्तोत्रम् अग्नेः शस्त्रम्' इसमें अग्नि से सम्बन्धित स्तोत्र एवं शस्त्र हैं। यह वाक्य यह बतलाता है कि अग्नि याग की संज्ञा है और 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' वाक्य में प्रयुक्त 'चिनुते' पद लक्षणावृत्ति से याग वाचक माना जाता है। अतएव उक्त वाक्य अग्नि चयन रूप संस्कार कर्म का विधायक न होकर अपूर्व कर्म (याग) का विधायक है॥ २१॥

**इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( २५० ) द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। तात्पर्य यह है कि याग का विधायक नहीं है अग्नि पद, प्रत्युत; द्रव्यम् = द्रव्य वाची, स्यात् = होना चाहिए। चोदनाया: = 'चिनुते' पद की प्रेरणा, तदर्थत्वात् = अग्नि स्थापन अर्थ से है, ऐसा जानना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'अग्नि' पद याग वाचक न होकर विख्यात प्रज्वलन शील द्रव्य वाचक है। 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' में आया हुआ 'चिनुते' पद अग्नि के चयन हेतु है। यह 'चिनुते' पद 'यजति' के अर्थ को अभिव्यक्त करने में सर्वथा समर्थ नहीं हो सकता। ईंटों द्वारा बनाई गई वेदिका पर अग्नि चयन की प्रक्रिया पूर्ण करना ही अग्नि संस्कार कहलाता है। अतएव 'अग्नि' पद याग का वाचक न होकर अग्निष्टोम आदि में अग्नि चयन रूप संस्कार गुणों का विधायक है॥ २२॥

**इसी क्रम में सूत्रकार ने अगला सूत्र भी प्रस्तुत किया—**

## ( २५१ ) तत् संयोगात् क्रतुस्तदाख्य: स्यात्तेन धर्मविधानानि॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** तत्संयोगात् = अग्निचयन प्रक्रिया द्वारा संस्कारित अग्नि के संयोग से उसमें सम्पादित होने वाला, क्रतु = ज्योतिष्टोम याग, तदाख्य: = उस (अग्निसंज्ञक) नाम वाला, स्यात् = होता है, तेन = जिसके कारण 'अग्ने: स्तोत्रम्' आदि वाक्य, धर्मविधानानि = अग्नि संज्ञक यज्ञीय कर्मानुष्ठान की विशिष्टताओं का विधान बतलाते हैं।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत स्तोत्र-शस्त्र-उपसत् उस यज्ञ के धर्म माने गये हैं, जो अग्नि चयन की प्रक्रिया द्वारा सुसंस्कारित यज्ञीय अग्नि में सम्पादित किये जाने के कारण अग्नि संज्ञक है। 'अग्ने: स्तोत्रम्, अग्ने: शस्त्रम्' वाक्य में ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रयोजनार्थ 'अग्नि' पद का प्रयोग हुआ है, न कि किसी अग्नि संज्ञक यज्ञ के प्रयोजनार्थ। उस यज्ञ से अग्नि पद का सम्बन्ध अङ्ग एवं अङ्गी का है। अतएव उपयुक्त वह वाक्य ज्योतिष्टोम याग में स्तोत्र एवं शस्त्र रूपी गुण विशिष्टता का विधान करता है अर्थात् स्तोत्र-शस्त्र अग्नि चयन रूप संस्कार न होकर याग के ही धर्म हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ २३॥

**शिष्य की जिज्ञासा यह है कि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति', 'मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते' आदि वाक्य मासाग्निहोत्र के विधायक हैं? अथवा भिन्न ( पृथक् ) कर्म हैं? आचार्य ने अगले सूत्र में शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( २५२ ) प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्॥ २४॥

**सूत्रार्थ-** प्रकरणान्तरे = अन्य प्रकरण में पढ़े गये वाक्यों का, प्रयोजनान्यत्वम् = प्रयोजन भी अन्य ही होता है। आशय यह है कि नित्य अग्निहोत्र यज्ञ से मासाग्नि होत्र यज्ञीय कर्म पृथक् है।

**व्याख्या-** जिस यज्ञीय कर्मानुष्ठान के प्रकरण में जो वाक्य पढ़े गये हैं, उस वाक्य सम्बन्ध के कारण वही वाक्य उस कर्म में गुण का विधान करने वाले हो सकते हैं। कुण्डपायि-अयन संज्ञक क्रतु विशेष है, जिसका उल्लेख कुण्डपाय्य की संज्ञा पूर्वक पाणिनीय ग्रन्थ अष्टाध्यायी में हुआ है। इस प्रकरण में पठित 'मासमग्निहोत्रं जुहोति', आदि वाक्यों का पाठ सुनिश्चित दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में नहीं होता। अतएव उक्त वाक्यों में 'मास' रूप गुण विशिष्टता का वह विधि-विधान न किये जाने से वह नित्य अग्निहोत्र कर्म से पृथक् मासा-ग्निहोत्र आदि कर्म विशिष्टता का ही विधायक है, ऐसा समझना चाहिए॥ २४॥

**तैत्तिरीय संहिता ( २/२/३ ) में पठित 'अग्नये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्काम:' आदि वाक्यों में प्रयुक्त आग्नेय आदि कर्मों में रुक् ( कान्ति ) आदि फलों के विधायक हैं? अथवा स्वतन्त्र कर्मान्तर? शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( २५३ ) फलं चाकर्मसन्निधौ॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अकर्मसन्निधौ = कर्म विशिष्टता के सामीप्य का अभाव होने की स्थिति में, फलम् = मात्र फल का कथन प्रकरणान्तर से पृथक् कर्म होने का प्रयोजक माना जाता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र में यद्यपि प्रकरण के अन्तर्गत आग्नेय कर्म पठित नहीं है; किन्तु कर्मफल की भिन्नता के कारण वह पद आकांक्षारहित है। जबकि आकांक्षा के अभाव में फल की प्राप्ति संभव नहीं, किन्तु जिसका फल सुना जाता है, उस श्रवण प्रक्रिया के कारण उसका कर्म-सम्बन्ध नियत होता है। कर्म की सन्निधि का तात्पर्य कर्म विधायक पद होने से है, किन्तु प्रसङ्ग प्राप्त उपर्युक्त वाक्यों में ऐसा कोई भी पद नहीं, जिसके द्वारा कर्म का विधान किया जाता हो। तब भी प्रत्येक वाक्य से क्रम प्राप्त कान्ति (रुक्) आदि फल का निर्देश मिलता है। कर्म का विधान करने वाले फल के अभाव में भी मात्र फल का कथन विशिष्ट कर्म का प्रयोजक माना जाता है, कारण यह कि कर्म के रहने पर ही फल पाया जा सकता है। प्रकृतयाग-दर्श-पूर्णमास याग में सुने जाने वाले आग्नेयादि कर्मों का यहाँ अनुवाद रूप कथन नहीं हो सकता; क्योंकि उनके फल (रुक) कान्ति आदि नहीं होते। अतएव दर्शपूर्ण मास याग में आगत आग्नेय आदि कर्म कान्ति फल प्राप्ति के विधायक न होकर आग्नेय आदि कर्मों से पृथक् कर्म के विधान कर्त्ता हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ २५॥

**राजसूय याग के शेष अवेष्टि याग के प्रकरण में पठित 'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति' एवं 'एतया अन्नाद्यकामं याजयेत्' वाक्यों में शिष्य जिज्ञासा करता है कि वाक्य में प्रयुक्त 'एतया' पद अवेष्टि याग के फल का निर्देश करता है? अथवा याग से पृथक् कर्म है? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा—**

**( २५४ ) सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनः श्रुतिः॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** सन्निधौ = अवेष्टि यज्ञानुष्ठान के सामीप्य में पठित 'एतया' आदि वाक्य, अविभागात् = अवेष्टि विधि के विधान कर्त्ता वाक्य से पृथक् होने के कारण, फलार्थेन = फल की अभिव्यक्ति के प्रयोजनार्थ, पुनः श्रुतिः = अवेष्टि याग का ही 'एतया' पद जहाँ पुनः सुना जाता है।

**व्याख्या—** 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' का पाठ अवेष्टि याग की सन्निधि में ही किया गया है। 'एतया' अर्थात् 'एतत्' पद सामीप्य का परामर्श करने वाला है, जिसका कथन अवेष्टि याग के लिए किया गया है तथा उसी के फल का इस प्रसङ्ग में निर्देश हुआ है। आशय यह है कि अन्न आदि की कामना वाले अवेष्टि यज्ञ का ही अनुष्ठान करें। इसमें अवेष्टि याग की ही फल विधि प्रकाशित हो रही है। प्रसङ्ग में विहित हवि द्रव्यों की उपलब्धता भी तभी संभव है, जब इसे अवेष्टि याग ही माना जाये। कर्मान्तर है, यदि ऐसा कहा जाये, तो सर्वथा अनुपलब्ध अन्य प्रकार की हवि आदि की विधि-व्यवस्था भी स्वीकार करनी होगी, जिसका औचित्य नहीं। अतएव वह वाक्य प्रकृत अवेष्टि याग में फल का विधानकर्त्ता होने के कारण कर्मान्तर नहीं हो सकता, यही मानना उचित है॥ २६॥

**दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' एवं 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' वाक्यों का क्रम से अर्थ है कि अग्नि देवता से सम्बन्धित आठ कपालों में सुसंस्कारित किया गया हविद्रव्य अमावस्या एवं पौर्णमासी में भी नहीं छूटता, अवश्य ही हवन किया जाता है। आगे कहा- आगे कहा- आग्नेय अष्टाकपाल अनुष्ठान अमावस्या में किया जाता है। इस पर शिष्य जिज्ञासा करता है- अमावस्या में क्या एक ही बार हवन करना चाहिए? अथवा दो बार? सूत्रकार ने इसी जिज्ञासा को अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( २५५ ) आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करता है। आग्नेयः = 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' आदि वाक्यों में निर्देशित आग्नेय याग का बार-बार सुना जाना, उक्तहेतुत्वात् =मीमांसा दर्शन के २/२/२ सूत्र में कथित हेतु

द्वारा, अभ्यासेन = अभ्यास रूप होने के कारण उसका होना, प्रतीयेत = जानना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रसङ्गवश यहाँ जो कथन उपलब्ध है, वह इसी दर्शन के २/२/२ सूत्र में वाक्य के बारम्बार अभ्यास रूप श्रवण को यजन का प्रयोजक कहा है। यहाँ पर उसी की पुनराभिव्यक्ति हुई है। हवन प्रक्रिया यदि यहाँ दो बार नहीं की जाती है, तो हवन कर्म के अभाव में बारम्बार उसका सुना जाना निरर्थक ही होगा अर्थात् दोनों कर्म पृथक्-पृथक् हैं॥ २७॥

**जिज्ञासा के समाधान के क्रम में आचार्य ने अगले सूत्र में बताया—**

## ( २५६ ) अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेर्न विधीयते॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पर्वपक्ष के परिहारार्थ है। इसका आशय है कि आग्नेय याग दो बार नहीं होना चाहिए। कर्मण: = पूर्वोक्त वाक्य विहित कर्म के, अविभागात् = विभाग (पृथक्-पृथक्) न होने के कारण, द्विरुक्ते: = पुनराभिव्यक्ति द्वारा, विधीयते = उसका विधान दुबारा किया जाना, न = उचित नहीं।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत दोनों वाक्यों के निर्देशानुसार आग्नेय याग का यज्ञीय अनुष्ठान अमावस्या पर्व में दो बार करना उचित नहीं; क्योंकि दोनों वाक्यों का भावार्थ अभिन्न है। वैसे भी इनमें आग्नेय याग के दो बार अनुष्ठान हेतु विधान बतलाने वाला कोई भी पद नहीं मिलता। अर्थ की स्थिति जैसी एक बार के उच्चारण में रहती है, वैसे ही दो बार की अभिव्यक्ति में। बारम्बार कथन किये जाने पर भी वाक्यों का शुद्ध प्रतिपादित अर्थ ही बना रहता है। वैसे भी उक्त वाक्यों में ऐसा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता, जिससे दो बार अनुष्ठान का किया जाना उपलब्ध होता हो। अतएव यह पृथक् कर्म नहीं माने जा सकते॥ २८॥

**समाधान के उसी क्रम में आचार्य ने आगे इस पाद के अन्तिम सूत्र में बताया—**

## ( २५७ ) अन्यार्था वा पुन: श्रुति:॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष का पूर्णरूपेण निवारण करते हुए निर्णायक अर्थ में प्रयुक्त है, पुन:श्रुति: = आग्नेय याग का बार-बार सुना जाना, अन्यार्था =ऐन्द्र याग का स्तावक होने के कारण अन्य प्रयोजन से युक्त है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत 'आग्नेयोऽष्टाकपालो' आदि वाक्य द्वारा निर्देशित आग्नेय याग उस याग से पृथक् है, जो 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां भवति' वाक्य द्वारा बतलाया गया है। पृथक् कर्म किए जाने की स्थिति में अन्यतर याग से अमावस्या में यजन की कल्पना इनमें विकल्प से की गई है, इसी का समाधान पूर्व सूत्र में किया कि उक्त आग्नेय नहीं है। समाधान के उसी क्रम में आचार्य ने आगे कहा कि आग्नेय याग का पुनर्श्रवण रूप प्रयोजन ऐन्द्र याग का स्तावक (अर्थवाद) होने के कारण स्तुति करना है, ऐसा समझना चाहिए। आशय यह है कि पूर्व में वर्णित याग एवं प्रकरण में ऐक्य भाव पूर्णत: बना हुआ है, तो किसी भी विकल्प से वे वाक्य विधायक नहीं माने जा सकते, किन्तु अनुवाद रूप अर्थवाद ही बने रहेंगे। जिस अनुवाद का प्रयोजन विधेय की स्तुति करना है और विधेय इस प्रसङ्ग में 'आग्नेय याग' ही है। अतएव उक्त वाक्य उस याग से भिन्न यागान्तर का विधायक न होकर उस याग की स्तुति करने वाले अर्थवाद ही हैं॥ २९॥

## ॥ इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीय: पाद:॥

# ॥ अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**मीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय के इस चतुर्थ पाद में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि वेद वाङ्मय में पढ़े जाने वाले वाक्य 'यावजीवमग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यावजीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' ( अर्थात् जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए एवं जीवन पर्यन्त दर्शपूर्ण मास यागों से यजन कर्म सम्पादित करते रहना चाहिए ) से जो निर्देश मिलता है कि जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे, तो क्या यह जीवन पर्यन्त किया जाने वाला अग्निहोत्र कर्म, कर्म के अभ्यास वाला रूप माना जाता है? या ये विधि वाक्य हैं? पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—**

**( २५८ ) यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** यावज्जीविकः = जीवन पर्यन्त चलने वाला, अभ्यासः = कर्म की अभ्यास रूप आवृत्ति, प्रकरणात् = अग्निहोत्र कर्म के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण, कर्मधर्मः = अग्निहोत्र कर्म का धर्म है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'यावज्जीविकः' अर्थात् जीवन पर्यन्त चलने वाले अग्निहोत्र को अभ्यास कर्म का धर्म ही मानना चाहिए; क्योंकि नित्य कर्म में अग्निहोत्र को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अग्निहोत्र के प्रकरण में पढ़े जाने से उपर्युक्त वाक्य इस मान्यता का ही समर्थन करता है। अतएव यह कर्म का धर्म है न कि प्रकरण प्राप्त पुरुष द्वारा किया जाने वाला कर्म। अतः यह समझना चाहिए कि उक्त वाक्य पुरुष गत धर्म के विधान कर्त्ता न होकर अग्निहोत्र यज्ञादि कर्मान्तर्गत यावज्जीव स्वरूप धर्म के विधायक हैं॥ १॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार शिष्य की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५९ ) कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** वा = पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त इस पद का आशय यह है कि अभ्यास रूप कर्म का धर्म नहीं है- यावज्जीवन, प्रत्युत, श्रुतिसंयोगात् = श्रुति द्वारा बतलाये गये अर्थ के साथ संयोग होने से, कर्तुः = कर्त्ता रूप पुरुष का धर्म है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत यावज्जीव पद से जीवन का लक्ष्य बोधित होता है, जो जीवन पर्यन्त अभ्यास करना बतलाता है अर्थात् मनुष्य को अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठानों की प्रक्रिया कभी भी बन्द नहीं करनी चाहिए। अभ्यास का विषय क्षेत्र यद्यपि अग्निहोत्र है; किन्तु अग्निहोत्र कर्म का धर्म पुरुष रूप कर्त्ता (अनुष्ठाता) का ही है। अतएव उक्त वाक्य अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास याग के विधायक हैं, तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्मों की आवृत्ति कर्त्ता रूप पुरुष का धर्म है। कारण यह कि श्रुति वाक्यों में पढ़े जाने वाले 'जुहोति' एवं 'यजेत' शब्दों का अर्थ अभिधा शक्ति के द्वारा ऐसा ही ज्ञात होता है॥ २॥

**उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि हेतु आचार्य ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—**

**( २६० ) लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात्॥३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = अन्य हेतुओं के दृष्टिगोचर होने से भी (उक्त मान्यता को बल मिलता है), हि = अतएव, कर्मधर्मे = कर्म का धर्म माने जाने की स्थिति में, प्रक्रमेण = कर्म के आरम्भ से लेकर समापन तक, नियम्येत = नियमपूर्वक होने के कारण कर्म नियन्त्रित होगा, (अतएव) तत्र = वहाँ (उसमें), अन्यत् = कर्म की अवहेलना होने पर बताया गया प्रायश्चित्त विधान, निरर्थकम् = अर्थहीन, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'अव वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपादयति' तैत्तिरीय संहिता (२.२.५) में पठित इस वाक्य का अर्थ है— निश्चय ही वह यजमान स्वर्ग लोक निवासी होने से वंचित हो जाता है, जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर अमावस्या एवं पूर्णमासी को यज्ञीय कर्म किये बिना ही व्यतीत कर देता है। आशय यह है कि अग्निहोत्र एवं दर्शपौर्णमास यज्ञीय कर्म जीवन पर्यन्त चलते रहना चाहिए, बीच में कदापि नहीं रोकना चाहिए। जीवन पर्यन्त किये जाने को कर्म का धर्म माने जाने की स्थिति

में अग्न्याधान कर्म के होने के साथ ही प्रारम्भ होकर मृत्यूपरान्त ही उसका समापन होना चाहिए। ऐसा करते रहने पर समय सीमा का अतिक्रमण भी नहीं होगा अर्थात् अमावस्या एवं पौर्णमासी किसी पर्व पर याग नहीं छूटेगा। ऐसी दशा में तैत्तिरीय संहिता के वाक्य में याग के उल्लंघन में बताया गया प्रायश्चित्त विधान अर्थहीन ही हो जायेगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि यावज्जीव कर्म का धर्म न होकर पुरुष का धर्म है, कर्त्ता के आश्रय में ही कर्म का रहना होता है। 'कर्तुम्, अकुर्तम्, अन्यथा कर्तुम्' में कर्त्ता की ही समर्थता बतलायी गई है। अत: यावज्जीवन कर्म की आवृत्ति कर्त्ता का ही धर्म है, न कि कर्म का॥ ३॥

**इसी विवेचन की मान्यता में सूत्रकार ने अन्य हेतु दिया—**

## ( २६१ ) व्यपवर्गञ्च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेद: स्यात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** व्यपवर्गम् = दर्शपूर्णमास आदि विशेष यज्ञीय कर्म के समापन, च = तथा, कर्मान्तर के विधान को आरम्भ रूप में, दर्शयति = वाक्यान्तर में दिखाता है। चेत् = यदि, काल: = जीवन पर्यन्त समय (काल) उद्देश्य रहता है तो ही, कर्मभेद: = कर्म भिन्नता, स्यात् = सिद्ध होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'यो दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते' अर्थात् जो दर्शपूर्णमास यज्ञीय कर्मों को सम्पन्न करने के पश्चात् ज्योतिष्टोम (सोम) याग सम्पादित करता है। तैत्तिरीय संहिता (२.५.६) के इस वाक्य में दर्शपूर्णमास याग का सम्पादन करने के पश्चात् उससे भिन्न ज्योतिष्टोम यज्ञीय कर्म किया जाना निर्देशित है। कर्मभिन्नता की इस निर्देशात्मक अभिव्यक्ति की सिद्धि तभी हो सकती है, जब प्रसङ्ग में चल रहे 'यावज्जीव' आदि वाक्यों के अन्तर्गत यावज्जीव को लक्ष्य करके अग्निहोत्र एवं ज्योतिष्टोम यागों की विधि-व्यवस्था स्वीकार की जाये। ऐसा स्वीकार करने की स्थिति में उक्त 'यावज्जीव' कर्त्ता का ही धर्म बना रहेगा। कर्त्ता का धर्म न मानकर इसे कर्म का धर्म माने जाने पर उपर्युक्त कर्म भिन्नता की निर्देशात्मक अभिव्यक्ति सिद्ध ही नहीं हो पायेगी, तैत्तिरीय संहिता में जिसका पाठ मिलता है। कारण यह कि जीवन पर्यन्त चलने वाले कर्म का समापन तो तभी होगा, जब जीवन समाप्त हो जायेगा। अतएव ऐसी दशा में उक्त 'दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा' से दर्शपूर्णमास याग का समापन बतलाकर उससे भिन्न कर्म सोमयाग करने के निर्देश का कोई औचित्य ही नहीं है; क्योंकि वह दर्श कर्म तो आजीवन चलता रहेगा। 'यावज्जीव' को यदि पुरुष का धर्म स्वीकार किया जाता है, तो कर्त्ता रूप पुरुष द्वारा निश्चित समय में ही दर्शपूर्णमास को सम्पादित करके उससे भिन्न सोमयाग को भी सम्पादित किये जा सकने के कारण यह आपत्ति औचित्य हीन सिद्ध हो जाती है। अत: यावज्जीव कर्म का धर्म न होकर कर्त्ता का धर्म है, यही मानना युक्तियुक्त है॥ ४॥

**इसी मान्यता की पुष्टि में और भी हेतु देकर सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( २६२ ) अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, यह पद प्रधान अर्थ का कथन करके उसके साथ गौण अर्थ को जोड़ने वाला अन्वाचय अर्थ में प्रयुक्त है। अनित्यत्वात् ='यावज्जीवं' को कर्म का धर्म स्वीकार करने की स्थिति में उसके कामना युक्त श्रेणी में आने के कारण अर्थात् अनित्य होने से भी, एवम् = इसी प्रकार जरा, मृत्यु अवधि से परिपूर्ण, न = नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** शतपथ ब्राह्मण (१२.४.१.१) में पठित वाक्य 'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च' का अर्थ है— अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास याग नितान्त शारीरिक शिथिलता (वृद्धावस्था) अथवा मृत्यूपरान्त ही छूटने चाहिए; क्योंकि यह जरामर्य है, नित्य-नियमित कर्म है। वैदिक कर्म का त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए, उपर्युक्त वाक्य से यही सिद्ध होता है। अतएव 'यावज्जीव' (जीवनपर्यन्त) उक्त कर्म (अग्निहोत्रादि) कर्त्ता का ही धर्म माना जाना चाहिए॥ ५॥

**उपर्युक्त मान्यता की पूर्णतः पुष्टि हेतु एक और प्रमाण रखते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६३ ) विरोधश्चापि पूर्ववत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विरोधः = कर्म का धर्म स्वीकार करने पर विरोध भी, पूर्ववत् = पूर्व वर्णित दोषाभिव्यक्ति के समान ही प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** प्रकृति एवं विकृति दो प्रकार के यज्ञ होते हैं। दर्शपूर्णमास आदि अन्न साध्य यागों को प्रकृति याग तथा सौर्ययाग विकृति की श्रेणी में आते हैं। इनके धर्म में किसी तरह की भिन्नता नहीं; क्योंकि प्रकृति याग के समान ही विकृति याग भी सम्पादित होते हैं— 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस विधान से दर्शपूर्णमासयाग का विधान विकृति सौर्य आदि यागों के लिए स्वीकार्य होगा, परन्तु सम्पूर्ण इष्टियों का जीवन पर्यन्त अनुष्ठान किया जाना संभव नहीं है; क्योंकि सभी याग जीवन पर्यन्त किये जाने की योग्यता नहीं रखते, कारण यह कि ये काम्य याग हैं। इनको त्यागना कामना के अभाव में ही हो सकता है। अतएव विकृति यज्ञों का जीवन पर्यन्त चलने वाला यज्ञीय विधान शास्त्र सम्मत न होकर शास्त्र विरुद्ध है। अतः यावज्जीवन को कर्म का धर्म न स्वीकार कर कर्त्ता का ही धर्म मानना उचित है॥ ६॥

**विचार्यमाण उपर्युक्त विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( २६४ ) कर्त्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** कर्तुः =कर्त्ता के, धर्मनियमात् =धर्म के नियमानुसार, तु =तो, कालशास्त्रम् =समयावधि का विधान करने वाला शास्त्र,दर्शपूर्णमासयागों एवं अग्निहोत्र आदि यज्ञीय अनुष्ठान का प्रयोजक, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'कर्त्तुः धर्मनियमात्' का तात्पर्य-कर्त्ता स्वरूप यजमान के आहिताग्नि होकर यज्ञीय धर्मानुष्ठान के जीवन पर्यन्त सम्पादित करने वाले अनुष्ठान की प्रतिज्ञा करना है। काल शास्त्र का आशय 'यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' आदि वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है। काल की अवधि का-निर्देश करने वाला शास्त्र कालशास्त्र है, यही यज्ञीय धर्मानुष्ठान हेतु समय का निर्धारण करता है। यही धर्मानुष्ठान का प्रयोजक (निमित्त) भी है। धर्मानुष्ठान तभी तक संभव है, जब तक जीवन है। अतएव यावज्जीवन कर्त्ता का धर्म है॥ ७॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्म प्रत्येक शाखा में एक ही है? या शाखा भिन्नता से कर्म में भी भिन्नता है? सूत्रकार शिष्य की जिज्ञासा को पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित करते हैं—**

**( २६५ ) नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** शाखान्तरेषु = अन्य समस्त शाखाओं में, नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिः = नाम, रूप, धर्मविशेष, पुनरुक्ति, निन्दाऽशक्ति समाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात् = निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित्त, अन्यार्थदर्शनरूप कारणों से, कर्मभेदः = कर्म की भिन्नता, स्यात् = है।

**व्याख्या—** शतपथ, गोपथ, साम, एवं ऐतरेय ब्राह्मण, काठक, कालापक, पैप्पलादक, तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि समस्त शाखाओं में अग्निहोत्र सम्बन्धी विशद विवेचन पाया जाता है। सन्देह यह होता है कि एक शाखा में जो कर्म का विधान बतलाया गया है, वही विधान क्या अन्य शाखा में भी उपलब्ध है; या शाखा के भेद के कारण कर्म का भी भेद पाया जाता है? शाखा भेद से कर्म का भेद निम्न हेतुओं पर आधारित है। अतएव कर्म की विभिन्नता मानना उचित ही होगा।

१. नामभेद- एक कर्म काठक शाखा का तथा दूसरा कालापक शाखा का है। काठक शाखा में पठित कर्म काठक तथा कालापक में पठित कालापक कहलाते हैं। इस प्रकार शाखा के नाम भेद से कर्म भेद हो जाता है।

२. रूपभेद- जैसे द्रव्य एवं देवता याग स्वरूप बतलाये गये हैं, किन्तु एक शाखा में एकादश कपाल एवं अन्य शाखा में द्वादश कपाल आदि के रूप भेद के कारण कर्मभेद परिलक्षित होता है।

३. धर्मविशेष- अर्थात् आचरण में भिन्नता का होना। वर्षा की कामना से सम्पादित किये जाने वाले 'कारीरी' याग के मन्त्रों की पाठावधि में तैत्तिरीय शाखा छात्र भूमि पर भोजन करते हैं, जबकि दूसरी शाखा वाले ऐसा नहीं करते। इसी तरह से अग्याधान प्रकरण में अध्ययन काल में किन्हीं शाखा वाले छात्र-अध्यापक को जल कुम्भ प्रदान करते हैं, अन्य शाखा वाले नहीं करते। ऐसे ही अश्वमेध प्रकरण में कुछ शाखाओं वाले घोड़े के लिए घास लाते हैं और ऐसा मानते हैं कि उनके इस कृत्य से उनका भला होगा, जबकि अन्य शाखा वाले ऐसा नहीं करते। अतएव आचरण में भिन्नता होने से शाखा भेद के कारण कर्म में भी भेद हो जाता है।

४. पुनरुक्ति- जिस कर्म को समस्त शाखाओं ने एक मानकर पढ़ा हो, तो किसी अन्य शाखा में उस विहित कर्म की अभिव्यक्ति ही पुनरुक्ति कहलाती है, वैसे पुनरुक्ति व्यर्थ ही है, किन्तु यह पुनरुक्ति प्राप्त होने से कर्मभेद होना निश्चित है।

५. निन्दा- विभिन्न शाखाओं में निन्दा वाक्यों की उपलब्धता से भी कर्मभेद बोधित होता है। उदारहणार्थ—

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुहूति येऽग्नि होत्रम्।
दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्॥

प्रातः काल वे असत्य भाषण करते हैं, जो सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करते हैं। जो अभिव्यक्ति दिन में करनी चाहिए-'सूर्यो ज्योतिः' उसे सूर्योदय से पूर्व रात में अभिव्यक्ति करते हैं। तब इनकी 'सूर्य ज्योति' नहीं होती।

अन्य शाखा वाले सूर्योदय के पश्चात् होने वाले हवन की निन्दा करते हुए कहते हैं— 'यथाऽतिथये प्रद्रुतायात्रमाहरेयुस्तादृक् तद् यदुदिते जुहूति,' अर्थात् जैसे घर में आकर लौटे हुए अतिथि के पीछे अन्न ले जाना है, वैसे ही सूर्योदय के अनन्तर अग्निहोत्र करने वालों का कार्य भी है। शाखा भेद से कर्म भेद मानने पर ही इन निन्दा वाक्यों की सिद्धि हो सकती है।

६. अशक्ति - समस्त शाखाओं में ऐसे बहुत से कर्मों की विधि-व्यवस्था बतलायी गई है, यदि वह सब भेदरहित कर्म हैं, तो उन सभी का सम्पादन किसी एक व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार संभव नहीं। अतएव व्यावहारिक न होने से उन कर्मों का विधान भी अर्थहीन हो जाता है। इसलिए शाखा भेद से कर्म भेद मानना उचित है।

७. समाप्तिवचन- एक ही कर्म का दो स्थानों पर समापन हो, ऐसा संभव नहीं। अतएव तुल्यसंज्ञक कर्म में उसके अनेक अंशों पर समापन की अभिव्यक्ति कर्म के एकत्व का बाधक ही है। किसी शाखा का कथन है- हमारे अग्निचयन कर्म का यहाँ समापन होता है। दूसरी शाखा वालों ने अपने कर्म का समापन अन्य स्थल पर बताया गया। इस प्रकार समापन भेद से कर्म भेद जाना जाता है।

८. प्रायश्चित्त- कतिपय शाखा वाले अनुदित हवन की वेला में अग्निहोत्र न कर पाने पर उसके लिए प्रायश्चित्त कहते हैं, जबकि अन्य शाखा वाले उदित होम के व्यतीत हो जाने पर प्रायश्चित्त करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि अनुदित एवं उदित हवन में भेद है।

९. अन्यार्थदर्शन- अर्थात् जो कथन किसी एक शाखा अथवा ब्राह्मण ने किया, दूसरी शाखाओं द्वारा उससे भिन्न कथन करना। जैसे- किसी ने यज्ञ की दीक्षा ली तो वह प्रथम दीक्षित व्यक्ति ही 'बृहत्सामा' याग का अनुष्ठान करे, कारण कि उसका 'रथन्तरसामा' याग अनुष्ठित हो चुका है; परन्तु यदि प्रथम दीक्षा प्राप्त नहीं की हो, तो वह रथन्तर साम का अनुष्ठान करता है। बारह दिनों में सम्पन्न होने वाले ये दोनों बृहत् एवं रथन्तर साम

ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। यहाँ दीक्षित एवं अदीक्षित दोनों तरह का अधिकार प्राप्त है, किन्तु दूसरी शाखा ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा कि-ज्योतिष्टोम प्रथम यज्ञ है, इसका त्याग कर अन्य यज्ञों से यजन करने वाला पतन के गर्त में गिर जाता है। इसमें अदीक्षित का अधिकार उपलब्ध है, जिसके कारण कर्म भेद प्राप्त होता है। उपर्युक्त नौ हेतुओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शाखा भेद से कर्म का भेद मानना सर्वथा उचित ही है॥ ८॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त जिज्ञासा का समुचित समाधान दिया—**

**( २६६ ) एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। इसका आशय यह है कि विभिन्न शाखाओं में भेद होने की बात निराधार है। क्योंकि; एकम् = विभिन्न शाखाओं में कर्म एक जैसे ही हैं, संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात् = संयोगरूप फल, द्रव्य-देवता आदि के स्वरूप एवं प्रेरणा तथा संज्ञाओं के समन्वय से (कर्म का एकत्व है)।

**व्याख्या—** एक शाखा एवं एक ब्राह्मण ग्रन्थ में अग्निहोत्र याग एवं उसके फल तथा स्वरूप आदि का विधि-विधान बतलाया गया है, उसी प्रकार अन्य शाखाओं एवं ब्राह्मणों में भी वर्णित है। सभी में कर्म विधान कर्त्ता वाक्य कर्म के साथ समान द्रव्य एवं समान देवता का ज्ञान कराते हैं। सबमें कर्मों की संज्ञा भी समान रूप से उपलब्ध है। अतएव कर्म का एकत्व कहीं भी बाधित नहीं होता; क्योंकि यदि उनमें भेद होता, तो उनके फलादि में भी सुनिश्चित भेद मिलता। जबकि सबका फल सर्वत्र एक ही है। अग्निहोत्र,दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम एवं कारीरी आदि समस्त यज्ञों की संज्ञा भी सबमें समान ही है, अतएव उपर्युक्त आक्षेप निराधार है॥ ९॥

**सामान्य समाधान करने के अनन्तर अब क्रमपूर्वक समस्त आक्षेपों का समाधान करते हैं। उनमें सबसे पहला 'नामभेद' है—**

**( २६७ ) ना नाम्ना स्यादचोदनाऽभिधानत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** नाम्ना = काठक, कालापक आदि नाम भेद से, न स्यात् = अग्निहोत्र कर्मों का भेद नहीं माना जाता, (क्योंकि) अचोदनाऽभिधानत्वात् = काठक, कालापक आदि की संज्ञा से प्रेरक कर्मों के विधि वाक्यों की अभिव्यक्ति का अभाव होने से (अर्थात् विधि वाक्यों में उनकी प्रेरणा का अभाव है)।

**व्याख्या—** 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधि वाक्य में जो कर्म की अभिव्यक्ति की गई है, उसी भेद के कारण ही कर्म का भेद माना जा सकता है; क्योंकि काठक, कालापक आदि संज्ञा कर्मों की न होकर ग्रन्थों की है, ऐसा समझना चाहिए। उन ग्रन्थों में इनका उल्लेख आदि प्राप्त होने के कारण यह कालापक कर्म है तथा यह काठक कर्म है, ऐसा व्यावहारिक प्रयोग लोक प्रचलन में परिलक्षित होता है। काठक, कालापक आदि कर्मों की संज्ञा का आधार लेकर उन ग्रन्थों का नामकरण नहीं किया गया है, प्रत्युत ये ग्रन्थों की ही संज्ञा है, कर्मों की नहीं, यही सिद्ध है। समस्त ब्राह्मणों अथवा शाखाओं में कर्मों की संख्या एवं द्रव्य तथा देवता, उसके फल आदि का उल्लेख समानता पूर्वक किये जाने से ग्रन्थ की संज्ञा सम्बन्धी भिन्नता, कर्मों की भेदक नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उनके द्वारा कर्मभेद की प्रेरणा नहीं प्राप्त होती॥ १०॥

**अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार इसी अभिप्राय को युक्तिपूर्वक समझाते हैं—**

**( २६८ ) सर्वेषाञ्चैककर्म्यं स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सर्वेषाम् = अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास एवं ज्यातिष्टोम आदि समस्त यज्ञीय कर्मों में, ऐक्यकर्म्यम् = एक ही कर्म का होना, स्यात् = प्राप्त होता है।

व्याख्या- तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्निहोत्र विषयक समस्त कर्मों का पाठ उपलब्ध है, किन्तु यदि ग्रन्थ सम्बन्ध के कारण उस हवनीय कर्म को कर्मभेद का हेतु माना जाता है, तो सभी को एक ही कर्म की मान्यता देनी चाहिए; क्योंकि इसकी संज्ञा तैत्तरीय है। आशय यह है कि यह अभीष्ट नहीं कि काठक संज्ञा का एकत्व होने से इसमें

वर्णित समस्त कर्मों को एक ही कर्म मान लिया जाये। अतएव ग्रन्थ की संज्ञा न तो कर्म के भेद को सिद्ध करती है और न ही कर्म की भेद हीनता को ही प्रमाणित करती है॥ ११॥

**इसी मान्यता को परिपुष्ट करने के लिए सूत्रकार ने एक दूसरा हेतु दिया—**

## ( २६९ ) कृतकं चाभिधानम्॥ १२॥

**सूत्रार्थ**—च = और, अभिधानम् = काठक आदि अभिधान (नाम), कृतकम् = न रहने वाले अनित्य हैं।

**व्याख्या**— जिस समय कठ, कलाप आदि ऋषियों ने अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्मों की विवेचना प्रवचन के रूप में की। तभी से उन्हीं के नाम पर काठक, कालापक आदि ग्रन्थ प्रचलित हुए और अग्निहोत्र कर्मों के साथ उनका नाम जुड़ा। जबकि वह अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान उसके पूर्व भी सम्पन्न होते रहे हैं, परन्तु तब इन नामों के न रहने से इनमें भेद का सर्वथा अभाव था। अतएव नामों की अनित्यता के कारण नामभेद को कर्मभेद का साधक मानना अनुचित ही है॥ १२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार रूप भिन्नता का निराकरण करते हैं—**

## ( २७० ) एकत्वेऽपि परम्॥ १३॥

**सूत्रार्थ**— एकत्वे = प्रत्येक ब्राह्मण एवं प्रत्येक शाखा में पठित कर्मों में एकता होने पर, अपि = भी, परम् = एकादश एवं द्वादश कपाल रूप भिन्नता का कथन विकल्प से सिद्ध हो जाता है।

**व्याख्या**— किसी एक शाखा ने कहा कि अग्नीषोमीय यज्ञानुष्ठान के द्रव्य को एकादशकपाल में पकाया जाये, दूसरी शाखा में बताया कि द्वादशकपाल में पकाना चाहिए। इस प्रकार एकादशकपाल एवं द्वादशकपाल का कथन विकल्प के अभिप्राय से किया गया है, न कि कर्मभेद के अभिप्राय से। सामर्थ्य के अनुसार द्रव्य को एकादश पात्रों में पकाये या द्वादश पात्रों में इससे उस कर्म में भेद नहीं हुआ करता, ऐसा समझना चाहिए॥ १३॥

**अगले सूत्र से धर्मभेद का समाधान प्रस्तुत करते हैं-**

## ( २७१ ) विद्यायां धर्मशास्त्रम्॥ १४॥

**सूत्रार्थ**— विद्यायाम् = विद्याप्राप्ति के समय में, धर्मशास्त्रम् = धर्मविशेष के अनुपालन का विधान धर्माचार्यों ने बनाया है, जिसका सम्बन्ध कर्म के साथ नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या**— 'कारीरी' मन्त्र वाक्यों के अध्ययन समय में भूमि पर बैठकर भोजन किया जाना, जलपूरित कुम्भ एवं घोड़े के लिए घास का लाना आदि विद्याध्ययन के अन्तर्गत छात्रों का अनुशासित आचरण है। जिसका सम्बन्ध उन-उन अध्ययन की जाने वाली विभिन्न शाखाओं में प्रतिपादित किये गये कर्म के साथ नहीं है। अतएव विद्यार्थी जीवन के उक्त अनुशासित आचरण कर्म का भेद सिद्ध नहीं करते, इसलिए उन्हें अध्ययन से सम्बन्ध रखने वाले धर्म ही कहना चाहिए, कर्म भेदक नहीं॥ १४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने पुनरुक्ति-दोष का समाधान प्रारम्भ किया—**

## ( २७२ ) आग्नेयवत् पुनर्वचनम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ**— आग्नेयवत् = आग्नेय वाक्यों के समान ही अनुवाद है, पुनर्वचनम् = पुनरुक्ति।

**व्याख्या**— विभिन्न ब्राह्मणों में आग्नेय कर्मानुष्ठानों का अनेक स्थलों पर जो विधि-विधान बतलाया गया है, वह पुनरुक्ति कथन स्वरूप पुनराभिव्यक्ति दोष नहीं है, प्रत्युत एक शाखा में वर्णित विधि-विधान का दूसरी शाखा में अनुवाद मात्र है, ऐसा समझना चाहिए। अतः उसे कर्मभेद का प्रेरक नहीं माना जा सकता॥ १५॥

**उक्त विवेचना की पुष्टि में सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए पुनरुक्ति दोष का पूर्णतः समाधान करते हैं—**

## ( २७३ ) अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** श्रुतिसंयोगाविशेषात् = सभी शाखाओं में श्रुति का सम्बन्ध समान होने से, अद्विर्वचनम् = शाखान्तरों में पुनरुक्ति दोष मानना सर्वथा अनुचित है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठानों का विधि-विधान जिस प्रकार एक शाखा में किया गया है, अन्यत्र भी वैसा ही है। अनेक स्थानों पर अनेक व्यक्तियों द्वारा जब एक ही अर्थ का कथन किया जा रहा हो, तो उस कथन को पुनर्वचन कहना बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं माना जा सकता। किसी एक व्यक्ति के कथन की पुनरुक्ति संभव है, किन्तु विभिन्न शाखाओं के निर्माता एक न होकर अनेक होते हैं तथा सभी एक ही कर्म अग्निहोत्र के ही प्रवचनकर्त्ता हैं। एक शाखा का अध्ययन करने वाला व्यक्ति जब दूसरी शाखा का अध्ययन करता है, तो जिस अग्निहोत्र कर्म को उसने अपनी शाखा में पढ़ा, उसी अग्निहोत्र कर्म को उसी स्वरूप में अन्य शाखा में भी पढ़ा। अत: पुनरुक्तिदोष का कहीं भी अवकाश नहीं हैं॥ १६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार पुनरुक्ति दोष का ही समाधान युक्तिपूर्वक करते हैं—**

## ( २७४ ) अर्थासन्निधेश्च॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थासन्निधे: = किसी एक शाखा में अग्निहोत्र के उस अध्ययन रूप अर्थ का शाखान्तर में पठित अर्थ के साथ समीपता न होने से भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्मानुष्ठान का अर्थ बतलाया गया है, यदि उसी-उसी शाखाओं में पुन: उसी अर्थ का कथन किया गया होता, तो उस अर्थ सन्निधि से अवश्य ही पुनर्वचन दोष उपलब्ध होता; परन्तु ऐसा कहीं भी नहीं है। अतएव उनमें पुनरुक्ति की कल्पना पूर्णत: निराधार है। कारण यह कि यदि विभिन्न शाखाओं में वर्णित अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्मों के साथ अध्ययन रूप सामीप्यता से कोई व्यक्ति वंचित रह जाता है, तो इससे अन्य शाखाओं में वर्णित अर्थ न तो अर्थहीनता को प्राप्त होता है और न ही इसके द्वारा कर्मभेद ही प्रतीत होता है। जैसे आम के बगीचे के समस्त वृक्षों में आम के ही फल लगते हैं, भले ही प्रजातियाँ अलग- अलग हों, पर फलते सभी पर आम ही हैं। ऐसे ही समस्त शाखायें वेद वृक्ष की ही हैं, उनमें प्रतिपादित अर्थ सर्वत्र समान हैं, इसलिए कर्म भेद नहीं सिद्ध होता॥ १७॥

**इसी कथन में और भी हेतु सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—**

## ( २७५ ) न चैकं प्रति शिष्यते॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, एकम् प्रति = ब्राह्मण ग्रन्थों में पठित अग्निहोत्र आदि कर्म, मात्र उसी शाखा के अध्ययन कर्त्ता के लिए ही हो, न = ऐसा नहीं, शिष्यते = बतलाया गया है, (सबके हितार्थ वर्णित है)।

**व्याख्या—** जितनी भी काठक, कालापक,तैत्तिरीय आदि विभिन्न शाखायें हैं, कर्म का एकत्व सभी में प्रमाणित होता है। शाखाभेद का परिलक्षित होना प्रवचन कर्त्ता के भेद से है न कि कर्म में भेद होने के कारण। प्रवचन करने वाले ऋषियों ने प्राणिमात्र के कल्याणार्थ ही अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का उपदेश अपने-अपने जीवन काल में किया है। उसी वैदिक कर्मों के किसी अंग का उपेदश किसी एक शाखा में है, तो उसी कर्म के किसी अंग का दूसरी शाखा में। यह कहीं नहीं लिखा मिलता कि अमुक कर्म व्यक्ति विशेष के लिए तथा अमुक कर्म सामान्य जनों के लिए है और इसका भी उल्लेख नहीं है कि वर्णित कर्म उतने तक ही सीमित है। इस प्रकार एक ही कर्म अग्निहोत्र आदि के उन अंगों का जो अनेकों स्थलों पर वर्णित हैं- बिखरे पड़े हैं, समेट लेना ही अभिप्रेत है। कर्म भी इससे सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। कर्म भिन्नता का कोई भी वाक्य ब्राह्मणों एवं विभिन्न शाखाओं में उपलब्ध न होने से अग्निहोत्र कर्म एक ही है, ऐसा मानना चाहिए॥ १८॥

**समाप्तिवचन संज्ञक हेतु का निराकरण अगले सूत्र में सूत्रकार ने किया—**

## ( २७६ ) समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

**सूत्रार्थ—** च =तथा, समाप्तिवत्=कर्म के समापन की अभिव्यक्ति, सम्प्रेक्षा = मात्र उत्प्रेक्षा ही है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** हमारे अग्निचयन कर्म का समापन यहाँ होता है, किसी एक शाखा वालों का ऐसा कहना है तथा अन्य शाखा वालों का कहना है कि हमारा आग्नेय कर्म यहाँ समाप्त नहीं होता। सूत्रकार ने कहा कि ऐसा कथन कल्पना मूलक है, यथार्थ नहीं। लोक व्यवहार में यह देखने को मिलता है कि कार्य का जब कुछ अंश शेष रह जाता है, तब भी उसके समापन की घोषणा होने लगती है- अब इस कार्य को खत्म ही समझो, अब इस कार्य के समापन में कुछ भी विलम्ब नहीं आदि। जबकि ऐसा कथन यथार्थ न होकर उत्प्रेक्षा मात्र ही है। ठीक यही अग्निचयन कर्म के समापन में भी होता है, ऐसा मानना चाहिए। अत: दोनों ही शाखाओं में अग्निचयन रूप कर्म एक ही है, न कि उसमें भेद होता है। कारण यह कि समापन का उक्त कथन अग्निचयन भेद का साधक नहीं है॥ १९ ॥

**अगले सूत्र में निन्दा, अशक्ति एवं समाप्ति तीनों को कर्मभेद में हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं—**

## ( २७७ ) एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥ २० ॥

**सूत्रार्थ—** एकत्वे = प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा में कर्मों का एकत्व होने पर, अपि = भी, निन्दाऽशक्तिसमाप्ति-वचनानि = निन्दा, अशक्ति तथा समाप्तिवचन, पराणि = तीनों ही सिद्ध होते हैं।

**व्याख्या—** निन्दा वचन के गत प्रसङ्ग में जो 'प्रात: प्रातरनृतं ते वदन्ति' वाक्य से उदित एवं अनुदित हवन की निन्दा की गई थी, आचार्य ने उसकी यथार्थता बतलाते हुए कहा— जो व्यक्ति यह व्रत संकल्पपूर्वक ले लेता है कि हम नित्य अनुदित काल में ही हवन करेंगे और फिर आलस्य प्रमाद के कारण अपने उस व्रत का खण्डन कर उदित काल में हवन करता है, यही उसकी निन्दा है; क्योंकि उसने संकल्प लेकर भी उसकी उपेक्षा बरती। अतएव अश्रद्धा के भाव के कारण ही उसके लिए प्रायश्चित्त विधान बतलाया गया है। ऐसे ही जो उदित का व्रत लेकर उसे खण्डित करता है, तो यह उसकी निन्दा है। यह निन्दा उस व्रती की है न कि उस पुनीत यज्ञीय कर्म की; कर्मभेद का कारण भी इस निन्दा को नहीं माना जा सकता। इस निन्दा का तात्पर्य वस्तुत: व्रती के व्रत के प्रति श्रद्धाभाव एवं नियम निभाने की प्रशंसा से ही है। अतएव इसे दोष नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार से अशक्ति वचन को भी कर्मभेद का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि किसी कार्य को यदि शक्तिहीन व्यक्ति नहीं कर पाते हैं, तो जितना उससे सध सके उतना ही वह करे। कार्य बहुत कठिन था, इसलिए नहीं हो सका, ऐसा कहकर कार्य को दोषी मानना सर्वथा अनुचित होगा। नित्यकर्मों में अपनी सामर्थ्यानुसार जितना बन पड़े, उतना ही करने से अपना अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। थोड़ा करने का फल थोड़ा एवं अधिक करने का फल अधिक होता है। इससे न तो कर्मों में किसी प्रकार की न्यूनता कही गई है और न ही यह कर्मभेद का हेतु ही है॥ २०॥

नोट- आचार्यों ने अग्निहोत्र करने के लिए तीन प्रकार से समय का निर्धारण किया है-१. उदित- **सूर्योदय के अनन्तर यह प्रथम समय है।** २. अनुदित- **यह वह समय है, जिसमें आकाश में नक्षत्रों को सुगमता पूर्वक देखा जा सकता है।** ३. समयाध्युषित- **अर्थात् न तो सूर्योदय ही हुआ हो और न ही नक्षत्र ही दिखाई पड़ रहे हों।**

**निन्दा आदि आक्षेपों के समाधान के क्रम में प्रायश्चित्त विधान की उपलब्धता से, कर्मों में दोष एवं न्यूनता का जो संदेह शिष्य ने व्यक्त किया; सूत्रकार ने उसे शिष्य की जिज्ञासा के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( २७८ ) प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २१ ॥

**सूत्रार्थ** निमित्तेन = किसी विशेष हेतु से, प्रायश्चित्तम् = उदित एवं अनुदित हवन के अन्तर्गत प्रायश्चित्त का विधान बतलाया गया है।

**व्याख्या—** प्रायश्चित्त का विधि-विधान उपलब्ध न होने से उदित एवं अनुदित यज्ञीय कर्मानुष्ठान में न्यूनता आदि दोषों की प्रतीति होती है और उस दोष का निराकरण तभी संभव है, जब ब्राह्मण एवं अन्य शाखाओं में कर्मभेद का होना स्वीकार किया जाये और यदि सबमें कर्म का एकत्व माना जाता है कि उदित एवं अनुदित होम दो कर्म न होकर एक ही है, तो उस स्थिति में उनके विधि-विधान एवं प्रतिषेध के कथन एक दूसरे से विपरीत हो जाते हैं। अतएव अग्निहोत्र कर्म भिन्न-भिन्न हैं॥ २१॥

**इसका समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( २७९ ) प्रक्रमाद्वा नियोगेन॥ २२॥

**सूत्रार्थ—**वा = यह पद पूर्व पक्ष के परिहारार्थ है, नियोगेन = उदित अथवा अनुदित होम का व्रत पूर्वक नियम करके फिर, प्रक्रमात् = उस नियम से हटकर व्रत को तोड़ने की स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

**व्याख्या—** जो व्रती उदित काल में होम करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके या अनुदित काल में करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके नियम बनाकर हवन सम्पन्न करता है, परन्तु प्रमादवश यदि वह व्रती अपना नियम भंग कर देता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रत्येक शाखा में विहित कर्म का अभेद स्वीकार करने पर भी कर्म की विधि-व्यवस्था एवं प्रतिषेध की सामंजस्यता का भाव बना ही रहता है। यज्ञीय कर्मानुष्ठान समस्त शाखाओं में एक ही है, उदित एवं अनुदित उस अग्निहोत्र कर्मानुष्ठान समय में विकल्प रूप से बतलाये गये हैं। अतएव प्रतिशाखा में वर्णित अग्निहोत्र कर्म एक ही हैं, न कि अनेक॥ २२॥

**विवेचना के इसी क्रम में सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २८० ) समाप्तिः पूर्ववत्वात् यथाज्ञाते प्रतीयेत॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** समाप्तिः = समापन विषयक वाक्य, पूर्ववत्वात् = पूर्व से आरम्भ होने के कारण, यथाज्ञाते = जैसे उन कर्मों के आरम्भ को जाना जाता है, उसी प्रकार उनके समापन को भी, प्रतीयेत = जानना चाहिए।

**व्याख्या—** 'अत्रास्माकमग्निः समाप्तः' वाक्य में जो समाप्ति का कथन किया गया है, वह समाप्ति सदैव आरम्भ की अपेक्षा से युक्त होती है। जो कार्य प्रारम्भ किया जायेगा, उसका समापन भी होगा तथा जिसकी समाप्ति होती है, उसका आरम्भ भी होगा। जिस कार्य की पूर्णता पर समापन का निर्देश किया गया है, उसके लिए यह अपेक्षित एवं आवश्यक है कि शुभारम्भ से अब तक उस कार्य की गतिशीलता बनी हुई है। अतएव यह समापन का कथन उस ज्ञात कर्म विषयक है तथा इससे कर्म का भेद सिद्ध नहीं होता। अग्निहोत्र के प्रारम्भ के सदृश अवान्तर कर्म का भी प्रारम्भ है, अतः वह बीच के कर्म का समापन है, ऐसा समझना चाहिए॥ २३॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने क्रमपूर्वक अन्यार्थदर्शन का समाधान किया—**

## ( २८१ ) लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्मचोदना, तस्मात् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गम् = लक्षण, अविशिष्टम् = दोनों पक्षों (कर्म भिन्नता एवं कर्मैक्यता) में समान हैं, सर्वशेषत्वात् = सभी तरह से ज्योतिष्टोम का शेष (अङ्ग) होने से, हि = कारण यह कि, तत्र = (ताण्ड्य ब्राह्मण की शाखा में) वहाँ, कर्मचोदना = ज्योतिष्टोम यज्ञीय कर्म की प्रेरणा विधि की व्यवस्था, न = नहीं है, तस्मात् = अतएव, द्वादशाहस्य = द्वादशाह सत्र (बृहत्सामा) का कथन, आहारव्यपदेशः = सम्पर्क की अभिव्यक्ति करने वाला, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत अन्यार्थदर्शन के विवेचनात्मक क्रम में आये 'दिदीक्षाणाः' आदि वाक्यों द्वारा बतलाये गये विधान के आधार पर द्वादशाह (बृहत्सामा) सत्र में दीक्षित एवं दीक्षा रहित दोनों तरह के यजमानों के

अधिकार एवं ज्योतिष्टोम याग की प्राथमिकता को लेकर कल्पित विरोधी भाव के कारण जो ब्राह्मण एवं अन्य शाखा में कर्मभेद बतलाया गया वह सर्वथा अनुचित ही है। उसका कारण यह है कि ज्योतिष्टोम याग के साथ 'दिदीक्षाणा:' आदि पदों का सीधा सम्बन्ध न होकर (बृहत्सामा) द्वादशाहसत्र के साथ उसका सीधा सम्बन्ध बतलाया गया है। बृहत्सामा याग का अनुष्ठान उस यजमान को करना चाहिए, जिसकी दीक्षा द्वादश सत्र से हो चुकी हो, कारण यह कि वह रथन्तर सामा क्रतु का अनुष्ठान कर चुका होता है और जिनकी दीक्षा नहीं सम्पन्न हुई है, उन्हें रथन्तरसामा याग का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष रूप से जाना जाता है कि बृहत्सामा (द्वादशाह) सत्र में सर्वप्रथम रथन्तर सामा का एवं उसके पूर्ण हो जाने पर बृहत्सामा का यजन किया जाना चाहिए। ये दोनों वे यज्ञीय पुनीत कर्म हैं, जिनका समापन क्रम पूर्वक रथन्तर सामगान एवं बृहत्सामगान से हुआ करता है। ज्योतिष्टोम सभी यज्ञों में प्रमुख माना गया है और समस्त वैदिक वाङ्मय में भी एक ही कर्म है, अत: विभिन्न शाखाओं में कहीं भी कर्मभेद प्रतीत नहीं होता॥ २४॥

**इसी मान्यता की पुष्टि अन्य हेतु से करते हैं—**

## ( २८२ ) द्रव्ये चाचोदितत्वाद् विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, द्रव्ये = अग्निरूपी द्रव्य के चयन कर्म में, अचोदितवात् = एकादशिनी यज्ञीय कर्म का प्रेरणात्मक निर्देश न होने से, विधीनाम् = वेदिसम्मान, पक्षसम्मान आदि विधियों का, अव्यवस्था = व्यतिक्रम, स्यात् = हो जाया करता है, निर्देशात् = विधि की निर्देशात्मक सामर्थ्य के कारण, व्यवतिष्ठेत = व्यवस्था विनिर्मित हो जाया करती है, तस्मात् = अतएव वह अग्निचयन विभाग विधि का, नित्यानुवाद: = पूर्वोक्त विधि वाक्यों का अनुवाद, स्यात् = होता है(विधान नहीं)।

**व्याख्या—** पक्ष सम्मान आदि की विधि-व्यवस्था श्येनयाग के अन्तर्गत अग्निचयन के प्रसङ्ग में नहीं बतायी गई। एकादशिनी कर्म का तात्पर्य वाचस्तोम आदि यज्ञों में यज्ञ पशुओं को बाँधने हेतु एकादश यूपों को गाड़ने के विधान से है। यूप स्थापित करते समय उनके बीच कितना अन्तर रखा जाना चाहिए, पक्ष सम्मान एवं वेदि सम्मान की निर्देशात्मक अभिव्यक्ति इसी से की गई है। उसी का अनुवाद श्येनयाग के अन्तर्गत अग्निचयन प्रकरण में किया गया है। वाचस्तोम आदि यज्ञ में यज्ञ पशुओं को बाँधने हेतु एक ही यूप स्थापित किया जाता है। एकादश पशुओं का उसी में बाँधा जाना आचार्यों ने पर्याय रूप में माना है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि श्येन याग के अन्तर्गत की जाने वाली अग्निचयन की प्रक्रिया में पक्ष सम्मान आदि के विधान का अभाव होने से यहाँ उसकी उपलब्धता का भी अभाव है, तो फिर यहाँ उसका कथन क्यों हुआ? समाधान देते हुए आचार्यों ने बताया कि— 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो न दिवि नान्तरिक्षे' अर्थात् न तो पृथिवी (नंगीभूमि) पर अग्नि चयन करना चाहिए, न तो द्युलोक में और न ही अन्तरिक्ष में करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में द्युलोक एवं अन्तरिक्ष में अग्नि चयन सर्वथा असम्भव होने के कारण जब अग्नि की उपलब्धता ही नहीं है, तब भी उसका निषेध बतलया गया है। अतएव कभी किसी आंशिक प्रसङ्ग में सर्वथा अनुपलब्ध का भी प्रतिषेध करना पड़े, तो इसमें कोई व्यवधान नहीं आता और यही नित्य अप्राप्त का अनुवाद भी है। अतएव प्रतिशाखा कर्म भेद होना सिद्ध नहीं होता॥ २५॥

**इसी कथन को परिपुष्ट करने के लिए सूत्रकार ने एक और हेतु अगले सूत्र से प्रस्तुत किया—**

## ( २८३ ) विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** विहितप्रतिषेधात् = अतिरात्र यज्ञानुष्ठान के अन्तर्गत षोडशी पात्र के ग्रहण एवं अग्रहण रूप विधान

के प्रतिषेध से, पक्षे = ग्रहण रूप विधान एवं अग्रहण रूप निषेध के पक्ष में दो अथवा तीन ऋचाओं का, अतिरेकः = अनुपात (शेष अथवा अधिक), स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** अतिरात्र ज्योतिष्टोम का ही अंग है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' अर्थात् अतिरात्र यज्ञीय कर्मानुष्ठान में षोडशपात्रों को सोमरस से परिपूर्ण करता है (ग्रहण करता है।) दूसरा वाक्य है— 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' अर्थात् अतिरात्र यज्ञ में षोडशी का ग्रहण नहीं करता है। उपर्युक्त वाक्य अतिरात्र के लिए कहे गये हैं, इन दोनों के समान बल होने के कारण अतिरात्र यज्ञीय कर्म के अन्तर्गत षोडशी पात्रों के भरने एवं न भरने (ग्रहण एवं अग्रहण) का विकल्प कहा है। आशय यह है कि एक पक्ष षोडशी पात्र को सोमरस से परिपूर्ण कर उसको आहुति रूप में यज्ञ भगवान् को अर्पित करता है। जबकि दूसरा अग्रहण वाला पक्ष न तो पात्र ही परिपूरित करता है और न ही आहुति प्रदान करता है। अतएव ग्रहण विधान एवं अग्रहण रूप प्रतिषेध दोनों के तुल्य बल होने के कारण आहुति प्रदान रूपी कर्म वैकल्पिक भाव होने से इनमें परस्पर विरोध की स्थिति नहीं है, जिसके फलस्वरूप यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतिशाखा कर्मभेद का सर्वथा अभाव ही है॥ २६॥

**अगले सूत्र से आचार्य अन्यार्थ दर्शन में और भी हेतु प्रस्तुत करते हैं-**

## (२८४) सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** सारस्वते = सारस्वत संज्ञक सत्र में, विप्रतिषेधात् =पारस्परिक विरोध की स्थिति होने से उस विरोध का परिहार, यदेति = यदा (यत् पद) के अध्याहार (प्रयोग) से, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सारस्वत सत्र विषयक अभिव्यक्ति में पारस्परिक विरोध इसलिए नहीं है; क्योंकि इस यज्ञ में असोमयाजी एवं सोमयाजी दोनों के अधिकारों का उल्लेख हुआ है और अधिकार की उस अभिव्यक्ति में 'एष वाव प्रथमो यज्ञः' जो शाखान्तर वाक्य द्वारा कर्मभेद का विरोध बतलाया गया है, वह विरोध 'यदा' या 'यत्' पद के प्रयोग से दूर हो जाता है तथा जब वह सोमयाजी हों, तो सारस्वत सत्र के भीतर 'वत्स वारणादि' की प्रक्रिया पूर्ण करे। अतएव यहाँ सोमयाजी के ही अधिकार का उल्लेख किया गया है, असोमयाजी के अधिकार का नहीं। कारण यह कि असोमयाजी के लिए तो यज्ञ मण्डप से बाहर बैठना प्रत्यक्ष रूप से बताया है। अतएव विरोध की स्थिति बनती ही नहीं। सूत्र में प्रयुक्त 'इति' पद विरोध समाप्त कर 'अर्थ' की सुनिश्चित स्थिति को दर्शाता है॥ २७॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि उपहव्य संज्ञक कर्म के विषय में शास्त्र का कथन तभी सिद्ध होगा, जब प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा कर्म भेद माना जाये। समुचित समाधान के लिए सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित किया—**

## (२८५) उपहव्येऽप्रतिप्रसवः॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** उपहव्ये = उपहव्य नाम वाले यज्ञीय कर्मानुष्ठान में रथन्तर एवं बृहत्साम के विधान की, अप्रतिप्रसवः = पुनराभिव्यक्ति अनर्थक है।

**व्याख्या—** प्रतिशाखा एवं प्रतिब्राह्मण कर्म का एकत्व स्वीकार किया जाये, तो उपहव्य संज्ञक याग में उसके प्रकृतियाग अग्निष्टोम से बृहत् एवं रथन्तर साम की उपलब्धता विकल्प से हो जाने के कारण उसका पुनः कथन प्रयोजन हीन हो जाता है। यदि प्रतिशाखा एवं प्रति ब्राह्मण नामभेद स्वीकार भी लिया जाये, तो प्रकृति याग अग्निष्टोम से प्राप्त दोनों का नियमानुसार ग्रहण प्रयोजन के अनुरूप है। वह इसलिए कि प्रकृतियाग अग्निष्टोम से बृहत् एवं रथन्तर साम दोनों विकल्प से उपलब्ध हैं (जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है) तथा पूर्व वर्णित 'उपहव्यो निरुक्तः' आदि उस विकल्प का प्रतिषेध करके प्रत्येक शाखा एवं प्रत्येक ब्राह्मण में उसका नियम पालन करने से कर्मभेद ही माना जायेगा, एकत्व नहीं॥ २८॥

**शिष्य की जिज्ञासा के समाधान हेतु आचार्य अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २८६ ) गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ॥ २९ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्व पक्ष के समाधान का द्योतक है। पुनःश्रुतिः = उपहव्य यज्ञीय कर्मानुष्ठान में बृहत् एवं रथन्तर साम का पुनः श्रवण रूप विधान, गुणार्था = दक्षिणा स्वरूप गुण विधान के लिए किया गया है।

**व्याख्या—** उपहव्य संज्ञक याग में रथन्तर एवं बृहत्साम दोनों ही प्राप्त हैं, फिर भी 'उपहव्यो निरुक्तः' आदि वाक्य द्वारा उनका पुनर्विधान श्याव अश्व-दक्षिणा एवं श्वेत अश्व-दक्षिणा रूप गुण विशेष के नियम तात्पर्यार्थ किया गया है। अतः उस पुनर्विधान को वृथा नहीं कहा जा सकता। रथन्तर साम वाले उपहव्य याग में श्याव अश्व की दक्षिणा दी जाती है तथा जब बृहत्साम वाला उपहव्य याग होता है, तब उसकी दक्षिणा श्वेत अश्व होती है। उभय सामों का पुनर्कथन इसी हेतु विशिष्टता से उपहव्य यज्ञीय कर्म में किया गया है॥ २९॥

**अब अगले सूत्र में सूत्रकार प्रति ब्राह्मण एवं प्रति शाखा कर्म का एकत्व बतलाते हैं—**

## ( २८७ ) प्रत्ययञ्चापि दर्शयति॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रत्ययम् = कर्म का एकत्व सभी शाखाओं में उपलब्ध है, ऐसी प्रतीति को, अपि = भी, दर्शयति = वैदिक वाङ्मय दर्शाता है।

**व्याख्या—** आम्नाय में उपलब्ध कर्म विषयक कथन इस बात का द्योतक है कि सोमयाग या ज्योतिष्टोम आदि पदों से बतलाया गया यज्ञीय कर्म सर्वत्र एक ही है। किसी शाखा में किसी कर्म की विधि-व्यवस्था तथा अन्य शाखा में उसके गुणों की विधि-व्यवस्था इसी हेतु वैदिक वाङ्मय में परिलक्षित होती है, जिससे समस्त शाखाओं में कर्म का एकत्व प्रमाणित हो जाता है। आशय यह है कि अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्म का कोई भाग यदि किसी शाखा में नहीं मिलता, तो उस दशा में जिस किसी ब्राह्मण या शाखा में उसकी उपलब्धता हो, वहीं से उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। उदाहरणार्थ- मैत्रायणी संहिता (शाखा) में समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति एवं स्वाहाकारं यजति, ये पाँचों प्रयाज अपठित हैं, किन्तु इनके गुणों का वहाँ श्रवण होता है- १. ऋतवो वै प्रयाजः एवं २. समानत्र होतव्या अर्थात् १. प्रयाज ऋतुएँ सुनिश्चित ही हैं, २. आगे पीछे न हटकर यथास्थान बैठकर प्रयाज हवन करना चाहिए। इसमें मात्र गुणों को ही कहा गया है। प्रयाज कर्म का विधान जिसमें हो, यहाँ पर उसको उपसंहृत कर लेना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि कर्म का एकत्व प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा में प्रमाणित है॥ ३०॥

**जिज्ञासु शिष्य पुनः आशङ्का कर रहा है कि विभिन्न शाखाओं में वर्णित अग्निहोत्र आदि कर्मों के अंगों के पाठ्यक्रम में जब पारस्परिक भिन्नता है, तो उसके अनुरूप कर्मानुष्ठान का क्रम होने के कारण कर्मभेद होना स्वाभाविक है। शिष्य की इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( २८८ ) अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद आशङ्का का द्योतक है, जो यह स्पष्ट करता है कि समस्त शाखाओं में कर्म का एकत्व नहीं है, क्रमसंयोगात् = अनेकों शाखाओं में बतलाये गये कर्म एवं उन कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले अंगों के क्रम का संयोग-सम्बन्ध उसकी अपनी शाखा से (जिसमें उनको बतलाया गया है), व्यवतिष्ठेत = व्यवस्थित होना चाहिए, एकस्याम् = किसी एक शाखा में, विधिपृथक्त्वम् = अंगों के अनुष्ठान-विधान की पृथक्ता (भेद) होने से।

**व्याख्या—** प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा में अग्निहोत्र आदि कर्मों एवं उनके अंगों का पाठ-क्रम एक दूसरे से पृथक् (भिन्न) परिलक्षित होता है। उनमें अभेद स्वीकार करने पर जिन-जिन शाखाओं में उनके अङ्गों का विधि-विधान बतलाया गया है, उन-उन शाखाओं में से दूसरी शाखाओं में उन्हें अध्याहार से एकत्रित करना होगा। कारण यह कि अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठान उसी स्थिति में विदित फल प्रदान करने वाले सिद्ध हो सकते

हैं, जब उन्हें अंगों के साथ अनुष्ठित किया जाये; किन्तु प्रत्येक शाखा में अपने-अपने क्रम की पाठ विधि उपलब्ध है, तब उनके उपसंहार करने की स्थिति में पाठ क्रम के अनुसार ही उनका अनुष्ठान संभव हो सकेगा। यदि ऐसा न किया जाये, तो पाठ-क्रम का खण्डन होता है, जो अनुचित होगा। अनुष्ठान का जो क्रम जिस शाखा में पढ़ा गया है, उसे वहीं व्यवस्थित माना जाना युक्ति-युक्त है। दूसरी शाखाओं में उसका उपसंहार सर्वथा असम्भव है। अत: प्रतिशाखा एवं प्रतिब्राह्मण के कर्म में भेद मानना ही उचित है॥ ३१॥

**प्रस्तुत पद के अन्तिम सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

**( २८९ ) विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है, विरोधिना = शाखा में विहित अनुष्ठान क्रम से विरोधी क्रम के साथ, असंयोगात् = वाक्य विहित अङ्गानुष्ठान रूप कर्म के संयोग का अभाव होने से, एककर्म्ये = प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा में एककर्म्यता का बोध हो जाने पर, विधीनाम् = विभिन्न शाखाओं में वर्णित समस्त शेष (अंग) विधियों का, तत्संयोगात् = सभी शाखाओं में वर्णित उस कर्म के साथ संयोग होने से, सर्वकर्मप्रत्ययः = समस्त शाखाओं में विहित शेष रूप (अंग स्वरूप) कर्मों के साथ संयोग का ज्ञान, स्यात् = हो जाया करता है।

**व्याख्या—** वेद वाङ्मय में पठित 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' एवं 'वाजपेयेन यजेत' आदि वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि समस्त ब्राह्मण एवं समस्त शाखाओं में एक ही अग्निहोत्र का विधान किया गया है। कहीं भी न तो किसी प्रकार के विरोध की स्थिति है और न ही भिन्नता है। प्रतिब्राह्मण एवं प्रतिशाखा में समान रूप से एक ही कर्म की प्राप्ति होती है; परन्तु यदि कदाचित् किसी शाखा में कर्म की अंगविशिष्टता दूसरी शाखा में विहित पाठ के क्रम पृथक्त्व के कारण पृथक् परिलक्षित होती है, तो वह भेद प्रकृतिभूत कर्म की भिन्नता सिद्ध नहीं करती। कारण यह कि अन्य शाखाओं में वर्णित प्रमुख कर्म के साथ इसके संयोग का सर्वथा अभाव ही बना रहता है। आशय यह है कि प्रकृतिभूत यज्ञानुष्ठान रूप कर्म अपने ही स्वरूप में सदैव स्थिर रहा करता है। उस शाखा को मानने वाला यजमान प्रकृति याग का कर्मानुष्ठान अपनी उसी शाखा में पढ़े गये शेष (अङ्ग) के साथ कर सकता है। अनुष्ठान कर्त्ता की शक्ति एवं समर्थता पर ही अग्निहोत्र आदि यज्ञीय कर्म आधारित रहा करते हैं। कर्त्ता यदि सामर्थ्यवान् है, तो जिन कर्मों के शेष उसकी शाखा में पठित नहीं हैं, उन्हें वह अन्य शाखाओं से अध्याहार द्वारा उपसंहृत करके अनुष्ठान सम्पादित करता है, तो उसमें व्यवधान का अवकाश नहीं रहता और यदि वह समर्थ नहीं है, तो उसी कर्म को अनुष्ठित करे, जो उसकी अपनी शाखा में पठित हो। आचार्यों द्वारा बनाई गई इस विधि-व्यवस्था से यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा में कर्मभेद नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ विधि-वाक्य समान बल की स्थिति में हों, तो वहाँ विकल्प स्वीकार किया जाता है। वह विकल्प न तो विरोध है और न ही कर्मभेद का प्रयोजक। अपनी शक्ति के अनुरूप दोनों विधिवाक्यों में से किसी एक के विधान से यज्ञीय कर्मानुष्ठान सम्पादित कर लिया जाता है। इससे न तो कर्म में न्यूनता आती है और न किसी प्रकार की कर्म विषयक आशंका ही रहती है। अतः कर्मैक्यता अक्षुण्ण बनी रहती है। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रति ब्राह्मण एवं प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म भिन्न-भिन्न न होकर एक ही है॥ ३२॥

## ॥ इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

**गत अध्याय में यज्ञादि कर्मों के भेद आदि का कथन करने के अनन्तर अब तृतीय अध्याय में 'शेषशेषिभाव' पर विचार किया गया है, जिसका तात्पर्य है, यज्ञ सम्बन्धी सब प्रकार के कर्मों में कौन शेष ( गौण ) है, कौन शेषी ( प्रधान ) इसका आशय है कि प्रत्येक कर्म किसी अन्य प्रधान कर्म का सहायक अथवा उसे पूर्णता प्रदान करने वाला है, फिर उस शेष कर्म का सहायक या पूर्णता प्रदान करने वाला कोई अन्य कर्म है। इस प्रकार प्रधान और उसकी पूर्ति में सहायक कर्मों की एक शृंखला बन जाती है। विभिन्न प्रकार के यागों तथा उसके अंगों में कौन किस दर्जे ( प्रधान या गौण ) का है, इसी का परिचय इस अध्याय में प्राप्त हो सकेगा—**

**( २९० ) अथातः शेषलक्षणम्॥१॥**

**सूत्रार्थ—** अथ = विभिन्न कर्म लक्षणों का निरूपण करने के अनन्तर, अतः = समयानुकूल अब, शेषलक्षणम् = शेष के लक्षणों को प्रतिपादित करते हैं।

**व्याख्या—** यज्ञादि के मुख्य कर्मों के बाद अब यहाँ शेष के लक्षणों का कथन किया जा रहा है। शेष का स्वरूप क्या है? उसे शेष की संज्ञा क्यों प्राप्त है? इन सबका विवेचन एवं अन्य विषय जो प्रासंगिक एवं उपयोगी हैं, उनका भी विवेचन किया जायेगा॥ १॥

**उक्त कथन के अनुरूप अब शेष का लक्षण सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा प्रस्तुत करते हैं—**

**( २९१ ) शेषः परार्थत्वात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** परार्थत्वात् = अन्य के लिए होने से, शेषः = अङ्ग अथवा अप्रधान कहलाता है।



**व्याख्या—** 'शेष' पद मीमांसा दर्शन में अङ्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कोई भी अङ्ग या शेष अपने अङ्गी अथवा शेषी के लिए ही होता है। इनका सम्बन्ध अङ्गाङ्गिभाव या शेषशेषिभाव कहलाता है। विभिन्न अङ्गों के सहयोग से ही अङ्गी परिपूर्ण होता है। इस कारण अङ्ग को अप्रधान एवं अङ्गी को प्रधान माना जाता है। अङ्गी की पूर्णता समस्त अङ्गों द्वारा होती है, अतएव अङ्गी के लिए उपयोगी होने से अंग को परार्थ कहा गया है। अतः जिससे दूसरों का प्रयोजन सिद्ध होता हो, वही शेष है। अन्य के निमित्त होने के कारण ही पंचमी पद परार्थत्वात् से शेष का कथन किया गया है इसी से वह शेष कहलाता है। कारण यह है कि शेषत्व किसी का स्वाभाविक धर्म न होकर परार्थपरक है। इस तरह से शेष का लक्षण स्पष्ट हुआ॥ २॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है कि शेष के जो लक्षण बताये गये उनसे शेष के लक्ष्य अथवा विषय का भी ज्ञान होना चाहिए कि उनका क्षेत्र क्या है? सूत्रकार ने समाधान किया—**

**( २९२ ) द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यगुणसंस्कारेषु = द्रव्य, गुण एवं संस्कार में शेष शब्द की प्रवृत्ति हुआ करती है, बादरिः = बादरि आचार्य का ऐसा मानना है।

**व्याख्या—** द्रव्य, गुण एवं संस्कार के विषय में 'शेष' पद व्यवहृत होता है, ऐसा लोक व्यवहार में देखा जाता है। अतएव 'शेष' के लक्ष्य या क्षेत्र द्रव्य, गुण तथा संस्कार हैं। द्रव्य, गुण तथा संस्कार दूसरों के लिए होने से परार्थ हैं, इसी कारण इनका व्यवहार शेष पद से हुआ करता है। जिस अन्य के लिए इनका प्रयोग किया जाता है अथवा व्यवहार होता है, वे याग (यज्ञ), फल एवं यज्ञानुष्ठान करने वाले पुरुष के रूप में जाने जाते हैं। इन तीनों को शेष न मानकर शेषी की मान्यता प्रदान की गई है। प्रस्तुत मीमांसा शास्त्र में बतलाये गये सम्पूर्ण यज्ञीय विधि-विधान एवं क्रिया-कलापों द्वारा जो भी अनुष्ठेय कर्म प्राप्त होता है, वह सारा का सारा इन तीनों के लिए ही हुआ करता है। आशय यह है कि जैसे द्रव्य (व्रीहि, यव, आज्य) के अभाव में यज्ञ कर्म का सम्पादन नहीं हो सकता, वैसे ही जो-जो गुण-द्रव्य के बतलाये गये हैं, उन गुणों के एवं प्रोक्षणादि संस्कारों के

ज्ञान के अभाव में उन कर्मों को सम्पादित नहीं किया जा सकता। इसी कारण आचार्य बादरि द्रव्य, गुण तथा संस्कार में शेषत्व (परार्थता) मानते हैं॥ ३ ॥

**आचार्य जैमिनि, आचार्य बादरि के विचारों में जो कुछ कमी रह गई, उसकी पूर्ति करते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २९३ ) कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** कर्माणि = यज्ञीय आदि कर्मानुष्ठान, अपि = भी, फलार्थत्वात् = फल के लिए होने के कारण सम्भवतः 'शेष' ही हैं, जैमिनिः = आचार्य जैमिनि का ऐसा मत है।

**व्याख्या—** आचार्य बादरि ने शेष पद का व्यावहारिक स्वरूप समझाने के लिए जिस पद्धति का आश्रय लिया है, उस मान्यता क्रम के अनुसार यज्ञ, दान, हवन आदि सभी को शेषभूत ही मानना चाहिए। कारण यह कि यज्ञार्थ होने से जिस प्रकार द्रव्य (व्रीहि, यव, आज्य आदि) शेषभूत हैं, ठीक उसी प्रकार यज्ञादि कर्म भी अपूर्व कर्म द्वारा स्वर्ग आदि के फल प्रयोजनार्थ होने से शेषभूत हैं, ऐसा मानना चाहिए। द्रव्य के अभाव में जैसे यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता, वैसे ही यज्ञादि कर्मानुष्ठान के अभाव में स्वर्ग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ, दान आदि कर्म स्वर्गादि फल के शेषभूत हैं, यज्ञ के साथ कामनायें भी जुड़ी होती हैं, जिनकी पूर्ति यज्ञ से ही हुआ करती है। अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म जो जीवन पर्यन्त चलते रहते हैं, उनके अनुष्ठान के भी प्रत्यवाय (न्यूनता दोष, पाप) फल बताये गये हैं। आचार्य जैमिनि ने इस प्रकार से समीक्षात्मक कथन करके आचार्य बादरि के विचारों को उचित एवं चिन्तनीय बताया है॥ ४॥

**इसी विवेचनात्मक क्रम में आचार्य ने कहा कि इस (शेष शब्द का अर्थ खोजने का क्रम) का फल पर समापन नहीं हो जाता, वह आगे भी गतिशील रहा करता है—**

**( २९४ ) फलं च पुरुषार्थत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—**पुरुषार्थत्वात् =पुरुष के निमित्त होने से, च=भी, फलम्=स्वर्ग आदि फल शेषभूत माने जा सकते हैं।

**व्याख्या—** 'स्वर्गादिफलं मे भवतु' मुझे स्वर्ग फल की प्राप्ति हो, ऐसा उपदेश शास्त्रों में पुरुष के लिए प्राप्त होता है। यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले अनुष्ठाता पुरुष को ही यज्ञ द्वारा स्वर्ग रूपी फल प्राप्त हुआ करता है। शास्त्रों के इस विधि-विधान से यह प्रत्यक्ष है कि फल पुरुष के लिए ही है, अतएव फल भी शेषभूत है। द्रव्य की तरह वह भी शेष का ही लक्ष्य (विषय) है, ऐसी आचार्य जैमिनि की मान्यता है॥ ५॥

**आचार्य ने इसी विवेचनात्मक क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहा—**

**( २९५ ) पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पुरुषः = पुरुष भी (द्रव्यवत्), कर्मार्थत्वात् = कर्म के प्रयोजनार्थ होने से कर्म के प्रति शेषभूत है, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार व्रीहि, आज्य एवं यव आदि द्रव्यों के अभाव में यज्ञीय कर्मानुष्ठान की सिद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही धर्म के सम्पादन का कार्य भी यजमान के अभाव में सम्भव नहीं। आचार्य जैमिनि इसी आधार पर ऐसा मानते हैं कि यजमान भी द्रव्य के समान ही कर्म का शेषभूत है। यहाँ आचार्य बादरि एवं आचार्य जैमिनि के विचारों में किसी तरह का कोई विरोधाभास नहीं है। आचार्य जैमिनि के मतानुसार अनुकूलता पुरुष के प्रति शेषभूत है। इस कथन में कर्म का तात्पर्य सोम याग जैसे विशेष यज्ञानुष्ठानों से है। सोमयाग के विधि-विधान के बीच कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में यज्ञमण्डप के मध्य एक औदुम्बर (गूलर वृक्ष की शाखा) गाड़ने का विधान है। उद्‌गाता उस शाखा का स्पर्श करने के अनन्तर ही उस शाखा से पीठ के भाग को लगाकर सामगान करते हैं। वह शाखा कितनी ऊँची होनी चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में कहा

कि- 'यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति' अर्थात् गूलर की शाखा अनुष्ठाता (यजमान) पुरुष के बराबर ऊँची होनी चाहिए। अनुष्ठाता रूप यजमान पुरुष की उपयोगिता यहाँ पर औदुम्बर की ऊँचाई नापने के लिए सिद्ध होती है,इसी से यजमान पुरुष को कर्म के प्रति शेषभूत कहा गया है। आचार्य जैमिनि ने इस प्रकार 'परार्थत्वात्' हेतु में कुछ सुझाव दिये हैं, उनकी अभिव्यक्ति का आशय यह है कि ऐसे कर्म जो मात्र दूसरों के लिए शेषभूत हैं, किन्तु उनके लिए दूसरे कोई शेषभूत नहीं हैं, शेष के लक्ष्य या क्षेत्र में ऐसे ही कर्म आते हैं। उदाहरणार्थ- यज्ञ, स्वर्गादि फल एवं यजमान पुरुष द्रव्य (आज्य, यव, व्रीहि) के लिए शेषी (अङ्गी) हैं, किन्तु द्रव्य, गुण एवं संस्कार किसी के लिए भी शेषी न होकर शेषमात्र ही हैं। इसी सब आधार को लेकर आचार्य बादरि ने 'शेष' पद से उसके अर्थ की अवधारणा प्रस्तुत की। अतएव दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है॥ ६॥

**जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का यह है कि प्रधान यज्ञों के सम्पादन समय में उनके प्रकरण में व्रीहि आदि उपयोगी द्रव्यों के निर्वाप (दान), प्रोक्षण (सिंचन), अवहनन (कूटना) आदि कर्म सर्वत्र अनिवार्य हैं? अथवा जहाँ इनकी आवश्यकता होती है, वहीं इनको सम्पन्न किया जाता है? सूत्रकार ने समाधान देते हुए कहा—**

**( २९६ ) तेषामर्थेन सम्बन्धः॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = उन निर्वाप, अवहनन आदि धर्मों का, अर्थेन = प्रयोजन के अनुरूप व्रीहि, यव, आज्य एवं सान्नाय्य आदि के साथ, संयोगः = संयोग जानना चाहिए, न कि सर्वत्र।



**व्याख्या—** विभिन्न यज्ञोपयोगी पदार्थों को तैयार करना मुख्य (यजन की) क्रिया से अलग शेष कर्म होते हैं। उनमें धान को कूटना, घी को पिघलाना, दूध का दुहा जाना आदि क्रियाएँ भी यज्ञीय भाव से की जानी चाहिए। इनमें एक वस्तु का उपचार दूसरे से भिन्न होता है, इसलिए उन्हें (तेषाम्) सम्बद्ध पदार्थों के सार्थक अर्थों में ही स्वीकार किया जाना उचित है। अतएव जहाँ उनकी उपयोगिता एवं प्रयोजन की सिद्धि होती है, उक्त धर्म उसी द्रव्य के शेषभूत हैं, जैसा कि बताया जा चुका है, यही मानना चाहिए॥ ७॥

**इस कथन पर शिष्य की आशङ्का को सूत्रकार ने स्वयं ही पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( २९७ ) विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** तु = पूर्वपक्ष का द्योतक है, विहितः = शास्त्रों में कहा गया अवहनन आदि धर्म, सर्वधर्मः = व्रीहि, आज्य, सान्नाय्य सभी का धर्म, स्यात् = होना चाहिए (क्योंकि), संयोगतोऽविशेषात् = अपूर्व के साथ समस्त धर्मों का संयोग होने से, च = भी (एवं), प्रकरणाविशेषात् = दर्शपूर्णमास (एक ही प्रकरण) में पढ़े जाने से (उक्त कथन ठीक नहीं)।

**व्याख्या—** शास्त्र विहित उपचारों (कूटना, पीसना, पिघलाना) आदि का उपचारित द्रव्यों (व्रीहि, घृत आदि) तथा यज्ञीय पदार्थों से सम्बन्ध न होने पर उन्हें उनके साथ जोड़ना उचित नहीं। इस प्रकार अपूर्व के उत्पादन में उपर्युक्त सभी धर्म साधन रूप हैं, अतएव अवहनन (कूटना), पीसना (पेषण), उत्पवन (छानना) आदि समस्त धर्मों का व्रीहि, आज्य, दोहन आदि सभी धर्मों के साथ सम्बन्ध की मान्यता स्वीकार की जानी चाहिए॥ ८॥

**सूत्रकार ने जिज्ञासा का समुचित समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया-**

**( २९८ ) अर्थलोपादकर्म स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थलोपात् = अर्थ की विलुप्तता से जहाँ अवहनन आदि धर्म का आज्य, सान्नाय्य (यज्ञ हेतु अभिमन्त्रित घृत) आदि में कोई प्रयोजन नहीं है, अकर्म = वहाँ वह कर्म करने योग्य नहीं, स्यात् = है।

**व्याख्या—** अवहनन के अन्तर्गत धान कूटने की प्रक्रिया का प्रयोजन धान के ऊपर चढ़े हुए छिलके को

हटाकर शुद्ध चावल निकालना है, इसलिए इस कर्म का किया जाना सर्वथा युक्तियुक्त है; जबकि अवहनन की इस क्रिया की आज्य एवं सान्नाय्य आदि में कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती। इसलिए आज्य एवं सान्नाय्य आदि धर्मों में अवहनन की क्रिया का सम्पादन अपूर्व के उत्पादन में सहयोगी है, यह कहना आधारहीन एवं अनुचित है। अत: जिस कर्म की जहाँ आवश्यकता हो, वहीं उसको किया जाना चाहिए॥ ९॥

**उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि करते हुए सूत्रकार उसी तथ्य को और भी अच्छी तरह समझाते हैं—**

**( २९९ ) फलन्तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**—तु =यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है, फलम् = धान की भूसी (छिलका) हटाना रूप फल, चेष्टया सह = चेष्टापूर्वक की गई धान कूटने की क्रिया के साथ प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर होता है (शुद्ध चावल प्राप्त करना ही उस अवघात क्रिया का प्रत्यक्ष-दृष्ट फल है), विप्रयोगे = दृष्ट फल के न होने की स्थिति में, अभावात् =उस प्रत्यक्ष फल के अभाव से, शब्दार्थ: = केवल शब्दों का कहना मात्र ही, स्यात् = रह जायेगा।

**व्याख्या—** प्रत्येक क्रिया का एक परिणाम होता है। वह न हो तो क्रिया निरर्थक है। ऊपर कहा जा चुका है कि धान का छिलका हटाने की प्रक्रिया प्रयोजन विशेष के लिए की जाती है और उसका फल भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। यह प्रयोजन आज्य एवं सान्नाय्य आदि में होना संभव नहीं है। अतएव अवघात, विलापन, दोहन आदि सबके धर्म न होकर पूर्व में निर्देश किये गये कथन के अनुरूप सुव्यवस्थित धर्म हैं तथा उनके ही शेषभूत हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ १०॥



**जिज्ञासु शिष्य ने आशङ्का व्यक्त की, कि दर्शपूर्णमास यज्ञ में उसके विधि-विधान के क्रम में कुछ यज्ञीय उपकरणों का उल्लेख मिलता है, तो वे यज्ञीय उपकरण कर्मकाण्ड के अन्तर्गत जो कर्मांश जिस उपकरण के सहयोग से सम्पन्न हो सकता है, उस-उस के लिए पढ़े गये हैं? या उत्पत्ति वाक्य में जिस उपकरण का जिस यज्ञीय प्रक्रिया के साथ सम्बन्धित है, उसके लिए पढ़ा गया है? आचार्य जैमिनि ने समाधान करते हुए कहा—**

**( ३०० ) द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, द्रव्यम् = स्फ्य कपाल आदि द्रव्य (उपकरण) का, उत्पत्तिसंयोगात् = उत्पत्ति वाक्यों (स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति आदि) में की जाने वाली उद्धनन आदि क्रियाओं के संयोग से, तदर्थम् = उक्त इन्हीं कर्मों के प्रयोजनार्थ, एव = ही, चोद्येत = विधान किये जायेंगे। (आशय यह है कि उत्पत्ति वाक्य में जिस यज्ञीय उपकरण के साथ जिस क्रिया का विधान बतलाया गया है, उसी क्रिया के हेतु उस उपकरण का प्रयोजन होना चाहिए)।

**व्याख्या—** प्रत्येक यज्ञीय उपकरण किसी विशेष क्रिया के साथ जुड़ा होता है। अतएव ऐसी स्थिति में उस यज्ञीय उपकरण की उपयोगिता उसी क्रिया के लिए सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ- ये सभी कर्म प्रकरण में स्फ्य से खोदने, मिट्टी के पात्र में पुरोडाश बनाने, सूप से फटकने के कार्य सुनिश्चित हैं। इसके लिए निर्दिष्ट वाक्य यद्यपि समान रूप से पढ़े गये हैं तथा इन सबका दृष्ट उपयोग भी प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित है, तथापि इन सबका विनियोग सर्वत्र न होकर विधान करने वाले वाक्यों के अनुसार सुनिश्चित कार्यों में ही होना चाहिए; यही शास्त्र की विधि-व्यवस्था है॥ ११॥

**'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' अर्थात् लाल एवं पीत रंग मिश्रित रूप वाली, पीली आँखों वाली तथा एक वर्ष की वय वाली गाय मूल्य रूप में चुकाकर सोम क्रय करता है। जिज्ञासु शिष्य यहाँ यह संदेह व्यक्त करता है कि अरुण रूप का संयोग सम्पूर्ण क्रय-प्रकरण के साथ है? या मात्र क्रय के अन्तर्गत एक वर्ष की वय (अवस्था) वाली गाय से ही सम्बन्धित है? सूत्रकार ने शिष्य की आशङ्का का समाधान करते हुए बताया—**

**( ३०१ ) अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियम: स्यात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** ऐककर्म्यात् = जिस यज्ञीय कर्म में एक ही प्रक्रिया के साध्य होने से, द्रव्यगुणयो: = द्रव्य तथा गुण के, अर्थैकत्वे = प्रयोजन की एकता होने की स्थिति में द्रव्य एवं गुण का पारस्परिक सम्बन्ध, नियम: = सुनिश्चित नियम से, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** निर्धारित यज्ञ कर्म में द्रव्य, उसके गुण एवं प्रयोजन की सुसंगति को ही नियम मानना चाहिए। अतएव अरुण पिङ्गाक्ष्या.... आदि वाक्य में अरुणया तथा पीली आँखों का सम्बन्ध एक वर्ष की गाय के साथ ही मानना सुसंगत है॥ १२॥

**जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का यह है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रकरण में पठित- 'य एवं विद्वान् सोमेन यजते' अर्थात् जो विद्वान् इस प्रकार सोम से यजन सम्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' अर्थात् दशा पवित्र सोम को छानने वाले वस्त्र से ग्रह को सम्मार्जित करता है। इसी तरह से अग्निहोत्र के प्रकरण में कहा- 'अग्रेस्तृणान्यपचिनोति' अर्थात् अग्नि वेदी पर बिखरे हुए तिनकों को दूर करता है। ऐसे ही दर्शपूर्णमास प्रकरण में कहा- 'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति' अर्थात् पुरोडाश के चारों ओर प्रज्वलित कुशतृणों को घुमाता है। यह उक्त निर्देश क्या एक के लिए है? या सभी के लिए? सूत्रकार शिष्य की इस जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित करते हैं—**

## ( ३०२ ) एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** एकत्वयुक्तम् = जितने भी कर्म ऊपर बतलाये गये हैं, वे सभी एक वचन से युक्त हैं, श्रुति संयोगात् = अतएव उक्त समस्त द्रव्यों का एक वचन श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से, एकस्य = एक बार ही (एक ग्रह, एक अग्नि एवं एक पुरोडाश का सम्मार्जन आदि होना चाहिए)।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में पठित 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति' आदि श्रुति वाक्यों में ग्रह, पुरोडाश आदि द्रव्यों का एकवचन से सम्बन्धित पाठ है; संख्या की दृष्टि से इन सबमें एक ही द्रव्य का श्रवण होता है। अतएव जिस बात की मान्यता शब्द प्रमाण द्वारा अभिव्यक्त किये गये कर्म के विषय में शब्द बोधित हो, वही स्वीकार करने योग्य है। इस प्रकार से यहाँ पर एक ही ग्रह का सम्मार्जन एवं एक-एक ही पुरोडाश का पर्यग्निकरण किया जाना युक्ति-युक्त है॥ १३॥

**सूत्रकार ने शिष्य की उपर्युक्त जिज्ञासा का समुचित समाधान किया—**

## ( ३०३ ) सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। सर्वेषाम् = समस्त ग्रह अग्नि, पुरोडाश आदि का क्रमपूर्वक सम्मार्जन एवं पर्यग्निकरण आदि संस्कार करना चाहिए, लक्षणत्वात् = जातिरूप लक्षणों की अभिव्यक्ति एक वचन द्वारा होने के कारण, हि = निश्चयपूर्वक, लक्षणम् = ग्रहत्व एवं पुरोडाशत्वरूपता आदि जाति लक्षणों की उपलब्धता सभी जगह, अविशिष्टम् = समान रूप से पायी जाती है।

**व्याख्या—** दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि, अग्रेस्तृणान्यपचिनोति, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति में क्रमश: ग्रह, अग्नि एवं पुरोडाश द्रव्यों का जो एक वचन से युक्त होना बताया गया है, वह जाति की भावना से कहा गया है; क्योंकि जाति धर्म सब में समान रूप से उपलब्ध रहता है। मनुष्य जाति कहने से सभी मनुष्यों का बोध हो जाता है तथा पशु कहने से समस्त पशु जाति को जान लिया जाता है अर्थात् सबका ग्रहण हो जाया करता है। इस प्रकार समस्त ग्रहों का सम्मार्जन, समस्त अग्नि वेदियों पर से तिनकों को हटाना एवं समस्त पुरोडाशों का पर्यग्निकरण संस्कार शास्त्र की दृष्टि में भी कर्त्तव्य है। अतएव सम्मार्जन आदि संस्कार सभी ग्रह, अग्नि एवं पुरोडाश आदि में शास्त्र की मान्यता के अनुसार हुआ करते हैं॥ १४॥

**जिज्ञासु शिष्य ने आशङ्का प्रकट करते हुए कहा कि शास्त्रों में जो 'पशुमालभेत' वाक्य का उदाहरण मिलता है, उसका समाधान क्या है? आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत करके कहा—**

**( ३०४ ) चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** तु = आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है, चोदिते = वेदविहित यज्ञीय कर्मानुष्ठान में उपर्युक्त 'पशुमालभेत' वाक्य तो, परार्थत्वात् = याग के लिए (आलम्भन के लिए)होने से, यथाश्रुतिः = एकत्व, पुंस्त्व का ग्रहण श्रुति के अनुरूप होता है, प्रतीयेत = ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।

**व्याख्या—** जिज्ञासु शिष्य ने जिस प्रकार 'पशुमालभेत' वाक्य से 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य की समानता बतलायी है, वह शिष्य की अल्पज्ञता का ही बोधक है। कारण यह कि दोनों के अर्थ एवं उनके भाव-पृथक्-पृथक् हैं, दोनों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न है। 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य के अन्तर्गत सम्मार्जन संस्कार कर्म की विधि- व्यवस्था का विधान ग्रह को लक्ष्य करके किया गया है। अतएव समस्त ग्रहों का सम्मार्जन संस्कार हो जाता है; जबकि 'पशुमालभेत' वाक्य में यह स्थिति नहीं है, इसमें पशु का विधान यज्ञ को लक्ष्य करके किया गया है, न कि पशु को लक्ष्य करके। विधि-विधान के अनुरूप ही यहाँ कार्य का सम्पादन होगा अर्थात् आलम्भन हेतु एक ही पशु (पुरुष) लाया जायेगा, यज्ञ के साधनों में वह एक प्रमुख अवयव है। इस प्रकार से 'पशुमालभेत' का उदाहरण 'ग्रहंसम्मार्ष्टि' के प्रसंग में उपस्थित करना न्यायसङ्गत नहीं है॥ १५॥

**उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि ग्रह पद को भी अविवक्षित की मान्यता देकर एकत्व आदि की भाँति उसे सोमरस से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पात्रों ( चषक आदि ) के सम्मार्जन संस्कार की भी विधि-व्यवस्था क्यों न स्वीकार की जाये ? शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने स्वयं सूत्रित किया—**

**( ३०५ ) संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की स्थापना का द्योतक है, गुणानाम् = सम्मार्जन आदि गुणों के, संस्कारात् = संस्काररूप कर्म होने से, अव्यवस्था = उसे व्यवस्था नहीं, स्यात् = माननी चाहिए अर्थात् चषक आदि पात्रों का भी सम्मार्जन संस्कार होना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञ में स्थाली, कलश, ग्रह, चमस आदि अनेक पात्र प्रयुक्त होते हैं। शास्त्रों में श्रुति को सामान्य वाक्यों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यशाली माना गया है, अतएव सम्मार्जन संस्कार विहित होने की स्थिति में ग्रह, चमस आदि समस्त यज्ञीय उपकरण उससे जुड़ जाते हैं। इसलिए जो भी यज्ञीय पात्र सम्मार्जन संस्कार की योग्यता वाले हों- 'ग्रह' हों अथवा 'चमस ', सभी को सम्मार्जित किया जाना चाहिए; क्योंकि सम्मार्जन संस्कार रूप गुण समस्त यज्ञीय उपकरणों के लिए समान है॥ १६॥

**सूत्रकार अगले सूत्र में शिष्य की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं-**

**( ३०६ ) व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = पूर्वपक्ष के परिहारार्थ यह पद प्रयुक्त है, जिसका आशय यह है कि चमसों को सम्मार्जित करना उचित नहीं, अर्थस्य = ग्रह रूपी अर्थ का, श्रुति संयोगात् = श्रुति के साथ संयोग होने से (आशङ्कावादी का कथन युक्तियुक्त नहीं कारण यह कि), तस्य = उस विधि के विषय में, शब्दप्रमाणत्वात् = शब्द मात्र के साक्ष्य (प्रमाण) होने के कारण, व्यवस्था = जो व्यवस्था 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य से बतलायी गयी है, वह सम्मार्जन रूप संस्कार ग्रहों के लिए ही है, चमस आदि के लिए नहीं।

**व्याख्या—** जिज्ञासु शिष्य ने अपनी आशङ्का में अपूर्व के संयोग एवं प्रकरण की समानता का आश्रय लेकर 'ग्रह' पात्र की भाँति 'चमस' में जो सम्मार्जन संस्कार की उपलब्धता का कथन किया है, वह सर्वथा अनुचित है; क्योंकि 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य में 'ग्रह' पद (द्वितीयान्त) ने श्रुति से मात्र ग्रहों के ही सम्मार्जन संस्कार का श्रवण हुआ है, न कि चमसों का। अतएव 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार सम्मार्जन धर्म ग्रहों का ही है, ऐसा मानना चाहिए॥ १७॥

**शिष्य ने पुन: अपनी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा कि वाजपेय यज्ञ के प्रकरण में पठित 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्थ यूपो भवति' अर्थात् वाजपेय याग का यूप सत्रह अरत्नि के परिमाण वाला होता है, वाक्य में यह आशङ्का होती है कि क्या यह परिमाण वाजपेय याग के षोडशी पात्र का है। जो यूप के समान ऊँचा दिखलाई पड़ता है ? या यह पशु के यूप का परिमाण ( नाप ) है। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समुचित समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( ३०७ ) आनर्थक्यात्तदङ्गेषु॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** आनर्थक्यात् = प्रधान यज्ञीय कर्मानुष्ठान में किसी विधान के अर्थहीन हो जाने के कारण, तदङ्गेषु = उसके (प्रधान कर्म के ) अङ्गभूत कर्मों में उसकी विधि-व्यवस्था समझनी चाहिए।

**व्याख्या—** यूप का उपयोग वाजपेय यज्ञों में नहीं हुआ करता, किन्तु पशुयाग जो वाजपेय याग का अङ्गभूत है; उसमें यज्ञ पशु को बाँधने हेतु यूप की आवश्यकता पड़ती है। शङ्का की जाती है कि जब इस प्रधान कर्म वाजपेय में यूप का विधान ही नहीं है, तो ऐसी दशा में 'सप्तदशारतिनर्वाजपेयस्ययूपो भवति' का पाठ सर्वथा निरर्थक है। इस पर आचार्य ने कहा कि जहाँ इस प्रकार की परिस्थितियाँ हों, वहाँ प्रधान कर्म के अङ्गभूत (पशुयाग आदि) कर्मों में उसका विधान, उपयोग के अवसर की अनिवार्यता को देखते हुए सम्पन्न कर लेना चाहिए। इस तरह से यह सुनिश्चित हो जाता है कि 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' वाक्य का सम्बन्ध मुख्य यज्ञ से नहीं है; परन्तु वाजपेय के अङ्गभूत पशुयाग से जुड़े यूप से है॥ १८॥

**शिष्य अब अभिक्रमण कर्म के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त करते हुए कहता है कि दर्शपूर्णमास याग के प्रयाज प्रकरण में पठित वाक्य 'अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै' अर्थात् 'सर्वत्र जय हेतु आगे बढ़ते हुए आहुति प्रदान करता है', तो क्या यह धर्म याग के सभी कर्मों का है अथवा मात्र प्रयाजों का ही धर्म है ? इस प्रकार की जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( ३०८ ) कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेद: स्यात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तु = पूर्वपक्ष का द्योतक है, कर्तृगुणे = अभिक्रमण को कर्त्ता का गुण मानने की स्थिति में तो, कर्मासमवायात् = (आहुति प्रदान करते समय आगे बढ़ने की क्रिया रूप कर्म का)अभिक्रमण कर्म का जुहोति कर्म के साथ समवाय (सम्बन्ध) न होने के कारण, वाक्यभेद: = वाक्य भेद, स्यात् = हो जायेगा।

**व्याख्या—** 'अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै' वाक्य का 'अभिक्रामं' पद क्रिया विशेषण से युक्त है। 'अभिक्रामं यथा स्यात् तथा जुहोति' अर्थात् अभिक्रमण कर्म जैसे हो उसी प्रकार हवन करता है। इस वाक्य से आहुति करने वाले कर्त्ता का आगे बढ़ना गुण है। मात्र प्रयाज यागों के लिए अभिक्रमण कर्म करते हुए आहुति प्रदान की जाये, उक्त वाक्य का आशय यह नहीं है। अत: अभिक्रमण कर्म की एकवाक्यता प्रयाज कर्मों के साथ न स्वीकार करके सम्पूर्ण दर्शपूर्णमास प्रकरण के साथ स्वीकार करना चाहिए॥ १९॥

**सूत्रकार अगले सूत्र में शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हैं—**

## ( ३०९ ) साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** तु = आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अभिक्रमण के सम्बन्ध की बात अयुक्त है, साकाङ्क्षम् = कारण यह कि पारस्परिक आकांक्षा युक्त पद समूह, एकवाक्यम् = एक वाक्यता से युक्त, स्यात् = होता है, पूर्वेण = प्रथम पद (अभिक्रामम्) के साथ, हि = निश्चयात्मक ढंग से, असमाप्तम् = वाक्य का समापन नहीं हुआ करता है।

**व्याख्या—** 'अभिक्रामं जुहोति' वाक्य अपने आप में परिपूर्ण है, उसे अपने अर्थ प्राकट्य हेतु किसी अन्य पद की अभिलाषा नहीं रहती। सम्पूर्ण दर्शपूर्णमास प्रकरण के साथ उसके सम्बन्ध की बात प्रकरण में पठित होने के कारण कही जा सकती है, आकांक्षा युक्त 'अभिक्रामं' पद अपने साथ अव्यवहित जुहोति पद के साथ

संयुक्त हो जाता है; जबकि यह प्रकरण दर्शपूर्णमास याग का है। किन्तु प्रकरण की अपेक्षा वाक्य बलवान् हुआ करता है तथा इस वाक्य का पाठ प्रयाज यागों के साथ किया गया है। अतएव अभिक्रमण कर्म का सम्बन्ध प्रयाज यागों में ही माना जायेगा, न कि दर्शपूर्णमास के समस्त क्रिया कलापों में। यह मात्र प्रयाज यागों का ही धर्म है, ऐसा समझना चाहिए॥ २०॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण अनुवाकदशम में विभिन्न पक्ष सामधेनियों का वर्णन है। ग्यारहवें अनुवाक में यज्ञोपवीत का कथन करते हुए बताया-'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते अर्थात् दाहिना हाथ बाहर निकालकर वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत को जो धारण करता है।' वह देवताओं के लक्षण प्रकट करता है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करने की प्रक्रिया क्या मात्र सामधेनी मन्त्रों का पाठ करते हुए ही सम्पन्न करनी चाहिए? या उपव्यान सहित दर्शपूर्णमास आदि समस्त कर्मों में यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए? सूत्रकार ने आशङ्का का निवारण करते हुए कहा—**

## ( ३१० ) सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ है, जिसका अभिप्राय यह है कि सामिधेनी मन्त्रों के साथ ही मात्र यज्ञोपवीत का सम्बन्ध बताना सर्वथा अनुचित है। सन्दिग्धे = प्रकरण के समापन विषयक आशङ्का की स्थिति में, व्यवायात् = निवित् पदों के बीच में आ जाने से, वाक्यभेदः = यज्ञोपवीत का विधान करने वाले वाक्य का सामिधेनी मन्त्रों से वाक्य भेद, स्यात् = हो जाया करता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि बीच में निवित् पदों के आने से ऐसा सन्देह होता है। निवित् मन्त्रों के बीच में आकर व्यवधान उत्पन्न करने की स्थिति में सामिधेनी एवं यज्ञोपवीत (उपवीत) वाक्यों की एकवाक्यता नहीं बनती; क्योंकि उक्त व्यवधान दोनों को एक दूसरे से पृथक् कर देता है। इसी कारण यज्ञोपवीत वाक्यों का सम्बन्ध सामिधेनी वाक्यों से जोड़ना सम्भव नहीं। अतएव जितने भी यज्ञीय कर्म अनुष्ठान करने योग्य हैं, चाहे वे दर्शपूर्णमास प्रकरण में हों अथवा दूसरे स्थल पर हों, यजमान को चाहिए कि वह यज्ञोपवीत (उपवीती) धारण करके ही उनमें प्रवृत्त हो। उन्हीं कर्मों के अन्तर्गत ही सामिधेनी ऋचाएँ पढ़ी गई हैं॥ २१॥

**जिज्ञासु शिष्य ने कहा कि वारण एवं वैकङ्कत यज्ञीय पात्रों का उल्लेख 'तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरः स्यात् न त्वेतेन जुहुयात्' एवं 'वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात् जुहुयादेतेन' आदि वाक्यों द्वारा प्राप्त होता है। इनमें 'वरण' से होम करने एवं 'विकङ्कत' से होम करने की बात कही गई है। इन पात्रों का उल्लेख पाठरूप में किया गया है, परन्तु अग्न्याधेय की प्रक्रिया से इन पात्रों के सम्बद्ध होने की बात नहीं बतलायी गई है, कारण यह कि इन पात्रों को यज्ञावचरः ( यज्ञोपकरण ) बताया गया है अर्थात् ये यज्ञ साधना के उपकरण ( पात्र ) हैं। आशङ्का यह होती है कि इन 'वारण' एवं 'विकङ्कत' पात्रों का प्रयोग क्या समीप में पठित होने के कारण अग्न्याधेय की पवमान नामक इष्टियों में हुआ करता है? अथवा समस्त यज्ञों में होता है? सूत्रकार ने शिष्य की आशङ्का का निवारण करते हुए कहा—**

## ( ३११ ) गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** गुणानाम् = गुणों के, परार्थत्वात् = परार्थ ( यज्ञार्थ) होने से, च = तथा, समत्वात् = अग्न्याधान एवं पवमान हवियों में समानता होने से, असम्बन्धः = पवमान हवियों के साथ वारण एवं वैकङ्कत यज्ञ पात्रों का सम्बन्ध नहीं, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने इसी मीमांसा दर्शन के तीसरे अध्याय के छठवें पाद के ११ से १५ तक के सूत्रों में यह स्वयं ही कहा है कि पवमानेष्टि अग्न्याधेय का अङ्ग नहीं है। ये दोनों कर्म समान प्रयोजन से युक्त हैं; किन्तु इन दोनों में कोई किसी का अङ्ग नहीं है। इन दोनों के गुणभूत कर्मों (अग्नि को संस्कारित करने) की समानता होते हुए भी पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव के सम्बन्ध का अभाव है। अतः अग्न्याधेय का आधार लेकर पवमान हवियों के साथ 'वारण' एवं 'वैकङ्कत' यज्ञीय पात्रों का सम्बन्ध मानना सर्वथा अनुचित एवं दोषपूर्ण होगा॥ २२॥

**शिष्य पुनः अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहता है कि 'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम्' अर्थात् वृत्रघ्न से सम्बन्धित दो अनुवाक्या पौर्णमासी में पाठरूप में पढ़ी जाती है; 'वृध' युक्त अमावस्या में तो दो अनुवाक्या के पठित होने का सम्बन्ध क्या प्रधान कर्म के साथ है? अथवा आज्य भाग से सम्बन्धित है? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ३१२ ) मिथश्चानर्थसम्बन्धात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** मिथ: = वार्त्रघ्नी एवं वृधन्वती दोनों का प्रधान कर्म के साथ, अनर्थसम्बन्धात् = अर्थयुक्त सम्बन्ध न होने से, च = भी (वार्त्रघ्नी एवं वृधन्वती अनुवाक्या का प्रधान कर्म से सम्बन्ध नहीं है)।

**व्याख्या—** (सम्मिश्रित) युगल दो-दो अनुवाक्याओं की प्रधान कर्म में कोई भी उपयोगिता नहीं पायी जाती। युगल अनुवाक्याओं का जिस कार्य में उपयोग होता हो,वहाँ उनके विधि-विधान की जानकारी कर लेनी चाहिए। आज्य भाग में दो आहुतियों के दिये जाने का विधान है, उसमें एक वार्त्रघ्नी एवं एक वृधन्वती दो अनुवाक्या आग्नेयी तथा एक वार्त्रघ्नी व एक वृधन्वती दो अनुवाक्या सौमी की उपलब्ध होती हैं। अतएव इन युगल अनुवाक्याओं का सम्बन्ध प्रधान कर्म से न होकर आज्य भाग में ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ २३॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन है कि ज्योतिष्टोम प्रकरण के अन्तर्गत पढ़े जाने वाले वाक्यों, जैसे- 'मुष्टी करोति, वाचं यच्छति, दीक्षितमावेदयति' मुट्ठी बाँधता है, वाणी का संयमन करता है अर्थात् मौन धारण करता है, दीक्षित को अपना आवेदन प्रस्तुत करता है। दूसरा वाक्य है- 'हस्ताववनेनिक्ते, उलपराजिंस्तृणाति' अर्थात् हाथ का प्रक्षालन करता है, घास के तृणों को पंक्तिबद्ध करके बिछाता है। यहाँ आशङ्का यह है कि क्या इन क्रियाओं का सम्बन्ध सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम प्रकरण के साथ है? अथवा क्रिया विशेष के साथ? सूत्रकार ने शिष्य की आशङ्का निवारण के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३१३ ) आनन्तर्यमचोदना॥२४॥

**सूत्रार्थ—** आनन्तर्यम् = व्यवधान का अभाव (अर्थात् सन्निकट स्थित द्रव्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में), अचोदना = प्रेरणोत्पादक (प्रेरक) नहीं हुआ करता।

**व्याख्या—** हस्त प्रक्षालन की प्रक्रिया सम्पूर्ण प्रकरण में सम्पादित होने वाले समस्त कर्मों के लिए है न कि मात्र उपलराजिस्तरण के लिए। दर्शपूर्णमास यज्ञीय प्रकरण में विहित 'हस्तानवेजन' की प्रक्रिया जिस प्रकार कर्ममात्र की अंगभूत है, न केवल मात्र उपलराजिस्तरण प्रक्रिया की; वैसे ही मुष्टीकरण एवं वाग्यमन (मुट्ठी बाँधना एवं मौन रहना) की क्रिया मात्र दीक्षिता वेद (दीक्षित की सूचना देने) की अंगभूत न होकर सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अंग है॥ २४॥

**सूत्रकार अब उक्त सूत्र द्वारा सुनिश्चित अर्थ में स्वयं युक्तियुक्त स्पष्टीकरण देते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ३१४ ) वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, वाक्यानाम् = प्रसङ्गप्राप्त उक्त वाक्यों के अपने-अपने शब्द समूहों में अर्थ की अभिव्यक्ति की, समाप्तत्वात् = समापन की स्थिति होने से, पूर्णता के कारण पूर्व में वर्णित उक्त वाक्यों का पारस्परिक सीधे सम्बन्ध का सर्वथा अभाव ही है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रसङ्गान्तर्गत पूर्व के सूत्र में उद्धृत जितने भी वाक्य दृष्टान्त रूप में आये हैं, उन सबमें हर एक वाक्य अपनी पद-सामूहिकता के प्रभाव से अपने अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम है तथा अन्य किसी पद की अपेक्षा से रहित है। आकांक्षारहित (अपेक्षारहित) इस कारण से हैं; क्योंकि सभी वाक्य एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं तथा सभी का अपना-अपना स्पष्ट अर्थ भी है और प्रकरण में समान रूप से उनका पाठ भी होता है, अतएव उनका सम्बन्ध समस्त प्रकरण के समस्त कर्मों के साथ है, ऐसा ही मानना चाहिए॥ २५॥

**'आग्नेयं चतुर्धा करोति' अग्निदेवता वाले पुरोडाश को चार भाग के रूप में विभाजन करता है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित प्रस्तुत वाक्य को लेकर शिष्य की जिज्ञासा है कि यह विभाजन मात्र अग्नि देवता वाले समस्त पुरोडाशों के करने चाहिए? इसी जिज्ञासा को आगे के सूत्र में सूत्रकार स्वयं ही सूत्रित कर रहे हैं—**

**( ३१५ ) शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = इस पद का तात्पर्य है कि आग्नेय पुरोडाश का चार भागों में विभाजन तो, शेषः = अङ्गभूत कर्म है, गुणसंयुक्तः = (और यह विभाजन) आग्नेय गुणों से संयुक्त है, साधारणः = (अतएव) सर्वत्र (सभी पुरोडाशों में) समान ही, प्रतीयेत = समझना चाहिए, तेषाम् =उन सभी पुरोडाशों के मध्य, मिथः = मात्र आग्नेय एवं चार भागों में विभाजन रूप चतुर्धाकरण का पारस्परिक, असम्बन्धात् = सम्बन्ध का अभाव होने से आग्नेय, अग्नीषोमीय एवं ऐन्द्राग्न आदि सभी पुरोडाशों में सर्वत्र होगा, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** शिष्य का कथन यह है कि पुरोडाशों के चार भागों में विभाजन रूप प्रक्रिया अग्निदेवता वाले पुरोडाश का शेषभूत कर्म है, अतएव इस क्रिया के साथ अग्नि देवता का सामान्य सम्बन्ध होना सुनिश्चित ही है। जिस-जिस देवता के साथ अग्निदेवता का साहचर्य होगा, उस-उस देवता के उद्देश्य से बनाये गये पुरोडाश में अग्नि देवता की उपस्थिति के कारण चतुर्धाकरण की उपलब्धता अवश्य होगी; क्योंकि अग्निदेवता का सम्बन्ध समस्त पुरोडाशों में बिना किसी व्यवधान के प्राप्त है, अतः सभी पुरोडाशों में चतुर्धाकरण की प्रक्रिया आवश्यक है॥ २६॥



**सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से अगला एवं प्रस्तुत पाद का अन्तिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ३१६ ) व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** व्यवस्था = नियम क्रम, वा = या, अर्थसंयोगात् = अर्थ संयोग के, लिङ्गस्य = लिङ्ग (अग्निदेव) का, अर्थेन = अर्थ (पुरोडाश) के साथ, सम्बन्धात् = सम्बन्ध होने के कारण, गुणश्रुतिः = पुरोडाश के साथ अग्निदेवता रूप गुण का यहाँ सुना जाना, लक्षणार्था = चतुर्धाकरण को मात्र लक्षित अथवा सीमित करने के लिए ही है।

**व्याख्या—** सूत्र का तात्पर्य यह है कि चतुर्धाकरण अन्य किसी पुरोडाश का न होकर अग्निदेवता से सम्बन्धित पुरोडाश का ही होता है। वाक्य का जैसा निर्देश है, उसके अनुसार चतुर्धाकरण की प्रक्रिया वहीं पूर्ण हो सकती है, जिस पुरोडाश में अग्नि से विशेषित एक मात्र देवता उपलब्ध हों। कारण यह कि देवता सम्बन्ध के रहते हुए ही अग्नि पद के आगे तद्धित प्रत्यय करने से मात्र 'आग्नेय' पद ही बनेगा तथा वह विशेषण-विशेष्य से भिन्न रहकर विशेष्य को दूसरे विशेष्यों से अलग नहीं करेगा; परन्तु विशेष्य के साथ लगा हुआ पृथक् किया करता है, ऐसी व्याकरण की विधि-व्यवस्था है। इस विधि-व्यवस्था से अग्निदेवता के अतिरिक्त पुरोडाश मात्र के साथ चतुर्धाकरण का सम्बन्ध नहीं बनता और सम्बन्ध के अभाव के कारण उसे पुरोडाश मात्र का धर्म भी नहीं माना जा सकता। अतएव चतुर्धाकरण पुरोडाश मात्र का धर्म न होकर 'आग्नेय पुरोडाश' का ही धर्म है, ऐसा मानना चाहिए॥ २७॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**तृतीय अध्याय के गत प्रथम पाद में श्रुति पर आधारित विवादयुक्त विधियों का निर्णयात्मक निस्तारण किया गया। प्रस्तुत पाद में लिङ्ग पर आधारित वचन-विनियोग की विवेचना की जायेगी। लिङ्ग का आशय है कि उन वाक्यों में ऐसी क्षमता ( सामर्थ्य ) का होना, जो अर्थ विशिष्टता के बोधक हों। दृष्टान्त हेतु प्रयुक्त वाक्य यहाँ प्रस्तुत है- 'बर्हिदेवसदनं दामि' इसमें 'बर्हिः' पद प्रमुख 'देवसदनम्' उसका विशेषण एवं 'दामि' क्रिया पद है 'देव' पद का अर्थ यज्ञपात्र आदि के रूप में यहाँ मान्य है। उन पात्रों का सदन कुशा है, दामि का आशय काटने से है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ कि यज्ञ पात्रों के सदन-कुशाओं को काटता हूँ। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि ऐसे वाक्यों का विनियोग प्रधान अर्थ में ही होता है? या गौण अर्थ में भी हुआ करता है? सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से इस द्वितीय पाद का पहला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ३१७ ) अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्-
तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थाभिधानसामर्थ्यात् = अर्थाभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने के कारण (अर्थ का शब्द की उत्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध होता है, वह उसके साथ नित्य संयुक्त है। मन्त्रों में अर्थाभिव्यक्ति की सामर्थ्य होने से ही उस (मन्त्र) के यज्ञीय क्रिया काण्डों (शेष) से सम्बन्ध का भाव बनता है।), मन्त्रेषु = वैदिक वचनों में, शेषभावः = यज्ञ के प्रति शेष (अङ्ग) भाव, स्यात् = हुआ करता है, तस्मात् = क्योंकि शब्द का, अर्थेन = मुख्यार्थ से, नित्य संयोगात् = नित्य संयोग होने के कारण, उत्पत्तिसम्बन्धः = शब्दोच्चारण के साथ ही साथ अर्थ सम्बन्ध का ज्ञान कर लिया जाता है।

**व्याख्या—** शब्द अपने उच्चारण के अनन्तर अपने अर्थ की अभिव्यक्ति कर दिया करता है, यह उसकी अपनी समर्थता है एवं स्थिति की अनिवार्यता भी। विचारणीय वाक्य 'बर्हिर्देवसदनं दामि' का 'बर्हि' पद अपने प्रधान अर्थ कुशा (घास) के अर्थ में प्रयुक्त है, न कि 'कुशा जैसे' के अर्थ में। 'बर्हि' पद कुशा अर्थ की अभिव्यक्ति करके यज्ञ में सहयोगी बन जाता है। अतएव गौण अर्थ के प्राकट्य की आवश्यकता ही नहीं आती। शब्द की सामर्थ्य यद्यपि दोनों ही (मुख्य एवं गौण) अर्थों को अभिव्यक्त कर सकने की रहा करती है; किन्तु गौण अर्थ की अभिव्यक्ति मुख्य अर्थ की असम्भावना की स्थिति में ही हुआ करती है। अतएव दोनों अर्थों की जहाँ उपस्थिति हो, वहाँ मुख्य अर्थ में ही उक्त पद का विनियोग रूप कार्य सम्पादित करना चाहिए॥ १ ॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि दर्शपूर्णमास यज्ञीय प्रकरण में 'पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्। आदित्या अहं देवयज्यया प्रतिष्ठां गमेयम्' यह अनुमन्त्रण मन्त्र आशीर्वाद के क्रम में पठित है। जबकि इस यज्ञ में पूषा एवं आदित्य देवता अनाहूत हैं। ऐसी दशा में तो इस मन्त्र को वहाँ पढ़ा जाना चाहिए जहाँ ( दर्शपूर्णमास के विकृत याग में ) पूषा आदि देवताओं की आहुति दी जाती है। शब्द ( बर्हि आदि ) का यदि गौण अर्थ में विनियोग स्वीकार किया जाता है, तो इस तरह के मन्त्रों के उत्कर्ष से बचा जा सकता है। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा के समाधान हेतु कहा—**

**( ३१८ ) संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारकत्वात् = (उपर्युक्त अनुमन्त्रण मन्त्र देवता के स्मरण स्वरूप) संस्कार के उत्पादक होने के कारण, अचोदिते = अविहित यज्ञीय कर्म में उनका विनियोग, न = नहीं, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमासयाग में पूषा आदि देवता का आवाहन 'इष्ट' नहीं है और न ही उनके लिए उसमें कोई यज्ञीय विधान ही है तथापि मन्त्र में 'देवयज्यया' पद से पूषा आदि देवता के यज्ञीय सम्बन्धों की जानकारी उपलब्ध होती है। अतएव उक्त देवता जहाँ (विकृत याग में) आहूत हों, वहाँ आशीर्वचन वाले अनुमन्त्रण

मन्त्रों का उत्कर्ष किया जाना सर्वथा उचित ही है, तभी आशीर्वचनों की सार्थकता सिद्ध होगी। यही मीमांसा दर्शन का 'बर्हि न्याय' भी है॥ २॥

**अग्निचयन के प्रकरण में पढ़े जाने वाले मैत्रायणी संहिता के 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्- इति ऐन्द्रयागार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्य में शिष्य अपना संदेह व्यक्त करते हुए जानना चाहता है कि इस वाक्य से गार्हपत्य अग्नि का स्तवन किया जाना युक्त है? अथवा इन्द्र का? आचार्य ने समाधान करते हुए बताया—**

## (३१९) वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद सूत्र में प्रस्तुत पक्ष के निराकरण के लिए आया है जिसका आशय यह है कि 'बर्हिन्याय' का नियम यहाँ लागू नहीं होता। वचनात् = दृष्टान्त वाक्य में द्वितीया विभक्ति के स्पष्ट कथन (प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति) से, ऐन्द्री = इन्द्रदेवता वाले मन्त्र, अयथार्थम् = विनियोग करने योग्य नहीं, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** पूर्वार्द्ध प्रकरण के अनुरूप इस मन्त्र का उपस्थान करना इन्द्र रूप में अथवा गार्हपत्य अग्नि के रूप में संभव है। यद्यपि यह मन्त्र इन्द्र स्वरूप ईश्वर को प्रकाशित करने वाला है, परन्तु मात्र प्रकाशक की सामर्थ्य रखने भर से इन्द्र के उपस्थान में इसका विनियोग संभव नहीं। कारण यह कि 'निवेशन' पद से इस मन्त्र में गार्हपत्य अग्नि के लिए ही विनियोग करना बतलाया गया है। अतएव उक्त मन्त्रों का विनियोग इन्द्र के उपस्थान में न होकर गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में ही किया जाना चाहिए॥ ३॥



**इस पर शिष्य आशङ्का करता है कि उक्त वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि गार्हपत्य की इन्द्र संज्ञा है। उससे मात्र इतना ही आशय स्पष्ट होता है कि गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान इन्द्र पद से करे; परन्तु इन्द्र पद के द्वारा तो ईश्वर का अभिधान स्पष्ट है न कि गार्हपत्य का। अतएव उक्त मन्त्रों का विनियोग गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में कैसे किया जा सकता है? सूत्रकार ने उत्तर दिया—**

## (३२०) गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है, जिसका आशय है कि इन्द्र पद के द्वारा गार्हपत्य अग्नि की अभिव्यक्ति नहीं होगी। सम्बन्धस्य = शब्द एवं उसके अर्थ का सम्बन्ध, अशास्त्रहेतुत्वात् = शास्त्र का निमित्तक न होने के कारण, गुणात् = गुणों से, अपि = भी, अभिधानम् = अभिव्यक्ति (कथन), स्यात् = हो जाया करता है। शब्दार्थ (अर्थ एवं शब्द) के सम्बन्ध में अशास्त्रीयता (शास्त्र का अविरोध होने) की स्थिति में गुण रूप में भी उसकी अभिव्यक्ति मान्य होती है।

**व्याख्या—** दृष्टान्त वाक्य 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यद्यपि गार्हपत्य अग्नि हेतु इन्द्र पद का प्रायोगिक विधान नहीं करता, परन्तु इतने पर भी इन्द्र पद द्वारा गार्हपत्य अग्नि की अभिव्यक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ- 'अग्निर्माणवकः' के द्वारा माणवक (किशोर बालक) को अग्नि कहा। यहाँ पर अग्नि के प्रकाशमान तेजस्विता रूप गुणों की सादृश्यता किशोर बालक में दृष्टिगोचर होने से ही माणवक के लिए अग्नि पद प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार इन्द्र पद गार्हपत्य अग्नि के लिए प्रयोग में आया होगा; क्योंकि जिस प्रकार से इन्द्र यज्ञ में साधन स्वरूप है, उसी प्रकार से गार्हपत्य अग्नि भी यज्ञीय साधन है। अतएव यज्ञ साधन सदृशता रूप गुण अथवा ऐश्वर्य-सम्बन्ध रूप गुणों से भी संभव है। इन्द्र पद से गार्हपत्य अग्नि का बोध होता हो, क्योंकि इसमें कोई दोष नहीं। आशय यह है कि उक्त वाक्य इसमें बाधक नहीं है; अपितु समर्थक ही है। इस तरह से उक्त मन्त्रों से गार्हपत्य अग्नि का ही विनियोग करना होगा॥ ४॥

**दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित 'हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन् आह्वयति हविष्कृदेहि' यजुर्वेद १/१५ के इस मन्त्र का अर्थ है- धान कूटते हुए तीन बार बुलाता है। यजमान की पत्नी को अवघात करते समय धान के वितुषीकरण के लिए अध्वर्यु तीन बार बुलाता है। शिष्य की जिज्ञासा यह है कि धान के वितुषीकरण (कूटने) में ही उक्त मन्त्र का विनियोग**

**है ? अथवा वितुर्षाकरण ( छिलके को हटाने ) की समयावधि को लक्ष्य कर यजमान की पत्नी को बुलाने में है ? सूत्रकार ने इस शिष्य की जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित किया—**

**( ३२१ ) तथाह्वानमपीति चेत्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = ऐन्द्री ऋचा की भाँति गौणी वृत्ति से, आह्वानम् = ऐहि पद वाली ऋचा (हविष्कृदेहीत त्रिवघ्नन् आह्वयति) का, अपि = भी विनियोग किया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो क्या अनुचित होगा?

**व्याख्या—** गत अधिकरण में गौणी वृत्ति से जैसे ऐन्द्री ऋचा को गार्हपत्य अग्नि में विनियोग के लिए उचित माना गया, वैसे ही उक्त मन्त्र को अवहनन कर्म में विनियुक्त मानना चाहिए। गौणी वृत्ति के न्याय से यह हविष्कृत् पदमात्र हविः साधन अर्थात् अवघात का बोध कराने वाला होगा। याग साधनता रूप गुण वाला हवि जो यज्ञ का साधन है, उसका निर्माण अवहनन की ही प्रक्रिया से पूर्ण होता है। अतएव उक्त मन्त्र का विनियोग अवहनन में होना चाहिए॥ ५॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ३२२ ) न कालविधिश्चोदितत्वात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** कालविधिः = अवहनन कर्म के समय का विधान करने वाला है उक्त मन्त्र (अवहनन कर्म का नहीं) क्योंकि, चोदितत्वात् = मन्त्र में प्रयुक्त 'त्रिः आह्वयति', पद से तीन बार बुलाने का विधान उपलब्ध होने से, न = अवहनन कर्म में उक्त मन्त्र का विनियोग करना उचित नहीं।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग प्राप्त उक्त दृष्टान्त मन्त्र का विनियोग अवघात (अवहनन) कर्म में नहीं किया जा सकता। अवघात कर्म (धान कूटने की प्रक्रिया) के क्रम में उक्त मन्त्र का उच्चारण रूप पाठ करते हुए अध्वर्यु वितुषीकरण (धान का छिलका हटाने) हेतु यजमान की पत्नी को तीन बार बुलाता है। इसमें प्रमुख विधान तीन बार बुलाने का है। अवहनन पद से मात्र अवहनन के समय का ज्ञान कराता है। आह्वान एवं अवहनन इन दोनों के विधान को मान्यता देने की स्थिति में वाक्य भेद होने से दोष उत्पन्न होगा। अतएव उक्त मन्त्र का विनियोग आह्वान में ही करना उचित एवं न्याय युक्त है, न कि अवहनन में। यही समझना चाहिए॥ ६॥

**जिज्ञासु शिष्य का यह कहना है कि उपर्युक्त 'हविष्कृदेहि' मन्त्र अवघात को सम्बोधित करने में प्रयुक्त है, गौणी वृत्ति से उसे सम्बोधित किया जा सकता है, अतः ऐसा मानना उचित ही होगा। आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्र ७, ८ एवं ९ दिये हैं—**

**( ३२३ ) गुणाभावात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** गुणाभावात् = गुणसम्बन्धों (गौण कथन) का अभाव होने के कारण अवहनन कर्म में 'एहि' मन्त्र का विनियोग संभव नहीं।

**व्याख्या—** 'अवहनन' कर्म में ऐसे कोई गुण नहीं परिलक्षित होते, जिनसे उसे आह्वान से जोड़ा जा सके। अवहनन कर्म को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि कोई हमारा आवाहन कर रहा है। अतः उसमें 'एहि' उक्त मन्त्र का विनियोग सर्वथा अनुचित एवं असङ्गत होगा। इसके विपरीत अवघात कर्म के अन्तर्गत वितुषीकरण द्वारा हवि के निर्माणार्थ अध्वर्यु के आवाहन पर यजमान पत्नी का गमन रूप पुरुषार्थ का होना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर रहता है। इसलिए आह्वान कर्म में ही उक्त मन्त्र का विनियोग किया जाना समझना चाहिए॥ ७॥

**( ३२४ ) लिङ्गाच्च॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गात् = लक्षणों के पाये जाने से उक्त मन्त्र में प्रयुक्त 'हविष्कृत' पद भी अवहनन कर्म का कथन न करके, यजमान-पत्नी को ही लक्षित करता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त विवेचना एवं उसकी अर्थसिद्धि में लिङ्ग (लक्षणों) की सदृशता भी एक हेतु है। यजुर्वेद (१/१५) के प्रसङ्ग में गतिशील उक्त मन्त्र 'हविष्कृदेहीति त्रिरवहनन् आह्वयति' के आगे 'वाग् वै हविष्कृत, वाचमेवैतद् आह्वयति' पाठ उपलब्ध है, जिसका अर्थ है- वाक् ही हविष्कृत् है, वाक् (वाणी) को ही यह बुलाता है। यहाँ पर अवहनन कर्म के साथ वाणी की कोई सदृशता नहीं दिखाई पड़ती। जबकि यजमान-पत्नी के साथ लिङ्ग सदृशता है, यजमान की पत्नी एवं वाणी दोनों वाक् लिङ्ग हैं। अतएव लिङ्ग (लक्षणों) की उपलब्धता से यजमान-पत्नी का ही लक्षित होना पाया जाता है॥ ८॥

## ( ३२५ ) विधिकोपश्चोपदेशे स्यात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, उपदेशे = अवहनन कर्म में उपर्युक्त (हविष्कृदेहि) मन्त्र का उपदेश (विनियोग) माने जाने की स्थिति में, विधिकोपः = अन्य विधि की (विरोधरूप) प्रतिकूलता, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** अवहनन कर्म में उक्त 'हविष्कृदेहि' मन्त्र के विनियोग का कथन किये जाने से तो विधि का ही विरोध आड़े आता है। पाणिनी का सूत्र है- लक्षण हेत्वोः क्रियायाः अर्थात् क्रिया पदों का प्रयोग लक्षण हेतु से होता है (पाणिनि व्याकरण ३/२/१२६)। 'शयाना भुञ्जते यवनाः' में 'शी' धातु अपने प्रमुख अर्थ शयन का परित्याग कर गौण अर्थ शयनकाल को गौण वृत्ति से दर्शाती है। उक्त वाक्य का अर्थ है- यवन शयन काल में भोजन करते हैं आशय यह कि जो शयन का काल है, उसमें भोजन करते हैं। इसी प्रकार वैदिक दृष्टान्त में आया हुआ शतृ प्रत्ययान्त 'अवहनन' पद भी अपने प्रधान अर्थ अवहनन का परित्याग कर अवहनन काल को बतलाता है। आह्वान कर्म में ही उक्त मन्त्र 'हविष्कृदेहि' का विनियोग होगा। अवहनन में इसका विनियोग बतलाने से उसके द्वारा अवहनन काल को लक्षित कर पाना संभव नहीं, अस्तु ऐसी परिस्थिति में विधि का विरोध उपस्थित होगा। इसलिए उक्त मन्त्र का विनियोग अवहनन में न मानकर आह्वान में ही मानना चाहिए, इसमें किसी प्रकार की बाधा भी नहीं आयेगी॥ ९॥

**ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में पठित वाक्यों — 'उत्तिष्ठन्नन्वाह अग्नीदग्नीन् विहर' एवं 'व्रतं कृणुत इति वाचं विसृजति' का क्रमपूर्वक अर्थ है कि अध्वर्यु खड़ा होता हुआ कहता है कि हे अग्नीत! अग्नियों को विहरण करो एवं व्रत ग्रहण करो,ऐसी अभिव्यक्ति करता हुआ वाणी को विराम देता है। इसमें शिष्य यह जानना चाहता है कि प्रथम वाक्य (मन्त्र) 'अग्नीदग्नीन् विहर' का विनियोग अध्वर्यु के उठने रूप उत्थान कर्म में है या अग्नि विहरण में? और दूसरे मन्त्र 'व्रतं कृणुत' का वाग्विसर्जन में विनियोग होगा या व्रतकरण की प्रक्रिया में? सूत्रकार ने समाधान किया—**

## ( ३२६ ) तथोत्थानविसर्जने॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही (जैसे 'अवघ्नन्' पद अवहनन काल का ज्ञापक है), उत्थान विसर्जने = उत्थान तथा वाग्विसर्जन अपने मुख्यार्थ का उत्थान एवं वाग्विसर्जन के ज्ञापक हैं। (इसी प्रकार व्रतं कृणुत का विनियोग व्रतकरण में है। लक्षणा वृत्ति से उक्त अर्थाभिव्यक्ति की मान्यता उचित एवं युक्ति-युक्त है)।

**व्याख्या—** उक्त 'हविष्कृदेहीति' मन्त्र का विनियोग उत्थान एवं वाग्विसर्जन कर्म में बतलाये जाने की स्थिति में मात्र यह अदृष्टार्थ ही रहता है। जबकि दृष्टान्त की सम्भावना के अन्तर्गत अदृष्टार्थ के स्वरूप की कल्पना करना आचार्य गणों को स्वीकार्य नहीं। अग्निविहरण कर्म में जैसे 'अग्निदग्नीन् विहार' मन्त्र का विनियोग स्वीकार करने से उसका अग्निविहरण रूप दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है, ऐसे ही व्रतकरण कर्म में 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का विनियोग मानने पर व्रतकरण रूप उसका दृष्ट प्रयोजन भी प्रत्यक्ष है। इसलिए उत्थान एवं वाग्विसर्जन कर्म को गौण स्वीकार करते हुए अग्निविहरण एवं व्रतकरण मुख्यार्थ में ही मन्त्रों का विनियोग स्वीकार करना न्यायोचित एवं तर्क संगत है॥ १०॥

**'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' अर्थात् सूक्तवाक संज्ञक मन्त्र द्वारा यज्ञाग्नि में प्रस्तर को छोड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण**

३/५/१० का यह वाक्य दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा जाता है। इस वाक्य को लेकर शिष्य जिज्ञासा करता है कि उक्त मन्त्र का विनियोग प्रस्तर प्रहरण में होना चाहिए या मात्र प्रहरण कर्म के समय को लक्षित किये जाने में ? इसी जिज्ञासा को सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित करते हैं—

## ( ३२७ ) सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, परार्थत्वात् = परार्थ होने के कारण ('सूक्तवाक' देवता की स्तुति के लिए तथा 'प्रस्तर' स्रुक् के धारण के लिए होता है, इसलिए दोनों परार्थ कहे गये हैं।), सूक्तवाके = 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में तृतीयान्त 'सूक्तवाकेन' का निर्देश होने से, कालविधिः = समय की विधि-व्यवस्था की सुनिश्चितता स्वीकार करनी चाहिए। (क्योंकि) सूक्तवाक एवं प्रस्तर के समान होने से उनके बीच पारस्परिक संयोग का अभाव है)।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूक्तवाक मन्त्र का पाठ देवता की स्तुति के हेतु होने से परार्थ है; क्योंकि उस मन्त्र पाठ का प्रयोजन मात्र यही है। अतएव वह वाक्य प्रस्तर प्रहरण की अभिव्यक्ति में सर्वथा असमर्थ होगा और इस कारण वह उसका अङ्ग भी नहीं हो सकता। जुहू के धारण करने हेतु होने से, प्रस्तर का प्रयोजन इतने तक ही सीमित होने से प्रस्तर भी परार्थ है। इसलिए वह उक्त सूक्तवाक मन्त्रों का अङ्गी नहीं हो सकता। अतएव दोनों के परार्थ होने से उनके बीच पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः सूक्तवाक में लक्षणावृत्ति माननी चाहिए, जिसके फलस्वरूप उक्त सूक्तवाक मन्त्र प्रहरण कर्म को लक्षित न करके सूक्तवाक पाठ के काल को लक्षित करता है॥ ११॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( ३२८ ) उपदेशो वा याज्याशब्दोहि नाकस्मात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का (पूर्वपक्ष) के निवारणार्थ प्रयुक्त है, जिसका आशय यह है- ऐसा नहीं कि उक्तवाक्य में प्रयुक्त तृतीयान्त पद 'सूक्त वाकेन' मात्र प्रस्तर प्रहरण के समय का ही ज्ञापक हो, उपदेशः = प्रत्युत इस बात का भी ज्ञापक है कि उक्त मन्त्र का विनियोग प्रस्तर प्रहरण में भी है, हि = कारण यह कि, याज्याशब्दः (उक्त सूक्तवाक मन्त्रों के लिए) मन्त्रों में प्रयुक्त सूक्तवाक एवं याज्या वाक्य में याज्या शब्द का उपयोग (प्रयोग), अकस्मात् = अकारण होना, न = नहीं हो सकता (प्रत्युत इस बात के ज्ञापक हैं कि उक्त सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तर प्रहरण के अङ्ग हैं)।

**व्याख्या—** दृष्टान्त वाक्य के अन्तर्गत प्रसङ्गागत 'सूक्तवाकेन' पद में जो तृतीया विभक्ति का निर्देश प्राप्त हुआ है, वह सूक्तवाक मन्त्रों के पाठ रूप उच्चारण का ज्ञापक न होकर प्रस्तर प्रहरण रूप कर्म में शेषता (अङ्गता) का ज्ञापक है। तृतीया विभक्ति का प्रयोग करण अर्थात् साधन अर्थ में हुआ करता है। सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तर के प्रहरण में एक साधन (करण) है। अतएव प्रहरण कर्म के प्रति इसको सूक्तवाक मन्त्र की विधि-व्यवस्था स्वीकार करने की स्थिति में याज्या पद की उपयोगिता सूक्तवाक के लिए सिद्ध हो जाती है। 'सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः' अर्थात् सूक्तवाक ही याज्या है एवं प्रस्तर आहुति है। आशय यह है कि यज्ञाग्नि में प्रस्तर (दर्भमुष्टि) का प्रक्षेपण सूक्तवाक मन्त्रों का पाठ करके करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सूक्त-वाक मन्त्र प्रस्तर प्रहरण कर्म के अंग होने के कारण उनमें पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। अतएव इसमें लक्षणावृत्ति का भाव सर्वथा निरर्थक ही होगा, कारण यह कि बोध्य अर्थ की अभिधावृत्ति से जब सिद्धि न हो पा रही हो तथा उसका उचित संयोग प्रसङ्ग से न बन पा रहा हो, वहाँ पर लक्षणावृत्ति का सहारा लेना आवश्यक होता है। उक्त प्रकरण में ऐसी स्थिति नहीं है॥ १२॥

**शिष्य पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहता है कि सूक्तवाक मन्त्र एवं प्रस्तर आहुति के बीच अङ्गाङ्गिभाव कैसे**

**हो सकता है ? क्योंकि अभी कहा गया है कि सूक्तवाक मन्त्र परार्थ होने से प्रस्तर प्रहरण में समर्थ नहीं होगा और जुहू-धारण करने के लिए होने से प्रस्तर भी परार्थ है। सूत्रकार ने समाधान करने के भाव से अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३२९ ) स देवतार्थस्तत्संयोगात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** सः = वह (सूक्तवाक मन्त्र), देवतार्थः = देवता के (संकीर्तन हेतु) निमित्त होते हुए, तत्संयोगात् = (करण) साधन रूप में सूक्तवाक के तुल्य देवता का भी यज्ञ के साथ सुनिश्चित सम्बन्ध होने से (देवता का संग्राहक माना जाता है)।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत सूक्तवाक मन्त्र देवता के लिए तो है, साथ ही प्रस्तर स्वरूप आहुति का अङ्ग भी है। हवि अथवा आहुति होने से प्रस्तर याग का ही स्वरूप है। जहाँ इस विधि-विधान का उल्लेख आया है, वहीं 'अग्निरिदं हविरजुषता वीवृधत' अग्निदेव ने हवि को प्रेमपूर्वक ग्रहण किया, वृद्धि को प्राप्त हुए। इस तरह देव सम्बन्ध का शुभारम्भ कर विधान में उन सप्त कामनाओं का निर्देश किया गया है, जिनकी पूर्ति यजमान अपने अभीष्ट देवता से यज्ञानुष्ठान के फल रूप में प्राप्त करना चाहता है। उल्लेख है- 'यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्' अर्थात् इस अन्तिम आहुति (प्रस्तर) के अनन्तर देवता यजमान की मनोकामना पूर्ण करें। इस तरह से उक्त मन्त्र का समापन देव स्तुति पर ही न होकर यजमान की कामना पूर्ति के निर्देश (कथन) पर पूर्ण होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि देव स्तुति एवं यजमान की कामना पूर्ति में पारस्परिक सम्बन्ध है, जिससे सूक्तवाक मन्त्र का प्रस्तर प्रहरण कर्म में विनियोग होना प्रमाणित हो जाता है। ऐसा स्वीकार किये जाने की स्थिति 'अग्निरिदंहविरजुषत' मन्त्र में 'इदं हवि' पदों द्वारा समीप में पढ़े गये प्रस्तर हवि का कथन (निर्देश) स्वीकार करना भी सिद्ध हो जाता है॥ १३॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि देवता संकीर्तन के हेतु होने से सूक्तवाक मन्त्रों की परार्थता सिद्ध की गई; किन्तु प्रस्तर की परार्थता के सन्दर्भ में भी तो कुछ समाधान प्रस्तुत करना चाहिए। यह भी परार्थ है अथवा प्रतिपत्ति रूप कर्म ? ( किसी अन्य कार्य में प्रयुक्त द्रव्य का अन्य विहित स्थान में प्रयुक्त करने का संस्कार 'प्रतिपत्ति कर्म' कहलाता है।) सूत्रकार ने बताया—**

## ( ३३० ) प्रतिपत्तिरिति चेत् स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति रूप संस्कार मात्र है, प्रस्तर प्रहरण कर्म, इति चेत् = ऐसा कहना उचित नहीं कारण यह कि, स्विष्टकृद्वत् = स्विष्टकृत् कर्म के तुल्य ही वह, उभयसंस्कारः = (अदृष्टार्थ एवं प्रतिपत्त्यार्थ) दोनों तरह का संस्कार, स्यात् = है।

**व्याख्या—** प्रस्तर प्रहरण कर्म मात्र प्रतिपत्ति रूप संस्कार भर है, ऐसा कहना न तो युक्तिसङ्गत है और न ही उचित। कारण यह कि एक ही कर्म कभी-कभी उभय संस्कारों से युक्त दृष्टिगत होते हैं। प्रस्तर (दर्भमुष्टि) प्रहरण (क्षेपण) भी एक ही कर्म होते हुए याग एवं प्रतिपत्ति दोनों संस्कारों से युक्त माना जाता है। याग के समापन पर वैदिक मन्त्रों से यज्ञाग्नि में आहुति रूप में प्रस्तर के डाले जाने से वह अदृष्टार्थ (यज्ञस्वरूप) है तथा यज्ञ समापन हेतु प्रस्तर (जुहु के बिछौने) का उपयोग पूर्ण होने पर यज्ञाग्नि में उसका प्रहरण प्रतिपत्ति रूप संस्कार है। इस तरह से इसे उभयात्मक माना जा सकता है। अतएव प्रस्तर प्रहरण कर्म में सूक्तवाक मन्त्र का विनियोग होना चाहिए॥ १४॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि समस्त सूक्तवाक मन्त्रों का प्रयोग दोनों पर्वों पूर्णमासी एवं अमावस्या में करना चाहिए या प्रयोजन के अनुरूप उचित समय में ? इसी जिज्ञासा को सूत्रकार स्वयं सूत्रित कर रहे हैं—**

## ( ३३१ ) कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** उभयत्र = दोनों ही पर्वों (पूर्णमासी, अमावस्या) में, कृत्स्नोपदेशात् = 'सूक्तवाकेन' पद से सम्पूर्ण

मन्त्रों का उपदेश होने के कारण, सर्ववचनम् = सभी मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सभी मन्त्रों की सामूहिकता को सूक्तवाक की संज्ञा प्राप्त होने से दोनों पर्वों (अमावस्या एवं पूर्णमासी) में इनका पाठ किया जाना चाहिए। प्रयोजन के अनुरूप मन्त्र विशेष का चयन कर पाठ किये जाने की स्थिति में उक्त 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में व्यवधान आयेगा एवं प्रस्तर प्रहरण रूप कर्म भी न किया जा सकेगा। कारण यह कि सूक्तवाक किसी मन्त्र अथवा अंश विशेष का नाम न होकर समस्त मन्त्र समूह का नाम है। अतएव समस्त मन्त्र पढ़े जाने चाहिए॥ १५॥

**आचार्य ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत कर शिष्य के प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया—**

## (३३२) यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त है तथा इसका आशय यह है कि सबका पाठ नहीं करना चाहिए। शेषभूतसंस्कारात् = यज्ञ के अङ्गभूत (शेषभूत) देवता के संस्कार कर्त्ता होने से, यथार्थम् = यथार्थ प्रयोजन के अनुरूप मन्त्रों को छाँटकर आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग करना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञ से सम्बन्धित अनेक देवताओं के वाचक पद सूक्तवाक मन्त्रों में रहा करते हैं, पूर्णमासी यज्ञ के देवता वाचक एवं अमावस्या यज्ञ के देवता वाचक पद उसमें समाहित हैं। अत: पूर्णमासी पर्व के देवता वाचक पदों का प्रयोग पौर्णमासी में तथा अमावस्या पर्व के देवता वाचक पदों का प्रयोग अमावस्या में करना चाहिए। अमावस्या में पौर्णमासी देवता वाचक पदों का प्रयोग तथा पौर्णमासी में अमावस्या देवता वाचक पदों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। पौर्णमासी एवं अमावस्या दोनों ही पर्वों में जो देवता अधिकृत नहीं हैं, उन देवता के लिए सूक्तवाक के अंश (मन्त्रविशेष) का पाठ किया जाना अर्थहीन होगा॥ १६॥

**जिज्ञासु शिष्य पुन: अपनी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहता है—**

## (३३३) वचनादिति चेत्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—**वचनात् = समस्त सूक्तवाक वचनों का प्रयोग 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य से पौर्णमास एवं अमावस्या दोनों पर्वों में करना चाहिए, इति चेत् = ऐसा यदि कहा जाता है (तो वह उचित नहीं)।

**व्याख्या—** 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' मन्त्र में सूक्तवाक पद का ग्रहण होता है, ऐसा नहीं कि सूक्तवाक समस्त मन्त्रों की संज्ञा है। अतएव सूक्तवाक संज्ञक सभी मन्त्रों का प्रस्तर प्रहरण कर्म में विनियोग किया जाना युक्त होगा, न कि प्रयोजनानुरूप मन्त्रों को छाँटकर उनका ही विनियोग किया जाना॥ १७॥

**शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान करने हेतु आचार्य ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (३३४) प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणाविभागात् = दोनों पर्वों (पौर्णमासी एवं अमावस्या) का प्रकरण विभाग रहित (एक) होने से, उभे प्रति = दोनों पर्वों (की ऐक्यता) के प्रति, कृत्स्नशब्द: = सूक्तवाक पद कृत्स्न है, ऐसा जानना चाहिए। आशय यह है कि सम्यक् रूप से सूक्तवाक की पूर्णता दोनों पर्वों को सम्मिलित करके ही हुआ करती है।

**व्याख्या—** सूक्तवाक शब्द का ग्रहण पौर्णमास एवं अमावस्या दोनों पर्वों में सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों के अभिप्राय से माना जाता है। देवता निर्देशक कथन के अनुसार सूक्तवाक मन्त्रों की दोनों पर्वों में आंशिक उपयोगिता सिद्ध होने से दोनों (पूर्णमासी एवं अमावस्या) में समस्त सूक्तवाक औचित्यपूर्ण हो जाया करता है। सूक्तवाक की सम्पूर्णता इसी पर आधारित है, ऐसा समझना चाहिए। सूक्तवाक का प्रत्येक मन्त्र (अवयव) सूक्तवाक के नाम से ही जाना जाता है। जैसे देवदत्त के शरीर का अवयव यज्ञदत्त न होकर देवदत्त ही रहता है, किसी भी समय में वह यज्ञदत्त की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव उक्त सूक्तवाक पद का ग्रहण दोनों ही

पर्वों एवं उनमें सम्पन्न होने वाले यज्ञों के उद्देश्य से है, न कि किसी एक के प्रयोजनार्थ। कारण यह कि दोनों के प्रकरण में भी ऐक्य है और 'कृत्स्न' शब्द का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है। जिस देवता की स्तुति एवं उसके संस्कारार्थ जिन अंगों की सार्थकता जहाँ सिद्ध होती हो, वहीं उन सूक्तवाक मन्त्रों का पाठ होना चाहिए, न कि बचे हुए अन्य मन्त्रों का॥ १८॥

**शिष्य पुनः अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहता है कि मैत्रायणी संहिता के 'काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड' प्रकरण में याज्यानुवाक्या संज्ञक कुछ ऋचाओं का पाठ किया गया है- 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाताः वीर्यायुः' अर्थात् इन्द्र तथा अग्नि देवता वाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वपन करे, जिसकी सन्तान अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हो जाती हों, 'ऐन्द्राग्नमेकादश कपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान्' अर्थात् इन्द्र तथा अग्नि देवता वाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वपन करे जिसके शत्रु हों। यहाँ सन्देह यह है कि याज्या अनुवाक्या-संज्ञक इन युगल ऋचाओं का प्रयोग इन्द्राग्नी देवता वाले समस्त कर्मों में होता है? अथवा इन्द्राग्नी देवता वाली काम्या इष्टि में ही होगा? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३३५ ) लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** समाम्नानम् = याज्या- अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ, लिङ्गक्रमसमाख्यानात् = लिङ्ग का सहयोग करने पर क्रम से तथा नाम से, काम्ययुक्तम् = मात्र काम्या इष्टि के साथ किया जाना युक्त (सम्बद्ध) है।

**व्याख्या—** वह कर्मानुष्ठान जो किसी विशिष्ट कामना पूर्ति हेतु देवता विशिष्ट को लक्ष्य करके सम्पन्न किया जाता है, उसे काम्येष्टि कहते हैं। याज्या- अनुवाक्या संज्ञक उपर्युक्त ऋचाओं का सम्बन्ध मात्र उसी काम्या इष्टि के साथ उपयुक्त है, जिस क्रम (स्थान) में तथा जिस समाख्या (नाम) के काण्ड में वे पढ़ी गई होती हैं, न कि सर्वत्र इन्द्राग्नी आदि समस्त काम्य इष्टियों में; क्योंकि काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड में लिङ्ग का जो क्रम है, वही क्रम उपर्युक्त याज्या-अनुवाक्या ऋचाओं का भी रहता है। अतएव लिङ्ग यहाँ उनका सहायक ही होगा। अतः उक्त याज्या-अनुवाक्या ऋचाएँ जिस काण्ड में पढ़ी गई हैं, उन्हीं काम्य इष्टियों की शेष (अङ्गभूत) हैं॥ १९॥

**'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्रयासदः, वैष्णव्याहविर्धानम्' ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित इस ऋचा का अर्थ है- अग्नि देवता वाली ऋचा का पाठ करते हुए आग्नीध्रसंज्ञक अग्नि के सन्निकट जाता है; इन्द्रदेवता वाली ऋचा से सदस्थान तथा विष्णु देवता वाली ऋचा से हविर्धान का उपस्थान करता है। इस प्रसङ्ग में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि उक्त देवता वाली ऋचाओं से ( जो प्रस्तुत प्रकरण में पढ़ी गई हैं ) उपस्थान करना चाहिए? अथवा कहीं भी पठित उपर्युक्त देवता वाली ऋचाओं का उपस्थान कर्म में विनियोग करना चाहिए? इसी को सूत्रकार पूर्वपक्ष स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( ३३६ ) अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** अधिकारे = ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित, मन्त्रविधिः = मन्त्रों की विधि- व्यवस्था उपर्युक्त कार्य हेतु समझी जानी चाहिए। शिष्टत्वात् = उपर्युक्त वचनों में साधारण रूप से कथन होने से, च = भी, अतदाख्येषु = अन्यत्र (ज्योतिष्टोम प्रकरण से अतिरिक्त) पढ़े गये मन्त्रों में उपस्थान की विधि-व्यवस्था समझनी चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त 'आग्नेय्या ' 'ऐन्द्रया' एवं 'वैष्णव्या' पदों का कथन सामान्य रूप से किया गया है। अन्यत्र एवं ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ी जाने वाली आग्नेय आदि ऋचाओं से समीप जाने हेतु उक्त उपस्थान कर्म सम्पादित किया जा सकता है। ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में पठित ऋचाओं द्वारा ही उपस्थान-कर्म किया जाना चाहिए, विशेष रूप से ऐसा कथन यहाँ नहीं किया गया है। सामान्य कथन के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित एवं अन्यत्र पढ़ी गई सभी ऋचाओं द्वारा उक्त उपस्थान कर्म को सम्पादित

किया जा सकता है; किन्तु ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में पढ़ी गई ऋचाओं का उस प्रकरण में स्तोत्र-शस्त्र आदि दूसरे कार्य भी निर्देशित किये गये हैं। अतएव ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं द्वारा ही उक्त उपस्थान कर्म किया जाना चाहिए, ऐसा न तो अनिवार्य है और न ही आवश्यक॥ २०॥

**शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## (३३७) तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वा = पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। तदाख्य: = उस ज्योतिष्टोम के प्रकरण में आख्यात (पठित) मन्त्रों का ही ग्रहण किया जाना उचित है कारण यह कि, प्रकरणोपपत्तिभ्याम् = प्रकरण एवं उपपत्ति दोनों से ही यह ज्ञात है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त उपस्थान हेतु ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ी गई ऋचाओं का ही ग्रहण किया जाना उचित एवं तर्कसङ्गत है। इस कथन की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने दो हेतु दिये- १. प्रकरण एवं २. उपपत्ति। आग्नीध्र आदि का उपस्थान-कर्म ज्योतिष्टोम यज्ञ का अङ्ग है, अतएव इससे सम्बन्धित कोई भी अङ्गभूत कार्य आ जाने की स्थिति में उसके सम्पादनार्थ उसी ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित ऋचायें ही इस समय सामीप्यता के कारण उपलब्ध होंगी। इसलिए ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रकरण में पठित ऋचाओं से ही उपर्युक्त आग्नीध्र आदि का उपस्थान कर्म सम्पादित किया जाना उचित एवं न्याययुक्त होगा। उपपत्ति का अर्थ है युक्ति। कर्म विशिष्ट के हेतु विनियोग किया जाने वाला मन्त्र यदि उस प्रकरण में पाठ रूप में प्रयुक्त हुआ है, तो उस मन्त्र के ग्रहण में सरलता रहती है, युक्तिपूर्वक उसको ग्रहण किया जा सकता है। उसके लिए अतिरिक्त प्रयासों की आवश्यकता नहीं रहती॥ २१॥

**इसी विवेचना के क्रम में आचार्य ने युक्ति देते हुए बताया—**

## (३३८) अनर्थकश्चोपदेश: स्याद् असम्बन्धात् फलवता न हि उपस्थानं फलवत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, फलवता = फलयुक्त ज्योतिष्टोम के साथ उस प्रकरण के अतिरिक्त अन्यत्र पढ़े जाने वाले मन्त्र का, असम्बन्धात् = सम्बन्ध न होने से उस अन्यत्र पठित मन्त्र का, उपदेश: = उपस्थान कर्म हेतु उपदेशात्मक कथन भी, अनर्थक: = अर्थहीन, स्यात् = हो जायेगा, हि = कारण यह कि, उपस्थानम् = (प्रमुख यज्ञीय कर्म ज्योतिष्टोम का अंगभूत होने से) उपस्थान कर्म, फलवत् = फलयुक्त, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** 'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते' ज्योतिष्टोम के अङ्गभूत उपस्थान कर्म के सम्पादनार्थ ऐसा विधान उपलब्ध है, जिसमें अग्नि देवता वाली (आग्नेयी) ऋचा को उच्चारित करता हुआ आग्नीध्र अग्नि के पास बैठता है; इन्द्र देवता वाली (ऐन्द्री) ऋचा को उच्चारित करता हुआ सदस्थान और विष्णु भगवान् वाली वैष्णवी ऋचा को उच्चारित करता हुआ हविर्धान स्थल पर उपलब्ध रहता है। इस विधि-विधान की सामीप्यता में ही आग्नेयी, ऐन्द्री एवं वैष्णवी ऋचायें पढ़ी गई हैं। पूर्व में कहा जा चुका है कि उपस्थान कर्म का अपना कोई स्वतन्त्र फल तो होता नहीं, अत: ऐसी दशा में ज्योतिष्टोम प्रकरण को उपेक्षित करके किन्हीं अन्य स्थलों से यदि आग्नेयी, ऐन्द्री आदि ऋचाओं को ग्रहण किया जाता है, तो उक्त उपस्थान कर्म ज्योतिष्टोम का अंगभूत न रहेगा। ज्योतिष्टोम से पृथक् हो जाने से उस उपस्थान कर्म की सार्थकता ही समाप्त हो जायेगी। अतएव प्रकरण पठित आग्नेयी, ऐन्द्री एवं वैष्णवी ऋचाओं का ही विनियोग, ज्योतिष्टोम के अंगभूत उपस्थान कर्म में किया जाना युक्तियुक्त एवं स्वीकार करने योग्य है॥ २२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि किसी एक कार्य में जिन ऋचाओं का विनियोग हो चुका हो, दूसरे कार्यों का विनियोग किया जाना सर्वथा अनुचित है, ऐसा कथन भी मान्य नहीं, क्योंकि—**

## ( ३३९ ) सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** सर्वेषाम् = सभी मन्त्रों का (वाचस्तोम नामक कर्म में ), उपदिष्टत्वात् = उपदेश स्वरूप विनियोग होने के कारण, च = भी।

**व्याख्या—** सोमयाग के यज्ञीय अनुष्ठान के क्रम में वाचस्तोम संज्ञक कर्म के अन्तर्गत रात्रि के चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में आश्विनशस्त्रवाचन का विधान है। शस्त्र पाठ करते हुए यदि पाठ पूर्ण हो जाता है तथा सूर्योदय शेष हो, तो उस अवान्तर समय में तीनों वेदों (ऋक्, यजुः, साम) का सूर्योदय होने तक कहीं से भी पाठ करने का विधान है। आशय यह है कि ऋत्विक् आदि उस समय में वैदिक वचनों (देववाणी) का ही उच्चारण रूप प्रयोग करें, न कि मानुष वाणी का। अश्वमेध यज्ञीय प्रकरण में उपलब्ध परिप्लव-आख्यान कर्म में भी जो अपेक्षित मन्त्र हैं उन सभी का विनियोग किया जाता है। एक कर्म में जिन मन्त्रों को विनियुक्त किया जाता है, उन सब में से बहुत से मन्त्रों का अन्य कर्मों में भी विनियोग हो चुका होता है। अतएव उक्त कथन मान्य नहीं कि एक कर्म में ही एक मन्त्र विनियुक्त हो सकता है॥ २३॥

**तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय प्रपाठक के सम्पूर्ण पंचम अनुवाक में सोम भक्षण का विधान उपलब्ध है, जिसके कारण इस अनुवाक को 'भक्षानुवाक' भी कहा जाता है। इस अनुवाक में 'भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय .......उपहूतो भक्षयामि' के रूप में बहुत लम्बा मन्त्र पठित है। यज्ञाग्नि में सोमरस की आहुति प्रदान करने के अनन्तर बचे हुए सोम रस का याज्ञिक गण सदोमण्डप में बैठकर पान ( भक्षण ) करते हैं, ऐसे ही प्रसङ्ग वाले मन्त्र हैं। ग्रहण, अवेक्षण, पान एवं पाचन चार तरह के व्यापार सोमपान के समय हुआ करते हैं। सोमरस से पूर्ण चमस ( पात्र ) को हाथ से पकड़ना 'ग्रहण' है। उसे भली प्रकार देखना कि उसमें कुछ गन्दगी आदि तो नहीं है, अवेक्षण है, उसे पीना ही पान है तथा उसे पचा लेना ही पाचन ( जारण ) है।**

**शिष्य यहाँ यह सन्देह कर रहा है कि क्या मात्र सोमभक्षण कर्म में ही संपूर्ण अनुवाक का विनियोग है? या प्रयोजन के अनुरूप पृथक्-पृथक् उक्त व्यापार में? आचार्य ने इसी जिज्ञासा को पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ३४० ) लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गसमाख्यानाभ्याम् = लिङ्ग (भक्षे व भक्षयामि) के द्वारा और अनुवाक की संज्ञा 'भक्षानुवाक' होने के कारण, अनुवाकस्य = इस अनुवाक का विनियोग रूप प्रयोजन, भक्षार्थता = भक्षण अर्थ के लिए ही ज्ञात होता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत उपर्युक्त अनुवाक में 'भक्षे' एवं 'भक्षयामि' आदि की स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति की गई है तथा इसी कारण अनुवाक का नाम भी 'भक्षानुवाक' है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सोमरूप हवि के भक्षण (पान) में ही समस्त अनुवाक का विनियोग होना चाहिए। अंश विशेष के पृथक्-पृथक् व्यापार में नहीं॥ २४॥

**सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करने हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३४१ ) तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = उसका (भक्षानुवाक का), अपकर्षः = भक्षण वाक्य से भिन्न (ग्रहण) आदि में अनुवाक को विभक्त करके उचित अंश विशेष का विनियोग हुआ करता है, रूपोपदेशाभ्याम् = क्योंकि ग्रहण आदि अर्थों की रूप सामर्थ्यता एवं उपदेश रूप कथन, अर्थस्य = ग्रहण आदि अर्थ का, चोदित्वात् = उस उपदेश द्वारा विधि व्यवस्था बतलाये जाने के कारण।

**व्याख्या—** मात्र सोम पान (भक्षण) में ही सम्पूर्ण भक्षानुवाक का विनियोग होगा, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं। कारण यह कि अनुवाक के विभिन्न अंश भक्षण कर्म के ग्रहण, अवेक्षण आदि व्यापारों की अभिव्यक्ति

करते हैं। अनुवाक का निम्न अंश 'एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्' के रूप – प्रकाशन सामर्थ्य के द्वारा ग्रहण का मन्त्र है। सोम हवि के ग्रहण में इस वाक्य (मन्त्र) का विनियोग है। ऐसे ही अन्य अंश 'नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम्' का विनियोग सोम हवि के अवेक्षण अवलोकन में हुआ है, जो सोम दर्शन अर्थ को बतलाता है। इसी प्रकार अनुवाक का एक और अंश 'हिन्व मे गात्रा हरिवोगणान् मे मा वितीतृषः। शियो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः' का विनियोग सोम हवि के पाचन कर्म में है। अतएव रूप एवं उपपत्ति के आधार पर ही यह सिद्ध होता है कि मात्र सोम हवि के भक्षण व्यापार में समस्त अनुवाक का विनियोग न होकर सोम भक्षण के चारों कर्मों में ऐसे वाक्यों (मन्त्रों) का ही विनियोग है॥ २५॥

**शिष्य की यहाँ यह जिज्ञासा है कि गत वाक्य जो अनुवाक ( भक्षानुवाक ) के अंश रूप में विवेचित किये गये, उनसे आगे का मन्त्र- 'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु' से लेकर 'वसुमद्गणस्य सोम देवते मतिविदः प्रातः सवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निष्टुत इन्द्र पीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि' तक यह इतना लम्बा एक ही मन्त्र है ? या 'मन्द्राभिभूतिः' से 'तृप्यतु' तक एक एवं 'वसुमदगणस्य' से लेकर 'भक्षयामि' तक उससे पृथक् अन्य मन्त्र हैं सूत्रकार ने समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३४२ ) गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** गुणाभिधानात् = गुण की अभिव्यक्ति होने के कारण, मन्द्रादिः = 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' तक, एकमन्त्रः = एक मन्त्र, स्यात् = है (ऐसा समझना चाहिए), तयोः = (क्योंकि) उन दोनों का, एकार्थसंयोगात् = सम्बन्ध एक अर्थ के साथ है।

**व्याख्या—** भक्षण रूप प्रमुख अर्थ के साथ ही तृप्ति तथा भक्षण (पान) का सम्बन्ध है; क्योंकि खाने-पीने के अनन्तर ही सन्तुष्टि रूप तृप्ति का अनुभव किया जाता है। अतएव भक्षण कर्म प्रधान एवं तृप्ति उसका गुण है। इस आधार पर उक्त समस्त मन्त्र-वाक्य का विनियोग भक्षण-व्यापार में ही मानना चाहिए। इसलिए 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' तक पूरा मन्त्र एक ही है तथा उसका विनियोग सोम पान (भक्षण) के व्यापार कर्म में है॥ २६॥

**सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम के इसी प्रसङ्ग में इन्द्र देवता एवं इन्द्र से पृथक् मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए सोम हवि की आहुतियों का वर्णन मिलता है। उनकी आहुतियों के अनन्तर बचे हुए सोम के पान ( भक्षण ) का कथन भी उपलब्ध है। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि उक्त भक्षानुवाक मन्त्र का विनियोग इन्द्र की आहुति से बचे सोम के भक्षण में ही है ? या मित्रावरुण आदि देवताओं की आहुति से शेष बचे हुए सोम हवि के भक्षण ( पान ) में भी है? शिष्य की इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ३४३ ) लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** समान विधानेषु = सामान्य विधि-व्यवस्था वाली सोम हवि की आहुति से बचे हुए सोमरस के भक्षण में, लिङ्गविशेषनिर्देशात् = लिङ्ग विशेष (इन्द्र पीतस्य-इन्द्र देवता द्वारा पान किये गये) के कथन की निर्देश रूप अभिव्यक्ति होने के कारण, अनैन्द्राणाम् = इन्द्र देवता से भिन्न मित्रावरुण आदि देवता वाली आहुतियों से बचे सोम हवि का भक्षण, अमन्त्रत्वम् = मन्त्र विहीन हुआ करता है, ऐसा जानना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त मन्त्रों में लिङ्ग विशेष 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र इन्द्र देवता से पृथक् देवता द्वारा पान (भक्षण) किये गये सोम हवि का निर्देश नहीं कर सकता, अतः उन हवियों का भक्षण मन्त्रोच्चारण के बिना ही होगा। इन्द्र देवता के निमित्त प्रदत्त सोम हवि की आहुति के अवशेष सोमरस के भक्षण में ही उक्त मन्त्र विनियुक्त है। अतएव इन्द्र देवता से पृथक् मित्रावरुण आदि देवताओं वाली हवियों में मन्त्र विहीन भक्षण होगा, ऐसा

समझना चाहिए॥ २७॥

**सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान करने के भाव से कहा—**

## ( ३४४ ) यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। जिसका आशय यह है कि इन्द्र से पृथक् देवता वाली हवियों का भक्षण मन्त्रोच्चारण के बिना ही होना चाहिए, यह कहना उचित नहीं, यथादेवतम् = देव अनुकूलतापूर्वक ऊह की प्रक्रिया द्वारा मन्त्र सहित भक्षण हुआ करता है, हि = क्योंकि शास्त्र का विधान, तत्प्रकृतित्वम् = उस इन्द्र देवता वाली सोम हवि का प्रकृति रूप होना, दर्शयति = दर्शाता है।

**व्याख्या—** गूलर की लकड़ी से विनिर्मित 'चमस' (ग्रह) संज्ञक पात्र विशेष माप एवं चौकोर प्रकार का एक यज्ञोपयोगी पात्र है, सोमयाग में इसके द्वारा देवताओं को सोम हवि की आहुति दी जाती है। 'चमस ' पात्र की संख्या दस होती है, यह संख्या याज्ञिक एवं यजमान की संख्या पर आधारित है। उद्गाता, ब्रह्मा, होता एवं यजमान के चार चमस पात्रों को 'ध्रुव चमस' के नाम से जाना जाता है। शेष छह ऋत्विजों (याज्ञिकों) मैत्रावरुण, ब्रह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक् एवं आग्नीध्र के छह चमस पात्रों को होत्रक अथवा होतृचमस कहा जाता है। ध्रुव नामक चमसों से इन्द्र देवता को निर्धारित रूप से सोम रस की आहुति दी जाती है। दूसरे होतृचमस संज्ञक पात्रों से सम्पादित होने वाले हवन में प्रथम हवन के देवता इन्द्र एवं द्वितीय हवन के मैत्रावरुण आदि देवता निर्धारित रहते हैं। समस्त होमों में इन्द्र देवता की सामान्य स्थिति रहती है। इन्द्र देवता के निमित्त होत्रक नामक चमसों से एक बार हवन करने की स्थिति में, चमसों में बचे हुए शेष हवि का भक्षण किये बिना ही द्रोण कलश में से फिर से सोमरस भरकर मित्रावरुण आदि देवताओं की आहुति प्रदान की जाती है। उस आहुति का शेष सोमरस का पान (भक्षण) किया जाये, ऊह के आधार पर ऐसी विधि-व्यवस्था है। वर्तमान प्रकरण के प्रसङ्ग में ऐन्द्रीय ध्रुव चमसों को प्रकृतियाग की मान्यता प्रदान कर बचे हुए होत्रक संज्ञक चमसों को उनका विकृतियाग स्वीकार किया गया है। अतएव प्रकृति विकार भाव मानने की दशा में इन सभी चमसों में जिस प्रकार ऊह से छन्द की स्थिति में बदलाव आया, उसी तरह से 'इन्द्रपीतस्य' में विकारभूत होत्रकों के बचे हुए सोमरस रूपी हवि के भक्षण में इन्द्र के स्थान पर ऊह से मित्रावरुण उच्चरित होगा। अतएव ऊह से समस्त भक्षण कर्म मन्त्रोच्चारण सहित ही होना उचित एवं युक्तिसंगत है॥ २८॥

**उपर्युक्त विवेचन में यह कहा गया कि होत्रक चमसों द्वारा पहले एक बार इन्द्र की आहुति दिये जाने पर उनमें बचे हुए सोम रस का भक्षण किये बिना ही दोबारा द्रोण कलश से सोम रस परिपूर्ण कर मित्रावरुण आदि की आहुति दी जाती है, उसके अनन्तर जो सोमरस शेष रहता है, उसके भक्षण का विधान है। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि पहले इन्द्र का एवं उसके पश्चात् मित्रावरुण देवों का ऊह पर आधारित भक्ष मन्त्र में कथन रूप निर्देश होना चाहिए या इन्द्र के अतिरिक्त शेष मित्रावरुण आदि का? सूत्रकार ने समाधान करते हुए बताया—**

## ( ३४५ ) पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** पुनरभ्युन्नीतेषु = (होत्रक चमसों द्वारा प्रथम इन्द्र देवता की आहुति दिये जाने के अनन्तर) उन होत्रकों में पुनः सोमरस भर कर उसके द्वारा हवन किये जाने पर बचे हुए शेष सोमरस के भक्षण में, सर्वेषाम् = इन्द्र देवता सहित समस्त देवताओं का, उपलक्षणम् = उपलक्षण रूप निर्देशात्मक कथन किया जाना चाहिए, द्विशेषत्वात् = बचे हुए सोम हवि में दोनों बार की आहुति का शेष होने के कारण।

**व्याख्या—** प्रातः, माध्यन्दिन एवं सायं तीनों सवनों में आहुति डालने का क्रम प्रारम्भ होने पर 'वषट्' शब्द बोलकर अध्वर्यु गणों को सवन मुखीय चमसों द्वारा इन्द्र देवता के निमित्त सोम हवि की आहुति प्रदान करने का निर्देश देता है। 'अनुवषट्' पद का उच्चारण करके होता, होतृ संज्ञक चमसों वाले अध्वर्युगणों को

निर्देशित करते हुए कहता है- हे होतृसंज्ञक चमसों वाले (मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक् तथा आग्नीध्र नामक) अध्वर्यु गणो! इन्द्र देवता को आहुति प्रदान करने के अनन्तर पुनः अपने-अपने चमसों को द्रोण कलश से परिपूर्ण करके वापस आओ और मित्रावरुण आदि देवों की आहुति प्रदान करो। इस तरह उपर्युक्त चमसों में सर्वप्रथम इन्द्र देवता को उनकी आहुति प्रदान करने के पश्चात् उन्हीं चमसों में पुनः सोमरस भरके मित्रावरुण आदि देवताओं को आहुति दिये जाने का विधान है। ज्योतिष्टोम आदि प्रकृति मात्र से भिन्न इन विकृतयाग के छः होतृसंज्ञक चमसों में आहुति दिये जाने के अनन्तर जो शेष सोम हवि बच जाता है, वह इन्द्र एवं मित्रावरुण आदि समस्त देवताओं का रहता है, यह मानना चाहिए। अतएव ऊह द्वारा भक्ष मन्त्र में 'इन्द्रमित्रावरुण पीतस्य' कर लेना चाहिए॥ २९॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन यह है कि इन्द्र की आहुति का शेष बचा सोमरस, उसी चमस में अन्य मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए आपूरित किये गये सोम हवि से बाधित होने के कारण 'इन्द्रपीत' के स्थान पर 'इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य' न होकर 'मित्रावरुणपीतस्य' ऊह होना चाहिए। शिष्य की इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## (३४६) अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निवारणार्थ है, पूर्वस्य अपनयात् = पूर्व में आहुति प्राप्त इन्द्र देवता की आहुति से बचे हुए शेष सोमरस रूप हवि के बाधित हो जाने के कारण युगल देवता युक्त सोम भक्षण में, अनुपलक्षणम् = प्रथम हुत इन्द्र देवता का कथन किया जाना उचित नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य ने शेष बचे हुए अन्न को देवदत्त के भक्षण हेतु प्रदान किया। देवदत्त ने अपने बचे हुए शेष अन्न को यज्ञदत्त के भक्षणार्थ दे दिया। यहाँ अब यज्ञदत्त यह नहीं कहेगा कि मैं आचार्य के शेष अन्न का भक्षण कर रहा हूँ, प्रत्युत मैं देवदत्त द्वारा प्रदत्त अन्न का भक्षण कर रहा हूँ, ऐसा कथन करेगा। सूत्र का आशय यही है कि सोम हवि प्रथम हुत इन्द्र की आहुति से बचे शेष को दूर हटा दिया जाता है। (अपनीत दूरापेत) इस तरह बाधित होने से भक्षण समय निकल जाता है। अतएव पूर्व में वर्तमान इन्द्र को भक्षण मन्त्र में ऊह पर आधारित निर्देश दिया जाना उचित नहीं॥ ३०॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया—**

## (३४७) अग्रहणाद्वाऽनपायः स्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। इसका आशय है कि यह कहना उचित नहीं कि इन्द्र का हुतशेष बाधित हो जाता है। अग्रहणात् = मित्रावरुण आदि देवताओं द्वारा इन्द्र के हुतशेष का ग्रहण न किये जाने से, अनपायः स्यात् = इन्द्र सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता।

**व्याख्या—** इन्द्र को दी गई आहुति का शेष बचा हुआ सोमरस जिस चमस में रह जाता है, होता के कथनानुसार उसी चमस में द्रोणकलश से मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए सोमरस भरा जाता है। होता के कथनानुसार दूसरी बार द्रोण कलश से भरकर लायी गई (सोमरस रूप) हवि ही मित्रावरुण के निमित्त है, न कि इन्द्र देवता का हुत शेष। आशय यह है कि इन्द्रदेवता का हुतशेष (यज्ञाग्नि में मित्रावरुण के निमित्त) आहुति रूप में प्रदान किया जाना, होता की घोषणा में नहीं है। इसी से उसे अपनीत (बाधित) कहना अनुचित है। अतएव उसका भक्षण करने का विधान है। इसलिए इन्द्र के साथ मित्रावरुण आदि समस्त देवताओं का निर्देश भक्षण मन्त्र में किया जाना उचित एवं युक्तियुक्त है॥ ३१॥

**'यदुपांशु पात्रेणाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति' अर्थात् जो उपांशु (यज्ञीय) पात्र द्वारा आग्रयण पात्र से पात्नीवत संज्ञक ग्रह में सोम को ग्रहण करता है। तैत्तिरीय संहिता के इस वाक्य से पूर्व 'ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण एवं**

**आश्विन संज्ञक युगल देवताओं के लिए सोम हवि की आहुति प्रदान कर शेष बचे हुए सोम रस की एक-एक बूँद आदित्यस्थाली में टपकाने का विधान है। सायं सवन ( तृतीय सवन ) में टपकाया गया वह सोम रस आग्रयण पात्र में लेकर उसे अन्य पात्र में उलट कर फिर उस सोम को चार धाराओं के रूप में उसी आग्रयण स्थाली में ग्रहण कर लिया जाता है तथा इसी स्थाली से उपांशु ग्रह के माध्यम से पात्नीवत ग्रह में सोम का ग्रहण किया जाता है। शिष्य की जिज्ञासा पात्नीवत ग्रह के द्वारा आहुति दिये जाने के अनन्तर शेष बचे हुए सोम हवि के भक्षण के विषय में है- पात्नीवत देवता के साथ मित्रावरुण, इन्द्र-वायु आदि दो-दो देवताओं के जोड़े का क्या सोम भक्षण के समय भक्षण मन्त्र में किया जाना चाहिए ? या नहीं ? इसी पूर्वपक्ष को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( ३४८ ) पात्नीवते तु पूर्ववत्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। पात्नीवते = पात्नीवत देवता से सम्बन्धित सोम भक्षण मन्त्र में, पूर्ववत् = पूर्व में किये गये निर्धारण की तरह इन्द्र, वायु, मित्रावरुण आदि देवताओं का भी निर्देश होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्व के विवेचनों में जिस प्रकार मित्रावरुण आदि की आहुति के शेष के साथ इन्द्र का हुत शेष मिल जाने के कारण, भक्षण मन्त्र में मित्रावरुण आदि देवताओं के साथ इन्द्र देवता का भी निर्देश किया गया है; वैसे ही पात्नीवत देवता की आहुति के अनन्तर बचे सोम हवि में इन्द्र-वायु, मित्रावरुण आदि के हुतशेष सोम हवि का आंशिक भाग मिला होता है। अतः पात्नीवत देवता के भक्षण मन्त्र में पात्नीवत देवता के साथ इन्द्र-वायु, मित्रावरुण आदि देवताओं का भी निर्देश किया जाना चाहिए॥ ३२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( ३४९ ) ग्रहणाद्वाऽपनीतः स्यात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निवारणार्थ है, ग्रहणात् = पात्नीवत सोम का ग्रहण आग्रयण पात्र द्वारा किये जाने से, युगल दो-दो देवताओं आदि का शेष, अपनीतः = दूर ले जाया गया, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य ने कहा कि इन्द्र-वायु, मित्रावरुण आदि दो-दो देवताओं का कथन (निर्देश) पात्नीवत देवता की आहुति के शेष सोम हवि के भक्षण-मन्त्र में किया जाना उचित नहीं। कारण यह कि पूर्व के विवेचन में किये गये निर्णय एवं पात्नीवत देवता के हुतशेष के बीच समानता की स्थिति न होकर वैषम्य है। इन्द्र के निमित्त वहाँ पर जिस हवन पात्र (चमस) द्वारा सोमरस की आहुति दी जाती है, उसी चमस द्वारा ही इन्द्र की आहुति के अनन्तर मित्रावरुण आदि देवताओं की आहुति दी जाती है; जबकि पात्नीवत के विषय में इसके प्रतिकूल है- वहाँ पर पात्नीवत देवता को आग्रयण-पात्र में संग्रह किये गये सोमरस से आहुति देने का विधान है। अतएव इन्द्र तथा मित्रावरुण आदि देवताओं के हुतशेष पात्र एकाकी होने के कारण द्विदेवत्य (मित्रावरुण) हुतशेष भक्षणमन्त्र में मित्रावरुण आदि देवताओं के साथ इन्द्र देवता का ऊह करना उचित है, जबकि यह स्थिति पात्नीवत में नहीं है। कारण यह कि सोम का संग्रह पात्र द्रोणकलश एवं आहुति पात्र (होतृचमस) में एकत्व न होकर पृथक्ता है॥ ३३॥

**'अग्ना३इपत्नीवा३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' अर्थात् अग्निदेव! त्वष्टा देव के साथ तुम प्रेम सहित सोमरस का पान करो। तैत्तिरीय संहिता ( १/४/२७ ) का यह मन्त्र पात्नीवत देवता से सम्बन्धित सोम हवि के प्रसङ्ग का है। शिष्य की जिज्ञासा इसमें यह है कि पात्नीवत सोम के अविशिष्ट का पान करते हुए भक्ष मन्त्र में त्वष्टा देवता का भी कथन करना चाहिए या नहीं ? इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( ३५० ) त्वष्टारन्तूपलक्षयेत्पानात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** तु = पूर्वपक्ष का द्योतक है, पानात् = सोम हवि के (आहुति) मन्त्र में त्वष्टा देवता के सोमभक्षण

का कथन (निर्देश) होने से, त्वष्टारम् = त्वष्टा देवता को तो, उपलक्षयेत् = उपलक्षित (सम्मिलित) करना ही चाहिए (भक्षण मन्त्र में)।

**व्याख्या—** लोक प्रचलन में जिस प्रकार देखा-सुना जाता है कि यज्ञदत्त के साथ देवदत्त को भी दक्षिणा में गायें प्रदान करो, इस प्रकार से कहने की स्थिति में देवदत्त एवं यज्ञदत्त दोनों को ही गायें मिल जाती हैं। ऐसे ही उक्त मन्त्र 'सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' में अग्नि देवता के साथ त्वष्टा देवता को भी यज्ञाहुति रूप सोम हवि प्राप्त हो जाता है। अतएव पात्नीवत सोम त्वष्टा युक्त होने से भक्षमन्त्र में त्वष्टा देवता का कथन होना चाहिए॥ ३४॥

**आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## (३५१) अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** अतुल्यत्वात् = पत्नीवान् अग्नि देवता के तुल्य न होने से, तु = त्वष्टा देवता का तो, एवम् = इस तरह भक्षण मन्त्र में कथन (निर्देश), न = नहीं, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** 'शब्दप्रमाणका वयम्; यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' महा भाष्य के इस वाक्य का अर्थ है- हम सब शब्द प्रमाण को मानने वाले हैं, शब्द जो बतलाता है, वही हमारे लिए प्रमाण है। शब्द प्रमाण के रूप में यहाँ 'पात्नीवतं गृह्णाति' विधि वाक्य प्रस्तुत है, जिसका अर्थ है-पात्नीवत सोमरस का ग्रहण करता है। उक्त विधि वाक्य में त्वष्टा देवता का कोई संकेत तक नहीं किया गया है। यह सोम हवि त्वष्टा देवता के लिए है, ऐसा बतलाने वाला कोई अन्य वैदिक वचन भी उपलब्ध नहीं है। 'त्वष्टा सोमं पिब' वाक्य से सुनिश्चित रूप से यह प्रमाणित नहीं होता कि त्वष्टा देवता भी अग्नि के सोम भक्षण में सहायक है। तृतीया विभक्ति का प्रयोग जो 'त्वष्ट्रा' पद में हुआ है वह प्रधान अर्थ में न होकर अप्रधान अर्थ में है। यहाँ त्वष्टा की उपस्थिति मात्र अभिहित है, सोमपान में सहयोगी होना नहीं। अतएव त्वष्टा के नाम का ऊह भी उक्त भक्ष मन्त्र में किया जाना असंभव है। अत: त्वष्टा का निर्देश नहीं किया जाना ही न्यायोचित एवं युक्ति युक्त है॥ ३५॥

**ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।**
**पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व॥**

**पात्नीवत कर्म के अन्तर्गत पढ़े जाने वाले इस मन्त्र का अर्थ है— हे अग्ने! इन आगे जाने वाले तैंतीस देवताओं के साथ तुल्य रथ वाले एक रथ में बैठकर पास आओ अथवा तुम्हारे घोड़े नाना रूपों को धारण करने में समर्थ हैं, इसलिए अनेकों रथों पर बैठकर आओ। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है - उक्त भक्षण मन्त्र में क्या तैंतीस देवों का निर्देश होना चाहिए? या नहीं होना चाहिए? आचार्य ने समाधान करने के भाव से कहा—**

## (३५२) त्रिंशच्च परार्थत्वात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** त्रिंशत् = तीस, च = तथा तीन, कुल मिलाकर तैंतीस का कथन उक्त मन्त्र में, परार्थत्वात् = स्तुति आदि अन्य प्रयोजनों से किया गया है।

**व्याख्या—** ऋग्वेद ३/६/९ के उक्त याज्या मन्त्र में मात्र अग्नि देव को सम्बोधित करते हुए यजन हेतु आवाहित किया गया है। उस मन्त्र में न तो तैंतीस देवताओं का यजन करने वाला कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है और न इस प्रकार के किसी प्रसङ्ग का उल्लेख ही है। सूर्य देवता आग्नेय तत्त्व के भण्डार होने से समस्त देवताओं के प्रकाशक हैं, अत: यह एक प्रकार से सामूहिक सभी देवों की स्तुति की गई है, ऐसा समझना चाहिए। वेदिका में यज्ञीय अग्नि के रूप में स्थापित की गई पत्नीवान् अग्नि में ही सोमरस की आहुति देने की व्यवस्था है, न कि सूर्य में। जैसा कि वैदिक वाक्य 'पात्नीवतं गृह्णाति' से उक्त विधान स्पष्ट है। सोम हवि की

आहुति उसी प्रधान देवता के लिए है, जिसके निमित्त आहुति का विधान है; और वे देवता हैं अग्नि। कारण यह कि अग्नि का निर्देश ऋग्वेद में उपलब्ध है, इसलिए भक्षण मन्त्र में तैंतीस देवताओं का निर्देश किया जाना अनौचित्यपूर्ण होगा॥ ३६॥

**'सोमस्याग्ने वीहि' इत्यनुवषट् करोति-ऐतरेय ब्राह्मण के इस वाक्य का अर्थ है- 'सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र के द्वारा अनुवषट् करता है। सोमयाग के अन्तर्गत वषट्कार से इन्द्र देवता को आहुति देने के पश्चात् 'सोमस्याग्ने वीहि वौषट्' अनुवषट्कार से आहुति देने की विधि-व्यवस्था है। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि अनुवषट्कार की आहुति की देवता का क्या भक्षण मन्त्र में निर्देश किया जाना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? सूत्रकार ने शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( ३५३ ) वषट्कारश्च कर्त्तृवत्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्त्तृवत् = वषट्कार के आहुति कर्त्ता-होता, पोता, अध्वर्यु को जिस प्रकार भक्षण मन्त्र में निर्देशित नहीं किया जाता, वषट्कारः = वैसे ही अनुवषट्कार के देवता को भी निर्देशित नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** होता, ब्रह्मा, उद्गाता एवं यजमान इन चारों की शास्त्रीय संज्ञा 'मध्यतःकारी' है। इनके यज्ञीय उपकरण चमस के द्वारा इन्द्र को आहुति देने के पश्चात् समापन आहुति के मन्त्र को उच्चारित करते हुए होतागण मन्त्र के अन्त में 'वौषट्' पद का उच्चारण करके यह संकेत देता है कि यह यज्ञीय कर्म की समापन आहुति समर्पित की जा रही है। इस क्रिया को ही अनुवषट्कार कहा जाता है। सूत्र में प्रयुक्त 'वषट्कारः' पद अनुवषट्कार का ही द्योतक है। इसका देवता यद्यपि अग्नि है, यज्ञाग्नि में ही यह आहुति देने का विधान है, परन्तु अग्नि को लक्ष्य करके 'वषट्कार' की आहुति नहीं दी जाती, प्रत्युत यज्ञीय कर्म के समापन का ज्ञान कराने हेतु संकेत रूप में सम्पन्न की जाती है। अनुष्ठेय यज्ञीय कर्मानुष्ठान को सम्यक् रूप से सम्पादित करने हेतु- होता, अध्वर्यु आदि सभी के रहते हुए जैसे भक्षण मन्त्र में उन्हें निर्देशित नहीं किया जाता, उसी प्रकार अनुवषट्कार के देवता को भी निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए॥ ३७॥

**'ऊह' का प्रयोग प्रकृति याग में न होकर मात्र विकृति यागों में हुआ करता है, शास्त्र की ऐसी मान्यता है। इसी ऊह का प्रसङ्ग प्रस्तुत पाद के २८ वें सूत्र में आया है, जिसमें प्रकृति याग में भी एक देशी मत के द्वारा 'ऊह' के कल्पना का कथन किया गया है। उसी का समाधान सूत्रकार यहाँ ३८ वें सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ३५४ ) छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद गत २८ वें सूत्र में किये गये उक्त कथन के निराकरण हेतु सूत्र में प्रयुक्त है, सर्वगामित्वात् = उस सोमयाग में सोम धर्मों (अभिषव) आदि के सर्वगामी होने के कारण (उसमें), छन्द प्रतिषेधः = छन्द के कथन का षोडशी में अनुष्टुप् की अभिव्यक्ति षोडशी के तीसरे सवन (सायं सवन) में होने से उस स्थल में जगती छन्द के प्रतिषेध स्वरूप होता है, न कि जगती की जगह अनुष्टुप् का ऊह किया जाता है।

**व्याख्या—** सोम याग के अन्तर्गत उसकी सात संस्थायें होते हुए भी सोम याग एक ही कर्म है, एक ही याग है। अभिषव आदि सोम के धर्म उसके तीनों सवनों में बने रहते हैं। ध्रुव संज्ञक तथा होतृ संज्ञक चमसों से सोमरस की आहुति देने में इनके प्रकृति एवं विकृति भाव की कल्पना करना सम्भव नहीं, अतएव यहाँ ऊह की कल्पना आधारहीन है। अतः भक्षण मन्त्र में 'इन्द्र' के स्थान पर मित्रावरुण आदि के ऊह हेतु षोडशी को दृष्टान्त अथवा लिङ्गस्वरूप में प्रस्तुत किया जाना उचित नहीं॥ ३८॥

**'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत ऐन्द्राग्न सोम पठित इस वाक्य का अर्थ है- इन्द्र एवं अग्नि देवता के सोम हवि का ग्रहण करता है। शिष्य जिज्ञासा करता है कि सोम भक्षण यहाँ मन्त्र सहित होना चाहिए? अथवा मन्त्र रहित? इसे सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ३५५ ) ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** ऐन्द्राग्ने = इन्द्र एवं अग्नि द्विदेवता युक्त सोम हवि में, तु = तो, लिङ्गभावात् = इन्द्र देवता के लिङ्ग का स्पष्ट कथन होने से सोम का भक्षण समन्त्रक, स्यात् = किया जाना चाहिए॥

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि इन्द्र एवं अग्नि दोनों के हेतु ग्रहण किये गये सोम रस में इन्द्र देवता का भी भाग समाहित रहने के कारण, इन्द्र उस सोम का पान करता है; जिससे 'इन्द्रपीतस्य' के कथन की उत्पत्ति एवं उसकी अनुकूलता स्थिर रहती है। अतएव ऐन्द्राग्न सोम रस का भक्षण मन्त्र सहित ही होना चाहिए॥ ३९॥

**आचार्य ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समुचित समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ३५६ ) एकस्मिन् वा देवतान्तराद्विभागवत्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। एकस्मिन् = एकाकी इन्द्र देव द्वारा पान किये गये सोमरस के भक्षण में ही इन्द्रपीतस्य मन्त्र का प्रयोग हुआ करता है, देवतान्तरात् = क्योंकि इन्द्र देवता एवं इन्द्राग्नी देवता में अन्तर है, इन्द्र इन्द्राग्नी से भिन्न है, विभागवत् = जैसे पुरोडाश के विभाग।

**व्याख्या—** अग्नि देवता वाले पुरोडाश के विभाजन अर्थात् चतुर्धाकरण की विधि- व्यवस्था अग्नीषोमीय देवता वाले पुरोडाश में नहीं बनायी जा सकती। कारण यह कि उस पुरोडाश का प्राप्त कर्त्ता 'अग्नि' नहीं है, प्रत्युत ''अग्नि और सोम' है। यही स्थिति 'ऐन्द्र' एवं ऐन्द्राग्न हवि के देने में भी की जानी चाहिए। अत: ऐन्द्रहवि के शेष सोम भक्षण में ही 'इन्द्रपीत' मन्त्र का विनियोग होगा, न कि ऐन्द्राग्न में। इसलिए ऐन्द्राग्न सोम भक्षण में 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग न किये जाने से सोम का भक्षण मन्त्र रहित होना ही युक्तियुक्त है॥ ४०॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि क्या मात्र गायत्री छन्द के मन्त्रों के साथ प्रदान की जाने वाली ऐन्द्र सोम हवि ( आहुति ) के बचे हुए शेष भाग के भक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग किया जाना चाहिए? या अन्य छन्द वाले मन्त्रों के साथ भी? शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ३५७ ) छन्दश्च देवतावत्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** छन्द: = छन्द को, च = भी, देवतावत् = देवता की तरह ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि जिस प्रकार 'इन्द्रपीतस्य मन्त्र' में मात्र इन्द्र देवता का ही ग्रहण होता है, उसी प्रकार से 'गायत्रच्छन्दस:' में मात्र गायत्री छन्द का ही ग्रहण होना चाहिए; न कि अन्य छन्दों का॥ ४१॥

## ( ३५८ ) सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दस:॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। एकच्छन्दस: = एकमात्र गायत्री छन्द वाले सोम हवि की आहुति देने के, अभावात् = अभाव के कारण (दूसरे प्रकार के छन्द वाले सोम में 'गायत्रच्छन्दस:' का विनियोग स्वीकार न करना उचित नहीं) अतएव, सर्वेषु = सभी अन्य छन्दों वाले मंत्रों के साथ गायत्री छन्द वाली आहुति समर्पित करने में 'गायत्रच्छन्दस:' मन्त्र का विनियोग किया जाता है।

**व्याख्या—** ऐसा नहीं है कि सोम रस की आहुति देने हेतु जिन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, वे मन्त्र मात्र गायत्री छन्द में ही मिलते हैं; प्रत्युत त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री आदि बहुत से छन्दों में से ऐसे मन्त्र प्राप्त

होते हैं, जिनके द्वारा आहवनीय अग्नि में सोम हवि की आहुति किसी भी देवता को लक्ष्य करके दी जाती है। अत: जिन छन्दों वाले मन्त्रों द्वारा उच्चारणपूर्वक सोम की आहुति दी जाती है, गायत्री पद उन समस्त छन्दों का उपलक्षण मात्र है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसलिए गायत्री छन्द से भिन्न अन्य छन्दों में भी इसे विनियुक्त किया जाना सर्वथा उचित एवं तर्कसंगत है॥ ४२॥

**सूत्रकार ने प्रकरण का समापन सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि समस्त देवताओं के हुतशेष का भक्षण मन्त्र सहित होना ही उचित है—**

**( ३५९ ) सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवनाधिकारो हि॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त इस पद का तात्पर्य यह है कि सभी देवताओं के हुत शेष का भक्षण मन्त्र के साथ ही होता है। ऐतिशायनस्य = (सूत्रकार को मान्य ऐतिशायन आचार्य के मतानुसार) ऐतिशायन का सुझाव यह है कि, सर्वेषाम् = ऐन्द्र अनैन्द्र समस्त देवताओं के हुतशेष का भक्षण, ऐकमन्त्र्यम् = एक मन्त्र वाला (इन्द्रपीतस्य इस एक ही मन्त्र का विनियोग सभी देवों के हुतशेष के भक्षण में होने से)है, भक्तिपानत्वात् = क्योंकि उक्त 'इन्द्रपीतस्य' में प्रयुक्त 'पीत' पद का प्रयोग लक्षणावृत्ति से हुआ है, हि = कारण यह कि सवनाधिकार: = यह प्रकरण सवन (सोम से सम्बन्धित अधिकार) का है।

**व्याख्या—** गत तीन सूत्रों २७, २८ एवं २९ में जो यह कहा गया था कि ऐन्द्र सोम का भक्षण मन्त्र सहित एवं अनैन्द्र का मन्त्र रहित होना चाहिए, उसी की निवृत्ति प्रस्तुत ४३ वें सूत्र में की जा रही है। 'इन्द्रपीतस्य' का 'इन्द्र पीत' पद लक्षणा वृत्ति से सम्पूर्ण प्रकरण (सवन) का वाचक है, न कि मात्र सोम का। सवन में इन्द्र देवता सहित दूसरे देवता भी वर्णित हैं और उन सबके हुतशेष भक्षण में वही मन्त्र ही विनियुक्त हुआ है। अतएव ऐन्द्र-अनैन्द्र सभी देवताओं के हुतशेष भक्षण में बिना किसी व्यवधान के वही एक मन्त्र विनियुक्त होने के कारण सम्पूर्ण भक्षण मन्त्र सहित ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४३॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीय: पाद: ॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पाद ॥

**पिछले पाद में उन विधि-व्यवस्थाओं का लक्षणों ( लिङ्ग ) के आधार पर सूत्रकार ने अपना निर्णय दिया, जिनमें विवाद की स्थिति थी। अब इस तृतीय पाद में सन्देहयुक्त विधि व्यवस्था पर विचार, निर्णय वाक्य का आधार लेकर करने जा रहे हैं। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा' ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में पठित उक्त वाक्य का अर्थ है- ऋक् से उच्च स्वर में कर्म सम्पादित होता है, ऊँचे स्वर में साम से भी, यजुः से उपांशु बहुत धीमे से ( जिसे पास में बैठा व्यक्ति भी न सुन सके )। इस सन्दर्भ में शिष्य की इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने इस पाद के प्रथम सूत्र में सूत्रित किया—**

**( ३६० ) श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतेः = उक्त वाक्य में प्रयुक्त ऋक् आदि पदों के स्पष्ट सुने जाने से, जाताधिकारः = जाति का अधिकार, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** दृष्टान्त वाक्य 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' में ऋक् एवं साम से उच्च तथा यजुः से उपांशु कर्मों के सम्पादन का विधान है। इस विधान के अनुसार ऋग्वेद का मन्त्र यदि यजुर्वेद में पठित है, तो उनका उच्च स्वर में उच्चारण होना चाहिए न कि यजुर्वेद की विधि-व्यवस्था के अनुरूप उपांशु में, इस विधान के विपरीत कर्म करने पर मन्त्र में उच्च एवं उपांशु दोनों ही धर्मों का विकल्प स्वीकार किया जायेगा, जिससे एक के धर्म में व्यवधान खड़ा होगा। अतः उक्त मन्त्र में प्रयुक्त ऋक् आदि पदों को ऋग्वेद आदि का बोधक मानना उचित नहीं॥ १ ॥

**सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का अगले सूत्रों २,३,४ एवं ५ में समाधान किया—**

**( ३६१ ) वेदो वा प्रायदर्शनात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। प्रायदर्शनात् = उक्त के उपक्रम में वेद पद दृष्टिगत होने से, वेदः = ऋग्वेद आदि का बोध कराते हैं, (ऐसा समझना चाहिए)।

**व्याख्या—** 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि दृष्टान्त वाक्य के आरम्भ (उपक्रम) में ही ऋग्वेदादि का वर्णन (कथन) उपलब्ध है। उपसंहार करते समय भी यथाक्रम ऋक्, साम, यजुः आदि पदों द्वारा उसी वेद का ही ग्रहण किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति में- प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति स तपोऽतप्यत। तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः। इस प्रकार उपक्रम में ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद का कथन होने के कारण उसके उपसंहार का भाग- 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्य में प्रयुक्त ऋक्, यजुः, साम पद स्पष्टतः ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद का कथन करने वाले हैं। अतएव यहाँ वेदों का अधिकार समझा जाना ही औचित्यपूर्ण एवं युक्तियुक्त है॥ २ ॥

**( ३६२ ) लिङ्गाच्च॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गात् = लक्षणों की उपलब्धता से भी ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि लिङ्ग की उपलब्धता से भी होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/९ में वर्णित वाक्य 'ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते, यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः, सामवेदेनाऽस्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः का अर्थ है- सूर्य पूर्वाह्न में द्युलोक में ऋचाओं द्वारा गतिमान् रहता है, मध्याह्न में यजुर्वेद से विरमित (स्थिर) होता है, अस्ताचल की ओर जाते हुए सायं समय सामवेद के द्वारा पूजित होता है। आशय यह है कि तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के रहते हुए ही सूर्य की गति है। 'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेतिसूर्यः' इस चौथे पाद में बहुवचन के साथ वाक्य का उपसंहार किया है। इस तरह से ऋक्

पद का प्रयोग ऋग्वेद के बोध हेतु ही मन्त्र के अन्तर्गत हुआ है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३॥

**( ३६३ ) धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, धर्मोपदेशात् = साम के उच्चैस्त्व धर्म के उपदेशात्मक कथन की सिद्धि होने से, भी 'ऋक्' आदि पदों का वेद वाचक होना जाना जाता है, नहीं तो साम मन्त्रों पर आश्रित होने से अपने आप में ही उसका उच्चैस्त्व रूप धर्म प्रमाणित था। (अतएव) द्रव्येण = सामरूप द्रव्य के साथ उच्चैस्त्व रूप धर्म की, सम्बन्धः = सम्बन्धात्मक विधि-व्यवस्था, न हि = बनाना उचित नहीं था, किन्तु ऐसा किया गया है; जिसके कारण उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के ही हैं, न कि मन्त्र के, ऐसा सुनिश्चित ज्ञात होता है।

**व्याख्या—** साम का गान किया जाता है और उसका आश्रय हैं ऋचायें (ऋचि अध्यूढं साम)। ऐसी स्थिति में यदि ऋक्, यजुः आदि पद मन्त्र के कथन कर्त्ता रहते तथा उन्हीं मन्त्रों का धर्म उच्चैस्त्व आदि स्वीकार किया जाता, तो वह 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' से पूर्व से ही प्रमाणित था। अतः पुनः उसी ऋक् मन्त्र को साम के रूप में गाने से ऋक् के उच्चैस्त्व धर्म का 'उच्चैः साम्ना' से अलग विधि-व्यवस्था का कोई औचित्य ही नहीं था। अतएव यह सिद्ध होता है कि ऋक् आदि पद वेद का ही कथन करते हैं तथा उच्चैस्त्व आदि धर्म भी वेद के ही हैं॥ ४॥

**( ३६४ ) त्रयीविद्याख्या च तद्विदि॥ ५॥**



**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्विदि = तीनों वेदों का ज्ञान रखने वालों में, त्रयीविद्याख्या = त्रयी विद्या संज्ञक प्रवृत्ति के कारण भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'त्रयीविद्य' का आशय ऋक्, यजुः एवं साम तीनों वेदों को जानने वाला होने से है यह प्रसिद्ध भी है कि 'त्रयी' पद से तीनों वेदों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। अतएव ऋक् आदि पद मन्त्र के वाचक न होकर वेद के ही वाचक हैं, इसलिए यह तथ्य प्रत्यक्ष हो जाता है कि 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि में प्रयुक्त ऋक् आदि पद वेद के वाचक हैं तथा उच्चैस्त्व आदि धर्म भी वेद के ही हैं॥ ५॥

**उच्चैस्त्व आदि को वेद का धर्म स्वीकार करने की स्थित में तो यजुर्वेद में पठित ऋचाओं के उच्चैस्त्व धर्म में व्यवधान आ जायेगा। कारण यह कि यजुर्वेद का धर्म उपांशुत्व है। शिष्य की इसी जिज्ञासा को आचार्य ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( ३६५ ) व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** व्यतिक्रमे = उपर्युक्त अर्थ के व्यतिक्रम (उलटफेर) की स्थिति में (ऋचा का पाठ यजुर्वेद में एवं यजुः का ऋग्वेद में होने पर), यथा श्रुतिः = ऋक्, यजुः, साम का जो उच्चैस्त्व आदि धर्म उक्त वाक्यों में सुना गया है, उसकी यथास्थिति बनी रहेगी, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो (वह उचित नहीं)।

**व्याख्या—** शिष्य का कथन यह है कि यदि ऋक् आदि पदों को जातिवाचक न मानकर वेद वाचक माना जाता है, तो यजुर्वेद में पठित ऋचाओं में उपांशुत्व धर्म स्वीकार करने के कारण उनके उच्चैस्त्व धर्म में व्यवधान आयेगा तथा उन्हीं ऋचाओं का पाठ जब ऋग्वेद में किया जायेगा, तो यजुर्वेद में वर्णित होने से उनका उपांशुत्व धर्म बाधित होगा। आशय यह कि वही ऋचायें ऋग्वेद में उच्चैस्त्व एवं यजुर्वेद में उपांशुत्व दो धर्मयुक्त हो जायेंगी, अतः दोष उत्पन्न होगा। अतएव उपर्युक्त वाक्यों में ऋक् आदि पदों को वेद का वाचक न मानकर ऋक्त्व जाति परक मानना ही औचित्यपूर्ण है॥ ६॥

**सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हैं—**

**( ३६६ ) न सर्वस्मिन्निवेशात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वस्मिन् = समस्त ऋग्वेद में उच्चैस्त्व धर्म एवं समस्त यजुर्वेद में उपांशुत्व तथा सम्पूर्ण सामवेद में उच्चैस्त्व धर्म की, निवेशात् = व्यापकता होने के कारण इस प्रसङ्ग में यहाँ सन्देह का स्थान नहीं ही, न = नहीं पाया जाता।

**व्याख्या—** ऋक् आदि पदों को वेद का वाचक मानने में सन्देह का अवकाश ही नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त वाक्यों द्वारा समस्त ऋग्वेद में एवं सामवेद में उनके किसी अंश विशेष के उच्चैस्त्व आदि धर्मों का नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण ऋग्वेद आदि के उक्त धर्म का विधान माना गया है। ऋग्वेद से निकाल कर यजुर्वेद में स्थापित किये गये किसी मन्त्र का पाठ किया जाता है, तो वह उपांशुत्व धर्म वाला होगा। कारण यह कि यजुर्वेद का धर्म उपांशुत्व है। ऐसे ही सम्पूर्ण ऋग्वेद का उच्चैस्त्व धर्म है, न कि किसी ऋचा मात्र का। अतएव ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण वेद वह कोई भी क्यों न हो, दो धर्मों से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता तथा ऋचा का भी सम्बन्ध दो धर्मों से होना मान्य नहीं हो सकता। कारण यह कि जिस वेद की ऋचा है, उस वेद में विहित धर्म ही उस ऋचा का धर्म होगा। अतएव वेद एवं ऋचा किसी पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि वे दो धर्मों से युक्त हैं॥ ७॥

**प्रकरण के अन्त में इसी कथन से सम्बन्धित सूत्र आचार्य ने प्रस्तुत किया—**

## ( ३६७ ) वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वेदसंयोगात् = वेद के साथ उच्चैस्त्व आदि धर्मों का संयोग होने से उच्चैस्त्व आदि धर्म की, बाध्येत = बाधा, प्रकरणेन = प्रकरण से, न = नहीं आयेगी।

**व्याख्या—** यजुर्वेद द्वारा सम्पादित किये जाने वाले जिन कर्मानुष्ठानों का कथन किया गया है तथा वाक्य की सामर्थ्य से उस कर्म में पठित ऋग्वेद में स्थापित मन्त्रों का विनियोग भी प्राप्त है, तो उस कर्मानुष्ठान की अवधि में उस ऋचा का पाठ उपांशु न होकर उच्च स्वर से होगा। वेद संयोग के कारण उच्च तथा प्रकरण संयोग के कारण उपांशु स्वर की मान्यता स्वीकार की गयी है। अतएव प्रकरण के साथ स्वर की सामीप्यता उपलब्ध रहते हुए भी वाक्य उपलब्ध स्वर का व्यवधान कर्त्ता नहीं बनता। अत: यह प्रमाणित होता है कि 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के ही वाचक हैं॥ ८॥

**'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' अर्थात् अन्नाद्य के लिए अन्नाद्य अग्नि का आधान करे। इसी क्रमानुरूप 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्य:; शरदि वैश्य:' अर्थात् वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, गीष्म ऋतु में क्षत्रिय तथा शरद् ऋतु में वैश्य अग्नियों का आधान करे आदि अग्न्याधान का विधान यजुर्वेद में उपलब्ध है। अग्न्याधान कर्म के विधान के साथ उसके शेष ( अंगरूप ) से ('य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति जो इस तरह विद्वान् वारवन्तीय संज्ञक साम को गाता है।') सामगानों की भी विधि व्यवस्था है। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि साम का गान अग्न्याधान कर्म में उच्चै: होना चाहिए या उपांशु? आचार्य ने समाधान दिया—**

## ( ३६८ ) गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग:॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** गुणमुख्य = गौण तथा प्रधान कर्मों में किसी एक समय (अवसर) पर, व्यतिक्रमे = पारस्परिक विरोध की दशा में, तदर्थत्वात् = गुणविधि के प्रमुख होने से, मुख्येन = प्रमुख विधि के साथ ही, वेदसंयोग: = वेद का सम्बन्ध होता है, ऐसा जानना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र में 'गुणमुख्य' पद से प्रधान एवं गौण कर्म का कथन किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मुख्य अथवा प्रधान कर्म 'अग्न्याधान' है तथा सामगान (वारवन्तीय संज्ञक आदि) अग्न्याधान कर्म के लिए ही होने के कारण (आधान के अंगरूप होने से) गौण कर्म है। 'उच्चै: साम्रा' की विधि-व्यवस्था के अनुसार गौण (साम गायन रूप) कर्म में यद्यपि उच्चैस्त्व धर्म की उपलब्धता पायी जाती है, परन्तु अग्न्याधान जो कि

मुख्य कर्म है, उसका विधान यजुर्वेद से विहित होने से; उक्त आधान कर्म में गौण सामगान स्वरूप कर्म हेतु यजुर्वेद विधान सम्बन्धी उपांशु स्वर का प्रयुक्त किया जाना ही उचित एवं युक्तियुक्त होगा। अत: अग्न्याधान रूप मुख्य कर्म में कथित सामगान उच्च स्वर में न गाकर उपांशु स्वर में ही किया जाना उचित है॥ ९॥

**यजुर्वेद ताण्ड्य ब्राह्मण एवं (सामवेद) आपस्तम्ब श्रौत सूत्र दोनों में ही 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह वाक्य उपलब्ध है, जिसका अर्थ है- स्वर्गकामी पुरुष ज्योतिष्टोम से यजन करे। इस तरह यजुर्वेद एवं सामवेद दोनों में ही ज्योतिष्टोम का विधान प्राप्त होने से शिष्य संदेह व्यक्त करता है कि इनमें से किसे मुख्य विधि एवं किसको अनुवाद के रूप में स्वीकार किया जाये?**

## (३६९) भूयस्त्वेनोभयश्रुति॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** उभयश्रुति = दो वेदों में (अथवा अधिक में) श्रवण किया जाने वाला कर्म, भूयस्त्वेन = अत्यधिक गुणों वाला होने के कारण प्रमुख विधि है।

**व्याख्या—** बहुव्रीहि समास वाले 'उभयश्रुति' पद के 'उभय को समस्त वेदों का उपलक्षण समझना चाहिए। किसी कर्म का विधान यदि तीनों वेदों में प्राप्त होता है, तो बहुलता के आधार पर इसी हेतु से उसका निर्धारण करना उचित है। एक से अधिक वेदों में वर्णित कर्म की प्रमुखता हेतु उस कर्मानुष्ठान के प्रकारों का आधार उनकी अत्यधिक अभिव्यक्ति ही मानी जाती है। कर्मानुष्ठान के प्रकारों को ही इतिकर्तव्य की संज्ञा प्राप्त है और इस इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा भी वहीं रहा करती है, जहाँ मात्र कर्म की विधि-व्यवस्था वर्णित है। अतएव उस आकांक्षा की पूर्ति में सहायक वेद का विधान ही उस कर्मानुष्ठान के लिए प्रधान अथवा मुख्य होगा तथा यजुर्वेद में ही ज्योतिष्टोम का सम्पूर्ण अंगों से युक्त इतिकर्त्तव्यता पूर्ण विधि-व्यवस्था का विधान मिलता है। अत: उसका उपांशु स्वर से ही अनुष्ठान किया जाना उचित एवं युक्ति संगत है॥ १०॥

**जिन मंत्रों में संदेह की स्थिति रहती है, उनके विनियोग के सुनिश्चित निर्धारण में हेतु- श्रुति, लिङ्ग एवं वाक्य ये तीन हैं, ऐसा पूर्व के प्रसङ्ग में आ चुका है। शिष्य का प्रश्न यहाँ यह है- क्या यही तीन ही हेतु विनियोग के हैं? या और भी कारण हैं? आचार्य ने समाधान दिया—**

## (३७०) असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** असंयुक्तम् = जिस कर्म का संयोग श्रुति, लिङ्ग व वाक्य के साथ होता है वह, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात् = इति कर्त्तव्यता की प्रयोजन रूप आकांक्षा रखने वाला होने से, प्रकरणात् = प्रकरण से संयुक्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का तात्पर्य यह है कि श्रुति, लिङ्ग एवं वाक्य के आधार पर जिस कर्म का विनियोग नहीं हो पाता और वह इतिकर्त्तव्यता की प्रयोजन रूप आकांक्षा से युक्त है, तो उसका प्रकरण के आधार पर विनियोग हुआ करता है। 'समिधोयजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति-दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित इन पाँचों प्रयाजों का विनियोग, प्रकरण की सामर्थ्य से दर्शपूर्णमास में होना चाहिए ,न कि ज्योतिष्टोम या अग्निहोत्र आदि में। कौन-कौन से कर्मों की सम्पन्नता से दर्शपूर्णमास यज्ञ पूर्ण होता है, अपनी सम्पूर्णता हेतु दर्शपूर्णमास को इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रहा करती है। जबकि उक्त प्रयाज नाम वाले यज्ञीय कर्मानुष्ठानों को-हमारी उपयोगिता कहाँ सिद्ध होती है? हमारा उद्देश्य क्या है? ऐसी आकांक्षा होती है। इस पारस्परिक आकांक्षा भाव की स्थिति में प्रकरण रूप साक्ष्य के आधार पर उक्त पाँचों प्रयाजों का सम्बन्ध दर्शपूर्णमास के साथ होता है, ऐसा समझना चाहिए॥ ११॥

**जिज्ञासु शिष्य ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा कि उक्त कारणों के अतिरिक्त क्या विनियोग के और भी कारण हैं? आचार्य ने कहा- हाँ, और भी कारण हैं—**

## (३७१) क्रमश्च देशसामान्यात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** देश सामान्यात् = देश की समानता होने से वाक्य (मन्त्र) के विनियोग का, क्रमः = क्रम को , च = भी, कारण माना जाता है।

**व्याख्या—** एक के बाद एक अर्थात् आनुपूर्वी द्वारा वर्णित क्रम वाले वाक्यों में जिस पर्याय द्वारा जिस धर्म का वर्णन मिलता है, उसकी आकांक्षा उसी पर्याय के धर्म वाले वाक्यों के साथ रहती है, ऐसा समझना चाहिए। उनकी पारस्परिक एकवाक्यता, आकांक्षा का भाव बने रहने की स्थिति में ही हुआ करती है। आशय यह है कि उनकी पारस्परिक सम्बद्धता क्रमपूर्वक होती है और यही क्रम उनके विनियोग का एक हेतु भी है। लौकिक दृष्टान्त से सरलतापूर्वक इसे समझा जा सकता है- व्यवस्थापक ने निर्देश दिया कि देवदत्त, यज्ञदत्त एवं सोमदत्त हरिद्वार, मथुरा व आँवलखेड़ा जायेंगे। इस प्रसङ्ग में जिस प्रकार धर्मी देवदत्त आदि का कथन आना पूर्वी वाले क्रम से हुआ है, ऐसे ही हरिद्वार जाना आदि धर्म का कथन भी आनुपूर्वी वाले क्रम से ही किया गया है। क्रम ही वह हेतु है, जो यह सुनिश्चित करता है कि देवदत्त को हरिद्वार, यज्ञदत्त को मथुरा एवं सोमदत्त को आँवलखेड़ा जाना है। इस तरह के विनियोजक हेतु के रूप में कर्म ही है। अतएव वाक्य के विनियोग में कर्म भी हेतु है॥ १२॥

**विनियोग के और भी हेतु हैं ? या इतने ही ? शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा, अन्य हेतु भी हैं—**

**( ३७२ ) आख्या चैवं तदर्थत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** एवम् = इसी प्रकार, तदर्थत्वात् = उस नाम धारी के लिए (संज्ञा के उस समाख्येय के लिए) होने से, आख्या = संज्ञा भी विनियोग में कारण होती है।

**व्याख्या—** समाख्या-आख्या-संज्ञा भी श्रुति, लिङ्ग, वाक्य एवं क्रम आदि कारणों की तरह वाक्य के विनियोग में कारण है। संज्ञी अर्थात् नामधारी के अटल सम्बन्धों के आश्रय में ही किसी भी आख्या (संज्ञा) का अस्तित्व रहता है। समस्त व्यवहार का संचालन इसी व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। उदाहरणार्थ- 'पाचक' नाम को सुनने से पकाने की क्रिया के साथ पाचक संज्ञक व्यक्ति का सम्बन्ध ज्ञात होता है तथा ऐसे ही 'आध्वर्यव' संज्ञा पद से अध्वर्यु द्वारा किये जाने वाले कर्म के साथ उसके सम्बन्धों का ज्ञान हो जाता है। समाख्या (संज्ञा) ही इन उक्त दृष्टान्तों में विनियोग का हेतु है॥ १३॥

**जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न यहाँ यह है कि विनियोग के जिन कारणों का ऊपर कथन किया गया है, यदि कदाचित् किसी प्रसङ्ग में समस्त कारण एकत्रित हो जाते हों या कारणों की संख्या एक से अधिक हो, तो उस स्थिति में वाक्य विनियोग के किस कारण का प्रयोग किया जाना चाहिए ? आचार्य ने अगले सूत्र में समाधान किया—**

**( ३७३ ) श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानाम् = श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या के, समवाये = एक साथ समवायरूप में सभी के उपलब्ध होने की स्थिति में, अर्थविप्रकर्षात् = विशेषत: अर्थ की दूरी होने से, पारदौर्बल्यम् = पूर्व को उत्तर की तुलना में प्रबल (बलवान्) माना जाता है।

**व्याख्या—** वाक्य विनियोग के उक्त छह कारणों के पारस्परिक बलाबल का विचार एक ही साथ, एक ही समय में कर पाना संभव न होने से उनका जैसा क्रम है, उसी के अनुरूप विवेचना की जा रही है। छह कारणों के तीन जोड़े बनाकर शुभारम्भ में श्रुति एवं लिङ्ग पर विचार किया जा रहा है, किन्तु विवेचन से पूर्व स्वरूप की जानकारी भी आवश्यक है। अत: श्रुति का स्वरूप समझें—

**श्रुति**- यहाँ 'श्रुति' पद का अर्थ आम्नाय (वेद) न होकर ऐसे शब्द से है, जो निराकांक्षा होते हुए भी अपने अर्थ

की स्पष्ट अभिव्यक्ति करता है। अतः श्रुति वह है, जिसे अपने अर्थ का कथन करने के लिए किसी अन्य पद की आकांक्षा नहीं रहती। श्रुति के तुल्य पद दो प्रकार के होते हैं- १. सुबन्त २. तिङन्त [सुबन्त (नामपद) एवं तिङन्त (क्रियापद)]। दृष्टान्त वाक्य 'सोमेन यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात्' इसमें 'सोम' व 'अग्निहोत्र' नामपद (सुबन्त) हैं, जिन्हें अपने अर्थ का कथन करने में किसी अन्य पद की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसे ही 'यजेत' एवं 'जुहुयात्' (क्रिया पद) तिङन्त हैं, जो अन्य पद की अपेक्षा न रखते हुए अपने अर्थ का कथन करने में स्वतन्त्र हैं। ऐसे पद 'श्रुति' संज्ञक माने जाते हैं।

**लिङ्ग—** किसी भी पद में उसकी किसी अर्थ विशिष्टता का ज्ञान कराने की क्षमता (सामर्थ्यता) को 'लिङ्ग' की संज्ञा प्राप्त है, लिङ्ग के भी दो प्रकार हैं- १. शब्दगत २. अर्थगत। १. किसी पद में सन्निहित उसकी किसी विशिष्टता को प्रकाशित करने की सामर्थ्यता को 'शब्दगत' लिङ्ग कहते हैं। जैसे-सोम एवं अग्निहोत्र आदि। २. किसी भी पद से बोधित पदार्थ के सम्पादन की क्षमता को (योग्यता को) 'अर्थगत' लिङ्ग की संज्ञा प्राप्त है। यथा-'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य के वाच्य अर्थ में (जल पद) जल द्वारा सींचने की क्षमता (योग्यता) है, जिससे उपयुक्त अर्थ का ज्ञान होगा। अतएव इसे 'अर्थगत' लिङ्ग माना गया है, जबकि 'वह्निना सिञ्चति' में प्रयुक्त 'वह्नि' पद (सींचने की क्षमता के अभाव के कारण) से उचित अर्थ का बोध होना संभव नहीं।

**वाक्य-** पारस्परिक आकांक्षा युक्त पदों का समुदाय 'वाक्य' कहलाता है। आशय यह है कि पारस्परिक आकांक्षा से परिपूर्ण एक दूसरे के सहयोग से किसी एक पूर्ण अर्थ का कथन करने वाले पद समूहों को वाक्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ- सोमेन यजेत स्वर्गकामः अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः आदि। इनमें आकांक्षा, योग्यता एवं आसत्ति सब कुछ विद्यमान है।

**प्रकरण-** क्रियमाण कर्म की इतिकर्तव्यता का ज्ञान जिस माध्यम से सम्यक् रूप से प्राप्त होता है, उसे प्रकरण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि क्रियमाण कर्म की विधि-व्यवस्था उपलब्ध होने की स्थिति में, यह कार्य किस तरह से सम्पन्न होना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा (आकांक्षा) होती है। इस प्रकार की ही इतिकर्त्तव्यता कहलाती है। कोई भी कर्म कहाँ से आरम्भ होकर कहाँ जाकर समाप्त होता है, इस तरह का सम्पूर्ण ज्ञान जहाँ से प्राप्त होता है, वही प्रकरण है। इसके भी दो प्रकार हैं- १. महाप्रकरण एवं २. अवान्तर प्रकरण। प्रधान कर्म का प्रतिपादन करने वाले पूरे सन्दर्भ को 'महाप्रकरण' एवं उसके किसी अंश विशेष की इतिकर्त्तव्यता आदि का ज्ञान कराने वाला प्रसंग 'अवान्तर' प्रकरण है, जो अपने आप में पूर्ण अस्तित्व से युक्त रहता है। अपनी पूर्णता के लिए प्रधान कर्म को अङ्गभूत इतिकर्तव्यता आदि कर्मों की अपेक्षा बनी रहती है तथा उक्त अङ्गभूत कर्मों का परिणाम प्रधान कर्म पर ही आश्रित रहता है; क्योंकि इतिकर्त्तव्यता आदि अङ्गभूत कर्मों का अपना स्वतन्त्र परिणाम है ही नहीं। अतएव यह भी मान्य है कि उभयाकांक्षी वाक्यों का समुदाय 'प्रकरण' कहलाता है। उदाहरणार्थ— इसी तृतीय अध्याय के दूसरे पाद का पाँचवाँ सूक्तवाक प्रकरण द्रष्टव्य है।

**स्थान-** स्थान को 'क्रम' भी कहते हैं। समान देश में प्रधान एवं इतिकर्त्तव्यता आदि शेषभूत(अङ्गभूत) कर्मों के विद्यमान रहने को 'स्थान' अथवा 'क्रम' कहा जाता है। पाठ तथा अनुष्ठान दोनों ही आधार पर कर्मों की उक्त समानदेशता हुआ करती है। इसे 'पाठसादेश्य' एवं 'अनुष्ठान सादेश्य' के रूप में समझा जा सकता है। १. यथासंख्य पाठानुरूप २. सन्निधि पाठानुरूप यह दो प्रकार पाठ सादेश्य के भी हैं।

**समाख्या-** प्रकृति-प्रत्यय द्वारा प्रमाणित यौगिक पद को 'समाख्या' की संज्ञा प्राप्त है। इसके भी दो प्रकार हैं- १. लौकिकी समाख्या २. वैदिकी समाख्या। संसार में प्रचलित संज्ञापद को लौकिकी समाख्या एवं आम्नाय (वैदिक वाङ्मय) में प्रचलित (सिद्ध) वैदिकी समाख्या कही जाती है।

**लिंग पर श्रुति की प्रबलता**–स्वरूप कथन के अनन्तर अब इन सबके पारस्परिक बलाबल का विचार किया जा रहा है। सर्वप्रथम श्रुति एवं लिङ्ग पर विचारपूर्वक निर्णय करते हैं– वहाँ श्रुति एवं लिङ्ग तुल्य बल युक्त होते हुए एक दूसरे के प्रतिकूल हों, तो उस स्थिति में उनमें से कौन बलवान् एवं कौन बलहीन माना जायेगा, इसके लिए निर्णय हेतु दृष्टान्त वाक्य है– 'ऐन्द्रया' गार्हपत्यमुपतिष्ठते अर्थात् इन्द्रदेवता वाली ऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान करता है। यहाँ विचार करने योग्य बात यह है कि इन्द्र एवं गार्हपत्य अग्नि इन दोनों में से किसी एक का (इच्छानुसार) उपस्थान किया जाना चाहिए? अथवा मात्र एक (गार्हपत्य अग्नि) का ही? समाधान यह है–दृष्टान्त वाक्य में 'गार्हपत्य' पद मात्र सुनने से ही 'उपंतिष्ठते' के साथ एक वाक्यता की स्थिति में बिना किसी अन्य की अपेक्षा किये ही अपने सम्पूर्ण अर्थ का कथन बिना विलम्ब के कर दिया करता है। जबकि 'ऐन्द्रया' पद प्रत्यक्षत: इन्द्र की अभिव्यक्ति न करके ऐन्द्री ऋचा का कथन करता है, उसे ऋचा की अपेक्षा रहा करती है। आशय यह है कि उपस्थान हेतु अर्थ का बोध कराने में विलम्ब के कारण लिङ्ग की तुलना में श्रुति सबल है।

**वाक्य से लिङ्ग की प्रबलता का विचार**– पूर्व में कहा जा चुका है कि पद समुदाय से वाक्य बनते हैं। ऐसे पद या तो श्रुतिरूप होते हैं अथवा लिङ्गरूप। उन पदों के द्वारा जब अर्थ का ज्ञान हो जाता है, तब उसके पश्चात् ही वाक्य अर्थज्ञान करा पाने में समर्थ हो पाता है। उदाहरणार्थ– 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे' वाक्य का इन्द्र पद (लिङ्ग) अर्थ का ज्ञान कराने हेतु श्रुति पर (ऐन्द्रया पद पर) आश्रित रहता है। जिससे श्रुति बलवान् तथा उसकी अपेक्षा लिङ्ग दुर्बल रहता है। इसी प्रकार वाक्य भी श्रुति एवं लिङ्ग का आधार लेकर ही अपने अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ हो पाता है, अत: वाक्य, लिङ्ग की अपेक्षा बलहीन माना जायेगा। श्रुत्यर्थ की निकटता से समर्थित लिङ्ग वाक्य की तुलना में अधिक सबल होता है, ऐसा समझना चाहिए।

***प्रकरण से वाक्य की प्रबलता***– प्रकरण द्वारा ही कर्म सम्पादन की विधि–व्यवस्था का ज्ञान होता है। प्रकरण अपनी सिद्ध प्रयोजन युक्तता एवं स्व सार्थकता हेतु वाक्य की आकांक्षा वाला होता है। अतएव प्रकरण की तुलना में वाक्य सदैव सबल होना चाहिए। इसका उत्तम एवं उचित उदाहरण सूक्तवाक निगद को माना गया है। सूक्तवाक के अन्तर्गत वाक्य एवं प्रकरण दोनों (इतिकर्तव्यता की अपेक्षा युक्त होने से) समान सामर्थ्यवान् प्रतीत हुआ करते हैं, किन्तु लिङ्ग से बाधित होने के कारण वाक्य को प्रकरण से दुर्बल माना जा सकता है।

**स्थान ( क्रम ) से प्रकरण की प्रबलता**– मुख्य अथवा अंगभूत कर्मों की समानदेशिता को स्थान अथवा क्रम की संज्ञा दी गई है। क्रम में अर्थ की विप्रकर्षता विद्यमान रहने से प्रकरण को क्रम की तुलना में बलवान् माना जाता है। उदाहरणार्थ–'राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत' राजसूय याग प्रकरण का यह वाक्य राजसूय के विधान की अभिव्यक्ति करता है। साथ ही यह अपेक्षा भी रखता है कि राजसूय का सम्पादन किस रूप में, किस प्रकार किया जाये? अत: उनकी एक वाक्यता राजसूययाग के साथ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत है, जिसके द्वारा यज्ञ का उद्देश्य पूर्ण होता है। उसी प्रकरण में अंश रूप में शौन: शेप उपाख्यान एवं अभिषेचनीय संज्ञा वाला सोमयाग यज्ञीय कर्म भी है। इस तरह के अनेकों कर्मों का पाठ प्रकरण में क्रम पूर्वक ही हो पाता है। अतएव अभिषेचनीय क्रम के सन्निकट यदि क्रमानुरूपता के कारण शौन:शेप उपाख्यान का पाठ किया गया है, तो इनमें उसे पारस्परिक आकांक्षा का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। शौन:शेप उपाख्यान एवं सोमयाग कर्म दोनों प्रधान कर्म (राजसूय) की इतिकर्त्तव्यता रूपी आकांक्षा की पूर्ति समान रूप से करने के कारण उसके अङ्गभूत कर्म हैं और अङ्गभूत कर्म की एक वाक्यता प्रधान कर्म के साथ प्रमाणित है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रकरण की तुलना में स्थान बलहीन है।

**समाख्या से क्रम की प्रबलता**– क्रम एवं समाख्या की तुलना में क्रम बलवान् एवं समाख्या निर्बल है। समाख्या की इस निर्बलता के मूल में अर्थ विप्रकर्ष है अर्थात् समाख्या में अर्थ की दूरी बनी रहती है। उदाहरणार्थ–'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इस मन्त्र का पाठ सान्नाय हवि के क्रमान्तर्गत पाया जाता है, इसी से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सान्नाय हवि के साथ प्रत्यक्ष है। (पौराडाशिक संज्ञक काण्ड) समाख्या के अन्तर्गत 'शुन्धध्वं दैव्याय' कर्मणे मन्त्र के सम्बन्ध का कथन पुरोडाश के साथ नहीं किया गया है। पौरोडाशिक संज्ञक इस उक्त समाख्या में 'पुरोडाश' पद की दृष्टिगोचरता से उपर्युक्त 'सुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' मन्त्र का अर्थापत्ति प्रमाण पर आधारित सम्बन्ध संयुक्तता की कल्पना कर ली जाती है। अतएव उक्त मन्त्र की स्पष्ट सम्बन्धाभिव्यक्ति (सान्नाय हवि के साथ) करने वाले क्रम से समाख्या बाधित हो जाया करता है॥ १४॥

**'तिस्र एव साह्नस्योप सदोद्वादशाहीनस्य' तैत्तिरीय संहिता के इस वाक्य में प्रयुक्त 'साह्न' पद का प्रयोग एक ही दिन में सम्पन्न होने वाले ज्योतिष्टोम ( याग ) हेतु हुआ है। यह कथन औपचारिक ही है, कारण यह कि ज्योतिष्टोम याग के कर्मानुष्ठान की सम्पादन अवधि पाँच दिनों की है। उक्त ज्योतिष्टोम के तीन एवं अहीन के बारह उपसद् होते हैं। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि द्वादश उपसद् की यह विधि-व्यवस्था ज्योतिष्टोम के लिए है ? या अहीन के लिए ? सूत्रकार ने जिज्ञासा को स्वयं ही सूत्रित किया—**

**( ३७४ ) अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष हेतु प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि उक्त कथन में संदेह का स्थान ही नहीं है। अहीनः = (सूत्र में प्रयुक्त) 'अहीन' पद संहिता-संदर्भ में ज्योतिष्टोम का वाचक है, प्रकरणात् = ज्योतिष्टोम का प्रकरण होने के कारण, गौणः = उक्त 'अहीन' पद गौण है (ऐसा समझना चाहिए)।

**व्याख्या—** जो यज्ञ दक्षिणा, फल आदि एवं यज्ञ के अन्य अङ्गों से रहित (हीन) नहीं है, उन्हें अहीन याग कहा जाता है। 'अहीन' पद गुण वृत्ति से ज्योतिष्टोम हेतु संहिता सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है। ज्योतिष्टोम इसी तरह का अहीन याग है, 'अहीन' पद का प्रयोग भी उसी हेतु प्रयुक्त हुआ है तथा प्रस्तुत प्रकरण भी ज्योतिष्टोम का ही है। वाक्य एवं प्रकरण दोनों से ही ज्योतिष्टोम का कथन (निर्देश) प्राप्त हो रहा है। अतएव ज्योतिष्टोम में ही द्वादश उपसद् समझना चाहिए॥ १५॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—**

**( ३७५ ) असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। इस पद का आशय, संहिता-सन्दर्भ में 'अहीन' पद के ज्योतिष्टोम का वाचक न होने से है। सूत्र में प्रयुक्त 'साह्न' पद द्वारा कथित, मुख्यस्य = प्रधान ज्योतिष्टोम का बारह उपसत्ता के साथ, असंयोगात् = सम्बन्ध का अभाव होने के कारण, तस्मात् = उस साह्न ज्योतिष्टोम के द्वारा बारह उपसदों को, अपकृष्यते = अपकर्षित (खींचना) किया जाता है। (द्वादश उपसद् इष्टियों का संयोग ज्योतिष्टोम के साथ न होकर अहीन याग के साथ है।)

**व्याख्या—** द्वादश उपसद् संज्ञा वाली इष्टियों का सम्बन्ध संहिता संदर्भ में अहीन याग के साथ प्रत्यक्ष रूप से उल्लिखित है। नञ् समास का आश्रय लेकर अहीन पद को ज्योतिष्टोम का वाचक मान लेना सर्वथा अनुचित है। वैसे भी मुख्यार्थ की संभावना के न होने पर ही गौण अर्थ की कल्पना की जाती है। अहन् (दिन) वाचक अहीन पद से अह्नः खः क्रतौ वार्तिक के अनुसार समूह अर्थ में याग अभिधेय (अभिधा वृत्ति से) होने के कारण ख प्रत्यय होकर पूर्ण होता है। इस तरह अहीन याग वह है, जिसकी पूर्णता एक से अधिक दिनों के समूह में सिद्ध होती हो। इस याग में द्वादश उपसद् इष्टियों के अनुष्ठित होने का विधान है, जबकि ज्योतिष्टोम में तीन उपसद् इष्टियों का विधान है, इसके साथ-साथ प्रस्तुत प्रकरण ज्योतिष्टोम

का न होकर अहीन याग में होना ही उचित एवं युक्तियुक्त है॥ १६॥

**कुलाय संज्ञक यज्ञों के क्रम में ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं ( युवं हि स्थः स्वः पतौ इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्, युवं हि स्थः स्वः पतौ एवं एते असृग्रमिन्दवः इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः ) के विषय में सन्देह है कि क्या उक्त दोनों प्रतिपद् ज्योतिष्टोम में हैं ? या दो यजमानों द्वारा कुलाय नामक यज्ञीय कर्म में एवं अनेकों यजमानों के द्वारा साध्य द्विरात आदि यज्ञीय कार्यों में इनका उत्कर्ष किया जाना उचित है ? सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( ३७६ ) द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाचोदनात्तस्य॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'असंयोगात्', 'तस्मात्' और 'अपकृष्यते' पदों की अनुवृत्ति है। वा = सूत्र में यह पद समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। द्वित्वबहुत्वयुक्तम् = द्वित्व एवं बहुत्व से युक्त प्रतिपद् ऋचा भी, उससे (ज्योतिष्टोम से) दूर हटा ली जाती है, तस्य = क्योंकि उसका (ज्योतिष्टोम का वह विधान जिसमें दो अथवा उससे अधिक यजमान होते हों), अचोदनात् = विधान न होने से।

**व्याख्या—** ऐसे कर्मानुष्ठान जिनका अनुष्ठान दो या दो से अधिक यजमान सामूहिक रूप से अनुष्ठित करते हैं, उन्हीं में ही उक्त प्रतिपद्-ऋचाओं की उपयोगिता बतलायी गई है। ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान का होना सुनिश्चित है, अतएव ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने पर भी ज्योतिष्टोम में उपर्युक्त ऋचाओं की उपयोगिता की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इन ऋचाओं के सम्यक् प्रयोग के लिए इनको यहाँ से दूर हटाकर 'कुलाय' नाम वाले यज्ञों में ले जाना उचित होगा; क्योंकि 'कुलाय' यज्ञों में उसके विधान के अन्तर्गत उसकी सम्पन्नता दो अथवा दो से अधिक यजमानों द्वारा हुआ करती है॥ १७॥

**दो अथवा दो से अधिक यजमान तो ज्योतिष्टोम कर्म में भी हो सकते हैं, शिष्य की इस विषय की जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्व पक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ३७७ ) पक्षेणार्थकृतस्येति चेत्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** पक्षेण = यजमान की असमर्थता की स्थिति में नित्य कर्म ज्योतिष्टोम में भी, अर्थकृतस्य = यज्ञ सम्पन्नता के प्रयोजन के लिए एक, दो अथवा इससे अधिक यजमानों का होना हो सकता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान रहने की विधि-व्यवस्था है; परन्तु यजमान यदि किन्हीं कारणों से सामर्थ्यहीन हो जाता है, तो नित्य-नियमित चलने वाले ज्योतिष्टोम कर्म में व्यवधान आ जायेगा। अतएव विकल्प रहने से वह कर्म बाधित न होगा; क्योंकि जब एक से अधिक यजमान होंगे, तब निर्धारित पूर्व यजमान के स्थान पर अन्य यजमान ज्योतिष्टोम कर्म को सम्पादित कर लेगा। यदि ऐसा कहा जाए, तो इसका समाधान अगले सूत्र में दिया जा रहा है॥ १८॥

**शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ३७८ ) न प्रकृतेरेकसंयोगात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं (उपर्युक्त कथन उचित नहीं है), प्रकृतेः = क्योंकि प्रकृतियाग (ज्योतिष्टोम) में, एकसंयोगात् = एक ही यजमान के साथ सम्बन्ध की विधि-व्यवस्था होने से (ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है)।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम अन्य सभी सोम यागों का प्रकृतिभूत याग है। सूत्र में प्रयुक्त प्रकृतेः पद का तात्पर्य इसी से है। प्रकृति याग में अनुष्ठान करने योग्य सभी धर्मों एवं अङ्गों का यथावत् उपदेश (निर्देश) हुआ करता है। उसी निर्देश के अनुसार यज्ञीय कर्मानुष्ठान सम्पादित किया जाता है; जबकि विकृति यागों में ऐसी स्थिति

नहीं है। विकृति याग में 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' इस नियम के अनुरूप कोई न कोई अंग बाधित हो सकता है; परन्तु प्रकृतियाग में किसी बाहरी अतिदेश आदि के द्वारा उसे बाधित किया जाना सम्भव नहीं। मीमांसा दर्शन के अन्तिम अध्याय में इस संदर्भ का विशद विवेचन उपलब्ध होगा। प्रकृति याग ज्योतिष्टोम को सम्पादित करने वाले यजमान का एक होना प्रत्यक्ष रूप से सुना जाता है। अतएव उसे बाधित नहीं किया जा सकता। अत: इस आधार पर दो अथवा दो से अधिक की संख्या में बहुत से यजमानों से जुड़ी हुई उपर्युक्त प्रतिपद- ऋचाओं का उत्कर्ष (प्रकृतियाग) ज्योतिष्टोम से किया जाना सर्वथा युक्ति-युक्त एवं न्यायोचित नहीं है, उक्त ऋचाओं को ज्योतिष्टोम से हटाकर वहाँ से उन्हें 'कुलाय' संज्ञक कर्म में नियोजित कर उनका उपयोग किया जाना भी शास्त्र सम्मत है, ऐसा जानना चाहिए॥ १९॥

**'जाघन्या पत्नी: संयाजयन्ति' अर्थात् पूँछ के द्वारा 'पत्नी संयाज' संज्ञक कर्म करता है। दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत 'पत्नीसंयाज' कर्म के उक्त निर्देश के अन्तर्गत शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि उपर्युक्त 'पत्नी संयाज' कर्म में 'सोमं यजति, त्वष्टारं यजति, देवानां पत्नीर्यजति, अग्निं गृहपतिं यजति' वाक्य के अनुसार आज्य हवि की चार आहुतियाँ चार देवताओं (सोम, त्वष्टा, देवपत्नियाँ एवं अग्निगृहपति) को दिये जाने का विधान है। यहाँ पर पत्नी संयाज कर्म हेतु आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के उक्त वाक्य 'जघन्या पत्नी: संयाजयन्ति' के अनुसार जाघनी हवि को उद्देश्य करके ही विवेचना की गई है। अतएव आशङ्का होती है कि यह विधान दर्शपूर्ण मास में मान्य होगा या पशुयाग में। इसका उत्कर्ष मानना उचित होगा? सूत्रकार ने शिष्य की उक्त आशङ्का को पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## (३७९) जाघनी चैकदेशत्वात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** एकदेशत्वात् = एक देश (एक ही पशु का अवयव) होने के कारण, जाघनी = दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत पढ़ी गई जाघनी हवि को, च = भी (यहाँ से दूर हटाकर पशुयाग में ले जाया जाना उचित है)।

**व्याख्या—** जाघनी का उत्कर्ष यदि पशुयाग में किया जाता है, तो उससे दर्श-पूर्णमास में पढ़े गये पत्नी संयाज-कर्म में जाघनी के अभाव में किसी प्रकार की गुण वैषम्यता की स्थिति नहीं उत्पन्न होती। आज्य हवि से युक्त पत्नीसंयाज कर्म सम्पन्न किया जा सकेगा तथा जाघनी की भी उपयोगिता सिद्ध हो जायेगी। इस तरह से जाघनी हवि की सार्थकता दर्श-पूर्णमास में सिद्ध न होकर पशुयाग में सिद्ध होती है। अतएव दर्श-पूर्णमास से जाघनी को हटाकर उसे पशुयाग में लाया जाना चाहिए॥ २०॥

**सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## (३८०) चोदना वाऽपूर्वत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है। इसका आशय यह है कि दर्शपूर्णमास से जाघनी हवि का उत्कर्ष किया जाना उचित नहीं, अपूर्वत्वात् = अपूर्व होने के कारण, चोदना = क्योंकि दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाज के अङ्ग रूप से 'जाघनी' का विधान उपलब्ध है।

**व्याख्या—** अपूर्व होने से दर्श-पूर्णमास में जाघनी हवि का निर्देश पत्नीसंयाज कर्मों के हेतु हवि द्रव्य के विधि-विधान का कथन करता है। आशय यह है कि पत्नीसंयाज कर्मों का जाघनी हवि रूपी द्रव्य दर्श-पूर्णमास को छोड़ किसी अन्य स्थल से नहीं पाया जाता है। 'जाघन्या पत्नी संयाजयन्ति' के द्वारा सोमं यजति (सोम), त्वष्टारं यजति (त्वष्टा), देवानां पत्नीर्यजति (देवपत्नियाँ), अग्निं गृहपतिं यजति (अग्निगृहपति) चारों देवताओं के साथ याग की विधि-व्यवस्था उपलब्ध है। अन्यत्र विधान न होने से उसके ही हवि द्रव्य (जाघनी) का विशिष्ट विधान दर्शपूर्णमास में मिलता है। अतएव जाघनी हवि का दर्शपूर्णमास से उत्कर्ष किया जाना सर्वथा अनुचित है॥ २१॥

**शिष्य का कथन है कि पशु का एकदेश होने के कारण जाघनी हवि द्रव्य की उपयोगिता दर्श-पूर्णमास में न**

**होकर पशुयाग में ही होना सम्भव है, अतएव पशुयाग में उसका उत्कर्ष किया जाना उचित एवं आवश्यक है। सूत्रकार ने शिष्य की इस जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ३८१ ) एकदेश इति चेत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** एकदेश: = पशु का एकदेश होने से जाघनी (पूँछ) को वहीं होना चाहिए, जहाँ पशु है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पशु की उपस्थिति पशुयाग में सम्भव है, न कि दर्शपूर्णमास में। जाघनी पशु का ही अवयव है, अत: पशु के उपलब्ध स्थान पशुयाग में ही उसका उत्कर्ष किया जाना चाहिए॥ २२॥

**आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ३८२ ) न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं। प्रकृते: = दर्श-पूर्णमास (प्रकृति याग के सम्बन्ध में) के विषय में, अशास्त्रनिष्पत्ते: = (अमुक पशु का अमुक अंग) जाघनी से सम्बन्धित इस तरह के शास्त्र द्वारा प्रमाणित निर्देश का अभाव होने से उत्कर्ष किया जाना संभव ही नहीं।

**व्याख्या—** 'जाघनी' पद से अमुक पशु के अमुक अवयव का ग्रहण किया जाना चाहिए, यदि ऐसा स्पष्ट निर्देश शास्त्रों में उपलब्ध होता, तो पशुयाग में जाघनी के उत्कर्ष की संभावना की जाती। कारण यह कि वहाँ पशु की उपस्थिति शास्त्रानुमोदित मानी जाती, जबकि ऐसा निर्देश नहीं है। अतएव ऐसी दशा में जाघनी का उत्कर्ष किया जाना न तो उचित है और न ही आवश्यक॥ २३॥

**ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत 'अथो खलु दीर्घ सोमे सन्तृद्ये धृत्यै' वाक्य से फलक विषय निर्देश मिलता है। फलकों को जोड़कर उनके द्वारा सन्तर्दन कर्म सम्पन्न होता है। शिष्य की जिज्ञासा यह है कि उक्थ्य आदि सोमयाग की संस्थाओं में सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष होता है? अथवा यह माना जाये कि सन्तर्दन कर्म ज्योतिष्टोम का ही अंग है? आचार्य ने इसे स्वयं ही सूत्रित किया—**

## ( ३८३ ) सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** सन्तर्दनम् = सन्तर्दन (दोनों फलकों) को जोड़ने की प्रक्रिया, प्रकृतौ = प्रकृतियाग (ज्योतिष्टोम) में, स्यात् = होना चाहिए (सम्मिलित है), क्रयणवत् = क्योंकि गऊ अथवा सोने आदि के द्वारा सोम खरीदे जाने के समान, अनर्थलोपात् = सन्तर्दन कर्म के धारण रूप प्रयोजन का लोप न होने के कारण (ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष किया जाना संभव नहीं)।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के साथ भी मूल वाक्य में 'दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' वाक्य के 'दीर्घसोम' पद के अवयव दीर्घ की सामञ्जस्यता बिठायी जा सकती है, जबकि 'दीर्घ' पद की सामञ्जस्यता ज्योतिष्टोम की तुलना में इसलिए सोम याग के साथ अधिक उपयुक्त है; क्योंकि ज्योतिष्टोम सोमयाग का अन्यतम विभाग है। परन्तु फिर भी इष्टियों की तुलना में ज्योतिष्टोम के साध्य होने के कारण भी इसको दीर्घ कहा जाना संभव है। अतएव 'दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' इस मूल वाक्यार्थ की सामञ्जस्यता ज्योतिष्टोम में होने के कारण अन्य विभागों (उक्थ्य आदि) में सन्तर्दन का उत्कर्ष किया जाना न तो अपेक्षित है और न ही आवश्यक॥ २४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत की गई शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—**

## ( ३८४ ) उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए प्रयुक्त है। उत्कर्ष: = दीर्घसोमयाग में वर्णित सन्तर्दन का उक्थ्य आदि विभागों में उत्कर्ष होना ही चाहिए, विशेषस्यग्रहणात् = क्योंकि सोमयाग के 'दीर्घरूप' विशेष का ग्रहण होना पाया जाता है (निर्देश उपलब्ध है)।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' में 'दीर्घ' पद का प्रयोग जो सोमपद के साथ किया गया है, वह ज्योतिष्टोम की समयावधि की अपेक्षा सोमयाग की लम्बी कालावधि में सम्पन्न होने वाली उसकी स्थिति को प्रत्यक्ष रूप से दर्शाता है। लम्बी कालावधि में सम्पन्न होने वाले सोमयाग के विभागों 'उक्थ्य' आदि में सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष किये जाने की दशा में ही 'दीर्घ' विशेषण की सामञ्जस्यता सम्भव है। सोमयाग की सात संस्थाओं में से ज्योतिष्टोम (अग्निष्टोम) भी एक है, अत: वहाँ सन्तर्दन कर्म का निर्देश मात्र ज्योतिष्टोम के लिए ही न होकर पूरे सोमयाग के लिए निर्देशित है। मात्र ज्योतिष्टोम तक ही उसे सीमित किया जाना न्याय युक्त नहीं है। याग के अन्तर्गत समयानुसार सोम कूटने का क्रम संचालित रहा करता है। अतएव ऐसी स्थिति में उक्थ्य आदि में भी सन्तर्दन का उत्कर्ष आवश्यक है॥ २५॥

**'दीर्घ सोमे सन्तद्ये' वाक्य में प्रयुक्त दीर्घता याग करने वाले यजमान को दृष्टि में रखकर स्वीकार की जाये, तो? शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में व्यक्त किया—**

**( ३८५ ) कर्त्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है, कर्त्तृत: = यज्ञ करने वाले यजमान के द्वारा दीर्घता का ज्ञान होगा (क्योंकि यजमान ही यज्ञारम्भ से समापन तक विद्यमान रहता है), विशेषस्य = दीर्घ विशेषण के, तन्निमित्तत्वात् = कर्तृनिमित्त होने के कारण।

**व्याख्या—** लम्बी समयावधि (दीर्घकालिकता) का आकलन यज्ञ की समयावधि से नहीं, प्रत्युत यागकर्त्ता यजमान की यज्ञ में विद्यमानता से स्वीकार की जानी चाहिए। कारण यह कि यजमान यज्ञकर्त्ता के रूप में यज्ञानुष्ठान के समापन तक बैठा रहता है। अत: ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष अनावश्यक है॥ २६॥

**पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ३८६ ) क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, क्रतुत: = यज्ञ से ही दीर्घसोम में दीर्घकालिकता, स्यात् = होनी चाहिए, अर्थवादानुपपत्ते: = सन्तर्दन कर्म धारणार्थ होता है। इस अर्थवाद की सिद्धि यजमान कर्त्ता की दृष्टि से दीर्घकालिकता स्वीकार की जाने पर नहीं हुआ करती।

**व्याख्या—** दीर्घकालिक समय सीमा तक संचालित होने वाले सोमयाग में सोम कूटने की प्रक्रिया के अन्तर्गत पत्थरों द्वारा जो बारम्बार आघात किया जाता है, उसे फलकों (लकड़ी के पीढ़ों) के टूट जाने की आशंका बनी रहती है। वे फलक विच्छिन्न न हों, एक दूसरे के साथ संयुक्त बने रहें, सन्तर्दन कर्म का यही प्रयोजन है। फलकों के धारणार्थ सन्तर्दन कर्म करने का विधान है। यह अर्थवाद यज्ञकर्त्ता-यजमान की दृष्टि से दीर्घकालिकता पर ही सिद्ध होगा, कर्त्ता-यजमान के लिए नहीं। अतएव सन्तर्दन का उत्कर्ष लम्बी अवधि तक चलने वाले सोमयाग के अन्य विभाग उक्थ्य आदि में ही किया जाना चाहिए न कि मात्र ज्योतिष्टोम में किया जाये॥ २७॥

**शिष्य इस पर आशङ्का करता है कि कर्त्ता यजमान के साथ दीर्घकालिकता का सम्बन्ध यदि मान्य नहीं, तो सोमयाग की अन्य संस्थाओं को उक्थ्य आदि में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य को सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में अगले सूत्र में रख रहे हैं—**

**( ३८७ ) संस्थाश्च कर्तृवद् धारणार्थाविशेषात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** धारणार्थाविशेषात् = धारण रूप प्रयोजन के ज्योतिष्टोम एवं सोमयाग की उक्थ्य आदि संस्थाओं में सोम की दृष्टि से भेद का सर्वथा अभाव होने के कारण, संस्था: = ज्योतिष्टोम की संस्था उक्थ्य आदि में, च = भी, कर्त्तृवत् = कर्त्ता के तुल्य ही दीर्घकालिकता से सम्बद्ध होना सम्भव नहीं।

**व्याख्या**— 'धृत्यै' अर्थवाद की सिद्धि सन्तर्दन का उत्कर्ष मानने अथवा न मानने दोनों ही स्थिति में नहीं हुआ करती। कारण यह कि 'दशमुष्टीर्मिमीते' वाक्य के अनुसार सोमयाग की सभी संस्थाओं में उतने ही माप तक के साम का विधान बतलाया गया है, जिससे 'धृत्यै' की दृष्टि से उनमें किसी भी प्रकार की विशिष्टता परिलक्षित नहीं होती। अतएव 'धृत्यै' अर्थवाद की सिद्धि हेतु उत्कर्ष माना जाना प्रयोजन रहित ही होगा॥ २८॥

**सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( ३८८ ) उक्थ्यादिषु वार्थस्य विद्यमानत्वात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ**— वा = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है, उक्थ्यादिषु = सोमयाग की उक्थ्य आदि संस्थाओं में ही सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष मानना उचित है, अर्थस्य = क्योंकि अर्थ (प्रयोजन) की, विद्यमानत्वात् = विद्यमानता रहने से (उसमें ही उत्कर्ष होता है)।

**व्याख्या**— 'दशमुष्टीर्मिमीते' वाक्य में निहित सोम का 'दशमुष्टि' परिमाण सोमयाग के पहले विभाग ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम के लिए वर्णित है। सोमयाग के अन्य विभाग जिनमें आहुतियों की संख्या बढ़ जाती है, उन उक्थ्य आदि में आहुतियों की संख्या को दृष्टि में रखकर उसी अनुपात में सोम मुष्टि का ग्रहण भी किया जाता है। अतएव 'धृत्यै' अर्थवाद की सिद्धि का कथन, सोममुष्टि की समानता को दृष्टि में रखकर किया जाना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। उक्थ्य आदि में सन्तर्दन का उत्कर्ष स्वीकार किये जाने का कारण यह है कि उनमें सोम के कूटने की प्रक्रिया भी लम्बी चलती है, जिससे फलकों के टूटने की आशङ्का भी अधिक रहा करती है। इसलिए उक्थ्य आदि में सन्तर्दन कर्म का उत्कर्ष पूर्णरूपेण उचित एवं शास्त्र सम्मत है॥ २९॥

**उपर्युक्त विवेचन के प्रस्तुतीकरण पर शिष्य पुनः अपनी आशङ्का के आधार पर जो विचार व्यक्त करता है, उसे सूत्रकार अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित कर रहे हैं—**

## ( ३८९ ) अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ**— स्तुतिः = उक्थ्यादि में 'धृत्यै' रूप में जो उक्थ्य आदि की प्रशंसा की गई है, अविशेषात् = सोमयाग की सभी संस्थाओं में सोम के समान परिमाण वाला होने के कारण, व्यर्था = निरर्थक है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो यह (उचित नहीं)।

**व्याख्या**— सोम याग की ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी आदि समस्त संस्थायें विशिष्टता युक्त न होकर समान हैं तथा उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि किसी में सोम कम है और किसी में अधिक। अतएव सभी में एक-सा सोम रहने से सन्तर्दन का निवेश भी समानता के आधार पर एक-सा ही होना चाहिए। अतः मात्र उक्थ्य में ही सन्तर्दन का उत्कर्ष न होकर अन्य संस्थाओं ज्योतिष्टोम में भी किया जाना चाहिए॥ ३०॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने शिष्य की आशङ्का का समाधान किया—**

## ( ३९० ) स्यादनित्यत्वात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ**— अनित्यत्वात् = दशमुष्टि सोम का परिमाण नियत न होने से, स्यात् = सोमयाग की उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष होना ही चाहिए।

**व्याख्या**— आहुति समर्पित करने हेतु तीन पोर युक्त सोम के दश मुट्ठी परिमाण की विधि-व्यवस्था निर्धारित है। सोम की एक डांडी में बने तीन पोर पास-पास भी हो सकते हैं तथा दूर-दूर भी। इसी कारण दश मुट्ठी की संख्या सुनिश्चित होने पर भी परिमाण (माप) सर्वथा अनियत ही रहता है। सोमयाग की उक्थ्य आदि समस्त संस्थाओं में उक्त अनियत परिमाण (माप) वाले सोम के अवहनन (कूटने) की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है अतः सन्तर्दन का उत्कर्ष सब में माना जाना अपेक्षित एवं आवश्यक है। इसलिए 'धृत्यै' अर्थवाद रूप स्तुति निरर्थक नहीं मानी जा सकती॥ ३१॥

**'न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्, द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्यात्' प्रथम बार के यज्ञानुष्ठान में प्रवर्ग्य कर्म नहीं करना चाहिए, द्वितीय अथवा तृतीय बार सम्पादित किये जाने वाले यज्ञानुष्ठान में प्रवर्ग्य कर्म करना चाहिए। ज्योतिष्टोम के प्रकरणान्तर्गत प्रवर्ग्य कर्म के शुभारम्भ के क्रम में कहे जाने वाले उक्त वाक्य के पाठ में शिष्य सन्देह करता है कि ज्योतिष्टोम के प्रथम अनुष्ठान में पवर्ग्य कर्म न करे? या प्रत्येक बार के अनुष्ठानों में प्रवर्ग्य कर्म नहीं करना चाहिए? शिष्य की उक्त आशङ्का को सूत्रकार ने स्वयं सूत्रित किया—**

## (३९१) सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** सङ्ख्यायुक्तम् = संख्या पद 'प्रथम' के द्वारा संयुक्त प्रवर्ग्य का प्रतिषेध, प्रकरणात् = प्रकरण से, क्रतोः = अग्निष्टोम (ज्योतिष्टोम) याग (क्रतु) मात्र का अङ्ग, स्यात् = होता है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'एष वा यज्ञानां प्रथमो' आदि वाक्य ताण्ड्य ब्राह्मण में पठित है। इस वाक्य के अनुसार ज्योतिष्टोम ही यज्ञों में प्रथम यज्ञ है, इसीलिए इसे प्रथम यज्ञ शब्द से बोधित किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह प्रथम पद पर्याय के साथ सम्बद्ध न होकर यज्ञ के साथ सम्बद्ध है, अतः प्रवर्ग्य का निषेध केवल ज्योतिष्टोम में मानना उचित होगा। कारण यह भी कि यह प्रकरण का अनुसरण अनुगमन करने वाला है॥ ३२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए किया—**

## (३९२) नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, कर्तृसंयोगात् = यज्ञकर्त्ता यजमान के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य ज्योतिष्टोम की प्रथम आवृत्ति से उक्त प्रथम पद का प्रयोग, नैमित्तिकम् = निमित्त विशेष के कारण है, न कि वह यज्ञ की संज्ञा है, लिङ्गस्य = क्योंकि लोकप्रचलन में प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि प्रतिषेध रूप लिङ्ग के, तन्निमित्तत्वात् = कर्त्ता यजमान के निमित्त होने के कारण (प्रथम बार अनुष्ठेय कर्म हेतु होता है)।

**व्याख्या—** यज्ञों के बीच प्रथम यज्ञ ज्योतिष्टोम ही है। 'प्रथमो यज्ञो यज्ञानां' वाक्य में प्रयुक्त 'प्रथम' पद ज्योतिष्टोम याग का वाचक नहीं, प्रत्युत यजमान कर्त्ता द्वारा उसके क्रमानुसार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पर्याय पर आधारित प्रथम बार अनुष्ठित किये जाने वाले ज्योतिष्टोम के हेतु 'प्रथम' पद के रूप में प्रयुक्त है। अनुष्ठान कर्त्ता उसी यजमान के द्वारा द्वितीय, तृतीय बार ज्योतिष्टोम के अनुष्ठित किये जाने की स्थिति में उपर्युक्त प्रथम पद का प्रयोग किया जा सकता है। अतः प्रथम बार अनुष्ठित किये जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ में प्रवर्ग्य इष्टि के यज्ञानुष्ठान का निषेध है, परन्तु द्वितीय, तृतीय आदि अनुष्ठान क्रम के अन्तर्गत उसका प्रयोग शास्त्र सम्मत है॥ ३३॥

**दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पठित 'तस्मात् पूषा प्रविष्ट भागोऽदन्तको हि' प्रस्तुत वाक्य का अर्थ है- इस कारण पूषा देवता के निमित्त हवि का पिसा हुआ भाग प्रस्तुत किया जाता है; क्योंकि उनके दाँत नहीं है। शिष्य यहाँ सन्देह कर रहा है कि उपर्युक्त पूषा देवता से सम्बन्धित पेषण की क्रिया की मान्यता क्या विकृति यज्ञ में भी है? या दर्शपूर्णमास प्रकृति याग में ही? सूत्रकार ने शिष्य की आशङ्का के निवारणार्थ अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (३९३) पौष्णम्पेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात् प्रकृतौ॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** पौष्णम् = पूषा देवता से सम्बन्धित हवि को, पेषणम् = पीसे जाने की क्रिया, विकृतौ = विकृतियाग में ही सम्पन्न की जाती है, प्रतीयेत = ऐसा जानना चाहिए, प्रकृतौ = क्योंकि प्रकृतियाग (दर्शपूर्णमास) में, अचोदनात् = उक्त पूषा देवता से सम्बन्धित पुरोडाश की प्रेरक अभिव्यक्ति का अभाव है।

**व्याख्या—** जिस प्रकरण में पूषा देवता से सम्बन्धित हवि का विधान शास्त्रों द्वारा विहित है, वहीं उस पुरोडाश (हवि) के पेषण कर्म की प्रक्रिया भी विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न होनी चाहिए। दर्शपूर्णमास (प्रकृतियाग) में पूषा देवता के उपस्थित न रहने से वहाँ पेषण कर्म का कोई औचित्य नहीं है। प्रकृतियाग-दर्शपूर्णमास में लक्षणावृत्ति से किसी देवता की अभिवृद्धि तभी की जा सकती है, जब अन्यत्र अभिधावृत्ति से

उक्त पूषा देवता के पाठ का अभाव हो। पूषा देवता से सम्बन्धित वाक्य विकृति याग में ही पढ़ा गया है, अतएव विकृति याग में ही उक्त पेषण कर्म का उत्कर्ष किया जाना उचित एवं युक्तिसंगत है॥ ३४॥

**शिष्य की जिज्ञासा अब यह है कि चरु, पशु, पुरोडाश सभी हवियों में पेषण कर्म होता है ? या मात्र चरु हवि में ही ? सूत्रकार ने इसे स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ३९४ ) तत्सर्वार्थमविशेषात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** तत् = प्रसङ्गरत उपर्युक्त पेषण कर्म, अविशेषात् = हवि विशेष की संज्ञा पर उक्त हवि पेषण का विधान आधारित न होने से, सर्वार्थम् = समस्त देवता वाली हवियों के निमित्त होना उचित है।

**व्याख्या—** पूषा देवता से सम्बन्धित सभी हवियों में पेषण की क्रिया सम्पन्न की जानी चाहिए। कारण यह कि 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः' वाक्य के अन्तर्गत किसी विशिष्टता युक्त हवि का निर्देश न होकर सामान्यतः पूषा से ही सम्बन्धित हवि के पेषण कर्म की विधि-व्यवस्था है॥ ३५॥

**शिष्य द्वारा स्थापित पूर्वपक्ष का निस्तारण अगले सूत्र में आचार्य ने किया—**

## ( ३९५ ) चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात्पशौ न स्यात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ निश्चयात्मक अर्थ में प्रयुक्त है। चरौ = पेषण कर्म चरु संज्ञक हवि में ही सम्पादित किया जाता है, पुरोडाशे = पुरोडाश संज्ञक हवि में, अर्थोक्तम् = अर्थ अथवा प्रयोजन के कारण पेषण की अभिव्यक्ति की गई है, अर्थविप्रतिषेधात् = प्रयोजन विरुद्धता (पेषण रूप अर्थ का प्रतिषेध-विरोध) होने के कारण उक्त पेषण कर्म, पशौ = पशु हवि में, न = नहीं, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** चरु, पुरोडाश एवं पशु यही तीन हवियाँ पूषा देवता से सम्बन्धित मानी गई हैं। माँड़ से युक्त पका हुआ चावल 'चरु' (हवि) कहलाता है। कच्चे चावल को पीसने के उपरान्त उसके द्वारा जो हवि तैयार की जाती है, उसे पुरोडाश कहते हैं। चावल का पीसा जाना नितान्त आवश्यक होता है; क्योंकि उसको पीसे बिना पुरोडाश बन ही नहीं सकता। तीसरी हवि 'पशु' है, जिससे पुरोडाश को तोड़कर आहुतियाँ दी जाती है। अतएव पशु हवि के लिए पेषण क्रिया का विधान बतलाना यथार्थता (वस्तुस्थिति) के पूर्णतः विपरीत है। अतएव पुरोडाश एवं पशु हवि में नहीं, प्रत्युत चरु हवि में ही पेषण की प्रक्रिया स्वीकार की जा सकती है॥३६॥

**उपर्युक्त कथन पर शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या चरु हवि में अर्थ का विप्रतिषेध नहीं है ? इसी जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—**

## ( ३९६ ) चरावपीति चेत् ॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** चरौ = चरु हवि में, अपि = भी, पेषण अर्थ का प्रतिषेध (विरोध) होने के कारण, न = पेषण कर्म नहीं, स्यात् = होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पशु हवि में जिस प्रकार पेषण रूपी प्रयोजन का अभाव होने से उसके अर्थविप्रतिषेध की अभिव्यक्ति की गई है, चरु हवि में भी ऐसे ही कथन की संभावना विद्यमान है। कारण यह कि माँड़ युक्त पके हुए छिले चावलों को चरु की संज्ञा दी गई है। उन्हीं चावलों को यदि पेषण प्रक्रिया के अन्तर्गत पीसकर पकाया जाता है, तो वह चरु न होकर पुरोडाश बन जायेगा। अतएव पशु हवि में अर्थप्रतिषेध के कारण जैसे पेषण प्रक्रिया की सम्भवना नहीं है, वैसे ही चरु हवि में पेषण कर्म की सम्भावना का सर्वथा अभाव है॥ ३७॥

**इस सन्देह का निवारण सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ३९७ ) न पक्तिनामत्वात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, उपर्युक्त कथन उचित नहीं, पक्तिनामत्वात् == चरु संज्ञा पाक विशेष की होने के कारण चरु के पेषण कर्म में अर्थ विप्रतिषेध का अभाव है।

**व्याख्या—** पकाये जाने की स्थिति में भी चावल का एक-एक दाना पृथक्-पृथक् छिटका हुआ ही प्रतीत होता है। इसलिए दन्तरहित पूषा देवता के निमित्त पाक विशेष की प्रक्रिया से विनिर्मित चावल की चरु हवि में मधु-मिष्टान्न आदि को डालकर उसे पीसने पर अच्छी हवि (चरु) तैयार होगी। इस प्रकार से दन्तविहीन पूषा देवता के लिए उपयुक्त हवि प्रदान किये जाने पर प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्थ विप्रतिषेध नहीं होगा। अत: पेषण कर्म पशु, पुरोडाश में मान्य न होकर चरु में ही मान्य है॥ ३८॥

**शिष्य की जिज्ञासा है कि पूषा देवता से सम्बन्धित एक ही देवता ( पूषा ) वाले हवि में पेषण कर्म सम्पन्न होता है ? या दो देवता वाले हवि में भी यह क्रिया होती है ? सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में समाधान दिया—**

## ( ३९८ ) एकस्मिन्नेकसंयोगात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** एकसंयोगात् = उपर्युक्त वाक्य (पूषा प्रपिष्टं भाग:) में एक मात्र पूषा देवता का ही संयोग मिलने के कारण, एकस्मिन् = पूषा देवता वाले चरु में ही पेषण कर्म होता है।

**व्याख्या—** 'पूषाप्रपिष्टं भागोऽदन्तको हि'- पेषण कर्म के विधान कर्त्ता प्रस्तुत वाक्य में पूषा देवता के अतिरिक्त दूसरे किसी भी देवता का नाम प्राप्त नहीं है। अतएव एक मात्र पूषा देवता वाले चरु हवि का ही पेषण किया जाना युक्ति-युक्त है, अन्य हवियों का नहीं॥ ३९॥

## ( ३९९ ) धर्मविप्रतिषेधाच्च॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** धर्मविप्रतिषेधात् = पूषा तथा अन्य देवता के धर्मों में पारस्परिक विरोध की स्थिति के कारण, च = भी, पूषा देवता से सम्बन्धित हवि (चरु) में ही पेषण कर्म किया जाना प्रामाणिक है।

**व्याख्या—** पेषण कर्म रूप धर्म इन्द्र आदि अन्य देवताओं का न होकर पूषा देवता का ही धर्म है। यदि दो देवता वाले हवि (चरु) में पेषण कर्म को स्वीकार किया जाता है, तो उसमें धर्म का विरोध होना सुनिश्चित है। दो देवताओं वाले हवि (चरु) में से दन्तरहित पूषा देवता की आहुति को पेषण की क्रिया द्वारा पीसा जाये तथा अन्य देवता की आहुति बिना पीसी रहे, तो उस चरु रूपी आहुति की पाक प्रक्रिया में विषमता उत्पन्न हो जायेगी। अतएव दो देवता वाले चरु में पूषा देवता से सम्बन्धित पेषण कर्म को सम्मिलित किया जाना सर्वथा अनुचित है॥ ४०॥

**क्या देवता के निमित्त से दो देवता वाले चरु में भी पेषण की प्रक्रिया का निवेश होना स्वीकार्य किया जाना चाहिए ? सूत्रकार ने शिष्य की इस जिज्ञासा को स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ४०० ) अपि वा सद्द्वितीये स्याद् देवतानिमित्तत्वात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है, सद्द्वितीये = प्रत्युत जिस चरु में अन्य देवता विद्यमान हैं, अपि = उसमें भी, देवता-निमित्तत्वात् = पूषा देवता के निमित्त से पेषण प्रक्रिया की विधि-व्यवस्था का विधान उपलब्ध होने से, पेषण का निवेश, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूषा देवता दन्तविहीन हैं, इसीलिए उनकी आहुति पिसी हुई दी जाती है। अन्य देवता के साथ होने पर भी पूषा की आहुति पिसी हुई ही होगी। एकाकी अथवा अन्य देवता के साथ संयुक्त पूषा देवता वाले चरु में जो पूषा देवता का भाग है, उसमें पेषण कर्म का निवेश होना ही चाहिए॥ ४१॥

**उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि हेतु सूत्रकार ने पुन: कहा—**

## ( ४०१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनात् = द्विदेवत्व चरु में पेषण कर्म का निवेश प्राप्त होना (अदन्तक) लक्षण का बोध होने से, च = भी होता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' में पूषा देवता के दन्तरहित होने के लक्षण का प्रत्यक्षत: बोध होने से पूषा देवता के निमित्त दी जाने वाली आहुति में पेषण कर्म का निवेश होना प्राप्त होता है। 'सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकाम:' इस वाक्य में प्राप्त अर्ध पेषणता (अधपीसा) का कथन पूषा देवता के निमित्त ही परिलक्षित होता है। दो देवता वाले चरु के निमित्त ही आधा पिसा हुआ चरु का कथन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पूषा देवता का चरु द्विदेवत्व वाले चरु में भी पिसा होना चाहिए॥ ४२॥

**शिष्य ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा कि उक्त वाक्य 'सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकाम:' द्वारा दिया गया दृष्टान्त सटीक नहीं; क्योंकि यह वाक्य सोम एवं पूषा से सम्बन्धित चरु में अर्धपेषणता का विधान बतलाने वाला वाक्य है। अत: इसे लिङ्ग कैसे माना जा सकता है? सूत्रकार ने बताया—**

## (४०२) वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात्, द्विचरावपेषणं भवति॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** वचनात् = उपर्युक्त अर्धपेषण के विधान कर्त्ता वाक्य में प्रयुक्त 'नेमपिष्टं' विधि वाक्य द्वारा-उक्त वाक्य दो देवता वाले चरु में अर्धपेषण का विधान करता है, सर्वपेषणम् = ऐसा मानने की स्थिति में चरु, पुरोडाश एवं पशु सोम तथा पूषा देवता से सम्बन्धित सभी हवियों में अर्धपेषण का निवेश मानना पड़ेगा, तं प्रति = कारण यह कि उन सभी हवियों के प्रति, शास्त्रवत्त्वात् = शास्त्रीय विधान की विद्यमानता होने से सबमें नेमपिष्टता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, अर्थाभावात् = किन्तु उक्त मान्यता में प्रयोजनहीनता का दोष होने से (दो देवता (सौमापौष्णं) वाले हवि में नेमपिष्टता को विधायक मानने से) उक्त विधि निष्फल है। अत: उक्त सौमापौष्णं आदि वाक्य नेमपिष्ट का विधान करने वाला न होकर, द्विचरौ = द्विदेवत्व चरु में, अपेषणम् = पूरी तरह से पेषण नहीं, प्रत्युत लिङ्ग (लक्षण), भवति = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि उक्त 'सौमापौष्णं' आदि वाक्य अर्धपेषण का विधायक न होकर फल के उद्देश्य से याग मात्र का विधान करने वाला है; क्योंकि दन्तरहित पूषा देवता से सम्बन्धित होने से उसकी प्राप्ति पहले से ही है। अत: पूर्व से ही वह विधान उपलब्ध होने के कारण उसका विधान करना संभव नहीं। इसलिए उसे अनुवाद मात्र मानकर लिङ्ग ही स्वीकार किया जाना उचित एवं युक्तियुक्त है॥ ४३॥

**द्विदेवत्व चरु की जहाँ विद्यमानता है, वहाँ आधे भाग को पीसना चाहिए तथा आधा भाग बिना पिसा हुआ रखे। अवदान की प्रक्रिया बिना पिसे हुए चरु से सम्पन्न की जायेगी। अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

## (४०३) एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है, अर्थधर्मत्वात् = प्रयोजन रूप याग का धर्म होने से, एकस्मिन् = एक मात्र पूषा देवता वाले चरु में ही पेषण का निवेश होता है। ऐन्द्राग्नवत् = इन्द्र तथा अग्नि दो देवता वाले पुरोडाश में जिस प्रकार चतुर्धाकरण का अभाव है तथा मात्र अग्निदेवता वाले हवि-पुरोडाश में ही चतुर्धाकरण किया जाता है, अचोदितत्वात् = उसी प्रकार ऐन्द्रापौष्ण द्विदेवत्व चरु में पेषण कर्म का विधान प्राप्त न होने से, उभयो: = इन्द्र एवं पूषा (द्विदेवत्व) वाले हवि रूप चरु में भी पेषण कर्म का निवेश, न = नहीं, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रसङ्गागत वाक्य में प्रयुक्त 'प्रपिष्टभाग:' पेषण कर्म को देवता का धर्म न बतलाकर याग के धर्म का कथन करता है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र तथा पूषा दो देवता वाले चरु में पेषण कर्म का निवेश न होकर एक मात्र चरु में ही उसका निवेश हुआ करता है। देवता जिस द्रव्य द्वय हवि

का सेवन करता है, वह द्रव्य उस देवता का भाग कहलाता है। पिसी हुई हवि (चरु) का देवता द्वारा सेवन न किये जाने से उसे पूषा देवता का नहीं कहा जा सकता। 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभाग:' में देवता के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति तो की गई है, परन्तु जो देवता जिस द्रव्य का सेवन करता है, वही उसका भाग माना जाता है; जबकि देवता यज्ञीय द्रव्यों का यथार्थ रूप से सेवन नहीं करते। हवि पिसी हो या अधपिसी यज्ञीय स्वरूप में अग्नि देवता के द्वारा ही यथार्थ रूप में उसका सेवन किया जाता है। पेषण कर्म की सार्थकता देवता के साथ सम्बद्ध किये जाने की स्थिति में समाप्त हो जाती है। 'ऐन्द्रापौष्णश्चरु:' में इन्द्र एवं पूषा दोनों ही देवता सम्मिलित हैं, एकाकी पूषा की उपस्थिति का अभाव होने से चरु के पेषण की यहाँ सम्भावना तक नहीं है॥ ४४॥

**शिष्य ने कहा कि पूषा के दन्तहीन होने के कारण यह सिद्ध किया जा चुका है कि पेषण कर्म पूषा देवता का धर्म होना चाहिए, समाधान के भाव से सूत्रकार ने बताया—**

**( ४०४ ) हेतुमात्रमदन्तत्वम्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** अदन्तत्वम् = दन्तरहित हैं पूषा देवता, हेतुमात्रम् = ऐसा कहना यथार्थ हेतु न होकर हेतु जैसा अर्थवाद मात्र ही है।

**व्याख्या—** 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' वाक्य में प्रयुक्त 'अदन्तक' वास्तविक हेतु न होकर हेतु जैसा प्रतीत होने वाला अर्थवाद मात्र है। 'अदन्तक' से देवताओं के शरीर रहित होने की अभिव्यक्ति की गई है। इसी मीमांसा दर्शन में ही कहा जा चुका है कि ऐसे वाक्य स्तुति स्वरूप अर्थवाद माने जाते हैं॥ ४५॥

**शिष्य ने पुन: जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा कि 'सौमापौष्णं नेमपिष्टं भवति' को भी पूर्व में लिङ्ग कहा गया है, क्या वह यथार्थ है? आचार्य ने कहा—**

**( ४०५ ) वचनं परम्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** वचनम् = 'नेमपिष्टं भवति' दो वाक्य विधि वाक्य हैं, परम् = लिङ्ग नहीं। सौमापौष्णं चरु में उक्त वाक्य नेमपिष्टता का विधायक है।

**व्याख्या—** 'सौमापौष्णं नेमपिष्टं भवति' दो देवता वाले चरु में अर्धप्रेषण की अभिव्यक्ति करता है तथा इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि चरु (हवि) का अर्धप्रेषण कर्म देवता का धर्म होता है। इस विषय में यथार्थता यह है कि सौमापौष्ण द्विदेवत्व चरु में पेषण कर्म की प्राप्ति न होने से यह वाक्य वहाँ नेमपिष्टता का विधान बतलाता है। इस प्रसङ्ग में जो वाक्य भेद का दोष बताया गया है, वह आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। वैसे भी एक वाक्य द्वारा जहाँ दो अर्थों को बतलाना अपेक्षित हुआ करता है, वहाँ उक्त वाक्यभेद दोष का अनादर करके एक वाक्य द्वारा बहुत से अर्थों का विधान स्वीकार करना पड़ता है; ताकि नेमपिष्टता के कथन की सार्थकता बनी रहे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दो देवता वाले चरु में पूर्ण पेषण नहीं होता॥ ४६॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य तृतीय: पाद:॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित कतिपय सन्देहास्पद स्थलों के सम्बन्ध में गत तीसरे पाद में विवेचनात्मक प्रस्तुति की गई। विवेचन के उसी क्रम में —'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' तैत्तिरीय संहिता ( २/५/११ ) का पाठ उपलब्ध है। इस पाठ में शिष्य आशङ्का करता है कि 'निवीतं मनुष्याणाम्' क्या अर्थवाद है ? या वाक्य विधि ? शिष्य के उक्त कथन को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ४०६ ) निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** निवीतमिति = निवीत (गले में लटकाते हुए यज्ञोपवीत को धारण करना) यह, मनुष्यधर्मः = मनुष्य का कर्त्तव्य रूप धर्म है, शब्दस्य = उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'निवीतं मनुष्याणाम्' शब्द के, तत्प्रधानत्वात् = उस मनुष्य के कर्त्तव्य-कर्म की प्रधानता से (वह कर्म का अङ्ग है)।

**व्याख्या—** 'निवीतं मनुष्याणाम्' को अर्थवाद कहने की स्थिति में तो उसकी सार्थकता ही नहीं रह जायेगी, क्योंकि यह वाक्य अपूर्व अर्थ का विधायक होने के साथ-साथ प्रयोजन युक्त रहा करता है। अर्थवाद इसलिए भी नहीं; क्योंकि जिसकी यह प्रशंसा करे, इस प्रकार का कोई अर्थ ही विहित नहीं। अतएव विधि वाक्य स्वीकार करने पर, (पुरुष को निवीत धारण करना चाहिए इसका विधान बतलाने से) यह पुरुष का अङ्ग है। तैत्तिरीय संहिता के उक्त वाक्य में मनुष्य के निवीत धारण का विधान उपलब्ध है, न कि मनुष्य का। अतः उक्त वाक्य निवीत धारण का विधान बतलाता है, जो मनुष्य का धर्म है, ऐसा समझना चाहिए॥ १ ॥

**सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अग्रिम सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ४०७ ) अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त यह पद पूर्वोक्त पक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त है। इसका आशय है कि उक्त वाक्य किसी अपूर्व अर्थ का विधान नहीं करता, अपदेशः = प्रत्युत पूर्व से ही ज्ञात अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाला वाक्य है, अर्थस्य = क्योंकि निवीत (ग्रीवा) में धारण करने रूप अर्थ की, विद्यमानत्वात् = विद्यमानता पहले से ही है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि वाक्य लोक में प्रचलित अर्थ की ही अभिव्यक्ति करता है, न कि किसी अपूर्व अर्थ की। अतएव इसे विधि वाक्य माना जाना उचित नहीं। अपने कर्मों में प्रवृत्त होने हेतु प्रायः समस्त संसारीजन निवीत पहनते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य किसी अपूर्व अर्थ का विधायक न होकर उसका अनुवाद मात्र ही है॥ २ ॥

**शिष्य ने आशङ्का व्यक्त करते हुए कहा कि निवीत धारण लोक प्रचलन में अपवाद स्वरूप है, अतः इसे अपूर्व विधि ही मानना चाहिए। शिष्य की उक्त जिज्ञासा को सूत्रकार ने विभिन्न दृष्टिकोणों से क्रम ३ से ७ तक सूत्रों में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ४०८ ) विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद निश्चयात्मक अर्थ में प्रयुक्त है, अपूर्वत्वात् = अपूर्व अर्थ का विधान करने से, विधिः = उक्त 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि वाक्य विधि वचन ही, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** लोक प्रचलन के कर्म में प्रवृत्त होते समय मनुष्य प्रायः निवीत धारण की प्रक्रिया अपनाते तो हैं, परन्तु सभी ऐसा करते हों, इसकी सुनिश्चितता का अभाव पाया जाता है, लोगों द्वारा इसका उल्लंघन किया जाना भी दृष्टिगोचर होता है। अतएव उसे विधि वाक्य स्वीकार किया जाना ही उचित प्रतीत होता है। कारण यह कि लोक प्रचलन में निवीत-धारण की कोई सुनिश्चित एवं नियमबद्ध व्यवस्था नहीं है॥ ३ ॥

**उपर्युक्त विवेचन के क्रम में शिष्य का कथन है कि निवीत धारण को पुरुष का धर्म कहना उचित नहीं, क्योंकि यह कर्म का उपकारक है, न कि पुरुष का। शिष्य के इस कथन को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ४०९ ) स प्रायात् कर्मधर्मः स्यात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** सः = वह निवीत धारण किया जाना, प्रायात् = दर्शपूर्णमास प्रकरण में होने से, कर्मधर्मः = प्रकृत कर्म का धर्म (अङ्ग), स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त ''निवीतं मनुष्याणाम्'' आदि वाक्य इस बात का विधान करता है कि निवीत धारण के अनन्तर ही मनुष्य को दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव निवीत धारण को कर्म का अङ्ग मानना ही उचित प्रतीत होता है। उसके द्वारा कर्म को उत्पन्न करके कर्म को उपकृत करने के कारण उसे उसी कर्म का अङ्ग माना जाना युक्तियुक्त है। इसका पाठ दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित भी है- दर्शपूर्णमास याग के समस्त अंगों सहित किये जाने वाले अनुष्ठान हेतु निवीत-धारण की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है। इसलिए उसे याग का ही अंग मानना चाहिए॥ ४॥

**( ४१० ) वाक्यशेषत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** वाक्यशेषत्वात् = दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य का नाम 'आध्वर्यव होने के कारण, अध्वर्यु को निवीत धारण करना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि वाक्य का पाठ दर्श-पूर्णमास याग के प्रकरण में उपलब्ध है। उसके अनुसार यदि 'आध्वर्यव' दर्शपूर्णमास की समाख्या (संज्ञा) है, तो उसका आशय यह होगा कि दर्श-पूर्णमास याग के अनुष्ठान में अध्वर्यु को निवीती होना चाहिए। अतः निवीत धारण रूप कर्म मनुष्य का धर्म है, यही स्वीकार करना युक्तियुक्त है॥ ५॥

**( ४११ ) तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रकरणे = उस दर्शपूर्णमास के प्रकरण में, यत् = अन्वाहार्य आदि जो पाठ उपलब्ध है, तत्संयुक्तम् = उसके साथ संयुक्त (निवीत धारण के विधान को उसका अङ्ग) होना चाहिए, अविप्रतिषेधात् = दर्शपूर्णमास के प्रकरण तथा समाख्या का इस प्रकार की मान्यता के साथ विरोध न होने के कारण (इसे प्रकरण में स्थित मनुष्य प्रधान कर्म का धर्म ही स्वीकार किया जाना सर्वाधिक उचित होगा।)

**व्याख्या—** निवीत धारण की प्रक्रिया प्रकरण एवं नाम (समाख्या) के आधार पर कर्म का धर्म ही प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य प्रत्यक्ष रूप से यही दर्शाता है; परन्तु विप्रतिषेध के निवारणार्थ इसका उत्कर्ष अन्यत्र न तो अपेक्षित है और न ही आवश्यक। क्योंकि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में ही अध्वर्यु द्वारा सम्पादित किया जाने वाला मानव प्रधान अन्वाहार्य पाक का पाठ उपलब्ध है। इसलिए अन्वाहार्य पाक प्रक्रिया में ही उक्त वाक्य 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि का विनियोग, अध्वर्यु साध्य होने के कारण किया जाना चाहिए। ऐसा होने से प्रकरण (दर्शपूर्णमास) एवं वाक्य (निवीतं मनुष्याणाम् आदि) दोनों ही उपकृत होंगे। अतः इसे मनुष्य प्रधान कर्म का धर्म माना जाना ही उचित एवं युक्ति सङ्गत है॥ ६॥

**( ४१२ ) तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद एकदेशीय समाधान के निवारणार्थ प्रयुक्त है। तत्प्रधाने = उस (निवीतं मनुष्याणाम्) वाक्य का सम्बन्ध अपेक्षारहित मनुष्य प्रधान कर्म में होना उचित है; क्योंकि प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम् के साथ में, तुल्यवत् = समान रूप से, प्रसंख्यानात् = कथन होने से (ऐसा होना चाहिए)। अतः इतरस्य = प्राचीनावीत एवं उपवीत से अन्य दूसरे निवीत का, तदर्थत्वात् = मनुष्य के ही प्रयोजनार्थ होने के

कारण मनुष्य प्रधान कर्म के साथ ही निवीत का सम्बन्ध होना सर्वथा उचित माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग के अन्तर्गत जो विवेचना की जा रही है, उसमें दर्श-पूर्णमास प्रकरण का पूरा वाक्य (निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्) समान रूप से पठित हैं। इन तीनों वाक्यों में जैसे उपवीत का देवकर्म में, प्राचीनावीत का पितृकर्म में सम्बन्ध स्वीकार्य है, वैसे ही निरपेक्ष मानव प्रधान कर्म के साथ निवीत का सम्बन्ध स्वीकार करना युक्ति-युक्त होगा। उस दशा में दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में उपलब्ध अन्वाहार्य पाक आदि कर्म (जो सापेक्ष है, जिसका सम्पादन अध्वर्यु द्वारा होता है) के साथ निवीत का सम्बन्ध स्वीकार न करके निरपेक्ष मनुष्य प्रधान कर्म में ही उक्त निवीत का सम्बन्ध मानना होगा। तात्पर्य यह है कि निवीत का उत्कर्ष आतिथ्य कर्म में करना होगा, जो निरपेक्ष एवं मनुष्य प्रधान कर्म है। निवीतं मनुष्याणाम् में किया गया षष्ठी विभक्ति का कथन भी निवीत के साथ प्रत्यक्षत: मनुष्य का सम्बन्ध दर्शाता है। अतएव निवीत धारण कर्म का उत्कर्ष दर्शपूर्णमास से अन्यत्र किया जाना सर्वथा उचित ही है॥ ७॥

**कई सूत्रों द्वारा स्थापित किये गये पूर्वपक्ष का समाधान देने के भाव से सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

## (४१३) अर्थवादो वा प्रकरणात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त इस पद का तात्पर्य यह है कि उक्त 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि वाक्य को मनुष्य प्रधान कर्म का विधान नहीं माना जा सकता। कारण यह कि, प्रकरणात् = प्रकरण की सामर्थ्यता से, अर्थवाद: = यह अर्थवाद ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'निवीतं मनुष्याणाम्' आदि वाक्य का विनियोग मनुष्य प्रधान कर्म में होना चाहिए, ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं। कारण यह कि उक्त वाक्य से ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं होता, जिसके द्वारा मनुष्य प्रधान कर्म के साथ उसके सम्बन्ध की सुनिश्चितता प्रमाणित होती हो। 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य का सम्बन्ध यदि मनुष्य प्रधान कर्म में मानते हैं, तो उसके (निवीत धारण कर्म के) फल के विषय में भी कोई न कोई कल्पना करनी पड़ेगी; क्योंकि विधि वाक्य का कुछ न कुछ फल तो होगा ही और दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में ऐसा निर्देशात्मक कथन सर्वथा अनुपलब्ध है। ऐसी स्थिति में जहाँ पञ्च महायज्ञ आदि के अन्तर्गत आतिथ्य सत्कार रूप मनुष्य प्रधान कर्म का कथन किया गया है, वहीं उक्त वाक्य (निवीतं मनुष्याणाम्) का उत्कर्ष करना होगा। प्रकरण की सामञ्जस्यता के कारण यह उत्कर्ष व्यवधानरहित एवं मान्य होगा। दर्श-पूर्णमास प्रकरण में उक्त वाक्य को प्रत्यक्षत: अर्थवाद के रूप में ही उपयोगी माना गया है। अतएव प्रकरण की सामर्थ्यता से उक्त वाक्य विधि वाक्य का स्तुति रूप अर्थवाद ही है॥ ८॥

## (४१४) विधिना चैकवाक्यत्वात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विधिना = विधि-वाक्य 'उपव्ययते' के साथ, वाक्यत्वात् = उपर्युक्त वाक्य 'निवीतं मनुष्याणाम्' की एक वाक्यता होने से भी 'निवीतं' आदि वाक्य विधि-वाक्य नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** प्रत्येक विधि-वाक्य अपने एक विशेष अर्थ का विधायक होने से किसी अन्य विधि-वाक्य के साथ एक-वाक्यत्व स्थापित नहीं कर सकता। दो वाक्यों की पारस्परिक एक वाक्यता मानने की स्थिति में वाक्य भेद का दोष भी आ जायेगा। प्रस्तुत संदर्भ में विचारणीय वाक्य 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य की 'उपव्ययते' के साथ एक वाक्यता होने से 'निवीतं' वाक्य को विधि वाक्य मानना असंभव है। दर्श-पूर्णमास देवयाग कर्म है, अत: इसमें निवीत धारण किया जाना योग्य नहीं है। प्राचीनावीत धारण किया जाना भी दर्श-पूर्णमास में योग्य नहीं; क्योंकि प्राचीनावीत की प्रक्रिया पितृकर्म में पूर्ण की जाती है। अतएव जनेऊ

(उपवीत) धारण की प्रक्रिया देवकर्म में ही होनी चाहिए। देवकर्म दर्श-पूर्णमास याग में निवीत आदि की अयोग्यता का कथन प्रकारान्तर से उपवीत धारण की स्तुति है, ऐसा समझना चाहिए॥ ९॥

**'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्राः' ज्योतिष्टोम प्रकरण के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता ( ६.१.१ ) के उक्त वाक्य का अर्थ है- देव एवं मनुष्यों ने दिशाओं का विभाजन किया, देवों ने पूर्व, पितरों ने दक्षिण, मनुष्यों ने पश्चिम एवं रुद्रों ने उत्तर दिशा प्राप्त की ।( शाबर भाष्य में उदीचीमसुराः पाठ उपलब्ध है।) शिष्य का संदेह है- प्रतीचीं मनुष्याः विधि -वाक्य है ? या अर्थवाद ? इसका समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ४१५ ) दिग्विभागश्च तद्वत् सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा विभागः = दिशाओं का विभाजन भी, सम्बन्धस्य = पश्चिम दिशा के साथ मनुष्य सम्बन्ध का, अर्थहेतुत्वात् =प्रयोजन स्वरूप हेतु होने के कारण, तद्वत् =उसी तरह(निवीत के समान)ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त' आदि उपर्युक्त वाक्य से पूर्व तैत्तिरीय संहिता में ही 'प्राचीनवंशं करोति' विधि वाक्य उपलब्ध है, जो प्राचीन वंश नामक मण्डप-निर्माण की विधि-व्यवस्था को बतलाता है। मण्डप के चारों ओर चार प्रवेश द्वार विनिर्मित होते हैं। यज्ञशाला के पूर्व द्वार से यजमान, ऋत्विज् एवं देवों के तुल्य विद्वज्जन प्रवेश करते हैं, पितृ-तुल्य वृद्धजनों का प्रवेश दक्षिण द्वार से, इष्ट मित्रों एवं पारिवारिक जनों का प्रवेश पश्चिम द्वार से तथा उत्तर द्वार से सामान्यजनों (कार्यकर्त्ता आदि) का प्रवेश हुआ करता है, ऐसा विधान है। शाबर भाष्य में जो उदीचीं असुराः पाठ उपलब्ध है, अर्थात् 'रुद्र' के स्थान पर 'असुर' पद का प्रयोग है, उसका आशय यह है कि उत्तर के द्वार से भृत्यगण आदि चतुर्थ श्रेणी के व्यक्तियों को प्रवेश करना चाहिए। इस तरह से यह मण्डप की बैठक-व्यवस्था एवं प्रवेश आदि का एक स्वरूप दिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त वाक्य 'प्राचीनवंशं करोति' विधि वाक्य का स्तवन करने वाला अर्थवाद है। उक्त वाक्य के साथ 'प्राचीनवंशं करोति' वाक्य की एक वाक्यता की प्रतीति भी प्रत्यक्षतः होती है॥ १०॥

**दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गत महापितृयज्ञ के प्रकरण में 'यत् परुषिदितं तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम् यत् समूलं तत् पितृणाम्' वाक्य पठित है, जिसका अर्थ है- जिन कुशों को जड़ के ऊपर से गाँठ सहित काटा जाता है, वह देवों की तथा जड़ एवं गाँठ के बीच से काटी गई कुशा मनुष्यों की और जड़ सहित काटी गई कुशा पितरों की हुआ करती है। इसी क्रम में 'पितृभ्योऽग्निष्वातेभ्योऽभिवान्याः गोर्दुग्धे मन्थम्'[ अर्थात् अग्नि कर्म के विशेष ज्ञाता पितरों के हेतु मृत वत्सा ( दूसरे बछड़े के सहारे दुही जाने वाली ) गाय के क्षीर में सत्तू मिलाकर मन्थ बनाया जाता है ] वाक्य पठित है। इसी क्रम में 'यत् पूर्णं तन्मनुष्याणाम्, उपर्यर्धोदेवानाम् अर्धः पितृणाम्, अर्ध उपमन्थति अर्धो हि पितृणाम्' विधि वाक्य का पाठ मिलता है।**

**उपर्युक्त दर्शपूर्णमास के प्रकरण में ही आग्नेय पुरोडाश पकाने के प्रसङ्ग में- 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स सदेवः, तस्मादविदहता शृतंकृत्यः सदेवत्वाय' ( पाक प्रक्रिया के क्रम में जला पुरोडाश निर्ऋति का, कच्चा रुद्र का एवं भली प्रकार से पका हुआ देवों का माना गया है ) विधि वाक्य का पाठ है। यजमान यज्ञदीक्षा के प्रसङ्ग में - घृतं देवानाम्, मस्तु पितृणाम्, निष्पक्वं मनुष्याणाम् ( देवों का घृत, पितरों का मस्तु एवं मनुष्यों का निष्पक्व है ) वाक्य भी पठित है। इस तरह से उपर्युक्त विवेचन में कुशाओं का काटा जाना, दूध से पात्र का परिपूर्ण होना, पुरोडाश की पाक क्रिया एवं घृत के प्रयोग हेतु अवसर की स्थिति, ये चार तरह की अभिव्यक्ति हुई है।**

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि जो वाक्य मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले तथा रुद्र देवता के साथ सम्बन्धित हैं, वे मनुष्यों के धर्म से सम्बन्ध रखने वाले विधि वाक्य हैं ? या कर्म के धर्म के रूप में उनका यहाँ मात्र अनुवाद किया गया है ? शिष्य के सन्देह के निवारणार्थ सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ४१६ ) परुषि दितपूर्णघृतविदग्धञ्च तद्वत्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** परुषिदित = गाँठ से विच्छिन्न कुशा, पूर्ण = दूध से परिपूर्ण पात्र, घृत = घी, विदग्धम् = जले हुए

पुरोडाश इन सभी का विधान करने वाले वाक्यों को, च = भी, तद्वत् = निवीतवत् (निवीत वाक्यों के तुल्य) अर्थवाद ही हैं, ऐसा जानना चाहिए।

**व्याख्या**— सूत्र में प्रयुक्त 'परुषिदित' आदि चारों पद पूर्णत: 'निवीत' के तुल्य ही अर्थवाचक हैं। कुशा को मूल के ऊपर की पहली गाँठ से काटे जाने का शास्त्रों में विधान है, इसी तरह से मृत्वत्सा गाय के दूध को पात्र में भरकर उसमें सत्तू घोलकर जो मन्थ तैयार करना बताया गया है, वह पिता तुल्य वृद्ध जनों के प्रयोजनार्थ है। पात्र को आधा भरे रखने पर मन्थन की प्रक्रिया में सुगमता रहती है तथा घोल बिखरता भी नहीं है और मन्थन भी भली प्रकार से हो जाता है। ऐसे ही पुरोडाश के पकाने के संदर्भ में जो यह कहा कि जला हुआ भाग निर्ऋति का तथा जो कच्चा रह जाये, वह रुद्र का होता है। इस कथन का आशय यह है- जला हुआ भाग उपयोगी नहीं रहता, अत: उसे भूमि पर डाल देना चाहिए तथा कच्चा भी उपयोगी नहीं; क्योंकि उससे पाचन संस्थान बिगड़ता है और उसके फलस्वरूप पीड़ा होगी, व्यक्ति रोयेगा। इस विषय में विधि वाक्य है- '**शृतं कृत्य: सदेवत्वाय**' अर्थात् देवता के लिए होने से उसे भली प्रकार पकाना चाहिए। 'यो विदग्ध: स नैर्ऋत:' आदि वाक्य भी उक्त '**शृतं कृत्य: सदेवत्वाय**' विधि वचन का स्तावक अर्थवाद है।

यजमान के यज्ञदीक्षा के समय स्नान के क्रम में पठित 'घृतं देवानाम्' आदि वाक्य भी 'नवनीतेनाभ्यङ्क्ते' विधि वचन का स्तावक अर्थवाद है, ऐसा समझना चाहिए। उपर्युक्त समस्त वाक्यों की एकवाक्यता स्वप्रकरणगत विधि वाक्यों के साथ होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उक्त सभी वाक्य विधि न होकर अर्थवाद ही हैं॥ ११ ॥

**शिष्य जिज्ञासा करता है कि दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित वाक्य- 'नानृतं वदेत्' अर्थात् मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए। क्या यह वाक्य प्रकरण में पठित होने के कारण दर्श-पूर्णमास की कर्मानुष्ठान की विशिष्ट प्रक्रिया के अन्तर्गत ही झूठ न बोलने का विधान करता है? या पूर्व से स्मृति आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित 'नानृतं वदेत्' का यहाँ अनुवाद किया गया है? सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

## (४१७) अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवाद: स्यात्॥१२॥

**सूत्रार्थ**— क्रतुसंयुक्तम् = दर्शपूर्णमास क्रतु विशिष्ट के साथ संयुक्त (प्रकरण में पठित) होने से यह, अकर्म = असत्य भाषण रूप कर्म का निषेध, संयोगात् = मनुष्य मात्र के साथ संयोग होने से, नित्यानुवाद: = स्मृति आदि द्वारा विहित नित्य 'नानृतं वदेत्' (असत्य भाषण निषेध) का अनुवाद, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या**— दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पढ़ा जाने वाला 'नानृतं वदेत्' वाक्य का यह आशय निकालना कि मात्र अनुष्ठान अवधि तक ही मिथ्या भाषण का निषेध है, सर्वथा अनुचित होगा। कारण यह कि 'वदेत्' क्रिया पद सामान्यत: पुरुष मात्र के प्रयास भावों का कथन करता है, दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठान के समय तक ही मिथ्या भाषण की अभिव्यक्ति नहीं करता। अतएव मानव मात्र को हर समय असत्य भाषण से बचना चाहिए, जैसा कि स्मृति पुराणादि का कथन है। 'नानृतं वदेत्' वाक्य उसी स्मृति वचन का ही अनुवाद है। उपनयन संस्कार कराते समय बालक को 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' का उपदेश कर उसे जीवनपर्यन्त सत्य बोलने की प्रेरणा दी जाती है तथा असत्य भाषण न करने की शिक्षा प्रदान की जाती है। मात्र दर्श-पूर्णमास यागानुष्ठान प्रकरण तक ही उक्त वाक्य का सम्बन्ध मानने की स्थिति में तो अनुष्ठान काल से अन्य समय में मिथ्याभाषण करने की छूट मिल जायेगी, जो अमंगलकारक होगी तथा कर्त्ता पुरुष का धर्म न होकर वह कर्म का धर्म हो जायेगा। अत: पुरुष का धर्म स्वीकार करने की दशा में ही उसका सामञ्जस्य बन पड़ेगा, इसलिए दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित 'नानृतं वदेत्' वाक्य स्मृति वचन का ही अनुवाद है, ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त पक्ष से करते हैं—**

## (४१८) विधिर्वा संयोगान्तरात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। पद का आशय है कि उक्त वाक्य स्मृति वचन का अनुवाद न होकर, विधि: = अपूर्व अर्थ का विधान करने वाला है, संयोगान्तरात् = क्योंकि स्मृति वचन 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' के साथ पुरुष का संयोग सम्बन्ध भेदयुक्त होने से यह उसका अनुवाद नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** 'सत्यं वद-धर्मं चर' एवं 'सत्यमेव वदेत्' आदि स्मृति वाक्यों के अन्तर्गत सत्यभाषिता का जो नियमपूर्वक पालन करना बतलाया है, उससे पुरुष के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। उपर्युक्त वाक्य 'नानृतं वदेत्' में असत्य भाषण के निषेध के साथ पुरुष के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। आशय यह है कि उक्त 'नानृतं वदेत्' वाक्य का पालन न करने की दशा में कर्त्ता पुरुष अपराधी नहीं होता; प्रत्युत यागानुष्ठान का जो फल उसे मिलना चाहिए, वह उससे वंचित हो जाता है। अत: इसे पुरुष का धर्म न मानकर याग का धर्म मानना चाहिए। इसलिए उपनयन संस्कारादि के समय बोले जाने वाले 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' एवं 'सत्यमेव वदेत्' आदि स्मृति वचन 'नानृतं वदेत्' आदि श्रुति वाक्यों से सर्वथा भिन्न हैं। अतएव यह सुनिश्चित होता है कि 'नानृतं वदेत्' वाक्य किसी का अनुवाद नहीं है, प्रत्युत यह अपूर्व विधि है॥ १३॥

**'आङ्गिरस: सुवर्गं लोकं यन्तोऽप्सु दीक्षात्तपसी प्रावेशयन्' अप्सु स्नाति ......। तीर्थे स्नाति तीर्थमेव समानानां भवति, तैत्तिरीय संहिता का यह वाक्य ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित है। इसी प्रकार निम्न वाक्य भी तैत्तिरीय संहिता का ही है, जो दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित है-'तस्मात् जञ्जभ्यमानात् .... प्राणापानौ वा तदजहितां प्राणो वै दक्षोऽपान: क्रतुस्तस्मात् जञ्जभ्यमानो ब्रूयात्- 'मयि दक्षक्रतू' इति, प्राणापानावेवात्मन् धत्ते। जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या यह विधि-व्यवस्था मात्र ज्योतिष्टोम व दर्शपूर्णमास की दीक्षा युक्त यजमान के लिए ही है? या इसका उत्कर्ष प्रकरण से बाहर भी मान्य है? शिष्य के कथन को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## (४१९) अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** अहीनवत् = जिस प्रकार 'द्वादशोपसदोऽहीनस्य' वाक्य ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पढ़े जाने पर भी 'अहीन' पद के सुने जाने से 'अहीन' नामक सोमयागों में बारह उपसद् संज्ञक इष्टियों की विधि-व्यवस्था स्वीकार की जाती है, पुरुष: = उसी प्रकार (इस स्थल पर 'स्नाति' एवं जञ्जभ्यमान: क्रियापद के द्वारा स्नान करने वाले एवं जम्हाई लेने वाले) पुरुष के प्रयत्न-प्रयास का सुना जाना है, तदर्थत्वात् = कारण यह कि स्नान कर्म एवं उपर्युक्त वाक्य का पढ़ा जाना पुरुष के निमित्त होने से वह मात्र पुरुष का ही धर्म है, मान्य होना चाहिए अत: उक्त दोनों कर्मों (स्नान व मंत्र पाठ) का उत्कर्ष उचित है।

**व्याख्या—** 'द्वादशोऽपसदाऽहीनस्य' वाक्य एक ही दिन में सम्पन्न होने वाले ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित है। इसी मीमांसा दर्शन के तृतीय पाद के सूत्र सं. १५ एवं १६ में इसका विशद विवेचन उपलब्ध है। 'द्वादशाऽहीनस्य' वाक्य का उत्कर्ष एक दिवसीय ज्योतिष्टोम से अहीन संज्ञक सोम यागों में किये जाने का प्रायोगिक विधान सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। वैसे ही ज्योतिष्टोम से तीर्थस्नान कर्म का एवं दर्शपूर्णमास से उक्त मन्त्र के पाठ को हटाकर उसे अहीन संज्ञक याग में स्थापित करके उसको मानव मात्र का धर्म समझ कर स्वीकार किया जाना चाहिए॥ १४॥

**उपर्युक्त पूर्व पक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## (४२०) प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त 'वा' पद का आशय यह है कि स्नान का ज्योतिष्टोम से एवं मन्त्र पाठ का दर्श-पूर्णमास के प्रकरण से उत्कर्ष करना युक्त नहीं, प्रकरणविशेषात् = क्योंकि प्रकरण के साथ सम्बन्ध विशिष्टता होने से, तद्युक्तस्य = उस प्रकरण के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा वाले यजमान का तथा दर्शपूर्णमास

याग से संयुक्त जम्हाई लेने वाले यजमान (पुरुष) का क्रमपूर्वक तीर्थ स्नान तथा मन्त्र पाठ द्वारा, द्रव्यवत् = यज्ञीय द्रव्य के समान, संस्कारः = संस्कार कर्म सम्पादित किया जाता है।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि जिस प्रकार यज्ञीय द्रव्य जौ (यव) एवं व्रीहि आदि के प्रोक्षण के द्वारा संस्कारित किया जाता है, उसी प्रकार ज्योतिष्टोम एवं दर्श-पूर्णमास के अपने-अपने प्रकरण में पठित उक्त दोनों निर्देशात्मक मन्त्र तीर्थ स्नान एवं मन्त्र पाठ के द्वारा (यज्ञकर्त्ता पुरुष) यजमान को संस्कारित करते हैं। अतएव यज्ञोपकारक होने से उक्त दोनों संस्कार को यज्ञीय कर्म का धर्म माना जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में पठित तीर्थ स्नान को भी यजमान का संस्कार ही समझना चाहिए। इसी तरह यजमान यदि दर्श-पूर्णमास अनुष्ठान काल में जम्हाई लेता है, तो यह समझा जाता है कि वह पूर्णतः चैतन्य न होकर आलसी एवं प्रमादी है, अव्यवस्थित है। तब 'मयि दक्ष क्रतु' मन्त्र बोलते हुए उसे जागरूक बनाने हेतु संस्कारित किया जाता है। इस प्रकार यह भी यज्ञोपकारक होने से यज्ञीय कर्म का धर्म है। उन कर्मों का अपने-अपने प्रकरण से उत्कर्ष किया जाना सर्वथा अनुचित है॥ १५॥

**ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पढ़ी जाने वाली बारह उपसद् इष्टियों का उत्कर्ष मान्य है, परन्तु यहाँ अमान्य क्यों? शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा कि—**

## (४२१) व्यपदेशादपकृष्येत॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** व्यपदेशात् = अहीन पद का व्यपदेश (निर्देश) स्पष्टतः होने के कारण वहाँ, अपकृष्येत् = ज्योतिष्टोम से बारह उपसद् इष्टियों का अपकर्ष अहीन नामक सोम यागों में करने का विधान वर्णित है।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता (६/२/६/) के वाक्य 'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' के अनुसार ज्योतिष्टोम की तीन उपसद् इष्टियाँ एवं सोमयागों की अहीन संज्ञक द्वादश उपसद् इष्टियों का कथन प्राप्त होता है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में उक्त वाक्य यद्यपि पढ़ा गया है, तथापि अहीन संज्ञक यागों का स्पष्ट रूप से कथन करके वह द्वादश उपसद् इष्टियों का विधान अहीन संज्ञक यागों में ही बतलाता है। जैसा कि प्रकरण में बताया गया है, उसके आधार पर तो ज्योतिष्टोम में द्वादश उपसद् इष्टियों का उपयोग होना संभव ही नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त के प्रस्तुत प्रसंग में संगत न होने के कारण तीर्थ स्नान एवं मन्त्र पाठ का निवेश प्रकरण के अन्तर्गत किया जाना सर्वथा उचित एवं सर्वमान्य है॥ १६॥

**दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता (२/६/१०) के वाक्य में यह आया है कि 'जो ब्राह्मण को लाठी-डण्डे आदि के द्वारा अवगोरण (धमकाना, मारना, पीटना) करे, उस पर सौ सोने के सिक्के दण्ड निर्धारित किया जाये तथा जो मारपीट कर उसका रक्त बहा दे, उसे सन्तान हीन होना पड़ता है। शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि ब्राह्मण को मारने-पीटने (अवगोरण) का निषेध क्या याग के पूर्ण होने तक ही किया गया है? या याग से अन्यत्र वह निषेध ब्राह्मण मात्र के लिए किया गया है? सूत्रकार ने समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (४२२) शंयौ च सर्वपरिदानात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शंयौ = तैत्तिरीय संहिता में वर्णित बृहस्पति पुत्र महाराज शंयु के उपाख्यान वाले प्रसंग में भी ब्राह्मण का अवगोरण न किये जाने का जो कथन किया गया है, उस प्रकरण से उसका उत्कर्ष किया जाना ही उचित होगा, सर्वपरिदानात् = कारण यह कि ब्राह्मण पद से सर्वत्र ब्राह्मण मात्र का ग्रहण हो जाने से याग की अवधि में एवं याग से बाहर सभी अवस्थाओं में ब्राह्मण मात्र की अभिव्यक्ति माननी चाहिए।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास प्रकरण में शंयु उपाख्यान के अन्तर्गत ब्राह्मण के अवगोरण आदि का जो निषेध किया गया है, वह दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण (याज्ञिक, पुरोहित) तक ही सीमित न होकर यज्ञ से अन्यत्र सर्वत्र ब्राह्मण मात्र के अवगोरण के प्रतिषेध का कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

अतएव यहाँ पर उत्कर्ष अनुचित न होकर युक्तियुक्त एवं औचित्य पूर्ण है॥ १७॥

**'मलवद्वाससा न सं वदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्' दर्शपूर्णमास के प्रसङ्ग में पठित तैत्तिरीय संहिता (२.५.१.५-६) के इस वाक्य का अर्थ है कि- रजस्वला स्त्री के साथ संवाद नहीं करना चाहिए, सहवास नहीं करना चाहिए तथा उसका बनाया हुआ अन्न नहीं खाना चाहिए। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि क्या उक्त निर्देश मात्र यज्ञीय अनुष्ठान तक ही आवश्यक है? या यज्ञ के बाहर भी सर्वत्र रजस्वला स्त्री से संवाद, सहवास आदि पुरुष के लिए प्रतिबन्धित मानना चाहिए? सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में इसका समाधान प्रस्तुत किया—**

## (४२३) प्रागपरोधान्मलवद्वाससः॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** प्राक् =दर्शपूर्णमास याग के शुभारम्भ से पूर्व यज्ञदीक्षा के दिन ही, मलवद्वाससः = मलिन वस्त्रों वाली (रजस्वला स्त्री) का, अपरोधात् = अवरोध होने से उसकी उपस्थिति का ही सर्वथा अभाव हो जाता है, अत: उसके साथ संवाद आदि की संभावना ही नहीं है। इसलिए दर्शपूर्णमास के प्रकरण से इसका उत्कर्ष किया जाना एवं इसको पुरुष का धर्म मानना पूर्णत: न्यायोचित है।

**व्याख्या—** यदि यज्ञ दीक्षा के ही दिन यजमान की पत्नी मलिनवसना (रजस्वला) हो जाती है, तो वैसी स्थिति में उसके लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में निर्देश उपलब्ध है- 'यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात्, तामपरुध्य यजेत' अर्थात् जिस यजमान की पत्नी (व्रत) यज्ञदीक्षा के दिन ही अस्पृश्य हो जाये, तो यजमान पत्नी के बिना अकेले ही यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करे। रजस्वला (अस्पृश्य) होने के कारण जब यजमान की पत्नी यज्ञानुष्ठान में उपस्थित ही नहीं रहेगी, तो अध्वर्यु एवं यजमान की पत्नी के मध्य होने वाला उक्त संवाद भी नहीं होगा। अतएव प्रकरण के अन्तर्गत किये जाने वाले उपर्युक्त संवाद के प्रतिषेध का कथन औचित्यहीन होने से अवश्य ही प्रकरण से उसका उत्कर्ष होना चाहिए॥ १८॥

## (४२४) अन्नप्रतिषेधाच्च॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अन्नप्रतिषेधात् = रजस्वला के (पकाए) अन्न का निषेध होने से भी, दर्शपूर्णमास प्रकरण से उसका उत्कर्ष आवश्यक है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास के प्रकरण में मलिनवासा (रजस्वला) स्त्री के साथ संवाद के निषेध के साथ-साथ अन्न का भी निषेध वर्णित है। अन्न से यह भी तात्पर्य हो सकता है कि रजस्वला स्त्री का बनाया अन्न नहीं खाना चाहिए-'नास्या अन्नमद्यात्'। तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध 'अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्, अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्, काममन्यत्' इस पाठ में प्रयुक्त अन्न का अर्थ विद्वान् आचार्यों ने अभ्यञ्जन किया है। आशय यह है कि अभ्यञ्जन ही स्त्री का अन्न है, जिससे स्त्री को अन्नवत् पुष्टि एवं मानसिक संतुष्टि की प्राप्ति होती है। अभ्यञ्जन अर्थात् सम्भोग-अभिगमन, यज्ञानुष्ठान के समय जिसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। इसलिए प्रकरण से इसका उत्कर्ष किया जाना सर्वथा उचित एवं आवश्यक है। इसे प्रकरणगत कर्म का धर्म न मान कर पुरुष मात्र का धर्म माना जाना चाहिए॥ १९॥

**'तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति। दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' तथा 'सुवाससा भवितव्यम्, रूपमेवबिभर्ति' शाबर भाष्य के उक्त वाक्यों की प्रस्तुति अथवा अभिव्यक्ति किसी यज्ञ विशेष के शुभारम्भ में नहीं की गई है। जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि इन वाक्यों के अर्थ किसी कर्म विशेष के धर्म माने जाने चाहिए? या पुरुष के धर्म माने जाने चाहिए? सूत्रकार ने कहा—**

## (४२५) अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणे = किसी विशेष यज्ञ के प्रकरण के अन्तर्गत कथित अर्थ, तु = तो, ततः = यज्ञ विशेष के उस प्रकरण में आये वाक्य के अर्थ से, विशेषात् = विशिष्टता युक्त (अलग प्रकार का) होने से,

तद्धर्मः = मनुष्य का धर्म हुआ करता है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या**— किसी विशिष्ट यज्ञ के अनुष्ठान का शुभारम्भ होने पर उस यज्ञ के प्रकरण में इससे सम्बन्धित जिन दूसरी विधियों का पाठ किया जाता है, वे सभी विधियाँ, शुभारम्भ किये गये उस मुख्य यज्ञ का अङ्ग मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त किसी यज्ञ विशेष के प्रकरण में जिन विधि-वाक्यों का पाठ नहीं होता, वे विधि-वाक्य प्रकरण में पढ़े गये शेषभूत विधियों से पृथक् (भिन्न) होने के कारण किसी प्रमुख यज्ञानुष्ठान रूपी कर्म का अंग नहीं माने जा सकते। अतएव स्वच्छ वस्त्र-धारण एवं हिरण्य-धारण किसी दूसरे विशिष्ट कर्म का अङ्ग (धर्म) न होकर शास्त्रीय मान्यता के अनुसार स्वयं प्रमुख रूप पुरुष का ही धर्म है, ऐसा समझना चाहिए॥ २०॥

**उपर्युक्त कथन पर शिष्य ने जो जिज्ञासा व्यक्त की सूत्रकार उसे अगले तीन सूत्रों में सूत्रित कर रहे हैं—**

## (४२६) अद्रव्यदेवतात्वात्तु शेषः स्यात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ**— तु = यह पद सिद्धान्त पक्ष के उक्त कथन की निवृत्ति एवं पूर्वपक्ष का द्योतक है। इस पद का आशय यह है कि वस्त्र हिरण्यादि धारण रूप कर्म पुरुष का धर्म नहीं माना जा सकता, शेषः = प्रत्युत उसे नित्य सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्र आदि कर्मों का अंग (शेष) माना जाना, स्यात् = चाहिए, अद्रव्यदेवतात्वात् = क्योंकि इस प्रसंग में द्रव्य तथा देवता के सम्बन्ध का अभाव होने से (कर्म का शेष मानना ही युक्तियुक्त है)।

**व्याख्या**— अपेक्षित द्रव्य, देवता एवं उसके फल के निर्देश (कथन) के द्वारा जो विधि सम्पादित होती है, वस्तुतः उसे ही स्वतन्त्र कर्म की मान्यता दी जा सकती है, जबकि यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऐसी स्थिति नहीं है, अतएव वस्त्र एवं सुवर्ण धारण की विधि को विद्वान् आचार्यों के मतानुसार नित्य सम्पन्न किये जाने वाले अग्निहोत्र कर्म का अंग माना जाना ही युक्तियुक्त है। हिरण्यधारण की प्रक्रिया स्वतः फल प्रदान करने वाली नहीं मानी जा सकती। अतएव वस्त्र एवं सुवर्ण धारण को पुरुष का धर्म न मानकर अग्निहोत्र कर्म का अंग मानना ही समीचीन होगा॥ २१॥

## (४२७) वेदसंयोगात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ**— वेद = यजुर्वेद (अध्वर्यु वेद) में उक्त वाक्य का, संयोगात् = उसके साथ सम्बन्ध मिलने से भी वस्त्र एवं सुवर्ण धारण आदि को कर्म का अङ्ग माना जाना उचित है।

**व्याख्या**— यजुर्वेद (अध्वर्यु वेद) में वर्णित समस्त प्रधान अथवा शेषभूत कर्मों का सम्पादनकर्त्ता अध्वर्यु ही हुआ करता है। अतएव 'हिरण्य भार्यम्' कर्म जिसका वर्णन यजुर्वेद में आया है, वह भी अध्वर्यु द्वारा ही सम्पादित किया जाता है। पुरुष मात्र का जो धर्म है, उसको सम्पन्न करने वाला अध्वर्यु कैसे हो सकता है? अतः 'हिरण्य भार्यम्' वाक्य का सम्बन्ध वेद (यजुर्वेद) के साथ होने से उसे पुरुष का धर्म न मानकर कर्म का धर्म माना जाना ही युक्ति-युक्त है॥ २२॥

## (४२८) द्रव्यसंयोगाच्च॥ २३॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, द्रव्य = हिरण्य रूप द्रव्य का उक्त वक्य के साथ, संयोगात् = सम्बन्ध होने से भी इसे कर्म का धर्म मानना ही उचित है।

**व्याख्या**— 'हिरण्य-भार्यम्' इस उपर्युक्त वाक्य में जो द्वितीया विभक्ति का संयोग प्राप्त है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि 'हिरण्यम् पद भार्यम्' पद का कर्म है, वैसे ही जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में द्वितीया विभक्ति है और वही प्रोक्षति का कर्म है तथा प्रोक्षण की प्रक्रिया द्वारा व्रीहि को सुसंस्कारित किया जाता है, जिससे वह यज्ञोपयोगी बनता है। द्रव्य के संस्कार की सार्थकता कर्म का धर्म मानने पर ही सिद्ध हो सकती है, न कि पुरुष

का धर्म मानने पर। अत: 'हिरण्यं भार्यम्' एवं 'सुवाससा भवितव्यम्' आदि वाक्यों को पुरुष का धर्म मानना सर्वथा अनुपयुक्त है, ऐसा समझना चाहिए॥ २३॥

**अब अगले सूत्र में सूत्रकार पूर्वपक्ष का निस्तारण करते हुए समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ४२९ ) स्याद्वास्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के समाधान का सूचक है, संयोगात् = प्रत्युत प्राजापत्य व्रत आदि के फल के संयोग के तुल्य, अस्य = इसका (हिरण्यादि धारण का), फलेन = फल के साथ, सम्बन्ध: = सम्बन्ध, स्यात् = हुआ करता है, तस्मात् = इसलिए इसे, ऐतिशायनः = ऐतिशायन के मतानुसार, कर्म = प्रधान कर्म (पुरुष का धर्म) मानना चाहिए।

**व्याख्या—** हिरण्य धारण कर्म को प्रधान कर्म की मान्यता प्रदान कर पूर्वपक्ष में जो यह आपत्ति प्रस्तुत की गई कि उसके फल की कल्पना करना आवश्यक है, वह आधारहीन है। कारण यह कि किसी भी कर्म का फल के साथ जब प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध परिलक्षित होता है, तब उस कर्म को प्रधान कर्म मान लिया जाता है और इसे स्वीकार करने में कोई व्यवधान भी नहीं आता। ३४/५१ का मन्त्र 'यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायु:' जो मनुष्य विशुद्ध हिरण्य धारण करता है, वह देवताओं एवं मानवों में सुनिश्चित रूप से लम्बी आयु वाला होता है, ऐसा यजुर्वेद ३४/५१ में बताया गया है, जिसके अनुसार हिरण्य धारण कर्म भी इसी प्रकार का कर्म है। आचार्य जैमिनि ने बतलाया कि जिस तरह से प्रजापति व्रत में ('नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्, नास्तं यान्तम्' अर्थात् उदय होते हुए सूर्य को एवं अस्त होते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए) अनीक्षण व्रत से सम्बन्धित वाक्य के पश्चात् पढ़े गये अर्थवाद वाक्य द्वारा उसके फल के साथ उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार 'हिरण्यं भार्यम्' में हिरण्य धारण रूप कर्म का फल के साथ सम्बन्ध, उस वाक्य के पश्चात् पढ़े गये अर्थवाद वाक्य के द्वारा ज्ञात होता है॥ २४॥

**वाक्य 'येन कर्मणा ईर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति, अभ्यातानान् जुहोति' अर्थात् जिस कर्म के द्वारा व्यक्ति सुख-समृद्धि की इच्छा करे, उस कर्म के साथ 'जय' नामक होम करना चाहिए, राष्ट्रभृत् नामक हवन करता है, अभ्यातान् नामक हवन करता है। शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि यह 'जय' संज्ञक होम कृषि आदि कर्म ( लौकिक कर्म ) एवं अग्निहोत्र ( वैदिक ) कर्म दोनों में ही होना चाहिए? अथवा इसका अनुष्ठान किसी एक में ही किया जाना उचित है? शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने स्वयं सूत्रित किया—**

**( ४३० ) शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणे = ऐसा कर्म जो किसी प्रधान के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया, वह जय आदि होम, अविशेषात् = (विशिष्टता रहित) असामान्य हेतु के अभाव के कारण, सर्वकर्मणाम् = सभी (लौकिक एवं वैदिक) कर्मों के, शेष: = अङ्ग हुआ करते हैं।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि वृक्षारोपण, कृषि आदि लौकिक कर्मों एवं श्रौत, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों सभी में अप्रकरण पठित 'जय' आदि होम को अनुष्ठेय मानकर उसे व्यवहार में लाया जाना चाहिए। विवाह संस्कार आदि जितने भी गृह्य कर्म हैं, उनका सम्पादन गार्हपत्य अग्नि में हुआ करता है तथा जितने भी श्रौत कर्म हैं, उन सबको आहवनीय अग्नि में सम्पादित किया जाता है। विवाह संस्कार आदि लौकिक कर्मों में 'जय' नामक होमों का विनियोग मिलता है, जो यह दर्शाता है कि जय आदि की संज्ञा वाला होम लौकिक एवं वैदिक सभी प्रकार के कर्मों का शेष है॥ २५॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( ४३१ ) होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है, होमा: = (जय, होम, राष्ट्रभृत् होम एवं अभ्यातान होम) ये सभी होम हैं अतएव, आहवनीयसंयोगात् = आहवनीय अग्नि के साथ उक्त होमों का संयोग (सम्बन्ध) होने से, व्यवतिष्ठेरन् = मात्र वैदिक कर्मों के साथ ही जय संज्ञक आदि होमों की व्यवस्था उचित एवं युक्तियुक्त है।

**व्याख्या—** 'यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्ट: प्रीतो भवति' अर्थात् आहवनीय अग्नि में कर्त्ता द्वारा जो होमा जाता है, उसके द्वारा कर्त्ता (यजमान) को उसका प्रिय (मनोवांछित) अभीष्ट मिलता है। यहाँ इस वाक्य में जुहोति क्रिया का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है, जिससे आहवनीय अग्नि के साथ श्रौत कर्मों का संयोग सिद्ध होता है। अत: यह प्रमाणित होता है कि जय आदि संज्ञक होम उन्हीं कर्मों के अङ्ग हुआ करते हैं, जिन कर्मों का सम्पादन आहवनीय अग्नि में किया जाता है। विवाह संस्कार, कृषि, वृक्षारोपण आदि लौकिक कर्मों का सम्बन्ध आहवनीय अग्नि के साथ न होने के कारण जय संज्ञक आदि होमों को लौकिक कर्मों का अङ्ग नहीं माना जा सकता। शास्त्रों की यही व्यवस्था एवं सिद्धान्त है। अत: जय आदि होम का सम्बन्ध वैदिक कर्मों के साथ ही व्यवस्थित है॥ २६॥

**उपर्युक्त विवेचन को बल प्रदान करने के लिए आचार्य ने एक अन्य हेतु प्रस्तुत किया है—**

**( ४३२ ) शेषश्च समाख्यानात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** समाख्यानात् = आध्वर्यव संज्ञक वेद में जप आदि होमों के पढ़े जाने से, च = भी यह प्रत्यक्ष है कि जय आदि होम वैदिक कर्मों के, शेष: = अङ्ग हैं।

**व्याख्या—** यजुर्वेद का एक नाम आध्वर्यव भी है तथा इसमें विहित समस्त कर्मों को अध्वर्यु सम्पन्न करता है, जिसमें जय संज्ञक होमों का विधान भी सम्मिलित है। अतएव जय संज्ञक होमों को लौकिक (कृषि आदि) कर्मों का अङ्ग नहीं माना जा सकता; क्योंकि इनका सम्पादन अध्वर्यु द्वारा न होकर कृषक द्वारा किया जाता है और इन लौकिक कर्मों का सम्बन्ध भी न तो आहवनीय अग्नि से है और न ही गार्हपत्य अग्नि से । अत: शास्त्रीय विधान के अनुसार जयादि होम वैदिक कर्मों के अङ्ग हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ २७॥

**'वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' तैत्तिरीय संहिता ( २.३.१२.१ ) की इस वारुणी इष्टि का अर्थ है- वरुण देव उसे पकड़ लेते हैं, जो घोड़ों को दान में प्राप्त करता है, प्राप्त कर्त्ता जितने घोड़ों को दान रूप में प्राप्त करे, वरुण देव वाले उतने चार कपालों में तैयार किये गये हवि के द्वारा यज्ञ करे। इस विषय में शिष्य की जो जिज्ञासा है, उसे आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ४३३ ) दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोष: स्यात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** दोषात् =तैत्तिरीय संहिता के उक्त वाक्य से अश्व के प्रति ग्रहण में दोष श्रवण होने के कारण तो, लौकिके = सांसारिक अश्व प्रतिग्रहण में, इष्टि: = उपर्युक्त वारुणी इष्टि का प्रयोग, स्यात् = होना चाहिए, हि = कारण यह कि, वैदिके = वैदिक व्यवस्था के अनुरूप अश्व के प्रतिग्रहण में, शास्त्रात् = यज्ञों में दान में मिलने वाली अश्वों की दक्षिणा का प्रमाण शास्त्र वाक्य के रूप में होने से, तु = तो, दोष: = दोष, स्यात् = होना ही, न = नहीं चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत गाय एवं अश्व की दक्षिणा दिये जाने की शास्त्रीय विधि-व्यवस्था है। वैदिक विधान वाले अश्व प्रतिग्रहण कर्म में यदि दोष की स्थिति होती, तो अश्व की दक्षिणा दिये जाने की विधि -व्यवस्था का सर्वथा अभाव होता; परन्तु अभाव नहीं है, अतएव दोष नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत लौकिक अश्व के प्रतिग्रहण में दोष की उपलब्धता है, जिसके कारण तैत्तिरीय संहिता (२/३/१२/१) वरुणो वा एतं आदि वाक्य का विधान दोष के निवारणार्थ बनाया गया है। अश्व दक्षिणा का दान लेने वाला यदि

उक्त वारुणी इष्टि से दोष का परिहार नहीं करता है, तो उसे जलोदर रोग होने की सम्भावना रहा करती है। वैदिक अश्व के प्रतिग्रहण में इस दोष का अवकाश ही नहीं है, इसलिए वारुणी इष्टि का प्रयोग वैदिक अश्व प्रतिग्रहण में नहीं किया जाता॥ २८॥

**सूत्रकार अगले सूत्र में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ४३४ ) अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, अर्थवाद = वह अर्थवाद है, अनुपपातात् = क्योंकि अश्व के प्रतिग्रहण से जलोदर रोग न होने के कारण (वह दोष कथन मात्र अर्थवाद ही है), तस्मात् = इसलिए, यज्ञे = ज्योतिष्टोम आदि यज्ञीय कर्म में होने वाले अश्व प्रतिग्रहण में उक्त वारुणी इष्टि के प्रयोग की, प्रतीयेत = प्रतीति हुआ करती है।

**व्याख्या—** 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' आदि वाक्य का कथन श्रौत याग के प्रसङ्ग के अन्तर्गत होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उक्त वारुणी इष्टि की अनुष्ठान प्रक्रिया श्रौत कर्म का ही अंग (शेष) है। लौकिक अश्व प्रतिग्रहण में जलोदर होने का कथन उपमा मूलक अर्थवाद मात्र है, इसे पूर्णत: सत्य नहीं माना जा सकता। इसका आशय यह है कि वारुणी इष्टि का अनुष्ठान उस पीड़ा से मुक्ति दिलाने में सहायक होगा। इसका तात्पर्य यह है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ अश्व की दक्षिणा से युक्त वैदिक यज्ञ है तथा उसी पूर्ति के लिए वारुणी इष्टि का विधान अश्व प्रतिग्रहण के हेतु किया गया है। अत: वारुणी इष्टि का प्रयोग लौकिक अश्व प्रतिग्रह में न करके वैदिक अश्व प्रतिग्रहण में करना चाहिए॥ २९॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा अब यहाँ यह है कि उस वारुणी इष्टि का अनुष्ठान किसे करना चाहिए? अश्वदान कर्त्ता यजमान को? अथवा दान लेने वाले प्रतिग्रहीता को यदि प्रतिग्रहीता करे, तो? आचार्य ने शिष्य के कथन को पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

**( ४३५ ) अचोदितं च कर्मभेदात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्मभेदात् = दान देने वाला एवं दान लेने वाला इस तरह से कर्मभेद होने से भी ऐसा ज्ञात होता है कि आदाता ऋत्विज् को ही इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए, अचोदितम् = क्योंकि यह कहीं प्रकाशित नहीं है कि अश्व प्रदाता करे।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त वाक्य (वारुणी इष्टि) में दो क्रिया पद प्रयुक्त हैं- १. प्रतिगृह्णीयात् एवं २. निर्वपेत्। इन दोनों क्रिया पदों को व्यावहारिक स्वरूप देने वाला कर्त्ता एकाकी है। इस प्रकार यह दृष्टिगोचर होता है कि अश्व प्रतिग्रहीता को ही याग करना उचित है। वही ऋत्विज् है, उसी को इष्टि की अनुष्ठान प्रक्रिया का सम्पादन करना चाहिए। वाक्य से यही स्पष्ट होता है; क्योंकि दान देना अलग है और दान लेना अलग। स्पष्टत: ऐसा कथन कहीं उपलब्ध नहीं कि दानदाता इष्टि का अनुष्ठान करे। अतएव प्रतिग्रहीता ही इष्टि का अनुष्ठान करे॥ ३०॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

**( ४३६ ) सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** सा = वह वारुणी इष्टि एवं उसका अनुष्ठान, लिङ्गात् = लिङ्ग स्वरूप प्रमाण के प्राप्त होने से, आर्त्विजे = अश्व का दान देने वाले यजमान को करना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** श्रुति के रूप में ऐसा कथन किसी भी पक्ष के लिए उपलब्ध नहीं, कि उपर्युक्त वारुणी इष्टि का अनुष्ठान अश्व का दाता यजमान करे या अदाता (प्रतिग्रहीता) ऋत्विज्। पिछले सूत्र में ऋत्विज् (प्रतिग्रहीता) के लिए उक्त वारुणी इष्टि के अनुष्ठान का जो कथन किया गया, वह मात्र वाक्य पर आधरित है; किन्तु लिङ्ग

प्रमाण के द्वारा यह ज्ञात होता है कि उक्त वारुणी इष्टि का अनुष्ठान प्रतिग्रहीता को नहीं, प्रत्युत अश्व प्रदाता यजमान को करना चाहिए। कारण यह कि वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग बलवान् हुआ करता है। अतएव यजमान ही उसको अनुष्ठित करे॥ ३१॥

**'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः' अर्थात् सोमपान करके वमन करने वाले व्यक्ति के लिए सोम तथा इन्द्र देवता वाले श्यामाक चरु का याग करे। मैत्रायणी संहिता के इस वाक्य के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है कि उक्त श्यामाक चरु के इष्टि का विधान लौकिक सोमपान वमन में है? अथवा वैदिक सोमपान के वमन में? इसी को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ४३७ ) पानव्यापच्च तद्वत्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** तद्वत् = अश्वप्रतिग्रहण में वारुणी इष्टि के अनुष्ठान के जैसे ही, पानव्यापत् = सोमपान के वमन रूप दोष को, च = भी समझना चाहिए।

**व्याख्या—** जैसी शास्त्र की विधि-व्यवस्था है, उसके अनुसार सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग वैदिक सोमपान के वमन में नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि उसकी वहाँ कोई उपयोगिता नहीं है। यज्ञ में बचे हुए सोम के पान का विधान ज्योतिष्टोम या उसके विकृति यज्ञों में पाया जाता है। सोम का पान कर लेने के पश्चात् यदि वमन हो जाता है, तो उससे यज्ञ की परिपूर्णता में कोई दोष उपस्थित नहीं होता, कारण यह कि उस यज्ञ की पूर्णता तो सोमपान के विधान के साथ हो चुकी होती है, परन्तु लौकिक सोमपान के पश्चात् यदि वमन की स्थिति आती है, तो वहाँ सोम एवं इन्द्र देवता वाले श्यामाक चरु के द्वारा सम्पन्न होने वाली उक्त सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग किया जाना आवश्यक हो जाता है। वात, पित्त आदि धातुओं में वमन होने से जो विषमता उत्पन्न हो जाती है, उसे सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग समानता की स्थिति में ले आता है। अतः सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग वैदिक सोमपान के वमन में न करके लौकिक सोमपान के वमन में किया जाना चाहिए॥ ३२॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४३८ ) दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। दोषात् = दोषाभिव्यक्ति होने के कारण, वैदिके = वैदिक सोमपान के वमन में इष्टि का प्रयोग, स्यात् = हुआ करता है, लौकिके = लौकिक सोमपान के वमन में, अर्थात् = प्रयोजन विशेष होने से, हि = निश्चय ही, दोषः = दोष, न = नहीं, स्यात् = होता।

**व्याख्या—** सांसारिक जीवन में जब शरीर के अन्दर पित्त आदि धातुओं में विकृति (विषमता) उत्पन्न हो जाती है, तो उसे मिटाने हेतु मैनफल, गिलोय आदि औषधियों को सोम के रूप में पान कराया जाता है। उस सोमपान के फलस्वरूप विकार बाहर निकल जाते हैं तथा धातु वैषम्यता भी मिट जाती है और रोगी व्यक्ति अपने को शान्त एवं सुखी अनुभव करता है; परन्तु वैदिक सोमपान की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। बताया है-'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति' अर्थात् सुनिश्चित ही यह इन्द्रियों में रहने वाले सामर्थ्य से रहित हो जाता है, जो सोमपान करके वमन करता है। श्यामाक (साँवाँ) चरु से हवन किये जाने पर व्यक्ति की मनोदशा शान्त हो जाती है तथा चित्त में प्रसन्नता होती है। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग मात्र वैदिक सोमपान के लिए होना चाहिए॥ ३३॥

**गत विवेचन में यह सुनिश्चित हुआ कि वैदिक सोमपान में ही सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग होता है। शिष्य की आशङ्का यहाँ यह है कि यह प्रयोग किसके लिए है? ऋत्विक् अथवा यजमान सबके लिए या मात्र एक के लिए ही? शिष्य के सुझाव को सूत्रकार ने अगले सूत्र को पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ४३९ ) तत्सर्वत्राविशेषात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = ऋत्विक् या यजमान में से किसी का भी निर्देश विशेष न होने से, सर्वत्र = सबके सोम वमन में, तत् = उस सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग होना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञीय प्रक्रिया के अन्तर्गत सभी सोमपान की विधि सम्पन्न करते हैं, चाहे वह ऋत्विक् हो अथवा यजमान। अतएव सोम का वमन ऋत्विक् को भी हो सकता है तथा यजमान को भी। इस तरह का स्पष्ट निर्देश भी कहीं नहीं प्राप्त है कि ऋत्विक् के सोम वमन में ही उक्त इष्टि का प्रयोग होगा या यजमान के सोम वमन में ही सौमेन्द्र इष्टि को अनुष्ठित किया जायेगा। इसलिए यही मानना चाहिए कि ऋत्विक् एवं यजमान सभी के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग उचित है॥ ३४॥

**अब इसका समाधान सूत्रकार सिद्धान्त रूप अगले दो सूत्रों में दे रहे हैं—**

## ( ४४० ) स्वामिनो वा तदर्थत्वात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त वा पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है। इस पद का तात्पर्य यह है कि उक्त सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग सभी के लिए नहीं है, स्वामिन: = यज्ञीय अनुष्ठानकर्त्ता (स्वामी) यजमान के लिए ही, तदर्थत्वात् = सभी प्रधान कर्म (समस्त प्रयोजन) होने से, उक्त सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग यजमान के सोमवमन में होना चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का कर्त्ता एवं उसके फल का भोक्ता यजमान है, वही उसका स्वामी है। यज्ञ के अन्तर्गत जितने भी प्रधान कर्म सम्पादित किये जाते हैं, वे सब स्वामी-यजमान द्वारा ही क्रियान्वित होते हैं। अध्वर्यु, होता आदि के सोम वमन से यज्ञीय पूर्णता में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि प्रधान कर्म में उनकी कोई भागीदारी ही नहीं रहती, परन्तु यज्ञकर्त्ता (स्वामी) यजमान यदि सोमपान के अनन्तर वमन कर देता है, तो यज्ञ की पूर्णता में बाधा आ जाती है, जिसके कारण उसे यज्ञफल नहीं मिल पाता। उसी बाधा की निवृत्ति के लिए सौमेन्द्र इष्टि का विधान मात्र यजमान-स्वामी के लिए बनाया गया है॥ ३५॥

## ( ४४१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लक्षणों के दृष्टिगोचर होने से भी यह सिद्ध होता है कि यजमान के सोमवमन में ही सौमेन्द्र इष्टि का विधान मान्य है।

**व्याख्या—** 'सोमपीथेन वा एष व्यृध्यते, य: सोमं वमति' अर्थात् सोमपान से प्राप्त संस्कारों से वह रहित हो जाता है, जो सोम का वमन करता है। मैत्रायणी संहिता का उक्त वाक्य इस बात का प्रमाण है कि मात्र यजमान के सोमवमन में ही सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग होना चाहिए। ज्योतिष्टोम यज्ञ में यज्ञावशेष सोमपान के द्वारा यजमान संस्कारवान् बनता है, यजमान के कर्म के अनुसार उसके भीतर गुणों को स्थापित करता है। ऋत्विकों में उस यज्ञशेष सोमपान से न तो किसी प्रकार के गुणों, संस्कारों के आधान की संभावना है और न तो वमन होने पर उनसे वंचित होने की। वे तो अपना पारिश्रमिक दक्षिणा के रूप में प्राप्त कर ही लेते हैं। अतएव मात्र यजमान के सोम वमन में ही सौमेन्द्र इष्टि का अनुष्ठान पूर्णतया मान्य है॥ ३६॥

**'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्ये' अर्थात् जो अग्नि देवता वाला आठ कपालों वाला पुरोडाश है, उसका प्रयोग अमावस्या एवं पूर्णमासी दोनों में अनवरत हुआ करता है, उसमें बाधा नहीं आने देना चाहिए; क्योंकि यह स्वर्गलोक की विजय के हेतु है। तैत्तिरीय संहिता के उक्त वाक्य में शिष्य का संदेह यह है कि वह हवि ( पुरोडाश ) क्या पूरा का पूरा प्रयोग में ले लेना चाहिए ? या कुछ बचा लेना चाहिए ? शिष्य की भावना को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( ४४२ ) सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** हविष: = वह आग्नेय पुरोडाश, तदर्थत्वात् = संकल्पित देवता के प्रयोजनार्थ होने के कारण,

सर्वप्रदानम् = सम्पूर्ण पुरोडाश रूप हवि उसी देवता के लिए समर्पित कर देनी चाहिए।

**व्याख्या**— जो पुरोडाश अग्नि देवता के निमित्त संकल्पित भाव से आठ कपालों में सुसंस्कृत करके बनाया जाता है, वह विशुद्धत: अग्नि देवता के लिए ही होता है। अत: वह उस सम्पूर्ण पुरोडाश को अग्नि देवता के लिए पूर्ण मनोयोग से समर्पित कर देना चाहिए, उसमें से शेष नहीं रखना चाहिए॥ ३७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

## ( ४४३ ) निरवदानात्तु शेष: स्यात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ**— तु = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है, जिसका आशय है कि सम्पूर्ण पुरोडाश का हवन नहीं करना चाहिए, निरवदानात् = स्विष्टकृत् आदि के लिए हवन का विधान होने से, शेष: = उस पुरोडाश रूप हवि का शेष स्वयं ही, स्यात् = रहा करता है।

**व्याख्या**— सूत्र में प्रयुक्त 'निरवदानात्' पद का भाव यह है कि सम्पूर्ण हवि में से एक भाग निकालकर उतने ही आग्रेय पुरोडाश का हवन करना चाहिए। ऐसा करने से उस पुरोडाश का कुछ हिस्सा स्वत: ही बच जाता है। इसकी सिद्धि सूत्र स्वयं करता है। अमावस्या एवं पौर्णमासी दोनों पर्वों में प्राप्त विधान के अनुसार भी इसकी सिद्धि होती है- 'द्विर्हविषोऽवद्यति' अर्थात् हवि के दो भाग करता है। दूसरा वाक्य है- 'द्व्यवदानं जुहोति' अर्थात् दो टुकड़ों से हवन करता है। उस आग्नेय पुरोडाश में से कितना भाग काटना है-उसके लिए भी निर्देश है- 'अंगुष्ठपर्वमात्रमवद्यति' अर्थात् अँगूठे के पोर के बराबर भाग को काटता है। अग्नि में होम के निमित्त दो टुकड़ों को प्रयोग में लाना चाहिए, जो अँगुष्ठ-पोर के परिमाप के हों। शेष पुरोडाश अन्य स्विष्टकृत् आदि के लिए बचाये रखना चाहिए। अत: सम्पूर्ण आग्रेय पुरोडाश का हवन करना उचित नहीं॥ ३८॥

**जिज्ञासु शिष्य ने उक्त कथन पर अपने विचार रखते हुए कहा कि उस शेष भाग को भी यज्ञाग्नि में हवन कर देना चाहिए। इन भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ४४४ ) उपायो वा तदर्थत्वात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ**— वा = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण पुरोडाश हवनार्थ है, उसे बचाना नहीं चाहिए। उपाय: = पुरोडाश के दो भाग करना उसे सुसंस्कृत किये जाने का उपाय है, तदर्थत्वात् = क्योंकि वह पुरोडाश हवन के प्रयोजनार्थ होने से (उसका हवन किया जाना ही उचित है, न कि उसे बचाना)।

**व्याख्या**— अष्टकपालों में तैयार किया जाने वाला वह आग्रेय पुरोडाश मात्र हवन के प्रयोजनार्थ होता है। उसे द्व्यवदान (दो भाग करने का) उद्देश्य यह है कि एक बार की आहुति में कितनी हवि समर्पित की जानी चाहिए। इस प्रक्रिया का प्रयोग द्रव्य (हवि) को संस्कारित करने हेतु किया जाता है, पुरोडाश को इस विधान से आहुति दिये जाने योग्य बनाया जाता है। यह मात्र उपाय है, ऐसा समझना चाहिए। अतएव उक्त पुरोडाश के कुछ भाग को बचाना उचित नहीं, सम्पूर्ण हवि का हवन कर देना चाहिए॥ ३९॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य ने इसका समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४४५ ) कृतत्वात्तु कर्मण: सकृत्स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ**— कर्मण: कृतत्वात् = 'द्व्यवदानं जुहोति' की विधि-व्यवस्था के अनुसार हवि के दो भागों से वाक्य विहित यज्ञीय कर्म की सम्पूर्णता के कारण, तु = तो उक्त मान्यता खण्डित हो जाती है (जिसमें कहा गया कि सम्पूर्ण हवि का हवन कर देना चाहिए), सकृत्स्यात् = कारण यह कि यज्ञीय कर्म का सम्पादन एक ही बार में हुआ करता है, ऐसी व्यवस्था नहीं है कि बचे हुए पुरोडाश से पुन: हवन किया

जाये, द्रव्यस्य = क्योंकि पुरोडाश रूप द्रव्य के, गुणभूतत्वात् = यज्ञीय (प्रधान) कर्म की तुलना में गौण होने से (उक्त कथन सर्वथा अयुक्त है)।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्म का सम्पादन आवश्यकता के अनुरूप एक सीमित हवि रूप द्रव्य से हो जाने के बाद पुनः उस यज्ञीय कर्म को सम्पादित नहीं किया जाता। अंगुष्ठ-पोर वाले दो भागों से होम विधान का जो कथन किया गया है, उसकी हवन प्रक्रिया का विनियोग जहाँ पर होता है, वहीं उसकी पूर्ति भी हो जाया करती है। अतएव जो पुरोडाश शेष बच जाता है, उसका उपयोग अगली यज्ञीय प्रक्रिया में हो जाता है; क्योंकि यज्ञ के प्रयोजनार्थ ही पुरोडाश बनता है। परन्तु यह मान्यता कि सम्पूर्ण पुरोडाश का हवन एक बार में कर दिया जाये, सर्वथा अनुचित है। 'द्वयवदानं जुहोति' विशिष्टता युक्त वाक्य के द्वारा सामान्य वाक्य 'आग्नेयो हविः' प्रभावहीन हो जाता है और उससे आग्नेय पद की उक्त मान्यता (सम्पूर्ण पुरोडाश का हवन एक ही बार में कर देना चाहिए) भी खण्डित हो जाती है। अतः पुरोडाश का शेष रहना शास्त्र सम्मत है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४०॥

### ( ४४६ ) शेषदर्शनाच्च॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शेषदर्शनात् = बचे हुए पुरोडाश के प्रत्यक्ष दर्शन से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** 'शेषाद् इडामवद्यति' (शेष बचे पुरोडाश से इडा का अवदान करता है) एवं 'शेषात् स्विष्टकृतमवद्यति' (शेष बचे हुए पुरोडाश से स्विष्टकृत् का अवदान करता है) वाक्यों द्वारा आग्नेय पुरोडाश की मुख्य आहुति दिये जाने के पश्चात् शेष बचे हुए हवि द्वारा इडा एवं स्विष्टकृत् के अवदान का शास्त्रीय विधान दृष्टिगोचर होता है। अतएव उक्त वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण पुरोडाश का हवन किया जाना शास्त्र सम्मत नहीं है। दर्शपूर्णमास यज्ञों में बताये गये विधान के अनुसार स्विष्टकृत् आहुति यज्ञशेष हवि की दी जाती है तथा इडा पात्र में हवि को संस्कारित करके यज्ञानुष्ठान की दीक्षा ग्रहण करने वाला यजमान उसे ग्रहण करता है॥ ४१॥

**शिष्य का प्रश्न यहाँ यह है कि क्या उक्त इडा एवं स्विष्टकृत् आदि कर्म प्रत्येक हवि द्वारा सम्पन्न कर लेना चाहिए? या एक विशेष हवि द्वारा किया जाना चाहिए? आचार्य पूर्वपक्ष को अगले दो सूत्रों में सूत्रित करते हैं—**

### ( ४४७ ) अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** शेषस्य = शेष बचे हुए पुरोडाश के, गुणभूतत्वात् = गौण होने से, अप्रयोजकत्वात् = पुरोडाशों की सिद्धि में स्विष्टकृत् आदि कर्मों के प्रयोजक रहित होने के कारण शेष कार्यों का सम्पादन, एकस्मात् = किसी भी एक पुरोडाश के द्वारा, क्रियेरन् = कर लिया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** अष्ट-कपालों में जो पुरोडाश बनाया जाता है, उसका प्रयोजन एक मात्र प्रधान याग को सम्पन्न करना है, जो हवि शेष बच जाती है, उसे गौण माना जाता है। उसी शेष बची हुई हवि से स्विष्टकृत् आदि कर्म सम्पादित कर लिए जाते हैं, शेष कार्यों के सम्पादनार्थ अन्य पुरोडाश का निर्माण नहीं हुआ करता। कारण यह कि प्रधान कर्म के सम्पादन हेतु ही पुरोडाश बनाया जाता है। शेष बचा हुआ पुरोडाश होमीय न होने से किसी एक हवि के द्वारा ही सभी शेष कार्यों का सम्पादन किया जा सकता है॥ ४२॥

### ( ४४८ ) संस्कृतत्वाच्च॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संस्कृतत्वात् = शेष कार्यों का सम्पादन किसी एक हवि द्वारा होने की स्थिति में प्रधान कर्म के संस्कारित होने से भी शेष कार्यों का सम्पादन समस्त पुरोडाशों से किया जाना आवश्यक है।

**व्याख्या—** प्रधान कर्म (याग) के सम्पादनार्थ अष्ट-कपालों में तैयार किया गया पुरोडाश जब यज्ञ की पूर्णता के पश्चात् शेष बच जाता है, तो वह अहोमीय हवि स्विष्टकृत् आहुति आदि के रूप में शेष कार्यों के अन्तर्गत उपयोग में आ जाती है। उपयोग की यही प्रक्रिया शेष पुरोडाश रूप हवि का संस्कार कहलाती है। उस शेष

बचे हुए पुरोडाश की समुचित उपयोगिता होने से प्रधान कर्म भी सुसंस्कृत हो जाया करता है। संस्कार की यह प्रक्रिया किसी भी एक हवि के उपयोग से पूर्ण हो जाती है। अत: सम्पूर्ण पुरोडाश रूप हवियों के द्वारा स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों का सम्पादन किया जाना न तो उचित है और न ही आवश्यक॥ ४३॥

**सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

## ( ४४९ ) सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है। कारणाविशेषात् = एक हवि के द्वारा शेष कार्यों के सम्पादन में कारण विशेष का अभाव होने से (पूर्वपक्ष का कथन औचित्यहीन है), संस्कारस्य = शेष कार्यों, स्विष्टकृत् आदि कर्मों से उपजे संस्कार की उपयोगिता, तदर्थत्वात् = शेष उन सभी हवियों के प्रयोजनार्थ होने से (भी पूर्वपक्ष की मान्यता बाधित होती है)।

**व्याख्या—** स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों को एक हवि के द्वारा सम्पादित किये जाने में जो कारण है, वही कारण सम्पूर्ण पुरोडाशों द्वारा करने में भी है। आशय यह है कि कारण विशेष का अभाव होने से शेष कार्यों का सम्पादन किसी एक हवि से न करके सम्पूर्ण पुरोडाशों से करना चाहिए। यज्ञीय अनुष्ठान की पूर्णता से शेष बचे हुए पुरोडाश का सही सदुपयोग ही वह कारण है, जिसके द्वारा हवि संस्कारित होता है। शास्त्रों ने इसे प्रतिपत्ति संस्कार की संज्ञा प्रदान की है। प्रधान कर्म के सम्पादनार्थ अष्टाकपाल में पकाये गये पुरोडाश के बचे हुए अंश का स्विष्टकृत् आदि के रूप में प्रयोग किया जाना ही प्रतिपत्ति संस्कार है॥ ४४॥

## ( ४५० ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के देखे जाने से भी यह सिद्ध होता है कि शेष कार्यों का सम्पादन सम्पूर्ण पुरोडाशों से किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** शाबर भाष्य में दृष्टान्त वाक्य प्रस्तुत है- 'मह्यं सकृत् सकृदवद्यति' इस वाक्य में 'सकृत्' पद का पाठ दो बार किया गया है। स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में यदि एक ही पुरोडाश का अवदान किये जाने का विधान होता, तो 'सकृत्' पद का वीप्सा प्रयोग न किया जाता। यह प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि शेष कार्यों का सम्पादन किसी एक हवि से न होकर समस्त हवियों से हुआ करता है॥ ४५॥

**उपर्युक्त विवेचना से शिष्य ने जो जिज्ञासा रखी, उसे सूत्रकार अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित कर रहे हैं—**

## ( ४५१ ) एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि शेष कार्यों का सम्पादन, एकस्मात् = किसी एक हवि द्वारा किया जाना हो, तो यथाकामी = अपनी इच्छानुसार हवि का चयन करके उसी के द्वारा करना चाहिए, अविशेषात् = क्योंकि इसके लिए किसी विशेष कथन की उपलब्धता नहीं है कि अमुक हवि से ही शेष कार्यों को सम्पादित किया जाये।

**व्याख्या—** जिन तीन आग्नेय पुराडाशों का कथन दर्श-पूर्णमास याग में किया गया है, उन तीनों में न तो किसी को निकृष्ट बतलाया है और न ही किसी को संस्कारित। विशिष्टता रहित तीनों समान हैं। यागकर्त्ता यजमान अपनी चाह के अनुरूप जिस हवि से चाहे उसी के द्वारा शेष कार्यों को सम्पादित कर लिया करें॥४६॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ४५२ ) मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है तथा इसका आशय है कि अपनी चाहत के

अनुरूप जिस किसी पुरोडाश से शेष कार्यों को सम्पादित नहीं किया जा सकता। पूर्वकालत्वात् = पूर्व काल में अन्य हवियों की उपलब्धता होने के कारण, मुख्यात् = प्रमुख (प्रथम) पुरोडाश के द्वारा ही शेष कार्यों को किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास यज्ञों में सर्वप्रथम आग्नेय पुरोडाश के द्वारा हवन किये जाने की विधि-व्यवस्था बतलायी गयी है, अतएव उसी हवि को प्रथम अथवा मुख्य पुरोडाश की संज्ञा दी गई है। उसी प्रमुख हवि के शेष बचे हुए अंश से स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों को किया जाना युक्त है। कारण यह कि अन्य हवियों की उपलब्धता प्रथम आग्नेय हवि द्वारा शेष कार्यों के सम्पादन के समय थी ही नहीं, जिससे अन्य हवियाँ बाधित हो जाती हैं; क्योंकि अन्य हवियों के अभाव में ही शेष कार्य हो जाता है। प्रथम आग्नेय पुरोडाश को बाधित करने वाली कोई भी विधि-व्यवस्था शेष कार्य के सम्पादन के समय उपस्थित न रहने से यह सिद्ध होता है कि शेष कार्यों का सम्पादन आग्नेय हवि से ही किया जाना चाहिए॥ ४७॥

**'इदं ब्रह्मणः' 'इदं होतुः' 'इदमध्वर्योः' 'इदमाग्नीधः' आदि वाक्यों द्वारा दर्श-पूर्णमास याग में ब्रह्मा, होता अध्वर्यु एवं आग्नीत् के भाग का वर्णन मिलता है। शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि इसे ऋत्विजों के भाग का बँटवारा माना जाये? इसी भाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगले दो सूत्रों में सूत्रित किया—**

## ( ४५३ ) भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** भक्षाश्रवणात् = ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु आदि के लिए विभाजित पुरोडाश के विषय में भक्षण का बोध कराने वाला वाक्य सुनाई न देने से, दानशब्दः = उस विभाजित पुरोडाश का भाग दानरूप में ऋत्विजों को देने का कथन, परिक्रये = ऋत्विजों के परिक्रय के विषय में किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'परिक्रय' पद का तात्पर्य ऋत्विजों को दक्षिणा (यज्ञ सम्पादनार्थ) पारिश्रमिक के रूप में देकर क्रय कर लेना है। पूर्णमास के प्रसङ्ग में पठित उक्त 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों का आशय इसी परिक्रय से है, ऐसा मानना चाहिए। इस मान्यता का कारण यह है कि उक्त यज्ञीय प्रसङ्ग में यज्ञीय अवसर पर ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु आदि के द्वारा इनके भक्षण का बोध कराने वाला कोई भी वाक्य सुनाई नहीं पड़ता। जैसा कि अन्य स्थल पर श्रवण किया जाता है- 'यजमानपञ्चमा इडां प्राश्नन्ति' शाबरभाष्य के इस वाक्य का अर्थ है, चार ऋत्विज् (ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं आग्नीत्) तथा पंचम यजमान इडा में भरे हुए हवि (पुरोडाश) का भक्षण (प्राशन) करते हैं। इस वाक्य में जिस प्रकार भक्षण का कथन स्पष्ट है, वैसा उक्त 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्य में नहीं है। अतएव उक्त विभक्त पुरोडाश भाग को भक्षण के निमित्त नहीं, प्रत्युत ऋत्विजों (ब्रह्मा, होता आदि) के परिक्रय (दक्षिणा) के रूप में दान किया जाना समझना चाहिए॥ ४८॥

## ( ४५४ ) तत्संस्तवाच्च॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तत्संस्तवात् = दक्षिणा के रूप में उक्त विभक्त पुरोडाश की संस्तुति किये जाने से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** 'एषा वै दर्श-पूर्णमासयोर्दक्षिणा' यह चार भागों में विभाजित पुरोडाश दर्श-पूर्णमास याग की दक्षिणा है। शाबर भाष्य का यह वाक्य संस्तुति करता है कि उक्त कथन औचित्य पूर्ण है॥ ४९॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४५५ ) भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। द्रव्ये = प्रत्युत पुरोडाश रूप द्रव्य के नियोजन के विषय में, समत्वात् = यजमान तथा चारों ऋत्विजों की पारस्परिक समानता रहने के कारण, भक्षार्थः

= यज्ञीय काल के अन्तर्गत भक्षण हेतु है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञकर्त्ता यजमान आग्नेय पुरोडाश देवता के प्रयोजनार्थ तैयार करता है। उस पुरोडाश का संकल्प वह अग्नि आदि देवों को करके उसके स्वामित्व से मुक्त हो जाता है। अतएव दक्षिणा रूप में यजमान उस हवि का दान नहीं कर सकता; क्योंकि वह उसका स्वामी नहीं है। 'इदं ब्रह्मण:' आदि उपर्युक्त वाक्यों के माध्यम से चारों ऋत्विजों के साथ पुरोडाश के सम्बन्ध की विधि-व्यवस्था क्रम दर्शाया गया है। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं आग्नीत् को जो हवि का विभाजित भाग दान रूप में देना कहा गया है, वह जलपान, स्वल्पाहार आदि के दिये जाने के भाव से बताया है, न कि परिक्रय किये जाने के प्रयोजनार्थ। हवि का यह प्रत्यक्ष प्रयोजन भक्षण पद के सुने जाने के अभाव में भी भक्षण के भावों को प्रकट करता है। अतएव प्रधान कर्म से बचे हुए पुरोडाश का उपयोग दक्षिणा रूप परिक्रय में नहीं, प्रत्युत भक्षण में माना जाना न्यायोचित है॥ ५०॥

**( ४५६ ) व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥**

**सूत्रार्थ—** व्यादेशात् = प्रयोजन के भावों में समानता विद्यमान होने से, दानसंस्तुतिः = भक्षण (जलपान आदि) के निमित्त प्रदान किये गये विभक्त पुरोडाश की स्तुति दक्षिणा के रूप में की गई है; क्योंकि उस भाग की गणना दी जाने वाली दक्षिणा में नहीं की जाती।

**व्याख्या—** दक्षिणा पद से भक्षण (जलपान आदि) हेतु दिये जाने वाले पुरोडाश का अर्थ समझना चाहिए; क्योंकि यह समानता का आधार लेकर किया जाने वाला औपचारिक कथन है। दक्षिणा पाने के भाव से प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ संसद के सदस्य ब्रह्मा, होता आदि ऋत्विक् गण यज्ञीय कर्मानुष्ठान के सम्पादनार्थ जैसे क्रियाशील रहते हैं, ठीक उसी प्रकार लम्बी यज्ञीय प्रक्रिया के क्रम में स्वल्पाहार (हवि) का अपना-अपना भाग भक्षण करने पर जब उनकी क्षुधा-पिपासा शान्त हो जाती है, तो वे अत्यधिक प्रसन्नता से पुनः यज्ञीय कर्म की पूर्णता में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतएव उपर्युक्त वाक्यों द्वारा बतलाये गये विभक्त पुरोडाश को दक्षिणा (परिक्रय) रूप न मानकर भक्षण हेतु मानना उचित है॥ ५१॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पाद ॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः ॥

**आचार्य ने मीमांसा दर्शन के तीसरे अध्याय के पाँचवें पाद का शुभारम्भ करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में जिज्ञासु शिष्य की भावनाओं को व्यक्त किया है। उपांशु याज के विषय में शिष्य का संदेह यह है कि उपांशु याज का हवन द्रव्य घृत है और आग्नेय एवं अग्नीषोमीय याज का हवि द्रव्य पुरोडाश है, तो क्या उपांशु याज के हवि द्रव्य घृत के द्वारा भी शेष कार्यों स्विष्टकृत् और इडा का अवदान पुरोडाश के समान किया जा सकता है ? अथवा नहीं ? समुचित विवेचना के उद्देश्य से सूत्रकार ने क्रमपूर्वक चार सूत्रों में पूर्वपक्ष की प्रस्तुति की—**

### ( ४५७ ) आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** आज्यात् = उपांशु याज के हवि द्रव्य घृत के द्वारा, च = भी, सर्व संयोगात् = सभी पुरोडाशों के साथ शेष कार्यों (स्विष्टकृत् अवदान आदि) का संयोग होने के कारण उनको सम्पादित किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** 'स्विष्टकृतमवद्यति' आदि वाक्यों का पाठ दर्श-पूर्णमास याग के सामान्य प्रकरण में किये जाने से शुभ कार्यों (इडा एवं स्विष्टकृत् आदि) का सम्पादन उपांशु याज के (द्रव्य) हवि घृत के अवदान से भी किया जाना चाहिए। शेष कार्यों का सम्बन्ध सभी हवियों से है, ऐसा प्रस्तुत वाक्य से सिद्ध होता है- 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' अर्थात् सभी हवियों के द्वारा अवदान करता है ॥ १ ॥

### ( ४५८ ) कारणाच्च ॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कारणात् = स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में प्रयुक्त शेष हवियों के संस्कार का कारण समान होने से भी उपांशु याज के हवि द्रव्य घृत द्वारा शेष कार्यों का सम्पादित किया जाना सिद्ध होता है।

**व्याख्या-** स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों की पूर्णता के लिए आग्नेय पुरोडाश से अवदान करने में जो कारण हैं, वही कारण उपांशु याज के हवि घृत द्वारा शेष कार्यों को सम्पन्न किये जाने में भी है। दोनों स्थलों पर कारणों की समानता होने से पुरोडाश, घृत आदि सभी हवियों से शेष कार्यों की पूर्णता उचित मानी जानी चाहिए॥ २ ॥

### ( ४५९ ) एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** एकस्मिन् = किसी एक हवि की अभिव्यक्ति में, समवत्तशब्दात् = 'समवत्त' शब्द प्रयुक्त होने के कारण उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता व्यतिरेक द्वारा ज्ञात हो जाया करती है।

**व्याख्या—** 'आग्नेय स्विष्टकृते समवद्यति' दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित इस वाक्य का अर्थ है स्विष्टकृत् अग्नि के लिए मिश्रित (समवाय) अवदान करता है। आशय है कि यह अवदानों का सम्मिश्रण है न कि हवियों का। उपांशु याज दर्शपूर्णमास का ही एक दूसरा प्रधान कर्म माना जाता है तथा उपांशु याज का ही अङ्ग प्रायणीय इष्टि है। 'समवद्यति' पद का प्रयोग यदि किसी एक हवि के अवदान की अभिव्यक्ति में की जाती है, तो व्यतिरेक से यह ज्ञान कर लेना चाहिए कि अन्य हवियों (उपांशु याज के आज्य हवि के द्वारा) से भी शेष कार्यों (स्विष्टकृत् इडा आदि) के लिए अवदान किया जाना उचित एवं युक्तियुक्त है॥ ३ ॥

### ( ४६० ) आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, आज्ये = यज्ञीय पात्र (ध्रुवा) में भरे गये आज्य में, स्विष्टकृदर्थवादस्य = स्विष्टकृत् से सम्बन्धित अर्थवाद के, दर्शनात् = दृष्टिगोचर होने के कारण भी आज्य से अवदान होना ज्ञात होता है।

**व्याख्या—** 'अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति' आदि वाक्य अर्थवाद के रूप में उपलब्ध है। इसका अर्थ है- ध्रुवा पात्र से आज्य का अवदान करके उतने ही परिमाप में आज्य (घृत) आज्यस्थाली में से निकालकर ध्रुवा पात्र में डालता है अर्थात् ध्रुवा में प्रत्यभिघारण करता है। स्विष्टकृत् आहुति के लिए अवदान कर ध्रुवा में प्रत्यभिघारण नहीं करता। कारण यह कि स्विष्टकृत् आहुति

ही अन्तिम आहुति होती है। इस आहुति के अनन्तर कोई भी आहुति शेष न रहने से जो आज्य ध्रुवा में शेष रह जाता है, उसी आज्य से स्विष्टकृत् याग सम्पन्न किया जाता है। अतएव उक्त स्विष्टकृत् सम्बन्धित अर्थवाद से यह प्रमाणित होता है कि उपांशुयाग के आज्य (हवि) से भी स्विष्टकृत् अवदान हुआ करता है॥ ४॥

**विगत चार सूत्रों द्वारा स्थापित किये गये व्यापक पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( ४६१ ) अशेषत्वात्तु नैवं स्यात् सर्वादानादशेषता॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है, अशेषत्वात् = उपांशु याज का शेष भाग ध्रुवा (यज्ञीय पात्र) में न बचने के कारण उपर्युक्त कथन की सिद्धि नहीं होती, एवम् = अतएव इस तरह से शेष कार्यों (स्विष्टकृत् एवं इडा) के लिए उपांशु याज के हवि द्रव्य आज्य के द्वारा अवदान, न = नहीं, स्यात् = हुआ करता, सर्वादानात् = क्योंकि उपांशु याज में से ग्रहण करने योग्य समस्त आज्य की आहुति दे दिये जाने से, अशेषता = ध्रुवा (यज्ञीय पात्र) में आज्य का शेष भाग बचना होता ही नहीं अर्थात् ध्रुवा में आज्य रहता ही नहीं।

**व्याख्या—** 'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' अर्थात् यज्ञीय उपकरण ध्रुवा में जो आज्य (उपांशु याज का हवि द्रव्य) ग्रहण किया जाता है, वह सभी प्रकार के यागों के लिए ग्राह्य है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का उक्त वाक्य उस कथन का खण्डन करता है, जिसमें ध्रुवा में शेष बचे आज्य को उपांशु याज का शेष कहा गया है। अतएव यह सिद्ध होता है कि स्विष्टकृत् अवदान आदि आज्य के द्वारा सम्पादित किये जाने का उपर्युक्त कथन आधारहीन है, यही समझना चाहिए॥ ५॥

**इस विवेचना पर जिज्ञासु शिष्य ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा कि जब सभी प्रकार के यागों के लिए ग्रहण किया जाने वाला आज्य ध्रुवा में विद्यमान है, तो उसमें वह आज्य भी तो होना चाहिए, जिसका ग्रहण उपांशु याज के लिए होता है। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

**( ४६२ ) साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—**ध्रुवायाम् = ध्रुवा में विद्यमान आज्य, साधारण्यात् = सभी प्रकार के यागों के लिए समान रूप से ग्राह्य होने के कारण (ध्रुवा स्थित वह याज्य) उपांशुयाज के लिए ग्रहण किये जाने वाले आज्य का, न = शेष नहीं, स्यात् = होना चाहिए (नहीं है)।

**व्याख्या—** यज्ञीय उपकरण ध्रुवा में आज्य (घृत) भरा रहता है और आज्य युक्त यागों के लिए वह घृत आज्यस्थाली में से ध्रुवा में स्थापित किया जाता है। जब जैसी स्थिति बनती है, तब आवश्यकता के अनुरूप दूसरे अन्य यज्ञों के समान उसी ध्रुवा में से आज्य लेकर उपांशु याज भी सम्पादित हुआ करता है। जिस याग के लिए जितने आज्य की आवश्यकता होती है, उतना आज्य ध्रुवा में से ग्रहण कर लिया जाता है, शेष आज्य यज्ञोपयोग हेतु ध्रुवा में बचा रहता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि बचा हुआ वह आज्य उपांशुयाज का शेष है। बचा हुआ वह आज्य किसी एक याग का शेष है तथा यह कहना कि उसका नियोजन प्रतिपत्ति कर्म के लिए किया जाना चाहिए, सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। जैसे किसी एक घड़े में आतिथ्य हेतु भरा गया सुस्वाद पेय मात्र एकाकी अतिथि के द्वारा ग्रहण कर लेने पर उसे सामान्य जनों के लिए नहीं छोड़ा जाता, प्रत्युत समस्त अतिथियों को उपलब्ध कराने के लिए उसे बचाये रखा जाता है। यही समुचित सदुपयोग ही उस आज्य अथवा पेय का संस्कार माना जाता है। उक्त आज्य के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए॥ ६॥

**शिष्य ने कहा- सामान्य होने से ध्रुवा में बचे शेष आज्य से अवदान न किये जाने की बात तो समझ में आती है; किन्तु जुहू पात्र में बचा हुआ आज्य तो अवदान के लिए प्रयुक्त होना ही चाहिए। शिष्य की जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में दिया—**

**( ४६३ ) अवत्तत्त्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** जुह्वाम् = जुहू में जितना आज्य है वह, अवत्तत्वात् = हवन के परिमाप में ही ग्रहण किये जाने के कारण, च = तथा, तस्य = एक निश्चित परिमाप में गृहीत उस आज्य का, होमसंयोगात् = होम के साथ संयोग होने से, च = भी, जुहूपात्र में आज्य का सर्वथा अभाव रहा करता है।

**व्याख्या—** 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' वाक्य यह निर्देश करता है कि जुहू पात्र में चार स्रुवा आज्य (घृत) भरा जाना चाहिए, यही घृत 'चतुरवदान' के नाम से जाना जाता है। कात्यायन श्रौत के वाक्य- 'चतुरक्तं जुहोति' एवं 'चतुरवत्तं स वषट्कारेषु' यह प्रमाणित करते हैं कि सम्पूर्ण आज्य का संयोग होम के साथ है। अतएव जुहू पात्र में ग्रहण किया गया सम्पूर्ण घृत हवन किये जाने से जुहू पूर्णतः रिक्त हो जाता है। इसलिए यह कहने का अवकाश ही नहीं है कि जुहू में शेष बचे आज्य से शेष कार्यों में अवदान हो सकता है॥ ७॥

**जिज्ञासु शिष्य की अभिव्यक्ति को आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ४६४ ) चमसवदिति चेत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** चमसवत् = जिस प्रकार ऐन्द्र वायव चमस में गृहीत सोम का हवन अग्निदेव के उद्देश्य से किया जाता है, उसी प्रकार जुहू पात्र में बचे हुए उपांशु याज के घृत से स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों को सम्पादित किया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्य के उद्देश्य से ग्रहण किये गये सोम का किसी दूसरे के निमित्त हवन कर दिया जाता है, वैसे ही उपांशु याज के उद्देश्य से गृहीत किये जाने पर भी जुहू में बचे घृत के द्वारा स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य किये जाने चाहिए॥ ८॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ४६५ ) न चोदनाविरोधाद् हविः प्रकल्पनत्वाच्च॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** हविः = हवि की, प्रकल्पनत्वात् = प्रकल्पना होने से, च = तथा, चोदना विरोधात् = प्रस्तुत चमस विषयक विवेचन में वेद वचनों का विरोध होने से, न = जुहू में बचे हुए उपांशु याज के आज्य (घृत) से शेष कार्यों (स्विष्टकृत् आदि) का सम्पादन नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या—** यज्ञीय क्रम में ग्रह संज्ञक चमस में यदि आज्य शेष बच जाता है, तो वह वेद वचन के अनुकूल ही होगा; क्योंकि किसी भी वेद वचन के साथ उसकी प्रतिकूलता नहीं है। वैसे भी उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'अनुवषट् करोति' वाक्य- ग्रह संज्ञक चमसों के माध्यम से वषट्कार द्वारा होम किये जाने के पश्चात् अनुवषट्कार द्वारा होम किये जाने की विधि-व्यवस्था यह दर्शाती है कि चमस में भरा सारा सोम वषट्कार हवन में प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत कुछ सोम द्रव्य शेष बचा लिया जाता है। उस बचे हुए सोमरस का नियोजन संभवतः सोम पान आदि शेष कार्यों में हो जाया करता है; जबकि जुहू में हवन के उपरान्त आज्य पूर्णतः निःशेष हो जाता है। अतः जुहू विषयक प्रक्रिया में चमस का उदाहरण दिया जाना किसी भी तरह से युक्त नहीं माना जा सकता॥ ९॥

**शिष्य की जिज्ञासा पर सूत्रकार ने 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' का समाधान दिया—**

**( ४६६ ) उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** सति = शेष रहने पर, उत्पन्नाधिकारात् = अधिकार की उत्पत्ति होने के कारण, उनके निमित्त ही, सर्ववचनम् = 'सर्व' पद की अभिव्यक्ति की गई है।

**व्याख्या—** जब प्रधान यज्ञीय कार्यों की पूर्णता हो जाती है तथा पूर्णता के अनन्तर जो हविद्रव्य शेष बच जाता है, उसके लिए यह अधिकार मिल जाता है कि उस शेष बचे हवि द्रव्य का नियोजन स्विष्टकृत् इडा आदि शेषकार्यों के लिए किया जाना चाहिए। प्रसङ्गागत 'सर्व' पद को उन्हीं सबके लिए प्रयुक्त किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। ज्ञातव्य यह भी है कि ऐसे यज्ञीय कार्यों में 'सर्व' पद का प्रयोग नहीं होता, जिनमें अशेष

हविद्रव्य का नियोजन हो जाया करता है और इसी कारण उपयुक्त वाक्य 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' के विधि-विधान के साथ प्रस्तुत विधान की किसी भी प्रकार की विरोधात्मक स्थिति नहीं है॥ १०॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन अब यह है कि गत तीसरे सूत्र में जो प्रायणीय इष्टि को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है, उस प्रायणीय इष्टि के एकाकी हवि चरु के निमित्त किया गया 'समवद्यति' पद का प्रयोग सर्वथा अव्यावहारिक है। उसे व्यावहारिक बनाने हेतु यदि उसे आज्य का समवाय मान लिया जाये, तो? सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( ४६७ ) जातिविशेषात् परम्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** परम् = प्रायणीय संज्ञक इष्टि में अन्य समवद्यति पद का प्रयोग, जातिविशेषात् = भात (ओदन) जाति एवं आज्य (घी) जाति के भेद से दोनों के सम्मिश्रण (समवाय) की अपेक्षा करके किया गया है।

**व्याख्या—** जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि प्रसङ्गागत प्रायणीय इष्टि का हवि भात (चरु) है। वह चरु गीला, चिपका हुआ न होकर खिला हुआ रहता है तथा इस खिले हुए चरु की पाक प्रक्रिया में भात जाति से इतर (भिन्न) जाति वाला आज्य उपस्तरण तथा अभिघारण के रूप में समवेत रहा करता है। आज्य की इसी संयुक्तता की अपेक्षा से ही भात (ओदन) रूप चरु के निमित्त 'समवद्यति' पद का प्रयोग व्यावहारिक ढंग से किया गया है। अत: उपांशु याज यज्ञीय आज्य चरु के द्वारा शेष कार्यों का किया जाना शास्त्र-सम्मत है॥ ११॥

**गत चतुर्थ सूत्र के दृष्टान्त के विषय में शिष्य की जिज्ञासा यह है— स्विष्टकृत् विषयक अर्थवाद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि उपांशु याज के आज्य घृत से शेष कार्यों (स्विष्टकृत् आदि) को सम्पादित किया जाना चाहिए, इस उक्त कथन का भी समाधान किया जाना चाहिए। सूत्रकार ने इसका समाधान अगले सूत्र में किया—**

## ( ४६८ ) अन्त्यमरेकार्थे॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** अन्त्यम् = चतुर्थ सूत्र के अन्तिम आक्षेप में वर्णित 'स्विष्टकृतेऽवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति' अर्थवाद का तात्पर्य, अरेकार्थे = यज्ञीय पात्र ध्रुवा में स्थित आज्य (घृत) का खाली न होने से है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत अर्थवाद 'अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। न हि ततः परमाहुतिं यक्ष्यन् भवति' का तात्पर्य यह है कि ध्रुवा पात्र कभी रिक्त ही नहीं होता। जो आज्य उसमें शेष रह जाता है, वह स्विष्टकृत् कर्म से पहले सम्पन्न होने वाले कर्म एवं स्विष्टकृत् हेतु ग्रहण किये गये पुरोडाश हवि के उपस्तरण एवं अभिघारण की प्रक्रिया पूर्ण होने तक के कार्यों के लिए है। प्रत्येक अवदान के पश्चात् इसलिए ध्रुवा का अभिघारण किये जाने का विधान है, जिससे आगे की प्रक्रिया सुचारु रूप से सम्पादित होती रहे। अन्तिम आहुति पुरोडाश की स्विष्टकृत् अग्नि के लिए समर्पित की जाती है, उसे ध्रुवा में विद्यमान आज्य से अभिसिंचित किया जाता है, अन्तिम आहुति स्विष्टकृत् की ही होती है, जिसकी सम्पन्नता के अनन्तर किसी भी प्रकार की अन्य आहुति नहीं दी जाती, जिसके कारण ध्रुवा का अभिघारण नहीं होता। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि उपांशुयाज के आज्य से शेष कार्यों (स्विष्टकृत् एवं इडा आदि) का अवदान नहीं होता॥ १२॥

**'साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः' तैत्तिरीय संहिता के इस वाक्य का अर्थ है-पशु की कामना वाले व्यक्ति को साकम्प्रस्थायीय याग से हवन (यजन) करना चाहिए। शिष्य का कथन यहाँ यह है कि यहाँ भी यदि स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान किया जाये तो? आचार्य ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४६९ ) साकम्प्रस्थायीये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** साकम्प्रस्थायीये = साकम्प्रस्थायीये संज्ञक याग में, स्विष्टकृदिडम् = स्विष्टकृत् एवं इडा के अवदान की प्रक्रिया, च = भी, तद्वत् = ध्रुवा में विद्यमान आज्य के तुल्य ही समझा जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि ध्रुवा में स्थित आज्य से जिस प्रकार स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान

नहीं किया जाता, वैसे ही साकम्प्रस्थायीय हवि द्रव्य के द्वारा स्विष्टकृत् एवं इडा आदि शेष कार्यों का अवदान नहीं हुआ करता। इसका प्रमाण आपस्तम्बसूत्र में मिलता है—'स्विष्टकृत् भक्षाश्च न विद्यन्ते'। शास्त्रीय विधान की मान्यता के अनुसार अवदान का अवसर इसलिए नहीं आता; क्योंकि इस याग का हवि द्रव्य यज्ञोपरान्त कुछ भी नहीं बचता। दूध एवं दही के रूप में बनाये गये सम्पूर्ण हवि द्रव्य को हवन कर दिया जाता है॥ १३॥

**सौत्रामणी याग जो दर्श-पूर्णमास एवं सोमयाग का विकृत याग कहलाता है तथा जिसमें आवाहित देवताओं के लिए 'ग्रह' संज्ञक पात्रों में दूध एवं सोमरस पृथक्-पृथक् भरकर उनकी आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। शिष्य का कथन यहाँ यह है कि ग्रह पात्रों में शेष बचे दूध एवं सोमरस के द्वारा यदि स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान किया जाये, तो उसे अनुचित नहीं माना जाना चाहिए; क्योंकि शास्त्र का वाक्य है—प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या। सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में इसका समाधान दिया—**

### ( ४७० ) सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सौत्रामण्याम् = सौत्रामणी याग में प्रयुक्त होने वाले, ग्रहेषु = 'ग्रह' संज्ञक पात्रों में भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता।

**व्याख्या—** सौत्रामणी याग में उपयोगी ग्रह संज्ञक पात्रों में हवि द्रव्य भरकर उन पात्रों को ऋत्विज् पृथक्-पृथक् उठाकर सम्बन्धित देवता का मन्त्र बोलते हुए यज्ञाग्नि में उस सम्पूर्ण हवि द्रव्य का हवन कर देते हैं। अमुक हवि द्रव्य अमुक देवता का है, इस सबका निर्देश मन्त्र द्वारा प्राप्त हो जाया करता है। अध्वर्यु आश्विन ग्रह को उठाता है, ब्रह्मा सारस्वत ग्रह को तथा प्रतिप्रस्थाता ऐन्द्र ग्रह को उठाता है। उठाने के अनन्तर सम्बन्धित देवता के लिए ग्रह पात्र में स्थित सम्पूर्ण हवि द्रव्य समर्पित कर दिये जाने से ग्रह पात्र पूर्णतः रिक्त हो जाता है जिसके कारण ग्रहों में स्विष्टकृत् एवं इडा आदि का अवदान किया जाना संभव नहीं होता॥ १४॥

### ( ४७१ ) तद्वच्च शेषवचनम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, शेषवचनम् = निषेधपूर्वक शेष बचा लिए जाने की अभिव्यक्ति, तद्वत् = उसी याग (साकम्प्रस्थायीय) के तुल्य सौत्रामणी याग में भी स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान नहीं होता, यह ज्ञान कराती है।

**व्याख्या—** 'उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति' कुछ बचा लेता है, सम्पूर्ण का हवन नहीं करता। सौत्रामणी याग के समापन प्रसङ्ग का उपुर्यक्त निषेधपूर्वक हवि द्रव्य के शेष न रखे जाने के कथन से सम्पूर्ण हवन कर दिये जाने की बात प्रमाणित हो जाती है। इसी को प्राप्त का प्रतिषेध अथवा निषेध माना गया है तथा इसी के द्वारा प्रकरण स्विष्टकृत् इडा आदि शेष कार्यों के अवदान के सम्पन्न न होने का ज्ञान भी होता है॥ १५॥

**'य इन्द्रियकामो वीर्यकामः स्यात् तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत' अर्थात् जिसे इन्द्रिय बल एवं शारीरिक बल की कामना हो, उसे सर्वपृष्ठा इष्टि से यजन करना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता में सर्वपृष्ठा संज्ञक इष्टि का वर्णन है तथा संहिता में ही इस इष्टि के छह यागों का उल्लेख मिलता है।- इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्वराय, इन्द्राय रैवताय। उक्त राथन्तर आदि छहों विशेषण इन्द्र देवता के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। शास्त्र के विधान के अनुसार देवता के साथ विशिष्टता युक्त विशेषण लग जाने से वह देवता अनेक हो जाता है और अनेक हो जाने के कारण छः देवताओं के लिए अलग-अलग पुरोडाश की आहुति दी जाती है। शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि उक्त प्रत्येक याग कर्म के पश्चात् बची हुई शेष हवि से शेष कार्यों स्विष्टकृत् आदि का अवदान किया जाना उचित है? सूत्रकार ने इसे पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

### ( ४७२ ) द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यैकत्वे = छहों यागों में पुरोडाश रूप हविद्रव्य की एकता (समानता) होने पर भी, कर्मभेदात् = कर्म में भेद होने से (अलग-अलग प्रकार के छहों याग होने से) स्विष्टकृत् तथा इडा का अवदान, प्रतिकर्म = प्रत्येक याग में, क्रियेरन् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि सभी छहों यागों में पुरोडाश रूप हवि द्रव्य की एकता (समानता) होने पर भी याग एवं उसके देवता में भेद (असमानता) होने के कारण प्रत्येक यज्ञीय कर्म में स्विष्टकृत् एवं इडा आदि का अवदान उस कर्म में बची हुई हवि का ही किया जाना चाहिए॥ १६॥

**आचार्य ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४७३ ) अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** शेषस्य = प्रत्येक याग के अवशिष्ट पुरोडाश रूप हवि के, अविभागात् = विभाजन का उल्लेख न किये जाने से, सर्वान् प्रति = छहों (सभी) यज्ञों के प्रति हवि के, अविशिष्टत्वात् = विशिष्टता युक्त न होने के कारण, च = भी (प्रत्येक यज्ञीय कर्म अवदान नहीं हुआ करता)।

**व्याख्या—** उपुर्यक्त छहों यज्ञीय कर्मानुष्ठानों की पूर्णता हो जाने पर सभी यज्ञों का पुरोडाश एक में ही रखा रहता है तथा उस सम्मिलित पुरोडाश में से प्रत्येक यज्ञ के लिए निर्धारित मात्रा में हवि गृहीत करके उसकी आहुति से यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। उन छहों यज्ञों के पूर्ण होने के बाद जो शेष पुरोडाश बच जाता है, उसका विभाग (यह कहकर कि यह अमुक-अमुक देवता के यज्ञ का शेष भाग बचा हुआ है) किये जाने का उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अत: सर्वपृष्ठा नामक इष्टि के विधान में एक बार ही शेष पुरोडाश के द्वारा शेष कार्यों (स्विष्टकृत् एवं इडा) का अवदान किया जाना उचित एवं युक्तियुक्त माना जाता है॥ १७॥

**'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्ग चाहने वाले को ज्योतिष्टोम याग से यजन करना चाहिए। इस याग के अन्तर्गत ग्रह संज्ञक पात्रों में सोमरस भरकर इन्द्र एवं वायु देवता के निमित्त आहुति के अनन्तर जो सोमरस शेष बच जाता है, उसका भक्षण एक बार में ही किया जाना चाहिए या दो बार में? आचार्य ने समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ४७४ ) ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्म भक्षः स्यात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** ऐन्द्रवायवे = इन्द्र तथा वायु देवता से सम्बन्धित ग्रह पात्रों में, तु = तो, वचनात् = सूत्र में वर्णित विशिष्ट वाक्यों, से, प्रतिकर्म = प्रत्येक यज्ञ की आहुति के अनन्तर, भक्ष: = बचे हुए सोम रस का भक्षण, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** ग्रन्थों में वर्णित 'वाक्य [द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट् करोति'] के अनुसार सम्बन्धित शेष सोमरस का दो बार भक्षण करने का निर्देश है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर नहीं होते; किन्तु इनके आंशिक लक्षण आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में अवश्य मिलते हैं-' 'द्विरैन्द्र वायवं भक्षयत:' एवं 'वषट्कृते जुहोति, पुनर्वषट्कृते जुहुत:' अर्थात् इन्द्र एवं वायु देवता के अवशेष सोमरस का भक्षण दो बार करते हैं, वषट्कार करता है, पुन: वषट्कार हवन करते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थोक्त वक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि दो बार हवन किया जाता है, तो शेष बचे सोमरस का भक्षण कर्म भी दो बार सम्पन्न होगा॥ १८॥

**शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ में जो ग्रह संज्ञक पात्रों एवं चमसों में सोमरस भरे जाने का कथन किया गया है, उनमें शेष बचे सोमरस का भक्षण किया जाना चाहिए? या नहीं? शिष्य के जिज्ञासात्मक भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ४७५ ) सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** सोमे = ज्योतिष्टोम यज्ञ के सोमरस प्रसङ्ग में, अवचनात् = शेष बचे हुए सोम के भक्षण का विधान करने वाले वचनों का सर्वथा अभाव होने से, भक्ष: =बचे हुए सोमरस का भक्षण, न = नहीं, विद्यते = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का तात्पर्य यह है कि ज्योतिष्टोम याग में जहाँ शेष बचे हुए सोमरस के भक्षण का सुनिश्चित विधान करने वाला कोई भी विधायक वाक्य नहीं मिलता। अतएव वहाँ सोमरस का भक्षण किया जाना अनुचित ही माना जायेगा॥ १९॥

**आचार्य ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में किया—**

**( ४७६ ) स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, अन्यार्थदर्शनात् = शेष सोमरस के भक्षण सम्बन्धी अन्य प्रयोजनों का वर्णन दृष्टिगत होने से, स्यात् = ज्योतिष्टोम याग में बचे हुए सोमरस के भक्षण की व्यवस्था का सुनिश्चित ज्ञान होता है।

**व्याख्या—** 'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' सभी तरफ सिर को घुमाते हुए अश्वी देवता के ग्रह नामक पात्र में स्थित सोमरस का भक्षण करता है, तथा 'भक्षिताप्यायिताँश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽवलम्बे सादयन्ति' भक्षण करने के अनन्तर फिर से सोमरस से परिपूर्ण चमस पात्रों को दक्षिण हविर्धान शकट के अवलम्ब के पास रखते हैं। उपर्युक्त वाक्य सोम भक्षण विषयक अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हुए ज्योतिष्टोम याग में बचे हुए सोम के भक्षण किए जाने का ज्ञान कराते हैं, इन वाक्यों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि ज्योतिष्टोम याग में बचे हुए शेष सोम का भक्षण किया जाता है॥ २०॥

**( ४७७ ) वचनानि तु अपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** तु = सूत्र में प्रयुक्त यह पद निश्चयात्मक अर्थ में प्रयुक्त है, वचनानि = उपर्युक्त 'सर्वतः परिहारमाश्विनं, एवं 'भक्षिताप्यायिताँश्चमसान्' आदि वाक्य, अपूर्वत्वात् = अपूर्व अर्थयुक्त होने से सोम भक्षण के विधानकर्त्ता हैं। तस्मात् =अतएव, यथोपदेशम् =जैसा उपदेश किया गया है, उसके अनुसार तो ये वैदिक वाक्य ही, स्युः = हैं।

**व्याख्या—** प्रसङ्गप्राप्त 'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' वाक्य शेष सोमरस के भक्षण की विधि-व्यवस्था बतलाता है तथा सभी तरफ सिर घुमाने की प्रक्रिया उसका विशेषण है। 'तस्मात् सर्वादिशः शृणोति' उपर्युक्त वाक्य के आगे का यह वाक्य उसके फल की अभिव्यक्ति करता है, वाक्य का फलीभूत होना तभी सिद्ध होता है, जब वाक्य द्वारा अपूर्व अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती हो। अतएव भक्षण मुख्य है तथा सिर घुमाना आदि विशेषण उस भक्षण का अङ्ग है, ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्यों में सोम भक्षण के विधि-विधान का होना प्रमाणित होता है॥ २१॥

**'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाम्' अर्थात् होता का चमस आये, ब्रह्मा का चमस आये, उद्गाता और उनके सहयोगी ऋत्विजों, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्त्ता के चमस आये, यजमान का चमस आये ( जिससे सभी के चमस शेष बचे हुए सोमरस से भर दिये जायें )। ज्योतिष्टोम याग में पढ़े जाने वाले उक्त वाक्य में जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि उक्त चमस पात्र युक्त होता, ब्रह्मा, उद्गाता आदि सभी के द्वारा सोमभक्षण का निर्देश किया गया है ? या नहीं ?। सूत्रकार ने अगले सूत्र में सन्देह का निवारण किया—**

**( ४७८ ) चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** समाख्यानात् = 'होता का चमस आये', इस प्रकार की अभिव्यक्ति से (तथा), संयोगस्य = होता, उद्गाता, ऋत्विज् आदि का संयोग, तन्निमित्तत्वात् = भक्षण रूप प्रयोजन का निमित्तक होने से, चमसेषु = चमस पात्रों में भरा जाने वाला सोमरस होता, ब्रह्मा, उद्गाता आदि का भक्ष्य है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'होतुश्चमसः प्रब्रह्मणः' आदि उपर्युक्त वाक्य में होता का चमस आये, आदि निर्देशपूर्वक नाम का उल्लेख होने से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त चमसों में भरा जाने वाला शेष सोमरस होता, ब्रह्मा, उद्गाता आदि के भक्षण के प्रयोजनार्थ ही है। विद्वानों ने चमस का अर्थ करते हुए कहा है कि 'चम्यते-भक्ष्यते सोमः यस्मिन् पात्र विशेषे सः चमसः' अर्थात् सोमपान के निमित्त जिस विशिष्ट पात्र का उपयोग किया जाता है, उसका नाम चमस है। अस्तु ; होता, उद्गाता आदि के चमस मँगाए जाने से उनके द्वारा सोमपान का निर्देश स्पष्ट होता है॥ २२॥

**शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में पठित 'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृणाम्' वाक्य में प्रयुक्त 'उद्गातृणाम्' पद में बहुवचन का निर्देश होने से जिज्ञासु शिष्य का जो सन्देह है, उसे सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित कर रहे हैं—**

## ( ४७९ ) उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** उद्गातृचमसम् = उपर्युक्त वाक्य स्थित 'प्रोद्गातृणाम्' में वर्णित उद्गातृ चमस संज्ञक पात्र में विद्यमान शेष सोम का भक्षण, श्रुतिसंयोगात् = 'प्रोद्गातृणाम्' रूप श्रुति के साथ प्रत्यक्ष रूप से उद्गाता का सम्बन्ध होने के कारण तो, एकः = उद्गाता को अकेले ही उस शेष सोम का भक्षण करना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त वाक्य 'प्रैत होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृणाम्' में जिस प्रकार होता, ब्रह्मा आदि का नाम सोम भक्षण हेतु उनके अपने चमस के साथ प्रत्यक्ष श्रुत है, उसी प्रकार उद्गाता का नाम भी चमस के साथ श्रुत है। 'प्रोद्गातृणाम्' में बहुवचन का प्रयोग होने पर भी उद्गाता का एक से अधिक होना सिद्ध नहीं होता। अतएव उद्गातृ चमस में विद्यमान सोम का भक्षण उद्गाता के द्वारा ही किया जाना उचित एवं युक्तियुक्त है, ऐसा समझना चाहिए॥ २३॥

**इस पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ४८० ) सर्वे वा सर्वसंयोगात्॥ २४॥



**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति हेतु है। सर्वसंयोगात् = चमस संज्ञक यज्ञीय पात्र का संयोग होता, ब्रह्मा, उद्गाता आदि सभी के साथ होने के कारण, सर्वे=शेष सोम का भक्षण सभी के द्वारा किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'उद्गातृणाम्' पद में जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है, वह उचित एवं अर्थपूर्ण है। आशय यह है कि सामगान करने वाले समस्त ऋत्विजों, उद्गाता, प्रस्तोता आदि सभी को उद्गातृ चमस में विद्यमान सोमरस का भक्षण करना चाहिए, न कि एक मात्र उद्गाता को ही। अतएव समस्त ऋत्विजों के द्वारा सोमरस का पान किया जाना ही उचित है॥ २४॥

**शिष्य का संदेह यह है कि क्या सुब्रह्मण्य को भक्षण नहीं करना चाहिए? क्योंकि 'उद्गातृ' पद का प्रयोग तो उद्गाता, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्त्ता के लिए ही सोम भक्षण का कथन करता है। सूत्रकार ने इन्हीं भावों को पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया है—**

## ( ४८१ ) स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुत्वश्रुतेः॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्व में वर्णित विवेचन का निराकरण करता है। स्तोत्रकारिणाम् = स्तोत्र रूप साम का गान करने वाले ऋत्विजों (उद्गाता, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्ता) का, तत्संयोगात् = उस चमस पात्र के साथ संयोग होने के कारण तथा, बहुत्व श्रुतेः = बहुवचन के सुने जाने से भी यह सिद्ध होता है कि उक्त तीनों ऋत्विजों के लिए ही सोम भक्षण युक्त है।

**व्याख्या—** उद्गाता का प्रत्यक्ष रूप से चमस के साथ संयोग है, 'प्रैतु उद्गातृणां चमसः' से यह कथन सिद्ध हो जाता है। गायन कर्म में उद्गाता, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्त्ता इन तीन की ही प्रवृत्ति होती है। सुब्रह्मण्य मात्र निगद का उच्चारण करता है और निगद गद्य रूप होने से गायन में आता ही नहीं तथा बहुवचन की सार्थकता हेतु उनमें सुब्रह्मण्य की गिनती करना भी आवश्यक नहीं। अतः उद्गातृ चमस में स्थित शेष सोमरस के भक्षण में उद्गाता, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्त्ता ही सम्मिलित होते हैं॥ २५॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४८२ ) सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद उक्त कथन का खण्डन करता है, वेदसंयोगात् = क्योंकि सामवेद में वर्णित यज्ञीय

कर्म के साथ समस्त ऋत्विजों का संयोग होने के कारण, सर्वे = सुब्रह्मण्य आदि समस्त ऋत्विजों को सोम भक्षण का अधिकार प्राप्त है, एकदेशे = 'उद्‌गातृ' पद के द्वारा सुब्रह्मण्य के अतिरिक्त उद्‌गाता आदि के संदर्भ में उक्त व्यावहारिक अभिव्यक्ति तो, कारणात् = किसी विशेष कारण को ध्यान में रखते हुए, स्यात् = हुई है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सुब्रह्मण्य की सामगान में कोई भूमिका नहीं है; अतएव उद्‌गातृ चमस में स्थित सोमरस के भक्षण में उक्त तीन ऋत्विजों के अतिरिक्त सुब्रह्मण्य की भागीदारी नहीं हो सकती— ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। कारण यह कि लोक व्यवहार में प्रचलित गान एवं यज्ञीय प्रक्रिया में गाया जाने वाला वैदिक गान, दोनों में भारी अन्तर है-पृथक्ता है। वैदिक गान एक ही ऋत्विज् गाता है, न कि सभी। सामवेद को ही औद्‌गाता भी कहा जाता है। उस औद्‌गाता कर्म के सम्यक् ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करने वाले को उद्‌गाता के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार समस्त ऋत्विज् गण जो औद्‌गाता कर्म के अध्येता हैं, उसका ज्ञान रखने वाले एवं उसे अनुष्ठित करने वाले होते हैं, उद्‌गाता की संज्ञा पाते हैं, भले ही कुछ काल के लिए वे अपने कर्म से अलग हों। जैसे मिट्टी के बरतन बनाने वाला कुम्हार अपने कर्म से अलग रहते हुए भी कुम्हार ही कहलाता है। सामवेद के यज्ञीय कर्मानुष्ठान में सुब्रह्मण्य के साथ समस्त ऋत्विजों की भागीदारी होने से सैद्धान्तिक रूप से उद्‌गाता चमस में स्थित शेष सोम के भक्षण में सभी की भागीदारी समान है, ऐसा समझना चाहिए॥२६॥

**ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत होता के कर्म में सहयोग देने वाले ग्रावस्तुत् संज्ञक व्यक्ति के विषय में जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ४८३ ) ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** ग्रावस्तुतः = होता के सहयोगी ग्रावस्तुत् संज्ञक व्यक्ति, विद्यते = रहता है, अनाम्नानात् = वेदों में ऐसा कथन अनुपलब्ध होने से (उसे सोम भक्षण का अधिकारी नहीं माना जा सकता)।

**व्याख्या—** 'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्‌गातृणां प्रयजमानस्य, प्रयन्तु सदस्यानाम्' ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में पढ़े जाने वाले शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक्य में 'ग्रावस्तुत्' संज्ञक व्यक्ति का न तो कोई उल्लेख है और न ही उसके चमस का। सोम भक्षण का अधिकार मात्र चमस वाले ऋत्विजों को ही प्राप्त है, अतः 'सर्वे' पद से होता का सहयोगी चमसहीन ग्रावस्तुत् संज्ञक व्यक्ति सोमरस भक्षण का अधिकार नहीं रखता॥ २७॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( ४८४ ) हारियोजने वा सर्वसंयोगात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के कथन का निराकरण करता है, हारियोजने = ग्रह पात्र हारियोजन में बचे हुए शेष सोमरस के भक्षण में, सर्वसंयोगात् = समस्त ऋत्विजों का सम्बन्ध प्राप्त होने के कारण ऋत्विज् ग्रावस्तुत् भी शेष सोम के भक्षण में अधिकृत हैं, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** हारियोजन ग्रह-पात्र का तात्पर्य उस ग्रह संज्ञक यज्ञीय पात्र से है, जिसमें सोमरस भरकर 'हरिरसि हारियोजनः मन्त्र का पाठ करते हुए आहुति समर्पित की जाती है। हारियोजन ग्रह-पात्र में विद्यमान सोमरस के भक्षण में समस्त ऋत्विजों का अधिकार है- 'अथैषः- हारियोजनः सर्वेषामेव भक्षः' शतपथ ब्राह्मण का यह वाक्य इस कथन में प्रमाण है। 'सर्व' पद से चमसवान् होता, ब्रह्मा, उद्‌गाता आदि तथा चमसहीन 'ग्रावस्तुत्' संज्ञक व्यक्ति सभी का ग्रहण हो जाता है। अतएव चमस से रहित होते हुए भी ग्रावस्तुत् व्यक्ति भी शेष सोम भक्षण में अधिकारी है॥ २८॥

**उपर्युक्त कथन पर जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

**( ४८५ ) चमसिनां वा सन्निधानात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद हारियोजन ग्रह पात्र में स्थित सोम के भक्षण में ग्रावस्तुत् के अधिकृत न होने का कथन करता है। उसका कारण यह कि वहाँ पर कथित 'सर्व' पद, चमसिनाम् = चमसवानों की, सन्निधानात् = सन्निधि में पढ़े जाने के कारण चमस वाले होता, ब्रह्मा आदि का ही ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है।

**व्याख्या—** 'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति' अर्थात् अपने चमस के क्रम के अनुरूप अन्य चमसों में स्थित सोम को चमसवान् भक्षण करते हैं। 'अथैष: (हारियोजन:) सर्वेषामेव भक्ष:' हारियोजन ग्रह पात्र में स्थित सोम भक्षण में सभी अधिकृत हैं। इस हारियोजन सोमभक्षण के विधायक वाक्य की सन्निधि में ही इससे पूर्व उक्त वाक्य पठित है। पारस्परिक सामीप्यता-सन्निधि के कारण दोनों वाक्य एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं और इस पारस्परिक एक वाक्यता के कारण प्रत्यक्ष है कि 'सर्व' पद उन चमसियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनका उल्लेख संदर्भ के पहले भाग में प्राप्त है। अत: चमसरहित ग्रावस्तुत् को उद्गातृ चमस में विद्यमान शेष सोम भक्षण का अधिकारी नहीं माना जा सकता॥ २९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४८६ ) सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुति:॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** तु = सूत्र में प्रयुक्त यह पद इस कथन का निराकरण करता है कि हारियोजन ग्रह पात्र में स्थित शेष सोम भक्षण के लिए मात्र चमसी ही लालायित रहा करते हैं। सर्वेषाम् = सभी ऋत्विजों के सम्बन्ध का, विधित्वात् = विधानकर्त्ता विधि वाक्य होने के कारण, चमसिश्रुति: = सन्दर्भ के पहले भाग में चमसवानों का सुना जाना, तदर्था = हारियोजन ग्रह-पात्र में स्थित सोमरस की प्रशंसा रूप प्रयोजनार्थ ही है।

**व्याख्या—** जिनके-जिनके पास उनका अपना-अपना चमस है, उनमें तो वे सोम भक्षण करते ही रहते हैं, उनकी विधि-व्यवस्था बतलाने वाले दूसरे वाक्य हैं। अपने-अपने चमस का सोम भक्षण व्यक्तिगत रूप से चमसवान् का ही उपकारक (कल्याणकर्त्ता) माना जाता है, परन्तु 'हारियोजनस्य सर्वे लिप्सन्ते' वाक्य से यह संकेत किया गया है कि हारियोजन ग्रह संज्ञक विशिष्ट यज्ञीय पात्र में शेष बचा सोम अन्यों के चमसों में विद्यमान शेष सोम से पृथक् है। अतएव उसके भक्षण में समस्त ऋत्विजों का अधिकार है, चाहे वे होता, ब्रह्मा, उद्गाता आदि चमसी हों, अथवा चमसहीन ग्रावस्तुत्। इस प्रकार ग्रावस्तुत् संज्ञक व्यक्ति को भी सोम भक्षण का अधिकार प्राप्त है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३०॥

## ( ४८७ ) वषट्‌काराच्च भक्षयेत्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** च = और , वषट्कारात् = 'वषट्' पद के उच्चारण से 'वषट्कार' को भी, भक्षयेत् = सोम भक्षण करना चाहिए।

**व्याख्या—** 'वषट्कर्तु: प्रथम भक्ष:' वषट् का उच्चारण करके आहुति देने वाला ऋत्विक् होता सोम भक्षण का प्रथम अधिकारी होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे समाख्या एवं वाक्य इन दोनों को सोम भक्षण का निमित्त माना गया है, वैसे ही वषट्कार को भी सोम भक्षण में निमित्त है, ऐसा स्वीकार किया गया है॥ ३१॥

## ( ४८८ ) होमाभिषवाभ्याञ्च॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, होमाभिषवाभ्याम् = होम तथा अभिषव की प्रक्रिया में भी सोम भक्षण का विधान है।

**व्याख्या—** 'हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्च: परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति' उपर्युक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत इस वाक्य का अर्थ है- हविर्धान संज्ञक यज्ञीय स्थल में पत्थर खण्डों के द्वारा सोम को कूट-पीसकर तथा छानकर तैयार करने के अनन्तर आहवनीय अग्नि में उसकी आहुति देकर, वापस आकर सदोमण्डप में बैठकर शेष सोम का भक्षण करते हैं। जितने भी होता, ऋत्विज् अभिषव एवं हवन आदि सम्पन्न

करते हैं, वे सभी शेष सोम भक्षण में अपनी भागीदारी करते हैं। अत: समाख्या, वाक्य तथा वषट्कार की तरह अभिषव एवं होम भी सोम भक्षण में निमित्त हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ३२॥

**उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर शिष्य की जिज्ञासा है कि ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में पठित 'प्रैतु होतुश्चमस:' आदि वाक्य में प्रत्यक्षत: होता, ब्रह्मा, उद्‍गाता आदि के चमसों में सोम के भक्षण का कथन किया गया है, किन्तु 'हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये' आदि वाक्य में वैसा कथन प्राप्त न होने से चमसवानों से भिन्न वषट्कार, अभिषेक व होम कर्त्ता को चमस में सोम भक्षण न करके अन्य पात्र में सोम भक्षण करना चाहिए। जिज्ञासु शिष्य के इन्हीं भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

## ( ४८९ ) प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्त: शेषे॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** चमसानाम् = 'प्रैतु होतुश्चमस:' आदि वाक्य जिसमें चमसियों (होता, ब्रह्मा, उद्‍गाता आदि) का उल्लेख मिलता है उसमें, प्रत्यक्षोपदेशात् = प्रत्यक्ष रूप से चमसवानों का कथन (उपदेश) उपलब्ध होने से उन्हीं चमसियों को ही चमस पात्रों में सोम भक्षण का अधिकार प्राप्त है, अव्यक्त: = (किन्तु) जहाँ प्रत्यक्षत: चमस का कथन व्यक्त नहीं है वहाँ, शेषे = सोम भक्षण शेष (चमसियों से) पृथक् पात्र में होना युक्तियुक्त है।

**व्याख्या—** उक्त स्थापित पूर्वपक्ष का आशय यह है कि 'वषट्कर्तु:' तथा 'हविर्धाने' आदि वाक्यों में सभी के सोम भक्षण का कथन तो उपलब्ध है, परन्तु चमस का निर्देश प्रत्यक्ष रूप से न किये जाने से वषट्कर्त्ता आदि को चमसपात्र में सोम भक्षण न करा करके किसी दूसरे पात्र में कराया जाना चाहिए॥ ३३॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

## ( ४९० ) स्याद्वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां कर्त्तुस्तद्वचनत्वात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। स्यात् = वषट् का उच्चारण करते हुए आहुति देने वाले वषट्कर्त्ता आदि ऋत्विजों को चमस में ही सोम भक्षण करना चाहिए, कारणभावात् = कारण यह कि सोम भक्षण के समस्त कारणों की वहाँ पर उपलब्धता होने से, चमसानाम् = चमसियों के समान चमसों का प्रत्यक्ष रूप से, अनिर्देश: = निर्देश न होते हुए भी, कर्त्तु: = वषट्कार आदि सभी के, तद्वचनत्वात् = उस वाक्य में सोम भक्षण का स्पष्ट कथन प्राप्त होने के कारण वषट्कर्त्ता आदि ऋत्विजों का सोमभक्षण भी चमस पात्रों में ही होना चाहिए।

**व्याख्या—** जहाँ पर 'प्रैतु होतुश्चमस:' आदि वाक्य में प्रत्यक्षत: चमसों का सोम भक्षण में विधान मिलता है, उसमें वषट्कर्त्ता आदि के लिए किसी प्रकार का निषेध भी उपलब्ध नहीं कि वषट्कार आदि अन्य (चमस से भिन्न) पात्र में सोमभक्षण करें। 'प्रैतु होतुश्चमस:' आदि वाक्य में जिस प्रकार सोम भक्षण की विधि-व्यवस्था है, 'वषट्कर्तु:' एवं 'हविर्धाने' आदि वाक्यों में भी वैसा ही विधान उपलब्ध है। अत: चमस का स्पष्ट निर्देश न होने पर भी वषट्कर्ता आदि सभी को चमस पात्र में ही सोमभक्षण करना चाहिए॥ ३४॥

## ( ४९१ ) चमसे चान्यदर्शनात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, चमसे = चमसियों के वाक्य (प्रसङ्ग) में, अन्यदर्शनात् = चमसहीन अन्यों का दर्शन होने के कारण भी, ऐसा प्रतीत होता है कि चमस पात्र में ही वषट्कर्त्ता आदि का सोमभक्षण होता है।

**व्याख्या—** 'चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति' (चमसाध्वर्यु के निमित्त चमसों को प्रदान करता है, चमसाध्वर्यु उन्हें वषट्कर्त्ता के लिए पहुँचाता है) इस वाक्य में चमसवानों (होता, ब्रह्मा आदि) के उन्हीं चमसों में दूसरे चमसहीन वषट्कार आदि के सोम भक्षण का कथन है। उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'तान्' पद बहुवचन की सिद्धि करता है। जो यह प्रमाणित करता है कि 'होतृचमस' की संज्ञा वाले चमस में मात्र होता ही सोमभक्षण नहीं करते, प्रत्युत अन्य (वषट्कार आदि) ऋत्विज् भी चमस पात्रों में ही सोम भक्षण करते हैं॥ ३५॥

**सोम भक्षण के क्रम में जिज्ञासु शिष्य के कथन को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

**( ४९२ ) एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** एकपात्रे = यज्ञीय विधान के क्रम में सोम भक्षण के समय एक चमस पात्र में, क्रमात् = अध्वर्यु का क्रम प्रथम होने से, अध्वर्युः = अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् को, पूर्वः = सर्वप्रथम, भक्षयेत् = सोम भक्षण करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम सोम भक्षण अध्वर्यु को ही करना चाहिए, क्योंकि सोम का भाजन (पात्र) उसी के सान्निध्य में रहता है। 'प्रतिप्रस्थाता' संज्ञक ऋत्विक् आहुति देने के अवसर पर सोम से भरा पात्र अध्वर्यु को समर्पित करता है, तब अध्वर्यु अपेक्षा के अनुरूप यज्ञाग्नि में सोम की आहुति देता है। हवन के उपरान्त जो शेष सोम उस पात्र में रह जाता है, उसी शेष सोम का भक्षण समस्त ऋत्विक् बारी-बारी से (एक के बाद एक) किया करते हैं। अतएव जिस ऋत्विक् के सान्निध्य में सोम की विद्यमानता रहती है, वही (अध्वर्यु) सोम भक्षण का प्रथम अधिकारी है। अतः अध्वर्यु को ही एक पात्र में सबसे पहले सोम भक्षण का क्रम पूर्ण करना चाहिए॥ ३६॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ४९३ ) होता वा मन्त्रवर्णात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। मन्त्रवर्णात् = मन्त्र में प्राप्त निर्देश से, होता = होता को ही सर्वप्रथम सोम भक्षण का अधिकरी माना गया है। (अध्वर्यु को नहीं)।

**व्याख्या—** 'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' (ऋग्वेद १०/९४/२) एवं (ऋग्वेद ५/४३/३) २. 'होतेव नः प्रथमः पाहि' आदि मन्त्रों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं- हे प्रस्तरो! तुम कदाचित् होता के भक्षण करने से पहले सोमरस रूपी हवि का भक्षण करते हो। २. हे वायो! भक्षणीय उस मधुरतम सोम रूपी हवि का हम सबके लिए तुम देवताओं में सर्व प्रथम उसी प्रकार से पान करो, जिस प्रकार समस्त ऋत्विजों में होता सर्वप्रथम (यज्ञ में शेष बचे) सोम रस का पान करता है। इस आलंकारिक वर्णन का रहस्य यह है कि पत्थर से जब सोम कूटपीस कर तैयार किया जाता है, तो उस सोम निर्माण की प्रक्रिया में सोम पत्थर में चिपक जाया करता है, उसे ही प्रस्तर द्वारा सोम भक्षण बतलाया है। ऐसे ही सोम के तैयार होने पर वायु का स्पर्श सबसे पहले हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में देव-समूह में वायुदेव का सोम भक्षण अग्निदेव से पूर्व प्राप्त है। 'होतेव' पद का प्रयोग मन्त्र में इसी भाव को लेकर किया गया है। इस प्रकार उक्त मन्त्रों के निर्देशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञावशिष्ट-शेष बचे सोम रस के भक्षण का प्रथम अधिकारी अध्वर्यु नहीं, प्रत्युत 'होता' है। अतः होता को सर्वप्रथम सोम का भक्षण करना चाहिए॥ ३७॥

**( ४९४ ) वचनाच्च॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, वचनात् = वाक्य विशेष से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** 'वषट्कर्त्तुः प्रथम भक्षः' एवं 'पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति' आदि वाक्य यह स्पष्ट करते हैं कि होता को ही प्रथम सोम भक्षण का अधिकार है। होता ही यज्ञ में वौषट् का उच्चारण करता है और फिर उसके अनन्तर यज्ञाग्नि में अध्वर्यु सोम की आहुति देता है। इसी सन्दर्भ में उक्त 'पात्रे समवेतानां' आदि आपस्तम्ब श्रौत सूत्र का वाक्य भी यह बतलाता है कि एक ही पात्र में सोम का भक्षण करने वाले जहाँ अनेक ऋत्विक् हों, वहाँ वषट्कार करने वाला ऋत्विक् 'होता' ही सोम भक्षण का प्रथम अधिकारी है॥ ३८॥

**( ४९५ ) कारणानुपूर्व्याच्च॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कारणानुपूर्व्यात् = कारण के क्रम से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** वषट्कार एवं होम ये दो ही सोम-भक्षण के निमित्त कहे गये हैं। क्रमानुसार प्रथम निमित्त वषट्कार एवं दूसरा निमित्त होम है। वषट्कार का उच्चारण होता द्वारा जब कर दिया जाता है, तब अध्वर्यु होम की प्रक्रिया पूर्ण करता है। यज्ञीय कर्मानुष्ठान की इस आनुपूर्वी-क्रम से भी यह सिद्ध हुआ कि जहाँ एक ही पात्र में अनेक ऋत्विजों द्वारा सोम भक्षण की प्रक्रिया पूर्ण करनी हो, तो वहाँ होता ही सर्वप्रथम सोम भक्षण का अधिकारी माना जाता है॥ ३९॥

**अनेकों ऋत्विजों द्वारा एक ही पात्र में सोम भक्षण किये जाने के विषय में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या यह सोम भक्षण अनुमति पूर्व किया जाना उचित है या बिना अनुमति के? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४९६ ) वचनादनुज्ञातभक्षणम्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** अनुज्ञातभक्षणम् = अनुमतिपूर्वक ही सोमभक्षण किया जाना चाहिए, वचनात् = शास्त्रीय वाक्यों से यही जाना जाता है।

**व्याख्या—** 'इन्द्रो वै त्वष्टुः सोममनुपहूतोऽपिबत् स विश्वक् सोमपीथेन व्यार्ध्यत्, तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पातवै' अर्थात् इन्द्र ने त्वष्टा के सोम का पान अनुपहूत (बिना अनुमति के) होकर कर लिया, तब तिरस्कार को प्राप्त हुआ। इसलिए सोमपान हेतु आहूत हुए बिना नहीं जाना चाहिए। लोक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि बिना बुलाये कोई किसी के खानपान उत्सव आदि में सम्मिलित नहीं होता और यदि कोई बिना बुलाये वहाँ पहुँचकर भोज आदि में सम्मिलित होता है, तो उसकी निन्दा होती है। ऋत्विजों को यजमान जब सोम भक्षण के लिए बुलाता है, तब ऋत्विज् निर्धारित स्थल पर उपस्थित होकर सोम रस का पान करते हैं॥ ४०॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यहाँ अब यह है कि सोमपान के लिए लौकिक वाक्य द्वारा ऋत्विजों का अनुज्ञापन करना चाहिए? अथवा वैदिक वाक्य से? सूत्रकार ने बताया—**

## ( ४९७ ) तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** 'उपहूत उपह्वयस्व' इति = 'उपहूत उपह्वयस्व' आदि, अनेन = इस वैदिक वाक्य से ऋत्विजों को, तत् = उस सोमपान के लिए इसलिए, अनुज्ञापयेत् = अनुज्ञापन करना चाहिए (क्योंकि), लिङ्गात् = 'उपहूत उपह्वयस्व' वाक्य में अनुज्ञापन का बल दृष्टिगोचर होता है।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय में जहाँ-जहाँ उपहूत पद का प्रयोग दृष्टिगत होता है, उसके द्वारा सर्वत्र प्राशन एवं भक्षण का निर्देश भी मिलता है। साथ ही साथ यह भी जाना जाता है कि 'उपहूत, उपह्वयस्व' वाक्य में अनुमति देने की (अनुज्ञापन की) सामर्थ्य विद्यमान (समाहित) है। अतएव 'उपहूत, उपह्वयस्व' वैदिक वाक्य द्वारा अनुमति-स्वीकृति आदि का प्रयोजन पूर्ण हो जाने से अनुज्ञापन कर्म के निमित्त किसी लौकिक वाक्य की आवश्यकता ही नहीं रह जाती॥ ४१॥

**शिष्य का सन्देह अब यह है कि क्या वैदिक वाक्य द्वारा अनुज्ञापन किये जाने की स्थिति में उसके प्रत्युत्तर में लौकिक वाक्य प्रयुक्त किया जा सकता है? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ४९८ ) तत्रार्थात् प्रतिवचनम्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उसमें (वहाँ) अथवा उस अनुमति स्वीकृति में- अनुज्ञापन में, अर्थात् = प्रयोजन की सामर्थ्य से उक्त 'उपहूतः' पद, प्रतिवचनम् = प्रत्युत्तर के लिए ही है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'आपस्तम्ब श्रौतसूत्र' में स्पष्टतः उल्लेख है- 'उपहूत इति प्रतिवचनः' प्रत्युत्तर के लिए 'उपहूत' का प्रयोग ऋत्विक् द्वारा किया जाना चाहिए। वैदिक वाङ्मय में अनुज्ञापन के लिए वर्णित दो पदों 'उपहूत' एवं 'उपह्वयस्व' में से 'उपह्वयस्व' पद यजमान द्वारा उच्चारित किया जाने वाला क्रियापद है। 'उपहूतः' पद

प्रत्युत्तर स्वरूप है, जो यजमान के आमन्त्रण को स्वीकृति देकर ऋत्विक् द्वारा उच्चरित किया जाता है, अतएव यह सुनिश्चित हुआ कि प्रश्न एवं प्रत्युत्तर दोनों ही वैदिक वाङ्मय में प्राप्त वचन द्वारा ही दिये जाने चाहिए। इसके लिए लौकिक वाक्य प्रयुक्त नहीं होना चाहिए॥ ४२॥

**शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि वैदिक वचन द्वारा किया जाने वाला अनुज्ञापन सर्वत्र सोम पान के अवसर पर होना चाहिए? अथवा जहाँ एक पात्र में अनेक ऋत्विजों द्वारा सोम भक्षण किया जाता है वहाँ? सूत्रकार ने इसका अगले सूत्र में समाधान दिया—**

## ( ४९९ ) तदेकपात्राणां समवायात्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** समवायात् = अनेक ऋत्विजों द्वारा किया जाने वाला सोम भक्षण एक ही पात्र में एकत्रित होने के कारण, तत् = वह सोम भक्षण, तत् = वह सोम भक्षण का अनुज्ञापन, एकपात्राणाम् = एक पात्र में सोम भक्षण करने वाले ऋत्विजों का ही किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का आशय यह है कि जहाँ सभी का अपना-अपना पात्र सुनिश्चित रहता है और अपने-अपने पात्र में ही सोम भक्षण किया जाना हो, तो वहाँ पर अनुज्ञापन की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती; परन्तु सामूहिकता में जब एक ही पात्र द्वारा उस सोम भक्षण का कार्य सम्पन्न किया जाना हो, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अपने-अपने क्रम का ध्यान रखते हुए अनुमति अनुज्ञापन पूर्वक सोम भक्षण किया जाये। अतएव अनुमति अनुज्ञापन सर्वत्र सोम भक्षण में न होकर, जहाँ एक ही पात्र में अनेकों व्यक्तियों द्वारा सोम भक्षण किया जाना हो, वहाँ होना चाहिए॥ ४३॥

**'यजमानस्य याज्या, सोभिप्रेष्यति होतरेतद् यज' इति अर्थात् यजमान की याज्या है, यजमान प्रशास्ता से प्रेरित होकर होता को प्रैष देते हुए कहता है- हे होता! इसके द्वारा यजन करो। एक अन्य वाक्य है- 'स्वयं वा निषद्य यजति' होता को यजन के लिए न कहकर यजमान स्वयं ही बैठकर यजन करता है। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि ऐसी स्थिति में सोम भक्षण क्या होता सोमपान का अधिकारी रहता है? इन्हीं भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५०० ) याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** प्रवरवत् = यज्ञानुष्ठान के शुभारम्भ में होता का चयन करने के समान, याज्यापनय = याज्या (ऋचा) का सम्बन्ध समाप्त होने के कारण, भक्षः = होता के सोम भक्षण का अधिकार, नापनीतः = बना ही रहता है।

**व्याख्या—** यज्ञकर्ता यजमान द्वारा जब यज्ञीय कर्मानुष्ठान के लिए 'होता' के रूप में एक ऋत्विक् का वरण करता है, जो अपने आप में एक कर्म है, जिस कर्म की विद्यमानता पूरे अनुष्ठान तक बनी रहती है। कदाचित् होता द्वारा यदि याज्या का पाठ न भी किया जाये, तो वैसी दशा में होता, होता ही रहता है अर्थात् उसका होतापन नष्ट नहीं हुआ करता। अतएव यजमान द्वारा याज्या का पाठ करने पर भी होता का सोम भक्षण बाधित नहीं होना चाहिए। 'याज्याया अधिवषट् करोति' याज्या के पाठ के बाद 'वषट्' करता है, इस वाक्य से भी होता के सोम भक्षण का अधिकार समाप्त नहीं होता; क्योंकि यजमान जब याज्या का पाठ कर लेगा, तो उसके बाद ही होता 'वषट्कार' का उच्चारण करेगा, अतः वषट्कर्त्ता होता ही सोम भक्षण का अधिकारी होगा॥ ४४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार द्वारा अगले दो सूत्रों में किया गया—**

## ( ५०१ ) यष्टुर्वा कारणागमात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—**वा =यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। इसका तात्पर्य है कि होता का याज्या के साथ सम्बन्ध विच्छेद होने पर भी होता का सोम भक्षण अबाधित रहेगा, ऐसा कहा जाना अनुचित है। कारण यह कि,

कारणागमात् = सोम भक्षण के कारण की उपलब्धता से, यष्टुः = यजनकर्त्ता यजमान ही सोम भक्षण का अधिकारी है।

**व्याख्या—** याज्या ऋचाओं का पाठ करने के बाद वषट्कार का उच्चारण करते हुए यज्ञाग्नि में सोम हवि की आहुति देने की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'यजति' पद में समाहित है। प्रसङ्गागत उक्त वाक्य 'स्वयं वा निषद्य यजति' में प्रयुक्त 'यजति' पद का अर्थ यह नहीं कि यजमान ने याज्या ऋचा पढ़ी और 'वषट्' का उच्चारण होता ने किया। यजमान ही याज्या का पाठ करने के बाद वषट्कार का उच्चारण करता है और आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। अतः सोम भक्षण का अधिकारी यजमान ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४५॥

## (५०२) प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्तत्वात् = यज्ञ के शुभारम्भ से ही होता का वरण यजमान द्वारा किये जाने पर यज्ञ के समापन तक (होता के) यज्ञीय कर्म में निरत (प्रवृत्त) रहने से, प्रवरस्य = वरण किये गये होता का होता-पन, अनपायः = समाप्त नहीं हो जाता (बना रहता है)।

**व्याख्या—** उपर्युक्त विवेचना में बताया जा चुका है कि यज्ञ के शुभारम्भ में ही यजमान होता के रूप में ऋत्विक् का वरण कर लिया करता है तथा उस होता ऋत्विक् का होतापन यज्ञ के समापन काल तक बना रहता है। यजमान के द्वारा याज्या ऋचाओं से स्वयं ही हवन किये जाने से उसके द्वारा किये गये होता के वरण को समाप्त मान लेने पर तो फिर से उसके द्वारा होता का वरण करना होगा, जो शास्त्र विरुद्ध होने से पूर्णतः अमान्य होगा। 'यत्र वषट्कारस्तत्र भक्षणमपि' जिसके द्वारा वषट्कार का उच्चारण किया जायेगा सोम भक्षण भी वही करेगा। यजमान याज्या ऋचा का पाठ करता हुआ तथा वषट्कार का उच्चारण करता हुआ यज्ञाग्नि में सोम हवि की आहुति देता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत अनुष्ठान में होता से सोम भक्षण का सम्बन्ध विच्छेद है, होता के वरण से नहीं है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४६॥

**'स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्,न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमसौ भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' अर्थात् वह ज्योतिष्टोम यज्ञकर्त्ता यदि क्षत्रिय या वैश्य है तथा वह सोम भक्षण का इच्छुक है, तो उसे वटवृक्ष की कोपलों (नरम-नरम कलियों) का रस दही में मिश्रित कर भक्षण कराना चाहिए, सोमरस नहीं।**

**ज्योतिष्टोम याग के क्रम में सोम भक्षण के सन्दर्भ में पठित उक्त वाक्य के विषय में शिष्य का संदेह यह है कि क्या यह (वट कोंपल रस मिश्रित) फल चमस में भरा रस यज्ञकर्त्ता के मात्र भक्षण के लिए है- फलचमस का विकार मात्र है? या आहवनीय अग्नि में फल चमस की आहुति न देकर, सोमरस की आहुति दी जायेगी-क्या इसे याग का विकार माना जाये? अगर इसे भक्ष का ही विकार मानें तो? इन्हीं भावों को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## (५०३) फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** फलचमसः = वट कोंपल दही मिश्रित-फल रस वाला चमस, नैमित्तिकः = विशिष्ट निमित्त से उपलब्ध होने के कारण, भक्षविकारः = सोमरस के भक्षण का विकार है, श्रुतिसंयोगात् = अतएव श्रुति द्वारा इसका सम्बन्ध भक्षण के साथ ज्ञात होने से, इसका प्रयोग मात्र सोम भक्षण के स्थान पर होना चाहिए, आहुति देने के स्थान पर नहीं।

**व्याख्या—** यज्ञकर्त्ता यजमान क्षत्रिय अथवा वैश्य के लिए सोम भक्षण के स्थान पर उस फल-चमस को ही भक्षण हेतु दिया जाना चाहिए, यही श्रुति का कथन है- 'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्'। यहाँ पद है 'भक्षं प्रयच्छेत्' न कि 'यजेत्' या 'इज्यां कुर्यात्'। अतः यजन आदि का कथन न होने से उक्त फल-चमस को भक्ष का विकार

मानते हुए सोमरस की ही आहुति दी जानी चाहिए। सूत्र का तात्पर्य यही है॥ ४७॥

**अगले चार सूत्रों में आचार्य ने समाधान करने के भाव से पूर्वपक्ष का निराकरण किया—**

## ( ५०४ ) इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है तथा इसका आशय यह है कि फल-चमस को भक्ष का विकार नहीं माना जा सकता। संस्कारस्य = फल चमस के संस्कार का, तदर्थत्वात् = यज्ञ के लिए होने से, इज्याविकारः = वह यजन (याग) का विकार है, ऐसा मानना युक्ति-युक्त एवं शास्त्र सम्मत है।

**व्याख्या—** 'स यदि राजन्यं (क्षत्रिय) वा वैश्यं वा याजयेत्' आदि वाक्य के शुभारम्भ में 'यजति' के साथ फल-चमस का संयोग स्पष्ट होने से प्रमाणित हो जाता है कि उक्त फल चमस भक्ष का विकार न होकर याग का विकार है। वटवृक्ष की मुलायम-कोमल कोपलों को कूट-पीस तथा छानकर उससे प्राप्त रस को दही में मिलाकर जो उसे सुसंस्कारित किया जाता है। फल चमस के साथ जिस प्रकार भक्षण का सम्बन्ध श्रुत है, वैसे ही याजयेत् से यजति के साथ भी श्रुत सम्बन्ध है। इससे प्रारम्भ एवं समापन दोनों की सामञ्जस्यता बनी रहती है। 'यजति' के साथ पूर्व में संयोग होने पर ही भक्षति के साथ फल चमस का संयोग संभावित है। वैसे भी शास्त्र की दृष्टि में याग शेष (सोमरस) का भक्षण यज्ञकाल में मान्य है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यजन से संयुक्त होने के कारण फल चमस भक्ष का विकार न होकर इज्या का विकार है॥ ४८॥

## ( ५०५ ) होमात्॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** होमात् = होम का निर्देशात्मक कथन उपलब्ध होने से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि फल-चमस याग (इज्या) का ही विकार है।

**व्याख्या—** 'यदान्यांश्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति' जब अन्य चमसों का होम ऋत्विज् द्वारा किया जाता है, तब इस फल-चमस का (जो कि दर्भ (घास) को एकत्रित करके मुट्ठी के आकार का बनाया गया है) दर्भ मुष्टि का भी होम करता है। यह उक्त वाक्य एवं इससे प्राप्त होम का कथन यह सिद्ध करता है कि यज्ञीय प्रयोजन के लिए बनाया गया फल-चमस यज्ञ (इज्या) का विकार है और इसका बनाया जाना भी भक्षण के उद्देश्य को लेकर नहीं है; क्योंकि यज्ञशेष भक्षण तो शास्त्रीय दृष्टि से मान्य है ही॥ ४९॥

## ( ५०६ ) चमसैश्च तुल्यकालत्वात्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** चमसः = अन्य चमसों के साथ फल चमस को ग्रहण (उठाये जाने का) किये जाने का, तुल्यकालत्वात् = समय समान होने से, च = भी यह सिद्ध हो जाता है कि इस फल चमस का सम्बन्ध याग से है और इसे याग का विकार माना जाना उचित है।

**व्याख्या—** सोमरस से परिपूर्ण द्रोण कलश में से जिस प्रकार से हवन करने के लिए चमसों में भरकर उसे उठाया जाता है, उसी प्रकार वटवृक्ष के कोंपलों व उसके रस का दही में सम्मिश्रण किया हुआ रस भी हवन करने के लिए फल चमस में भरकर उठाया जाता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि फल चमस मात्र भक्षण सी सम्बद्ध न होकर याग से भी संयुक्त होने से इज्या (याग) का विकार है, ऐसा मानना चाहिए॥५०॥

## ( ५०७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लक्षण हेतु के दृष्टिगत होने से भी यह प्रमाणित होता है कि फल-चमस याग (इज्या) का विकार है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रसङ्ग में पढ़े जाने वाले उक्त वाक्य 'स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्' आदि के उपसंहार में 'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' कहा गया है अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य यजमान के

लिए उस भक्ष को दिया जाना चाहिए, सोम को नहीं। सोमरस की आहुति दिये जाने पर तो उस यज्ञ शेष सोम को ही भक्षण हेतु दिया जाता, परन्तु सोम भक्षण का निषेध किया जाना यह प्रमाणित करता है कि फल चमस की ही आहुति आहवनीय अग्नि में समर्पित की गई, अतएव उसका सम्बन्ध याग से सुनिश्चित है। अत: फलचमस इज्या (यज्ञ) का विकार है, यह सर्वथा प्रमाणित है॥ ५१॥

**'शतं ब्राह्मण: सोमान् भक्षयन्ति; दशदशैकैकं चमसं अनुसर्पन्ति' सौ ब्राह्मण सोमरस का भक्षण करते हैं; दश दश ( ब्राह्मण ) एक-एक चमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं। राजसूय यज्ञ की परिसीमा में आयोजित होने वाले 'दशपेय' संज्ञक विशेष यज्ञ के प्रसङ्ग में पठित उपर्युक्त वाक्य के सम्बन्ध में शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि चमसों की संख्या यहाँ कुल दस है- ( यजमान क्षत्रिय या वैश्य का ) राजन्य चमस एक ही संख्या में तथा नौ ब्राह्मण ऋत्विजों के बतलाये हैं। इस सन्दर्भ में शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५०८ ) अनुप्रसर्पिषु सामान्यात्॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** सामान्यात् = जाति की समानता के कारण, अनुप्रसर्पिषु = यजमान (राजन्य) चमस में विद्यमान यज्ञशेष सोमरस का भक्षण अनुसर्पण पूर्वक दस राजन्यों को ही करना चाहिए (ऐसा प्रतीत होता है)।

**व्याख्या—** अनुसर्पण की प्रक्रिया सोम भक्षण के क्रम में पूर्ण हुआ करती है। सोमपान हेतु ऋत्विजों का एक-दूसरे के पीछे शनै: शनै: मन्द गति से सरकना अनुसर्पण कहलाता है। 'राजसूय यज्ञ करने का अधिकार क्षत्रिय को होने से 'दशपेय' यज्ञ में वर्ण की समानता के आधार पर यजमान (राजन्य) चमस के सोम भक्षण हेतु दस क्षत्रियों का ही अनुसर्पण उचित एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। क्योंकि राजन्य चमस में विद्यमान सोम न्यग्रोधस्तिभियों द्वारा विनिर्मित होता है और उसे सोम चमस की पवित्रता भी नहीं प्राप्त है। इसलिए वह ब्राह्मण ऋत्विक् के ग्रहण करने योग्य भी नहीं है तथा ब्राह्मण क्षत्रिय यजमान का सजातीय भी नहीं है। अत: राजन्य चमस में राजन्यों का ही अनुसर्पण उचित है॥ ५२॥

**अगले एवं प्रस्तुत पाद के अन्तिम सूत्र में सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ५०९ ) ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात्॥ ५३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। तुल्यशब्दत्वात् = उपर्युक्त वाक्य में ('क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग न होकर) पूर्णत: एकाकी ब्राह्मण शब्द का ही प्रयोग किये जाने से, ब्राह्मण: = ब्राह्मणों को ही यजमान (राजन्य) चमस में अनुसर्पण करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त तुल्य शब्द 'समान' शब्द की तरह से एक अर्थ का बोध कराने वाला है। उपर्युक्त वाक्य में जाति का बोध कराने वाला 'ब्राह्मणा:' ही प्रयुक्त किया गया है-शतं ब्राह्मणा:। वाक्य में क्षत्रिय (राजन्य ) अथवा वैश्य का कहीं किंचित् भी प्रयोग नहीं आया है। ब्राह्मणों की संख्या की अधिकता को ध्यान में रखते हुए 'ब्राह्मणा:' पद प्रयुक्त है। 'शतं ब्राह्मणा:' से सौ ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है न कि सौ राजन्य। एक सौ ब्राह्मणों का सोम भक्षण बतलाया गया है- 'शतं ब्राह्मणा: सोमान् भक्षयन्ति', अतएव सौ ब्राह्मणों का अनुसर्पण दस-दस के समूह बनाकर किया जाना सुनिश्चित है। राजन्य चमस की संख्या केवल एक है, शेष नौ चमस ब्राह्मण ऋत्विजों के हैं। वाक्य में प्रयुक्त 'भक्षयन्ति' तथा 'अनुसर्पन्ति' दोनों ही क्रिया पदों का जो कर्तृ पद है। वह 'ब्राह्मणा:' ही होने से दस ब्राह्मणों का ही अनुसर्पण राजन्य चमस के भक्षण के लिए माना जायेगा न कि दस राजन्यों का और यही समीचीन भी है॥ ५३॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य पञ्चम: पाद:॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये षष्ठः पादः ॥

**तृतीय अध्याय के षष्ठपाद का आरम्भ सूत्रकार ने तैत्तिरीय संहिता के - 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति। सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति' ( जिस यजमान का स्रुवा खैर की लकड़ी का बना हुआ रहता है, वह समझे कि छन्दों के रस द्वारा ही आहुति प्रदान करता है ) तथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' ( जिसका ( यजमान का ) जुहू, ( यज्ञीय पात्र ) पलाश की लकड़ी का बना होता है, वह निन्दा वाक्यों का श्रवण नहीं करता। ) शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि स्रुवा को खैर तथा जुहू को पलाश से बनाये जाने की विधि-व्यवस्था का सम्बन्ध प्रकृति याग के साथ मानना चाहिए ? अथवा प्रकृति एवं विकृति दोनों के साथ ? जिज्ञासु शिष्य के भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५१० ) सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणात् = किसी यज्ञ विशेष के प्रकरण में पठित न होने के कारण उपर्युक्त यज्ञ पात्रों के बनाने का विधान, सर्वार्थम् = प्रकृति याग एवं विकृति याग सभी के लिए है, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त वाक्य किसी विशेष यज्ञीय प्रकरण में पठित न होने से अनारभ्याधीत हैं, अतः उपर्युक्त वाक्यों द्वारा किया गया स्रुवा एवं जुहू पात्रों का खैर एवं पलाश की लकड़ी से बनाये जाने का विधान, प्रकृति एवं विकृति दोनों प्रकार के यागों से सम्बन्धित है, ऐसा ही माना जाना चाहिए ॥ १ ॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ५११ ) प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है, अद्विरुक्तत्वात् = दो बार अभिव्यक्ति न हो जाये, इस कारण से (उपर्युक्त विधि वाक्य), प्रकृतौ = प्रकृति याग से सम्बन्ध रखते हैं, ऐसा माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'अद्विरुक्तत्वात्' पद का आशय यह है कि यदि अप्रकरण पठित उपर्युक्त वाक्यों का सम्बन्ध प्रकृति एवं विकृति दोनों यज्ञों के साथ माना जाता है, तो उस विधि की निर्देशात्मक अभिव्यक्ति दो बार हो जायेगी। एक बार प्रकृति यज्ञ में साक्षात् (प्रत्यक्ष) विधान होगा तथा दूसरी बार 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस विधान के अनुसार विकृति यज्ञ में पुनः उसका कथन करना होगा। इस प्रकार से एक ही कर्म का विधान दो बार किया जाना अशास्त्रीय एवं प्रयोजन रहित माना जायेगा। अतएव ऐसी दशा में उपर्युक्त अप्रकरण पठित वाक्यों द्वारा बतलाया गया खदिरता आदि का विधान मात्र एकाकी प्रकृति याग से ही सम्बन्धित मानना युक्त होगा, 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्याः, इस वाक्य विधान से विकृति याग में (खैर का स्रुवा एवं ढाक का जुहू) उक्त प्रयोग भी बाधित नहीं होगा। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अप्रकरण पठित-अनारभ्याधीत वैदिक वचनों का सम्बन्ध-संयोग विकृति यज्ञों के साथ न होकर मात्र प्रकृति यज्ञों के साथ है ॥ २ ॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन यह है कि विकृति याग में भी यदि अप्रकरण पठित उपर्युक्त विधि-वाक्यों का सम्बन्ध माना जाये, तो द्विरुक्तता दोष उपस्थित नहीं होगा। इन्हीं भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५१२ ) तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्व पक्ष का द्योतक है। तद्वर्जम् = अनारभ्याधीत- अप्रकरण-पठित विधि वाक्यों का प्रयोग प्रसङ्ग को छोड़कर अतिदेश वाक्य 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्याः' की प्रवृत्ति, वचनप्राप्ते = विधि प्रकरण में पठित वाक्यों में हुआ करती है।

**व्याख्या—** अप्रकरण पठित- अनारभ्याधीत वाक्य प्रेरक वाक्यों की तुलना में बलवान् व निराकांक्ष होता है। प्रकृति यागों में अनुष्ठित किये जाने वाले धर्म का जहाँ निर्देश प्राप्त हो तथा विकृतियागों में उनकी अपेक्षा-

आवश्यकता भी हो, अतिदेश वाक्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्याः' का प्रयोग उन्हीं-उन्हीं स्थलों पर होता है। अतएव अनारभ्याधीत-अप्रकरण पठित वैदिक वचनों का सम्बन्ध प्रकृति एवं विकृति दोनों प्रकार के यागों से है, ऐसा मानना चाहिए॥ ३॥

**पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण के क्रम में ही सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की आशङ्का को भी सूत्रित किया—**

**( ५१३ ) दर्शनादिति चेत्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** इति चेत् = यदि ऐसा कहें कि, दर्शनात् = प्रयाज आदि की उपलब्धता विकृति यागों में दृष्टिगोचर होने से (अनारभ्याधीत-अप्रकरण पठित वैदिक वचन, प्रेरक वाक्य की तुलना में बलवान् नहीं माने जा सकते)।

**व्याख्या—** प्रेरक वाक्य यदि बलहीन है, तो प्रयाजों का विकृति यागों में दिखाई पड़ना सिद्ध होगा, ऐसा सन्देह सिद्धान्त वादी की ओर से व्यक्त किया गया है। सौर्येष्टि में पठित वाक्य 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' प्रत्येक प्रयाज में कृष्णल से हवन करता है। 'कृष्णला' का अभिप्राय गुञ्जा अथवा घोंघची से है। प्रयाज हवन की दृष्टिगोचरता सौर्येष्टि में उसी अवस्था में प्रमाणित हो सकती है, जब अप्रकरण पठित विधि वाक्यों की अपेक्षा प्रेरक वाक्यों को समर्थ मानें। अतएव अनारभ्याधीत-अप्रकरण पठित वेद वचनों का प्रयोग प्रकृति एवं विकृति दोनों यज्ञों में नहीं, प्रत्युत एक मात्र प्रकृति याग में ही मानना उचित है॥ ४॥

**सिद्धान्त पक्ष की आशङ्का का समाधान पूर्वपक्ष ने प्रस्तुत किया, उसे सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( ५१४ ) न चोदनैकार्थ्यात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** चोदनैकार्थ्यात् = प्रेरक वाक्य की अर्थवत्ता अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होने से, न = उन्हें अप्रकरण-पठित विधि वाक्यों से बलवान् मानना उचित नहीं।

**व्याख्या—** प्रकरण विशेष में पढ़े जाने वाले विधि वचनों का संयोग-सम्बन्ध उन्हीं प्रकृति यज्ञों से माना जाता है, जिनके प्रकरण में उनको पढ़ा गया हो। उपर्युक्त विधि वाक्यों की उपलब्धता विकृति याग में प्रेरक वाक्यों द्वारा हुआ करती है, जबकि जो वाक्य अनारभ्याधीत हैं, उन विधि-वाक्यों का संयोग मात्र किसी एकाकी प्रकृति याग से न होकर प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यागों से स्वीकार करके उनका प्रयोग दोनों में ही माना जाना चाहिए। प्रेरक वाक्यों का प्रायोगिक स्थल उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य जगह पर होने से अनारभ्य विधि वाक्यों का प्रयोग प्रकृति एवं विकृति दोनों प्रकार के यज्ञों में होना चाहिए॥ ५॥

**सिद्धान्त पक्ष की आशङ्का को जो पूर्वपक्षी द्वारा इंगित की गई, उसे सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( ५१५ ) उत्पत्तिरिति चेत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तिः = समस्त विधि वाक्यों का प्रादुर्भाव प्रकृति यज्ञों में होने के कारण विधान करने वाले वाक्यों का प्रायोगिक समावेश प्रकृतियाग में ही माना जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाता है, तो?

**व्याख्या—** तात्पर्य यह है कि वैदिक वचनों द्वारा सर्वप्रथम प्रकृति याग का ही निर्देशात्मक कथन उपलब्ध होता है। प्रकृतियाग के प्रयोग के पश्चात् ही विकृति याग का आना होता है और उसके आने पर ही 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश वाक्य द्वारा जो धर्म प्रकृति यागों में विहित हैं, उनकी उपलब्धता विकृतियागों में हो जाया करती है। अतएव अनारभ्य विधि वचनों का प्रयोग प्रकृति एवं विकृति दोनों यज्ञों में न मानकर मात्र प्रकृति यागों में ही माना जाना चाहिए॥ ६॥

**पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्त आशङ्का का जो समाधान किया गया, उसे सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया—**

**( ५१६ ) न तुल्यत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन युक्त नहीं, तुल्यत्वात् = क्योंकि दोनों यज्ञों (प्रकृति एवं विकृति) में विधेय अर्थ की समानता होने से यज्ञ विशेष के प्रकरण में भी उक्त अतिदेश वाक्यों का निवेश मानना चाहिए।

**व्याख्या—** अनारभ्याधीत विधि वाक्यों द्वारा बोधित धर्म का निवेश प्रकृतियाग में पहले अवश्य होता है, परन्तु अनुष्ठान का जो स्वरूप प्रकृतियाग में रहता है, वैसा ही स्वरूप विकृतियाग में भी रहा करता है। अतएव दोनों यज्ञों (प्रकृति-विकृति) में प्राप्त विधेय अर्थ की यह समानता की स्थिति सिद्ध करती है कि अनारभ्य विधि वाक्यों का प्रयोग एक मात्र, प्रकृति याग में न मानकर यदि प्रकृति एवं विकृति दोनों यज्ञों में स्वीकार किया जाये, तो इस मान्यता से अनुष्ठान का क्रम एवं उसका स्वरूप बाधित नहीं होगा॥ ७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने अपना समाधान प्रस्तुत किया—**

## (५१७) चोदनार्थकात्स्न्यात् तु मुखविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निस्तारण हेतु प्रयुक्त है। चोदनार्थकात्स्न्यात् = प्रेरक वाक्य द्वारा विकृतियाग में अनुष्ठान के सभी धर्मों की उपलब्धता से तथा, मुख विप्रतिषेधात् = प्रमुख रूप से पढ़े गये अनारभ्याधीत विधि वाक्यों के प्रतिरोध (विरोध) में प्रेरक वाक्यों की प्रवृत्ति पहले से होने से, प्रकृत्यर्थः = अनारम्भ-विधि का प्रयोग प्रकृतियाग के लिए ही है।

**व्याख्या—** प्रकृतियागों में अनारभ्याधीत विधि वाक्यों का निवेश प्राप्त होने पर ही विकृति यागों में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश वाक्य अपने प्रभाव से विकृति याग में प्रकृतियाग के समान स्रुवा, जुहू आदि का विधान कर दिया करता है। अनारभ्याधीत विधि विकृतियाग में स्रुवा आदि की विधि-व्यवस्था का निर्देश करे, इसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। कारण यह कि अतिदेश वाक्य की उपलब्धता से, उसी के द्वारा विकृति याग में अप्रकरण पठित विधि वाक्यों की प्राप्ति हो जायेगी। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि विकृतियाग में भी अप्रकरण-पठित विधि वाक्यों का निवेश स्वीकार किया जाये। अतएव यह सिद्ध हुआ कि विशेष प्रकरण में पढ़ी गई विधियों के समान अप्रकरण पठित विधि-वाक्यों का निवेश भी प्रकृति यागों में स्वीकार किया जाना चाहिए॥ ८॥

**'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' आदि वाक्यों के विषय में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि सत्रह सामधेनियों के निवेश को प्रकृतियाग में माना जाना चाहिए? या विकृति याग में? आचार्य ने अगले सूत्र में समाधान दिया—**

## (५१८) प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** तु = अप्रकरण पठित सत्रह सामधेनी ऋचाओं का निवेश तो, प्रकरणविशेषात् = दर्शपूर्णमास (प्रकृतियाग) के प्रकरण में, विकृतौ = विकृतियाग में ही सत्रह सामधेनियों का निवेश माना जाना युक्त है, विरोधि = नहीं तो प्रकृतियाग में विरोधाभास, स्यात् = होगा।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास (प्रकृतियाग) के यज्ञीय विधान में प्रत्यक्ष रूप से पन्द्रह सामिधेनियों का ही उल्लेख प्राप्त होने से सप्तदश सामिधेनियों का उसमें निवेश मानने से विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उक्त प्रकरण में अन्य ऋचाओं की आकांक्षा का अभाव होने से प्रकृतियाग में सत्रह सामधेनियों का निवेश मान्य नहीं होना चाहिए। अतएव सत्रह सामधेनियों का निवेश मात्र विकृतियागों में होता है, ऐसा माना जाना चाहिए॥ ९॥

**'बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कर्त्तव्यः' अग्निषोमीय याग के प्रकरण में पठित उक्त वाक्य पशु यूप से सम्बन्धित है तथा इसका अर्थ है- ब्रह्मवर्चस की कामना वाले व्यक्ति को बेल वृक्ष की लकड़ी का पशु (यूप) विनिर्मित करना चाहिए। दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पढ़ा जाने वाला एक अन्य वाक्य है- 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' पशुधन की इच्छा वाला व्यक्ति अपना जल सम्बन्धी कार्य गोदोहन पात्र से करे। शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि क्या उक्त वाक्यों में निमित्त विशेष से वर्णित द्रव्यों (बिल्व काष्ठ एवं गोदोहन पात्र) का निवेश भी विकृतियाग**

**में माना जाना चाहिए, अथवा केवल प्रकृतियाग में? सूत्रकार ने समाधान दिया—**

**( ५१९ ) नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** नैमित्तिकम् = निमित्त वैशिष्ट्यता से वर्णित उक्त द्रव्यों का निवेश, तु = तो, प्रकृतौ = प्रकृतियागों में ही स्वीकार किया गया है, संयोगविशेषात् = कारण यह कि कामना के विशिष्ट संयोग से युक्त होने के कारण वह, तद्विकारः = सामान्यतः प्रकृति याग में विहित कर्म का ही विकार है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार दर्श-पूर्णमास याग में अपः प्रणयन (जल लेने की क्रिया) कर्म के सम्पादनार्थ सामान्यतः चमस संज्ञक यज्ञीय पात्र का विधान प्राप्त है, परन्तु जिस यजमान को पशु की कामना हो, उसे गोदोहन पात्र के द्वारा अपः प्रणयन को विधान विशेष रूप से करना चाहिए। ऐसे ही अग्निषोमीय पशुयाग में यज्ञीय पशु को बाँधने के लिए जो खूँटा (यूप) बनाया जाता है, वह सामान्यतः खैर, पलाश एवं रोहीजक आदि वृक्ष की लकड़ी का हुआ करता है; परन्तु विशेष विधान के क्रम में बिल्व वृक्ष की लकड़ी का ही यूप बनाया जाता है। आशय यह है कि विशेष विधान के सम्मुख सामान्य विधान प्रभावहीन होकर लुप्त हो जाता है। अतएव पुशधन एवं ब्रह्मवर्चस की कामना हेतु गोदोहन पात्र एवं बिल्व आदि द्रव्यों का निवेश प्रकृतियाग में मानना अपेक्षित एवं आवश्यक हो जाता है, जिससे सामान्य विधान के बाधित एवं तिरोहित होने की स्थिति में कर्म में दोष की संभावना न रहे॥ १०॥

**'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्' अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये -पवमान अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाण करना चाहिए, पावक अग्नि के लिए शुचि अग्नि के लिए। अन्य वाक्य है- 'वसन्ते ब्रह्मणोऽग्निमादधीत'- वसन्त में ब्राह्मण को अग्नि का आधान करना चाहिए। जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि उक्त अग्न्याधान क्या पवमान संज्ञक इष्टियों के लिए है? उक्त भावों को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ५२० ) इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकरणात् = पवमान इष्टियों के एक ही प्रकरण में पढ़े जाने के कारण, इष्ट्यर्थम् = पवमान आदि इष्टियों के लिए ही, अग्न्याधेयम् = अग्न्याधान कर्म है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** अग्न्याधान कर्म पवमान आदि इष्टियों के लिए ही है, क्योंकि अग्न्याधान कर्म का पाठ पवमान आदि इष्टियों के प्रकरण में किया गया है तथा पवमान आदि इष्टियों को अग्न्याधान किये जाने पर उसी अग्नि में अनुष्ठित किया जाता है॥ ११॥

**सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ५२१ ) न वा तासां तदर्थत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। तासाम् = पवमान आदि उन सभी इष्टियों के, तदर्थत्वात् = अग्न्याधान के प्रयोजनार्थ होने से (उक्त कथन), न = उचित नहीं।

**व्याख्या—** पवमान, पावक, शुचि आदि समस्त आहवनीय अग्नियों की स्थापना फल प्रदान करने वाले सकाम कर्मों के अनुष्ठान में उसकी सफलता के उद्देश्य से की जाती है। आशय यह है कि अग्नियों की स्थापना फलवती हुआ करती है, परन्तु इष्टियों का अपना कोई भी फल नहीं होता। इसलिए यदि यह माना जाये कि अग्न्याधान कर्म को इष्टियों के लिए सम्पादित किया जाता है, तो ऐसा कहा जाना युक्तियुक्त नहीं होगा। कारण यह कि इष्टियों का कोई फल न होने से अग्न्याधान को भी फलहीन मानना पड़ेगा। अतः यह मानना चाहिए कि पवमान आदि समस्त इष्टियों का जो विधान है, वह स्थापित-आवाहित अग्नि को प्रज्वलित बनाये रखने के लिए है। अतएव यह कहना युक्त नहीं कि अग्न्याधान इष्टियों के लिए है; प्रत्युत इष्टियाँ ही अग्नियों के लिए हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ १२॥

## ( ५२२ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लक्षणों के दृष्टिगोचर होने से भी उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** मैत्रायणी संहिता (१/५/६) का वाक्य-'जीर्यति वा एष आहित: पशुर्ह्यग्नि: तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे-संवत्सरे निर्वपेत्। तेन वा ऐष न जीर्यति तेनैनं पुनर्णवं करोति, तन्न सूक्ष्यम्' यह स्पष्ट करता है कि आहवनीय अग्नि को जीर्ण नहीं होने देना चाहिए। नव-संवत्सर के शुभारम्भ में इष्टियों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञानुष्ठान से स्थापित की गई अग्नि को जीर्ण होने से रोकना, यह दर्शाता है कि अग्न्याधान के लिए इष्टियाँ हैं, अग्न्याधान इष्टियों के लिए नहीं। अत: अग्न्याधान इष्टियों का अङ्ग है, ऐसा मानना चाहिए॥ १३॥

**जिस आहवनीय अग्नियों का विवेचन यहाँ पर किया गया है क्या उनकी स्थापना समस्त यज्ञीय कर्मों के लिए की जानी चाहिए? जिज्ञासु शिष्य के कथन को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५२३ ) तत् प्रकृत्यर्थं यथाऽन्येऽनारभ्यवादा:॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** अन्ये = दूसरे, अनारभ्यवादा: = प्रकरण का शुभारम्भ किये बिना वर्णित विधान, यथा = जिस प्रकार हैं, तत् = वह अग्न्याधान भी उसी प्रकार, प्रकृत्यर्थम् = प्रकृतियाग के लिए है, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** अन्य प्रकरण में पढ़े गये खदिरत्व आदि विधान जैसे दर्शपूर्णमास आदि प्रकृति यागों के लिए मान्य हैं, वैसे ही अनारभ्याधीत अग्न्याधान का विधान भी मात्र प्रकृतियागों के लिए मान्य होने चाहिए॥ १४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ५२४ ) सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** स्वकालत्वात् = अपने-अपने समय से युक्त होने के कारण, आधानस्य = अग्न्याधान का विधान, वा = भी, सर्वार्थम् = प्रकृति याग एवं विकृति याग सभी के प्रयोजनार्थ है।

**व्याख्या—** अरणि-मन्थन से जैसे अग्नि का आधान होता है, वैसे ही अन्य साधनों से भी (क्रय करके अथवा माँग कर) अग्नि की प्राप्ति की जा सकती है, परन्तु यह प्राप्त किया हुआ अग्नि कर्म को सफल बनाने में समर्थ नहीं होता। अपने द्वारा जो अग्न्याधान करके अग्नि की उपलब्धि की जाती है, उसी अग्नि में अनुष्ठित किये जाने पर कर्म फलीभूत होते हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि अग्न्याधान का विधान मात्र प्रकृति यागों के लिए न होकर समस्त कर्मों के लिए है। आधान अग्नि की सिद्धि के लिए एवं अग्नि कर्मों की सिद्धि के लिए है, ऐसा समझना चाहिए॥ १५॥

**आवाहन पूर्वक स्थापित यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने हेतु पवमान आदि इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। पवमान आदि इष्टियों से आज्य आदि की आहुतियाँ दिये जाने से प्रज्वलित यज्ञाग्नि सुसंस्कृत हो जाती है। यही अग्नि का संस्कार कहलाता है। सुसंस्कारिता के पूर्व की अग्नि असंस्कृत मानी जाती है। उस अग्नि में प्रयाज का अनुष्ठान हो जाने के पश्चात् ही उसमें प्रकृति याग दर्श-पूर्णमास अनुष्ठित किया जाता है। शिष्य की आशङ्का यहाँ यह है कि पवमान आदि इष्टियों के विकृति होने से प्रयाज यागों के तुल्य उन्हें भी सुसंस्कारित अग्नि में ही अनुष्ठित होना प्रतीत होता है। शिष्य के मनोभावों को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५२५ ) तासामग्नि: प्रकृतित: प्रयाजवत् स्यात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** प्रयाजवत् = प्रयाज यागों के समान, तासाम् = उन समस्त पवमान आदि इष्टियों का अनुष्ठान भी, प्रकृतित: = 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से प्राप्त होगा। अत: उस, अग्नि: = सुसंस्कारित अग्नि में उनको अनुष्ठित किया जाना युक्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी की दृष्टि में प्रयाज विकृतियाग का ही स्वरूप है। पूर्वपक्ष का तर्क यह है कि प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास का अनुष्ठान सुसंस्कृत अग्नि में सम्पादित होता है, अत: प्रयाजों-विकृति यागों का अनुष्ठान भी

संस्कारवान् अग्नि में ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार की स्थिति में पवमान इष्टियाँ भी तो प्रयाजों के समान ही विकृति हैं, अतएव उन्हें भी सुसंस्कृत अग्नि में अनुष्ठित किया जाना चाहिए॥ १६॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ५२६ ) न वा तासां तदर्थत्वात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, तासाम् = उन सभी पवमान इष्टियों के, तदर्थत्वात् = आधान की गई यज्ञीय अग्नियों के सुसंस्कारार्थ होने से, न = उपर्युक्त कथन अयुक्त है।

**व्याख्या—** यहाँ यह विचारणीय है कि प्रकृतियाग यज्ञाग्नि के सुसंस्कृत होने के बाद ही सम्पादित किया जाता है, तभी 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश वाक्य विकृति यागों को अनुष्ठित करने हेतु प्रयोग में आता है। अतः अग्नि के सुसंस्कारित होने के पूर्व वह प्रसुप्तावस्था में ही रहता है, जिससे अतिदेश वाक्य की प्रवृत्ति ही नहीं होती। अतः संस्कार विहीन अग्नि में ही पवमान आदि इष्टियों को अनुष्ठित किया जा सकता है॥ १७॥

**'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' वाक्य का अर्थ है-सोमयाग में जो दीक्षित यजमान जिस अग्नि तथा सोम देवता वाले पशु का स्पर्श ( आलभन ) करता है। इसी प्रकार उपाकरण, उपानयन एवं यूप-नियोजन आदि पशु धर्मों का जो विधान मिलता है, क्या वह मात्र सवनीय पशु का है? या मात्र अग्निषोमीय पशु का है? या सवनीय एवं अग्निषोमीय दोनों ही का है? या सभी प्रकार के पशुओं का है? जिज्ञासु शिष्य के इसी भाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ५२७ ) तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणाविशेषात् = विशेष प्रकरण में पठित न होकर एकमात्र ज्योतिष्टोम रूप समान प्रकरण में पढ़े जाने के कारण उपर्युक्त, पशुविधिः = पशु धर्मों का प्राप्त हुआ विधान, सर्वेषाम् = समस्त पशुओं का, तुल्यः = समान विधान है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त पशु धर्म यदि अग्नीषोमीय आदि पशुओं के मध्य किसी एक पशु के प्रकरण में विहित होते, तो उस स्थिति में किसी एक में वह विहित विधान स्वीकार किये जाने योग्य होता, किन्तु ऐसा विशेष विधान उपलब्ध न होने से सामान्य रूप से विधान किये गये पशु धर्म को विशिष्ट पशु धर्म में कल्पित किया जाना अनुपयुक्त ही होगा। अतएव ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में जिन उपाकरण, उपानयन एवं यूप- नियोजन आदि पशु धर्मों का कथन किया गया है, वह अग्निषोमीय सवनीय एवं अनुबन्ध्या सभी प्रकार के पशुओं को ध्यान में रखकर विधान बतलाया गया है, ऐसा मानना चाहिए।

**नोट—** शाबर भाष्य में सूत्रार्थ का जो स्वरूप विकल्प के भाव से मिलता है वह निम्न है- पशुविधिः = उपाकरण, उपानयन एवं यूप नियोजन आदि पशु धर्मों का विधान, प्रकरणाविशेषात् = यदि प्रकरण की विशिष्टता आदि का भेद न हो तो, सर्वेषाम् = सभी प्रकार के पशुओं में, तुल्यः = समान माना जाना चाहिए। परन्तु सवनीय पशु का पशु धर्म प्रकरण में प्राप्त होने से, प्रकरण वैशिष्ट्यता के कारण कथित पशुधर्म सवनीय पशु का माना है। [मन्त्रोच्चारण सहित कुशाओं के द्वारा अथवा हाथ से यज्ञ पशु का स्पर्श किया जाना 'उपाकरण' कहलाता है। पशुशाला (घारी) से निकालकर यज्ञमण्डप की दिशा में पशु का लाया जाना 'उपानयन' कहलाता है। यज्ञ मण्डप में पशु को बाँधने के लिए खूँटे के रूप में गाड़ी गई विशिष्ट लकड़ी को यूप तथा पशु का उसमें बाँधा जाना यूप कहलाता है]॥ १८॥

**पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने पशु धर्म सम्बन्धी अन्य विकल्प प्रस्तुत किये—**

## ( ५२८ ) स्थानाच्च पूर्वस्य॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्थानात् = स्थल प्रमाण के आधार पर, पूर्वस्य = प्रथम कथित अग्नीषोमीय पशु के

उपाकरण, उपानयन आदि धर्म हैं, ऐसा समझा जाना चाहिए।

**व्याख्या—** छः दिनों में सम्पन्न होने वाले ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान में प्रथम दिन यज्ञानुष्ठान हेतु दीक्षणीय इष्टि के माध्यम से यजमान यज्ञ दीक्षा ग्रहण करता है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ दिन उपसद् इष्टियों के अनुष्ठित किये जाने का समय निर्धारित रहता है तथा प्रधान याग का अनुष्ठान सोमयाग के रूप में पाँचवें दिन अनुष्ठित किया जाता है। याग का समापन अवभृथ इष्टि के माध्यम से (अन्तिम) छठवें दिन होता है। यज्ञ के द्वितीय दिन अग्नि एवं सोम देवता वाले-अग्नीषोमीय पशु का विधान प्रायणीय इष्टि के प्रयोग काल में सम्पन्न किये जाने का निर्देश मिलता है तथा अग्नि एवं सोम देवता वाले अग्नीषोमीय यज्ञ पशु से सम्बन्धित अनुष्ठान याग के चौथे दिन सम्पादित होता है। इसी प्रकार चतुर्थ दिन ही सवनीय पशु का विधान है। सवनीय पशु सम्बन्धी अनुष्ठान याग के पाँचवें दिन किया जाता है। प्रत्युत जिस प्रकरण में जहाँ पर सवनीय पशु का विधान उपलब्ध है, अग्नीषोमीय पशु से सम्बन्धित अनुष्ठान भी उसी क्रम में रहता है। अतः इसी दर्शन के तृतीय अध्याय के तीसरे पाद के चौदहवें सूत्र में वर्णित क्रम प्रमाण-स्थान प्रमाण के कथनानुसार उपानयन, उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय तथा अग्निषोमीय दोनों प्रकार के पशुओं के लिए है, ऐसा मानना चाहिए॥ १९॥

## ( ५२९ ) श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद प्रस्तुत प्रसङ्ग में वर्णित उपर्युक्त सभी अर्थों के निराकरण का द्योतक है। एकेषाम् = विभिन्न शाखाओं में से किसी एक शाखा में, श्वः = सवनीय पशुओं का विधान प्रधान सोमयाग के दिन मिलता है। (सवनीय पशु को यज्ञमण्डप में पाँचवें दिन उपस्थित किया जाता है), तत्र = उस मत के अनुसार, प्राक्श्रुतिः = पाँचवें दिन के पूर्व (चतुर्थ दिन) पढ़ी गई सवनीय यज्ञपशु से सम्बन्धित श्रुति, गुणार्था = गौण अर्थ से युक्त है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि सवनीय पशु सम्बन्धी अनुष्ठान के पाँचवें दिन सम्पन्न होने का कथन प्रथम स्तर का न होकर द्वितीय स्तर का है। अग्नीषोमीय पशु से सम्बन्धित अनुष्ठान का समय याग के चतुर्थ दिन होना है, उपाकरण, उपानयन आदि पशुधर्मों का पाठ भी वहीं उसी समय किया जाता है, उपर्युक्त उपाकरण आदि पशुधर्मों का विधान तथा अग्नीषोमीय पशु सम्बन्धी अनुष्ठान का विधान एक ही क्रम एवं एक ही स्थान में सुने जाने से, यह सुनिश्चित हो जाता है कि उपाकरण, उपानयन आदि उपर्युक्त पशुधर्मों का विधान मात्र अग्नीषोमीय पशुओं के लिए ही विहित है॥ २०॥

**सिद्धान्त पक्ष द्वारा प्रकट की गई आशङ्का को सूत्रकार ने पूर्वपक्षी की ओर से अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ५३० ) तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** तेन = 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' आदि वाक्य द्वारा, उत्कृष्टस्य = चतुर्थ दिवस से पंचम दिवस में (उत्कृष्ट किये गये) खींच कर लाये गये सवनीय पशु के, कालविधिः = संस्कार से सम्बन्धित अनुष्ठान काल का विधान है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो (समीचीन नहीं होगा)।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि स्थान अथवा क्रम के आधार पर उपाकरण, उपानयन आदि पशुधर्म मात्र अग्नीषोमीय पशु के लिए ही है, ऐसा मानना युक्त नहीं। कारण यह कि प्रकरण से वह सवनीय पशु के लिए मान्य है। सवनीय पशुओं का पाठ एवं उनके अनुष्ठान आदि का विधान जहाँ चतुर्थ दिवस में प्राप्त होता है, वहीं उसी क्रम में पशु धर्म का भी पाठ उपलब्ध है। उपर्युक्त 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा, आदि वाक्य मात्र पंचम

दिवस में संस्कार का काल बतलाता है, जबकि सवनीय पशु से सम्बन्धित विधान यज्ञ के चौथे दिन को लेकर जहाँ वर्णित है, वहीं पशुधर्मों का भी कथन उपलब्ध है। अतएव उपाकरण, उपानयन आदि पशुधर्म सवनीय पशुओं के लिए हैं, ऐसा समझना समीचीन है॥ २१॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने इसका समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ५३१ ) नैकदेशत्वात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** एकदेशत्वात् = एक देश से ही उसकी पुष्टि होने के कारण उपाकरण, उपानयन आदि पशुधर्म, न = सवनीय पशु के नहीं माने जा सकते।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि प्रसङ्गागत आश्विन आदि वाक्य सवनीय पशु के उपाकरण आदि पशुधर्मों का उत्कर्ष न करके उसके (पशु के) पुष्टि रूप संस्कार को उत्कर्षित करता है। अतएव उपर्युक्त वाक्य में प्राप्त आश्विन काल का जो पाठ प्रस्तुत है, वह सवनीय पशु के अनुष्ठान विधान हेतु है, जिसका सम्पादन यज्ञ के पाँचवें दिन ही सम्भव है। वास्तविकता यह है कि उपर्युक्त उपाकरण आदि पशुधर्म प्रमुखत: अग्नीषोमीय पशुओं के लिए ही है यदि इनका व्यवहार अपेक्षा के अनुरूप कहीं किया जाता है, तो उसे शास्त्र की भाषा में (शास्त्रीय दृष्टि से) अनुवाद ही मानना चाहिए। जैसा कि 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' वाक्य में यज्ञ पशु के रस्से को यूप में लपेटे जाने का कथन अनुवाद ही है; क्योंकि सवनीय पशु (अजा, मेष आदि) इतने छोटे होते हैं कि इन्हें रस्से में बाँधने का औचित्य ही नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उपाकरण आदि पशु धर्म अग्नीषोमीय पशु के हैं॥ २२॥

**उपर्युक्त कथन पर जिज्ञासु शिष्य के सन्देह को सूत्रकार ने अगले सूत्र में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ५३२ ) अर्थेनेति चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** अर्थेन = पशुओं का इकट्ठा किया जाना प्रयोजन विशेष के करण है, वह प्रयोजन उसी दिन पूर्ण कर लिया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** यज्ञीय अनुष्ठान के क्रम में एक विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर एक सुनिश्चित दिन में यज्ञीय पशुओं को एकत्रित किया जाता है। विशिष्ट प्रयोजन का तात्पर्य है पशुओं का शारीरिक परीक्षण- स्वास्थ्य आदि की जाँच करना। अतएव एकत्रित किये जाने वाले दिन में ही अग्नीषोमीय पशुओं के समान सवनीय पशु के भी स्वास्थ्य आदि का निरीक्षण-परीक्षण उसी दिन ही कर लिया जाना चाहिए॥ २३॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ५३३ ) न श्रुतिविप्रतिषेधात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, श्रुतिविप्रतिषेधात् = श्रुति के द्वारा विरोध किये जाने से उक्त कथन अनौचित्यपूर्ण है।

**व्याख्या—** श्रुत तथा अश्रुत दोनों में अश्रुत को बलहीन एवं श्रुत को समर्थ-बलवान् माना जाता है- 'श्रुत: श्रुतयो: श्रुत वलीय'। उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के लिए श्रुत हैं, अतएव वही बलवान् हैं। इस प्रकार श्रुति द्वारा विरोध प्राप्त होने से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत विहित उपाकरण, उपानयन आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय विधान के अनुपलब्ध होने की स्थिति में सवनीय पशु के लिए होते हैं, ऐसा माना जाना युक्त है॥ २४॥

## ( ५३४ ) स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** स्थानात् = क्रमपूर्वक उसी स्थान की सन्निधि में पठित होने से, तु = तो, पूर्वस्य = पूर्व में पठित अग्नीषोमीय पशु के ही उपाकरण आदि धर्म हैं, संस्कारस्य = क्योंकि उपाकरण, उपानयन आदि संस्कारों

की उपयोगिता, तदर्थत्वात् = अग्नीषोमीय पशुओं के लिए विहित होने से उन धर्मों को सवनीय पशु का माना जाना युक्त नहीं।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि उपाकरण, उपानयन आदि संस्कारों का प्रयोग ज्योतिष्टोम याग में न होकर पशुयाग में होता है। अतएव इस आधार पर स्थान प्रमाण के अनुसार उपाकरण, उपानयन आदि पशु धर्म सवनीय पशुओं के न होकर अग्नीषोमीय पशु के हैं। ज्योतिष्टोम याग में अग्नीषोमीय पशु का विधान प्रथम पठित है, सवनीय पशु का कहीं उल्लेख तक नहीं है। उपर्युक्त 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' वाक्य में उनके काल का विधान किया गया है। उपाकरण, उपानयन आदि धर्मों का कथन होना अपेक्षा के अनुरूप अनुवाद मात्र है, ऐसा समझना चाहिए। अतएव उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय पशुओं से ही सम्बन्धित है; क्योंकि क्रम प्रमाण से प्रथम पठित होने के कारण यही सिद्ध होता है॥ २५॥

## ( ५३५ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाणों-लक्षणों के अनुसार उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** 'अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति' पशु याग के अग्नीषोमीय प्रसङ्ग में उपलब्ध उक्त वाक्य पशु की पुष्टि (वपा-प्रचार) एवं पुरोडाश संस्कार का विधान करता है। सभी प्रकार के पशुओं के लिए यदि उपाकरण आदि संस्कार समान रूप से अपेक्षित होते, तो उपुर्यक्त पशुयाग के अग्नीषोमीय प्रसङ्ग में वपा प्रचार एवं पुरोडाश संस्कार की गिनती भी की जाती, ऐसा न होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उपाकरण, उपानयन आदि पशु धर्म रूप संस्कार मात्र अग्नीषोमीय पशुओं के लिए ही बतलाये गये हैं। 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' एवं 'वपया प्रातः सवने' आदि वाक्य सवनीय पशुधर्म संस्कार के समय को बतलाते हैं। अतः उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशुओं के न होकर अग्नीषोमीय के हैं, यह प्रमाणित होता है॥ २६॥

**यहाँ पर उत्पन्न आशङ्का- ( सवनीय पशु धर्मों-संस्कारों के काल का विधान करने वाले वाक्य गौण कथन के प्रयोजनार्थ काल विधायक न होकर मात्र अर्थवाद हैं ) का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ५३६ ) अचोदना गुणार्थेन॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** गुणार्थेन = गौण प्रयोजन से प्रयुक्त किये जाने वाले उपर्युक्त वाक्यों को, अचोदना = काल का विधान कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** उपाकरण, पर्यग्निकरण आदि पशु धर्मों का विधि-विधान एवं उनके अनुष्ठान आदि का वर्णन ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में विधि वाक्यों की समर्थता से प्राप्त है। सवनीय पशुओं के संस्कारों एवं उनके काल का विधान अपूर्व होने से उनकी उपलब्धता किन्हीं अन्य वाक्यों द्वारा नहीं होती, अतः किसी दूसरे गौण प्रयोजन से व्याजपूर्वक उनकी अभिव्यक्ति होने पर उन्हें अर्थवाद कहा जाना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार प्रसङ्ग प्राप्त गत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपाकरण, उपानयन आदि पशु धर्मों- संस्कारों का विधान मात्र अग्नीषोमीय पशुओं के लिए ही किया गया है॥ २७॥

**दर्श इष्टि के अन्तर्गत गोदोहन के धर्मों के क्रम में शाखाहरण, प्रस्थापन, प्रस्नावन, गोदोहन का कथन प्रकाश में आता है। इस विषय में जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यह है कि उपर्युक्त धर्म दोनों समय ( प्रातः-सायं ) के लिए विहित हैं ? या एक ही समय के लिए ? शिष्य के इन्हीं भावों को आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया है—**

## ( ५३७ ) दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** दोहयोः = प्रातः एवं सायं दोनों समय के दोहन कर्म में, कालभेदात् = काल का भेद प्राप्त होने से, शृतम् = प्रातः कालीन सद्यः दुहा गया दूध, उक्त दोहन धर्मों से, असंयुक्तम् = संयुक्त नहीं, स्यात् = होता।

**व्याख्या—** दो प्रकार के हविद्रव्य दर्श-पूर्णमास में बनाये जाते हैं। प्रथम 'सान्नाय्य' एवं द्वितीय 'पुरोडाश'।

दूध एवं दही के सम्मिश्रण से सान्नाय्य हवि तैयार किया जाता है, जिसके बनाये जाने का विधान इस प्रकार है- अमावस्या के पूर्व दिवस-पूर्वसंध्या में दूध दुहने के उपरान्त उसे दही बनाने के लिए जमा दिया जाता है। अगले दिवस अमावस्या को प्रातः कालीन दोहन से प्राप्त दूध उस दही में मिलाकर 'सान्नाय्य हवि' विनिर्मित होता है। उक्त समस्त शाखाहरण, प्रस्थापन आदि धर्म प्रातः कालीन दोहन-के साथ पठित न होकर सायंकालीन दोहन के साथ पढ़े गये हैं, जिससे उक्त सभी धर्म सायंकालीन दोहन के लिए हैं। यही सिद्ध होता है। काल भेद के कारण प्रातः कालीन दोहन के साथ उन धर्मों के संयोग का अभाव है॥ २८॥

**आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ५३८ ) प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष द्वारा उद्भावित आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। प्रकरणाविभागात् = प्रकरण का विभाग (पृथक्ता) न होने से, तत्संयुक्तस्य = उस सान्नाय्य से सम्बन्धित (प्रधान याग का) दोनों समय के दोहन के, कालशास्त्रम् = काल का विधान करने वाला शास्त्र है।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि 'दर्श' संज्ञक इष्टि के प्रकरण में जहाँ दोहन धर्म का पाठ उपलब्ध है, वहाँ प्रातःकालीन दोहन एवं सायंकालीन दोनों काल के दोहन का कथन किया गया है। क्रम एवं प्रकरण की तुलना में क्रम की अपेक्षा प्रकरण को बलवान् माना जाता है। अतः प्रकरण की सामर्थ्यता के आधार पर उपर्युक्त दोहन धर्म सायं-प्रातः दोनों काल के दोहन के लिए है, ऐसा समझना चाहिए॥ २९॥

**ज्योतिष्टोमीय यज्ञीय प्रकिया के अन्तर्गत पाँचवें दिन सम्पादित होने वाला प्रधान सोमयाग तीन सवनों में पूर्ण होता है। प्रातः कालीन सवन में इन्द्र एवं वायु के लिए आहुति प्रदान करने वाले ग्रह संज्ञक पात्रों में सोमरस भरकर आवाहित अनेकों देवताओं को आहुति प्रदान की जाती है। उन ग्रहों की संख्या दस है तथा उनके कतिपय धर्म भी हैं, जैसे- यथास्थान उनका स्थापन, सम्मार्जन आदि। प्रातः सवन के ग्रहों के समान माध्यन्दिन एवं सायं सवन के अन्य ग्रह हुआ करते हैं। शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि क्या प्रातः सवन के जो धर्म होते हैं, वही धर्म शेष दोनों सवनों के भी हुआ करते हैं? अथवा मात्र प्रातः सवन के ही होते हैं, सूत्रकार ने इस संदेह का निवारण अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ५३९ ) तद्वत् सवनान्तरे ग्रहाम्नानम्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** तद्वत् = पूर्व प्रसङ्ग में वर्णित सायंकाल एवं प्रातःकाल दोनों समय के गोदोहन के धर्मों के ही समान, सवनान्तरे = अन्य सवन माध्यन्दिन एवं सायं सवन में भी, ग्रहाम्नानम् = ग्रहों के धर्मों का कथन उसी के अनुरूप समझना चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में सभी प्रकार के सवनों एवं ग्रहों के लिए एक जैसी-समान व्यवस्था है। क्रम अथवा स्थान के प्रातः सवन के साथ होने से भी उक्त समानता अक्षुण्ण बनी रहती है। पूर्व में कहा जा चुका है कि प्रकरण एवं वाक्य, क्रम अथवा स्थान की अपेक्षा बलवान् माने जाते हैं। अतएव ग्रहों के जिन धर्मों का कथन प्रस्तुत प्रसङ्ग में किया गया है, वह तीनों सवनों में प्रयुक्त होने वाले ग्रहों के लिए है। ऐसा सुनिश्चित समझना चाहिए॥ ३०॥

**ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में 'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' अर्थात् जो दीक्षित ( व्यक्ति ) अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है। जहाँ पशु की उपस्थिति का उल्लेख है, वहीं पर पशु के बाँधे जाने की रस्सी ( रशना ) एवं उसके कतिपय धर्मों का भी कथन मिलता है। रस्सी तीन लड़ों से कसी लिपटी हुई तथा मृदु होने के साथ-साथ उसके दोनों किनारे अन्दर की ओर मुड़े होने चाहिए; ताकि रस्सी उधड़े नहीं। इन्हीं धर्मों को मृदुलता, प्रविष्टान्तता आदि की संज्ञा दी गई है। शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि क्या उक्त रशना धर्म सभी प्रकार के पशुओं की रस्सी के माने जाने चाहिए? अथवा मात्र अग्नीषोमीय पशुओं की रस्सी के? आचार्य ने समाधान के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया है—**

## ( ५४० ) रशना च लिङ्गदर्शनात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** रशना = यज्ञीय पशु को बाँधने की रस्सी, च = भी अपनी विशिष्टताओं के सहित अग्रीषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध्य तीनों प्रकार के पशुओं के लिए सामान्य (साधारण) ही है, लिङ्गदर्शनात् = इसकी सिद्धि के प्रमाण दृष्टिगोचर होने से प्रस्तुत सूत्र से प्राप्त कथन में सन्देह का अवकाश नहीं रहता।

**व्याख्या—** विगत विवेचन में प्रसङ्ग प्राप्त वाक्य 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्रेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' तीनों लड़ों वाली रशना (रस्सी) का कथन स्पष्ट रूप से सवनीय पशु के लिए ही करता है। जिन रशना धर्मों का उल्लेख उपर्युक्त विवेचन में किया गया है, उन धर्मों से युक्त रस्सी की उपयोगिता मात्र अग्रीषोमीय पशुओं के लिए न होकर अपेक्षा के अनुरूप सामान्यत: सभी प्रकार के पशुओं के लिए है, यही सुनिश्चित होता है॥ ३१॥

**ज्योतिष्टोम के यज्ञीय कर्म से सम्बन्धित विवेचन के क्रम में तैत्तिरीय संहिता के तीसरे काण्ड में कतिपय कर्मों के पाठ के साथ 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' संज्ञक ग्रहों का पाठ भी उपलब्ध है। शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि जिन ग्रह धर्मों का कथन पूर्व विवेचन में किया जा चुका है, उन सादन, सम्मार्जन आदि धर्मों को 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' संज्ञक ग्रहों में भी माना जाना चाहिए? अथवा नहीं? सूत्रकार ने जिज्ञासु शिष्य के मनोभावों को पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**(५४१) आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** आरात् = सुदूरवर्ती प्रकरण में, शिष्टम् = पठित (कथन किये गये) होने के कारण 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' दोनों ग्रह संज्ञक यज्ञीय पात्रों का ऐन्द्रवायवादि ग्रहों के धर्मों के साथ, असन्निधानात् = उनकी सामीप्यता में न पढ़े जाने से, असंयुक्तम् = संयोग प्राप्त नहीं होता।

**व्याख्या—** जो धर्म जिस ग्रह की समीपता में पठित होता है वही उसका धर्म माना जाता है। यदि 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों का कथन भी 'ऐन्द्रावायव' के समान प्रकरण में पठित होता, तो उस दशा में सादन, सम्मार्जन को इन दोनों ग्रहों का धर्म स्वीकार किया जाता; परन्तु 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' का कथन प्ररकण से परे होने से सादन, सम्मार्जन आदि पूर्व पठित ग्रह धर्मों को इन दोनों ग्रहों का धर्म नहीं माना जा सकता, प्रत्युत इन्हें 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों का ही धर्म माना जाना चाहिए॥ ३२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**(५४२) संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्व पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। संयुक्तम् = 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों का भी सम्बन्ध, ऐन्द्रवायव ग्रहों की भाँति सादन, सम्मार्जन आदि ग्रह धर्मों के साथ हैं, भले ही उनका पाठ प्रकरण से परे किया गया हो; कारण यह कि उक्त युगल ग्रहों के, तदर्थत्वात् = तदर्थ-ज्योतिष्टोम याग के सम्पादनार्थ होने से, शेषस्य = पूर्व पठित सादन, सम्मार्जन आदि ग्रहों के धर्मों का कथन, तन्निमित्तत्वात् = ज्योतिष्टोम का निमित्तक है।

**व्याख्या—** 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों का सम्बन्ध जिस प्रकार से ज्योतिष्टोम याग के साथ है, वैसे ही अंशु तथा 'अदाभ्य' संज्ञक ग्रह भी उक्त याग के उपकरण माने जाते हैं। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित सादन, सम्मार्जन आदि ग्रह धर्मों का सम्बन्ध भी 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों के साथ माना जायेगा, भले ही उन दोनों का कथन प्रकरण से हटकर किया गया हो। आचार्यों, विद्वानों के प्रस्तुत वाक्य से इस कथन की सिद्धि होती है-- 'यस्य येनार्थ सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स:' अर्थात् जिनका पारस्परिक रूप से अनिवार्य सम्बन्ध है, उनके दूर रहने पर भी उनके सम्बन्ध समाप्त नहीं होते। अतएव प्रकरण में पठित ग्रहों में जैसे सादन, सम्मार्जन आदि ग्रह धर्मों का विधान अपनाया जाता है, वैसे ही 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों में सादन, सम्मार्जन आदि धर्म विहित हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ३३॥

**( ५४३ ) निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** निर्देशात् = उपर्युक्त विहित वचनों से भी, व्यवतिष्ठेत् = उपयुक्त सादन, सम्मार्जन आदि ग्रह धर्मों का सम्बन्ध ग्रह मात्र से प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' एवं 'उपोप्तेऽन्ये ग्रहा: साद्यन्ते' आदि वाक्यों में समान रूप से ग्रह पदों का निर्देश प्राप्त होता है और उसका व्यवहार सभी ग्रहों के लिए समान रूप से होता है। अतएव प्रकरण से परे पठित हों या प्रकरण में पढ़े गये हों, ऐसे सादन, सम्मार्जन आदि धर्म सभी ग्रहों के लिए समान रूप से मान्य हैं, ऐसा समझा जाना चाहिए॥ ३४॥

**यज्ञीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत अग्नि चयन कर्म के शुभारम्भ से पूर्व 'चित्रिणीरुपदधाति' 'वज्रिणीरुपदधाति' एवं भूतेष्टका उपदधाति' वाक्य पठित हैं। क्रमपूर्वक इन वाक्यों का अर्थ है- 'चित्रिणी संज्ञक इष्टकाओं को स्थापित करता है, वज्रिणी संज्ञक इष्टकाओं ( ईंटों ) को स्थापित करता है, भूतेष्टक संज्ञक ईंटों को स्थापित करता है। इस प्रकार का कथन अग्नि चयन कर्म के प्रकरण से परे किया गया है। प्रकरण के अन्तर्गत इष्टकाओं के कतिपय कर्मों का निर्देश प्राप्त होता है- 'अखण्डायकृष्णलामिष्टकांकुर्यात्' बिना खण्डित एवं बिना काली ईंटों का निर्माण करे। इसी क्रम में आगे कहा-'भस्मना इष्टका: संयुज्यात्' भस्म ( चूना ) आदि से ईंटों को परस्पर संयुक्त करें। जिज्ञासु शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि उक्त अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण पठित इष्टकाओं के हैं? या नहीं है? सूत्रकार ने बताया—**

**( ५४४ ) अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणे = चित्रिणी, वज्रिणी, भूतेष्टका संज्ञक ईंटें, जो अप्रकरण पठित हैं, अग्न्यङ्गम् = वे भी अग्निचयन कर्म के अङ्गभूत होने से, तद्वत् = (जिस प्रकार 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों की संयुक्तता सादन, सम्मार्जन ग्रह धर्म से है) वैसे ही उक्त इष्टकायें भी अखण्डत्व आदि धर्म से संयुक्त रहा करती हैं।

**व्याख्या—** पिछले विवेचनात्मक क्रम में जिस प्रकार 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ग्रहों का सादन एवं सम्मार्जन आदि ग्रह धर्मों से संयुक्त होना बतलाया गया, वैसे ही चित्रिणी, वज्रिणी आदि इष्टकाओं का सम्बन्ध भी अखण्डत्व आदि इष्टका धर्म से है। यज्ञमण्डप एवं यज्ञकुण्ड के निर्माण में ईंटों की सर्वाधिक महत्ता है, अत: अप्रकरण पठित होते हुए भी उक्त इष्टकाओं का सम्बन्ध प्रकरण पठित अखण्डत्व आदि धर्मों से होने के कारण उन्हें व्यवहार में लाना औचित्यपूर्ण है॥ ३५॥

**'स यदि राजन्यं वैश्यं याजयेत्। स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहत्य ता: सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य, तस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्' ज्योतिष्टोम के यज्ञीय प्रकरण का यह वाक्य विगत पंचम पाद में विवेचित किया जा चुका है। ज्योतिष्टोम के इसी प्रसङ्ग में सोम के कतिपय धर्मों का कथन प्राप्त होता है- मान, उपावहरण, क्रय एवं अभिषव। 'मान' का तात्पर्य है- परिमाण, माप। 'उपावहरण' का तात्पर्य है- हविर्धान में रखे सोम को लेकर अभिषव स्थल तक लाना। 'क्रय' का तात्पर्य एक निश्चित मूल्य देकर खरीदने से है। अभिषव का आशय है- पत्थरों से कूट-पीस कर सोम का रस निकालना। इन उक्त धर्मों के विषय में शिष्य का संदेह यह है कि 'सोम' एवं फलचमस दोनों के लिए ये सोम धर्म समान हैं; अथवा इन्हें मात्र सोम का ही धर्म माना जाये? सूत्रकार ने अगले सूत्र द्वारा समाधान किया—**

**( ५४५ ) नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** नैमित्तिकम् = निमित्त (राजन्य-क्षत्रिय आदि) के द्वारा प्रकाश में आने वाले न्यग्रोध से पूर्ण फल-चमस, अतुल्यत्वात् = सोम के समान न होने के कारण, असमानविधानम् = सोम के विधान के समान अभिषव आदि धर्मों (फल-चमस) का विधान नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** शास्त्रीय मान्यता के अनुसार नैमित्तिक विधान को नित्य विधान के विकार के रूप में स्वीकार किया जाता है। ज्योतिष्टोम याग के हविद्रव्य 'सोम' का विधान नित्य है, आहुति के समय हविद्रव्य की आवश्यकता पड़ने पर सबसे पहले सोमरस ही सामने प्रस्तुत होता है और उसके साथ उसके धर्म-मान,

उपावहरण, अभिषव आदि भी विद्यमान रहते हैं। इन धर्मों को सोम का संस्कार भी कहा जाता है। इन धर्मों की उपयोगिता व्यावहारिक रूप से सुसंस्कारित सोम की उपलब्धता कराने के साथ ही पूर्ण हो जाने से इनका प्रयोग किसी अन्य स्थल पर नहीं किया जाता। इसके विपरीत फल चमस का विधान नित्य न होकर नैमित्तिक है। फल-चमस सोम का प्रतिनिधि है, जो राजन्य क्षत्रिय आदि के निमित्त से प्रकाश में आता है। अस्तु; यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मान, उपावहरण आदि धर्म फलचमस के न होकर सोम के ही हैं॥३६॥

**व्रीहि अथवा उसके द्वारा बनाये गये पुरोडाश के विनष्ट अथवा विकृत होने की स्थिति में उसके प्रतिनिधि स्वरूप (तिन्नी) नीवार से पुरोडाश बना लिया जाता है। शिष्य का संदेह इस विषय में यह है कि नीवार (तृण-धान्य) के धर्म व्रीहि के समान ही होते हैं? अथवा नहीं? जिज्ञासु शिष्य के भावों को सूत्रकार ने पूर्व पक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**(५४६) प्रतिनिधिश्च तद्वत्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतिनिधिः = व्रीहि के प्रतिनिधि रूप नीवार से विनिर्मित हविद्रव्य, च = भी, तद्वत् = उसी प्रकार (सोम एवं फलचमस के समान) धर्म वाले नहीं हैं।

**व्याख्या—** विगत विवेचन में जिस प्रकार से यह सिद्ध किया गया कि निमित्त से प्राप्त हविद्रव्य न्यग्रोध स्तिभियाँ तथा नित्य हविद्रव्य सोम के विधान एक जैसी समानता वाले नहीं हैं, वैसे ही व्रीहि का प्रतिनिधित्व करने वाला हविद्रव्य 'नीवार' भी नित्यता युक्त हविद्रव्य व्रीहि के समान विधान वाला नहीं है। इस असमानता का कारण व्रीहि के निर्वपन आदि के विधान के समान नीवार के निर्वाप आदि का न होना भी है। आवश्यकता होने पर ही नीवार की उपलब्धता का प्रयास किया जाता है॥ ३७॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**(५४७) न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** न = व्रीहि एवं उसके प्रतिनिधि हविद्रव्य नीवार के विधान असमानता वाले नहीं हैं, तद्वत् = कारण यह कि अवघात आदि धर्म 'व्रीहि' आदि के समान 'नीवार' के भी हुआ करते हैं, प्रयोज-नैकत्वात् = तथा दोनों का, उद्देश्य (प्रयोजन) एक होने से दोनों ही समान हैं।

**व्याख्या—** 'नीवार' का तात्पर्य बिना जोते-बोये,स्वयं से उत्पन्न धान्य से है। इसे तिन्नी (तृणधान्य) भी कहा जाता है।'व्रीहिभिर्यजति' आदि वाक्य द्वारा विहित व्रीहि आदि मुख्य हविद्रव्य जिस प्रकार से यज्ञीय प्रयोजन को पूर्ण करने में साधन स्वरूप हैं, उसी प्रकार से नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी यज्ञीय प्रयोजन में प्रयुक्त होने से यज्ञ के उपकारक माने जाते हैं। 'व्रीहीन् वहन्ति' आदि वाक्य से जिस प्रकार 'व्रीहि' आदि का अवघात धर्म विहित है, वैसे ही अवघात धर्म का व्यवहार नीवार के लिए भी व्यवहृत होता है। अत: व्रीहि हवि द्रव्य के विधान के समान ही उसके प्रतिनिधि द्रव्य नीवार का भी विधान है, ऐसा समझना चाहिए॥३८॥

**(५४८) अशास्त्रलक्षणत्वाच्च॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अशास्त्रलक्षणत्वात् = प्रतिनिधि द्रव्य नीवार के शास्त्रीय दृष्टि से किसी प्रकार के विकार के न होने से, च = भी, व्रीहि हविद्रव्य एवं उसके प्रतिनिधि स्वरूप हविद्रव्य नीवार में समानता है।

**व्याख्या—** प्रमुख हविद्रव्य व्रीहि के उपलब्ध न होने की स्थिति में यज्ञ की सम्पन्नता के लिए अपेक्षित हविद्रव्य के समान गुण वाले किसी अन्य हविद्रव्य को मुख्य हविद्रव्य के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता दिये जाने को शास्त्र स्वीकृति प्रदान करता है। शास्त्रीय दृष्टि से पहले सुने गये (विहित) हवि द्रव्य का विकार प्रतिनिधि द्रव्य में विहित-पूर्वश्रुत हवि द्रव्य के धर्मों का व्यवहार औचित्यपूर्ण है, उसमें किसी प्रकार के व्यवधान अथवा दोष की आशङ्का निर्मूल है॥ ३९॥

**'यदि सोमं न विन्देत, पूतीकानभिषुणुयात्' सोम का उपलब्ध होना यदि संभव न हो, तो पूतीक लता का**

**अभिषव करना चाहिए। इस वाक्य में प्रतिनिधि द्रव्य श्रुत है, तो क्या यहाँ भी दोनों के समान विधान माने जायेंगे? अथवा नहीं? समाधान के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (५४९) नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ४० ॥

**सूत्रार्थ—** गुणश्रुतिः = प्रतिनिधि का विधान करने वाली श्रुतियाँ, नियमार्था = उपर्युक्त नियम निर्धारण की व्यवस्था के लिए है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** पूतीक का तात्पर्य करंजवा संज्ञक झाड़ से है, जो दो प्रकार का होता है- १. काँटोंयुक्त झाड़ २. बिना काँटों का झाड़। काँटों वाला करंजवा ही पूतीक कहलाता है। सोमयज्ञ करने के क्रम में यदि सोम हविद्रव्य उपलब्ध न हो, तो विकल्प के रूप में सम्भावित पूतीक, गिलोय, न्यग्रोधस्तिभी आदि की उपस्थिति होने पर यज्ञ के मर्मज्ञ आचार्यों ने एक व्यवस्था प्रदान की। काठकसंहिता का वाक्य है- 'यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानाभिषुणुयुः, यदि न पूतीकान् आर्जुवानि' अर्थात् पूतीक के अभाव में अर्जुन की कोपलों से हवन का विधान (सोम के प्रतिनिधि रूप में) करता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवस्था याग विषयक है, द्रव्यविषयक नहीं। अतः सोम के न मिलने पर यज्ञ की पूर्णता समान गुण वाले किसी भी द्रव्य से कर लेना चाहिए॥ ४० ॥

**अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय एवं आप्तोर्याम ये सातों संस्थायें अग्निष्टोम याग की हैं, इन सातों में प्रथम चार संस्थाओं को प्रमुख माना गया है। 'संस्था' पद का तात्पर्य समापन से है तथा स्तोत्रों से यज्ञीय कर्म के समापन का आधार लेकर उक्त सातों संस्थाओं को संज्ञायुक्त किया गया है। जिस यज्ञीय कर्म का समापन अग्निदेवता के स्तवन (स्तुति मन्त्रों) से होता है,उसे अग्निष्टोम के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार अन्य संस्थाओं को भी समझना चाहिए। सभी संस्थाओं वाले सोम याग की साधारण संज्ञा ज्योतिष्टोम है। शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि क्या दीक्षणीय आदि धर्मों का कथन ज्योतिष्टोम को आधार मानकर किया गया है; या मात्र अग्निष्टोम को? जिज्ञासु शिष्य के मनोभावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगले दो सूत्रों में सूत्रित किया—**

## (५५०) संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात्॥ ४१ ॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणाविशेषात् = प्रकरण की विशिष्टता का अभाव (भिन्न न रहने से) होने से, संस्थाः = सोमयाग की अग्निष्टोम आदि सातों संस्थायें, समानविधानाः = एक ही प्रकार के समान विधानों से युक्त हैं।

**व्याख्या—** जो धर्म अग्निष्टोम के हैं, वही धर्म उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र आदि सभी संस्थाओं के हैं। दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा प्रायणीय इष्टि आदि धर्मों का विधान मात्र अग्निष्टोम के ही अभिप्राय से न करके सभी संस्थाओं के उद्देश्य से एक ही प्रकरण में ज्योतिष्टोम पद से बतलाया गया है। प्रकरण में भिन्नता के अभाव से उनके विधान भी एक समान हैं। अतएव दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि धर्म सभी संस्थाओं के हैं, इस मान्यता के आधार पर इन धर्मों का व्यवहार सभी सातों संस्थाओं में किया जाना चाहिए॥ ४१ ॥

## (५५१) व्यपदेशश्च तुल्यवत्॥ ४२ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, व्यपदेशः =एक ही प्रकरण में सातों संस्थाओं का कथन, तुल्यवत् = समान रूप से किया गया है (जिससे उक्त विवेचन की पुष्टि होती है)।

**व्याख्या—** 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' यदि अग्निष्टोम है, तो हवन करता है। यदि 'उक्थ्यः परिधिमनक्ति' यदि उक्थ्य है, तो उसके अवशेष बचे घृत से परिधि को चुपड़ता है। यदि 'अतिरात्र एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्यते' एवं 'यमग्रे पृत्सु मर्त्यम्' आदि वाक्यों का कथन सभी संस्थाओं में समान रूप से उपलब्ध होने से यह प्रमाणित हो जाता है कि दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि धर्म एवं अन्य सभी सामान्य विधान समस्त संस्थाओं से युक्त ज्योतिष्टोम के हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ४२ ॥

सूत्रकार आचार्य ने अगले चार सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—

**( ५५२ ) विकारास्तु कामसंयोगे सति नित्यस्य समत्वात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। विकारा: = उक्थ्य आदि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं क्योंकि, कामसंयोगे = (पशु आदि फल की) कामना का संयोग, सति = प्राप्त होने की स्थिति में उक्थ्य आदि तीनों संस्थाओं का श्रवण किया जाता है, समत्वात् = दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि धर्म समान होने के कारण, नित्यस्य = नित्य अग्निष्टोम (ज्योतिष्टोम के) धर्म माने जाते हैं।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग की सातों संस्थाओं में से प्रथम अग्निष्टोम नित्य कर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस कर्म के मूल में कामना का सर्वथा अभाव हो, वह नित्यकर्म कहलाता है। ज्योतिष्टोम के अन्य प्रमुख संस्थान उक्थ्य आदि कामना-मूलक होने से इनका सम्पादन कामना विशेष से प्रेरित होकर किया जाता है। 'पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्' पशु की कामना वाला यजमान यजन हेतु 'उक्थ्य' को ग्रहण करे। वीर्य की कामना वाला यजमान 'षोडशी' से यजन (स्तवन) करे- 'षोडशिना वीर्यकाम: स्तुवीत्' तथा इसी प्रकार 'अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्' संतान का इच्छुक व्यक्ति अतिरात्र संज्ञक संस्था से यजन करे। उक्त तीनों ही याग किसी विशेष कामना से प्रेरित होकर सम्पन्न किये जाने के कारण नित्य न होकर नैमित्तिक है। मात्र एक अग्निष्टोम ही ऐसी संस्था है, जो नैमित्तिक न होकर नित्य है; क्योंकि इसमें प्राप्त नित्य होम का विधान किसी प्रकार की कामना से प्रेरित नहीं है। अग्निष्टोम विषयक वाक्य- 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' यदि अग्निष्टोम है तो हवन करता है, कामनारहित नित्य कर्म की पुष्टि करता है। शास्त्रीय विधान एवं विधि-व्यवस्था के अनुसार नैमित्तिक कर्म, नित्य कर्म (प्रकृति) के विकार के रूप में जाने जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से उन धर्मों की प्राप्ति विकृति याग में हो जाया करती है। इन धर्मों का विधान यदि विकृति याग में माना जाता है, तो इनका व्यवहार वही होगा, जिस विकृति याग में उनका विधान उपलब्ध है, परन्तु अन्य विकृति यागों में जहाँ उनका विधान प्राप्त नहीं है, वहाँ इन धर्मों का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। उस दशा में दूसरे विकृति यागों में उनके प्रयोग हेतु वहाँ उनमें भी धर्मों का विधान स्वीकार करना होगा और ऐसी स्थिति में द्विरुक्त दोष प्रकट हो जायेगा; जो अपेक्षित नहीं, अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि नित्य धर्म, नित्य कर्म वाले अग्निष्टोम के ही हैं और इनका विधान अग्निष्टोम के उद्देश्य से ही किया गया है॥ ४३॥

**( ५५३ ) अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यतीति॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्विरुक्तत्वात् = दो बार कथन किये जाने के कारण, अपि = भी, प्रकृते: = उन्हें (उन धर्मों को) प्रकृति याग (अग्निष्टोम) का ही अंग, भविष्यति = माना जायेगा, इति = ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्व में यह कहा जा चुका है कि ज्योतिष्टोम याग उपर्युक्त सातों संस्थाओं के अनुष्ठान से पूर्णता को प्राप्त होता है तथा अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम की एक संस्था है और प्रमुख प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम की संस्था को अग्निष्टोम के अभिप्राय से ही दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि धर्मों का विधान किया गया है। उसके क्रम में यदि उक्त दीक्षणीय आदि धर्मों का कथन अपेक्षित होने से दो बार किया गया हो, तो भी उन धर्मों को विकृति याग का धर्म न मानकर प्रकृतियाग का ही धर्म मानना चाहिए॥ ४४॥

**( ५५४ ) वचनात्तु समुच्चय:॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वैदिक वाक्यों की सामर्थ्यता के बल पर ही, समुच्चय: = दोनों कर्मों- प्रकृतियाग तथा विकृतियाग का कथन सामान्य रूप से साथ-साथ किया गया है।

**व्याख्या—** 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति', 'पशुकाम उक्थ्यं' एवं 'षोडशिना वीर्यकामः' आदि वाक्यों में कोई बहुत गम्भीरतम, अपरिवर्तनीय कथन न होकर मात्र सामान्य कथन है, सातों संस्थाओं से युक्त ज्योतिष्टोम याग के प्रयोजनार्थ दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि धर्मों का विधान करने वाला निर्णायक कथन नहीं है। अतएव उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र आदि संस्थाओं में दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा, प्रापणीय इष्टि आदि धर्मों को स्वीकार करना आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं है। उक्त दीक्षणीय आदि इष्टियाँ मात्र अग्निष्टोम की ही अंगभूत हैं। इन धर्मों का सम्बन्ध मात्र अग्निष्टोम से ही है, ऐसा मानना चाहिए॥ ४५॥

## ( ५५५ ) प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पूर्वलिङ्गानाम् = पूर्व में प्राप्त लक्षणों के, प्रतिषेधात् = प्रतिषेध (निषेध) से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञ के शुभारम्भ में सर्वप्रथम दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा, प्रायणीय इष्टि आदि इष्टियों को अनुष्ठित करने के अनन्तर ही अग्निष्टोम याग का अनुष्ठान आरम्भ करते हुए प्रचरणी संज्ञक यज्ञीय पात्र में बचे हुए शेष घृत से आहुति प्रदान की जाती है। उक्थ्य का अनुष्ठान आहुतियों के क्रम के पश्चात् ही प्रारम्भ होता है। उक्थ्य के अनुष्ठान में आहुतियों का विधान न होकर शेष बचे घृत से परिधि को चुपड़े जाने का विधान है। उक्थ्य में आहुतियों से हवन किये जाने का विधान उपलब्ध न होने से यह प्रमाणित हो जाता है कि उक्थ्य अग्निष्टोम का विकार है। अतएव दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा आदि अग्निष्टोम के ही अंग हैं, ऐसा उपर्युक्त कथन प्रमाणित हो जाता है॥ ४६॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन यह है कि जब उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र आदि अग्निष्टोम के विकार स्वरूप माने जाते हैं, तो फिर इनका कथन अलग क्यों प्राप्त होता है? आचार्य ने कहा—**

## ( ५५६ ) गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** गुणविशेषात् = हर एक संस्था के उपसंहार-समापन में किये जाने वाले स्तवन स्वरूप गुणों की भिन्नता से, एकस्य = एक ही ज्योतिष्टोम का सात नामों से, व्यपदेशः = कथन किया गया है।

**व्याख्या—**पशु आदि की कामना से अनुष्ठित होने वाली उक्थ्य आदि समस्त संस्थाएँ कामना मूलक हैं। दीक्षणीय आदि इष्टियों के साथ अग्निष्टोम का अनुष्ठान किये बिना कामना मूलक संस्थाओं का अनुष्ठान किया जाना संभव नहीं। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि उक्थ्य, षोडशी अतिरात्र आदि सभी संस्थायें अग्निष्टोम से पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत उसी के ही अङ्ग हैं। कारण यह कि उसके बिना इन सबको अनुष्ठित किया जाना असम्भव ही है। इनको पृथक्-पृथक् नाम से निर्देशित किये जाने के मूल में स्तवन एवं कामना आदि गुण-वैशिष्ट्यता ही समाहित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४७॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

# ॥ अथ तृतीयाध्याये सप्तमः पादः ॥

**प्रस्तुत सप्तम पाद में सूत्रकार ने दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गत पठित बर्हि एवं वेदि आदि के धर्मों की विवेचना करने के भाव से जिज्ञासु शिष्य द्वारा व्यक्त किये जाने वाले सन्देह-क्या बर्हि एवं वेदि आदि के धर्म प्रधान याग तथा उनके अंगभूत सभी यागों के लिए विहित हैं ? या मात्र प्रधान याग के लिए ही हैं ? इस सुझाव को आचार्य पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित करते हैं—**

## ( ५५७ ) प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य॥ १॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणविशेषात् = किसी विशेष प्रकरण से, असंयुक्तम् = सम्बन्ध रहित धर्म, प्रधानस्य = प्रधान याग के हैं, उनका कथन प्रधान कर्म के प्रयोजनार्थ किया गया है।

**व्याख्या—** प्रधान याग दर्श-पूर्णमास के सामान्य प्रकरण में पठित होने से तथा अङ्गरूप किसी विशिष्ट प्रकरण में न पढ़े जाने से बर्हि, वेदि आदि द्रव्य एवं उनके धर्म (कुश का काटा जाना आदि) दर्श-पूर्णमास प्रधान याग तथा उनके हवि रूप द्रव्य के निमित्त ही समझना चाहिए॥ १॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ५५८ ) सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। शेषत्वस्य = शेषत्व के, अतत्प्रयुक्तत्वात् = किसी प्रकरण विशेष के द्वारा व्यवहार में न प्रयुक्त होने के कारण, सर्वेषाम् = प्रधान एवं अंगभूत समस्त कर्मों के धर्म हैं, ऐसा मानना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'शेषत्वस्य' पद का तात्पर्य धर्म-धर्मि भाव का है, शेष को ही अङ्ग भी कहा जाता है। जिस याग के ये शेष अथवा धर्म उपकारक होते हैं, उसी याग के अङ्ग माने जाते हैं। इनको प्रधान याग के साधारण प्रकरण में पढ़ा तो गया है, किन्तु प्रकरण के द्वारा इन धर्मों का शेष होना प्रकरण प्रेरित न होकर वाक्य प्रेरित है- 'बर्हिषि हवींषि आसादयति' अर्थात् कुशा के ऊपर हवियों को स्थापित करता है। एक अन्य वाक्य से बर्हि (कुशा) के धर्मों का कथन प्राप्त होता है- 'बर्हिलुनाति सम्भरति सन्नहयति प्रोक्षति' अर्थात् कुशा (बर्हि) को काटता है, उसे एकत्रित करता है, गट्ठर बनाता (बाँधता) है। जल से धोता है।

बर्हि के समान ही वेदिका के सम्बन्ध में भी 'वेद्यां हवींषि आसादयति' वाक्य उपलब्ध है। इसका अर्थ है- वेदिका के पास हवियों का स्थापन करता है। वेदिका के धर्मों का भी कथन किया - 'वेदिं खनति सम्मर्ष्टि परि गृह्णाति प्रोक्षति' वेदिका का खनन करता है, बराबर करके शुद्ध बनाता है, स्फ्य से उसे चिह्नित कर वेदिका के स्वरूप को दर्शाता है, जल के द्वारा उसका प्रोक्षण करता है। उक्त इन समस्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त धर्म प्रधान एवं अंगभूत (शेष) सभी के हैं॥ २॥

**उक्त विवेचन पर शिष्य ने अपनी जो आशङ्का प्रकट की उसे सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगले सूत्र द्वारा पुनः सूत्रित किया—**

## ( ५५९ ) आरादपीति चेत्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** आरात् = प्रधान याग के साथ पठित होने के कारण (पिण्ड पितृ यज्ञ) में, अपि = भी बर्हि, वेदि आदि के धर्म माने जाने चाहिए, इति चेत् = यदि यह कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** बर्हि, वेदि आदि धर्मों का विधान जिस प्रकरण में विहित है, जब उस प्रकरण को न छोड़ कर वह धर्म शेष (अङ्गों) के ही धर्म बने रहते हैं, तो उस स्थिति में उन धर्मों को 'पिण्ड पितृयज्ञ' का भी धर्म माना जाना चाहिए। कारण यह कि काटी गई कुशा पर ही उसको भी सम्पन्न किया जाता है॥ ३॥

**उक्त पूर्व पक्ष समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

## ( ५६० ) न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, तद्वाक्यम् = क्योंकि उस वाक्य 'बर्हिषि हवींषि आसादयति' का कथन, तदर्थत्वात् = प्रधान याग दर्श-पूर्णमास के लिए, हि = सुनिश्चित है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास के प्रकरण में 'बर्हि' एवं बर्हि के धर्म तथा 'वेदि' एवं वेदि के धर्मों का विधान होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वे सभी दर्श-पूर्णमास के ही अंग (शेष) हैं। अतएव वे धर्म, प्रधान याग अथवा उसके अङ्गों के अतिरिक्त अन्य किसी के धर्म नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनको सिद्ध करने वाले प्रमाण ही उपलब्ध नहीं रहते। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि उक्त धर्मों का निवेश पिण्ड पितृयज्ञ में न होकर, प्रधान याग दर्श-पूर्णमास में ही होगा, क्योंकि ये उसी के लिए हैं॥ ४॥

## ( ५६१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लक्षणों के देखे जाने से भी उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** 'स वै ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति, ततः प्रथमौ आज्यभागौ यक्ष्मन् भवति' अर्थात् वह प्रथम ध्रुवा का आघारण करता है और उससे पहले आज्य भागों का यजन करता है। यह वाक्य यह बतलाता है कि अभिघारण कर्म आज्य भाग के सम्पादनार्थ किया जाता है। आशय यह है कि प्रथम आज्य भाग उसी स्थिति में सम्पन्न होंगे, जब ध्रुवा का अभिघारण कर्म दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार ही वेदि आदि को भी समझना चाहिए; क्योंकि 'बर्हि' एवं 'वेदि' के धर्मों के ही समान अभिघारण धर्म भी दोनों के लिए समान है। अतएव हेतु के उपलब्ध होने से बर्हि एवं वेदि के धर्म प्रधान एवं शेष (अङ्ग) दोनों के लिए समान रूप से हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**जिज्ञासु शिष्य का संदेह अब यहाँ यह है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो यज्ञ कर्त्ता यजमान के केश, श्मश्रु-वपन आदि का पाठ मिलता है, तो क्या ये केश, श्मश्रु-वपन, पयोव्रत एवं तप प्रधान कर्म एवं अङ्ग कर्म दोनों के लिए हैं? या मात्र प्रधान कर्म के लिए ही? आचार्य ने समाधान करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ५६२ ) फलसंयोगात्तु स्वामिसंयुक्तं प्रधानस्य॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** स्वामिसंयुक्तम् = यज्ञ के स्वामी यजमान से सम्बन्धित केश-श्मश्रु-वपन आदि संस्कार, तु = तो, फलसंयोगात् = मुख्य यज्ञीय कर्म से प्राप्त होने वाले फल का सम्बन्ध उसके स्वामी यजमान से होने के कारण, प्रधानस्य = मुख्य यज्ञीय अनुष्ठान की उपपन्नता के लिए ही हैं।

**व्याख्या—** यज्ञकर्त्ता यजमान याग का स्वामी होने से यज्ञ की सिद्धि के अनन्तर उससे प्राप्त अदृष्ट फल का भोगकर्त्ता होता है। यजमान जिस प्रकार से यज्ञ की सिद्धि हेतु उसके समस्त अङ्गों सहित यज्ञ को अनुष्ठित करता है, वैसे ही अपने( यजमान के लिए विहित)संस्कारों दाढ़ी-बाल-मूँछ मुड़ाना, दुग्धाहार पूर्वक, ब्रह्मचर्ययुक्त तप-त्याग का जीवन व्यतीत करने का भी नियम पालन करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि यजमान के संस्कार केश-श्मश्रु-वपन आदि प्रधान याग के अंग होने से दोनों के न होकर प्रधान के लिए ही हैं॥ ६॥

**'षटत्रिंशत् प्रक्रमा प्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण, त्रिंशज्जघनेन इयति शक्ष्यामहे' ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित इस वाक्य द्वारा सौमिक वेदि का परिमाण बतलाया गया है। संदेह यहाँ यह है कि सौमिक वेदि का प्रयोग मात्र प्रधान कर्म के लिए है? अथवा अङ्गभूत कर्म के लिए? शिष्य के भावों को आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित किया—**

## ( ५६३ ) चिकीर्षया च संयोगात्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, चिकीर्षया = यज्ञीय कर्म हेतु वेदि का निर्माण करने की इच्छा के द्वारा, संयोगात् = याग से संयुक्त होने के कारण सौमिकी संज्ञक वेदि प्रधान याग (कर्म) का अंग है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सौमिकी वेदि के परिमाण का कथन करने वाला वाक्य 'इयति शक्ष्यामहे' पदों से याग सम्पन्न करने की अभिव्यक्ति करता है। इच्छित याग ही प्रधान कर्म है, अतः सौमिकी संज्ञक वेदि प्रधान याग के लिए है, ऐसा समझना चाहिए। कारण यह कि फल प्राप्ति प्रधान कर्म याग से होती है, उसके अङ्ग से नहीं। अतः इच्छा-विषय प्रधान याग ही है, सौमिकी वेदि उसी के लिए बनाई जाती है॥ ७॥

**अगले सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## (५६४) तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए है। तद्युक्ते = उस प्रधान याग के सर्वाङ्ग पूर्ण होने में ही, फलश्रुतिः = फल का प्राप्त होना सुना जाता है, तस्मात् = इसलिए, सर्वचिकीर्षा = प्रधान एवं अंग सभी कर्म इच्छा-विषय, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** याग से जो यजमान के लिए फल प्राप्ति का कथन किया गया है, वह फल उसी स्थिति में उपलब्ध होगा, जब यज्ञ का अनुष्ठान समस्त अङ्गों के साथ किया जाये। जैसे प्रधान याग वेदि पर सम्पादित होते हैं, वैसे ही अङ्गों का सम्पादन भी वेदि पर ही होता है। अङ्ग से रहित याग विगुण होने से फल देने वाला नहीं होता। अतएव 'वेदि' प्रधान एवं अङ्ग सभी प्रकार के यज्ञीय कर्मों के लिए है, ऐसा मानना चाहिए॥ ८॥

**'चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावस्याम्' चतुर्होतृ संज्ञक मन्त्र से पौर्णमास याग से संयुक्त हवि-द्रव्य का स्पर्श करे, पंचहोतृ संज्ञक मन्त्र से अमावस्या के याग से सम्बन्धित हवि का स्पर्श करे। दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पठित उपर्युक्त वाक्य के विषय में शिष्य का सन्देह यह है कि स्पर्श करना रूप-अभिमर्शन धर्म क्या प्रधान हवि के लिए ही है? शिष्य के सन्देह को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में रखकर अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (५६५) तथाभिधानेन॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** अभिधानेन = पौर्णमासी तथा अमावस्या प्रधान याग की संज्ञा एवं उसके निर्देशात्मक कथन के कारण उक्त स्पर्श कर्म, तथा = सौमिकी के समान प्रधान याग की हवि के लिए ही है।

**व्याख्या—** पौर्णमासी तथा अमावस्या संज्ञक याग का निर्देश दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में प्रत्यक्षतः प्रकाशित है। इस निर्देश से ऐसा प्रतीत होता है कि स्पर्श रूप अभिमर्शन कर्म प्रधान याग की हवि के लिए है॥ ९॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## (५६६) गुणाभिधानात् सर्वार्थमभिधानम्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** गुणाभिधानात् = स्पर्श रूप गुण के कथन से, सर्वार्थम् = अङ्ग एवं प्रधान दोनों प्रकार की हवियों के लिए, अभिधानम् = अभिमर्शन का विधान है।

**व्याख्या—** 'चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत्' तथा 'पञ्चहोत्रा अमावस्याम्' दोनों वाक्यों में पौर्णमासी एवं अमावस्या पद के आगे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग- यह सिद्ध करता है कि प्रत्यक्ष या पारम्परिक रूप से जो भी हविद्रव्य इन इष्टियों के साथ संयुक्त है, उन सभी प्रकार की हवियों का अभिमर्शन किया जाना चाहिए? अभिमर्शन का तात्पर्य विशेषतः हवियों को संस्कारित करना है और वह संस्कार अङ्ग एवं प्रधान सभी प्रकार की हवियों के लिए अभीष्ट है॥ १०॥

**'तिस्रोदीक्षाः' ज्योतिष्टोम के प्रकरण में तीन प्रकार की दीक्षाओं का कथन किया गया है- १. 'वाससा दीक्षयति' यजमान को वस्त्र से दीक्षित करता है। २. 'दण्डेन दीक्षयति' दण्ड से दीक्षित करता है ३. 'मेखलया दीक्षयति' मेखला से दीक्षित करता है। दक्षिणा विषयक वाक्य है- 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः' उस याग की दक्षिणा ११२ गाय है। इस विषय में शिष्य का सन्देह यह है कि क्या यह दीक्षा एवं दक्षिणा प्रधान एवं अङ्ग सभी प्रकार के कर्मों के लिए है? सूत्रकार ने सन्देह का निवारण करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया'—**

**( ५६७ ) दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् प्रधानस्य॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वाक्य की सामर्थ्य से, दीक्षादक्षिणम् = दीक्षा एवं दक्षिणा दोनों ही, प्रधानस्य = प्रधानकर्म के लिए है, तु = यह पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है।

**व्याख्या—** 'दीक्षा: सोमस्य, दक्षिणा सोमस्य' दीक्षाएँ भी सोम की हैं और दक्षिणाएँ भी सोम की हैं। वाक्यों की सामर्थ्य से दीक्षा एवं दक्षिणा प्रधान कर्म के लिए है, ऐसा सिद्ध होता है। सोमपद का प्रयोग प्रधान कर्म के लिए किया जाता है,अत: मुख्य सोम याग से ही दीक्षा एवं दक्षिणा संयुक्त हैं,ऐसा सुनिश्चित समझना चाहिए॥ ११॥

**अगले सूत्र के द्वारा सूत्रकार उपर्युक्त कथन में हेतु प्रस्तुत करते हैं—**

**( ५६८ ) निवृत्तिदर्शनाच्च॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, निवृत्तिदर्शनात् = निरूढ़ पशु बन्ध नामक अङ्ग कर्म में दीक्षा की अप्राप्ति भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि का हेतु है।

**व्याख्या—** 'अध्वर्यो यत्पशुना अयाक्षी: अथ कास्य दीक्षा? इति'। हे अध्वर्यु! जो तुमने पशु निरूढ़ पशु अर्थात् जंगली अनाज से यजन कराया है, इसकी क्या दीक्षा है। 'यत् षड्ढोतां जुहोति साऽस्य दीक्षा' जो छह होताओं द्वारा हवन का सम्पादन किया जा रहा है, वही इसकी दीक्षा है। उक्त वाक्य प्रकृति याग अग्नीषोमीय के अङ्गभूत निरूढ़ पशुबन्ध याग के प्रसङ्ग से है। अङ्गभूत 'निरूढ़ पशुबन्ध' याग में दीक्षा के अप्राप्त होने से दक्षिणा की भी प्राप्ति नहीं है। यह अभाव ही यह प्रमाणित करता है कि दीक्षा एवं दक्षिणा अङ्गभूत कर्म से सम्बद्ध न होकर मात्र प्रधान कर्म अग्नीषोमीय याग से ही सम्बद्ध हैं। ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

**ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु को बाँधने के लिए गाड़े जाने वाले यूप के विषय से सम्बन्धित वाक्य यूप स्थापन के निर्णायक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद् बहिर्वेदि अनवरुद्ध: स्यात् अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि, अवरुद्धो ह भवति न निर्दहति ( मैत्रा० सं० ३.९.४ )। यूप स्थापित करने के लिए वेदि के पास की ही भूमि जो न तो वेदि के अधिक निकट ही हो और न ही अधिक दूर, ताकि यज्ञीय कार्य उससे बाधित न हो। शिष्य का संदेह यहाँ यह है कि यह मानना चाहिए कि यूप के अंग के रूप में वेदि का कथन हुआ है ? या यूप गाड़ने के लिए स्थान के चयन हेतु मात्र सांकेतिक कथन है ? शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ५६९ ) तथा यूपस्य वेदि:॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = वाक्यों की समर्थता से जिस प्रकार दीक्षा एवं दक्षिणा प्रधान कर्म के अंग माने गये हैं, वैसे ही , वेदि: = वेदि को भी, यूपस्य = यूप का अङ्ग माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य के अनुसार यूप को गड्ढे में इस प्रकार से स्थापित करना चाहिए कि उसका आधा भाग वेदि की सीमा में (अन्दर) एवं आधा भाग बाहर रहे। प्रधान कर्म यहाँ पर खनन किये हुए गड्ढे में यूप स्थापन है। अत: जिस प्रकार दीक्षा एवं दक्षिणा को प्रधान कर्म का अङ्ग माना गया है, वैसे ही वेदि को भी यूप का अङ्ग स्वीकार करने से ही यूप स्थापन का सुनिश्चित स्थान ज्ञात होता है॥ १३॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ५७० ) देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की उक्त मान्यता का निराकरण करता है। देशमात्रम् = वेदि पद मात्र यूप के स्थापन के देश (स्थान) को निर्देशित करता है, अशिष्येण = उसकी 'अर्ध बहिर्वेदि' के साथ अर्द्धमन्तर्वेदि की, एकवाक्यत्वात् = एक वाक्यता होने से उक्त पूर्वपक्ष की मान्यता युक्त नहीं है।

**व्याख्या—** 'अर्द्धमन्तर्वेदिमिनुयात्, अर्द्धबहिर्वेदिमिनुयात्' वाक्यों में एक वाक्यता पाये जाने से उक्त पूर्वपक्ष

की मान्यता निरस्त हो जाती है। वेदि को यूप का अङ्ग इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने से एक ही वाक्य में एक दूसरे के विरोध की प्राप्ति होगी। इसलिए यही मानना होगा कि वेदि यूप का अङ्ग नहीं है। इस कथन से ही दोनों वाक्यों की एकवाक्यता तथा यूप की देश-विशिष्टता प्रकट हो जाती है॥ १४॥

**ज्योतिष्टोम याग में 'हविर्धान' संज्ञक मण्डप बनाया जाता है, उस मण्डप के दक्षिण एवं उत्तर दोनों दिशाओं में दो छकड़े ( शकट ) रहते हैं, उनको हविर्धान शकट कहा जाता है। उनमें सोम रस भरा रहता है, दक्षिण हविर्धान शकट में भरे सोम को छकड़े से उतार कर उसका अभिषव अधिषवण फलकों पर करने का विधान है। उसी प्रसङ्ग का वाक्य है- 'उत यत्र सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः' जहाँ सोम का अभिषव ( कूट-पीसकर छान कर उसका रस निकालना ) किया जाता है, वहाँ सामिधेनी ऋचाओं को बोले। जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि क्या हविर्धान को सामधेनी ऋचाओं का अङ्ग माना जाये? ये शिष्य के इन्हीं मनोभावों को आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५७१ ) सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात् सामिधेनीनाम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** हविर्धानयोः = जहाँ पर हविधनि के क्रम में सोम कूटा जाता है- सोम का अभिषव होता है वह, सामिधेनीस्तदन्वाहुः = 'यत् सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः, इति वचनात् = इस वाक्य से, सामिधेनीनाम् सामिधेनी ऋचाओं का अङ्ग है।

**व्याख्या—** सामिधेनी ऋचाओं के सोम अभिषव के अवसर पर होता द्वारा उच्चारण (पाठ) किये जाने से हविर्धान एवं सामधेनियों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिणी हविर्धान सामधेनियों का अङ्ग है। हविर्धान को सामधेनियों का अङ्ग न माने जाने की स्थिति में यह पद अपने प्रमुख अर्थ का परित्याग करके लक्षणा-शक्ति द्वारा निकटता-सामीप्यता को बतलायेगा, जो दोष रूप में प्रकट होगा, जो अपने को अभीष्ट नहीं। अतः यही मानना औचित्यपूर्ण है कि हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है॥ १५॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

## ( ५७२ ) देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है, देशमात्रम् = क्योंकि वह हविर्धान का कथन मात्र देश-स्थान विशेष का कथन है, हि = क्योंकि वह शकट, सोमस्य = सोम का, अर्थकर्म = अर्थ स्वरूप अंग कर्म है, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्षतः ऐसा ज्ञात होता है (कि हविर्धान का कथन सोम लाने के प्रयोजनार्थ है न कि सामिधेनियों के उच्चारण रूप पाठ किये जाने के प्रयोजनार्थ)।

**व्याख्या—** 'दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनस्तरणं राज्ञश्चासादनम्' दक्षिण के शकट-हविर्धान के नीड (निवास-स्थल) में काले रंग का मृगचर्म बिछाकर राजा सोम को वहाँ लाया जाता है। आपस्तम्ब के उक्त वाक्य के आशय के अनुसार दक्षिणी हविर्धान का मुख्य प्रयोजन राजा सोम को वहाँ लाना है। प्रसङ्गागत उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'यत्सुन्वन्ति' का 'यत्' पद सप्तम्यन्त होने से समीपता को प्रकाशित करता है। अभिषव कर्म का सम्पादन हविर्धान- शकट की समीपता में होता है। वहीं पर विद्यमान याज्ञिक होता अग्नि के प्रदीपन के लिए सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करता है। तात्पर्य यह है कि उसी देश को हविर्धान द्वारा लक्षित किया जाता है। अतः हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग कहना औचित्यहीन है, ऐसा समझना चाहिए॥ १६॥

## ( ५७३ ) समाख्यानं च तद्वत्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, समाख्यानम् = हविर्धान की संज्ञा भी, तद्वत् = वैसे ही सोम के आधार पर होने का ज्ञान कराती है।

**व्याख्या—** सौमिकी वेदि के दक्षिण में विद्यमान हविर्धान शकट में सोम भरकर लाया जाता है, वह हविर्धान राजा सोम का वाहन है। सूत्र का आशय यह है कि वस्तुस्थिति के अनुरूप ही शकट को हविर्धान की संज्ञा दी

गई है। इस संज्ञा के द्वारा सोम के साथ शकट के सम्बन्ध का कथन प्राप्त होता है। अत: शास्त्रीय दृष्टि से भी हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग बतलाना उचित नहीं है॥ १७॥

**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' स्वर्ग की कामना वाला यजमान अग्निहोत्र से हवन करे। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्ग की कामना वाला यजमान दर्श-पूर्णमास से यजन करे तथा स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करे - 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्।' शास्त्रविहित सकाम यज्ञीय कर्मानुष्ठानों के उपर्युक्त वचनों में जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यह है कि उक्त समस्त कर्मों को स्वयं यजमान सम्पन्न करे, या प्रधान कर्म स्वयं सम्पादित कर, शेषभूत कर्मों को अन्य ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न कराये? सूत्रकार ने इसे पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ५७४ ) शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** शास्त्रफलम् = शास्त्र द्वारा विहित किये गये अग्निहोत्र यज्ञादि कर्मों के स्वर्ग आदि फल, प्रयोक्तरि = प्रयुक्त होने वाले यजमान विषयक होने से उसी के लिए है, तल्लक्षणत्वात् = उसके लक्षणों से यही प्रतीत होता है, तस्मात् = इसलिए उन कर्मों के, प्रयोगे = अनुष्ठान रूप प्रयोग में, स्वयम् = यजमान को स्वयं ही , स्यात् = कर्त्ता होना चाहिए।

**व्याख्या—** अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठानकर्त्ता यजमान को ही शास्त्रों ने उनसे प्राप्त स्वर्गादि फल का अधिकारी माना है। अत: यजमान स्वयं ही सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान को सम्पादित करे। यदि किसी अन्य से वह इन कर्मों को पूर्ण कराता है, तो यह सुनिश्चित नहीं कि उनका फल यजमान को ही मिलेगा। अत: यह प्रतीत होता है कि यजमान ही सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान सम्पन्न करे॥ १८॥

**अगले सूत्र के माध्यम से उक्त मान्यता को खण्डित करते हुए सूत्रकार दूसरे पक्ष को प्रतिपादित करते हैं—**

**( ५७५ ) उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य,**
**तस्मादन्य: स्वयं वा स्यात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** उत्सर्गे = ऋत्विजों को दक्षिणा आदि दिये जाने के कारण, तु = तो यजमान की ही, प्रधानत्वात् = प्रमुखता होने के कारण, शेषकारी = शेष यज्ञीय कार्यों को सम्पादित करने वाले होता आदि ऋत्विग्गण, प्रधानस्य = यजमान के प्रतिनिधि होते हैं, तस्मात् = इसलिए, अन्य = दक्षिणा देकर नियुक्त अन्य ऋत्विग्गण, वा = अथवा, स्वयम् = वह यजमान स्वयं कार्यों को सम्पादित करने वाला कर्त्ता, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'उत्सर्ग' पद का तात्पर्य यज्ञीय कर्मानुष्ठान के सम्पादनार्थ दक्षिणा आदि देकर ऋत्विजों को नियुक्त करना (खरीदना) है। यज्ञीय कर्मानुष्ठान कई दिनों तक चलते रहने से अनवरत यजमान का उसमें उपस्थित रह पाना संभव नहीं। आवश्यक कार्यों से उसे यज्ञीय अनुष्ठान काल में वहाँ से जाना ही पड़ता है, तो यजमान की अनुपस्थिति में उसके द्वारा नियुक्त ऋत्विज ही उसका प्रतिनिधित्व कर यज्ञ को सतत संचालित करते रहते हैं। इस प्रकार से बिना किसी व्यवधान के यज्ञ सम्पन्न होता है। अतएव यह ज्ञात होता है कि प्रधान कर्म 'उत्सर्ग' को सम्पादित करने में मात्र यजमान ही अधिकृत है, शेषभूत कार्यों का सम्पादन या तो वह स्वयं करे या दक्षिणा देकर अपने द्वारा नियुक्त किये गये ऋत्विजों द्वारा कराये॥ १९॥

**समाधान स्वरूप प्रस्तुत सूत्र को सूत्रकार ने तीसरे पक्ष 'सिद्धान्त पक्ष' के रूप में प्रस्तुत किया—**

**( ५७६ ) अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—**परिक्रयाम्नानात् = यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय का विधान शास्त्र विहित होने से, प्रत्यगात्मनि = अपने आप-स्वयं में परिक्रय का, विप्रतिषेधात् = विरोध प्राप्त होने से, अन्य: = नियुक्त ऋत्विग्गणों द्वारा, वा = भी, स्यात् = शेषकर्मों का अनुष्ठान हो सकता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठानों में प्रधान कर्म एवं अङ्गभूत शेष कर्मों की बहुलता के कारण एकाकी यजमान

के द्वारा ही समस्त कर्मों को सम्पादित किया जाना नितान्त कठिन है। इस हेतु से शास्त्रों में अपेक्षित यज्ञों के लिए परिक्रय का दक्षिणा आदि का सम्पूर्ण विधान उपलब्ध है। उक्त शास्त्रीय विधान के अनुसार परिक्रय तो एक मात्र यजमान को ही करना पड़ता है, क्योंकि अपने आप-स्वयं का परिक्रय असम्भव है। अत: यजमान ही प्रधान कर्म को अनुष्ठित करता है। शेष कर्मों का सम्पादन परिक्रेता यजमान द्वारा दक्षिणा देकर नियुक्त किये गये ऋत्विक् गण भी करते हैं॥ २०॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा अब परिक्रय किये जाने वाले ऋत्विजों की संख्या को लेकर है। वह स्वयं कितनी होनी चाहिए? उक्त जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## (५७७) तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = ऋत्विजों की संख्या के विषय में, अनियम: = कोई नियम नियत नहीं है। तत्र = वहाँ शेषभूत कर्मों के सम्पादनार्थ, अर्थात् = प्रयोजन के अनुरूप, कर्तृपरिमाणम् = यागकर्त्ताओं ऋत्विजों की संख्या, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय किया जाना यज्ञीय कर्मानुष्ठान की अपेक्षा एवं आवश्यकता पर निर्भर करता है। इसके लिए शास्त्रों में संख्या निर्धारण का वाक्य कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अत: इस प्रकार का कोई नियम प्राप्त न होने से यही उचित प्रतीत होता है कि अनुष्ठेय कर्म के सम्पादनार्थ जितने ऋत्विजों की आवश्यकता हो, उतने का ही परिक्रय किया जाना चाहिए॥ २१॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## (५७८) अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्यु:॥ २२॥

**सूत्रार्थ—**अपि वा=संख्या के सम्बन्ध में नियम न होने पर भी। श्रुतिभेदात् = श्रुति से प्राप्त भिन्नता-भेद के कारण, प्रतिनामधेयम् =ऋत्विजों की संख्या का निर्धारण प्रत्येक ऋत्विजों की संज्ञा के अनुसार ही, स्यु: =होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजति- प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसान् उन्नयति, प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्य: सुब्रह्मण्यामाह्वयति, होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुण: प्रेष्यति, अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुद् ग्रावस्तोत्रीयामन्वाह।'

वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष्टोम आदि यागों के विधि-विधान से सम्बन्धित उपर्युक्त वाक्य में यज्ञीय कर्मकाण्ड में सम्पादित किये जाने वाले पृथक्-पृथक् कर्मों के सम्पादन का दायित्व पृथक्-पृथक् नाम वाले ऋत्विजों द्वारा पूर्ण किये जाने का निर्देश स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। उक्त वाक्य का अर्थ है- 'प्रथम अध्वर्यु द्वारा यज्ञीय कार्यों को बाँटा जाता है', 'प्रतिप्रस्थाता' मन्थी संज्ञक ग्रह से हवन करता है, नेष्टा यजमान पत्नी को गठबन्धन से जोड़ता है, उन्नेता चमस पात्रों को सोम से आपूरित करता है, प्रस्तोता साम के 'प्रस्ताव संज्ञक' पहले भाग का पाठ करता है, उद्गाता 'उद्गीथ' संज्ञक द्वितीय भाग का पाठ करता है, प्रतिहर्त्ता 'प्रतिहार' नामक तीसरे भाग का पाठ करता है, सुब्रह्मण्य 'सुब्रह्मण्य' संज्ञक निगद मन्त्रों का उच्चारण करता है, प्रातरनुवाक का पाठ होता संज्ञक ऋत्विक् करता है, मैत्रावरुण प्रेरित करने का काम करता है, अच्छावाक् यजनकर्म को सम्पादित करता है, ग्रावस्तुत ग्रावस्तोत्रीया ऋचाओं को पढ़ता है। इस प्रकार उक्त उद्धरण द्वारा द्वादश ऋत्विजों का कर्मानुसार नाम आदि का निर्देश प्राप्त होता है। यहाँ एक मुख्य ऋत्विज् 'ब्रह्मा' का उल्लेख नहीं है, उसके भी तीन सहयोगी (ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता) होते हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह ऋत्विक् होते हैं। ज्योतिष्टोम याग में ऋत्विजों की एक नियत संख्या का विधान उपलब्ध न होने पर भी प्रत्येक कर्म की सम्पन्नता हेतु उनके भेद से ऋत्विजों की संख्या सत्रह (१६ऋत्विज्+१ यजमान=१७) भी मानी जाती है। जबकि यजमान द्वारा (वरण)परिक्रय किये जाने की दशा में सोलह ही निर्धारित है, ऐसा समझना चाहिए॥ २२॥

**जिज्ञासु शिष्य का सन्देह यहाँ यह है कि लोक व्यवहार के प्रचलन में अनेक कर्मों को सम्पादित करने के लिए एक ही व्यक्ति के नाम भी भिन्न-भिन्न हो जाया करते हैं, तो ऐसी दशा में मात्र नामों की पृथक्ता का उल्लेख होने से ऋत्विजों की सुनिश्चित संख्या का उसके आधार पर कथन किया जाना कहाँ तक उचित होगा ? इन्हीं सन्देहास्पद भावों को सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ५७९ ) एकस्य कर्मभेदादिति चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** कर्मभेदात् = कर्मों की भिन्नता से अध्वर्यु आदि कई नामों से, एकस्य = लोक में एक ही ऋत्विक् को व्यवहृत होते देखा जाता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें तो वह युक्त नहीं।

**व्याख्या—** कर्मों की पृथक्ता-भिन्नता से लोक व्यवहार में एक ही व्यक्ति अनेक नामों से व्यवहृत होता है। पाचक, याजक, पाठक आदि कई नामों से एक ही व्यक्ति को क्रियान्वित होते देखा जाता है। एक ही ऋत्विक् अध्वर्यु, होता आदि कई नामों से कई कर्मों को सम्पादित कर सकता है। अतएव मात्र नाम के भेद से ऋत्विजों की संख्या का नियम निर्धारिण करना युक्त नहीं, प्रत्युत प्रयोजनानुरूप ऋत्विजों का वरण (प्रक्रिया) किया जाना ही औचित्यपूर्ण माना जाना चाहिए॥ २३॥

**आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ५८० ) नोत्पत्तौ हि पुरुषाम्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, आशङ्का निराधार ही है। हि = कारण यह कि, उत्पत्तौ = वरण का विधान करने वाले वाक्य में ऋत्विजों के (१६ ऋत्विक्, अध्वर्यु, होता आदि) वरण (परिक्रय) का कथन उपलब्ध है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में 'अध्वर्युं वृणीते, होतारं वृणीते, उद्गातारं वृणीते' आदि। व्यवहृत वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी ऋत्विजों का अपना-अपना पृथक्-पृथक् कार्य है और उनकी हर एक की अपनी-संज्ञा है। अध्वर्यु आदि संज्ञाओं से सभी ऋत्विजों का यजमान द्वारा पृथक्-पृथक् वरण किया जाना उन ऋत्विजों की एक निश्चित नियत संख्या (१६) का ज्ञान कराता है। अत: यह प्रमाणित हो जाता है कि कार्य की भिन्नता से एक ही व्यक्ति के पृथक्-पृथक् नामों की अभिव्यक्ति मानना निराधार है॥ २४॥

**नोट- १६ ऋत्विजों में १. अध्वर्यु २. होता ३. उद्गाता ४. ब्रह्मा इन चारों को प्रमुख तथा तीन-तीन इनके सहायक ऋत्विज् होते हैं, उनके विभाग का स्वरूप इस प्रकार है- अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, सुब्रह्मण्य एवं ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता आदि ऋत्विजों के मध्य में प्रतिप्रस्थाता आदि सभी गौण ऋत्विग्गण प्रमुख अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के निर्देशन में सदा कार्यरत रहते हैं। इस सन्दर्भ में सिद्धान्त रूप सूत्र है—**

## ( ५८१ ) चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, चमसाध्वर्यव: = यज्ञीय कर्मानुष्ठान को सम्पन्न करने वाला चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् पूर्व में वर्णित ऋत्विजों से सर्वथा पृथक् है, तै: = जिनकी गणना पूर्व में की गई है उन १६ ऋत्विजों के साथ सम्बद्ध होकर, व्यपदेशात् = इनके वरण किये जाने का कथन प्राप्त होने से (यह सिद्ध हो जाता है कि चमसाध्वर्यु उन १६ ऋत्विजों से पृथक् है)।

**व्याख्या—** 'मध्यत: कारिणां चमसाध्वर्यव:' मध्यत: कारियों के सहकारी चमसाध्वर्यु , होत्रकाणां, चमसाध्वर्यव: होत्रकों के चमसाध्वर्यु। उक्त कथन षष्ठी विभक्ति के साथ सम्बन्ध वाचक अभिव्यक्ति के रूप में निर्दिष्ट है। इससे चमसाध्वर्यु की अन्य १६ ऋत्विजों से पृथक्ता सिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत सूत्र का आशय यह है कि ज्योतिष्टोम याग में जिस प्रकार 'अध्वर्यु' आदि ऋत्विजों के वरण का विधान प्राप्त है, वैसे ही चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विजों का भी विधान है। वरण के विधान की पृथक्ता से ऋत्विजों के भिन्न होने की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। कारण यह कि एक ही ऋत्विक् का वरण एक से अधिक बार किया जाना संभव नहीं।

उक्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विज् उक्त १६ ऋत्विजों से सर्वथा पृथक् है॥ २५॥

**चमसाध्वर्यु की संख्या आदि की सुनिश्चितता को लेकर जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का यह है कि यजमान अपनी इच्छानुसार एक अथवा दो का वरण करे? सूत्रकार आचार्य ने अगले दो सूत्रों में समाधान दिया—**

## (५८२) उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तौ = वरण विषयक अतिदेश वाक्य में, बहुश्रुतेः = बहुवचन का श्रवण किये जाने से, तु = तो बहुतों (एक दो से अधिक) का वरण किया जाना ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'मध्यतः कारिणां चमसाध्वर्यवः' एवं 'होत्रकाणां-चमसाध्वर्यवः' आदि वाक्यों में 'चमसाध्वर्यवः' बहुवचन के श्रवण किये जाने से तथा अतिदेश वाक्य - 'चमसाध्वर्यून् वृणीते' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग बहुवचन के साथ निर्देश रूप में प्राप्त होने से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ में चमसाध्वर्यु की संख्या एक न होकर अधिक होनी चाहिए॥ २६॥

## (५८३) दशत्वं लिङ्गदर्शनात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** दशत्वम् = दश की संख्या का एक सुनिश्चित निर्धारण, लिङ्गदर्शनात् = ज्ञान कराने वाले लिङ्गप्रमाण के दृष्टिगोचर होने से, किया गया है।

**व्याख्या—** 'दश चमसाध्वर्यवः। दशदशैकैकं चमसमनुसर्पन्ति' ज्योतिष्टोम याग के विकृति याग रूप 'दशपेय' याग के अनुष्ठान के प्रसङ्ग का उक्त वाक्य यह प्रमाणित करता है कि ज्योतिष्टोम याग में चमसाध्वर्यु ऋत्विक् दश की संख्या में वरण करने चाहिए। 'दशभिः पेयः सोमो यत्र स दशपेयः' दश-दश व्यक्ति एक-एक चमस के पास (समीप) सोमपान के भक्षण के लिए जाते हैं। इस प्रकार 'दशपेय' की संज्ञा भी यह सुनिश्चित करती है कि चमसाध्वर्यु दस की ही संख्या में होते हैं। 'शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति' उसी प्रसङ्ग में प्रस्तुत वाक्य से सौ ब्राह्मण सोम रस का भक्षण करते हैं, चमसाध्वर्यु ऋत्विजों के दस वर्ग का प्रमाण प्राप्त होता है। अतः चमसाध्वर्यु ऋत्विजों की नियत संख्या दस ही है, यही मान्यता तर्कसंगत एवं युक्ति-युक्त है॥ २७॥

**'शमितारमुपनयति' शमिता संज्ञक ऋत्विज् को लाता है। ज्योतिष्टोम के ही प्रकरण में पठित उक्त वाक्य के विषय में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि शमिता नामक ऋत्विज् क्या उन्हीं ऋत्विजों में से एक है, जिनका पूर्व में वरण कर लिया जाता है? या उनसे पृथक् है? शिष्य के भावों को सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित कर रहे हैं—**

## (५८४) शमिता च शब्दभेदात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** शब्दभेदात् = अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के शब्द से शमिता शब्द की भिन्नता होने से, शमिता = शमिता संज्ञक ऋत्विज् को, च = भी, चमसाध्वर्यु के तुल्य भिन्न माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञीय प्रकरण में जहाँ ऋत्विजों के वरण का निर्देश मिलता है, वहाँ 'शमिता' शब्द नहीं है। जबकि 'होतारं वृणीते' 'ब्रह्माणं वृणीते' आदि वाक्यों का प्रत्यक्षतः निर्देश किया गया है। अतएव 'शमिता' शब्द से व्यवहृत किया जाने वाला ऋत्विज्, उसी प्रकार से उक्त पूर्व में वरण किये जाने वाले १६ ऋत्विजों से पृथक् है, जिस प्रकार चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विज्, ऐसा ही समझना युक्त प्रतीत होता है॥ २८॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का निस्तारण किया—**

## (५८५) प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** उत्पत्त्यसंयोगात् = वरण के लिए वाक्य निर्देश, वा = के अतिरिक्त, प्रकरणात् = प्रकरण, प्रसंग के आधार पर विचार करें।

**व्याख्या—** 'चमसाध्वर्यून् वृणीते' के समान 'शमिता' का वरण वाक्य प्राप्त न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शमिता' संज्ञक ऋत्विज् उन्हीं १६ ऋत्विजों में से एक ऋत्विज् है। यज्ञशाला में दानार्थ लाया गया पशु भारी

जन समुदाय को एक साथ देखकर विदक न उठे, इसी उद्देश्य से पूर्व में वरण किये १६ ऋत्विजों में से ही किसी एक को उस चंचल पशु को शान्त करने के लिए नियुक्त किया जाता है। अध्वर्यु के सहयोगी उस नियत किये गये ऋत्विज् को ही 'शमिता' (शान्त करने वाला) की संज्ञा प्रदान की जाती है। अतएव उसे चमसाध्वर्यु की तरह से भिन्न नहीं माना जा सकता॥ २९॥

**'उपगायन्ति इति उपगा:' उद्गाता के सहयोगी 'उपगा' की संज्ञा वाले ऋत्विजों के विषय में शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या उनकी भी गणना उन्हीं १६ ऋत्विजों में ही है, या उनसे भिन्न हैं? समाधानपरक सूत्र हैं—**

**(५८६) उपगाश्च लिङ्गदर्शनात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** उपगा: = उपगाता संज्ञक ऋत्विजों को, लिङ्गदर्शनात् = उनकी अभिन्नता का प्रमाण (चिह्न) दृष्टिगोचर होने से, च = भी सोलह ऋत्विजों में ही माना जाता है।

**व्याख्या—** 'नाध्वर्युरुपगायेत्' तैत्तिरीय संहिता का यह वाक्य यह निर्देश करता है कि अध्वर्यु को उपगान नहीं करना चाहिए। उद्गाता आदि चार ऋत्विग्गण सामगान करते हैं तथा उनके समीपस्थ (आस-पास) बैठे ऋत्विज् उपगाता कहे जाते हैं। अध्वर्यु के लिए उपगान न किये जाने का निर्देश, अध्वर्यु के अतिरिक्त अन्य ऋत्विजों द्वारा उपगान किया जाना प्रमाणित करता है। उपगान करने वाले प्रधान गायक के सहयोगी होते हैं और वे उन्हीं १६ ऋत्विजों में से ही हुआ करते हैं, ऐसा समझना समीचीन है॥ ३०॥

**जिज्ञासु शिष्य की आशङ्का है कि क्या सोम विक्रेता को भी 'उपगाता' एवं 'शमिता' के समान उन्हीं १६ ऋत्विजों में से ही माना जाना चाहिए? इस आशङ्का का निवारण सूत्रकार ने अगले सूत्र द्वारा किया—**

**(५८७) विक्रयी त्वन्य: कर्मणोऽचोदितत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मण: = सोम विक्रय रूप कर्म के, अचोदित्वात् = विधान का वर्णन प्राप्त न होने से, तु = तो, विक्रयी = सोम बेचने वाला, अन्य: = उन सोलह ऋत्विजों-अध्वर्यु आदि से भिन्न है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के प्रकरण में सोम के क्रय (खरीदे जाने) का विधान उपलब्ध है- 'सोमं क्रीणति'। अत: क्रय रूप कर्म को ज्योतिष्टोम का अङ्ग माना जाता है, विक्रय को नहीं। विक्रय का ज्ञान, क्रय के विधान के आधार पर अर्थापत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है। सोम विक्रय रूप कर्म यागान्तर न होकर याग से बाहर का कर्म होने से अध्वर्यु आदि सभी पूर्व परिगणित ऋत्विजों से भिन्न है, ऐसा समझना युक्ति-युक्त है॥ ३१॥

**ज्योतिष्टोम याग में यज्ञ सम्पन्न करने में सहयोगी की भूमिका वाले एवं अध्वर्यु आदि सभी 'ऋत्विज्' कहे जाने चाहिए? या कुछ सीमित जन ही? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासु शिष्य के भावों को ही पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**(५८८) कर्मकार्यात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वमविशेषात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = समान रूप से, कर्मकार्यात् = कर्म (यज्ञ सम्पादन आदि) किये जाने के हेतु से तो, सर्वेषाम् = सभी की, ऋत्विक्त्वम् = 'ऋत्विक्' संज्ञा होनी चाहिए।

**व्याख्या—** अध्वर्यु आदि याज्ञिक जिस प्रकार से विहित यज्ञीय कर्मानुष्ठान को अनुष्ठित करने वाले होते हैं, वैसे ही चमसाध्वर्यु भी विहित कर्मानुष्ठान के अनुष्ठाता हैं। अतएव सभी के याग सम्पादन के भाव से, समान रूप से सम्मिलित होकर याज्ञिक क्रियाओं को क्रियान्वित करने के कारण सभी के लिए 'ऋत्विक्' पद का व्यवहार किया जाना युक्त प्रतीत होता है॥ ३२॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**(५८९) न वा परिसंख्यानात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। परिसंख्यानात् = ऋत्विजों की संख्या (१६) नियत होने से, न = सभी को 'ऋत्विक्' पद से व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या—** 'ऋतुषु यजति इति ऋत्विक्' विशिष्ट ऋतु में विहित कर्मानुष्ठान को अनुष्ठित करने वाला ऋत्विक् कहलाता है। उक्त वाक्य से 'ऋत्विक्' पद का सम्बन्ध अनेकों से प्राप्त होने पर भी सुनिश्चित सत्रह की संख्या का सम्बन्ध ही यज्ञ करने वाले पुरुषों के साथ ज्ञात होता है। 'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति' प्रस्तुत वाक्य ऋत्विजों की सप्तदश संख्या का निर्धारण करता है। अतएव ज्योतिष्टोम में निरत समस्त कार्य करने वालों को ऋत्विक् पद से व्यवहृत किया जाना न तो औचित्यपूर्ण है और न ही शास्त्रसम्मत, यही समझना चाहिए॥ ३३॥

**उपर्युक्त विवेचन के विषय में शिष्य की जिज्ञासा अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित है—**

## (५९०) पक्षेणेति चेत्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** पक्षेण = सत्रह ऋत्विजों का ग्रहण 'सौम्यस्याध्वरस्य' वाक्य द्वारा (एक देश के अभिप्राय से) अवयुत्यवाद के पक्ष से किया गया है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** एकदेश (एक स्थल) पर कार्यरत ऋत्विजों के समूह को अवयुत्यानुवाद या 'अवयुत्यवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'सौम्यस्याध्वरस्य' वाक्य द्वारा याग के समस्त कर्म करने वाले पुरुषों के लिए उनके एकदेश से (सत्रह से)अवयुत्यानुवाद के अभिप्राय से किया गया है। अतएव ज्योतिष्टोम याग के कार्य में भागीदारी करने वाले समस्त कार्यकर्त्ताओं को 'ऋत्विज्' पद से व्यवहृत किया जाना चाहिए॥ ३४॥

**आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## (५९१) न सर्वेषामनधिकारः॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** सर्वेषाम् = समस्त कर्मकर 'ऋत्विक्' पद के सन्दर्भ में, अनधिकारः = अधिकार न होने में, न = ऐसी मान्यता उचित नहीं।

**व्याख्या—** 'सौम्यस्याध्वरस्य' वाक्य में ऋत्विजों की संख्या निश्चित १७ बताई गयी है। अन्यत्र कहीं भी ऐसा वाक्य उपलब्ध नहीं है, जिसमें याग में कर्मरत समस्त कर्मकरों (पुरुषों) को ऋत्विज् की मान्यता प्रदान की गई हो। अस्तु; (पूर्व प्रसंग में वर्णित) उक्त वाक्य द्वारा बतलायी गई संख्या (सत्रह ऋत्विज् ज्योतिष्टोम में होते हैं) को एक पक्षीय मानने का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता॥ ३५॥

**जिज्ञासु शिष्य उक्त सत्रह ऋत्विजों के ही ग्रहण के विषय में यह जानना चाहता है कि क्या इनके ग्रहण का कोई सुनिश्चित नियम है? सत्रह ऋत्विजों की संख्या एवं उनका स्वरूप क्या है? आचार्य सूत्रकार ने कहा—**

## (५९२) नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद अनियम के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। दक्षिणाभिः = दक्षिणाओं आदि के वाक्यों के, श्रुतिसंयोगात् = श्रुति संयोग होने से -उनके नाम का सम्बन्ध सुने जाने से, नियमः = नियत सत्रह पुरुषों के लिए ही 'ऋत्विक्' पद का प्रयोग किये जाने का नियम है।

**व्याख्या—** 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इस वाक्य में ऋत्विजों को दक्षिणा देने का विधान किया गया है। इसके ही क्रम में ब्रह्मा आदि की दक्षिणा का कथन किया गया है। 'अग्नीध्रेऽग्रे दक्षिणां ददाति' पहले अग्नीध्र को दक्षिणा देता है, उसके अनन्तर ब्रह्मा को दक्षिणा देता है- 'ततो ब्रह्मणे'। इसी क्रम में विशिष्टता प्राप्त नियत अध्वर्यु आदि के संज्ञा सहित दक्षिणा दिये जाने का निर्देश प्राप्त होता है। अतएव प्रारम्भिक उक्त वाक्य 'ऋत्विग्भ्यो' आदि के द्वारा दक्षिणादान का प्रसंग यह सुनिश्चित करता है कि विशिष्ट सत्रह ऋत्विज्-अध्वर्यु, ब्रह्मा, अग्नीध्र आदि की ही ऋत्विक् संज्ञा है॥ ३६॥

**उपर्युक्त कथन की पुष्टि में सूत्रकार ने अगले सूत्र द्वारा हेतु प्रस्तुत किया—**

## (५९३) उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, 'सत्रे ये ऋत्विजस्ते यजमानाः' इस प्रकार सत्र में सभी ऋत्विजों के, यजमानत्वम् = यजमानत्व का, उक्त्वा = कथन करके, तेषाम् = उन सभी ऋत्विजों के, दीक्षाविधानात् = दीक्षा का विधान किये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** 'सत्रे ये ऋत्विजस्ते यजमानाः' जो भी ऋत्विक् सत्र में हैं, वे सभी यजमान हैं। उक्त वाक्य के पश्चात् दीक्षा विधान उपलब्ध है। 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्धिनो दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति......... ब्रह्मचारी वाचार्य्यप्रेषितः'- अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित करके ब्रह्मा को दीक्षा देता है, उसके पश्चात् उद्गाता को और फिर होता को दीक्षा देता है और उसके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु को दीक्षा प्रदान करता है। ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छंसी को, उद्गाता के प्रस्तोता को, होता के मैत्रावरुण को दीक्षा देता है। उसके अनन्तर नेष्टा प्रतिप्रस्थाता को दीक्षा देकर इन तीनों को दीक्षा देता है अर्थात् ब्रह्मा के अग्नीत् को उद्गाता के प्रतिहर्त्ता को एवं होता के अच्छावाक् को दीक्षित करता है। उसके अनन्तर उन्नेता नेष्टा को दीक्षा प्रदान कर पादियों को दीक्षा देता है। ब्रह्मा के पोता को तथा उद्गाता के सुब्रह्मण्य को तथा होता के सहायक ग्रावस्तुत् को दीक्षित करता है। उसके पश्चात् कोई दूसरा (अन्य) ब्राह्मण उन्नेता को दीक्षा देता है। उक्त दीक्षा वाक्य में यजमान के समान ही अध्वर्यु आदि (१६) ऋत्विजों के दीक्षा कर्म का ही वर्णन है। अस्तु सत्रह विशिष्ट पुरुषों (ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु आदि को लेकर यजमान सहित) को ही 'ऋत्विक्' माना जाना न्यायोचित है॥ ३७॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा अब सत्रहवें ऋत्विक् के विषय में है। उसका कहना है कि क्या यजमान भी ऋत्विक् पद से व्यवहृत होता है? या सत्रहवाँ पुरुष कोई अन्य है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—**

## (५९४) स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** स्वामिसप्तदशाः = स्वामी (यज्ञ स्वामी) को मिलाकर सत्रह ऋत्विक् माने गये हैं, कर्मसामान्यात् =विहित यज्ञीय कर्मानुष्ठान में सभी के समान उसकी भी भागीदारी होने से वह सत्रह ऋत्विजों में से एक है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान के सम्पादन में ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि ऋत्विक् जिस प्रकार से कर्म में रत रहते हैं, वैसे ही यजमान भी उन्हीं के समान यज्ञ की प्रक्रिया में रत रहा करता है। यज्ञीय कर्म सामान्य रूप से दोनों के सहयोग से सम्पन्न होने के कारण स्वामी-यजमान को सत्रहवें ऋत्विक् के रूप में मान्यता दी गई है। 'सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहितग्रहणं बलीयः' सन्निहित एवं असन्निहित में सन्निहित का ग्रहण बलवान् होता है। इस न्याय से भी यजमान को ही ऋत्विजों में सम्मिलित करना शास्त्र-सम्मत है॥ ३८॥

**जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा अब उपर्युक्त सत्रह ऋत्विजों के द्वारा सम्पादित की जाने वाली कार्य व्यवस्था को लेकर है। शिष्य के मनोभावों को पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य ने सूत्रित किया—**

## (५९५) ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** ते = सभी ऋत्विक्, सर्वार्थाः = यज्ञ से सम्बन्धित समस्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हैं, प्रयुक्तत्वात् = यजमान उनका वरण करके उन्हें प्रयुक्त करता है, च = और, अग्नयः = अग्नियाँ भी, स्वकालत्वात् = अपने समयानुकूल समय वाली होने से समस्त अग्नि कर्मों के प्रयोजनार्थ हैं।

**व्याख्या—** यजमान (यज्ञ स्वामी) द्वारा वरण व परिक्रय किये गये अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विजों के लिए यज्ञीय कर्मानुष्ठान में सम्पन्न की जाने वाली प्रक्रिया समान रूप से सभी के लिए है। इसी हेतु से यजमान इनका परिक्रय एवं वरण करता है। अतएव ये ऋत्विग्गण यज्ञ का प्रत्येक कार्य कर सकते हैं। इसी प्रकार से आहवनीय आदि सब प्रकार की अग्नियों का स्थापन-आधान भी याग से सम्बन्धित सभी कार्यों के लिए माना

जाता है; क्योंकि अग्नि के बिना यज्ञ हो नहीं सकता, आशय यह है कि ऋत्विजों का वरण तथा तीनों प्रकार की अग्नियों का आधान-स्थापन समस्त कार्यों के सम्पादनार्थ है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३९ ॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( ५९६ ) तत्संयोगात्कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थवत्वात्॥ ४० ॥**

**सूत्रार्थ—** संयोगस्य = ऋत्विजों की संज्ञा द्वारा यज्ञीय कर्म का अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि विशिष्ट पुरुषों के संयोग के, अर्थवत्वात् = प्रयोजन युक्त होने से, तत्संयोगात् = उन यज्ञीय कर्मों के साथ आध्वर्यव आदि समाख्या का सम्बन्ध होने से, कर्मण: = कर्म की सुनिश्चित, व्यवस्था = विधि-व्यवस्था का विधान, स्यात् = है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यागानुष्ठान में ऐसी अव्यवस्था नहीं हुआ करती कि स्वतंत्र रूप से कोई भी ऋत्विक् किसी भी कर्म में नियुक्त हो जाये, प्रत्युत समाख्या (संज्ञा) के बल पर प्रत्येक ऋत्विज् कर्म के नियमों से आबद्ध है। आध्वर्यव, औद्गाता एवं होत्र आदि कर्मों की समाख्या शास्त्रों में उपलब्ध है, अतएव जिस समाख्या के ऋत्विक् का सम्बन्ध जिस यज्ञीय कर्म के साथ निर्देशित है, वह ऋत्विक् उसी कर्म को सम्पादित करेगा। अध्वर्यु को आध्वर्यव कर्म, होता को हौत्र कर्म, उद्गाता को औद्गाता कर्म नियमानुसार सम्पन्न करना चाहिए। यही बात अग्नियों के सम्बन्ध में भी है। उसके लिए भी एक शास्त्रीय विधान है। 'आहवनीय जुहोति, गार्हपत्येऽधिश्रयति, दक्षिणाग्नौ अन्वाहार्यं पचति'- आहवनीय अग्नि में हवन किया जाता है, गार्हपत्य में दूध गरमाया जाता है, दक्षिणाग्नि में अन्वाहार्य (दर्शपूर्णमास में ऋत्विकों के भोजन योग्य ओदन) पकाया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ऋत्विजों की समाख्या के अनुसार कर्म की व्यवस्था नियत है तथा उसी प्रकार अग्नियों की भी कर्म व्यवस्था है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४० ॥

**समाख्या पर आधारित कर्म व्यवस्था के विषय में जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा यह है कि क्या समाख्या के आधार पर ही उक्त कर्म व्यवस्था का सामान्य नियम है? अथवा कोई और भी आधार है? सूत्रकार ने बताया—**

**( ५९७ ) तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देश:॥ ४१ ॥**

**सूत्रार्थ—** तस्य = उसका (उस कर्म का), उपदेश समाख्यानेन = कथन एवं समाख्या (नाम) दोनों के द्वारा, निर्देश: = निर्देश समझना चाहिए।

**व्याख्या—** उपदेश का आशय निर्देशात्मक वाक्यों से है तथा समाख्या का आशय संज्ञा अथवा नाम से है। अत: कहीं तो उपर्युक्त कर्म व्यवस्था का निर्देश उपदेश से तथा कहीं समाख्या से प्राप्त होता है। 'तस्मान्मैत्रावरुण: प्रेष्यति चानुचाह' मैत्रावरुण प्रैष करता है तथा अनुकथन करता है। 'होतर्यज' 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' हे होता! यजन कर्म करो तथा अग्नि के लिए अनुवचन-पुरोऽनुवाक्या मन्त्रों का पाठ करो। इस प्रकार के वाक्य जिनमें 'यज' एवं 'अनुब्रूहि' आदि आज्ञावाची पद होते हैं, उन्हें 'प्रैष' कहते हैं। प्रवो वाजा अभिद्यव: 'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्त:' आदि परमेश्वर के स्तुति परक वाक्यों को अनुवचन या अनुकथन अथवा पुरोऽनुवाक्या की संज्ञा प्राप्त है। प्रैष कर्म का सम्पादन अध्वर्यु एवं स्तुति परक वाक्यों-मन्त्रों का (पुरोऽनुवाक्या) का उच्चारण होता के द्वारा किया जाता है, यह उपदेश द्वारा कर्म को निर्देशित किये जाने का उदाहरण है। समाख्या-संज्ञा का उदाहरण है- 'पोत्रीया नेष्ट्रीया' पोत्रीया का आशय पोता ऋत्विक् द्वारा किया जाने वाला कर्म तथा नेष्ट्रीया का आशय नेष्टा ऋत्विक् द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कर्म से है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञीय कर्म का समाख्या एवं निर्देश-उपदेश दोनों के द्वारा हुआ करता है॥ ४१ ॥

**उपर्युक्त कथन की पुष्टि सूत्रकार ने अगले सूत्र में लक्षणों के आधार पर की—**

**( ५९८ ) तद्वच्च लिङ्गदर्शनम्॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = उपर्युक्त कथन के ही समान, लिङ्गदर्शनम् = सहयोगी लक्षण भी होते हैं।

**व्याख्या—** 'यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपशृणुयात्' अर्थात् जहाँ तक होता द्वारा प्रातः कालिक मन्त्रों का पाठ सुनाई दे। वैदिक साहित्य में उपलब्ध उक्त वाक्य में होता रूपी संज्ञा (नाम) के आधार पर पाठ रूप प्रातरनुवाक् कर्म को व्यवस्थित किये जाने से यह कर्म की व्यवस्था में लक्षण (लिङ्ग) का दर्शन है। अतः समाख्या एवं उपदेश दोनों से ही यथावसर प्रसङ्गानुरूप कर्मों की व्यवस्था समझना युक्ति-युक्त है॥ ४२॥

**'तस्मान् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' ज्योतिष्टोम याग के अग्नीषोमीय पशु के आलभन के प्रसङ्ग में पढ़े जाने वाले उपर्युक्त वाक्य का अर्थ है- इसलिए मैत्रावरुण प्रैष प्रदान करता है। जिज्ञासु शिष्य का यहाँ जो संदेह है कि क्या सब अनुवचनों और सब प्रैषों में मैत्रावरुण ऋत्विक् कर्त्ता है ? अथवा जहाँ अनुवेचन के विषय में प्रैष है, वहीं मैत्रावरुण होता है' इसी बात को आचार्य सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं सूत्रित कर रहे हैं—**

**( ५९९ ) प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** प्रैषानुवचनम् = प्रैष एवं अनुवचन दोनों ही कर्म, मैत्रावरुणस्य = मैत्रावरुण के कर्म माने जाने चाहिए, क्योंकि, उपदेशात् = उपदेश रूप साधारण वचन से ऐसा ही प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के उपर्युक्त वाक्य 'तस्मान् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' साधारण रूप से ऐसा कथन किया गया है कि प्रैष तथा अनुवचन दोनों ही मैत्रावरुण के कर्म हैं। इसलिए मैत्रावरुण ऋत्विक् के द्वारा ही प्रैष तथा अनुवचन दोनों कर्मों का सम्पादन किया जाना युक्त है॥ ४३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**( ६०० ) पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। प्रैषसन्निधानात् = प्रैष का सान्निध्य प्राप्त होने से, पुरोऽनुवाक्याधिकारः = अनुवचन अथवा पुरोऽनुवाक्या का अधिकार केवल मैत्रावरुण ऋत्विक् को ही है।

**व्याख्या—** मैत्रावरुण ऋत्विक् को उक्त प्रैष एवं अनुवचन कर्मों को सम्पादित किये जाने का अधिकार उसी स्थिति में रहता है, जब दोनों कर्मों की अभिव्यक्ति एक साथ की गई हो, परन्तु जहाँ पर मात्र एकाकी प्रैष अथवा मात्र एकाकी अनुवचन का कथन किया गया हो, वहाँ प्रैष मैत्रावरुण ऋत्विक् को यह अधिकार प्राप्त नहीं रहता। उपर्युक्त वाक्य 'तस्मान् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चाऽनु चाह इति' में प्रैष तथा अनुवाक्या दोनों कर्मों का सामञ्जस्य-समुच्चय होने से दोनों ही कर्मों का अधिकार मैत्रावरुण को मिला है, यह संभव नहीं कि सभी स्थलों पर ऐसा ही होगा॥ ४४॥

**( ६०१ ) प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रातरनुवाके = प्रातःकाल में पढ़े जाने वाले मन्त्रों के पाठ में, होतृदर्शनात् = होता ऋत्विक् का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होने से, च = भी उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** 'होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपशृणुयात् तदाध्वर्युर्गृह्णीयात्' अनुवाक्या मन्त्रों के प्रातःकालीन पाठ के इस उक्त वाक्य का अर्थ है-प्रातः पक्षियों का कलरव प्रारम्भ होने से पहले जब होता ऋत्विज् उच्च स्वर से अनुवाक्या मन्त्रों का उच्चारण करता है, तब जहाँ तक उसके मन्त्र पाठ का स्वर सुनाई देता हो, वहाँ तक की सीमा में बह रहे नदी-नालों से अध्वर्यु ऋत्विक् जल को ग्रहण करे। होता ऋत्विक् द्वारा यहाँ अनुवाक्या ऋचाओं (प्रातरनुवाक्) के पाठ का प्रत्यक्षतः निर्देश उपलब्ध है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रातरनुवाक् के पाठ में समस्त स्थलों पर मैत्रावरुण ऋत्विक् को अधिकृत नहीं माना जाता॥ ४५॥

**ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में वर्णित चमसाध्वर्यु के विषय में शिष्य का संदेह यह है कि चमसों का होम चमसाध्वर्यु को करना चाहिए? या अध्वर्यु को? शिष्य के सुझाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ६०२ ) चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** चमसान् = चमसों का हवन, समाख्यानात् = चमसाध्वर्यु ऐसी संज्ञा-समाख्या होने से, चमसाध्वर्यव: = चमसाध्वर्यु को करना चाहिए॥

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम यज्ञीय कर्मानुष्ठान में जो ऋत्विक् अध्वर्यु-सम्बन्धी कर्मों का सम्पादन चमस पात्रों के माध्यम से करते हैं, उन्हें चमसाध्वर्यु की संज्ञा प्राप्त है। अतएव इस समाख्या से तो यही प्रतीत होता है कि चमसों का हवन चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विकों को ही करना चाहिए॥ ४६॥

**इस उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

## (६०३) अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद उपर्युक्त पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है। अध्वर्यु: = अध्वर्यु चमसों से हवन करता है, तन्न्यायत्वात् = ऐसा किया जाना न्यायोचित होने से उपर्युक्त पूर्वपक्षी कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** चमसाध्वर्यु की संज्ञा इस आधार पर है कि उनके भी चमस पात्र अध्वर्यु के चमस पात्रों के ही तुल्य हुआ करते हैं। समस्त होमों की समाख्या 'आध्वर्यव' है। अत: इससे यही प्रकट होता है कि हवन-होम अध्वर्यु ऋत्विक् के द्वारा ही सम्पादित किया जाने वाला कर्म है, यावद् होम को सम्पन्न करने वाला अध्वर्यु तथा चमस होमों का सम्पादन करने वाला चमसाध्वर्यु दोनों आध्वर्यव एवं चमसाध्वर्यु समाख्या (संज्ञा) के आधार पर अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु इतना होते हुए भी चमसाध्वर्यु चमस होमों के सम्पादन कर्त्ता नहीं हो सकते, कारण यह कि 'आध्वर्यव' समाख्या की अपेक्षा 'सापेक्ष' होने से 'चमसाध्वर्यु' समाख्या बलहीन और 'चमसाध्वर्यु' समाख्या की अपेक्षा 'निरपेक्ष' होने से आध्वर्यव समाख्या बलवान् है। अतएव चमस होमों के कर्त्ता अध्वर्यु ही हैं, चमसाध्वर्यु नहीं॥ ४७॥

## (६०४) चमसे चान्यदर्शनात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, चमसे = चमस पात्रों में स्थित सोम के होम में, अन्यदर्शनात् = चमसाध्वर्यु से भिन्न अन्य का दर्शन प्राप्त होने से भी उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** 'चमसाँश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् स वषट्कर्त्रे हरति' इस वाक्य का अर्थ है-चमसों को चमसाध्वर्यु को देता है, वह (चमसाध्वर्यु) उन चमसों को वषट्कर्त्ता को देता है। इस वाक्य में होम कर्त्ता को देने वाला एवं चमसाध्वर्यु को ग्रहण कर्त्ता-लेने वाला बतलाया गया है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि होम के अनन्तर रिक्त हुए चमसों को चमसाध्वर्यु को देने वाला व्यक्ति चमसाध्वर्यु से भिन्न अध्वर्यु ही है। वह अध्वर्यु हवन के अनन्तर रिक्त हो चुके चमस को सोम भक्षण के निमित्त चमसाध्वर्यु को प्रदान करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि होम करने वाला चमसाध्वर्यु नहीं, प्रत्युत अध्वर्यु ही है॥ ४८॥

**जिज्ञासु शिष्य का कथन अब यह है कि यदि चमसाध्वर्यु हवन कर्त्ता नहीं हो सकते, तो उनकी समाख्या चमसाध्वर्यु क्यों की गई है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—**

## (६०५) अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** अशक्तौ = होम कर्म में अध्वर्यु के अशक्त होने की स्थिति में, ते = वे चमसाध्वर्यु समाख्या वाले ऋत्विक्, प्रतीयेरन् = उनके स्थान पर होम कर्म को सम्पादित कर सकते हैं।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान के अन्तर्गत समस्त होमों का सम्पादन अध्वर्यु द्वारा किया जाता है, किन्तु यदि किन्हीं अशक्तता आदि कारणों से अध्वर्यु होम करने की स्थिति में न हो, तो उसके स्थानापन्न के रूप में चमसाध्वर्यु यज्ञ कर सकते हैं, न कि नियमपूर्वक होम का कर्त्ता होने से॥ ४९॥

**अनेक प्रकार के विधि-विधान वाले कर्मानुष्ठानों को अनुष्ठित किये जाने में जिज्ञासु शिष्य के संदेह एवं सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया—**

**( ६०६ ) वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः॥५०॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्ववत् = पूर्व के अधिकरण के अनुरूप, वेदोपदेशात् = वैदिक समाख्या के अनुरूप (परम्परा से प्राप्त चलन के अनुरूप 'आध्वर्यव' नाम के अनुसार यजुर्वेद के कर्मानुष्ठानों को अध्वर्यु एवं उसके सहायक ऋत्विज् करें, 'होत्र' नाम के अनुसार ऋग्वेद में बतलाये गये कर्मों का अनुष्ठान होता एवं उसके सहायक ऋत्विक् को करना चाहिए; ऐसे ही (औदगात्र समाख्या वाले) सामवेदीय यज्ञीय कर्म का सम्पादन उद्गाता एवं उसके सहायक ऋत्विक् करें। उसी नियम के अनुसार), वेदान्यत्वे = अन्य नाना प्रकार के वेदोक्त कर्मों में भी, यथोपदेशम् = उपदेशानुरूप जिन कर्मों का उपदेश जिसके द्वारा वेद में प्राप्त है, उस कर्म का अनुष्ठान उन्हीं के द्वारा, स्युः = होना चाहिए।

**व्याख्या—** अपौरुषेय एवं ईश्वरीय रचना होने के कारण एक मात्र वेदों को ही स्वतः प्रमाण माना जाता है। अतएव वेदों में जिन-जिन कर्मानुष्ठानों की कर्त्तव्यता का विधान एवं अकर्त्तव्यता का निषेध किया गया है, वही मानने एवं अपनाने योग्य है। जिस ऋत्विक् की संज्ञा-समाख्या के आधार पर जिनका प्रचलन वैदिक परम्परा से होता आ रहा है,वेद में वर्णित उन कर्मों को उससे सम्बन्धित वही ऋत्विक् सम्पादित करेंगे। होता संज्ञक ऋत्विक् ऋग्वेद से सम्बन्धित है, अतः ऋग्वेद में विहित कर्मानुष्ठान होतृगण ऋत्विक् ही करेंगे। यजुर्वेद में विहित आध्वर्यव कर्म का सम्पादन अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक द्वारा किया जाना चाहिए। सामवेद में विहित औद्गात्र कर्म को उद्गाताओं द्वारा किया जाना चाहिए। आध्वर्यव एवं हर एक वेद के अपने विहित कर्मानुष्ठानों की सम्पन्नता उसी वेद से सम्बन्धित ऋत्विजों द्वारा ही की जानी चाहिए॥५०॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया—**

**( ६०७ ) तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे॥५१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्षी मान्यता के निराकरण अर्थ का द्योतक है। तद्ग्रहणात् = प्रकृति-याग तथा उसके अङ्गों-धर्मों के ग्रहण किये जाने से, स्वधर्मः = वह कर्मानुष्ठान अपना ही धर्म, स्यात् = हुआ करता है, अङ्गैः = अङ्गों के, सह = साथ, अधिकार-सामर्थ्यात् = अधिकार की सामर्थ्य से (एक अधिकारपूर्ण प्रसङ्ग में पढ़े जाने की सामर्थ्य से), शेषे =अङ्गों को छोड़कर अतिरिक्त कर्म के विषय में, अव्यक्तः = विशेष रूप से व्यक्त-स्पष्ट करने वाला नहीं है।

**व्याख्या—** परिस्थिति के अनुरूप समस्त ऋत्विक् सम्मिलित रूप से किसी भी वेद में विहित कर्मानुष्ठान को अनुष्ठित करते हैं। प्रकृति याग एवं विकृति याग दो प्रकार से ही समस्त यागों की विधि-व्यवस्था शास्त्रों में उपलब्ध है। विकृति याग, प्रकृति (मुख्य) याग का शेष अथवा अङ्ग होने से मुख्य प्रकृतियाग के धर्म माने जाते हैं। प्रकृतियाग अङ्गी हैं तथा विकृति याग उसका अङ्ग। प्रकृति या मुख्य याग की अनुकूलता को ध्यान में रखकर ही 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य के अनुरूप किसी भी विकृति याग-अङ्गभूत कर्म में अपेक्षित कर्मों को सम्पादित कर लिया जाता है। अतः उपर्युक्त पूर्वपक्ष की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि जिस वेद में जो कर्म पठित है, उसी वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् द्वारा ही उस कर्म का सम्पादन किया जाना चाहिए। कारण यह कि इस मान्यता की पुष्टि हेतु शास्त्रों में कोई प्रमाण परक वाक्य प्राप्त नहीं हैं॥५१॥

**॥ इति तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः॥**

# ॥ अथ तृतीयाध्याये अष्टमः पादः ॥

**वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग का वाक्य है- 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' स्वर्गकामी व्यक्ति ज्योतिष्टोम से यजन करे। यजन करने वाले व्यक्ति को ही यज्ञीय भाषा में यजमान कहा जाता है। अनेक प्रकार के कर्मों से सम्पन्न एवं अधिक दिनों में पूर्ण होने वाला उक्त ज्योतिष्टोम याग सम्पादित करना एकाकी यजमान द्वारा संभव न होने से वह यजमान योग्य एवं उपयुक्त व्यक्तियों को नियत मूल्य ( परिक्रय ) देकर याग के सम्पादन हेतु अपना आज्ञाकारी बनाता है। वही परिक्रीत व्यक्ति ऋत्विक् के नाम से जाने जाते हैं। ऋत्विक् वरण या ऋत्विकों का परिक्रय यजमान के द्वारा किया जाता है, या ऋत्विक् स्वयं ही ऋत्विक् वरण करते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान के भाव से प्रस्तुत पाद के प्रथम दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

## ( ६०८ ) स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ**—कर्मणः = यज्ञीय कर्मानुष्ठान रूपी कर्म, तदर्थत्वात् = उसी स्वामी यजमान के लिए होने से, परिक्रयः = ऋत्विजों का परिक्रय अथवा वरण करना, स्वामिकर्म = स्वामी (यजमान) का ही कार्य है।

**व्याख्या**— अपनी मनोकामना की पूर्णता हेतु याग करने वाला यजमान यज्ञ की सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्नता के लिए धन के द्वारा ऋत्विकों का परिक्रय करता है और इसके लिए वह अधिकार भी रखता है। याग में अनेक प्रकार के कर्म एवं यागावधि लम्बी होने से अकेले यजमान द्वारा याग सम्पादन किया जाना संभव नहीं, इसी कारण उसे सहयोगी-सहायकों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। उसी के लिए वह योग्य-विद्वान् व्यक्तियों का परिक्रय एक नियत मूल्य देकर करता है॥ १ ॥



## ( ६०९ ) वचनादितरेषां स्यात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ**— इतरेषाम् = यजमान के द्वारा वरण किये गये चारों (अध्वर्यु, होता, उद्गाता एवं ब्रह्मा) ऋत्विजों के अतिरिक्त अन्य सहायक ऋत्विजों का वरण, वचनात् = यजमान की ही सहमति से उसके द्वारा वरण किये गये उक्त चारों ऋत्विजों के वचनानुसार, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या**— यजमान के द्वारा प्रथम अध्वर्यु, होता, उद्गाता एवं ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों का वरण-परिक्रय किया जाता है। यजमान ही इन पर होने वाला समस्त व्यय वहन करता है। यही चारों ऋत्विज् अपने-अपने सहयोगियों-ऋत्विजों को तीन-तीन की संख्या में स्वयं ही वरण-परिक्रय करते हैं- अपने द्वारा परिक्रय किये गये सहयोगी ऋत्विजों को अपने प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक रूप धन में से नियत अंश भी प्रदान करते हैं। इन समस्त ऋत्विजों द्वारा सम्पादित सम्पूर्ण यज्ञीय कर्म यजमान के द्वारा किया गया माना जाता है। चारों प्रमुख ऋत्विजों के द्वारा वरण किये गये ऋत्विज् यजमान द्वारा वरण किये ही माने जाते हैं, क्योंकि उन पर व्यय होने वाला धन यजमान ही देता है॥ २ ॥

**केशश्मश्रु वपते, दंतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति इत्यादि ज्योतिष्टोम के यज्ञीय प्रकरण में पठित इन वाक्यों के विषय में जिज्ञासु शिष्य यह जानना चाहता है कि दाढ़ी-बाल आदि बनवाना रूप कर्म तथा दाँतों का धोना, नाखून काटना, स्नान करना आदि कर्म किसके द्वारा किये जाने चाहिए ? यजमान के द्वारा ? या अध्वर्यु आदि ऋत्विजों द्वारा ? शिष्य के संदेहयुक्त भावों को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ६१० ) संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्यवतिष्ठेरन्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ**— संस्काराः = बाल आदि बनवाना, दाँतों को धोना, नखों को काटना, स्नान करना आदि वपन रूप संस्कार, तु = तो, पुरुष सामर्थ्ये = अनुष्ठान कर्म को सम्पन्न करने वाले पुरुष के बल-सामर्थ्य से संयुक्त हुआ करते हैं, प्रेरणा देते हैं। अतएव, यथावेदम् = जिस वेद में जिस प्रकार से जो संस्कार वर्णित-पठित हैं, उस वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् में ही, कर्मवत् = आध्वर्यव, औद्गात्र आदि कर्मों के समान

वेदानुकूल ही, व्यवतिष्ठेरन् = सुव्यवस्थित होने चाहिए।

**व्याख्या—** सामवेद में जिस प्रकार स्तावक मन्त्रों के गान रूप स्तोत्र आदि कर्मों का पाठ उपलब्ध है और उनसे सम्बन्धित उद्गाता संज्ञक ऋत्विक् विहित हैं, वैसे ही उक्त वपन (केश-श्मश्रु) आदि संस्कार कर्मों का पाठ यजुर्वेद में उपलब्ध होने से, शास्त्रीय व्यवस्था अनुसार यजुर्वेद से सम्बद्ध अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् द्वारा ही अध्वर्यु कर्म का सम्पादन किया जाना चाहिए॥ ३॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य ने इसका समुचित समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६११ ) याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति हेतु सूत्र में प्रयुक्त है। कर्मवत् = जिस प्रकार से प्रधान कर्म यजमान सम्बन्धी हैं, वैसे ही, उसी के तुल्य, तत्प्रधानत्वात् = फल के भोक्ता यजमान के प्रधान होने से उक्त संस्कार कर्मों को, याजमाना: = यजमान से ही सम्बन्धित मानना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त संस्कार कर्मों का सम्बन्ध यज्ञ के स्वामी के ही साथ है, जिनके सम्पादन से यजमान वैदिक यज्ञानुष्ठान आदि सम्पन्न करने की पात्रता प्राप्त कर लेता है। पात्रता युक्त होने के अनन्तर ही वह ऋत्विक् वरण कर सकता है। अत: यह सिद्ध होता है कि यज्ञ का कर्त्ता एवं उसके फल का भोग करने वाला होने से उपर्युक्त केशश्मश्रु-वपन आदि संस्कार कर्म प्रधान कर्म के समान यजमान के लिए ही हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ ४॥

## ( ६१२ ) व्यपदेशाच्च॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, व्यपदेशात् = क्षौर कर्म से सम्बन्धित, उपदेश-कथन के प्राप्त होने से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्णित संस्कार किसी ऋत्विक् के नहीं, प्रत्युत यजमान के ही किये जाते हैं।

**व्याख्या—** शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख है-'तमभ्यनक्ति' उसका अभ्यञ्जन करता है। आशय यह है कि अध्वर्यु यजमान को मक्खन (नवनीत) का उबटन लगाता है, यजमान को संस्कारित करता है। उक्त प्रसङ्ग से सम्बन्धित अन्य वाक्य है- 'अथ अक्ष्यावानक्ति' सुरमा के द्वारा नेत्रों का अभ्यञ्जन करता है, यह कर्म भी यजमान को संस्कारित करने के लिए अध्वर्यु द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार से पूर्व में वर्णित केश-श्मश्रु वपन, नख-निकृन्तन एवं स्नान आदि संस्कार भी यजमान के ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**उपर्युक्त अर्थ में आचार्य ने साधक की अभिव्यक्ति करने के भाव से अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

## ( ६१३ ) गुणत्वे तस्य निर्देश:॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = उस केश-श्मश्रु वपन आदि संस्कारों की, निर्देश: = उपदेशात्मक अभिव्यक्ति का विधान, गुणत्वे = यजमान का गुण रूप धर्म मानने की स्थिति में ही किया जाना संभव है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि 'तमभ्यनक्ति' वाक्य में जो प्रत्यक्षत: उपादान करने के अनन्तर जो अभ्यञ्जन, उबटन आदि का विधान बनाया गया है, उस विधान को व्यवहार में लाना उसी स्थिति में संभव होगा, जब उक्त संस्कारों-धर्मों को यजमान का ही धर्म माना जाये। लोक में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। अतएव लोक प्रसिद्धि एवं ब्राह्मण वाक्यों की एकार्थता-वपन आदि ज्योतिष्टोम याग में सम्पन्न होने वाले ये कर्म यजमान को संस्कारित करने के लिए हैं, न कि अध्वर्यु आदि ऋत्विक् के, ऐसा समझना चाहिए॥ ६॥

## ( ६१४ ) चोदनां प्रति भावाच्च॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, उपर्युक्त केश-वपन आदि संस्कारों का प्रयोजन, चोदनाम् = धर्म विशेष (अपूर्व की उत्पत्ति) के, प्रति = निमित्त, भावात् = होने के कारण भी उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का भाव यह स्पष्ट करता है कि ज्योतिष्टोम याग का अनुष्ठान यजमान के द्वारा धर्म विशिष्टता की उत्पत्ति (अपूर्वोत्पत्ति) के भाव से अपने लिए ही किया जाता है। उस याग का फल यजमान को ही प्राप्त होता है। वर्णित संस्कारों से यजमान संस्कारित होकर अपूर्व की उत्पत्ति के भाव से अपने द्वारा क्रीत किये गये अध्वर्यु आदि ऋत्विजों-सहयोगियों द्वारा यज्ञ सम्पन्न करता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि वपन आदि संस्कार यज्ञ के सहयोगी अध्वर्यु के न होकर अनुष्ठाता एवं फल भोक्ता यजमान के होते हैं॥ ७॥

**शिष्य की जिज्ञासा यहाँ यह है कि याग में जब यजमान एवं ऋत्विजों की समान रूप से भागीदारी रहती है, तो वपन आदि संस्कार मात्र यजमान के साथ ऋत्विजों से भी सम्बद्ध क्यों नहीं? सूत्रकार ने समाधान के भाव से कहा—**

**( ६१५ ) अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** अतुल्यत्वात् = (उपर्युक्त वपन आदि संस्कार) यजमान तथा ऋत्विजों की पारस्परिक समानता न होने से दोनों के लिए, असमानविधानाः = उन संस्कारों का विधान समान रूप से विहित नहीं, स्युः = हैं।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान की सम्पन्नता में समान रूप से सभी ऋत्विजों एवं यजमान की भागीदारी रहती है, तथापि दोनों की स्थिति याग में एक समान नहीं रहा करती। यज्ञीय कर्मानुष्ठान का अधिष्ठाता यजमान की भूमिका स्वामी की होती है। यजमान के द्वारा परिक्रय किये गये ऋत्विजों की भूमिका एक सहयोगी की है, जो यज्ञ की सम्पन्नता में मात्र एक साधन के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, फल-भोक्ता के रूप में नहीं। अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि वपन आदि संस्कारों का विधान अध्वर्यु आदि के लिए नहीं, प्रत्युत यजमान के लिए ही विहित है॥ ८॥

**यहाँ जिज्ञासु शिष्य का संदेह यह है कि [ 'द्व्यहं नाश्नाति' दो दिन नहीं भोजन करता, 'त्र्यहं नाश्नाति' तीन दिन भोजन नहीं करता ] व्रत-उपवास आदि के नियम किससे सम्बन्धित हैं? ऋत्विजों से अथवा यजमान से? सूत्रकार ने समाधान के भाव से अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

**( ६१६ ) तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** लोकवत् = लोक में प्रसिद्ध, तपः = व्रत-उपवास भोजन न करना आदि तप, च = भी, फलसिद्धित्वात् = फल की सिद्धि करने का हेतु होने से यजमान से ही सम्बद्ध है।

**व्याख्या—** याग जैसे महान् एवं पवित्रतम् कर्मानुष्ठान का सम्पादन करने के लिए कर्त्ता यजमान का क्रियाशील एवं आलस्य-प्रमाद आदि विकारों से रहित होना नितान्त आवश्यक है। यज्ञकर्त्ता-यजमान को उपर्युक्त विकारों से मुक्त रहने के लिए दो अथवा तीन दिन तक आहार के रूप में अन्न आदि ठोस आहार का उपयोग न करके फल, दुग्ध आदि हल्का-फुलका सुपाच्य आहार लेना चाहिए। उपर्युक्त व्रत-उपवास आदि तपों से यजमान तेजस्विता से परिपूर्ण होकर अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है। अतः यह तप अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से सम्बद्ध न होकर यजमान से सम्बन्धित है तथा यजमान के लिए ही करणीय है, ऐसा समझना चाहिए॥ ९॥

**( ६१७ ) वाक्यशेषश्च तद्वत्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = यजमान से सम्बन्धित तप के समान ही, वाक्यशेषः = वाक्यशेष भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि करता है।

**व्याख्या—** 'यदा वै पुरुषे न किञ्चानान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोर्नश्यति, अथ मेध्यो भवति' इस वाक्य शेष का अर्थ है-सुनिश्चित रूप से जब पुरुष में पाप का पूर्णतया अभाव हो जाता है तथा नेत्रों में से पाप युक्त कालिमा का भी अभाव हो जाता है, तब वह पुरुष यज्ञ करने योग्य- मेध्य (पवित्र) हो जाता है। इस वाक्य

शेष में यजमान के पवित्र-मेध्य होने का कथन किया गया है न कि अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि तप का सम्बन्ध भी यजमान के साथ ही है, क्योंकि तप यजमान कर्म है॥ १०॥

**यहाँ प्रश्न उठता है कि यज्ञीय कर्मानुष्ठान में क्या मात्र यजमान के लिए ही तप का विधान व्यवस्थित है? क्या केवल यजमान को ही तप करना विहित है? आचार्य ने अगले दो सूत्रों में समाधान दिया—**

## (६१८) वचनादितरेषां स्यात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वाक्य विशेष की सामर्थ्य से, इतरेषाम् = यजमान के अतिरिक्त अन्य ऋत्विजों के लिए भी तप की व्यवस्था, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग में गतिमान् 'तप' कर्म यद्यपि यजमान के द्वारा किया जाने वाला कर्म है, तथापि विशेष वचन की सामर्थ्य से तप को ऋत्विजों का भी कर्म माना जाता है। मीमांसा के भाष्यकार शबर स्वामी के भाष्य का यह वाक्य- 'रात्रिसत्रे सर्वे ऋत्विज् उपवसन्ति' रात्रि के सत्र में समस्त ऋत्विज् व्रत-अनशन रूप उपवास करते हैं, यजमान के अतिरिक्त अन्य ऋत्विजों को भी तप से सम्बद्ध करता है॥ ११॥

## (६१९) गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गुणत्वात् = तप आदि उपर्युक्त कर्म के गुण भूत होने के कारण, वेदेन = आध्वर्यव वेद के अन्तर्गत वेद में तप के पढ़े जाने से, इस प्रकार की, व्यवस्था = विधि विहित, न = नहीं, स्यात् = है।

**व्याख्या—**शास्त्रीय मान्यता के अनुसार वर्णित तप कर्मों का सम्बन्ध सामान्य रूप से सभी के साथ हुआ करता है। यदि उसे केवल अध्वर्यु का ही धर्म स्वीकार किया जाये, तो उस स्थिति में मुख्य कर्म की सामीप्यता में जो उन कर्मों का विधि-विधान विहित है, वह अप्रमाणित हो जाता है। अतएव मात्र अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् तप करे, ऐसा कहना उचित नहीं, प्रत्युत जिस स्थान पर समस्त ऋत्विजों के लिए तप कर्म का निर्देश मिलता है, उससे सामान्यतः सभी ऋत्विजों का ग्रहण हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

**'यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति नीचैः सदोमिनुयात्'- यदि कामना हो कि पर्जन्य वर्षा करे, तो सदोमण्डप का मान नीचे करना चाहिए। ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में पठित उक्त वाक्य में जो फल की कामना का कथन मिलता है, वह कामना किसे करनी चाहिए? ऋत्विजों को? अथवा यजमान को? आचार्य सूत्रकार ने बताया—**

## (६२०) तथा कामोऽर्थसंयोगात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** तथा = जैसे 'तप' यजमान कर्म है, वैसे ही, अर्थसंयोगात् = अङ्ग-उपाङ्ग सहित यज्ञीय फल का सम्बन्ध यजमान से होने से, कामः = कामना भी यजमान कर्म है।

**व्याख्या—** यदि वृष्टि की कामना से यज्ञ किया जाना है, तो पूर्व भाग तथा पश्चिम भाग में जो दो 'हविर्धान' एवं 'प्राचीन वंश' संज्ञक मण्डप बनाये गये हैं, उनके बीच में बनाया गया 'सदोमण्डप' उक्त दोनों मण्डपों की अपेक्षा नीचा बनाया जाना चाहिए। अङ्गों के साथ ज्योतिष्टोम याग के फल का भोग करने वाला अध्वर्यु आदि कोई ऋत्विक् नहीं, प्रत्युत यजमान होता है। अतः उक्त वाक्य में जो वृष्टि आदि फल भोग की कामना की अभिव्यक्ति की गई है, उससे ऋत्विजों का कोई सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत यजमान का ही उससे सम्बन्ध है, वही कामना करने का अधिकार रखता है॥ १३॥

**यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह सुनिश्चित है कि सर्वत्र यजमान ही कामना करता है? सूत्रकार ने कुछ अपवाद की अभिव्यक्ति करने के भाव से अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (६२१) व्यपदेशादितरेषां स्यात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** व्यपदेशात् = वाक्य विशेष (शास्त्रीय कथन) के बल से, इतरेषाम् = यजमान से पृथक्- अन्य ऋत्विज् भी कामना कर्म से सम्बन्धित, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** जिस स्थल पर व्यपदेश के द्वारा अर्थात् शास्त्रीय कथन से ऋत्विक् के साथ कामना के सम्बन्ध की प्रतीति प्रत्यक्षतः होती हो, वहाँ पर ऋत्विक् के द्वारा भी कामना स्वीकार की गई है। जैसा कि प्रस्तुत वाक्य से स्पष्ट है- 'आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि' वर्चोदा अग्ने वर्चो में देहि एवं तेजोऽसि तेजोमयि धेहि आदि॥ १४॥

**प्रश्न उठता है कि इन मन्त्रों का सम्बन्ध किससे है? ऋत्विजों से अथवा यजमान से? समाधान हेतु आचार्य ने अग्रिम दो सूत्र प्रस्तुत किये—**

## ( ६२२ ) मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अकर्मकरणाः = आहुति प्रदान करने रूप कर्म में जिन मन्त्रों का विनियोग नहीं किया जाता, मन्त्राः = ऐसे सभी उपर्युक्त मन्त्र भी, तद्वत् = कामना के तुल्य यजमान से ही सम्बन्धित हैं अर्थात् यजमान को ही उनका पाठ करना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान में जिन मन्त्रों से आहुति दी जाती है, उन्हें 'विनियुक्त' (कर्मकरण) तथा अनुष्ठान कर्म की सम्पन्नता के अनन्तर जिन मन्त्रों का प्रयोग आहुति प्रक्षेप में न होकर मात्र आशीर्वचन आदि के रूप में होता है,उन्हें अविनियुक्त (अकर्मकरण) कहा जाता है। उपर्युक्त सभी मन्त्र अविनियुक्त आशीर्वचन रूप मन्त्र हैं। यज्ञ कर्त्ता-स्वामी यजमान के द्वारा इन मन्त्रों से अपने अन्दर विशिष्ट गुणों के स्थापन हेतु प्रार्थना की जाती है। यह प्रार्थना मात्र यजमान ही कर सकता है, क्योंकि यजमान यज्ञ का स्वामी है, फल का भोक्ता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि उक्त अविनियुक्त मन्त्र यजमान से सम्बद्ध है॥ १५॥

## ( ६२३ ) विप्रयोगे च दर्शनात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विप्रयोगे = यजमान द्वारा प्रवास किये जाने की स्थिति में भी, दर्शनात् = उक्त आशीर्वचन मन्त्रों की प्रयुक्तता प्रार्थना रूप में देखे जाने से उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** 'इहैव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने' हे अग्ने! मैं यहाँ (प्रवास की स्थिति में) भी वहाँ यज्ञ मण्डप में स्थित आप का उपस्थान करते हुए आपका सामीप्य अनुभव करता हूँ तथा आपसे उक्त गुणों की प्रार्थना करता हूँ। यजमान उपर्युक्त अविनियुक्त-आशीर्वचन मन्त्रों से सर्वथा सम्बद्ध है, ऐसा इस वाक्य से प्रमाणित हो जाता है। प्रवास यजमान के लिए ही संभव है, ऋत्विजों के लिए नहीं- 'यजमानः संविधाय सोऽहग्निहोत्राय प्रवसति' यजमान समयानुसार नित्य सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्र की सम्यक् व्यवस्था करके प्रवास करता है। शास्त्र का यह विधान यह सिद्ध करता है कि अविनियुक्त-अकर्मकरण मन्त्र यजमान से ही सम्बद्ध है॥ १६॥

**'पञ्चानां त्वा वाताना यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि' एवं 'वाजस्य मा प्रसवेन' दर्श-पूर्णमास प्रसङ्ग के उक्त मन्त्र क्रमशः आज्य ग्रहण एवं स्रुग्व्यूहन के हैं तथा इन दोनों का पाठ आध्वर्यव काण्ड एवं यजमान काण्ड दोनों में मिलता है। दोनों काण्डों में समान रूप से पठित होने से सूत्रकार संदेह का निवारण करते हुए सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ६२४ ) द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** द्व्याम्नातेषु = आध्वर्यव एवं यजमान दोनों काण्डों में पठित मन्त्रों के पाठ में, द्व्याम्नानस्य = दोनों काण्डों में पढ़े गये मन्त्रों के, अर्थवत्वात् = प्रयोजन युक्त होने के कारण, उभौ = अध्वर्यु तथा यजमान दोनों समान रूप से मन्त्रोच्चारण करने के अधिकारी हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त दर्श-पूर्णमास यज्ञीय प्रकरण में पठित मन्त्रों का पाठ आध्वर्यव काण्ड एवं यजमान काण्ड दोनों में उपलब्ध होने से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या उक्त मन्त्रों का पाठ अध्वर्यु एवं यजमान दोनों को करना चाहिए? अथवा उनमें से किसी एक को? सूत्रकार ने संदेह का निवारण करते हुए कहा- आध्वर्यव काण्ड में पठित उक्त मन्त्रों (आज्य ग्रहण) का पाठ यदि केवल अध्वर्यु ऋत्विक् द्वारा किया जाता है, तो उसे केवल स्रुग्व्यूहन मन्त्र का प्रयोग करना होता है, ऐसी स्थिति में आज्य ग्रहण मन्त्र का पाठ निरर्थक

सिद्ध होगा। अतएव प्रयोजनों की पृथक्ता होते हुए भी आध्वर्यव एवं यजमान दोनों काण्डों में पठित उपर्युक्त मन्त्रों का पाठ संयुक्त रूप से अध्वर्यु एवं यजमान दोनों के द्वारा किया जाना युक्ति-युक्त तथा औचित्यपूर्ण है, किसी एक के द्वारा पढ़ा जाना नहीं॥ १७॥

**यहाँ आशङ्का होती है कि यज्ञीय कर्मानुष्ठान में यज्ञकर्त्ता यजमान से जिन मन्त्रों का पाठ कराया जाता है, क्या उन मन्त्रों का ज्ञान यजमान को होना चाहिए? आशय यह है कि क्या यजमान को मन्त्रार्थ का ज्ञाता होना चाहिए? अथवा नहीं? सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६२५ ) ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** ज्ञाते = मन्त्रार्थ ज्ञाता यजमान से, च = ही, वाचनम् = यज्ञ में पढ़े जाने वाले मन्त्रों का पाठ करना चाहिए, हि = क्योंकि, अविद्वान् = मन्त्रों के अर्थ से अनभिज्ञ मूर्ख व्यक्ति, विहित: = शास्त्रानुमोदित यज्ञीय कर्म में अधिकृत, न अस्ति = नहीं है अर्थात् विद्वान् को ही कर्मानुष्ठान का अधिकार है।

**व्याख्या—** शास्त्रीय विधान यह है कि यजमान का विद्वान्-मन्त्रार्थ वेत्ता होना आवश्यक है। विद्वान् व्यक्ति का आशय उस व्यक्ति से है, जो अधीत वेद हो, यज्ञ में पठनीय वेद मन्त्रों के अर्थ को जानने वाला हो। विद्वान् यजमान ही 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' 'क्लृप्तीर्यजमानं' एवं उज्जिनीर्यजमानं वाचयति आदि वाक्यों द्वारा क्लृप्ति, उज्जति आदि मन्त्रों का सही उच्चारण अध्वर्यु ऋत्विक् के बुलवाने पर कर सकता है। क्लृप्ति, उज्जिति मन्त्रों का शुद्धता पूर्ण उच्चारण वही यजमान कर सकता है, जो विद्वान् व वेद-वेदार्थ का ज्ञाता हो॥ १८॥

**दर्श-पूर्णमास के यजमान काण्ड में पठित 'वत्सं चोपावसृजति, उखां चाधिश्रयति' 'अव च हन्ति दृषदुपले च समाहन्ति' आदि द्वादश कर्मों के सम्पादन के विषय में सन्देह है कि ये कर्म किसके द्वारा किये जाने चाहिए? अध्वर्यु को अथवा यजमान को करना चाहिए? इन्हीं भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ६२६ ) याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** याजमाने = याजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण, समाख्यानात् = यजमान की संज्ञा-सामीप्यता से, कर्माणि = वत्सावसर्जन आदि बारहों कर्म, याजमानम् = याजमान कर्म ही, स्युः= होने चाहिए।

**व्याख्या—** याजमान काण्ड में पठित होने के कारण तथा याजमान की संज्ञा समाख्या की सामीप्यता के कारण वत्सावसर्जन आदि द्वादश-द्वन्द्व (बारहों-कर्म) यजमान के द्वारा ही किये जाने चाहिए॥ १९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ६२७ ) अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—**वा = यह पद पूर्वपक्ष के खण्डन हेतु प्रयुक्त है। अध्वर्युः = उक्त कर्म अध्वर्यु कर्तृक हैं, हि = क्योंकि (उसका अध्वर्यु का, परिक्रय), तदर्थः = उन कर्मों के सम्पादन हेतु ही किया गया है, समाख्यानम् = उपर्युक्त बारहों कर्मों की 'आध्वर्यव' समाख्या भी, प्रथम यजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण, न्यायपूर्वम् = न्यायोचित है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त द्वादश द्वन्द्वों का विधान यद्यपि याजमान काण्ड में पठित है, परन्तु इतने से उन कर्मों को यजमान कर्तृक नहीं माना जा सकता। प्रमुख रूप से उन कर्मों का पाठ 'आध्वर्यव' काण्ड में भी मिलता है। इसी कारण 'आध्वर्यव' की समाख्या भी उन कर्मों को अध्वर्यु कर्तृक सिद्ध करती है। यदि यजमान के द्वारा ही उन सभी कर्मों की सम्पन्नता सिद्ध होती, तो यजमान के द्वारा अध्वर्यु ऋत्विक् का परिक्रय क्यों किया जाता? इससे भी उक्त कर्मों का अध्वर्यु कर्तृक होना ही सिद्ध होता है॥ २०॥

**ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु के यूप से सम्बन्धित परिक्रिया में जब अध्वर्यु द्वारा 'परिवीरसि परित्वा' आदि करण मन्त्र बोला जाता है, तो उसी मन्त्र के समय होता ऋत्विक् द्वारा 'युवा सुवासाः परिवीत आगात्'**

**'अनुमन्त्रण' अथवा 'क्रियमाणानुवादी' मन्त्र बोला जाता है। कर्म सम्पादन के साथ-साथ बोला जाने वाला मन्त्र 'करण मन्त्र' कहलाता है और जिस कर्म को सम्पादित किया जा रहा है, उसी का अनुवादक मन्त्र 'अनुमन्त्र' अथवा 'क्रियमाणानुवादी' कहलाता है। ज्योतिष्टोम के विकृत याग 'कुण्डपायिनामयन' में अतिदेश वाक्य से इनकी उपलब्धता है, उसमें सोमपान के लिए कुण्डों का प्रयोग किया जाता है। उस विशिष्ट कर्म में कहा गया-'यो होता सोऽध्वर्युः' जो होता है, वही अध्वर्यु है। इस वाक्य से उत्पन्न संशय का निराकरण सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—**

**( ६२८ ) विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादि-**
**तरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** विप्रतिषेधे = विशेष प्रतिषेध की स्थिति में, करणः = अध्वर्यु ऋत्विक् द्वारा बोला जाने वाला करण मन्त्र, समवायविशेषात् = होता एवं अध्वर्यु के विशिष्टसमवाय 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस वाक्य विशेष की सामर्थ्य से होता को ही बोलना चाहिए, इतरम् = दूसरे 'क्रियमाणानुवादी' अथवा 'अनुमन्त्रण' मन्त्र का उच्चारण, अन्यः = सहायक अन्य ऋत्विक्, तेषाम् = उन्हीं ऋत्विकों में जो होता से भिन्न हो, 'मैत्रावरुण' संज्ञक ऋत्विक् करे, यतःइ= कारण यह कि उस स्थिति में, विशेषः = होता की सामीप्यता रूप विशिष्टता बनी रहती, स्यात् = है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के विकृति याग 'कुण्डपायिनामयन' में उपर्युक्त दोनों प्रकार के मन्त्रों- करण तथा क्रियमाणानुवादी मन्त्रों के पाठ स्वरूप कर्म की उपलब्धता अतिदेश वाक्य से हुआ करती है। प्रकृतियाग के समान विकृतियाग में अध्वर्यु तथा होता दोनों ऋत्विक् इन उक्त मन्त्रों का पाठ एक साथ एक ही समय में करते हैं; परन्तु 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस विशिष्ट वाक्य से ऐसी व्यवस्था दी गई कि 'कुण्डपायिनामयन' संज्ञक विकृति याग में जो मन्त्र अध्वर्यु द्वारा पढ़ा जाना है, वह मन्त्र पाठ होता ऋत्विक् करेगा। यहाँ प्रश्न यह है कि जब अध्वर्यु के द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्रों का पाठ होता ऋत्विक् करेगा, तो होता ऋत्विक् द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्रों का पाठ कौन करेगा? जबकि शास्त्रीय विधान के अनुसार दोनों मन्त्रों का पाठ एक ही समय में एक ही साथ होना चाहिए और एक ही व्यक्ति एक ही समय में दोनों मन्त्रों का पाठ नहीं कर सकता। अतएव ऐसी स्थिति में व्यवस्था दी गई कि होता के सहयोगियों में से जो ऋत्विक् होता के सर्वाधिक सन्निकट रहता है, उसके द्वारा होता के कर्म का सम्पादन कराया जाये अर्थात् होता का विशेष सहयोगी 'मैत्रावरुण' संज्ञक ऋत्विक् उन मन्त्रों का पाठ करे॥ २१॥

**'प्रोक्षणीरासादय' प्रोक्षणी पात्र लेकर आओ 'इध्माबर्हिरुपसादय' इध्म तथा बर्हि ( कुशा ) को लाकर रखो, तथा 'पत्नीं सन्नय आज्येनोदेहि' पत्नी की गाँठ जोड़कर आज्य के साथ लाओ आदि कतिपय प्रैष-आदेशात्मक वाक्यों का पाठ दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में उपलब्ध है। उक्त वाक्यों के विषय में यह सन्देह उभरता है कि आज्ञा देने वाले तथा आज्ञा का पालन करने वाले व्यक्ति में भेद है अथवा नहीं? इस सन्देह का निवारण अगले सूत्र में किया गया—**

**( ६२९ ) प्रैषेषु च पराधिकारात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** पराधिकारात् = अन्य को आज्ञा दिये जाने से तो, च = यही सुनिश्चित होता है कि, प्रैषेषु = प्रैष वाक्यों में आदेशात्मक स्वर में बोलने वाला तथा उसका पालन करने वाला, दोनों में भिन्नता है।

**व्याख्या—** आज्ञा देने के अर्थ में प्रयुक्त वाक्य 'प्रैष' कहलाता है तथा इन वाक्यों का उच्चारण कर्त्ता ऋत्विक् 'प्रैषकर्त्ता' कहलाता है और कार्य विशेष के कर्त्तव्यार्थ जिस ऋत्विक् को आज्ञा दी जाती है, वह 'प्रैषार्थकर्त्ता' कहलाता है। प्रैष कर्म तथा प्रैषार्थ कर्म सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं और इनके सम्पादनार्थ अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, क्योंकि एक ही व्यक्ति अपने को आज्ञा देकर- बुलाकर यह नहीं कह सकता कि 'प्रोक्षणीरासादय' या 'अग्नीदग्नीन् विहर'। अतएव यह सिद्ध होता है कि प्रैष कर्त्ता एवं प्रैषार्थकर्त्ता दोनों पृथक्-पृथक् हैं॥ २२॥

**अगले क्रम में सूत्रकार आचार्य ने यह स्पष्ट करने के भाव से कि कौन ऋत्विक् प्रैषकर्त्ता होता है तथा कौन प्रैषार्थकर्त्ता माना जाता है, पूर्वपक्ष के रूप में अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६३० ) अध्वर्युस्तु दर्शनात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। अध्वर्युः = प्रैष के प्रयोजन को पूर्ण करने वाला कर्त्ता अध्वर्यु है, दर्शनात् = कारण यह कि प्रैष कार्य में अध्वर्यु की दृष्टिगोचरता सिद्ध है।

**व्याख्या—** 'तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयेत् यदन्वञ्चं धारयेद् वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणाध्वर्युक्षिण्वीत्' अर्थात् स्फ्य को तिरछा पकड़े, यदि सामने की ओर रखकर सीधा पकड़े तो निश्चय ही स्फ्य वज्र है, वज्र से अध्वर्यु को घायल करे-क्षति पहुँचाये। प्रस्तुत प्रमाण परक उक्त वाक्य यह सिद्ध करता है कि अध्वर्यु को ही प्रैषार्थ कर्त्ता माना जाना चाहिए। प्रैष प्रदाता ऋत्विक् अपने हाथ में स्फ्य धारण करता है, वाक्य में कहा कि स्फ्य से अध्वुर्य को क्षति पहुँचाये। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रैष प्रदाता एवं स्फ्य धारण कर्त्ता ऋत्विक् अध्वर्यु से पृथक् है,अतएव अध्वर्यु को ही प्रैषार्थकारी मानना युक्त है॥ २३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ६३१ ) गौणो वा कर्मसामान्यात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। गौणः = उपर्युक्त वाक्य में जो 'अध्वर्यु शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गौण होने से तथा, कर्मसामान्यात् = आध्वर्य व वेद में विहित कर्मों के सामान्य रूप से कर्त्ता होने के कारण यह निर्देश आग्नीध्र ऋत्विक् के लिए प्रयोग किया गया है।

**व्याख्या—** आध्वर्यव वेद में विहित कर्मों के सम्पादित कर्त्ता यद्यपि सामान्यतः अध्वर्यु एवं आग्नीध्र दोनों ही होते हैं, किन्तु अध्वर्यु ही मुख्य कर्त्ता माना जाता है, क्योंकि अध्वर्यु की संज्ञा-समाख्या की सामर्थ्यता उसी के साथ में संयुक्त है। यही समाख्या ही अध्वर्यु की प्रमुखता का आधार है। अतएव अध्वर्यु द्वारा प्रैष देने तथा आग्नीध्र द्वारा उसे पूर्ण करने पर दोनों के आध्वर्यव कर्म कर्तृत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः यही प्रमाणित होता है कि प्रैष कर्त्ता अध्वर्यु से प्रैषार्थकर्त्ता ऋत्विक् पृथक् है, जिसे 'आग्नीध्र' कहते हैं॥ २४॥

**'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु, इति पूर्वमग्निं गृह्णति' ( ऋ०१०.१२८.१ ) दर्शपूर्णमास के प्रसङ्ग में पठित उक्त वाक्य का अर्थ है- हे प्रकाशमान अग्ने! आपकी कृपा से यज्ञों में मेरा वर्चस् बढ़े, मैं तेजस्वी बनूँ। यज्ञीय कर्मानुष्ठान के पहले दिन अध्वर्यु ऋत्विक् द्वारा गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है और उसी अवसर पर उक्त मन्त्र का विनियोग किया जाता है। उक्त मन्त्र में जो वर्चस् की कामना की गई है, वह अध्वर्यु से सम्बद्ध है ? अथवा यजमान से ? इन्हीं भावों को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६३२ ) ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** करणेषु = 'करण' की संज्ञा वाले मन्त्रों में, ऋत्विक्फलम् = अध्वर्यु ऋत्विक् के निमित्त (वर्चस् रूप) फल की प्रार्थना की जानी चाहिए, कारण यह कि, अर्थवत्त्वात् = उसी में आहवनीय अग्नि के प्रज्वलन कर्त्ता ऋत्विक् (अध्वर्यु) द्वारा मन्त्र पठित 'मम' पद की सार्थकता है।

**व्याख्या—** 'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' आदि मन्त्रों का पाठ 'अध्वर्यु' ऋत्विक् गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करते हुए करता है। यजमान इनका पाठ नहीं करता। उपर्युक्त मन्त्र में प्रयुक्त 'मम' पद इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि 'अध्वर्यु' ऋत्विक् अपने लिए (व्यक्तिगत रूप से) ही वर्चस् चाहता है। यदि 'अध्वर्यु' यजमान के लिए उक्त मन्त्र का उच्चारण करता तो 'मम यजमानस्य वर्चोऽस्तु' होता तथा इससे शास्त्रीय मान्यता के अनुसार दोष उत्पन्न होता। अतएव 'वर्चस्' की आकांक्षा यजमान से सम्बन्धित न होकर, अध्वर्यु से सम्बद्ध है, ऐसा समझना उपयुक्त है॥ २५॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६३३ ) स्वामिनो वा तदर्थत्वात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति हेतु प्रयुक्त है। उक्त कामना, स्वामिन: = स्वामी यजमान से सम्बद्ध है, तदर्थत्वात् = क्योंकि दर्शपूर्णमास याग स्वामी यजमान के लिए ही होने से उसके अन्तर्गत अध्वर्यु द्वारा किया जाने वाला अग्नि प्रज्वलन कर्म भी यजमान का ही माना जाता है, अतएव मन्त्र में प्रयुक्त 'मम' पद से यजमान का ही ग्रहण होता है, अध्वर्यु का नहीं।

**व्याख्या—** 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकाम:' स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति दर्श-पूर्णमास याग का यजन करे। इस वाक्य में कर्त्ता यजमान के लिए ही स्वर्गरूप फल का कथन किया गया है, यजमान ही यज्ञ के फल का भोक्ता है। अध्वर्यु के द्वारा उस याग में की जाने वाली वर्चस् फल की कामना यजमान से सम्बद्ध है, क्योंकि अध्वर्यु यजमान के द्वारा परिक्रीत कर्मकर ऋत्विक् है,उसे कार्य करने का अधिकार है, फल प्राप्ति का नहीं। उसकी भावना यही रहती है कि हमारे यजमान को वर्चस् की-स्वर्ग की प्राप्ति हो। 'मम' पद से वह यजमान के लिए ही याग फल की प्रार्थना करता है॥ २६॥

## ( ६३४ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लक्षणों-प्रमाणों की प्राप्ति से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

**व्याख्या—** 'यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशास्ते, यजमानस्य एव सा'। उक्त वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्वर्यु आदि ऋत्विजों द्वारा की जाने वाली आशीर्वाद की प्रार्थना उनके अपने लिए न होकर यजमान के लिए होती है। अतएव 'करण' संज्ञक मन्त्रों के माध्यम से अध्वर्यु आदि जो कामना-प्रार्थना करते हैं, उससे यजमान (यज्ञकर्त्ता) का ही हित साधन होता है, अध्वर्यु का नहीं। अत: यह सिद्ध हुआ कि वर्चस् आदि यज्ञ-फल अध्वर्यु से सम्बद्ध न होकर यजमान से ही सम्बद्ध हैं॥ २७॥

**यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह नियम सर्वत्र माना जाना चाहिए या कहीं इसका अपवाद भी उपलब्ध है? सूत्रकार ने समाधान के भाव से कहा—**

## ( ६३५ ) कर्मार्थन्तु फलन्तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्वात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = उन 'करण' संज्ञक मन्त्रों में जो कहीं (अपवाद स्वरूप) अपने निमित्त, फलम् = फल की कामना की है, कर्मार्थम् = वह यज्ञीय कर्मानुष्ठान की सम्पूर्ण सफलता हेतु, तु = तो, अर्थवत्वात् = प्रयोजन युक्त होने से, स्वामिनं प्रति = यज्ञ के स्वामी यजमान के प्रति होती है।

**व्याख्या—** 'अग्नाविष्णू मा वामक्रमिषम्, विजिहाथां मा मा सन्तासम्' अर्थात् हे अग्नि तथा हे विष्णु! मेरे द्वारा कभी भी आपका अतिक्रमण न हो, मुझे दोनों के मध्य से जाने के लिए अलग-अलग रहें, मुझे आप दोनों से सन्ताप प्राप्त न हो। यहाँ उक्त वाक्य में की गई कामना यजमान के लिए ही प्रकारान्तर से है, तथापि मुख्य रूप से अध्वर्यु अपने लिए करता है। आशय यह है कि स्वस्थ अध्वर्यु ही यजमान के यज्ञानुष्ठान के योग्य हो सकता है। अतएव कतिपय अपवाद स्वरूप जो 'करण' मन्त्रों द्वारा अध्वर्यु ऋत्विक् की ओर से उत्तम स्वास्थ्य- आरोग्यता की प्रार्थना की गई है, वह विशेषत: उसके अपने लिए ही है, यजमान के लिए नहीं, ऐसा समझना चाहिए॥ २८॥

**विवेचना के उक्त क्रम में सूत्रकार ने कहा कि कहीं-कहीं वाक्य-विशेष की सामर्थ्य से याग के फल की कामना का सम्बन्ध, अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के साथ पाया जाता है—**

## ( ६३६ ) व्यपदेशाच्च॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, व्यपदेशात् = कहीं वाक्य विशेष के बल से प्राप्त कथन द्वारा यजमान तथा ऋत्विक् (अध्वर्यु) दोनों के लिए याग फल की प्रार्थना का सम्बन्ध होना प्राप्त है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत हविर्धान मण्डप में जहाँ सोम से लदा हुआ हविर्धान शकट खड़ा रहता है, उसके नीचे अर्धपूर्व भाग में लगभग एक फुट के अन्तर से चारों उप दिशाओं में एक -एक हाथ की गहराई वाले चार गड्ढे इस तरह से खोदे जाते हैं कि ऊपर से तो उनके मध्य अन्तर बना रहे, परन्तु भीतर की ओर में वे आपस में मिले हुए हों। मीमांसकों की भाषा में इन्हें 'उपरव' कहा जाता है। 'उपरव' नाम गड्ढे के एक तरफ से यजमान तथा दूसरी तरफ से अध्वर्यु एक दूसरे के आमने - सामने होकर उस (उपरव) में अपने -अपने हाथ डालते हैं। दोनों अपने दाहिने हाथ नीचे मिलाकर-'किमत्र नो भद्रं-तन्नौ सह' इस प्रश्नोत्तर स्वरूप मन्त्र का उच्चारण करते हैं। यजमान से अध्वर्यु प्रश्न करता है- 'किमत्र' यहाँ पर क्या है? उत्तर में यजमान कहता है- 'भद्रम्' यहाँ कल्याण है, याग का फल है। तब अध्वर्यु कहता है- 'तन्नौ सह' वह हम दोनों को साथ-साथ प्राप्त हो। यहाँ उपर्युक्त वाक्य में जो 'नौ' तथा 'सह' पद का प्रयोग किया गया है, उसमें 'नौ' पद का अर्थ अध्वर्यु ऋत्विक् तथा स्वामी यजमान दोनों के लिए माना गया है, दोनों के लिए इष्टफल की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। 'सह' का अर्थ साथ-साथ सर्वविदित है ही। अतएव यह सिद्ध हुआ कि उक्त मन्त्र 'किमत्र नो भद्रं तन्नौ सह में की गई इष्टफल की प्रार्थना केवल यजमान से सम्बद्ध न होकर , यजमान एवं अध्वर्यु दोनों से सम्बद्ध है॥ २९॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने दर्शपूर्णमास याग में पठित बर्हि तथा वेदि-आदि द्रव्य संस्कारों के धर्म विषयक संदेह का निराकरण करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### (६३७) द्रव्यसंस्कार: प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यसंस्कार: = बर्हि, वेदि आदि यज्ञोपयोगी द्रव्यों के संस्कार रूपी धर्म तो, प्रकरणाविशेषात् = विकृति (अङ्गभूत) याग तथा प्रकृति (प्रधान) याग के किसी प्रकरण विशेष में उपलब्ध न होने से, सर्वकर्मणाम् = समस्त यागों-कर्मानुष्ठानों के धर्म हैं।

**व्याख्या—** 'कुशा' (बर्हि) के संस्कार रूपी धर्म उसको काटा जाना, उसे बाँधना तथा वहाँ से वेदिका तक लाकर उसे बिछाना आदि हैं। रेखाओं को बनाकर उसे चिह्नित करना, ईंट आदि पवित्र साधनों से बनाया जाना तथा उपर्युक्त स्थान पर बिछाई गई कुशा पर हविद्रव्यों को स्थापित करना 'वेदि' के संस्कार रूप धर्म हैं। इन सभी संस्कारों से द्रव्यों का संस्कारित किया जाना प्रत्येक यज्ञीय कर्मानुष्ठान में आवश्यक एवं अपेक्षित होता है। चाहे वह प्रधान कर्म (प्रकृति याग) हो अथवा अंगभूत कर्म (विकृति याग)। ऐसे प्रकरण विशेष का कथन स्पष्ट रूप से कहीं उपलब्ध नहीं होता, फिर भी द्रव्य संस्कार रूप धर्म मात्र प्रकृति याग(प्रधान कर्म) के लिए विहित न होकर, प्रकृति तथा विकृति दोनों प्रकार के यागों के लिए विहित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३०॥

**ज्योतिष्टोम याग में अग्नीषोमीय पशु प्रकरण के प्रसङ्ग में पठित वाक्यों 'बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति' (कुशा से यूप के गड्ढे को ढाँपता है) तथा 'आज्येन यूपमनक्ति' (यूप को आज्य से चिकना करता है) के विषय में यह सन्देह है कि उक्त बर्हि एवं आज्य द्रव्यों में प्रकृतियाग में विहित बर्हि, आज्य के संस्कार सम्पन्न करने चाहिए? या नहीं करने चाहिए? आचार्य ने समाधान के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### (६३८) निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकार:॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** तु = सूत्र में प्रयुक्त यह पद पूर्व विवेचन में कथित अर्थ से पृथक् विलक्षण अर्थ का सूचक है। विकृतौ = दर्श-पूर्णमास के विकृतियाग अग्नीषोमीय पशुयाग में, अपूर्वस्य = यूप के गड्ढे को ढाँपने में प्रयुक्त बर्हि एवं उसके धर्म तथा यूप को चिकना करने में प्रयुक्त आज्य में प्राकृत आज्य के धर्म संस्कारों का सम्बन्ध

प्रकृति याग से नहीं होता, निर्देशात् = निर्देशानुसार तो, अनधिकार: = अधिकार विकृति यज्ञों को है, प्रकृति यज्ञों को नहीं।

**व्याख्या—** 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' वाक्य के अनुसार विकृति याग में उन्हीं धर्मों का अतिदेश सम्भव हो पाता है, जिनसे प्रकृतियाग प्रधान कर्म उपकृत होता हो। बर्हि का धर्म संस्कार प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास आदि में मुख्य यज्ञ की हवि के स्थापन के लिए होता है, जैसा कि प्रस्तुत वाक्य से स्पष्ट है- 'बर्हिषि हवींष्यासादयति'। इस प्रकार के सुसंस्कारित पूर्ण हविद्रव्य से जब यज्ञीय कर्मानुष्ठान अनुष्ठित होता है, तो उससे प्राप्त होने वाले यज्ञीय फल की उपलब्धता संदिग्ध नहीं रहा करती। अपनी प्रयुक्तता हेतु अतिदेश वाक्य को धर्म की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत प्रधान कर्म-प्रकृति याग की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अग्नीषोमीय पशु (विकृति) याग में प्रयुक्त द्रव्य बर्हि तथा आज्य लौकिक ही ग्रहण किये जाते हैं, प्रकृति याग में विहित धर्मों की उपलब्धता एवं उनके संस्कार लवन (काटना) तथा उत्पवन (पवित्र करना) आदि की अपेक्षा वहाँ उनमें नहीं रहती॥ ३१॥

**'समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे कुरुते' एक समान लम्बाई वाले जिनका अग्रभाग कटा हुआ नहीं है और न ही टूटा है तथा प्रादेश परिमाण ( अंगुष्ठ से तर्जनी तक ) वाले दो-दो कुशाओं के 'पवित्र' बनाये। दूसरा वाक्य है-'अरत्नि मात्रे विधृती करोति' अरत्नि ( बद्ध मुष्टि से कोहनी तक ) के परिमाण के दो दर्भों को 'विधृति' बनाये। दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पठित उक्त वाक्यों के विषय में यह सन्देह होता है कि इन्हें संस्कारित बर्हि से बनाना चाहिए? अथवा असंस्कृत बर्हि से? यज्ञीय कर्म होने से ही इनका संस्कृत घास ( बर्हि ) कुश से ही बनाया जाना युक्त प्रतीत होता है। इस पर सूत्रकार ने समाधान दिया—**

## ( ६३९ ) विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, श्रुतिविशेषात् = विशेष वाक्यों द्वारा, विरोधे = प्रतिरोध की स्थिति में, शेषे = वेदिस्तरण से शेष बचे हुए 'पवित्र' एवं 'विधृति' कर्म में भी, अव्यक्तः = असंस्कृत बर्हि (कुशा, घास) का उपयोग (ग्रहण, विनियोग) किया जाता है।

**व्याख्या—** 'त्रिधातु पञ्चधातु वा बर्हिषा वेदिं स्तृणाति' उपर्युक्त विशिष्ट वाक्य का अर्थ है- तीन मुट्ठी या पाँच मुट्ठी बर्हि (कुशा) से वेदि का आच्छादन करता है। उपर्युक्त उद्धरण के निर्देशानुसार विधि-विधान पूर्वक जिस बर्हि को काट-छाँट कर, उसे सुसंस्कृत बनाकर लाया जाता है, उसका प्रयोग (विनियोग) केवल वेदि-आस्तरण में ही होना सम्भव है। उपर्युक्त वाक्य विशेष में 'पवित्र' अथवा 'विधृति' का कहीं कथन तक नहीं मिलता, प्रत्युत स्पष्ट रूप से 'वेदिं स्तृणाति' की उपलब्धता है। अतएव परिभोजनीय अथवा असंस्कृत (संस्काररहित) बर्हि का ही विनियोग उसी प्रकार 'पवित्र' एवं 'विधृति' आदि शेष कार्यों में किया जाना युक्ति-युक्त है, जैसे कि यूप के गड्ढों के आच्छादन में असंस्कृत बर्हि (कुशा) का प्रयोग किया जाता है॥ ३२॥

**'पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्र, पयस्यां मैत्रावरुणपात्र' ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में पठित आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १२/२५/६ के उक्त वाक्य का अर्थ है- पुरोडाश के टुकड़े को ऐन्द्रवायव ( इन्द्र-वायु ) देवता के पात्र में स्थापित करता है, धान की खीलों को अश्विनी देवता के पात्र में तथा खीर को मित्रावरुण देवता के पात्र में रखता है। सन्देह इसमें यहाँ यह है कि उक्त देवताओं के पात्र में रखा जाने वाला भाग 'अन्य पुरोडाश' आदि का होता है, अथवा 'प्राकृत पुरोडाश' आदि का होता है? समाधान हेतु सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६४० ) अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** विद्यमानसंयोगात् = चल रहे यज्ञीय कर्मकाण्ड में उपलब्ध (विद्यमान) का संयोग प्राप्त होने के कारण, तु = तो, एकदेशस्य = प्राकृत पुरोडाश के एक उपयोगी भाग (एकदेश) का ही, अपनयः = ऐन्द्रवायव

संज्ञक पात्र में अपनयन (उसके स्थान से अन्यत्र रखा जाना) कहा है।

**व्याख्या—** आचार्य का कहना है कि वर्तमान यज्ञीय कर्मानुष्ठान की संचालन प्रक्रिया के अन्तर्गत विद्यमान पुरोडाश के एकदेश (उस प्राकृत पुरोडाश के अवशिष्ट भाग को ही जो यज्ञ के उपयोग के पश्चात् शेष बचा हुआ है।) को ही ऐन्द्रवायव (इन्द्र-वायु) देवता के पात्र में स्थापित किया जाता है। सूत्र में प्रयुक्त 'विद्यमानसंयोगात्' पद का तात्पर्य यही है। ऐसे ही धान की खील तथा दूध से बनी खीर के विषय में भी समझा जाना चाहिए। उन्हें भी वहीं रखा जाता है, जहाँ जिस देवता के पात्र में उनके निधान का निर्देश किया गया है॥ ३३॥

**'यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्याः,' अथर्ववेद में जो यज्ञ काम्येष्टियाँ हैं, उन्हें उपांशुत्व पूर्वक अनुष्ठित करना चाहिए। उपांशु का तात्पर्य ऐसे मंत्र के उच्चारण से है, जो आस-पास बैठे हुए किसी भी व्यक्ति को सुनाई न दे, होठों के अन्दर मुख तक ही सीमित रहे। उपर्युक्त वाक्य में जिन आथर्वण यज्ञीय काम्येष्टियों को अनुष्ठित किये जाने का विधान किया गया है, वह प्रधान तथा अङ्गभूत समस्त काम्येष्टियों के लिए विहित है अथवा मात्र प्रधान के लिए ही? इन्हीं संदेहात्मक भावों को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

**( ६४१ ) विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग-दर्शपूर्णमास आदि में पठित वेदि धर्म एवं आज्य धर्म प्रधान एवं शेषभूत सभी प्रकार के कर्मों में समान रूप से मान्य है, ठीक उसी प्रकार, विकृतौ = काम्येष्टि स्वरूप विकृति याग में पठित, शेषः = उपांशुत्व स्वरूप धर्म (गुण) भी, सर्वार्थः = समस्त इष्टियों के लिए होनी चाहिए।

**व्याख्या—** अथर्ववेद में विहित समस्त काम्येष्टियाँ विकृतियाग ही मानी जाती हैं तथा उनमें पारस्परिक प्रधान एवं शेषभूत भावों की विद्यमानता भी बनी रहती है। अतएव जिस प्रकार दर्श-पूर्णमास, प्रकृतियाग में पठित वेदि धर्म एवं आज्य धर्म की मान्यता विकृति यागों में भी बनी रहती है, उसी प्रकार विकृतियाग-काम्येष्टियों के प्रकरण में पठित उपांशुत्व धर्म की मान्यता भी प्रधान तथा अङ्गभूत सभी प्रकार की काम्येष्टियों में भी होनी चाहिए॥ ३४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अग्रिम सूत्र में किया—**

**( ६४२ ) मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदित्वात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** उपांशुत्वधर्म को, अङ्गस्य = अङ्ग का धर्म माना जाये, अचोदित्वात् = ऐसा विधान प्रामाणिक वाक्यों से विहित नहीं है, मुख्यार्थः = अस्तु; वह प्रमुख काम्येष्टि के लिए ही है।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग प्राप्त समस्त काम्येष्टियाँ पारस्परिक प्रकृति-विकृति भावयुक्त, प्रधान एवं अङ्गभूत दोनों ही प्रकार की हुआ करती हैं। विशिष्ट फल प्राप्त करने की कामना से जिस काम्येष्टि को अनुष्ठित किया जाता है, उपांशुत्व धर्म का सम्बन्ध उसी इष्टि के साथ माना जाता है, उपर्युक्त वाक्य 'याः काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्याः' से यह सिद्ध हो जाता है। उसी काम्येष्टि को फल युक्त होने से प्रधान माना गया है। जबकि जो काम्येष्टियाँ अङ्गभूत हैं, उनका अनुष्ठान प्रधान काम्येष्टि के सम्पादनार्थ होता है, क्योंकि उन काम्येष्टियों का कोई अतिरिक्त फल नहीं हुआ करता। अतएव यह सुनिश्चित हुआ कि उपांशुत्व धर्म का सम्बन्ध मात्र प्रधान काम्येष्टियों के साथ रहता है॥ ३५॥

**'दृति नवनीतमाज्यम्' विशेष पात्र दृति में अधिक समय से रखे नवनीत ( मक्खन ) आज्य होता है। यहाँ सन्देह यह है कि उक्त नवनीत आज्य की आहुति श्येन याग में दी जानी चाहिए? अथवा उसके अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों में उसका प्रयोग होना चाहिए? समाधान के भाव से सूत्रकार ने कहा—**

**( ६४३ ) सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** असम्भवे = नवनीत 'आज्य' की उपयोगिता 'श्येन' याग में संभव नहीं (क्योंकि उसमें सोम की आहुति दी जाती है), तत् = उसके (श्येन याग के), सान्निधानविशेषात् = सामीप्य की विशिष्टता से, अङ्गानाम् = अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों के अनुष्ठान में उक्त नवनीत आज्य का उपयोग होता है,

**व्याख्या—** श्येन याग में प्रमुखतः सोम की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं, क्योंकि श्येन ज्योतिष्टोम का विकृति याग है और ज्योतिष्टोम याग में सोम से ही उसकी सिद्धि विहित है। अतएव ज्योतिष्टोम के विकृति श्येनयाग में नवनीत आज्य की आहुति देना किसी प्रकार से संभव नहीं। परन्तु श्येन याग के प्रकरण में पठित होने से उसका पढ़ा जाना निरर्थक न हो, इसलिए श्येन याग के अंग दीक्षणीय आदि इष्टियों के अनुष्ठान में उक्त नवनीत आज्य की उपयोगिता मानी गयी है तथा इस मान्यता से प्रकरण में कोई व्यवधान भी नहीं आता॥ ३६॥

**उपर्युक्त अर्थ में सम्भावित सन्देह को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## ( ६४४ ) आधानेऽपि तथेति चेत्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** तथा = जिस प्रकार से नवनीत आज्य श्येन का धर्म न होकर उसके अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म है वैसे ही, आधाने = अग्न्याधान आदि का धर्म है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** जिस प्रकार से दीक्षणीय आदि इष्टियों को श्येनयाग का अङ्ग माना जाता है, वैसे ही आधान कर्म के अन्तर्गत (अग्न्याधान को भी उसका अंग मानना चाहिए तदनुसार) नवनीत आज्य की उपयोगिता भी स्वीकार की जानी चाहिए। कारण यह कि जब अग्नि को पवमान आदि इष्टियों से सुसंस्कृत कर दिया जाता है, तभी उसमें श्येन याग का सम्पादन अनुष्ठानपूर्वक होता है॥ ३६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

## ( ६४५ ) नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** अङ्गस्य = अङ्गभाव के, तन्निमित्तत्वात् = प्रकरण आदि के उद्देश्य से युक्त होने के कारण, अप्रकरणत्वात् = अग्न्याधान के प्रकरण की प्रस्तुत प्रसङ्ग में उपलब्धता न होने से उपर्युक्त कथन को औचित्यपूर्ण, न = नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम आदि मुख्य याग में गार्हपत्य, आहवनीय आदि अग्नियों का स्थापन-आधान किया तो जाता है, परन्तु उन अग्नियों में श्येन याग होते रहने पर भी अग्न्याधान कर्म के साथ श्येन याग के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती, ऐसा कोई साक्ष्य भी प्रमाण के रूप में नहीं प्राप्त होता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि अग्न्याधान एवं श्येन याग के मध्य अङ्गाङ्गिभाव है। ऐसी स्थिति में अग्न्याधान तथा उसके क्रम में सम्पादित होने वाली पवमान आदि इष्टियों को श्येन याग का शेष भूत (अङ्ग) मानना संभव नहीं, जिसके कारण उक्त इष्टियों में नवनीत संज्ञक आज्य की प्रयुक्तता भी संभव नहीं, जिससे कथन की पुष्टि होती हो। अतएव यही सिद्ध होता है कि श्येन याग में न हो सकने के कारण उसके अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों के अनुष्ठान में ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होने से वह उन्हीं इष्टियों का धर्म है॥ ३८॥

**यज्ञीय कर्मानुष्ठान के पूर्णता की समयावधि के विभाग (भेद) से अङ्ग का विभाजन दो रूपों में किया गया है। एक तो वह जिसे 'सुत्यादिन' में अनुष्ठित किया जाता है तथा दूसरा वह जो उसके कुछ समय के अन्तर से अनुष्ठित हो। ज्योतिष्टोम याग छः दिनों में पूर्ण होने वाला अनुष्ठान है और उसका पाँचवाँ दिन सोम के अभिषव का माना गया है। इस दिन सोमलता को कूट-पीसकर छानकर, याग की मुख्य आहुतियाँ तैयार सोम से ही प्रदान की जाती हैं, इसे सुत्यादिन के नाम से जाना जाता है। उसी दिन सवनीय पशुओं का दान तथा उसके निमित्त उसी को लक्ष्य करके पुरोडाश आदि का निर्वपन भी किया जाता है, जिसे 'सुत्याकालीनाङ्ग' कहते हैं। उसके अनुष्ठान के अनन्तर 'दीक्षणीयादि' इष्टियों को अनुष्ठित किया जाता है। संदेह की स्थिति यहाँ यह है कि क्या सुत्यादिन में अनुष्ठित होने वाले श्येनयाग**

**के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों में ही नवनीत आज्य का प्रयोग होता है ? अथवा समस्त कालों ( कालान्तर में ) होने वाले श्येनयाग के समस्त अङ्गभूत कर्मों के अनुष्ठान में ? इसके समाधान के लिए आचार्य सूत्रकार ने पहले पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## ( ६४६ ) तत्काले वा लिङ्गदर्शनात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग (साक्ष्य) के दृष्टिगोचर होने से, वा = यही प्रतीत होता है कि, तत्काले = उस समय होने वाले कर्मानुष्ठानों में ही नवनीत आज्य की उपयोगिता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** छह दिन में सम्पन्न होने वाले ज्योतिष्टोम याग के चतुर्थ दिवस अग्नीषोमीय पशुओं का तथा पंचम दिवस सवनीय पशुओं का और अन्तिम दिवस में अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन किया जाना विहित है, किन्तु जहाँ श्येन याग का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, वहाँ अनुबन्ध्य पशुओं के आलभन का कार्य 'सह पशूनालभते' वाक्य की सामर्थ्य से उसके निर्देशानुसार सुत्यादिन के सवनीय पशुओं के आलभन कर्म के साथ ही स्वीकार किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि सुत्यादिन में श्येनयाग के अङ्गभूत जिन कर्मानुष्ठानों को अनुष्ठित किया जाता है, उन अङ्गभूत कर्मों में ही नवनीत आज्य की प्रयुक्तता मानी जानी चाहिए, न कि श्येनयाग के समस्त कालों में सम्पादित होने वाले अङ्गभूत कर्मानुष्ठानों में॥ ३९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( ६४७ ) सर्वेषां वाऽविशेषात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त है। अविशेषात् = नवनीत आज्य के विषय में उसके प्रकरण के अन्तर्गत कोई निर्देश परक वाक्य विशेष की प्राप्ति न होने से नवनीत आज्य को, सर्वेषाम् = श्येन के सभी अङ्गभूत कर्मों का धर्म माना जाता है।

**व्याख्या—** नवनीत आज्य के सामान्य विधान की उपलब्धता स्पष्ट रूप से श्येनयाग के प्रकरण में होना इस बात को प्रमाणित करता है कि नवनीत आज्य श्येन याग के सभी अङ्गभूत कर्मों का धर्म है। उन कर्मों का सम्पादन चाहे अन्य काल में होता हो अथवा सुत्यादिन में। यदि ऐसा न होता, तो उसे श्येन याग के प्रकरण में साधारण रूप से विहित ही न किया जाता। इसके अतिरिक्त उक्त प्रकरण में जहाँ नवनीत आज्य का कथन निर्देश पूर्वक प्राप्त है, वहाँ ऐसा कोई विशेष वाक्य नहीं मिलता, जो यह स्पष्ट करता हो कि श्येन याग के इन-इन कर्मों में नवनीत आज्य की उपयुक्तता है और इन-इन में नहीं। अतएव उक्त आज्य को समस्त (श्येनयागीय) अङ्गभूत कर्मों का धर्म माना जाना सर्वथा अनौचित्यपूर्ण होगा॥ ४०॥

**अगले क्रम में आचार्य गत पूर्वपक्ष में वर्णित लिङ्गदर्शन का समाधान करते हैं—**

## ( ६४८ ) न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** न्यायोक्ते = न्यायपूर्वक कथित अर्थ के विषय में, लिङ्गदर्शनम् = पूर्वोक्त लिङ्गदर्शन अकिंचित्कर (सामर्थ्यहीन) होता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'न्याय' पद का तात्पर्य शास्त्रीय विधान एवं उसकी विधि-व्यवस्था से है। शास्त्रीय नियम के अनुसार यद्यपि लिङ्ग वाक्य की अपेक्षा बलवान् माना जाता है, परन्तु ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण के श्येनयाग के प्रसङ्ग में पठित 'दृतिनवनीतमाज्यम्' वाक्य प्रकृतियाग के प्रकरण में पठित होने से (लिङ्गदर्शन से) यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में वाक्य बलहीन नहीं है। इसलिए वाक्य तथा प्रकरण दोनों के द्वारा अनुमोदित होने से उक्त नवनीत आज्य की उपयोगिता सम्पूर्ण प्रकरण के अङ्गभूत कर्मानुष्ठानों में सिद्ध होती है, लिङ्गदर्शन के अकिंचित्कर (सामर्थ्यहीन) होने से लिङ्ग उसे बाधित करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि उक्त आज्य मात्र सुत्याकालीन अङ्गों का धर्म न होकर

श्येनयागीय दीक्षणीय आदि समस्त अङ्गभूत कर्मों का धर्म है॥ ४१॥

**अगले क्रम में सूत्रकार सवनीय पुरोडाशों का प्रकृतिभूत द्रव्य होना बतलाते हैं—**

## (६४९) मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पुरोडाश के मांसमय होने की निवृत्ति का द्योतक होने के साथ-साथ सिद्धान्त का सूचक भी है। सवनीयानाम् = सवनीय पुरोडाशों का (विकल्प रूप में जब 'व्रीहि' आदि द्रव्य की उपलब्धता न हो), मांसम् = 'मांसल' (मांसमय) प्रकृति द्रव्य है, कारण यह कि, चोदनाविशेषात् = द्रव्यों का विधान बतलाने वाले वचनों से यही प्रतीत होता है।

**व्याख्या—**पुरोडाश दो प्रकार के बतलाये गये हैं, एक 'सवनीय' एवं दूसरा 'असवनीय'। तीनों सवनों- (प्रातः, सायं, माध्यन्दिन) में विनिर्मित किये जाने वाले पुरोडाश को 'सवनीय' कहा जाता है तथा इनसे अतिरिक्त अन्य सभी पुरोडाश 'असवनीय' कहे जाते हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'मांस' पद का तात्पर्य 'उड़द' से है, जिसे गौणवृत्ति से मांसल (मांस) भी कहा गया है। यहाँ सन्देह यह है कि तीनों सवनों में पुरोडाश विनिर्मित करने हेतु विहित व्रीहि आदि हवि द्रव्यों के अभाव में नीवार धान का प्रयोग किया जाना चाहिए? या मांस (उड़द) का? इसी सन्देह के निवारणार्थ आचार्य ने कहा कि द्रव्य के विधायक उक्त (द्रव्य विधायी) प्रेरक (चोदक) वाक्य 'व्रीहिभिर्यजेत्' में प्रयोग किया गया व्रीहि पद (धान) जाति के अभिप्राय से है। वहाँ उसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि व्रीहि आदि पदों से सभी स्थलों पर 'व्रीहि' का होना ही आवश्यक है, प्रत्युत व्रीहि की सदृशता-समानता युक्त नीवार आदि का प्रयोग भी व्रीहि की अनुपलब्धता में किया जा सकता है। आशय यह है कि व्रीहि के न मिल पाने की स्थिति में अन्य नीवार आदि भी उपयोगी माने जाते हैं। प्रकृति याग में जिस प्रकार से व्रीहि के समान गुण वाला होने से नीवार को पुरोडाश बनाने में उपयोगी समझा जाता है, वैसे ही विकृति यागों में मांस (माष), उड़द आदि भी उपयोगी एवं ग्रहणीय माने जाते हैं। मांस यहाँ गौण अर्थ में प्रयुक्त किया हुआ है, मुख्य अर्थ में नहीं, यही समझना चाहिए॥ ४२॥

**उक्त अर्थ में की गई आशङ्का को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—**

## (६५०) भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** असन्निधौ = गुणवृत्ति को प्रकट करने वाला (अभिव्यञ्जक) किसी अन्य पद के सन्निधि के अभाव में, भक्तिः = 'मांस' पद का अर्थ गौणी वृत्ति से मांसल किया जाना, अन्यथा = न्यायोचित नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** प्रत्येक शब्द वैसे तो प्रधान वृत्ति एवं गुणवृत्ति से दो अर्थ का अभिव्यञ्जक होता है, परन्तु मुख्य (प्रधान) वृत्ति को प्रकट करने वाले (अभिव्यञ्जक) शब्दान्तर के सन्निधि से ही गौणार्थ वाचक पद मुख्य वृत्ति का परित्याग करके गौण अर्थ को बतलाने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ- 'सिंहो देवदत्तः' इस वाक्य में मुख्य वृत्ति वाले 'सिंह' के सान्निध्य में गुणवृत्ति वाला 'देवदत्त' पद पठित है, तभी देवदत्त का सिंह में आश्रयण सिद्ध होता है। यदि यहाँ 'सिंह' शब्द के सामीप्य में देवदत्त शब्द विद्यमान न होता, तो सिंह शब्द एकाकी होने से गौण अर्थ का कथन नहीं कर सकता था, किन्तु देवदत्त पद के उसकी सन्निधि में विद्यमान होने से 'सिंह' पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर स्वयं ही गुणवृत्ति का आश्रय लेकर गौण अर्थ का अभिव्यञ्जक हो जाता है। 'गङ्गायाम् ग्रामः' एवं 'मञ्चाः क्रोशन्ति' आदि भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं। गत सूत्र में प्रयुक्त 'मांस' पद नितान्त एकाकी है, उसके सामीप्य में ऐसे किसी भी गुणवृत्ति के अभिव्यञ्जक पद की विद्यमानता नहीं है, जिससे वह मुख्यार्थ का परित्याग कर गौण अर्थ को प्रकट कर सके। अतएव गुण

वृत्ति को प्रकट करने वाले शब्दान्तर की सन्निधि के अभाव में उक्त 'मांस' पद को गौण अर्थ का अभिव्यञ्जक मानना सर्वथा अशास्त्रीय ही होगा॥ ४३॥

**उपर्युक्त पक्ष का समाधान करने हेतु आचार्य सूत्रकार ने इस पद का अन्तिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६५१ ) स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वाद् वैराजवत्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** वैराजवत् = प्रकृति भूत मन्त्र को अभिव्यक्त करने वाले 'साम' शब्द की सन्निधि से जिस प्रकार 'वैराज' पद 'वैराज पृष्ठ' स्तोत्र का कथन करता है, प्रकृतिलिङ्गत्वात् = उसी प्रकार से प्रकृतिभूत द्रव्य को बतलाने वाले 'सवनीयानाम्' पद की सन्निधि में पठित होने से 'मांस' पद भी 'मांसल' का वाचक माना जा, स्यात् = सकता है।

**व्याख्या—** कोई भी पद अपने शब्दान्तर की सन्निधि के अभाव में मुख्यार्थ का परित्याग कर गौण अर्थ का कथन करने वाला सिद्ध नहीं होता, इस तथ्य को किसी भी स्थिति में नकारना संभव नहीं, परन्तु गत प्रसङ्ग में जो 'मांस' पद प्रयुक्त हुआ है, वह अकेला न होकर 'सवनीयानाम्' पद (शब्दान्तर) के सामीप्य में विद्यमान है। एकाकी होने की स्थिति में अवश्य ही 'मांस' पद अपने प्रमुख अर्थ को त्याग न कर पाने के कारण 'मांसल' इस गौण अर्थ को न बतलाकर मुख्यार्थ का ही कथन करता। परन्तु 'सवनीयानाम्' षठ्यन्त पद का उसकी सन्निधि में विद्यमान होना ही 'मांस' पद को उसके मुख्यार्थ वाचक होने से रोकता है। अतएव जिस तरह से 'वैराज' पर साम (गायन) विशेष का कथन कर्त्ता होते हुए भी 'वैराज सामा' आदि वाक्यों में 'साम' पद की सन्निधि के कारण 'वैराज' पद सर्वसम्मति से 'वैराजपृष्ठ' संज्ञक स्तोत्र का वाचक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार उक्त 'मांस' पद भी सवनीयानाम् पद की सन्निधि से 'मांसल' अर्थ का अभिव्यञ्जक माना जा सकता है।

आशय यह है कि सभी यज्ञीय पुरोडाश व्रीहि, जौ, नीवार आदि धान्यों से ही विनिर्मित किये जाते हैं। लोक प्रसिद्ध (शास्त्रीय दृष्टि में) 'सवनीय' पद भी मुख्य वृत्ति से पुरोडाश का अभिव्यञ्जक माना जाता है और मांस पद के साथ सवनीय का सम्बन्ध षष्ठ्यन्त होने के कारण औचित्यपूर्ण भी है, किन्तु तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब मांस का अर्थ 'मांसल ही माना जाये, मांस (पशुमांस) नहीं। । कारण यह कि इस मान्यता के अनुमोदन से ही अन्नत्व धर्म की एकरूपता (समानता) होने से मांसल का सम्बन्ध सभी सवनीय पुरोडाशों से हो सकता है। लोक में अन्नयुक्त द्रव्यों का उत्पत्ति-उत्पादक भाव अन्न के साथ प्रत्यक्ष भी है, न कि (पशुमांस) मांस तथा अन्य पुरोडाशों का। पशु-मांस को तो यहाँ परिकल्पित करना भी अनौचित्यपूर्ण है। अत: निष्कर्ष यह है कि विकृति यागों में प्रयुक्त होने वाले सवनीय पुरोडाशों का प्रकृतिभूत पदार्थ मांसल है, जिसका प्रयोग व्रीहि आदि के अभाव में पुरोडाश के रूप में किया जा सकता है॥ ४४॥

## ॥ इति तृतीयाध्यायस्य अष्टमः पादः॥

# ॥ अथ चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ॥

**शेषशेषिभाव का विस्तृत निरूपण गत तीसरे अध्याय में किया गया। अब अगले क्रम में प्रयोजक अथवा निमित्त कर्म कौन से हैं तथा प्रयोज्य अथवा नैमित्तिक कर्म कौन हैं, यह निरूपित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ सम्बन्धी जिज्ञासा की कर्त्तव्यता प्रथम सूत्र में बतलाते हैं—**

**( ६५२ ) अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** अथ = इसके (शेषशेषिभाव के) अनन्तर अब, अतः = निमित्त-नैमित्तिक भाव की सिद्धि हेतु, क्रत्वर्थ = क्रत्वर्थ और, पुरुषार्थयोः = पुरुषार्थ दोनों की, जिज्ञासा = जिज्ञासा इसलिए की जाती है।

**व्याख्या—** क्रतु (याग) के निमित्त जो कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, उन्हें 'क्रत्वर्थ' और पुरुष के लिए सम्पन्न होने वाले लौकिक कर्म 'पुरुषार्थ' कहलाते हैं। इनको जानने की इच्छा 'जिज्ञासा' के अन्तर्गत की जा रही है। 'क्रत्वर्थ' एवं 'पुरुषार्थ' कर्मों का विभागपूर्वक पूर्ण ज्ञान हो जाने पर यह भी प्रकाशित हो जाया करता है कि यह कर्म नैमित्तिक अथवा प्रयोज्य है तथा यह निमित्त अथवा प्रयोजक। 'प्रयोज्य' कर्म वह है, जो क्रतु (याग) के अपने उपकारार्थ है एवं जो पुरुष द्वारा अनुष्ठित होकर उसके सुख का हेतु बनकर अनुष्ठान का निमित्त बनता है, वह कर्म प्रयोजक होता है। अतएव प्रयोज्य-प्रयोजक भाव अथवा निमित्त-नैमित्तिक भाव के उस ज्ञान की जिज्ञासा अपेक्षित एवं आवश्यक हो जाती है, जो क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ ज्ञान के आश्रय में विद्यमान है॥ १ ॥

**अगले क्रम में आचार्य दोनों कर्मों 'क्रत्वर्थ' एवं 'पुरुषार्थ' के लक्षणों एवं स्वरूपों का ज्ञान कराते हैं—**

**( ६५३ ) यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** लिप्सा = जिनके करने की लालसा मन में, अर्थलक्षणा = स्वयमेव होती है और, यस्मिन् = जिनके अनुष्ठान के द्वारा, पुरुषस्य प्रीतिः = पुरुष का अन्तःकरण प्रसन्न होता है, अविभक्तत्वात् = उनके प्रीति अथवा सुख के साधन स्वरूप कर्म से पृथक् न होने से, तस्य = उन कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहा गया है।

**व्याख्या—** जिन कर्मों के प्रति पुरुष की निष्ठा विश्वसनीय होती है कि उनके सम्पादन से हमारा अन्तःकरण सुखी होगा, उनके प्रति प्रीति होना सहज एवं स्वाभाविक है। संभावित सुखों को उपलब्ध कराने वाले उन कर्मों को अनुष्ठित करने के लिए किसी प्रेरणा की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ती; क्योंकि उन्हें सम्पन्न करने की आकांक्षा स्वभावतः पुरुष में रहा करती है। जैसे-सत्सङ्ग प्रेमी अपने प्रिय सत्सङ्ग में, मननशील अपने अभीष्ट मनन कर्म में एवं बाल गोपाल अपने प्रिय क्रीड़ा आदि कर्म में तथा व्यसनासक्त व्यक्ति अपने इच्छित व्यसन में बिना किसी प्रेरणा विशेष के स्वभाववश प्रवृत्त हो जाया करते हैं। वे कर्म पुरुष के लिए होने से तथा पुरुष के स्वभावगत होने से 'पुरुषार्थ' कहलाते हैं। 'क्रत्वर्थ' कर्म वे हैं, जिनके सम्पादन हेतु प्रेरणा विशेष की आवश्यकता रहती है तथा प्रत्यक्ष रूप से जिनके द्वारा सुख मिलना संभव नहीं अर्थात् परोक्ष फल वाला कर्म जो फल कर्त्ता का उपकार करने वाला है, 'क्रत्वर्थ' कहलाता है। इस प्रकार 'पुरुषार्थ' को प्रधान (मुख्य) कर्म तथा 'क्रत्वर्थ' को शेष भूत-अङ्गकर्म मानना उपयुक्त है॥ २ ॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने बतलाया कि प्रजापति व्रत आदि संज्ञक कर्म 'पुरुषार्थ' कर्म हैं—**

**( ६५४ ) तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय शास्त्रस्यानतिशंक्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते, तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** तदुत्सर्गे = सुख स्वरूप फल के अभाव में भी, कर्माणि = उक्त प्रजापति व्रतादि कर्म, पुरुषार्थाय = पुरुष के लिए ही माने गये हैं, शास्त्रस्य = क्योंकि शास्त्र की व्यवस्था-विधि -विधान, अनतिशङ्क्यत्वात् =

सर्वथा आशङ्काविहीन प्रमाणित है, च = तथा, द्रव्यम्=क्रतु या याग का शेष-अङ्गभूत कोई पदार्थ रूप द्रव्य भी उपर्युक्त कर्मों से, चिकीर्ष्यते = संस्कारित करने योग्य, न = नहीं दिखाई देता, जो उन कर्मों को 'क्रत्वर्थ' सिद्ध करे, तेन = उससे, अर्थेन = पुरुषार्थ के साथ, अभिसम्बन्धात् = सम्बन्ध का भाव होने से, क्रियायाम् = उन उक्त कर्मों में, पुरुषश्रुतिः = पुरुष का सुना जाना भी उपयुक्त एवं सार्थक हो जाता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए। यह व्रत 'प्रजापतिव्रत' है। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन' अर्थात् यह प्रजापति व्रत पुरुष के लिए विहित है? या याग के लिए? इस सन्देहास्पद स्थिति के निवारणार्थ आचार्य ने यह सूत्र प्रस्तुत किया। प्रजापति व्रत को उसी अवस्था में याग के लिए विहित माना जा सकता है,जब वह प्रत्यक्षतः उसका उपकारक हो; परन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। अन्यत्र उल्लिखित है कि प्रजापति व्रत का अनुष्ठाता समस्त पापों से मुक्ति पा जाता है- 'एतावता हैनसा मुक्तो भवति।' यह वाक्य प्रजापति व्रत का सम्बन्ध पुरुष के साथ प्रत्यक्षतः स्पष्ट करता है। अतः उक्त कर्म की सिद्धि क्रत्वर्थ के रूप में नहीं, प्रत्युत पुरुषार्थ रूप में होती है। तात्पर्य यह है कि 'नेक्षेतो' आदि वाक्य से साधक की एकाग्रता-ध्याननिष्ठता को इङ्गित किया गया है कि अनुष्ठाता पुरुष अपने वैदिक अनुष्ठान काल में इतनी तन्मयता बनाये रखे कि इस बात का उसे (सूर्योदय एवं सूर्यास्त का) पता ही न चले। ऐसी संकल्पपूर्ण एकाग्रता से वह पाप से भी सर्वथा बचा रहेगा, जिसे 'एतावता' आदि वाक्य इङ्गित करता है। इस प्रकार से प्रमाणित हुआ कि उक्त प्रजापति संज्ञक व्रत रूपी कर्म पुरुषार्थ ही है, क्रत्वर्थ नहीं॥ ३॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देह का भाव रखते हुए सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ६५५ ) अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्युः॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद सन्देहार्थक है। यथाश्रुति = वाक्य शेष (जैसा सुना गया है) के अनुसार, फलानि = फल से परिपूर्ण (समिधा आदि यज्ञीय कर्म भी तो पुरुषार्थ माने जाने चाहिए, शास्त्रस्य =क्योंकि उनसे सम्बन्धित शास्त्र का विधान, अविशेषात् =विशिष्ट न होकर प्रजापति व्रत संज्ञक कर्म के विधान के तुल्य ही हैं।

**व्याख्या—** पूर्वोक्त अर्थ के विषय में यहाँ यह आशङ्का व्यक्त की जा रही है कि प्रजापति संज्ञक व्रत कर्म यदि फलयुक्त होने से क्रत्वर्थ न होकर पुरुषार्थ है, तो 'समिध' कर्म 'समिधो यजति' को भी पुरुषार्थ माना जाना चाहिए॥ ४॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान आचार्य सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

**( ६५६ ) अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभिसम्बन्धात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = ये पद आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त हैं, कारणाग्रहणे = प्रमाणों (श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि विनियोजक) में से किसी भी प्रमाण के प्राप्त न होने से ही, तदर्थम् =उपर्युक्त प्रजापति व्रत नामक कर्म को पुरुषार्थ माना गया है, अर्थस्य = क्योंकि प्रमाण के अभाव में किसी प्रधान कर्मानुष्ठान के साथ उसका, अनभिसम्बन्धात् = सम्बन्ध होना सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** सूत्र का तात्पर्य यह है कि 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' आदि वाक्यों द्वारा विहित 'समिध' आदि प्रयाज संज्ञक कर्मों का सम्बन्ध प्रधान कर्म याग के साथ सिद्ध होता है। जबकि प्रजापति व्रत संज्ञक कर्मों के विषय में ऐसा कोई भी विनियोजक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जो प्रधान कर्म के साथ उसके सम्बन्ध की पुष्टि कर सके। अतः सम्बन्ध की उपपन्नता न होने से प्रजापति व्रत संज्ञक कर्मों को समिध आदि प्रयाज संज्ञक कर्मों की भाँति 'क्रत्वर्थ' नहीं माना जा सकता। अतः प्रजापति व्रत संज्ञक कर्म पुरुषार्थ ही है, यही समझना युक्ति-युक्त एवं न्यायपूर्ण है॥ ५॥

## ( ६५७ ) तथा च लोकभूतेषु॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = उसी प्रकार, लोकभूतेषु = लोक प्रचलन में भी देखा जाता है (जैसा ऊपर बतलाया गया है)।

**व्याख्या—** लोक प्रचलन में प्राय: ऐसा कहते सुना जाता है कि शौच-स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन बनाओ या स्नान करके पूजा-उपासना करो। 'स्नानं कुरु' 'पाकं कुरु' ऐसा कहने पर तत्काल ही यह समझ लिया जाता है कि पाक की प्रक्रिया के सम्पादनार्थ ही स्नान करने की बात कही गयी है। यदि मात्र 'स्नानं कुरु' ही कहा जाता है, तो उससे पाकार्थ नहीं समझा जा सकता। लोकानुभव यह प्रमाणित करता है कि जो कर्म फल के साथ स्वतन्त्र रूप से विहित हैं तथा जिनके और भी (अन्य) अर्थ निर्धारण में कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होते, उन्हें पुरुषार्थ कहते हैं। प्रजापति व्रत संज्ञक कर्म ऐसा ही है, इसका विधान फल के साथ स्वतन्त्र रूप से किया गया है तथा समिधादि प्रयाज की भाँति उनके क्रत्वर्थ प्रमाणित होने में किसी भी ठोस साक्ष्य के न मिलने से उसे 'क्रत्वर्थ' नहीं माना जा सकता, प्रत्युत 'पुरुषार्थ' ही माना जाता है॥ ६॥

**'स्फ्य' आदि दस यज्ञायुधों का विधान जो दर्श-पूर्णमास के यज्ञीय प्रकरण में विहित है, उसे होमार्थ मानना चाहिए? अथवा 'वेदि' आदि के खोदने रूप अपने-अपने कार्यार्थ विहित मानना चाहिए? इसी भाव की अभिव्यक्ति हेतु सूत्रकार ने पूर्व पक्ष के स्थापन हेतु अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६५८ ) द्रव्याणि त्वविशेषेणानर्थक्यात् प्रदीयेरन्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है, द्रव्याणि = स्फ्य आदि यज्ञ के आयुधों को, अविशेषेण = सामान्यतया, प्रदीयेरन् = पूर्णरूप से यज्ञाग्नि में हवन कर देना चाहिए, आनर्थक्यात्= जिससे उनकी वैधता विधान की सार्थकता बनी रहे (अनर्थक न हो)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना यह है कि 'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' से जिन दस यज्ञायुधों का कथन किया गया है, उन स्फ्य आदि यज्ञ साधनों अथवा यज्ञाङ्गों का सम्पूर्ण रूप से हवन कर दिया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता है, तो उन आयुधों का यज्ञाङ्ग होना भी प्रमाणित नहीं होता। अत: यज्ञायुधों का स्व-स्व कार्यार्थ की मान्यता सर्वथा अयुक्त ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६५९ ) स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** स्वेन = अपने, तु = निश्चित रूप से, अर्थेन = उद्देश्य से, सम्बन्ध: = सम्बन्ध रखने वाला, द्रव्याणाम् = यज्ञायुध रूप द्रव्यों (पदार्थों) का, पृथगर्थत्वात् = अलग-अलग प्रयोजन होने से, तस्मात् = इसलिए, यथाश्रुति: = जैसा श्रुति प्रमाण है (वैसा ही प्रयोग), स्युः = होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' वाक्य में जो दश यज्ञायुधों का कथन किया गया है, वह 'स्फ्य' आदि यज्ञ साधनों का यज्ञ साधनत्व रूप से मात्र अनुवाद किया गया है। इसे विधान नहीं माना जा सकता। समझने योग्य यह भी है कि किसी एक कार्य के लिए किया गया विधान कार्यान्तर के लिए विहित नहीं हो सकता। यज्ञीय उपकरण 'स्फ्य' आदि के द्वारा वेदि आदि के खोदने, निशान लगाने आदि उसके अपने कर्मों का अन्यत्र विधान मिलने से अन्य कार्यों के लिए उनका विधान किया जाना सम्भव नहीं। क्योंकि यदि उन यज्ञ साधनों का समग्र हवन कर दिया जाता है, तो फिर उपर्युक्त कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकेगा। अतएव यही मानना युक्त है कि उपर्युक्त यज्ञीय उपकरणों का विधान हवनार्थ न होकर स्व-स्व कार्यार्थ विहित है॥ ८॥

## ( ६६० ) चोद्यन्ते चार्थकर्मसु॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थकर्मसु = हवन आदि यज्ञीय प्रक्रिया के प्रयोजनार्थ, चोद्यन्ते = पुरोडाश आदि हवियों का विधान किया गया है।

**व्याख्या—** यज्ञीय प्रक्रिया में उपर्युक्त यज्ञायुधों का हवन किया जाना यदि विहित होता, तो 'आग्नेयोऽष्टाकपाल:' आदि वाक्यों द्वारा पुरोडाश आदि हवि द्रव्यों से हवन किया जाना विहित न होता, उसका विधान ही न किया जाता; परन्तु उक्त वाक्य से पुरोडाश आदि का विधान उपलब्ध होने से यह प्रमाणित हो जाता है कि 'स्फ्य' आदि यज्ञायुधों का विधान हवन के लिए नहीं, प्रत्युत स्व-स्व कार्यार्थ विहित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ९॥

**उपर्युक्त अर्थ में सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र द्वारा लक्षण का उल्लेख किया-**

## ( ६६१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लक्षण के दृष्टिगोचर होने से भी उपर्युक्त अर्थ की प्रामाणिकता है।

**व्याख्या—** यदि दर्श-पूर्णमास आदि याग में यज्ञायुधों-यज्ञ साधनों की आहुति देना विहित होता, तो वहाँ आहुतियों की संख्या का उल्लेख नहीं किया जाता। 'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' इस वाक्य के आधार पर दश यज्ञायुधों की दश आहुति मान्य होने से प्रत्येक यज्ञ में दश आहुतियाँ अतिरिक्त डालनी पड़तीं, जबकि प्रस्तुत दृष्टान्त वाक्य (लिङ्ग) 'चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावास्यायाम्' यह सिद्ध करता है कि पूर्णमास वाले याग में चतुर्दश तथा दर्शयाग में त्रयोदश आहुतियाँ दी जाती हैं। अधिक आहुतियों का कथन नहीं करता। अतएव इससे (लिङ्ग से) यह उपपन्न हो जाता है कि उपर्युक्त यज्ञ साधनों से स्व-स्व कार्य ही सम्पादित किये जाते हैं, उनका हवन नहीं किया जाता, यही सुनिश्चित है॥ १०॥

**'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' वाक्य से ज्योतिष्टोम याग में दान किये जाने वाले पशु में 'एकत्व' आदि की विवक्षा की अभिव्यक्ति हेतु सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

## ( ६६२ ) तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = वहाँ (ज्योतिष्टोम याग में) दान दिये जाने वाले यज्ञ पशुओं में, एकत्वं = सुनी जाने वाली एकत्वता आदि संख्या को, अयज्ञाङ्गम् = याग का अङ्ग इसलिए नहीं माना जा सकता, अर्थस्य = क्योंकि वह दान के प्रयोजनार्थ लाये गये उपर्युक्त पशुओं का, गुणभूतत्वात्= विश्लेषण होने के कारण गौण है।

**व्याख्या—** 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' आदि वाक्य से ज्योतिष्टोम याग में यज्ञ पशु के दान का विधान किया गया है, पूर्वपक्ष की आशङ्का है कि 'पशुमालभेत' वाक्य के पशु पदोत्तरवर्त्ती आलभेत् एकवचन से पायी जाने वाली एकत्व संख्या की अभिव्यक्ति न करके एक से अधिक पशुओं का दान अपेक्षित है? या मात्र एक ही पशु का दान अभिप्रेत है? पूर्वपक्ष का कहना यह है कि उक्त वाक्य के आलभेत (क्रिया पद-दानार्थक) के साथ पशु पदोत्तरवर्त्ती एकवचन के वाच्य एकत्व संख्या का सम्बन्ध न होकर मात्र पशु (कर्मकारक) का सम्बन्ध है, कारण यह कि एकत्व की संख्या पशु का विशेषण होने से गौण है। पशु एक हो या एक से अधिक, उसमें एकत्व संख्या विवक्षित नहीं, प्रत्युत पशु के दान का विधान है॥ १२॥

## ( ६६३ ) एकश्रुतित्वाच्च॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एकश्रुतित्वात् = सुने गये अन्य प्रसंगों से भी एकता के उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** एकत्व की संख्या प्रस्तुत दृष्टान्त वाक्य में पायी जाती है- 'एकां गां दक्षिणां दद्यात्तेभ्य एव' जिन ऋत्विजों से यज्ञ कराया है, उन्हें ही दक्षिणा के रूप में एक गौ (गाय) दे देना चाहिए। इस वाक्य में 'गां' (द्वितीया विभक्ति एकवचनान्त) पद के साथ 'एकां' (एकत्व संख्या वाचक) पद की प्रयुक्तता ही उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता में हेतु है। उक्त वाक्य में प्रयुक्त विशेष पद 'गां' के साथ विशेषण पद 'एकां' का

उपादान किये जाने से प्रत्यक्षत: यह प्रतीत होता है कि विशेष्य पद 'गां' के द्वारा एक गौ रूप अभिप्रेत (वाञ्छित) अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा 'पशुं' पद भी 'गां' पद की समानता वाला होने से वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति करा पाने में समर्थ नहीं हो सकता। अत: जैसे 'गां' पद में एकत्व संख्या विवक्षित नहीं है, ठीक उसी प्रकार 'पशुं' पद में भी विवक्षित होना मान्य नहीं॥ १२॥

## ( ६६४ ) प्रतीयते इति चेत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** प्रतीयते = कहीं-कहीं एक वचनान्त पद के द्वारा एकत्व संख्या की प्रतीति हुआ करती है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** 'भो गामानय' अरे शिष्य 'गौ' को ले आओ, इस प्रकार जगत् प्रचलित वाक्यों में प्रत्यक्षत: व्यभिचार के प्राप्त होने से यह मानना युक्त नहीं, कि एकत्व संख्या की प्रतीति एक वचनान्त पद से नहीं हुआ करती। उक्त वाक्य 'भो गामानय' का गुरु मुख से उच्चारण होते ही शिष्य एक 'गौ' ले आता है, दो अथवा चार 'गौ' नहीं लाता। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि कहीं-कहीं (अम्) प्रत्यय द्वारा भी संख्या की प्राप्ति हो जाया करती है। अत: यही मानना युक्त है कि लोक व्यवहार में प्रत्यय के अंश मात्र से (एकत्व आदि) संख्या का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार का बोध शास्त्र में भी हो जाया करता है। अत: प्रमाणित हुआ कि 'पशुं' पद में प्रयुक्त प्रत्यय 'अम्' का अर्थ अव्यक्त न होकर यज्ञीय अङ्ग के रूप में व्यक्त है॥ १३॥

**आचार्य ने अगले सूत्र में उपर्युक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६६५ ) नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं ऐसा नहीं है, पूर्ववत् = क्योंकि पहला दौड़ता है (पूर्वो धावति) इस प्रकार कहे जाने से जैसे दूसरे, तीसरे, चौथे का अर्थ (बिना कहे) ज्ञात हो जाता है, तत्प्रमाणत्वात् = उसी प्रकार उस प्रमाणपरक वाक्य के सुने जाने से जो एकत्व संख्या का ज्ञान (बोध) होता है, अशब्दम् = वह भी शब्द जन्य न होकर अर्थ जन्य ही होता है।

**व्याख्या—** 'पूर्वो धावति' वाक्य में जिस प्रकार यह ज्ञात हो जाता है कि पहले के पश्चात् दूसरा, तीसरा भी दौड़ेगा अर्थात् संख्या बोधक शब्द के अभाव में जिस प्रकार आर्थिक बोध हुआ, वैसे ही गामानय में भी एक 'गौ' के आनयन का होने वाला बोध भी शाब्दिक न होकर आर्थिक ही है, ऐसा समझना चाहिए। संख्या बोधक पदों की प्रयुक्तता के अभाव में क्रिया में अन्वय की संभावना का भी अभाव रहता है। अत: उपर्युक्त वाक्य के अनुसार यदि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' में अर्थ जन्य रूप में पशु में एकत्व संख्या की प्रतीति स्वीकार की जाये, तो उस दशा में भी वह 'आलभेत' क्रिया में अनन्वित होने से विवक्षित नहीं मानी जा सकती। अत: यह उपपन्न होता है कि उक्त वाक्य से दानार्थ विहित किये गये पशु में एकत्व संख्या अङ्ग रूप से विवक्षित न होने के कारण उपर्युक्त पशु याग में एक ही पशु के दान का विधान या नियम मान्य नहीं हो सकता॥ १४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में प्रस्तुत किए—**

## ( ६६६ ) शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तत् दृश्यते तस्य ज्ञानं हियथाऽन्येषाम्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्व पक्ष के निराकरणार्थ प्रयुक्त है। शब्दवत् = पशु में स्थित एकत्व संख्या शब्द जन्म (शाब्द) ही, उपलभ्यते = दिखाई देती है, हि= कारण यह कि, तदागमे = उसके (पशु के) आगम (पशुम् के अम् प्रत्यय) में, तत् = वह (एकत्व संख्या), दृश्यते = कथन रूप में दृष्टिगोचर होती है तथा, तस्य = उसका, ज्ञानम् = ज्ञान (बोध) भी, अन्येषाम् = दूसरे पशु आदि द्रव्यों के तुल्य होना उचित ही है।

**व्याख्या—** 'पशुम्' पद में जिस प्रकार से पशु पद शब्द जन्य है, उसी प्रकार उससे संयुक्त 'अम्' प्रत्यय भी अर्थवान् होने से उससे बोधित होने वाली एकत्व संख्या भी शब्द जन्य ही है। आशय यह है कि पशुयाग में जिस पशु का दान होना निश्चित है, उसकी संख्या भी एक ही रहनी चाहिए। इस प्रकार एकत्व संख्या का पशु के साथ सम्बन्ध सम्भव है और इस सम्बन्ध के कारण उसकी विवक्षा स्वीकार करना अनुचित नहीं; क्योंकि ऐसे ठोस प्रमाणों की भी उपलब्धता नहीं है, जिनसे अविवक्षा मानी जाये। अत यह प्रमाणित होता है कि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' वाक्य के विधानानुसार दान किये गये पशु में एकत्व संख्या विवक्षित है॥ १५॥

**( ६६७ ) तद्वच्च लिङ्गदर्शनम्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = पूर्व निरूपण के अनुसार ही, लिङ्गदर्शनम् = उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने वाला लक्षण भी मिलता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य में वर्णित गौओं के मध्य दशवें साँड़ का कथन किया जाना उपर्युक्त विवेचन की सिद्धि में लिङ्ग (लक्षण) है। 'कर्णायाम्याः अवलिप्ता रौद्राः, नभो रूपाः पार्जन्याः, तेषामैन्द्राग्नो दशमो भवति' अर्थात् परमात्मा के लिए सुन्दर कानों वाली, केसर के तुल्य रूपवान् एवं सम्पूर्ण प्रजा में एक समान (उनके अपने-अपने कर्मानुसार) सुखों-ऐश्वर्य आदि की वर्षा करने वाले भगवान् के निमित्त आकाश के समान स्वरूप वाली गौओं तथा इन गौओं के बीच दसवें साँड़ का दान करना चाहिए। उपर्युक्त वाक्य में त्रित्व संख्या के विवक्षित होने से ही 'ऐन्द्राग्र' दसवें साँड़ का कथन सम्भव हुआ। अतएव उपर्युक्त वाक्य में जिस प्रकार त्रित्व संख्या प्रत्यय के अर्थ में विवक्षित है वैसे ही 'पशुम्' पद में भी विवक्षित समझना युक्त एवं न्याय सङ्गत है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' से परमात्मा के लिए जो पशु के दान का विधान किया गया है, वह अनेक का न होकर एक पशु के दान के उद्देश्य से है॥ १६॥

**( ६६८ ) तथा च लिङ्गम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तथा = उसी प्रकार जैसे संख्या विवक्षित है, लिङ्गम् = वैसे ही लिङ्ग भी विवक्षित है।

**व्याख्या—** कदाचित् यह आशङ्का की जा सकती है कि ऊपर वर्णित वाक्य (वसन्ते प्रातराग्नेयीं आदि) में संख्या के ही सदृश लिङ्ग भी विवक्षित है, अथवा नहीं। अर्थात् उसमें गौओं का दान विहित है ? या बैलों का ? इस उपर्युक्त आशङ्का का निवारण करते हुए सूत्रकार ने बताया कि जिस प्रकार से शास्त्र में प्रत्यय से प्राप्त अर्थ की संख्या विवक्षित है, वैसे ही गायों के लिए स्त्रीलिङ्ग शब्द प्रयुक्त होने से लिङ्ग को भी विवक्षित समझा जाना चाहिए। अतः गौवों का ही दान समझना युक्त है, बैलों का नहीं॥ १७॥

**अब आगे के दो सूत्रों में सूत्रकार ने यज्ञीय प्रक्रिया के अन्तर्गत चलने वाले 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों को लेकर जिज्ञासा व्यक्त की है—**

**( ६६९ ) आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** आश्रयिषु = स्विष्टकृत् आदि यज्ञीय कर्मों में, भावः = भविष्य में होने वाले सुख को उत्पन्न करने वाली, अर्थः = अदृष्टप्रयोजनता की, प्रतीयेत=प्रतीति समझनी चाहिए, अविशेषेण = क्योंकि वह भी विशिष्ट न होकर यज्ञ के तुल्य ही कर्म है, यही मानना युक्त है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'आश्रयि' पद का तात्पर्य 'स्विष्टकृत्' से है, जो प्रधान आहुतियों के प्रक्षेपण के पश्चात् बची हुई शेष हवि से उनके संस्कारार्थ सम्पादित होता है। इसलिए उसको 'आश्रयिणः' भी कहा जाता है। यहाँ यह सन्देह होता है कि उक्त स्विष्टकृत् (आश्रयि) कर्म मात्र बची हुई शेषहवि के संस्कार के लिए ही किया जाता है ? अथवा अदृष्ट (भविष्य में प्राप्त होने वाले) फल के हेतु उसे सम्पादित किया जाता है ?

'शेषात् स्विष्टकृत् समवद्यति' आचार्य ने समाधान करते हुए बताया कि उपर्युक्त स्विष्टकृत् कर्म शेष हवि के संस्कारार्थ तो सम्पन्न किया ही जाता है, किन्तु साथ ही अपने एक अंश से वह अदृष्ट फल का उत्पादक भी हो सकता है। कारण यह कि स्विष्टकृत् कर्म में तीन अंश दृष्टिगत हैं- प्रथम मन्त्रों का उच्चारण रूप पाठ, द्वितीय-यज्ञार्थ तैयार की गई हविद्रव्य का यज्ञाग्नि के साथ सम्बन्ध तथा तृतीय अधिकृत देवता (परमात्मा) के निमित्त हविद्रव्य का अर्पण। इन तीनों में दो अंशों को संस्कारार्थ माने जाने पर भी तीसरा अंश परमात्मा के निमित्त त्याग किया गया हविद्रव्य अदृष्टफल का जनक होता है॥ १८॥

**उपर्युक्त अर्थ में आशङ्का का कथन करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया-**

## ( ६७० ) चोदनायां त्वनारम्भोऽविभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद सन्देह सूचक अर्थ में प्रयुक्त है, चोदनायाम् = शेषहवि से विहित 'स्विष्टकृत्' आदि कर्म, अनारम्भः = आंशिक रूप में भी अदृष्ट फल के जनक, अविभक्तत्वात् = अभिन्न कर्म होने से नहीं माने जा सकते तथा, अन्येन = किसी दूसरे प्रामाणिक वाक्य से, विधीयते = उनके अदृष्टफल के जनक होने का विधान भी, नहि = नहीं पाया जाता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त विवेचन में 'शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति' आदि वाक्यों द्वारा शेष हवि से (आश्रयि) स्विष्टकृत् कर्म की कर्त्तव्यता के विधान द्वारा भेद बतलाया गया है, उसकी सिद्धि किन्हीं प्रामाणिक वाक्यों से नहीं होती, जिससे उनमें आंशिक भेद न मानकर अभेद मानना ही उचित प्रतीत होता है। अतएव ठोस प्रमाण के अभाव में उक्त कर्म को दोहरे प्रयोजन का साधक न मानकर संस्कारार्थ मानना ही युक्त है॥ १९॥

**उक्त सन्देह के निवारणार्थ सूत्रकार ने अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६७१ ) स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद सन्देह के निवारणार्थ प्रयुक्त है। द्रव्य = आहवनीय हवि के, चिकीर्षायाम् = संस्कारार्थ होते हुए भी, अर्थे = उपर्युक्त यज्ञीय प्रयोजनार्थ किये जाने वाले स्विष्टकृत् आदि कर्मों में, भावः = दोनों प्रकार के, अदृष्ट फल के जनक होने, च = तथा, गुणभूतता = संस्कारार्थ होने का भाव होना, स्यात् = हो सकता है, हि = क्योंकि-निश्चय ही, गुणीभावः = संस्कारार्थ होना और अदृष्टफल का जनक होना, आश्रयात् = प्रयोजन के ही अन्तर्गत है।

**व्याख्या—** सर्वाङ्गरूप से कर्म के एक होने पर भी अङ्ग रूप से उनमें भेद स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी का सर्वाङ्गपूर्ण कर्म एक मात्र पढ़ना है, किन्तु उस अध्ययन रूप एक कर्म में भेद रूप से अनेक कर्म खेलना, कूदना, व्यायाम स्नानादि देखे जाते हैं। उसी प्रकार स्विष्टकृत् आदि में भी मन्त्र पाठ, उपयुक्त द्रव्य का अग्नि के साथ संयोग आदि के होने से आंशिक भेद की प्रतीति होती है और यह सर्वविदित है कि जो हवि द्रव्य यज्ञ के देवता परमात्मा के निमित्त आहुत (त्याग) किया जाता है, वह संस्कारार्थ तो कदापि नहीं हो सकता। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि स्विष्टकृत् आदि कर्म संस्कारार्थ होने के साथ-साथ अदृष्ट प्रयोजन के जनक भी हैं॥ २०॥

**अगले क्रम में सूत्रकार द्रव्य एवं कर्म से सम्बन्ध रखने वाले फल एवं उनके अंश में समानता एवं प्रतिकूलता का प्रतिज्ञापूर्वक कथन करते हैं—**

## ( ६७२ ) अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** अतः = अगले क्रम में अब, द्रव्यकर्मणाम् = द्रव्य तथा कर्म दोनों की, अर्थे = फलार्थता रूप

प्रयोजन के अंश में, समवैषम्यम् = समानता एवं (असमानता) विषमता का निरूपण करते हैं।

**व्याख्या—** फल अथवा प्रयोजन अंश में कौन-कौन से द्रव्य सम (समानतायुक्त) एवं कौन से विषम (असमान) हैं। इसी प्रकार से कर्म की भी समानता एवं विषमता का अब अगले क्रम में निरूपण किया जा रहा है। प्रतिज्ञापूर्वक इसी की अभिव्यक्ति की जायेगी कि कौन किसके अनुष्ठान का निमित्त है॥ २१॥

**अगले क्रम में 'आमिक्षा' ( फटा हुआ दूध ) द्रव्य को दधि प्रक्षेपण रूप कर्म का अनुष्ठापक ( प्रयोजक ) बतलाने के भाव से आचार्य ने अगले सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## ( ६७३ ) एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** सर्वम् = आमिक्षा एवं वाजिन सभी, समम् = समान रूप से (सामान्यतः) दधि प्रक्षेपण रूप कर्म के प्रयोजक-अनुष्ठापक हैं, कारण यह कि, एकनिष्पत्तेः = आमिक्षा तथा वाजिन दोनों की निष्पत्ति एक ही बार के दधि प्रक्षेपण से, स्यात् = हो जाया करती है।

**व्याख्या—** 'तप्ते पयसि दध्यानेयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' तपते हुए गरम दूध में दधि के प्रक्षेपण से जो आमिक्षा (दूध के फट जाने से) उत्पन्न होता है, वह विश्वेदेवों के लिए अधिकृत रहता है तथा जो (पानी शेष रह जाता है) वाजिन बचता है, वह वाजियों के निमित्त माना जाता है। उपर्युक्त वाक्य 'चातुर्मास' यज्ञीय प्रकरण के 'वैश्वदेव' प्रकरण में पठित है। इसके माध्यम से पूर्वपक्षी की मान्यता यह है कि 'आमिक्षा' तथा 'वाजिन' दोनों की सिद्धि दोनों की निष्पत्ति 'दधि प्रक्षेपण' कर्म से ही होती है। दधि का प्रक्षेपण आमिक्षा एवं वाजिन दोनों की निष्पत्ति हेतु समान रूप से अनिवार्य है। अतएव आमिक्षा एवं वाजिन दोनों ही उपर्युक्त दधि प्रक्षेपण कर्म के प्रयोजक हैं॥ २२॥

**उपर्युक्त पूर्व पक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

## ( ६७४ ) संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** संसर्गरसनिष्पत्तेः = तप्त दुग्ध के साथ दधि का संसर्ग होने से प्रथम निष्पत्ति, वा = तो, प्रधानम् = मुख्यरूप से, आमिक्षा = (वाजिन की नहीं) आमिक्षा की ही, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** दधि प्रक्षेप के कारण निष्पन्न होने वाले द्रव्य आमिक्षा तथा वाजिन में आमिक्षा प्रधान तथा वाजिन गौण है। आमिक्षा की प्रधानता का कारण उसका प्रथम निष्पन्न होना है, तपते हुए दूध में दधि प्रक्षेपण से अमिक्षा निष्पन्न होता है। गौण द्रव्य वाजिन के उत्पादन हेतु पृथक् रूप से कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। अतः शास्त्रीय नियम के अनुसार प्रधान तथा गौण के मध्य प्रधान ही प्रयोजक माना जाता है, गौण नहीं। इसलिए प्रधान भूत द्रव्य आमिक्षा एवं गुणभूत पदार्थ वाजिन के मध्य आमिक्षा को ही दधि प्रक्षेप का प्रयोजक मानना न्यायसङ्गत है॥ २३॥

## ( ६७५ ) मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** मुख्यशब्द = प्रधान शब्द के परामर्शदाता सर्वनाम पद से विश्वेदेवों के निमित्त आमिक्षा द्रव्य का, अभिसंस्तवात् =संस्तुतिपूर्वक कथन किये जाने से, च = भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का आशय यह है कि आमिक्षा द्रव्य यदि प्रधान न होकर गौण होता, तो सर्वनाम पद के द्वारा परामर्शपूर्वक उसकी संस्तुतिपरक अभिव्यक्ति विश्वेदेवों के लिए कदापि न की जाती; परन्तु ऐसा कथन यह सिद्ध करता है कि आमिक्षा प्रधान तथा वाजिन अप्रधान है (गुणभूत है) और गौण (अप्रधान) की अपेक्षा प्रधान द्रव्य आमिक्षा को ही तप्त दुग्ध में दधि प्रक्षेपण का निमित्त (प्रयोजक) मानना युक्त है॥ २४॥

**अगले क्रम में सूत्रकार 'पदकर्म' को 'गौ के नयन' का अनुष्ठापक न होना ( अप्रयोजक ) बतलाते हैं—**

## ( ६७६ ) पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** परार्थत्वात् = गौण होने के कारण, पदकर्म = पदकर्म, नयनस्य = गौनयन कर्म का, अप्रयोजकम् = प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' लाल तथा पीत नेत्रों वाली एक वर्ष की अवस्था वाली गौ के द्वारा सोम खरीदता है। यह वाक्य 'ज्योतिष्टोम' याग के अन्तर्गत 'सोम' खरीदने के प्रकरण में पठित है। यज्ञ मण्डप की भूमि से गौ के ले जाये जाने के क्रम में पठित वाक्य है- 'षट् पदान्यनुनिष्क्रामति सप्तमं पदमध्वर्युरञ्जलिना गृह्णाति' [छः कदम उसके पीछे अध्वर्यु जाये तथा सप्तम पद की रज हाथ की अञ्जलि से उठाकर सोम से लदे शकटों के अक्ष में स्थापित करे।] जो सप्तम पद की रज अध्वर्यु द्वारा हाथ की अञ्जलि में उठाकर उसे सोमरस वाले शकटों के अक्ष में डाले जाने वाले कर्म (पदकर्म) का विधान किया गया है, वह गौ के नयन का अनुष्ठापक है, अथवा नहीं? इस आशङ्का के समाधान में सूत्रकार का कहना यह है कि गौ का ले जाना (गौ नयन) 'पदकर्म' के उद्देश्य से न होकर, सोम क्रय के प्रयोजनार्थ होता है। 'गवा सोमं क्रीणाति' गौ को मूल्य रूप में देकर सोम खरीदता है, इस विधि वाक्य से विहित गौ का विधान सोम क्रय के प्रयोजन को प्रामाणिक रूप से प्रत्यक्षत: प्रकट करता है। अत: 'गौण मुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्यय:' के नियम से कर्म सम्बन्ध प्रधान कर्म के साथ ही मान्य है, गौण के साथ नहीं। इसलिए 'पदकर्म' को गौनयन का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, प्रत्युत सोम क्रय को ही गौनयन का प्रयोजक मानना शास्त्रसम्मत है॥ २५॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने तुषोपवाय के कपालों के सम्पादन का अनुष्ठापक न होना बतलाने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६७७ ) अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थाभिधानकर्म = तुषोपवाय स्वरूप कर्म कपालों के सम्पादन का, अनुष्ठापक-प्रयोजक (इसलिए नहीं माना जा सकता), हि = क्योंकि, भविष्यता = उसमें होने वाले पुरोडाश के साथ, संयोगस्य = संयुक्त होने वाले कपालों का, तन्निमित्तत्वात् = तुषोपवाय का निमित्त होना बतलाया है एवं, तदर्थ: = पुरोडाश श्रवण के उद्देश्य से ही, विधीयते = कपालों का विधान बतलाया गया है।

**व्याख्या—** 'कपालेषु श्रपयति' कपालों में पुरोडाश पकाता है, दर्श-पूर्णमास के यज्ञीय प्रकरण में उपर्युक्त वाक्यों द्वारा कपालों में पुरोडाश पकाने का विधान किया गया है। उसके अनन्तर यह बतलाया कि पुरोडाश का श्रपण जिस कपाल में किया जाये, उसमें ही तुषों (भूसी) को रखा जाये। यहाँ यह सुनिश्चित करना है कि तुषों (भूसी) के स्थापन को कपालों के सम्पादन का प्रयोजक-अनुष्ठापक मानना युक्त है? या पुरोडाश पकाने रूप कर्म को प्रयोजक माना जाये? सूत्रकार ने समाधान करते हुए कहा कि उपर्युक्त वाक्य 'कपालेषु श्रपयति' से जिस प्रकार पुरोडाश के पकाने की प्रक्रिया की सिद्धि केवल कपाल में ही दृष्टिगत है, उसी प्रकार से उसी प्रकरण में पठित 'पुरोडाश कपालेन तुषानुपवयति' वाक्य द्वारा तुषों के पकाने की प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत कपाल में ही तुषों के उपवाय (रखने) की सिद्धि होती है, जो उसके प्रतिकूल है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत है कि कपालों के सम्पादन का अनुष्ठापक तुषोपवाय नहीं, प्रत्युत 'पुरोडाश श्रपण' है। पुरोडाश की पाक प्रक्रिया पूर्ण होने पर खाली पड़े कपालों में जो तुषों का उपवाय विहित किया गया है-(अन्य कार्य में उपयोग) उसको 'प्रतिपत्ति कर्म' कहा जाता है। प्रतिपत्ति कर्म गुणभूत है तथा पुरोडाश श्रपण प्रधान कर्म है। अतएव यही सुनिश्चित हुआ कि पुरोडाश श्रपण ही कपालों के सम्पादन का प्रयोजक है॥ २६॥

**लोहितनिरसन एवं शकृत्सम्प्रवेध 'अग्नीषोमीय' यज्ञ पशु के नयन के अनुष्ठापक-प्रयोजक नहीं हैं, इसी भाव की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति सूत्रकार ने अगले सूत्र में की है—**

## ( ६७८ ) पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** पशौ = अग्नीषोमीय पशु के नयन में, लोहितशकृतोः = लोहित निरसन एवं शकृत्सम्प्रवेध को, अकर्मत्वम् = प्रयोजक-अनुष्ठापक मानना इसलिए युक्त नहीं, अनालम्भात् = क्योंकि उनके प्रयोजनार्थ उस यज्ञीय पशु का नयन नहीं हुआ करता।

**व्याख्या—** यज्ञशाला में लाये जाने वाले यज्ञ पशु का अनुष्ठापक प्रयोजक लोहितनिरसन (लाल घास को टुकड़े-टुकड़े करना) और शकृत्सम्प्रवेध (मल निवारण किया जाना) है ? अथवा दान उसका प्रयोजक है ? इसी आशङ्का के निवारण एवं निर्णायक अर्थ के लिए सूत्रकार ने बताया कि लोहित निरसन तथा शकृत् सम्प्रवेध के प्रयोजन पूर्ति हेतु यज्ञ भूमि में यज्ञ पशु का लाया जाना (नयन) नहीं होता, प्रत्युत दान के उद्देश्य से उस (पशु) का नयन होता है। अतः दानरूप कर्म ही पशु के नयन का प्रयोजक है, लोहित निरसन एवं शकृत्सम्प्रवेध नहीं। इसलिए यही सुनिश्चित हुआ कि दान कर्म ही यज्ञ पशु के नयन का प्रयोजक है॥ २७॥

**स्विष्टकृत् को पुरोडाश का अप्रयोजक बतलाने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६७९ ) एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** एकदेशद्रव्यः = मुख्य यज्ञीय कर्म के शेष पुरोडाश से सम्पादित होने वाले 'स्विष्टकृत्' को, च = भी, पुरोडाश का अनुष्ठापक-प्रयोजक नहीं माना जा सकता, उत्पत्तौ = उत्पत्ति वाक्यों में, विद्यमानसंयोगात् = सम्बन्ध प्राप्त होने के कारण।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास यज्ञ के अन्तर्गत पठित वाक्य-'उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति' में पुरोडाश के बचे हुए शेष भाग से सम्पादित 'स्विष्टकृत्' कर्म पुरोडाश का प्रयोजक अनुष्ठापक है या नहीं ? अर्थात् पुरोडाश का उपादान (बनाया जाना) आग्नेय याग के प्रयोजनार्थ है ? अथवा स्विष्टकृत् कर्म के निमित्त है ? इसके समाधान में आचार्य ने कहा कि 'शेषात्स्विष्टकृते समवद्यति' वाक्य द्वारा विहित शेष बचे हुए हवि से स्विष्टकृत् कर्म के सम्पादन का विधान का मिलना तथा 'उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति' वाक्य द्वारा उत्तरार्द्ध से अवदान का विधान प्राप्त होना यह स्पष्ट करता है कि पहले मुख्य कर्म ही सम्पादित होता है, तत्पश्चात् जो पुरोडाश शेष रहता है, वह स्विष्टकृत् कर्म हेतु प्रयुक्त होता है। 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' वाक्य से विहित 'आग्नेय' मुख्य कर्म भी प्रथम सम्पादित होने से पुरोडाश का प्रयोजक- अनुष्ठापक है तथा उसका पारस्परिक सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष होने से सबल है। अतएव पुरोडाश सम्पादन का अनुष्ठापक प्रयोजक स्विष्टकृत् नहीं, प्रत्युत आग्नेय याग कर्म है, यही समझना चाहिए॥ २८॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देह की अभिव्यक्ति करने के भाव से सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६८० ) निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = उस पुरोडाश का, निर्देशात् = आग्नेय याग के प्रयोजनार्थ विहित होने से, अर्थात् = अर्थापत्ति (प्रमाण) के द्वारा, अन्यत् = स्विष्टकृत् कर्म के सम्पादनार्थ किसी अन्य (उससे भिन्न) पुरोडाश की परिकल्पना की जाती है, इति चेत् = यदि ऐसा समझा जाये, तो ?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस पुरोडाश का विनियोग प्रधान कर्म में एक बार किया जा चुका है, पुनः उसका विनियोग किसी अन्य कर्म में नहीं हुआ करता तथा 'उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति' वाक्य से प्रधान कर्म से पृथक् स्विष्टकृत् कर्म का किया जाना प्रत्यक्षतः विहित है। अर्थापत्ति से कल्पित पुरोडाश का

संयोग आग्नेय याग से न होने के कारण आग्नेय याग को स्विष्टकृत् का प्रयोजक मानना अयुक्त व असम्भव है। एक मात्र स्विष्टकृत् कर्म के अतिरिक्त किसी अन्य कर्म के विद्यमान न होने से स्विष्टकृत् कर्म को ही उसका प्रयोजक माना जाना चाहिए॥ २९॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य सूत्रकार ने उपर्युक्त सन्देह का निवारण किया—**

## ( ६८१ ) न शेषसन्निधानात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** शेषसन्निधानात् = शेष पुरोडाश के साथ स्विष्टकृत् कर्म का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होने के कारण, न = उपर्युक्त कथन सर्वथा असङ्गत है।

**व्याख्या—** 'शेषात्स्विष्टकृते समवद्यति' शेष हवि से स्विष्टकृत् कर्म को सम्पादित करता है। उक्त वाक्य से यह स्पष्ट है कि स्विष्टकृत् प्रधान कर्म का अङ्गभूत कर्म है। अर्थापत्ति से कल्पित किये गये होतव्य द्रव्य पुरोडाश का प्रयोजक तभी माना जा सकता था, जब वह अङ्गभूत न होकर अपने आप में एक स्वतन्त्र कर्म होता, किन्तु अङ्ग भूत होने से तथा पुरोडाश रूप शेष होतव्य द्रव्य से सम्बद्ध होने के कारण उसे पुरोडाश का प्रयोजक-अनुष्ठापक नहीं मान सकते, प्रत्युत 'आग्नेय' कर्म को ही प्रयोजक मानना न्यायोचित है॥ ३०॥

## ( ६८२ ) कर्म कार्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** कर्मकार्य्यात् = प्रधान कर्म के सम्यक् रूप से उत्थान के लिए (समृद्धि हेतु) होने से भी उपर्युक्त अर्थ की प्रामाणिकता है।

**व्याख्या—** जितने भी प्रधान कर्म सम्पादित होते हैं, उनके समापन में उन प्रधान कर्मों की समृद्धि या सम्यक् पूर्णता हेतु 'स्विष्टकृत्' कर्म किये जाने का विधान है। अतएव जिस प्रमुख कर्म की समृद्धि हेतु जिस अङ्गभूत कर्म का सम्पादन किया जाता है, उसी प्रधान कर्म के होतव्य द्रव्य (पुरोडाश) के शेष पुरोडाश से अङ्गभूत कर्म का किया जाना युक्तियुक्त माना जाता है। अत: इस हेतु से भी उक्त अर्थ की प्रामाणिकता है॥ ३१॥

## ( ६८३ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के दृष्टिगोचर होने से, च = भी उपर्युक्त कथन सिद्ध है।

**व्याख्या—** प्रसङ्ग में गतिमान् स्विष्टकृत् कर्म गुणभूत कर्म है, प्रधान कर्म नहीं। इस कथन की प्रामाणिकता में यह वाक्य लिङ्ग है-'तद्यत्सर्वेभ्यो हविर्भ्यः स्विष्टकृते समवद्यति' समस्त प्रकार की हवियों से स्विष्टकृत् कर्म में सम्यक् रूप से अवदान करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त स्विष्टकृत् कर्म प्रधान कर्म का अङ्ग है और इसे पुरोडाश के सम्पादन का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, जैसा कि ऊपर के विवेचन में बतलाया गया है॥ ३२॥

**अगले सूत्र में आचार्य सूत्रकार ने 'अभिघारण' को शेष धारण और उसके निमित्त पात्र भिन्नता के सम्पादन को प्रयोजक सिद्ध न होने की अभिव्यक्ति करने के भाव से प्रस्तुत सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

## ( ६८४ ) अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** अनुयाजवत् = जिस प्रकार अनुयाज के साधन पृषदाज्य के स्थापन हेतु भिन्न पात्र के सम्पादन की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है, अभिघारणे = उसी प्रकार प्रजापति के निमित्त प्रदत्त हवियों के अभिघारण हेतु, पात्र भेदः=जुहू पात्र से पृथक्, विप्रकर्षात् =जुहू पात्र के क्रतु हवियों से दूर विद्यमान होने के कारण, स्यात्=होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'आग्नेयं पशुमालभते' एवं 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशुमालभते' वाजपेय यज्ञों के प्रकरण में उपर्युक्त वाक्यों द्वारा विहित प्रथम प्रकाश रूपी (आग्नेय) ईश्वर के निमित्त दान किये जाने वाले 'क्रतु पशु' एवं प्रजापति परमेश्वर के निमित्त सप्तदश की संख्या में दान किये जाने वाले 'प्राजापत्य पशु' दो प्रकार के पशुओं

के दान का विवेचन मिलता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार यज्ञीय पशुओं (क्रतु पशुओं) का दान प्रयाज याग में (जो प्रातः सवन में सम्पन्न होता है।) किया जाता है, जबकि प्राजापत्य पशुओं का दान 'ब्रह्मसामन्यालभते' वाक्य के अनुसार मध्यन्दिन सवन में ब्रह्मसाम के अवसर पर विहित है। 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति'। वाक्यानुसार अभिघारण कर्म का तात्पर्य है प्रयाज से शेष बचे घृत को प्राजापत्य हवि में मिला देना। यहाँ सन्देह होता है कि माध्यन्दिन में ब्रह्मसाम के समय सम्पादित होने वाले 'प्राजापत्य पशु याग' में प्रयुक्त होने वाले 'प्रयाज' याग के शेष बचे घृत को सुरक्षित रखने हेतु किसी दूसरे पात्र की व्यवस्था की जानी चाहिए या नहीं? आशय यह है कि जुहू पात्र की प्रवृत्ति प्रयाज में बनी रहने से माध्यन्दिन में होने वाले प्राजापत्य पशु याग के हवि के अवघारणार्थ किसी अन्य पात्र को घृत रखने के लिए सम्पादित करना ही पड़ेगा। अतएव अवघारण कर्म को (आज्य हवि) घृत के रखने तथा अन्य पात्र को सम्पादित किये जाने का अनुष्ठापक माना जाना उचित है॥ ३३॥

**इस उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले चार सूत्रों में किया—**

### ( ६८५ ) न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त यह पद सन्देह के निवारणार्थ प्रयुक्त है। अपात्रत्वात् = प्रयाज के शेष घृत के स्थापन हेतु किसी पृथक् पात्र के विहित न होने से, न = उक्त पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं, तु = यह तो अनौचित्यपूर्ण ही है, अपात्रत्वम् =कारण यह कि अन्य पात्र के प्रयाज का शेषांश होने से शेष घृत के स्थापनार्थ विधान किये जाने का कोई औचित्य भी नहीं है, ऐकदेशत्वात् = प्रयाजशेष के एकदेश होने से जानना चाहिए।

**व्याख्या—** 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति' वाक्य का आशय है कि प्रयाज से बचे हुए उस होतव्य द्रव्य आज्य (घृत) को आदर देते हुए हवि में मिला दिया जाये, ताकि उसका सदुपयोग हो। संस्कार कर्म होने से अनुयाज के लिए पृषदाज्य का रखा जाना अनिवार्य है, किन्तु वह अभिघारण संस्कार कर्म न होकर प्रतिपत्ति कर्म है और उसके सम्पादन के लिए उस समय विद्यमान कोई भी हविद्रव्य ही उचित है। अतः अभिघारण कर्म को घृत स्थापन एवं पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक-अनुष्ठापक मानना सर्वथा अनुचित है॥ ३४॥

### ( ६८६ ) हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** सह = एक ही साथ, प्रयोगस्य = क्रतु पशु एवं प्राजापत्य पशु याग अनुष्ठित किया जाना, हेतुत्वात् = पुण्य का हेतु माने जाने से, च = भी, उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन की सिद्धि में प्रस्तुत अर्थवाद (फल का कथन करने वाला) वाक्य हेतु है- 'तीर्थं वै प्रातः सवनं यत्प्रातः सवने सह पशव आलभ्यन्ते तीर्थे एवैतानालभते'- प्रातः सवन निश्चय ही तीर्थ के समान अतिशय पवित्र है, प्रातः सवन में जो एक साथ (क्रतु एवं प्राजापत्य) पशुओं का दान किया जाता है, उससे पुण्यरूपी फल की प्राप्ति होती है। अभिघारण कर्म के संस्कार कर्म होने की स्थिति में प्रातःसवन में क्रतु पशुओं तथा प्राजापत्य पशुओं के साथ-साथ दान किये जाने का स्तवनपरक कथन उक्त अर्थवाद वाक्य से न किया जाता। क्योंकि संस्कार कर्म में दोनों प्रकार के पशुओं का संस्कार एक साथ न तो किया ही जा सकता है और न ही प्रामाणिकता ही है, जबकि प्रतिपत्ति कर्म में इस प्रकार का अवरोधपरक बन्धन नहीं रहता। अतः उपर्युक्त विवेचन में कथित अर्थ पूर्णतः प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त है॥ ३५॥

### ( ६८७ ) अभावदर्शनाच्च॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अभावदर्शनात् = ब्रह्मसाम के समय माध्यन्दिन में सम्पादित होने वाले प्राजापत्य पशु के होतव्य द्रव्य के अभिघारण की उपलब्धता न होने से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन की सिद्धि प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य से भी होती है- 'ब्रह्म वै ब्रह्मसाम यद् ब्रह्म साम्न्यालभते नासव्यास्तेनाभिघृता:' जो ब्रह्मसाम माध्यन्दिन का समय दान किया जाता है, वह साम न होकर साक्षात् ब्रह्म है। अतएव ब्रह्मसाम के समय जिन (प्राजापत्य) पशुओं का दान कर्म सम्पन्न होता है, उस (प्राजापत्य पशु) से सम्बन्धित होतव्य द्रव्य का अभिघारण पहले से ही हो चुका होता है। उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य प्राजापत्य पशु हवि के अभिघारण का अनौचित्य-निरर्थकता बतलाता है, जिससे भी यही सुनिश्चित होता है कि अभिघारण कर्म शेष घृत के धारण एवं उसके निमित्त पात्रान्तर के सम्पादन का अनुष्ठापक-प्रयोजक नहीं हो सकता॥ ३६॥

## ( ६८८ ) सति सव्यवचनम्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** सव्यवचनम् = प्राजापत्य पशु हवि में घृतविहीनता (रुक्षता) को प्रतिपादित करने वाला वाक्य (कथन), सति = अभिघारण के अभाव की स्थिति में ही सिद्ध हो सकता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त सव्या पद का तात्पर्य रुक्ष अथवा घृतरहित हवि से है। 'सव्या वा एतर्हि' आदि वाक्यों में उक्त प्राजापत्य पशु से सम्बन्धित हवि को रुक्ष अथवा घृत विहीन बतलाया गया है और यह कथन तभी उपपन्न हो सकता है, जब उस हवि का अभिघारण प्रात: सवन में होने वाले प्रयाज के शेष घृत से न हुआ हो; अत: इस युक्ति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥ ३७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त अर्थ में आशङ्का की अभिव्यक्ति की—**

## ( ६८९ ) न तस्येति चेत्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** इति चेत् = यदि यह कहा जाये कि, तस्य = उक्त सव्य वाक्य को अभिघारण के अभाव का सूचक, न = नहीं माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** माध्यन्दिन में 'प्राजापत्य पशु' से सम्बन्धित हवियों के रुक्ष होने का जो कथन सव्य वाक्य से किया गया है, वह अभिघारण के अभाव का सूचक न होकर मात्र अभिघारण कर्म की कर्त्तव्यता को बतलाता है। उक्त हवि रुक्ष (घृत विहीन) होती है, अतएव उनका अभिघारण किया जाना अपेक्षित है, जो प्रयाज के शेष घृत के धारण एवं तदर्थ पात्रान्तर के सम्पादन में ही सम्भव है। अत: अभिघारण को प्रयाज के शेष घृत के धारण एवं उसके लिए पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक मानना ही युक्त प्रतीत होता है॥ ३८॥

**अब सूत्रकार उक्त सन्देह का निवारण करते हैं—**

## ( ६९० ) स्यात्तस्य मुख्यत्वात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = उपर्युक्त वाक्य का सम्बन्ध, मुख्यत्वात् = प्रधान कर्म होने की मान्यता करने वाला हो सकने से, स्यात् = उचित ही है।

**व्याख्या—** 'सति सव्यवचनम्' एवं 'सव्यास्तेनाभिघृता:' में प्रयुक्त 'सव्य' पद की सिद्धि जिस प्रकार से अभिघारण के अभाव वाले कथन के पक्ष में होती है, उस प्रकार अभिघारण का बोधक मानने में नहीं; क्योंकि इसमें होतव्य द्रव्य को जिस उद्देश्य से 'सव्य' बतलाया गया है, उसके लिए रूखापन दूर करने के लिए अभिघारण कर्म द्वारा उसे संस्कारित किया जाना चाहिए, यह उपपन्न करने के लिए अर्थापत्ति का आश्रय लेना पड़ता है, जबकि अभिघारण के अभाव वाले कथन में 'सव्य' से ही अभिघारण का न होना सिद्ध होने के कारण वैसी दोषपूर्ण स्थिति नहीं है। इसलिए अभिघारण के न किये जाने से उसे उक्त शेष घृत के धारण एवं तदर्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक अनुष्ठापक माने जाने का कोई औचित्य ही नहीं है॥ ३९॥

**अगले क्रम में सूत्रकार 'समानयन' कर्म को 'औपभृत' आज्य के ग्रहण का अनुष्ठापक-प्रयोजक बतलाते हैं—**

## ( ६९१ ) समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** समानयनम् = पिघले हुए घृत का उपभृत् नामक स्रुवा से जुहू संज्ञक स्रुवा में लाया जाना, मुख्यम् = औपभृत आज्य के ग्रहण का अनुष्ठापक-प्रयोजक, स्यात् = हुआ करता है, तु = तो, लिङ्गदर्शनात् = इसकी सिद्धि लिङ्ग (प्रमाण) के प्रत्यक्ष होने से है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास में पठित वाक्य है-'अतिहायेडोबर्हिः प्रति समानयति जुह्वामौपभृतम्' अर्थात् पंच प्रयाजों में से 'इडः' संज्ञक तृतीय प्रयाज के अतिरिक्त 'बर्हि' संज्ञक चतुर्थ प्रयाज के निमित्त 'उपभृत्' संज्ञक यज्ञीय पात्र स्रुवा में गृहीत घृत का समानयन 'जुहू' पात्र में करता है। उक्त कर्म को 'औपभृत' (उपभृत् में विद्यमान आज्य रूप घृत) के ग्रहण का अनुष्ठापक-प्रयोजक माना जाये या नहीं? इस जिज्ञासा के समाधान में सूत्रकार ने कहा-यज्ञीय पात्र 'जुहू' में संगृहीत किया जाने वाला आज्य प्रयाज यागों के निमित्त है- '**यज्जुह्वां** गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्'; किन्तु एक अन्य वाक्य है- 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्।' इस वाक्य से यह उपपन्न हुआ कि मात्र 'जुहू' पात्र में विद्यमान जौहव आज्य प्रयाजों के लिए जिस तरह से उपयुक्त है, वैसे ही औपभृत (उपभृत् में स्थित) आज्य भी उतना ही प्रयाजोपयोगी है। यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि जो जिसके लिए विहित है, उसका अनुष्ठापक-प्रयोजक भी वही माना जाता है, अतः अनुयाज के ही समान 'समानयन' कर्म भी उपभृत् में विद्यमान (औपभृत) आज्य के सम्पादन का अनुष्ठापक-प्रयोजक है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४०॥

**अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार ने उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि में युक्ति प्रदान की—**

## ( ६९२ ) वचने हि हेत्वसामर्थ्यं॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—**वचने = उपर्युक्त वाक्य 'अतिहायेडो बर्हिःप्रति' आदि में वर्णित 'समानयन' कर्म को उपभृत् संज्ञक स्रुवा में रखे आज्य के सम्पादन का प्रयोजक न मानने की स्थिति में, हि = निश्चय ही, हेत्वसामर्थ्यम् = जुहू पात्र में विद्यमान-जौहव आज्य से अनुयाज के अभाव रूप हेतु की अभिव्यक्ति सर्वथा अर्थहीन हो जाती है।

**व्याख्या—** 'अतिहायेडो बर्हिःप्रति समानयति जुह्वामौपभृतम्' वाक्य में जो 'समानयन' कर्म को चतुर्थ एवं पञ्चम प्रयाज का उत्पन्न कर्त्ता सम्पादक बतलाया है, उसकी उपपन्नता तभी हो सकती है, जब 'समानयन' को उपभृत् संज्ञक स्रुवा पात्र में रखे आज्य का प्रयोजक स्वीकार किया जाये। उपभृत् पात्र में विद्यमान आज्य का अर्धभाग 'जुहू' में ग्रहण कर लेने और अर्ध-भाग अनुयाजों के सम्पादन हेतु रखे रहने की स्थिति में कोई लाभ न मिलने से यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण घृत (जो उपभृत् में विद्यमान रहता है) ग्रहण कर लेना ही उचित है? इस सन्देह की निवृत्ति हेतु ही 'नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति' वाक्य द्वारा यह बतलाया कि जुहू पात्र में समानयन किया गया आज्य अनुयाज के लिए उपयोगी नहीं। यह हेतु उसी स्थिति में अर्थवान् रह सकता है, जब उपभृत् संज्ञक यज्ञ पात्र में स्थित आज्य का समानयन जुहू पात्र में स्वीकार किया जाये। इसलिए उक्त कथन की सिद्धि में आशङ्का का अवकाश नहीं है, 'समानयन' कर्म भी निश्चय ही उस औपभृत आज्य के सम्पादन का प्रयोजक है॥ ४१॥

**अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त दोनों प्रकार 'जुहू' तथा 'उपभृत्' संज्ञक स्रुवा पात्रों में ग्रहण किये गये घृत (आज्य) की विभक्तता बतलाने के भाव से पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ६९३ ) तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उस (जुहू संज्ञक स्रुवों एवं उपभृत् संज्ञक स्रुवों में), उत्पत्तिः = जो आज्य रूप घृत का ग्रहण किया जाना बतलाया है, उसका विनियोग, अविभक्ता = विभागरहित, स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष की मान्यता यह है कि जिन वाक्यों द्वारा 'जौहव' तथा 'औपभृत' आज्य के विनियोग का

कथन किया गया है, वह नहीं बतलाया गया है और ऐसा कोई प्रमाण अथवा लिङ्ग भी नहीं उपलब्ध है, जो उक्त आज्य के विभाजन की पुष्टि करे कि 'जौहव' का विनियोग प्रयाज तथा 'औपभृत' का विनियोग प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए होना चाहिए। अतएव 'जौहव' एवं 'औपभृत' दोनों आज्यों का विनियोग विभाग रहित माना जाना ही उचित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( ६९४ ) तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उक्त प्रसंग में, जौहवं =जुहू पात्र में स्थित जौहव आज्य, अनुयाजप्रतिषेधार्थम् = अनुयाज में उसके विनियोग का प्रतिषेध प्राप्त होने से वह मात्र प्रयाजों के लिए ही विनियुक्त किया जाता है।

**व्याख्या—** 'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्' जो आज्य जुहू संज्ञक स्रुवा में ग्रहण किया जाता है, उसका विनियोग प्रयाजों के लिए होता है। 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' जो आज्य उपभृत् संज्ञक स्रुवा में ग्रहण किया जाता है, उसका विनियोग प्रयाज एवं अनुयाज दोनों प्रकार के याजों में किया जाता है। 'यज्जुह्वाम्' पद से मात्र प्रयाज के लिए ही उसके विनियोग का कथन ही उसका प्रमाण है। इससे यह प्रमाणित होता है कि दोनों प्रकार के आज्यों का विनियोग अलग-अलग न होकर भी विभाग युक्त ही है, ऐसा समझना उपयुक्त है॥ ४३॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देहाभिव्यक्ति के भाव से सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ६९५ ) औपभृतं तथेति चेत्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** तथा = जिस प्रकार 'जौहव' घृत का विनियोग मात्र प्रयाज में ही होता है, औपभृतम् = उसी प्रकार से औपभृत आज्य का विनियोग भी मात्र अनुयाज में ही होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** यहाँ सन्देह है कि 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वाक्य द्वारा 'औपभृत' आज्य का विनियोग मात्र अनुयाज में ही किया जाना चाहिए, प्रयाज एवं अनुयाज दोनों में नहीं। कारण यह कि प्रयाज के विनियोगार्थ तो 'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्' वाक्य से 'जौहव' आज्य विहित ही है। अतएव, जौहव आज्य के तुल्य औपभृत का विनियोग भी मात्र अनुयाज में ही किया जाना चाहिए॥ ४४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त सन्देह का निराकरण किया—**

## ( ६९६ ) स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—**जुहूप्रतिषेधात् = 'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्' वाक्य में प्रयाजों में विनियोग तथा अनुयाजों का प्रतिषेध किये जाने से, नित्यानुवादः = 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वाक्य के स्पष्ट अनुवाद से है,स्यात् = 'औपभृत' आज्य का विनियोग दोनों (प्रयाज एवं अनुयाज) में ही किया जाना युक्त है,

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वाक्य यह विधान स्पष्ट रूप से करता है कि 'औपभृत' आज्य का विनियोग प्रयाज एवं अनुयाज दोनों में किया जाना चाहिए। जिस प्रकार लोक व्यवहार में देवदत्त के मित्र के यहाँ देवदत्त की उपस्थिति में अतिथि रूप में यज्ञदत्त अकस्मात् आ जाता है, भोजन के समय मित्र कहता है कि दोनों के लिए भोजन परोसो। इस कथन से अतिथि रूप में आये यज्ञदत्त एवं नित्य विद्यमान रहने वाले देवदत्त दोनों के लिए भोजन लग जाता है। ऐसे ही उक्त वाक्य 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वाक्य में भी प्रयाजों के अनुयाजों का (जो कि नित्य सिद्ध है) मात्र अनुवाद होना ही समझना चाहिए। इसलिए उक्त दोनों आज्यों का विनियोग विभागपूर्वक ही मानना न्याय सङ्गत है॥ ४५॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार 'उपभृत्' संज्ञक स्रुवा में आज्य के चार बार ग्रहण की विभागानुकूल अभिव्यक्ति करने के भाव से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( ६९७ ) तदष्टसंख्यं श्रवणात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** श्रवणात् = विधानकर्त्ता वाक्य-अष्टावुपभृति के श्रवण से यही प्रतीत होता है कि, तत् = उस 'उपभृत्' संज्ञक स्रुवा में गृहीत आज्य, अष्टसंख्यम् = आठ की संख्या वाला है (उस आज्य का ग्रहण आठ बार में किया जाता है)।

**व्याख्या—** प्रकरण में जहाँ पर 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' वाक्य द्वारा 'जुहू' संज्ञक स्रुवा में चार बार आज्य के ग्रहण का विधान किया गया है, वहीं पर उक्त विधान के अनन्तर 'अष्टावुपभृति' वाक्य द्वारा यह विहित किया गया कि उपभृत् संज्ञक स्रुवा में आठ बार आज्य होना चाहिए। यही आशङ्का पूर्वपक्ष की अभिव्यक्ति का आधार है, आठ की संख्या का श्रवण होने से यही प्रतीत होता है कि उपभृत् नामक स्रुवा में आठ बार आज्य का ग्रहण होना ही युक्त है॥ ४६॥

**( ६९८ ) अनुग्रहाच्च जौहवस्य॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** जौहवस्य = जुहू संज्ञक स्रुवा में चार बार आज्य ग्रहण विहित करने, च = तथा, अनन्तर, अनुग्रहात् = 'उपभृत्' में आठ बार आज्य ग्रहण का विधान किये जाने से भी उक्त आशङ्का सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' वाक्य में 'जुहू' संज्ञक पात्र स्रुवा में आज्य ग्रहण का विधान दो-दो बार न करके एक साथ चार बार किया गया और उसके अनन्तर उसी प्रकार से एक अन्य वाक्य 'अष्टावुपभृति' के द्वारा जो आठ बार 'उपभृत्' में आज्य का ग्रहण किया जाना विहित है, वह भी दो बार चार-चार का न होकर, एक साथ आठ बार का ग्रहण ही विदित है। अत: इस युक्ति से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि में सन्देह का अवकाश नहीं रहता॥ ४७॥

**सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( ६९९ ) द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गई आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। द्वयो: = (उक्त विधान एक ही साथ आठ बार आज्य ग्रहण का न होकर) दो की संख्या में चार-चार बार आज्य के ग्रहण का विधान है, हेतुसामर्थ्यम् = कारण यह कि हेतु की सामर्थ्य से यही प्रत्यक्ष है, च=तथा उक्त वाक्य से, श्रवणम् = सुना जाने वाला आठ बार के ग्रहण का कथन, समानयने = समानयन के उद्देश्य से किया जाने वाला कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'अष्टावुपभृति' के अनुसार एक ही साथ आठ बार आज्य ग्रहण करने की स्थिति में 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वाक्य द्वारा विहित विधान अनुपपन्न हो जाता है। इस वाक्य से विहित गृहीत आज्य का विनियोग प्रयाज एवं अनुयाज दोनों में किया जाना चाहिए। अतएव उक्त आज्य का विनियोग प्रयाज एवं अनुयाज दोनों में ही किये जाने से भी यही उपपन्न होता है कि 'अष्टावुपभृति' वाक्य में वर्णित विधान एक साथ आठ बार के ग्रहण का न होकर दो बार चार-चार के ग्रहण के उद्देश्य से है, ऐसा समझना चाहिए। दो चार-चार बार के ग्रहण की प्रक्रिया से प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के विभागपूर्वक विनियोग के कथन की भी सिद्धि हो जाती है॥ ४८॥

**॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथम: पाद: ॥**

# ॥ अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**गत प्रथम पाद में यज्ञीय प्रक्रिया से सम्बन्धित कर्मों के क्रम में कौन कर्म किसका प्रयोजक है तथा कौन प्रयोज्य ? अर्थात् कौन निमित्त एवं कौन नैमित्तिक ? इन सबका विस्तृत विवेचन किया गया। अब इस द्वितीय पाद में दानार्थ समानयन किये गये याग पशुओं के बाँधने हेतु यूप निर्माण एवं उससे सम्बन्धित अन्य तथ्यों पर भी सूत्रकार अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत करेंगे। यूप निर्माण हेतु काष्ठ से छीलने की प्रक्रिया में जो छिलका निकलता है, वह 'स्वरु' कहलाता है। प्रस्तुत पाद के शुभारम्भ में पूर्वपक्ष की ओर से सन्देहपूर्वक कहा गया कि यूप निर्माण के समय प्राप्त 'स्वरु' ( छिलका ) स्वतः उत्पन्न होता है अथवा यूप के समान स्वरु भी स्वतन्त्र एवं प्रमुख पदार्थ है ? इसी आशय से अगले दो सूत्रों में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

### ( ७०० ) स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** स्वरुः = छिलका की उत्पत्ति, तु = तो, अनेकनिष्पत्तिः = यूप के उत्पादक कर्म से पृथक् किसी दूसरे कर्म द्वारा होती है, स्वकर्मशब्दत्वात् = कारण यह कि उसके अपने उत्पन्न होने का अपना स्वतन्त्र विधान विहित है।

**व्याख्या—** अग्नीषोमीय पशु के बाँधने के लिए विहित वाक्य 'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति' द्वारा काष्ठ विशेष खदिर एवं पलाश के यूप में दानार्थ लाये गये पशु का बाँधा जाना बतलाया गया है। 'यूपं करोति' वाक्य से यूप निर्माण का विधान एवं उसके अनन्तर 'यूपस्य स्वरुं करोति' यूप के छिलके का निर्माण किया जाना विहित किया है। पूर्वपक्ष की मान्यता यह है कि 'यूपं करोति' वाक्य से जिस प्रकार स्वतन्त्र रूप से यूप निर्माण विहित है, वैसे ही 'यूपस्य स्वरुं करोति' स्वरु के निर्माण का स्वतन्त्र विधान भी किये जाने से यही प्रतीत होता है कि यूप तथा स्वरु दोनों की निष्पादन प्रक्रिया एक न होकर भिन्न-भिन्न है। स्वरु के निर्माण का विधान भी यूप के ही समान स्वतन्त्र विहित होने से वह भी मुख्य है तथा मुख्य होने से वह भी यूप के समान काष्ठ छेदन का प्रयोजक है। इसलिए स्वरु को भी काष्ठ छेदन की क्रिया का प्रयोजक माना जाना चाहिए॥ १॥

### ( ७०१ ) जात्यन्तराच्च शङ्कते॥ २॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा उपर्युक्त कथन की सिद्धि, जात्यन्तरात् = यूप की जाति से पृथक् किसी दूसरी जाति के काष्ठ से स्वरु का निर्माण किये जाने की, शङ्कते = सन्देहाभिव्यक्ति (आशङ्का) से भी होती है।

**व्याख्या—** स्वरु भी यूप के तुल्य एक स्वतन्त्र द्रव्य है, इस कथन की सिद्धि में यह वाक्य हेतु है- 'यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यात् अन्येऽस्य लोकमारोहेयुः' जिस वृक्ष के काष्ठ से यूप का निर्माण किया जाता है, यदि उस काष्ठ से भिन्न किसी अन्य काष्ठ का स्वरु बनाया जाता है, तो उस याग का फल यजमान को प्राप्त न होकर किसी अन्य को प्राप्त होगा। उक्त वाक्य में 'यदि' से की गयी आशङ्का (स्वरु निर्माण से सम्बन्धित सन्देह) भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि में हेतु है। अतएव यूप की भाँति स्वरु भी काष्ठ विशेष के छेदन में प्रयोजक है, यही समझना युक्त है॥ २॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्व पक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

### ( ७०२ ) तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के सन्देह के निवारण हेतु प्रयुक्त है। स्वरुत्वस्य = उसमें स्वरुत्वता-स्वरुपने का होना, तन्निमित्तत्वात् = उसी रूप के निमित्त होने से, वा = वह भी, तदेकदेशः = स्वरु उस यूप का एक भाग (एकदेश) है।

**व्याख्या—** 'स्वरु' की निष्पन्नता यूप के ही आश्रित है। उक्त वाक्य 'यूपस्य स्वरुं करोति' से भी यही मान्यता बलवती होती है कि स्वरु का सम्बन्ध यूप से है। पूर्वपक्ष ने जो यह कहा कि यूप एवं स्वरु दोनों की निर्माण

प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है, वह कथन सर्वथा आधारहीन ही है। कारण यह है कि यूप के निर्माण काल में स्वरु की निष्पन्नता स्वत: ही हो जाया करती है, स्वरु के निर्माण हेतु अलग से कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। अतएव स्वरु को काष्ठ विशेष के छेदन का प्रयोजक मानना अनुपयुक्त ही है॥ ३॥

**( ७०३ ) शकलश्रुतेश्च॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शकलश्रुते: = (यूप से निष्पन्न होने वाले) शकल के सुने जाने से भी यही सिद्ध होता है कि 'स्वरु' काष्ठ विशेष के छेदन का प्रयोजक नहीं है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्र में प्रयुक्त 'शकल' पद का तात्पर्य उस छिल्लड़ अथवा काष्ठ विशेष के उस टुकड़े से है, जो यूप निर्माण के क्रम में बसूले आदि के द्वारा यूप विनिर्मित करने हेतु लाई गई लकड़ी से उतारा जाता है। उस छिलके अथवा स्वरु को बनाने के लिए यूप काष्ठ से भिन्न किसी अन्य काष्ठ की न तो अपेक्षा ही रहती है और न ही आवश्यकता। अत: उस शकल के सुने जाने से भी उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता है। अतएव 'स्वरु' भी काष्ठ विशेष के छेदन का प्रयोजक नहीं माना जा सकता॥ ४॥

**( ७०४ ) प्रतियूपं च दर्शनात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रतियूपम् = प्रतियूप का विधान, दर्शनात् = दृष्टिगोचर होने से भी 'स्वरु' की अप्रयोजकता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** 'एकादशिनी' संज्ञक याग में उल्लेख है कि यूप से बँधे पशुओं का संस्कार 'प्रतियूप स्वरु' (सम्बद्ध के स्वरुओं) से किया जाये। स्वरुओं के लिए प्रतियूप का कथन यह सिद्ध करता है कि यूप शेषी (अङ्गी) है और स्वरु उसका अङ्ग। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि 'स्वरु' की समानता 'यूप' से नहीं की जा सकती; क्योंकि ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं उपलब्ध हुआ, जो 'स्वरु' को स्वतन्त्र एवं काष्ठ विशेष के छेदन का प्रयोजक सिद्ध करे॥ ५॥

**अब 'यूपस्य स्वरुं करोति' वाक्य में प्रयुक्त 'करोति' पद का अर्थ बतलाने के भाव से सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७०५ ) आदाने करोति शब्द:॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** करोतिशब्द: = उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'करोति' शब्द का अर्थ, आदाने = आदान के प्रयोजन में हुआ है, उत्पादकता में नहीं।

**व्याख्या—** 'यूपस्य स्वरुं करोति' वाक्य का 'करोति' पद उत्पादक अथवा निष्पन्न होने के अर्थ का वाचक न होकर आदान अथवा ग्रहण का वाचक है। अत: उक्त वाक्य का अर्थ यूप के स्वरु का ग्रहण किया जाना समझना चाहिए। स्वरु के आदान किये जाने रूप अर्थ से वह सन्देह जड़मूल से समाप्त हो जाता है, जिससे वह स्वतन्त्र अस्तित्व वाला माना जाता॥ ६॥

**'आहरण' कर्म शाखा का धर्म है, यही बतलाने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७०६ ) शाखायां तत्प्रधानत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** शाखायाम् = 'आहरण' कर्म शाखा में सम्बद्ध है, तत्प्रधानत्वात् = उसकी प्रधानता उक्त कर्म के प्रति होने से यही समझना युक्त है।

**व्याख्या—** 'पलाश शाखाया वत्सानपाकरोति'- पलाश (वृक्ष) की शाखा (डाल) द्वारा बछड़ों को गौओं से अलग करता है। दर्श-पूर्णमास के यज्ञीय प्रकरण में पठित उपर्युक्त वाक्य के अनन्तर आहरण कर्म का विधान किया- 'यत्प्राचीमाहरेत् देवलोकमभिजयेत्' जो प्राची (पूर्व) का आहरण (काट) करके लाता है, वह

देवलोक को जीतता है। यहाँ यह सन्देह है कि प्राची को पूर्व दिशा का सूचक मानना चाहिए? अथवा प्राची (दिशा) में विद्यमान पलाश (वृक्ष) की शाखा को? सन्देह का निवारण करते हुए सूत्रकार ने कहा कि उपर्युक्त यत्प्राचीमाहरेत् आदि वाक्य का पाठ पलाश शाखा का प्रकरण प्रारम्भ करने के अनन्तर यत्प्राचीमाहरेत् वाक्य पढ़ा गया है। वैसे भी यह सर्वविदित है कि निराकार दिशा का आहरण सर्वथा असम्भव है, अतः प्राची (पूर्व) दिशा में विद्यमान पलाश की शाखा ही आहरित (काटकर लायी जा सकती) हो सकती है। अतएव उपर्युक्त वाक्य 'यत्प्राचीमाहरेत् देवलोकमभिजयेत्' वाक्य द्वारा कथित आहरण कर्म दिशा (प्राची) का धर्म न होकर, प्राची दिशा में रहने वाली शाखा का धर्म है॥ ७॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने कहा कि शाखा के आहरण-छेदन का अनुष्ठापक-प्रयोजक वत्सों का अपाकरण बछड़ों को गौओं से अलग करना है—**

## ( ७०७ ) शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यं तत्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** शाखायाम् = शाखा में, उपवेषेण = उपवेष सहित, विभागः = प्रयोजकत्व एवं अप्रयोजकत्व की आंशिक पृथक्ता इसलिए, स्यात् = होनी युक्त है, तत्प्रधानत्वात् = उसके आहरण कर्म के लिए शाखा के प्रधान होने से, तत् = वह उपवेष, वैषम्यम् = (उनसे भिन्न) विषमता युक्त (गौण) है।

**व्याख्या—** 'मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोति' (आप० श्रौत० १.६.७) अर्थात् जड़ से काटकर लायी गई (पलाश) शाखा को मूल से पुनः आहरित (काटकर) करके उपवेष बनाये। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित उपर्युक्त वाक्य द्वारा विहित उपवेष का विधान किसका प्रयोजक है? वत्स के अपाकरण का? अथवा प्रादेश परिमाण जड़ से उपर्युक्त पलाश वृक्ष की शाखा के काटने का? सन्देह का निवारण करते हुए सूत्रकार का कहना है कि प्रादेश की नाप (माप) तक, जड़ तक काटकर उससे बची हुई शेष शाखा से वत्सों का अपाकरण किया जाना चाहिए- 'शाखया वत्सानपाकरोति'। तत्पश्चात् उपवेष के द्वारा विहित उपवेष नामक मूलभाग एवं शाखा नामक अग्रभाग से दो प्रकार के प्रयोजनों का कथन किया। प्रथम से बछड़ों को गौओं से अलग करना (वत्सापाकरण)। एवं द्वितीय कपालों के धारणार्थ टेकानी बनाना (कपालोपदधान) दोनों में से प्रमुखतः 'वत्सापाकरण' ही वृक्ष से शाखा के काटने (आहरण) का प्रयोजक हो सकता है; क्योंकि आहरण-छेदन की आकांक्षा जितनी अधिक उसे है, उतनी उपवेष को नहीं। इसलिए वत्सापाकरण ही उक्त आहरण कर्म का प्रयोजक है, यही मानना उचित है॥ ८॥

**उपर्युक्त कथन में युक्ति देने हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ७०८ ) श्रुत्यपायाच्च॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = और उपर्युक्त अर्थ की उपपन्नता, श्रुत्यपायात् = श्रुति (सुने जाने वाले अर्थ) के अनुपलब्ध होने से भी हो जाती है।

**व्याख्या—** शाखा के छेदन का प्रयोजक 'वत्सापाकरण' को न मानकर यदि 'उपवेष' को माना जाये, तो उस स्थिति में उपर्युक्त श्रुत अर्थ की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। अतएव उपवेष को अप्रधान एवं अश्रुत होने से छेदन कर्म का प्रयोजक मानना सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वत्सापाकरण ही उक्त काष्ठ विशेष के छेदन का प्रयोजक सिद्ध होता है॥ ९॥

**शाखा प्रहरण को प्रतिपत्ति कर्म बतलाने के निमित्त सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ७०९ ) हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** हरणे = दर्श-पूर्णमास याग के प्रकरण में पठित वाक्य 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' में किया गया

शाखा के प्रहरण का कथन, तु = तो, जुहोतिः = हवन स्वरूप अर्थ-प्रयोजन कर्म है, योगसामान्यात् = क्योंकि उसका प्रस्तर प्रहरण के साथ सामान्य सम्बन्ध है, च = तथा, द्रव्याणाम् = द्रव्य को, अर्थशेषत्वात् = उक्त अर्थ कर्म का शेष होने से (उसकी स्थिति सुनिश्चित है)।

**व्याख्या—** 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' शाखा के साथ प्रस्तर को आहवनीय अग्नि में प्रक्षेपित करे। उपर्युक्त वाक्य में विहित प्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है? या अर्थ कर्म है? यही आशङ्का यहाँ पूर्वपक्षी ने व्यक्त की है। आशय यह है कि जैसे प्रस्तर द्रव्य होने के कारण हवन का अङ्ग-शेष है, वैसे ही शाखा भी शेष है। अतः दोनों के समान रूप से शेष-अङ्ग होने के कारण शेषी कर्म का समान होना भी युक्त है, अतः प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि शाखा प्रहरण प्रतिपत्ति कर्म न होकर प्रस्तर प्रहरण के समान अर्थ कर्म है॥ १०॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## (७१०) प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए प्रयुक्त है। प्रतिपत्तिः = (प्रस्तर प्रहरण के समान अर्थ कर्म न होकर) शाखा प्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है, शब्दस्य = इसकी सिद्धि उपर्युक्त 'सहशाखया' आदि वाक्य में शाखा का, तत्प्रधानत्वात् = प्रस्तर की तुलना में गुण रूप में उपादान होने से हो जाती है।

**व्याख्या—** शाखा प्रहरण का प्रस्तर प्रहरण के साथ सामान्य सहचार उपर्युक्त वाक्य में प्राप्त होते हुए भी दोनों की समानता करना उचित नहीं। कारण यह कि 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में प्रयुक्त प्रस्तर का प्रधान भूत द्वितीया विभक्ति सहित निर्देश प्राप्त है जबकि शाखा का गुणभूत तृतीया विभक्ति (शाखया) द्वारा निर्देश मिलता है। अतः दोनों के निर्देशों में समानता नहीं, प्रत्युत विषमता है। 'सहयुक्तेऽप्रधाने तृतीया' के नियम से अप्रधान सहचारी में तृतीया विभक्ति होने से शाखा अप्रधान है तथा 'कर्मणि द्वितीया' के नियम से प्रस्तर प्रधान है। अतः निष्कर्ष यह है कि अर्थ कर्म वह है, जिस कर्म का द्रव्य प्रधान अथवा मुख्य है और प्रतिपत्ति कर्म वह है, जिसका द्रव्य अप्रधान है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शाखा प्रहरण अर्थ कर्म न होकर प्रतिपत्ति कर्म है॥ ११॥

**अगले सूत्र के माध्यम से सूत्रकार ने उपर्युक्त अर्थ में सन्देह का कथन किया—**

## (७११) अर्थेऽपीति चेत्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** अर्थे = जो अर्थ प्रधान नहीं है, उसमें (अप्रधान में), अपि = भी द्वितीया विभक्ति हुआ करती है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** 'सक्तून् जुहोति' आदि वाक्य में हवन कर्म के प्रति अप्रधान भूत 'सक्तु' में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होने से यह सिद्ध होता है कि प्रधान अर्थ में ही द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, ऐसा कोई सुनियत नियम नहीं है। यदि उक्त प्रयोग का नियम सुनिश्चित होता, तो हवन कर्म के लिए अप्रधान द्रव्य 'सक्तु' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता ही नहीं। इसलिए प्रस्तर प्रहरण के समान उसके सहचारी अप्रधान शाखा प्रहरण को भी प्रतिपत्ति कर्म न मानकर अर्थ कर्म ही मानना युक्त है॥ १२॥

**इस सन्देह के निवारणार्थ सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (७१२) न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** न = उक्त सन्देहाभिव्यक्ति युक्ति युक्त नहीं है, तस्य = क्योंकि उस (सक्तु) का, अनधिकारात् = अधिकार पूर्ण प्रयोग-विनियोग न होने के कारण, च = और, अर्थस्य = शाखा से बछड़ों के अपाकरण रूप प्रयोजन (अर्थ) के (क्रियान्वित-विनियुक्त होने से), कृतत्वात् = कर्म रूप से प्रयुक्त

होने के कारण शाखा की समानता सक्तु से नहीं की जा सकती।

**व्याख्या—** गत सूत्र में आशङ्कावादी ने जो शाखा की समानता 'सक्तु' से की तथा 'सक्तून् जुहोति' में द्वितीया विभक्ति होना बताया है, उससे 'शाखा' एवं 'सक्तु' में साम्य भाव प्रतिपादित नहीं किया जा सकता; क्योंकि इन दोनों में अत्यधिक विलक्षणता है। उस विलक्षणता का स्वरूप यह है कि शाखा का विनियोग पहले से ही वत्सों के अपाकरण में हो जाता है तथा इस कारण उसे (शाखा को) मात्र प्रतिपत्ति संज्ञक संस्कार की ही अपेक्षा रह जाती है; जबकि सक्तु को इस प्रकार शाखा जैसी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतएव सक्तून् जुहोति आदि में अप्रधान भूत सक्तु में द्वितीया विभक्ति के होने मात्र से शाखा से उसकी समानता करना सर्वथा असङ्गत है। इसलिए यही मानना युक्त है कि शाखा प्रहरण अर्थ कर्म नहीं, प्रत्युत प्रतिपत्ति कर्म है॥ १३॥

**अगले क्रम में अब प्रणीता पात्र में स्थित शेष जल के वेदिका में अभिसिंचन-निनयन को प्रतिपत्ति कर्म बतलाने हेतु सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (७१३) उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** आज्यवत् = जिस प्रकार से ध्रुवा पात्र में विद्यमान आज्य का विभाग समान रूप से समस्त कर्मों के लिए विहित है, उत्पत्त्यसंयोगात् = प्रणयन का विधान करने वाले वाक्यों द्वारा विहित किसी भी विशिष्ट कर्म के साथ उसका संयोग-सम्बन्ध न प्राप्त होने से, प्रणीतानाम् = उसी प्रकार से प्रणीता पात्र में भरे जल का भी, विभागः = विभाग भी 'संयवन' एवं निनयन इन दोनों कर्मों के समान रूप से ही, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास याग के प्रकरण में विहित विधान के अनुसार प्रणीता पात्र में जल को संस्कारित करके (प्रणयन) स्थापित किया जाता है- अपः प्रणयति। तत्पश्चात् उस प्रणयन किये हुए जल के दो प्रयोजनों का कथन किया है-प्रणीताभिर्हवीꣳषि संयौति -प्रणीता-पात्र में स्थित जल से पुरोडाश का आटा साने। दूसरा है-अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति-प्रणयन किया हुआ शेष जल वेदि में छिड़के। इन दोनों प्रयोजनों में से प्रणीत जल से आटा सानना-संयवन, उक्त जल के प्रणयन का अधिष्ठापक-प्रयोजक होने से अपने आप में तो अर्थ कर्म है ही, अतः मात्र निनयन (जल का छिड़कना) के विषय में ही यह समाधान करना है कि वह प्रतिपत्ति कर्म है ? या अर्थ कर्म ? पूर्वपक्षी का मानना है कि 'ध्रुवयामाज्यं गृह्णाति' वाक्य में ध्रुवा पात्र से मात्र आज्य का ग्रहण किया जाना ही विहित है। उस वाक्य में उसके किसी कार्य विशेष का विधान प्राप्त नहीं है। इस तरह से आज्य के ग्रहण के विधान के अनन्तर-'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञायगृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' इस वाक्य से उक्त ग्रहण किये गये आज्य का उपयोग यज्ञ के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले समस्त कर्मों के लिए है यह बतलाया गया है। अतः ऐसी कोई विशिष्टता उक्त दोनों वाक्यों में उपलब्ध नहीं है, जिससे संयवन (आटा साना जाना) को अर्थ कर्म एवं (जल छिड़कना) निनयन को प्रतिपत्ति कर्म माना जाये। अतएव संयवन के ही समान निनयन भी प्रतिपत्ति कर्म न होकर अर्थकर्म ही है॥ १४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

## (७१४) संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्षी की आशङ्का के निवारणार्थ प्रयुक्त है। संयवनार्थानाम् = पुरोडाश का आटा सानने रूप कर्म (संयवन) में प्रणयन किये गये-उपर्युक्त जल से, इतरासाम् = इतर शेष बचे हुए प्रणीत जल का वेदि में अभिषिंचन-निनयन (किया जाना), प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति कर्म है, तत्प्रधानत्वात् = कारण यह कि उसकी मुख्यता से अर्थात् उसी के लिए शेष जल का प्रमुखता से कथन किया गया है।

**व्याख्या—** संयवन विधायक वाक्य में तृतीया विभक्ति द्वारा प्रणीताभिः से उक्त संस्कारित जल को आटा सानने का साधन बतलाया है, जबकि इसके प्रतिकूल निनयन विधायक वाक्य में द्वितीया विभक्ति से

'प्रणीताः' द्वारा शेष प्रणीत जल को वेदि पर छिड़कना बताया है और इस कथन से निनयन का संस्कार कर्म-प्रतिपत्ति कर्म है, यही सिद्ध होता है। अतएव मात्र संयवन ही जल के प्रणयन का प्रयोजक है और निनयन उसका संस्कार विशेष प्रतिपत्ति कर्म॥ १५॥

**अगले क्रम में 'दण्डदान' के सन्दर्भ में आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

## ( ७१५ ) प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** प्रासनवत् = खुजलाने में प्रयुक्त होने वाले साधन रूप सींग के आकार वाले काष्ठ का जिस प्रकार से चत्वाल संज्ञक गर्त में प्रक्षेप किया जाना प्रतिपत्ति कर्म है, मैत्रावरुणाय = उसी प्रकार से मैत्रावरुण नाम वाले ऋत्विक् के लिए, दण्डप्रदानम् = दण्ड का प्रदान किया जाना भी, कृतार्थत्वात् = यज्ञ दीक्षा की प्रक्रिया में प्रथम विनियुक्त व उपकारक होने से, प्रतिपत्ति कर्म है।

**व्याख्या—** 'क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति' यज्ञ-दीक्षा के समय अध्वर्यु द्वारा यजमान को दण्ड धारण कराया जाता है। सोम का मूल्य लिये जाने पर यजमान (मूल्य रूप में) वह दण्ड मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विक् को प्रदान करता है। उक्त वाक्य में दण्डप्रदान को 'अर्थ कर्म' माना जाये? या 'प्रतिपत्ति कर्म'? पूर्वपक्ष का मानना है कि दण्ड का विनियोग यजमान की यज्ञ-दीक्षा में सर्वप्रथम हुआ, अतः पुनः उसका विनियोग किसी अन्य कर्म में अपेक्षित न होने से अर्थ कर्म न मानकर, प्रतिपत्ति कर्म मानना ही युक्त है॥ १६॥

**इस पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

## ( ७१६ ) अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। स्रग्वत् = माला के समान (जिस प्रकार से उद्‌गाता को माला दिया जाना अर्थ कर्म है, वैसे)ही, कर्तृसंयोगात् = दण्ड प्रदान का भी मैत्रावरुण ऋत्विक् के साथ गुणभूत सम्बन्ध प्राप्त होने से, अर्थकर्म = दण्डदान भी अर्थकर्म ही है।

**व्याख्या—** उद्गात्रे स्रगं प्रयच्छति-उद्गाता के लिए एक माला देता है, उक्त वाक्य द्वारा उद्गाता को माला दिया जाना जिस प्रकार अर्थ कर्म है, उसी प्रकार दण्ड प्रदान कर्म भी मैत्रावरुण ऋत्विक् के संस्कारार्थ होने से वह भी अर्थ कर्म ही है। आशय यह है कि माला धारण के उपरान्त संस्कारित होकर जिस प्रकार उद्गाता साम गान करने की पात्रता धारण कर लेता है, उसी प्रकार दण्ड को धारण करने के अनन्तर मैत्रावरुण ऋत्विक् भी प्रैष आदि देने की योग्यता धारण कर लेता है। इसलिए जैसे माला उद्गाता को संस्कारित करती है, वैसे ही दण्ड भी पुरुष का संस्कारक है। अतः दण्ड दान प्रतिपत्ति कर्म न होकर अर्थ कर्म ही है॥ १७॥

## ( ७१७ ) कर्मयुक्ते च दर्शनात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्मयुक्ते = प्रैष आदि कर्मों को सम्पन्न करने वाले मैत्रावरुण ऋत्विक् के हाथ में दण्ड के, दर्शनात् = दिखलाई देने से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में 'मैत्रावरुण' ऋत्विक् प्रैष कर्म सम्पादित करते समय हाथ में दण्ड लेकर प्रैष का उच्चारण करता है- 'दण्डप्रैषानन्वाह'। यह वाक्य स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि दण्डदान मैत्रावरुण ऋत्विक् के संस्कारार्थ है, प्रैष कर्म में विनियोग के लिए है। इसलिए दण्ड का दान अर्थ कर्म ही माना जा सकता है, प्रतिपत्ति कर्म नहीं, यही समझना उपयुक्त प्रतीत होता है॥ १८॥

**प्रासन को प्रतिपत्ति कर्म बतलाने के लिए सूत्रकार ने अगला सूत्र दिया—**

## ( ७१८ ) उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात्त-स्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तौ = उत्पत्ति वाक्य में, येन=जिससे जो, संयुक्तम् = संयुक्त है, तत्=वह, तदर्थम् = उसके लिए ही है, श्रुतिहेतुत्वात् = श्रुति आदि हेतुओं से यही सिद्ध होता है और यदि पुनः, तस्य = उसकी विनियुक्तता, अर्थान्तरगमने = उससे भिन्न किसी अन्य अर्थ में होती है, शेषत्वात् = तो उसके शेष-मुख्य होने से, प्रतिपत्तिः = उसे प्रतिपत्ति कर्म मानना ही, स्यात् = उचित है।

**व्याख्या—** 'प्रत्तासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति'- समस्त ऋत्विजों को दक्षिणा देकर यजमान कण्डूयन कर्म के उपकरण विषाण (सींग) के आकार वाली विशिष्ट लकड़ी को चात्वाल संज्ञक गड्ढे में प्रासन करे-डाल दे। ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित उपर्युक्त वाक्य में विहित प्रासन कर्म को अर्थकर्म माना जाये? या प्रतिपत्ति कर्म? सूत्रकार ने कहा कि उक्त वाक्य में कथित कृष्ण विषाण का संयोग कण्डूयन कर्म के साथ शास्त्र सिद्ध है- 'कृष्ण विषाणया कण्डूयते' शृंगाकार काष्ठ विशेष (कृष्ण विषाण) से यजमान अपने सिर का कण्डूयन (खुरचना) करे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उक्त कृष्ण विषाण कण्डूयनार्थ ही है। अतः उत्पत्ति वाक्य द्वारा कण्डूयन के साधन भूत कृष्ण विषाण का विनियोग कण्डूयन कर्म में होने के साथ-साथ फेंकने रूप प्रासन क्रिया के लिए प्रमुख रूप से उसका कथन होने (निर्देशाभिव्यक्ति) से यही सिद्ध होता है कि कृष्ण विषाण का चात्वाल में फेंका जाना अर्थकर्म न होकर प्रतिपत्ति कर्म है॥ १९॥

**'अवभृथ नयन' प्रतिपत्ति कर्म है, यही बतलाने के भाव से आचार्य सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### (७१९) सौमिके च कृतार्थत्वात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सौमिके = ज्योतिष्टोम के यज्ञीय क्रम में 'अवभृथ' संज्ञक यज्ञीय देश में सोमरस से सने पात्रों के नयन को, उनके अपने-अपने कर्मों में, कृतार्थत्वात् = कृतार्थ-चरितार्थ होने से (अन्यत्र उन पात्रों का नियोजन होने से), उन्हें प्रतिपत्ति कर्म माना जाता है।

**व्याख्या—** 'यत्किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृतंयन्ति' जो भी पात्र सोमरस से लिप्त है, सोम के साथ अवभृथ संज्ञक यज्ञीय देश में नयन करे (ले जाये)। उपर्युक्त वाक्य में विहित अवभृथनयन अर्थकर्म है? या प्रतिपत्ति कर्म? समाधान में सूत्रकार ने बताया कि 'अवभृथनयन' को अर्थ कर्म इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि अर्थकर्म होने के लिए पूर्व में अकृतार्थ (चरितार्थ न होकर) एवं पश्चात् कृतार्थ-चरितार्थ होना ही चाहिए। जबकि उपर्युक्त वाक्य में प्राप्त विधान ऐसा नहीं है। इसलिए अवभृथ संज्ञक याग देश में स्पष्टतया नयन का विधान उक्त वाक्य द्वारा विहित होने से यही प्रमाणित होता है कि अवभृथनयन अर्थकर्म न होकर प्रतिपत्ति कर्म है॥ २०॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देह करते हुए पूर्वपक्ष की स्थापना के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### (७२०) अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वा = सूत्र में प्रयुक्त यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। अभिधानसंयोगात् = उपर्युक्त सोमलिप्त पात्रों का सम्बन्ध अवभृथ याग के साथ अङ्ग रूप में होने से, अर्थकर्म = अवभृथनयन अर्थकर्म है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'यत्किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृतयन्ति' में साधन विभक्ति 'तेन' की प्रयुक्तता यह प्रतीति कराती है कि उपर्युक्त पात्र साधन एवं अवभृथ याग साध्य है। अतः यज्ञीय कर्म में साधन रूप से प्रयुक्त होने के कारण सोमलिप्त पात्रों का उक्त याग देश में नयन को अर्थकर्म ही मानना युक्त है॥ २१॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

### (७२१) प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद उक्त पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। तत् = वह अवभृथनयन, प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति

कर्म है और, न्यायत्वात् = शास्त्रीय न्याय व्यवस्था से यही जाना जाता है, अवभृथश्रुति: = अवभृथ पद का उक्त वाक्य में सुना जाना, याग का वाचक न होकर, देशार्था = देश के प्रयोजन का कथन करता है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि दृष्टान्त वाक्य में प्रयुक्त 'अवभृथ' पद याग का वाचक न होकर मात्र देश का ही कथन करता है, अत: शास्त्र सम्मत यही है कि 'तेन' को भी साधन विभक्ति न मानकर मात्र तृतीया विभक्ति ही स्वीकार किया जाये। उक्त सोमलिप्त पात्रों का जहाँ-जहाँ उनकी उपयोगिता है, वे पहले से ही वहाँ-वहाँ उपकारक होकर अपनी कृतार्थता प्रमाणित कर चुके हैं। उन सोमलिप्त पात्रों को याग देश से हटाकर अवभृथ देश में ले जाया जाना आवश्यक है, तभी उनका प्रतिपत्ति संस्कार होना सम्भव है। अत: यही मानना उपयुक्त है कि 'अवभृथनयन' अर्थकर्म न होकर प्रतिपत्ति कर्म है॥ २२॥

**कर्त्ता, देश, काल आदि की नियम व्यवस्था बतलाने के भाव से सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

## (७२२) कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** कर्तृदेशकालानाम् = कर्त्ता, देश एवं काल की व्यवस्था, अचोदनम् = अनपेक्षित-अप्रेरित है, प्रयोगे = कारण यह कि व्यावहारिक कर्मानुष्ठान में, नित्यसमवायात् = नित्यसमवाय-निरन्तर समवेत होने से वह स्वत: उपलब्ध है।

**व्याख्या—** 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' सम (समतल) स्थल-देश में दर्श-पूर्णमास याग का यजन करना चाहिए, प्राची (पूर्व) दिशा में निचली भूमि भाग (देश) में वैश्वदेव याग करना चाहिए। पौर्णमास्यां पौर्णमास्यायजेत अमावस्यायाममावास्यया यजेत' पूर्णमासी (काल) में पौर्णमास याग करना चाहिए और अमावस्या (काल-तिथि) में दर्शयाग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'दर्श-पूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विज:' दर्शपूर्णमास में चार ऋत्विक् तथा 'अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विक्' अग्निहोत्र याग में एक ऋत्विक्। उपर्युक्त वाक्यों में कर्त्ता, देश तथा काल आदि का विधान मात्र अनुवाद के लिए ही किया है? अथवा नियम के लिए? पूर्वपक्षी का कहना यह है कि जो पूर्व से ही स्वयं प्राप्त है, उसके लिए किसी प्रकार के नियम-विधान की आवश्यकता नहीं रहती, जैसे कि कर्त्ता, देश एवं काल। अत: उपर्युक्त वाक्यों में विहित विधान नियमार्थ न होकर अनुवादार्थ है, यही समझना उपयुक्त है॥ २३॥

**सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## (७२३) नियमार्था वा श्रुति:॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वा = भले ही। श्रुति: = कर्त्ता, देश, काल आदि स्वयं प्राप्ति श्रुति होते हुए भी, उसका विधान फिर से (दुबारा) किया जाना, नियमार्था = नियम के पालनार्थ ही है।

**व्याख्या—** कर्मानुष्ठान (यज्ञीय अनुष्ठान) की अन्यथा अनुपपत्ति से कर्त्ता, देश, काल आदि का निर्धारण प्रथम प्राप्त होते हुए भी उनके विधि-विधान नियमादि का प्रतियाग उपलब्ध होना नहीं सिद्ध है। अतएव उपर्युक्त वाक्यों द्वारा विहित कर्त्ता, देश, काल आदि का विधान अनुवाद के लिए न होकर, नियम-यज्ञीय अनुशासन के पालनार्थ विहित है, यही समझना युक्ति-युक्त है॥ २४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने गुण के नियम की अभिव्यक्ति किया है—**

## (७२४) तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** तथा = कर्त्ता, देश एवं काल की विधि-व्यवस्था जिस प्रकार से नियम के लिए है, द्रव्येषु = उसी प्रकार द्रव्यों में प्रतिद्रव्य, गुणश्रुति: = सुनी जाने वाली गुण की विधि-व्यवस्था भी, उत्पत्ति संयोगात् = उत्पत्ति

वाक्य से द्रव्य का संयोग (सम्बन्ध) होने से, नियम के लिए ही है।

**व्याख्या—** पशुयाग के अन्तर्गत वाक्य है- 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'। वायु स्वरूप परमात्मा के लिए श्वेत रंग के पशु का दान करे। इस उपर्युक्त वाक्य में दानार्थ लाये गये श्वेत पशु का श्वेत गुण विहित किया जाना नियम के लिए है? समाधान के भाव से सूत्रकार ने बताया कि दान कर्म के साधन में प्रयुक्त होने वाला द्रव्य (पशु) किस प्रकार का होना चाहिए, इसके लिए गुण की विधि-व्यवस्था, नियमादि की अपेक्षा होती ही है। अतएव कर्त्ता देश, काल के समान जो यज्ञीय साधनों-द्रव्यों में समाहित गुणों के विधान को विहित किया गया है, वह नियम के लिए ही है, यही मानना चाहिए॥ २५॥

**सूत्रकार अगले सूत्र में अवघात आदि संस्कारों के नियम का कथन करते हैं—**

### (७२५) संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संस्कारे=संस्कारों (अवघात आदि) में भी, तत्प्रधानत्वात् = उन संस्कारों के विधान करने वाले वाक्य में नियम की प्रधानता प्राप्त होने से उनमें (संस्कारों में) भी नियम ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** होतव्य द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होने वाले व्रीहि आदि द्रव्यों के अवहनन (कूटे जाने) आदि संस्कार विहित हैं- व्रीहीनवहन्ति। इन संस्कारों की सुनिश्चितता है? या नहीं? इसका समाधान करते हुए आचार्य ने बताया कि अवहनन के बिना व्रीहि (तण्डुल) की निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। लोक प्रचलन में भी यह संस्कार परम्परा विद्यमान होने से यही मानना उचित है कि उपर्युक्त संस्कार का नियम नियत है॥ २६॥

**याग पद की अर्थाभिव्यक्ति करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया-**

### (७२६) यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यदेवताक्रियम् = द्रव्य (पुरोडाश आदि), देवता एवं कर्म (क्रियाएँ) इन सबका समुदाय (समूह) ही, यजति चोदना = याग का अर्थ (याग शब्द का अभिप्राय) है, समुदाय = तीनों के समूह में ही उसकी (याग की) कृतार्थता चरितार्थता सिद्ध होने से (यही मानना युक्त है)।

**व्याख्या—** वेद वाक्यों से विहित जो भी विधि-व्यवस्था लोक में प्रत्यक्षतः पायी जाती है, उनमें द्रव्य (पदार्थ), देवता (इष्ट) एवं क्रिया (माङ्गलिक कर्म) इन तीनों का ही कथन मिलता है। मनीषियों ने याग शब्द को परिभाषित करते हुए बतलाया है कि देवता स्वरूप परमात्मा के लिए पवित्र मन से किये जाने वाले द्रव्य के त्याग को याग कहा जाता है। इस कथन में भी द्रव्य, देवता एवं क्रिया तीनों के समाहित होने से यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त तीनों का समुदाय याग शब्द का अर्थ रूप अभिप्राय है॥ २७॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने होम शब्द के अर्थ का कथन किया—**

### (७२७) तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** आसेचनाधिकः = (होतव्य द्रव्य का आहवनीय अग्नि के साथ सम्बन्ध) आसेचन अधिक, जुहोति = हवन पद का अर्थ है, तदुक्ते = कारण यह कि उस उपर्युक्त याग शब्द के अर्थ में ही जुहोति पद का, श्रवणात् = श्रवण होने से (यही सिद्ध), स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** हवन किये जाने योग्य पुरोडाश आदि होतव्य द्रव्यों का यज्ञाग्नि के साथ होने वाला सम्बन्ध ही 'आसेचन' शब्द का अभिप्राय है। याग में आसेचन की संयुक्तता होने से याग हवन का रूप ले लेता है। याग एवं होम दोनों ही परमात्मा के लिए हैं और दोनों के अर्थ में भी एकत्व है। याग में होतव्य द्रव्य का त्याग परमात्मा के उद्देश्य से किया जाता है तथा होतव्य एवं त्यागे हुए द्रव्य का आहवनीय अग्नि में प्रक्षेपण होम (हवन) है। अतएव होम शब्द का अर्थ आसेचन अधिक है, यही मानना युक्त है॥ २८॥

**'बर्हि' की आतिथ्य आदि सामान्यता बतलाने के प्रयोजनार्थ सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( ७२८ ) विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात्॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थान्तरे = जिस यज्ञीय कर्मानुष्ठान में जो द्रव्य विहित है, उससे पृथक् यज्ञ में, विधिप्रदेशः = जो द्रव्य विहित हैं, उन्हीं के धर्मों का अतिदेश, स्यात् = हुआ करता है, विधेः = कारण यह कि विधि विहित धर्म शास्त्रीय नियम के अनुसार, कर्मापवर्गित्वात् = कर्मानुष्ठान समापन पर्यन्त मान्य हैं।

**व्याख्या—** 'यदातिथ्यां बर्हिः तदुपसदां, तदग्नीषोमीयस्य च' ज्योतिष्टोम के यज्ञीय प्रकरण में पठित उक्त वाक्य में विहित 'आतिथ्या' के लिए विहित 'बर्हि' का विधान उपसद संज्ञक होम के लिए है ? अथवा उसमें बर्हि संज्ञक घास के द्वारा आतिथ्या इष्टि को सम्पादित किया जाता है ? ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि जिसकी जो विधि-व्यवस्था जहाँ पर विहित है, उसका समापन भी वहीं पर हो जाया करता है, अन्य स्थल पर उसका प्रयोग सम्भव नहीं तथा कदाचित् यदि प्रयोग करना ही अपेक्षित हो, तो भी मात्र उसके धर्मों की ही प्रयुक्तता सम्भव है, उसकी (स्वयं की) नहीं। अतएव आतिथ्या इष्टि में 'बर्हि' (घास विशेष) की ही प्रयुक्तता रहती है तथा उससे पृथक् उपसद् आदि में बर्हि के धर्मों का अतिदेश होकर उसी के समान लक्षण कर लिया जाता है॥ २९ ॥

**नोट**- क्रयपूर्वक सोम के यज्ञशाला में लाये जाने पर सम्पादित होने वाली इष्टि 'आतिथ्या' कहलाती है। 'उपसद्' का तात्पर्य तीन दिनों तक अनवरत चलने वाले हवन से है और अग्नीषोमीय याग का आशय उस याग से है, जो औपवस्थ्य दिवस में ही सम्पादित हो जाया करता है।

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( ७२९ ) अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात्॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। उत्पत्तिसंयोगात् = उत्पत्ति वाक्य में विधान के प्राप्त होने से, अर्थसम्बन्धः = आतिथ्या, उपसद् एवं अग्नीषोमीय तीनों के साथ बर्हि का प्रयोजनात्मक सम्बन्ध, स्यात् = होना चाहिए, अविशिष्टानाम् = कारण यह कि सामान्य रूप से विहित होने वाले द्रव्य, प्रयोगैकत्वहेतुः = प्रत्येक यज्ञीय कर्मानुष्ठान में एक स्वरूप के द्वारा ही अनुष्ठान के हेतु हुआ करते हैं।

**व्याख्या—** 'उत्पत्तिवाक्य बर्हिर्लुनाति' बर्हि (कुशा, घास विशेष आदि) का काटना रूप विधान सामान्य रूप से विहित है और उपर्युक्त वाक्य 'यदातिथ्यां बर्हिः, तदुपसदां, तदग्नीषोमीयस्य च' वाक्य के द्वारा आतिथ्या, उपसद् एवं अग्नीषोमीय तीनों के सामान्य रूप से विनियोग बतलाये गये हैं। इस प्रकार से जिसका विधान एवं विनियोग सामान्यतः बतलाया गया हो, उसका संकुचन किया जाना सम्भव नहीं तथा लक्षणा से बर्हि के धर्मों का अतिदेश मानना सर्वथा अनुचित ही होगा। अतएव यही सिद्ध होता है कि आतिथ्या के लिए लाई गई बर्हि आतिथ्या मात्र के लिए न होकर आतिथ्या, उपसद् एवं अग्नीषोमीय तीनों के सम्पादनार्थ है॥ ३० ॥

## ॥ इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

# ॥ अथ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ॥

**द्वितीय पाद का समापन करने के अनन्तर उसी क्रम में आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत तृतीय पाद का शुभारम्भ करते हुए प्रथम सूत्र में द्रव्य, संस्कार एवं अङ्गभूत कर्मों को ( याग के लिए ) क्रत्वर्थ होना बतलाया है—**

## ( ७३० ) द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यसंस्कारकर्मसु = द्रव्य, संस्कार तथा अङ्ग कर्मों में, फलश्रुतिः = प्राप्त फलों का श्रवण, परार्थत्वात् = परार्थ-क्रत्वार्थ (याग के लिए) होने से, अर्थवादः = स्तुतिपरक वाक्य अर्थवाद, स्यात् = माने जाते हैं।

**व्याख्या—** 'यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्यवृङ्क्ते' जो आँखों में अञ्जन लगाता है, वह शत्रु की आँख फोड़ता है एवं 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' जिसका जुहू पलाश की लकड़ी का होता है, वह अपनी अपकीर्ति का श्रवण नहीं करता। एक अन्य वाक्य 'यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' जो प्रयाज एवं अनुयाज कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, वे (स्वामी) यजमान के वर्म हैं तथा उसके द्वारा शत्रु की अवनति होती है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित उपर्युक्त तीनों वाक्यों में जो अञ्जन से आँखों का संस्कार किया जाना एवं पलाश की लकड़ी का बनाया गया जुहू (पात्र) रूपी द्रव्य तथा यजमान द्वारा किया जाने वाला प्रयाज-अनुयाज रूप कर्म का विधान सुना जाता है, ये सभी वर्तमानार्थक हैं तथा इन्हें मात्र स्तुतिपरक-अर्थवाद ही माना जाना चाहिए। उक्त तीनों की फलश्रुति से उनका फल मात्र अर्थवाद ही है और नियमानुसार फल के सतत साध्य होने से उन्हें 'पुरुषार्थ' मानना अयुक्त है। उपर्युक्त तीनों वाक्यों में प्रति वाक्य क्रमपूर्वक प्रयुक्त 'वृङ्क्ते' 'न शृणोति' एवं 'वर्म क्रियते' सबके सब वर्तमानार्थक होने से यही सिद्ध है कि उक्त तीनों (द्रव्य, संस्कार एवं कर्म) पुरुषार्थ न होकर 'क्रत्वर्थ' हैं॥ १॥

**इस कथन में युक्ति देने के भाव से सूत्रकार अगले दो सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( ७३१ ) उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** च = और, उत्पत्तेः = उत्पत्ति वाक्य में, अतत्प्रधानत्वात् = उस उपर्युक्त फल के प्रति पुरुष की प्रधानता के प्राप्त न होने से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त तीनों वाक्यों में जो फलश्रुति प्राप्त है, पुरुषार्थ न होकर द्रव्यार्थ, संस्कारार्थ एवं कर्मार्थ ही सुनी जाती है, अतएव पुरुष के उद्देश्य से न होकर द्रव्यादि के उद्देश्य से उक्त फलों के प्रत्यक्ष श्रवण किये जाने से उपर्युक्त विवेचन में किये गये कथन (द्रव्य, संस्कार एवं कर्म तीनों क्रत्वर्थ हैं) की पुष्टि होती है॥ २॥

## ( ७३२ ) फलन्तु तत्प्रधानायाम्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** फलम् = अपयश रूपी पाप श्लोक का न सुना जाना रूप फल, तु = तो, तत्प्रधानायाम् = उसके (जुहू आदि के) प्रधानत्व मानने की स्थिति में ही सङ्गत हो सकता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान में सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया अपनी सिद्धि के लिए द्रव्य पर ही आश्रित होती है और फल की सिद्धि क्रिया से होती है, यह सर्वविदित है। अतएव द्रव्यादि तीनों को पुरुषार्थ न मानकर क्रत्वर्थ मानना ही उचित एवं शास्त्र-सम्मत है॥ ३॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से यह बतलाया कि मृण्मय ( मृत्तिका ) आदि पात्रों की उपयोगिता अनित्य कर्मों में हुआ करती है—**

## ( ७३३ ) नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** नैमित्तिके = किसी निमित्त को आधार मानकर किये जाने वाले काम्यकर्म में, विकारत्वात् = नित्य

प्रयुक्त होने वाले चमस आदि के विकार स्वरूप 'मृण्मय' (मृत्तिका) आदि अनित्य पात्रों के विहित होने से (यही सिद्ध होता है कि) अन्यत् = नित्योपयोगी चमस आदि (जो कि मृण्मय आदि से भिन्न हैं), क्रतुप्रधानम् = (नित्य सम्पादित किये जाने वाले) याग प्रधान कर्म के लिए, स्यात् = हैं।

**व्याख्या—** 'अप: प्रणयति' दर्शपूर्णमास याग के यज्ञीय प्रकरण में जहाँ जल का प्रणयन किया जाना विहित है, वहीं मृत्तिका (मिट्टी) के पात्र (चमस आदि) द्वारा प्रतिष्ठा चाहने वाले पुरुष के लिए जल आदि का प्रणयन किया जाना भी विहित है-मृण्मयेन प्रतिष्ठा कामस्य प्रणयेत्। यहाँ सन्देह हो सकता है कि मृत्तिका पात्र से किया जाने वाला जलों का प्रणयन, अनित्य कर्म है? अथवा नित्य? या दोनों ही? इसी सन्देह के निवारणार्थ आचार्य ने बताया कि मृत्तिका पात्र से जल का प्रणयन किया जाना अनित्य कर्म है; क्योंकि उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त प्रतिष्ठाकामस्य पद मृण्मय पात्र का सम्बन्ध कामना मूलक-काम्य कर्म से बतलाया है। अनित्य अथवा काम्यकर्म में ही जलों का प्रणयन विहित किया जाना यह प्रमाणित करता है कि मृण्मय पात्रों का विनियोग नित्य कर्मों में नहीं, प्रत्युत अनित्य कर्मों में किया जाता है और उक्त जल प्रणयन अनित्य कर्म है॥ ४॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि दधि आदि द्रव्य नित्य एवं नैमित्तिक दोनों कर्मों के लिए हैं—**

## (७३४) एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद सन्देहरहित अर्थ में प्रयुक्त है। एकस्य = एक ही द्रव्य के, उभयत्वे = नित्य एवं नैमित्तिक दोनों कर्मों के लिए होने में, संयोगपृथक्त्वम् = विनियोगकर्त्ता वाक्य नियामक माने जाते हैं।

**व्याख्या—** 'दध्ना जुहोति' अर्थात् 'दधि से हवन करे' यह वाक्य अग्निहोत्र के यज्ञीय प्रकरण में पढ़ा गया है। पुन: कहा गया है- 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' अर्थात् इन्द्रियकामी पुरुष दधि द्रव्य के द्वारा हवन करे। प्रथम वाक्य में दधि को साधन रूप में प्रस्तुत करने के पश्चात् द्वितीय वाक्य में उससे भिन्न (इन्द्रियकामी पद से) उसे नैमित्तिक हवन का साधन कहा गया है। पूर्व विहित विधान के पश्चात् दूसरे विधान का विनियोजक वाक्य पूर्व वाक्य से भिन्न है और यह भिन्नता उसी स्थिति में सिद्ध होगी, जब दधि को उभयार्थ (नित्य एवं नैमित्तिक दोनों) मानें। अत: 'दध्ना जुहोति' से उसे नित्य एवं 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' से उसे (दधि को) नैमित्तिक मानना ही उपयुक्त है॥ ५॥

**उपर्युक्त कथन में सूत्रकार ने सन्देहाभिव्यक्ति करने के भाव से अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (७३५) शेष: इति चेत्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** शेष: = दधि एक यज्ञीय कर्म का ही शेषभूत है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** उपर्युक्त दोनों वाक्यों में एक ही द्रव्य दधि की प्रयुक्तता विहित है। प्रथम वाक्य से अग्निहोत्र नित्य कर्म एवं द्वितीय वाक्य से नैमित्तिक कर्म में उसका साधन रूप में विधान मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें वाक्य भिन्नता न होकर आकार भिन्नता है। इसलिए दधि द्रव्य को उभयार्थ न मानकर नित्यार्थ मानना ही युक्त है॥ ६॥

**उपर्युक्त सन्देह का निवारण अगले सूत्र में सूत्रकार के द्वारा किया गया—**

## (७३६) नार्थपृथक्त्वात्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** अर्थपृथक्त्वात् = प्रयोजन भिन्नता के कारण से, सन्देह करना, न = उचित नहीं है।

**व्याख्या—** प्रथम वाक्य 'दध्ना जुहोति' से मात्र नित्य कर्म (अग्निहोत्र) के प्रयोजन का उद्देश्य पूर्ण होता है और द्वितीय वाक्य 'दध्नेन्द्रियकामस्य' से इन्द्रिय रूप प्रयोजन की सिद्धि। इस प्रकार विनियोजक वाक्यों एवं

प्रयोजनों में भिन्नता होने से यही सिद्ध होता है कि दधि रूप द्रव्य नित्य एवं नैमित्तिक दोनों के लिए है॥ ७॥

**पयोव्रत पुरुष का धर्म न होकर क्रतु ( याग ) का धर्म है, अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने यह कथन किया गया है—**

## ( ७३७ ) द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्याणाम् = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि पुरुषों के लिए विहित, क्रियार्थानाम् = क्रिया के प्रयोजन का, संस्कारः = जो पयोव्रत आदि संस्कारों का विधान किया गया है, तु = (वह) तो, क्रतुधर्मः स्यात् = क्रतु का धर्म है (पुरुष का नहीं)।

**व्याख्या—** 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागूराजन्यस्य, आमिक्षावैश्यस्य' ब्राह्मण का पयोव्रत (दूध का आहार), क्षत्रिय का यवागू व्रत (लापसी भोजन) तथा वैश्य का आमिक्षा व्रत फटे हुए दूध (फुटकी) का भोजन कहा गया है। यहाँ सन्देह यह है कि उक्त वृतों को किसका धर्म माना जाये? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रूप पुरुष का? अथवा क्रतु (याग) का? आचार्य ने समाधान करते हुए कहा कि उपर्युक्त पयोव्रत, यवागू व्रत एवं आमिक्षा व्रत यज्ञ की दीक्षा लेने वाले पुरुष (यजमान) के शरीर निर्वाह को ध्यान में रखकर विहित किये गये हैं। यजमानों की निर्बलता से क्रतु कार्य में किसी प्रकार का दोष उपस्थित न हो, इस दृष्टि से उक्त वृतों का विधान क्रतु (याग) की पूर्णता को ध्यान में रखकर किया गया है। अस्तु; पयोव्रत आदि पुरुष के धर्म न होकर क्रतु के धर्म हैं॥ ८॥

## ( ७३८ ) पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** पृथक्त्वात् = षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य रूप पुरुष की पृथक्ता (भेद) की प्राप्ति से तो पयोव्रत आदि व्रतों का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के साथ सम्बन्ध, व्यवतिष्ठेत = व्यवस्थित होना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त कथन का आशय यह है कि यदि यजमान ब्राह्मण हो और उसके द्वारा ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा ली गई हो, तो उसे पयोव्रती होना चाहिए और यदि याग क्षत्रिय (यजमान) द्वारा किया जा रहा हो, तो यवागू व्रत और यदि वैश्य यजमान द्वारा किया जा रहा हो, तो उसे आमिक्षा व्रत करना चाहिए। अतः यह आशङ्का समाप्त हो जाती है कि उक्त पयोव्रत आदि पुरुष के धर्म हैं। उन्हें क्रतु (ज्योतिष्टोम याग) का ही धर्म मानना चाहिए॥ ९॥

**अगले क्रम में 'विश्वजित्' आदि यज्ञों के सन्दर्भ में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

## ( ७३९ ) चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत नह्यशब्दं प्रतीयते॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** चोदनायाम् = विश्वाजिता यजेत् आदि वाक्यों की प्रेरणा से, फलाश्रुतेः = फल का श्रवण प्राप्त नहीं होता, इसलिए यही मानना युक्त है कि उक्त वाक्य से, कर्ममात्रम् = मात्र यज्ञीय कर्म का ही, विधीयेत = विधान किया गया है, अशब्दम् = क्योंकि अशब्द फल सहित माना जाना, प्रतीयते = उचित प्रतीत, न हि = नहीं होता।

**व्याख्या—** 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य में किया गया विश्वजित् याग का विधान मात्र याग कर्म का विधान है? अथवा फल से युक्त विधान है? पूर्वपक्ष का कहना है कि 'विश्वजिता यजेत' वाक्य में फल के अर्थ के विधायक किसी भी वाक्य के न पाये जाने से तो यही प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में फलरहित कर्म का ही विधान किया गया है॥ १०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**( ७४० ) अपि वाऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानांह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थ तोह्यसमर्थानामानन्तर्य्येऽप्यसम्बन्धःतस्मात् श्रुत्येकदेशः सः॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = ऐसा भी होता है, आम्नानसामर्थ्यात् = कि वैदिक वचनों की सामर्थ्य से ही, चोदनार्थेन = विधि-वाक्य से उसके फल सहित होने की कल्पना, गम्येत = की जाती है, हि = क्योंकि, वचनानि = वैदिक वाङ्मय के सभी वाक्य, अर्थानाम् = अर्थवान् (एवं), अर्थवत्त्वेन = अर्थवत्व (सफलता) से युक्त, प्रतीयन्ते = पाये जाते हैं, हि = किन्तु, अर्थतः = फल का, असमर्थानाम् = बोध कराने में असमर्थ वचनों में, आनन्तर्ये = निकटस्थ रहते हुए, अपि = भी, असम्बन्धः = फल से असम्बद्ध होते हैं, तस्मात् = इसी कारण, सः = (उससे) वाक्य सामर्थ्य से कल्पित किया गया फल ही, श्रुति = सुने जाने वाले वाक्य का, एकदेशः = अङ्ग (अवयव) है।

**व्याख्या—** वेद वाङ्मय के सम्पूर्ण वाक्य अथवा वेद के अनुकूल जितने भी (ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले) वाक्य हैं, उनका कथन फल से युक्त ही होता है। इस नियम के अनुसार 'विश्वजिता यजेत' वाक्य में भी फल की कल्पना करना उचित ही होगा। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि वेद के वचनों में से किसी एक वचन के साथ संयुक्त फलबोधक पद का किसी अन्य वाक्य में संयुक्त किया जाना तथा फल के कथनकर्त्ता पद का अध्याहार किया जाना भी संभव नहीं। अतएव वैदिक वाक्यों की सामर्थ्य से कल्पित फल रूपी अर्थ श्रुत अर्थ का सार रूप (निष्कर्ष) होने से यदि उसे एकदेश (अङ्ग) माना जाये, तो उसे अयुक्त नहीं कहा जा सकेगा। अतः उपर्युक्त वाक्य विश्वजिता यजेत में विहित यज्ञीय विधान कर्ममात्र का विधान न करके फलयुक्त कर्म को विहित करता है॥ ११॥

**( ७४१ ) वाक्यार्थश्च गुणार्थवत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और यदि, वाक्यार्थः = उक्त वाक्यार्थ की कल्पना फल के साथ (फलयुक्त) न की जाये, तो वह (उक्त वाक्य), गुणार्थवत् = गुण का विधान कर्त्ता माना जाता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य (विश्वजिता यजेत) की सामर्थ्य से यदि फल कल्पित करके और फिर उक्त वाक्य का अर्थ फलवत् न किया जाये, तो उस स्थिति में यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि वाक्य अपूर्व वाक्य का विधान करने वाला न होकर किसी अन्य कर्म में विश्वजित् संज्ञक विशिष्ट गुण का विधान कर्त्ता है। ऐसी मान्यता से उक्त वाक्य पूर्णतः अर्थहीन हो जाता है और वह अपने हित में नहीं, जबकि उपर्युक्त वाक्य अपूर्व कर्म का निर्विवाद विधान कर्त्ता है। अतः उपर्युक्त वाक्य को सफल कर्म का विधायक मानना ही उचित है॥ १२॥

**याग का एक सुनिश्चित फल बतलाने के भाव से पूर्वपक्ष के रूप में अगला सूत्र प्रस्तुत किया गया है—**

**( ७४२ ) तत्सर्वार्थमनादेशात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उस (उपर्युक्त विश्वजित् याग) का, अनादेशात् = कोई एक ही फल होने का आदेश न होने से, सर्वार्थम् = (उक्त याग का) सर्वार्थ (समस्त फलों से युक्त) माना जाना ही युक्त प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** 'विश्वजिता यजेत' वैदिक वाक्य है, इसलिए इस वाक्य में विहित याग फल युक्त तो है, किन्तु उक्त वाक्य में फल का नियामक वाक्य न होने से यह नहीं माना जा सकता कि उक्त याग अमुक फल देने वाला है। अतः उक्त याग का सब प्रकार के फलों से युक्त होना ही युक्त प्रतीत होता है॥ १३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले तीन सूत्रों में किया—**

**( ७४३ ) एकं वा चेदनैकत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** चोदनैकत्वात् = एक वचनान्त वैदिक पद यजेत द्वारा विहित होने के कारण उपर्युक्त विश्वजित् याग का, एकम् = एक ही फल होना, वा = भी युक्त प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** 'विश्वजिता यजेत' श्रुति वाक्य है तथा इसके यजेत पद (जो कि एक वचनान्त है) से विहित किया गया उक्त विश्वजित् याग सभी प्रकार के फलों का उत्पादक न होकर एक मात्र फल को ही निष्पन्न कर सकता है। बहुवचनान्त पद से उसका विधान किया जाता, तो सम्भवत: उसे सर्वार्थ मान भी लिया जाता; किन्तु वैसा न होने से विश्वजित् याग एक फल से ही युक्त है, यही मानना चाहिए॥ १४॥

**( ७४४ ) स स्वर्ग: स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वान् = सभी यागों के, प्रति = प्रति, अविशिष्टत्वात् = समान होने से, स: = (उस विश्वजित् याग का) वह एक फल, स्वर्ग: = स्वर्ग ही, स्यात् = होना युक्त प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** समस्त यागों में सामान्य रूप से जिस फल की प्राप्ति का कथन कल्पित किया गया है, वह 'स्वर्ग' रूप फल है। अत: समस्त यागों के प्रति समान होने से यदि उक्त विश्वजित् याग का भी फल एक मात्र स्वर्ग ही माना जाता है, तो यह सर्वथा उचित ही है। अत: वह एक मात्र फल स्वर्ग ही है॥ १५॥

**( ७४५ ) प्रत्ययाच्च॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रत्ययात् = सांसारिक प्रतीति-लोकानुभव के द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि विश्वजित् याग का वह फल 'स्वर्ग' ही है।

**व्याख्या—** लोक में प्राय: यही देखा जाता है कि वैदिक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले जन (लोग) स्वर्ग रूप फल की इच्छा से ही यज्ञीय कर्म में दीक्षित होते हैं। अतएव इस लोक अनुभव के आधार पर भी विश्वजित् यज्ञ का फल स्वर्ग ही सिद्ध होता है॥ १६॥

**अगले क्रम में अर्थवाद वाक्यों द्वारा बतलाये गये 'त्रयोदशरात्र' आदि नाम वाले सत्रों का फल कथन करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( ७४६ ) क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनि:॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गवत् = जुहू आदि याग के अङ्गों में फल की अभिव्यक्ति करने वाले वाक्य जिस प्रकार से अर्थवाद हैं, क्रतौ = उसी प्रकार से त्रयोदशरात्र आदि सत्रों में भी, फलार्थवादम् = फलाभिव्यक्तक वाक्य भी अर्थवाद हैं, कार्ष्णाजिनि: = कार्ष्णाजिनि मुनि की यही मान्यता है।

**व्याख्या—** 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते य एतारात्रीरुपयन्ति'- वे यजमान प्रतिष्ठित होते हैं, जो त्रयोदशरात्र आदि सत्र संज्ञक याग को अनुष्ठित करते हैं। उपर्युक्त वाक्य में प्रतिष्ठा रूप फल का कथन किया गया है। अत: उक्त वाक्य अर्थवाद है तथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' आदि द्वारा कथित फल के तुल्य वह स्तुतिपरक मात्र होने से उसमें विधि की कल्पना तो हुआ करती है, परन्तु फल का बोध कराना उस अर्थवाद वाक्य का आशय यथार्थत: नहीं रहता। अतएव उक्त वाक्य द्वारा कथित प्रतिष्ठा रूप फल स्तुति मात्र ही है और कार्ष्णाजिन मुनि के मतानुसार उसका वास्तविक फल विश्वजित् न्याय के अनुसार स्वर्ग ही है॥ १७॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**( ७४७ ) फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** आत्रेय: = आचार्य आत्रेय के अनुसार, फलम् = उपर्युक्त वाक्य द्वारा कथित फल प्रतिष्ठा ही त्रयोदशरात्रि सत्र का फल है, यही मानना युक्त है, हि = क्योंकि उस फल का, निर्देशात् स्यात् = प्रत्यक्षत:

निर्देश प्राप्त होने से उक्त कथन की ही सिद्धि होती है। अश्रुतौ = विश्वजित् न्याय के अनुसार यदि स्वर्ग रूप फल (जो अश्रुत है) को कल्पित करें, अनुमानम् = तो वह अनुमान मात्र (कल्पित) होने से उसे श्रुत की तुलना में बलहीन माना जायेगा।

**व्याख्या—** पूर्वविहित वाक्य विश्वजिता यजेत में जो स्वर्ग रूप फल की अभिव्यक्ति की गयी है, वह कल्पना द्वारा की गई अभिव्यक्ति है, जबकि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते य एतारात्रीरुपयन्ति' वाक्य द्वारा बतलाया गया प्रतिष्ठा रूप फल प्रत्यक्षत: श्रुत है। अत: श्रुतानुमानयो: श्रुतसम्बन्धो वलीयान् वाक्य द्वारा विहित विधान के अनुसार कल्पित (अनुमान) एवं श्रुत (प्रत्यक्ष) दोनों में से श्रुत (प्रत्यक्ष) का सम्बन्ध प्रबल माना जाता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि त्रयोदशरात्र सत्रों का फल स्वर्ग न होकर प्रतिष्ठा ही है॥ १८॥

## ( ७४८ ) अङ्गेषु स्तुति: परार्थत्वात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** अङ्गेषु = अङ्गभूत जुहू आदि द्रव्यों में प्राप्त फलश्रुति का, स्तुति: = स्तुति स्वरूप होना सम्भव है, परार्थत्वात् = कारण यह कि अङ्गभूत द्रव्यों का अङ्गी के लिए होने से यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** जुहू आदि द्रव्य अङ्ग होने से (गौण होने से) उनका अपना स्वयं का कोई फल नहीं होता, प्रत्युत जिसके वे अङ्ग हैं, वह त्रयोदशरात्र सत्र का ही [जो कि अङ्गी होने से (प्रधान होने से)] फल युक्त होना संभव है। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' आदि वाक्यों द्वारा की गयी पर्णमयी जुहू की फलाभिव्यक्ति यद्यपि अर्थवाद है, तथापि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते य एतारात्रीरुपयन्ति' वाक्य द्वारा कथित प्रतिष्ठा रूप फल का अर्थवाद होना सर्वथा असम्भव है। अत: उक्त अङ्गवत् का दृष्टान्त इस प्रसङ्ग में युक्त नहीं प्रतीत होता॥ १९॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने काम्य कर्मों की यथोक्त फलाभिव्यक्ति के भाव से पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

## ( ७४९ ) काम्ये कर्मणि नित्य: स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थ:॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** यथा = जिस प्रकार से, यज्ञाङ्गे = याग के अङ्ग का (गोदोहन आदि का) फल पशु आदि है और, क्रत्वर्थ: = यज्ञीय कर्मानुष्ठान का फल स्वर्ग है, काम्ये = उसी प्रकार कामनामूलक, कर्मणि = कर्म में भी, स्वर्ग: = स्वर्ग रूप फल, नित्य: = नित्य-प्रमुख है अन्य जो फल श्रुत हैं, वे गुणभूत हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मानना है कि 'सौर्य्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम:' - ब्रह्मवर्चस की कामना वाला पुरुष ज्योति स्वरूप परमात्मा (सूर्य) के उद्देश्य से चरु का निर्वपन करे, इस वाक्य में विहित काम्य कर्म का प्रधान फल स्वर्ग (जो अश्रुत है) तथा श्रुत ब्रह्मवर्चस गौण फल है। पूर्वपक्ष का कथन है कि जिस प्रकार गोदोहन आदि पात्रों द्वारा सम्पन्न की जाने वाली जल प्रणयन की प्रक्रिया से प्राप्त फल गौण है तथा याग का प्रमुख फल स्वर्ग माना गया है, उसी प्रकार से जितने भी काम्य कर्म हैं, उन सबमें भी सर्वत्र प्रमुख फल स्वर्ग ही माना जाना चाहिए और वाक्यश्रुत आदि को गौण फल मानना चाहिए॥ २०॥

## ( ७५० ) वीते च कारणे नियमात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कारणे = फल की अभिलाषा के, वीते = बीत जाने-निवृत्त हो जाने पर भी, नियमात् = यज्ञीय कर्मानुष्ठान के समापन का नियम प्राप्त होने से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्मानुष्ठान का शुभारम्भ जिस फल की कामना से किया जाता है, जब उस कामना की पूर्ति हो जाती है, तो बीच में ही अर्थात् निर्धारित अवधि के मध्य में ही उस याग की पूर्णाहुति सम्पन्न करके याग समाप्त कर दिया जाता है। अतएव यदि उपर्युक्त काम्य कर्म का फल वाक्यों द्वारा श्रुत ही होता, तो उस अभीप्सित फल की पूर्णता से यज्ञ-कर्म का समापन न करके उसे पूरी अवधि तक विधिवत् सम्पन्न किया जाता। जबकि मध्य में इच्छित फल की सिद्धि होने पर कर्म के समापन का नियम है। यह समापन का नियम

सिद्ध करता है कि काम्य कर्म का श्रुत फल गौण (आनुषङ्गिक) और प्रमुख फल 'स्वर्ग' है॥ २१॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों को प्रस्तुत किया—**

## (७५१) कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** कामः = काम्यकर्मों के विधानकर्त्ता वाक्य में सुना जाने वाला फल ही उपर्युक्त कर्म का फल है, वा = भी वर्णित है, तत्संयोगेन = अस्तु उसके संयोग से, चोद्यते = उपर्युक्त कर्म विहित किया गया है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' वाक्य में उस (स्वर्ग फल) की कल्पना की गयी है, जबकि ब्रह्मवर्चस आदि फल प्रत्यक्षतः श्रुत होने के कारण कर्म संयोगी है। अतः नियमानुसार कल्पित एवं श्रुत दोनों में से कल्पित की अपेक्षा श्रुत को बलवान् माने जाने से विश्वजित् न्याय से कल्पित फल स्वर्ग की अपेक्षा प्रत्यक्षतः श्रुत ब्रह्मवर्चस फल का ग्रहण किया जाना ही सर्वथा उचित है॥ २२॥

## (७५२) अङ्गे गुणत्वात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** अङ्गे = यज्ञ के अङ्ग, गोदोहन आदि में पशु आदि फल की पूर्वोक्त अभिव्यक्ति, गुणत्वात् = गौण होने के कारण सर्वथा उचित है।

**व्याख्या—** पूर्व के विवेचन में वर्णित गोदोहन आदि कर्म जो कि यज्ञीय कर्मानुष्ठान के अङ्ग हैं, उनके जो फल विहित किये गये हैं, वे सभी गौण होने से युक्ति सङ्गत हैं; जबकि उक्त वाक्य सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः द्वारा विहित काम्य कर्मों में ऐसी स्थिति नहीं है। उसमें ब्रह्मवर्चस आदि गुण रूप से विहित न होकर प्रत्यक्षतः श्रुत है। अतएव उपर्युक्त उन्हें ही कर्मों का प्रधान फल मानना औचित्यपूर्ण है॥ २३॥

## (७५३) वीते च नियमस्तदर्थम्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, वीते = आकांक्षा (फलाकांक्षा) के पूर्ण हो जाने पर भी, नियमः = याग की समाप्ति का कथित उक्त नियम, तदर्थम् = उसी याग के लिए ही है।

**व्याख्या—** गत इक्कीसवें सूत्र में जो फल प्राप्ति के अनन्तर बीच में ही कर्म के समापन की युक्ति प्रस्तुत की गयी थी, वह (यज्ञीय कर्मानुष्ठान के मध्य में ही समापन किये जाने का उक्त नियम) तदर्थ अर्थात् उस याग के लिए ही है। प्रत्येक वैदिक कर्मानुष्ठान के शुभारम्भ में यजमान यज्ञ दीक्षा लेते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि अमुक दिनों तक चलने वाला अमुक याग सम्पन्न करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। इस प्रतिज्ञा के टूट जाने पर होने वाले प्रत्ययवाय के परिहारार्थ उक्त नियम का कथन किया गया है, न कि किसी अन्य फल की प्राप्ति के उद्देश्य से। इसलिए 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' आदि समस्त काम्य कर्मों में सुना जाने वाला ब्रह्मवर्चस ही उसका फल है, स्वर्ग नहीं; यही सिद्ध होता है॥ २४॥

**दर्श-पूर्णमास आदि याग सभी प्रकार के फल वाले हैं, यही सुनिश्चित करने के लिए सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की प्रस्तुति की—**

## (७५४) सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणात् = प्रकरण से यही उपपन्न होता है, अङ्गकामे = कि अङ्ग से प्राप्त फलों के साथ, सार्वकाम्यम् = यज्ञों के समस्त फल बतलाये गये हैं (न कि अङ्ग फलों से रहित होने पर)।

**व्याख्या—** 'एकस्मै वा अन्ये क्रतवः कामायाह्रियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः' तथा 'एकस्मै वा अन्या इष्टयः कामायाह्रियन्ते सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इन वाक्यों में यह कहा गया है कि अन्य सभी याग एक-एक फल के लिए सम्पादित होते हैं, परन्तु ज्योतिष्टोम तथा दर्श-पूर्णमास याग सर्व-फलार्थ है। पूर्व पक्ष की मान्यता है कि उक्त वाक्यों द्वारा किया जाने वाला कथन सर्वफलार्थता का विधान न होकर मात्र अनुवाद ही है। जैसे

एकविंशतिर्मनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य चतुर्विंशतिमुनब्रूयात् ब्रह्मवर्चसकामस्य'- प्रतिष्ठा रूपी फल की प्राप्ति हेतु इक्कीस तथा ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति हेतु चौबीस सामिधेनी ऋचाओं (मन्त्रों) को उच्चरित करे, इस कथन में अङ्गफलों के साथ दर्श-पूर्णमास आदि (प्रधान) के फलों को सम्मिलित करके सर्वफलार्थता का अनुवाद किया जाना सम्भव है। आशय यह है कि प्रकरण में जिस प्रकार से दर्श-पूर्णमास आदि मुख्य कर्मों के फल प्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार से उनके अङ्ग रूप सामिधेनी आदि के भी फल प्रत्यक्ष हैं। इसीलिए उसे सर्वफलार्थता का विधान न मानकर अनुवाद मात्र स्वीकार करना ही युक्त उचित है॥ २५॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार द्वारा अगले सूत्र में किया गया—**

## (७५५) फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** प्रधानशब्दसंयोगात् = प्रमुख याग दर्शपूर्णमास (ज्योतिष्टोम) आदि याग के साथ उपर्युक्त वाक्यों का सम्बन्ध होने से, वा = भी, फलोपदेश: = उनमें (उक्त वाक्यों में) सर्वफलार्थता का विधान प्राप्त है।

**व्याख्या—** प्रधान याग के साथ उक्त पदों (सर्वेभ्य: तथा प्रधान शब्द संयोगात्) का संयोग यह सिद्ध करता है कि पूर्वपक्ष का कथन युक्ति सङ्गत नहीं है। क्योंकि यदि सर्वेभ्य: पद के द्वारा ज्योतिष्टोम-दर्शपूर्णमास आदि के सर्वफलार्थ विहित होना इच्छित न होकर अङ्गफलों सहित मात्र अनुवाद ही अभीष्ट होता, तो प्रधानशब्दसंयोगात् पद से ज्योतिष्टोम आदि मुख्य यागों के सम्बन्ध की उनके साथ अभिव्यक्ति कदापि न की जाती। अत: सुनिश्चित होता है कि दर्शपूर्णमास आदि की सर्वफलार्थता का उपर्युक्त वाक्यों में विधान है॥ २६॥

**अगले क्रम में एक-एक फल की प्राप्ति हेतु उक्त दर्श-पूर्णमास आदि का अनुष्ठान अलग-अलग किये जाने का विधान विहित करने के प्रयोजनार्थ आचार्य ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## (७५६) तत्र सर्वेऽविशेषात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = ज्योतिष्टोम-दर्शपूर्णमास आदि के साथ विशिष्टतापूर्ण सम्बन्ध न होने से यही प्रतीत होता है कि, तत्र = एक ही बार के अनुष्ठान सम्पादन से, सर्वे = समस्त फलों की प्राप्ति सम्भव है।

**व्याख्या—** जिन फलों की प्राप्ति का कथन पूर्व में किया गया है, उनकी सिद्धि के लिए दर्शपूर्णमास एवं ज्योतिष्टोम यागों को एक ही बार (सकृत्) अनुष्ठित किया जाना चाहिए? या इनका अनुष्ठान प्रत्येक काल के लिए अलग-अलग किया जाना चाहिए? पूर्वपक्षी का यह कहना है कि दर्शपूर्णमास आदि के साथ उक्त फलों का निमित्त-नैमित्तिक भाव संयोग समान रूप से होने के कारण यही मानना युक्त प्रतीत होता है कि उपर्युक्त याग ही समस्त फलों का निमित्त है। लोक दृष्टान्त से स्पष्ट है कि आग रूपी निमित्त का सान्निध्य होने से (उससे उत्पन्न होने वाले) दग्धता एवं ज्योति (इन नैमित्तिकों) का भी सान्निध्य सुलभ हो जाता है। ठीक उसी प्रकार उपर्युक्त याग भी निमित्त ही है और उस निमित्त से (उससे प्राप्त होने वाले अन्य) नैमित्तिकों (फलों) की प्राप्ति सम्भव है। अत: प्रत्येक फल के लिए अलग-अलग अनुष्ठान करना अनौचित्य पूर्ण है॥ २७॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## (७५७) योगसिद्धिर्वार्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। योगसिद्धि: = फल की सिद्धि का योग एक ही बार के अनुष्ठान से नहीं, प्रत्युत अनुष्ठान के भेद से होती है, अर्थस्य = कारण यह कि अर्थ-फल का, उत्पत्त्यसंयोगित्वात् = उपर्युक्त उत्पत्ति वाक्यों से सहभाव (भाव संयोग) नहीं श्रवण होता।

**व्याख्या—** पूर्व में प्राप्त उत्पत्ति वाक्यों से कहीं भी यह भाव प्रकट नहीं होता कि उपर्युक्त दर्श-पूर्णमास आदि

याग को अनुष्ठित करने से एक ही साथ समस्त फलों की सिद्धि हो जाती है। उन वाक्यों में यह बतलाया गया है कि यदि मात्र दर्शपूर्णमास याग का ही अनुष्ठान किया जाये, तो उससे समस्त फलों की सिद्धि हो सकती है। उन उत्पत्ति वाक्यों में यदि एक ही साथ समस्त फलों की प्राप्ति का सहभाव बतलाया गया होता, तो उस स्थिति में एक बार का अनुष्ठान अपेक्षित माना जाता। अत: अपने अभिलषित फल की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला दर्श-पूर्णमास आदि का अनुष्ठान उस फल की सिद्धि का साधन बन जाता है। अतएव फल को दृष्टि में रखते हुए पृथक्-पृथक् अनुष्ठान किया जाना ही उचित है॥ २८॥

**सौत्रामणी अग्निचयन कर्म का अङ्ग है, यह बतलाने के लिए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (७५८) समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** चोदना = विधि की मान्यता के अनुसार, संयोगस्य = संयोग का कथन मानने पर, समवाये = अङ्ग एवं अङ्गी के समवाय सम्बन्ध में, अर्थवत्त्वात् = सार्थकता सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत'- अग्नि का चयन करने के अनन्तर सौत्रामणी याग करना चाहिए। इस अनन्तर एक अन्य वाक्य 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पति सवेन यजेत' से वाजपेय याग के पश्चात् बृहस्पति सव का यजन करना चाहिए। उपर्युक्त वाक्यों द्वारा विहित सौत्रामणी को अग्निचयन कर्म का अङ्ग तथा बृहस्पतिसव को वाजपेय याग का अङ्ग मानना चाहिए? यहाँ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध की विधि माने? या काल का विधान? सन्देह का निवारण करते हुए सूत्रकार ने कहा कि प्रथम वाक्य में प्रयुक्त चित्वा एवं द्वितीय वाक्य में प्रयुक्त इष्ट्वा के कृत्वा प्रत्यय मात्र के कारण काल का विधान मानना युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उसका (कृत्वा का) प्रयोग उक्त दोनों वाक्यों में शास्त्रीय नियमानुसार न होकर सम्भावित अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ- उपर्युक्त प्रत्यय का नियम करने वाले वाक्य 'समानकर्तृकयो: पूर्वकाले' के समान कर्तृकयो: पद से, एक ही काल में दो क्रियाओं को एक ही कर्त्ता द्वारा सम्पन्न किये जाने की स्थिति में प्रथम क्रिया में कृत्वा प्रत्यय होना प्राप्त है। अत: उपर्युक्त वाक्यों में विहित सौत्रामणी को अग्निचयन कर्म का अंग तथा बृहस्पतिसव को वाजपेय याग का अङ्ग मानना ही युक्त है॥ २९॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देह व्यक्त करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (७५९) कालश्रुतौ काल इति चेत्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** कालश्रुतौ = कालवाचक कृत्वा प्रत्यय के सुने जाने से, चेत् = तो, काल: = काल का विधान माना जाना चाहिए, इति = ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** दृष्टान्त वाक्य 'समान कर्तृकयो: पूर्वकाले' में काल का प्रत्यक्षत: ग्रहण होने से तो उपर्युक्त वाक्यों में काल का विधान मानना ही युक्त प्रतीत होता है॥ ३०॥

**उक्त सन्देह का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## (७६०) नासमवायात्प्रयोजनेन स्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** प्रयोजनेन = प्रयोजन रूप फल के साथ, उक्त सौत्रामणी एवं बृहस्पतिसव का, असमवायात् = समवाय (सम्बन्ध) न होने से, न स्यात् = उक्त सन्देह का कोई औचित्य ही नहीं है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सन्दर्भ में वाक्य है-'फलवत् सन्निधावफलं तदङ्गम्' अर्थात् फलवान् कर्म की सामीप्यता में जो अफल (फलहीन) कर्म विद्यमान है, उसे अङ्गकर्म समझना चाहिए। इस न्याय व्यवस्था के अनुसार साङ्ग की मान्यता ही युक्त है। अतएव उक्त वाक्यों में काल का विधान नहीं; प्रत्युत अङ्गाङ्गि-भाव रूप सम्बन्ध विधि ही मानना सर्वथा उचित एवं न्याय सङ्गत है॥ ३१॥

**अगले क्रम में वैमृध कर्म मात्र पौर्णमास यज्ञीय कर्म का अङ्ग है, यह बतलाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( ७६१ ) उभयार्थमिति चेत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** (वैमृध आदि कर्म दर्श एवं पूर्णमास) उभयार्थम् = दोनों कर्मों का अङ्ग है, इति चेत् = यदि इस प्रकार कहा जाये, तो? (अगले सूत्र से सम्बद्ध है)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि वैमृध कर्म दर्श एवं पौर्णमास दोनों कर्मों के प्रकरण में पठित है- 'संस्थाप्यपौर्णमासीं वैमृध मनु निर्वपति' पौर्णमास याग के समापन के अनन्तर वैमृध का निर्वाप करे। अत: पूर्व विवेचन के अनुसार- जो कर्म जिसके प्रकरण में पठित है, वह उसी का अङ्ग है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैमृध कर्म दोनों (दर्श एवं पौर्णमास) का अङ्ग है॥ ३२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( ७६२ ) न शब्दैकत्वात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दैकत्वात् = उपर्युक्त सन्दर्भ में एकवचन विधि प्रत्यय प्रयोग होने से, न = पूर्वपक्ष का उक्त कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वैमृध कर्म का विधान उक्त वाक्य में प्रयुक्त एकवचन विधि प्रत्यय 'निर्वपति' द्वारा विहित होने से उसे दोनों कर्मों का अङ्ग मानना उचित नहीं माना जा सकता। अतएव वैमृध कर्म को मात्र पौर्णमास याग का अङ्ग मानना ही युक्त है॥ ३३।

**उपर्युक्त कथन में सन्देहाभिव्यक्ति के उद्देश्य से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७६३ ) प्रकरणादिति चेत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—**प्रकरणात् = प्रकरण के द्वारा उक्त दोनों यागों के साथ वैमृध कर्म की उपपन्नता अङ्ग रूप में होती है, इति चेत्=यदि ऐसा कहा जाये, तो? (अगले सूत्र से सम्बद्ध)।

**व्याख्या—** उक्त प्रकरण में वैमृध कर्म का विधान प्राप्त होने से उसे मात्र पौर्णमास का ही अङ्ग मानना भी तो उचित नहीं है, भले ही उस कर्म का विधान निर्वपति इस एकवचन के विधि प्रत्यय से ही किया गया हो। अत: प्रकरण का बाध न हो, इसलिए उसे दोनों कर्मों का अङ्ग मानना ही उचित होगा॥ ३४॥

**उपर्युक्त आशङ्का के निराकरण के उद्देश्य से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७६४ ) नोत्पत्तिसंयोगात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तिसंयोगात् = कारण यह कि उत्पत्ति वाक्यों (विधायक वाक्यों) के विधान के अनुसार उक्त कर्म का सम्बन्ध पौर्णमास यज्ञीय कर्मानुष्ठान के साथ प्राप्त होने से, न = ऐसा मानना उचित नहीं है।

**व्याख्या—** पूर्व में आये हुए उत्पत्ति वाक्य 'संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनु निर्वपति' के साथ वैमृध कर्म संयुक्त है। यदि उपर्युक्त वैमृध कर्म को दोनों यागों का अङ्ग मानना अभिप्रेत होता, तो उत्पत्ति वाक्य में संस्थाप्य पौर्णमासीं के स्थान पर संस्थाप्य दर्शपौर्णमासीं वैमृधमनु निर्वपति होता। इसी से वैमृध कर्म का मात्र पौर्णमास याग का अङ्ग होना युक्त है॥ ३५॥

**अनुयाज कर्मों का अनुष्ठान अग्निमारुत कर्मानुष्ठान के पश्चात् करना चाहिए, यह बतलाने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७६५ ) अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** अनुत्पत्तौ = उत्पत्ति वाक्य में अङ्गाङ्गि-भाव विधि की सम्भावना का सर्वथा अभाव होने से, तु =

तो, कालः = काल का विधान ही, स्यात् = होना चाहिए, प्रयोजनेन = क्योंकि प्रयोजन के साथ, सम्बन्धात् = सम्बन्ध (प्रयाजों का सम्बन्ध) होना सम्भव है।

**व्याख्या**— 'आग्निमारुतादूर्ध्वंप्रयाजैश्चरति' अग्निमारुत संज्ञक शस्त्र के उत्तरकाल में प्रयाज याग सम्पन्न करे। ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में पठित उपर्युक्त वाक्य में विहित विधान उपर्युक्त होमों के काल का विधान है? या यह विहित किया है कि प्रयाज आग्निमारुत शस्त्र का अङ्ग रूप है? इसके समाधान में सूत्रकार ने कहा कि ज्योतिष्टोम याग की सम्पन्नता के प्रयोजन से आग्निमारुत शस्त्र तथा प्रयाज का सम्पादन किया जाता है। अतः ज्योतिष्टोम याग के साथ इन उपर्युक्त दोनों यागों का संयोग उपपन्न होने से प्रयाज को आग्निमारुत शस्त्र का अङ्ग मानना नितान्त अनुचित होगा। इसलिए उपर्युक्त वाक्य में काल विधान मानना ही सिद्ध है॥ ३६॥

**अगले क्रम में प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने कहा कि ज्योतिष्टोम याग को दर्श-पूर्णमास याग के अनन्तर किया जाना चाहिए—**

### (७६६) उत्पत्तिकालविषये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ**— उत्पत्तिकालविषये = (उत्पत्ति वाक्य में प्राप्त) अङ्गरूपता एवं काल दोनों के विधान की संशयात्मक स्थिति में, कालः = काल का ही विधान मान्य, स्यात्= होता है, वाक्यस्य = क्योंकि वाक्य के कथनानुसार, तत्प्रधानत्वात् = उसकी (काल विधान की) प्रधानता है।

**व्याख्या**— सूत्रकार का कहना है कि उत्पत्तिवाक्य में काल का विधान एवं अङ्गाङ्गिभावरूपता दोनों की सन्देहास्पद अभिव्यक्ति होने पर काल का विधान मानना चाहिए। 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' दर्शपूर्णमास याग के पश्चात् ज्योतिष्टोम याग को सम्पन्न करे, उक्त वाक्य में सन्देह यह है कि काल का विधान है? या अङ्गाङ्गिभाव रूप विधि का? सन्देह का निवारण करते हुए सूत्रकार ने कहा कि उपर्युक्त वाक्य में काल (उत्तरकाल) की प्रधानता प्रत्यक्ष होने से यही मानना उचित होगा कि उक्त वाक्य में काल का विधान है। वैसे भी उक्त दोनों ही याग स्वतन्त्र विधान से युक्त हैं तथा विहित विधि-व्यवस्था के अनुसार अनुष्ठित किये जाने से फल प्रदाता भी हैं। उक्त दोनों यागों के फल सहित होने की सिद्धि इस वाक्य 'एष वै देवरथो यद्दर्शपूर्णमासौ, यो दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजते रथस्पष्टएवावसाने वरे देवानामवस्थति से भी होती है तथा पूर्वोत्तर काल (काल का विधान) की मान्यता भी पुष्ट होती है। अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि उक्त वाक्य में अङ्गाङ्गिभाव विधि न होकर, काल का विधान स्पष्ट है॥ ३७॥

**वैश्वानर इष्टि का फल पुत्र को प्राप्त होता है, यह बतलाने के लिए आचार्य ने अगला सूत्र दिया—**

### (७६७) फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ**— अशेषभूतत्वात् = फल के प्रति उसके अवशेषभूत होने से, फलसंयोगः = फल का सम्बन्ध, अचोदिते = विधान विहित नहीं होने से, तु = तो ऐसा, स्यात् = हो सकना, न = सम्भव ही नहीं है।

**व्याख्या**— 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इस वाक्य में पुत्रोत्पत्ति पर पिता द्वारा की जाने वाली वैश्वानर इष्टि से पुत्र को प्राप्त होने वाले फलों-तेजस्विता, धन, अन्न, पशु एवं सुचारु इन्द्रियों का कथन किया गया है। यहाँ सन्देह यह है कि यह समस्त फल किसे प्राप्त होता है? जिसके उद्देश्य से उक्त वैश्वानर इष्टि को सम्पादित किया गया, उस पुत्र को? या अविहित पिता को? समाधान के भाव से उक्त सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि उद्देश्य का विषय पुत्र है न कि पिता, अतएव साधनहीन शिशु की असमर्थता के कारण वैश्वानर इष्टि को सम्पादित करने वाले पिता को, उक्त फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव पुत्र के प्रयोजनार्थ किये जाने वाले उक्त कर्म का सम्पूर्ण फल पुत्र को ही मिलने का कथन किया गया है॥ ३८॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने वैश्वानर इष्टि को जातकर्म संस्कार के अनन्तर किया जाना विहित किया—**

**( ७६८ ) अङ्गानां तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गानाम् = अङ्गभूत वैश्वानर इष्टि को, तु = तो, उपघातसंयोगः = पुत्र की उत्पत्ति के साथ सम्बन्धित होने से उसे, निमित्तार्थः = जातकर्म निमित्तक ही मानना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में यह बतलाया है कि वैश्वानर इष्टि का निमित्त पुत्र जन्म ही है, परन्तु इतने से यह ज्ञान नहीं होता कि उक्त वैश्वानर इष्टि को किस समय सम्पादित किया जाना चाहिए? पुत्र का जन्म होने के अव्यवहित उत्तर काल में? या पुत्र जन्म हो जाने तथा जातकर्म की सम्पन्नता हो जाने पर? आचार्य ने सुनिश्चित किया कि वैश्वानर इष्टि पुत्र जन्म के अव्यवहित उत्तरकाल में ही किया जाना युक्त है; क्योंकि जातकर्म होने तक माँ के दुग्ध से वंचित रहने से पुत्र के व्यथित होने का भय बना रहेगा। अतः वैश्वानर इष्टि की कर्त्तव्यता जन्म के उत्तर काल में ही मानी जानी चाहिए॥ ३९॥

**अङ्गों ( अङ्गकर्मों ) की सम्पन्नता उनके अपने-अपने काल में ही की जानी चाहिए, यही बतलाने के लिए सूत्रकार ने यहाँ पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( ७६९ ) प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** प्रधानेन = प्रधान कर्म के साथ, अभिसंयोगात् = उनका सम्बन्ध होने से, अङ्गानाम् = अङ्गकर्मों के अनुष्ठान का सम्पादन, मुख्यकालत्वम् = प्रमुख (प्रधान) समय में किया गया मानना युक्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि अङ्गकर्मों का सम्बन्ध प्रधान कर्म के साथ सिद्ध होने से जैसे प्रधान कर्म प्रधान काल में अनुष्ठित होते हैं, वैसे ही अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान भी प्रधान काल में होना चाहिए॥ ४०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने इस पाद के अन्तिम सूत्र में किया—**

**( ७७० ) अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात्स्वकाले स्यात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** अपवृत्ते = प्रधानकर्म के समापन के पश्चात् उनका, चोदना = विधान किये जाने तथा, तत् = उसका अङ्गकर्मों के लिए, सामान्यात् = समान होने से, तु = तो, स्वकाले = अङ्गकर्मों को उनके अपने-अपने निर्धारित समय में ही, स्यात् = होना चाहिए,

**व्याख्या—** प्रधान कर्म के पश्चात् ही अङ्गकर्मों के विहित होने से उन अङ्गकर्मों का सम्पादन प्रधान कर्म वाले प्रधानकाल में नहीं किया जाना चाहिए; प्रत्युत उन्हें उनके अपने-अपने काल में ही अनुष्ठित किया जाना युक्त है। अतएव प्रधान कर्मों के साथ अङ्गकर्मों का सम्बन्ध होते हुए भी उनका अनुष्ठान प्रधान काल में न करके स्व-स्व काल में ही किया जाना सिद्ध है॥ ४१॥

**॥ इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः॥**

## ॥ अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**प्रस्तुत चतुर्थ पाद के शुभारम्भ के अवसर पर देवन आदि को राजसूय याग का अङ्ग बतलाने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष के रूप में प्रथम सूत्र प्रस्तुत किया—**

### ( ७७१ ) प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणशब्दसामान्यात् = प्रकरण एवं शब्द दोनों की सामान्यता से, चोदनानाम् = 'देवन' पद से की जाने वाली क्रियाविधि आदि को, अनङ्गत्वम् = राजसूय याग का अङ्ग नहीं मानना चाहिए।

**व्याख्या—** राजसूय याग के प्रकरण में पठित 'प्रष्ठौहीं दीव्यति' एवं 'अक्षैर्दीव्यति' तथा 'राजन्यं जिनाति' इन समस्त वाक्यों में विहित देवन आदि क्रियाओं को राजसूय याग का अङ्ग मानना चाहिए? या नहीं मानना चाहिए? पूर्वपक्ष का कहना यह है कि जैसे इष्टि आदि कर्म उक्त प्रकरण में विहित हैं, उसी प्रकार से (विधि पद के समान ही) प्रकरण भी दोनों कर्मों को लेकर सामान्य होने (विशिष्ट न होने) से उक्त कर्म (देवन) को राजसूय याग का अङ्ग मानना युक्त प्रतीत नहीं होता॥ १॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

### ( ७७२ ) अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** ततः = उस देवन के याग स्वरूप समस्त कर्म, विशिष्टत्वात् = विशिष्ट (पृथक्) होने अपि वा = से भी, अनिज्याः = उपर्युक्त यज्ञीय स्वरूप से भिन्न देवन आदि सभी क्रियाएँ, अङ्गम् = राजसूय याग का ही अङ्ग, स्युः = होना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त 'देवन' आदि कर्म याग रूप नहीं हैं और उनका विधान करने वाले वाक्यों में भी विशिष्टता न होकर समानता ही है तथा प्रकरण भी समान है। स्वरूप का भेद होने के कारण अयागरूप 'देवन' आदि क्रियाएँ वैसी नहीं हैं, जैसे कि राजसूय यज्ञ में होने वाली प्रधान याग क्रियाएँ। अतः देवन आदि कर्म को राजसूय याग का प्रधान कर्म नहीं, अङ्ग मानना ही उचित एवं युक्ति युक्त है॥ २॥

**अब देवन आदि को कृत्स्न राजसूय याग का अङ्ग कथन करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष की स्थापना की गई हैं—**

### ( ७७३ ) मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** यस्य = जिसकी, मध्यस्थम् = सामीप्यता-सन्निधि में जिसका पाठ किया गया हो, तत् = उसको, मध्ये = उसी का अङ्ग माना जाना युक्त प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि महाप्रकरण एवं विधायक वाक्यों की एकता होने से देवन आदि क्रियाएँ राजसूय याग की अङ्ग हैं, परन्तु उक्त प्रकरण से हटकर अन्य प्रकरण एवं सामीप्यता-सन्निधि के साक्ष्य-सामर्थ्य से उन देवन आदि कर्मों का मात्र अभिषेचनीय कर्म का अङ्ग होना ही उपपन्न होता है। आशय यह है कि अवान्तर प्रकरण से उसको संकुचित करके, सम्पूर्ण याग के साथ उसका सम्बन्ध न मानकर, केवल अभिषेचनीय के साथ ही सम्बन्ध होने से उसी का (अभिषेचनीय का) अङ्ग मानना चाहिए॥ ३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान देने हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### ( ७७४ ) सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न- हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। सर्वासाम् = राजसूय संज्ञक सम्पूर्ण याज्ञिक क्रियाओं का देवन आदि क्रियाएँ अङ्ग ही, स्यात् = होनी चाहिए, चोदनातः = कारण यह कि विधि वाक्यों में, समत्वात् = प्रधान रूप में सभी की समानता पाये जाने से (यही युक्त है) तथा, तस्य = उसका (अभिषेचनीय का),

प्रकरणम् = अवान्तर प्रकरण भी विद्यमान, न हि = नहीं है, मध्ये = तथा मध्य में प्राप्त पाठ, देशार्थम् = एक देश (स्थान) के उद्देश्य-अभिप्राय से मिलता है, न कि अङ्ग के अभिप्राय से, उच्यते = कहा गया है।

**व्याख्या—** महाप्रकरण का संकुचन करना तभी सम्भव हो सकता है, जब अवान्तर प्रकरण अपने अस्तित्व में होता। इसलिए जब प्रकरण ही नहीं है, तो उसे संकुचित करके उक्त देवन आदि क्रियाओं को 'अभिषेचनीय' का ही अङ्ग कल्पित करना सर्वथा अयुक्त है। मध्य में 'अभिषेचनीय' कर्म की सन्निधि में किया जाने वाला देवन आदि क्रियाओं का पाठ एकदेश (स्थान) के अभिप्राय से ही है। इष्टि आदि क्रियाएँ जिस प्रकार से राजसूय याग की प्रधान क्रियाएँ हैं, वैसे ही 'अभिषेचनीय' भी प्रधान क्रिया ही है। अतएव उनमें पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, प्रत्युत यही मानना चाहिए कि देवन आदि कर्म राजसूय याग के अङ्ग हैं॥ ४॥

**उपसत् काल में सौम्य आदि हवियों को अनुष्ठित किए जाने के सन्दर्भ में अगला सूत्र है—**

**( ७७५ ) प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रकरणाविभागे = प्रकरण के विभाग रूप भेद का अभाव होने की स्थिति में भी सौम्यादि को 'उपसदों' का अङ्ग मानना चाहिए, हि = क्योंकि, विप्रतिषिद्धम् = पारस्परिक प्रतिकूलता होने से, उभयम् = अङ्गरूपता एवं तात्कालिकता दोनों का माना जाना युक्त नहीं।

**व्याख्या—** राजसूय याग के प्रकरणान्तर्गत विहित संसृत संज्ञक दस हवियों के बीच तीन सौम्य, त्वाष्ट्र एवं वैष्णव हवियों के विधान के पश्चात् पठित वाक्य 'पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति,अन्तरात्वाष्ट्रेण, उपरिष्टाद्वैष्णवेन' द्वारा सौम्यादि हवनों को उपसद् हवनों का अङ्ग बतलाया है ? अथवा काल का विधान बतलाया है ? इस पर पूर्वपक्ष का मानना है कि प्रकरण की समानता से (अविलक्षणता से) अङ्गरूपता तथा कर्मानुष्ठान कालिकता दोनों के प्राप्त होते हुए भी एक साथ दोनों का विधान मानना सर्वथा अयुक्त ही होगा। क्योंकि इस मान्यता से वाक्य भिन्नता रूप दोष उपस्थित हो जाता है। अत: यही प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वाक्यों में उक्त सौम्यादि हवन के अनुष्ठान का उपसद् काल को विहित न करके उसे उपसद् का अङ्ग विहित किया है॥ ५॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७७६ ) अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** विशेषस्य = उस विशेषता का उपर्युक्त दोनों ही होमों में अभाव है, जिससे दोनों में अङ्गाङ्गि-भाव की सिद्धि होती हो (उसकी विशिष्टता का), अदर्शनात् = दर्शन न होने से, अपि वा = फिर भी, कालमात्रम् = उक्त वाक्य में अनुष्ठान का उपसत् काल ही विहित किया गया है, स्यात् = यही मानना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति' आदि में ऐसी कोई विशिष्ट अभिव्यक्ति का पद विद्यमान नहीं है, जिससे उक्त होमों उपसद् एवं सौम्य में भेद (पृथक्त्व) की सिद्धि होती हो तथा उसके आधार पर उसमें अङ्गाङ्गि-भाव कल्पित किया जाता। परन्तु जिस प्रकार से 'उपसद्' प्रधान है, उसी प्रकार से सौम्य आदि भी प्रधान ही हैं। इसलिए उपर्युक्त वाक्य में अङ्गाङ्गि-भाव का कथन नहीं, प्रत्युत सौम्य आदि होम के अनुष्ठान काल का कथन किया गया है, यही सिद्ध होता है॥ ६॥

**आमन होम सांग्रहणी इष्टि का अङ्ग है, यह बतलाने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ७७७ ) फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद प्रस्तुत कथन की पुष्टि हेतु प्रयुक्त है। फलवत् = फलयुक्त सांग्रहणी इष्टि, इतरस्य = अपने से अन्य के-आमन होमों के प्रति, प्रधानम् = प्रधान, स्यात् = होती है, उक्त हेतुत्वात् = क्योंकि उपर्युक्त

हेतु (फलवान् की सामीप्यता में पठित फलहीन का अङ्ग माना जाना सर्वमान्य होने) से यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त सांग्रहणी पद का आशय मनुष्यों के संग्रहण (बसाने) से है। जिस इष्टि का फल मनुष्यों के (ग्रहण) संग्रह करने के रूप में प्राप्त हो, उसे साङ्ग्रहणी की संज्ञा दी गई है। प्रकरण में 'संग्रहणी निर्वपेद् ग्रामकामः' इस वाक्य से (ग्राम कामी साङ्ग्रहणी याग करे) साङ्ग्रहणी को विहित करने के अनन्तर अन्य वाक्य आमनस्य देवा इति तिस्रआहुतीर्जुहोति से यह बतलाया कि मन्त्र आमनस्य देवा से तीन आहुति दें। इस तरह से आमन संज्ञक तीन होमों को विहित किया। सन्देह यहाँ यह है कि इस आमन नाम तीनों हवनों को उक्त साङ्ग्रहणी का अङ्ग है? सूत्रकार ने कहा कि साङ्ग्रहणी प्रधान एवं फलवान् इष्टि की सन्निधि में पठित होने से तीनों आमन होमों को जो कि फलहीन हैं, उक्त प्रधान इष्टि का अङ्ग ही मानना युक्त है। शास्त्रीय नियम का यही कथन भी है-फलवत्सन्निधानावफलं तदङ्गम्। अतएव साङ्ग्रहणी के समान आमन होमों को उसके तुल्य प्रधान न मानकर, प्रधान (साङ्ग्रहणी) का अङ्ग ही मानना युक्त है॥ ७॥

**अगले तीन सूत्रों में दधिग्रह की नित्यता बतलाने के उद्देश्य से आचार्य ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

### (७७८) दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** दधिग्रहः = दधिग्रह संज्ञक विशिष्ट पात्र, नैमित्तिकः = नैमित्तिक है, श्रुतिसंयोगात् = कारण यह कि श्रुति वाक्य के सम्बन्ध से यही मानना युक्त प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** 'यां वै काश्चिदध्वर्युर्यजमानश्च देवतामन्तरितः तस्या आवृश्चेत, यत्प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णाति शमयत्येवैनम्' जिस-जिस देवता का अन्तराय (व्यवधान) अध्वर्यु एवं यजमान द्वारा किया जाता है, वह देवता रुष्ट हो जाता है तथा दधिग्रह के उपादान किये जाने से उक्त कुपित देवता का क्रोध शान्त हो जाता है। ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित उक्त वाक्य में विहित दधिग्रह नित्य माना जाये? अथवा नैमित्तिक॥ ८॥

### (७७९) नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** नित्यः = दधिग्रह नित्य भी है, च = और नैमित्तिक भी, ज्येष्ठशब्दात् = कारण यह कि उसकी ज्येष्ठशब्दता प्राप्त होने से यही उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** समस्त ग्रह पात्रों में दधिग्रह को शब्द से ज्येष्ठ पाये जाने (प्रशस्तता प्राप्त होने) से उसके नित्य होने की भी सिद्धि होती है; क्योंकि बिना नित्यता के उसे ज्येष्ठ कहना सम्भव नहीं तथा नैमित्तिक की तुलना में नित्य की ज्येष्ठता सर्वविदित होने के साथ-साथ सर्वमान्य भी है। इस प्रकार उक्त हेतुओं से उक्त दधिग्रह का नित्य एवं नैमित्तिक दोनों ही होना सिद्ध होता है॥ ९॥

### (७८०) सार्वरूप्याच्च॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सार्वरूप्यात् = सर्वस्वरूपता की प्राप्ति से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य द्वारा उक्त दधिग्रह की सर्वस्वरूपता समस्त नित्य-नैमित्तिक समस्त देवताओं का स्वरूप होना बतलाया है-सर्वेषां वा एतदेवानां रूप यदेषग्रहः। यह कथन उसी स्थिति में उपपन्न हो सकता है, जब उक्त दधिग्रह को केवल नैमित्तिक न मानकर, उभयरूप (नित्य एवं नैमित्तिक) माना जाये॥ १०॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

### (७८१) नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य॥ ११॥

**सूत्रार्थ—**अर्थवादः = अर्थवाद है, च = तथा उसके साथ, तयोः = दोनों अध्वर्यु एवं यजमान का, कर्मणि = कर्म में, असम्बन्धात् = सम्बन्ध प्राप्त न होने से, नित्यः = उपर्युक्त दधिग्रह केवल नित्य ही, स्यात् = होना मान्य है; उक्त वाक्य में, अन्तरायस्य = एवं अन्तराय (व्यवधान) का सुना जाना, भङ्गित्वात् = दधिग्रह के

विधान में केवल प्रकरण भर हो सकता है, वा = अथवा।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में अन्तराय (व्यवधान) की प्रयुक्तता का तात्पर्य निमित्त नहीं, प्रत्युत दधिग्रह की स्तुति करना है और यदि ऐसा न होता हो, उक्त वाक्य में इन वाक्यों 'यदि रथन्तरसामासोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान ग्रहान् गृह्णीयात्' एवं 'भिन्ने जुहोति' के समान उसके वाचक 'यदि' अथवा सप्तमयन्त पद की प्रयुक्तता भी अवश्य ही पायी जाती, जबकि ऐसा नहीं है। यदि उक्त अन्तराय वाक्य दधिग्रह का स्तावक न हो, तो उसका सम्बन्ध अध्वर्यु एवं यजमान के कर्म से भी होता, परन्तु ऐसे सम्बन्ध का भी सर्वथा अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि अन्तराय कर्म सम्बन्धी विधि न होकर ग्रह-विधि सम्बन्धी विधि है, नित्य है॥ ११॥

**वैश्वानर इष्टि के सन्दर्भ में सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

## ( ७८२ ) वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** नित्यैः = नित्यों के साथ (वैश्वानर इष्टि का), समानसंख्यत्वात् = समान रूप से आख्यान प्राप्त होने से, वैश्वानरः = वैश्वानर इष्टि, च = भी, नित्यः = नित्य, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाऽग्निं चिनुते, यथा सामिगर्भो विपद्यते तादृगेव तदार्तिमार्च्छेत् वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तात् निर्वपेत्' - संवत्सर (एक वर्ष) की अवधि तक धूनी अर्थात् ऊखा में अग्नि को सुरक्षित न रखकर उसे चयनित करके कुण्ड में स्थापित करता है, वह पुरुष अपूर्ण गर्भपात के तुल्य पीड़ा से दुःखित होता है। अतएव अग्निचयन के पूर्व वैश्वानर इष्टि करना चाहिए। उपर्युक्त वाक्य में विहित वैश्वानर इष्टि नित्य माना जाना चाहिए? अथवा नैमित्तिक? इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि उक्त वैश्वानर इष्टि का विधान भी अन्य नित्य कर्मों के विधान की तरह है। अस्तु; उस विधान उक्त वैश्वानर इष्टि को नित्य ही मानना युक्त प्रतीत होता है॥ १२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ७८३ ) पक्षे वोत्पन्नसंयोगात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** पक्षे = नैमित्तिक कर्म है उक्त वैश्वानर इष्टि, उत्पन्नसंयोगात् = क्योंकि विधायक वाक्य के साथ निमित्त का संयोग प्राप्त होने से, वा = यही उचित है।

**व्याख्या—** ज्ञातव्य है कि संवत्सर पर्यन्त ऊखा में धारण करके अग्निचयन कर्म सम्पादित करने वाला वैश्वानर इष्टि न करे, प्रत्युत वह पुरुष करे, जो संवत्सर पर्यन्त ऊखा में धारण न कर पाने का दोषी हो गया हो। उसे अपने दोष के परिहारार्थ उक्त इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। 'यः पुमानभृत्वाऽग्निं चिनुते स निर्वपेत्' आदि वाक्य में भले ही नियमानुसार 'यदि एवं सप्तम्यन्त' पद की प्रयुक्तता का अभाव होने पर भी प्राप्त यत्, तत् पद से अभरण अर्थात् अधारणरूपता एवं इष्टि का उपादान होने से स्पष्ट रूप से निमित्त नैमित्तिक भाव की प्राप्ति होने से यही सिद्ध होता है कि उक्त वैश्वानर इष्टि नित्य न होकर नैमित्तिक है॥ १३॥

**अगले क्रम में सूत्रकार छठवीं चिति को नैमित्तिक बतलाने के भाव से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( ७८४ ) षट्चितिः पूर्ववत्त्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—**षट् = छठवीं, चितिः = चिति, पूर्ववत्त्वात् = पूर्ववत् होने से (नित्य ही होनी चाहिए)।

**व्याख्या—** 'संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति, योऽग्निं चित्वा न प्रतितिष्ठति। पञ्चपूर्वाश्चितयो भवन्ति, अथ षष्ठीं चितिं चिनुते' संवत्सर पर्यन्त अग्निचयन की प्रतिष्ठा रहती है, जिसका वर्ष पर्यन्त अग्निचयन कर्म प्रतिष्ठित नहीं रह पाता, उसके लिए पूर्व की पाँच चितियाँ तथा पश्चात् छठवीं चिति होती है। उपर्युक्त वाक्य में विहित छठवीं चिति नित्य है? अथवा नैमित्तिक? पूर्वपक्ष का कहना है कि उक्त वाक्य में विहित छठवीं

चिति, पूरणी षष्ठी तभी हो सकती है, जब पूर्व की पाँचों चितियों से उसका सम्बन्ध हो और पूर्व की पाँचों चितियाँ नित्य ही हैं, अतएव उनसे सम्बन्ध रखने वाली छठवीं चिति भी नित्य ही मानी जानी चाहिए॥ १४॥

**उपर्युक्त कथन की पुष्टि में युक्ति देने के भाव से आचार्य ने अगले दो सूत्रों को प्रस्तुत किया—**

## ( ७८५ ) ताभिश्च तुल्यसंख्यानात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, ताभिः = पूर्व की पाँच चितियों के प्रति, तुल्यसंख्यानात् = समानता का कथन प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** जैसे पूर्व की पाँचों चितियों का कथन है, वैसे ही छठीं चिति का भी कथन प्राप्त होता है। जैसे- इयं वाव प्रथमाचितिः आदि से पूर्व पाँचों चितियों का कथन करके उसी के तुल्य वाक्य 'संवत्सरो वाव षष्ठीचितिः' से षष्ठीचिति का कथन किया गया है। इससे षष्ठी चिति के नित्य होने की पुष्टि होती है॥ १५॥

## ( ७८६ ) अर्थवादोपपत्तेश्च॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थवादः = अर्थवाद के, उपपत्तेः = उपपन्न होने से भी उपर्युक्त कथन युक्ति युक्त है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य 'षट्चितियो भवन्ति' में छहों चितियों के समान रूप से प्रतिष्ठा का हेतु कथन किये जाने से भी छठवीं चिति का नित्य होना उपपन्न होता है॥ १६॥

**सम्पूर्ण पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से सूत्रकार ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किये—**

## ( ७८७ ) एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। एकचितिः = उक्त समस्त चितियों में से एक अकेली छठवीं चिति को ही नैमित्तिक, स्यात् = होना चाहिए, हि = क्योंकि, अपवृक्ते = पूर्व की पाँचों चितियों के समापन पर, निमित्तेन = निमित्त (अप्रतिष्ठा रूप) से, चोद्यते = उक्त छठवीं चिति का विहित होना प्राप्त है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'संवत्सरो वा एनं' आदि में प्रयुक्त चित्वा पद निश्चित रूप से यह बतलाता है कि पूर्व की पाँचों चितियों के समापन के अनन्तर ही अप्रतिष्ठा रूपी निमित्त के द्वारा छठवीं चिति विहित की गयी है। यदि ऐसा न होता, तो यह वाक्य योऽत्र न प्रतितिष्ठति, असौ षष्ठी चिनुते' जिसकी प्रतिष्ठा पाँच चितियों के सम्पन्न होने पर भी न बन सके, उसको छठवीं चिति सम्पन्न करनी चाहिए, इस प्रकार का विधान न बतलाया गया होता। इस तरह से पूर्व की पाँचों चितियों तथा छठवीं चिति के समान होने की मान्यता समाप्त हो जाती है। इससे यह उपपन्न हो जाता है कि पूर्व की पाँचों चितियों के नित्य होते हुए भी उनके अनन्तर अप्रतिष्ठा रूप निमित्त से विहित होने से छठवीं चिति नैमित्तिक ही है॥ १७॥

## ( ७८८ ) विप्रतिषेधात्ताभिः समानसंख्यत्वम्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—**विप्रतिषेधात् = एक चिति में षष्ठत्व का विशेष प्रतिषेध होने से, ताभिः = उन सभी पूर्व की पाँचों चितियों के साथ छठवीं चिति का, समानसंख्यत्वम् = सामान्य कथन किया गया है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'इयं वाव प्रथमाचितिः' में प्राप्त सामान्य कथन सभी (पाँचों पूर्व की एवं छठवीं) चितियों की पारस्परिक समानता के उद्देश्य को लेकर नहीं किया गया है, प्रत्युत छठवीं चिति के विधान करने वाले वाक्य 'अथ षष्ठी चिनुते' (चिति) में प्रत्यय की पूर्णता से पूर्व की पाँचों चितियों की अपेक्षा छठवें की विशिष्टता करती है। इसी प्रकार से उक्त वाक्य की अभिव्यक्ति भी समझी जा सकती है। अतएव छठवीं चिति का पूर्व की पाँचों चितियों की भाँति नित्य होना सिद्ध न होकर, नैमित्तिक होना ही सिद्ध होता है॥ १८॥

**अगले क्रम में आचार्य ने 'पिण्डपितृ' याग को अमावस्या याग का अङ्ग नहीं माना जा सकता, यह बतलाने के भाव से अगले तीन सूत्र प्रस्तुत किए—**

**( ७८९ ) पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** पितृयज्ञः = पिण्डपितृयज्ञ अमावस्या याग (दर्श) का, अनङ्गः = अङ्ग इसलिए नहीं है, स्वकालत्वात् = क्योंकि उसके अपने स्वयं के विधान में अमावस्या पद कर्म का नहीं काल का वाचक है।

**व्याख्या—** 'आमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इस वाक्य में 'पिण्डपितृ यज्ञ' का समय अमावस्या (दर्श) के पिछले प्रहर में विहित किया गया है। इस प्रकार का विधान प्राप्त होने पर सन्देह यह है कि उक्त याग को अमावस्या का अङ्ग मानना युक्त है ? अथवा अङ्ग न मानना ? सूत्रकार ने कहा कि पिण्डपितृयाग को अमावस्या का अङ्ग तभी माना जा सकता था, जब उक्त अमावस्या पद याग वाचक होता, परन्तु वह याग का वाचक न होकर काल का वाचक है, अतः अमावस्या उक्त याग को आश्रय देने वाला आधार है। इस प्रकार से उक्त पिण्डपितृयज्ञ अमावस्या का अङ्ग न होकर एक स्वतन्त्र कर्म सिद्ध होता है॥ १९॥

**( ७९० ) तुल्यवच्च प्रसंख्यानात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** तुल्यवत् = अग्निहोत्र, अग्निष्टोम आदि यज्ञीय कर्मों के ही समान पिण्डपितृ यज्ञ का, च = भी, प्रसंख्यानात् = कथन उपलब्ध होने से उक्त कथन की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

**व्याख्या—** 'चत्वारो वै महायज्ञा अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावग्निष्टोमः पिण्डपितृयज्ञश्च' इस वाक्य में जिन चार महायज्ञों का समान रूप से कथन किया गया है, उनमें से एक पिण्डपितृ यज्ञ भी है। इस उक्त कथन से उक्त यज्ञ (पिण्डपितृ यज्ञ) का प्रधान एवं स्वतन्त्र कर्म होना सिद्ध, होता है॥ २१॥

**( ७९१ ) प्रतिषिद्धे च दर्शनात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रतिषिद्धे = अमावस्या याग के प्रतिषेध होने की स्थिति में भी, दर्शनात् = पिण्डपितृयाग के विधान के दृष्टिगोचर होने से उपर्युक्त कथन पूर्णतः उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** 'पिण्डपितृयज्ञ' के सन्दर्भ में वाक्य 'नामावास्यां यजेत पिण्डपितृयज्ञेनैव अमावस्यायां प्रीणाति' में अमावास्या याग को न करके पिण्डपितृयाग का विधान किया गया है। उपर्युक्त कथन किया जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि उक्त पिण्डपितृयाग अमावास्या याग का अङ्ग न होकर एक स्वतन्त्र कर्म है॥ २१॥

**नोट- ज्ञातव्य है कि पिण्डपितृयाग को मृतक पितृ श्राद्ध कर्म से सर्वथा पृथक् ( उससे भिन्न ) समझना चाहिए।**

**अगले क्रम में 'रशना' को यूप का अङ्ग बतलाने के भाव से अग्रिम सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( ७९२ ) पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** तदागमे = आगम में (विधायक वाक्यों में), विधानात् = पशु सम्बन्ध से विधान किये जाने के कारण, रशना = रशना को, पश्वङ्गम् = पशु का अङ्ग ही माना जाना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित वाक्य है- 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' आश्विन संज्ञक ग्रह ग्रहण के पश्चात् तीन लड़ों वाली रस्सी से यूप को लपेट कर आग्नेय ईश्वर के निमित्त पशु का दान करे। पूर्वपक्ष का कहना है कि यूप का परिव्याण (लपेटना) कर्म उक्त रशना से सम्पन्न किये जाने से ही उस (रशना) को यूप का अङ्ग नहीं माना जा सकता। कारण यह कि उक्त वाक्य में यूप एवं पशु दोनों के साथ 'रशना' का सम्बन्ध ज्ञात होता है। अतएव उक्त वाक्य में पशु का उपलक्षण होने से रशना को यूप का अङ्ग न मानकर, पशु का अङ्ग मानना ही युक्त प्रतीत होता है॥ २२॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के प्रयोजनार्थ आचार्य ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किये—**

**( ७९३ ) यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उसके परिव्याण द्वारा (उसका), संस्कारात् = संस्कार होने से, वा = तो, यूपाङ्गम् = रशना

को यूप का ही अङ्ग मानना चाहिए, पशु का नहीं,

**व्याख्या—** उक्त रशना को पशु का अङ्ग तभी माना जा सकता है, जब रशना द्वारा यूप का परिव्याण किये जाने पर, उस परिव्याण (रस्सी लपेटना) कर्म का दान किये जाने वाले पशु पर प्रभाव परिलक्षित होता, किन्तु ऐसा कोई भी प्रभाव नहीं देखे जाने से तथा उक्त परिव्याण कर्म द्वारा यूप का संस्कारित होना प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर होने से उसे (रशना को) यूप का अङ्ग मानना ही सर्वथा युक्ति युक्त सिद्ध होता है॥ २३॥

## (७९४) अर्थवादश्च तदर्थवत्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थवाद: = अर्थवाद-स्तावक वचनों की, अर्थवत् = अर्थयुक्तता-सार्थकता भी तभी उपपन्न हो सकती है, तत् = जब उसे (रशना को) यूप का अङ्ग स्वीकार किया जाये।

**व्याख्या—** जिन वाक्यों द्वारा स्तुति की जाती है, उन्हें अर्थवाद वाक्य कहते हैं। प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य में भी यूप की स्तुति करते हुए उसे 'सुवासा:' एवं परिवीत बतलाया गया है- 'युवा सुवासा: परिवीत आगात्' अर्थात् युवावस्था से युक्त, सुन्दर वस्त्रों से परिपूर्ण यज्ञोपवीत धारण कर्त्ता यूप है। यह वाक्य उसी स्थिति में सार्थक हो सकता है, जब उक्त यूप का अङ्ग रशना को ही माना जाये। अत: रशना को पशु का अङ्ग नहीं, प्रत्युत यूप का अङ्ग मानना चाहिए॥ २४॥

**'स्वरु' पशु का अङ्ग है, यह उपपन्न करने के लिए दो सूत्रों में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## (७९५) स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्वरु: = स्वरु को यूप का अङ्ग होना इसलिए सिद्ध है, एकदेशत्वात् = क्योंकि यूप का एक देश (एक भाग)-अङ्ग होने से 'स्वरु' यूप का अङ्ग है।

**व्याख्या—** पशुयाग के क्रम में पठित वाक्य- 'यूपस्य स्वरुं करोति, स्वरुणा पशुमनक्ति' से जिस काष्ठ से यूप बनाया जाता है, उसी काष्ठ से स्वरु का निर्माण एवं उस स्वरु के द्वारा देय पशु का अञ्जन संज्ञक संस्कार किया जाना बतलाया है। शङ्का की गयी है कि उक्त स्वरु को यूप का अङ्ग मानना युक्त है अथवा पशु का?॥ २५॥

## (७९६) निष्क्रयश्च तदङ्गवत्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, निष्क्रय: = स्वरु को निष्क्रय बतलाये जाने से भी, तत् = वह (स्वरु) अङ्गवत् = यूप का ही अङ्ग है, ऐसा उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य 'ते प्रस्तरं स्रुवां निष्क्रयमपश्यन् स्वरुं यूपस्य' में स्रुवों का निष्क्रय (मूल्य) प्रस्तर को तथा यूप का निष्क्रय स्वरु को देखना-कथन किया जाना भी यही सिद्ध करता है कि उक्त स्वरु यूप का ही अङ्ग है॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## (७९७) पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है (उक्त स्वरु) पश्वङ्गम्=पशु का अङ्ग है, अर्थकर्मत्वात् = क्योंकि संस्कार कर्म का साधन होने से उस (पशु) का अङ्ग होना ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** उक्त स्वरु का प्रमुख प्रयोजन देय पशु का अञ्जन रूप संस्कार किया जाना है- 'स्वरुणा पशुमनक्ति।' अत: यूप के साथ स्वरु के सम्बन्ध की प्राप्ति से यदि उसे यूप का अङ्ग होना स्वीकार कर लिया जाता है, तो पशु अञ्जन के उद्देश्य से विहित स्वरु अपने मुख्य प्रयोजन से ही पूर्णत: पृथक् हो जायेगा। जबकि अञ्जन रूप कर्म (संस्कार) से उक्त स्वरु का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी सिद्ध होता है और बिना किसी अदृष्ट की

कल्पना किये ही अपने अभीष्ट की प्राप्ति से भी स्वरु को पशु का ही अङ्ग मानना सर्वथा उपपन्न है॥ २७॥

**गत २६वें श्लोक में कथित निष्क्रय ( मूल्य ) वादिता का समाधान करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ७९८ ) भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** निष्क्रयवादः = निष्क्रयवादिता का उपर्युक्त कथन, भक्त्या = भक्तिपूर्वक स्तुति के अभिप्राय से किया गया, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'ते प्रस्तरं स्रुवां निष्क्रयमपश्यन् स्वरुं यूपस्य' वाक्य के 'स्वरुं यूपस्य' द्वारा किया गया निष्क्रय वाद का कथन मुख्यार्थ के उद्देश्य से न होकर, स्तुति के अभिप्राय से किया गया है, जिसका प्रमुख अर्थ में कोई भी तात्पर्य पूर्ण सम्बन्ध नहीं होता। अतएव यही उपपन्न होता है कि स्वरु देय पशु का ही अङ्ग है॥ २८॥

**'आघार' आदि कर्म दर्श-पूर्णमास याग के अङ्ग हैं, इस हेतु से सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

## ( ७९९ ) दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** दर्श-पूर्णमासयोः = दर्श (अमावस्या) एवं पूर्णमास याग के अन्तर्गत, इज्याः = आने वाले समस्त याग, अविशेषात् = समान रूप से मान्य किये जाने से, प्रधानानि = प्रधान माने गये हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि उक्त यज्ञीय प्रकरण में जिस प्रकार आग्नेय, अग्नीषोमीय, उपांशु आदि विहित है, उसी प्रकार आहार, आज्य भाग, प्रयाज, अनुयाज, स्विष्टकृत् आदि का भी विधान उपलब्ध है। अतः विधान में समानता होने से इन सभी को प्रधान ही मानना उचित प्रतीत होता है॥ २९॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में दिया—**

## ( ८०० ) अपि वाङ्गानि कानिचिद्येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः सामान्योह्यभिसंस्तवः॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** कानिचित् = कुछ वे याग, अङ्गानि = अङ्ग स्वरूप, अपि = भी, वा = विहित हैं, येषु = जिन यागों की, अङ्गत्वेन = अङ्गपने के कारण, संस्तुतिः = स्तुति की गई है, अभिसंस्तवः = तथा उक्त स्तुति तभी सार्थक हो सकती है, सामान्यात् = जब उन्हें प्रधान न मानकर अङ्ग-सामान्य माना जाये।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास याग के प्रकरण में पठित सभी यागों के सामान्य विधान होने से भी उनके अन्तर्गत वर्णित समस्त याग प्रधान नहीं माने जा सकते। 'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाधारौ, चक्षुषो वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत्प्रयाजानुयाजाश्चेज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते' अर्थात्- दर्श-पूर्णमास रूपी यज्ञीय पुरुष के आघार अङ्ग, आज्य भाग चक्षुः, प्रयाज एवं अनुयाज वर्म (कवच) हैं। इस स्तावक वाक्य की सार्थकता तभी है, जब आघार आदि याग को आग्नेय आदि का अङ्ग स्वीकार किया जाये। अतएव उक्त दर्श-पूर्णमास याग के अन्तर्गत आने वाले यागों में जिनकी स्तुति अर्थवाद वाक्यों द्वारा की गई है, वे आघार आदि याग अङ्ग रूप माने गये हैं तथा शेष आग्नेय आदि यज्ञ प्रधान याग हैं, यही समझना युक्ति-युक्त है॥ ३०॥

## ( ८०१ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अन्यार्थदर्शनम् = विकृति यागों में प्रयाजों की प्राप्ति भी, तथा = उसी प्रकार से आघार आदि के अङ्गरूप होने में साक्ष्य रूप प्रमाण हैं।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र का आशय यह है कि विकृति यागों प्रयाजों का दर्शन भी यही प्रमाणित करता है। उदाहरणार्थ-'प्रयाजे-प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' प्रत्येक प्रयाज में कृष्णल होम करे। यह प्रत्यक्ष अतिदेश है, जबकि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के नियम से प्रधानों का अतिदेश नहीं हुआ करता; प्रत्युत अङ्गों का ही

अतिदेश हुआ करता है। अतः आघार आदि यागों का अङ्ग माना जाना सिद्ध होता है॥ ३१॥

**उपर्युक्त कथन में सन्देह की अभिव्यक्ति के प्रयोजनार्थ अगले दो सूत्र प्रस्तुत किये—**

**( ८०२ ) अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** गुणस्य = अर्थवाद स्वरूप स्तावक वाक्य के आग्नेय आदि में, विद्यमानत्वात् = पाये जाने से, कारणम् = अङ्गत्व की सिद्धि करने वाला संस्तुति रूप कारण, प्रधानेषु = आघार आदि यागों के तुल्य आग्नेय आदि यज्ञों में भी, तु = तो, अविशिष्टम् = समान-विशिष्टतारहित है।

**व्याख्या—** 'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयमुपांशुयागः पादावग्नीषोमीयः' दर्शपूर्णमास संज्ञक यज्ञ पुरुष का आग्नेय सिर, उपांशु हृदय एवं अग्नीषोमीय पाद है। उक्त वाक्य द्वारा आग्नेय आदि यागों की भी स्तुति आघार आदि यागों के ही समान कहा गया है। अस्तु, यह मानना उचित नहीं कि आघार आदि याग, आग्नेय आदि यागों के अङ्गरूप हैं। अतएव उक्त दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत विहित आग्नेय आदि से लेकर स्विष्टकृत् पर्यन्त सभी याग एक दूसरे के अङ्ग न होकर समान रूप से प्रधान ही हैं॥ ३२॥

**( ८०३ ) नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यार्थदर्शनम् = प्रति विकृति यज्ञ में प्रयाजों की दृष्टिगोचरता की प्राप्ति, अनुक्ते = प्रत्यक्ष अव्यक्त अङ्गरूपत्व में प्रमाण, न = नहीं है, क्योंकि अन्यार्थ दर्शन का पूर्वोक्त कथन, परार्थत्वात् = दूसरे उद्देश्य से किये जाने के कारण (उसे मुख्यार्थ में प्रमाण मानना युक्त नहीं)।

**व्याख्या—** गत इकतीसवें सूत्र की विवेचना में प्राप्त दृष्टान्त वाक्य 'प्रयाजे-प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' वाक्य मात्र कृष्णलता रूप गुण को ही विहित करता है। उसका आशय प्रति विकृति याग प्रयाजों को विहित करना नहीं है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के नियम से यदि उपर्युक्त वाक्य हर एक विकृतियाग में उपलब्ध प्रयाजों में कृष्णलता स्वरूप गुणों का विधान कर्त्ता एवं अङ्गत्व को सिद्ध करने वाला स्वीकार किया जाये, तो उससे प्राप्त होने वाला वाक्य भेददोष अपने को अभीष्ट नहीं। आशय यह है कि एक ही वाक्य जब उभयार्थक होगा, तो उससे वाक्य भेद दोष प्रकट हो जाता है और वह दोष सर्वथा अहितकर है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त वाक्य मात्र अन्य प्रयोजन के विधान में ही प्रमाण रूप है, प्रयाजों के अङ्ग होने में नहीं॥ ३३॥

**प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने पूर्वोक्त सन्देह का निराकरण करने के साथ-साथ सिद्धान्त अर्थ का कथन अन्य प्रकार से किया—**

**( ८०४ ) पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं - यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्यात् भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चा-न्यसम्बन्धः॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—**पृथक्त्वे = नियमानुसार की गई पृथक्ता में मात्र आग्नेय आदि छः यागों के दो-दो त्रिकों के अन्तर्गत ही दर्श एवं पूर्णमास, अभिधानयोः = नाम का, निवेशः = निवेश प्राप्त है, श्रुतितः = क्योंकि श्रुति के द्वारा, च = और, व्यपदेशात् = व्यपदेश से, तु = तो यही उपपन्न होता है। पुनः = तथा, तत् = वह उपर्युक्त दोनों त्रिक ही, मुख्यलक्षणम् = मुख्य (प्रधान) याग हैं, यत् = जिससे कि वे, फलवत्त्वम् = फल से युक्त हैं और जिनका (यागों का) पाठ, तत्सन्निधौ = उन प्रधान यागों के सामीप्य में किया गया है तथा जो, असंयुक्तम् = फलहीन हैं, तत् = वे सभी, अङ्गम् = अङ्ग (अङ्गयाग), स्यात् = हैं, च = तथा, कारणस्य = आघार आदि यागों का, भागित्वात् = फलवान् होना, अश्रुतेः = श्रवण न किये जाने से, अन्य सम्बन्धः = उनका अन्य प्रधान यागों के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध उपपन्न होता है।

**व्याख्या**— दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत आग्नेय आदि से लेकर स्विष्टकृत् तक पठित सभी याग समान रूप से एवं अङ्गरूप से प्रकरण में प्राप्त होने से भी उनको एक समान प्रधान इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनमें फल युक्तता रूप वैशिष्ट्य बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त दो-दो के तीन त्रिक, जिनमें आग्नेय, अग्नीषोमीय, उपांशु आदि एक त्रिक को 'दर्श' तथा द्वितीय त्रिक के यागों के समूह को 'पूर्णमास' की संज्ञा दी गई है। श्रुति वाक्य है- 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' तथा व्यपदेश का तात्पर्य उक्त आग्नेय आदि तीन 'दर्श' याग एवं आग्नेय आदि तीन पूर्णमास यागों के शब्द रूप से होने वाले व्यवहार से है। इस प्रकार दोनों (श्रुति एवं व्यपदेश) से आग्नेय आदि उक्त छह यज्ञों का ही स्वर्ग रूप फल सुनिश्चित किया गया है। आघार आदि यागों का भी पाठ उक्त दर्श-पूर्णमास याग की सन्निधि में किया जाना प्राप्त है, किन्तु उनके फल का श्रुति एवं व्यपदेश से कथन न किये जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रधान न होकर अङ्ग ही हैं। आग्नेय आदि छः याग जो प्रधान याग हैं, उन्हीं के साथ नियमानुसार प्रस्तुत 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' वाक्य से उक्त आघारादि का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध उपपन्न है॥ ३४॥

**उपर्युक्त अर्थ में युक्ति के प्रस्तुतीकरण हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र दिया—**

## (८०५) गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते॥ ३५॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, नामसंयुक्ताः = दर्शपूर्णमास नाम की संयुक्तता रूप, गुणाः = गुणों का किया जाने वाला, विधीयन्ते = विधान, अङ्गेषु = अङ्गरूप आघार आदि में, उपपद्यन्ते = उपपन्न, न = नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या**— सूत्रकार का कथन है कि 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पंचहोत्राऽमावास्याम्' वाक्य में जो चतुर्होता संज्ञक मन्त्रों से पौर्णमास याग का और-अमावस्या-दर्शयाग का पंचहोता नामक मन्त्रों से अभिमर्शन संस्कार किया जाना विहित किया गया है, उससे भी आघार आदि यागों का अङ्गयाग होना प्रमाणित होता है। यदि ऐसा न होता, तो उपर्युक्त वाक्य में दर्श एवं पूर्णमास की संज्ञा सहित विशिष्टतापूर्वक अभिमर्शन संस्कार कर्म का विधान ही न किया जाता, किन्तु उक्त विधान किया गया है तथा उसके विहित होने से यह सिद्ध होता है कि दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत आग्नेय याग से लेकर स्विष्टकृत् तक सभी यागों को अभिमर्शित किया जाना विहित है, जो दर्श एवं पूर्णमास की संज्ञा से विभूषित हैं और इस संज्ञा से विभूषित आग्नेय आदि छहों याग प्रधान होने से फलवान् भी हैं, श्रुति एवं व्यपदेश से यही प्राप्त होता है। अतः आघार आदि याग सर्वथा अङ्गयाग ही हैं, यही उपपन्न होता है॥ ३५॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का प्रतिपादित करने के उद्देश्य से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (८०६) तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः॥ ३६॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, अङ्गाङ्गिसम्बन्धैः = पुरुष के अङ्गों के सम्बन्ध प्राप्त, अन्यैः = आघार आदि यागों के, तुल्या = तुल्य (समान), कारणश्रुतिः = आग्नेय आदि यागों की अङ्गत्वता को सिद्ध करने वाली श्रुति भी विद्यमान है।

**व्याख्या**— उक्त यज्ञ स्वरूप पुरुष के अङ्गों के तुल्य अङ्गत्व बतलाने वाली श्रुति के प्रमाण जैसे आघार आदि यागों को अङ्गयाग उपपन्न किया गया है, वैसी (प्रमाणरूप) श्रुति आग्नेय आदि (प्रधान) यागों में भी विद्यमान है। वह श्रुति है- 'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयमुपांशुयागः पादावग्नीषोमीयः।' अतएव सबको (उक्त सभी यागों को) समान ही मानना चाहिए॥ ३६॥

**नोट**— उपर्युक्त विवेचन में दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत श्रुति वाक्य गत ३२ वें सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त हुआ है, समाधान के आशय से यहाँ पर उसका अनुवाद किये जाने से दोष नहीं माना जाना चाहिए॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( ८०७ ) उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तौ = प्राणिमात्र की उत्पत्ति के तात्पर्यार्थ ही, अभिसम्बन्धः = उपर्युक्त वाक्य में आग्नेय आदि याग को यज्ञ रूप पुरुष का सिर (सम्बन्ध) आदि की अभिव्यक्ति की गई है, न कि अङ्गरूपता के अभिप्राय से, तस्मात् = अतएव, अङ्गोपदेशः = उक्त अङ्गता का उपदेश प्रधान रूप से आघार आदि यागों के लिए ही, स्यात् = किया गया है।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त श्रुति वाक्य में आग्नेय याग को यज्ञ पुरुष का सिर, उपांशु को हृदय तथा अग्नीषोमीय को पाँव आदि बतलाया गया है, वह कथन प्राणिमात्र के अभिप्राय से किया गया है, अङ्गत्व के अभिप्राय से नहीं। कारण यह कि जन्म के समय सर्वप्रथम सिर की ही उत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् अन्य अङ्ग-अवयवों का निर्माण-निष्पादन होता है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास में भी सर्वप्रथम आग्नेय आदि छह मुख्य यागों का विधान किये जाने के अनन्तर आघार आदि अङ्गों को विहित किया गया है। उक्त श्रुति इसी सादृश्य पर आधारित है, ऐसा समझना चाहिए। अतः उक्त श्रुति से प्राप्त उपदेश भी आघार आदि यागों के अङ्गत्व को उपपन्न करता है॥ ३७॥

**उक्त अर्थ में युक्ति के प्रस्तुतीकरण के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र दिया—**

**( ८०८ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उक्त कथन की उपपन्नता में, अन्यार्थदर्शनम् = प्रति दर्शयाग एवं प्रति पूर्णमास याग में दी जाने वाली आहुतियों की संख्या का देखा जाना, च = भी, एक प्रमाण है।

**व्याख्या—** दर्श-अमावस्या याग में तेरह तथा पूर्णमास याग में चौदह आहुतियों का विधान प्रस्तुत वाक्य में 'चतुर्दशपूर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदश अमावास्यायाम्' में प्राप्त होने से भी यह सिद्ध होता है कि उक्त आग्नेय आदि छह याग मुख्य हैं तथा शेष आघार आदि उनके अङ्ग रूप हैं। उक्त वाक्य के विधान द्वारा दर्शपूर्णमासयाग के अन्तर्गत विहित सभी यागों का अङ्गाङ्गिभावपूर्वक प्राप्त विभाजन उक्त अर्थ की उपपन्नता में प्रमाण है॥ ३८॥

**ज्योतिष्टोम यज्ञों में विहित सोमयाग प्रधान एवं दीक्षणीय आदि अंग याग हैं, यही उपपन्न करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( ८०९ ) ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** ज्योतिष्टोमे = ज्योतिष्टोम के यज्ञीय प्रकरण में विहित समस्त याग, तुल्यानि = समान रूप से मुख्य माने जाने चाहिए, हि = क्योंकि, कारणम् = उनकी तुल्यता-प्रधानता का कारण उन सभी का, अविशिष्टम् = उनमें प्राप्त होने वाली अविशिष्टता है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के यज्ञीय प्रकरण में पठित सोम एवं दीक्षणीय आदि जितने भी याग हैं, उनमें विलक्षणता का अभाव पाये जाने से क्या सभी याग प्रधान माने जाने चाहिए? अथवा दीक्षणीय आदि को अङ्ग एवं सोम को प्रधान मानना चाहिए?॥ ३९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( ८१० ) गुणानान्तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारण-**
**श्रुतिस्तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। उत्पत्तिवाक्येन = उत्पत्ति वाक्य से, गुणानाम् = प्रकाश

(ज्योति) स्वरूप स्तोमों-स्तोत्रों का सोमयाग के साथ, सम्बन्धात् = सम्बन्ध प्राप्त होने से, कारणश्रुति: = उक्त सोमयाग की प्रधानता में श्रुति (सम्बन्ध श्रवण) एक विशिष्ट हेतु है, तस्मात् = इसलिए दीक्षणीय आदि याग प्रधान नहीं, सोम: = प्रत्युत सोमयाग को ही, प्रधानम् = प्रधान मानना युक्त, स्यात् = है।

**व्याख्या—** उत्पत्ति वाक्य 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' में ज्योति (प्रकाश) स्वरूप (स्तोत्र समुदाय) स्तोम संज्ञक गुणों का उक्त सोमयाग के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। सोमयाग की ही प्रमुख संज्ञा है। ज्योतिष्टोम तथा दीक्षणीय आदि को गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर उसे ज्योतिष्टोम के नाम से ही सामान्य अर्थ में विहित किया गया है। अतएव मात्र प्रकरण पठित होने से उक्त दीक्षणीय आदि को सम-प्रधान मानना सर्वथा औचित्यहीन है। इस प्रकार से सोमयाग का प्रधान होना एवं दीक्षणीय आदि का उसका अङ्ग होना सिद्ध है॥ ४०॥

**अगला सूत्र जो कि इस पाद का अन्तिम सूत्र है, उसमें उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य युक्ति दी गई है—**

**(८११) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अन्यार्थदर्शनम् = सोम याग से पृथक् 'दीक्षणीय' आदि यागों में अङ्गरूपता का सुना जाना भी, तथा = उक्त कथन की उपपन्नता में प्रमाण है।

**व्याख्या—** दीक्षणीय आदि याग में अङ्गत्व श्रवण का विधायक वाक्य- 'शिरो वा एतद्यज्ञस्ययद्दीक्षणीया' है। इस वाक्य में प्रत्यक्ष अङ्गत्व का श्रवण होता है- दीक्षणीय आदि याग यज्ञपुरुष के सिर आदि के तुल्य हैं, उक्त वाक्य का यह कथन उसी स्थिति में सार्थक होता है, जब दीक्षणीय आदि याग को सोमयाग का अङ्ग माना जाये। कारण यह कि यज्ञाङ्ग को ही पुरुषाङ्ग माना जा सकता है। अत: ज्योतिष्टोम में विहित याग समूह में से सोम ही प्रधान याग है, शेष दीक्षणीय आदि उस सोम याग के अङ्ग हैं, यही मानना चाहिए॥ ४१॥

**॥ इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः॥**

# ॥ अथ पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः ॥

**यज्ञ सम्बन्धी विविध कर्म अनुष्ठान क्रम के प्रतिपादनार्थ पञ्चम अध्याय का शुभारम्भ करते हुए प्रथम अध्याय में श्रुति सिद्ध क्रम का वर्णन किया जा रहा है—**

**( ८१२ ) श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिलक्षणम् = श्रुति प्रमाण को ही, आनुपूर्व्यम् = क्रम मान लेना उचित है, तत्प्रमाणत्वात् = क्योंकि वह प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा प्रमुख है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सभी तरह के प्रमाणों की अपेक्षा श्रौत प्रमाण सर्वमान्य होते हैं। अत: जिस प्रकार कर्मोत्पत्ति वाक्य के द्वारा श्रुत अग्निहोत्रादि कर्म प्रामाणिक माने जाते हैं, उसी प्रकार उनका क्रम भी श्रौत ही प्रामाणिक स्वीकार करना चाहिए अर्थात् वेद एवं ब्राह्मण वाक्यों में जिस क्रम से यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय पदार्थ व्यवस्थित क्रम से बतलाये गये हैं, उसी क्रमानुसार उन यज्ञीय कर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए॥ १ ॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य आर्थिक क्रम का कथन करते हैं-**

**( ८१३ ) अर्थाच्च॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थात् = कहीं-कहीं पर अर्थ के द्वारा, च = भी क्रम का ज्ञान प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार बतलाते हैं कि कहीं-कहीं पर वाक्यार्थ-मूलअर्थ के द्वारा भी क्रम का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे विधान से पूर्व लिखा या कहा गया है कि यज्ञादि कार्य सम्पन्न किये जायें और फिर कहते हैं कि यज्ञ हेतु 'यवागू पचति'- लापसी पकायी जाये। जब यहाँ पर लापसी पकाने का आदेश दूसरे क्रम में दिया गया है, किन्तु बिना लापसी के प्रस्तुत हुए यज्ञ हो ही नहीं सकता। अत: इस व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए क्रम निश्चित कर लेना चाहिए। श्रौत कर्म के अनुसार यज्ञ का प्रथम अनुष्ठान प्राप्त होने पर भी क्रम के अनुसार 'लापसी पकाना ' ही प्रथम अनुष्ठान (कर्म) है, यज्ञ का क्रम उसके बाद ही होगा॥ २ ॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि अब कहीं-कहीं पर 'क्रम' का अनियम कथन भी किया गया है-**

**( ८१४ ) अनियमोऽन्यत्र॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यत्र = अन्य कई स्थानों पर, अनियम: = वहाँ पर क्रम का नियम नहीं होता है।

**व्याख्या—** जहाँ पर उन दोनों (श्रौत या अर्थ प्रधान) क्रम का अभाव होता है, वहाँ पर जिसे उचित समझें, उसे ही पहले कर लेना चाहिए। अनुष्ठान क्रम के नियामक इन छ: प्रमाणों- श्रुति, अर्थ, पीठ (पाठ), प्रवृत्ति, स्थान एवं मुख्य क्रम के बीच में जहाँ कोई उपलब्ध नहीं होता, वहाँ पर अपनी ही इच्छा अनुष्ठान क्रम का नियामक मानना चाहिए अर्थात् जिस कर्म के अनुष्ठान की इच्छा पहले हो, उसे ही प्राथमिकता दें और जिसके अनुष्ठान की बाद में इच्छा हो, उसे बाद में अनुष्ठित करना चाहिए, उसमें किसी भी तरह का दोष नहीं होता॥ ३ ॥

**'श्रुति' एवं 'अर्थ' के अनुसार अनुष्ठान क्रम निरूपण के पश्चात् अब आचार्य अगले सूत्र में 'पीठ' अर्थात् पाठक्रम के अनुसार अनुष्ठान क्रम का निरूपण करते हैं—**

**( ८१५ ) क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, क्रत्वेकत्वे = एक क्रतु में, क्रमेण = पाठ के क्रम के अनुसार, नियम्येत = प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिए, तद्गुणत्वात् = क्योंकि वह अनुष्ठान का ही अङ्ग है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि एक क्रतु अर्थात् यज्ञ में पाठक्रम के अनुसार प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिए; क्योंकि वह अनुष्ठान प्रमाण का एक अङ्ग है। वस्तुत: प्रयाजों में क्रम का बोधक श्रुति या अर्थापत्ति प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि अमुक प्रयाज का अनुष्ठान क्रम पहले और अमुक का बाद में होना

चाहिए। फिर भी उनमें अनियम नहीं माना जा सकता। जैसे 'श्रुति' क्रम का बोधक श्रुति नहीं होती और न ही लापसी पाक की तरह अर्थापत्ति ही प्राप्त होती है, फिर भी उनमें अनुष्ठान क्रम का बोध 'पीठ' (पाठक्रम) रूप तीसरा प्रमाण उपस्थित है। उसके विद्यमान होने से अनुष्ठान क्रम का बोध भी सहजतापूर्वक हो सकता है। अत: स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में जिस क्रम से 'समिधादि' प्रयाजों का पाठ किया गया है, वही क्रम उनके अनुष्ठान का भी होना चाहिए, ऐसा करना अनियम नहीं होता है॥ ४॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं—**

## ( ८१६ ) अशाब्द इति चेत् स्याद्वाक्यशब्दत्वात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** अशाब्द: = 'पाठक्रम' शब्द प्रतिपादित नहीं, स्यात् = हो सकता, वाक्यशब्दत्वात् = क्योंकि वाक्य को मात्र पदार्थ के एक-एक अर्थ का ही बोध होता है। अधिक अर्थात् अधिक अर्थों का विस्तार बोध नहीं होता, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** इस सूत्र में सूत्रकार आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'पाठक्रम' का ज्ञान शब्दों से नहीं किया जा सकता; क्योंकि वाक्य या शब्दों से पदार्थों का बोध तो हो सकता है, किन्तु सम्यक् ज्ञान नहीं। 'समिधो यजति' आदि प्रयाज विधायक वाक्यों के अन्तर्गत क्रम वाचक कोई भी शब्द नहीं होता तथा वाक्य के अर्थ में शब्द के अर्थ का ही बोध होता है। यह नियम है कि जो अशाब्दिक है, वह किसी शब्द द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान न होने से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अत: उपर्युक्त प्रयाज विधायक वाक्यों के पाठक्रमों के तहत जो अनुष्ठान क्रम की कल्पना की गई है, वह उचित नहीं॥ ५॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य ऊपर व्यक्त की गई आशङ्का का निस्तारण करते हैं—**

## ( ८१७ ) अर्थकृते वानुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'क्रम अशाब्द है' की निवृत्ति सूचक है, अर्थकृते = अर्थवश कल्पना करने में, अनुमानम् = क्रम अशाब्द, स्यात् = होना चाहिए, तु = परन्तु क्रत्वेकत्वे = क्रतु के एक-एक होने पर भी, परार्थत्वात् = अङ्गों के प्रधानार्थ होने से, स्वेन अर्थेन = अपने प्रधानभूत क्रतुरूप अर्थ के सहित, सम्बन्ध: = यथाक्रम सम्बन्ध होना ही उचित है, तस्मात् = इसीलिए, स्वशब्दम् = पाठक्रम शब्द प्रतिपाद्य ही, उच्यते = कहा जा सकता है, उसे अशाब्द नहीं कह सकते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अर्थवश कल्पना करने में क्रम अशाब्द होना चाहिए, किन्तु क्रतु (यज्ञ) के एक होने पर भी अङ्गों की प्रमुखता होने के कारण पाठ में यथाक्रम सम्बन्ध होना ही ठीक है। यद्यपि अङ्ग विधायक वाक्यों के अन्तर्गत क्रमवाची कोई भी शब्द प्रतीत नहीं होता, फिर भी उसे अशाब्द नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उक्त विधि वाक्य जैसे अङ्गों के प्रत्यायक हैं, उसी प्रकार उनके क्रम के भी प्रत्यायक हैं। यदि ऐसा न मानें, तो उनका यथाक्रम पाठ बेकार हो जाता है, जो कि उचित नहीं। अत: स्पष्ट है कि पाठक्रम भी शाब्दिक है, अशाब्दिक नहीं॥ ६॥

## ( ८१८ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अन्यार्थदर्शनम् = पाठक्रम के बाधक अर्थ का दर्शन भी, तथा = उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

**व्याख्या—** आचार्य युक्ति देते हुए कहते हैं कि पाठक्रम के जो बाधक अर्थ लिखे हुए प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा भी इस उपर्युक्त तथ्य (अर्थ) की पुष्टि हो जाती है। 'व्यत्यस्तं षोडशिनं शंसति' सूत्र के अन्तर्गत कहा

गया है कि इन्द्र के नाम से जिन १६ (सोलह) ऋचाओं में परमात्मा की स्तुति की गई है, उन्हें 'षोडशी' कहते हैं। इस षोडशी स्तोत्र का उच्चारण पाठक्रम से जिस स्थान में मिलता है। उससे अन्य स्थल में करें, इस प्रकार के वाक्यों में जो क्रम का अतिक्रम कथन किया है, वह अव्यत्यस्त क्रम के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक किसी अव्यत्यस्त क्रम की सिद्धि न मानी जाये, तब तक उसके विपरीत व्यत्यस्त क्रम का नियम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रथम श्रौत तथा आर्थिक दोनों के बीच एक भी क्रम की प्राप्ति नहीं होती। परिशेष से पाठक्रम ही प्राप्त (सिद्ध) होता है तथा उसे सिद्ध होने से यह पुष्ट हो जाता है कि श्रुति एवं अर्थ की भाँति 'पाठक्रम' भी अनुष्ठान क्रम का नियामक है। श्रौतक्रम के सदृश ही पाठक्रम भी शाब्द है, अत: वह सम्मान के योग्य है॥ ७॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य अनुष्ठान क्रम का नियामक प्रवृत्ति नामक प्रमाण का कथन करते हैं—**

## (८१९) प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** गुणानाम् = 'उपाकरण' आदि संस्कारों का, तुल्यकालानाम् = एक समय में विवरण प्राप्त होने पर, तदुपक्रमात् = उसके उपक्रम को, प्रवृत्त्या = प्रवृत्ति के आधार पर प्रथम द्वितीयादि क्रम को जानें।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि उपर्युक्त सूत्र में प्रतिपादित कथन की भाँति ही एक समय में प्राप्त 'उपाकरण' आदि पशु-संस्कारों का प्रथम प्रवृत्ति के तहत (अनुसार) ही द्वितीयादि क्रम को जानना चाहिए। यहाँ संस्कार पर यह संदेह है कि द्वितीयादि क्रम-संस्कारों के होने में कोई नियम नहीं है। जिस संस्कार से चाहें उसका शुभारंभ करना चाहिए। इसके निवारणार्थ सूत्र में कहा गया है कि प्रथम संस्कार के बाद द्वितीयादि संस्कारों के क्रम में श्रुति, अर्थ एवं पाठ इन तीनों के मध्य में एक भी प्रमाण नहीं मिलता। फिर भी उनके करने में अनियम मानना उचित नहीं, फिर भी प्रथम प्रवृत्ति की भाँति उनके क्रम को मानना ही उचित है। अत: स्पष्ट है कि प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार ही द्वितीयादि संस्कारों की प्रवृत्ति का क्रम होता है, अक्रम अथवा यथेच्छा का क्रम नहीं होता है॥ ८॥

**यहाँ आचार्य उपर्युक्त सूत्र में किये गये अर्थ में आशङ्का उत्पन्न कर रहे हैं—**

## (८२०) सर्वमिति चेत्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** सर्वम् = समस्त संस्कार सभी पशुओं में होने चाहिए, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का यह होती है कि उक्त उपकरणादि समस्त संस्कार एक साथ सभी पशुओं के साथ क्यों नहीं होने चाहिए? यदि क्रम विशिष्टों के संस्कारों का कोई विधि-विधान-नियम होता, तो प्रथम संस्कार की प्रवृत्ति के तहत द्वितीयादि संस्कारों के प्रवृत्तिक्रम का विचार एवं उसकी कल्पना की जाती; अत: यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त संस्कारों के लिए प्रथम प्रवृत्ति के तहत क्रम कल्पना जरूरी नहीं है॥ ९॥

**अब अगले सूत्र में उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (८२१) नाकृतत्वात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** न = उपर्युक्त कथन उचित नहीं है, अकृतत्वात् = क्योंकि ऐसा नियम-विधान नहीं किया गया है।

**व्याख्या—** उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि पशुमात्र के उद्देश्य से उक्त संस्कार-विधान बतलाये गये हैं, फिर भी एक साथ समस्त पशुओं के उक्त संस्कार नहीं किये जा सकते हैं; क्योंकि उसका कोई भी नियम नहीं प्राप्त होता। यदि उपर्युक्त कथन में एक साथ सभी संस्कारों का नियम होता, तो निश्चित ही उनका एक साथ अनुष्ठान सम्पन्न होता; किन्तु ऐसा नियम नहीं है और संस्कार क्रम की प्राप्ति अर्थ से होती है। अविहित एवं अर्थप्राप्त के मध्य अर्थप्राप्त का स्वीकार ही उचित है, अविहित का उचित

नहीं। अतः सिद्ध हो जाता है कि उपर्युक्त संस्कार समस्त पशुओं में क्रमानुसार ही होने ठीक हैं, साथ ही उसकी कल्पना प्रथम प्रवृत्ति के तहत ही होनी चाहिए॥ १०॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त किये गये अर्थ में पुनः आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

## ( ८२२ ) क्रत्वन्तरवदिति चेत्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** क्रत्वन्तरवत् = जिस प्रकार 'सौर्य्य' आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार एक साथ होते हैं, उसी प्रकार उक्त पशुओं के संस्कार भी एक साथ होने चाहिए, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** सूत्रकार पुनः आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से 'सौर्य्य' आदि यज्ञों के अनुष्ठान में उपयुक्त अनुकूल पदार्थों के सभी संस्कार युगपत् अर्थात् एक साथ सम्पन्न होते हैं, उनमें किसी भी तरह के क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। उसी प्रकार से 'वाजपेय' यज्ञों के अनुष्ठान में भी समस्त पशु संस्कारों के लिए क्रम की कल्पना करना अनिवार्य नहीं होगी॥ ११॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त आशङ्का का समाधान दे रहे हैं—**

## ( ८२३ ) नासमवायात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** असमवायात् = दान प्रक्रिया में पशुओं का समवाय, न = विवक्षित नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि 'वाजपेय' यज्ञानुष्ठानों में जो १७ पशुओं के दान का विधान कहा गया है, वह एक साथ नहीं किया गया है, वरन् प्रथम एक पशु के बाद द्वितीयादि पशुओं का यथाक्रम विधान किया गया है। अतः सौर्य्य आदि यज्ञों की तरह वाजपेय यज्ञों में एक साथ संस्कारों का सम्पन्न होना उचित नहीं, वरन् प्रथम प्रवृत्ति के तहत यथाक्रम होना ही उचित है॥ १२॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य अनुष्ठान क्रम का नियामक 'स्थान' नामक प्रमाण का कथन करते हैं—**

## ( ८२४ ) स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, उत्पत्तिसंयोगात् = उत्पत्ति वाक्य में प्रतिपादित, स्थानात् = स्थान के आधार पर भी क्रम का ज्ञान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि उत्पत्ति वाक्य के अन्तर्गत प्रतिपादित 'स्थान' के आधार पर भी 'क्रम' का ज्ञान होता है। प्रकृति यज्ञ में सर्वप्रथम 'अग्नीषोमीय' पशु के उपकरणादि संस्कार सम्पन्न होते हैं; क्योंकि वह तीनों (अग्नीषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध) पशुओं की अपेक्षा प्रथम है। फिर भी विकृति यज्ञ में अग्नीषोमीय पशु से उक्त संस्कारों का शुभारम्भ नहीं होता; क्योंकि यहाँ सवनीय पशु के स्थान सुत्यादिन में 'अश्विनग्रह' के बाद संस्कार करने का विधान भी बतलाया गया है। इस प्रकार 'स्थान' प्रमाण के अनुसार जिन पशुओं का सुत्यादिन में दान का विधान है, उनके मध्य सवनीय पशु स्वस्थान में विद्यमान है; क्योंकि उक्त दिन उसी पशु का है और शेष दोनों पशु अपने-अपने स्थान से च्युत होकर सवनीय पशु के स्थान में प्राप्त हैं। यह भी स्पष्ट है कि बाहर से आने वालों की अपेक्षा स्वस्थान वाला श्रेष्ठ होता है और जो श्रेष्ठ है, उसको छोड़ अन्य असहाय का अनुसरण उचित नहीं। अतः सिद्ध है कि उक्त विकृति यज्ञ में उत्पत्ति वाक्य पठित 'स्थान' नामक प्रमाण के तहत प्रथम 'अग्नीषोमीय' पशुओं का संस्कार करना अनुचित है॥ १३॥

**अगले सूत्र में मुख्य (प्रधान) क्रम के अनुसार अङ्गक्रम का कथन करते हैं—**

## ( ८२५ ) मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** मुख्यक्रमेण = प्रधान यज्ञ के क्रम से, वा = निश्चय ही, अङ्गानाम् = अङ्ग यज्ञों का अनुष्ठान होना ही चाहिए, तदर्थत्वात् = क्योंकि वह प्रधान यज्ञ के लिए ही होते हैं।

**व्याख्या—** सूत्र में 'वा' शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिए प्रयुक्त हुआ है। मुख्य (प्रधान) यज्ञों का जिस क्रम से अनुष्ठान किया गया है, अङ्ग यज्ञों के अनुष्ठान की अवधि में उसी क्रम से अङ्गों का भी अनुष्ठान होना चाहिए अर्थात् जो प्रधान (मुख्य) यज्ञों के अनुष्ठान का क्रम है, वही क्रम उनके अङ्गों के अनुष्ठान का भी होना चाहिए। अतः अनुष्ठान की अवधि में अङ्गानुष्ठान का क्रम मुख्य अनुष्ठान क्रम के अनुरूप ही हो, उसके विपरीत नहीं, यही उचित है॥ १४॥

**अब अगले सूत्र में 'मुख्यक्रम' की अपेक्षा 'पाठक्रम' को बलवान् ( श्रेष्ठ ) होने का कथन किया जा रहा है—**

## ( ८२६ ) प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = पूर्णमास यज्ञ में, यथाक्रमम् = अङ्गों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार, प्रतीयेत = जानना चाहिए, स्वशब्दत्वात् = क्योंकि वह साक्षात् अङ्ग प्रतिपादक शब्दों द्वारा प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्र में तु शब्द उपर्युक्त अर्थ की दृढ़ता के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्णमास' याग में 'मुख्यक्रम' के स्थान पर अङ्गों का अनुष्ठान 'पाठक्रम' के अनुसार ही जानना चाहिए; क्योंकि उसके सन्दर्भ में उस प्रकार का स्पष्ट विधि-विधान अङ्गप्रतिपादक शब्दों द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ क्रम में उपांशु यज्ञ के बाद अग्नीषोमीय यज्ञ का विधि-विधान होने से प्रथम उपांशु यज्ञ के बाद अग्नीषोमीय यज्ञ का ही मुख्य क्रम प्रतीत होता है, किन्तु उपांशु यज्ञ आदि में अपेक्षित पुरोडाश 'निर्माण' आदि धर्म के बाद अपेक्षित आज्य द्रव्य के उत्पवनादि धर्म कहे गये हैं। उस मुख्य-क्रम का बोध करके उसी क्रम के तहत उनका अनुष्ठान होना चाहिए; क्योंकि अतिरिक्त करने में श्रुतक्रम की हानि एवं अश्रुत की प्राप्ति स्वरूप दोष आ जाता है, जो अनुचित है। अतः स्पष्ट है कि उपांशु यज्ञ आदि में उत्पवन आदि धर्मों का अनुष्ठान मुख्य क्रम के तहत नहीं, अपितु पाठक्रम के तहत ही होना चाहिए॥ १५॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ब्राह्मण पाठ की अपेक्षा मन्त्रपाठ की श्रेष्ठता ( प्रबल होने ) का कथन करते हैं-**

## ( ८२७ ) मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** मन्त्रतः = मन्त्र के भावों से, विरोधे = ब्राह्मणपाठ का विरोध होने पर, प्रयोगरूपसामर्थ्यात् = अनुष्ठान मात्र के प्रकार का साक्षात् करने वाले, तस्मात् = उस ब्राह्मण से, उत्पत्तिदेशः = कर्म का विधायक होने से, सः = वह मन्त्र श्रेष्ठ, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** कर्मों के क्रम के सन्दर्भ में वैदिक मन्त्रों का ब्राह्मण एवम् अन्य ग्रन्थों के साथ कोई विरोध यदि दृष्टिगोचर हो, तो उस स्थिति में 'ब्राह्मण ग्रन्थों' के स्थान पर मन्त्र पद को प्रमुखता प्रदान करनी चाहिए। वेद में प्रयुक्त 'अग्निर्मूर्धा....' इत्यादि मन्त्रों से 'उपांशु यज्ञ' करने के उपरान्त 'अग्नीषोमीय यज्ञ' का विधान है, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में पहले अग्नीषोमीय यज्ञ के विधान के उपरान्त उपांशु यज्ञ का विधान किया गया है। इस विरोधाभास का निवारण यहाँ सूत्रकार इस प्रकार करते हैं कि मन्त्र स्वतः प्रमाण होने से ब्राह्मण से प्रबल (श्रेष्ठ) एवम् ब्राह्मण होने से मन्त्र से निर्बल है। प्रथम अध्याय में इसका प्रतिपादन विस्तार से कर दिया गया है। यहाँ तो मात्र इतना ही स्पष्ट करना है कि निर्बल ब्राह्मण पाठ का त्याग करके प्रबल मन्त्र पाठ के तहत उपर्युक्त दोनों प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए, यही उचित है॥ १६॥

**अब अगले सूत्र में चोदक वाक्यों के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी का मत प्रस्तुत किया गया है—**

## ( ८२८ ) तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** विकृतौ = विकृति यज्ञ में, यथाप्रधानम् = अङ्ग-अनुष्ठान प्रधान (मुख्य) क्रम के अनुसार, स्यात् = होना चाहिए, तद्वचनात् = क्योंकि मुख्यक्रम का बोधक वचन प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष कहता है कि सारस्वत आज्य से बार्हस्पत्य चरु का विधान उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार मुख्य हवियों का विधान किया गया है। अस्तु, उनके धर्मों का भी अनुष्ठान सम्पन्न होना चाहिए; क्योंकि अङ्गानुष्ठान को मुख्यक्रम के अनुसारित्व का विधान है॥ १७॥

**अब अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( ८२९ ) विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** विप्रतिपत्तौ = विरुद्ध दो क्रमों के एक साथ प्राप्त होने पर, वा = भी, यथाप्रकृति = प्रकृति क्रम के अनुसार ही अनुष्ठान होना ठीक है, प्रकृत्यन्वयात् = क्योंकि उक्त क्रम प्रकृति यज्ञ में पूर्व से ही सम्बद्ध है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जहाँ पर दो विरुद्ध (विपरीत) क्रम एक साथ सम्पन्न होते हैं, वहाँ पर निर्बल क्रम का त्याग कर प्रबल (बलवान्) क्रम का आश्रयण (अनुगमन) करना चाहिए। दूसरे 'आग्नेय' यज्ञ की विकृति 'बार्हस्पत्यचरु' एवं उपांशु यज्ञ की विकृति सारस्वत आज्य है और 'आग्नेय' यज्ञ उपांशु यज्ञ की अपेक्षा पूर्व से ही निश्चित है। अत: उसकी विकृति में धर्मों के अनुष्ठान का क्रम भी उपर्युक्त प्रकृति के तहत ही होना चाहिए, क्योंकि विकृति क्रम की अपेक्षा प्रकृति क्रम अन्तरङ्ग है और प्रकृतिक्रम की अपेक्षा विकृति क्रम बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग की तुलना में अन्तरङ्ग ही मान्य है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त दोनों हवियों के धर्मों का अनुष्ठान कर्म में प्रवृत्त होने वाले वाक्य प्राप्त प्रकृति क्रम के तहत ही होना चाहिए, मुख्य क्रम के तहत नहीं होना चाहिए॥ १८॥



**अब अगले सूत्र में उसी क्रम से पूर्वपक्ष का भिन्न मत व्यक्त करते हैं—**

**( ८३० ) विकृति: प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला: स्याद्यथाशिष्टम्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिधर्मत्वात् = प्रकृति धर्म के अनुसार, यथाशिष्टम् = प्रकृति याग की सिद्धि हेतु जितना काल विधान कहा गया है, विकृति: = विकृति याग भी, तत्काला: = उतने काल वाले, स्यात् = होने चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष कहता है कि जिस प्रकार प्रकृति के इतर धर्मों का विकृति में अनुष्ठान होता है, उसी प्रकार समय अनुष्ठान होना भी जरूरी है। उक्त तीनों यज्ञों की प्रकृति 'साकमेध यज्ञ' द्व्यहकाल है। अत: विकृति याग भी द्व्यहकाल (दो अवधि-प्रात: सायं) में होना चाहिए। यदि ऐसा न मानें, तो प्रकृति और विकृति की जो परस्पर सदृशता है, उसका हमेशा के लिए लोप हो जाता है, जो कि उचित नहीं। जैसे एक दिन में उक्त तीनों काल हो सकते हैं, वैसे ही दो दिन में भी हो सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों विकृतियाग 'सद्य:काल' नहीं, वरन् प्रकृतियाग की तरह 'द्व्यहकाल' ही होना उचित है॥ १९॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के कथन का समाधान किया जा रहा है—**

**( ८३१ ) अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्य: क्रियेत तत्र विधेरनुमानात् प्रकृतिधर्मलोप: स्यात्॥ २०॥**

सूत्रार्थ— अपि वा = उक्त कथन ठीक होते हुए भी, क्रमकालसंयुक्ता = क्रम एवम् अवधि के सन्दर्भ में जो, सद्य: = तत्काल, क्रियेत = कर्त्तव्य है, तत्र = उस क्रम में, विधे: = जो कालों का नियम है वह अनुमानात् = वह प्रेरक वाक्य से प्रबल है, अस्तु, प्रकृतिधर्मलोप: = अत: उक्त प्रकृति याग के धर्मभूत काल का उपर्युक्त विकृति यागों में लोप, स्यात् = होना उचित है।

**व्याख्या—** सूत्र में 'अपि वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण हेतु प्रयुक्त किया है। सूत्रकार कहते हैं कि उक्त तीनों यज्ञों का जिस अवधि व क्रम में विधान किया गया है, उसी क्रम व अवधि में करने चाहिए; क्योंकि उदाहृत वाक्यों में जो प्रात: आदि कालों का नियम है, वह उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त प्रकृतकाल से प्रबल

है। जिसका विधान प्रत्यक्ष है, उसका त्याग ठीक नहीं। यदि उपर्युक्त विकृति यज्ञों में चोदक वाक्य से काल की प्राप्ति भी मानें, तो भी प्रत्यक्ष विहित को त्यागकर चोदक वाक्य प्राप्ति का अनुष्ठान नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष विहित एवं चोदक वाक्य की प्राप्ति दोनों के बीच प्रत्यक्ष विहित प्रबल और चोदक वाक्य की प्राप्ति निर्बल होती है। अत: स्पष्ट है कि उक्त तीनों विकृति याग प्रकृतिवत् 'द्व्यहकाल' नहीं, बल्कि 'सद्य:काल' है। जिस -जिस अवधि में उन यागों का विधान किया गया है, उन्हीं-उन्हीं में वे होने उचित हैं॥ २०॥

**अगले सूत्र में उक्त अर्थ के सन्दर्भ में आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

## (८३२) कालोत्कर्ष इति चेत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** कालोत्कर्ष: = उपर्युक्त काल का उत्कर्ष होने से भी प्रात: आदि शब्द भी सिद्ध हो सकते हैं, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो उचित नहीं।

**व्याख्या—** आशङ्का है कि उक्त काल का उत्कर्ष होने के कारण भी प्रात: आदि में सम्पन्न हो सकते हैं। उपर्युक्त चोदक (कर्म में प्रवृत्त होने वाले) वाक्यों में 'प्रात:' आदि काल का प्रत्यक्ष नियम कहा गया है। उसका एक दिन से अगले दूसरे दिन में उत्कर्ष हो सकता है। एक दिन से अगले-दूसरे दिन का सम्बन्ध स्थापित होने का नाम 'उत्कर्ष' है। उत्कर्ष मानने से उक्त दोनों की अङ्गों के सहित सदृशता और प्रत्यक्ष नियम-विधान की उपपत्ति होती है, जो किसी बाधा की अपेक्षा श्रेष्ठ है और जो श्रेष्ठ है, उसे अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। अत: सिद्ध है कि उक्त तीनों याग प्रकृति याग के सदृश द्व्यहकाल ही करणीय हैं, सद्य: काल नहीं हैं॥ २१॥

**अगले सूत्र में उक्त आशङ्का का समाधान किया जा रहा है—**

## (८३३) न तत्सम्बन्धात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** तत्सम्बन्धात् = उनके परस्पर सम्बन्धों के कारण, न = उक्त कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि सम्यक् रूप से काल का ग्रहण होता, तो निश्चित ही प्रकृति यज्ञ के सदृश उत्कर्ष करने उपर्युक्त विकृति यज्ञों को भी 'द्व्यहकाल' की कल्पना की जाती; किन्तु प्रात: आदि स्पष्ट शब्दों के प्रयुक्त होने से उपर्युक्त तीनों कालों का एक दिन के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है। यदि उत्कर्ष मानने पर दूसरे दिन को ग्रहण करें, तो दोनों दिनों के दो-दो प्रात: आदि काल हो जाते हैं। जिनके मध्य एक में उक्त यज्ञ का अनुष्ठान होने से दूसरा बेकार हो जाता है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त तीनों विकृति यज्ञ 'द्व्यहकाल' न होकर सद्य:काल ही होने उचित हैं॥ २२॥

**अब अगले सूत्र में 'ज्योतिष्टोम' याग में 'अनुयाजादि' का 'उत्कर्ष' और प्रयोजन का 'अपकर्ष' कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## (८३४) अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** उत्कर्षे = अनुयाज तथा प्रयाज दोनों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के सन्दर्भ में, यथोक्तम् = जैसा कथन किया गया है, वैसा ही होना चाहिए, अङ्गानाम् = क्योंकि ऐसा होने से अङ्गों को, मुख्यकालत्वात् = अपने-अपने काल का लाभ, स्यात् = (प्राप्त) हो जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अनुयाज एवं प्रयाज दोनों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के सन्दर्भ में जैसा कथन किया गया है, वैसा ही होना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार होने से अङ्गों को अपने-अपने काल का लाभ मिल जाता है। यदि उक्त दोनों (अनुयाज और प्रयाज) अङ्गकर्मों के उत्कर्ष और अपकर्ष को न मानकर अनुयाजादि और प्रयाजान्त का उत्कर्ष व अपकर्ष मान भी लिया जाये, तो अन्य अङ्ग के मुख्य काल का लोप एवम् कालान्तर की प्राप्ति रूप दोष आ जाता है, जो कि उचित नहीं है॥ २३॥

**अगले तीन सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ८३५ ) तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** अपकर्षे = अपकर्ष और उत्कर्ष में, तदादि = अनुयाज आदि में, तदन्तं = प्रजायान्त का, अभिसम्बन्धात् = अभिसम्बन्ध, स्यात् = पाया जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रकृति याग से विकृति याग में चोदक (प्रेरक ) वाक्य द्वारा जिन अङ्गों की प्राप्ति होती है, वह क्रम विशिष्टों की होती है, मात्र अङ्गों की नहीं। जिस क्रम से श्रेष्ठ अङ्गों की प्राप्ति होती है, यदि उसका त्याग कर दिया जाये, तो क्रमान्तर के उपस्थित न होने से अनुष्ठान का लोप होना सम्भव है और अङ्गानुष्ठान में क्रम के निश्चित होने से 'काल' के सम्बन्ध का व्यतिरेक भी नहीं होता। उत्कर्ष और अपकर्ष में भी काल सम्बन्ध में व्यतिक्रम की आशङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि नियतक्रम का भङ्ग कहीं पर भी नहीं है। अत: स्पष्ट है कि वाक्यों में जो उत्कर्ष एवं अपकर्ष का नियम बतलाया गया है, वह अनुयाजादि प्रयाजान्त सभी अङ्ग कर्मों को जानना चाहिए, मात्र अनुयाज एवं प्रयाज को ही जानना पर्याप्त नहीं होगा॥ २४॥

**( ८३६ ) प्रवृत्त्या कृतकालानाम्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्त्या = 'प्रवृत्ति' नामक प्रमाण से, कृतकालानाम् = जिन प्रोक्षण आदि का अनुष्ठानकाल मालूम होता है, उनका अनुष्ठान पहले होना चाहिए।

**व्याख्या**- जिन प्रोक्षण आदि कर्मों का अनुष्ठान- काल मालूम हो, उन कर्मों का अनुष्ठान पहले होना चाहिए। पुरोडाश निर्वाप (समर्पण या वपन) के पश्चात् प्रचरणादि धर्म ही अनुष्ठान के योग्य है, अथवा इसे इस प्रकार कहें कि पुरोडाश वपन या समर्पण के बाद ज्योतिष्टोम क्रम के अनुसार प्रचरणी होम आदि वहिष्पवमान स्तोत्र तक पदार्थों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, परन्तु चोदक (प्रेरक) वाक्य द्वारा प्राप्त प्रोक्षणादि धर्मों का अनुष्ठान अवश्य ही होना चाहिए॥ २५॥

**( ८३७ ) शब्दविप्रतिषेधाच्च॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दविप्रतिषेधात् = शब्दार्थ का विरोध प्राप्त होने से, च = भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** युक्ति देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो शब्दार्थ के विरुद्ध है; किन्तु सिद्धान्त पक्ष में प्रोक्षणादि का पहले ही अनुष्ठान हो जाने से उपर्युक्त वाक्य में विपरीत अर्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस पक्ष में अलङ्कार मात्र ही 'अलङ्कार' शब्द का अर्थ किया जाता है, जो कि शब्द विपरीत नहीं है तथा विरुद्ध एवम् अविरुद्ध अर्थों के बीच विरुद्ध अर्थ को स्वीकार करना उचित नहीं। वहाँ पर अविरुद्ध अर्थ ही ग्रहणीय है। यही उचित है, अत: निर्वाप के पश्चात् प्रोक्षणादि ही पहले अनुष्ठान के लिए उचित है, प्रचरणी होम आदि पहले होना उचित नहीं है॥ २६॥

**अगले सूत्र में 'वैकृतयूप' के छेदनमात्र अपकर्ष-कथन किया जा रहा है—**

**( ८३८ ) असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वैकृतं = विकृति मात्र में जो विधान किया गया है, असंयोगात् = उसका अन्य (दूसरे) अङ्गों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होने से, तत् एव = तन्मात्र का ही, प्रतिकृष्येत् = अपकर्ष होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'दर्शपूर्णमास' याग की विकृति 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ के अन्तर्वर्ती 'अग्नीषोमीय' पशुयाग में 'दीक्षासु यूपं छिनत्ति' अर्थात् दीक्षा-काल में यूप का छेदन करे। यहाँ शंका यह है कि दीक्षाकाल में यूप छेदन का अपकर्ष विधान किया गया है, वह यूप छेदन मात्र का अपकर्ष है या सोम प्रणयन आदि के साथ यूप का छेदन? जिसके निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि जैसे एक मुख्य याग के प्रति अङ्ग होने से आपस में प्रयाज

और आघार आदि का क्रम आवश्यक है, यदि उसी प्रकार यूप छेदन और उसके पहले होने वाले सोमप्रणयन आदि का भी आपसी क्रम आवश्यक होता, तो निश्चित ही यूपछेदन के अपकर्ष के बाद सोम प्रणयन आदि अङ्गों की भी कल्पना की जाती; किन्तु प्रणयन सोमयाग का एवम् यूपछेदन अग्नीषोमीय पशु का अङ्ग होने से उपर्युक्त दोनों का आपसी क्रम अपेक्षित नहीं। इसीलिए अङ्गों के अपकर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य में यूप छेदन मात्र का अपकर्ष विधान किया गया है और उसके पश्चात् सोम प्रणयन आदि अङ्गों का विधान नहीं किया गया है॥ २७॥

**अगले सूत्र में अनुयाजों के सहित सम्पन्न होने वाले यज्ञों ( हवन ) का अनुत्कर्षक कथन किया जा रहा है—**

**( ८३९ ) प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, असंयोगात् = उन यज्ञों के साथ संयोग न होने से, प्रासङ्गिकम् = प्रसङ्ग से उपकृत करने वाला अनुयाज कर्म, उत्कर्षेत् = यज्ञों का उत्कर्ष, न = नहीं कर सकता।

**व्याख्या—** अनुयाजों के उत्कर्ष-विधान का वर्णन ऊपर २३वें सूत्र में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। यहाँ शंका होती है कि उक्त प्रयाज में उत्कृष्यमाण हुए दूसरे अङ्गों के सदृश 'पिष्टलेप' और 'फलीकरण' नामक दो प्रकार के यज्ञों के भी उत्कर्ष हैं, या नहीं? इसके निस्तारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि उक्त दोनों हवन सवनीय पुरोडाश के लिए हैं, अग्नीषोमीय पशु के लिए नहीं। अनुयाज उक्त पशु के लिए है। पुरोडाश में वह मात्र प्रसङ्गवश उपकारक है, बोधक नहीं। सिल-लोढ़ा एवं कपाल आदि में लगे हुए आटे का जुहूद्वारा चार बार ग्रहण किये गये घृत में डालकर जो दक्षिणाग्नि यज्ञ होता है, उसे 'पिष्टलेपहोम' कहते हैं और जो तण्डुल (चावल) के कणों को घृत में डालकर जो होम किया जाता है,उसे 'फलीकरणहोम' कहते हैं। जिस प्रकार से उक्त दोनों हवन सवनीय पुरोडाश के लिए प्रेरक वाक्य द्वारा प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अनुयाज उक्त पुरोडाश हेतु प्राप्त नहीं होते, बल्कि वह प्रसङ्गवश उपकारक होते हुए भी यथार्थत: अग्नीषोमीय पशु हेतु ही प्राप्त होते हैं। जिन दो यज्ञों का उद्देश्य एक नहीं होता, उनके बीच एक उत्कृष्यमाण हुआ, अन्य का उत्कर्ष नहीं हो सकता। अत: स्पष्ट है कि स्वयं उत्कृष्यमाण हुए अनुयाज अन्य अङ्गों की तरह उपर्युक्त दक्षिणाग्नि में होने वाले यज्ञों (होमों) के उत्कर्षक नहीं हो सकते॥ २८॥

**अगले सूत्र में पुरोडाशाभिवासन तक अङ्ग समूह का 'दर्शयाग' में अनपकर्ष कथन किया जा रहा है—**

**( ८४० ) तथाऽपूर्वम्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = जिस प्रकार प्रयाज उक्त दोनों होमों (यज्ञों) का उत्कर्षक नहीं होता वैसे ही, अपूर्वम् = प्राकृत वेदि अभिवासन (आच्छादन) के बाद अङ्ग समूह का भी अपकर्षक नहीं होता।

**व्याख्या—** जिस प्रकार प्रयाज उपर्युक्त दोनों होमों का उत्कर्षक नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्राकृत वेदि आच्छादन के पश्चात् अङ्ग समूह का अपकर्षक नहीं हो सकता। सूत्र में जिस वाक्य को वेदि के अपकर्ष का अभिधायक कथन किया गया है, वह स्वयं वेदि का विधायक है तथा उसके विधायक होने से वेदि के अपकर्ष की चर्चा (वार्ता) करना ही बेकार है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य में 'वेदि' का मात्र विधान ही है, अपकर्ष नहीं। अपकर्ष का विधान न होने से अभिवासनान्त अर्थात् आच्छादन के अन्त (बाद) तक अङ्गों के साथ 'वेदि' का अपकर्ष स्वीकार करना उचित नहीं है॥ २९॥

**अब अगले दो सूत्रों में 'सान्तपनीया' नामक इष्टि को 'अग्निहोत्र' का अनुत्कर्षक कथन करने हेतु आचार्य पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( ८४१ ) सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, सवनवत् = जिस प्रकार 'प्रात: सवन' स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ माध्यंदिन सवन का

उत्कर्ष करता है वैसे ही, वैगुण्यात् = उसके न करने से कर्म का गुण घटने के कारण हो जाता है, सान्तपनीया = सान्तपनीया नामक इष्टि भी, अग्निहोत्रम् = अग्निहोत्र का, उत्कर्षेत् = उत्कर्ष करती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, कि जिस प्रकार प्रात: सवन उत्कर्ष को प्राप्त करके माध्यन्दिन सवन का ही उत्कर्ष करता है, उसी प्रकार 'सान्तपनीया' नामक इष्टि भी अग्निहोत्र (होम) का उत्कर्ष करती है। यदि ऐसा न किया जाये, तो उपर्युक्त दोनों कर्मों में व्यतिरेक उत्पन्न हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि उक्त इष्टि के समाप्त होने पर ही अग्निहोत्र का अनुष्ठान कर्म करना कर्त्तव्य है, निश्चित समय पर नहीं। अथवा इसे इस प्रकार कहें कि जैसे उत्कर्ष को प्राप्त प्रात: सवन माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष करता है, वैसे ही स्वयमेव उत्कर्ष को प्राप्त हुई इष्टि भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष करती है, अनुत्कर्ष नहीं करती॥ ३०॥

## ( ८४२ ) अव्यवायाच्च॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अव्यवायात् = दोनों कर्मों का व्यवधान न होने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** यदि इष्टि के उत्कर्ष द्वारा यज्ञ (हवन-होम) का उत्कर्ष ग्रहण न किया जाये, तो उपर्युक्त दोनों कर्मों का आपस में व्यवधान हो जाता है तथा व्यवधान के हो जाने से श्रूयमाण पूर्वापरीभाव का निस्तारण हो जाता है। यदि इष्टि की समाप्ति से पूर्व ही हवन कर भी लिया जाये, तो उपर्युक्त क्रम अवरुद्ध हो जाता है तथा इष्टि के उत्कर्ष के सहित यज्ञ (होम) का भी उत्कर्ष मान भी लें, तो उपर्युक्त क्रम अवरुद्ध नहीं होता। यहाँ पर क्रम का अवरुद्ध न होना, अवरुद्ध होने अर्थात् टूटने की अपेक्षा सर्वाधिक श्रेष्ठ है। अत: यह पुष्ट होता है कि इष्टि के उत्कर्ष से होम (अग्निहोत्र) का भी उत्कर्ष होता है, अनुत्कर्ष नहीं होता॥ ३१॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष के मत का समाधान करते हैं—**

## ( ८४३ ) असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** न उत्कर्षेत् = स्वयं उत्कर्ष को मिली हुई उक्त इष्टि अग्निहोत्र (होम) का उत्कर्ष नहीं करती, असम्बन्धात् = क्योंकि उसका, उसके साथ किसी भी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं है।

**व्याख्या—** यदि उपर्युक्त इष्टि का यज्ञ (होम) के साथ कोई सम्बन्ध होता, तो निश्चय ही वह स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुए यज्ञ का उत्कर्ष होता, किन्तु आपस में सम्बन्ध न होने से वह उत्कर्षक नहीं हो सकती। एक उत्कर्ष से दूसरे का उत्कर्ष वहाँ पर ही होना सम्भव होता है, जहाँ पर दोनों परस्पर अङ्ग-अङ्गी हों। इष्टि एवं यज्ञ ये दोनों ही स्वतन्त्र कर्म हैं। स्वतन्त्र कर्म होने के कारण ही एक प्रयोगान्तर्गत एवं अङ्ग-अङ्गी भी नहीं हैं। जो आपस में अङ्ग-अङ्गी एवम् एक प्रयोगान्त:पाती भी नहीं है, वह एक दूसरे के उत्कर्षक भी नहीं हो सकते। अत: स्पष्ट है कि किसी प्रतिबन्ध के वश में 'सान्तपनीया' इष्टि का उत्कर्ष होने पर भी यज्ञ का उत्कर्ष नहीं होता, लेकिन वह अपने निश्चित समय पर उपर्युक्त इष्टि के मध्य ही अनुष्ठान के योग्य है॥ ३२॥

**सायंकाल के समय में यज्ञ के विधान का कारण कथन अगले सूत्र में किया गया है—**

## ( ८४४ ) प्रापणाच्च निमित्तस्य॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, निमित्तस्य = निमित्त के, प्रापणात् = प्राप्त होने से (सायंकाल में यज्ञ) का विधान किया गया है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि शास्त्रों में अग्निहोत्र का निमित्त समय प्रात:-सायं आदि काल बतलाया गया है। यथा- 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' अर्थात् प्रात:काल और सायंकाल यज्ञ करे। यहाँ पर यह नहीं कहा गया है कि 'सान्तपनीया' इष्टि की समाप्ति पर ही अग्निहोत्र किया जाये। अत: अग्निहोत्र अपने निश्चित समय पर ही होना चाहिए। उपर्युक्त इष्टि के समाप्त होने पर जिस यज्ञ का 'तां समाप्य अग्निहोत्रं जुहोति' नियम निश्चित

किया गया है, वह मध्यकाल में शुरू की गई इष्टि के सायंकाल तक समाप्त हो जाने पर उसके निमित्त कर्त्तव्य का बोधक है। यदि वह इष्टि निमित्त न होती, तो निश्चित ही सायंकाल तक उसके पूर्ण न होने से यज्ञ का भी उत्कर्ष होता; किन्तु उक्त इष्टि की समाप्ति यज्ञ का निमित्त नहीं है, बल्कि उसका निमित्त तो सायंकाल है। वह जब भी मिले, तभी यज्ञ करना कर्त्तव्य है। इष्टि के समाप्त होने की प्रतीक्षा करना उचित नहीं॥ ३३॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष द्वारा सूत्र में कहे हुए 'सवनवत' दृष्टान्त का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (८४५) सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** सम्बन्धात् = आपस में सम्बन्ध स्थापित होने से, सवनोत्कर्षः = प्रातः सवन के उत्कर्ष से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यदि प्रातः सवन से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है, तो उसका प्रमुख कारण यह है कि वे दोनों आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने वाले हैं। प्रातः सवन एवं माध्यन्दिन सवन एक प्रयोगान्तःपाती हैं, इस कारण उन दोनों का आपस में घनिष्ठतम सम्बन्ध होने से एक के उत्कर्ष से दूसरे का उत्कर्ष होता है, किन्तु उपर्युक्त इष्टि एवं अग्निहोत्र (यज्ञ) दोनों ही एक प्रयोगान्तःपाती नहीं हो सकते। अतः इष्टि के उत्कर्ष से हवन (यज्ञ) का उत्कर्ष नहीं हो सकता॥ ३४॥

**अगले सूत्र में 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से 'षोडशी' ग्रह का उत्कर्ष कथन प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (८४६) षोडशी चोक्थ्यसंयोगात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** च=तथा, षोडशी = 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से 'षोडशी' ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, उक्थ्यसंयोगात् = क्योंकि उसका 'उक्थ्य' ग्रह के साथ सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त सूत्र के अर्थानुसार 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से 'षोडशी' ग्रह का भी उत्कर्ष होता है; क्योंकि वे दोनों आपस में सम्बन्ध रखने वाले हैं। 'उक्थ्यादि' का सूर्यास्त से पूर्व ग्रहण न हो सके; किन्तु उत्कर्ष हो जाये, तो उनके उत्कर्ष से 'षोडशी' का उत्कर्ष होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए? अथवा यह कहें कि उक्थ्य ग्रहण के पूर्व षोडशी का ग्रहण होना चाहिए या सूर्यास्त होने पर ? इसी आशङ्का के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि यदि उक्थ्य एवं षोडशी ग्रह का सान्तपनीया इष्टि और यज्ञ के सदृश कोई सम्बन्ध न होता, तो उक्थ्य के उत्कर्ष से षोडशी का उत्कर्ष न होता; किन्तु एक सवनान्तःपाती होने से उक्थ्य ग्रह एवं षोडशी ग्रह का आपस में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अस्तु, उक्थ्य के उत्कर्ष से षोडशी का उत्कर्ष होना अनिवार्य है अर्थात् यदि सूर्यास्त होने से पूर्व उक्थ्यादि ग्रहों का ग्रहण न हो सके, तो उनके सम्बन्धी षोडशी ग्रह का ग्रहण सूर्यास्त से पहले नहीं होना चाहिए। 'तं पराञ्चमुक्थ्येभ्यो गृह्णाति' वाक्य द्वारा 'उक्थ्य' आदि ग्रह के ग्रहण के पूर्व षोडशी ग्रह के ग्रहण का नियम बताया गया है। जिसका पीछे ग्रहण करने का नियम-विधान बनाया गया है, उसका काल के अतिक्रम होने पर भी पहले ग्रहण कभी भी नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि उक्थ्य के उत्कर्ष से षोडशी का भी उत्कर्ष ही होता है॥ ३५॥

## ॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

# ॥ अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**पञ्चम अध्याय के द्वितीय पाद में सूत्रकार 'वाजपेय' यज्ञ में देने योग्य समस्त पशुओं-पुरोडाशों के एक काल में 'उपाकरण' आदि संस्कार कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का प्रतिपादन प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि यजनीय पशु का जो विवरण यहाँ प्रस्तुत हो रहा है, वह पुरोडाश ( हविष्यान्न को पीसकर बनाया गया रोटी जैसा पदार्थ ) के सन्दर्भ में है। उसी को संस्कारित करने, अवदान करके ( काट करके ) यज्ञ में समर्पित करने का विधान है। उसी से सम्बन्धित पूर्वपक्ष ( आशंका ) और समाधान ( उत्तर पक्ष ) यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## ( ८४७ ) सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** प्रधानानाम् = अनेक प्रमुख देने योग्य पशुओं के, सन्निपाते = किसी यज्ञ में इकट्ठा होने पर, एकैकस्य = एक -एक पशु में, गुणानाम् = श्रेष्ठ गुणों-संस्कारों का , सर्वकर्म = समग्ररूप से अनुष्ठान, स्यात् = सम्पन्न कर लेना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि वाजपेय याग में दान देने योग्य पशुओं के 'उपाकरण' आदि संस्कार पूर्ण रूप से सम्पन्न कर देना चाहिए। 'अग्नीषोमीय' प्रकृतियाग में उपाकरण आदि पशु संस्कारों का एक साथ होने का उल्लेख है। वाजपेय याग में जिन सत्रह पशुओं के दान हेतु विधान बनाये गये हैं, यदि उनमें से हर एक पशु का एक-एक करके यथाक्रम 'उपाकरण' संस्कार करें, तो प्रेरक प्रवृत्त वाक्य से प्राप्त हुआ उक्त संस्कार एक साथ होना बाधित हो जाता है। जिस प्रकार प्रकृति याग द्वारा उक्त संस्कार प्राप्त होते हैं,उसी प्रकार विकृतियाग में उन उपाकरण आदि संस्कारों का अनुष्ठान होना अन्यथा न होकर उचित ही है॥ १ ॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८४८ ) सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्वत्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** सर्वेषाम् = सभी पशुओं का, एकजातीयम् = एक संस्कार, वा = भी करना चाहिए, कृतानुपूर्वत्वात् = क्योंकि देने योग्य पशुओं के साहित्य (एक साथ होना) से ऐसा ही प्रमाण प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि सभी पशुओं का एक संस्कार करने के उपरान्त दूसरा संस्कार भी करना चाहिए; क्योंकि देने योग्य पशुओं के साहित्य (एक साथ होना) से इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। 'वाजपेय' याग में देने योग्य पशुओं के मध्य एक पशु के समस्त संस्कार पूर्ण करके पुनः दूसरे, तीसरे पशु के संस्कार में नहीं होने चाहिए; बल्कि सभी पशुओं में क्रमशः एक संस्कार होने के बाद पुनः दूसरे, तीसरे संस्कार सम्पन्न होने चाहिए। वाजपेय याग में प्रेरक वाक्य से ऐसी ही प्रेरणा प्राप्त होती है॥ २ ॥

**अगले सूत्र में कुछ आचार्यगण उक्त सिद्धान्त का अपवाद कथन करते हैं—**

## ( ८४९ ) कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** कारणात् = और कहीं प्रबल प्रतिबन्धक रूप कारण के विद्यमान होने से, अभ्यावृत्तिः = एक-एक प्रधान धर्मी में समग्र रूप से संस्कार रूपी धर्मों का अनुष्ठान होता है।

**व्याख्या—** अपवाद स्वरूप कुछ एक आचार्य गण उक्त पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में कहते हैं कि यदि कोई बहुत बड़ी बाधा सामने उपस्थित हो जाये, तो एक-एक पशु का समग्र रूप से भी संस्कार सम्पन्न किया जा सकता है। जिस यज्ञ में अनेक पुरोडाश आवश्यक है, वहाँ उनके अधिश्रयण अर्थात् कपाल पर डालने आदि धर्मों का एक-एक पुरोडाश रूपी धर्मी में समग्र रूप से अनुष्ठान होना उचित है; क्योंकि एक व्यक्ति अनेक पुरोडाशों को एक ही समय में नहीं पका सकता। यदि एक पुरोडाश को कपाल पर डालकर क्रमशः दूसरे, तीसरे आदि को उसमें

डालता जाये, तो पहले वाले पुरोडाश के उलटाने में देर हो जाने से वह जल जायेगा, जो कि उचित नहीं है॥ ३॥

**अब अगले सूत्र में 'मुष्टिनिर्वाप' आदि धर्मों का एक-एक धर्मों में समग्ररूप से अनुष्ठान कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## (८५०) मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु = मुष्टि, कपाल, अवदान (काटना), अञ्जन, अभ्यञ्जन (उबटन), वपन एवम् पावन, इन सबमें, एकेन = एक-एक का निर्वाप रूप अनुष्ठान होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के मतानुसार प्रति पुरोडाश एक-एक कपाल का उपधान एवं एक-एक बार अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन करते हुए मन्त्रोच्चारण द्वारा शरीर के समस्त अङ्गों को पावन करने से एक निश्चित संख्या पूरी हो जाती है। संख्या के पूर्ण करने में वाक्य का अभिप्राय है, पूर्णतया करने में नहीं। एक-एक बार अनुष्ठान करके संख्या पूरी करने से 'पदार्थानुसमय' (सभी पशुओं में यथा क्रम एक-एक संस्कार के अनुष्ठान का नाम) का पूर्ण रीति से अनुसरण हो जाता है। उसका अनुसरण 'काष्ठानुसमय' (एक-एक पशु में समग्र रूप से अनुष्ठान का नाम) की अपेक्षा उत्तम है। जो उत्तम है, उसका त्याग उचित नहीं है। अत: स्पष्ट है कि प्रति पुरोडाश एक-एक मुष्टि (मुट्ठी) आटा और कपाल आदि का वपन एवं उपधान आदि करके विहित संख्या पूर्ण करनी चाहिए, एक साथ नहीं करनी चाहिए॥ ४॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष के मत का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (८५१) सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्‍गुणत्वात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** सर्वाणि = चारों मुष्टि आठ अथवा ग्यारह कपाल, चारों अवदान, तीनों अञ्जन, अभ्यञ्जन तथा वपन एवम् सातों पावन यह सभी, तु = तो, एककार्य्यत्वात् = पुरोडाशादि रूप एक कार्य की सिद्धि के लिए होने से एक ही पदार्थ है और, तेषाम् = उन प्राप्त हुए उक्त पदार्थों को, तद्‍गुणत्वात् = प्रमुख कर्म के प्रति अङ्गता होने से एक बार ही सभी के लिए पुरोडाश आदि अनुष्ठान सम्पन्न होना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि ऊपर कथित सभी संस्कार एक ही कामना हेतु सम्पादित किये जाते हैं। अत: इन्हें एक साथ ही सम्पन्न करना चाहिए। अत: एक बार ही सभी के लिए पुरोडाश आदि अनुष्ठान होना चाहिए। प्रति पुरोडाश एक ही बार चार मुष्टि आटा का निर्वाप-वपन और आठ या ग्यारह कपाल आदि का उपधान आदि करके एक-एक करके अनुष्ठान की संख्या को पूरा करना चाहिए॥ ५॥

**अब अगले सूत्र में होम होने तक अवदान (कटे हुए टुकड़े) को एक पदार्थ कथन करते हुए आग्नेय पुरोडाश के बाद अग्नीषोमीय पुरोडाश का अवदान एवं होम (हवन) का प्रतिपादन करते हैं—**

## (८५२) संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** संयुक्ते = अवदान संयुक्त होम प्रकरण में, तु = ही, प्रक्रमात् = जो एकमात्र अवदान से उपक्रम किया गया है, इतरस्य = क्योंकि अवदान से पृथक् मध्य में विधान किये गये 'उपस्तरण' आदि सम्पूर्ण, तदर्थत्वात् = होमार्थ होने से, तदङ्गं स्यात् = वह होम का अङ्ग हो, यही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अवदान से सम्पन्न प्रकरण में जो केवल एकमात्र अवदान से उपक्रम किया गया है, वह हवन (यज्ञ) होने तक समझना चाहिए। अवदान (टुकड़ों) से हवन होने तक एक ही पदार्थ होता है, मध्य में जो उपस्तरण किये गये हैं, वह अवदान का अङ्ग होने से उससे अलग नहीं है। अस्तु, आग्नेय यज्ञ के लिए अवदान सम्पन्न करके पुन: 'अग्नीषोमीय' यज्ञ के लिए अवदान की कल्पना उचित नहीं है। अवदान आदि होम होने तक आग्नेय यज्ञ को पूर्ण कर लेना ही उचित है॥ ६॥

**अब अगले सूत्र में अञ्जनादि से परिव्याण पर्यन्त समस्त संस्कारों के अनुष्ठान का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( ८५३ ) वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अञ्जनादि = 'अञ्जन' आदि, परिव्याणान्तम् = 'परिव्याण' तक समस्त संस्कारों का, स्यात् = समग्र रूप से अनुष्ठान होना चाहिए, वचनात् = क्योंकि वाक्य विशेष से, तु = यही प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुति-वचन के अनुसार 'अञ्जन' आदि 'परिव्याण' पर्यन्त (अर्थात् अति सुन्दर तिल्लड़ रस्सी से यूप को लपेटना आदि) समस्त संस्कारों का समग्र रूप में अनुष्ठान करना चाहिए। सिद्धान्त पक्ष के अनुसार 'अञ्जन' आदि से लेकर 'परिव्याण' आदि सभी संस्कार पूरे होने तक यजमान यूप को नहीं छोड़े। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक यूप में अञ्जनादि के सहित परिव्याण तक समस्त संस्कारों का पूर्णरूपेण अनुष्ठान होता है, एक-एक संस्कार का अलग-अलग नहीं होता॥ ७॥

**अब अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष द्वारा किये गये उपर्युक्त अर्थ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( ८५४ ) कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** यथा = जिस प्रकार, पात्रवृद्धिः 'अनुयाज नामक होम( यज्ञ ) हेतु 'पृषदाज्य' धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है, उसी प्रकार से प्रकृत में भी, कारणात् = अध्वर्युरूपसहकारी के न प्राप्त होने से, अनवसर्गः = 'न अवसृजेत्' अर्थात् अवसर्जन की कल्पना नहीं, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार पृषदाज्य अर्थात् 'दधि से मिले हुए घृत से अनुयाज नामक हवन करे' इस श्रुति-वाक्य में 'पृषदाज्य' के धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना की जाती है। उसी प्रकार प्रकृत (प्रस्तुत प्रकरण) में भी जो यजमान का परिव्याण पर्यन्त यूप को छोड़कर अन्यत्र न जाना कथन किया गया है, वहाँ अध्वर्यु के उपस्थित न होने से, इस तरह की कल्पना की जा सकती है; क्योंकि अकेला यजमान लम्बे समय तक बैठ नहीं सकता। इस प्रकार से यजमान परिव्याण से पहले ही यूप को छोड़ सकता है; किन्तु उसमें उक्त 'उदाहृत' नामक श्रुति-वाक्य की बाधा आ जाने के भय से जो हर यूप में अञ्जनादि परिव्याण तक सभी संस्कारों के पूरी तरह से अनुष्ठान की जो कल्पना की गई है, वह संगत नहीं है। अतः स्पष्ट है कि अञ्जन आदि संस्कारों के मध्य क्रमशः एक-एक संस्कार का ही प्रति यूप में अनुष्ठान होना चाहिए, एक साथ पूर्ण रूपेण नहीं होना चाहिए॥ ८॥

**अब अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( ८५५ ) न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** 'न वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति का सूचक है। शब्दकृतत्वात् = श्रुति वाक्य से प्राप्त होने के कारण उपर्युक्त संस्कारों का प्रत्येक यूप में समग्र रूप से अनुष्ठान होना ही उचित है, इतरत् = क्योंकि एक-एक का अनुष्ठान, न्यायमात्रम् = तर्क मात्र ही है जबकि, पात्रविवृद्धिः = जो पात्रान्तर की कल्पना है, वह अर्थ बल से प्राप्त होती है।

**व्याख्या—** 'अनुयाज' नामक यज्ञों के लिए जो दधि मिश्रित घृत के धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है, वह अर्थमूल होने से प्रमाणयुक्त है; क्योंकि यदि पात्रान्तर की कल्पना न करें, तो प्रथम संस्कार मात्र में पृषदाज्य न रहने से होम सम्पन्न नहीं हो सकते; लेकिन अध्वर्यु के अनुपस्थित होने से यजमान का अवसर्जन न होने की कल्पना करना सर्वथा प्रमाणरहित है; क्योंकि यूप के संस्कार यजमान द्वारा किये जाने वाले हैं, न कि अध्वर्यु द्वारा। यदि वे अध्वर्युकर्तृक होते, तो अध्वर्यु की उपस्थिति न होने से यजमान के परिव्याण के

अन्त तक यूप को छोड़कर न जाने की कल्पना प्रामाणिक मानी जाती; अत: एक यूप के अञ्जनादि से लेकर परिव्याण तक सभी संस्कार सम्पन्न हो जाने पर ही दूसरे-तीसरे यूप के उक्त संस्कार भी सम्पन्न होने चाहिए॥ ९॥

**यज्ञ में प्रत्येक पशु के उद्देश्य से होमने के योग्य पुरोडाशों के विधान किये गये तीन-तीन अवदानों का एक-एक करके अनुष्ठान कथन करने हेतु आचार्य पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## (८५६) पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** पश्वेकत्वात् = प्रत्येक पशु में, 'पशुत्व' नामक एक ही धर्म होने से, पशुगणे = प्रत्येक देय पशु के निमित्त पुरोडाशों में से एक-एक पुरोडाश में, तस्य-तस्य = उस-उस के अवदानों का, अपवर्जयेत् = अनुष्ठान होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक दान देने योग्य पशु के उद्देश्य से जो एक-एक पुरोडाश का हवन सम्पन्न किया जाता है, उनमें एक-एक पुरोडाश में यावत् अर्थात् उन-उन अवदानों (कटे हुए पदार्थों) का अनुष्ठान होते रहना चाहिए। पूर्वपक्ष अपना कथन स्पष्ट करते हुए कहता है कि जिस प्रकार प्रकृति याग में अवदान होकर (पुरोडाश को काटकर) हवन होता है, उसी प्रकार विकृति यागों में भी होना चाहिए, क्योंकि 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' वाक्य से प्राकृत धर्मों की ही तरह विकृति याग में भी अवदानों के बाद होम होना मान्य है। अत: सिद्ध है कि प्रकृति याग की तरह 'वाजपेय' आदि विकृति यागों में प्रति पुरोडाश का भी तीन-तीन टुकड़े करके हवन होना उचित है॥ १०॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (८५७) दैवतैर्वैककर्म्यात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** दैवतै: = प्रत्येक पुरोडाश का यथाक्रम अवदान होकर फिर होम होना चाहिए, ऐककर्म्यात् = क्योंकि उक्त तीनों अवदान पृथक्-पृथक् होने पर एक ही कर्म है, वा = पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ प्रयुक्त।

**व्याख्या—** यहाँ आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक पुरोडाश का प्रथम दैवत, फिर द्वितीय सौविष्टकृत् और तदनन्तर तृतीय अवदान होने के पश्चात् हवन होना चाहिए; क्योंकि ये तीनों अवदान अलग-अलग होते हुए भी एक ही कर्म हैं। अस्तु, प्रकृति की तरह विकृति याग में एक साथ उक्त तीनों अवदान सम्पन्न नहीं हो सकते तथा एक-एक अवदान के क्रमश: होने से अनुष्ठान में जो देर होने की आशङ्का की गई है, सो ठीक नहीं है। यदि प्रति पुरोडाश उक्त तीनों अवदानों का सह अनुष्ठान मान भी लें, तो तीनों के विजातीय होने से ज्यादा ही व्यवधान होने की सम्भावना है, जो कि उचित नहीं है। अत: स्पष्ट है कि उक्त विकृति यज्ञों में प्रति पुरोडाश यथाक्रम दैवतादि तीनों अवदान सम्पन्न करके ही हवन करना चाहिए, इकट्ठा एक साथ नहीं करना चाहिए॥ ११॥

## (८५८) मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, मन्त्रस्य = अवदान के समय में पढ़ने योग्य मन्त्र के, अर्थवत्त्वात् = उच्चारण में लाघव रूपी अर्थ की प्राप्ति से भी ऊपर किये गये अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** अवदान-काल में पढ़ने योग्य मन्त्र के उच्चारण के क्रम में लाघव रूपी अर्थ प्राप्ति होने पर ही उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है। उपर्युक्त तीनों अवदानों के अनुष्ठान के समय में 'त्वं ह्यग्ने प्रथमोमनोता इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण होता है। यदि दैवत अवदान समस्त पुरोडाशों से करने के बाद सौविष्टकृत् आदि दोनों अवदान क्रमश: करें, तो उक्त मन्त्र का उच्चारण मात्र तीन बार ही करना होगा तथा यदि प्रत्येक पुरोडाश

से तीन-तीन अवदान एक बार किये जायें, तो जितने पुरोडाश हैं, उतनी ही बार मन्त्रोच्चारण करना पड़ेगा। इससे पहले की अपेक्षा गौरव एवं इसकी अपेक्षा पूर्व में लाघव है; क्योंकि उसमें चाहे जितने भी पुरोडाश हों, उक्त मन्त्र का उच्चारण तीन बार से ज्यादा नहीं करना पड़ेगा तथा जिस पक्ष में लाघव रूपी अर्थ है, वहाँ गौरव युक्त पक्ष की अपेक्षा उसी का आश्रय श्रेष्ठ एवम् उचित है। अतः स्पष्ट है कि वाजपेय आदि विकृति यज्ञों में प्रत्येक पुरोडाश से उपर्युक्त तीन अवदानों का अनुष्ठान उचित नहीं है॥ १२॥

**अब अगले सूत्र में व्रीहि ( तण्डुल ) आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में पुरोडाश के लिए तण्डुल आदि की निष्पत्ति हेतु एक ही उलूखल का उपयोग कथन किया जा रहा है-**

## ( ८५९ ) नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** नानाबीजेषु = व्रीहि आदि अनेक बीजों के लिए, एकम् उलूखलं = एक ऊखल होना चाहिए, विभवात् = क्योंकि वह (ऊखल) अकेले ही समस्त अन्नों के लिए पर्याप्त है।

**व्याख्या—** व्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में तण्डुल (चावल) आदि की प्राप्ति हेतु एक ही ऊखल होना चाहिए; क्योंकि वह (एक ही ऊखल) सभी तरह के अनाज के लिए पर्याप्त है। इस कार्य के लिए अनेक ऊखलों को एकत्र करने का प्रयास करना व्यर्थ है॥ १३॥

**अब अगले सूत्र में ऊपर सिद्धान्त पक्ष द्वारा किये अर्थ के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८६० ) विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** विवृद्धिः = ऊखलों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए, नियमानुपूर्व्यस्य = क्योंकि पाठक्रम के निश्चित होने से, तदर्थत्वात् = उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि प्राप्त होती है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि ऊखलों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए; क्योंकि पाठक्रम का निर्धारण होने से ही उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि प्राप्त होती है। अन्नों के विविध प्रकार के संस्कारों के विधान हेतु कई ऊखलों की जरूरत होती है। पदार्थ समूह के अनुष्ठान को 'कण्डानुसमय' तथा एक-एक पदार्थ के अनुष्ठान को 'पदार्थानुसमय' कहा जाता है। यह पूर्व के सूत्र में सूचित किया जा चुका है। अतः क्रमशः एक-एक पदार्थ (अन्न) का अनुष्ठान करने में ऊखल के एक होने से तण्डुल निकालने में काफी विलम्ब हो जायेगा, जो कि अनुचित है। इसलिए उचित है कि उक्त इष्टियों में जितने तरह के अन्नों का प्रयोग होता है,उतने ही ऊखल होने जरूरी हैं॥ १४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८६१ ) एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** एकम् = एक ही ऊखल होना चाहिए, तण्डुलभावात् = क्योंकि तण्डुल (चावल) निकालने तक, हन्तेः = 'अव' पूर्वक 'हन' धातु का, तदर्थत्वात् = अवघात (कूटना) अर्थ स्वीकार किया गया है।

**व्याख्या—** आचार्य जैमिनि पूर्वपक्ष के मत का समाधान देते हुए बतलाते हैं कि एक ही ऊखल पर्याप्त है; क्योंकि चावल निकालना 'कूटना' स्वीकार किया गया है। जब यह कथन एक के ऊखल पक्ष में भी हो सकता है, तब फिर अनेक ऊखल स्वीकार करने की कोई विशेष जरूरत नहीं होनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के अन्न साध्य "आग्नेयी" आदि इष्टियों में एक ऊखल सभी प्रकार के अन्नों के लिए काफी है॥ १५॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य 'अग्नीषोमीय' पशुयाग में प्रयाज और अनुयाज के पात्र का भेद प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८६२ ) विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात्स्यात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** विकारे = अग्नीषोमीय पशु याग में, अनुयाजानाम् = अनुयाज और प्रयाज दोनों में, अर्थभेदात् = होमने योग्य आज्य रूप अर्थ का भेद होने से, पात्रभेद: = पात्र का भेद, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'दर्शपूर्णमास' रूपी प्रकृति यज्ञ में प्रयाज और अनुयाज दोनों तरह के यज्ञों हेतु 'उपभृत्' नाम वाले एक ही पात्र में आज्य (घृत) रखा जाता है। 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' वाक्य के अनुसार 'अग्नीषोमीय' पशु यज्ञ में उपलब्ध उक्त दोनों तरह के यज्ञों के लिए आज्य (घी) धारण हेतु एक पात्र रहे या दो पात्र? इसी आशङ्का के निवारणार्थ आचार्य कहते हैं कि प्रकृति यज्ञ में उक्त यज्ञों (होमों) के साधन आज्य (घी) का भेद नहीं है, अत: उसमें पात्र भेद की जरूरत नहीं, किन्तु अग्नीषोमीय यज्ञ में उनके साधन आज्य का भेद है; क्योंकि प्रयाज मात्र आज्य द्वारा तथा अनुयाज पृषदाज्य (दधि मिश्रित घी) के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। आज्य का भेद होने से उनके आधार पात्र का भेद रहना जरूरी है अर्थात् मात्र आज्य और पृषदाज्य दोनों एक ही पात्र में नहीं रह सकते तथा उनके एक पात्र में न रह पाने से पात्र का भेद मान्य है॥ १६॥

**अगले सूत्र में आचार्य 'उपहोमों' से 'नारिष्टहोमों' का अनुष्ठान कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**(८६३) प्रकृते: पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृते: = प्रकृत 'नारिष्टहोमों' को, पूर्वोक्तत्वात् = प्रथम विहित होने से, अपूर्वम् = उपहोम, अन्ते = उनके बाद में, स्यात् = होने चाहिए, हि = क्योंकि, अचोदितस्य = अङ्गी द्वारा पहले अविहित को, शेषाम्नानम् = पूर्व विहित के सदृश अङ्गता, न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञों में 'नारिष्टहोमों' का उल्लेख पहले प्राप्त होता है। 'दशते तनुषो यज्ञ यज्ञिया:' इस तरह के मन्त्रों द्वारा जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें 'नारिष्टहोम' कहते हैं। अनेक प्रमुख होम करके सांसारिक पदार्थों की कामना से अनेक 'उपहोम' के विधान किये गये हैं। 'उपहोम' और 'नारिष्टहोम' में पहले कौन और बाद में किसका अनुष्ठान करें? इस शङ्का के निवृत्ति हेतु आचार्य कहते हैं कि 'नारिष्टहोम' प्रकृति यज्ञ में विहित होने से 'क्लृप्तोपकारक' है तथा 'उपहोम' उक्त इष्टियों की उत्पत्ति के बाद विहित होने से उसके 'कल्पितोपकारक' हैं। क्लृप्तोपकारक और कल्पितोपकारक-इन दोनों में पहला सबल और दूसरा निर्बल है। सबल-निर्बल के मध्य सबल उपादेय और निर्बल हेय सर्व सम्मत है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि क्लृप्तोपकारक होने से 'नारिष्टहोम' पहले और कल्पितोपकारक होने से 'उपहोमों' का अनुष्ठान बाद में होना उचित है॥ १७॥

**अब अगले सूत्र में उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि हेतु 'आत्रेय' मुनि के अनुसार आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**(८६४) मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुति-त्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवाय: स्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** मुख्यानन्तर्यम् = प्रधान होमों के बाद और नारिष्टहोमों से पहले उपहोमों का अनुष्ठान होता है, तेन = क्योंकि प्रधान होमों के समान, तुल्यश्रुतित्वात् = उनका विधान भी प्रत्यक्ष रूप से श्रुत है तथा, प्राकृतानाम् = नारिष्टहोमों का, व्यवाय: = उपहोमों के बाद, स्यात् = होना चाहिए, अशब्दत्वात् = क्योंकि वह प्रत्यक्षरूप से श्रुत नहीं, आत्रेय: = यह मत आत्रेय मुनि का है।

**व्याख्या—** सूत्रकार 'आत्रेय' मुनि का कथन करते हुए कहते हैं कि नारिष्टहोमों का उपहोमों के बाद ही अनुष्ठान होना चाहिए; क्योंकि वह (नारिष्टहोम के पश्चात् उपहोम करना) आनुमानिक ही है। प्रत्यक्ष और अनुमानिक के मध्य प्रत्यक्ष सम्माननीय है, यही सभी का समान मत है॥ १८॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का 'वादरायण जी' के मतानुसार समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(८६५) अन्ते तु वादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात्॥१९॥**

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = नारिष्टहोमों का, प्रधानशब्दत्वात् = प्रमुख प्रकृतियाग में पहले विधान किया गया है अस्तु, अन्ते = नारिष्टहोमों के बाद उपहोमों का अनुष्ठान होना चाहिए, वादरायण: = ऐसा मत 'वादरायण मुनि' का है।

**व्याख्या—** श्रुति वाक्यों में भी निर्देश मिलता है कि अग्नीषोमीय की अपेक्षा आग्नेय याग पहले होना चाहिए; क्योंकि अग्नीषोमीय की अपेक्षा अग्नि की उपस्थिति पहले होती है। नारिष्टहोम का महत्त्व पहले विद्यमान होने से प्रत्यक्ष विहित से अधिक है। इसीलिए नारिष्टहोमों का ही उपहोमों से पहले अनुष्ठान होना चाहिए, यही आचार्य वादरायण जी का मत है॥ १९॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उक्त अर्थ में प्रमाण कथन प्रस्तुत करते हैं-**

## (८६६) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = पहले उपस्थित होने से, अन्यार्थदर्शनम् = अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी प्रमाण हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अग्नीषोमीय की अपेक्षा 'आग्नेय' यज्ञ पहले होना चाहिए; क्योंकि अग्नीषोम की अपेक्षा अग्नि की उपस्थिति पहले होती है। उक्त वाक्य में जो अग्नि के पहले उपस्थित होने से उसके उद्देश्य से सम्पन्न होने वाले आग्नेय याग का प्रथम अनुष्ठान विधान नियत किया गया है, वह प्रकृति इष्टियों में प्रथम (पूर्वमेव) उपस्थित होने से नारिष्टहोमों के पहले अनुष्ठान में प्रमाण है। यदि पूर्व में उपस्थित पहले अनुष्ठान में नियामक न होता, तो 'आग्नेय' याग का पहले अनुष्ठान करने हेतु विधान न बनाया जाता, लेकिन विधान बनाया गया। प्रकृत में नारिष्ट पहले उपस्थित है, अत: उनका अनुष्ठान उपहोमों से बाद में नहीं, बल्कि पहले सम्पन्न होना चाहिए॥ २०॥

**अब अगले सूत्र में अभिषेक से पहले 'विदेवनादि' क्रियाएँ होने का कथन प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (८६७) कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देश: स्यात्तेन-प्रत्यक्षसंयोगान्न्यायमात्रमितरत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** कृतदेशात् = माहेन्द्रस्तोत्र के समीप स्थित अभिषेक से, पूर्वेषाम् = पूर्व में होने वाली विदेवनादि क्रियाओं का भी, स = वही, देश: = स्थान, स्यात् = होना चाहिए, तेन = क्योंकि अभिषेक के साथ उनका, प्रत्यक्षसंयोगात् = सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और, इतरत् = अभिषेक के बाद कल्पना करना, न्यायमात्रम् = तर्क मात्र ही है।

**व्याख्या—** श्रुति वाक्यों (वचन) में मात्र अभिषेक का ही अपकर्ष विधान किया गया है, विदेवन आदि क्रियाओं का नहीं। फिर भी विदेवन आदि क्रियायें पाठक्रम के तहत अभिषेक से पूर्वभावी प्रत्यक्षतया सिद्ध हैं। जिस प्रकार श्रुति आदि वचन अनुष्ठान के नियामक हैं, उसी प्रकार क्रम भी नियामक हैं। इसलिए जैसे अनपकर्ष की अवस्था में विदेवनादि क्रियाओं का अभिषेक से पूर्व अनुष्ठान होता है, वैसे ही अपकर्ष की अवस्था में भी होना ठीक है। अत: सिद्ध है कि विदेवनादि क्रियायें अभिषेक से पूर्व करना कर्त्तव्य है, बाद में करना कर्त्तव्य नहीं है॥ २१॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य दीक्षणीयेष्टि से पहले 'सावित्र' नामक होमों को करने का कथन करते हैं—**

## (८६८) प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, यत् = जिसका, प्राकृतात् = प्राकृत इष्टि से, पुरस्तात् = पहले पाठ किया गया है, उसका अनुष्ठान भी पहले ही होना चाहिए।

**व्याख्या—** जिन इष्टियों का प्रकृति याग से पहले पाठ किया गया हो, उसका अनुष्ठान भी पहले ही सम्पन्न होना चाहिए। यद्यपि प्राकृत होने से नारिष्टहोमों की तरह से दीक्षणीयेष्टि पहले वृद्धिस्थ होती है, फिर भी

उसका सावित्र होमों से पूर्व अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि अग्निकाण्ड में सावित्र होमों के बाद दीक्षणीयेष्टि का पाठ किया गया है। अत: स्पष्ट है कि 'सावित्र' होम दीक्षणीयादि इष्टि से पहले ही करना उचित है, बाद में उचित नहीं होगा॥ २२॥

**अब अगले सूत्र में 'रुक्म' धारण से पहले वपन आदि याजमान संस्कारों का कथन करते हैं—**

**(८६९) सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि, सन्निपात: = प्रकृति एवम् वैकृत दोनों संस्कारों की प्राप्ति एक साथ हो तो, यथोक्तं = प्रत्यक्ष श्रुत वैकृत धर्म का, अन्ते = प्राकृत धर्म के बाद, स्यात् = अनुष्ठान होना चाहिए।

**व्याख्या—** यदि प्रकृति एवम् विकृति-इन दोनों संस्कारों को एक साथ सम्पन्न करने का क्षण उपस्थित हो जाये, तो वैकृत का प्राकृत के बाद ही अनुष्ठान होना चाहिए। यद्यपि 'सावित्र' होमों के सदृश प्रत्यक्ष श्रुत होने से रुक्म धारण (अर्थात् कण्ठ में धारण करने वाला चौड़ा व मोटा स्वर्णाभूषण) करना प्रथम कर्त्तव्य प्रतीत होता है, फिर भी रुक्म धारण करने के बाद उक्त संस्कारों का कहीं पर भी विधान न मिलने से रुक्म धारण का पहले अनुष्ठान उचित नहीं है। जिस प्रकार दीक्षणीयेष्टि के बाद उक्त याजमान संस्कारों का पाठ मिलता है, उसी प्रकार रुक्म धारण के बाद उक्त संस्कारों का पाठ नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त प्रकृतियाग में उक्त संस्कार दीक्षणीयेष्टि के बाद प्रत्यक्ष विहित है और उक्त चोदक वाक्य से उनकी उक्त विकृति याग में प्राप्ति से स्पष्ट है। उसकी स्पष्ट प्राप्ति से रुक्म धारण की अपेक्षा उनके अनुष्ठान पहले होना उचित है, बाद में होना उचित नहीं॥ २३॥

**॥ इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीय: पाद: ॥**

# ॥ अथ पञ्चमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**अब 'अग्नीषोमीय' पशु याग में श्रूयमाण ( सुने जाने वाले ) प्रयाज के अन्तर्गत एकादश ( ग्यारह ) संख्या को समस्त प्रयाजों में सम्पादित करने के कथन को आचार्य पूर्वपक्ष के मत से प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८७० ) विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योपदिश्येत॥ १॥

**सूत्रार्थ—**पृषदाज्यवत् = जिस प्रकार प्रत्येक अनुयाज के साथ 'पृषदाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, तस्य-तस्य = वैसे ही उसी-उसी प्रकार, उपदिश्येत = एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान बनाया गया है, कर्मभेदात् = अतः प्रयाज के भेद से, विवृद्धिः = एकादश संख्या की वृद्धि होनी चाहिए।

**व्याख्या—** जैसे प्रत्येक अनुयाज के साथ 'पृषदाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, उसी प्रकार 'एकादश प्रयाजान् यजति' वाक्य से प्रत्येक प्रयाज के साथ एकादश (ग्यारह) की संख्या के सम्बन्ध का विधान भी बनाया गया है। एकादश संख्या का प्रत्येक प्रयाज के साथ सम्बन्ध तभी उपपन्न हो सकता है, जब प्रत्येक प्रयाज की एकादश-एकादश आवृत्ति की जाये। सभी प्रयाज पाँच हैं। उनके बीच में प्रत्येक प्रयाज की एकादश-एकादश आवृत्ति करने से सबकी संख्या पचपन (५५) हो जाती है। इन्हीं ५५ प्रयाजों के अनुष्ठान का विधान 'एकादशप्रयाजान् यजति' वाक्य से किया गया है, जो कि प्रत्येक की आवृत्ति के अभाव में नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि उक्त संख्या की पूर्ति हेतु समस्त प्रयाजों की एकादश-एकादश दो बार आवृत्ति करनी चाहिए। जिस अभिप्राय से जिसका विधान किया गया है, उसी के अनुसार उसकी पूर्ति भी होनी चाहिए। अतः सिद्ध है कि उक्त उदाहरण वाक्य में कही गई एकादश संख्या सर्वप्रयाजों के लिए नहीं; बल्कि प्रत्येक प्रयाज अलग-अलग ही संपादनीय है॥ १॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष के कथन का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ८७१ ) अपि वा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत॥ २॥

**सूत्रार्थ—** विकारः = एकादश संख्या पूर्ति हेतु समस्त प्रयाजों की द्विरावृत्ति होने के बाद अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति, प्रतीयेत = होनी चाहिए, सर्वसंख्यत्वात् = क्योंकि उक्त संख्या समस्त प्रयाजों के लिए विधान की गई है।

**व्याख्या—** सूत्र में 'अपि वा' शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निवारणार्थ प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि एकादश संख्या की पूर्ति हेतु समस्त प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर पुनः अन्तिम प्रयाजों की द्विरावृत्ति होनी चाहिए। ऊपर कही हुई एकादश संख्या सभी प्रयाजों के लिए विधान की गई है। जिस प्रकार 'पृषदाज्य' (दधि मिश्रित घृत) प्रत्येक अनुयाज के लिए अन्वयी है, उसी प्रकार एकादश संख्या प्रत्येक प्रयाज के लिए अन्वयी नहीं हो सकती; क्योंकि वह 'गुण' होने से एक व्यक्ति में एक ही हो सकती है, एकादश नहीं तथा जो 'पृषदाज्य' नामक द्रव्य है, उसका प्रत्येक अनुयाज के साथ साधक के रूप में सम्बन्ध हो सकता है। अतः पृषदाज्य की भाँति एकादश संख्या का प्रत्येक प्रयाज में अन्वय की कल्पना करना सदैव उपयुक्त नहीं होती। उसके उपयुक्त न होने से सिद्ध है कि उपर्युक्त संख्या प्रत्येक प्रयाज हेतु सम्पाद्य नहीं है, बल्कि एक साथ सब प्रयाजों के रूप में सम्पादनीय है॥ २॥

**अब अगले सूत्र में 'उपसत्' नामक होम के विषय में श्रूयमाण छः संख्याओं की पूर्ति हेतु 'उपसत्' की अपने-अपने स्थान में द्विरावृत्ति कथन किया जा रहा है—**

## ( ८७२ ) स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** स्वस्थानात् = अपने-अपने स्थान से, तु = तो, विवृध्येरन् = प्रत्येक उपसत् की द्विरावृत्ति होनी

चाहिए, कृतानुपूर्व्यत्वात् = प्रकृति याग में उनके अनुष्ठान का क्रम निश्चित किया गया है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रत्येक 'उपसत्' नामक होम की अपने-अपने स्थान में द्विरावृत्ति होनी चाहिए; क्योंकि प्रकृति याग में उन होमों के अनुष्ठान का यही क्रम निश्चित (नियत) किया गया है। आगे आचार्य कहते हैं कि यद्यपि पूर्वाधिकरणानुसार समुदाय की आवृत्ति से भी छः संख्या पूरी हो सकती है, फिर भी समुदाय आवृत्ति से उनके निश्चित क्रम का अवरोध आ जाने से वह उचित नहीं प्रतीत होती। अर्थात् पहले दिन में पहला उपसत् नामक होम, दूसरे दिन में दूसरा उपसत् (होम) और तीसरे दिन में तीसरा उपसत् का क्रम निश्चित है। यदि समुदाय आवृत्ति पक्ष मान लें, तो एक बार क्रमशः तीनों का अनुष्ठान पूर्ण करके पुनः अनुष्ठान शुरू करना होगा, तो पहले दिन में होने वाला उपसत् प्रथम नहीं रह पायेगा, बल्कि तीन के बाद होने से चौथा हो जायेगा, जो कि अनुचित है। किन्तु प्रत्येक आवृत्ति के पक्ष में यह दोष नहीं है; क्योंकि प्रथम दिन में प्रथम उपसत् की, द्वितीय दिन में दूसरा उपसत् की और तीसरे दिन में तृतीय उपसत् की द्विरावृत्ति होने में अपने-अपने स्थान का अतिक्रम नहीं होता तथा निश्चित छः संख्या भी पूरी हो जाती है। अतः सिद्ध है कि उक्त होमों की षट्संख्या को पूर्ण करने के लिए अपने-अपने स्थान में प्रत्येक उपसत् की आवृत्ति ही करनी चाहिए, समुदाय की आवृत्ति नहीं होनी चाहिए॥ ३॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य आगन्तुक मन्त्रों का निवेश करने हेतु पूर्वपक्ष का कथन कहते हैं—**

**(८७३) समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** धाय्याः = आगन्तुक मन्त्रों का, समिध्यमानवतीं = 'समिध्यमान' पदवाली, च = और, समिद्धवतीं = 'समिध्य' पद वाली दोनों सामिधेनियों के, अन्तरेण = मध्य में, स्युः = निवेश होना चाहिए, द्यावापृथिव्योः = क्योंकि श्रुति वाक्यों में द्यावापृथिवी शब्द से उक्त दोनों सामिधेनियों का अनुवाद करके, अन्तराले = अन्तराल में, समर्हणात् = 'धाय्या' नामक आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया गया है।

**व्याख्या—** दोनों वाक्य शेष में द्यावापृथिवी शब्द से 'समिध्यमान' एवं 'सामिध्य' पद से युक्त उक्त दोनों सामिधेनियों का वर्णन करके उनके अन्तराल में 'धाय्या' नामक आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया गया है। 'धीयन्ते = निधीयन्ते=उपरितो निवेश्यन्ते इति धाय्याः' अर्थात् जो ऊपर से मिलाये जाते हैं, उन्हें 'धाय्या' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति द्वारा 'धाय्या' नामकरण आगन्तुक मन्त्रों का है तथा उनका मध्य में निवेश उक्त उपर्युक्त वाक्य-शेष द्वारा स्पष्ट हो जाता है॥ ४॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(८७४) तच्छब्दो वा॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** तच्छब्दः = उक्त वाक्य शेष में जो 'धाय्या' पद प्रयुक्त हुआ है, वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का नाम नहीं, वरन् 'पृथुपाजाअमर्त्यः' इत्यादि दो मन्त्रों का नाम है।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त सूत्र के अन्तर्गत वाक्य शेष में 'धाय्या' पद प्रयुक्त हुआ है, उसका आशय सभी आगन्तुक मन्त्रों से न होकर मात्र दो ही मन्त्रों से है। 'पृथुपाजवत्यौ धाय्ये' अर्थात् 'पृथुपाज' शब्द वाले दो मन्त्रों का नाम 'धाय्या' है। इस वाक्य के तहत 'पृथुपाजाअमर्त्यः' ऋ० ३.१.२० इत्यादि दो मन्त्रों में रूढ़ि है। धातु-प्रत्यय के योग के बिना संकेत मात्र से अर्थ के बोधक पद को 'रूढ़ि' कहते हैं। उक्त दोनों मन्त्रों में रूढ़ि होने से वह सभी आगन्तुक मन्त्रों का बोधक नहीं हो सकता। उक्त धाय्या मन्त्रों की तरह आगन्तुक मन्त्रों के बीच में निवेश में कोई प्रमाण भी प्राप्त नहीं है। प्रमाण-रहित मध्य

में निवेश मानना भी ठीक नहीं। तथ्य विहित सामिधेनियों के उच्चारण के बाद आगन्तुक मन्त्रों का उच्चारण सर्वथा उचित प्रतीत होता है; क्योंकि यह बात लोक प्रचलित है कि आमन्त्रित पुरुषों के बाद ही अनिमन्त्रित लोग सभादि विशाल अधिवेशनों में बिठाये जाते हैं। आगन्तुक मन्त्र बिना बुलाये लोगों के सदृश है तथा जो जिसके सदृश हो, उसका वैसा ही व्यवहार होगा। अत: सिद्ध है कि आगन्तुक मन्त्रों का सामिधेनियों के बीच में निवेश न होकर अन्त में ही निवेश होना उचित है॥ ५॥

## ( ८७५ ) उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** उष्णिक्-ककुभो: = 'धाय्या' नामक उष्णिक् एवम् ककुभ् छन्द वाले दोनों मन्त्रों के, अन्ते = अंत में, दर्शनात् = अध्याय्या मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** सूत्र में उक्त 'धाय्या' नामक दो मन्त्रों के अन्त में 'अध्याय्या' मन्त्र का निवेश प्राप्त हो जाने से भी यही अर्थ निकलता है। 'त्रैधातवीया' नामक इष्टि में 'प्रसो अग्ने' इस उष्णिक् छन्द वाले और 'प्रहोत्रेपूर्व्यं वच:' इस ककुभ् छन्द वाले दोनों मन्त्रों की 'धाय्या' संज्ञा निश्चित करके 'त्री' शब्द वाले मन्त्र से आच्छादन करे। इस वाक्यांश से 'अग्नेत्रीते वाजिन' इस अधाय्या संज्ञक मन्त्र का अन्त में विनिवेश किया गया है। यदि इस उक्त वाक्य में 'धाय्या' पद रूढ़ि न होकर यौगिक होता, तो उक्त मन्त्र का अन्त में निवेश न होता। किन्तु उसका निवेश किया गया है। अत: स्पष्ट है कि जब तक आगन्तुक मंत्रों की संज्ञा 'धाय्या' नहीं होगी, तब तक उनका अन्त में निवेश होना उचित नहीं है॥ ६॥



**अब अगले सूत्र में आचार्य निश्चित संख्या के पूर्ण होने के लिए आगन्तुक मन्त्रों का 'बहिष्पवमान' स्तोत्र के अन्त में निवेश कथन करने हेतु पूर्वपक्ष के मत का प्रतिपादन करते हैं—**

## ( ८७६ ) स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** बहिष्पवमाने = 'बहिष्पवमान' नाम वाले स्तोत्र में, स्तोमविवृद्धौ = आगन्तुक मन्त्रों की वृद्धि हेतु, आगन्तव: = आगन्तुक मन्त्रों का, पर्य्यासात् = पर्य्यास से, पुरस्तात् = पूर्व में, स्यु: = निवेश होना चाहिए, द्वादशाहे = क्योंकि 'द्वादशाह' याग में, तथा हि = ऐसा ही, दृष्टम् = निवेश देखा जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि 'बहिष्पवमान' स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों की वृद्धि हेतु आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व निवेश होना चाहिए; क्योंकि 'द्वादशाह' नामक याग में आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व ही निवेश होना देखा जाता है। 'द्वादशाह' याग का वाक्य है 'स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवत:, वृषएवन्तस्तृचा भवन्ति तृच उत्तम: पर्य्यास:' अर्थात् बहिष्पवमान स्तोत्र में 'स्तोत्रीय' तथा 'अनुरूप' संज्ञा वाले जो दो त्रिक हैं, उनके मध्य में 'वृषण्वत्' शब्द वाले आगन्तुक मंत्र और अन्त में 'पर्य्यास' नामक तीसरा त्रिक होता है। उक्त वाक्यों से आगन्तुक मन्त्रों के त्रिकों का स्तोत्रीय एवम् अनुरूप त्रिकों के बीच में निवेश प्राप्त होता है। अतिरात्रयाग भी द्वादशाह याग के समान है। इसी कारण इसमें भी आगन्तुक त्रिकों का निवेश अन्त में न होकर मध्य (बीच) में ही होना चाहिए॥ ७॥

**अब अगले सूत्र में 'पर्य्यास' शब्द का स्वयं सूत्रकार द्वारा पारिभाषिक अर्थ कथन किया जा रहा है—**

## ( ८७७ ) पर्यास इति चान्ताख्या॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, पर्य्यास: = पर्य्यास, इति = यह, अन्ताख्या = स्तोत्र के अन्तिम त्रिक की संज्ञा है।

**व्याख्या—** सूत्रकार 'पर्य्यास' शब्द का पारिभाषिक अर्थ कथन करते हुए कहते हैं कि 'ज्योतिष्टोम' नामक प्रकृति यज्ञ में 'बहिष्पवमान' नामक जिस स्तोत्र का गायन किया जाता है, उसमें तीन-तीन मन्त्रों के तीन त्रिक अर्थात् नौ मन्त्र होते हैं। उनमें से अन्तिम तीन त्रिक का नाम ही 'पर्य्यास' कहा गया है॥ ८॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के कथन का आचार्य समाधान दे रहे हैं—**

**( ८७८ ) अन्ते वा तदुक्तम्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अन्ते = आगन्तुक मन्त्रों के ४ आदि त्रिकों का बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में निवेश किया जाता है, तत् = और यह, उक्तम् = बाद में निर्णय किया गया है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि आगन्तुक मन्त्रों के चार आरम्भिक 'त्रिकों' का 'बहिष्पवमान' नामक-स्तोत्र के अन्त में निवेश किया जाता है। आगन्तुक मन्त्रों का निवेश अन्त में होता है, इसका पूर्व में अच्छी तरह से उल्लेख किया गया है। अब उसके विरुद्ध मध्य में निवेश की कल्पना करना अनुचित है॥ ९॥

**( ८७९ ) वचनात्तु द्वादशाहे॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** द्वादशाहे = 'द्वादशाह' याग में जिन आगन्तुक त्रिकों-प्रथम, द्वितीय त्रिकों के मध्य में निवेश होता है वह, तु = तो, वचनात् = श्रेष्ठ श्रुति वचन के बल से होता है।

**व्याख्या—** 'द्वादशाह' याग में जिन आगन्तुक त्रिकों का स्तोत्रीय एवं अनुरूप नामक प्रथम, द्वितीय त्रिकों के मध्य में निवेश होता है, उनका श्रुति-वचन से विधान किया गया है, मात्र कल्पना करके नहीं। यदि द्वादशाह की तरह 'अतिरात्र' में भी आगन्तुक त्रिकों के निवेश का विधायक कोई श्रुति वचन होता, तो निश्चित ही 'अतिरात्र' याग में भी प्रथम व द्वितीय त्रिकों के बीच आगन्तुक त्रिकों की कल्पना होती, किन्तु कोई श्रुति-वाक्य न मिलने से मात्र तर्क से कल्पना करना उचित नहीं, अतः सिद्ध है कि द्वादशाह की तरह से 'अतिरात्र' याग में प्रथम व द्वितीय त्रिकों के मध्य आगन्तुक त्रिकों का निवेश न होकर 'पर्य्यास' नामक त्रिक के अन्त में निवेश होता है॥ १०॥

**( ८८० ) अतद्विकारश्च॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अतद्विकारः = 'द्वादशाह' याग की विकृति न होने से भी 'अतिरात्र' याग में भी उपर्युक्त याग की तरह निवेश तो हो सकता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यदि 'अतिरात्र' याग में द्वादशाह याग की विकृति हो, तो निश्चित ही उसमें उक्त याग की तरह आगन्तुक मन्त्रों के त्रिकों का निवेश होता, किन्तु वह उसकी विकृति नहीं है। वह ज्योतिष्टोम की विकृति है तथा ज्योतिष्टोम में आगन्तुक त्रिकों का विधायक कोई भी श्रुति-वाक्य नहीं है। प्रमाण के अभाव में कल्पना करना भी उचित नहीं है। अतः स्पष्ट है कि 'अतिरात्र' याग में द्वादशाह की तरह आगन्तुक त्रिकों का निवेश सम्भव नहीं है॥ ११॥

**अगले सूत्र में द्वादशाह याग की विकृति अहीन सत्रादि याग में 'वृषण्वत्' शब्द वाले मन्त्रों को छोड़कर शेष आगन्तुक मन्त्रों का अन्त में ही निवेश-कथन किया जा रहा है—**

**( ८८१ ) तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** अपूर्वत्वात् = वह वाक्य विशेष विहित नहीं होने से, तद्विकारे = द्वादशाह याग की विकृति अहीन सत्रादि यागों में, अपि = भी 'वृषण्वत्' शब्द वाले मन्त्रों द्वारा भिन्न मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** सूत्रकार निवेश कथन करते हुए कहते हैं कि द्वादशाह याग की विकृति, सत्रादि नामक यज्ञों में भी उन आगन्तुक मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं किया जा सकता, जिन मन्त्रों का उक्त श्रुति वाक्यों में विधान नहीं किया गया है। उपर्युक्त श्रुति वाक्य में मात्र 'वृषष्वत्' शब्द वाले आगन्तुक मन्त्रों का मध्य में निवेश विधान निश्चित किया गया है, अन्य सभी आगन्तुक मन्त्रों का विधान नहीं किया गया है। जिनका विधान नहीं हुआ, उनका अतिदेश द्वादशाह की विकृति अहीन सत्रादि नाम वाले यज्ञों में ही जब नहीं होता, तब फिर अतिरात्र नामक यज्ञों में कैसे होगा, जो कि उसकी विकृति भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि अतिरात्र याग में

आगन्तुक मन्त्रों का निवेश 'बहिष्पवमान' स्तोत्र के मध्य में न होकर अन्त में ही होता है॥ १२॥

**अब आगन्तुक सामों का मध्य में निवेश कथन करने के लिए आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( ८८२ ) अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** उत्तरयो: = माध्यन्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सामों के आधार प्रथम तथा द्वितीय त्रिक को छोड़कर, अन्ते = अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का, दद्यात् = निवेश होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'अतिरात्र' याग में जिस 'बहिष्पवमान' नामक स्तोत्र का गायन किया जाता है, उसके तीन त्रिक होते हैं। इसका प्रतिपादन पूर्व के सूत्रों में किया जा चुका है। उपर्युक्त स्तोत्र में सामवृद्धि के लिए जो आगन्तुक सामों का निवेश होता है, वह मध्य त्रिक में होना चाहिए या अन्तिम त्रिक में? यह संदेह है। इसी को सूत्रकार पूर्वपक्षी के कथन को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आगन्तुक साम भी आगन्तुक मन्त्रों के सदृश है। इसलिए आगन्तुक सामों का निवेश भी उक्त स्तोत्र पठित तीन त्रिकों के मध्य अन्त में होना चाहिए, मध्य में निवेश नहीं होना चाहिए॥ १३॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( ८८३ ) अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु = गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए, वचनात् = क्योंकि श्रुति-वाक्यों में ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि आगन्तुक सामों के निवेश का विधायक कोई श्रुति-वाक्य न होता, तो निश्चित ही आगन्तुक मन्त्रों के सदृश उनका भी अन्त में निवेश ही होता। उक्त श्रुति वाक्य से गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् छन्दों से युक्त मन्त्रों में आगन्तुक सामों के निवेश का विधान प्राप्त होता है तथा उसके प्राप्त होने से दूसरी अन्य कोई कल्पना करना उचित नहीं है। माध्यन्दिन पवमान में 'उच्चातेजातमन्धस:' आदि तीन मन्त्र और अर्भाव पवमान में 'स्वादिष्ठया' आदि तीन मन्त्र गायत्री छन्द से युक्त हैं। इसी कारण इन्हीं मंत्रों में आगन्तुक सामों का निवेश किया जाता है, अन्त के त्रिक में नहीं किया जाता है॥ १४॥

**अब आचार्य ग्रहों एवम् इष्टकाओं को याग और अग्नि का शेष कथन पूर्वपक्ष की ओर से करते हैं—**

**( ८८४ ) ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेष: स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** औपानुवाक्यं = अनारभ्य पठित (अर्थात् ऐसा प्रकरण, जिसका शुभारम्भ न किया गया हो), ग्रहेष्टकम् = ग्रह और इष्टकायें, सवनचितिशेष: = सवन एवम् चिति चयन का शेष, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि 'अदाभ्य' एवम् 'अंशु' नामक ग्रहों का ग्रहण सवन-निष्पत्ति तथा चित्रिणी और वज्रिणी नामक इष्टकाओं का उपधान चिति (अर्थात् जिस कुण्ड विशेष में अग्नि रखी जाती है, उसके निर्माण को 'चयन' या 'चिति' कहते हैं) निष्पत्ति हेतु विधान किया गया है, याग और अग्नि निष्पत्ति के लिए नहीं। जिसकी निष्पत्ति हेतु जिनका नियम-विधान बनाया गया है, उसी का अंग उनको होना उचित है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त दोनों ग्रह सवन का और इष्टका चिति का अंग है, याग और अग्नि का अंग नहीं है॥ १५॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ८८५ ) क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनानुपूर्वस्य॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** चोदितत्वात् = विधायक वाक्यानुसार, क्रत्वग्निशेष: = उपर्युक्त ग्रह याग का तथा इष्टका में अग्नि का अङ्ग है, तु = और, अचोदना = विधान प्राप्त न होने से, पूर्वस्य = सवन एवम् चिति की अङ्गता का।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार बतलाते हैं कि उपर्युक्त ग्रह याग का और इष्टकायें अग्नि का शेष अर्थात् अङ्ग रूप कहा गया है। जिनका जिन लोगों के साथ साक्षात् सम्बन्ध -विधान होता है, उनको

उन्हीं का अङ्ग होना चाहिए। सवन और चिति के साथ जो ग्रह और इष्टकाओं का सम्बन्ध है, वह याग एवम् अग्नि के द्वारा है, साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अत: वह अङ्गता का प्रयोजक भी नहीं है। इसीलिए सिद्ध है कि 'अदाभ्य' एवम् 'अंशु' ग्रह याग का 'चित्रिणी' आदि इष्टकाएँ-सवन और चिति का अङ्ग (शेष) न होकर एकमात्र अग्नि का ही अङ्ग है॥ १६॥

**अगले सूत्र में चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (८८६) अन्ते स्युरव्यवायात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** अन्ते = चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान अन्तिम चिति में, स्यु: = होना चाहिए, अव्यवायात् = ऐसा होने से प्रकरण पठित (जो पढ़ा गया हो, उन) इष्टकाओं का परस्पर व्यवधान नहीं होता।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस कुण्ड की उपपत्ति हेतु इष्टकाओं का चयन किया जाता है, उसमें पाँच चिति (ईंटों की बनावट) होती है। यदि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान किया जाये, तो प्रकरण पठित इष्टिकाओं के उपधान का आपस में व्यवधान आ जाता है। यदि चार चितियों में प्रकरण पठित इष्टकाओं (ईंटों) को उपधान करके (लगाकर) अन्तिम चिति में अप्रकरण पठितों का उपधान करें, तो उक्त क्रम में व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार उक्त प्रतिपादन से स्पष्ट हो जाता है कि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान न होकर, एकमात्र अन्तिम चिति में ही उपधान होना चाहिए॥ १७॥

**अब उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग कथन किया जा रहा है—**

## (८८७) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के दर्शन प्राप्त होने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि लिङ्ग के दर्शनो अर्थात् लक्षणों के प्राप्त होने से भी उपर्युक्त किये गये अर्थ की पुष्टि होती है। अन्तिम चिति आश्रय-रहित इष्टकाओं (ईंटों) का स्थल है, अत: उसमें आश्रय रहित ईंटों को लगाना चाहिए। इस श्रुति-वाक्य में जो आश्रय-रहित ईंटों का अन्तिम चिति स्थान कहा गया है, वह अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि ईंटों के अन्तिम चिति में उपधान (लगाने) का अङ्ग है। आश्रय-रहित और अप्रकरण पठित- ये दोनों एक ही जैसे हैं- अत: सिद्ध है कि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि ईंटों का मध्य चिति में न होकर अन्तिम चिति में ही उपधान होता है॥ १८॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान दिया जा रहा है—**

## (८८८) मध्यमायान्तु वचनाद् ब्राह्मणवत्य:॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** ब्राह्मणवत्य: = (अप्रकरण पठित) ब्राह्मण वाक्य द्वारा जिनका विधान किया गया है, ऐसी चित्रिणी आदि इष्टकाओं का, वचनात् = वाक्य विशेष के अनुसार, मध्यमायान् = मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, तु = पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यदि उक्त इष्टकाओं के उपधान का विधायक कोई श्रुति-वाक्य उपलब्ध न होता, तो निश्चित ही प्रकरण पठित इष्टकाओं के क्रम-संरक्षण हेतु उक्त लिङ्ग के तहत अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का अन्तिम चिति में उपधान ग्रहण किया जाता; परन्तु 'जिस ईंट को जानते हुए कि यह अप्रकरण पठित वाक्य द्वारा विहित है, उसका मध्यम चिति में उपधान करना चाहिए'- इस श्रुति वाक्य द्वारा अप्रकरण पठित इष्टकाओं का मध्य चिति में उपधान सिद्ध होता है, अत: उसे ही ग्रहण करना ठीक है। इसलिए सिद्ध होता है कि उक्त चित्रिणी आदि इष्टकाओं का

उपधान अन्तिम चिति में न होकर मध्य चिति में ही होना चाहिए॥ १९॥

**अब अगले सूत्र 'लोकंपृणा' नामक इष्टकाओं से पहले उक्त चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान कथन किया जा रहा है—**

**( ८८९ ) प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** लोकंपृणाया: = 'लोकंपृणा' नामक इष्टकाओं से, प्राग् = पहले चित्रिणी आदि का उपधान होना उचित है, तस्या: = क्योंकि 'लोकंपृणा', सम्पूर्णार्थत्वात् = कार्य की सम्पूर्णता हेतु है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ईंटों का उपधान करने से जो कुछ न्यूनता या छिद्र आदि रह जाते हैं, उनकी पूर्ति 'लोकंपृणा' द्वारा होनी चाहिए। यदि लोकंपृणा से पहले चित्रिणी आदि ईंटों का उपधान न करे, तो न्यूनता एवं छिद्रों का पूरण (पूरना) नहीं हो सकता। यदि चित्रिणी आदि का उपधान लोकंपृणा से पहले करें, तो न्यूनता व छिद्रों की पूर्ति लोकंपृणा से हो जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चित्रिणी आदि ईंटों का उपधान लोकंपृणा से बाद में न होकर पहले होना चाहिए॥ २०॥

**अब अगले सूत्र में पवमानेष्टि रूप संस्कारों से युक्त अग्नि में यज्ञादि कर्मों के होने का कथन आचार्य करते हैं—**

**( ८९० ) संस्कृते कर्म संस्काराणान्तदर्थत्वात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कृते = पवमानेष्टि रूप संस्कारों से युक्त अग्नि में, कर्म = यज्ञादि कर्म करना कर्त्तव्य है, संस्काराणाम् = (क्योंकि) उपर्युक्त संस्कार, तदर्थत्वात् = उक्त नियम-विधान इसी हेतु रचे गये हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यज्ञीय कर्म हेतु अग्नि को संस्कारित करने के लिए पवमान आदि इष्टियों के नियम-विधान हैं। जिस प्रकार व्यक्ति स्नानादि संस्कारों से संस्कृत (परिष्कृत-पवित्र) हुआ सन्ध्यावन्दन आदि कर्म के अनुष्ठानानुकूल हो जाता है, उसी प्रकार आधान (स्थापित) की गई अग्नि भी उक्त इष्टि रूप संस्कार से संस्कृत हुई वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के योग्य हो जाती है। अत: सिद्ध है कि आधान अर्थात् प्रतिष्ठित करने के उपरान्त पवमानेष्टि रूपी संस्कारों से संस्कारित अग्नि में ही यज्ञादि वैदिक कर्म करना चाहिए॥ २१॥

**जिस प्रकार यज्ञादि कर्म पवमानेष्टियों के बाद करना कर्त्तव्य होता है, उसी प्रकार आहिताग्नि कर्तृक व्रत भी बाद में ही करना कर्त्तव्य होना चाहिए? अगले सूत्र में इसी आशङ्का का समाधान प्रस्तुत है—**

**( ८९१ ) अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** व्रतं = आहिताग्नि कर्तृक व्रत, अनन्तरं = आधान के बाद करना कर्त्तव्य है, तद्भूतत्वात् = क्योंकि उनका आधान मात्र से सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** पुरुष को आहिताग्नि में गीली लकड़ी नहीं डालनी चाहिए। इस तरह के वाक्यों के द्वारा जो व्रत-विधान बनाये गये हैं, वह आहिताग्नि पुरुषमात्र से सम्बन्ध रखता है। जिस पुरुष ने अग्नि का आधान यथा-विधि किया है, उसी का नाम आहिताग्नि पुरुष है। यदि उक्त व्रतों का सम्बन्ध अग्नि के साथ होता तो, निश्चित ही पवमानेष्टियों के बाद ही करणीय होता है, किन्तु उनका सम्बन्ध आहिताग्नि पुरुष के साथ है तथा पुरुष आधान-दिन से ही आहिताग्नि हो जाता है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त व्रत-यज्ञादि कर्म के सदृश पवमानेष्टियों के बाद करना कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि उनसे पहले तथा आधान के बाद ही करना कर्त्तव्य है॥ २२॥

**अब अगले सूत्र में पवमानेष्टियों से पहले अग्निहोत्र आदि कर्मों की कर्त्तव्यता का पूर्वपक्ष कथन करते हैं—**

**( ८९२ ) पूर्वं च लिङ्गदर्शनात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्वम् = अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों से पहले करना चाहिए, लिङ्गदर्शनात् = क्योंकि लिङ्गदर्शन (प्रमाण) से ऐसा ही प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के अनुसार प्रेरक वाक्य है 'अग्निवैसृष्टमग्निहोत्रेणानुद्रवन्ति' अर्थात् आधान द्वारा प्रकट

हुई अग्नि के पश्चात् अग्निहोत्र के द्वारा गमन (जाना) करते हैं। इस वाक्य- कथन में जो अग्निहोत्र द्वारा आधान की गई अग्नि के पश्चात् पुरुषों का जाना बतलाया गया है, वह आधान के बाद यज्ञादि कर्मों की कर्त्तव्यता में लिङ्ग है। यदि उपर्युक्त कर्म पवमानेष्टियों के बाद कर्त्तव्य होते, तो पुरुषों का आधान के बाद ही अग्निहोत्र के द्वारा अग्नि के पीछे जाने का कथन न किया गया होता। अत: सिद्ध है कि उक्त कर्म पवमानेष्टियों के बाद कर्त्तव्य नहीं है, अपितु उनसे पहले आधान के बाद कर्त्तव्य करना चाहिए॥ २३॥

**अब अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत है—**

## (८९३) अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ**—अर्थवाद: = उपर्युक्त वाक्य अर्थवाद है, अर्थस्य = क्योंकि उसका स्तुतिपरक अर्थ, विद्यमानत्वात् = विधान किया गया है।

**व्याख्या**— सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि उक्त वाक्य-आधान के बाद नित्य यज्ञादि कर्मों की कर्त्तव्यता का बोधक नहीं, बल्कि पवमानेष्टियों के समान आधान के अङ्गभूत 'तूष्णीहोम' का स्तावक अर्थवाद है। ब्रह्मवादी गण कहते हैं कि आधान के पश्चात् यज्ञ करना चाहिए, किन्तु अग्निहोत्र कराना नहीं चाहिए। जो याजुष मंत्रों द्वारा हवन किया जाता है, वह पवमानेष्टियों के उत्तरकाल में होने वाले यज्ञ के विपरीत है। यदि हवन न किया जाये, तो अग्नि तिरस्कृत हो जाती है। अत: तूष्णी अर्थात् 'मन्त्रोच्चारण के बिना होम करना चाहिए' इत्यादि इन वाक्यों से नित्य अग्निहोत्रादि के अलावा तूष्णी यज्ञ का विधान प्राप्त होता है। उक्त अर्थवाद वाक्य में इसी तूष्णी होम की प्रार्थना की गई है। यह यज्ञ पवमानेष्टियों की तरह अग्न्याधान का अङ्ग होने से आधान के बाद हो सकता है, किन्तु इससे नित्य अग्निहोत्रादि कर्मों की पवनेष्टियों से पूर्व करने के निर्देश प्राप्ति नहीं होती, अस्तु इसकी कल्पना करना उचित नहीं है। अत: सिद्ध है कि यज्ञादि कर्म पवमानेष्टियों के पहले नहीं बाद में होने चाहिए॥ २४॥

## (८९४) न्यायविप्रतिषेधाच्च॥ २५॥

**सूत्रार्थ**— च = और, न्यायविप्रतिषेधात् = उक्त 'ब्रह्मवादिनोमीमांसान्ते' वाक्य में नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मों की कर्त्तव्यता का प्रतिषेध होने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

**व्याख्या**— युक्ति कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'ब्रह्मवादिनो मीमांसान्ते' आदि वाक्य में 'अग्निहोत्रं न होतव्यं' नामक वाक्य में 'यज्ञ' का निषेध स्पष्टतया किया गया है और इससे पहले आये वाक्य में मात्र 'होतव्य' द्वारा यज्ञ-विधान करके अन्त में फिर 'तूष्णीहोतव्यं' से पूर्व विहित होम की 'तूष्णीहोम' नामक संज्ञा की गई है। इन दोनों के पर्य्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में जिस हवन की प्रशंसा की गई है, वह नित्याग्निहोत्र नहीं, बल्कि 'तूष्णी होम' है तथा वह भी पवमानेष्टियों की तरह आधान का अङ्ग है। अङ्ग होने से उसका उक्त इष्टियों से पहले अनुष्ठान सम्पन्न करना अनुचित नहीं, उचित ही है। अत: सिद्ध होता है कि नित्य यज्ञादि कर्म पवमानेष्टि रूपी संस्कारों से संस्कारित अग्नि में अनुष्ठान करना चाहिए, असंस्कारित में नहीं॥ २५॥

**अब अगले सूत्र में 'अग्निचित्' पुरुषकर्तृक व्रतों का यज्ञ के पश्चात् अनुष्ठान कथन करने हेतु आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## (८९५) सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य॥ २६॥

**सूत्रार्थ**— अग्निचिद्युक्तम् = 'अग्निचित्' पद वाले वाक्य से विधान किये व्रत, सञ्चिते = अग्नि का चयन हो जाने पर कर्त्तव्य है, निमित्तस्य = क्योंकि उनका निमित्त चयन, प्रापणात् = प्राप्त है।

**व्याख्या**— आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि उक्त व्रत विधायक वाक्य में 'अग्निचित्' पद के प्रयोग से चयन ही उक्त व्रतों का निमित्तकरण लगता है। यदि उक्त वाक्य में उक्त व्रतों के अनुष्ठान का निमित्त याग कथन किया गया होता या किसी पद के प्रयोग से प्राप्त होता, तो निश्चित ही याग निष्पत्ति के

पश्चात् उक्त व्रतों के अनुष्ठान की कल्पना की जाती। चयन रूप निमित्त स्पष्ट रूप से प्राप्त हो रहा है तथा निमित्त के प्राप्त होने से नैमित्तिक का होना अनिवार्य है। अतः सिद्ध है कि उक्त व्रतों का अनुष्ठान अग्नि चयन के बाद ही करना कर्त्तव्य है, यज्ञ के पश्चात् नहीं करना चाहिए॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत है—**

## (८९६) क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** क्रत्वन्ते = याग के बाद उक्त व्रत कर्त्तव्य है, प्रयोगवचनाभावात् = क्योंकि चयन के बाद अनुष्ठान का बोधक कोई भी वाक्य प्राप्त नहीं होता।

**व्याख्या—** याग में प्रयुक्त की जाने वाली अग्नि का चयन संस्कार किया जाता है। वह संस्कार तभी पूर्ण हो सकता है, जब पूर्णमनोभाव से किया जाये और याग के सम्पन्न होने पर ही पुरुष को 'अग्निचित्' कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अर्थात् जिस 'अग्निचित्' के प्रयोग-बल से चयन के बाद व्रतों का अनुष्ठान कथन किया गया है, उसका अर्थ अग्नि चयन करने वाला नहीं, वरन् चयन साध्य यज्ञ करने वाला है। इस आधार पर याग के बाद ही उक्त व्रतों का कर्त्तव्यबोध स्पष्ट होता है। चयन के बाद अनुष्ठान का बोधक कोई वाक्य विशेष नहीं होता। जबकि याग के बाद अनुष्ठान का कल्पक 'अग्निचित्' प्रयोग ही काफी है, अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं। अतः सिद्ध है कि उक्त व्रतों का अनुष्ठान चयन के पश्चात् करना कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि चयन के बाद भावी याग निष्पत्ति के बाद ही करना कर्त्तव्य है॥ २७॥



## (८९७) अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—**अग्नेः = अग्नि का, कर्मत्वनिर्देशात् = कर्म कारक द्वारा कथन प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** आचार्य उक्त कथन की पुष्टि में युक्ति कथन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि अग्नि का कर्मकारक द्वारा कथन प्राप्त होने से भी उपर्युक्त किये गये अर्थ की पुष्टि होती है। जिस अग्नि का कर्म विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, वह चयन मात्र से प्राप्त नहीं हो सकती, परन्तु वह चयन साध्य याग निष्पत्ति का साधन होने से हो सकती है। जिसकी व्युत्पत्ति का साधन होने से वह प्राप्त हो सकती है, उसी की कल्पना करना चाहिए, उसकी कल्पना चयन क्रिया की अपेक्षा से नहीं करना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि चयन साध्य याग के बाद जिन व्रतों की कर्त्तव्यता वर्णित है, उक्त व्रत याग के पहले नहीं, बाद में ही करना चाहिए॥ २८॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष द्वारा 'दीक्षणीय' इष्टिमात्र को दीक्षा सिद्धि का हेतु कहा गया है—**

## (८९८) परेणावेदनाद्दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** परेण = 'अध्वर्यु' के, आवेदनात् = आवेदन (संज्ञान) के अनन्तर, दीक्षितः = दीक्षित व्यवहार होना चाहिए, सर्वैः = क्योंकि सभी इष्टियों से, दीक्षाभिसम्बन्धात् = दीक्षा का सम्बन्ध प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** अध्वर्यु के आवेदन के बाद ही उनके साथ के दीक्षित जैसा व्यवहार होता है। यह सर्वसम्मत नियम है। जैसे दीक्षा का निमित्त 'दीक्षणीयेष्टि' सिद्ध होता है, उसी तरह दण्डादि भी दीक्षा के लिए सिद्ध होते हैं; परन्तु सभी का सम्बन्ध एक जैसा होने से एक को निमित्त एवं अन्य को अनिमित्त नहीं माना जा सकता। एक मात्र दीक्षणीयेष्टि रूप क्रिया ही समर्थ है, दण्डादिक नहीं; क्योंकि वह द्रव्य है। द्रव्य की क्रिया साधन से युक्त होने से भी संस्कार रूप धर्म साधनता सिद्ध नहीं होती तथा उक्त क्रियानिष्ठ धर्म की उत्पादकता 'दीक्षिष्यमाण' इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है। जो दण्डादि की दीक्षा के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, वह उपलक्षणता के अभिप्राय से ही है; क्योंकि दण्डादि के देखने से शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि यह दीक्षित है। उपलक्षण होने से वे दीक्षा रूप धर्म के हेतु नहीं हो सकते और उत्पादक भी नहीं। वह एक मात्र पूर्व सिद्धि का अनुवादक है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धि का

प्रमुख कारण दण्डादि न होकर एकमात्र उपर्युक्त इष्टि ही है॥ २९॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (८९९) इष्ट्यन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** इष्ट्यन्ते = अध्वर्यु की दीक्षा इष्टि के बाद होनी चाहिए, तदर्था = क्योंकि इष्टि उस दीक्षा के लिए है, ह्यविशेषार्थ = दीक्षा विधायक वाक्य केवल विशेष अर्थ के साथ, सम्बन्धात् = सम्बन्ध बतलाते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि अध्वर्यु की दीक्षा इष्टि के अन्त में अर्थात् बाद में ही होना उचित है; क्योंकि इष्टि एकमात्र दीक्षा के लिए ही है। दीक्षा-विधायक वाक्य केवल द्रव्य रूपी विशेष अर्थ के साथ अपना सम्बन्ध बतलाते हैं। क्रिया (कर्त्तव्य) विशेष के लिए वे अपना सम्बन्ध नहीं बतलाते हैं॥ ३०॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त अर्थ की पुष्टि में युक्ति कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## (९००) समाख्यानं च तद्वत्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—**च=और, समाख्यानम्=दीक्षणीया इस समाख्या से भी, तद्वत्=उपर्युक्त इष्टि दीक्षा की हेतु सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** युक्ति कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि दीक्षणीया नामक इस समाख्या से भी यही प्रतीत होता है कि उपर्युक्त इष्टि दीक्षा की हेतु है। उक्त इष्टि की 'दीक्षणीया' समाख्या सर्वसम्मत भी है। अत: स्पष्ट है कि उक्त इष्टि ही दीक्षा का निमित्त कारण है, दण्डादिक कारण नहीं है॥ ३१॥

**अगले सूत्र में काम्य यागों के अनुष्ठान क्रम में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**



## (९०१) अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** अङ्गवत् = जिस प्रकार 'प्रयाज' आदि अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान पाठक्रम के अनुसार होता है, उसी प्रकार, क्रतूनाम् = काम्य यागों का अनुष्ठान भी, आनुपूर्व्यम् = यथा पाठक्रम होना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार प्रयाजों का अनुष्ठान पाठक्रम के अनुसार होता है, यथा काम नहीं, उसी प्रकार काम्य यागों का भी अनुष्ठान होना ठीक है; क्योंकि यागत्व धर्म दोनों में एक जैसा है। अस्तु ; अनुष्ठान क्रम के वैषम्य की कल्पना करना ठीक नहीं है। अत: सिद्ध है कि उपर्युक्त काम्य यागों का अनुष्ठान अपनी इच्छा के तहत नहीं होना चाहिए, बल्कि प्रयाजों की तरह पाठक्रम के अनुसार होना चाहिए॥ ३२॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान करते हैं—**

## (९०२) न वासम्बन्धात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** असम्बन्धात् = उक्त यागों का आपस का सम्बन्ध न होने से, न वा = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** 'प्रयाज' नामक यज्ञों का आपस में घनिष्टतम सम्बन्ध है; क्योंकि वह सबके सभी एक फल वाले एवम् एक ही यज्ञ के अङ्ग हैं। काम्य प्रधान यज्ञों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि फल का भेद होने से वह प्रत्येक स्वतंत्र यज्ञ है। जो आपस में सम्बन्ध रहित स्वतन्त्र याग हैं, उनका पाठक्रम के अनुसार अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो सकता। अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त काम्य प्रधान यागों का अनुष्ठान स्वेच्छानुसार ही होना चाहिए, पाठक्रम के अनुसार अनुचित है॥ ३३॥

## (९०३) काम्यत्वाच्च॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** च = और, काम्यत्वात् = सकाम याग होने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** जो याग सकाम-विशेष प्रयोजन हेतु होता है, उसके अनुष्ठान में अपनी इच्छा प्रमुख कारण होती है। एक व्यक्ति जिस फल की इच्छा-आकांक्षा करता है, दूसरा उसकी इच्छा नहीं करता। यदि पाठक्रम को अनुष्ठान क्रम का कारण मानें, तो जिस फल की इच्छा व्यक्ति को नहीं है, तो वह याग भी उसे बलपूर्वक करना होगा, जो कि अनुचित है। अत: सिद्ध होता है कि सकाम यागों के अनुष्ठान में अपनी इच्छा नियामक है। उसके लिए पाठक्रम के तहत अनुष्ठान क्रम जरूरी नहीं है॥ ३४॥

**अगले सूत्र में आचार्य किये गये उक्त अर्थ में आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

## ( ९०४ ) आनर्थक्यान्नेति चेत्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—**आनर्थक्यात्=पाठक्रम अर्थ-रहित हो जाने से, चेत्=यदि, न इति=ऐसा कहो, तो उचित नहीं होगा।

**व्याख्या—** सूत्रकार आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि स्वेच्छानुसार उपर्युक्त सकाम यज्ञों का अनुष्ठान किया जाये, तो पाठक्रम सर्वथा अर्थहीन अर्थात् फल-रहित हो जाता है, जो कि उचित नहीं है। यदि वह याग फल-रहित होता, तो शास्त्र में उसका उल्लेख कभी न किया जाता। अस्तु, उपर्युक्त कामना प्रधान यज्ञों का अनुष्ठान पाठ्यक्रम के अनुसार ही होना चाहिए, अपनी इच्छानुसार होना अनुचित है॥ ३५॥

**अगले सूत्र में उक्त आशङ्का का सूत्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ९०५ ) स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** यथा = जिस प्रकार, परेषु = नित्य यज्ञों में, सर्वस्वारात् = 'सर्वस्वार' होम ज्ञानार्थ होने से सफल है, विद्यार्थत्वात् = उसी प्रकार से ही उक्त पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से, स्यात् = सफल है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार से नित्य यज्ञों में 'सर्वस्वार' संज्ञक यज्ञों का पाठक्रम अनुष्ठान क्रम का नियामक नहीं है, परन्तु एकमात्र उपर्युक्त यज्ञों के ज्ञान का प्रयोजक है, उसी प्रकार उपर्युक्त सकाम यज्ञों का पाठक्रम भी एकमात्र ज्ञान का ही प्रयोजक है, अनुष्ठान क्रम का प्रयोजक नहीं। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त यज्ञों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार नहीं, बल्कि स्वेच्छानुसार ही होना चाहिए, यही उचित है॥ ३६॥

**दो सूत्रों में आचार्य समस्त यज्ञों से पूर्व अग्निष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान करने का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ९०६ ) य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** य एतेन इति = 'य एतेन' नामक इस वाक्य में 'एतेन' शब्द से, अग्निष्टोमः = अग्निष्टोम का ग्रहण है, प्रकरणात् = क्योंकि वह उसी का प्रकरण है।

**व्याख्या—** उक्त वाक्य अग्निष्टोम के प्रकरण में पढ़े गये हैं तथा जो पढ़े गये वाक्य जिस याग के प्रकरण में पढ़े गये, उनमें उसी याग का ग्रहण होना उचित है, अन्य किसी का नहीं। अतः एतेन द्वारा अग्निष्टोम का ग्रहण ही उचित है, सभी ज्योतिष्टोम का नहीं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम और वाजपेय; यही सात याग ज्योतिष्टोम की सात संस्थाएँ हैं। इन्हें समस्त ज्योतिष्टोम कहते हैं। इनमें अग्निष्टोम नित्ययाग और शेष छः सकाम याग होने से अनित्य याग हैं। उपर्युक्त वाक्यों में सभी यागों से प्रथम याग मात्र अग्निष्टोम है, शेष छः नहीं। इसीलिए सभी यागों में से प्रथम अग्निष्टोम ही अनुष्ठान के योग्य है॥ ३७॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त किये गये अर्थ की सिद्धि में आचार्य लिङ्ग कथन करते हैं—**

## ( ९०७ ) लिङ्गाच्च॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गात् = लिङ्ग के प्राप्त होने से भी उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि उक्त उदाहृत वाक्यों के शेष में 'यस्य नवति शतं स्तोत्रीया' अर्थात् उक्त यज्ञ की १९० स्तोत्रीया हैं, यह वाक्य पढ़ा गया है। जिन ऋचाओं का यज्ञ में गायन किया जाता है, उन्हें ही 'स्तोत्रीया' कहते हैं। उक्त वाक्य शेष में जिन 'स्तोत्रीया' ऋचाओं की १९० संख्या कही गई है, वही 'एतेन' नामक शब्द से अग्निष्टोम याग के ग्रहण में लिङ्ग है। यदि 'ऐतेन' शब्द द्वारा सभी ज्योतिष्टोमों का ग्रहण इष्ट होता, तो स्तोत्रीया ब्रह्मऋचाओं की संख्या १९० न कही जाती। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त वाक्यों में 'एतेन' शब्द से अग्निष्टोम का ग्रहण किया गया है और वही समस्त यागों से पहले अनुष्ठान के योग्य है॥ ३८॥

**यहाँ 'ज्योतिष्टोम' के सभी विकृति यज्ञों को 'अग्निष्टोम' सहित कथन हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९०८ ) अथान्येनेति संस्थानाम् सन्निधानात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** 'अथ अन्येन इति' = 'य एतेनानिष्ट्वान्येन', इस वाक्य में 'अन्य' शब्द द्वारा, सन्निधानात् = अग्निष्टोम की समीपवर्तिनी होने से, संस्थानाम् = ज्योतिष्टोम याग की, शेष छः संस्थाओं का ग्रहण है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं 'एतद् घटान्यं घटमानय' अर्थात् 'इस घट से अन्य (पृथक्) जो घट है, उसे लाओ।' इस वाक्य में जैसे पृथक् अर्थ के वाचक अन्य शब्द के पूर्व घट के समीपवर्ती घटान्तर का ग्रहण होता है। उसी प्रकार से 'य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत्' वाक्य में भी 'अन्येन' शब्द से अग्निष्टोम के समीपवर्ती यागों का ग्रहण होना उचित है। अत्यग्निष्टोम आदि छः याग समीपवर्ती एवं एकाह, अहीन, सत्र याग विकृति होने के कारण असमीपवर्ती हैं। समीपवर्ती का ही ग्रहण होने से समीपवर्ती एवं असमीपवर्ती दोनों के मध्य समीपवर्ती का सम्बन्ध प्रबल होता है। अतः स्पष्ट है कि 'अन्येन' शब्द से 'अत्यग्निष्टोम' आदि संस्था रूप छः यागों का ही ग्रहण होता है, विकृति-अविकृति रूप समस्त यागों का ग्रहण उचित नहीं है॥ ३९॥

**अब अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया जा रहा है—**

**( ९०९ ) तत्प्रकृतेर्वापत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रकृतेः = 'अन्येन' शब्द द्वारा अत्यग्निष्टोमादि छः संस्था सहित 'एकाह' आदि सभी यागों का ग्रहण होता है, हि = क्योंकि, तुल्येषु = एकमात्र छः संस्थाओं का ग्रहण होने से, आपत्तिविहारौ = आपत्ति एवं विहार दोनों, न उपपद्येते = संभव नहीं हो सकते।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान देते हुए कहते हैं कि यदि 'अन्येन' शब्द द्वारा छः संस्थाओं का ग्रहण ही अभीष्ट होता, तो उसके आगे के वाक्यों में एकाहादि विकृति यज्ञों की उत्पत्ति कथन करने के उपरान्त आपत्ति एवं विहार का निरूपण न किया जाता; क्योंकि वह 'अत्यग्निष्टोम' आदि संस्थाओं के ग्रहण के पक्ष में सम्बद्ध रहित हो जाता है, किन्तु यहाँ पर निरूपण किया गया है। अतः सिद्ध है कि 'अन्येन' शब्द द्वारा मात्र संस्थाओं का ग्रहण ही नहीं,वरन् संस्था सहित एकाह आदि समस्त याग ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार 'अग्निष्टोम' का प्रथम अनुष्ठान किये बिना अत्यग्निष्टोम आदि छः याग अनुष्ठान करने के योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार 'अन्येन' शब्द से गृहीत होने से 'एकाह' आदि विकृति याग भी अननुष्ठेय हैं॥ ४०॥

**अगले सूत्र में उक्त किये गये अर्थ के प्रति आशङ्का प्रकट करते हैं—**

**( ९१० ) प्रशंसा च विहरणाभावात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** विहरणाभावात् = विकृति होने से एकाह आदि में आपत्ति एवं विहार दोनों एक साथ नहीं हो सकते, प्रशंसा = उक्त कथन अग्निष्टोम की प्रशंसा हेतु ही हुआ। 'एकाह' आदि के ग्रहण हेतु नहीं।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र में विवेचित वाक्यों में जो आपत्ति एवम् विहार कथन किये गये हैं, वे 'एकाह' आदि के ग्रहण हेतु नहीं, वरन् अग्निष्टोम के प्रशंसार्थ किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'अग्निष्टोम' ऐसा प्रशंसनीय यज्ञ है कि जिसके द्वारा अन्य याग प्रादुर्भूत होते और स्वतन्त्रता प्राप्त करते एवं विहार करते हैं। 'एकाह' आदि विकृति होने से प्रकृति यज्ञ के अधीन हैं; जो अधीन हैं, वे स्वतंत्रता पूर्वक विहार कैसे कर सकते हैं? इसलिए सिद्ध है कि 'अन्येन' शब्द से केवल 'अत्यग्निष्टोम' आदि छः यागों का ही ग्रहण होता है, इतर अन्य यागों का ग्रहण संभव नहीं है॥ ४१॥

**ऊपर की गई आशङ्का का समाधान अब अगले सूत्र में किया जा रहा है—**

**( ९११ ) विधिप्रत्ययाद्वा न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** विधिप्रत्ययात् = कर्म में प्रवृत्त करने वाले वाक्य द्वारा आपत्ति एवं विहार का कथन उचित है, हि = क्योंकि, अकस्मात् = धर्म प्राप्ति के अभाव में, प्रशंसा = प्रशंसा भी, न स्यात् = उपपन्न (संभव) नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि उक्त वाक्य अग्निष्टोम का प्रशंसा करने वाला है, फिर भी 'एकाह' आदि विकृति यागों में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस विधि वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों के अतिदेश मानने के अभाव में उक्त प्रशंसा भी नहीं हो सकती और अतिदेश मान लें, तो 'एकाह' आदि भी अग्निष्टोम के सम्बन्धी सिद्ध होते हैं। इस कारण सिद्ध है कि 'अन्येन' शब्द द्वारा 'अत्यग्निष्टोम' आदि के सहित 'एकाह' आदि समस्त यज्ञों का ग्रहण होना उचित है॥ ४२॥

**अब अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की शङ्का का कथन करते हैं—**

## ( ९१२ ) एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** एकस्तोमे = 'अन्येन' शब्द एक स्तोम वाले याग का, वा = द्योतक है, क्रतुसंयोगात् = क्योंकि अर्थवाद वाक्य से एक ही प्राकृत स्तोम का विकृति यागों के साथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** स्तोत्र विशेष का नाम ही स्तोम है। पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अग्निष्टोम याग में त्रिवृत्,पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश ये चार प्रकार के स्तोम हैं। नव ऋचा वाले स्तोत्र का नाम 'त्रिवृत्' पञ्चदश वाले का नाम 'पञ्चदश' सप्तदश वाले का नाम 'सप्तदश' एवं एकविंश वाले मंत्रों का नाम 'एकविंश' है। इन मन्त्रों के मध्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस विधि वाक्य द्वारा जब त्रिवृत् स्तोम विकृति याग में प्राप्त होता है, तब वह उसे व्याप्त करके प्रकाशित होता है और पञ्चदश, सप्तदश एवं एकविंश प्राप्त हुआ विकृति याग को व्याप्त कर प्रकाशित होता है। इस अर्थवाद वाक्य में स्तोमान्तर की निवृत्ति प्राप्त होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि 'अन्येन' शब्द से एक स्तोमक अनेक स्तोमक-सभी यागों का ग्रहण उचित होता, तो उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य में एक ही स्तोम से विकृति याग का व्याप्ति पूर्वक प्रकाशित होना-कथन नहीं किया जाता। इस कारण सिद्ध है कि 'अन्येन' शब्द से 'एक स्तोमक' यज्ञों का ही ग्रह उचित है। एक स्तोमक एवं अनेक स्तोमक सहित समस्त यागों का ग्रहण उचित नहीं है॥ ४३॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## ( ९१३ ) सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** चोदनाविशेषात् = प्रेरक वाक्य में सभी अन्य शब्द के वाच्य हैं तथा, प्रशंसा स्तोमानाम् = वह स्तोमों की स्तुति है, वा = अस्तु, सर्वेषाम् = 'अन्येन' शब्द से एक स्तोमक-अनेक स्तोमक सभी यागों का ग्रहण होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि 'अग्निष्टोम' याग से पृथक् एक स्तोमक-अनेक स्तोमक जितने भी यज्ञ हैं, वे सब 'अन्य' शब्द के वाच्य हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में एक स्तोमक याग को पूरी तरह प्रकाशित न होने का कथन किया गया है, इससे स्तोम मात्र का प्रभाव ही प्राप्त होता है। 'अन्येन' शब्द द्वारा एक स्तोमक याग का ग्रहण नहीं होता। अस्तु; 'अन्य' शब्द के अर्थ का संकोच (अवरोध) भी उचित नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि 'अन्येन' शब्द द्वारा एक स्तोमक-अनेक स्तोमक सभी यागों का ग्रहण है और वह सभी 'अग्निष्टोम' के बाद अर्थात् इन सबके पूर्व नियमतः 'अग्निष्टोम' का अनुष्ठान करना समीचीन है, इसके विपरीत नहीं है॥ ४४॥

## ॥ इति पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

# ॥ अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**इस सूत्र में आचार्य पाठक्रम की अपेक्षा श्रौतक्रम और आर्थिक क्रम हेतु बलवान् कथन करते हैं—**

## ( ९१४ ) क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** अर्थशब्दाभ्याम् = अर्थक्रम और श्रौतक्रम से, क्रमकोपः = पाठक्रम का अवरोध आ जाता है, श्रुतिविशेषात् = क्योंकि श्रुति विशेष से, च = और, अर्थपरत्वात् = अर्थ से प्राप्त होने के कारण वह दोनों बलशाली हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार पाठक्रम की अपेक्षा श्रौतक्रम और अर्थक्रम की प्रबलता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि कल्पक (कल्पना प्रसूत) और साक्षात् बोधक दोनों के बीच साक्षात् बोधक बलवान् होता है। उदाहरणार्थ– होम का विधान करने के बाद यवागू (लापसी) पाक विधान किया गया है। यवागू पाक के अभाव में यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वही उसका एकमात्र साधन है। अतः पाठक्रम से यवागू पाक की अपेक्षा यज्ञ-हवन पहले होने से भी अर्थ क्रम द्वारा यज्ञ की अपेक्षा यवागू पाक पहले मान्य होता है। पाठक्रम और अर्थक्रम दोनों के मध्य अर्थक्रम का बलवान् होना सर्वसम्मत है। इससे सिद्ध होता है कि अश्विनग्रह का दशम स्थान में ग्रहण और यज्ञ-हवन से पहले यवागू (लापसी) पाक प्रथम कर्त्तव्य अति आवश्यक है॥ १ ॥

**अगले सूत्र में 'प्रवृत्तिक्रम' से 'प्रधान ( मुख्य ) क्रम' को प्रबल या मुख्य क्रमानुसार आग्नेय पुरोडाश के 'अवदान' आदि धर्मों का प्रथम अनुष्ठान कथन करने के लिए पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ९१५ ) अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** अवदानाभिघारणासादनेषु = अवदान, अभिघारण तथा आसादन-इन तीनों में, आनुपूर्व्यम् = क्रम का अवधारण, प्रवृत्त्या = प्रवृत्तिक्रमानुसार, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन यह है कि अवदान, अभिघारण और आसादन-इन तीनों का क्रम प्रवृत्ति क्रम के तहत होना चाहिए। क्योंकि यदि अवदान आदि का उपर्युक्त क्रम विवक्षित न होता, तो पहले सांनाय्य अर्थात् दधि-पयः (दूध) के धर्मों का विधान न करके पुरोडाश के धर्मों का विधान किया जाता, किन्तु यहाँ पर पुरोडाश के धर्मों का विधान करके, सांनाय्य के धर्मों का पहले विधान किया गया है। अतः सिद्ध है कि अवदान आदि भी पहले सांनाय्य के ही कर्त्तव्य हैं, पुरोडाश के कर्त्तव्य नहीं है॥ २ ॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया जा रहा है—**

## ( ९१६ ) यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** यथाप्रदानम् = प्रदान क्रमानुसार अवदान आदि धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए, तदर्थत्वात् = क्योंकि वह प्रदान के लिए ही विधान किये गये हैं।

**व्याख्या—** 'सांनाय्य' याग से पहले 'आग्नेय' याग का अनुष्ठान होना चाहिए; यह याज्य अनुवाक्य मन्त्रों द्वारा सिद्ध है। आग्नेय याग पहले अनुष्ठेय होने से उसमें हवि का प्रदान भी पहले होना चाहिए। प्रदान के पहले होने से प्रदेय पुरोडाश के अवदान आदि धर्मों का अनुष्ठान भी पहले होना उचित है; क्योंकि उनके अभाव में प्रदान नहीं हो सकता। जो प्रवृत्तिक्रम के तहत अवदान आदि का अनुष्ठान कथन किया गया है, वह उचित नहीं है; क्योंकि मुख्य क्रम की अपेक्षा प्रवृत्ति क्रम दुर्बल है। अतः सिद्ध है कि मुख्य क्रम के तहत आग्नेय पुरोडाश के 'अवदान' आदि प्रथम कर्त्तव्य हैं, सांनाय्य प्रथम कर्त्तव्य नहीं है॥ ३ ॥

## ( ९१७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जब अग्नीषोमीय आज्य भाग का प्रदान पहले करना चाहता है, तब सर्वप्रथम 'ध्रुवा' पात्र में स्थित घृत का अभिघारण करना चाहिए। इस वाक्य-कथन में जो अग्नीषोमीय आज्य भाग के प्रथम प्रदान को ध्रुवा पात्र में स्थित घृत के प्रथम अभिघारण का निमित्त कथन किया गया है, वह उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि में लिङ्ग है। यदि प्रदान क्रम अभिघारण का निमित्त न होता, तो उपर्युक्त वाक्य में उसका निमित्त कथन न करते। अत: सिद्ध है कि आग्नेय पुरोडाश का अवदान, अभिघारण और आसादन करना प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है, तत्पश्चात् प्रदान कृत्य करके बाद में ऐन्द्र सांनाय्य का अवदान, अभिघारण और आसादन करना कर्त्तव्य हो जाता है॥ ४॥

**अग्न्याधान के पश्चात् ज्योतिष्टोम याग का कर्त्तव्य कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का मत है—**

**( ९१८ ) वचनादिष्टिपूर्वत्वम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** इष्टिपूर्वत्वम् = दर्शपूर्णमास यज्ञ के बाद नियम-पूर्वक ज्योतिष्टोम कर्त्तव्य है, वचनात् = क्योंकि वाक्य विशेष (श्रुति-वचन) से ऐसा ही प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'दर्शपूर्णमास यज्ञ करने के उपरान्त ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करना चाहिए' (यो दर्शपूर्णमासौ इष्ट्वा सोमेन यजते)। इस श्रुति-कथन में जो 'इष्ट्वा' यह क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, इससे दर्शपूर्णमास के बाद ज्योतिष्टोम यज्ञ की कर्त्तव्यता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, क्योंकि समानकर्तृकयो: पूर्वकाले अष्टा. ३/४/२२ अर्थात् जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक है, उनके मध्य पूर्वकाल में होने वाली धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार उक्त प्रत्यय युक्त क्रिया पूर्वकाल में होती है। यदि दर्शपूर्णमास याग युक्ति क्रिया के बाद नियमत: ज्योतिष्टोम याग कर्त्तव्य न होता, तो उपर्युक्त प्रत्यय का प्रयोग न होता और न ही दर्शपूर्णमास एवं ज्योतिष्टोम याग का एक कर्त्ता कथन किया जाता। उक्त प्रत्यय का प्रयोग करने से दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम -दोनों एक कर्तृक (एक ही कर्त्ता द्वारा किये जाने वाले) स्पष्ट हैं तथा उसके स्पष्ट होने से परस्पर नियम से आनन्तर्य्य भी जरूरी है। अत: सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग नियम पूर्वक दर्शपूर्णमास यज्ञ के बाद करना कर्त्तव्य हो जाता है, आधान के बाद नहीं होता॥ ५॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९१९ ) सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्रा तिक्रमवचनात् तदन्ते नानर्थकं स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** सोम: = ज्योतिष्टोम याग नियम द्वारा दर्शपूर्णमास याग के बाद नहीं, बल्कि अग्न्याधान के बाद होना चाहिए, एकेषाम् = क्योंकि कई एक शाखाओं में उसकी कर्त्तव्यता के लिए, अग्न्याधेयस्य = अग्न्याधान से सम्बन्धित, ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनात् = ऋतु और नक्षत्र के अतिक्रम का अभिधायक वाक्य विशेष प्राप्त होता है, हि = यदि, तदन्ते = अग्न्याधान के बाद न मानकर दर्शपूर्णमास के बाद ही उक्त याग की कर्त्तव्यता मानी जाये, अनर्थकम् = तो उक्त अतिक्रम का अभिदायक वाक्य निरर्थक, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास के पश्चात् न होकर अग्न्याधान के पश्चात् होना चाहिए; क्योंकि कई शाखाओं में उसकी कर्त्तव्यता के लिए अग्न्याधान से सम्बन्धित ऋतु और नक्षत्र के अतिक्रम का विधायक वाक्य-विशेष प्राप्त होता है। यदि ज्योतिष्टोम याग को अग्न्याधान के बाद न मानकर दर्शपूर्णमास के बाद मान लें, तो उपर्युक्त अतिक्रमण का अभिधायक वाक्य अर्थ-रहित हो जाता है, किन्तु उक्त वाक्य में अतिक्रम कथन किया गया है। अत: सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग नियमपूर्वक अग्न्याधान के बाद करना चाहिए, दर्शपूर्णमास के बाद करना जरूरी नहीं है॥ ६॥

## ( ९२० ) तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तदर्थवचनात् = अग्न्याधान को ज्योतिष्टोम हेतु कथन करने से भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है, अविशेषात् = अन्यथा अग्न्याधान को कर्ममात्र के प्रति समान होने से, तदर्थत्वम् = ज्योतिष्टोमार्थता का अभिधायक वचन, न = स्पष्ट नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि में युक्ति कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि यज्ञादि जितने वैदिक कर्म हैं, उन सभी के लिए अग्न्याधान अनिवार्य है; क्योंकि अग्न्याधान के अभाव में कोई भी वैदिक कर्म नहीं किया जा सकता। यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ को नियम से अग्न्याधान का अन्तरभावी न मानें, तो उक्त वाक्य विशेष से उसके विशेष रूप से विधान का कथन नहीं किया जाता। किन्तु वह विधान किया गया है, उससे अग्न्याधान तथा ज्योतिष्टोम याग का आपस में कोई विशेष सम्बन्ध निश्चित रूप से है तथा वह सम्बन्ध विशेष नियत आनन्तर्यरूप होना उचित है। अत: स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग नियम से अग्न्याधान के बाद अनुष्ठान के योग्य है, दर्शपूर्णमास के बाद अनुष्ठेय नहीं है॥ ७॥

## ( ९२१ ) अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां - कालनिर्देशात् आनन्तर्य्याद्विशङ्का स्यात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अयक्ष्यमाणस्य = अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करने वाले पुरुष के प्रति, पवमानहविषाम् = पवमान हवियों की कर्त्तव्यतार्था, कालनिर्देशात् = काल का कथन करने से भी, आनन्तर्य्यात् = अग्न्याधान के बाद, विशङ्का = उक्त याग की नि:शङ्क कर्त्तव्यता, स्यात् = सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार निम्नांकित प्रेरक वाक्य की ओर ध्यानाकर्षित करते हैं- 'जो पुरुष अग्न्याधान करके ज्योतिष्टोम याग न करे, वह एक वर्ष तक पवमान नामक हवियों का अनुष्ठान करे।' उक्त वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि अग्न्याधान के बाद ज्योतिष्टोम यज्ञ के न करने से जो नियम भङ्ग रूपी अपराध उत्पन्न होता है, उसके निवारणार्थ प्रायश्चित्त स्वरूप उक्त हवि प्रदान करने का नियम निश्चित किया गया है। अत: सिद्ध है कि अग्न्याधान और ज्योतिष्टोम यज्ञ का आपस में पूर्वापर्यभाव है। दर्शपूर्णमास एवम् ज्योतिष्टोम यज्ञ अग्न्याधान के उपरान्त नियमपूर्वक करना कर्त्तव्य है॥ ८॥

**अब अगले सूत्र में उक्त विचार का फलितार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है'—**

## ( ९२२ ) इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** अयक्ष्यमाणस्य = अग्न्याधान के बाद ज्योतिष्टोम याग न करने वाले के लिए, इष्टि: = दर्शपूर्णमास याग करना निश्चित कर्त्तव्य हो जाता है और, तादर्थ्ये = ज्योतिष्टोम याग के निमित्त से अग्न्याधान करने पर तो, सोमपूर्वत्वम् = ज्योतिष्टोम यज्ञ करना आवश्यक हो जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य फलितार्थ कथन करते हुए कहते हैं कि अग्न्याधान जिस यज्ञ की कामना से किया जाये, वह यज्ञ करना उचित है। ज्योतिष्टोम याग की कामना द्वारा अग्न्याधान करने पर दर्शपूर्णमास याग से पहले उपर्युक्त ज्योतिष्टोम याग करे एवं उक्त याग की कामना के बिना अग्न्याधान करने पर सीधे ही दर्शपूर्णमास याग करना कर्त्तव्य बन जाता है ॥ ९॥

**अब अगले दो सूत्रों में ब्राह्मण कर्तृक एवं ज्योतिष्टोम यज्ञ के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का विचार प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ९२३ ) उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोम: स्यात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण का, सोम: = ज्योतिष्टोमयाग, स्यात् = दर्शपूर्णमास याग से पहले होना चाहिए; उत्कर्षात् = क्योंकि ज्योतिष्टोम यज्ञ के बाद उक्त याग की कर्त्तव्यता का विधान प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्षानुसार कहते हैं कि ब्राह्मण अग्नि देवता वाला है। जब ज्योतिष्टोम यज्ञ किया जाता है, तो वह अग्नीषोमीय हो जाता है, जो यह पौर्णमास हवि है, ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर इस हवि को प्रदान करना चाहिए। इससे यह ब्राह्म अग्नि और सोम दो देवों वाला होता है। इस अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के बाद पौर्णमास हवि के प्रदान करने का विधान बनाया गया है तथा पौर्णमास शब्द 'दर्श' का उपलक्षण है। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण को ज्योतिष्टोम याग के बाद नियम से दर्शपूर्णमास याग अनुष्ठेय है॥ १०॥

## ( १२४ ) पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** पौर्णमासी = ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् एकमात्र पौर्णमास याग करना कर्त्तव्य है, श्रुतिसंयोगात् = क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल पौर्णमास शब्द का सम्बन्ध प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य में दर्शपूर्णमास शब्द का सम्बन्ध प्राप्त होता, तो निश्चित ही ज्योतिष्टोम के पश्चात् उक्त दोनों यज्ञों की कर्त्तव्यता का विधान माना जाता; किन्तु उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल 'पौर्णमास' शब्द का प्रयोग है, जिसके द्वारा ज्योतिष्टोम के बाद पूर्णमास यज्ञ की कर्त्तव्यता प्राप्त होती है, दर्शयाग की नहीं अस्तु पौर्णमास शब्द को दर्शयाग का उपलक्षण मान लेना उचित नहीं। अत: सिद्ध है कि एकमात्र पौर्णमास याग से पहले ब्राह्मण कर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्त्तव्यता का नियम दर्श और पूर्णमास से पहले नहीं, बाद में ही है॥ ११॥



**अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत हैं—**

## ( १२५ ) सर्वस्य वैककर्मत्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** सर्वस्य = उक्त वाक्य में 'पौर्णमास' शब्द से दर्श और पूर्ण मास दोनों का ग्रहण है, एककर्म्यत्वात् = क्योंकि वे दोनों मिश्रित होकर एक ही कर्म बन जाते हैं।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य में पौर्णमास शब्द द्वारा दर्श का ग्रहण तब न होता, जब वे दोनों एक ही कर्म न होते, किन्तु जब वे दोनों मिश्रित होकर एक कर्म बन जाते हैं तथा एक ही फल के जन्मदाता हैं, तब एक के के ग्रहण द्वारा दूसरे का ग्रहण क्यों नहीं हो सकता? 'नाम के एकदेश का ग्रहण सभी नामों का ग्राहक होता है।' इस वाक्य के तहत पौर्णमास के ग्रहण से दर्श का भी ग्रहण हो सकता है। उदाहरणार्थ जैसे- 'देवदत्त' यह एक नाम-सम्बोधन है। इसमें दत्त के ग्रहण से 'देव' का और 'देव' के ग्रहण से 'दत्त' का ग्रहण होता है। इस तरह के उदाहरण महाभाष्य में अनेकों मिलते हैं। अत: इससे सिद्ध होता है कि दर्शपूर्णमास दोनों यागों से पहले ब्राह्मण कर्त्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का विधान है। ऐसा नियम केवल पौर्णमास यज्ञ से पहले का ही नहीं है॥ १२॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष में और आशङ्का प्रकट करते हैं—**

## ( १२६ ) स्याद्वा विधिस्तदर्थेन॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** तदर्थेन = उक्त अर्थवाद वाक्य 'पौर्णमास' शब्द से दर्शपूर्णमास याग का अभिधायक नहीं, बल्कि ज्योतिष्टोम यज्ञ के अङ्ग किसी अपूर्व कर्म का, विधि: = विधायक, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आशङ्का व्यक्त करते हुए बतलाते हैं कि उपर्युक्त सूत्रान्तर्गत अर्थवाद वाक्य में 'पौर्णमास' नामक जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह दर्शपूर्णमास याग का वाची नहीं है, परन्तु पौर्णमास नामक किसी दूसरे अपूर्व कर्म का वाची है तथा 'निर्वपेत्' शब्द द्वारा उसका नियम-विधान स्पष्ट कर दिया गया है। अत: उसमें प्रयुक्त हुए 'पौर्णमास' शब्द द्वारा 'दर्शपूर्णमास' याग का ग्रहण नहीं हो सकता। अत: इससे सिद्ध हो जाता है कि दर्शपूर्णमास याग से पहले ब्राह्मण कर्तृक ज्योतिष्टोम यज्ञ के अनुष्ठान का कोई भी नियम-विधान निश्चित नहीं॥ १३॥

अगले सूत्र में उक्त पूर्व पक्ष की आशङ्का का समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करते हैं—

## ( ९२७ ) प्रकरणात्तु कालः स्यात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणात् = दर्शपूर्णमास के प्रकरणान्तर्गत पाठ के अनुसार, कालः = ज्योतिष्टोम यज्ञ के बाद दर्शपूर्णमास यज्ञ के अनुष्ठान हेतु आनन्तर्य्य रूप काल का, स्यात् = विधान मानना उचित है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो वाक्य जिसके प्रकरण में पठनीय है, उसमें उसी का प्रतिपादन और ग्रहण होना समीचीन प्रतीत होता है, अन्य किसी दूसरे का उचित नहीं। ज्योतिष्टोम यज्ञ के अङ्ग 'पौर्णमास' नामक किसी अपूर्व कर्म का विधान उचित होता, तो दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उसके नियम विधान की जरूरत नहीं थी। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अर्थवाक्य में पौर्णमास शब्द द्वारा कोई अपूर्व कर्म अभिप्रेत नहीं, बल्कि यहाँ दर्शपूर्णमास कर्म ही अभिप्रेत है। अतः सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम यज्ञ अनुष्ठान का नियम है॥ १४॥

अगले सूत्र में ज्योतिष्टोम यज्ञ के काल की बाधा-कथन करने हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—

## ( ९२८ ) स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** स्वकाले = ज्योतिष्टोम यज्ञ अपने समय में, स्यात् = होना चाहिए, अविप्रतिषेधात् = क्योंकि प्रधान होने से उसके समय की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि अग्न्याधान अङ्ग कर्म और ज्योतिष्टोम यज्ञ प्रधान (प्रमुख) कर्म है। अङ्ग और प्रधान दोनों के बीच अङ्गकाल के अवरोध की कल्पना करना उत्तम सूत्र है- 'गुणेत्वन्याय्य कल्पना' अर्थात् अन्याय्य कल्पना गुणभूत पदार्थ में होती है। उपर्युक्त वाक्य में स्पष्ट कथन किया गया है कि अग्न्याधान के लिए ऋतु एवं नक्षत्र की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। जब उपर्युक्त वाक्य में प्रत्यक्ष रूप से अग्न्याधान सम्बन्धी ऋतु और नक्षत्र की प्रतीक्षा का विरोध है, तब अग्न्याधान के समय का अवरोध मान लेने में किसी भी तरह का दोष उपस्थित नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के समय का अवरोध कथन किया गया है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के समय का अवरोध (बाधा) कथन नहीं किया गया है॥ १५॥

अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—

## ( ९२९ ) अपनयो वाधानस्य सर्वकालत्वात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** अपनयः = उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम यज्ञ के समय की बाधा का कथन किया गया है, अग्न्याधान के समय का नहीं, आधानस्य = क्योंकि उसके समय का अवरोध, सर्वकालत्वात् = सदैव प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रेरक वाक्यों में स्पष्ट कथन मिलता है कि जब इस ज्योतिष्टोम यज्ञ करने की इच्छा हो, तभी अग्न्याधान कर लेना चाहिए। जो वाक्यान्तर से सतत उपलब्ध है, उसके लिए कल्पना करना अनुचित और अर्थ-रहित है। 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत', अर्थात् प्रत्येक वसन्त ऋतु में ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए, इस तरह के वाक्यों द्वारा ज्योतिष्टोम यज्ञ का समय उपलब्ध है; किन्तु उसका बाध किसी वाक्यान्तर से उपलब्ध नहीं है। उक्त वाक्य में अग्न्याधान के ऋतु, काल और नक्षत्र की प्रतीक्षा का जो प्रतिषेध किया गया है, सो उचित है; फिर भी उक्त प्रतिषेध का तात्पर्य ज्योतिष्टोम याग के काल-निषेध में है। अग्न्याधान के काल एवं नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध तो केवल अनुवाद मात्र ही है। अतः स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के काल का बाध-कथन- नहीं किया गया है; परन्तु ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध-कथन निश्चित रूप से किया गया है॥ १६॥

अगले सूत्र में प्रथम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया जा रहा है—

**( ९३० ) पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** ब्राह्मणस्य = ब्राह्मणकर्तृक, सोमात् = ज्योतिष्टोम यज्ञ से, ऊर्ध्वम् = पीछे, पौर्णमासी = पूर्णमास यज्ञ का अनुष्ठान होना चाहिए, वचनात् = क्योंकि वाक्य विशेष से ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि ब्राह्मण द्वारा किये गये ज्योतिष्टोम याग के पीछे (पश्चात्) पूर्णमास याग का अनुष्ठान नियमपूर्वक होना अत्यावश्यक है। 'आग्नेयो वै ब्राह्मण:' इस पूर्व उद्धृत वाक्य में एकमात्र 'पौर्णमास' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसे दर्शपूर्णमास याग का वाचक अथवा उपलक्षण मान लेने में श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना रूपी दोष आ टपकता है,जो कि अनुचित है। इसीलिए सिद्ध होता है कि एकमात्र पूर्णमास यज्ञ से पहले ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किये गये ज्योतिष्टोम याग के करने का विधान है। दर्शपूर्णमास से पहले करने का कोई नियम नहीं है॥ १७॥

**अगले सूत्र में आचार्य पौर्णमास याग एवं अग्नीषोमीय याग का अभिप्राय कथन करते हैं—**

**( ९३१ ) एवं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दसामर्थ्यात् = क्योंकि शब्द सामर्थ्य के अनुसार है, प्राक् = अत: ज्योतिष्टोम से पहले, कृत्स्नविधानात् = अग्नीषोमीय को छोड़कर और सभी कृत्स्न दर्शपूर्णमास संज्ञक यज्ञ का विधान होने से, एकम् = 'पूर्णमास' संज्ञक केवल एक 'अग्नीषोमीय' याग से पहले ब्राह्मण-कर्तृक ज्योतिष्टोम यज्ञ करना कर्त्तव्य है।

**व्याख्या—** आचार्य विवक्षा (अभिप्राय) कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि 'आग्नेय, उपांशु और अग्नीषोमीय- ये तीनों यज्ञ पौर्णमास शब्द के वाचक हैं, फिर भी यहाँ पर अग्नीषोमीय की समीपता से अग्नीषोमीय का ही ग्रहण है, तीनों का नहीं। अस्तु; सम्पूर्ण पूर्णमास से पहले ब्राह्मण द्वारा किये गये ज्योतिष्टोम याग की कर्त्तव्यता को मान लेना भी उचित नहीं है। अत: स्पष्ट है कि एक अग्नीषोमीय को छोड़कर दर्शपूर्णमास संज्ञक दूसरे किसी अन्य याग से पहले अथवा बाद में ब्राह्मण आदि के द्वारा किये गये ज्योतिष्टोम याग की कर्त्तव्यता का कोई नियम-विधान नहीं है॥ १८॥

**अब अगले सूत्र में 'अग्नीषोमीय' याग द्वारा अग्नीषोमीय पुरोडाश याग का ग्रहण कथन किया जा रहा है—**

**( ९३२ ) पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात्॥॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** तद्युक्ते = 'अग्नीषोमीय' पद युक्त उक्त वाक्य में, तु=तो, अनिर्देशे=याग भेद का कथन न होने से, पुरोडाश: =पुरोडाश याग का ही ग्रहण उचित है, देवताभावात्=क्योंकि उसमें देवता का सम्बन्ध उपस्थित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि पुरोडाश यज्ञ और आज्ययाग भेद से अग्नीषोमीय यज्ञ दो तरह का होता है। यहाँ यह सन्देह है कि 'आग्नेयो वै ब्राह्मण:' इस वाक्य में अग्नीषोमीय यज्ञ द्वारा पुरोडाश यज्ञ का ग्रहण है या आज्य नामक यज्ञ ग्रहणीय है? इसी के निस्तारण हेतु सूत्र में कहा गया है कि आज्य याग की अपेक्षा पुरोडाश यज्ञ पहले विद्यमान है तथा अग्नि एवम् सोम-इन दोनों देवों की उसमें सद्भावना (उपस्थिति) भी है। अत: नाम विशेष का कथन होने से भी उपर्युक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग द्वारा पुरोडाश याग का ही ग्रहण करने योग्य है, आज्य नामक याग ग्रहणीय नहीं है॥ १९॥

**अगले सूत्र में आचार्य ऊपर किये गये अर्थ में आशङ्का प्रकट करते हैं—**

**( ९३३ ) आज्यमपीति चेत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** आज्यम् = उक्त वाक्य में आज्य याग का ग्रहण है, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार पुरोडाश याग अग्नीषोमीय है, उसी प्रकार आज्य नामक याग भी अग्नीषोमीय है। दोनों यज्ञों के एक सदृश होने के कारण एकमात्र पुरोडाश याग का ग्रहण ही अनुचित है।

अत: उपर्युक्त वाक्य में अग्नीषोमीय यज्ञ द्वारा आज्य नामक याग का भी ग्रहण मानना ठीक है, केवल पुरोडाश यज्ञ का ग्रहण ठीक नहीं॥ २०॥

**अब अगले सूत्र में ऊपर व्यक्त की गई आशङ्का का आचार्य समाधान करते हैं—**

## ( ९३४ ) न मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्नवत्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन उचित नहीं है, ऐन्द्राग्नवत् = क्योंकि जिस प्रकार ऐन्द्राग्न यज्ञ मिश्र देवताक है, मिश्रदेवतात्वात् = उसी प्रकार आज्य नामक याग भी मिश्र देवताक है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि आज्य यज्ञ एकमात्र अग्नीषोमीय ही होता, तो निश्चित ही पुरोडाश यज्ञ की भाँति उसका ग्रहण होता; परन्तु वह ऐन्द्राग्नी यज्ञ की तरह से अग्नीषोमीय प्राजापत्य और वैष्णव भेद से विभिन्न प्रकार का होने से मिश्र देवताक है। मिश्रदेवताक और अमिश्रदेवताक इन दोनों के मध्य में अमिश्रदेवताक उत्तम होता है। जो उत्तम (श्रेष्ठ) है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार से सिद्ध हो जाता है कि उपर्युक्त वाक्य में अग्नीषोमीय यज्ञ द्वारा आज्य नामक यज्ञ का ग्रहण न होकर, पुरोडाश नामक याग का ग्रहण होना चाहिए॥ २१॥

**अब 'ऐन्द्राग्न' आदि विकृति यज्ञों को एकाह- साध्यता का कथन करते हैं—**

## ( ९३५ ) विकृते: प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा- विकृतिस्तयो: प्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ २२॥



**सूत्रार्थ—** विकृते: = विकृतियागों में, प्रकृतिकालत्वात् = प्रकृतिकालता का नियम है। तयो: = प्राकृत द्व्यह: तथा एकाह: (दो दिन और एक दिन) दोनों कालों के बीच में, प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से उत्तराविकृति: = प्रकृति यज्ञ के पश्चात् होने वाले 'ऐन्द्राग्न' आदि विकृति यज्ञ, सद्यस्काला = एकाह: (एक दिवस) साध्य होने चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त विकृति यज्ञों में 'प्रकृतिवद्विकृति: कर्त्तव्या' नामक वाक्य विशेष के अनुसार प्राप्त होने से द्व्यह: साध्यता आनुमानिक और उक्त वाक्य द्वारा साक्षात् विहित होने से एकाह: साध्यता प्रत्यक्षोपदिष्ट है तथा आनुमानिक और प्रत्यक्षोपष्टि दोनों के बीच प्रत्यक्षोपदिष्ट प्रबल होता है। प्रबल से दुर्बल का अवरोध (बाधा) सर्व सम्मत है। इसमें और कुछ विशेष कहने की जरूरत नहीं है। अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त विकृति यज्ञ एकाह: साध्य है, द्व्यह: साध्य नहीं॥ २२॥

**अब अगले सूत्र में उक्त सूत्र में किये गये अर्थ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( ९३६ ) द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** द्वैयहकाल्ये = उपर्युक्त विकृति यज्ञों का द्व्यह: साध्य होने से, तु = तो, यथान्यायं = प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का अभिप्राय है कि दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति यज्ञ को पूर्वोक्त रीति से द्व्यह: साध्य देखा जाता है। यदि उपर्युक्त विकृति यज्ञों को भी द्व्यह: साध्य मान लें, तो 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या' यह न्यायोचित हो जाता है, अन्यथा फिर इसका अतिक्रम करना होगा, जो कि उचित नहीं है। द्व्यह: काल भी प्राकृत है और उपर्युक्त कर्म में प्रवृत्त करने वाले वाक्य के द्वारा विकृति यज्ञों में प्राप्त है तथा जो यथान्याय प्राप्त है। अत: सिद्ध है कि उक्त विकृति याग भी द्व्यह: (दो दिन) साध्य है, एकाह: (एक दिन) साध्य नहीं॥ २३॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

## ( ९३७ ) वचनाद्वैककाल्यं स्यात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वचनात् = उक्त वाक्य विशेष से, ऐककाल्यम् = विकृति याग एकाह: साध्य, स्यात् = हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि यद्यपि द्व्यहः काल प्राकृत धर्म होने के कारण उपर्युक्त कर्म में प्रवृत्त करने वाले वाक्य द्वारा एकाहः काल प्रत्यक्ष प्राप्त होने से वह अनुष्ठान के योग्य नहीं हो सकता; क्योंकि वह कर्म में प्रवृत्त करने वाले वाक्य के प्राप्त होने से प्रत्यक्षोपादिष्ट की अपेक्षा दुर्बल है। दुर्बल और सबल दोनों के बीच में सबल का ही अनुष्ठान होना उचित है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य है, द्व्यहः साध्य नहीं। यहाँ पर एकाहः से तात्पर्य अमावस्या और पूर्णमासी का है॥ २४॥

**अगले सूत्र में सांनाय्य और अग्नीषोमीय यज्ञ के विकृति यज्ञों का काल निर्णय है—**

## ( १३८ ) सान्नाय्याग्नीषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात्प्रकृतिवत्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् = जिस प्रकार सांनाय्य और अग्नीषोमीय - दोनों यज्ञ ज्योतिष्टोम के बाद होते हैं। सांन्नाय्याग्नीषोमीयविकाराः = उसी प्रकार उपर्युक्त दोनों याग के विकृति याग भी, सोमात् = सोम से,ऊर्ध्वम् = पीछे (बाद में होने चाहिए)।

**व्याख्या—** सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त परमात्मा के निमित्त आमिक्षा देना चाहिए। इस प्रकार के वाक्यों द्वारा विधान किये गये अग्नीषोमीय विकार याग इस अधिकरण का विषय है। उपर्युक्त याग अपने प्रकृति यज्ञ की तरह ज्योतिष्टोम यज्ञ से पहले या बाद में करना चाहिए? इस आशङ्का के निवारणार्थ आचार्य कहते हैं कि विकृति यज्ञ को प्रकृति यज्ञ की तरह होना अनिवार्य है; बिना किसी प्रबल प्रमाण के विकारों को अपने प्रकृति यज्ञ द्वारा विपरीत अनुष्ठेय होना सम्भव नहीं है। प्रकृति यज्ञों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम यज्ञ से पीछे होना सर्वसम्मत है। अतः यह सिद्ध है कि सांनाय्य और अग्नीषोमीय यज्ञों के विकृति यज्ञों का अनुष्ठान भी ज्योतिष्टोम यज्ञ (सोम याग) से पीछे ही करना कर्त्तव्य है॥ २५॥

**अगले सूत्र में ज्योतिष्टोम के विकृति यज्ञों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास यज्ञ के बाद करने का कथन करते हैं—**

## ( १३९ ) तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—**तथा=जिस प्रकार सांनाय्य और अग्नीषोमीय यज्ञ के विकृति यज्ञों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम यज्ञ के बाद होता है, सोमविकाराः=उसी प्रकार ज्योतिष्टोम याग के विकृति यज्ञों का अनुष्ठान, दर्शपूर्णमासाभ्याम्=दर्शपूर्णमास यज्ञ के बाद होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'गवा यजेत' अर्थात् गौ नामक यज्ञ करे। इस प्रकार के वाक्यों से विहित गौ आदि नामक ज्योतिष्टोम यज्ञ के विकार इस अधिकरण के विषय हैं। उक्त यज्ञ दर्शपूर्णमास यज्ञ से पहले करना चाहिए अथवा बाद में करना चाहिए? इस संशय के निवारणार्थ उक्त सूत्र में आचार्य कहते हैं कि यद्यपि ज्योतिष्टोम यज्ञ दर्शपूर्णमास यज्ञ से पहले अनुष्ठान के योग्य है, फिर भी उसका पहले अनुष्ठान करना वाक्य सिद्ध नहीं, बल्कि अर्थ सिद्ध है। इसका निरूपण पूर्व में किया जा चुका है तथा 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' से वाक्य सिद्धि की प्राप्ति होती है अर्थ सिद्धि की प्राप्ति नहीं, यह नियम है। अर्थ सिद्धि की प्राप्ति न होने से अपने प्रकृतियज्ञ के सदृश उपर्युक्त विकृति यज्ञों का दर्शपूर्णमास यज्ञ से पहले अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है। बाद में अनुष्ठान सांनाय्य और अग्नीषोमीय यज्ञ के विकारों की तरह स्वयं ही सिद्ध है। जो स्वयं सिद्ध है, उसका त्यागना अनुचित है। अतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार सांनाय्य और अग्नीषोमीय यज्ञ के विकृति यज्ञों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम यज्ञ के बाद करना चाहिए॥ २६॥

## ॥ इति पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

# ॥ अथ षष्ठाध्याये प्रथमः पादः ॥

**प्रस्तुत अध्याय में यज्ञादि कर्मों के अधिकार एवं अनधिकार का प्रतिपादन किया गया। इसलिए इसे 'अधिकाराध्याय' नाम दिया गया है। पदार्थ और कर्म में कौन प्रमुख तथा कौन गौण है यह विचार करने के लिए इस अध्याय के प्रथम पाद में चर्चा आरम्भ करते हुए पूर्वपक्ष कहता है—**

**( ९४० ) द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्याणाम् = द्रव्यों का, कर्म संयोगे = कर्म संयोग में, गुणत्वेन = गौण, अभिसम्बन्धः = सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना यह है कि द्रव्य का कर्म संयोग की दृष्टि से गौण स्थान है और कर्म प्रमुख है; क्योंकि द्रव्य कर्म करने के लिए एक साधन है और कर्म साध्य है। अतः कर्म प्रधान है।

युक्ति के आधार पर देखा जाये, तो द्रव्य भूत है और कर्म भव्य है अर्थात् द्रव्य सिद्ध है तथा कर्म होने वाला है। अतः यह सिद्ध होता है कि द्रव्य कर्म के लिए तथा भूत वस्तु भव्य के लिए होती है॥ १॥

**आचार्य सूत्रकार अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९४१ ) असाधकं तु तादर्थ्यात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** तादर्थ्यात् = स्वर्ग के लिए होने से, तु = तो, असाधकम् = यज्ञ कर्म की सिद्धि का साधक नहीं।

**व्याख्या—** 'स्वर्गकामो यजेत' यहाँ पर स्वर्ग शब्द का आशय प्रीति या प्रेम से है। अतः यज्ञ कर्म का मूल आशय स्वर्ग अथवा प्रीति ही है, उसे कर्म कहना उचित नहीं लगता अर्थात् जब यह कहा जाता है कि 'स्वर्ग के लिए यज्ञ करो,' तब स्वर्ग अर्थात् प्रीति ही प्रधान हुआ और यज्ञ उसका साधन अर्थात् गौण हुआ॥ २॥

**( ९४२ ) प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो -
ह्यभिसम्बन्धः तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रत्यर्थम् = स्वर्ग संज्ञक अर्थ के लिए, अभिसंयोगात् = यज्ञ रूप कर्म का कारत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से, कर्मतः हि = कर्म द्वारा ही, अभिसम्बन्धः = स्वर्ग और यज्ञ का सम्बन्ध है, तस्मात् = इसलिए, कर्मोपदेशः = कर्म का कथन, स्यात् = गौण है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि स्वर्ग की इच्छा रखने वाले मनुष्यों के लिए यज्ञ का विधान है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और ऐसा कोई शास्त्र कथन भी नहीं पाया जाता है कि जिसमें कि यह उल्लेख हो कि अमुक अनुष्ठान स्वर्ग के लिए है? इसका अभिप्राय यह है कि इष्ट की प्राप्ति के लिए ही अनुष्ठान होता है और 'स्वर्गकामोयजेत' इस कथन सूत्र में इष्ट अर्थ स्वर्ग है। अतः यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग ही प्रधान है और स्वर्ग प्राप्ति का साधन होने के कारण यज्ञ गौण है॥ ३॥

**अब यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के अधिकार तथा अनधिकार का निरूपण करते हैं—**

**( ९४३ ) फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणः = (यज्ञ) कर्म, फलार्थत्वात् = फल के लिए होने से, शास्त्रम् = शास्त्र, सर्वाधिकारम् = सबके अधिकार वाला, स्यात् = है।

**व्याख्या—** चूँकि यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है और श्रेष्ठ फल की कामना सबको होती है। अतः शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मों का अधिकार स्त्री-पुरुष सबको है॥ ४॥

**अब आचार्य उपर्युक्त सन्दर्भ में युक्ति कथन करते हैं—**

**( ९४४ ) कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिसंयोगात् = वैदिक कर्मों के अधिकार सम्बन्धी श्रुति कथन पाये जाने से, वा = भी, कर्तुः

विधि: = कर्त्ता की विधि, कात्स्न्येंन = सम्पूर्ण रीति से, गम्यते = पायी जाती है।

**व्याख्या—** वैदिक कर्मों के अधिकार विषयक श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ कराने का अधिकार निषिद्ध नहीं है। स्वाध्याय आदि कर्मों में स्त्रियों के अध्ययन-अध्यापन आदि कर्मों के पाये जाने से भी स्पष्ट होता कि वैदिक कर्मों का अधिकार कर्त्ता मात्र को है॥ ५॥

**उक्त सन्दर्भ में ऐतिशायन ऋषि के मतानुसार अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९४५ ) लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गविशेषनिर्देशात् = पुल्लिग का कथन पाये जाने से, पुंयुक्तम् = पुल्लिग पद के वाच्य धर्म वाले पुरुष का ही यज्ञ करने में अधिकार है, ऐतिशायन: = ऐसा ऐतिशायन ऋषि का मत है।

**व्याख्या—** ऐतिशायन ऋषि का मत है कि श्रुतिवाक्य में पुल्लिग का कथन पाया जाता है, इसलिए स्त्रियों के लिए यज्ञ करने का अधिकार स्वीकार नहीं किया जा सकता॥ ६॥

**( ९४६ ) तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अविज्ञाते = अज्ञात गर्भ के हनन से, दोषश्रुतिः = दोष का श्रवण पाया जाता है, तदुक्तित्वात् = यह बात पुल्लिङ्ग कथन से ही सिद्ध होती है अन्यथा नहीं, च = और (युक्त्यन्तर बोधक)।

**व्याख्या—** 'अविज्ञाते गर्भे हतम् भ्रूणहा' अनजाने गर्भ के हनन से पुरुष भ्रूणहन्ता बनता है। यहाँ भ्रूण का तात्पर्य यज्ञ है तथा भ्रूणहा का मतलब यज्ञहन्ता से है। 'अविज्ञातगर्भ' कथन का यहाँ अभिप्राय यह है कि यज्ञ का हनन जिस गर्भ में पुरुष हो उसी के मरण से होता है, जिसमें स्त्री हो उससे नहीं। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष को ही यज्ञाधिकार है, स्त्री को नहीं॥ ७॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९४७ ) जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात्<br>स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—**बादरायण: = आचार्य बादरायण 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में, जातिम् = जाति का बोधक मानते हैं, अविशेषात् = क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं पायी जाती, तस्मात् = इसलिए, जात्यर्थस्य = जाति का जो अर्थ है, अविशिष्टत्वात् = उसके तुल्य होने से, स्त्र्यपि = स्त्री भी, प्रतीयेत = ग्रहणीय हो सकती है।

**व्याख्या—** 'स्वर्गकामो यजेत' कथन में स्वर्गकाम शब्द का अर्थ है- 'स्वर्ग: कामो यस्य स: स्वर्गकाम:' अर्थात् स्वर्ग में जिसकी कामना हो,उसका नाम 'स्वर्गकाम' है। अभिप्राय यह है कि स्वर्ग की आकांक्षा वाला यज्ञ का अधिकारी सिद्ध होता है। चूँकि उक्त शब्द कामना करने वालों का जातिबोधक है, अत: यह स्त्री-पुरुष दोनों पर समान लागू होता है॥ ८॥

**( ९४८ ) चोदितत्वाद्यथाश्रुति॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** चोदितत्वात् = वेद प्रतिपाद्य होने से, यथाश्रुति = श्रुति के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को ही यज्ञ का अधिकार है।

**व्याख्या—** जब वेद प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को ही धर्म माना गया है, तब यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्रियों को यज्ञ का अधिकार नहीं है; क्योंकि धर्म का अधिकार तो सभी को है अर्थात् पुरुष के समान ही स्त्रियों को भी धर्म-कर्म का अधिकार है। यजुर्वेद (२६/२) में कहा गया है- 'यथेमाम् वाचं' अर्थात् पुरुष मात्र को वेद का अधिकार है, फिर स्त्री अधिकार में क्या अवरोध? अत: स्पष्टत: सिद्ध है कि स्त्री को भी यज्ञादि धार्मिक कार्यों का अधिकार है॥ ९॥

**अब पूर्वपक्ष स्त्री के यज्ञादि कर्मों में अनधिकार के सन्दर्भ में अगले तीन सूत्रों में अपना कथन प्रस्तुत करता है—**

**( ९४९ ) द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्यात् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रया-भ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**—पुंसाम् = पुरुषों के, द्रव्यवत्वात् = द्रव्य वाले होने से, द्रव्यसंयुक्तम् = द्रव्य साध्य यज्ञादि कर्म, स्यात् = है, क्रयविक्रयाभ्याम् = क्रय और विक्रय से, स्त्रीणाम् = स्त्रियाँ, अद्रव्यत्वम् = द्रव्य रहित होती हैं, द्रव्यैः = क्योंकि द्रव्यों के साथ, समानयोगित्वात् = यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध होता है।

**व्याख्या**—यज्ञ द्रव्य साध्य है, क्योंकि उसमें प्रयुक्त पदार्थों का क्रय-विक्रय द्रव्य के आधार पर ही हो सकता है और द्रव्य के अधिकारी पुरुष होते हैं, अत: पुरुषों को ही यज्ञ का अधिकार है, स्त्रियों को नहीं। अत: प्रमाणित होता है कि द्रव्य का स्वामी होने के कारण पुरुषों को ही यज्ञादि कर्मों का अधिकार है, स्त्रियों को नहीं॥ १०॥

**( ९५० ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— तथा = उक्त क्रय-विक्रय की सिद्धि में, च = और, अन्यार्थदर्शनम् = उदाहरण पाया जाता है।

**व्याख्या**— विभिन्न लौकिक उदाहरणों से प्रतीत होता है कि स्त्रियों का द्रव्य पर कोई स्वामित्व नहीं और बिना धन के यज्ञादि कर्म नहीं बन पड़ते। अत: स्त्रियों का यज्ञादि कर्मों में अनधिकार स्वत: सिद्ध होता है॥ ११॥

**प्रश्न उठता है कि स्त्रियाँ स्वयं परिश्रम व सेवा द्वारा धन उपार्जित करके यज्ञादि कर सकती हैं, फिर अधिकार क्यों नहीं ? अब इस आशङ्का को निरस्त करते हैं—**

**( ९५१ ) तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ**— तादर्थ्यात् = पति के लिए होने से, कर्मतादर्थ्यम् = स्त्री के कार्य भी पति के लिए ही होते हैं।

**व्याख्या**— चूँकि स्त्रियाँ पति के लिए होती हैं, अत: उनके द्वारा उपार्जित धन भी पति का ही होता है, उनके कार्य स्वतंत्र न होकर पति के अधीन होते हैं। इसलिए स्त्रियों को यज्ञादि कर्मों का अधिकार नहीं है॥ १२॥

**नोट— पूर्वकाल में पुरुष प्रधान समाज होने से धन पर पुरुषों का स्वामित्व रहा होगा, परन्तु वर्तमान समय में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही अर्थ से लेकर हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं, अत: उक्त नियम आज स्वत: औचित्यहीन हो गये हैं।**

**अब आचार्य सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले चार सूत्रों में करते हैं—**

**( ९५२ ) फलोत्साहाविशेषात् तु॥ १३॥**

**सूत्रार्थ**— फलोत्साहाविशेषात् = धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों के करने का उत्साह, तु = तो मनुष्यों की तरह स्त्रियों में भी पाया जाता है।

**व्याख्या**— स्त्रियों में भी तीक्ष्णबुद्धि देखी जाती है, जो कि वैदिक कर्मों के अधिकार से ही उपलब्ध होती है; क्योंकि बुद्धिगत सूक्ष्मता अथवा मेधा शक्ति धर्म विशेष का फल माना जाता है। वैशेषिक (१/१/२) में वर्णन आया है 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् सांसारिक उन्नति तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष अथवा मुक्ति यह दोनों ही धर्म के फल हैं और चूँकि लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति रूप उक्त दोनों ही परिणतियाँ स्त्रियों में भी पायी जाती हैं। मनुष्य जाति की होने के कारण स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं, तभी तो बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य के समक्ष मुक्ति विषयक जिज्ञासा प्रकट की थी। इस प्रकरण से सिद्ध होता है कि स्त्रियों में भी वैदिक कर्म करने की पिपासा एवं उत्साह पाया जाता है, जो कि यज्ञादि कर्मों को करने का उन्हें अधिकारी बनाता है॥ १३॥

**( ९५३ ) अर्थेन च समवेतत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, अर्थेन = अर्थ के साथ, समवेतत्वात् = सम्बन्ध पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** विवाह प्रकरण में पति-पत्नी दोनों के लिए यह उपदेश मिलता है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इस फल चतुष्टय का दोनों को मिलकर संचय करना है। इस प्रकार फल का सम्बन्ध प्राप्त होने से भी इस बात की स्पष्ट सिद्धि होती है कि स्त्रियों को भी अर्थ एवं यज्ञादि कर्मों का अधिकार है॥ १४॥

**( ९५४ ) क्रयस्य धर्ममात्रत्वम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** क्रयस्य = क्रय-विक्रय का, धर्ममात्रत्वम् = धर्म मात्र है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी ने जो यज्ञ में क्रय-विक्रय की बात कही थी, वह उसके लिए आवश्यक धर्म-क्रिया है; क्योंकि विक्रय उसे कहते हैं, जिसमें एक निश्चित द्रव्य लेकर ऊँच-नीच का विचार किये बिना कैसे भी दे दिया जाता है; परन्तु इसके विपरीत यहाँ वैदिक विधि द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों से आदर्श गृहस्थ धर्म का पालन करने तथा परस्पर एक दूसरे के विचारों का सम्मान करने एवं अनिष्ट चिन्तन से दूर रहने की प्रतिज्ञाएँ कराई जाती हैं। इस प्रकार इस वैदिक कर्मकाण्ड में कहीं भी क्रय-विक्रय का प्रसङ्ग नहीं आता॥ १५॥

**( ९५५ ) स्ववत्तामपि दर्शयति॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** स्ववत्तां = पति के स्वत्व वाली होना, अपि = भी, दर्शयति = शास्त्र में देखा जाता है।

**व्याख्या—** शास्त्र में दम्पती (पति-पत्नी) का एक ही धर्म बतलाया गया है, जो सिद्ध करता है कि स्त्रियाँ भी पति के धन की स्वामिनी हैं, अतः उनको भी अपने उस धन में से यज्ञादि कार्य करने का पूर्ण अधिकार है॥ १६॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य दम्पती के एक धर्म के सन्दर्भ में अन्य युक्ति कथन करते हैं—**

**( ९५६ ) स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, स्ववतोः = स्त्री-पुरुष दोनों के एक धर्म के बोधक, वचनात् = वचन प्राप्त होने से, ऐककर्म्यम् = एक समान कर्म करने का विधान स्यात् = है।

**व्याख्या—** शास्त्र में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य मिलने से एक समान कर्म का विधान है। यथा- 'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम में स्त्री को पृथक् नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रमाणित होता है कि यज्ञादि कर्मों में स्त्री-पुरुष दोनों का समान अधिकार है॥ १७॥

**अब आचार्य उक्त प्रसङ्ग में लिङ्ग कथन करते हैं—**

**( ९५७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = वैदिक वाक्यों में एक साथ कर्म करने का लिङ्ग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** श्रुतियों में ऐसा विधान मिलता है कि स्त्री-पुरुष दोनों के मिलकर एक कर्म करने से वह पूर्ण होता है, इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि स्त्रियों को भी यज्ञादि वैदिक कर्मों का पूर्ण अधिकार है॥ १८॥

**अब अर्थ की पुष्टि हेतु पुनः पूर्वपक्ष करते हैं—**

**( ९५८ ) क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** क्रीतत्वात् = क्रीत सेवकों जैसी, भक्त्या = गुण सम्बन्धिनी वृत्ति द्वारा, स्वामित्वम् = स्त्री का धन-स्वामिनी होना, उच्यते = कहा गया है, वास्तव में नहीं।

**व्याख्या—** जिस प्रकार स्वामी के धन-सम्पत्ति की सुरक्षा करने के कारण सेवक को भी धन का स्वामी कहा जाता है, परन्तु वास्तव में धन का स्वामी होता नहीं, उसी प्रकार स्वामी के धन की संरक्षक होने के कारण स्त्री को भी धन की स्वामिनी कहा तो जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। इससे सिद्ध होता है कि स्त्री धन की स्वामिनी नहीं, फिर उसे यज्ञादि कर्मों का अधिकार कैसे?॥ १९॥

**अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—**

**( ९५९ ) फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** फलार्थित्वात् = स्त्री धर्मरूप फल की कामना वाली होने से, तु = तो, स्वामित्वेन = उसका स्वामीपन से, अभिसम्बन्धः = धनादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जब स्त्री धर्मरूप फल को चाहती है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका धन आदि पदार्थों में स्वाधिकार नहीं; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप मानव जीवन के फलचतुष्टय की सामर्थ्य एवं आकांक्षा रखने के कारण स्त्री को यज्ञादि धार्मिक कर्मों का प्रमुखतया अधिकार है॥ २०॥

**अब प्रस्तुत प्रसङ्ग का उपपादन करते हुए आचार्य कहते हैं कि शास्त्र यज्ञादि कर्मों में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए फल का कथन करता है—**

**( ९६० ) फलवत्तां च दर्शयति॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, फलवत्ताम् = फल चतुष्टय की सफलता को, दर्शयति = शास्त्र दिखलाता है।

**व्याख्या—** शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर यज्ञादि वैदिक कर्मों को करने तथा उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल चतुष्टय को प्राप्त करने का कथन है। इससे सिद्ध होता है कि नर-नारी दोनों को ही यज्ञादि कर्मों का अधिकार है॥ २१॥



अब स्त्री पुरुष दोनों को साथ मिलकर यज्ञ करने में पूर्वपक्ष कहते हैं—

**( ९६१ ) द्व्याधानं च द्वियज्ञवत्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, द्वियज्ञवत् = जिस प्रकार दो राज पुरुषों के द्वारा द्वियज्ञ होता है, द्व्याधानम् = दो पुरुषों को अग्न्याधान करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष है कि द्वियज्ञ विधान में दो पुरुषों के अग्न्याधान करने का उल्लेख है, 'यथा एतेन द्वौ राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' अर्थात् स्वराज्य की कामना करने वाले राजा तथा पुरोहित दोनों साथ मिलकर यज्ञ करें, इसका नाम 'द्वियज्ञ' है॥ २२॥

**अब मीमांसाकार द्वारा अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है—**

**( ९६२ ) गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** गुणस्य = गुण के, विधानत्वात् = विधान करने से, तु = तो, द्वितीयशब्दः = दूसरा शब्द, पत्न्या =पत्नी के ग्रहण करने से, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' अर्थात् वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे। इस कथन में गुण का विधान करने से ब्राह्मणत्वादि धर्म मानकर स्त्री का भी ग्रहण है अर्थात् ब्राह्मणी भी अग्न्याधान करे। इसके अतिरिक्त द्विवचन से स्त्री-पुरुष दोनों के ग्रहण का तात्पर्य है न कि दो पुरुषों का। इस प्रकार यह सिद्ध है कि स्त्री भी अग्न्याधान की अधिकारी है॥ २३॥

**( ९६३ ) तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्य्यमतुल्यत्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—**अतुल्यत्वात् = पुरुष के समान योग्यता न रखने पर भी, तस्या = उस यजन करने वाली स्त्री को, यावदुक्तम् =जैसा शास्त्र में वर्णित है वैसा ही, आशीः = आशीर्वाद और, ब्रह्मचर्य्यम् = ब्रह्मचर्य करना पाया जाता है।

**व्याख्या—** शास्त्र में ऐसा वर्णन आता है कि यद्यपि स्त्रियाँ आशीर्वाद, ब्रह्मचर्य एवं वेदाध्ययन आदि में पुरुषों के समतुल्य योग्यता नहीं रखतीं, फिर भी उन्हें यज्ञ में अग्न्याधान का अधिकार है॥ २४॥

**अब अगले चार सूत्रों में ब्राह्मणादि वर्णों का यज्ञादि कर्मों में अधिकार की विवेचना करते हैं—**

**( ९६४ ) चातुर्वर्ण्यमविशेषात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = विशेषता के अभाव में, चातुर्वर्ण्यम् = चारों वर्णों को वैदिक कर्मों में अधिकार है।

**व्याख्या—** वैदिक कर्म वर्ण-चतुष्टय के लिए हैं, क्योंकि शूद्र वर्ण के भी हाथ-पैर आदि अवयव पाये जाते हैं, जैसे कि ब्राह्मणों के; फिर ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों में क्या विशेषता है?॥ २५॥

**उक्त विषय में अब पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है—**

**( ९६५ ) निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** त्रयाणाम् = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों का, क्रतुषु = यज्ञों, वा = और, अग्न्याध्येये = अग्न्याधान रूप कर्म में, निर्देशात् = सम्बन्ध है, हि= निश्चयपूर्वक, असम्बन्धः = शूद्र का उक्त कर्म में सम्बन्ध नहीं, ब्राह्मणश्रुतिः = क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों के अधिकार का ज्ञान कराने वाली श्रुति यही कहती है, इति = ऐसा, आत्रेयः = आत्रेय ऋषि की मान्यता, स्यात् = है।

**व्याख्या—** ब्राह्मणादि वर्णों का अधिकार बोध कराने वाली श्रुति का कथन है- 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, 'ग्रीष्मे राजन्यः' ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय और 'शरदिवैश्यः' शरद् ऋतु में वैश्य इस प्रकार शूद्र वर्ण के अतरिक्त अन्य तीनों वर्णों का श्रुति के अनुसार यज्ञादि कर्मों में अधिकार पाये जाने से सिद्ध होता है कि शूद्र को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं है, ऐसा आत्रेय ऋषि का मत है॥ २६॥

**अब उक्त विषय में मीमांसाकार बादरि ऋषि का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९६६ ) निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारम् स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** निमित्तार्थेन = नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है, तस्मात् = इस कारण, सर्वाधिकारम् = सबका अधिकार , स्यात् = है, बादरिः = बादरि ऋषि की ऐसी मान्यता है।

**व्याख्या—** वैदिक कर्मों का अधिकार योग्यता से प्राप्त होता है और वह योग्यता नैमित्तिकी अर्थात् किसी विशेष प्रयोजन को दृष्टि में रखकर अर्जित की गई हो, न कि स्वाभाविकी हो । इस प्रकार योग्यता वाले सभी व्यक्तियों का वैदिक कर्मों में अधिकार है, ऐसा बादरि ऋषि का मत है॥ २८॥

**अब उक्त अर्थ में अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९६७ ) अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यार्थदर्शनात् = लिङ्ग के पाये जाने, अपि वा = से सभी, यथाश्रुतिः = वर्णचतुष्टय का अधिकार, प्रतीयेत = प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** यजुर्वेद (२६/२) में कहा गया है- 'यथेमाम् वाचम् कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा वेदरूपी वाणी का सबको उपदेश करता है, उसी प्रकार बिना भेदभाव के तुम भी सब मनुष्यों को उपदेश करो। इस प्रकार श्रुति वचन से सिद्ध होता है कि श्रौत कर्मों का चारों वर्णों को अधिकार है॥ २८॥

**उक्त प्रसङ्ग में अब पूर्वपक्ष कहते हैं—**

**( ९६८ ) निर्देशात्तु पक्षे स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** निर्देशात् = पहले जैसा निर्देश से, तु = तो, पक्षे = ब्राह्मण आदि पक्ष में मत, स्यात् = पाया जाता है।

**व्याख्या—** वेदों में यज्ञादि कर्मों का अधिकार केवल वर्णत्रय के लिए ही निर्देशित है, शूद्र के लिए नहीं॥ २९॥

**( ९६९ ) वैगुण्यान्नेति चेत्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** वैगुण्यात् = शूद्र के लिए व्रत विधान होने से उसे, न = अधिकार नहीं, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** शास्त्रोक्त उपनयन विधि में स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण दूध द्वारा, क्षत्रिय यवागू (जौ) द्वारा तथा वैश्य आमिक्षा (छेना) द्वारा व्रतानुष्ठान करते हुए उपनयन करे। इस प्रकार शूद्र के लिए व्रत न पाये जाने से उन्हें ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं हो सकता॥ ३०॥

**मीमांसाकार उक्त विषय में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९७० ) न काम्यत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** काम्यत्वात् = शूद्रों में भी कामना पायी जाने से, न = उक्त कथन ठीक नहीं।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि चूँकि शूद्रों में भी कामना पाई जाती है और कामना ही अधिकार का सूचक है, इसलिए उनका भी यज्ञादि कर्मों में अधिकार सिद्ध होता है॥ ३१॥

**अब ब्राह्मण आदि वर्णों में संस्कार की विशेषता कहते हैं—**

**( ९७१ ) संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारे = संस्कारों में, तत् = ब्रह्म जिज्ञासा की, प्रधानत्वात् = प्रधानता होने से, च = भी (अधिकार बनता है)।

**व्याख्या—** ब्रह्मविद्या में प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मण, धर्म-रक्षा की विशेषता के कारण क्षत्रिय, धन के रक्षण की विशेषता के कारण वैश्य में संस्कारों की प्रधानता है और शूद्र भी अपनी योग्यता प्रमाणित करके वैदिक कर्मों और उपनयन का अधिकारी बन सकता है, अन्यथा नहीं॥ ३२॥

**अब अगले दो सूत्रों में पुनः पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९७२ ) अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, वेदनिर्देशात् = वेद के निर्देशानुसार, अपशूद्राणाम् = शूद्र से रहित वर्णत्रय का अधिकार है, प्रतीयेत = प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी पुनः आशङ्का करता है कि वेदों के वचन से ही ऐसा संकेत मिलता है कि शूद्रों को इस प्रकार का अधिकार नहीं है। यजुर्वेद (३१/११) मंत्र 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में शूद्र को पादस्थानीय बतलाया गया है, इससे पता चलता है कि वर्णत्रय से नीचा होने के कारण शूद्र वैदिक कर्मों का अधिकारी नहीं हो सकता॥ ३३॥

**( ९७३ ) गुणार्थित्वान्नेति चेत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** गुणार्थित्वात् = गुण का अर्थी होने से, न = शूद्र को अधिकार नहीं, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** शूद्रों को वैदिक कर्मों का अधिकारी न मानने वाले यह तर्क देते हैं कि उपनयन संस्कार न होने के कारण शूद्र वैदिक कर्मों का अधिकारी नहीं। यदि यह कहें कि जिज्ञासु होने से शूद्र के लिए यज्ञादि का निषेध नहीं, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि बिना उपनयन के किसी को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं॥ ३४॥

**अब उक्त विषय में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९७४ ) संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारस्य = उपनयन आदि संस्कार, तदर्थत्वात् = विद्या के लिए होने से, विद्यायाम् = विद्या विषयक, पुरुषश्रुतिः = पुरुष के अधिकार का कथन है।

**व्याख्या—** उपनयन आदि संस्कार विद्या के लिए किये जाते हैं न कि किसी स्वतन्त्र फल के लिए, अत: विद्याध्ययन की सामर्थ्य वाले सभी पुरुष के लिए इसके अधिकार का कथन है। इससे शूद्र के लिए भी वैदिक कर्म का अधिकार सिद्ध होता है॥ ३५॥

**अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी पुन: आशङ्का प्रकट करते हैं—**

**( ९७५ ) विद्यानिर्देशान्नेति चेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** विद्यानिर्देशात् = विद्या का कथन वर्णत्रय में पाये जाने से, न = शूद्र को अधिकार नहीं, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** शास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णत्रय के लिए ही वेदाध्ययन का कथन पाया जाता है, शूद्र के लिए नहीं। इससे सिद्ध होता है कि शूद्रों को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं है॥ ३६॥

**अब मीमांसाकार अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९७६ ) अवैद्यत्वादभाव: कर्मणि स्यात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** अवैद्यत्वात् = विद्या में रुचि न होने से, कर्मणि = उपनयन कर्म में, अभाव: = अभाव, स्यात् = है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि शूद्र कोई जाति विशेष नहीं, अपितु असंस्कृत व्यक्ति को ही शूद्र कहा जाता है अर्थात् जिसकी प्रकृति में विद्यार्जन की सामर्थ्य न हो, वही शूद्र है। ऐसे व्यक्ति का उपनयन संस्कार न करने के पीछे तथ्य यह है कि प्रवृत्ति न होने से वह कर्म निरर्थक होगा। तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति विद्या की सामर्थ्य अर्जित करके ब्राह्मणादि धर्मों की योग्यता और लाभ का अधिकारी बन सकता है। अस्तु, विद्या सामर्थ्य के अभाव के आधार पर वैदिक कर्मों के अभाव का कथन किया गया है, न कि जन्म अथवा जाति के आधार पर॥ ३७॥

**( ९७७ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = इसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य उदाहरण देखा जाता है।

**व्याख्या—** इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल को योग्यता के आधार पर वैदिक कर्म का अधिकारी मान लिया गया था। जन्म से ही जाति का निर्धारण होता, तो रथकार को अग्न्याधान का अधिकार न दिया जाता। अत: इस अधिकार से भी पता चलता है कि शूद्र कोई जाति विशेष नहीं, अपितु अविकसित पुरुष का नाम ही शूद्र है॥ ३८॥

**अब यज्ञादि कर्मों में निर्धन के अधिकार निरूपण हेतु पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( ९७८ ) त्रयाणां द्रव्यसम्पन्न: कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** त्रयाणाम् = तीनों वर्णों में से, द्रव्यसम्पन्न: = धन सम्पन्न व्यक्ति को ही अग्न्याधान का अधिकार है, कर्मण: = क्योंकि कर्मों की , द्रव्य सिद्धित्वात् = धन रूपी साधन द्वारा सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष है कि तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में से अग्न्याधान का अधिकार केवल धन-सम्पन्न व्यक्ति को ही है; क्योंकि यज्ञादि कर्मों की सिद्धि द्रव्यरूप साधन से ही होती है। अत: निर्धन व्यक्ति वैदिक कर्मों का अधिकारी नहीं हो सकता॥ ३९॥

**अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९७९ ) अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोग:॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यसंयोग: = द्रव्य संयोग की, अनित्यत्वात् = अनित्यता से, हि = निश्चित ही, न एवं स्यात् = ऐसा नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— धनी अथवा गरीब होना स्थाई बात नहीं। गरीब व्यक्ति भी अर्थोपार्जन करके धनवान् हो सकता है तथा जिसको परम्परा से उपार्जित विपुल धन मिल जाता है, वह भी निर्धन हो सकता है। अत: निर्धनता की अवस्था अनित्य है। अत: हर व्यक्ति अग्न्याधान का अधिकारी है॥ ४०॥

**अब अङ्गहीन पुरुष का यज्ञ में अधिकार कथन करते हैं—**

**( ९८० ) अङ्गहीनश्च तद्धर्मा॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ**— अङ्गहीन: = अङ्गहीन पुरुष, च = भी, तद्धर्मा = यज्ञधर्म वाला है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार सामर्थ्य के आधार पर वेदाध्ययन आदि कर्मों में शूद्र को भी अधिकार है उसी प्रकार अङ्गहीन पुरुष को भी यज्ञादि वैज्ञानिक कर्मों का अधिकार है॥ ४१॥

**अब पूर्वपक्ष द्वारा आशङ्का व्यक्त किये जाने पर कि अङ्गहीन व्यक्ति का वेदाध्ययन में अधिकार कैसे हो सकता है? मीमांसाकार समाधान करते हैं—**

**( ९८१ ) उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ**— उत्पत्तौ = धर्मादिकों की उत्पत्ति में , नित्यसंयोगात् = जीवात्मा का सम्बन्ध देखा जाता है।

**व्याख्या**— धर्म कार्य का सम्बन्ध जीवात्मा से होता है और जीवात्मा की विद्यमानता सबमें पायी जाती है, अत: सिद्ध है कि वेदाध्ययन का अधिकार अङ्गहीन पुरुष को भी है॥ ४२॥



**अब यज्ञ में प्रवरों वाले ऋत्विक् का वरण कथन करते हैं—**

**( ९८२ ) अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ**— अत्र्यार्षेयस्य = जिसके तीन ऋषि न हों ऐसे पुरुष का, हानम् = यज्ञ में (अनधिकार), स्यात् = है।

**व्याख्या**— 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' के अनुसार जिस ऋत्विक् ने तीन ऋषियों अर्थात् माता, पिता और आचार्य से शिक्षा पाई हो, वही यज्ञ कराने का अधिकारी है तथा उक्त तीनों की शिक्षा से रहित ऋत्विक् यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं है॥ ४३॥

**अब रथकार का यज्ञादि वैदिक कर्मों में अधिकार कथन करते हैं—**

**( ९८३ ) वचनाद्रथकारस्याधानेऽस्य सर्वशेषत्वात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ**— रथकारस्य = रथकार के, आधाने = अग्न्याधान करने में, वचनात् = ब्राह्मण वाक्य पाये जाने से, अस्य = वह अग्न्याधान का अधिकारी है, सर्वशेषत्वात् = क्योंकि वह तीनों वर्णों का अङ्ग है।

**व्याख्या**— रथकार के लिए अग्न्याधान करने का अधिकार ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है; क्योंकि शिल्पकर्म सब कर्मों का अङ्गभूत है। यज्ञादि कर्मों के लिए ब्राह्मण को, शस्त्रों के लिए क्षत्रिय को तथा कृषि कर्म हेतु वैश्य को शिल्प विद्या की आवश्यकता पड़ती ही है। अत: तीनों वर्णों का अङ्ग होने के कारण शिल्पकर्मी रथकार अग्न्याधान का अधिकारी है॥ ४४॥

**अब सूत्रकार उक्त प्रसङ्ग में युक्ति कथन करते हैं—**

**( ९८४ ) न्याय्यो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ**— न्याय्य: = उक्त कथन उचित है, कर्मसंयोगात् = क्योंकि उसका कर्म के साथ संयोग मिलता है वा = और, शूद्रस्य = शूद्र को, प्रतिषिद्धत्वात् = निषेध किया गया है।

**व्याख्या**— उक्त कथन उपयुक्त है। 'वर्षासु रथकार आदधीत' इस वाक्य में वर्षाकाल में रथकार के लिए अग्न्याधान करने का निर्देश कथन पाये जाने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि शिल्पकर्म शूद्र का नहीं अर्थात् रथकार शूद्र नहीं हैं॥ ४५॥

**पूर्वपक्ष के इस आशङ्का का, कि शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार क्यों नहीं? सूत्रकार समाधान करते हैं—**

## ( ९८५ ) अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए आया है, अकर्मत्वात् = शूद्र अकर्मा है, एवं = इसलिए उसको, न = अधिकार नहीं, स्यात् = है।

**व्याख्या—** शूद्र अग्न्याधान का अधिकारी नहीं; क्योंकि वह अकर्मा है अर्थात् वह स्वेच्छा से, स्वसंकल्प से कर्म नहीं करता॥ ४६॥

**अब उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ९८६ ) आनर्थक्यं च संयोगात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** ब्राह्मण आदि का वसन्तादि काल नियत होने से उनके साथ, संयोगात् = वर्षा ऋतु का संयोग करने से, आनर्थक्यम् = 'वर्षासु रथकार आदधीत' वचन की अनर्थकता, च = भी होगी।

**व्याख्या—** ब्राह्मणादि वर्णत्रय के लिए अग्न्याधान का काल वसन्त आदि नियत है, फिर उनके (शूद्र के) प्रति वर्षाकाल का संकेत होने से संयोग न पाये जाने के कारण (वर्षा ऋतु में अग्न्याधान का औचित्य न होने के कारण) अनर्थकता को प्राप्त होगा। अत: रथकार त्रैवर्णिक नहीं हो सकता॥ ४७॥

**अब पूर्वपक्ष द्वारा उक्त सिद्धान्त में पुन: आशङ्का प्रकट की जाती है—**

## ( ९८७ ) गुणार्थेनेति चेत्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** गुणार्थेन = गौण प्रयोजन से अर्थात् आपात्‌काल में त्रैवर्णिक के रथकार (जीविका के लिए रथ बनाने वाला) होने से उसका आधान जाना जायेगा, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** यदि ऐसा समझा जाता है कि त्रैवर्णिक रथकार नहीं है, उसका शिल्प जीवन प्रतिषिद्ध है, तो गौण प्रयोजन से कोई रथकार होगा। आपत्तिकाल में यह रथ-शिल्प ही उसकी जीविका का साधन होगा। अत: उस त्रैवर्णिक रथकार का यह अग्न्याधान जाना जाता है॥ ४८॥

**यहाँ रथकार शब्द का प्रमुख अर्थ रथ-शिल्प से जीविका प्राप्त करने वाला होने के बावजूद आपात्काल में कोई त्रैवर्णिक रथ बनाकर जीवनयापन करने वाला होगा,तो उसका रथ-शिल्प गौण प्रयोजन है—**

## ( ९८८ ) उक्तमनिमित्तत्वम्॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—**अनिमित्तत्वम् = जन्म से जाति मानने में कोई निमित्त नहीं, उक्तम् = यह बात पूर्व में कह दी गई है।

**व्याख्या—** शूद्र की योग्यता विकास से उसमें शूद्रत्व के अभाव की स्थिति में वह उपनयनादि का अधिकारी बनता है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार शूद्र कोई जाति नहीं, अपितु अविकसित व्यक्ति ही शूद्र माना जाता है।

**अब सौधन्वना को ब्राह्मणादि से श्रेष्ठ न मानने की समीक्षा करते है—**

## ( ९८९ ) सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** सौधन्वना: = सुन्दर धनुषधारी क्षत्रिय लोग, तु = तो, मंत्रवर्णात् = वेद से तथा, हीनत्वात् = ब्राह्मणों से न्यून, प्रतीयेरन् = प्रतीत होते हैं।

**व्याख्या—** यद्यपि शस्त्रों से सुसज्जित क्षत्रिय को सभी का रक्षक होने के कारण सर्वोत्तम मानना चाहिए, तथापि वेद ने 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत (यजु. ३१/१२) कहकर ब्राह्मण को मुखस्थानीय बतलाते हुए जिस ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान दिया सौधन्व उनसे श्रेष्ठ कैसे हो सकता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग-अवयवों में मस्तिष्क का स्थान सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता परमार्थी ब्राह्मण, क्षत्रियादि सभी वर्णों से श्रेष्ठ एवं उत्तम हैं; क्योंकि सबको सुमति देकर शुभ कल्याणकारी मार्ग दिखाने का परमपुण्यदायी कार्य ब्राह्मण का ही है। अत: क्षत्रिय को सर्वोपरि मानना उचित नहीं लगता॥ ५०॥

**अब अगले दो सूत्रों में नौकाचालन करने वाले निषाद हेतु यज्ञ में अधिकार का निरूपण करते हैं—**

**( ९९० ) स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दसामर्थ्यात् = शब्द की सामर्थ्य से, स्थपतिः = तक्षक, निषादः = मल्लाह, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत' इस वचन से स्पष्ट है कि इस इष्टि के माध्यम से निषाद-स्थपति से ऋत्विक् यजन कराये। उक्त कथन में स्थपति शब्द से नौका निर्माता मल्लाहों के ग्रहण का निर्देश है, अन्य का नहीं, यह बात शब्द-सामर्थ्य से प्रमाणित होती है॥ ५१॥

**( ९९१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के दर्शन से, च = भी (ऐसा ही पाया जाता है)।

**व्याख्या—** 'कूटं दक्षिणा' अर्थात् कूट दक्षिणा है। धूर्तस्वामी ने आप० श्रौत में 'कूटम्' का अर्थ वस्तु किया है। इसकी वृत्ति में रामाग्निचित् ने 'कृतकं वस्तु कूटम्' लिखा है। रुद्रदत्त ने 'निषादस्य मृगघातकवृत्तेः स्वकर्मार्थसाधनविशेषः कूटम्' लिखा है, इस वाक्य में 'कूट' पद का कथन सम्भव है, मछलियाँ मारने हेतु जो काँटा प्रयुक्त होता है उसके लिए हो; क्योंकि मृगहनन के सन्दर्भ में बाण विशेष होगा। इस प्रकार 'कूट' निषादों के 'वस्तु' के रूप में वर्णित किया गया है, अतः लिङ्गनिर्देश से पाया जाता है कि स्थपति शब्द से तक्षक-निषादों का ही ग्रहण है, अन्य का नहीं।

इस प्रकार महर्षि जैमिनि के मतानुसार वैदिक वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत शिल्पकर्मी रथकारों तथा नौका निर्माता एवं चालक निषादों को भी यज्ञादि वैदिक कर्मों का अधिकार है; जबकि पौराणिकों ने रथकार एवं निषाद को त्रैवर्णिकों से बाहर माना है॥ ५२॥

**पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवेचन जन्मना वर्ण व्यवस्था मानकर समझनी चाहिए; जबकि वैदिक मतानुसार वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव पर अवस्थित है। वेदाध्ययन का सामान्यतया सभी को अधिकार होने पर भी; गुण, कर्म स्वभाव से व्यवस्था मानने पर भी जो व्यक्ति पढ़ाने से भी न पढ़ सके, वह शूद्र है। शूद्र के वेदाध्ययन के निषेध करने का इतना ही तात्पर्य है।**

**॥ इति षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥**

# ॥ अथ षष्ठाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**इस द्वितीय पाद में आचार्य अपने-अपने वर्णानुसार जीव का कर्त्तव्य और ब्रह्म आदि कई विषयों का निरूपण करते हुए प्रथम पुरुष की अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्ति कथन करते हैं—**

**( ९९२ ) पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् = पुरुष का अर्थ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार फलों की सिद्धि मनुष्य जन्म का उद्देश्य होने से, तस्य-तस्य = अपने-अपने वर्ण का, अधिकारः = अधिकार, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** मनुष्य जन्म का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप फलचतुष्टय की सिद्धि है। अतः इनकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक वर्ण वाले को अपने-अपने अधिकार के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिए। उन्हीं आधारों पर उन्हें चारों फलों की प्राप्ति हो सकती है॥ १॥

**पूर्वपक्ष आशङ्का व्यक्त करता है कि उपनयन की अवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादि की योग्यता का निर्धारण जन्म आधारित वर्णव्यवस्था के अनुसार हो अथवा कर्म पर आधारित हो। आचार्य यही समाधान करते हैं—**

**( ९९३ ) अपि चोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथाभावो ऽविभागे स्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि च = और भी (प्रमाण है कि), उत्पत्तिसंयोगात् = उत्पत्ति काल के संयोग से, सत्त्वदर्शनम् = अंतःकरण की बनावट, यथा = जैसी, स्यात् = होती है, तथा = वैसा ही, भावः = भाव, विभागे = वर्ण के भेद में हेतु, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** जन्म काल के संयोग से अंतःकरण का निर्माण जैसा हो जाता है, उसी के अनुरूप वर्णभेद भी हो जाता है। जैसे जो बालक उपनयन संस्कार की अवस्था तक मेधावी पाये जाते हैं, वे ब्राह्मण, शौर्य गुण वाले क्षत्रिय, व्यापारबुद्धि वाले वैश्य और नितान्त प्राकृत गुण वाले शूद्र माने जाते हैं। अतः गुण कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का निर्धारण प्रकृतिसिद्ध है। गीता में भगवान् कृष्ण का कथन- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (गीता ४.१३) तथा श्रुति के कथन 'तमेव ऋषिं तमुब्रह्माणम्' (ऋ. ८/६/४) के अनुसार भी गुण-कर्मानुसार वर्णों का विभाजन है, जन्म से नहीं॥ २॥

**अब आचार्य कर्म के अनुष्ठान में पुरुष की स्वाधीनता का कथन करते हैं—**

**( ९९४ ) प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगे = कर्म के अनुष्ठान में, पुरुषश्रुतेः = स्वर्ग आदि की कामना करने वाले पुरुष की कर्त्तारूप से श्रुति का कथन पाये जाने से, प्रयोगे = कर्मों में, यथाकामी = पुरुष का स्वतन्त्र होना, स्यात् = पाया जाता है।

**व्याख्या-** 'स्वर्गकामो यजेत्' वाक्य श्रुति वचन है। उक्त वाक्य में पुरुष की कामना में स्वतन्त्रता पाये जाने से यह सिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है॥ ३॥

**अब पूर्वपक्ष उक्त अर्थ में आशङ्का व्यक्त करता है—**

**( ९९५ ) प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रत्यर्थं = प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए, श्रुतिभावः = कर्त्तारूप से श्रवण का सद्भाव पाया जाता है,चेत् = यदि, इति = ऐसी आशङ्का की जाये, तो?

**व्याख्या—** वेद में मनुष्य को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र माना गया है, परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता है; क्योंकि लोकमें वह अनेक कार्यों में परतन्त्र दिखाई देता है। अतः मनुष्य को सर्वथा स्वतन्त्र मानना उचित नहीं॥ ४॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९९६ ) तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानभूतत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** अनुक्ते = उक्ति न पाये जाने से, अर्थान्तरत्वात् = अपसिद्धान्त आ जाने से और, कर्तुः = कर्त्ता के, प्रधानभूतत्वात् = प्रधान होने से, तादर्थ्ये = कर्त्तव्य कर्म में, गुणार्थता = पुरुष के गौण अर्थ, न = नहीं पाये जाते।

**व्याख्या—** 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (अष्टा. १/४/५४) में कर्त्ता को स्वतन्त्र मानने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है; परन्तु कर्मफल भोगने में परतन्त्र है। समस्त कर्मों के कर्तृत्व का गौण प्रयोग है, प्रधानतया कर्तृत्व कर्त्तव्य कर्मों में है, न कि भोगने में। अतः प्रमाणित होता है कि कर्त्ता रूप में मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है; केवल उस कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है॥ ५॥

**( ९९७ ) अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत**
**प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणवत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी प्रमाण है, विषाणवत् = जैसे सींग की तरह लकड़ी विशेष से अंग खुजलाने की विधि गौण है, विधिश्रुतिः = वैसे ही विधि का श्रवण होता है, प्रत्यर्थं = कर्मों के विधान का कथन गौण है मुख्य नहीं, हि = क्योंकि निश्चय करके जीव का कर्तृत्व, कामसंयोगे = कर्त्तव्य कर्मों का संयोग जिसमें है, सम्बन्धात् = सम्बन्ध पाये जाने से, प्रयोगाय = उन कर्मों के पुरुष की प्रवृत्ति के लिए कर्त्ता का, उपदिश्येत = स्वर्गकामो यजेत इत्यादि उपदेश है, योग्य कर्मों के लिए नहीं।

**व्याख्या—** जिस प्रकार सींग आदि साधन के सहारे खुजलाने की क्रिया में विधि प्रमुख नहीं, अपितु गौण है अर्थात् चाहे सींग विशेष से देह को रगड़े अथवा फिर किसी अन्य साधन से। इसी प्रकार मनुष्य कर्म करने में परतन्त्र नहीं अर्थात् करे, न करे अथवा अन्यथा करे, उसमें हर तरह से स्वतन्त्र है, परन्तु भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार सिद्ध है कि पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है॥ ६॥

**पूर्वपक्ष द्वारा अब यह बात शङ्का की जाती है कि दूसरों के कर्म का फल भी भोगना पड़ सकता है—**

**( ९९८ ) अन्यस्य स्यादिति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यस्य = अन्य पुरुषों के कर्मों का फल, स्यात् = होता है, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** अन्य पुरुष के द्वारा किये गये कर्मों का फल किसी अन्य को मिलता है। जिस प्रकार जगत् में अन्य किसी के द्वारा प्रदत्त धन से अन्य कोई धन-सम्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार परलोक में भी पुत्रादिकों के द्वारा किये हुए कर्मों का फल पितरों को मिलता है, यदि यह बात कहो, तो ठीक नहीं॥ ७॥

**अब मीमांसाकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( ९९९ ) अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यार्थे = अन्य पुरुष के कर्मों का फल, अभिसम्बन्धः = अन्य पुरुष को प्राप्त, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** जो पुरुष कर्म का कर्त्ता होता है, उसी व्यक्ति को उसके उस किये हुए कर्म का फल भी भोगना पड़ता है, अन्य के द्वारा किये हुए कर्मों का फल किसी अन्य को नहीं मिल सकता॥ ८॥

**पूर्वपक्ष द्वारा उक्त सन्दर्भ में अब और आशङ्का की जाती है—**

**( १००० ) फलकामो निमित्तमिति चेत्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** फलकामः = किसी अन्य के लिए फल की कामना कर लेना ही, निमित्तम् = अन्य के लिए फल का निमित्त हो सकता है, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** जब किसी अन्य के हेतु से मनुष्य कोई कार्य करता है, तो उसका फल अन्य को प्राप्त होता है; क्योंकि वह कर्म अपने लिए किये जाने की भावना से न होकर अन्य के निमित्त से किया गया होता है, अतः यदि उक्त बात की सिद्धि मानी जाए तो?॥ ९॥

**अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १००१ ) न नित्यत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** नित्यत्वात् = परमात्मा का नियम सुनिश्चित होता है, न = अत: उक्त नियम ठीक नहीं।

**व्याख्या—** ईश्वर का यह सुनिश्चित विधान देखा जाता है कि कर्त्ता को ही स्वयं के कर्मफल की प्राप्ति होती है, किसी अन्य को नहीं। इस नियम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ सकता॥ १०॥

**अब पूर्वपक्ष द्वारा उक्त विषय में पुन: आशङ्का की जाती है—**

**( १००२ ) कर्म तथेति चेत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** कर्म = प्रत्यक्ष कर्मों में, तथा = ऐसे कर्म पाये जाते हैं, चेत् = यदि, इति = ऐसा माना जाये, तो।

**व्याख्या—** जिस प्रकार लौकिक जगत् में पाया जाता है कि एक व्यक्ति स्वयं द्रव्य उपार्जित करके दूसरे व्यक्ति को प्रदान कर देता है, उसी प्रकार पारलौकिक जगत् में भी किसी अन्य व्यक्ति के कर्मों का परिणाम अन्य किसी को मिलना चाहिए, यदि ऐसा माना जाये, तो ?॥ ११॥

**अब आचार्य उक्त प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १००३ ) न समवायात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** समवायात् = अपने कर्मों के साथ जीव का सम्बन्ध पाये जाने से, न = उक्त कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** जीव का स्वयं के कर्मों के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है, अन्य के साथ नहीं। पूर्वोक्त सूत्र में दिया गया यह दृष्टान्त कि लौकिक जगत् में एक के द्वारा उपार्जित धन दूसरे को प्राप्त हो जाता है, उचित नहीं; क्योंकि उसके भोग रूपी फल का हेतु वह धन उस व्यक्ति के स्वयं के शुभ कर्मों के बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं। भोग की दशा संचित शुभ कर्मों के आधार पर ही शक्य होगी, अन्यथा वह धन बिना भोग के नष्ट हो जाता है अथवा कोई रोग विशेष उत्पन्न हो जाने की स्थिति में उसको भोग ही नहीं सकता। उक्त मान्यता के आधार पर तो अकृताभ्यागम अर्थात् अकृत कर्म के फल प्राप्ति का दोष आ जाता है। ऐसे में दूसरे का पुण्य ही नहीं; बल्कि पाप भी दूसरे को मिलेगा और तब जीव बिना कुछ किये ही पुण्यात्मा और पापात्मा बन जायेगा। ऐसा होना ईश्वरीय विधान के सर्वथा प्रतिकूल है। अत: कर्मफल की पूर्वोक्त मान्यता उचित नहीं जान पड़ती। जीव स्व-प्रारब्ध का भोक्ता सिद्ध होता है॥ १२॥

**अब पूर्वपक्ष आशङ्का प्रकट करता है कि यदि प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता ही भोग का आधार माना जाएगा, तब तो जीव के कर्म स्वतन्त्र न होकर प्रारब्ध कर्मों के अधीन ही होंगे। मीमांसाकार इस शङ्का का समाधान करते हैं—**

**( १००४ ) प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** 'तु ' शब्द पूर्वपक्ष की उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिए आया है, प्रक्रमात् = प्रारब्ध कर्म अपने भोग रूप फल को प्रकट करके, नियम्येत् = नियम कर देते हैं कि अन्य का भोग न हो और जो, आरम्भस्य = वर्तमान काल के कर्म हैं, उनके आरम्भ में, क्रियानिमित्तत्वात् = जीव का कर्त्तव्य रूप कर्म निमित्त है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि प्रारब्ध कर्म क्रियमाण कर्मों के हेतु न होकर मात्र भोगरूप फल को प्रदान करने के हेतु होते हैं, अत: वे जीव को कर्म में परतन्त्र नहीं बनाते। यदि प्रारब्ध कर्म ही भविष्य के शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी होते, तब तो श्रेष्ठ प्रारब्ध कर्मों वाले निरन्तर अच्छे ही अच्छे होते चले जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत प्राय: ऐसा देखा जाता है कि हीन प्रारब्ध वाले भी अपने श्रेष्ठ कर्म के आधार पर उत्तम स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और श्रेष्ठ प्रारब्ध वाले भी अपने नीच कर्म के आधार पर निम्नस्थिति वाले हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में स्वतन्त्र तथा प्रारब्ध कर्मों को भोगने में परतन्त्र है॥ १३॥

**अब उक्त प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष द्वारा और आशङ्का व्यक्त की जाती है—**

**( १००५ ) फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथाऽनुपक्रान्ते॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** फलार्थित्वात् = प्रारब्ध कर्मों का भोक्ता, वा = भी, भोग-कर्मों का अर्थी होने से, यथा अनुपक्रान्ते = एक के बाद एक उपक्रम चलने से, अनियम: = क्रियमाण कर्मों की स्वतन्त्रता का नियम नहीं।

**व्याख्या—** कर्त्ता (जीव) द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कर्म वस्तुत: प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए ही होता है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों के भोग के अतिरिक्त वर्तमान कर्मों का अन्य कोई प्रयोजन स्पष्ट न होने से यह सिद्ध होता है कि जीव को कर्म की स्वतन्त्रता नहीं॥ १४॥

**अब आचार्य उक्त विषय में पूर्वपक्ष की आशङ्का का समाधान करते हैं—**

**( १००६ ) नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्त्तुस्तत्कारणं स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** नियम: = नियमानुसार, तत् = क्योंकि वह (क्रियमाण कर्म), निमित्तत्वात् = प्रारब्ध कर्मों के भोग में केवल निमित्तमात्र है और, कर्त्तु: = कर्त्ता के भोग के, तत् = वह कर्म, कारणम् = कारण, स्यात् = है।

**व्याख्या—** ईश्वर के जगत् में इस बात की व्यवस्था है कि जीव कर्त्तव्य कर्मों को स्वतन्त्र ढंग से करता है; क्योंकि वे क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग में निमित्त मात्र हैं और कर्ता के भोग के कारण वे कर्म हैं॥ १५॥

**अब अगले दो सूत्रों में वेद के समकक्ष कर्म की सप्रयोजनता के लिए पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत है—**

**( १००७ ) लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** लोके = लोक में, कर्माणि = कर्म, वेदवत् = वेद के तुल्य हैं, तत: = उनसे, अधिपुरुषज्ञानम् = ईश्वर का ज्ञान होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष कहता है कि संसार में जब कर्म विधि-निषेध रूप होते हैं, तो वही वेद रूपक होते हैं और उन्हीं कर्मों से परमात्मा-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा, फिर वेद को मानने से क्या प्रयोजन?॥ १६॥

**( १००८ ) अपराधेऽपि च तै: शास्त्रम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अपराधे = नियमभंग रूप भूल होने पर, तै: = सांसारिक लोगों द्वारा, शास्त्रम् = जिस प्रकार शास्त्र बनाया जाता है तदनुसार, अपि = भी, वेद की कोई आवश्यकता नहीं।

**व्याख्या—** जिस प्रकार नियम भङ्ग रूप कोई अपराध होने पर लोक में उसके लिए दण्ड देने वाला शास्त्र पाया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के धर्म विषयक-प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमूलक कार्यों के लिए लौकिक शास्त्र द्वारा व्यवस्था हो सकती है, अत: वेदों को मानने की क्या आवश्यकता है॥ १७॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त विषय में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १००९ ) अशास्त्रा तूपसम्प्राप्ति: शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादर्थेन,**
**गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** उपसंप्राप्ति: = ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति, अशास्त्रा = वेद के बिना ही हो जानी चाहिए, परन्तु होती नहीं, शास्त्रम् = वेद रूप शास्त्र का मानना, स्यात् = (उचित) है, प्रकल्पकम् = केवल तर्क द्वारा कल्पना करने वाला, न = नहीं, तस्मात् = इसलिए, अर्थेन = अर्थ से, गम्येत् = पाया जाता है कि, अप्राप्ते = इन्द्रियों से अगोचर विषय में, शास्त्रम् = वेद रूप शास्त्र, अर्थवत् = अर्थवाला है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार उत्तर देते हैं कि इन्द्रियों से अगोचर विषयों का ज्ञान वेद रूप शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है, अन्य से नहीं। यदि ईश्वर और पारलौकिक विषयों का ज्ञान स्वत: हो जाता, तो फिर शास्त्र को न मानने की बात कही जा सकती थी, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतएव वेद-शास्त्र को मानना ही पड़ेगा॥ १८॥

**( १०१० ) देवताश्रये च॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, देवताश्रये = शास्त्र का ज्ञान देवता का आश्रय प्राप्त करने पर ही हो सकता है।

**व्याख्या—** देवता शब्द का अभिप्राय यहाँ ईश्वर से है। ईश्वर के आश्रय के बिना शास्त्र कदापि अर्थ वाला नहीं हो सकता। अत: इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त सोलहवें सूत्र में अधिपुरुष शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसका उपसंहार यहाँ देवता शब्द से किया गया है॥ १९॥

**अब निषिद्ध कर्मों में क्रिया का निषेध कथन करते हैं—**

**( १०११ ) प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—**प्रतिषेधेषु = निषेध के विषयभूत पदार्थों में, अकर्मत्वात् = कर्त्तव्याभावरूप, क्रिया = क्रिया, स्यात् = कर्त्तव्य है, प्रतिषिद्धानाम् = क्योंकि निषिद्ध कर्मों का, अकर्मणाम् = अकर्त्तव्य कर्म, विभक्तत्वात् = निन्दित पाये जाते हैं।

**व्याख्या—** अथर्ववेद (६/७/१) में कहा है- 'यथा मांसम् यथा सुरा'। उक्त प्रकार के श्रुति कथनों से निन्दित वस्तुओं का विभाग पाया जाता है। अत: निषिद्ध निन्दित पदार्थों और कर्मों की अकर्त्तव्यता (निषेध) का प्रबोधन शास्त्र करता है॥ २०॥

**अब शास्त्र के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप अर्थ का विधायक होने का वर्णन किया जाता है—**

**( १०१२ ) शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसमवायित्वात् तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** शास्त्राणाम् = शास्त्रों की जो, अर्थवत्त्वेन = अर्थवत्ता है उससे, पुरुषार्थः = पुरुष का अर्थ, विधीयते = विधान किया गया है, तयोः = शास्त्र और पुरुष दोनों के अर्थ का, असमवायित्वात् = परस्पर सम्बन्ध न होने से, तादर्थ्ये = शास्त्र के अर्थ में, तु = तो, विध्यतिक्रमः = विधि का अतिक्रमण हो जाता है।

**व्याख्या—** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप इस फलचतुष्टय का विवेचन करने में शास्त्र की उपयोगिता है तथा उक्त अर्थ को हृदयङ्गम करने से ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। यदि शास्त्र इस प्रकार का उपदेश नहीं करता, तो उसके प्रमाण का अतिक्रमण हो जाता है। कथन का अभिप्राय यह है कि विधि-निषेध प्रसङ्ग में शास्त्र, अर्थ वाली वस्तुओं का विधायक है, निरर्थकों का नहीं॥ २१॥

**अब शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान का समर्थन करते हैं—**

**( १०१३ ) तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्त्तेरन्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** 'तु' शब्द निश्चयार्थ आया है, तस्मिन् = उक्त शास्त्र में जो, शिष्यमाणानि = विधान किये कर्म में पुरुष को, जननेन = जन्म से ही , प्रवर्त्तेरन् = प्रवृत्त होना चाहिए।

**व्याख्या—** मनुष्य को जन्मकाल से ही शास्त्रोक्त विधान का पालन करना चाहिए। यद्यपि छोटा बालक वैदिक विधि-विधानों का पालन नहीं कर सकता, किन्तु उसके पालकों-संरक्षकों के लिए यह आवश्यक है कि वे उनसे शास्त्र-परम्पराओं का पालन करायें। इसके लिए प्रथमत: उन परम्पराओं की जानकारी देना और स्वयं उनका परिपालन करके उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है॥ २२॥

**अब वेद विधानानुकूल संस्कारों का समर्थन करते हैं—**

**( १०१४ ) अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्त्तेरन्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी, वेदतुल्यत्वात् = वेदानुकूल कर्मों का अनुष्ठान वेद के तुल्य होने के कारण, उपायेन = उपनयन द्वारा पुरुष उनमें, प्रवर्त्तेरन् = प्रवृत्त हों।

**व्याख्या—** उपनयन विधि में यद्यपि सभी कर्म वेदोक्त नहीं होते, फिर भी वेद के अनुकूल होने के कारण पुरुष उनमें प्रवृत्त होता है; क्योंकि स्मृति में अभिवादन आदि कथित कर्त्तव्य वेद के समान ही हैं॥ २३॥

**अब अग्निहोत्र आदि कर्मों के निरन्तर करने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष रखते हैं—**

**( १०१५ ) अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** अभ्यास: = अग्निहोत्रादि कर्मों का सतत अभ्यास करे, अकर्मशेषत्वात् = क्योंकि वह किसी कर्म विशेष का अङ्ग न होने से, पुरुषार्थ: = पुरुष का अर्थ, विधीयते = विधान है।

**व्याख्या—** अग्निहोत्रादि कर्मों का मनुष्य को निरन्तर अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि वह किसी कर्म विशेष का अङ्ग न होने तथा धर्म आदि अर्थों का साधन होने से पुरुष के लिए करणीय-कर्त्तव्य है॥ २४॥

**अब आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान अगले तीन सूत्रों में करते हैं—**

**( १०१६ ) तस्मिन्नसम्भवन्नर्थात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मिन् = उक्त सातत्य होम पक्ष में, असम्भवन् = असम्भव होने से, अर्थात् = अर्थ से यह बात पाई जाती है कि सतत होम नहीं होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्र में अग्निहोत्र सतत करने की बात कही गयी। यहाँ उसका प्रत्याख्यान (निषेध) किया जा रहा है। यज्ञ कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है; परन्तु निरन्तरता से अग्निहोत्र करते रहना असम्भव है। इसलिए फलितार्थ से यह बात पाई जाती है कि उक्त होमादि कर्मों के लिए नियत समय है॥ २५॥

**( १०१७ ) न कालेभ्य उपदिश्यन्ते॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** न = ऐसा नहीं है कि आहार-विहार से अवशिष्ट काल में सदा यज्ञ कर्म करते रहना चाहिए, कालेभ्य: = इसलिए नियत कालों में, उपदिश्यन्ते = अग्निहोत्रादि का उपदेश किया जाता है।

**व्याख्या—** मनुष्य किसी काल में आहार-विहार आदि कर्म करता है, किसी समय शयन करता है, किसी काल में स्वाध्याय आदि करता है। उक्त कारणों से रात-दिन सदैव अग्निहोत्र करते रहना सम्भव नहीं। अत: उक्त अग्निहोत्रादि कर्म काल विशेष में ही किये जा सकते हैं, निरन्तर नहीं॥ २६॥

**( १०१८ ) दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** काललिङ्गानाम् = कालबोधक प्रमाणों के, दर्शनात् = दिखाई पड़ने से, कालविधानम् = नियतकाल का विधान है, सतत अनुष्ठान अभिप्रेत नहीं।

**व्याख्या—** 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला मनुष्य दर्शपूर्णमास याग करे। उक्त वाक्य में यज्ञ का नियत काल पाये जाने से यह स्पष्ट होता है कि अग्निहोत्रादि कर्म निश्चित समय में ही किये जाते हैं, सदैव नहीं॥ २७॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्णमासी आदि इष्टियों में यज्ञादि कर्मों के सम्पादन का कथन करते हैं—**

**( १०१९ ) तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तेत॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = उक्त कर्मों की अमावस्या आदि तिथियों में, औत्पत्तिकत्वात् = उत्पत्ति अवस्था में ही श्रुत होने से, आगमेन = तद्बोधक शास्त्र द्वारा, प्रवर्तेत = प्रवृत्त हो।

**व्याख्या—** 'पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत अमावास्यायामामावास्येन यजेत' अर्थात् पूर्णमासी तिथि में पौर्णमास याग करे और अमावस्या तिथि में अमावस्या याग करे। इस प्रकार के संकेतों से नियत काल में यज्ञ करने का विधान बता दिया गया है॥ २८॥

**( १०२० ) तथा हि लिङ्गदर्शनम्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = ऐसा ही, हि = निश्चय करके, लिङ्गदर्शनम् = प्रमाण पाया जाता है।

**व्याख्या—** 'प्रात: प्रातरग्निर्गृहपति: सायं सायं अग्निर्सौमनस्यदाता' इत्यादि वाक्यों से प्रात: और सायंकाल के समय यज्ञ करने का नियम पाये जाने से यह सिद्ध है कि अग्निहोत्रादि का समय निश्चित है॥ २९॥

**अब विकृति यागों के क्रम में यज्ञ करने का काल कथन करते हैं—**

**( १०२१ ) तथान्त:क्रतुप्रयुक्तानि॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = जिस प्रकार पूर्वोक्त यज्ञों का काल नियत है, अन्त:क्रतुप्रयुक्तानि = उसी प्रकार अन्य विकृति यागों का भी समय निश्चित है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार पूर्वोक्त दर्शपूर्णमास आदि यागों का समय नियत है, उसी प्रकार अन्य विकृति यागों का भी समय नियत किया गया है॥ ३०॥

**अब ब्राह्मण आदि के तीन ऋणों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष करते हैं—**

**( १०२२ ) आचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** आचारात् = आचार स्वरूप, गृह्यमाणेषु = ग्रहण किये हुए ब्रह्मचर्य आदि में, पुरुषार्थत्वात् = पुरुषार्थ होने से, तथा = वैसा ही नैमित्तिक नियम, स्यात् = है।

**व्याख्या—** ब्राह्मण आदि के तीन ऋणों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष कहता है कि जिस प्रकार दर्शपूर्णमासादि याग करना नैमित्तिक है अर्थात् अमावस्या-पूर्णमासी को किये जाते हैं, उसी प्रकार आचार स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक (किसी प्रयोजन विशेष पर) होने चाहिए, सर्वदा नहीं॥ ३०॥

**अब मीमांसाकार उक्त विषय में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १०२३ ) ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण के साथ, तु = तो, सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन = यज्ञ, ब्रह्मचर्य, प्रजा उत्पत्ति इन तीनों ऋणों के, संयोगात् = संयुक्त होने से ब्रह्मचर्य आदि नियम नित्य हैं, नैमित्तिक नहीं।

**व्याख्या—** उत्पन्न हुआ ब्राह्मण तीन ऋणों से युक्त होता है। ये ऋण हैं- देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। यज्ञ से देवों के ऋण से, ब्रह्मचर्य से ऋषियों के ऋण से और प्रजा द्वारा पितरों के ऋण से मुक्ति मिलती है। आशय यह है कि अग्निहोत्र आदि कर्मों से जलवायु की शुद्धि होती है और देवगण तुष्ट होते हैं, जिससे देवऋण उतरता है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यानिधि अर्जित करके समाज में ज्ञान का आलोक फैलाने वाला द्रष्टा मन्त्र ऋषियों के उद्देश्य को पूर्ण करता है तथा उनके (ऋषि) ऋण से मुक्त होता है। इसी प्रकार संतान को सुसंस्कृत एवं सुयोग्य व्यक्तित्व सम्पन्न बना देने से व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त होता है। उक्त तीनों ऋणों से मुक्त होना ब्राह्मण के लिए अनिवार्य कर्म है, अत: ये नित्यव्रत हैं, नैमित्तिक नहीं॥ ३२॥

**॥ इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीय: पाद:॥**

# ॥ अथ षष्ठाध्याये तृतीयः पादः ॥

**अब प्रस्तुत सर्वशक्तिमत्ताधिकरण में सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा की प्रधानता का वर्णन करते हैं—**

**( १०२४ ) सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वशक्तौ = सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा में, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, स्यात् = होती है, तथा भूतोपदेशात् = क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है।

**व्याख्या—** सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म है; क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है। यजुर्वेद (३१/७) में कहा गया है 'तस्माद्यज्ञातसर्वहुत ऋचः सामानिजज्ञिरे' (उस सर्वहुत यज्ञ से परमात्मा ने ऋक्, साम आदि वेद मन्त्रों को प्रकट किया) इस मन्त्र में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की प्रधानता वर्णित की गई है, अतः उसी परमात्मा में प्रवृत्ति होनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि यज्ञादि समस्त कर्मों में देवशक्तियों के विभिन्न नामों से वर्णित परमात्मा की ही प्रधानता पायी जाती है, अन्य की नहीं॥ १ ॥

**अब पूर्वोक्त प्रसङ्ग में अन्य युक्ति कथन करते हैं—**

**( १०२५ ) अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** 'अपि वा' और भी (प्रमाण) है, एकदेशे = यज्ञ आदि साधन जो जड़ होने से परमात्मा के एकदेश स्थानीय हैं, अपि = उनमें भी प्रवृत्ति करने से फल होता है, हि = सर्वोपरि, अर्थनिवृत्तिः = अर्थ की सिद्धि, प्रधाने = परमात्मा में, स्यात् = होती है, तदर्थत्वात् = उसके लिए होने से, इतरत् = और, गुणमात्रम् = गौण है।

**व्याख्या—** यद्यपि यज्ञादि आयोजनों का अनुष्ठान ईश्वरीय सत्ता की ओर प्रवृत्ति के लिए ही किया जाता है, परन्तु ये साधन जड़ और एकदेशीय हैं। इस एक देश में प्रवृत्ति मुख्य फल की सिद्धि का कारण नहीं हो सकती। अतः इस सूत्र के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि परमात्मा में प्रवृत्ति से ही मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है, अन्य से नहीं॥ २ ॥

**अब परमात्मा की ओर से उदासीन रहने में दोष कथन करते हैं—**

**( १०२६ ) तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाभिसम्बन्धात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तस्मात् = इसलिए, तदकर्मणि = परमात्मा का उद्देश्य न रखने से, दोषः = दोष है, ततः = वहाँ (यज्ञादि में), विशेषः = विशेषता, प्रधानेन = प्रधान के साथ, अभिसम्बन्धात् = सम्बन्ध से, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** प्रधान परमात्मा की ओर से उदासीन रहना दोष की बात है। उसके लिए यज्ञादि कर्म (सत्कर्म) करने से ही मनुष्य समस्त बुराइयों से बच सकता है, अन्यथा नहीं। अतः मनुष्य को परमात्मा से अपना सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिए॥ ३ ॥

**अब समस्त शाखाओं में कर्म की एकता का कथन करते हैं—**

**( १०२७ ) कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** जैमिनि = आचार्य जैमिनि का मत है कि, प्रयोगवचनैकत्वात् = प्रयोग वचन के एक पाये जाने से, तु = तो, कर्माभेदम् = सभी शाखाओं में कर्म का अभेद है और, सर्वेषाम् = सब अङ्गों का, उपदेशः = कथन, स्यात् = है।

**व्याख्या—** आचार्य जैमिनि के मतानुसार प्रयोग में एकवचन का व्यवहार होने से सब शाखाओं में ज्योतिष्टोम आदि कर्म एक हैं, क्योंकि उनमें वैदिक मंत्रों का आश्रयण भी एक है और उनके अनुष्ठान के अङ्ग भी सभी जगह एक समान हैं। अतः अलग-अलग शाखाओं में कर्म का अभेद है॥ ४॥

**अब अगले तीन सूत्रों में इसी सन्दर्भ में अन्य युक्ति प्रदान करते हैं—**

**( १०२८ ) अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** एकस्य अर्थस्य = एक अर्थ के, प्रयोगे = अनुष्ठान करने में, व्यपवर्गित्वात् = समानता पाये जाने से, अपि = भी कर्मों की एकता पाई जाती है, यथा = जैसे, क्रत्वन्तरेषु = अन्य यज्ञों में, स्यात् = पाई जाती है।

**व्याख्या—** एक प्रकार के अनुष्ठान करने में समानता पाये जाने से सब शाखाओं की विधियाँ एक-सी देखने में आती हैं। जैसा कि 'पौर्णमास्याम् पौर्णमास्या यजेत' 'अमावस्यायामयावास्यया यजेत' इत्यादि वाक्यों में दर्शपूर्णमास यज्ञ एवं ज्योतिष्टोम भी सब शाखाओं में एक समान देखने में आता है॥ ५॥

**( १०२९ ) विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः॥ ६ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, दर्शनात् = एक जैसा दिखाई देने से, समाप्तेः = उक्त कर्मों की पूर्ति में, विध्यपराधे = विधान और दोष एक जैसा पाये जाने से कर्म एक हैं।

**व्याख्या—** सभी शाखाओं में उक्त कर्मों की पूर्ति का विधान व अपूर्ति में दोष एक जैसा पाये जाने से कर्मों में अभेद सिद्ध होता है॥ ६॥

**( १०३० ) प्रायश्चित्तविधानाच्च॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रायश्चित्त = प्रायश्चित्त के, विधानात् = विधान करने से कर्मों की एकता पाई जाती है।

**व्याख्या—** सभी शाखाओं में यज्ञ-यागादि कर्म न करने के परिणामस्वरूप प्रायश्चित्त के विधान में समानता पाये जाने से भी कर्मों की एकता सिद्ध होती है॥ ७॥

**पूर्वपक्ष अब काम्यकर्मों में एकता का कथन करते हैं—**

**( १०३१ ) काम्येषु चैवमर्थित्वात्॥ ८ ॥**

**सूत्रार्थ—** काम्येषु = काम्य कर्मों में, च = भी, अर्थित्वात् = सब शाखाओं में अर्थी (कामना)एक जैसी देखे जाने से, एवम् = इसी तरह अभेद है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार सभी शाखाओं में ज्योतिष्टोमादिकों में भेद नहीं, उसी प्रकार काम्य रूप कर्मों में भी अभेद है; क्योंकि अर्थी (कामना) भी सभी शाखाओं में एक जैसी पायी जाती है॥ ८॥

**इस शङ्का का समाधान मीमांसाकार करते हैं कि यदि काम्यकर्मों को अङ्गहीन किया जाये, तो क्या दोष है?—**

**( १०३२ ) असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात्॥ ९ ॥**

**सूत्रार्थ—** विधेः = विधि रूप, शब्दप्रमाणत्वात् = शब्द प्रमाण, असंयोगात् = तथा अङ्गहीन होने से भी, एवम् = इस प्रकार, न = नहीं, स्यात् = होगा।

**व्याख्या—** काम्य कर्मों में जो अङ्गाङ्गिभाव निरूपण किया गया, उसके अभाव में उक्त कर्मों की पूर्ति नहीं होती; क्योंकि उन अङ्गों को अलग करने से उनका आपस में असंयोग हो जाता है। अतः अङ्गों के सहित ही उक्त कर्मों को करना उचित है, अङ्गहीन होने से ठीक नहीं॥ ९॥

**पूर्वपक्ष की जिज्ञासा है कि फिर तो काम्य कर्म संध्यावंदनादिक समान हुए ? आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०३३ ) अकर्मणि चाप्रत्यवायात्॥ १० ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अकर्मणि = काम्य कर्मों के न करने पर, अप्रत्यवायात् = प्रत्यवाय रूप दोष नहीं होता, इसलिए काम्यकर्म और नित्यकर्म में भेद है।

**व्याख्या—** सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म न करने से मनुष्य पर प्रत्यवाय (दोष) आता है, परन्तु काम्य कर्मों के न करने में ऐसी कोई बात नहीं। अतः काम्य कर्म सन्ध्या-वन्दनादि कर्मों के समान नहीं हैं॥ १०॥

**अगले दो सूत्रों में पदार्थों में अन्तर होने से भी क्रिया में एकत्व का कथन करते हैं—**

**( १०३४ ) क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** क्रियाणाम् = हवन क्रिया का, आश्रितत्वात् = आधार होने के कारण, द्रव्यान्तरे = हवनीय द्रव्य में भिन्नता होने पर, विभागः = भिन्नता, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** हवन किये जाने वाले पदार्थों के भेद से यज्ञ की क्रिया में कोई अन्तर नहीं होता; क्योंकि हवन रूप क्रिया सर्वत्र समान पायी जाती है, अतः क्रिया में भेद नहीं॥ ११॥

**( १०३५ ) अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—**अपि वा = और भी (प्रमाण है), अव्यतिरेकात् = द्रव्य के भेद होने पर भी, च=और, रूपशब्दाविभागात् = रूप और शब्द का विभाग न होने से, गोत्ववत् = गौ में गोत्व धर्म के समान, ऐककर्म्यम् = कर्मों में एकत्व, स्यात् = पाया जाता है, च = और, सत्त्ववत् = अन्य गो व्यक्तियों के समान, नामधेयम् = नाम मात्र का भेद है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार गौओं में भिन्नता रहने पर भी वे सब गौएँ एक ही जाति की मानी जाती हैं, उसी प्रकार द्रव्यों का अन्तर होने पर भी कर्म का भेद न पाये जाने से तथा शब्द और रूप का अन्तर न पड़ने से अग्निहोत्रादि कर्मों का भी नाम मात्र का भेद है, जो तत्त्वतः एक ही माना जाता है॥ १२॥

**अगले दो सूत्रों में यज्ञोपयोगी पदार्थों में प्रतिनिधि न होने का पूर्वपक्ष कहा जा रहा है—**

**( १०३६ ) श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नागमोऽन्यस्याशिष्टत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिप्रमाणत्वात् = श्रुति के प्रामाण्य से और, शिष्टाभावे = शास्त्रविहित द्रव्य के अभाव में, अन्यस्य = अन्य द्रव्य का, अशिष्टत्वात् = श्रेष्ठ न होने से, आगमः = प्रतिनिधि द्रव्य की प्राप्ति, न = प्रमाण नहीं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि शास्त्र में जिस पदार्थ के हवन का उल्लेख है, उसके स्थान पर अन्य किसी पदार्थ का प्रतिनिधि रूप में प्रयोग नहीं कर सकते। जैसे घृतादि द्रव्यों के प्रतिनिधि अन्य स्निग्ध द्रव्य नहीं हो सकते; क्योंकि वे दूसरे द्रव्य घृतादि के जैसे शिष्ट नहीं और न ही उनके प्रयोग का कोई शास्त्रीय प्रमाण ही है। अतएव निर्धारित पदार्थों के स्थान पर किसी प्रतिनिधि पदार्थ का प्रयोग उचित नहीं॥ १३॥

**( १०३७ ) क्वचिद्विधानाच्च॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** क्वचित् = किसी एक स्थान में, विधानात् = विधान पाये जाने से, च = भी किसी द्रव्य के स्थान पर द्रव्यान्तर प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** किसी एक स्थान पर विधान में बताये गये द्रव्य के अभाव में दूसरा द्रव्य ले भी लिया, तो उसे अपवाद ही माना जा सकता है। जैसे 'सोमं न विन्देत् पूतिकानभिषुणुयात्' अर्थात् यदि सोम की प्राप्ति न हो सके, तो पूतिका का रस निकालकर सोम का काम ले-ऐसा उदाहरण अपवाद है, विधि नहीं॥ १४॥

**अब अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का मीमांसाकार समाधान करते हैं—**

**( १०३८ ) आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** 'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निवृत्त्यर्थ है, आगमः = प्रतिनिधि द्रव्य में प्रमाण पाया जाता है, चोदनार्थाविशेषात् = विधि की तुल्यता पाये जाने से।

**व्याख्या-** यज्ञ विधि में 'व्राहिभिर्यजेत नीवारैर्वा'- (चावल के स्थान पर साँवाँ लें) जैसे वाक्य प्रतिनिधि द्रव्य में इस प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण पाये जाने से द्रव्य का प्रतिनिधि होना सिद्ध है॥ १५॥

**( १०३९ ) नियमार्थः क्वचिद्विधिः॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** क्वचित् = कहीं पर, विधिः = विधान, नियमार्थः = नियम विधि के अभिप्राय से है।

**व्याख्या**- किसी एक स्थान में दोनों तरीके से द्रव्य विशेष प्राप्ति का जो एक पक्ष में नियम किया जाता है, उसे 'नियमविधि' कहते हैं। जैसे प्रतिनिधि पूतिका द्रव्य की जगह दूसरे द्रव्य भी उपलब्ध थे, किन्तु उसके स्थान में पूतिका ही लेना, इस वाक्य ने नियम बना दिया। अत: सिद्ध है कि द्रव्य का प्रतिनिधि होता है॥ १६॥

**पूर्वपक्ष की शङ्का है कि यदि यज्ञ में सोम अथवा उसका प्रतिनिधि द्रव्य न लिया जाये, तो क्या हानि है? आचार्य समाधान करते हैं—**

### ( १०४० ) तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** तत् = वह सोम द्रव्य, नित्यम् = अवश्य होना चाहिए, तत् = क्योंकि उसकी, चिकीर्षा = इच्छा, हि = निश्चयपूर्वक पाई जाती है।

**व्याख्या—** यहाँ सूत्र में 'नित्य' शब्द का तात्पर्य अनिवार्यतया ग्रहण से है अर्थात् यज्ञ में सोम द्रव्य अथवा उसके स्थान पर उसके प्रतिनिधि द्रव्य- पूतिका का होना आवश्यक है; क्योंकि इन दोनों में से किसी के न होने पर यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती॥ १७॥

**जिनका प्रतिनिधि नहीं होता, अब उनका कथन किया जाता है—**

### ( १०४१ ) न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** देवताग्निशब्दक्रियम् = देवता, अग्नि, मंत्र और क्रिया-इन चारों का, न = प्रतिनिधि नहीं होता, अन्यार्थसंयोगात् = क्योंकि प्रतिनिधि से उद्देश्य का त्याग हो जाता है।



**व्याख्या**- देवता, अग्नि, शब्द और क्रिया के उपचार में प्रतिनिधि नहीं होना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से यज्ञ का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है॥ १८॥

**अब उक्त विषय में हेतु कहते हैं—**

### ( १०४२ ) देवतायां च तदर्थत्वात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तदर्थत्वात् = तदर्थ होने से, देवतायाम् = देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता।

**व्याख्या—**सूत्रार्थ से स्पष्ट है कि देवता का प्रतिनिधि कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि देवता यज्ञ का मुख्य विषय है। प्रतिनिधि का अर्थ तत्स्थानापन्न वस्तु से होता है, अत: देवता का प्रतिनिधि नहीं हो सकता॥ १९॥

**अब मद्य-मांसादि निषिद्ध पदार्थों का यज्ञ कार्य में निषेध कहते हैं—**

### ( १०४३ ) प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अविशेषेण = पूर्णरूपेण, प्रतिषिद्धम्, = मद्य-मांसादि पदार्थ यज्ञ में निषिद्ध हैं, तत् = क्योंकि उनके निषेध का, श्रुति: = श्रुति, हि = निश्चयपूर्वक पाया जाता है।

**व्याख्या—** 'यथामांसं यथासुरा' (अथर्व. ६/७/१) इत्यादि श्रुति प्रमाण से उक्त द्रव्यों की शास्त्र में निन्दा सिद्ध होने से यह पाया जाता है कि यज्ञ में मद्य-मांस आदि का पूर्ण-रूप से निषेध है॥ २०॥

**अब स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि का अभाव कथन करते हैं—**

### ( १०४४ ) तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रकार, स्वामिन: = स्वामी का, फलसमवायात् = फल के साथ सम्बन्ध पाये जाने से और, फलस्य = फल का, कर्मयोगित्वात् = कर्म के साथ सम्बन्ध होने से स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** 'शास्त्रफलम् प्रयोक्तरि' (मीमांसा ३/७/१८) सूत्र में कहा जा चुका है कि शास्त्र का फल प्रयोक्ता को ही प्राप्त होता है। स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधि होने की अवस्था में प्रयोक्ता भी वही होगा और ऐसी दशा में उसको ही उसका फल प्राप्त हो सकेगा। अत: स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधि मानना उचित नहीं॥ २१॥

**अब प्रतिनिधि होने की अवस्था का वर्णन करते हैं—**

**( १०४५ ) बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** बहूनाम् =बहुत यजमानों द्वारा, प्रवृत्तौ =आरम्भ किए गये कर्म में किसी यजमान के मृत हो जाने पर, अवैगुण्यात् =कर्म भी अविगुणता होने से, अन्यम् = अन्य व्यक्ति को प्रतिनिधि रूप में, आगमयेत् = ले आये।

**व्याख्या—** बहुत यजमानों के आरम्भ किये गए कर्म में किसी एक की मृत्यु हो जाने पर उसके स्थान पर किसी अन्य प्रतिनिधि को यज्ञ की पूर्ति के लिए ले आये; क्योंकि ऐसा न करने से उसके बिना कर्म गुणरहित-अङ्गहीन हो जाएगा। अत: ऐसे स्थानों पर प्रतिनिधि अवश्य होना चाहिए॥ २२॥

**उक्त प्रतिनिधि के स्वामी हो सकने अथवा न हो सकने के सन्दर्भ में अब पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०४६ ) स स्वामी स्यात्तत्संयोगात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** तत् - संयोगात् = उस स्वामित्व के साथ संयोग होने से अर्थात् स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधीयमान होने से, स = वह प्रतिनिधीयमान व्यक्ति, स्वामी = स्वामी, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** मृत स्वामी के साथ संयोग होने से उस स्वामित्व के साथ प्रतिनिधीयमान का संयोग है। अत: मृत स्वामी के स्थानापन्न होने के कारण उक्त प्रतिनिधि कर्म का स्वामी होता है॥ २३॥

**मीमांसाकार अब अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**



**( १०४७ ) कर्मकरो वा भृतत्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** भृतत्वात् = भृत्य कर्म के कारण, वा = तो (भी, वह), कर्मकर: = उक्त प्रतिनिधि कर्म का करने वाला है, स्वामी नहीं।

**व्याख्या—** वह प्रतिनिधि तो स्वामी के स्थान पर मात्र यज्ञ की क्रियाओं को करने हेतु नियत किया गया है, अत: वह प्रतिनिधि स्वामी नहीं हो सकता। जगत् में भृत्य अपनी नौकरी का हकदार होता है, न कि कर्म के फल का। अत: सिद्ध है कि उक्त प्रतिनिधि स्वामी नहीं॥ २४॥

**( १०४८ ) तस्मिंश्च फलदर्शनात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तस्मिन् = मुख्य स्वामी में, फलदर्शनात् = फल का दर्शन होने से।

**व्याख्या—** सर्वत्र फल का अधिकार स्वामी में देखा जाता है, नौकर में नहीं। अत: नौकर स्वामी का प्रतिनिधि नहीं हो सकता॥ २५॥

**अब यजमान स्थानापन्न पुरुष में यजमान के धर्म को कहते हैं—**

**( १०४९ ) स तद्धर्मा स्यात्कर्मसंयोगात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** स = उस यजमान स्थानापन्न पुरुष का, कर्मसंयोगात् = कर्म के साथ संयोग पाए जाने से, तद्धर्मा = यजमान के धर्म वाला, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** जो जिस कार्य में अधिकृत होता है, वह उस स्थानीभूत के धर्मों से सम्बद्ध होता है, अत: वह यजमान का स्थानापन्न पुरुष यजमान के धर्मवाला होता है॥ २६॥

**अब हवनोपयोगी द्रव्यों के मिलते-जुलते प्रतिनिधियों का कथन करते हैं—**

**( १०५० ) सामान्यं तच्चिकीर्षा हि॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** सामान्यम् = व्रीहि के अभाव में उसके जैसा ही पदार्थ लेना चाहिए, तच्चिकीर्षा = क्योंकि उसके जैसे की ही इच्छा है, हि = निश्चयार्थ आया है।

**व्याख्या—** जहाँ व्रीहि (चावल) न मिले, वहाँ उसके स्थान पर प्रतिनिधि द्रव्य नीवार (साँवाँ) ही लेना चाहिए; क्योंकि तत्सदृश द्रव्य के ग्रहण की ही इच्छा परिलक्षित होती है॥ २७॥

**अब खदिर यूप के अभाव में उससे मिलते-जुलते प्रतिनिधि का कथन करते हैं—**

**( १०५१ ) निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** विकल्पे = विकल्प में, यत् = जो द्रव्य, प्रवृत्तम् = प्रवृत्त हुआ है, निर्देशात् = उसके निर्दिष्ट होने से, तु = तो तत्सदृश का ही ग्रहण करना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रयोग में जो प्रवृत्त है, वह उसके लिए निर्दिष्ट है और उसका अङ्गभूत है, वैकल्पिक द्रव्य अङ्गभूत नहीं। यदि पहले खदिर का आश्रय किया गया है, तो उसके स्थान में खदिर का ही ग्रहण उचित है; क्योंकि वही उसका अङ्गभूत है, पलाश और रोहितक अनङ्गभूत हैं॥ २८॥

**अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष ( आशङ्का ) प्रकट करते हैं—**

**( १०५२ ) अशब्दमिति चेत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** अशब्दम् = इस विषय में कोई प्रमाण नहीं, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** यदि ऐसा समझते हो कि खदिर सदृश का उपादान करना चाहिए, तो इस विषय में कोई प्रमाण नहीं। अत: उसके स्थान में वैकल्पिक पलाश लें, तो कोई दोष नहीं; क्योंकि विधान न किया जाना तत्सदृश और वैकल्पिक दोनों समान हैं। अत: वैकल्पिक का उपादान करना चाहिए॥ २९॥

**अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का सामधान करते हैं—**

**( १०५३ ) नाऽनङ्गत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन ठीक नहीं, अनङ्गत्वात् = क्योंकि वह अङ्ग नहीं है।

**व्याख्या—** यद्यपि अविहितत्व खदिर और पलाश दोनों में तुल्य है, फिर भी खदिर की जगह खदिर ही लेना चाहिए। खदिर के निर्देश से इतर पलाश और रोहितक अश्रुत है तथा निर्देश के अभाव में अङ्गभाव का विरोध होता है। अत: खदिर के स्थान में खदिर यूप लेना ही ठीक होगा॥ ३०॥

**अब अगले दो सूत्रों में पूतिका की जगह सोम का प्रतिनिधित्वेन कथन करते हैं—**

**( १०५४ ) वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** इतरस्य = सोम स्थानीय पूतीक द्रव्य के, अभावात् = अभाव होने से, तत्सामान्येन = विहित द्रव्य के सादृश्य से, प्रतिनिधि: = अन्य प्रतिनिधि, वचनात् = वचन की सामर्थ्य से, अन्याय्यम् = ठीक नहीं, च = और, अभावे = यदि ऐसा वचन न पाया जाये, तो ठीक है।

**व्याख्या—** प्रतिनिधि के स्थान में अन्य प्रतिनिधि नहीं लिया जाता। जिस प्रकार सोम न मिलने पर पूतिका नाम की लता से काम चलाया जाता है, उसी प्रकार पूतिका के अभाव में स्थानापन्न तत्सदृश प्रतिनिधि द्रव्य लेना ठीक नहीं; क्योंकि इस प्रकार प्रतिनिधि के स्थान पर प्रतिनिधि करते जाने से तो प्रमुख द्रव्य का सादृश्य सर्वथा समाप्त हो जायेगा। अत: प्रतिनिधि के स्थान पर प्रतिनिधि करना उचित नहीं॥ ३१॥

**( १०५५ ) न प्रतिनिधौ समत्वात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** समत्वात् = समान होने से मुख्य द्रव्य के प्रतिनिधि का ग्रहण होता है, प्रतिनिधौ = प्रतिनिधि के अभाव में प्रतिनिधि का प्रतिनिधि, न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** जैसे व्रीहि के अभाव में व्रीहि से मिलते-जुलते नीवार प्रतिनिधि को लिया जाता है, वैसे ही नीवार के अभाव में तत्सदृश प्रतिनिधि नहीं लिया जाता; क्योंकि नीवार से मिलता-जुलता द्रव्य लेने पर नीवार की ही समानता होती है, न कि मुख्य द्रव्य की। अत: प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं हो सकता॥ ३२॥

**अब उक्त प्रसङ्ग में अन्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०५६ ) स्यात् श्रुतिलक्षणे नियतत्वात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिलक्षणे = श्रुति से लक्षित प्रतिनिधि के नष्ट होने पर पूतीक सदृश का उपादान, स्यात् = हो सकता है; नियतत्वात् = क्योंकि ऐसा नियम पाया जाता है।

**व्याख्या—** श्रुति से लक्षित प्रतिनिधि में प्रतिनिधि सदृश का उपादान करना चाहिए। जैसे यह नियम है कि सोम के अभाव में तत्सदृश पूतीक विहित है, इसी तरह पूतीक के अभाव में पूतीक अवयव वाले प्रतिनिधि का उपादान करना चाहिए। अत: प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि हो सकता है॥ ३३॥

**अब मीमांसाकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०५७ ) न तदीप्सा हि॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** न = उपर्युक्त कथन ठीक नहीं; तत् = क्योंकि प्रकृत सोम द्रव्य की ही, हि = निश्चयपूर्वक, ईप्सा = इच्छा पाई जाती है, पूतीक आदि की नहीं।

**व्याख्या—** याग में सर्वप्रथम अपेक्षित द्रव्य सोम ही था, पूतीक नहीं। पूतीक नामक द्रव्य तो सोम के अभाव में लिया जाता है। अब यदि पूतीक के नष्ट होने पर तत्सदृश कोई अन्य द्रव्य लिया जाए, तो उसकी समता पूतीक से होगी, न कि सोम से। अत: सोम का नाम ही समाप्त हो जाना नियम विरुद्ध है॥ ३४॥

**शङ्का है मुख्य पदार्थ के उपलब्ध होने पर क्या प्रतिनिधि लेना चाहिए? आचार्य समाधान करते हैं—**

**( १०५८ ) मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** तदभावात् = मुख्य द्रव्य के अभाव में, हि = निश्चय करके, आगम: = प्रतिनिधि द्रव्य ग्रहण करना चाहिए और, मुख्याधिगमे = मुख्य द्रव्य की प्राप्ति होने पर, मुख्यम् = मुख्य का ही विधान है।

**व्याख्या—** मुख्य द्रव्य के प्राप्त होने पर मुख्य का ही उपादान करना चाहिए; क्योंकि यज्ञ में सर्वोपरि उपादेय मुख्य द्रव्य ही है। यदि मुख्य द्रव्य का मिलना असम्भव हो, तो ही तत्सदृश प्रतिनिधि द्रव्य लेना उचित है; क्योंकि श्रुत अथवा मुख्य द्रव्य में सम्पूर्ण अवयव होते हैं, जबकि प्रतिनिधि में कुछ न्यून। इससे सिद्ध होता है कि मुख्य द्रव्य मिलने पर प्रतिनिधि द्रव्य का ग्रहण ठीक नहीं है॥ ३५॥

**अब पूर्वपक्ष की जिज्ञासा है कि यदि यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाश आदि बनाने के पश्चात् मुख्य द्रव्य मिले, तो?—**

**( १०५९ ) प्रवृत्तेऽपीति चेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्ते = यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाशों के सिद्ध होने पर, अपि = भी, चेत् = यदि मुख्य द्रव्य प्राप्त हो, इति = तो मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाश आदि के सिद्ध होने (पक जाने) के बाद भी मुख्य द्रव्य के मिलने पर पूर्व निष्पन्न पुरोडाश का त्याग करके मुख्य द्रव्य ही लेना उचित है॥ ३६॥

**अब आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—**

**( १०६० ) नानर्थकत्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** अनर्थकत्वात् = निरर्थक होने से, न = मुख्य द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** पुरोडाशों के निष्पन्न होने के पश्चात् यदि मुख्य द्रव्य प्राप्त हो, तो उसे लेना निरर्थक है; क्योंकि उससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता, अत: मुख्य द्रव्य का क्या लाभ?॥ ३७॥

**मुख्य द्रव्य के असंस्कृत तथा प्रतिनिधि द्रव्य के संस्कृत होने की स्थिति में किसको लेना चाहिए, पूर्वपक्ष की इस आशङ्का का समाधान करते हैं—**

**( १०६१ ) द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यसंस्कारविरोधे = मुख्य द्रव्य और संस्कृत द्रव्य के विरोध होने पर, द्रव्यम् = मुख्य द्रव्य का ही उपादान करना चाहिए; तदर्थत्वात् = क्योंकि मुख्य द्रव्य यज्ञ का अङ्ग है।

**व्याख्या—** मुख्य द्रव्य और संस्कृत प्रतिनिधि द्रव्य के विरोध होने पर मुख्य द्रव्य के प्रति आदर करना चाहिए; क्योंकि वह यज्ञ का अङ्ग है। यूप निर्माण में खदिर-लता का प्रयोग होता है, जो पशु को बाँधने में असमर्थ है, जबकि कदर द्रव्य (श्वेत खदिर वृक्ष) पशु को बाँधने में समर्थ है। सन्देह होता है कि क्या खदिर द्रव्य उपादेय है अथवा 'कदर' द्रव्य? उत्तर है- खदिर द्रव्य उपादेय है; क्योंकि वह श्रुति-सम्मत है॥ ३८॥

**अब मुख्य द्रव्य के ग्रहण के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**(१०६२) अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थद्रव्यविरोधे = अर्थ और द्रव्य के विरोध होने पर, अर्थः = प्रयोजन को प्रधान समझे, द्रव्याणाम् = क्योंकि द्रव्यों के, अर्थशेषत्वात् = प्रयोजन के प्रति शेषभाव होने से, द्रव्याभावे = मुख्य द्रव्य के अभाव में भी, तदुत्पत्तेः = प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है।

**व्याख्या—** अर्थ और द्रव्य के विरोध में अर्थ की सिद्धि को प्रमुखता देनी चाहिए। मुख्य द्रव्य के अभाव में भी अन्य द्रव्यों से अर्थ की सिद्धि हो सकती है। अतः यूप के लिए उपयोगी मुख्य द्रव्य खदिर यूप योग्य न हो अर्थात् पतला या निर्बल हो, तो उसके स्थान में कदर (श्वेत खदिर वृक्ष) का सुदृढ़ यूप लेना उचित है॥ ३९॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष की इस जिज्ञासा का मीमांसाकार समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(१०६३) विधिरप्येकदेशे स्यात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेशे = मुख्य द्रव्य होने पर, अपि = भी, विधिः = विहित द्रव्य ही, स्यात् = लेना चाहिए।

**व्याख्या—** मुख्य द्रव्य की अल्पता (असमर्थता) एवं प्रतिनिधि द्रव्य की प्रचुरता (समर्थता) की अवस्था में विहित अर्थात् मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिए, प्रतिनिधि नहीं॥ ४०॥

**(१०६४) अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निवर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद् - गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्॥४१॥**

**सूत्रार्थ—** 'अपि वा' शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए आया है, एकदेशेन = मुख्य द्रव्य के एक देशमात्र से भी, अर्थस्य = अर्थ का, शक्यत्वात् = अनुष्ठान होना योग्य है, अर्थानाम् = क्योंकि हवन सम्बन्धी शेष अर्थ, निवर्तेत = अन्य द्रव्य से सिद्ध हो सकेंगे, अविभक्तत्वात् = क्योंकि उन शेष अर्थों का यज्ञ से विभाग नहीं है, इतरत् = अन्य प्रयोजन, गुणमात्रम् = पदार्थ के प्रति गौण है, तदर्थत्वात् = यज्ञ का अर्थ होने से।

**व्याख्या—** मुख्यद्रव्य की न्यूनता की स्थिति में उसके द्वारा प्रधान कर्मों की सिद्धि करनी चाहिए तथा प्रतिनिधि द्रव्य से बाद में सम्पन्न होने वाले गौण हवन कार्यों की सिद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार दोनों द्रव्यों की आवश्यकता है, किन्तु ऐसे स्थानों में प्रतिनिधि की जगह मुख्य द्रव्य का ही ग्रहण उचित है, प्रतिनिधि का ग्रहण तो केवल स्विष्टकृत् आदि कार्यों में ही करना चाहिए, अन्य में नहीं॥ ४१॥

## ॥ इति षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

# ॥ अथ षष्ठाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**प्रस्तुत चतुर्थ पाद में यज्ञशेष का भक्षण एवं अवदान आदि के साथ-साथ द्रव्य के समापन की स्थिति में अन्य भाग का ग्रहण किया जाना बतलाते हैं—**

## ( १०६५ ) शेषाद् द्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** द्व्यवदाननाशे = भिन्न-भिन्न पात्रों में रखे पुरोडाश के नष्ट होने की स्थिति में कर्म की पूर्ति, तदर्थत्वात् = तदर्थ होने से, शेषाद् = शेष भाग से किया जाना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन यह है कि हवन के उद्देश्य से अलग-अलग पात्रों में रखे जाने वाले द्रव्य स्वरूप पुरोडाश के समाप्त होने पर पुरोडाश के शेष से हवन की प्रक्रिया पूर्ण की जानी चाहिए। उक्त कथन में हेतु तदर्थ होना बतलाते हुए कहा कि प्रधान कर्म हवन है और यज्ञ शेष का भक्षण किया जाना गौण, इसलिए शेष भाग का हवन के लिए ग्रहण किया जाना सर्वथा युक्त है॥ १ ॥

**उपर्युक्त कथन में युक्ति देने के भाव से आचार्य ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

## ( १०६६ ) निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद युक्त्यन्तर के तात्पर्यार्थ प्रयुक्त है। निर्देशात् = शास्त्र से प्राप्त निर्देशात्मक कथन से, अन्यत् = अन्य भाग का ग्रहण, आगमयेत् = शेष भूत पुरोडाश द्रव्यों से लेना उपपन्न है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत युक्ति के माध्यम से आचार्य का कहना है कि उक्त हवन (प्रधान) कर्म की पूर्णता हेतु यदि शेष पुरोडाश में से द्रव्य (होतव्य द्रव्य) का ग्रहण किया जाता है, तो वह युक्ति-युक्त ही होगा; क्योंकि शास्त्र का निर्देश स्वयं इसमें प्रमाणरूप है॥ २ ॥

## ( १०६७ ) अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणत्त्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** विशिष्टकारणत्वात् = हवन की पूर्णता हेतु विशिष्ट करण से, अपि वा = भी, शेषभाजाम् = पुरोडाश के बचे हुए शेषभागों का, स्यात् = हवन होना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त याग ही प्रधान कर्म है और उस प्रधान कर्म के सम्पादनार्थ ही पुरोडाश विनिर्मित किया गया है। अस्तु; पुरोडाश का शेषभाग भी हवन की पूर्णता में ही प्रयुक्त होना चाहिए॥ ३ ॥

**यज्ञ शेष के भक्षण का अधिकार सिद्ध करने के भाव से आचार्य ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## ( १०६८ ) निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत्॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** प्रधानवत् = प्रधान के तुल्य यज्ञशेष के भक्षण का, निर्देशात् = निर्देश प्राप्त होने से, अन्यैः = यज्ञ संसद के ऋत्विक्गण ही, भक्षशेषः = यज्ञ-शेष के भक्षण की पात्रता रखते हैं।

**व्याख्या—**ऋत्विजों को यज्ञ-शेष का भक्षण किया जाना युक्त है। कारण यह कि 'यजमानपञ्चमामिडां भक्षयन्ति'- इस वाक्य में पाँचवाँ यजमान कहकर उसको इडा का भक्षण किया जाना विहित बताया है। अतः यज्ञशेष के भक्षण में मात्र ऋत्विग्गण ही अधिकारी पात्र हैं॥ ४ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अग्रिम तीन सूत्रों में किया—**

## ( १०६९ ) सर्वैर्वा समवायात्स्यात्॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** सर्वैः वा = यज्ञशेष का भक्षण मात्र ऋत्विकों को ही नहीं; प्रत्युत सभी के लिए है, समवायात् = सबका समवाय रूप सम्बन्ध होने से यही सिद्ध होता, स्यात् = है।

**व्याख्या—** याग एक ऐसा पवित्र कर्म है, जो सामूहिक प्रयास से सिद्ध होता है तथा उसका उद्देश्य ईश्वर की अर्चना-पूजा, ज्ञानदृष्टि की प्राप्ति तथा यज्ञशेष का भक्षण किया जाना भी है। अतएव यज्ञशेष का भक्षण सभी को करना चाहिए॥ ५ ॥

**( १०७० ) निर्देशस्य गुणार्थत्वम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** निर्देशस्य = उक्त वाक्य द्वारा किये गये यजमान सम्बन्धी निर्देश को, गुणार्थत्वम् = गौण अर्थ से किया गया कथन समझना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'यजमानपञ्चमामिडां भक्षयन्ति' द्वारा जो पाँचवें यजमान को भी ऋत्विजों के साथ यज्ञशेष का भक्षण किया जाना बतलाया गया है, उसे गौण कथन ही समझना चाहिए। अत: सभी के भक्षण का उक्त कथन पूर्ववत् उपपन्न है॥ ६॥

**( १०७१ ) प्रधाने श्रुतिलक्षणम्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रधाने = प्रधान यजमान द्वारा यज्ञावशेष-भक्षण किये जाने का कथन करने वाला उपर्युक्त वाक्य, श्रुतिलक्षणम् = उपलक्षण मात्र है।

**व्याख्या—** उक्त वाक्य (यजमानपञ्चमामिडां भक्षयन्ति) द्वारा जो पाँचवें यजमान को यज्ञावशेष के भक्षण की पात्रता वाला विहित किया गया है, वह केवल उपलक्षण ही है, उससे यज्ञ-सम्बन्धी सभी परिजनों का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**उपर्युक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना के उद्देश्य से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १०७२ ) अश्ववदिति चेत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** अश्ववत् = अश्वमेध यज्ञ के जैसे उसके समान ही यज्ञशेष का भक्षण प्राप्त होगा, इतिचेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** अश्वमेध के यज्ञ शेष का भक्षण - सभी करें, तो वह सर्वथा अनर्थ का हेतु माना जायेगा; क्योंकि उसके द्वारा अश्वमेध आदि में पशु भक्षण की प्रथा चल पड़ेगी, जो किसी भी स्थिति में समीचीन नहीं॥ ८॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( १०७३ ) न चोदनाविरोधात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** चोदनाविरोधात् = विधि-वाक्यों में पशु-वध का विरोध होने से पूर्वपक्षी कथन, न = उचित नहीं है।

**व्याख्या—** अथर्ववेद (७/५/५) का मन्त्र 'मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः' पशुवध का निषेध करते हुए कहता है कि अविवेकी यजमान श्वान तथा गौ आदि पशुओं के अङ्गों से यजन करता है, तो उसके द्वारा किया जाने वाला उक्त कर्म मूर्खतापूर्ण एवं निन्दनीय है। इस प्रकार अश्वमेधों में मांस भक्षण का निषेध सिद्ध होता है॥ ९॥

**यज्ञ पात्रों का कोई अङ्ग यदि टूट जाता है, तो प्रतिक्रिया स्वरूप में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है—**

**( १०७४ ) अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेशे = यज्ञपात्रों के एक भाग के खण्डित हो जाने पर, अर्थसमवायात् = होतव्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध होने से, अपि = भी, प्रायश्चित्तम् = प्रायश्चित्त कर्म किया जाना चाहिए; क्योंकि उस यज्ञपात्र के एक भाग का।

**व्याख्या—** कपाल आदि यज्ञीय पात्रों के एक भाग के भग्न हो जाने से पूरे पात्र को टूटा हुआ मान लिया जाता है, अतएव उसके लिए भी प्रायश्चित्त का विधान होना युक्त प्रतीत होता है॥ १०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले तीन सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०७५ ) न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** न = ऐसा नहीं है, तदर्थम् = सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञ के लिए होने से, तु = तो, अशेषे = कपालादि के, वैगुण्यात् = विगुण-विकार युक्त होने की स्थिति में, हि = ही प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** कपालादि में सम्यक् रूप से बनाया गया सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञार्थ ही हुआ करता है। इसलिए प्रायश्चित्त तभी किया जाना चाहिए, जब एकदेश नहीं; प्रत्युत सर्वदेश विकारवान् हो जाये अर्थात् वह पूर्णरूपेण उपयोगी न रह जाये॥ ११॥

**( १०७६ ) स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न-हि तस्य गुणार्थत्वेनानित्यत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तस्य = उस पात्र का, प्राप्तनिमित्तत्वात् = एक देश विकृत होने (टूटने) पर, अतद्धर्मः = सम्पूर्ण होतव्य द्रव्य यज्ञ के लिए अयोग्य नहीं, स्यात् = होना चाहिए, नित्य संयोगात् = क्योंकि उसका सम्पूर्ण द्रव्य के साथ नित्यसंयोग प्राप्त होने से, हि = निश्चय ही, गुणार्थेन = गौणरूप से, अनित्यत्वात् = अनित्य होने के कारण, न = प्रायश्चित्त स्वरूप नहीं।

**व्याख्या—** विकार रहित सम्पूर्ण द्रव्य का उसके साथ नित्य सम्बन्ध प्राप्त है। अतएव उस अविकारी होतव्य द्रव्य के एक भाग (एकदेश) को विकारयुक्त कहना, (गुण रूप से) गौण कथन ही समझना उचित है॥ १२॥

**( १०७७ ) गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्यपाश्रयः स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—**च = तथा, गुणानाम् = विकार स्वरूप गुण-दोषों के, परार्थत्वात् = यज्ञार्थ होने से वह द्रव्य ही मुख्य है, वचनात् = (द्रव्य की मुख्यता के) बोधक होने के कारण, व्यपाश्रयः = उक्त (विकार रूप) गुण आदि द्रव्याश्रित ही, स्यात् = हुआ करते हैं।

**व्याख्या—** उक्त गुण-दोष द्रव्य के आश्रित रहने के कारण मुख्य-प्रधान न होकर गौण ही हैं। अतः कार्य की योग्यता बनाये रखने तक मात्र उसके एक अंग के भग्न हो जाने से प्रायश्चित्त किया जाना सर्वथा असङ्गत ही माना जायेगा। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण द्रव्य के विकार युक्त होने पर ही प्रायश्चित्त करना चाहिए, अल्प-अंश के भग्न होने पर नहीं॥ १३॥

**उक्त अर्थ में अगले सूत्र द्वारा आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १०७८ ) भेदार्थमिति चेत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** भेदार्थम् = एक देश की भग्नता का उक्त विकार उस होतव्य द्रव्य के नाश के लिए है, इतिचेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** रोग रूप विकार शरीर के आश्रय में रहकर जैसे समस्त शरीर को प्रभावित करता है, वैसे ही एक देश के उक्त विकार से सम्पूर्ण होतव्य द्रव्य प्रभावित हो सकता है। यदि यह मानें, तो?॥ १४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**( १०७९ ) नाशेषभूतत्वात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** अशेषभूतत्वात् = उक्त विकार के अङ्गरूप होने के कारण उक्त समस्त होतव्य द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य, न = नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** मात्र एक अङ्ग के विकार ग्रस्त होने से जैसे सम्पूर्ण शरीर को विकारग्रस्त नहीं माना जाता, वैसे ही उक्त होतव्य द्रव्य के अङ्ग रूप से (उसके एक भाग के) नष्ट हो जाने के कारण उस सम्पूर्ण द्रव्य को विकार युक्त मानकर उसके लिए प्रायश्चित्त किया जाना उचित नहीं है॥ १५॥

**( १०८० ) अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—**च =तथा, सर्वनाशे = पूर्णतः विनष्ट होने पर ही वह, अनर्थकः = यज्ञ के योग्य नहीं, स्यात् = रहता है।

**व्याख्या—** अङ्ग रूप से द्रव्य के विकारयुक्त होने पर नहीं; प्रत्युत पूर्णरूपेण उसके नष्ट होने पर ही प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए॥ १६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने पुरोडाश के सम्बन्ध में निर्धारण दिया है—**

**( १०८१ ) क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेशस्य = एक देश का जलना, अवर्जनीयत्वात् = वर्जित न होने से, तु = तो, सर्वदाहे = सम्पूर्ण द्रव्य के जल जाने , क्षामे = क्षार-खाक होने पर ही प्रायश्चित्त किया जाना, स्यात् = युक्त है।

**व्याख्या—** जब सम्पूर्ण द्रव्य (पुरोडाश) जल जाये, तभी प्रायश्चित्त किया जाना युक्त है। कारण यह कि पुरोडाश के निर्माण की प्रक्रिया में कहीं न कहीं जलने का, अग्नि का चिह्न हो ही जाता है। अतएव एकदेश के दाह में प्रायश्चित्त का विधान न मानकर सर्वदेश के दाह में ही प्रायश्चित्त सुनिश्चित मानना चाहिए॥ १७॥

**उक्त कथन में आशङ्का की अभिव्यक्ति करने के लिए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १०८२ ) दर्शनाद्वैकदेशे स्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेशे = एकदेश के जल जाने की स्थिति में, वा = भी, दर्शनात् = दृष्टान्त वाक्यों की प्राप्ति से, स्यात् = प्रायश्चित्त होना चाहिए।

**व्याख्या—** दृष्टान्त वाक्य है- 'यदातद्धविस्संतिष्ठेततदेव हविनिर्वपेत्'- जैसी भी, जिस प्रकार की हवि हो, उसी से हवन कर दिया जाना चाहिए। उक्त वाक्य में एकदेश के जलने पर भी यज्ञ करने के रूप में उसका ग्रहण किया जाना भी यह सिद्ध करता है कि एकदेश के जलने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है; क्योंकि यहाँ जो यज्ञ करना कहा गया है, यही उसका प्रायश्चित्त है (यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः-यज्ञ ही यज्ञ का प्रायश्चित्त है)॥ १८॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में किया—**

**( १०८३ ) अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** अन्येन = (उक्त हवि से भिन्न द्रव्य) आज्य से, वा = हवन किया जाना चाहिए, एतत् = इस प्रकार, शास्त्रात् = शास्त्र के विधान से, हि = निर्धारण करके, कारणप्राप्तिः = आहुति रूप कारण की प्राप्ति बतलायी गई है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त पुरोडाश से भिन्न आज्य हवि से हवन का विधान किये जाने से यही उपपन्न होता है कि समस्त पुरोडाश के समापन (विनष्ट) होने की स्थिति में ही अन्य आज्य रूपी हवि का ग्रहण प्राप्त है। अतः समस्त पुरोडाश के जलने पर ही प्रायश्चित्त विधान किया जाना चाहिए॥ १९॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १०८४ ) तद्धविः शब्दान्नेति चेत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उस, हविः = पुरोडाश रूप हवि का, शब्दात् = कथन कर्त्ता शब्द प्राप्त होने से, अन्य आज्य रूप आहुतियों से हवन किया जाना, न = युक्त नहीं, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** अन्य हवियों द्वारा हवन किया जाना, इसलिए युक्त नहीं; क्योंकि उस हवि का कथन करने वाला शब्द प्राप्त है। 'तद्धविः संतिष्ठेत्'- यह वाक्य उसी जले हुए द्रव्य से हवन करना विहित करता है॥ २०॥

**उक्त आशङ्का का निवारण अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार ने किया—**

**( १०८५ ) स्यादन्यायत्वादिज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** हविः = उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'हवि' पद, शब्दः = शब्द माना जाता है, स्यात् = है, इज्यागामी = (वह) यागनिष्ठ कर्म का वाचक है, अन्यायत्वात् = न्यायरहित होने से, तत् = क्योंकि उसका, लिङ्गसंयोगात् = इस लिङ्ग के साथ संयोग प्राप्त होने से (यही सिद्ध होता है)।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आशङ्का सर्वथा औचित्यहीन है; क्योंकि तद्धविः पद शब्द रूप से प्रस्तुत प्रसङ्ग में (कर्म का कथन करते हुए) याग से सम्बन्धित कर्म को स्पष्ट करता है, न कि दग्ध पुरोडाश का। अतएव

यहाँ 'तद्धविः संतिष्ठेत' से किसी प्रकार के दोष का प्राकट्य नहीं होता॥ २१ ॥

**अब दोनों संध्याओं एवं नित्यकर्म अग्निहोत्र न करने की दशा में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## (१०८६) यथाश्रुतीति चेत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** यथाश्रुतिः = प्रातःकाल एवं सायंकाल में हवन विधान का लोप कर देने से (हवन न करने से) श्रुति के अनुसार प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** 'पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्' यह वाक्य दोनों समय की संध्या में हवन न करने वाले पुरुष के लिए पाँच प्याला चावल दान करने का प्रायश्चित्त विधान सुनिश्चित करता है। यदि ऐसा कहा जाये, तो?॥ २२॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (१०८७) न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** न = उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, हि = क्योंकि, उपपातः = दोनों सन्ध्याओं में होने वाले (विहित) अग्निहोत्र का लोप ही, कारणम् = उक्त प्रायश्चित्त का कारण है, तत् = तथा वह, लक्षणत्वात् = प्रत्ययवाय दोष के होने से, उक्त वाक्य द्वारा विहित पाँच प्याला चावलों के दान से दूर नहीं किया जा सकता।

**व्याख्या—** प्रातः एवं सायं दोनों समय के लिए विहित अग्निहोत्र का लोप होने से (चूक होने-नियमभङ्ग होने से) जो दोष प्राप्त होता है, उसे 'प्रत्ययवाय' के नाम से जाना जाता है। उस दोष का निवारण पाँच प्याला चावल के दान करने (रूप प्रायश्चित्त विधान) मात्र से होना सम्भव नहीं। संभव है वह दान किन्हीं अन्य पापों का प्रायश्चित्त कर दे; किन्तु शास्त्र विहित नित्य कर्म जो मनुष्य को सर्वथा कर्त्तव्य ही हैं, उनका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है। आशय यह है कि उन्हें करना ही चाहिए॥ २३॥

**अगले दो सूत्रों में होतव्य द्रव्य एवं अभिषव निचोड़े गए सोम का सेवन क्रम बतलाया—**

## (१०८८) होमाभिषवभक्षणं च तद्वत्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = (वैसे ही) अन्य यज्ञशेष के जैसे, होमाभिषवभक्षणम् = यज्ञ में होम एवं अभिषव का भी भक्षण किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** हविष् आदि होतव्य द्रव्यों का यज्ञशेष के रूप में जैसे भक्षण प्राप्त है, वैसे ही अन्य सोम एवं अभिषव आदि हवनीय द्रव्यों का भी भक्षण प्राप्त है। अतः सोमादि का भी भक्षण शास्त्र-सम्मत है॥ २४॥

## (१०८९) उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद 'सुनिश्चितता के' अर्थ में प्रयुक्त है। उभाभ्याम् = होम तथा अभिषव द्रव्य दोनों प्रकार के ऋत्विजों के लिए भक्षणीय हैं, हि = क्योंकि, तयोः = उन दोनों होम तथा अभिषव के भक्षण का, धर्मशास्त्रम् = धर्म शास्त्र में कहीं भी, न = निषेध प्राप्त नहीं है।

**व्याख्या—** आहुति देने वाले ऋत्विकों एवं सोम को कूट-छानकर उसे होतव्य बनाने वाले ऋत्विक यह दोनों ही उक्त दोनों प्रकार के होम एवं अभिषव द्रव्य का भक्षण करने के अधिकारी हैं; क्योंकि इस भक्षण का बाधक-निषेध करने वाला वाक्य धर्मशास्त्रों में प्राप्त नहीं है॥ २५॥

**यज्ञीय प्रक्रिया में विहित समय में अग्नि का आधान न करने पर प्रायश्चित्त का क्रम बताते हैं—**

## (१०९०) पुनराधेयमोदनवत्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** ओदनवत् = चावल से परिपूर्ण पाँच प्यालों के जैसे, पुनराधेयम् = पुनः अग्न्याधान कर्म सम्पन्न कर लेना चाहिए।

**व्याख्या—** चावल से परिपूर्ण पाँच प्याले जिस प्रकार से यदि नियत समय पर स्थापित न किये जायें, तो उस स्थिति में जैसे उनका पुनर्स्थापन विहित है, वैसे ही जो सूर्योदय से पूर्व अग्नि का आधान नहीं करता-

['अनुदिते जुहोति'] तो उसे फिर से अग्नि का स्थापन करना चाहिए, यही उसका प्रायश्चित्त है॥ २६॥

**अब प्रातः काल एवं सायंकाल में की जाने वाली संध्या एवं अग्निहोत्र किये जाने का फल बतलाते हैं—**

**( १०९१ ) द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उभयो: = दोनों समय के संध्या होम का फल, द्रव्योत्पत्तेः = द्रव्य की उत्पत्ति, स्यात् = है।

**व्याख्या—** प्रात:काल एवं सायंकाल दोनों संध्याओं में हवन करने वाले पुरुष को द्रव्य की उत्पत्ति रूप फल की प्राप्ति होती है। दीर्घायुष्य के रूप में सौ वर्षों तक जीने की कामना को फल रूप में यजुर्वेद ४०/२ का मन्त्र भी विहित किया है- 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः'। धर्मशास्त्र भी दोनों काल में जप-हवन करने वालों को अभ्युदय रूपी फल विहित करता है- 'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते'॥ २७॥

**पंचशराव कर्म के सन्दर्भ में अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १०९२ ) पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद निश्चायक अर्थ में प्रयुक्त है। द्रव्यश्रुतेः = सान्नाय द्रव्य के स्थानापन्न श्रवण होने से, पञ्चशराव: = पंचशराव कर्म, प्रतिनिधिः = उसका प्रतिनिधि माना जाता, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सान्नाय द्रव्य की अनुपस्थिति में उसके स्थानापन्न के रूप में पंचशराव को ग्रहण किया जाना चाहिए। कारण यह कि शास्त्र ने पंचशराव को सान्नाय का प्रतिनिधि विहित किया गया है॥ २८॥

**( १०९३ ) चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद संशय रहित अर्थ में प्रयुक्त है। अवाच्ये = अकथनीय परमात्मा के विषय में, चोदना =प्रेरणा स्वरूप, द्रव्यदेवता = द्रव्य के दान का, विधिः = विधान, हि = अवश्य प्राप्त है।

**व्याख्या—** इन्द्र देवता के लिए पाँच शरावओदन का दान करना चाहिए- 'पञ्च शरावं ऐन्द्रं कुर्यात्'। इस वाक्य में विहित दान का विधान सुनिश्चित रूप से ईश्वर के लिए ही है, यही सिद्ध होता है॥ २९॥

**पंचशराव कर्म 'दर्श' का अङ्ग है, यह सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १०९४ ) स प्रत्यामनेत्स्थानात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** स = उक्त पंचशराव कर्म, स्थानात् = दर्शयाग का स्थानापन्न विहित होने से, प्रत्यामनेत् = उसका प्रतिनिधि स्वरूप है।

**व्याख्या—** पंचशराव यज्ञीय कर्म का विधान दर्श (अमावस्या) के स्थान पर उसके प्रतिनिधि रूप में विहित होने से तो यही सिद्ध होता है कि पंचशराव 'दर्श' का अङ्ग है॥ ३०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १०९५ ) अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** 'वा' यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। निमित्तसंयोगात् = निमित्त का (अमावस्या का) उक्त पंचशराव याग से संयोग पाये जाने से वह, अङ्गविधिः = दर्श का अङ्ग है।

**व्याख्या—** अमावस्या के साथ उक्त पंचशराव का निमित्त संयोग प्राप्त होने से वह उसका प्रतिनिधि नहीं; प्रत्युत उसका अङ्ग ही उपपन्न होता है॥ ३१॥

**विश्वजित याग का फल कथन करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

**( १०९६ ) विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** विश्वजित्त्वप्रवृत्तेः = विश्वजित् संज्ञक यज्ञीय कर्म में प्रवृत्त होने पर, कर्मणि = कर्मों में प्रवृत्त होने का, भावः = भाव उत्पन्न, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** 'विश्वजित्' याग का तात्पर्य उस याग से है, जिसका अनुष्ठान शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने पर किया जाता है। उक्त याग के सम्पादन के फलस्वरूप पुरुष अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। आशय यह है कि राज्य में सर्वत्र शान्ति हो जाने पर राजा के सहित सम्पूर्ण प्रजा शुभ कर्मों में लग जाती है, अत: उक्त याग का फल पुरुष को सत्कर्मों में प्रवृत्त करना है॥ ३२॥

**( १०९७ ) निष्क्रयवादाच्च॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, निष्क्रयवादात् = निष्क्रय-बिना मूल्य कथन किये जाने से भी उक्त विश्वजित् याग का फल उत्कृष्टतम है।

**व्याख्या—** विश्वजित् याग को सम्पन्न करने वाला पुरुष (राजा) विश्वविजयी होने के कारण किसी के द्वारा क्रय नहीं किया जा सकता तथा वह परतन्त्र न होकर सर्वथा स्वतन्त्र रहा करता है। अतएव उक्त विश्वजित् याग का फल सर्वोपरि माना जाता है॥ ३३॥

**दर्शपूर्ण-मास के यज्ञीय अनुष्ठान में व्रत का समय निर्धारण करने के भाव से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १०९८ ) वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** वत्ससंयोगे = दुग्धपान के लिए गौ के साथ वत्स (बछड़े) संयोग काल में, व्रतचोदना = व्रत का विधान , स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि वत्सों के दुग्धपान के समय व्रत किया जाना चाहिए- 'वर्हिषा वै पूर्णमासे व्रतमुपयन्ति वत्सेनामावास्यायाम्' बर्हि द्रव्य के द्वारा पूर्णमासी में तथा वत्ससंयोग में (दुग्धपान के समय) अमावस्या में व्रत किया जाना चाहिए। उक्त वाक्य से यही व्रत विधान किया गया है॥ ३४॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में किया है—**

**( १०९९ ) कालो वोत्पन्नसंयोगाद्यथोक्तस्य॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। उत्पन्नसंयोगात् = वत्स-गौ संयोग प्राप्त होने के समय से, यथोक्तस्य = उपर्युक्त वाक्य का आशय न होकर, काल: = उक्त वाक्य का आशय काल से है।

**व्याख्या—** पूर्णमासयाग में दुग्ध की विशेष आहुति समर्पित किये जाने का विधान है। उक्त याग दर्शपूर्णमास में दुग्धपान के समय जब बछड़े गौ के समीप ले जाये जाते हैं, उस समय व्रत का प्रारम्भ यजमान द्वारा कर दिया जाना चाहिए। अत: वही समय व्रत के लिए उपयुक्त माना गया है॥ ३५॥

**( ११०० ) अर्थापरिमाणाच्च॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थापरिमाणात् = वत्स रूप अर्थ का आशय वत्स शब्द तक सीमित नहीं, प्रत्युत उससे वत्सकाल का ग्रहण किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में वत्स साधन स्वरूप काल ही मुख्य है, अतएव यही सिद्ध होता है कि जिस समय दुग्धपान हेतु गौओं के साथ बछड़ों का संयोग होता है, उसी समय में व्रत किया जाना चाहिए। 'वत्सेन व्रतं उपयन्ति' वाक्य का तात्पर्य यही है॥ ३६॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष स्थापन के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११०१ ) वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिसंयोगात् = श्रुति (वत्सेनामावास्याम्) के संयोग से (वाक्य के कथन से), तु = तो, वत्स: = बछड़े को, तत् = उस व्रत का, अङ्गम् = अङ्ग होना, स्यात् = युक्त है।

**व्याख्या—** 'वत्सेनामावास्याम्' नामक श्रुति वाक्य से तो उक्त वत्स का व्रताङ्ग होना ही उपपन्न होता है। इसके

अतिरिक्त 'वत्सेन व्रतं उपयन्ति' वाक्य में भी श्रुति से प्रत्यक्षत: वत्स की ही प्राप्ति होती है, यह भी सर्वविदित है कि लक्षणा की अपेक्षा श्रुति ही प्रबल मानी जाती है। अत: वत्स को उक्त व्रत का अङ्ग मानना ही उचित है॥ ३७॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले तीन सूत्रों में करते हैं—**

**( ११०२ ) कालस्तु स्यादचोदना॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** अचोदना = श्रुति वाक्य से काल का विधान ही प्राप्त है, न कि व्रत संयोग का विधान, तु = इसलिए, काल: = उक्त वत्स पद से काल का ही ग्रहण, स्यात् = होना युक्त है।

**व्याख्या—** प्राप्त वाक्य 'बर्हिषा वै पूर्णमांसे व्रतं उपयन्ति वत्सेनामावास्याम्' में जो विधान प्राप्त होता है, वह वत्स संयोग का विधान न होकर काल का विधान है। काल के अप्राप्त होने से ही उक्त विधान की अपेक्षा की गई, वत्स संयोग तो सर्वथा सुलभ ही रहता है। अत: उसके लिए विधि की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए काल विधान ही माना जाना चाहिए॥ ३८॥

**( ११०३ ) अनर्थकश्च कर्मसंयोगे॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्मसंयोगे = व्रत कर्म के संयोग में, अनर्थक: = वत्स का सम्बन्ध अर्थहीन ही है।

**व्याख्या—** व्रत स्वरूप विशिष्ट कर्म में वत्ससंयोग सर्वथा अनुपयोगी ही माना जाता है। अतएव वत्स को व्रत का अङ्ग कदापि नहीं माना जा सकता॥ ३९॥



**( ११०४ ) अवचनाच्च स्वशब्दस्य॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्वशब्दस्य = वत्स वाचक शब्द के, अवचनात् = व्रत वाचक न होने से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र का तात्पर्य यह है कि 'वत्सेनामावास्यायाम्' वाक्य में वत्सेन इस तृतीया विभक्ति के श्रवण के कारण वत्स के व्रताङ्ग होने का भ्रम हो जाया करता है; किन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि वत्स पद उक्त व्रत का अङ्ग न होकर, वत्स संयोग के समय-काल का बोधक है, वस्तुत: यही अर्थ पूर्णत: स्वीकार्य है॥ ४०॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना करने के भाव से अगले दो सूत्र दिये हैं—**

**( ११०५ ) कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि, वत्स-गौ सम्बन्ध का आधार लेकर, काल: = काल का ही ग्रहण किया जाता है, संन्नयत्पक्षे = तो सन्नयत् पक्ष में, तत् = उस, लिङ्ग = काल ज्ञापक लिङ्ग का, संयोगात् = संयोग प्राप्त होने से, (वत्स संयोग न लेकर) संनयत् काल ही लिया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'संनयत्' पद का तात्पर्य दूध-दधि का सम्मिश्रण काल है। पूर्वपक्षी का कहना है कि वत्स-गौ संयोग से यदि काल अर्थ लिया जाता है, तो उक्त संनयत् पक्ष में काल बोधक लिङ्ग का संयोग प्राप्त होने से वत्स संयोग न मानकर, संनयत् काल ही मानना युक्त प्रतीत होता है॥ ४१॥

**( ११०६ ) कालार्थत्वाद्वोभयो: प्रतीयेत॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उभयो: = प्रात:-सायं दोनों ही संध्याओं (कालों) में, कालार्थत्वात् = काल के अर्थ की प्राप्ति होने से तो दोनों कालों के ग्रहण की ही, प्रतीयेत = प्रतीति होती है।

**व्याख्या—** युक्तिदाता का मत है कि प्रात:काल एवं सायंकाल दोनों ही समय में बछड़ा गौ के पास जाता है, ऐसी स्थिति में प्रात: के वत्स संयोग काल में व्रत किया जाना चाहिए? अथवा सायंकाल के समय? सूत्र के अनुसार तो दोनों ही कालों में व्रत करना चाहिए॥ ४२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले चार सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

**( ११०७ ) प्रस्तरे शाखाश्रयणवत्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** प्रस्तरे = प्रस्तर संज्ञक द्रव्य की उत्पत्ति काल में, शाखाश्रयणवत् = शाखा का ग्रहण किये जाने वाले काल के ही तुल्य काल का ग्रहण किया जाना युक्त है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार रात्रि के समय द्रव्य का उत्खनन किया जाता है तथा वत्सों को दूर हाँकने रूप अपाकरण हेतु शाखा को काटा जाता है, वही संध्याकाल व्रत के लिए उपयोगी मानना चाहिए॥ ४३॥

**( ११०८ ) कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कालविधि: = व्रत के लिए काल की विधि, उभयो: = प्रस्तररूप द्रव्य एवं शाखा दोनों के, विद्यमानत्वात् = उपलब्ध-विद्यमान समय से ग्रहण करना उचित है।

**व्याख्या—** उक्त व्रत का उपयुक्त समय तब समझना चाहिए, जब वत्सों के अपाकरण हेतु शाखा का छेदन तथा कुशा (द्रव्य) का उत्खनन-उत्पाटन सम्पन्न होता है। प्रात: समय के अमावस्या के पूर्व की रात्रि में जब शाखा छेदन तथा प्रस्तर रूप द्रव्य को उखाड़ा जाता है, वही समय व्रत का होता है॥ ४४॥

**( ११०९ ) अतत्संस्कारार्थत्वाच्च॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अतत्संस्कारार्थत्वात् = प्रात: समय का व्रत यजमान के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होने से, सायं समय में ही व्रत किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सायंकाल में ही व्रत का संकल्प लेना इसलिए उचित है; क्योंकि अगले दिन प्रात: समय में दर्श (अमावस्या) याग सम्पादित करना होता है। इसलिए सायं से ही व्रत किया जाना युक्त है॥ ४५॥

**( १११० ) तस्माच्च विप्रयोगे स्यात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तस्मात् = उससे - उक्त कारणों से, विप्रयोगे = प्रात:काल में दर्शयाग किया ही जाना है, स्यात् = इसलिए संध्या से ही व्रत किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** यजमान के व्रत में प्रात: समय का कोई उपयोग इसलिए नहीं; क्योंकि प्रात: समय में दर्शयाग उसे सम्पन्न ही करना है। अत: व्रत का उपयुक्त समय याग की पूर्व संध्या से ही मानना समीचीन है॥ ४६॥

**सूत्रकार ने अगले सूत्र में उपर्युक्त कथन का समापन किया—**

**( ११११ ) उपवेषश्च पक्षे स्यात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उपवेष: = उपयुक्त व्रत का समय, पक्षे = सायं संध्या में ही समझना, स्यात् = युक्त है।

**व्याख्या—** निष्कर्षत: यह सिद्ध हुआ कि उक्त व्रत का निश्चित समय प्रात:काल न होकर सायंकाल ही है। इसलिए यजमान को संध्याकाल से ही व्रत को प्रारम्भ कर देना चाहिए॥ ४७॥

## ॥ इति षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

# ॥ अथ षष्ठाध्याये पञ्चमः पादः ॥

**प्रस्तुत पञ्चम पाद का शुभारम्भ करते हुए सूत्रकार ने अभ्युदय इष्टि में पूर्वपक्ष की स्थापना की है—**

## ( १११२ ) अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** अभ्युदये = अभ्युदय नामक इष्टि में, कालापराधात् = अमावस्या तिथि में दर्श की भ्रान्ति होने से यज्ञ की सम्पन्नता में, इज्याचोदना = पुनः यज्ञ किये जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है, यथा = जिस प्रकार, पञ्चशरावे = पंचसंज्ञक यज्ञ में प्रेरणा, स्यात् = प्राप्त होती है।

**व्याख्या—** पाँच की संख्या में अन्न युक्त पात्रों को दान हेतु स्थापित किया जाना ही पंचशराव है। पंचशराव इष्टि में होतव्य द्रव्य के दूषित होने की स्थिति में उसके स्थान पर अन्य होतव्य द्रव्य का उपादान किया जाना चाहिए। उक्त अभ्युदय इष्टि में इसी प्रकार हवि के बदले जाने का विधान प्राप्त है। अभ्युदय इष्टि का तात्पर्य उस इष्टि से है, जिसमें अमावस्या की भ्रान्ति से चतुर्दशी तिथि में ही यज्ञ किया जाता है। अभ्युदय इष्टि में पुनः इज्या का विधान किया जाना विहित है, ऐसा समझना उचित है ॥ १ ॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में किया है—**

## ( १११३ ) अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** विद्यमानत्वात् = क्योंकि ऋत्विक् गणों के यथावस्थित विद्यमान रहने के कारण, अपनयः = दोष युक्त द्रव्य का त्याग किया जाना, वा = उचित है।

**व्याख्या—** ऋत्विक् गणों के यथावस्थित विद्यमान रहने से उनका त्याग किया जाना संभव नहीं है तथा द्रव्यादि के दूषित होने की स्थिति में अन्य शुद्ध द्रव्य के उपलब्ध रहने से उक्त दूषित द्रव्य का त्याग असम्भव नहीं, अतः इस दूषित द्रव्य का त्याग किया जाना सर्वथा उचित है ॥ २ ॥

## ( १११४ ) तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** शब्दानाम् = शब्दों का भी, तद्रूपत्वात् = वही स्वरूप होने के कारण, च = भी वही उचित है।

**व्याख्या—** ऋत्विक् गणों द्वारा यज्ञीय व्यवहार में लाये जाने वाले शब्दों के स्वरूप में भेद का अभाव होने से भी ऋत्विकों का त्याग किया जाना उचित नहीं और सामग्री (होतव्य द्रव्य) में दोष के कारण विकार का होना स्वाभाविक है, अतः द्रव्य का त्याग समीचीन है ॥ ३ ॥

## ( १११५ ) आतञ्चनाभ्यासस्य च दर्शनात् ॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, आतञ्चनाभ्यासस्य = आतञ्चन (दही जमाने के लिए दूध में जामन देना) स्वरूप अभ्यास के, दर्शनात् = देखे जाने से भी ऋत्विक् आदि का अपनय युक्त नहीं।

**व्याख्या—** शब्द की पुनरावृत्ति में शब्द के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं आता, उसकी प्राप्ति पूर्ववत् ही होती है। उसके क्रम में किया जाने वाला कर्म मात्र आतञ्चन कर्म का अभ्यास है और उस अभ्यास से शब्द का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता, जैसे दुग्ध का स्वरूप दधि के रूप में (केवल निमित्त मात्र से) हो जाता है। अतएव ऋत्विकों में विकृति का अभाव होने से उनका त्याग किया जाना उपयुक्त एवं आवश्यक नहीं है ॥४ ॥

**होतव्य द्रव्य का त्याग किस कारण किया जाना चाहिए ? अगले सूत्र में उस हेतु का कथन करते हैं—**

## ( १११६ ) अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** अपूर्वत्वात् = जो पूर्व में न हुआ हो, विधानम् = उस विधि की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—**विधि अपूर्व के लिए होती है, अन्यों के लिए (जिनमें दोष नहीं है, उनके लिए) नहीं। इसलिए जो द्रव्य दोष से सर्वथा मुक्त हैं, उनके लिए उक्त अपनय (अलग करने) का विधान मानना अयुक्त है। उक्त अपनय का विधान विकार युक्त द्रव्य के लिए ही मानना चाहिए ॥ ५ ॥

**उपर्युक्त पंचशराव के सन्दर्भ में आचार्य उदाहरण देते हैं—**

**( १११७ ) पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ**—पयोदोषात् = पय (दूध) से सम्बन्धित दोष से, पञ्चशरावे = पञ्चशराव संज्ञक यज्ञ में दोष (विकार) की प्राप्ति होती है, हि = अतएव निश्चय ही, इतरत् = उससे भिन्न अन्य कर्म, अदुष्टम् = दोष युक्त नहीं माने जा सकते।

**व्याख्या**—जिन प्यालों में दूध रखना विहित है, उसमें दोष होने से उनमें रखा दूध भी दूषित हो जाता है। इसीलिए यज्ञ में अपनय का (सामग्री परिवर्तन का) विधान है। जिन द्रव्यों में विकार उत्पन्न नहीं होता, उनमें अपनय की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती, अत: सामग्री ही परिवर्तनीय है, उसी का अपनय किया जाना युक्त है॥ ६॥

**सान्नाय के दूषित ( विकारयुक्त ) होने पर संदेहाभिव्यक्ति के भाव से अगला सूत्र दिया—**

**( १११८ ) सान्नाय्येऽपि तथेति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ**— सान्नाय्ये = दधि स्वरूप द्रव्य, अपि = भी, तथा = वैसे ही अन्य द्रव्यों के समान विकार युक्त हो जाता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या**— यदि यह कहा जाये कि अन्य द्रव्यों के समान दधि रूप द्रव्य भी विकारवान् हो जाता है, यदि ऐसा माना जाये, तो क्या यह कथन उचित नहीं होगा?॥ ७॥

**उक्त सन्देह का निवारण सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में किया—**

**( १११९ ) न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ**— न = उक्त संदेह का कोई औचित्य नहीं है, हि = क्योंकि, तस्य = उस दधिरूप द्रव्य के, अदुष्टत्वात् = अविकारी होने से, अविशिष्टम् = तथा दूसरे होतव्य द्रव्य के साथ ऐसा न होने से, उसका प्रयोग अन्य, कारणम् = हेतुओं से किया जाता है।

**व्याख्या**— उपर्युक्त सन्देहाभिव्यक्ति सर्वथा अनुचित है। कारण यह कि दधि जल्दी विकार युक्त नहीं होता तथा दधि का प्रयोग भी होतव्य द्रव्य के रूप में न होकर अन्य प्रकार से होता है॥ ८॥

**( ११२० ) लक्षणार्था शृतश्रुतिः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ**— शृतश्रुतिः = श्रुति के द्वारा सान्नाय चरु हवि के लिए नहीं, लक्षणार्थाः = प्रत्युत अन्य पदार्थों को संस्कारित करने के काम आता है।

**व्याख्या**— सान्नाय उपयोग अन्य द्रव्य के संस्कारार्थ होता है। इसके अतिरिक्त दुग्ध आदि द्रव्य अल्प समय में दूषित हो जाते हैं, जबकि दधि सद्यः विकारी नहीं होता। अतएव सान्नाय में विकार मानना उचित नहीं है॥ ९॥

**उपांशुयाग में अपनय के विधान सम्बन्ध में सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( ११२१ ) उपांशुयागेऽवचनाद्यथा प्रकृति॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**— उपांशुयागे = उपांशुयाग में, अवचनात् = अपनय से सम्बन्धित विधि का कथन न होने से, यथाप्रकृति = निर्धारित द्रव्य पूर्ववत् बना रहता है।

**व्याख्या**— अपनय विषयक किसी भी विधि वचन की प्राप्ति उपांशु याग में न होने से उक्त याग में जिस होतव्य द्रव्य का निर्धारण पूर्व में कर लिया जाता है, उस द्रव्य की स्थिति पूर्ववत् ही बनी रहती है॥ १०॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले चार सूत्रों में प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( ११२२ ) अपनयो वा प्रवृत्या यथेतरेषाम्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— प्रवृत्त्याः = प्रवृत्तियों के अनुसार, वा = भी, यथा इतरेषाम् = अन्य यज्ञों की तरह, अपनयः = उपांशुयाग में अपनय किया जाना उचित है।

**व्याख्या—** उपांशु याग में भी अपनय (द्रव्य परिवर्तन) का सम्पादन उपयुक्त है एवं याग में भी कालापराध से द्रव्य का विकारी होना संभव है। अत: जब द्रव्य में विकार उत्पन्न होगा, तब उसका अपनय अवश्य होगा। इसलिए उपांशु याग में अपनय किया जाना चाहिए॥ ११॥

**( ११२३ ) निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उस उक्त द्रव्य का, संयोगात् = विकार के साथ सम्बन्ध होने से, निरुप्ते = होतव्य द्रव्य के दूषित होने की स्थिति में, स्यात् = अपनय होना चाहिए।

**व्याख्या—** होतव्य द्रव्य जब कालापराध से विकारयुक्त हो जाता है, तब यज्ञोपयोगी न होने से उस द्रव्य का अपनय (द्रव्य परिवर्तन) किया जाना युक्ति-युक्त माना गया है॥ १२॥

**( ११२४ ) प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्ते = द्रव्य के विकारावस्था में प्रवृत्त होने पर, वा = भी, प्रापणात् निमित्तस्य = निमित्त की उपलब्धता से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** समय प्रभाव से द्रव्य जब विकार की दशा में प्रवृत्त होता है, तब उसका अपनय अनिवार्य हो जाता है। अत: इस युक्ति से भी अपनय अनिवार्य हो जाता है॥ १३॥

**( ११२५ ) लक्षणमात्रमितरत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** इतरत् = निरुक्त के कथनानुसार, लक्षणमात्रम् = प्रवृत्ति का बोधक होने से भी विकारी द्रव्य का त्याग किया जाना उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** निरुक्त में जो कथन प्राप्त होता है, वह प्रवृत्ति का बोध कराने वाला है, अत: उससे भी यही उपपन्न होता है कि विकार युक्त सामग्री का अपनय अनिवार्य है॥ १४॥

**सूत्रकार ने अगले सूत्र में दृष्टान्त की अभिव्यक्ति की—**

**( ११२६ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = इसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य स्थलों पर भी सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से उपर्युक्त विवेचनों में अपनय की अनिवार्यता बतलायी गई है, वैसा ही अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होता है॥ १५॥

**अगले क्रम में अभ्युदय इष्टि के अन्तर्गत निर्वाप के सन्दर्भ से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( ११२७ ) अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्या-श्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** प्राकृतीभ्य: = प्रकृति के देवताओं के लिए, अभ्युदिते = वह अभ्युदय इष्टि, अनिरुप्ते = जिसमें निर्वाप हुआ ही नहीं, निर्वपेत् = उस इष्टि में निर्वाप करना चाहिए, आश्मरथ्य: = आश्मरथ्य आचार्य का कहना, इति = इस प्रकार है कि, तण्डुलभूतेषु = चावलों में, अपनयात् = अपनय की प्राप्ति होने से, यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** आचार्य आश्मरथ की मान्यता यह है कि अभ्युदय इष्टि से जिस होतव्य द्रव्य (सामग्री) को शुद्ध नहीं किया गया, उसे उसी प्रकार शुद्ध कर लेना चाहिए, जैसे चावलों को शुद्ध किया जाता है॥ १६॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले चार सूत्रों में प्रस्तुत किया—**

**( ११२८ ) व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** आलेखन: = आलेखन संज्ञक आचार्य के मतानुसार, तु = तो, व्यूर्ध्वभाग्भ्य: = आंशिक रूप से विकारग्रस्त सामग्री का केवल ऊपरी भाग का अपनय किया जाना चाहिए, देवतापनयस्य = क्योंकि देवता का अपनय, तत्कारित्वात् = उससे ही हो जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य आलेखन की मान्यता यह है कि समग्र सामग्री को परिवर्तित न करके उसके विकारवान् ऊपरी भाग को ही हटाना चाहिए। ऊपर-ऊपर का भाग हटा देने से देवता का अपनय हो जाया करता है ॥१७॥

**( ११२९ ) विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥ १८ ॥**

**सूत्रार्थ—** तत् =उस सम्पूर्ण सामग्री के, गुणत्वात् = विकार स्वरूप गुणों के युक्त होने से, विनिरुप्ते = पूर्णतया दूषित सामग्री में, मुष्टीनाम् = मात्र मुट्ठी भर सामग्री का, अपनयः = निष्कासन किया जाना, न = युक्त नहीं।

**व्याख्या—** जो द्रव्य पूर्णतया दूषित हो गया हो, उसमें से यदि मात्र मुट्ठीभर द्रव्य का ही अपनय किया जाता है, तो उससे द्रव्य अविकारी नहीं हो सकता। अतः समग्र सामग्री का ही अपनय किया जाना उचित है ॥१८॥

**उपर्युक्त कथन में युक्ति देने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११३० ) अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥ १९ ॥**

**सूत्रार्थ—** अप्राकृतेन = अप्राकृतभाव से, संयोगः = संयोग की प्राप्ति होती है, हि = क्योंकि, तत्स्थानीयत्वात् = तत् स्थानीय होने से (यही उपपन्न है।)

**व्याख्या—** सम्पूर्ण सामग्री का अपनय स्वरूप त्याग का कथन इस उद्देश्य से किया है; क्योंकि विकार युक्त सामग्री के सम्बन्ध से अविकारी सामग्री में भी दोषपने की प्रवृत्ति हो जायेगी। अतएव समस्त द्रव्य (सामग्री) का ही त्याग होना चाहिए॥ १९॥



**उपर्युक्त कथन में युक्ति देने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११३१ ) अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥ २० ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, इतरस्य = दूषित सामग्री से इतर पवित्रतायुक्त सामग्री के, अभावात् = अभाव के कारण, दूषित द्रव्य का ही शुद्धिकरण, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** समग्र सामग्री के दूषित होने की स्थिति में जब शुद्ध सामग्री सर्वथा अनुपलब्ध हो, तो ऐसी दशा में उसी दूषित सामग्री को ही शुद्ध करके उसे उपयोगी बनाना चाहिए॥ २०॥

**अगले क्रम में सान्नाय्य का निर्वाप बतलाते हैं—**

**( ११३२ ) सान्नाय्यसंयोगान्नासन्नयतः स्यात् ॥ २१ ॥**

**सूत्रार्थ—** सान्नाय = दूध एवं दधि के पारस्परिक, संयोगात् = संयोग से विकार उत्पन्न होने की स्थिति में, सन्नयतः = सान्नाय कर्म के कर्त्ता का भी अपनय, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** सान्नाय्य में दूध एवं दही के सम्मिश्रण से यदि विकार की उत्पत्ति हो गई हो, तो वैसी दशा में भी अपनय (निर्वाप) किया जाना चाहिए। कारण यह कि सान्नाय्य में विकार का होना असम्भव नहीं, इसलिए निर्वाप कार्य उचित है॥ २१॥

**अगले सूत्र में दोनों ही परिस्थितियों में निर्वाप का कथन करते हैं—**

**( ११३३ ) औषधसंयोगाद्वोभयोः ॥ २२ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, औषधसंयोगात् = किसी विशिष्ट औषधि का संयोग सामग्री के साथ हो जाने से विकार हो जाने की स्थिति में, उभयोः = दोनों ही स्थिति में निर्वाप किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सामग्री में जब किसी औषधि विशेष के सम्मिश्रण से विकार की प्राप्ति हुई हो, तो उस दशा में भी निर्वाप कर लेना उचित है; क्योंकि उससे ऋत्विक् आदि को स्वास्थ्य सम्बन्धी हानि हो सकती है। अतएव ऋत्विक् आदि को उक्त हानि से बचाने के लिए निर्वाप का होना अति आवश्यक है॥ २२॥

**उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के भाव से अगला सूत्र दिया गया—**

## ( ११३४ ) वैगुण्यान्नेति चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** वैगुण्यात् = विशिष्ट औषधि के निर्वाप से तो उक्त सामग्री ही विगुण हो जायेगी, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, न = तो वह युक्त नहीं?

**व्याख्या—** उक्त सान्नाय कर्म के सम्पादन में जिस औषधि विशेष का उपयोग किया गया है, उसका निर्वाप करने से तो समग्र सामग्री ही विगुण हो जायेगी, पूर्वपक्षी की यही मान्यता है॥ २३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—**

## ( ११३५ ) नातत्संस्कारत्वात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—**तत् = उक्त सामग्री का औषधि विशेष से, असंस्कारत्वात् = संस्कार न होने से, न = उक्त कथन युक्त नहीं।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि यज्ञ सामग्री यदि शुद्ध होगी, तो उससे सभी को लाभ पहुँचेगा तथा यदि वह दूषित अथवा विकारयुक्त होगी, तो उससे ऋत्विक् आदि याज्ञिकों को हानि पहुँचने की संभावना रहेगी। अत: यह समझना चाहिए, उक्त औषधि विशेष से सामग्री को किसी भी प्रकार संस्कारित नहीं किया जाता॥ २४॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने विश्वजित् याग के अधिकार का उल्लेख किया है—**

## ( ११३६ ) साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** सामि = याग का समापन हुए बिना ही, उत्थाने = उठ जाने की स्थिति में, क्रीते = क्रयपूर्वक प्राप्त सोम के साथ, विभागसंयोगात् = विभाग संयोग के प्राप्त होने से, विश्वजित् = विश्वजित् याग करना युक्त है।

**व्याख्या—** यज्ञीय दीक्षा ग्रहण करके यज्ञ की पूर्णता के लिए अनुष्ठानरत पुरुष यदि याग के समापन से पूर्व ही उठ जाये, तो उसको विश्वजित् याग करना चाहिए। आशय यह कि यज्ञ सत्र के पूर्ण न होने की स्थिति में क्रीत सामग्री से विश्वजित् याग को सम्पन्न करे॥ २५॥

## ( ११३७ ) प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रवृत्ते = सत्र की प्रवृत्तता में ही, निमित्तस्य = निमित्त के, प्रापणात् = प्राप्त होने से (उक्त कथन की प्रामाणिकता है)।

**व्याख्या—** विश्वजित् का निमित्त उक्त सत्र का असमापन है। यदि सत्र का समापन न हो, तो उस स्थिति में विश्वजित् याग का होना शक्य नहीं है॥ २६॥

## ( ११३८ ) आदेशार्थेतरा श्रुतिः॥ २७॥

**सूत्रार्थ—**इतरा = अन्य-सोम को विभक्त करने वाला , श्रुति: = श्रुति का कथन, आदेशार्था = आदेश रूप कथन है।

**व्याख्या—** 'सोमं विभज्य यजेरन्' सोम का विभाग करने के अनन्तर याग करे, इस श्रुति वाक्य के कथन का आशय मात्र सोम का विभाग किया जाना नहीं; प्रत्युत समस्त यज्ञीय द्रव्यों के विभाग के लिए किया गया कथन है, ऐसा समझना चाहिए। इस मान्यता से किसी प्रकार के दोष का प्राकट्य भी नहीं होता॥ २७॥

**ज्योतिष्टोम याग में दीक्षित पुरुषों के समय के नियोजन को लेकर पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( ११३९ ) दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** दीक्षापरिमाणे = यज्ञ दीक्षा के परिमाण में, अविशेषात् = काल विषयक निर्देश न होने से, यथाकामि = दीक्षित पुरुष अपनी इच्छानुसार दीक्षा में समय का नियोजन करे।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग में दीक्षित होने वाला पुरुष उस यज्ञीय कर्मानुष्ठान में समय का नियोजन अपनी इच्छा के अनुसार करे; क्योंकि इस विषय में शास्त्र द्वारा काल के नियम का कोई भी विधान उपलब्ध नहीं है॥ २८॥

**पूर्वपक्षी के उपर्युक्त कथन का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—**

**( ११४० ) द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** द्वादशाहः = याग में दीक्षित व्यक्ति बारह दिन तक नियमों का पालन करे, लिङ्गात् = दीक्षा का बोध कराने वाले साक्ष्य से, तु = तो, ऐसा ही प्राप्त, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** दीक्षा विषयक शास्त्रीय व्यवस्था है कि ज्योतिष्टोम याग में दीक्षित व्यक्ति बारह दिनों तक यज्ञीय अनुशासन में रहकर दीक्षा के नियमों का विधिवत् पालन करे॥ २९॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने 'गवामयन' संज्ञक सत्र दीक्षाकाल हेतु पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( ११४१ ) पौर्णऽमास्यामनियमोऽविशेषात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** पौर्णमास्याम् = श्रुति वाक्य 'पुरस्तात्पौर्णमास्याः ' में, अविशेषात् = पूर्णिमा विशेष का उल्लेख न होने से, अनियमः = किसी विशिष्ट पूर्णिमा में दीक्षा का नियम नहीं है।

**व्याख्या—** श्रुति वाक्य 'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्'- (अर्थात् 'पूर्णिमा से चार दिन पूर्व यजमानों की दीक्षा होनी चाहिए) में पठित पौर्णमासी पद विशिष्टता रहित (सामान्य) है। विशिष्ट पूर्णिमा का ग्रहण तो उसी स्थिति में सम्भव हो सकता है, जब वाक्य में प्रयुक्त पौर्णमासी पद के साथ माघ आदि किसी विशेषण का पाठ प्राप्त होता। अतः किसी भी एक पौर्णमासी के चार दिन पूर्व उक्त 'गवामयन' सत्र में यजमानों को दीक्षित किया जाना चाहिए॥ ३०॥



**( ११४२ ) आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** आनन्तर्यात् = अन्य वाक्य से, तु= तो, चैत्री = चैत्र माह की पौर्णमासी का बोध, स्यात् = प्राप्त है,

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य के अनन्तर पठित वाक्य- 'ऋतुमुखं वा एषा पौर्णमासी संवत्सरस्य या चैत्री पौर्णमासी' का वाक्य शेष चैत्र की पूर्णिमा का स्पष्ट कथन करता है॥ ३१॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

**( ११४३ ) माघी वैकाष्टकाश्रुतेः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** उपर्युक्त वाक्य में प्राप्त पौर्णमासी पद से, माघीः = माघ मास की पूर्णिमा का ग्रहण किया गया है, एकाष्टकाश्रुतेः = क्योंकि माघी पूर्णिमा से आगे आने वाली अष्टमी का श्रुति प्रमाण प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'एकाष्टका' पद का तात्पर्य माघ मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी है। 'तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते' यह वाक्य एकाष्टका में सोम के क्रय का विधान करता है। 'ऋतुमुखं वा एष' आदि विधि वाक्य में जो चैत्र की पूर्णिमा को ऋतुओं का मुख्य कथन किया गया है, उसे उपचार से किया गया कथन समझना चाहिए। कारण यह कि माघ की पूर्णिमा से ही वसन्त ऋतु का शुभारम्भ होता है, न कि चैत्र की पूर्णिमा से। वसन्त को ऋतुराज कहने से उसकी प्रमुखता सर्वविदित है। अतएव उक्त वसन्त का शुभारम्भ जिस पूर्णिमा से होता है, उसी पूर्णिमा को वसन्त का मुख मानना युक्त है। सार संक्षेप यह है कि उक्त 'गवामयन, संज्ञक सत्र में माघी पूर्णिमा से चार दिन पूर्व एकादशी तिथि में यज्ञ दीक्षा प्रारम्भ कर माघ मास की कृष्ण सप्तमी तक उसका समापन करके अष्टमी को सोम क्रीत कर्म सम्पादन करे॥ ३२॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का करते हुए पूर्वपक्षी की मान्यता प्रस्तुत की—**

**( ११४४ ) अन्या अपीति चेत्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—**अन्याः = अन्य कृष्णपक्ष की अष्टमियों को, अपि = भी एकाष्टका है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** एकाष्टका की ही भाँति अन्य कृष्णाष्टमियाँ भी हैं। अतएव उन सबको भी एकाष्टका पद की वाच्य होने से, उन्हें भी उसी के तुल्य माना जाना चाहिए॥ ३३॥

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के परिहारार्थ सूत्रकार ने अगले चार सूत्र प्रस्तुत किए—

**( ११४५ ) न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** भक्तित्वात् =लक्षणा द्वारा, लोके =लोक प्रचलन में, हि =सुनिश्चित रूप से, न एषा = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** लोक प्रचलन में लक्षण से माघ मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को ही 'एकाष्टका' पद से व्यवहृत किये जाने से उक्त पूर्वपक्ष की मान्यता औचित्यहीन है॥ ३४॥

**( ११४६ ) दीक्षापराधे चानुग्रहात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, दीक्षापराधे = दीक्षापराध में भी माघ कृष्णाष्टमी का, अनुग्रहात् = ग्रहण प्राप्त होने से (उक्त कथन उपपन्न होता है)।

**व्याख्या—** माघ मास की कृष्णाष्टमी ही 'एकाष्टका' है, इसकी सिद्धि 'एषा वै संवत्सरस्य पत्नीयदेकाष्टका' (यह जो अष्टका है, यह ही इस संवत्सर की पत्नी है) इस वाक्य से भी होती है। उक्त वाक्य से यह भी उपपन्न हो जाता है कि माघी कृष्णाष्टमी से पृथक् अन्य अष्टमियाँ 'एकाष्टका' नहीं हैं॥ ३५॥

**( ११४७ ) उत्थाने चानुप्ररोहात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उत्थाने = एकाष्टका की उपलब्धता में ही, अनुप्ररोहात् = वृक्षों में अंकुर-पत्ते आदि का निकलना प्राप्त होने से भी, उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** वृक्ष वनस्पत्तियों में नई कोपलें, नवीन पत्ते पुष्पादि का होना, जिस अष्टमी के आने पर होता है, वह यही एकाष्टमी ही है, उसी का यहाँ ग्रहण है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३६॥

उक्त अर्थ में एक अन्य हेतु भी प्रस्तुत किया—

**( ११४८ ) अस्यां च सर्वलिङ्गानि॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सर्वलिङ्गानि = उक्त सभी लक्षणों के पाये जाने से, अस्याम् = 'गवामयन' के लिए यही एकाष्टका (माघ कृष्णाष्टमी) ही ग्राह्य है।

**व्याख्या—** उक्त समस्त हेतुओं की प्राप्ति इसी अष्टमी में प्राप्त होने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि 'गवामयन' के लिए उपर्युक्त माघ कृष्णाष्टमी (एकाष्टका) ही समीचीन है॥ ३७॥

दीक्षा प्राप्त पुरुष के अग्निहोत्रादि किये जाने में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—

**( ११४९ ) दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** दीक्षाकालस्य = दीक्षाकाल का, शिष्टत्वात् = कथन प्राप्त होने से, नियतानाम् = नियत कर्मों के, अतिक्रमे = अतिक्रमण की स्थिति में, अनुत्कर्षः = उत्कर्ष इसलिए संभव नहीं, प्राप्तकालत्वात् = क्योंकि उन कर्मानुष्ठानों का काल विहित है।

**व्याख्या—** न ददाति, न पचति, न जुहोति आदि वाक्यों की प्राप्ति से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ दीक्षा लेने वाला पुरुष अपने नियत कर्मों का परित्याग कदापि न करे। कारण यह कि उपर्युक्त सभी कर्मों का समय निश्चित होने से उन कर्मों के किये जाने में कोई बाधा नहीं है॥ ३८॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—

**( ११५० ) उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** दीक्षितत्वात् = दीक्षित व्यक्ति के लिए, उत्कर्षः वा = उत्कर्ष पद, हि = निश्चय ही, अविशिष्टम् = सामान्य कर्मों को न किये जाने में, कारणम् = हेतु है।

**व्याख्या—** एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए दीक्षित होने वाले व्यक्ति को दीक्षाकाल में अन्य

सामान्य (नियत) कर्मों को त्याग देना चाहिए। उसे अपना सारा ध्यान उस प्रधान कर्म पर ही लगाना चाहिए, जिसके सम्पादनार्थ उसने दीक्षा ग्रहण की है। उत्कर्ष पद का यही आशय है॥ ३९॥

**दीक्षित पुरुष प्रतिहोम न करे, अगले दो सूत्रों में यही निषेध बतलाते हैं—**

## ( ११५१ ) तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उस दीक्षा काल में, प्रतिहोमः = प्रतिहोम (विहित समय पर यज्ञ न हो पाने के स्थान पर यज्ञ करना प्रतिहोम है) किया जाना, विद्यते = प्राप्त, न = नहीं है, यथा = जिस प्रकार, पूर्वेषाम् = दीक्षित होने से पूर्व के लोगों के लिए प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्र का सार संक्षेप यह है कि जैसा प्रतिहोम पूर्व के लोगों के लिए विहित है, वैसा अग्निष्टोम की दीक्षा लेने वाले पुरुष के लिए विहित न होने से उसे प्रतिहोम नहीं करना चाहिए॥ ४०॥

## ( ११५२ ) कालप्राधान्याच्च॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कालप्राधान्यात् = काल की प्रधानता की प्राप्ति से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** उदिते जुहोति (सूर्योदय काल में हवन करता है)। वाक्य में दीक्षा काल में प्रतिहोम का निषेध व्यक्त होता है। इस प्रसङ्ग में काल की प्रधानता है। जैसे-नदी का वेग आगे बढ़ जाता है, तो वह नहीं लौटता, वैसे ही होम का समय निकल जाने पर नहीं लौटता। इसीलिए प्रतिहोम का निषेध मान्य है॥ ४१॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने कुछ अन्य प्रसंगों में भी प्रतिहोम का अनुशासन बतलाया है—**

## ( ११५३ ) प्रतिषिद्धाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अवभृथात् = अवभृथ इष्टि से यजन करने के, ऊर्ध्वम् = पश्चात्, इष्टेः = उदवसानीय इष्टि करने वाले पुरुष के लिए भी, प्रतिषिद्धः = प्रतिहोम का निषेध है।

**व्याख्या—** जिस इष्टि के अन्तर्गत 'वरुणस्यपाशः' मन्त्र से यज्ञाग्नि में यजमान तीन-तीन समिधाओं का प्रक्षेपण करते हैं, उस इष्टि का नाम 'अवभृथ' है। इस 'अवभृथ' इष्टि का सम्पादन करने वाला यजमान यदि उक्त इष्टि के अनन्तर अन्य इष्टि (उदवसानीय) को सम्पन्न करता है, तो उसे प्रतिहोम नहीं करना चाहिए।॥४२॥

## ( ११५४ ) प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि कारणवश हवन का लोप हो जाने पर, प्रतिहोमः = प्रतिहोम सम्पन्न करना पड़े, सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि = तो संध्याकाल में अग्निहोत्र आदि कर्मों को, हूयेरन् = करना चाहिए।

**व्याख्या—** होम-काल के विलुप्त हो जाने की स्थिति में यदि प्रतिहोम करने की स्थिति बनती है, तो सायंकालीन अग्निहोत्र के साथ छूटे हुए यज्ञ-कर्म प्रतिहोम के रूप में सम्पादित कर लेना चाहिए॥ ४३॥

**षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम विहित होने के उद्देश्य से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( ११५५ ) प्रातस्तु षोडशिनि॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** षोडशिनि = षोडशी संज्ञक इष्टि में प्रतिहोम, तु = तो, प्रातः = प्रातःकाल में करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्र में प्रतिहोम कर्म का काल निर्धारित करने के अनन्तर आचार्य ने अन्य पक्षान्तर्गत षोडशी संज्ञक इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करना बतलाया है॥ ४४॥

**अगले सूत्र में भेदन निमित्तक प्रायश्चित्त में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( ११५६ ) प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** सर्वत्र = सभी स्थलों में, दोषसामान्यात् = दोषों की समानता प्राप्त होने से, अधिकारे = प्रकरणान्तर्गत सभी प्रकार की इष्टियों में, प्रायश्चित्तम् = प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञीय उपकरणों - साधनों के छिन्न-भिन्न अथवा खण्डित हो जाने की स्थिति में दोष की समानता के आधार पर समस्त इष्टियों में प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए॥ ४५॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में किया—**

**( ११५७ ) प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दहेतुत्वात् = प्रायश्चित्त में हेतु प्रमाण वाक्य होने से, प्रकरणे वा = प्रायश्चित्त प्रकरण के अन्तर्गत ही प्रायश्चित्त विधान किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कहना है कि समस्त इष्टियों में प्रायश्चित्त न करके जिस प्रकरण में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, उसी प्रकरण में प्रायश्चित्त विधान किया जाना चाहिए। कारण यह कि निश्चित प्रकरण में प्रायश्चित्त के विधान को बतलाने वाले शब्द ही उक्त प्रायश्चित्त में हेतु माने गये हैं॥ ४६॥

**( ११५८ ) अतद्विकाराच्च॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अतद्विकारात् = सम्पूर्ण इष्टियों में भेदन निमित्तक विकार की प्राप्ति न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन कि भेदन निमित्तक विकार की प्राप्ति सर्वत्र नहीं हुआ करती, अतएव जहाँ विकार प्राप्त हो, वहीं प्रायश्चित्त विधान सम्पन्न किया जाना चाहिए॥ ४७॥

**आर्यों के लिए अभक्ष्य पदार्थ कथन करने के उद्देश्य से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११५९ ) व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्य्याणां तत्प्रतीयेत॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** व्यापन्नस्य = व्यापन्न द्रव्य की, अप्सु = जलों में, गतौ = गति की प्राप्ति से, आर्य्याणाम् = आर्यों के लिए, यत् = जो, अभोज्यम् = अभक्ष्य-अभोज्य है, तत् = उसकी, प्रतीयेत = प्रतीति होती है।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रयुक्त 'व्यापन्न' पद का तात्पर्य उस पदार्थ से है, जो भक्ष्य-भोज्य न हो। शास्त्रीय कथनानुसार ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को जल में प्रक्षेपित कर दिया जाना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यों के भोजन में सभी प्रकार के पदार्थों-दोषयुक्त, बासी, मांस, मदिरा आदि का समावेश कदापि न था॥ ४८॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत अपच्छेद हो जाने की स्थिति में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( ११६० ) विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** यौगपद्ये = साथ-साथ अपच्छेद होने की स्थिति में, प्रायश्चित्तम् = प्रायश्चित्त, न = नहीं, विद्यते = होता; क्योंकि उसका विधान, विभागश्रुतेः = एक-एक का विभागपूर्वक (अलग-अलग) सुना जाता है।

**व्याख्या—** विधि वाक्य है- 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येतादक्षिणो यज्ञः संस्थाप्यः अथान्य आहृत्यस्तत्रतद्दद्यात्, यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात्, यदि प्रतिहर्त्ताऽपछिद्येत, सर्वस्वं दद्यात्' अर्थात् यदि प्रमादवश उद्गाता कच्छ को छोड़ दे, तो प्रारम्भ किये गये यज्ञ का बिना दक्षिणा के समापन करके यज्ञ का शुभारम्भ पुनः करे तथा यदि प्रतिहर्त्ता कच्छ को छोड़ दे, तो सर्वस्व दक्षिणा स्वरूप देने के अनन्तर यज्ञ समाप्त करे। ज्योतिष्टोम याग के प्रातः सवन में वहिष्पवमान संज्ञक स्तोत्र को पढ़ते हुए पंक्तिबद्ध होकर जब सभी ऋत्विक् अपने आगे के ऋत्विक् की धोती का कच्छा पकड़कर यज्ञशाला से बाहर निकलते हैं तथा उस क्रम में यदि प्रमादवश कोई कच्छा (लाँग) छोड़ देता है, तो उसके लिए उक्त वाक्य में प्रायश्चित्त विहित किया गया है। पूर्वपक्षी का कहना है कि उद्गाता एवं प्रतिहर्त्ता दोनों यदि एक साथ, एक ही समय में अपच्छेद करते हैं, तो उसके लिए प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा विधान उक्त वाक्य में प्राप्त नहीं है॥ ४९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ११६१ ) स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** प्राप्तनिमित्तत्वात् = अपच्छेदन स्वरूप निमित्त के प्राप्त होने से, कालमात्रम् = मात्र काल, एकम् वा = एक ही है, स्यात् = अस्तु; प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में प्रायश्चित्त का निमित्त काल नहीं; प्रत्युत अपच्छेद है। अत: काल चाहे एक ही हो अथवा विभक्त, अपच्छेद रूप निमित्त की उपलब्धता दोनों ही परिस्थितियों में प्राप्त होने से प्रायश्चित का किया जाना अनिवार्य ही है॥ ५०॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने प्रायश्चित्त विधान का स्वरूप स्पष्ट किया—**

## ( ११६२ ) तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—**तत्र = एक ही समय में दोनों का अपच्छेद होने की स्थिति में, विप्रतिषेधात् = क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध होने से, विकल्प: = दोनों (उक्त) प्रायश्चित्तों में से किसी एक का ही विधान, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रायश्चित्त के विधान में उद्गाता के अपच्छेद का प्रायश्चित्त दक्षिणा रहित यज्ञ का समापन किया जाना तथा प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद का प्रायश्चित्त सर्वस्व दक्षिणापूर्वक याग का समापन करना विहित है। उक्त दोनों ही विधान एक दूसरे के विरोधी हैं, जिसके कारण दोनों को एक साथ उपपन्न करना संभव नहीं, अत: उस निमित्त के रहते एक का अनुष्ठान प्रायश्चित्त रूप में होना चाहिए॥ ५१॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना के भाव से आचार्य अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ११६३ ) प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात्॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** प्रयोगान्तरे वा = एक ही यज्ञीय कर्म में दोनों प्रायश्चित्तों को अनुष्ठित किया जाना संभव न हो, तो पृथक्-पृथक् यागों में, उभयानुग्रह: = दोनों का ग्रहण होना, स्यात् = सम्भव है।

**व्याख्या—** परस्पर विरोध के कारण एक याग में एक साथ दोनों को अनुष्ठित किया जाना संभव न हो सके, तो उससे भिन्न अन्य याग में उसका अनुष्ठान किया जाना चाहिए। कारण यह कि उक्त दोनों प्रकार के प्रायश्चित्तों की उपलब्धता में मात्र एक का ही प्रायश्चित्त हो, एक का न हो, यह उचित नहीं॥ ५२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ११६४ ) न चैकसंयोगात्॥ ५३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, एकसंयोगात् = उक्त दोनों प्रकार के प्रायश्चित्तों का सम्बन्ध एक ही याग के साथ होने से, न = उपर्युक्त पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** उक्त दोनों प्रायश्चित्तों में से एक ही विकल्प का माना जाना युक्त है, वह इसलिए कि प्रायश्चित्त वाक्य में दोनों का सम्बन्ध कथन किया गया है। अतएव याग भेद से किया गया उक्त समुच्चय का कथन उचित नहीं॥ ५३॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने बतलाया है कि उक्त स्थिति में दोनों में से कौन सा प्रायश्चित्त किया जाए?—**

## ( ११६५ ) पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग में विहित पदार्थ जिस प्रकार विकृति याग में विहित पदार्थों से बलहीन हैं, पौर्वापर्य्ये = उसी प्रकार से उपलब्ध उन उक्त दोनों प्रायश्चित्तों के बीच, पूर्वदौर्बल्यम् = पहले वाला प्रायश्चित्त, दूसरे के प्रायश्चित्त की तुलना में निर्बल है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता सूत्रकार ने कहा कि जैसे प्रकृति याग में विधान किया गया उक्त द्रव्य विहित याग में विहित किये गये द्रव्य से निर्बल है, उसी प्रकार क्रम से अपच्छेद हो जाने पर प्राप्त हुए दोनों प्रायश्चित्तों में

से पूर्व विहित अदक्षिणा स्वरूप प्रायश्चित्त के निर्बल होने के कारण, विकृति विहित सर्वस्व दक्षिणा स्वरूप प्रायश्चित्त जो उससे सबल है, उसी का विधान मानना चाहिए॥ ५४॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने अन्य स्थिति में प्रायश्चित्त का अनुशासन बतलाया है—**

**( ११६६ ) यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसंदद्याद्यथेतरस्मिन्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** यदि = यदि, उद्गाता = सामगान करने वाले ऋत्विक्-उद्गाता का, जघन्यः = प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद से पहले ही अपच्छेद, स्यात् = हो जाता है, यथा = तो जिस प्रकार पहले कहा गया है, उसी प्रकार से, पुनः = पुनः प्रारम्भ होने वाले, यज्ञः = याग में, सर्ववेदसम् = सर्वस्व दक्षिणा, दद्यात् = दिया जाना (प्रायश्चित्त करना) युक्त है।

**व्याख्या—** यहाँ पूर्वोक्त प्रसङ्ग से भिन्न दूसरी स्थिति है- यदि प्रतिहर्त्ता का अपच्छेद पहले तथा उद्गाता का अपच्छेद उसके पश्चात् होता है, तो पहले याग का बिना दक्षिणा के समापन करके पुनर्यज्ञ में बारह सौ गौ दक्षिणा स्वरूप देकर प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए? अथवा सर्वस्व दक्षिणा स्वरूप प्रायश्चित्त करे? समाधानकर्त्ता सूत्रकार ने बताया कि उक्त बारह सौ गौ की दक्षिणा का विधान तब के लिए विहित है, जब उक्त अपच्छेद भिन्न-भिन्न सवनों में प्राप्त हो। पूर्व के कथन में क्रमपूर्वक अपच्छेद होने पर सर्वस्व दक्षिणा का प्रायश्चित्त विधान बतलाया ही जा चुका है। उपस्थित विधान का अनुपस्थित विधान की अपेक्षा सबल होना सर्वथा उपपन्न है। अतएव उपस्थित विधान ही ग्रहणीय है। इस प्रकार से यह सुनिश्चित हुआ कि प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद के पीछे यदि उद्गाता का अपच्छेद होता है, तो उस स्थिति में भी पहले याग को दक्षिणा रहित समाप्त करके, पुनर्यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देकर प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए॥ ५५॥

**अगले क्रम में, द्वादशाह आदि अहर्गण संज्ञक यज्ञों में यदि उद्गाता का अपच्छेद हो जाये, तो उसी यज्ञ को पुनः अनुष्ठित करके प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए, सूत्रकार ने ऐसी व्यवस्था दी—**

**( ११६७ ) अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** अहर्गणे = द्वादशाह आदि अहर्गण संज्ञक यज्ञों में, कर्म = यज्ञ रूप कर्म के, पृथक्त्वात् = पृथक्-पृथक् होने से, यस्मिन् = जिस यज्ञ में, अपच्छेदः = उद्गाता का अपच्छेद हो जाये (तो प्रायश्चित्त स्वरूप), तत् = उसी याग की, आवर्तेत = पुनरावृत्ति की जानी चाहिए।

**व्याख्या—** बारह दिन तक चलने वाले (एक-एक दिवसीय) बारह यागों की सामूहिक संज्ञा 'द्वादशाह' है। एक-एक दिन में सम्पादित होने वाले यज्ञ 'अहर्गण' संज्ञक याग कहलाते हैं। उक्त 'द्वादशाह' के मध्य यदि किसी भी एक दिवसीय याग में यदि उद्गाता का अपच्छेद हो जाता है, तो उसी एक दिवसीय यज्ञ को पुनः अनुष्ठित करके उक्त अपच्छेद का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए॥ ५६॥

**॥ इति षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः॥**

## ॥ अथ षष्ठाध्याये षष्ठः पादः ॥

**छठवें पाद का शुभारम्भ करते हुए सूत्रकार ने सत्र के अधिकार की समीक्षा की है—**

**( ११६८ ) सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** सन्निपाते = सम्बन्धों में, अवैगुण्यात् = विगुणता की उत्पत्ति न हो इसके लिए, प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग के तुल्य, तुल्यकल्पा = प्रयाज आदि समान कल्पों (यज्ञ अथवा संकल्प)वाले, यजेरन् = यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कहना है कि सत्र याग में समान कल्प-कर्म (संकल्प) वाले ऋत्विक् ही लिए जाने चाहिए, ताकि यज्ञीय कर्मानुष्ठान में विगुण की उत्पत्ति न हो। आशय यह है कि सत्र याग के सत्रहों ऋत्विक् तुल्य कल्पी-समान कर्म-भाव-विचार वाले होने चाहिए। विगुणता (दोष) उत्पन्न न हो, इसलिए प्रयाजादि समान कल्पों-कर्म वाले ऋत्विजों को ही सत्र यज्ञ का अधिकारी माना गया है॥ १ ॥

**यहाँ सत्रयाग सम्पन्न करने वालों को 'तुल्यकल्पा' कहा गया है। चूँकि सत्रयाग न्यूनतम १७ व्यक्तियों द्वारा मिलकर यजमान और ऋत्विजों के कार्य का विभाग करके सम्पन्न किया जाता है, अतएव उन्हें तुल्य कल्प-समान कल्प वाला होना चाहिए। यहाँ 'कल्प' शब्द बहुअर्थीय है। 'कल्पते इति कल्पः' के अनुसार कल्प के कर्म, विचार, भाव अनेक अर्थ हो सकते हैं, गोत्र का तात्पर्य भी इससे लगाया जाता है।**

**उपर्युक्त कथन में पूर्वपक्ष बतलाते हैं—**



**( ११६९ ) वचनाद्वा शिरोवत्स्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन की प्राप्ति से, शिरोवत् = शिर के सदृश भिन्न-भिन्न कल्प-कर्म वाले ऋत्विक्, वा = भी यज्ञ के अधिकारी, स्यात् = हो सकते हैं।

**व्याख्या—** शङ्का की जा रही है कि शास्त्र में जैसे मृतक (शव) का स्पर्श किया जाना निषिद्ध है, किन्तु 'पुरुषशीर्षमुपदधाति' वाक्य से उसके सिर का उठाया जाना विहित है, ऐसे ही तुल्यकल्पा (समान कर्म-संकल्प) का नियम होने पर भी भिन्न-भिन्न कल्प वाले ऋत्विक् यज्ञ कराने के लिए उपयुक्त माने जा सकते हैं॥ २ ॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( ११७० ) न वाऽनारभ्यवादत्वात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** अनारभ्यवादत्वात् = अनारभ्यता का कथन पाये जाने से, न वा = भिन्न कल्पी ऋत्विकों को सत्र का अधिकारी मानना युक्त नहीं।

**व्याख्या—** भिन्न कल्प-कर्म वाले ऋत्विजों को सत्र में (तुल्यकल्पी) के जैसा अधिकार दिया जाना संभव ही नहीं। कारण यह कि उनके अनारभ्य का विधायक वाक्य उपलब्ध है,जो सत्र में उनकी अनधिकारिता का कथन करता है॥ ३ ॥

**उपर्युक्त अर्थ में पूर्वपक्ष की स्थापना पुनः करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११७१ ) स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** औदुम्बरीवत् = औदुम्बरी के समान, यज्ञार्थत्वात् = यज्ञ के ही प्रयोजनार्थ होने से, वा = भिन्न कल्प वाले भी अधिकारी माने, स्यात् =जाने चाहिए।

**व्याख्या—** एक यज्ञीय उपकरण को ही औदुम्बरी कहा जाता है। उसके समान ही विभिन्न कल्प वाले ऋत्विजों को सत्र का अधिकारी माना जा सकता है॥ ४ ॥

**समाधान के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए—**

**( ११७२ ) न तत्प्रधानत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = कल्प आदि, प्रधानत्वात् = पुरुषार्थ होने से, न = उपर्युक्त कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का उक्त कथन सर्वथा अयुक्त है। प्रयाज आदि कर्म (कल्प) पुरुष के निमित्त हैं और इससे वे पुरुषार्थ के लिए हैं, यज्ञार्थ नहीं॥ ५॥

**( ११७३ ) औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** कपालवत् = कपाल के सदृश, औदुम्बर्याः = औदुम्बरी भी, परार्थत्वात् = यज्ञार्थ ही है।

**व्याख्या—** पुरोडाश निर्माण में प्रयुक्त होने वाले कपालादि पात्र जिस प्रकार से यज्ञ के प्रयोजन को पूरा करते हैं, वैसे ही औदुम्बरी भी यज्ञ का एक प्रमुख अङ्ग होने से यज्ञार्थ है। अतएव कल्प (भाव-कर्म) वालों को यज्ञाधिकारी माना जाना चाहिए॥ ६॥

**उपर्युक्त अर्थ में एक और आशङ्का प्रस्तुत करते हैं—**

**( ११७४ ) अन्येनापीति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अन्येन = अन्य यजमान के द्वारा, अपि = भी यज्ञ कराया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये तो?

**व्याख्या—** पृथक्-पृथक् कल्प वालों को यदि यज्ञीय सत्र का अधिकारी माना जाता है, तो याग की सम्पन्नता में अन्य यजमान भी अधिकारी माना जाना चाहिए, किन्तु ऐसा सम्भव न होने से यही उपपन्न होता है कि भिन्न कल्प वालों को यज्ञ में अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए॥ ७॥

**अगले सूत्र में उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं—**

**( ११७५ ) नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एकत्वात् = अकेला होने से, तस्य = उसका (यजमान का), अनधिकारात् = अधिकार विहित न होने से, च = और, शब्दस्य = शब्द का, अविभक्तत्वात् = विभाग न होने से, न = अन्य यज्ञ का यजमान अन्य यज्ञ में अधिकृत नहीं है।

**व्याख्या—** जिस यजमान का यज्ञ होता है, उसी यजमान को यज्ञ का अधिकारी कहा गया है। इसके अतिरिक्त शब्द का विभाग भी अप्राप्त(एकत्व) होने से वह यजमान की एकता का कथन करता है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि अन्य यज्ञ के यजमान को अन्य यज्ञ में अधिकृत नहीं माना जा सकता॥ ८॥

**तुल्य कल्प वाले ऋत्विजों के अधिकार में आशङ्का प्रकट करने के भाव से आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( ११७६ ) सन्निपातात्तु निमित्तविघातः स्यात्
बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वाद्वसिष्ठ निर्वर्त्ये॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** तु = यह पद उक्त अर्थ के प्रतिषेध के लिए प्रयुक्त है। सन्निपातात् = सम्बन्ध की प्राप्ति से, निमित्त विघातः = निमित्त की विनष्टता प्राप्त, स्यात् = होगी, बृहद्रथन्तरवत् = जैसे कि बृहद्रथन्तर में होता है, कारण यह कि, वसिष्ठनिर्वर्त्ये = दोनों से उपपन्न अर्थ, विभक्तशिष्टत्वात् = विभाग-विभक्तता के उपयुक्त है।

**व्याख्या—** सत्र (यज्ञ) का अधिकारी यदि समान कल्प वाले ऋत्विकों को माना जाता है, तो फल की निमित्तता का नाश होना प्राप्त होगा। कारण यह कि फल एक यजमान के ही प्रयोजनार्थ होना चाहिए, अनेकों के प्रयोजनार्थ नहीं। जबकि यजमान पृथक्-पृथक् होने के कारण उक्त फल का निमित्त ठीक न होने से तुल्य कल्प वालों को अधिकारी मानना उचित नहीं॥ ९॥

**उक्त आशङ्का का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( ११७७ ) अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** 'अपि वा' यह पद उपर्युक्त आशङ्का के समाधान हेतु प्रयुक्त है। कृत्स्नसंयोगात् = दोनों का कर्तृत्वेन सम्बन्ध प्राप्त होने से, अविघातः = फल के अविघात की, प्रतीयेत = प्रतीति होती है, स्वामित्वेन = क्योंकि स्वामी रूप से यजमानों का, अभिसम्बन्धात् = सम्बन्ध प्राप्त होने से (यही सिद्ध होता है)।

**व्याख्या—** समान कल्प वाले यजमान पुरुषों का स्वामी के रूप में यज्ञ के साथ सम्बन्ध प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि यजमान यज्ञ का स्वामी होता है, उसका सम्बन्ध यज्ञ के स्वामी रूप से होता है, अतः उससे फल का बाधित होना उपपन्न नहीं होता। कारण यह कि फल के प्रयोजनार्थ समस्त यजमानों का क्रियाकलाप- कर्तृत्व एक समान ही रहता है॥ १०॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने बृहद्रथन्तर के उदाहरण दृष्टान्त में असमानता की अभिव्यक्ति की—**

**( ११७८ ) साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगे
गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विघातः स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** साम्नोः = दोनों सामों (बृहत् एवं रथन्तर) का, कर्मवृद्ध्या = स्तवनस्वरूप कर्म की वृद्धि द्वारा, एकदेशेन = एकदेश से प्राप्त होने वाले, संयोगे = संयोग में , गुणत्वेन = गुणरूप से, अभिसम्बन्धः = सम्बन्ध की प्राप्ति है, तस्मात् = इसी से, तत्र = वहाँ, विघातः = विघात का होना, स्यात् = प्राप्त है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रकरण में, बृहत्साम एवं रथन्तर साम दोनों को सम्मिलित करने से जहाँ पर पृष्ठस्तोत्र की स्थिति बनती है, वहीं पर उपर्युक्त स्तोत्र से बृहत् एवं रथन्तर दोनों सामों का कर्मवृद्धि द्वारा सम्बन्ध उपलब्ध है और इस सम्बन्ध के कारण एवं गुणरूपत्व से सम्बन्ध के प्राप्त होने से विघात हुआ करता है; परन्तु उपर्युक्त दोनों ही कारणों (दोनों उक्त बातों) का फल में सर्वथा अभाव होने से, फल में विघात रूप दोष की प्राप्ति नहीं होती॥ ११॥

**यहाँ कुलाय संज्ञक याग में 'राजपुरोहितौ' शब्द के समीक्षार्थ आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( ११७९ ) वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणिवत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—**वचनात् तु = विधायक वाक्य के अनुसार तो, पाणिवत् = हाथों की तरह, (कुछ प्राचीन संस्करणों में पाणिवत् के स्थान पर पाणित्वम् पाठ मिलता है; किन्तु अर्थ की दृष्टि से 'पाणिवत्' ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।), द्विसंयोगः = दोनों का संयोग सिद्ध होता है, तस्मात् = इसलिए, एकस्य = एक राजा के (दो पुरोहित होते हैं)।

**व्याख्या—**'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्य कामौ यजेयाताम्' सायुज्य रूपी ऐश्वर्यकामी राजा एवं पुरोहित को कुलाय संज्ञक यज्ञ करना चाहिए। उक्त वाक्य में पूर्वपक्षी का कथन है कि 'अञ्जलिना जुहोति' से जैसे दोनों हाथों का ग्रहण है, वैसे ही 'राजपुरोहितौ' से राजा के दोनों पुरोहितों का ग्रहण माना जाना चाहिए॥ १२॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( ११८० ) अर्थाभावात्तु नैवं स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थाभावात् = अर्थ का अभाव होने से, तु = तो, एवं = उक्त निष्कर्ष ('राजपुरोहितौ' से 'राज्ञः पुरोहितौ' राजा के दो पुरोहित, ऐसा अर्थ किया जाना), न = उचित नहीं मानना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि राजा का पुरोहित एक ही होता है, दो नहीं होते। अतएव 'राजपुरोहितौ' का अर्थ समास की ही दृष्टि से 'राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ' राजा भी एवं पुरोहित भी होना चाहिए। न कि राजा के दो पुरोहित॥ १३॥

**उक्त अर्थ में अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—**

**( ११८१ ) अर्थानां च विभक्तत्वान्न तत् श्रुतेन सम्बन्धः॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थानाम् = यज्ञीय फल के, विभक्तत्वात् = विभक्त होने से भी, तत् श्रुतेन = उस उपर्युक्त वाक्य में, सम्बन्धः = दो पुरोहितों का सम्बन्ध होना, न = सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'एतेन राजपुरोहितौ' यज्ञ की प्रेरणा के अनन्तर प्रस्तुत वाक्य 'तेजः संस्तवो ब्राह्मणस्य वीर्य्यसंस्तवो राजन्यस्य' से याग के फल का विभाग बतलाया है। अर्थ है पुरोहित का याग ब्रह्मवर्चस की स्तुति कराने वाला तथा राजा का याग बल-वीर्य (पराक्रम) की स्तुति कराने वाला है। दो पुरोहितों का अधिकार मानने पर उक्त कथन की सिद्धि संभव ही नहीं है। कारण यह कि दो पुरोहितों में एक को क्षत्रिय मानना संभव ही नहीं होगा। अतएव विभागपूर्वक एक को क्षत्रिय (राजा) एवं एक को ब्राह्मण (पुरोहित) मानने पर ही उक्त अर्थ की सार्थकता उपपन्न होती है॥ १४॥

**गत बारहवें सूत्र में प्रयुक्त ( पूर्वपक्षी कथन ) 'पाणिवत् ' के दृष्टान्त का समाधान अगले क्रम में करते हैं—**

**( ११८२ ) पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—**पाणेः = बायें हाथ का, प्रत्यङ्गाभावात् = अञ्जलि के प्रति अङ्गभाव होते हुए भी उसका (वामहस्त का), असम्बन्धः = हवन के साथ सम्बन्ध होने की, प्रतीयेत = प्रतीति नहीं होती।

**व्याख्या—** उपर्युक्त दृष्टान्त वाक्य 'अञ्जलिना जुहोति' में जो अञ्जलि शब्द से दोनों हाथों का ग्रहण बतलाया गया है, वह प्रति अङ्ग की भावना से भले ही उचित हो, परन्तु होम के अभिप्राय से वह अनुचित ही माना जायेगा। क्योंकि अञ्जलि के लिए दोनों हाथों का ग्रहण अनिवार्य है, जबकि हवन कर्म के सम्बन्ध में 'अथ दक्षिणेन जुहोति' हवन दाहिने हाथ से करे, ऐसा निर्देश प्राप्त है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे उक्त 'अञ्जलिना जुहोति' वाक्य में दक्षिण हस्त का ही ग्रहण किया गया है। ऐसे ही 'राजपुरोहितौ' में भी मात्र एक ही पुरोहित का ग्रहण समझना युक्त है॥ १५॥

**सत्र का अधिकारी मात्र ब्राह्मण ही है, यह बतलाने के लिए अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( ११८३ ) सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** सत्राणि = सत्र संज्ञक यागों में, अविशेषात् = उक्त सत्रों में वर्ण विषयक विधान का अभाव होने से, सर्ववर्णानाम् = सभी वर्ण के लोगों का अधिकार होना चाहिए।

**व्याख्या—** सत्रों के विधायक वाक्य 'ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्' अर्थात् सत्र संज्ञक यागों को अपने ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए सम्पन्न किया जाना चाहिए, इस वाक्य में किसी वर्ण विशेष का उल्लेख न होने से यही प्रतीत होता है कि सभी वर्ण वालों को उक्त सत्र में अधिकार प्राप्त है॥ १६॥

**( ११८४ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग का दर्शन होने से भी उपर्युक्त कथन यथार्थ सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'वार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्य्यात्' 'पार्थुरश्यं राजन्यस्य रायोवाजीयं वैश्यस्य' द्वादशाह याग के प्रकरण में पठित ब्रह्मसाम के विधायक उपर्युक्त वाक्य में यह कहा गया है कि ब्राह्मण वर्ण वाले 'वार्हद्गिर' क्षत्रिय 'पार्थुरश्य' एवं वैश्य 'रायोवाजीय' संज्ञक ब्रह्मसाम का गायन करें। उक्त वाक्य में उक्त तीनों वर्ण वालों के ब्रह्मसाम का विधान प्राप्त होने से तो यही सिद्ध होता है कि उक्त सत्र भी तीनों वर्णों के लिए ही हैं॥ १७॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में किया—**

**( ११८५ ) ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** इतरयोः वा = ब्राह्मण से इतर क्षत्रिय अथवा वैश्य के लिए, आर्त्विज्याभावात् = ऋत्विज् बनाने का निषेध प्राप्त होने से, ब्राह्मणानाम् = प्रत्युत मात्र ब्राह्मणों को ही अधिकार है।

**व्याख्या—** सत्र याग (जो एक विशिष्ट याग है) के बारहवें अध्याय में यह विहित किया गया है कि ब्राह्मण ही ऋत्विज् हो सकते हैं, अन्य वर्ण वाले क्षत्रिय एवं वैश्य नहीं। प्रकरण में प्राप्त वाक्य - 'ये यजमानास्ते ब्राह्मणः' (यजमान ही ब्राह्मण है), यजमान का ब्राह्मण होना सिद्ध करता है॥ १८॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का की अभिव्यक्ति हेतु सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (११८६) वचनादिति चेत्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** वचनात् = विधायक वाक्य 'ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्' से तो ब्राह्मण वर्ण से इतर वर्णों-क्षत्रिय एवं वैश्य का भी अधिकार उपपन्न है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें तो?

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य के अनुसार ऐश्वर्य की कामना जिसे हो, वही सत्र याग सम्पन्न करे और वह कामना सभी वर्ण वाले पुरुष की हो सकती है, ब्राह्मण की भी, क्षत्रिय की भी, वैश्य की भी। अतएव सभी वर्ण वाले अधिकारी हैं॥ १९॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में किया—**

## (११८७) न स्वामित्वं हि विधीयते॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** न = उपर्युक्त आशङ्का युक्त नहीं, हि = क्योंकि, स्वामित्वम् = उक्त वाक्य में सत्र-याग का स्वामी होना, विधीयते = विहित किया गया है।

**व्याख्या—** अधिकार का उल्लेख होने से उक्त सत्र याग में जो उसके अधिकारी विहित हैं, उनमें से जिनकी अभिलाषा ऐश्वर्यादि सुख-समृद्धि की हो, वे सत्र याग का अनुष्ठान करें। इस प्रकार पूर्व में उपपन्न ब्राह्मण ही सत्र में अधिकृत है, अन्य वर्ण वाले नहीं, यही समझना चाहिए॥ २०॥

**अगले क्रम में पूर्व की आशङ्का से भिन्न आशङ्का की अभिव्यक्ति करते हैं—**

## (११८८) गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वा = क्या। गार्हपते = गृहपति-कर्म में, अविप्रतिषेधात् = प्रतिषेध नहीं होने से, स्याताम् = ब्राह्मण से इतर अन्य वर्णों को भी अधिकृत होना चाहिए।

**व्याख्या—**यज्ञविशेष के अन्तर्गत गृहपति से सम्बन्धित गार्हपत्य कर्म में ब्राह्मण से इतर अन्य वर्ण वालों-क्षत्रिय एवं वैश्य को भी अधिकार मिलने चाहिए। कारण यह कि ऋत्विक् का इसमें किसी प्रकार के विरोध का उल्लेख नहीं है॥ २१॥

**अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—**

## (११८९) न वा कल्पविरोधात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** कल्पविरोधात् = कल्प विरोध, वा = होने से, न = उपर्युक्त कथन इसलिए उचित नहीं।

**व्याख्या—** गार्हपत कर्म में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण वाले क्षत्रिय एवं वैश्य को कल्प विरोध के कारण अधिकृत नहीं माना जा सकता॥ २२॥

## (११९०) स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनम् = पूर्वपक्ष के अनुसार जो लिङ्ग दृष्टिगोचर होता है, इतरेषाम् = ब्राह्मण से इतर अन्य वर्ण का भी, स्वामित्वात् = स्वामी-यजमान होना, अहीने = अहीन याग में सिद्ध होता है, (सत्र याग में नहीं)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष द्वारा प्रमाण दर्शन सत्र यज्ञ के अभिप्राय से न करके अहीन याग के अभिप्राय से किया गया है। अतः उक्त लिङ्ग की सामर्थ्य से सत्र याग में अधिकार का निर्धारण उचित नहीं॥ २३॥

**नोट- अहीन याग द्वादशाह का ही एक स्वरूप है। द्वादशाह के दो प्रकारों में प्रथम सत्र याग है एवं दूसरा अहीन।**

**अगले क्रम में सूत्रकार सत्र याग के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि व पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( ११९१ ) वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** ब्रह्मत्वनियमात्= ब्रह्मनियमानुसार, वासिष्ठानाम् = वसिष्ठ कल्प वालों को, वा = ही, सत्र में अधिकृत मानना चाहिए।

**व्याख्या—**पूर्वपक्षी का कहना है कि विधायक वाक्य 'वसिष्ठो ब्रह्मा भवति' में तो वसिष्ठ गोत्र वालों को ही ब्रह्मा होना बतलाया है और इस नियम से तो वसिष्ठ गोत्र वालों को ही सत्र का अधिकारी मानना युक्त है॥ २४॥

**अन्य पूर्वपक्षी ने उपर्युक्त सन्दर्भ में भिन्न दृष्टिकोण रखा—**

## ( ११९२ ) सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** प्रतिप्रसवात् = भिन्न उपपत्ति के आधार पर, सर्वेषाम् = सभी ब्राह्मण, वा = अधिकारी हैं।

**व्याख्या—** वाक्य 'यः स्तोम भागानधीते स वसिष्ठः' के अनुसार जो स्तोम भाग के मन्त्रों का पाठ करता है, वह वसिष्ठ गोत्रीय है। स्तोम मन्त्रों का पाठ तो सभी ब्राह्मण कर सकते हैं, वे भले ही विश्वामित्र, भृगु, शुनक एवं वसिष्ठ गोत्रीय हों। अतएव उक्त सत्र में सबका अधिकार है॥ २५॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

## ( ११९३ ) वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** भृगुशुनकवसिष्ठानाम् = उक्त सत्र याग में भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्र वालों को, अनधिकारः = अधिकार नहीं प्राप्त है, होत्रनियमात् = प्रत्युत होता का नियम के अनुसार से, विश्वामित्रस्य = विश्वामित्र गोत्र के ब्राह्मण ही अधिकृत हैं।

**व्याख्या—** उक्त सत्र याग में होता बनने का अधिकार भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्र वाले ब्राह्मणों को नहीं, क्योंकि ऐसा नियम शास्त्र में प्राप्त है- 'विश्वामित्रो होता भवति'। अतएव जो ब्राह्मण विश्वामित्र एवं उनके समान गोत्र वाले हैं, वही उक्त सत्र याग के अधिकारी हैं॥ २६॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने यह बतलाने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया कि सत्र में अहिताग्नि का अधिकार है—**

## ( ११९४ ) विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** विहारस्य = एक ही आहवनीय अग्नि के, सभी यज्ञों में, प्रभुत्वात् = प्रभुतापूर्ण (समर्थ) होने से। अग्नीनाम् = जो अग्नियाँ अनाहित हैं, अपि = वे भी उक्त सत्र में अधिकृत, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि आहिताग्नियों (अग्न्याधान करने वाले) एवं अनाहिताग्नियों सबका अधिकार होना युक्त है; क्योंकि एक ही आहवनीय अग्नि समस्त यज्ञों के सम्पादन के लिए समर्थ है॥ २७॥

## ( ११९५ ) सारस्वते च दर्शनात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** सारस्वते = सारस्वत संज्ञक सत्र याग में, च = भी, अनाहिताग्नियों का कथन, दर्शनात् = दृष्टिगत होने से उपर्युक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** 'परस्थैर्वा एते स्वर्गं लोकं यन्ति येऽनाहिताग्नयः सत्रमासते' अर्थात् वे जन औरों से सुख पाते हैं, जो अनाहिताग्नि को प्राप्त होकर सत्र याग सम्पादित करते हैं। सारस्वत सत्र संज्ञक याग के प्रकरण में उक्त वाक्य यह सिद्ध करता है कि सत्र में अनाहिताग्नियों का भी अधिकार है। इस प्रकार सत्र में आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि दोनों को ही अधिकृत मानना उचित है॥ २८॥

## ( ११९६ ) प्रायश्चित्तविधानाच्च॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रायश्चित्तविधानात् = प्रायश्चित्त विधान से भी उपर्युक्त कथन प्रामाणिक है।

**व्याख्या—** प्रमाण वाक्य है- 'यस्याहिताग्नेरन्यैरग्निभिरग्नयः संसृज्येरन् अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्' अर्थात् जिस आहिताग्नि पुरुष की अग्नि अन्य की अग्नि से मिल जाये, तो वह परम ज्ञान एवं प्रकाश स्वरूप ईश्वर के उद्देश्य से अष्टाकपाल में पकाये हुए पुरोडाश का दान करे। इस वाक्य में आहिताग्नि के अग्नि का सम्बन्ध अन्य के अग्नि के साथ सम्बन्ध होने पर जो प्रायश्चित्त विहित किया गया है, उससे यही उपपन्न होता है कि उक्त सत्र में आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि दोनों ही अधिकृत हैं॥ २९ ॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान क्रमशः अगले तीन सूत्रों में करते हैं—**

**( ११९७ ) साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात्॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—**इष्टिपूर्वत्वात् = सत्र को अनुष्ठित किया जाना दर्श-पूर्णमास याग के पश्चात् बतलाया गया है। साग्नीनाम् = सत्र में आहिताग्नियाँ, वा = ही, अधिकृत हैं, न कि अनाहिताग्नियाँ।

**व्याख्या—** 'दर्श-पूर्णमासौ इष्ट्वा यजेत' अर्थात् दर्शपूर्णमास याग करने के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग सम्पन्न करे। अग्न्याधान के अभाव में दर्श-पूर्णमास याग का अनुष्ठित होना संभव ही नहीं। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि अनाहिताग्नियों का अधिकार उक्त सत्र याग में नहीं, प्रत्युत मात्र आहिताग्नियाँ ही अधिकृत हैं॥ ३० ॥

**( ११९८ ) स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात्॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ—** स्व = अपने-अपने, अर्थेन = प्रयोजन से, च = भी, प्रयुक्तत्वात् = अग्नि की प्रयुक्तता प्राप्त होने से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** 'अग्नीनादधीत' इस वाक्य में प्रयुक्त 'आदधीत' पद इस भाव की अभिव्यक्ति करता है कि जो अग्नि का आधान (स्थापना) करता है, वही उसके फल का भोक्ता हो सकता, न कि कोई अन्य। अनाहिताग्नियों द्वारा स्थापित की गई अग्नि में होम कर्म सम्पन्न न होने से उन्हें फल की प्राप्ति होना असम्भव ही होगा। इससे आहिताग्नियों का ही, सत्र याग में अधिकृत होना सिद्ध होता है॥ ३१ ॥

**( ११९९ ) सन्निवापं च दर्शयति॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ—**सन्निवापम्=श्रुतिवाक्य द्वारा समस्त यजमानों की अग्नियों का सम्बन्ध, च=भी, दर्शयति=दृष्टिगोचर होता है।

**व्याख्या—** श्रुति वाक्य 'सावित्राणि होष्यन्तः संनिवयेरन्' में सविता स्वरूप परमात्मा के निमित्त होम करने के उद्देश्य से समस्त अग्नियों को मिलाने का विधान है। उक्त वाक्य आधान की गई सजातीय अग्नियों के मिलाप का विधान करता है और उसके लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की स्थिति इसलिए नहीं बनती, क्योंकि सत्र में आहिताग्नियाँ ही अधिकृत हैं॥ ३२ ॥

**जुहू यज्ञीय पात्रों से सत्र अनुष्ठित किये जाने के संदर्भ में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( १२०० ) जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रतीयेत॥ ३३ ॥**

**सूत्रार्थ—** जुह्वादीनाम् = जुहू आदि यज्ञ पात्रों का, सन्देहे = सन्देह होने की स्थिति में, यथाकामी = अपनी कामना के अनुरूप, प्रतीयेत = उपर्युक्त जुहू आदि यज्ञ पात्रों का उपादान कर लेना चाहिए, अप्रयुक्तत्वात् = क्योंकि विशेषतः उनका विधान विहित न होने से (यही युक्त प्रतीत होता है)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष की जिज्ञासा है कि विशेष परिस्थितियों में किसी विशिष्ट यजमान के जुहू आदि यज्ञ पात्रों से उक्त सत्र याग का अनुष्ठान करना चाहिए? या सर्वसामान्य-किसी के भी पात्रों से?॥ ३३ ॥

**अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—**

**( १२०१ ) अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्र-कृतत्वात्॥ ३४ ॥**

**सूत्रार्थ—**शास्त्रकृतत्वात् = क्योंकि शास्त्र का यही विधान होने से, अपि वा = और, विप्रतिषेधात् = यजमान

विशेष के पात्र-जुहू आदि के ग्रहण में विरोध होने से, अन्यानि= यजमान के पात्रों से भिन्न अन्य, साधारणानि=सर्व सामान्य (स्वामित्वहीन), पात्राणि=यज्ञीय पात्र जुहू आदि से, कुर्वीरन्=सत्र याग का सम्पादन करना चाहिए।

**व्याख्या—** शास्त्र विहित विधान है- आहिताग्नि पुरुष के मर जाने पर उसके जुहू आदि यज्ञ पात्रों को उसके साथ ही भस्म कर दें। इस वाक्य के अनुसार जिस यजमान के पात्रों से यज्ञ अनुष्ठित किया जा रहा हो और यदि दैवयोग से बीच में ही उक्त यजमान न रहे, तो अन्तिम संस्कार में उसके साथ उसके पात्रों को भी भस्म कर दिया जायेगा। फिर यज्ञ के सम्पादन हेतु किसी अन्य यजमान के पात्रों को ग्रहण करना पड़ेगा। तो एक ही पात्र से याग के समापन किये जाने की शास्त्रीय व्यवस्था भंग होगी तथा पूर्व के यजमान जैसी उक्त आशङ्का भी विद्यमान रहेगी। अत: यही उचित है कि जिन यज्ञीय उपकरणों जुहू आदि पर किसी का स्वामित्व न हो, जो सर्व साधारण हो, ऐसे नवीन पात्रों का सम्पादन कर उन्हीं के द्वारा उक्त सत्र याग को सम्पन्न कर लिया जाय। इससे शास्त्रीय विरोध भी उत्पन्न नहीं होगा और शास्त्र के कथन की उपपन्नता भी हो जायेगी॥ ३४॥

**( २००२ ) प्रायश्चित्तमापदि स्यात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** आपदि = आपदा-यजमान के मर जाने की स्थिति में, प्रायश्चित्तम् = विहित प्रायश्चित्त विधान भी उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सत्र याग के अनुष्ठान काल में ही यजमान के मरने से नवीन यज्ञीय पात्रों के सम्पादन समय में विहित किया गया प्रायश्चित्त विधान भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि में प्रमाण है॥ ३५॥

**अगले दो सूत्रों में विकृति यज्ञों में तीनों वर्णों का अधिकार कथन करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १२०३ ) पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** विकृतौ = अध्वर, कल्पादि विकृति यज्ञों में, पुरुषकल्पेन = पुरुष विशेष से सप्तदश सामिधेनी ऋचाओं का वर्णन प्राप्त होने से, वा = ही, कर्तृनियमः = वैश्यस्वरूप यजमान का नियम, स्यात् = होना युक्त है। यज्ञस्य = विकृति यागों के लिए, तद् = उन सामिधेनी ऋचाओं के, गुणत्वात् = गौण होने से तथा, इतरान् = वैश्य से इतर वर्णों के लिए, सामिधेनी ऋचाओं के विधान का, प्रति = प्रति, अभावात् = अभाव होने से, एकस्मिन् = मात्र वैश्यरूपी यजमान को ही, उक्त अध्वर, कल्पादि विकृतियागों का, अधिकारः = अधिकार मानना, स्यात् = युक्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का मानना है कि उक्त अध्वर, कल्पादि विकृति यागों के प्रकरण में पठित 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' वाक्य द्वारा सामिधेनी नामक सत्रह मन्त्रों का पाठ किया जाना विहित है। साथ ही प्रकृति याग में वैश्य के लिए ही सत्रह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण किया जाना विहित है- 'सप्तदशानुब्रूयात् वैश्यस्य'। वैश्य के ही यजमान होने की स्थिति में विकृति याग अध्वरकल्पादि में भी उन मन्त्रों का सम्यक् विधान किया जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के यजमान होने पर नहीं, यही सिद्ध होता है॥ ३६॥

**( १२०४ ) लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** इज्याविशेषवत् = जिस प्रकार से वैश्यस्तोम संज्ञक याग विशेष में मात्र वैश्य यजमान ही अधिकृत हैं, लिङ्गात् = उसी प्रकार लिङ्ग की प्राप्ति होने से उक्त अध्वर, कल्पादि विकृति यागों में, च = भी, वैश्य यजमान ही अधिकृत होना चाहिए।

**व्याख्या—** सप्तदश सामिधेनी मन्त्रों वाला ही वैश्य होता है- 'सप्तदशो वै वैश्यः'। अर्थवादी उपर्युक्त वाक्य का कथन भी उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है। कारण यह कि उक्त अध्वर, कल्पादि विकृति याग भी

सत्रह सामिधेनी मन्त्रों वाले हैं। अतएव वैश्य यजमान ही उक्त याग का एक मात्र अधिकारी होना चाहिए॥ ३७॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## ( १२०५ ) न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—**संयोग-पृथक्त्वात् = सामिधेनी मन्त्रों के विधायक वाक्यों में सम्बन्ध पृथक्त्व- भेद होने से, गुणस्य = गुण के प्रति, इज्याप्रधानत्वात् = यज्ञ की प्रधानता के कारण गुण के अनुरूप यजमान का कल्पित किया जाना, न = उचित नहीं, हि = इसी से, चोदना = प्रेरक वाक्यों के अनुसार उक्त विकृति याग के साथ वैश्य यजमान का, असंयुक्तता = संयुक्त होना संभव नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जिस वाक्य द्वारा उक्त सत्रह सामिधेनियों का उच्चारण रूप पाठ बतलाया गया है, उसका स्वरूप उक्त विकृति विधायक वाक्यों जैसा न होकर, उससे अलग प्रकार का है। दूसरी बात यह है कि उक्त सत्रह सामिधेनियों याग के प्रति गौण है, इस कारण उनका वैश्य के लिए होना मात्र कल्पना ही है। जबकि प्रकृति (प्रमुख) याग में तीनों वर्णों का अधिकार उपपन्न है और 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के अनुसार विकृति याग में भी प्रकृति जैसा ही होना चाहिए। इसलिए उक्त विकृति याग में मात्र वैश्य का ही अधिकार नहीं, प्रत्युत तीनों वर्णों -ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का अधिकार सिद्ध है॥ ३८॥

**गत ३६ वें सूत्र में प्रयुक्त पूर्वपक्षी लिङ्ग 'इज्याविशेषवत्' का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

## ( १२०६ ) इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** इज्यायाम् = वैश्यस्तोम संज्ञक याग में, तद्गुणत्वात् = गुणरूप से वैश्य यजमान का कथन प्राप्त होता है। अस्तु, विशेषेण = कर्त्ता वैश्य यजमान की विशिष्टता का, नियम्येत = नियम होना युक्त नहीं।

**व्याख्या—** 'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत' इस वैश्यस्तोम वाक्य में जिस प्रकार का प्रत्यक्षतः वैश्य का विहित होना प्राप्त है, उक्त अध्वर, कल्पादि विकृति यागों में वैसा न होकर उनमें मात्र सत्रह सामिधेनियों का श्रवण प्राप्त है और इस श्रवण के कारण ही वैश्य का यजमान होना कल्पित होता है। अतः 'इज्याविशेषवत्' का दृष्टान्त अपनी सामर्थ्य से वैश्य को यजमान होना सुनिश्चित नहीं कर सकता। अतएव अध्वर, कल्पादि विकृतियागों में तीनों ही वर्णों का अधिकार है, एकाकी वैश्य का ही नहीं, यही सिद्ध होता है॥ ३९॥

**॥ इति षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः॥**

# ॥ अथ षष्ठाध्याये सप्तमः पाद ॥

**सातवें पाद के शुभारम्भ में सूत्रकार विश्वजित् याग में सर्वस्व दान सम्बन्धी पूर्वपक्ष को व्यक्त करते हैं—**

## ( १२०७ ) स्वदाने सर्वमविशेषात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** स्वदाने = विश्वजित् याग में, अविशेषात् = विशेष निर्देश के अभाव में, सर्वम् = सर्वस्व दान कर देना चाहिए।

**व्याख्या—** क्षात्र धर्म का मुख्य याग होने से विश्वजित् याग के सम्पन्न किये जाने से क्षात्र धर्म फलता-फूलता है। 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति' इस दान विधायक वाक्य के अनुसार यही सिद्ध होता है कि विश्वजित् याग में यजमान द्वारा सभी प्रकार के पदार्थों का दान किया जाना चाहिए॥ १ ॥

*नोट- 'विश्वं जयति इति विश्वजित्' जिसके द्वारा विश्व पर विजय प्राप्त किया जाये, वह विश्वजित् याग है।*

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

## ( १२०८ ) यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—**इतरस्य = अन्य पदार्थों के, अशक्यत्वात् = दान में असमर्थ होने से, यस्य = (यजमान) जिन पदार्थों का, प्रभुः = स्वामी, स्यात् = हो, वा = उन्हीं का दान करे।

**व्याख्या—**उपर्युक्त वाक्य 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति' का अर्थ सम्पूर्ण धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादि का दान किया जाना नहीं; प्रत्युत अपने अधिकार वाली वस्तुओं का दान किया जाना है। अतएव राजा यजमान जिन पदार्थों का स्वामी हो, जो किसी अन्य के अधिकार में न हो, उन्हीं का दान करे, ऐसा समझना युक्त है॥ २ ॥

**अगले सूत्र में भूमिदान का निषेध कथन करते हैं—**

## ( १२०९ ) न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** भूमिः = पृथ्वी में, सर्वान्प्रति = सभी सम्बन्धी जनों का अधिकार, अविशिष्टत्वात् = समान (एक जैसा) होने से, न = (उसका दान) नहीं किया जाना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य का कथन है कि भूमि का स्वामी मात्र यजमान (पुरुष) ही नहीं होता; अपितु उसकी पत्नी, पुत्र-पौत्र आदि सभी का भाग उस भूमि में होता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण परिवार पलता है। अतएव उस भूमि का दान यजमान अकेले निर्णय से न करे॥ ३ ॥

**अगले क्रम में अश्व आदि के दान का भी निषेध कथन करते हैं—**

## ( १२१० ) अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात्॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अकार्यत्वात् = दान कर्म के योग्य न होने से, ततः = उस भूमि आदि पदार्थों से, पुनर्विशेषः = अश्व आदि विशेष, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** अश्वादि की युद्ध में अत्यधिक उपयोगिता सिद्ध होती है। इसी कारण अश्व को दान के लिए उपयुक्त न मानकर, इन्हें अदेय कहा गया है। अतएव (राजा) यजमान को अश्व आदि का दान किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए॥ ४ ॥

**यहाँ एक प्रश्न यह है कि विश्वजित् याग में तो क्षत्रिय यजमान आत्म-समर्पण भी कर दिया करते हैं, फिर अश्वदान के निषेध का क्या औचित्य हो सकता है? सूत्रकार ने समाधान देते हुए बतलाया—**

## ( १२११ ) नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, नित्यत्वात् = आत्मा की नित्यता से, अनित्यः = उसका (आत्मा का) अनित्य पदार्थों के साथ, सम्बन्धः = सम्बन्ध, नास्ति = नहीं है।

**व्याख्या**—यजमान के आत्म-समर्पण का कारण तो आत्मा का नित्यत्व है। आत्मा के नित्यत्व से उसका सम्बन्ध अनित्य पदार्थों के साथ होना संभव नहीं। अतएव अश्वादि के दान न देने से आत्मोन्नति में बाधा नहीं होती। अस्तु; उसमें दोष नहीं है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**उपर्युक्त याग में क्या शूद्र भी दान का अधिकारी है? इसका भी उत्तर आचार्य ने प्रस्तुत किया—**

## (१२१२) शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ**— धर्मशास्त्रत्वात् = धर्म शास्त्रों में शूद्र के सेवारूप धर्म का कथन प्राप्त होने से, शूद्रः = उक्त याग में शूद्र को, च = भी दान का अधिकार प्राप्त है।

**व्याख्या**— धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि शूद्रत्व आदि धर्म जन्म से न होकर औपाधिक हैं। अतः उनमें जो शूद्र का धर्म तीनों वर्णों की सेवा करना बतलाया है, वह गुण-कर्म के अभिप्राय से किया गया कथन है; ऐसा समझना चाहिए। इसलिए उपर्युक्त विश्वजित् याग में शूद्र भी दान देने का अधिकार रखता है॥ ६॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त दान के दिये जाने का काल नियत किया गया है—**

## (१२१३) दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात्॥ ७॥

**सूत्रार्थ**— तद्दानसंयोगात् = विश्वजित् याग से सम्बन्धित, दक्षिणाकाले = दान दक्षिणा के समय, यत् = जो भी, स्वम् = स्वाधीन (यजमानाधीन) दातव्य पदार्थ हों, तत् = उन पदार्थों की, प्रतीयेत = प्रतीति प्राप्त होती है।

**व्याख्या**— उपर्युक्त विश्वजित् याग में जो दक्षिणा का काल विहित किया गया है, उक्त दातव्य पदार्थों का दान उसी काल में किया जाना चाहिए, न कि वह काल बीतने के अनन्तर। तत्काल दिये जाने वाले दान की शास्त्र भी प्रशंसा करता है, ऐसा दान विशेष फल का प्रदाता होता है॥ ७॥

**उपर्युक्त याग के समापन में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

## (१२१४) अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ**— कर्मणः = उपर्युक्त विश्वजित् याग से संयुक्त किसी भी कर्म के,अशेषत्वात् = शेष न होने से (सभी के सम्पन्न हो जाने पर), तदन्तः = याग के (उसके) अन्त में (दक्षिणा काल में) ही उक्त याग का समापन हो जाना, स्यात् = युक्त है, द्रव्यसिद्धित्वात् = क्योंकि द्रव्य की सिद्धि हो जाने से उसका समापन किया जाना ही उचित है।

**व्याख्या**— पूर्वपक्ष की मान्यता यह है कि उक्त याग से सम्बन्धित समस्त कर्मों की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने पर दक्षिणा काल में द्रव्यरूप सर्वस्व दान कर्म का सम्पादन करने के साथ ही, किसी भी कर्त्तव्य के शेष न रहने के कारण, याग को समाप्त कर देना चाहिए॥ ८॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले दो सूत्रों में किया—**

## (१२१५) अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ**— अपि वा = फिर भी, प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = नियत कर्म पूर्णाहुति आदि के शेष बचे रहने से, क्रतोः = उक्त विश्वजित् याग से सम्बन्धित, शेषकर्म = शेष कर्मों का सम्पादन, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या**— उक्त विश्वजित् याग के क्रम में, यजमान द्वारा द्रव्यों का दान किये जाने के अनन्तर रौद्र(रुद्रसूक्त) मन्त्रों का सस्वर पाठ हो चुकने पर शेष पूर्णाहुति आदि कर्म पूरे किये जाने पर ही यज्ञ समाप्त करना चाहिए॥ ९॥

## (१२१६) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ १०॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, तथा = इसी प्रकार से, अन्यार्थदर्शनम् = दूसरे दृष्टान्त भी दृष्टिगोचर होते हैं।

**व्याख्या**— वैदिक वाङ्मय में परमपिता परमात्मा के रुद्ररूप का बोध कराने वाले मन्त्रों की बहुलता का दृष्टिगत होना भी उक्त कथन की उपपन्नता में प्रमाण है॥ १०॥

**शेष बची हुई हवन सामग्री के पूर्णाहुति में हवन किये जाने में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १२१७ )     अशेषं तु समञ्जसादानेन शेषकर्म स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** अशेषम् = मुख्य आहुतियों से बची सामग्री को, तु = तो, समञ्जसा = सम्यक् रूप से, दानेन = हवन किये जाने से, शेषकर्म = शेष कर्मों की पूर्णता, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त याग भली प्रकार से सम्पन्न हो, इसके लिए यही उचित है कि प्रधान आहुतियों से बची हुई शेष हव्य सामग्री को पूर्णाहुति में सम्यक् विधि से हवन कर दिया जाये॥ ११॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १२१८ )     नादानस्यानित्यत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** आदानस्य =भक्षण किये जाने योग्य द्रव्य के विधान की, अनित्यत्वात् = सुनिश्चितता होने से, न = उपर्युक्त पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** यज्ञशेष के भक्षण का विहित विधान निश्चित है, अतएव भक्षण योग्य पदार्थ को यज्ञशेष के भक्षणार्थ बचाकर, अन्य सामग्री का हवन किया जाना ही उचित है॥ १२॥

**यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यज्ञ करने से शेष हवन सामग्री के भक्षण और हवन के परस्पर विरोधी निर्देश क्यों हैं? सूत्रकार ने उक्त प्रश्न का समाधान किया—**

**( १२१९ )     दीक्षासु तु निर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** दीक्षासु = उक्त याग के दीक्षा काल में, निर्देशात् = यज्ञ शेष के भक्षण का शास्त्रादेश प्राप्त होने से, तु = ही, अक्रत्वर्थेन = क्रत्व याग के प्रयोजनार्थ नहीं है, संयोगः = (शेष शाकल्य का हवन करना) विहित है, तस्मात् = इस कारण से, अविरोधः = दोनों में पारस्परिक विरोध नहीं मानना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्णाहुति में हवन किया जाने वाला शाकल्य तथा यज्ञ-शेष, जो कि ऋत्विजों के भक्षणार्थ विहित है, दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यज्ञशेष मात्र भक्षण के लिए ही होता है, पूर्णाहुति के समय उक्त यज्ञशेष को छोड़, शेष शाकल्य का हवन करना विहित है। अतः पारस्परिक विरोध का प्रश्न ही नहीं है॥ १३॥

**अगले क्रम में आचार्य अहर्गण याग-अष्टरात्र याग में सर्वस्व दक्षिणा का विधान बतलाते हैं—**

**( १२२० )     अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात्सर्वेषामविशेषात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अहर्गणे = अष्टरात्र याग में, अविशेषात् = विशेष निर्देश न होने से, तद्धर्मा = उसी विश्वजित् याग के ही धर्म मिलते हैं, सर्वेषाम् = अतएव सर्वस्व दक्षिणा की विधि-व्यवस्था भी उसमें है।

**व्याख्या—** विश्वजित् याग में विहित सर्वस्व दक्षिणा का विधान पूर्व में दिया जा चुका है। सूत्रकार का कथन यह है कि जो धर्म विश्वजित् याग के हैं, वही धर्म अहर्गण अष्टरात्र याग में भी प्राप्त होते हैं, अतः अहर्गण में भी सर्वस्व दक्षिणा का विधान मान्य है॥ १४॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १२२१ )     द्वादशशतं वा प्रकृतिवत्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद यहाँ पूर्वपक्ष का सूचक है। प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग की ही दक्षिणा के समान उक्त अहर्गण याग की भी दक्षिणा, द्वादशशतम् = बारह सौ रुपये ही है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि जैसे प्रकृतियाग-ज्योतिष्टोम की दक्षिणा बारह सौ रुपये है, (द्वादशशत का अर्थ ११२ गौवें भी लिया जाता है, जो उस समय की स्थिति के लिए अधिक समीचीन प्रतीत होता है।) उसी प्रकार इतनी ही दक्षिणा अहर्गण-अष्टरात्र याग की भी होनी चाहिए। कारण यह कि ज्योतिष्टोम याग अहर्गण याग का प्रकृतियाग है, अतः दक्षिणा दोनों की समान ही होनी उचित है॥ १५॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## (१२२२) अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** (उपर्युक्त अहर्गण याग में) अतद्गुणत्वात् = ज्योतिष्टोम के गुण-धर्म नहीं मिलने से, तु = तो, एवं = उक्त विधान, न = उचित नहीं, स्यात् = है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त अहर्गण-अष्टरात्र याग में ज्योतिष्टोम के गुण-धर्म नहीं, प्रत्युत विश्वजित् याग के धर्मों की प्राप्ति मिलती है। अतएव ज्योतिष्टोम याग के समान उक्त अहर्गण याग की दक्षिणा बारह सौ रुपये किया जाना युक्त ही नहीं है, उसकी दक्षिणा भी 'विश्वजित्' की तरह सर्वस्व दान की होनी चाहिए॥ १६॥

## (१२२३) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के दृष्टिगोचर होने से भी उक्त अर्थ की उपपन्नता है।

**व्याख्या—**प्रस्तुत प्रसङ्ग में लिङ्गरूप प्रमाण है- 'हीयते वा एषः पशुभिर्योविश्वजिति सर्वे न ददाति'। पशु धन से वह रहित हो जाता है, जो यजमान विश्वजित् याग में सर्वस्व दक्षिणा नहीं देता है। उक्त कथन अहर्गण याग में सर्वस्व दक्षिणा दिये जाने की पुष्टि करता है। इससे दोनों यागों की समान धर्मिता भी उपपन्न हो जाती है॥ १७॥

**इस कथन में अगले सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष करते हैं—**

## (१२२४) विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात्॥ १८॥



**सूत्रार्थ—**अविशेषात् = विशिष्टता का उल्लेख न होने से, विकारः = विकार स्वरूप उक्त अहर्गण-अष्टरात्र याग, उभयतः = दोनों ही अवस्थाओं में सम्पन्न किया जा सकता, सन् = है।

**व्याख्या—** उक्त विकार स्वरूप अहर्गण याग, बारह सौ रुपये रहने की स्थिति में तथा बारह सौ रुपये से कम रहने की (दोनों ही) स्थिति में भी सम्पन्न किया जा सकता है। कारण यह कि उसमें किसी भी प्रकार की वैशिष्ट्यता दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः बारह सौ रुपये दक्षिणा वाले विधान की मान्यता उचित नहीं॥ १८॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## (१२२५) अधिकं वा प्रतिप्रसवात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद उक्त पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। अधिकं = सभी विश्वजित् याग के अधिकारी नहीं हो सकते, प्रतिप्रसवात् = क्योंकि उक्त याग में बारह सौ रुपये की दक्षिणा का विधान प्राप्त है।

**व्याख्या—** विश्वजित् याग में द्वादशशत दक्षिणा (धन) का विधान उपलब्ध है। यथा- 'एतावता वाव ऋत्विज् आनेया अपि वा सर्वस्वेन' (ऋत्विज् इतने से आयें अथवा सर्वस्व से)। यहाँ पर यह वाक्य सिद्ध करता है कि बारह सौ से कम वाला विश्वजित् याग नहीं कर सकता॥ १९॥

## (१२२६) अनुग्रहाच्च पादवत्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अनुग्रहात् = अधिक का ग्रहण किये जाने से, पादवत् = पाद के तुल्य द्वादशशत (बारह सौ) भी मध्य में आ जाता है।

**व्याख्या—** कार्षापण मोहर के दान से जैसे उसके पाद स्थानीय चतुर्थांश मध्य में प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही अधिक ग्रहण (कथन) किये जाने से बारह सौ (द्वादशशत) का भी बीच में आना प्राप्त होता है। अतः इस कारण कम दक्षिणा रूप धन वाला उक्त विश्वजित् याग का अधिकारी नहीं हो सकता॥ २०॥

**उपर्युक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## (१२२७) अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तत् श्रुतित्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** तच्छ्रुतित्वात् = श्रुति वाक्यों में, अपरिमिते = दान का अपरिमित विधान प्राप्त होने से, शिष्टस्य = उपर्युक्त संख्या का, संख्या प्रतिषेधः = संख्या विषयक निषेध उपलब्ध है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त दान में जिन श्रुति वाक्यों का श्रवण होता है, वे इस प्रकार हैं- शतं देयं, सहस्रं देयं, अपरिमितं देयं आदि। इन उक्त वाक्यों से विश्वजित् याग में अपरिमित दान का विधान प्राप्त होने से उसका सम्पादन न्यून धन वाला पुरुष नहीं कर सकता॥ २१॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**(१२२८) कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसंख्यानात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** कल्पान्तरम् = उक्त अपरिमित पद असंख्य का पर्याय, वा = नहीं है, तुल्यवत् = हजार अधिक, उसके तुल्य, प्रसंख्यानात् = संख्या का कथन करने के कारण, उसका हेतु है।

**व्याख्या—** यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में अपरिमित पद का अर्थ असंख्य न होकर, बारह हजार (सहस्र) की संख्या के आस पास कुछ अधिक का द्योतक है। अतएव उपर्युक्त कथन का कोई औचित्य ही नहीं है॥ २२॥

**उक्त कथन में पुनः पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**(१२२९) अनियमोऽविशेषात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—**अविशेषात् = अर्थ में किसी विशिष्ट हेतु के प्राप्त न होने से तो, अनियमः = नियम का अभाव ही है, माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वोक्त संख्या के निर्धारण में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। अतएव बारह सौ एवं अपरिमित को समानार्थक मानना कदापि युक्त नहीं हो सकता॥ २३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**(१२३०) अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेषां सन्निधानात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** इतरेषाम् = अपरिमित से इतर जो सौ या हजार आदि की संख्या है, संनिधानात् = वह उन्हीं की संनिधि में पठित है, अधिकं =(अस्तु, अपरिमित पद) अधिक, वा = अथवा, बह्वर्थत्वात् = बहुत्व का बोधक, स्यात् = है।

**व्याख्या—** उक्त अपिरिमित पद का पाठ 'शतं देयं', 'सहस्रं देयं' आदि की सन्निधि में पठित है। अस्तु; यह पद उसी संख्या के आस पास है, अधिक धन के अभिप्राय से प्रयुक्त किया गया है, न कि अनन्त के। अतएव इससे तो यही सिद्ध होता है कि उक्त विश्वजित् याग वही सम्पन्न कर सकते हैं, जिनके पास सहस्र से अधिक धन हो॥ २४॥

**(१२३१) अर्थवादश्च तद्वत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—**च = तथा जैसे प्रशंसापूर्ण कथन किया जाता है, तद्वत् = वैसे ही अपरिमित पद को भी समझना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत अपरिमित पद का पाठ संख्या के भाव से नहीं, प्रत्युत अर्थवाद- अतिशयोक्तिपूर्ण कथन के अभिप्राय से किया गया है। भाव यह कि पर्याप्त धन सम्पन्न व्यक्ति ही उक्त विश्वजित् याग सम्पन्न कर सकते हैं। न्यून धन वाला व्यक्ति उक्त याग का अधिकारी नहीं हो सकता॥ २५॥

**अगले क्रम में आचार्य पूर्व सृष्टि के व्यक्तियों का विशिष्टतापरक अर्थ प्रस्तुत करते हैं—**

**(१२३२) परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—**परकृतिपुराकल्पम् = पूर्वकल्पों के मानवों में, च = भी, मनुष्यधर्मः = मनुष्यों वाले गुण-धर्म विद्यमान, स्यात् = हैं, अर्थाय = इसी अर्थ की सिद्धि, अनुकीर्तनम् = शास्त्रों से, हि= सुनिश्चित होती है।

**व्याख्या—**सदाचारवान् पुरुष अपने आचरण से सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है- 'सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति'। इस प्रकार के मनुष्य के धर्मों से युक्त वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व सृष्टि के मानवों में भी किसी विशिष्टता युक्त अलौकिक सामर्थ्य नहीं, प्रत्युत मनुष्यता के ही महान् धर्म विद्यमान थे॥ २६॥

**उपर्युक्त कथन में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १२३३ ) तद्युक्ते च प्रतिषेधात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा उक्त कथन में, प्रतिषेधात् = उनका प्रतिषेध प्राप्त होने से, तद्युक्ते = वह उक्ति सर्वथा अमान्य है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि पूर्वकल्प के मनुष्यों में मनुष्य-धर्मों की समानता का विधान माना जाना इसलिए उचित नहीं; क्योंकि उनका निषेध पाया जाता है॥ २७॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १२३४ ) निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** पञ्चावत्तवत् = पञ्चभौतिक शरीर के समान ही, निर्देशात् वा = कथन की प्राप्ति होने से भी, तद्धर्मः = उन्हें मनुष्यों के ही धर्मों से युक्त मानना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** जैसे वर्तमान सृष्टि के मनुष्यों का शरीर पाञ्चभौतिक है, वैसे ही पूर्वसृष्टि के मनुष्य भी पञ्च- भौतिक शरीर वाले ही थे। अतएव उनके गुण-धर्म भी समान थे। इसलिए उन्हें अलौकिक कहना उचित नहीं॥ २८॥

**( १२३५ ) विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—**विधौ = उपर्युक्त विधान के अन्तर्गत, तु = तो, वेदसंयोगात् = वैदिक वचनों के सम्बन्ध से भी, उपदेशः = उपदेश की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** यजुर्वेद के वाक्य 'पश्येम शरदः शतम्' 'जीवेम शरदः शतम्' भी इस बात के प्रमाण हैं कि पूर्व सृष्टि के लोग अलौकिक सामर्थ्य वाले न होकर, मनुष्यों के ही धर्म से युक्त थे॥ २९॥

**( १२३६ ) अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** विधिशेषत्वात् = वैदिक वचनों के प्रमाण से, अर्थवादः = मनुष्यों के हजारों वर्ष तक जीवित रहने का कथन मात्र, वा = ही है। तस्मात् = इसीलिए, नित्यानुवादः = उक्त कथन को, वेदार्थ का ही नित्यानुवाद ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वैदिक प्रमाणों की उपलब्धता यह सिद्ध करती है कि जो मनुष्यों के हजारों वर्ष जीवित रहने वाले कथन प्राप्त होते हैं, वे अर्थवाद रूप में अतिशयोक्ति द्वारा किए गए कथन हैं। इस प्रकार के कथन को उक्त वेदार्थ का ही नित्यानुवाद-अर्थवाद मानना युक्त है॥ ३०॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष के स्थापन के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १२३७ ) सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** तदायुषाम् = उस समय की आयु, सहस्रसंवत्सरम् = सहस्र वर्ष होने का कथन प्राप्त है, मनुष्येषु = वर्तमान सृष्टि के मनुष्यों में, असम्भवात् = यह असम्भव है।

**व्याख्या—** पूर्व सृष्टि में- पुरा कल्पीय लोग हजारों वर्ष की आयु वाले होते थे, ऐसा प्रस्तुत वाक्य से उपपन्न होता है- 'दिव्यम् वर्षसहस्रम् '। जबकि वर्तमान सृष्टि में ऐसी आयु वाले पुरुषों के दर्शन सर्वथा असम्भव हैं। अतएव इससे तो यही सिद्ध होता है कि पूर्व कल्प के मनुष्यों के गुण-धर्म वर्तमान से भिन्न थे॥ ३१॥

**अगले तीन सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

**( १२३८ ) अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, तदधिकारात् = अध्ययन एवं अध्यापन में मात्र मनुष्यों के ही अधिकार प्राप्त होने से, मनुष्यधर्मः = वे मनुष्यों के ही गुण-धर्म वाले थे।

**व्याख्या—** सृष्टि के शुभारम्भ से ही अध्ययन एवं अध्यापन का अधिकार मनुष्यों के लिए प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि वे पूर्व सृष्टि के लोग, मनुष्य धर्मी ही थे, देवधर्मी नहीं, यही समझना उचित है॥ ३२॥

**नोट**- इस सूत्र की व्याख्या में पूर्वपक्ष (मनुष्य की आयु सहस्रवर्ष नहीं हो सकती) का समाधान देते हुए

शबरमुनि ने लिखा है- रसायनैरायुर्दीर्घं प्राप्स्यन्तीति (रसायनों से मनुष्य भी दीर्घ आयु प्राप्त कर सकते हैं)। इसके समर्थन में युधिष्ठिर मीमांसक जी ने विस्तार से सोदाहरण तर्क अपने हिन्दी भाष्य में प्रस्तुत किया है।

## ( १२३९ ) नासामर्थ्यात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** असामर्थ्यात् = विशिष्ट सामर्थ्य के अभाव के कारण, न = वे देवतुल्य नहीं थे।

**व्याख्या—** अध्ययन एवं अध्यापन में जिस प्रकार से मनुष्यों का अधिकार प्राप्त होता है, वैसा देवताओं का नहीं। देवताओं की कल्पना करनी पड़ती है तथा मनुष्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। अस्तु; पूर्व पुरुषों की देव सामर्थ्य मानना उचित नहीं॥ ३३॥

**उपर्युक्त कथन में और भी युक्ति बतलाते हैं—**

## ( १२४० ) सम्बन्धादर्शनात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** सम्बन्ध = शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में देवताओं का सम्बन्ध, अदर्शनात् = न देखे जाने से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं में धर्मशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता है- अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥ उक्त वाक्य में अध्ययन-अध्यापन के साथ देवताओं का नहीं; प्रत्युत मनुष्यों का ही ग्रहण है॥ ३४॥

**पुनः पूर्वपक्ष स्थापित करने के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १२४१ ) स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** कार्ष्णाजिनिः = कार्ष्णाजिनि आचार्य का मन्तव्य, इति = इस प्रकार, स्यात् = है कि उक्त, सः = दिव्य सहस्र वर्ष अध्ययन का जो वर्णन प्राप्त है, कुलकल्पः = वह एक कुल है, एकस्मिन् = किसी एक ही पुरुष के लिए, असम्भवात् = वह सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** किसी एक ही पुरुष के द्वारा हजारों वर्ष तक अध्ययन-अध्यापन किया जाना किसी भी स्थिति में सम्भव न होने के कारण उसे एक पुरुष का नहीं; प्रत्युत एक कुल के अभिप्राय से किया गया कथन समझना चाहिए, आचार्य कार्ष्णाजिनि का यही मन्तव्य है॥ ३५॥

**इस उपर्युक्त कथन में अगले दो सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १२४२ ) अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, कृत्स्नसंयोगात् = कृत्स्नपाद के साथ सम्बन्ध की प्राप्ति होने से, एकस्य = एक व्यक्ति का, एव = ही, प्रयोगः = व्यवहार (सम्बन्ध) सुनिश्चित, स्यात् = है।

**व्याख्या—** शास्त्र में कृत्स्न पद की उपलब्धता से, उसके सम्बन्ध के आधार पर तो यही प्रतीत होता है कि उक्त कथन कुल के अभिप्राय से नहीं; प्रत्युत एक ही व्यक्ति के अभिप्राय से किया गया कथन है॥ ३६॥

## ( १२४३ ) विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, विप्रतिषेधात् = पूर्वोत्तर प्रतिषेध (विरोध) की प्राप्ति होने से, लावुकायनः = लावुकायन ऋषि का, इति = ऐसा मानना है कि उक्त कथन, गुण्यन्तरः = गौण कथन है।

**व्याख्या—**देवदत्त सिंह है- 'सिंहो देवदत्तः' इस दृष्टान्त में जिस प्रकार से मुख्य कथन न करके गौण कथन किया गया है, वैसे ही 'दिव्यं वर्षसहस्रं' का कथन भी समझना चाहिए। लावुकायन ऋषि की मान्यता यह है कि एक मनुष्य द्वारा अध्ययन-अध्यापन किये जाने का उक्त कथन 'सिंहो देवदत्तः' के ही समान गौण कथन है। ऐसा समझना चाहिए कि उक्त अभिव्यक्ति चिरकाल के अभिप्राय से की गई है, न कि प्रमुखता के अभिप्राय से॥३७॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

## ( १२४४ ) संवत्सरो विचालित्वात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** संवत्सरः = संवत्सर शब्द के, विचालित्वात् = अनेक अर्थ का वाचक होने के कारण उक्त पूर्वपक्ष की मान्यता युक्त नहीं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त 'संवत्सर' पद के एक से अधिक अर्थ प्राप्त होते हैं, उक्त पद से कहीं पर ऋतुओं का कथन एवं कहीं पर दिन का तथा कहीं पर चन्द्रमा का कथन प्राप्त होता है। अतएव उक्त 'संवत्सर' पद को गौण मानना सर्वथा असङ्गत ही होगा और सङ्गति की स्थिति तब बनेगी, जब पात्रता अथवा योग्यता के अनुरूप उसके अर्थ को मान्यता दी जाये अर्थात् सहस्रवर्ष की आयु स्वीकार की जाये ॥ ३८॥

**अगले सूत्र में एक और पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १२४५ ) सा प्रकृतिः स्यादधिकारात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** सा = सहस्र संवत्सरों वाली वह, प्रकृतिः = प्रकृति ही मनुष्य रूप में ग्रहण की जा सकती, स्यात् = है, अधिकारात् = कारण यह कि उसका ही अधिकार प्राप्त है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त हजारों वर्षों वाली प्रकृति का ग्रहण मनुष्य रूप में होना सम्भव है; क्योंकि अध्ययन एवं अध्यापन में मनुष्यों का ही अधिकार प्राप्त है, देवताओं का नहीं, ऐसा समझना चाहिए॥ ३९॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले एवं पाद के अन्तिम सूत्र में करते हैं—**

## ( १२४६ ) अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** अहानि = उक्त संवत्सर दिन के अर्थ में, वा = भी व्यावहारिक होता है, अभिसंख्यत्वात् = क्योंकि एक ही दिन में छहों ऋतुओं के वर्तने (सम्पन्न होने) का कथन प्राप्त होने से, ऐसा ही मानना युक्त है।

**व्याख्या—** 'सहस्र संवत्सरं' एवं 'दिव्य वर्षसहस्रं' जैसे वाक्यों में जो हजारों वर्षों की आयु का वर्णन मिलता है, उसमें संवत्सर शब्द का अर्थ वर्ष नहीं; प्रत्युत दिन समझना चाहिए। 'संवत्सर' का दिन में वरतना इस प्रकार से है- सूर्य का उदय होते समय वसन्त ऋतु, दोपहरी मध्य दिन में वर्षाऋतु, सम्यक् रूप से उदय होने पर ग्रीष्मऋतु, अपराह्न काल शरद् ऋतु, सूर्यास्त तथा बाद का समय हेमन्त, शिशिर ऋतु आदि। इस प्रकार की व्यवस्था से 'दिव्यवर्षसहस्रं' से आयु का विधान करने वाले शास्त्र वचनों से न तो विरोध होगा और न ही किसी प्रकार का दोष ही होगा॥ ४०॥

## ॥ इति षष्ठाध्यायस्य सप्तमः पाद॥

# ॥ अथ षष्ठाध्याये अष्टमः पादः ॥

**आठवें पाद के शुभारम्भ में सूत्रकार 'चतुर्होतृ' संज्ञक होमों को संस्कार युक्त अग्नि में किया जाना विहित करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १२४७ ) इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** अक्रतुशेषः = याग का अनङ्गभूत, होमः = हवन, संस्कृतेषु = संस्कारयुक्त, अग्निषु = अग्नि में किया जाना, स्यात् = युक्त है, अपूर्वः = क्योंकि उपर्युक्त अपूर्व हवन होने में, अपि = भी, आधानस्य = अग्नि का आधान, इष्टिपूर्वत्वात् = पवमान इष्टि साध्य होने के कारण, सर्वशेषत्वात् = समस्त हवनों का शेषभूत है।

**व्याख्या—** प्रजा-सन्तान आदि की कामना से किया जाने वाला याग 'चतुर्होतृ' संज्ञक याग कहलाता है- 'प्रजाकामं चतुर्होत्रा याजयेत्'। उपर्युक्त होम सुसंस्कारित अग्नियों में ही सम्पादित किया जाना चाहिए; क्योंकि समस्त होमों का अङ्ग होने से इसे आहवनीय आदि होमों की अपेक्षा-आकांक्षा सदैव बनी रहती है। अतएव संस्कृत अग्नि में ही उसे सम्पन्न करना चाहिए॥ १ ॥

**पूर्वपक्ष की जिज्ञासा का उत्तर सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में दिया—**

**( १२४८ ) इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** इष्टित्वेन = इष्टि रूप से, तु = तो जो, संस्तवः = स्तुति प्राप्त होती है, चतुर्होतृन् = वह चतुर्होतृ होमों का सम्पादन, असंस्कृतेषु = संस्कार रहित अग्नि में किया जाना, दर्शयति = दर्शाती है।

**व्याख्या—** प्रेरक वाक्य 'एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टियच्चतुर्होतारः' अर्थात् चतुर्होतृ संज्ञक होम अनाहित अग्नियों की इष्टि है, यह कथन स्पष्ट रूप से यही बतलाता है कि उक्त चतुर्होतृ होम संस्कृत अग्नि में न करके, असंस्कृत अग्नि में ही करना चाहिए॥ २ ॥

**( १२४९ ) उपदेशस्त्वपूर्वत्वात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** उपदेशः = उपर्युक्त होम चतुर्होतृ का उपदेश, तु = तो, अपूर्वत्वात् = अपूर्व विधि के अभिप्राय से किया गया कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि चतुर्होतृ संज्ञक होम का जो विधि-विधान प्राप्त है, उसे अपूर्व विधि के अभिप्राय से किया गया कथन-उपदेश मानना चाहिए॥ ३ ॥

**अगले क्रम में यज्ञ के दोनों प्रकार ( अनङ्गभूत एवं अङ्गभूत ) के चतुर्होतृ हवनों को आहिताग्नि में सम्पादित किया जाना विहित करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १२५० ) स सर्वेषामविशेषात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ-** स = वह पूर्व वर्णित विधि, अविशेषात् = विशिष्टता युक्त कथन के अभाव में, सर्वेषाम् = अनङ्गभूत तथा अङ्गभूत, यज्ञ के दोनों ही प्रकार का विधान बतलाती है।

**व्याख्या—** पूर्वोक्त विधि में किसी विशिष्ट निर्देश के प्राप्त न होने से तो यही लगता है कि उक्त विधि में यज्ञ के अनङ्गभूत एवं अङ्गभूत दोनों ही प्रकार के होमों की व्यवस्था का विधान है॥ ४ ॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया—**

**( १२५१ ) अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, क्रत्वभावात् = यज्ञ रूप न होने के कारण, अशेषभूत = उक्त यज्ञ का

अनङ्गभूत उपदेशात्मक, निर्देश: = कथन, अनाहिताग्ने: = अनाहिताग्नियों का है, आहिताग्नियों का नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य का कहना है कि उपर्युक्त विधि यज्ञ के अनङ्गभूत होम के लिए ही बतलायी गई है। विधि व्यवस्था के अनुसार उन्हें अनाहिताग्नि में ही सम्पन्न होने चाहिए। यज्ञ के अङ्गभूत जो होम हैं, उनका विधान पूर्वविहित होने से उनके लिए उक्त विधि की आवश्यकता ही नहीं है॥ ५॥

**अगले सूत्र में पुन: पूर्वपक्षी का मन्तव्य वर्णित करते हैं —**

**( १२५२ ) जपो वाऽनग्निसंयोगात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** अग्निसंयोगात् = उसका अग्नि के साथ संयोग के कारण, जप: = जो अनाहित-अग्नि है, उसकी दृष्टि, वा = अर्थवाद है।

**व्याख्या—** वाक्य है 'एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टियच्चतुर्होतार:' अर्थात् 'चतुर्होतृ' होम यज्ञ का अनङ्गभूत है। आहिताग्नि के रहने पर ही होम का कथन सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतएव उक्त कथन को इष्टि नहीं, प्रत्युत अर्थवाद ही मानना उचित है॥ ६॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में किया—**

**( १२५३ ) इष्टित्वेन तु संस्तुते होम: स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अनारभ्याग्नि संयोगात् = अनाहिताग्नि के साथ चतुर्होतृ होम कर्म का सम्बन्ध प्राप्त होने से, इतरेषाम् = अन्य कर्मों का, अवाच्यत्वात् = वाचक न होने से तथा, इष्टित्वेन = इष्टि रूप से, संस्तुते: = संस्तुति (कथन) किये जाने के कारण, तु = यह सिद्ध होता है कि, होम: = होम कर्म, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्र में वर्णित कई हेतु यह सिद्ध करते हैं कि उपर्युक्त चतुर्होतृ कर्म अर्थवाद नहीं, प्रत्युत होम कर्म है। प्रथम यह कि उक्त कर्मों का कथन इष्टि रूप से मिलता है। द्वितीय हेतु है- संस्कार से रहित अग्नि में उक्त होम का विधान। तीसरा हेतु है- उपर्युक्त कर्म का होम से पृथक् (भिन्न) किसी अन्य कर्म का वाचक न होना। ये समस्त हेतु उक्त चतुर्होतृ यज्ञ को होम कर्म सिद्ध करते हैं॥ ७॥

**अगले क्रम में अनाहिताग्नि में ही उक्त होम कर्म का होना बतलाने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १२५४ ) उभयो: पितृयज्ञवत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** पितृयज्ञवत् = पितृयज्ञ की भाँति, उभयो: = उक्त दोनों ही कर्म, होम कर्म हैं।

**व्याख्या—** जैसे आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष पितृयाग होम कर्म सम्पादित करते हैं, वैसे ही आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि दोनों के द्वारा उक्त चतुर्होतृ होम कर्म किया जाना सम्भव है॥ ८॥

**अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १२५५ ) निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** अनारभ्याग्निसंयोगात् = अनाहिताग्नि के ही साथ उक्त होमों का संयोग प्राप्त होने से, वा = अथवा, निर्देश: = होम के सम्बन्ध में प्राप्त निर्देशानुसार उन्हें अनाहिताग्नियों में ही सम्पन्न करे।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि 'आहवनीये जुहोति' आदि वाक्यों की प्रवृत्ति उक्त चतुर्होतृ होमों के अधिकार से न होकर उससे पृथक् अन्य होमों के अधिकार से हुई है। इसी कारण उक्त चतुर्होतृ याग के अनाहिताग्नि में ही करने का निर्देश प्राप्त है॥ ९॥

**( १२५६ ) पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** पितृयज्ञे = पितृयज्ञ में, संयुक्तस्य = संयुक्त अग्न्याधान बोधक, पुनर्वचनम् = वचनों में भिन्नता है।

**व्याख्या**— उक्त पितृयज्ञ में आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि दोनों के कथन कर्त्ता भिन्न-भिन्न वाक्यों की प्राप्ति होती है। अतएव पितृयाग का दृष्टान्त देकर उक्त चतुर्होतृ होमों को, संस्कृत एवं असंस्कृत दोनों ही के लिए सामान्य क्रम से बतलाना अनौचित्यपूर्ण है॥ १०॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने उपनयन काल में होने वाले होमों के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( १२५७ ) उपनयन्नादधीत होमसंयोगात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— होमसंयोगात् = होम के साथ उसका सम्बन्ध प्राप्त होने से, उपनयन् = उपनयन काल में किये जाने वाले होम, आदधीत = आहिताग्नि में होने चाहिए।

**व्याख्या**— उपनयन के समय में होम सम्बन्धी निर्देश है 'आहवनीये जुहोति'। अतएव उपनयन काल का हवन अनाहिताग्नि में नहीं, प्रत्युत आहिताग्नि में ही किया जाना चाहिए॥ ११॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( १२५८ ) स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ**— विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् = ब्रह्मविद्या का साधन स्वरूप उपनयन कर्म उससे पूर्व होने से, स्थपतीष्टिवत् = स्थपति इष्टि के समान, वा = ही, लौकिके = उपनयन कालिक होम अनाहित अग्नि में ही किया जाना चाहिए।

**व्याख्या**—जिस प्रकार स्थपति इष्टि का सम्पादन लौकिक अग्नि में ही किया जाता है, उसी प्रकार अग्न्याधान के अधिकार की उत्पत्ति विद्या के पश्चात् होने से भी उपनयन कालिक होम आहिताग्नि में नहीं, प्रत्युत अनाहिताग्नि में किया जाना उचित है॥ १२॥

**( १२५९ ) आधानं च भार्यासंयुक्तम्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ**— आधानम् = अग्न्याधान का अधिकार भी, भार्यासंयुक्तम् = विवाहित पुरुष होने से, च = भी ऐसा ही है।

**व्याख्या**— विद्याध्ययन के अनन्तर स्त्री से संयुक्त विवाहित पुरुष को ही अग्न्याधान का अधिकार विहित होने से भी उपनयन सम्बन्धी होम कर्म का लौकिक अग्नि में होना सिद्ध है॥ १३॥

**उक्त अग्न्याधान कर्म के सन्दर्भ में आचार्य अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १२६० ) अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः॥ १४॥**

**सूत्रार्थ**— कर्मभिः = कर्मों के साथ भार्या का, समवायः = सम्बन्ध होने से, आधानात् = अग्न्याधान कर्म के, ऊर्ध्वम् = पश्चात् जो भार्या का ग्रहण है, तत् = वह, अकर्मः = अकर्म ही है।

**व्याख्या**— उक्त अग्न्याधान की सिद्धि हेतु किसी पुरुष के द्वारा यदि एक भार्या का पूर्व में ग्रहण कर लिया जाता है और एक का उपनयन के पश्चात् ग्रहण करता है, तो इस प्रक्रिया से उक्त आहवनीय अग्नि में उपनयन से सम्बन्धित हवन क्या निर्दोष हो सकेगा, ऐसी संदेहाभिव्यक्ति पर सूत्रकार का समाधान यह है कि उक्त कर्म के साथ एक भार्या का सम्बन्ध विद्यमान होने के कारण दूसरी भार्या का उसके साथ समवाय-सम्बन्ध संभव ही नहीं होगा॥ १४॥

**( १२६१ ) श्राद्धवदिति चेत्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ**— श्राद्धवत् = श्राद्धकर्म के समान उपर्युक्त उपनयन सम्बन्धी हवन का सम्पादन आहित एवं अनाहित दोनों ही प्रकार की अग्नियों में किया जाता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये तो?

**व्याख्या**— आशङ्कावादी का कथन है कि जिस प्रकार श्राद्ध कर्म आहित एवं अनाहित दोनों प्रकार की

अग्नियों में सम्पन्न कर लिया जाता है, वैसे ही उपनयन सम्बन्धी हवन भी उक्त दोनों प्रकार की अग्नियों में सम्पादित कर लिया जाना उचित है॥ १५॥

**उपर्युक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १२६२ ) न श्रुतिविप्रतिषेधात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** श्रुतिविप्रतिषेधात् = श्रुति में दो भार्याओं का निषेध होने से, न = यह कथन ठीक नहीं।

**व्याख्या—** उपनयन कर्म विवाह के पूर्व ही सम्पादित होता है। अत: यदि उपनयन के लिए आहिताग्नि की स्थापना की जाये, तो इससे शास्त्रीय (वैदिक) नियमों-अनुशासनों की मर्यादा का उल्लंघन होगा। इसी प्रकार श्राद्धकर्म से उपनयन कर्म की तुलना भी नहीं की जा सकती; क्योंकि श्राद्ध कर्म का सम्पादन अग्न्याधान के अधिकारी पुरुष भी करते हैं तथा अनधिकृत भी करते हैं, जबकि उपनयन में ऐसा नहीं है। अतएव उपनयन कर्म से सम्बन्धित हवन आहिताग्नि में नहीं, प्रत्युत अनाहिताग्नि में ही किया जाना चाहिए॥ १६॥

**विवाह के अनुशासनों पर प्रकाश डालने के क्रम में अगले दो सूत्रों की स्थापना करते हैं—**

## ( १२६३ ) सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सर्वार्थत्वात् = धर्म आदि समस्त प्रयोजनों के पूर्ति हेतु होने से (उक्त भार्या पुरुष की सहधर्मिणी है, विवाह मात्र,) पुत्रार्थ: = पुत्र की प्राप्ति के, प्रयोजयेत् = प्रयोजन से ही, न = नहीं किया जाता।

**व्याख्या—** विवाह संस्कार का प्रयोजन मात्र सन्तान की प्राप्ति ही नहीं; अपितु धार्मिक आचारों का सम्यक् अनुपालन है। यज्ञादि वैदिक विधि-विधान पत्नी सहित ही सुचारु रूप से सम्पन्न किया जाता है। अतएव यदि विवाह का सम्पादन मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होता है, तो उसे उचित नहीं कहा जा सकता॥ १७॥

## ( १२६४ ) सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** सोमपानात् = सोमपान करने वाला होने से, तु = तो, द्वितीयस्य = वैदिक धर्मावलम्बी पुरुष दूसरी स्त्री की कामना को, प्रापणम् = प्राप्त न होकर, उपयच्छेत् = एक ही स्त्री की अभिलाषा रखता है, तस्मात् = इसलिए एक ही स्त्री से विवाह करना सर्वथा उचित है।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र में प्रयुक्त सोमपान कर्म को वैदिक धर्म का उपलक्षण समझना चाहिए। सोम पीने का अर्थ है, पूर्णत: वैदिक धर्मावलम्बी होना। वैदिक धर्म एक भार्या के रहते दूसरी भार्या का विवाह रूप में पुनर्ग्रहण किये जाने का प्रतिषेध-निषेध करता है। अस्तु; वैदिक धर्मों में आस्था रखने वाला व्यक्ति दूसरी भार्या को पाने की अभिलाषा ही नहीं करेगा॥ १८॥

**गत आठवें सूत्र-'उभयो: पितृयज्ञवत्' का समाधान करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १२६५ ) पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तु = पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। पितृयज्ञे = पितृयज्ञ में, दर्शनात् = वाक्य की प्राप्ति के देखे जाने से, आधानात् = अग्न्याधान से, प्राग् = पूर्व पितृयज्ञ की, प्रतीयेत = प्रतीति प्राप्त है।

**व्याख्या—** 'अनाहिताग्निना कार्य्या', इस वाक्य से यही प्रतीति होती है कि उक्त पितृयाग का अनुष्ठान अग्न्याधान से पहले सम्पादित होता है। पितृयज्ञ को अनाहित-अग्नि वाले व्यक्ति भी सम्पादित करते हैं। शूद्र आदि भी माता-पिता आचार्य के हितार्थ उक्त पितृयाग को अनुष्ठित करते हैं। इसी कारण उक्त यज्ञ में आहित एवं अनाहित दोनों प्रकार के हवन वर्णित हैं॥ १९॥

**सूत्रकार उक्त स्थापित इष्टि का सम्पादन लौकिक अग्नि में करने के भाव से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १२६६ ) स्थपतीष्टि: प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** स्थपति = पूर्वोक्त स्थपति संज्ञक, इष्टिः = इष्टि, प्रयाजवत् = प्रयाज यागों के सदृश, अग्न्याधेयम् = अग्न्याधान के, प्रयोजयेत् = आश्रित रहा करती है, च = तथा, तादर्थ्यात् = तदर्थ-यज्ञ के प्रयोजनार्थ होने से, अपवृज्येत = आहिताग्नि के साथ अपने सम्बन्ध दर्शाती है।

**व्याख्या—** यहाँ पर 'प्रयाजवत् अग्न्याधेयं प्रयोजयेत्' (अर्थात् प्रयाज की तरह अग्न्याधान करे) के विधानानुसार यही सिद्ध होता है कि उक्त स्थपति इष्टि का सम्पादन अनाहिताग्नि में नहीं; प्रत्युत आहिताग्नि में ही किया जाना चाहिए॥ २०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## (१२६७) अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, आधानस्य = कारण यह कि अग्न्याधान कर्म का अधिकार, असर्वशेषत्वात् = सभी के लिए न होने से, लौकिके = स्थपति इष्टि की सम्पन्नता लौकिक-अनाहित, अग्नौ = अग्नि में ही, स्यात् = होना चाहिए (यही युक्त प्रतीत होता है)।

**व्याख्या—** अग्न्याधान के लिए जन सामान्य के अधिकृत न होने से यह उपपन्न हो जाता है कि उपर्युक्त स्थपति इष्टि आहिताग्नि में नहीं, प्रत्युत अनाहिताग्नि में ही होनी चाहिए॥ २१॥

**अगले क्रम में अवकीर्णि ब्रह्मचारी की इष्टि का सम्पादन लौकिक अग्नि में किया जाना विहित करते हैं—**

## (१२६८) अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** आधानस्य = क्योंकि अग्न्याधान का, अप्राप्तकालत्वात् = काल प्राप्त न होने से, अवकीर्णिपशुः = कामनापूर्वक ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाला ब्रह्मचारी पशु की इष्टि का सम्पादन, च = भी, तद्वत् = उसी के समान लौकिक अग्नि में ही किया जाता है।

**व्याख्या—** अवकीर्णी का तात्पर्य उस ब्रह्मचारी से है, जिसका ब्रह्मचर्य कामनापूर्वक भंग हो जाये। ऐसे पुरुष के लिए शास्त्र ने प्रायश्चित्त विहित किया कि वह दक्षिण-पश्चिम कोण-नैर्ऋत्य में गर्दभ का स्पर्श करे - 'नैर्ऋत्ये गर्दभमालभेत'। तदुपरान्त याग करे। उक्त इष्टि को लेकर सन्देह होता है कि वह अवकीर्णी अग्न्याधान करके गधे का स्पर्श करे? या अनाहित अग्नि में याग करे? सूत्रकार ने बताया उक्त अवकीर्णी के पाप का प्रायश्चित्त यही है कि वह लौकिक अग्नि(अनाहिताग्नि) में ही होम करके नैर्ऋत्यकोण में गर्दभ का स्पर्श करे। ऐसे ही उक्त अवकीर्णी के पाप का प्रायश्चित्त भी है॥ २२॥

**चूडाकरण आदि संस्कार के अनुशासन सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में प्रस्तुत किये—**

## (१२६९) उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** दैवानि = देव कर्म होने से, स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् = स्मृति वचनों के अनुसार, उदगयनपूर्वपक्षाहः = चूडाकरण आदि संस्कार कर्मों को, पुण्याहेषु = पवित्र दिनों में सम्पादित किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त चूडाकरण आदि संस्कार कर्मों की सम्पन्नता ईश्वरोपासनपूर्वक किये जाने के कारण उन कर्मों को इष्टदेव से सम्बन्धित (देवकर्म) कहा जाता है। अतएव देवताओं की प्रकृति के अनुरूप पवित्र-मंगलमय दिन तथा शुभ मांगलिक पक्ष में ही इन्हें किया जाना चाहिए॥ २३॥

## (१२७०) अहनि च कर्मसाकल्यम्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्मसाकल्यम् = समस्त कर्मों का सम्पादन, अहनि = दिन में ही करना चाहिए।

**व्याख्या—** जिन चूडाकरण आदि संस्कार कर्मों का वर्णन ऊपर के प्रसङ्ग में प्राप्त हुआ है, वे समस्त कर्म रात्रि में नहीं, प्रत्युत दिन में ही सम्पन्न किये जाने चाहिए, आचार्य की ऐसी ही मान्यता है॥ २४॥

**( १२७१ ) इतरेषु तु पित्र्याणि॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** पित्र्याणि = अत: पित्र्य कर्मों का सम्पादन, तु = तो, इतरेषु = देव कार्य से भिन्न काल (अपराह्ण आदि) में करने चाहिए।

**व्याख्या—** पित्र्यकर्म उक्त चूडाकरण आदि संस्कार कर्मों से सर्वथा पृथक् (भिन्न) होने के कारण देवकार्य से भिन्न काल (अपराह्ण, कृष्ण पक्ष आदि) में सम्पादित होते हैं॥ २५॥

**सोम आदि के क्रय सम्बन्धी विधि-व्यवस्था बतलाने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १२७२ ) याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** याच्ञाक्रयणम् = भिक्षा तथा सोम के खरीदने का कार्य, अविद्यमाने = नियत निर्देश के अभाव से सभी कालों में किया जाना चाहिए, लोकवत् = जैसा कि संसार के प्रचलन में प्राप्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी मान्यता यह है कि भिक्षा एवं सोम का क्रयण इसलिए सभी कालों में किया जाना उचित है; क्योंकि लोकप्रचलन में ऐसा ही है कि जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, तभी उसका क्रय आदि कर लिया जाता है, साथ ही कोई नियत नियम भी इस सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है॥ २६॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १२७३ ) नियतं वाऽर्थवत्वात्स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** नियतम् = अस्तु, भिक्षा तथा सोम के क्रयण का काल नियत, वा = होना मान्य है। अर्थवत्वात् = (क्रय आदि क्रियाएँ)अर्थवान्, स्यात् = होती हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त भिक्षा तथा सोम क्रयण के कर्म जब नियत काल में किये जायेंगे, तभी वे क्रतुरूप अपूर्व के उत्पादक-अर्थवान्-सार्थक होंगे, इसलिए भिक्षा तथा सोम क्रयण-कर्म नियत समय में सम्पादित होना ही समीचीन है॥ २७॥

**अगले क्रम में यवागू आदि व्रतों के कर्त्तव्य समय का भी नियत होना बतलाते हैं—**

**( १२७४ ) तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही, भक्ष = यवागू आदि व्रत, प्रैष: = प्रैष कर्म, आच्छादन = दर्भ (घास) युक्त आच्छादन कर्म, संज्ञप्तहोमद्वेषम् = संज्ञप्तहोम तथा द्वेष आदि कर्म भी नियत काल में होने चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से भिक्षा आदि कर्म का एक सुनिश्चित समय है, वैसे ही भक्ष-यवागू आदि व्रत, कर्म, प्रैष तथा दर्भ आस्तरण आदि आच्छादन कर्म, संज्ञप्तहोम तथा द्वेष 'योऽस्मान्द्वेष्टि' आदि वचनाभिव्यक्त कर्मों का सम्पादन भी नियत समय में ही माना गया है॥ २८॥

**अगले सूत्र में कर्मों का सम्पादन नियत समय में होने के दोषों का उल्लेख है—**

**( १२७५ ) अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** अनित्यम् = उपर्युक्त कर्मों को नियमानुरूप सम्पन्न न किये जाने की स्थिति में, तु = तो, अनर्थकम् = अनर्थ की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** आलस्य एवं प्रमाद में पड़कर यदि उक्त कर्मों के नियमों-अनुशासनों को भङ्ग किया जाता है, तो व्रतकर्त्ता पुरुष मृत्यु आदि अनर्थ को प्राप्त कर सकता है। पूर्ण विवेकशीलता के साथ सजग होकर उक्त यवागू आदि व्रत सम्पन्न होने चाहिए, जिससे व्रतकर्त्ता अनर्थ का भागी न बने॥ २९॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने पशुरक्षा का विधान बतलाया—**

**( १२७६ ) पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** पशुचोदनायाम् = 'यजमानस्यपशून् पाहि' मन्त्र से पशुरक्षा की प्राप्त प्रेरणा में, अविशेषात् = विशेष उल्लेख न होने से, अनियमः = वह अनियमित है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त 'पशून् पाहि' आदि वाक्य में पशुरक्षा सम्बन्धी किसी विशेष कथन की प्राप्त न होने से यही सिद्ध होता है कि वह विशेष न होकर सामान्य पशु रक्षा का विधान है, जिसे वेद में देखा जाता है॥ ३०॥

**उपर्युक्त अर्थ में पूर्वपक्ष स्थापित करने के भाव से आचार्य ने पूर्वपक्ष किया—**

## ( १२७७ ) छागो वा मन्त्रवर्णात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** छागः = बकरे रूप विशेष पशु की प्राप्ति, वा = तो, मन्त्रवर्णात् = वैदिक मन्त्रों से ही होती है।

**व्याख्या—** वैदिक वाक्यों द्वारा तो यही प्राप्त है कि बकरे को मारने के अनन्तर हवन कर्म सम्पादित किया जाना चाहिए। अतएव पशुरक्षा का वैदिक विधान उपपन्न नहीं होता॥ ३१॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान बतलाते हैं—**

## ( १२७८ ) न चोदनाविरोधात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** चोदनाविरोधात् = प्रेरक मन्त्रों का विरोध प्राप्त होने से, न = उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं।

**व्याख्या—** वेदों का अपौरुषेय-ईश्वरोक्त होने के कारण उनके बीच विरोध नहीं होता। यदि बकरे को मारकर हवन कर्म को स्वीकार किया जाता है तो उक्त 'पशून् पाहि' मन्त्र से प्रतिषेधात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है और उसी से पूर्वपक्ष की उक्त मान्यता खण्डित हो जाती है॥ ३२॥

**उक्त कथन में पुनः आशङ्का की अभिव्यक्ति करते हैं—**

## ( १२७९ ) आर्षेयवदिति चेत्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** आर्षेयवत् = उक्त 'पशून् पाहि' का आर्षेय के समान, चेत् = यदि संकुचन स्वीकार किया जाये, इति = तो क्या ऐसा क़हा जाना उचित नहीं?

**व्याख्या—** जिस प्रकार 'आर्षेय वृणीते' वाक्य में तीन ऋषियों का वरण स्वीकार किया गया है, वैसे ही 'पशून् पाहि' मन्त्र में भी पशुमात्र की रक्षा नहीं, प्रत्युत गौ आदि पशुविशेष की रक्षा माननी चाहिए॥ ३३॥

**उक्त सूत्र का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

## ( १२८० ) न तत्र ह्यचोदितत्वात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = वेद वाङ्मय में, हि = सुनिश्चित रूप से, अचोदितत्वात् = निर्देश न होने से, न = ऐसा उचित नहीं है।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय में मन्त्र 'पशून् पाहि' आदि में विहित विधान के द्वारा यह प्राप्त नहीं होता कि कुछ पशुओं की रक्षा की जाये तथा कुछ की नहीं। अतः उक्त मन्त्र का कथन सर्व पशु कल्याण का ही मानना चाहिए॥ ३४॥

**पुनः आशङ्का के भाव से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १२८१ ) नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** अर्थभेदात् = अर्थभेद से वेद में छाग का अन्य पशुओं से, भेदः = भेद मिलता है, पृथक्त्वेन = यह भेद, अभिधानात् = कथन प्राप्त होने से, हि = निश्चय ही, एकार्थ्यम् = एकार्थक, नियमः वा = नियम प्राप्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि वेद में पशु विशेष का उल्लेख नहीं है। 'छाग' पद की भिन्नार्थता की प्राप्ति

से छाग का पशु विशेष होना स्पष्ट हो जाता है। 'पशून् पाहि' मन्त्र में पशुविशेष की रक्षा का विधान माना जा सकता है॥ ३५॥

**इस उक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १२८२ ) अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थान्तरत्वात् = क्योंकि अर्थभेद प्राप्त होने से, अनियमः = किसी विशेष पशु की रक्षा का विधान नियमतः प्राप्त नहीं है, व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् = भेद तथा पद के द्वारा, अन्यत्वम् = पृथक्ता प्राप्त होती है।

**व्याख्या—** यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत वाक्यों की उपलब्धता है- 'गाम् मा हिंसीः' 'अवि मा हिंसीः' 'मा हिंसीरेकशफम्' इन वाक्यों का अर्थ क्रमशः 'गाय की हिंसा मत करो, भेड़ की हिंसा मत करो, एक खुर वाले पशुओं की हिंसा मत करो' है। इन वाक्यों से व्यक्ति एवं पद की पृथक्ता से वेदों में सामान्य पशुओं की भी रक्षा का विधान मिलता है। इसलिए 'पशून् पाहि' पद से किसी पशु विशेष का अर्थ निकालने की आशङ्का निर्मूल ही है॥ ३६॥

**उपर्युक्त अर्थ में पुनः आशङ्का बतलाते हैं—**

**( १२८३ ) रूपाल्लिङ्गाच्च॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** रूपात् = रूप से, च = भी एवं, लिङ्गात् = लिङ्ग से भी बकरे की हिंसा पायी जाती है।

**व्याख्या—** 'यागार्थं छिद्यत इति छागः' याग के लिए जिसकी हिंसा की जाये, उसे छाग कहते हैं। इस प्रकार से रूप तथा लिङ्ग दोनों की प्राप्ति से यही सिद्ध होता है कि उक्त छाग का यज्ञ में वध होना उचित है॥ ३७॥

**इस अध्याय के अगले पाँचों सूत्रों में उपर्युक्त आशङ्का का समाधान किया—**

**( १२८४ ) छागे न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** रूपलिङ्गाभ्याम् = रूप तथा लिंग दोनों की प्राप्ति से, छागे = छाग में, कर्माख्या = कर्मवाच्यता की प्राप्ति, न = नहीं होती।

**व्याख्या—** रूप (छाग का स्वरूप) एवं लिङ्ग (हिंसा वाचक लक्षण) से 'छिद्यते इति छागः' इस अर्थ की चरितार्थता बकरे में नहीं होती, प्रत्युत यज्ञार्थ जिसका छेदन किया जाये, वह छाग है, ऐसा समझना युक्त है। अतएव छाग पद से किसी पशु विशेष का अर्थ माना जाना उचित नहीं॥ ३८॥

**( १२८५ ) रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** रूपान्यत्वात् = रूपों में भिन्नता होने से, जातिशब्दः = छाग को जाति वाचक शब्द, न = नहीं, स्यात् = माना जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कहना है कि रूप वैभिन्य के कारण 'छाग' शब्द से किसी जाति-बकरे आदि का ग्रहण किया जाना उचित नहीं। 'छंगच्छतीति छागः' जिसका विस्तार हो, उसे छाग कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से वैदिक वाङ्मय में बकरे का ग्रहण नहीं, प्रत्युत याग की सामग्री विशेष का वाचक होना समझना चाहिए॥ ३९॥

**( १२८६ ) विकारो नौत्पत्तिकत्वात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—**औत्पत्तिकत्वात् = वेद ईश्वरीय ज्ञान माने गये हैं। विकारः = यज्ञ में पशुवध होना अभिप्रेत, न = नहीं है।

**व्याख्या—** वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है, जिसमें पशुवध आदि विकारों का उल्लेख मान्य नहीं। अतः सूत्रों का हिंसात्मक अर्थ अनौचित्यपूर्ण ही है॥ ४०॥

**( १२८७ ) स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** पशोः = पशु के, गुणस्य = गुणों का, अचोदित्वात् = स्पष्ट निर्देश के अभाव में, सः = वैदिक वाङ्मय में प्राप्त 'छाग' पद, नैमित्तिकः = यौगिक है।

**व्याख्या—** 'छायते इति छागः' वाक्य में प्राप्त छः पद का अर्थ है- अपने सुगन्ध आदि गुणों से सर्वत्र छा जाना-व्याप्त हो जाना। इसी प्रकार 'तंगच्छतीति छागः' हवन सामग्री स्वरूप में जिन द्रव्यों की प्राप्ति होती है, वह छाग कहलाता है। पशुओं की हिंसा करके होम के गुणों को संवर्धित किये जाने की विधि-व्यवस्था का वेद में सर्वथा अभाव होने से छाग पद का अर्थ यौगिक ही समझना चाहिए॥ ४१ ॥

**( १२८८ ) जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम्॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् = जातिवानों के मध्य पठित होने तथा प्रयोजन युक्त होने के कारण, वा = भी, जातेः = 'छाग' पद जाति वाचक है।

**व्याख्या—** वैदिक वाङ्मय के जिस वाक्य में उपर्युक्त 'छाग' पद पठित है, वहीं औषध वाचक अनेक पदों की विद्यमानता पाठ रूप में प्राप्त है। अतः उक्त कारण से 'छाग' पद औषध विशेष का भी अभिव्यक्तिकारक है। औषध विशेष का वाचक होने की स्थिति में भी वह 'छाग' पद सुगन्धि रूपी प्रयोजन को भी उपपन्न करता है, जबकि यह उक्त प्रयोजन मांस द्वारा पूर्ण होना संभव नहीं। इसलिए 'छाग ' पद से मांस पिण्ड का नहीं, प्रत्युत औषध विशेष का ग्रहण किया जाना ही उचित है॥ ४२ ॥



**॥ इति षष्ठाध्यायस्य अष्टमः पाद ॥**

## ॥ अथ सप्तमाध्याये प्रथमः पादः ॥

**इससे पूर्व के छः अध्यायों में प्रत्यक्ष धर्मों के विषय में विचार किया गया है, अब अवशिष्ट छः अध्यायों में अतिदेशिक धर्मों पर विचार किया जायेगा। इस अधिकरण में यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रयाज आदि धर्म दर्शपूर्णमास याग के लिए हैं या समस्त यागों के लिए हैं—**

### ( १२८९ ) श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** श्रुतिप्रमाणत्वात् = श्रुति प्रमाण के अनुसार, मुख्यभेदे = मुख्य अपूर्वों का भेद होने; शेषाणाम् = प्रयाज आदि शेष कर्मों की, यथाधिकारम् = प्रकरणानुसार, भावः स्यात् = व्यवस्था की जाती है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि मुख्य भेद के कारण प्रयाज आदि कर्म जिस प्रकरण के अन्तर्गत पढ़े जाते हैं, उन्हीं के अवशिष्ट गिने-माने जाते हैं। अस्तु; दर्शपूर्णमास प्रकरण से सम्बन्धित प्रयाज आदि धर्म श्रुति प्रमाण से दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत ही माने जायेंगे, वे अन्य यागों में परिगणित नहीं किये जा सकते॥ १ ॥

### ( १२९० ) उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैक्यधर्म्यं स्यात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उत्पत्त्यर्थाविभागात् = उत्पत्ति के अर्थ का विभाग न होने के कारण (यज् धातु का), सत्त्ववत् = गोत्व आदि गति के समान, ऐक्यधर्म्यंस्यात् = ऐक्य धर्म होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का अभिमत है कि यजन से उत्पन्न अपूर्व एक जैसा ही होता है। अतः याग में निर्दिष्ट धर्म समस्त यागों के लिए एक ही प्रकार के होते हैं। जैसे कि 'गौः पदा न स्प्रष्टव्या' के वाक्यार्थ गाय को पैर से नहीं छूना चाहिए, इस निर्देश में किसी एक गाय को पैर से स्पर्श न करना ही नहीं; वरन् सभी गौओं को पैर से स्पर्श न करना विवेचित है। ठीक इसी प्रकार याग में निर्दिष्ट अपूर्व आदि धर्म सभी यागों पर लागू होते हैं, किसी एक याग पर ही नहीं॥ २ ॥

### ( १२९१ ) चोदनाशेषभावाद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उत्पत्तेः गुणभूतत्वात् = दर्शपूर्णमास नामक कृत्यों की उत्पत्ति अपूर्व में गौणता होने के कारण, चोदनाशेषभावात् = यजेत आदि विधि वाक्य एक देशीय होने से, तद्भेदात् = उस (अपूर्व) का भेद होने से, व्यवतिष्ठेरन् = प्रतियाग व्यवस्थित किये जाते हैं।

**व्याख्या—** उक्त सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' में 'दर्शपूर्णमास' शब्द विशेष है एवं 'यजेत' सामान्य। यहाँ मात्र कर्त्तव्यता ही निर्दिष्ट है। इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' में भी कर्त्तव्यता निर्दिष्ट है, स्पष्टरूपेण फल प्राप्ति नहीं। कारण यह कि अपूर्व की उत्पत्ति यजन के पश्चात् ही होती है। अस्तु; प्रकरण के अनुसार ही उसकी व्यवस्था बनाई जाती है, विधि का तात्पर्य भी यही है। अतः स्पष्ट है कि प्रयाज आदि धर्म दर्शपूर्णमास नामक याग के ही हैं, अन्य किसी याग के नहीं॥ ३ ॥

### ( १२९२ ) सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** सत्त्वे = गोत्व आदि में, लक्षणसंयोगात् = लक्षणार्थ व्यक्ति से सम्बद्ध होने से, सार्वत्रिकम् = समस्त गौओं में, प्रतीयेत = प्रतीति होती है।

**व्याख्या—** सत्त्व (गोत्व इत्यादि) के लिए जो भी निर्दिष्ट किये जाते हैं, वे सार्वत्रिक होते हैं- यथा- 'गौः पदा न स्प्रष्टव्या' आदि; लेकिन उपर्युक्त सूत्र व्याख्या में याग गौण एवं याग जनित अपूर्व प्रमुख है। अस्तु; याग में वर्णित धर्म अपूर्व के लिए ही माने जायेंगे। स्पष्ट है कि प्रयाज आदि धर्मों का समस्त यागों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता॥ ४ ॥

### ( १२९३ ) अविभागात्तु नैवं स्यात्॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** तु = परन्तु, अविभागात् = याग के अविभक्त होने से, नैवं स्यात् = यह प्रमाण उचित नहीं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि अपूर्व प्रयुक्त जो धर्म निर्दिष्ट किये जाते हैं, उन सभी को यजन प्रयुक्त ही समझना चाहिए। कुछ धर्म प्रत्यक्षतः द्रव्य में ही होते हैं, कुछ देवता में सुने जाते हैं तथा कुछ मंत्रों में होते हैं। अस्तु; धर्मों का प्रत्यक्षतः सम्बन्ध याज से ही होता है, जबकि अपूर्व के साथ सम्बन्ध तो अनुमान द्वारा विहित होता है। जैसे- घृत-सेवन से कुछ समय बाद उसके प्रतिफल स्वरूप मेधा, स्मृति और बलवृद्धि होती है, उसी प्रकार यजन प्रक्रिया से भी फल प्राप्ति का अनुमान लगा लिया जाता है। अतः सिद्ध होता है कि याग प्रयुक्त प्रयाजादि धर्म सभी यागों से सम्बन्धित हैं, किसी एक याग से नहीं॥ ५॥

**( १२९४ ) द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, द्व्यर्थत्वम् = दो अर्थों का मानना, विप्रतिषिद्धम् = अन्यायमूलक है।

**व्याख्या—** द्व्यर्थत्व को मानना अन्यायमूलक है। यदि दर्शपूर्णमास के निमित्त ही प्रयाज आदि धर्म हों, तो सौर्ययाग जैसे यज्ञों में प्रयाज न होने से 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' इस वाक्य से ही दो अर्थ निकल रहे हैं- प्रथम याग के उद्देश्य के लिए प्रयाज का विधान करना चाहिए, दूसरा प्रयाज के उद्देश्य हेतु कृष्णल का विधान करना चाहिए, इस प्रकार एक ही वाक्य के दो अर्थ स्वीकार करना अन्यायमूलक है। अस्तु; यही मानना उपयुक्त और तर्क संगत है कि 'प्रयाज' समस्त यागों के धर्म हैं, किसी एक याग के ही नहीं॥ ६॥

**( १२९५ ) उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्ततश्च कर्मभेदः स्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, चोदनायाम् = अपूर्व में, स्यात् = प्रवृत्ति होती है (प्रयाज आदि धर्मों की), उत्पत्तौ = भाग में, विध्यभावात् = धर्मों की विधि का अभाव होने से, ततः = उसके द्वारा, कर्मभेदः = अपूर्व का भेद, स्यात् = होता है, च = और।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का समाधान है कि अपूर्व के निमित्त ही प्रयाज आदि धर्मों का शुभारम्भ है, न कि याग के लिए प्रयाजादि धर्मों का विधान, इसलिए अपूर्व का भेद है। वस्तुतः अपूर्व ही फल के समान है। याग में प्रयाज आदि धर्मों का श्रवण और अनुष्ठान होने से यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि ये याग के लिए ही हैं। जैसे कपड़े पर रंग चढ़ाये जाने को यह नहीं कह सकते कि ये रंग कपड़े के लिए हैं, वरन् वे उन मनुष्यों के लिए हैं, जो उन वस्त्रों को धारण करते हैं। ठीक इसी प्रकार याग में होने वाले प्रयाजादि धर्मों को याग के लिए नहीं, वरन् उससे उत्पन्न अपूर्व के लिए माना जाना चाहिए॥ ७॥

**( १२९६ ) यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** (पूर्वपक्ष)यदि वा = अथवा, अभिधानवत्सामान्यात् = समस्त धर्मों के प्रतिफल अपूर्व इस नाम के समान होने से, सर्वधर्मः = समस्त धर्म भी समान, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** यह सत्य है कि अपूर्व समस्त धर्मों का प्रयोजन होता है, तथापि अभिधान अर्थात् नाम के समान सामान्य रूप से वह समस्त धर्म वाला होता है। जैसे- उदर रोग में पयपान करना चाहिए, वाक्य से किसी एक विशेष प्रकार के रोगों में दुग्ध पान करना ध्वनित होता है। इसी प्रकार 'वाहीकोऽतिथिरागतः यवान्नमस्मै प्रक्रियताम् इत्युक्ते यो यो वाहीकस्तस्य तस्य यावन्नं क्रियते' इस वाक्य से वाहीक अर्थात् मारवाड़ी अतिथि को जौ का भोजन देने के संदेश के साथ यह भी ध्वनित होता है कि किसी एक विशिष्ट मारवाड़ी अतिथि को ही नहीं, वरन् सभी मारवाड़ी अतिथियों को यवान्न दिया जाना चाहिए। ठीक इसी तरह समस्त अपूर्वों के लिए प्रयाज आदि धर्म एक जैसे ही होने चाहिए॥ ८॥

**( १२९७ ) अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** तु = परन्तु, अर्थस्य = वाहीक देशिक सम्बन्ध के, अविभक्तत्वात् = अविभक्त होने से, तथा स्यात् = वह प्रमाण रूप होता है, अभिधानेषु = अपूर्व रूपी अभिधानों में, प्रयोगस्य = उक्त प्रकार के वाक्य का प्रयोग, पूर्ववत्त्वात् = पहले भी अनेकशः ऐसा होने से, ऐसा होता पाया जाता है, कर्मणः = किन्तु अपूर्व तो, शब्द-भाव्यत्वात् विभागात् = वैदिक वाक्यों से ही विदित होने से विभिन्न है, शेषाणाम् = अस्तु; प्रयाज आदि की सब जगह, अप्रवृत्तिः स्यात् = अप्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** आक्षेप का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि वाहीक (मारवाड़ी) अतिथि का दृष्टान्त उक्त स्थल में उचित नहीं लगता। कारण यह है कि जितने भी वाहीक अर्थात् मारवाड़ी अतिथि अमुक प्रदेश में पहुँचते हैं, उन सभी को यवान्न देना तर्क संगत नहीं है। परन्तु अपूर्व के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट है कि अपूर्व कोई प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं है। उसका ज्ञान तो मात्र शब्दों से होता है और ये शब्द यह बताते हैं कि अमुक धर्म से अमुक अपूर्व है, जिससे धर्म और अपूर्वों के पृथक्त्व का बोध होता है। अस्तु; सिद्ध है कि जिस याग के साथ में ये पठित हों, उसी के साथ इनकी प्रवृत्ति माननी चाहिए॥ ९॥

## ( १२९८ ) स्मृतिरिति चेत् न ॥ १० ॥

**सूत्रार्थ—** (पूर्वपक्ष) स्मृतिः = स्मृति है, इति चेन्न = यदि यह कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** यदि कोई यह कहे कि स्मृतियों में मिलने वाले वर्णन (जैसे वरुण शाखा, पाराशर शाखा वालों के अनुसार दर्शपूर्णमास के ही धर्म अन्य सभी इष्टियों के हैं) में ऐसा है, तो?॥१०॥

## ( १२९९ ) पूर्ववत्त्वात्॥ ११ ॥

**सूत्रार्थ—** पूर्ववत्त्वात् = पूर्व अर्थात् प्रकृति याग से सम्बन्धित ये सभी धर्म होने से।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास नामक याग प्रकृतियाग है और इस प्रेरक-विधि वाक्य कि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' से यह निर्देश प्राप्त होता है कि प्रकृतिगत धर्मों की प्राप्ति विकृति याग में होती है। वरुण, पाराशर आदि शाखा वालों के कथन को उपर्युक्त प्रकार के विधि वाक्यों का ही अनुवाद समझना चाहिए॥ ११॥

## ( १३०० ) अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात्॥ १२ ॥

**सूत्रार्थ—** अर्थस्य = अङ्ग कलाप (अमुक-अमुक अङ्ग), शब्दभाव्यत्वात् = विधि वाक्य से ही विदित हो सके ऐसा होने से, प्रकरणनिबन्धनात् = प्रकरण के साथ सम्बन्ध होने से, शब्दात् एव = अतिदेश शास्त्र स्वरूप शब्द से ही, अन्यत्रभावः स्यात् = विकृति याग से सम्बन्ध होना सम्भव है।

**व्याख्या—** यह तो केवल विधि वाक्य रूपी शब्दों से ही विदित हो सकता है कि अमुक-अमुक अङ्ग किस याग के हैं। चूँकि विधि वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अङ्ग प्रकृति याग के हैं, वे अंग अन्य याग में प्रयुक्त नहीं हो सकते, अतः अतिदेश शास्त्र का शुभारम्भ करना चाहिए। अपूर्वों के पृथक्त्व से धर्म भी पृथक्-पृथक् होते हैं, एक समान नहीं हो सकते। यदि प्रकृतियागों के धर्म विकृति यागों में अनुष्ठित करने हों, तो उनकी कर्त्तव्यता अतिदेश शास्त्र से ही सिद्ध होती है। अस्तु; अतिदेश शास्त्र का शुभारम्भ करणीय है॥ १२॥

## ( १३०१ ) समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात्॥ १३ ॥

**सूत्रार्थ—** समाने = 'समानमितरत् श्येनेन' इस वाक्य में, उत्पन्नाधिकारः स्यात् = अनुवाद (किया गया )है, पूर्ववत्त्वात् = पूर्ववत् होने से अर्थात् ज्योतिष्टोम याग की विकृति होने से।

**व्याख्या—** 'इषु' नामक याग जो एक दिन में पूर्ण होता है, से सम्बन्धित अनेक विकृतिगत धर्मों के सम्बन्ध में मिले उल्लेख में यह सम्प्राप्य है कि अवशिष्ट अनुष्ठान श्येन यागानुसारेण कर्त्तव्य है। उल्लेखनीय है कि इषु एवं श्येन दोनों ही याग ज्योतिष्टोम याग के विकृतिरूप हैं। अस्तु; इषु याग के प्रावधानों के सन्निकट जो विशिष्ट धर्म कथित हैं, वे तथा अन्य धर्म प्रकृति याग से ग्रहण किये जाएँ, ऐसा अतिदेश किया गया है। प्रकृतियाग के

धर्मों का अतिदेश होने के कारण यह अनुवाद है एवं इतर पद से प्रकृतिगत धर्म का ही ग्रहण किया गया है॥ १३॥

**( १३०२ ) श्येनस्येति चेत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** श्येनस्य = श्येन नामक याग का (ग्रहण), इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** यदि यह कहा जाये कि इतर पद से 'श्येन' नामक याग के धर्म का ग्रहण करें (उल्लेख्य है कि लोहितोष्णीष इत्यादि श्येन याग के विशिष्ट धर्म हैं), तो? इसका (उत्तर अगले सूत्र में है)॥ १४॥

**( १३०३ ) नासन्निधानात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, असंनिधानात् = संनिधान (निकटता) न होने से।

**व्याख्या—** श्येन याग में ज्योतिष्टोम के धर्म करणीय होते हैं। इसमें (श्येन याग में) अन्य वैशेषिक धर्म भी करणीय होते हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों से ज्योतिष्टोम के धर्म की निकटता के कारण श्येन याग गत प्राकृत धर्मों का ही इषु याग में अतिदेश मानना चाहिए॥ १५॥

**( १३०४ ) अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचकं समानं स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा यह भी (हो सकता है कि), यत् अपूर्वत्वात् विधेः = उक्त वाक्य विधायक होने के कारण , इतरत् = भिन्न-अतिरिक्त, अधिकार्थे = अधिक अर्थ का बोधक है, ज्यौतिष्टोमिकात् = ज्योतिष्टोम के धर्म से, तद्वाचकम् = सम्बद्ध अर्थ का बोधक, समानं स्यात् = समान पद होता है।

**व्याख्या—** सूत्र क्र. १३ की व्याख्या में निर्दिष्ट 'समानमितरत् श्येनेन' वाक्य विधायक वाक्य है। इसमें 'इतरत्' पद का अर्थ है अधिक। अस्तु; इस याग में ज्योतिष्टोम याग के साथ श्येनयाग के भी (लोहितोष्णीष आदि) समस्त धर्म करणीय हैं॥ १६॥

**अब पाँच हविषों में अंगविधियों के अतिदेश को समझने के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १३०५ ) पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** पञ्चसञ्चरेषु = पाँच हवियों के सञ्चर में, सन्निधानात् = उसका सन्निधान होने से, अर्थवादातिदेशः = अर्थवाद ही अतिदिश्यमान होता है।

**व्याख्या—** पंच हविषों के संचर में सन्निधान होने से मात्र अर्थवाद का अतिदेश होता है। जैसे- चातुर्मास्य में होने वाले चार पर्वों वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय में वैश्वदेव नामक इष्टि में होने वाले हविषों का 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति' इत्यादि सूत्र से विधान किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन हविषों का अर्थवाद रूप से कथन किया गया है। जैसे- वार्त्रघ्नानि च एतानि हवींषि (ये हविष वृत्र विनाशक हैं)। वरुण प्रघास नामक इष्टि में भी ऊपर कही गई आग्नेय आदि पाँच हवियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पञ्च हवींषि' कहकर अतिदिष्ट हुई हैं। इन उदाहरणों द्वारा मात्र अर्थवाद का अतिदेश हुआ ही माना जाना चाहिए। उनका हवियों के साथ स्तुत्य-स्तोता का ही सम्बन्ध है। अंग रूप विधियों का कथन नहीं किया गया है॥ १७॥

**( १३०६ ) सर्वस्य वैकशब्द्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = सिद्धान्त सूचक शब्द है, सर्वस्य = सभी का अतिदेश होता है, एकशब्द्यात् = एक ही ब्राह्मण वाक्य से दोनों (अर्थवाद व अंग विधियों) का प्रतिपादन होने से।

**व्याख्या—** अङ्ग विधि एवं अर्थवाद सहित ब्राह्मण काण्ड का अतिदेश किया गया है, अतः यह कहना उचित नहीं है कि अर्थवाद मन्त्र का ही अतिदेश होता है॥ १८॥

**( १३०७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्गवाक्य होने से।

**व्याख्या—** वरुणप्रघास में तीस आहुतियों की गणना का उल्लेख मिलता है। अङ्ग विधि के अतिदेश के अभाव में गणना सम्भव नहीं है। अत: यही माना जाना चाहिए कि अंगविधियों का भी अतिदेश होता है॥ १९॥

## (१३०८) विहिताम्नानान्नेति चेत्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** विहिताम्नानात् = विहित का आम्नान (कथन) होने से, न इति चेत् = ऐसा नहीं है, यदि कहें, तो?

**व्याख्या—** अंग विधियों के कई विधान देखे जाते हैं। जैसे- 'अग्निं मन्थन्ति प्रसुवो भवन्ति' वाक्य में अंग विधि का विधान निर्दिष्ट है। यदि अङ्ग विधियों का अतिदेश होना माना जाये, तो इनका पुनर्विधान होना सम्भव न होता, यदि ऐसा कहा जाये, तो?॥ २०॥

## (१३०९) नेतरार्थत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** इतरार्थत्वात् = इतर अर्थ के निमित्त होने से, न = व्यर्थ नहीं होगी।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में वर्णित अग्नि मन्थन आदि का पुनर्विधान अन्य हविष (मारुत हविष) के निमित्त निर्दिष्ट है। अस्तु; अर्थवाद एवं अंग विधि दोनों का ही अतिदेश है। तात्पर्य यह है कि विधि का अतिदेश होने पर भी अग्निमन्थन आदि आम्नानों (वेद कथनों) की व्यर्थता नहीं होती॥ २१॥

**अब अर्थवाद और अंगविधि दोनों के अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**

## (१३१०) एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = उसी प्रमाण की तरह, एककपालैन्द्राग्नौ = (वैश्वदेव सत्र में) एक कपाल एवं ऐन्द्राग्नी में आम्नान (वेद कथन) है।

**व्याख्या—** जिस तरह वैश्वदेव सत्र में एक कपाल एवं ऐन्द्राग्नी (सत्र) में द्वादश कपाल आम्नान (कथन) किया गया है, ठीक उस प्रकार यहाँ भी अंगविधि एवं अर्थवाद दोनों का ही अतिदेश निर्दिष्ट है॥ २२॥

**अब साकमेध पर्व में वारुणप्राघासिक एक कपाल के अतिदेश सम्बन्धी अगला सूत्र उद्धृत करते हैं—**

## (१३११) एककपालानां वैश्वदेविक: प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्ति दर्शनादवभृथे च सकृद् द्व्यवदानस्य वचनात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** आग्रयणे = आग्रयण में (अर्थात् द्यावा-पृथिवीय-एक कपाल में), सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनात् = समस्त होमों का अनुवाद होने से, अवभृथे च = एवं अवभृथ में अर्थात् वारुण एक कपाल में, सकृद्द्व्यवदानस्य वचनात् = एक समय द्वि अवदान के वचन होने से, एककपालानाम् = एक कपालों का विधान, वैश्वदेविक: प्रकृति: = वैश्वदेव एक कपाल प्रकृति का है।

**व्याख्या—** वैश्वदेव पर्व में द्यावा-पृथिवी के एक कपाल के विधान का उल्लेख है। वरुणप्रघास पर्व में भी 'क' देवता सम्बन्धी एक कपाल का वर्णन है, इसी प्रकार साकमेधीय पर्व में 'वैश्वकर्मणम्' एक कपाल कहा गया है, जिसका 'एतद्ब्राह्मण' 'एककपाल:' वाक्य से श्रवण होता है। आग्रयण अर्थात् द्यावा-पृथिवी एक कपाल में समस्त होमों का अनुवाद देखने से एककपालीय विधानों की वैश्वदेविक प्रकृति होती है। अस्तु; यहाँ वारुणप्राघासिक एक कपाल का ग्रहण ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अवभृथ भी एक बार द्व्यवदान का वचन होने से एक कपाल का ही ग्रहण माना जाना चाहिए॥ २३॥

## ॥ इति सप्तमाध्यायस्य प्रथम: पाद:॥

## ॥ अथ सप्तमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

'रथन्तर' गान सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सूत्र कहा गया है—

**( १३१२ ) साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** साम्नः = साम के, अभिधानशब्देन = वाचक शब्द के द्वारा (रथन्तर इस आनुपूर्वी से युक्त,) यथाशिष्टम् = गुरु परम्परा से जैसा उपदेश किया गया है, प्रवृत्तिः स्यात् = उसी के अनुसार प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** इस ऋक् का गान 'कया नश्चित्र आ भुवत्' आदि तीन मंत्रों में करना एक प्रकार से अतिदेश है। इस सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का यही मानना है कि किसी के द्वारा दूसरे से यह कहने पर कि आप 'रथन्तर' साम का गायन करें, वह गान युक्त ऋचा का ही उच्चारण करता है। अस्तु; यहाँ गान विशिष्ट ऋचा का ही अतिदेश है। दूसरी बात यह है कि साम शब्द से भी ऋचा विशेष का ही बोध होता है। गुरु-शिष्य परम्परा से भी यही विदित होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'रथन्तर' नामक गान विशेष अभित्वा शूर आदि ऋक् का 'कया नश्चित्र' इत्यादि कवती ऋक् में अतिदेश है॥ १ ॥

**( १३१३ ) शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्भावात्क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दैः = शब्दों के द्वारा, अर्थविधित्वात् = अर्थ का ज्ञान होने से तथा, पृथग्भावात् = वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न होने से, क्रियायाः = क्रिया का, हि अभिसम्बन्धः = उस-उस से सम्बन्धित होने से, तु = तो, अर्थान्तरे = अर्थान्तर में, अप्रवृत्तिः स्यात् = शब्द की प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का यह कहना है कि शब्दों द्वारा अर्थ का ज्ञान होने से किसी अन्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। गान क्रिया शब्द के साथ अभिसम्बद्ध होती है, शब्द अभिसम्बद्ध नहीं होता, शब्द की स्थिति तो अलग होती है। शब्द सदैव निजार्थ बोधक होते हैं। उदाहरणार्थ 'घट' शब्द के द्वारा 'पट' के अर्थ का बोध नहीं हो सकता। कारण- घट एवं पट के अर्थ तथा घट और पट शब्द में स्पष्टरूपेण भेद है। अस्तु; एक ऋचा का अन्य ऋचा में अतिदेश होना शक्य नहीं है॥ २ ॥

**( १३१४ ) स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्वार्थे = स्वार्थ में प्रवृत्त होने सम्बन्धी अभिवती ऋचा, अंगभावेन उपदिश्येरन् = अंग स्वरूप उपदिष्ट की जायेगी, क्रियायाः = एक ऋचा में अन्य गान विशेष ऋचा का अतिदेश करने का, प्रयोजनम् = परिणाम अदृष्ट है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि स्वार्थ में एक ऋचा भले दूसरी ऋचा का अर्थबोधित न करे, किन्तु एक ऋचा दूसरी ऋचा की अङ्गरूपा तो हो ही सकती है। एक ऋचा के स्थान पर दूसरी बोलने का प्रतिफल प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष अर्थात् अदृष्ट है। अस्तु; ऋचा का ही अतिदेश माना जाना चाहिए॥ ३ ॥

**( १३१५ ) शब्दमात्रमितिचेत् ॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दमात्रम् = शब्दमात्र का ही विधान है, इति चेत् = यदि ऐसा मानें, तो ?

**व्याख्या—** कवती इत्यादि ऋचाओं में रथन्तर शब्द प्रयोग के योग्य है। इसी शब्द से इन ऋचाओं का कथन करना चाहिए। जिस स्थान पर शब्द में ही कार्य की सम्भावना हो, वहाँ शब्दार्थ में कार्य मानने की आवश्यकता नहीं है। अस्तु; स्पष्ट है कि रथन्तर ही कवती ऋचा में प्रयुक्त हो सकता है॥ ४ ॥

**( १३१६ ) नौत्पत्तिकत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** औत्पत्तिकत्वात् = शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध होने से, न = ऐसा कथन उपयुक्त नहीं।

**व्याख्या—** नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है, शब्द एवं अर्थ का भी औत्पत्तिक (शाश्वत) सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जो शब्द औत्पत्तिक सम्बन्ध से जिस अर्थ में प्रख्यात होता है, वह दूसरा कोई अर्थ बाधित करने में सक्षम नहीं होता। अस्तु; रथन्तर शब्द से कवती ऋचाओं का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि रथन्तर शब्द का अभिप्राय इन ऋचाओं से नहीं है॥ ५॥

**( १३१७ ) शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च एवम् = और इस प्रकार, शास्त्रम् = अतिदेश शास्त्र, अनर्थकं स्यात् = निरर्थक हो जायेगा।

**व्याख्या—** यदि यह (उपर्युक्त कथन) माना जाये, तो अतिदेश शास्त्र का कोई अर्थ न रहेगा। तात्पर्य यह है कि अतिदेश वाक्य 'कवतीषु रथन्तरं गायतीति' में वर्णित रथन्तर शब्द के अतिदेश की अशक्यता के कारण अतिदेश वाक्य की सार्थकता सिद्ध नहीं होगी, तब अतिदेश शास्त्र को निरर्थक ही माना जायेगा॥ ६॥

**( १३१८ ) स्वरस्येति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** इति चेत् = यदि यह माना जाये कि, स्वरस्य = स्वर का विधान है, तो?

**व्याख्या—** लोक में साम शब्द 'स्वर' का बोधक है। उस साम का कथन भी 'स्वर' के द्वारा ही किया जाता है। 'रथन्तर' भी साम है। 'तव अभित्वा शूर नो नुमः' इत्यादि ऋक् में स्थित स्वर का विधान कवती ऋचाओं में किया जा सकता है। यदि नाम का अतिदेश होने में कठिनाई है, तो स्वर का अतिदेश माना जाये, तो?॥ ७॥

**( १३१९ ) नार्थाभावात् श्रुतेरसम्बन्धः॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थाभावात् = अभिवती स्वर की विद्यमानता कवती में न होने से, श्रुतेः सम्बन्धः न = श्रुति के पदों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, अतः स्वरातिदेश सम्भव नहीं है।

**व्याख्या—** 'अभित्वा' इत्यादि ऋचा के स्वर का कवती में अभाव है। अतः 'कवतीषु रथन्तरं गायतीति' वाक्य का श्रुति पदों से परस्पर सम्बन्ध नहीं है। अस्तु; स्वर का अतिदेश होना सम्भव नहीं है॥ ८॥

**( १३२० ) स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** तु = किन्तु, स्वरः = स्वर, उत्पत्तिषु = उत्पन्न हुए वर्णों में, मात्रावर्णाविभक्तत्वात् = मात्रा एवं वर्ण अभिन्न होने से, स्यात् = (अनुवाद) होता है।

**व्याख्या—** 'अभित्वाशूर नो नुमः' इत्यादि ऋचा में जो वर्ण (अक्षर) एवं जो मात्राएँ हैं, वे मात्राएँ कवती ऋचाओं में भी विद्यमान हैं। अकारादि वर्ण एवं ह्रस्व दीर्घादि मात्राएँ दोनों ऋचाओं में एक जैसी हैं, तब एक ऋचा के स्वर का दूसरी ऋचा में विधान करना अनर्थक है। यदि यह अनर्थक है, तो विधान न मानकर अनुवाद मानना चाहिए॥ ९॥

**( १३२१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य श्रवण की शक्यता से।

**व्याख्या—** इस सन्दर्भ में द्वितीय पक्ष कहता है कि और प्रमाणों की उपलब्धि से भी उक्त अर्थ सिद्ध हो सकता है। दो प्रमाण जैसे-'रथन्तरमुत्तरयोर्न पश्यामि इति विश्वामित्रस्तपस्तेपे। बृहदुत्तरयोर्न पश्यामीति

वसिष्ठः' में उत्तर की दो ऋचाओं में रथन्तर न समझने का संकेत है। ऋषि विश्वामित्र ने इसी को समझने के लिए प्रयत्नरूपी तपश्चर्या की एवं वसिष्ठ ने भी बृहद्नमन के निमित्त तपश्चर्या की। यदि उत्तर की ऋचा में रथन्तर एवं बृहद् न होता, तो उसके ज्ञान के लिए ये ऋषिद्वय तपस्या न करते। अस्तु; स्पष्ट है कि उत्तर की दोनों ऋचाओं में भी रथन्तर विद्यमान है और कवती में रथन्तर का अतिदेश हुआ है॥ १०॥

**( १३२२ ) अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** तु = किन्तु, उत्तरासु = उत्तर की ऋचाओं में, विकारस्य = नव्य धर्म का विधान, अश्रुतेः = श्रुतिगोचर न होने के कारण, यथाश्रुति = इन ऋचाओं का पाठ, गान के समय करना चाहिए।

**व्याख्या—** कवती इत्यादि ऋचाओं का स्वाध्याय के समय पाठ करने के समान यदि गान के समय भी पाठ किया जाये, तो 'कवतीषु रथन्तरं गायति', इस वाक्य का अर्थ न रहेगा। अस्तु; स्वरानुवाद उचित नहीं है॥ ११॥

**( १३२३ ) शब्दानां चासामञ्जस्यम्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दानाम् = शब्दों का, असामञ्जस्यम् = सामञ्जस्य नहीं है।

**व्याख्या—** (पूर्वपक्ष) शब्दों के अनुवाद में रथन्तर के धर्मों की प्राप्ति है। वे धर्म हैं कि जब रथन्तरगान का आरम्भ हो, तब पृथिवी का ध्यान करे (रथन्तरे प्रस्तूयमाने पृथिवीं ध्यायेत्)। इसी धर्म की प्राप्ति के लिए कवती में रथन्तर गान करने का कथन किया गया है, यदि ऐसा माना जाये, तो उपर्युक्त वाक्य से जो शक्यार्थ आभासित होता है, वह पृथिवी का ध्यान स्वरूप नहीं है। अतः 'कवतीषु रथन्तरं गायति' वाक्य की लक्षणा स्वीकार करनी पड़ेगी। यही सामञ्जस्य का अभाव है॥ १२॥

**( १३२४ ) अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अपितु = फिर भी, कर्मशब्दः = रथन्तर शब्द गान रूपी कर्म का बोधक, स्यात् = है, प्रसिद्धग्रहणत्वात् = प्रसिद्ध (रूढ़ि) शक्ति के ग्रहण के कारण, भावः अर्थः = यही वास्तविक अर्थ है, हि अन्यैः अविशिष्टः = कारण कि अवहनन इत्यादि धातु अर्थ के समान, विकारः = गान शब्द का भी अर्थ है।

**व्याख्या—** 'रथन्तर' शब्द से गानरूप कर्म का बोध होता है। तात्पर्य यह है कि रथन्तर शब्द गान रूप क्रिया का वाचक है और इस गान से सम्बद्ध ऋचा में एक प्रकार का संस्कार स्थापित होता है। रथन्तर गान की रूढ़ि से गान क्रिया ही सूचित होती है। उदाहरणार्थ-अवहनन क्रिया के द्वारा जिस प्रकार दाने के ऊपर से छिलके अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार गानरूप क्रिया से ऋचाओं के अक्षर अभिव्यक्त हो जाते हैं। अस्तु; रथन्तर किसी ऋचा विशिष्ट के गान की संज्ञा न होकर विशुद्ध रूप से एक क्रिया की संज्ञा ही है॥ १३॥

**( १३२५ ) अद्रव्यं चापि दृश्यते॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** अद्रव्यं च = तथा ऋचा शून्य में, अपि=भी रथन्तर शब्द प्रयुक्त होता है, दृश्यते = दिखाई पड़ता है।

**व्याख्या—** ऋचा में साम शब्द अप्रयुक्त होता है, मात्र गीति में ही साम शब्द प्रयुक्त होता है। अथवा इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ऋचा न होने पर भी उसमें रथन्तर साम प्रयुक्त होता देखा जाता है। इस सूत्र में द्रव्य शब्द का अभिप्राय ऋचा से है। अस्तु; गान विशिष्ट ऋचा का अतिदेश नहीं हो सकता॥ १४॥

**( १३२६ ) तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** तस्य च क्रिया = उस (गायन) की क्रिया, ग्रहणार्था = अभ्यासार्थ होती है, नानार्थेषु = अलग-अलग ऋचाओं में, विरूपित्वात् = गान भी भिन्न-भिन्न होता है, विधानात् = विधान के अनुसार, हि आसाम् अर्थ: = निश्चित रूप से रथन्तर इत्यादि संज्ञाओं का तात्पर्य, अलौकिक: = अलौकिक होता है।

**व्याख्या—** अकर्मकाल में, अर्थात् जिस समय वैदिक कर्म सम्पन्न न करने की स्थिति हो, उस समय किया जाने वाला रथन्तर आदि गान शिक्षा (सीखने) मात्र के लिए होता है। अलग-अलग ऋचाओं का गान भी भिन्न-भिन्न होता है। उसे गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ही ठीक-प्रकार से जाना जा सकता है, इसलिए उसका अर्थ अलौकिक होता है॥ १५॥

**( १३२७ ) तस्मिन्संज्ञाविशेषा: स्युर्विकारपृथक्त्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मिन् = उस ज्ञान स्वरूपी क्रिया में, संज्ञाविशेषा: स्यु: = अलग-अलग संज्ञायें होती हैं, विकार पृथक्त्वात् = गान के भिन्न-भिन्न स्वरूप होने से।

**व्याख्या—** जिस प्रकार भाषा में विविध प्रकार के गान और उनके अलग-अलग नाम होते हैं, ठीक उसी प्रकार वेद में भी गान और उनके नाम भी पृथक्-पृथक् होते हैं। कोई गान रथन्तर नामक और कोई बृहत् नामक होता है। लौकिक गानों की अलग-अलग राग-रागिनियों की और उनके नामों की तरह वैदिक सामगान के विषय में भी समझा जाना चाहिए॥ १६॥

**( १३२८ ) योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, योनिशस्या: = योनिशस्या ऋचाएँ, (रथन्तर की कारण रूपा ऋचाएँ) तुल्यवत् = साम्य से, इतराभि: = इतर अर्थात् अयोनिशस्या ऋचाओं के साथ, विधीयन्ते = विहित की जाती हैं।

**व्याख्या—** रथन्तर और ये गान जिनमें ये गाये जाया करते हैं, वे रथन्तर के कारणरूप अर्थात् योनिशस्य कहलाते हैं। जिस ऋचा में शंसन (स्तुति) प्रक्रिया होती है, उसे योनिशस्या कहते हैं और योनिशस्या ऋचाओं के साथ अयोनिशस्या ऋचाओं का विधान दिखाई देता है। इससे सिद्ध है कि रथन्तर एवं ऋचा दोनों ही पृथक्-पृथक् हैं॥ १७॥

**( १३२९ ) अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनि॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** अयोनौ च = एवं योनिभृत ऋचा से पृथक् में, अपि = भी, अतथायोनि दृश्यते = अधिक या कम ऋचा वाला साम दिखाई पड़ता है।

**व्याख्या—** अयोनि में साम दिखाई पड़ता है। गायत्री छन्द युक्त ऋचा में बृहत्साम गाया जाता है। बृहत्साम की योनिभृत ऋचा जितने अथवा उनसे अधिक या न्यून अक्षरों से युक्त ऋचा में भी बृहत्साम आदि अतिदिष्ट होता है। इससे स्पष्ट है कि रथन्तर इत्यादि कोई ऋचा न होकर गान मात्र हैं॥ १८॥

**( १३३० ) ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकार्थ्ये = एक ही अर्थ होने में, वैरूप्यम् न अस्ति = विरूपता नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का भाव यह है कि रथन्तर गान सभी एक ही प्रकार के होते हैं, अत: किसी भी ऋचा

में गाये जा सकते हैं। अस्तु; प्रयोग के अतिरिक्त इस गायन का एक समय में अभ्यास हो जाने के बाद ऋचा में पुनः उस गान का अभ्यास आवश्यक नहीं है, यदि इस प्रकार की आशङ्का हो, तो?॥१९॥

**( १३३१ ) स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा लोके॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थान्तरेषु = दूसरी ऋचाओं में, अनिष्पत्तेः = अभ्यास के बिना निष्पत्ति न होने से, स्यात् = होना चाहिए (अभ्यास), यथा पाके = जिस प्रकार पाक प्रक्रिया में होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि पाक-प्रक्रिया में ओदन (भात) और गुड़ का पाक पृथक्-पृथक् लक्षणों से युक्त होता है। जिस तरह आश्रय दृष्ट पाक-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है, ठीक उसी तरह एक आश्रय में होता हुआ रथन्तर गान अन्यत्र आश्रय में भी होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है। आश्रय वैभिन्न्य से प्रतिऋचा में रथन्तर भी भेदयुक्त होता है॥ २०॥

**( १३३२ ) शब्दानाञ्च सामञ्जस्यम्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दानाम् =शब्दों का, सामञ्जस्यम्=सामञ्जस्य अर्थात् यथार्थ स्वरूप भी स्पष्ट होता है।

**व्याख्या—** यदि कवती एवं रथन्तर दोनों ही शब्द ऋचा के वाचक हों, तो चूँकि एक ऋचा दूसरी ऋचा की अधिकरण नहीं हो सकती; इसलिए शब्दों का सामञ्जस्य नहीं हो सकता। अस्तु; कवती शब्द ऋचा वाचक और रथन्तर शब्द विशिष्ट गान वाचक है, यह स्पष्ट होता है॥ २१॥



**॥ इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥**

# ॥ अथ सप्तमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**अब अग्निहोत्र नाम से उसके धर्मों के अतिदेश सम्बन्धी सूत्र प्रस्तुत हैं—**

## ( १३३३ ) उक्तं क्रियाभिधानं तत् श्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** क्रियाभिधानम् उक्तम् = अग्निहोत्र नामक क्रिया का उल्लेख किया गया है, अन्यत्र = अस्तु; अन्य स्थान पर 'कुण्डपायिनामयने', तत्श्रुतौ = उस अग्निहोत्र शब्द के श्रवण करने में, विधिप्रदेशः स्यात् = विधि प्रदेश अर्थात् धर्म का अतिदेश है।

**व्याख्या—** पूर्व में कहा जा चुका है कि अग्निहोत्र शब्द नामधेय है, दूसरे स्थान पर 'कुण्डपायिनामयन' प्रमाण वाक्य है। दूसरे वाक्य 'मासम् अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्रं जुहोति इस वाक्य (स्थान) में नित्य अग्निहोत्र का धर्म ही उक्त होम में अतिदिष्ट हुआ समझा जाना चाहिए॥ १॥

**अब पूर्वपक्ष में सूत्र प्रस्तुत है—**

## ( १३३४ ) अपूर्वे वापि भागित्वात्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा तो, भागित्वात् = समर्थ होने से, अपूर्वे = 'मासाग्निहोत्रं' वाक्य में अपूर्व का ही अभिधान है।

**व्याख्या–** मासमग्निहोत्र इत्यादि वाक्य में शब्द कर्म का ही अभिधान है। मासाग्निहोत्र में विद्यमान अग्निहोत्र शब्द एक मास तक सम्पन्न किये जाने वाले अग्निहोत्र के लिए है। जिस प्रकार नित्य यज्ञ प्रक्रिया को अग्निहोत्र कहते हैं, उसी प्रकार मास पर्यन्त सम्पन्न होने वाली 'मासमग्निहोत्र' होम प्रक्रिया भी अग्निहोत्र कहलाती है, अतः अतिदेश होना नहीं माना जा सकता।॥ २॥

**अब पूर्वपक्ष का दोष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## ( १३३५ ) नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** तु = किन्तु, नाम्नः = नाम का सम्बन्ध, औत्पत्तिकत्वात् = औत्पत्तिक होने से ऐसा सम्भव है।

**व्याख्या—** यहाँ किसी और के अभिधान में कोई हेतु न होने के कारण अतिदेश होना सम्भव है। भाव यह है कि नाम और नामी का सम्बन्ध नित्य होने से एक शब्द के विभिन्न अर्थ मानना उचित नहीं है। माणवक सिंह है अर्थात् बालक सिंह है, ऐसा कहने से माणवक के साथ सिंह का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता। अस्तु; सिंह के धर्म का अतिदेश माणवक में मानना चाहिए। अग्निहोत्र के सम्बन्ध में भी यही समझा जा सकता है॥ ३॥

## ( १३३६ ) प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** प्रत्यक्षात् = नैयमिक अग्निहोत्र में प्रत्यक्षरूप से, गुणसंयोगात् = गुण का संयोग होने से, क्रियाभिधानं स्यात् = अग्निहोत्र तथा अभिधान (नाम) होता है, तदभावे = उसके अभाव में (मासाग्निहोत्र में) नाम आदि, अप्रसिद्धं स्यात् = यह सभी अप्रसिद्ध होता है, अस्तु; अग्निहोत्र नाम बनना अशक्य है।

**व्याख्या—** नियमित होम प्रक्रिया को कारणों की अपेक्षा से अग्निहोत्र नाम दिया गया है। ये कारण मासाग्निहोत्र में विद्यमान नहीं हैं और मासाग्निहोत्र में गुण स्वरूप देवता का विधान भी नहीं है। अस्तु; यही माना जाना चाहिए कि नित्य-नियमित अग्निहोत्र के धर्मों को ही मासाग्निहोत्र से अतिदेश किया गया है॥ ४॥

**यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रायणीय नाम से धर्म का अतिदेश नहीं होता—**

## ( १३३७ ) अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा तो, सर्वत्र कर्मणि = सभी स्थानों के कर्मों में अर्थात् प्रकृति और विकृति यागों में, गुणार्था = गुण विधि के निमित्त, एषा = प्रायणीय आदि, श्रुतिः स्यात् = श्रुति होती है।

**व्याख्या—** प्रकृति एवं विकृति यागों में श्रुति गुणार्थ सम्पन्न होती है। श्रुतार्थ न होने की स्थिति में लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण कर लेना उचित है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- बारह दिवसीय द्वादशाह याग में प्रथम दिवस होने वाले यज्ञ कर्म को प्रायणीय कहते हैं। इसी याग की विकृति गवामयन याग है, उसमें भी प्रायणीय शब्द प्रयुक्त होता है, जो प्रथम दिन की यज्ञ प्रक्रिया में आता है; किन्तु इसमें (गवामयन आदि में) प्रथम दिन होने वाला प्रायणीय कृत्य प्रकृतियाग (द्वादशाहयाग) के धर्म का अतिदेश नहीं है, वरन् दोनों प्रकार के यागों में प्रायणीय शब्द गुणविधि के लिए प्रयुक्त हुआ है॥ ५॥

**अब सर्वपृष्ठ से पृष्ठों के अतिदेश सम्बन्धी सूत्र प्रस्तुत हैं—**

**( १३३८ ) विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्पूर्वकत्वात् = ज्योतिष्टोम की विकृति ही विश्वजित् याग है, अस्ति च पृष्ठ शब्दः = स्तोत्रों में पृष्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है, विश्वजिति सर्वपृष्ठे = विश्वजित् सर्वपृष्ठ का उदाहरण दिया है, ऐसे वाक्य में, ज्यौतिष्टोमिकानिपृष्ठानि = ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत कहा गया पृष्ठ अनुवाद है।

**व्याख्या—** 'विश्वजित् सर्वपृष्ठेऽतिरात्रो भवति' इस वाक्य में ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत कथित पृष्ठ शब्द अनुवाद है, कारण यह है कि विश्वजित् याग ज्योतिष्टोम की ही विकृति है। ज्योतिष्टोमान्तर्गत माहेन्द्र आदि चार स्तोत्रों में प्रयुक्त पृष्ठशब्द सप्तदशानि पृष्ठानि (सत्रह पृष्ठ-स्तोत्र) के रूप में प्राप्त होता है, जिसका यह अनुवाद है॥ ६॥

**( १३३९ ) षडहाद्वा तत्र हि चोदना॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, षडहात् = छः दिन में सम्पन्न होने वाले याग में कथित छः स्तोत्रों, तत्र = उनमें, हि चोदना = निश्चित रूप से अतिदेश है।

**व्याख्या—** छः दिन में सम्पन्न होने वाले याग में जो छः स्तोत्र निर्दिष्ट हैं (जो रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, रैवत एवं शाक्वर नाम वाले हैं), उनमें ज्योतिष्टोम के ही छः पृष्ठ अतिदिष्ट है, कारण यह है कि विश्वजित् के ठीक पहले ज्योतिष्टोम का वर्णन है एवं पृष्ठ इन्हीं पृष्ठों का बोधक है। तात्पर्य यह है कि शाक्वरादि छः स्तोत्रों का ही विश्वजित् सर्वपृष्ठ में अतिदेश हुआ है॥ ७॥

**अब अन्य प्रमाणों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं—**

**( १३४० ) लिङ्गादर्शनाच्च॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्गरूप वाक्य होने से भी।

**व्याख्या—** लिङ्ग रूप वाक्यों, जैसे- 'वैरूपं होतुः, वैराजं मित्रावरुणयोः' आदि में वैरूप इत्यादि स्तोत्रों में उस स्तोत्र के गायक (उद्गाता) का निर्देश होने के कारण उनमें षडह धर्म ही अतिदिष्ट हुआ है॥ ८॥

**( १३४१ ) उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पन्नाधिकारः = उत्पन्न अधिकार से युक्त है, ज्योतिष्टोमः = ज्योतिष्टोम याग।

**व्याख्या—** यहाँ जो पृष्ठ शब्द प्रयुक्त है, इसके विषय में समझना चाहिए कि यह पृष्ठ शब्द औत्पत्तिक नहीं है। यह समुत्पन्न स्तोत्रों का अधिकार है। 'बृहत्पृष्ठं भवति' वाक्य से ज्योतिष्टोम में बृहत्स्तोत्र ही पृष्ठ कहलाता है। इसके अतिरिक्त माहेन्द्र आदि स्तोत्रों में जो पृष्ठ शब्द व्यवहृत हुआ है, वह तो मात्र छत्रिन्याय से (संकेत मात्र) है॥ ९॥

**( १३४२ ) द्वयोर्विधिरिति चेत्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयोः = दोनों (स्तोत्रों) का अधिकार है (ज्योतिष्टोम में), इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?
**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम में बृहद् एवं रथन्तर दोनों का ही अधिकार (विकल्प) है, यदि कोई ऐसी शङ्का करे, तो इसका समाधान अगले सूत्र में है॥ १०॥

## (१३४३) न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, सर्वशब्दस्य = सर्व शब्द के, व्यर्थत्वात् = व्यर्थ (अनेक अर्थों में प्रयुक्त) होने से।
**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि सर्वशब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, केवल दो में ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि छः दिवसीय याग में सर्व पृष्ठ शब्द से परिगणित किये गये छः स्तोत्र विश्वजित् याग में अतिदिष्ट हैं, न कि अनूदित॥ ११॥

**अब अवभृथ नामक सौमिक धर्म के अतिदेश सम्बन्धी सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत हैं—**

## (१३४४) तथावभृथः सोमात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** तथा = उक्त अधिकरणानुसार, सोमात् = सोमयाग से, अवभृथः = अवभृथ सौमिक धर्म का प्राप्तकर्त्ता है।
**व्याख्या—** चातुर्मास्ये तुषैश्च निष्कासेन च अवभृथं यन्ति' इस सिद्धान्त वाक्य के अनुसार दर्शपूर्णमास से पूर्वदिशा में उत्सेक किये जाने, इसी के अन्तर्गत तुष-निष्कास (धान के ऊपर की भूसी को अलग करना) का विधान भी है। जैसे षडहयाग में ६ पृष्ठ स्तोत्र अतिदिष्ट होते हैं, ठीक वैसे ही अवभृथ भी सौमिक धर्म का ग्रहणकर्त्ता है॥ १२॥

## (१३४५) प्रकृतेरिति चेत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतेः = दर्शपौर्णमास में भी यह क्रम होता है, इति चेत् = यदि यह कहा जाये, तो?
**व्याख्या—** यदि यह कहा जाये कि दर्शपौर्णमास याग विधि में पूर्व दिशा में किया जाने वाला जलोत्सेचन ही अवभृथ है तथा उत्सेक का तुष-निष्कास में गुणरूपेण विधान है, तो?॥ १३॥

## (१३४६) न भक्तित्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, भक्तित्वात् = स्तुति रूप होने से।
**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। कारण यह है कि दर्शपौर्णमास में अवभृथ होता ही नहीं। अवभृथ में जल प्रयोग होने के कारण सादृश्य से व्युत्सेक (सिंचन) में भी अवभृथ शब्द स्तुतिरूपेण प्रयुक्त हुआ है॥ १४॥

**अब इसी तथ्य की पुष्टि सूत्रकार अन्य तर्क से कर रहे हैं—**

## (१३४७) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाण वाक्य होने से (इसी तथ्य की पुष्टि होती है)।
**व्याख्या—** लिङ्ग वाक्यों 'नायुर्दा जुहोति न साम गायति' आदि से भासित होने वाला आयु प्रदायक होम एवं सामगान सौमिक अवभृथ का धर्म है। यदि यहाँ सौमिक धर्म अतिदिष्ट न हो, तो निषेध भी होना उचित नहीं। अस्तु; सिद्ध है कि अवभृथ का धर्म ही अतिदिष्ट होता है॥ १५॥

**अब वारुणप्राघासिक अवभृथ में तुषनिष्कास द्रव्य लेने सम्बन्धी सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (१३४८) द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** श्रुतिसंयोगात् = श्रुति संयोग, द्रव्यादेशे = द्रव्यादेश प्राप्त होने से, तद्द्रव्यः = उसमें तुष-निष्कास द्रव्य मानना उचित है। अनादेशे = श्रुति आदेश न होने से, तत्प्रकृतित्वात् = अवभृथ प्रकृति वाला होने से, पुरोडाशः तु = पुरोडाश द्रव्य का बाध होता है।

**व्याख्या—** द्रव्यादेश में श्रुति विधान का संयोग होने से तुष-निष्कास द्रव्य है, कारण यह है कि तुष-निष्कास प्रत्यक्षत: श्रवण किया जाता है। प्रत्यक्षत: श्रुति न होने के कारण पुरोडाश को तो आनुमानिक ही माना जाता है। तत्प्रकृतित्व (अवभृथ प्रकृति वाला होने) के कारण पुरोडाश का ग्रहण किया जाता है॥ १६॥

**अब यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि वैष्णव शब्द से आतिथ्येष्टि में धर्मों का अतिदेश नहीं है—**

**(१३४९) गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** गुणविधि: तु = धर्म विधान तो, समत्वात् = दोनों स्थलों पर समान होने के कारण, न गृह्णीयात् = ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** आतिथ्येष्टि तथा राजसूयेष्टि में वैष्णव शब्द श्रवण किया जाता है- 'आतिथ्यानां नवकपालो वैष्णवो भवति' इसी तरह- राजसूये वैष्णवस्त्रिकपाल: आदि। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन वाक्यों में प्रयुक्त वैष्णव शब्द आतिथ्य धर्म का अतिदेश न करके देवता रूप गुण का विधान करता है। अस्तु; स्पष्ट है कि वैष्णव शब्द अतिदेश करने वाला न होकर गुण विधायक है॥ १७॥

**अब धर्म का अतिदेश समझाने के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं —**

**(१३५०) निर्मन्थ्यादिषु चैवम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एवम् = इसी प्रकार से, निर्मन्थ्यादिषु = निर्मन्थ्या आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी है।

**व्याख्या—** अग्नीषोम नामक पशुयाग प्रकरण में- 'निर्मन्थ्येनेष्टका: पचन्ति (निर्मन्थ्य अग्नि से इष्टकाएँ पकाते हैं)' वाक्य में निर्मन्थ्य नामक अग्नि का उल्लेख है तथा दर्शपौर्णमास-प्रकरण में बर्हि, आज्य इत्यादि शब्दों का कथन किया गया है। ये शब्द भी 'विष्णु' की तरह यौगिक हैं। अस्तु; ये भी धर्मों का अतिदेश नहीं करते अथवा इनके धर्मों का अतिदेश नहीं होता॥ १८॥

**अब यह बताते हैं कि 'द्वयो प्रणयन्ति' इत्यादि वाक्य से सौमिक धर्म अतिदिष्ट नहीं होता—**

**(१३५१) प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रणयनम् = अग्नि का प्रज्वलन, तु = तो, सौमिकम् हि = सौमिक ही है, इतरत् = क्योंकि दूसरे का, अवाच्यम् = वाच्य (विधान) नहीं है।

**व्याख्या—** अग्नि प्रदीपन सौमिक है। कारण यह है कि दूसरे स्थान पर इसका विधान नहीं है। अभिप्राय यह है कि चातुर्मास्य प्रकरण में श्रुत 'द्वयो: प्रणयन्ति तस्माद् द्वाभ्यामेति' वाक्य में प्रयुक्त प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन अवाच्य है। (प्रणयन शब्द से अभिप्राय कुण्ड में अग्नि प्रदीप्त करने से है)॥ १९॥

**(१३५२) उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = उसी प्रकार, उत्तरवेदिप्रतिषेध: = उत्तर वेदिका का प्रतिषेध भी होता है।

**व्याख्या—** उत्तर वेदिका सोमयाग प्रणयन में हुआ करती है, किन्तु दर्शपौर्णमासिक में नहीं होती। 'न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति न शुनासीरीये' वाक्य में वैश्वदेव एवं शुनासीरीय उत्तर वेदिका के उपवपन का प्रतिषेध किया है। इस प्रतिषेध से सौमिक प्रणयन ही समझना चाहिए॥ २०॥

**(१३५३) प्राकृतं वाऽनामत्वात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अनामत्वात् =अभिधान न होने से, प्राकृतम् = प्राकृत याग का प्रणयन ही प्रतिनिधित्व करता हो।

**व्याख्या—** प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नाम नहीं बन सकता; क्योंकि वह दार्शपौर्णमासिक याग का प्रणयन है। यदि यह कहा जाये कि प्रणयन शब्द लक्षण द्वारा सौमिक प्रणयन ज्ञात होता है, तो यह भी संगत

नहीं (संभवति श्रुत्यर्थे लक्षणार्थोऽग्राह्यः) सूत्र के नियमानुसार जहाँ श्रुत्यर्थ संभावित हो, वहाँ लक्षणार्थ लेने का निषेध है। अस्तु; वहाँ प्रणयन शब्द सौमिक का बोधक नहीं, वरन् प्राकृत दार्शपौर्णमासिक प्रणयन का ही वाचक है॥ २१॥

## ( १३५४ ) परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** परिसंख्यार्थम् = परिसंख्या के निमित्त, श्रवणम् = उस वाक्य का श्रवण, गुणार्थम् अर्थवादो वा = गुण अथवा अर्थवाद के निमित्त मानना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्र क्रमांक १९ में समाविष्ट 'अवाच्यं हीतरत्' वाक्य परिसंख्या अथवा अर्थवाद अथवा गुणार्थ के निमित्त है, ऐसा मानना चाहिए। परिसंख्या त्रिदोषयुक्त होने के कारण अर्थवाद मानना ही उचित प्रतीत होता है। प्रणयन शब्द दार्शपौर्णमासिक प्रणयन का ही बोधक है॥ २२॥

**अब 'द्वयोः प्रणयन्ति' वाक्य से मध्यम दो पर्वों में अग्नि प्रणयन करने सम्बन्धी प्रकरण पर प्रकाश डाल रहे हैं—**

## ( १३५५ ) प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** प्रथमोत्तमयोः = प्रथम एवं उत्तम (अन्तिम) पर्व में, प्रणयनम् = अग्नि का प्रणयन किया जाता है, उत्तरवेदिप्रतिषेधात् = उत्तर वेदिका का प्रतिषेध होने के कारण।

**व्याख्या—** यहाँ वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेघ एवं शुनासीरीय इन चार पर्वों में से किस में प्रणयन करना होता है,इसी शङ्का का समाधान किया जा रहा है। उपरिवर्णित चार पर्वों में प्रथम एवं उत्तम अर्थात् वैश्वदेव एवं शुनासीरीय में अग्नि-प्रणयन करना चाहिए, जिसका उल्लेख इस वाक्य में मिलता है, 'उत्तर वेद्यामग्निं निदधाति'। अस्तु; प्रथम एवं अन्तिम पर्व में अग्नि प्रणयन विहित है॥ २३॥

**अब मध्य के दो पर्वों के सन्दर्भ में सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( १३५६ ) मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, मध्यमयोः = मध्य के दो पर्वों वरुणप्रघास एवं साकमेध में भी अग्नि-प्रणयन होता है, गत्यर्थवादात् = गतिरूप अर्थ का वाद होने के कारण।

**व्याख्या—** वरुण प्रघास एवं साकमेध इन दो मध्य पर्वों को यज्ञ का ऊरुभाग, मध्य भाग कहा गया है- ऊरु वा एते यज्ञस्य यद्वरुणप्रघासः साकमेधश्च। ऊरु शब्द का अर्थ गति-साधन भी है। ऊरु शब्द द्वारा इन दोनों वरुणप्रघास और साकमेध में अग्नि प्रणयन करने की संस्तुति की गई है॥ २४॥

## ( १३५७ ) औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** औत्तरवेदिकः = उत्तरवेदी हेतु तो, अनारभ्यवादप्रतिषेधः = अनारभ्यवाद का ही प्रतिषेध है।

**व्याख्या—**'न वैश्वदेवे ........न शुनासीरीये' वाक्य से जो उत्तर वेदी का प्रतिषेध किया गया है, उसे अनारभ्यवाद का ही प्रतिषेध मानना चाहिए। इस वाक्य 'उत्तरवेद्यामग्निं निदधाति' द्वारा जो अग्नि प्रणयन की बात कही गई है, वह किसी पर्व के आरम्भ के बिना ही कह दी गई है, अतः इसे अनारभ्यवाद कहा जायेगा। अस्तु; सिद्ध है कि मध्यवर्ती दो पर्व वरुणप्रघास और साकमेध में ही प्रणयन करना चाहिए॥ २५॥

## ( १३५८ ) स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्वरसामैककपालामिक्षम् = स्वर साम, एक कपाल एवं आमिक्षा ये तीनों शब्द धर्म का अतिदेश करने वाले हैं, लिङ्गदर्शनात् = लिंग बोधक वचनों की उपलब्धता से।

**व्याख्या—** स्वर साम, एक कपाल तथा आमिक्षा ये तीनों ही शब्द धर्म का अतिदेश करने वाले हैं, कारण यह है कि उसके लिंग (लक्षण) बोधक शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे गवामयन-यज्ञ स्थित स्वर-साम सत्रह स्तोम

आदि धर्मों का ग्राहक है। इसी प्रकार एक कपाल और आमिक्षा शब्द भी धर्मों का ग्रहण करते हैं॥ २६॥

**( १३५९ ) चोदनासामान्याद्वा॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा (यह शब्द हेतु ज्ञापक है।) चोदनासामान्यात् = विधि सामान्य होने से।

**व्याख्या—** स्वर, एक कपालत्व एवं आमिक्षा में सामान्य से लिङ्गलक्षण का ग्रहण होता है॥ २७॥

**अब वासक आदि शब्दों के जाति ( आकृति ) वाचक होने का अधिकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १३६० ) कर्मजे कर्म यूपवत्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मजे = तुरी एवं वेमा (करघा एवं सहायक उपकरण) के संयोग रूपी क्रिया से समुत्पन्न वस्त्र इत्यादि द्रव्य, कर्म = क्रिया बोधक है, यूपवत् = यूप की तरह।

**व्याख्या—** जिस प्रकार 'वासो ददाति' वाक्य में वास शब्द से तुरी-वेमा आदि होने वाली क्रिया का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार यूप शब्द से बाँस में होने वाली क्रिया (काटने, छीलने आदि की क्रिया) का बोध होता है॥ २८॥

**अब उपर्युक्त के सन्दर्भ में सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १३६१ ) रूपं वाऽशेषभूतत्वात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, रूपं अशेषभूतत्वात् = अंग स्वरूप विधान न होने से, आकृति (जाति) वाच्य है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'वास' शब्द का अर्थ 'जाति' है। चूँकि वास (वस्त्र) जनित क्रिया का अंग स्वरूप विधान नहीं है, अत: यूपं तक्षति वाक्य में क्रिया-कलाप का विधान होने से यूप शब्द का अर्थ यूप जनक क्रिया होना सम्भव है; किन्तु वास शब्द का अर्थ उससे उत्पन्न क्रिया नहीं, वरन् जाति है॥ २९॥

**अब गर्ग त्रिरात्र में अग्नि उपनिधान सम्बन्धी अधिकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १३६२ ) विशये लौकिक: स्यात्सर्वार्थत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** विशये = संशयावस्था में, सर्वार्थत्वात् = वैदिक सर्व कर्म के लिए होने के कारण, लौकिक: स्यात् = लौकिक अग्नि का उपनिधान होता है।

**व्याख्या—** गर्ग त्रिरात्र में स्तोत्र के अंगस्वरूप अग्नि का उपनिधान करना निर्दिष्ट किया गया है। 'अग्निमुपनिधाय स्तुवीत' इस वाक्य में अग्नि को लौकिक अग्नि माना जाये या वैदिक? पूर्वपक्ष का कथन यह है कि आधान से संस्कृत होने के कारण वैदिक अग्नि ही स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि समस्त वैदिक कर्मों के लिए संस्कृत अग्नि का आधान ही विहित है॥ ३०॥

**इसके परिहारार्थ अब सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( १३६३ ) न वैदिकमर्थनिर्देशात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थनिर्देशात् = अर्थ का निर्देश होने के कारण, वैदिकम् = वैदिक अग्नि, न = नहीं है।

**व्याख्या—** कार्य के शास्त्रीय निर्देशानुसार वैदिक अग्नि मान्य नहीं है। 'यदाहवनीये जुहोति' इस वाक्य से वैदिक अग्नि का ग्रहण होता है, किन्तु 'अग्निमुपनिधाय स्तुवीत' वाक्य से होम की प्रतीति न होने पर भी उपनिधान ध्वनित होता है। अत: उसके लौकिक अग्नि के समीप होने के कारण वैदिक अग्नि के धर्म का अतिदेश नहीं हो सकता॥ ३१॥

**( १३६४ ) तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इसी प्रकार, समत्वात् = समान होने से। इतरेषाम् = अन्य अग्नियों की, उत्पत्ति: = उत्पत्ति है।

**व्याख्या—** अन्य धैष्ण्य (धिष्ण्या स्थानीय) अग्नियों के भी समान होने के कारण उनकी उत्पत्ति भी उसी

प्रकार होनी समझनी चाहिए। इनका कार्य व्याघार (आज्य की आहुति) के निमित्त होता है, न कि उपनिधान के लिए। अत: लौकिक अग्नि का उपनिधान स्तुति के अंग स्वरूप ही समझना चाहिए॥ ३२॥

**अब यह बताते हैं कि यूप शब्द संस्कार प्रयोजक नहीं है—**

## (१३६५) संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** तत्शब्दत्वात् = तत्सम्बन्धी निर्देश के कारण, संस्कृतम् = उपशय द्रव्य संस्कृत, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** उपशय (ग्यारह यूपों में एक अन्तिम दक्षिण भाग स्थित यूप) द्रव्य संस्कृत अर्थात् परिष्कृत होना चाहिए। उपशय नामक यूप के संस्कृत अर्थात् परिव्याण आदि संस्कारों से युक्त होने के कारण ही यूप शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस यूप शब्द से इसके धर्मों का अतिदेश होता है॥ ३३॥

## (१३६६) भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वा॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, भक्त्या = यूप शब्द गौण रूप में प्रयुक्त हुआ है, गुणानाम् = गुणों का, अभिधानात् = अभिधान (नाम) होने के कारण, अयज्ञशेषत्वात् = यज्ञांग न होने से वह संस्कार विहीन है।

**व्याख्या—** सिद्धान्ती कहते हैं-उपशय नामक यूप यज्ञाङ्ग नहीं है। अस्तु; उसमें संस्कार नहीं होते। यज्ञ पशु बन्धन के निमित्त यूपों के संस्कार किये जाते हैं; किन्तु जिस यूप की यहाँ चर्चा हो रही है, उसमें तो पशुबन्धन विहित ही नहीं हैं। अस्तु; उसके परिव्याण आदि संस्कार सम्पन्न नहीं किये जाते। तूष्णी-छेदन आदि कई गुण-धर्म होते हैं, उनका अभिधान होता है; किन्तु वे अमन्त्रक किये जाते हैं। अत: यूप शब्द का प्रयोग गौण रूप में ही हुआ है। अस्तु; यूप शब्द से धर्म का अतिदेश होना सम्भव नहीं है॥ ३४॥

**अब आगे 'पृष्ठैरुपतिष्ठते' इत्यादि वाक्य में पृष्ठ शब्द ऋक् वाच्य है, यह समझा रहे हैं—**

## (१३६७) कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथाभूतोपदेशात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** कर्मण: = पृष्ठैरुपदधाति आदि वाक्य में आये, भूतोपदेशात् = शब्दों से उपदेश प्राप्त होने के कारण, पृष्ठशब्द:स्यात् = पृष्ठ शब्द कर्म के बोधक हैं।

**व्याख्या—** 'पृष्ठैरुपतिष्ठते' आदि वाक्य में प्रयुक्त पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है तथाभूत (उसी प्रकार) उपदेश होने के कारण यह सिद्ध भी है॥ ३५॥

## (१३६८) अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अभिधानोपदेशात् = आत्मने पद का अभिधान होने के कारण, विप्रतिषेधात् = उस (आत्मनेपद) का प्रतिषेध (विरोध) होने से, पृष्ठशब्द: द्रव्येषु = पृष्ठशब्द ऋचा स्वरूप द्रव्य का बोधक है।

**व्याख्या—** 'पृष्ठैरुपतिष्ठति' एवं 'अभित्वाशूर नोनुम:' आदि वाक्यों (ऋग्द्रव्यों) में व्यवहृत पृष्ठ शब्द ऋचाओं का ही वाचक है। वहाँ आत्मनेपद होने के कारण विरोध प्रकट होता है। पृष्ठ संज्ञक मंत्रों से स्तुति की जाती है, यही पृष्ठैरुपतिष्ठते वाक्य का अभिप्राय है। चूँकि पृष्ठ शब्द ऋचा का वाचक है और मन्त्रों के धर्म नहीं होते। अस्तु; वहाँ धर्मों की प्राप्ति नहीं होती॥ ३६॥

**॥ इति सप्तमाध्यायस्य तृतीय: पाद:॥**

## ॥ अथ सप्तमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**इस पाद में सौर्यादि चरु में इति कर्त्तव्यता के अतिदेश का निरूपण किया जा रहा है—**

### ( १३६९ ) इतिकर्त्तव्यताऽविधेर्यजतेः पूर्ववत्वम्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** इतिकर्तव्यताऽविधेः = इति कर्तव्यता (करने की रीति) बताने का विधान न होने के कारण, यजतेः = सौर्य आदि याग में, पूर्ववत्वम् = पूर्ववत्व है (तात्पर्य यह है कि अन्य विहित दर्शपूर्णमास के समान जानना चाहिए)।

**व्याख्या—** इति कर्त्तव्यता का विधान न होने के कारण सौर्य यागादि में पूर्ववत्ता होती है। तात्पर्य यह है कि 'सौर्यं' 'चरुंनिर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यादि वाक्य में सौर्ययाग विधान निर्दिष्ट है। जिससे यह ध्वनित होता है कि सौर्य चरु रूप करण से ब्रह्मवर्चस रूप फल की प्राप्ति होती है; किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि किस प्रकार याग करना चाहिए। इसे अन्य प्रकृतिभूत यागों की तरह माना जाना चाहिए। अस्तु; इति कर्त्तव्यता होने से अन्य यागों के धर्मों का अतिदेश माना जायेगा॥ १ ॥

**अब सौर्य चरु में वैदिक इति कर्त्तव्यता होने सम्बन्धी अधिकरण प्रस्तुत करते हैं—**

### ( १३७० ) स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** दृष्टप्रवृत्तित्वात् = प्रवृत्ति दृष्ट होने से, सः = वह, लौकिकः स्यात् = लौकिक होता है।

**व्याख्या—** इति कर्तव्यता अर्थात् कार्य की रीतिनीति का उपाय लौकिक होता है; क्योंकि उस स्थिति में अतिदेश दृष्ट होता है॥ २ ॥

### ( १३७१ ) वचनात्तु ततोऽन्यत्वम्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** तु = और, वचनात् = यदि कोई वैदिक वचन मिले, ततः = तो उससे इस (लौकिक इति-कर्त्तव्यता) का, अन्यत्वम् = भेद मानना चाहिए।

**व्याख्या—** ऐसा कोई रूढ़ नियम नहीं है कि सभी स्थानों पर लौकिक इति कर्त्तव्यता ही होती है। यदि कहीं वैदिक इति कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष वचन की उपलब्धि होती है, वहाँ वह लौकिक इति कर्त्तव्यता से भिन्न वैदिक इति कर्त्तव्यता होती है॥ ३ ॥

### ( १३७२ ) लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात्॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—**लिङ्गस्य = लिङ्ग वाक्य में, तद्गुणत्वात् = वैदिक अपूर्व के गुण होने के कारण, वा = अथवा, लिङ्गेन = लिङ्ग वाक्य द्वारा, नियम्येत = इति कर्त्तव्यता का नियमन होता है।

**व्याख्या—** लिङ्ग वाक्य द्वारा इति कर्त्तव्यता का नियमन होता है। प्रयाज इत्यादि कर्मकाण्ड वैदिक अपूर्व के गुण (अङ्ग) हुआ करते हैं। निर्देश वाक्य है- 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' अर्थात् सौर्ययाग में कृष्णल नामक द्रव्य से हवन किया जाता है। इस अनुमान वाक्य-सौर्ययागापूर्वं, प्रयाजादिजन्यं वैदिकापूर्वत्वात्, दर्शपूर्णमास पूर्ववत् से भी वैदिक अपूर्व होने से सौर्य याग आदि के अपूर्व प्रयाजादि धर्म से उत्पन्न होने की पुष्टि होती है। अस्तु; दर्शपूर्णमास के प्रयाजादि धर्मों से उत्पन्न होने के समान ही अनुमानतः सौर्ययाग में वैदिक इति कर्त्तव्यता सिद्ध होती है॥ ४ ॥

**अब इस पर आक्षेप विषयक सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

### ( १३७३ ) अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, यत्र = यहाँ, अन्यायपूर्वत्वात् = अन्यायपूर्वक होने के कारण, नित्यानुवादवचनानि स्युः = उक्त वचन नित्य अनुवाद संज्ञापक वचन है।

**व्याख्या**- इस प्रकार के लिङ्गों के माध्यम से वैदिक इति कर्त्तव्यता निश्चित नहीं की जा सकती। जहाँ नित्यानुवाद वचन हों, वहीं वैदिक इति कर्त्तव्यता सम्भव होती है। जैसे-दर्शपूर्णमास आदि प्रकरण में प्रयाज इत्यादि धर्म आबद्ध हैं, उन्हें धर्म प्रकरण से पृथक् नहीं किया जा सकता; किन्तु सौर्ययाग आदि में प्रयाज आदि धर्म नहीं हैं, तो उनके साथ निर्दिष्ट कृष्णल होम का विधान कैसे सम्भव है। चूँकि उक्त वाक्य नित्यानुवाद है, अत: सौर्ययाग में वैदिक इति कर्त्तव्यता नहीं, लौकिक इति कर्त्तव्यता ही प्राप्त होना सम्भव है॥ ५॥

**अब यह बता रहे हैं कि लौकिक एवं वैदिक इति कर्त्तव्यता दोनों एक साथ करना क्यों उचित नहीं है—**

## ( १३७४ ) मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, मिथो विप्रतिषेधात् = परस्पर प्रतिषेध होने के कारण, गुणानाम् = गुणों या धर्मों की, यथार्थ-कल्पना स्यात् = यथार्थ रूपेण कल्पना कर्त्तव्य है।

**व्याख्या—** लौकिक एवं वैदिक दोनों इति कर्त्तव्यताओं की प्रवृत्ति एक साथ नहीं हो सकती। ऐसा होने से दोनों का परस्पर विप्रतिषेध हो सकता है। अस्तु, लौकिक एवं वैदिक दोनों इति कर्त्तव्यताओं की एक साथ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यदि एक से कार्य सम्पन्न हो गया, तो दूसरी निरर्थक हो जायेगी। अस्तु; एक की कल्पना करना ही वास्तविक है॥ ६॥

## ( १३७५ ) भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशोरेण॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** अभिधानत्वात् = सौर्ययाग में अभिहित, गुणानाम् = प्रयाज इत्यादि गुणों की, भागित्वात् = अंशता होने के कारण, अभिधानवत् = अभिधान की तरह, सम्बन्धात् = सम्बन्ध होने से, यथाधेनुः किशोरेण = धेनु शब्द किशोर प्रकरण की तरह, नियम्येत = वैदिक इति कर्त्तव्यता का नियमन होता है।

**व्याख्या—** समान अंशत्व होने पर गुणों के नाम से दोनों में वैदिक इति कर्तव्यता होगी। तात्पर्य यह है कि प्रयाज आदि वैदिक गुणों का स्मरण विकृति रूप सौर्य याग में उसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार धेनु शब्द की प्रवृत्ति गो में होने पर भी किशोर शब्द के सम्बन्ध से अश्व में भी धेनु शब्द की प्रवृत्ति मानी जाती है। ध्यातव्य है कि किशोर शब्द घोड़ी के बच्चे के लिए भी प्रयुक्त होता है, उसके सम्बन्ध से धेनु को भी घोड़ी के अर्थ में स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ- कृष्णकिशोरा धेनुः में धेनु का अर्थ घोड़ी है। अस्तु; जिस तरह धेनुशब्द अश्व अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी तरह सौर्ययाग में प्रयाज सम्बन्ध से वैदिक इति कर्त्तव्यता का होना न्याय संगत है॥ ७॥

**अब लौकिक कर्त्तव्यता होने के सम्बन्ध में तर्क देते हैं—**

## ( १३७६ ) उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उत्पत्तीनाम् = प्रयाज अनुयाजादि उत्पत्तियों के, समत्वात् = समान होने से, यथाधिकारम् = अधिकार के अनुसार, भावः स्यात् = अस्तित्व वाली ही है।

**व्याख्या—** भाव यह है कि यदि प्रयाज प्रधान हों, तो उनके अंग रूप होने से अनुयाजादि की भी प्रवृत्ति होनी सम्भव है; किन्तु ऐसा है नहीं। प्रयाज के बिना भी अनुयाज का अस्तित्व देखा जाता हो, इसे सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। साथ ही अनेक बार पार्वण धर्मों का सम्बन्ध देखा जाता है। अनुयाज तो मात्र दर्शपूर्णमास में ही देखे जाते हैं। अस्तु; सौर्य याग में प्रयाजों के समस्त पार्वण धर्म अंग स्वरूप होते हैं। अत: इति कर्तव्यता लौकिक ही माननी होगी॥ ८॥

**अब इसी तथ्य को सूत्रकार अन्य युक्ति से समझाते हैं—**

**( १३७७ ) उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उत्पत्तिशेषवचनम् एकस्मिन् = एक ही वाक्य के अन्तर्गत प्रधान का उद्‌भव एवं अंगविधान मानना तो, विप्रतिषिद्धम् = विप्रतिषेध युक्त है।

**व्याख्या—** एक ही वाक्य में प्रधान का उद्‌भव एवं अंगों का वचन (विधान) असम्भव है। 'निर्वपेत्' इस एक ही वाक्य (शब्द) से यदि प्रधान एवं अङ्गों का एक ही पद्धति से विधान हो, तो अङ्गों को भी पृथक् फल से सम्बद्ध मानना पड़ेगा एवं ऐसा होने से अङ्गों का अंगत्व ही नष्ट प्राय हो जायेगा। इसका कारण यह है कि जो कर्म स्वतंत्र रूप से फल प्रदान करता है, वह अंगकर्म नहीं; वरन् प्रधान ही कहा जाता है। अस्तु; स्मृति कथित लौकिक इति कर्तव्यता ही स्वीकार करनी उचित है॥ ९॥

**( १३७८ ) विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रकृतिवत् = दर्शपौर्णमास के समान, चोदनायाम् = सौर्ययाग विधि के अन्तर्गत, विध्यन्तः = पुरोडाश आदि सम्पूर्ण, प्रवर्त्तेत = प्रवृत्त होना चाहिए तथा, हि = उसी धर्म के अनुसार, लिङ्गदर्शनम् = प्रयाज इत्यादि लिङ्गदर्शन समर्थित हो जाता है।

**व्याख्या—** दर्शपौर्णमास रूप प्रकृति याग के तीन अंशों (साधन, किंकर्तव्यता एवं कार्य पद्धति) के समान विकृति स्वरूप सौर्ययाग में भी तीन अंश होते हैं। इनमें प्रथम अंश चरु द्वारा होम करना, द्वितीय उस याग से ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति करना, तीसरे अंश को विध्यन्त (अर्थात् कार्य पद्धति) कहा गया है। इस प्रकार पुरोडाश आदि धर्म सम्पन्न करना यह तृतीय अंश है। चूँकि सौर्ययाग में इन धर्मों की प्राप्ति है। अस्तु; इति कर्त्तव्यता वैदिकी ही मानी जायेगी; क्योंकि पुरोडाश इत्यादि धर्मों का कथन स्मृतियों में नहीं; वरन् ब्राह्मण ग्रन्थों में है। ब्राह्मणों में वर्णित वचन वेदोक्त हैं, अतः इति कर्त्तव्यता वैदिक ही माननी चाहिए॥ १०॥

**अब वैदिक और लौकिक इति कर्त्तव्यता के औचित्य के सन्दर्भ में तर्क दे रहे हैं—**

**( १३७९ ) लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गहेतुत्वात् = प्रयाज आदि वाचक शब्द श्रुत होने से वह हेतु स्वरूप है, अलिङ्गे लौकिकं स्यात् = यदि लिङ्ग वाक्य न हो, तो इति कर्त्तव्यता लौकिक ही माननी पड़ेगी।

**व्याख्या—** जहाँ वाक्यों में वैदिक सङ्केत हो, वहाँ वैदिक तथा जहाँ कोई लिङ्ग न हो, वहाँ लौकिक इति कर्त्तव्यता ही माननी चाहिए। उदाहरणार्थ ऐन्द्राग्न इष्टि में दर्शपौर्णमास का धर्म प्राप्त कर्त्ता लिङ्ग है। अस्तु; वहाँ प्रयाज इत्यादि वैदिक धर्म ही करणीय होते हैं; किन्तु जहाँ लिङ्ग वाक्य श्रुत नहीं, वहाँ लौकिक धर्म ही करणीय होते हैं॥ ११॥

**अब वैदिक इति कर्त्तव्यता होने सम्बन्धी तर्क दे रहे हैं—**

**( १३८० ) लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** यथा स्थालीपुलाकेन = स्थाली-पुलाक न्याय की तरह, लिङ्गस्य = प्रयाजादि लिङ्ग का, पूर्वत्वात् = अपने से भिन्न, चोदनाशब्दसामान्यात् = कर्म ज्ञापक विधि शब्द सामान्य होने के कारण, अपि = भी, निरूप्येत = वैदिक इति कर्त्तव्यता निरूपित हो सकती है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार स्थाली-पुलाक न्याय में बटलोई में पकते एक चावल को देखकर सभी के पक जाने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार विकृति याग में किसी स्थान पर लिङ्ग वाक्य देने से उसमें सभी स्थलों पर प्रकृति याग के अनुसार ही कर्म होते हैं। अस्तु; स्पष्ट होता है कि विकृति याग-सौर्ययाग

में वैदिक इति कर्त्तव्यता ही होता है, लौकिक नहीं होती॥ १२॥

**अब गवामयन नामक याग में एकाहिक इति कर्त्तव्यता के अनुष्ठान के सम्बन्ध में समझा रहे हैं—**

**( १३८१ ) द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अहर्गणे = अहर्गण (एक याग का नाम) में, द्वादशाहिकम् = द्वादशाह नामक याग के धर्म करणीय होते हैं, तत्प्रकृतित्वात् = चूँकि एकाहयाग (एक दिवसीय यज्ञ), द्वादशाहयाग (बारह दिवसीय यज्ञ) की विकृति होता है, ऐकाहिकम् = इसलिए एकाह से सम्बन्धित, अधिकागमात्= ज्योतिहोम अर्थात् ज्योतिष्टोम में होने वाली अधिक धर्मों की प्राप्ति, एकाहवत् = एकाह के समान होती है।

**व्याख्या—** अहर्गण अभिधान वाले याग में द्वादशाहयाग के धर्म करणीय होते हैं। कारण यह है कि ऐकाहिक याग द्वादशाहयाग की ही विकृति है। ज्योति, गौ एवं आयु इत्यादि एकाह सम्बन्धी समाख्यान हैं। एकाह के समान ज्योतिष्टोम में जो अधिक धर्मों की संप्राप्ति है, वह तदाख्य उसमें वर्णित है॥ १३॥

**( १३८२ ) लिङ्गाच्च॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गात् = लिङ्ग वाक्य होने के कारण।

**व्याख्या—** प्रमाणों की उपलब्धि से भी यही स्पष्ट होता है कि द्वादशाह का अनुष्ठान करणीय है॥ १४॥

**( १३८३ ) न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, क्रत्वभिधानात् = कर्म के नामधेय होने से, अधिकानाम् अशब्दत्वम् = अधिक शब्द स्तोत्र आदि, न = संप्राप्त नहीं होते।

**व्याख्या—** चूँकि नामधेय प्रत्यक्ष होता है, अत: वह चोदक (प्रेरक) से अधिक शक्तिशाली होता है। ज्योतिष्टोम में ज्योति आदि की स्थिति नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि ज्योति आदि में द्वादशाह धर्म की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु क्रतु का नाम होने से उसमें क्रतुधर्म की प्राप्ति होती है। अतिदेश की तुलना में नामधेय बल सम्पन्न होता है, इस कारण उसके धर्म की प्राप्ति होना उचित भी है। जो स्तोत्र शब्द आदि अधिक निर्दिष्ट किये गये हैं, वे उस नाम से विहित नहीं होते हैं। वचन विशेष से ही उनकी प्राप्ति होती है॥ १५॥

**( १३८४ ) लिङ्गं संघातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थापत्तेः = अर्थ की प्राप्ति होने के कारण, द्रव्यवत् = द्रव्य के समान, लिङ्गम् = लिङ्ग, संघातधर्मः स्यात् = संघातधर्म होता है।

**व्याख्या—** लिङ्ग संघात् का धर्म होता है। यदि स्थानी के स्थान में आदेश हो, तो वह स्थानी के धर्म को ही ग्रहण करता है। यदि व्रीहि के स्थान पर नीवार का अतिदेश हो, तो व्रीहि के अवहनन आदि धर्म उसके प्रतिनिधि नीवार इत्यादि पर भी लागू हो सकते हैं, उनमें अतिदेश आवश्यक नहीं है। अस्तु, कहा जा सकता है कि द्वादशाह धर्म अतिदेश शास्त्र द्वारा गवामयन में ग्रहण नहीं किया जाता॥ १६॥

**( १३८५ ) न वार्थधर्मत्वात् संघातस्य गुणत्वात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** न वा = ऐसा नहीं है। संघातस्य गुणत्वात् = संघात (समुदाय) के गौण होने से, अर्थधर्मत्वात् = द्वादशोपसत्व अपूर्व (प्रधान) का धर्म है।

**व्याख्या—** संघात (समुदाय) के गौण होने के कारण, अपूर्व (द्वादशोपसत्व) प्रधान का धर्म है। यदि विशिष्ट का विधान किया जाता है, तो विशेषण का अंग नहीं बन पाता। उदाहरणार्थ कोई यह कहे कि राज

पुरुष को लाइये, तो इससे कोई राजा को नहीं लाता। इसका कारण यह है कि इस वाक्य में 'राजा' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अस्तु; लाने की प्रक्रिया राजकर्मी पर लागू होगी न कि राजा पर। इसी प्रकार लिङ्ग में कथित द्वादश उपसद् मुख्य के धर्म हैं न कि गौण (विशेषण) के॥ १७॥

**( १३८६ ) अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्येषु = प्रतिनिधिभूत द्रव्यों में, अर्थापत्तेः = अर्थापत्ति से (अर्थ में प्राप्ति होने से),धर्मलाभः = स्थानीभूत द्रव्यों के धर्म का लाभ (हो जायेगा)।

**व्याख्या—** सूत्र क्र. १६ में 'द्रव्यवत्' शब्द से जो दृष्टान्त दिया गया है, वह उचित नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार प्रतिनिधिभूत द्रव्यों में अर्थापत्ति करने से स्थानीभूत द्रव्य भी लाभान्वित हो जायेंगे। उदाहरणार्थ- व्रीहि की अभावावस्था में नीवार के प्रतिनिधि होने की स्थिति में पुरोडाश इत्यादि धर्मों का लाभ उसे (नीवार को) भी मिलता है, जो उचित नहीं है॥ १८॥

**( १३८७ ) प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्त्या = मुख्य प्रवृत्ति के द्वारा, नियतस्य = नियत का, लिङ्गदर्शनम् = लिङ्ग दर्शन होता है।

**व्याख्या—** मुख्य प्रवृत्ति के द्वारा नियत का लिङ्ग दर्शन होता है, चोदक की प्राप्ति होने से नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि गवामयन सत्र में द्वादशाहिक में प्रथम दिन को प्रायणीय कहते हैं एवं उसके धर्म द्वादशोपसद् हैं। ये द्वादशोपसद् मुख्य प्रवृत्ति से ही प्राप्त होते हैं, अतिदेश (चोदक) के द्वारा प्राप्त नहीं होते॥ १९॥

**( १३८८ ) विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** विहारदर्शनम् = विहार दर्शन होता है, विशिष्टस्य = विशिष्ट का (उसमें विहित का), अनारभ्यवादानाम् = अप्रकरण पठितों का, प्रकृत्यर्थत्वात् = प्रकृत्यर्थ होने से।

**व्याख्या—** अनारभ्यवादों अथवा अप्रकरण पठितों का प्रकृत्यर्थ होने से विशिष्ट का विहार-दर्शन होता है। तात्पर्य यह है अनारभ्यवाद में विहित अर्थ किसी न किसी प्रकरण का अनुगमन करने वाला होता है। अस्तु; गवामयन में अतिदेशशास्त्र द्वारा द्वादशाह की इति कर्त्तव्यता का ग्रहण नहीं होता॥ २०॥

## ॥ इति सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

# ॥ अथ अष्टमाध्याये प्रथमःपादः ॥

**आठवें अध्याय का शुभारम्भ करते हुए सूत्रकार ने अतिदेश के विशिष्ट लक्षणों को समझाया—**

## ( १३८९ ) अथ विशेषलक्षणम्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** अथ = अब, विशेष लक्षणम् = विशिष्ट अतिदेश के लक्षणों का कथन करते हैं।

**व्याख्या—** पिछले अध्याय में सूत्रकार ने सामान्य अतिदेश के लक्षणों का निरूपण किया और अगले क्रम में अब विशेष अतिदेश के लक्षणों का कथन करते हैं॥ १॥

## ( १३९० ) यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत्॥ २॥

**सूत्रार्थ—** यस्य = जिसका, लिङ्गम् = प्रतीकात्मक सम्बन्ध, अर्थसंयोगात् = उक्त विध्यन्त के अर्थ के साथ हो, अभिधानवत् = उसका क्रम अग्निहोत्र आदि अभिधान के जैसे हुआ करता है।

**व्याख्या—** आकांक्षा की पूर्ति जिसके द्वारा होती है, उसे विध्यन्त कहते हैं। विकृति याग में विध्यन्त का कथन न किये जाने से किसी अन्यकर्म के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जानी चाहिए। 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' सौर्य चरु का निर्वाप ब्रह्मवर्चस की कामना वाले को करना चाहिए, उसमें निर्वाप किये जाने की विधि- विध्यन्त का कथन प्राप्त नहीं है। उक्त वाक्य में विहित सौर्य याग के साथ अन्य सूत्र में आग्नेय याग का संयोग मिलता है। 'सौर्यं चरुं आग्नेयवत् निर्वपेत्' अर्थात् सौर्ययाग में चरु का निर्वाप उसी विधि से किया जाना चाहिए, जैसे आग्नेय याग में किया जाता है। इसी प्रकार अर्थगत लिङ्ग के आधार पर सोम यागादि में भी विध्यन्त का अर्थ जान लेना चाहिए॥ २॥



**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार, सोम याग में ऐष्टिक धर्म के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १३९१ ) प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात्॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** सोमे = सोमयाग में, प्रवृत्तित्वात् = दीक्षणीय आदि जैसी प्रवृत्ति होने से, इष्टेः = उसी प्रकार इष्टि के धर्मों की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्य में जिस प्रकार से इतिकर्तव्यता स्वयमेव प्राप्त है तथा दीक्षणीय, आतिथ्या, प्रायणीया आदि में जैसे विध्यन्त की प्रवृत्तित्वता प्राप्त होती है, वैसे ही सोम याग में भी किया जाना चाहिए॥ ३॥

## ( १३९२ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वचनों के देखे जाने से भी उपर्युक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** प्रमाणों की उपलब्धता से भी ऐष्टिक विध्यन्त होता है। 'तस्य एकशतं प्रयाजानुयाजाः' इस वाक्य में कथित प्रयाज एवं अनुयाज ऐष्टिक धर्म ही हैं, अतएव सोम संज्ञक यज्ञीय कर्मानुष्ठान में भी ऐष्टिक विध्यन्त विद्यमान हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ४॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की अभिव्यक्ति की—**

## ( १३९३ ) कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** कृत्स्नविधानात् वा = कृत्स्न-इति कर्त्तव्यता का विधान प्राप्त होने से भी सोम में, अपूर्वत्वम् = धर्म (अपूर्व) की अपेक्षा नहीं रहती।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि सोम कर्म इति कर्त्तव्यता के विधान से युक्त रहता है, जिससे वह अपूर्व है। अतएव अन्य कर्म का कोई भी धर्म, सोमकर्म में लाया जाना सम्भव नहीं है॥ ५॥

## ( १३९४ ) स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्रुगभिघारणाभावस्य = स्रुक् के अभिघारण का अभाव, नित्यानुवादात् = नित्यानुवाद होने से भी उक्त कथन की उपपन्नता है।

**व्याख्या—** 'न सोममाज्येनाभिघारयति' इस वाक्य में सोम में आज्य द्वारा अभिघारण का अभाव कथन किये जाने से भी उक्त कथन की प्रामाणिकता प्रकट होती है॥ ६॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का करते हैं—**

**( १३९५ ) विधिरिति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** विधिः = उक्त विधि स्रुक् के अभाव की विधि है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का कथन है कि दर्शपौर्णमास के प्रकृति याग होने से उक्त विधिस्रुक् के अभिघारण की प्रतिषेधक निषेध करने वाली विधि है, यदि यह माना जाये, तो क्या उचित होगा?॥ ७॥

**उपर्युक्त आशङ्का का निराकरण आचार्य ने अगले सूत्र में किया—**

**( १३९६ ) न वाक्यशेषत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** वाक्यशेषत्वात् = क्योंकि वाक्य शेष से यही सिद्ध होता है कि, न = वह विधि नहीं है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता सूत्रकार ने बताया कि उपर्युक्त वाक्य 'न सोममाज्येनाभिघारयति' प्रस्तुत मन्त्र 'अंशुरंशेस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम्' का अर्थवाद-शेषभूत है, ऐसा मानना युक्त है॥ ८॥

**पुनः आशङ्का करने के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १३९७ ) शंकते चानुपोषणात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अनुपोषणात् = अनुपोषण के कारण से, शंकते = शङ्का उत्पन्न होती है।

**व्याख्या—** 'यदनुपोष्य प्रयायाद् ग्रीवबद्धमेनममुष्मिंल्लोके निनीयेरन्' इत्यादि वाक्यों में अनुपोषण (यज्ञ कर्म के बाद वेदी को प्रवाहित किये बिना यजमान के दिवंगत होने पर) की आशङ्का का कथन किया गया है। दर्शपूर्णमास आदि ऐष्टिक धर्म में उपोषण (कर्म के बाद वेदी को प्रवाहित करना) का होना सुनिश्चित है; परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में उपोषण का अभाव होने से आशङ्का की उत्पत्ति होती है॥ ९॥

**उपर्युक्त आशङ्का का निराकरण अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १३९८ ) दर्शनमैष्टिकानां स्यात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** दर्शनम् = प्रयाज एवं अनुयाज यागों की जो दृष्टिगोचरता है, ऐष्टिकानाम् = वह तो दीक्षणीया से लेकर अवभृथ पर्यन्त प्रयाजानुयाजों की परिगणना, स्यात् = है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रयाजानुयाजों की दृष्टिगोचरता का जो कथन किया गया है, वह अवभृथ कर्म तक की परिगणना है, न कि ऐष्टिक धर्म का माना जाना। प्रयाजानुयाज ऐष्टिक धर्मों की दृष्टिगोचरता लिङ्गत्व के कारण निर्दिष्ट हुआ करती है, अतएव सोम यज्ञीय कर्मानुष्ठान में ऐष्टिक धर्मों का अतिदेश नहीं होता॥ १०॥

**अब ऐन्द्राग्नि आदि में ऐष्टिक धर्म का जो अतिदेश होता है-इसके लिए आशङ्का करते हैं—**

**( १३९९ ) इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** इष्टिषु = इष्टियों-नैमित्तिक आदि में, दर्शपूर्णमासयोः = दर्श एवं पूर्णमास याग के धर्म की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** नैमित्तिक अदि इष्टियों में दर्शयाग के तथा पूर्णमास याग के धर्मों की प्रवृत्ति होती है। समस्त इष्टियाँ विध्यन्त की अपेक्षा वाली हुआ करती हैं। अब यहाँ आशङ्का यह है कि विध्यन्त दर्श-पूर्णमास का है? या सोमयाग का है?॥ ११॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—**

**( १४०० ) पशौ च लिङ्गदर्शनात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पशौ = पशु याग-अग्नीषोमीय में उक्त दर्शपूर्णमास के धर्मों की प्राप्ति होती है, लिङ्गदर्शनात् = क्योंकि प्रमाणपरक वाक्यों से यही दृष्टिगत है।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र का सार संक्षेप यह है कि लिङ्ग प्रमाण की दृष्टिगोचरता यह उपपन्न-सिद्ध करती है कि अग्नीषोमीय पशु याग में जिनमें पशुओं के दान का विहित होना प्राप्त है, उनमें दार्शपौर्णमासिक विध्यन्त की ही प्राप्ति हुआ करती है, सोम आदि की नहीं, ऐसा समझना युक्तियुक्त है॥ १२॥

**( १४०१ ) दैक्षस्य चेतरेषु॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** इतरेषु = अन्य पशुयागों में, च = भी, दैक्षस्य = दीक्षा से सम्बन्धित धर्मों की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कहना है कि सवनीय पशुयागों में भी (जिसमें विध्यन्त करके अग्नीषोमीय पशुओं का दान दिया जाता है, उसमें) उक्त अग्नीषोमीय पशुयाग के धर्मों की विद्यमानता पायी जाती है॥ १३॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने कहा कि ऐकादशिन पशुयाग में सवनीय पशुयाग के धर्मों का अतिदेश होता है—**

**( १४०२ ) ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकादशिनेषु = ऐकादशिन पशुयागों में, द्वैरशन्यस्यदर्शनात् = दो रस्सी रूप प्रमाण वाक्यों के होने से, सौत्यस्य = सौत्य का विध्यन्त के धर्मों का (सवनीय पशु के धर्मों का) अतिदेश होता है।

**व्याख्या—**'ऐकादशिनेषु' 'द्वे द्वे रशने परिव्ययति' इस दो-दो रस्सी रूप प्रमाण वाक्य के प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि ऐकादशिन पशुयाग में सवनीय पशुयाग के धर्मों की कर्त्तव्यता अतिदेश रूप में प्राप्त है॥ १४॥

**उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही आगे सूत्रकार ने बताया कि—**

**( १४०३ ) तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उसी उक्त ऐकादशिन के धर्मों की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, प्रतिपशु = प्रत्येक पशु याग में, यूपदर्शनात् = यूप का दर्शन प्राप्त होने से, गणेषु = पशुगणों में भी, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—**'यत् त्रिषु यूपेऽनालभेत, बहिर्धाऽस्मात् इन्द्रियं वीर्यं दध्यात् भ्रातृव्यमस्य जनयेत् एक यूपे आलभेत' सौत्रामणि याग में पठित उपर्युक्त वाक्य में एक यूप में दोष की अभिव्यक्ति किये जाने से, पशुगणों की प्रकृति अग्नीषोमीय याग की न होकर ऐकादशिन याग की है। इस कारण ऐकादशिन यागों का विध्यन्त पशुगणों में ही हुआ करता है, ऐसा समझना चाहिए॥ १५॥

**अव्यक्त याग में सोमयाग के धर्मों का अतिदेश होता है, अगले सूत्र में आचार्य यही बतलाते हैं—**

**( १४०४ ) अव्यक्तासु तु सोमस्य॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** अव्यक्तासु = जिन यागों में द्रव्य एवं देवता वाचक पद के द्वारा विधान की प्राप्ति न होती हो, उन अव्यक्त यागों में, सोमस्य = सोम याग के धर्मों का अतिदेश होता है।

**व्याख्या—** 'विश्वजिता यजेत' विश्वजित् याग के इस विधान में न तो देवता वाचक पद की अभिव्यक्ति की गई है और न ही द्रव्य वाचक पद की। अतएव ऐसे यागों में, सोम का विध्यन्त-सोमयाग के धर्मों का अतिदेश मान्य होता है॥ १६॥

**अगले सूत्र में कहा कि अहर्गण संज्ञक यागों में द्वादशाह याग के धर्मों का अतिदेश होता है—**

**( १४०५ ) गणेषु द्वादशाहस्य॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** गणेषु = अहर्गणों में, द्वादशाहस्य = द्वादशाह के धर्मों का अतिदेश प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** एक-एक दिन में सम्पन्न होने वाला याग अहर्गण तथा बारह दिनों तक चलने वाला द्वादशाह होता है। सूत्रकार ने कहा कि अहर्गण संज्ञक यागों में द्वादशाह के धर्मों का अतिदेश हुआ करता है॥ १७॥

**अगले सूत्र में यह बतलाया कि संवत्सर सत्र याग में गवामयन याग के धर्मों का अतिदेश प्राप्त है—**

**( १४०६ ) गव्यस्य च तदादिषु॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तदादिषु = संवत्सर साध्य याग में, गव्यस्य = गवामयन के धर्मों का अतिदेश प्राप्त है।

**व्याख्या—** संवत्सर पर्यन्त चलने वाले यागों में, संवत्सर साध्यत्व स्वरूप सामान्य धर्म प्राप्त होने के कारण, गवामयन याग के धर्मों का अतिदेश होता है॥ १८॥

**अब यह बतलाते हैं कि निकायि-यागों के धर्मों का अतिदेश उत्तर निकायि-यागों में होता है—**

**( १४०७ ) निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, निकायिनाम् = निकाय संज्ञक यागों में, पूर्वस्य = पूर्व की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, उत्तरेषु = उत्तर निकायि-यागों में, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—** संघात रूप से एक सुनिश्चित क्रम में आने वाले धर्मों का समूह निकाय कहलाता है। सामान्य लक्षणों द्वारा प्रथम साद्यस्क्र एवं प्रथम साहस्र संज्ञक याग की प्रवृत्ति द्वितीय साद्यस्क्र एवं द्वितीय साहस्र यागों में हुआ करती है। निकाय यज्ञों में पूर्वयज्ञ के धर्मों का अतिदेश बाद के यागों में होता है॥ १९॥

**इसी क्रम में फलों की प्रवृत्ति का न होना भी अगले तीन सूत्रों में बतलाते हैं—**

**( १४०८ ) कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्-बन्धनत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणः = सौर्य याग रूपी कर्मानुष्ठान की, अप्रवृत्तित्वात् = आकांक्षा अनुरूप प्रवृत्ति न होने से, तु = तो, फलनियमकर्तृसमुदायस्य = फल, नियम, कर्त्ता तथा समुदाय आदि का, तद्बन्धनत्वात् = प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होने से, अनन्वयः = फल आदि की प्रवृत्ति नहीं होती।

**व्याख्या—** सौर्य याग रूपी कर्म का 'फल' स्वर्ग है तथा इस याग का 'नियम' यह है कि आजीवन हवन कर्म करना। स्वर्गकामी पुरुष को 'कर्त्ता' एवं आग्नेय आदि याग षट्क को 'समुदाय' कहा जाता है। फल, नियम कर्त्ता एवं समुदाय इनकी प्रवृत्ति सौर्ययाग में नहीं होती; क्योंकि विकृति याग में आकांक्षा से रहित प्रधान याग (कर्म) का सम्बन्ध प्राप्त नहीं है। इसी कारण उसमें फल आदि की भी प्रवृत्ति नहीं होती॥ २०॥

**( १४०९ ) प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा यदि, प्रवृत्तौ = प्रवृत्ति होती हो, अपि = तो भी, तादर्थ्यात् = उसके पुरुषार्थ होने से वह सफल-फलयुक्त नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** धर्मों की प्रवृत्ति कर्म हेतु ही हुआ करती है। फल और नियम को भी पुरुष का ही उपकारक माना गया है। कर्म भी पुरुषार्थ है, पुरुष कर्मार्थ नहीं है तथा प्रधान कर्म भी फलार्थ ही हुआ करता है। अतएव उक्त सभी (चारों) की प्रवृत्ति याग में नहीं होती॥ २१॥

**( १४१० ) अश्रुतित्वाच्च॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अश्रुतित्वात् = शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध न होने से भी ऐसा ही है।

**व्याख्या—** जिन श्रुति वाक्यों द्वारा प्रधान का अतिदेश किया जाना प्रमाणित होता, ऐसे शास्त्रीय प्रमाणों का यहाँ सर्वथा अभाव होने से भी उपर्युक्त कथन उपपन्न सिद्ध होता है॥ २२॥

**अगले सूत्र में गुणकाम गोदोहन की प्रवृत्ति के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( १४११ ) गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** गुणकामेषु = गोदोहन आदि रूप आदि गुणों की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, आश्रितत्वात् = प्रणयनाश्रित होने के कारण, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'चमसेनापः प्रणयेत्, गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामः' इस वाक्य में गोदोहनाश्रित कर्म में प्रणयन की उपयोगिता का कथन किया गया है। गोदोहन के बिना प्रणयन का होना संभव नहीं। अतएव गोदोहन आदि की प्रवृत्ति प्रणयन में माननी उचित ही है॥ २३॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## ( १४१२ ) निवृत्तिर्वा कर्मभेदात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयुक्त है। कर्मभेदात् = चमस के क्रत्वर्थ होने तथा गोदोहन के पुरुषार्थ होने के कारण उत्पन्न भेद से ,निवृत्तिः = गोदोहन की निवृत्ति हो जाती है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कहना है कि कर्म का भेद प्राप्त होने से गोदोहन आदि की निवृत्ति हो जाया करती है। चमस का क्रत्वर्थ होना तथा गोदोहन का पुरुषार्थ होना, यही कर्म का भेद है और इस भेद के कारण गोदोहन का अतिदेश किया जाना उचित नहीं॥ २४॥

## ( १४१३ ) अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = तद्विकारत्व के न होने के कारण, क्रत्वर्थत्वात् = क्रत्वर्थ होने से विकृतियाग में खदिर आदि की, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, स्यात् = होनी चाहिए॥

**व्याख्या—**'खदिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' प्रस्तुत वाक्य का अर्थ है कि पराक्रम की कामना वाले को खदिर (खैर) की लकड़ी का यूप बनाना चाहिए। यहाँ पर तद्विकारत्व की प्राप्ति न होने से विकृति याग में क्रत्वर्थ खदिर की प्रवृत्ति होना संभव है; परन्तु गोदोहन के क्रत्वर्थ न होने से दोनों के मध्य प्रत्यक्ष भेद की प्राप्ति होने से यही सिद्ध होता है कि विकृति याग में उक्त गोदोहन का अतिदेश नहीं होता॥ २५॥

**सौर्य चक्र में अभिमर्शन रूप का विकल्प होता है, यह बतलाने के लिए आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

## ( १४१४ ) एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** अविभागः = सौर्य याग अविभक्त कर्मानुष्ठान है, चोदनैकत्वात् = प्रेरणा की एकता होने के कारण एक कर्मणि = एक कर्म, हि = ही, विकल्पः = विकल्प है।

**व्याख्या—** पौर्णमास यागों में हविष् का आसादन चतुर्होत्रा आदि मंत्रों के द्वारा एवं दर्श-अमावस्या याग में पञ्चहोत्रा आदि मन्त्रों से आसादन होता है- 'चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्यायाम्'। उक्त दोनों मन्त्रों में जो हविष् का आसादन विहित किया गया है, उसमें विकल्प माना जाना चाहिए। कारण यह कि दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में दो यज्ञों का अलग-अलग होना सुनिश्चित है; किन्तु सौर्ययाग जो कि विकृति याग है, इसमें ऐसा होना असम्भव है। अतः सौर्ययाग में किसी एक मन्त्र से विकल्प रूप में अभिमर्शन किया जाना चाहिए॥ २६॥

**अब सौर्य याग में आग्नेय याग के धर्मों के अतिदेश के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १४१५ ) लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—**लिङ्गसाधारण्यात् = दोनों ही स्थलों में लिङ्ग सामान्य होने से, विकल्पः = विकल्प होना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि सौर्ययाग में किसी प्रकार का कोई नियामक वाक्य, जिससे यह ज्ञात हो कि अमुक याग का ही विध्यन्त किया जाना चाहिए, प्राप्त नहीं है। अतएव उक्त दर्श-पूर्णमास के छः

यागों में से साधारणत: किसी भी याग का विध्यन्त किया जाना उचित है॥ २७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

**( १४१६ ) ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्वाद्विकारो हि॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** विकार: = सौर्ययाग-विकृतियाग को, पूर्ववत्वात् = प्रकृति याग के धर्मों की अपेक्षा होने के कारण (तथा), ऐकार्थ्यात् = देवता स्वरूप एकार्थता से युक्त होने से उक्त पूर्वपक्षी कथन सर्वथा अयुक्त हो जाता है, हि= क्योंकि, नियम्येत = ऐसे नियम की विधि-व्यवस्था है।

**व्याख्या—** विकृति यागों को प्रकृति के धर्मों की अपेक्षा रहा करती है। सौर्य याग भी विकृति याग है तथा एक देवता वाला याग है। अत: नियमानुसार सौर्ययाग में आग्नेययाग का विध्यन्त किया जाना सर्वथा युक्त है। कारण यह कि आग्नेय याग भी एक देवता के अर्थ वाला है॥ २८॥

**उपर्युक्त कथन में आशङ्का की अभिव्यक्ति करते हैं—**

**( १४१७ ) अश्रुतत्वान्नेति चेत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** अश्रुतत्वात् = एकत्व का सुना जाना नहीं होता, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का कहना है कि उक्त सौर्ययाग में एकत्व का श्रवण नहीं होता। सूर्य पद में अण् प्रत्ययपूर्वक सौर्य पद की उपपन्नता होती है, अत: उस तद्धित विग्रह वाक्य में एक वचन पुल्लिंग वाला नियम किया जाना सम्भव नहीं। 'सूर्यो देवता अस्य' सूर्य जिसका देवता है एवं 'सूर्यौ देवते अस्य' दो सूर्य जिनके देवता हैं, इस प्रकार से भी विग्रह होना युक्त है॥ २९॥

**इस आशङ्का का समाधान अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १४१८ ) स्याल्लिङ्गभावात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गभावात् = वाक्य शेष में लिङ्ग एकत्व की ही व्यवस्था, स्यात् = प्राप्त है।

**व्याख्या—** 'अमुमेव आदित्यं स्वेन भागधेयेन उपधावति' इस अर्थवाद वाक्य में सूर्य के अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले पद 'आदित्यम्' की प्रयुक्तता, एक वचन में होने से उक्त सौर्य याग का एक देवताक होना सिद्ध होता है॥ ३०॥

**( १४१९ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = उसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य मन्त्रों में भी एकत्व दृष्टिगत है।

**व्याख्या—** सूर्य स्वरूप देवता के एकत्व के अर्थ की अभिव्यक्ति निम्न मन्त्रों में भी दिखलायी पड़ती है- 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव:' एवं 'चित्रं देवानामुदगात्'। इस प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि एक देवताक सौर्य याग में आग्नेय याग (एकदेवताक) का विध्यन्त किया जाना सिद्धान्तत: उचित है॥ ३१॥

**अब आचार्य हवि एवं देवता दोनों के सन्निपात स्थल के सन्दर्भ में विवेचना करते हैं—**

**( १४२० ) विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** विप्रतिपत्तौ = विरोध की स्थिति होने पर, कर्मण: = कर्म के, तदुपाख्यत्वात् = अन्तरङ्ग होने से, हविषा = हविष्य के सादृश्य से, नियम्येत = विध्यन्त को नियमबद्ध किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** 'ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत् आग्नेयं पय:' इस प्रमाण वाक्य में विहित एकादश कपाल के पुरोडाश का देवता इन्द्र है एवं सान्नाय हविष् का देवता भी इन्द्र ही है। हवि की अपेक्षा देवता बहिरङ्ग है तथा कर्म अन्तरङ्ग होता है, साथ ही कर्म में हविष् दृष्ट एवं देवता अदृष्ट होता है; अतएव ऐसी स्थिति में हविष् की सदृशता से ही निर्णय किया जाना चाहिए॥ ३२॥

**कर्म का उक्त हवि से सम्बन्ध कथन करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किये—**

## ( १४२१ ) तेन च कर्मसंयोगात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तेन = उस हविष् के साथ, कर्मसंयोगात् = कर्म का संयोग प्राप्त है।

**व्याख्या—** उक्त यज्ञीय कर्म में हविष् का स्वरूप दिखलायी पड़ता है, अतएव हविष् को प्रधान माना गया है। अस्तु; विध्यन्त का निर्णायक हविष् को ही माना जाना चाहिए॥ ३३॥

## ( १४२२ ) गुणत्वेन देवताश्रुतिः॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** देवताश्रुतिः = याग में देवता का श्रवण, गुणत्वेन = गुणभूत होने से भी उक्त कथन सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात्' प्रत्यय जब अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है, तो प्रकृत्यर्थ सहित अन्वित होने पर ही स्व के अर्थ का कथन करता है। उक्त पद में इन्द्र एवं अग्नि उक्त प्रत्ययों की प्रकृति हैं और प्रकृति का अर्थ विशेषण रूप में तथा प्रत्यय का अर्थ विशेष्य रूप में स्वीकार किया जाता है। अतएव देवता का गौण होना एवं हविष् का प्रधान होना उपपन्न है। कारण यह कि हवन कर्म को देवता सम्पादित नहीं करते तथा उक्त हवन कर्म द्रव्य की आहुतियों से ही सम्पन्न होता है। इसलिए हवि सामान्य के बलवान् होने से, हविष् से ही विध्यन्त का निर्णय किया जाना युक्त है॥ ३४॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार हिरण्य में औषध धर्म के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १४२३ ) हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** तेजस्त्वात् = दोनों (स्वर्ण एवं आज्य) में तेजस्विता होने से, हिरण्यम् = कृष्णल (सुवर्ण के नन्हें-नन्हें शतकण) रूपी चरु में, आज्यधर्मः = आज्य के धर्मों का अतिदेश होता है।

**व्याख्या—** 'प्राजापत्यं धृते शत कृष्णलं चरुं निर्वपेत्' प्रजापति देवताक वाले याग में (सुवर्ण के छोटे-छोटे शत दानों को) शत कृष्णल को आहुति रूप में हवन करते समय पुरोडाश के धर्मों का अतिदेश न करके, आज्य के धर्मों का अतिदेश किया जाना युक्त है, ऐसा पूर्वपक्ष का कथन है॥ ३५॥

**उपर्युक्त कथन में युक्ति प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १४२४ ) धर्मानुग्रहाच्च॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, धर्मानुग्रहात् = धर्म का बाध न होने के कारण भी उक्त कथन उचित प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** हिरण्य (सुवर्ण) में भी आज्य के धर्मों का पाया जाना सम्भव है, जबकि पुरोडाश में वह असम्भव ही है। अतएव आज्य के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना युक्त है॥ ३६॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले तीन सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १४२५ ) औषधं वा विशदत्वात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** विशदत्वात् = कठिनत्वादि धर्म की समानता होने से, औषधम् वा = व्रीहि आदि औषधि के धर्मों का अतिदेश किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सुवर्ण में भी कठिनत्व स्वरूप धर्म की प्राप्ति होती है तथा व्रीहि आदि में भी। अतएव शत कृष्णल याग में आज्य हवि के धर्मों का अतिदेश नहीं; प्रत्युत व्रीहि आदि औषधि के धर्मों की प्रवृत्ति होनी चाहिए॥ ३७॥

## ( १४२६ ) चरुशब्दाच्च॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, चरुशब्दात् = चरु पद औषधि धर्म को प्राप्त कराने वाला है।

**व्याख्या—** 'चरु' पद की प्रयुक्तता औषधि आदि से विनिर्मित होने वाले द्रव्य के लिए प्राप्त होती है, आज्य

के लिए नहीं। कारण यह कि 'चरुं निर्वपेत्' वाक्य इस कथन में प्रमाण है। अतएव औषधि के लिङ्ग की सामर्थ्यता ही मान्य है, आज्य की नहीं, ऐसा समझना चाहिए॥ ३८॥

**( १४२७ ) तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तस्मिन् = उसमें (आज्य में), श्रपणश्रुतेः = श्रपण-दार्शपौर्णमासिक श्रपण सुना जाता है।

**व्याख्या—** श्रपण पद का व्यवहार आज्य में नहीं होता; किन्तु वह चरु के समीप होता है। इस प्रकार से यह उपपन्न होता है कि शत कृष्णल स्वर्ण याग में औषधि धर्मों का ही अतिदेश मान्य है॥ ३९॥

**अब अगले क्रम में सूत्रकार मधूदक में उपांशु याज के धर्मों के अतिदेश सम्बन्धी पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १४२८ ) मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** मधूदके = मधु (शहद) एवं उदक (जल) में, पयोविकारः = दूध के धर्मों का अतिदेश मानना चाहिए, द्रव्य सामान्यात् = क्योंकि दोनों में द्रव्यत्व रूप धर्मों के समान होने से यही मानना उचित है।

**व्याख्या—** 'दधिमधुघृतमापो धानाः तण्डुलाः तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' दही, मधु, घृत, पानी, धान एवं तण्डुल का मिश्रण प्राजापत्य देवताक हुआ करते हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि उक्त वाक्य में मधु तथा जल में द्रव्यत्व रूप समान धर्म के प्राप्त होने से (मधूदक में) दूध के धर्मों का अतिदेश होना चाहिए॥ ४०॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य ने सिद्धान्त का कथन किया—**

**( १४२९ ) आज्यं वा वर्णसामान्यात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** वर्णसामान्यात् = वर्ण सामान्य होने से, आज्यम् वा = आज्य के धर्मों की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

**व्याख्या—** वर्ण (रंग) की समानता होने के कारण मधूदक में आज्य के धर्मों की प्रवृत्ति होने से आज्यधर्मों का ही अतिदेश होना चाहिए॥ ४१॥

**( १४३० ) धर्मानुग्रहाच्च॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, धर्मानुग्रहात् = पय में आज्य के धर्मों का न देखा जाना भी प्रमाण है।

**व्याख्या—** आज्य के धर्मों का अधिकांश भाग मधूदक में दृष्टिगोचर होता है, जबकि पय के धर्मों (दोहनादि) का उसमें बाध हुआ करता है। अतएव उसमें आज्य के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना युक्त है॥ ४२॥

**( १४३१ ) पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्वस्य = पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत समानता, अविशिष्टत्वात्= सामान्य होने से घृत में भी पाया जाता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष ने जो पूर्व में यह हेतु प्रस्तुत किया कि द्रव्यत्व रूप समान धर्म दोनों में पाया जाता है। घृत को जब गरम किया जाता है, तब उसमें भी द्रव्यत्व उत्पन्न हो जाया करता है। अतएव सिद्धान्त के अनुसार मधूदक में आज्य के ही धर्मों का अतिदेश मानना चाहिए॥ ४३॥

**॥ इति अष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥**

# ॥ अथ अष्टमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**सूत्रकार ने प्रस्तुत द्वितीय पाद के पहले चार सूत्रों में वाजिन तथा सौत्रामणी याग में ऐष्टिक धर्मों का अतिदेश (प्रवृत्ति) उपपन्न करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

### (१४३२) वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ताच्छब्द्यात्॥ १॥

**सूत्रार्थ—** वाजिने = वाजिन, च = और, सौत्रामण्याम् = सौत्रामणी याग में, ताच्छब्द्यात् = उससे सम्बद्ध शब्द प्रयोग के कारण, ग्रहेषु = ग्रह संज्ञक यज्ञीय पात्र में, सोमपूर्वत्वम् = सोम के धर्मों का अतिदेश होता है।

**व्याख्या—** वाजिन याग में जो 'सोमो वै वाजिनम्' वाक्य, वाजिन द्रव्य तथा सोम के पृथक्-पृथक् होते हुए भी अपृथक्त्वता का कथन करता है। अतएव सोम के धर्मों का अतिदेश वाजिन द्रव्य में होना उपपन्न होता है। इसी प्रकार से 'सुरा वै सोमः' से सुरा में सोम के धर्मों की प्रवृत्ति भी उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर सिद्ध होती है॥ १॥

### (१४३३) अनुवषट्काराच्च॥ २॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अनुवषट्कारात् = अनुवषट्कार का प्रयोग भी सोम के धर्मों को अतिदेश करता है।

**व्याख्या—** अनुवषट्कार वाक्य है 'वाजिनस्याग्ने वीही' और अनुवषट्कार सोम का धर्म माना जाता है, इसीलिए वाजिन याग के लिए उसकी प्रयुक्तता होती है। अतएव यह सिद्ध होता है कि वाजिन याग में सोम के धर्मों की प्रवृत्ति होती है॥ २॥



### (१४३४) समुपहूय भक्षणाच्च॥ ३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, समुपहूय = समुपह्वानपूर्वक, भक्षणात् = सोम भक्षण के निर्देश से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'शेषं विभज्य समुपहूय भक्षयन्ति' यज्ञ शेष का विभाग कर समुपह्वानपूर्वक सोम का भक्षण करते हैं। समुपह्वानपूर्वक सोम का भक्षण किया जाना सोम का धर्म माना गया है। यहाँ भी उसी प्रकार से सोमभक्षण का निर्देश प्राप्त होने से उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है॥ ३॥

### (१४३५) क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनञ्च तद्वत्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** क्रयणः = क्रय, श्रपणः = पकाना, पुरोरुक् = पुरोरुक्, उपयामः = उपयाम, ग्रहणः = ग्रहण, आसादनः = आसादन, वासोपनहनञ्च = वस्त्र से बाँधना, तद्वत् = ये धर्म सुरा व सोम में समान हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रमाणों के समान क्रयण (क्रय), श्रपण, पुरोरुक् (ग्रह पात्र), उपयाम (ग्रह पात्र), ग्रहण, आसादन (यथास्थान रखना), वासोपनहन- ये समस्त धर्म जिस प्रकार से सुरा में होते हैं, वैसे ही सोम में भी प्राप्त होते हैं। अतएव वाजिन याग में एवं सौत्रामणी याग में सोम के धर्मों का अतिदेश होता है॥ ४॥

**अगले चार सूत्रों में आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष का प्रस्तुतीकरण किया—**

### (१४३६) हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** तद्विकारत्वात् = वाजिन एवं सौत्रामणी याग दर्श-पौर्णमासिक याग के विकार हैं, हविषा = अस्तु; हवि के सादृश्य से, नियम्येत वा = ऐष्टिक धर्मों का नियम मानना युक्त होगा।

**व्याख्या—** सुरा को औषधि का विकार माना गया है तथा सुरा एवं वाजिन द्रव्य को दर्श-पूर्णमास के हविष् का विकार बतलाया है। वाजिन को सान्नाय्य हवि का विकार कहा गया है। अतएव सोम के धर्मों की उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; प्रत्युत वाजिन आदि द्रव्यों में ऐष्टिक धर्मों का ही अतिदेश मानना युक्त है॥ ५॥

### (१४३७) प्रशंसा सोमशब्दः॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** सोमशब्दः = 'सोमो वै सुरा' वाक्य में सोम पद का अर्थ मात्र, प्रशंसा = स्तुति ही है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में आगत 'सोमो वै सुरा' वाक्य में प्राप्त उक्त सोम पद विध्यर्थ का वाचक न होकर प्रशंसा का वाचक है, ऐसा ही मानना उचित है॥ ६॥

**( १४३८ ) वचनानीतराणि॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** इतराणि = उससे इतर अन्य, वचनानि = वाक्य भी अभिव्यक्तक हेतु ही विद्यमान है।

**व्याख्या—** द्रव्य की सदृशता-समानता के आधार पर उनके ऐष्टिक, विध्यन्त की उपपन्नता के कारण उससे भिन्न अन्य धर्मों का विधान भी अन्य वाक्यों द्वारा विहित किया गया है॥ ७॥

**( १४३९ ) व्यपदेशश्च तद्वत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = उसी प्रकार के प्रमाण से प्राप्त, व्यपदेशः = व्यपदेश वैसा ही होता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त प्रमाणों से प्राप्त व्यपदेश भी उसी के समान हुआ करता है। 'शष्पैरेव दीक्षणीयामाप्नोति' 'तोक्मभिः प्रायणीयाम्' इन वचनों में प्रयुक्त 'शष्प' एवं 'तोक्म' पद भी स्तावक पद हैं॥ ८॥

**( १४४० ) पशुपुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पशुपुरोडाशस्य = पशुओं के पुरोडाश का निषेध है, लिङ्गदर्शनात् = क्योंकि ऐष्टिक धर्मों का अतिदेश में लिङ्ग होने से (यही उपपन्न होता है)।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य- 'नैतेषां पशूनां पुरोडाशा विद्यन्ते। ग्रहपुरोडाशा ह्येते पशवः' में पशुओं के पुरोडाश के रूप में ग्रहों (ग्रह पात्रों) का कथन प्राप्त है, उस कथन से ग्रहों की प्रशंसा की गई है, जो कि ऐष्टिक धर्मों के अतिदेश का लिङ्ग है, ऐसा समझना चाहिए। अतएव उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि उक्त वाजिन एवं सौत्रामणी याग में सौमिक धर्मों का विध्यन्त न होकर, ऐष्टिक धर्मों का ही विध्यन्त है॥ ९॥

**पशुयाग में सान्नाय धर्म के सन्दर्भ में सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( १४४१ ) पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** पशुः = पशुयाग, देवतासामान्यात् = देवता समान होने से, पुरोडाशविकारः = पुरोडाश के धर्म वाला, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत पशुओं में तथा पुरोडाश में विहित देवता समान हैं। अस्तु; यही उचित है कि पशुओं में पुरोडाश के विधान के अनुरूप ही विध्यन्त किया जाये॥ १०॥

**( १४४२ ) प्रोक्षणाच्च॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रोक्षणात् = प्रोक्षण का श्रवण होने से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** प्रोक्षण पुरोडाश का धर्म है। पशु के प्रोक्षण हेतु है- 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि (जल और ओषधियों से स्नेहपूर्वक प्रोक्षण करता हूँ) इस प्रमाण वाक्य से भी पशु में पुरोडाश के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना प्राप्त होता है॥ ११॥

**( १४४३ ) पर्यग्निकरणाच्च॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पर्यग्निकरणात् = पर्यग्निकरण भी प्रमाण है।

**व्याख्या—** पुरोडाश का एक धर्म पर्यग्निकरण (हवि के चारों ओर अंगारे को तीन बार घुमाना) भी है, जिसकी प्राप्ति पशुयाग में भी होती है। इसका उल्लेख शबर स्वामी ने भी अपने भाष्य में किया है- 'उल्मुकेन पशुं पर्यग्निं करोति'। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि पशुयाग पुरोडाश का विकार है॥ १२॥

**अब अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १४४४ ) सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात्॥ १३ ॥**

**सूत्रार्थ—** (पशुयाग में) सान्नाय्यम् वा = सान्नाय्य हवि के धर्मों की कर्त्तव्यता विहित है, तत्प्रभवत्वात् = कारण यह कि उस सान्नाय्य हवि की उत्पत्ति पशु से है।

**व्याख्या—** सान्नाय्य हवि का तात्पर्य दही एवं दूध के सम्मिश्रण से है। दूध की उत्पत्ति का हेतु गाय आदि पशु है तथा दूध का विकार दही कहलाता है। इसी कारण अग्नीषोमीय पशुयाग में सान्नाय हविष् के धर्मों की प्रवृत्ति माननी चाहिए; क्योंकि प्रत्यासन्न (समीपता) की सामर्थ्य से यही उपपन्न होता है॥ १३ ॥

**उक्त कथन में युक्ति बतलाते हैं—**

**( १४४५ ) तस्य च पात्रदर्शनात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तस्य = पशु सम्बन्धी, पात्रदर्शनात् = पात्र का दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** जैसे सान्नाय हवि को विनिर्मित करने की तरह ही पशु के लिए (चारा-पानी आदि के लिए) भी पात्र का होना अनिवार्य है। अतएव सान्नाय धर्म ही पशुयाग में कर्त्तव्य है॥ १४॥

**पशुयाग में पय के धर्मों का अतिदेश होना उपपन्न करने के लिए अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १४४६ ) दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात्॥ १५ ॥**

**सूत्रार्थ—** मूर्तिसामान्यात् = घनत्व सामान्य धर्म के होने से, दध्नः = दही के धर्म का अतिदेश, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** दही तथा पशु दोनों में घनत्व सामान्य धर्म के प्राप्त होने से सान्नाय धर्म वाले पशुयाग में दधि के धर्मों का अतिदेश मानना उचित है॥ १५ ॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( १४४७ ) पयो वा कालसामान्यात्॥ १६ ॥**

**सूत्रार्थ—** कालसामान्यात् = सद्यः कालता की समानता से, पयः वा = दूध के धर्म का अतिदेश पशु से होता है।

**व्याख्या—** सद्यः काल रूप धर्म की विद्यमानता पशु तथा पय में एक समान होती है। वैसे भी दही की तुलना में दूध ही पशु के अधिक समीप है, अतएव पशु में दूध के ही धर्मों का अतिदेश मानना युक्त है॥ १६ ॥

**( १४४८ ) पश्चानन्तर्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पशुः = पशु का पय से, आनन्तर्यात् = आनन्तर्य होने से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** गौ से सर्वप्रथम दूध की उत्पत्ति होती है, उसके कुछ काल के पश्चात् ही दही बनता है। इसलिए दूध की आनन्तर्यता दही की तुलना में अधिक होने से भी उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥ १७॥

**( १४४९ ) द्रवत्वं चाविशिष्टम्॥ १८ ॥**

**सूत्रार्थ—** द्रवत्वम् = दोनों में द्रवत्व, अविशिष्टम् च = समान होने से भी उक्त कथन ठीक है।

**व्याख्या—** पशु एवं पय दोनों में समान रूप से द्रव्यत्व धर्म विद्यमान है; इस समानता के कारण यही सिद्ध होता है कि सान्नाय्य धर्म वाले पशुयाग में दूध के ही धर्मों का अतिदेश होता है॥ १८॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार आमिक्षा में पयोधर्म के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १४५० ) आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात्॥ १९ ॥**

**सूत्रार्थ—** आमिक्षा = आमिक्षा की उत्पत्ति, उभयभाव्यत्वात् = दूध एवं दधि दोनों के सम्मिश्रण से होने के कारण उसमें, उभयविकारः = दोनों (दूध के एवं दही के) धर्मों की कर्त्तव्यता, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'आमिक्षा' द्रव्य की उत्पत्ति दूध और दही दोनों के समागम से होती है; इसलिए 'वैश्वदेव्यामिक्षा'

वाक्य के विधान के अनुरूप सम्पादित होने वाले याग में दूध एवं दही दोनों के धर्मों का अतिदेश होना चाहिए॥ १९॥

**( १४५१ ) एकं वा चोदनैकत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** चोदनैकत्वात् = एक ही प्रेरक विधि होने से, एकम् वा = एक के धर्म का अतिदेश किया जाना युक्त है।

**व्याख्या—** उक्त याग में दोनों का (दूध का एवं दही का) विध्यन्त न मानकर एक के ही विध्यन्त का मानना उचित प्रतीत होता है। कारण यह कि एकाकी के धर्म का अतिदेश आकांक्षा विहीन होने से उससे अन्य दूसरे का विध्यन्त भी अनपेक्षित एवं अनावश्यक हो जाता है। इसलिए एक का ही विध्यन्त मानना चाहिए॥ २०॥

**( १४५२ ) दधिसंघातसामान्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** संघातसामान्यात् = घनत्व (घनीभाव के ) रूप धर्म के दोनों में समान होने के कारण, दधि = दही के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** आमिक्षा द्रव्य एवं दधि द्रव्य दोनों में घनत्वरूप धर्म की समानता पाये जाने से ही उपर्युक्त वाक्य 'वैश्वदेव्यामिक्षा' से विहित याग में दधि के धर्म कर्त्तव्य हैं, ऐसा मानना चाहिए॥ २१॥

**पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगले दो सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—**

**( १४५३ ) पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रधानत्वात् = दूध के प्रभाव से ही आमिक्षा की उत्पत्ति होने के कारण, पयः वा = पय-दूध के ही धर्मों का अतिदेश होना उचित है, लोकवत् = लोक प्रचलन में है, तदर्थत्वात् = दही बनाने के लिए, दध्नः = थोड़ा सा दही दूध में डाला जाता है।

**व्याख्या—** फटे हुए दूध का छेना जैसा कठिन भाग 'आमिक्षा' कहलाता है तथा उससे पृथक् पानी वाला भाग 'वाजिन'। दूध के द्वारा बनी आमिक्षा में दूध के धर्मों का अतिदेश होता है, दधि के धर्मों का नहीं। 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा' वाक्य में विहित आमिक्षा याग में पयोयाग के ही धर्मों का अतिदेश होना उपपन्न होता है॥ २२॥

**( १४५४ ) धर्मानुग्रहाच्च॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, धर्मानुग्रहात् = सद्यः कालता होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** शबर स्वामी ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है- 'सद्योभावं च दर्शयति जुषन्तं युज्यं पयः'। 'वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य में विहित वैश्वदेव याग सद्यः काल याग है। इसलिए आमिक्षा में पय-दूध के धर्मों का ही अतिदेश होना चाहिए, दधि के धर्मों का नहीं॥ २३॥

**द्वादशाह में सत्र एवं अहीन के विधानानुरूप धर्म के सन्दर्भ में अगले सूत्र में पूर्वपक्ष करते हैं—**

**( १४५५ ) सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** सत्रम् = सत्र, च = तथा, अहीनः = अहीन (दोनों संज्ञाओं से युक्त), द्वादशाहः = द्वादशाह याग में, ऐककर्म्यात् = एक कर्म्यता की प्राप्ति दोनों में होने से, उभयथा = दोनों प्रकार की , प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** द्वादशाह का तात्पर्य उस याग से है, जिसकी पूर्णता बारह दिनों में होती है। सत्र एवं अहीन दोनों उसके अङ्ग हैं, एक ही कर्म के साथ संयुक्त हैं, इसीलिए पूर्वपक्षी की मान्यता है कि दोनों के धर्मों का अतिदेश द्वादशाह में होना उचित है॥ २४॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से अगले सूत्र में आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( १४५६ ) अपि वा यजति श्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात्॥ २५ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, प्रकृत्या = द्वादशाह स्वरूप प्रकृति के साथ, तुल्यशब्दत्वात् = समान शब्द होने के कारण, यजति श्रुतेः = यजति पद का श्रवण जहाँ पर होता हो, अहीनभूतप्रवृत्तिः = वहाँ पर अहीन धर्मों की प्रवृत्ति, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'प्रजाकामं याजयेत्' प्रकृतिभूत याग द्वादशाह में पठित इस वाक्य में 'यजति' पद का श्रवण प्राप्त है। विकृति याग में भी 'यजति' पद का श्रवण होता है- 'य एवं विद्वान् द्विरात्रे यजेत'। अतएव सत्र एवं अहीन दोनों के धर्मों का अतिदेश द्वादशाह में नहीं, प्रत्युत अहीन के धर्म अहीन में तथा सत्र के धर्मों की प्रवृत्ति सत्र में होती है, यही मानना औचित्यपूर्ण है॥ २५॥

**अहीन का स्वरूप स्पष्ट करने के भाव से अगले सूत्र में आचार्य ने कहा—**

**( १४५७ ) द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजति चोदनात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** यजति चोदनात् = यजति पद से विहित होने से, द्विरात्रादीनाम् = द्विरात्रि आदि यागों से लेकर, एकादशरात्रात् = एकादशरात्र पर्यन्त यागों को, अहीनत्वम् = अहीन कहा जाता है।

**व्याख्या—** यजति पद से- (द्विरात्रेण यजेत, त्रिरात्रेण यजेत) जहाँ-जहाँ पर याग का विधान प्राप्त होता हो, वहाँ-वहाँ अहीन याग के धर्मों की प्रवृत्ति समझनी चाहिए। इसके अतिरिक्त 'उपेयुः' एवं 'आसीरन्' पद के द्वारा जहाँ-जहाँ यज्ञीय विधान प्राप्त होता हो, वहाँ-वहाँ 'सत्र' याग के धर्मों का अतिदेश मानना चाहिए। यथा- 'त्रयोदशरात्रमृद्धिकामा उपेयुः' एवं 'चतुर्दशरात्रं प्रतिष्ठाकामा आसीरन्'॥ २६॥

**अब अगले दो सूत्रों में सत्र याग का स्वरूप समझाते हैं—**

**( १४५८ ) त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायिचोदनात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** त्रयोदशरात्रादिषु = त्रयोदशरात्र आदि याग में, सत्रभूतः = सत्र याग के धर्मों की प्रवृत्ति होती है, आसनोपायिचोदनात् = आसन और उपाय पद की प्रयुक्तता होने के कारण (ऐसा उपपन्न होता है)।

**व्याख्या—** त्रयोदशरात्र संज्ञक याग के प्रकरण में पठित उक्त वाक्य (त्रयोदशरात्रमृद्धिकामा उपेयुः) में याग का विधान 'उपेयुः' पद से किया गया है, जिससे उक्त याग, सत्र की संज्ञा से युक्त होकर सत्रयाग कहलाता है। इन यागों में (त्रयोदशरात्र आदि यागों में) सत्र के धर्मों का अतिदेश होता है॥ २७॥

**( १४५९ ) लिङ्गाच्च॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गात् = प्रमाण के प्राप्त होने से भी त्रयोदशरात्र याग सत्रयाग ही होते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कहना है कि 'अग्निष्टोमो वै प्रजापतिः स उत्तरानेकाहानसृजत। तमेतं द्विरात्रादयोऽहर्गणा ऊचुः त्वमस्मान्मा हासीः' अर्थवाद वाक्य यह प्रमाणित करता है कि द्विरात्र आदि याग अहीन धर्म वाले तथा त्रयोदश रात्र आदि याग सत्र धर्म वाले होते हैं॥ २८॥

**पंचदशरात्र तथा कुण्डपायिनामयन में सत्रयाग के धर्मों का अतिदेश होता है, यही सिद्ध करने के उद्देश्य से अगले दो सूत्रों में आचार्य ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( १४६० ) अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** पञ्चदशरात्रस्य = पञ्चदशरात्र की संज्ञा वाले याग, च = और, कुण्डपायिनामयनम् = कुण्डपायिनामयन संज्ञक याग में, अहीनत्वम् = अहीनयाग के धर्मों का अतिदेश होता है, अन्यतरतः = अन्यतर आदि एवं बीच के एक देश में,अतिरात्रत्वात् = अतिरात्र संज्ञक यज्ञ होने से,तद्भूतेषु = अतिरात्र भूतों

में, अहीनत्वस्य दर्शनात् = अहीनत्व धर्म का श्रवण (दर्शन) होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन यह है कि पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन संज्ञक याग में अहीन याग के धर्मों का अतिदेश होता है; क्योंकि उक्त दोनों यागों में से एक याग के अन्त में अतिरात्र नामक यज्ञ का सम्पन्न होना प्राप्त होता है। 'यदन्यतरतोऽतिरात्रास्तेनाहीना:' इस वाक्य रूप प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि जिसके अन्त में उक्त अतिरात्र संज्ञक याग किया जाता है, वही याग अहीन याग के धर्म से युक्त होते हैं॥ २९॥

### (१४६१) अहीनवचनाच्च॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अहीनवचनात् = 'अहीन' ऐसे स्पष्ट वाक्य से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** 'यदन्यतरतोऽति रात्रास्तेनाहीना:' वाक्य में 'अहीन' पद की प्रत्यक्ष विद्यमानता से भी यही सिद्ध होता है कि पंचदशरात्र तथा कुण्डपायिनामयन याग अहीन याग के धर्म वाले हैं॥ ३०॥

**उक्त पूर्वपक्ष के परिहरार्थ सूत्रकार अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त बतलाते हैं—**

### (१४६२) सत्रे चोपायिदर्शनात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** च = यह पद, यहाँ पर सिद्धान्त का सूचक है। उपायिदर्शनात् = सत्र में 'उपायि' पद के व्यावहारिक रूप से विहित होने के कारण, सत्रे = उपर्युक्त दोनों ही याग सत्र याग हैं, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त दोनों पञ्चदशरात्र एवं कुण्डपायिनामयन याग सत्र धर्म वाले हैं, इसकी उपपन्नता सत्र याग के प्रकरण में पठित इस वाक्य 'पञ्चदशरात्रमुपेयु:' से हो जाती है। इस वाक्य में वैधानिक रूप से 'उपेयु:' पद का प्रयोग होने से सत्र याग के ही धर्मों का उनमें अतिदेश होना प्राप्त होता है॥ ३१॥

### (१४६३) सत्रलिङ्गं च दर्शयति॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सत्रलिङ्गम् = सत्र का प्रमाण भी, दर्शयति = यही दर्शाता है कि पञ्चदशरात्रादि सत्र हैं।

**व्याख्या—** 'गृहपति: सुब्रह्मण्य:' यह प्रमाण 'कुण्डपायिनामयन' याग के अन्तर्गत सत्र के लिङ्ग के रूप में प्राप्त होता है। 'गृहपति' पद का व्यावहारिक प्रयोग सत्र याग में ही किया जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पञ्चदशरात्र आदि यागों में अहीन के धर्मों का नहीं, प्रत्युत सत्र याग के धर्मों का अतिदेश है॥ ३२॥

## ॥ इति अष्टमाध्यस्य द्वितीय: पाद:॥

# ॥ अथ अष्टमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**आचार्य तृतीय पाद के शुभारम्भ में शुचि देवता में आग्नेय के धर्मों का तथा आग्नावैष्णव में अग्नीषोमीय याग के धर्मों का अतिदेश कथन करने के उद्देश्य से पाद के पहले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १४६४ ) हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** हविर्गणे = हविर्गण में, देशसामान्यात् = देश की समानता होने के कारण, उत्तरस्य = उत्तर (अग्नीषोमीय) का, परम् = पर (शुचि) देवता- (पूर्व-पूर्व का) विकार होता है।

**व्याख्या—** 'आग्नावैष्णवम् एकादशकपालं निर्वपेत् सारस्वतं चरुम् बार्हस्पत्यं चरुम्' इस प्रमाण वाक्य में उक्त हविर्गण का श्रवण प्राप्त है तथा प्रमाण वाक्य 'अग्नये पावकाय अग्नये शुचयेऽष्टाकपालम्' के द्वारा अन्यगण का आग्नेय होना विहित है। प्रकरण में आग्नावैष्णव का पाठ पहले किये जाने से तो यही सिद्ध होता है कि वह आग्नेय याग का विकार है और शुचि देवताक का श्रवण उसके पश्चात् से उसे अग्नीषोमीय का विकार माना जाना उपपन्न है। कारण यह कि जो याग जिसका विकार होता है, उस याग के धर्मों का उसमें अतिदेश होता है॥ १ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया—**

## ( १४६५ ) देवतया वा नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** शब्दवत्वात् = देवता में शब्दत्व होने से तथा, इतरस्य = उससे भिन्न किसी भी नियम के, अश्रुतत्वात् = श्रूयमाण न होने से, देवतया वा = देवता से ही, नियम्येत = नियम का बन्धन होता है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि देवता की सदृशता होने से नियम का बन्धन- अनुशासन प्राप्त है, ऐसा समझना चाहिए। आग्नावैष्णव और अग्नीषोमीय ये दोनों ही द्विदेवताक हैं। शुचि देवताक एवं आग्नेय इन दोनों के एक देवताक होने से शुचि देवताक को आग्नेय याग का विकार मानना युक्त है। अतएव देवता साम्य शाब्दिकता के प्राप्त होने से पूर्वपक्ष में कथित देश सामान्य का उक्त कथन अनुपपन्न हो जाता है। अतः सिद्धान्त के अनुसार आग्नावैष्णव याग में अग्नीषोमीय के तथा शुचि देवताक में आग्नेय याग के धर्मों का अतिदेश है॥ २ ॥

**अगले क्रम में सूत्रकार जनक सप्तरात्र में एवं त्रिवृत् अहन् में द्वादशाह के धर्मों का अतिदेश कथन करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( १४६६ ) गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** गणचोदनायाम् = गण यागों के विधान में, यस्य = जिन त्रिवृत्व आदि, लिङ्गम् = लिङ्गों का कथन है, आग्नेयवत् = वे आग्नेय विध्यन्त की भाँति, तदावृत्तिः = पहले अह्न की आवृत्ति, प्रतीयेत = प्रतीत होते हैं।

**व्याख्या—**'अग्नये पवमानाय, अग्नये पावकाय अग्नये शुचये' वाक्य में जैसे आग्नेय का विध्यन्ताभ्यास होता है, वैसे ही जनक सप्तरात्र में जो गण का विधान किया गया है, उस विधान में पहले अह्न की आवृत्ति की ही प्रतीति होती है॥ ३ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने हेतु सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त का कथन किया—**

## ( १४६७ ) नानाहानि वा संघातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गेन चोदनात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** नाना अहानि = नाना प्रकार के अह्नों का विधान से, संघातत्वात् = यागों के गुणों का संघात होने से तथा, प्रवृत्तिलिङ्गेन चोदनात् वा = प्रवृत्तिलिङ्ग के द्वारा विहित होने से।

**व्याख्या—** संघात स्वरूप यागों का जो गुण होता है, उस गुण से पृथक्-पृथक् अह्नों के जो धर्म बतलाये गये

हैं, उन्हीं का अतिदेश होता है। सप्तरात्र याग में अतिदेश के द्वारा प्रवृत्त होने वाले द्वादशाह से सम्बन्धित चार अह्न हैं, उन चारों अह्नों को अनूदित करके त्रिवृत् का होना सम्भव है। त्रिवृत्व का विधान संघात में प्राप्त है। अतएव उनमें द्वादशाह याग के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना उचित है॥ ४॥

## ( १४६८ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अन्यार्थदर्शनम् = अन्यार्थ दर्शन से भी, तथा = उक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** उक्त त्रिवृत् अह्नों में द्वादशाह के ही धर्मों का अतिदेश होता है, इसकी सिद्धि में अन्यार्थ दर्शन भी प्रमाण है। 'तेषामग्निष्टोमः प्रथमः' इस वाक्य में अग्ष्टिोम में प्रथमत्व का कथन प्राप्त है। उक्त त्रिवृत् अह्नों में पृथक् धर्मत्व की प्रतीति होती है, जिन धर्मों का विधान पहले वाले अह्न में प्राप्त है, उसी की आवृत्ति अन्य अह्नों में की जाती है, यही समझना युक्तियुक्त है। अतः यह प्रमाण भी उक्त अर्थ को उपपन्न करता है॥ ५॥

**षट्त्रिंशत् रात्र में षडह के धर्मों का अतिदेश बतलाने के भाव से सूत्रकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

## ( १४६९ ) कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** बादरिः = आचार्य बादरि का मत है कि, कालाभ्यासे = काल के अभ्यास का श्रवण, अपि = भी कहीं-कहीं प्राप्त होता है, कर्मभेदात् = कर्म का भेद होने से वहाँ भी द्वादशाह्निकों की ही प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** षडह पद के अन्तर्गत षट् पद के द्वारा अहः नामक यज्ञ का कथन इस वाक्य में— 'षडहा भवन्ति चत्वारो भवन्ति'। उनका कथन-पुनः चार गुना किये जाने से चौबीस की संख्या से युक्त अह्नों के समूह में उनका पर्यवसान हो जाया करता है। अह्नों के समूह की प्रकृति द्वादशाह होने से षडह नामक याग में द्वादशाह के ही धर्मों का अतिदेश किया जाना चाहिए, ऐसा आचार्य बादरि का कथन है॥ ६॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त रूप में पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—**

## ( १४७० ) तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** अह्नाम: = अह्नों की, अप्रत्यक्षसंख्यत्वात् = प्रत्यक्ष संख्या न होने के कारण, तु =तो, तदावृत्तिः = वह (षडहरूपी) कर्म की आवृत्ति है, जैमिनिः = ऐसी आचार्य जैमिनि की मान्यता है।

**व्याख्या—** आचार्य जैमिनि का मन्तव्य यह है कि छह दिनों में अनुष्ठित होने वाले कर्म का ही षडह पद से कथन किया गया है। उसमें जो २४ दिन का समय लगना माना गया है, वह छः की ही आवृत्ति है; अतएव उक्त षडह संज्ञक कर्म विशेष का ही विध्यन्त मानना औचित्यपूर्ण है॥ ७॥

**ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में द्वादशाहिक धर्म के अतिदेश के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १४७१ ) संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** संस्थागणेषु = संस्थागणों में, कृतलक्षणग्रहणात् = कृत संज्ञक ज्योतिष्टोम का ग्रहण होने से, तदभ्यासः = ज्योतिष्टोम की ही, प्रतीयेत = प्रतीति समझनी चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम की संस्था वाले सभी यागों- संस्थागणों में ज्योतिष्टोम के ही अभ्यास की प्रतीति होने से उनमें ज्योतिष्टोम का ही विध्यन्त प्राप्त होता है; क्योंकि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अग्निष्टोम आदि सभी के ज्योतिष्टोम संज्ञक होने से यही उपपन्न होता है॥ ८॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १४७२ ) अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** तद्विशिष्टा = उक्थ्य आदि विशिष्ट संस्थाओं में, प्रकृतिः = द्वादशाह से सम्बन्धित अह्नों के धर्मों का अतिदेश, स्यात् =होता है, अधिकारात् = अधिकार प्राप्त होने से, अभिधानस्य = एवं उक्थ्य आदि यज्ञीय

संस्थाओं के, तन्निमित्तत्वात् वा = उस संस्था के ही निमित्त होने से उन्हें ज्योतिष्टोम का अभिधायक नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** विधि-विधानपूर्वक प्रकृति को तद्विशिष्ट माना जाता है। उक्त अग्निष्टोम आदि अभिधान संस्था के निमित्त हैं, न कि ज्योतिष्टोम के अभिधायक। उक्थ्य, षोडशी आदि स्तोत्र हैं। जिस यज्ञीय कर्मानुष्ठान का समापन जिस स्तोत्र से किया जाता है, वह कर्म (यज्ञ) उसी स्तोत्र के नाम से अभिहित होता है। अत: द्वादशाह के अन्तर्गत अह्नों में संघत्व रूप लिङ्ग के कारण द्वादशाह का ही विध्यन्त मानना चाहिए॥ ९॥

**शतोक्थ्य आदि में ज्योतिष्टोम के द्वारा स्तोत्रों में उपचय के सन्दर्भ में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( १४७३ ) गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = शतोक्थ्य की, प्रकृतित्वात् = प्रकृति द्वादशाह के समान होने से, गणात् = द्वादशाह के गण के नाते, उपचय: = उपचय (मन्त्र विस्तार) के धर्मों की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि 'शतोक्थ्यं भवति' वाक्य के अन्तर्गत उक्थ्य संज्ञक स्तोत्र में, ज्योतिष्टोम याग के उक्थ्य में से बहुसंख्यक धर्मों का आम्नात होना प्राप्त है और द्वादशाह के गण होने से उक्त धर्मों की प्राप्ति गणों में से ही की जाती है; क्योंकि शतोक्थ्य की प्रकृति द्वादशाह के समान ही हुआ करती है॥ १०॥

**इस पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( १४७४ ) एकाहाद्वा तेषां समत्वात्स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** एकाहात् वा = धर्मों की प्राप्ति ज्योतिष्टोम में से ही करनी होती है। तेषाम् = उनमें-शतोक्थ्य एवं द्वादशाह अह्न में पारस्परिक, समत्वात् = समानता होने से यही उपपन्न, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** द्वादशाह गण ज्योतिष्टोम के विकार हैं तथा शतोक्थ्य स्तोत्र को भी विकृति ही माना गया है। इसलिए शतोक्थ्य में सभी की प्रकृतिभूत भाग में ज्योतिष्टोम के द्वारा ही धर्मों की उपलब्धि की जाती है। 'न भिक्षुको भिक्षुकं याचते अभिक्षुके सति' लोक व्यवहार में प्रचलित इस न्याय के अनुसार शतोक्थ्य ज्योतिष्टोम से ही धर्म के वृद्धि की याचना करता है, द्वादशाह से नहीं, ऐसा समझना चाहिए॥ ११॥

**गायत्री का आगम उपपन्न करने के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( १४७५ ) गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रकृत्यधिकारात्संख्यात्वादग्निष्टोमवदव्य-तिरेकात्तदाख्यत्वम्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** गायत्रीषु = गायत्रियों में, प्राकृतीनाम् = प्रकृतियाग के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों के, अवच्छेद: = अक्षरों का लोप किया जाना तथा, प्रकृत्यधिकारात् = प्रकृति के विधान का अधिकार होने से, संख्यात्वात् = गायत्री छन्द में अक्षरों की संख्या चौबीस होने से तथा, अव्यतिरेकात् = इस संख्या का नित्य सम्बन्ध होने से, अग्निष्टोमवत् = अग्निष्टोम के अनुरूप, तदाख्यत्वम् = वह छन्द गायत्री नामक है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि प्रकृतियों में सुने जाने वाले त्रिष्टुप् तथा जगती आदि छन्दों में से (त्रिष्टुप् में ४४ अक्षर होते हैं, उसमें से २० अक्षरों का लोप करके) कुछ अक्षरों का लोप करके गायत्री छन्द का निर्माण कर लेना चाहिए। गायत्री छन्द को नवीन गायत्री के रूप में वेद में से लाने की क्या आवश्यकता है? जैसे पूर्व के अधिकरण में अग्निष्टोम के अन्तर्गत द्वादशाहिक अह्नों में उक्थ्य आदि का लोप बतलाया गया है, वैसे ही गायत्री छन्द बनाकर उसके द्वारा बृहस्पति सव का सम्पादन कर लिया जाना चाहिए॥ १२॥

**( १४७६ ) तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पृथक् सतीषु = गायत्री की अपेक्षा से भिन्न-पृथक् संख्या वाची त्रिष्टुप् तथा जगती आदि

में, नित्यवत् = नित्य संख्या का वाचक, तद्वचनम् = वह गायत्री वाक्य ही है।

**व्याख्या—** गायत्री वचन २४ शब्द की संख्या का ही वाचक है, ऐसा पूर्वपक्ष वादी का कथन है। जगती संज्ञक छन्द में ४८ अक्षर होते हैं, अतएव दो गायत्री छन्द मिलकर (२४×२ = ४८) एक जगती छन्द बनता है- 'ये हि द्वे गायत्र्यौ सैका जगती'। यही पूर्वपक्ष का भी मानना है॥ १३॥

**उक्त कथन में आशङ्का स्थापित करते हैं—**

**( १४७७ ) न विंशतौ दशेति चेत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** विंशतौ = बीस की संख्या में जैसे, दशः = दस की संख्या समाहित है, वैसे ही जगती छन्द में गायत्री छन्द भी समाया हुआ है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, न = तो यह उचित नहीं।

**व्याख्या—**आशङ्कावादी का मानना यह है कि जिस प्रकार से बीस की संख्या में दस की संख्या समाहित है, वैसे ही अड़तालीस अक्षर वाले जगती छन्द में चौबीस अक्षर वाला गायत्री छन्द भी समाहित है। अतएव जिस कर्म में गायत्री की अपेक्षा हो, वहाँ जगती में से चौबीस अक्षरों का लोप करके वहाँ प्राप्त हुए छन्द को गायत्री छन्द बनाना इसलिए आवश्यक नहीं; क्योंकि उसमें गायत्री समाहित है। यदि ऐसा कहा जाये, तो ?॥ १४॥

**उक्त आशङ्का का निवारण अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १४७८ ) ऐकसंख्यमेव स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकसंख्यम् = एक संख्या का, एव = ही सुनिश्चित निर्धारण, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आशङ्कावादी की मान्यता अनौचित्य पूर्ण है। यदि उक्त कथन को माना जाये, तो उसके अनुसार एक संख्या में ही समस्त संख्याओं का समावेश मानना उपपन्न हो जायेगा, जो अभीष्ट नहीं होगा॥ १५॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य ने उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के भाव से सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( १४७९ ) गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** गुणात् वा = गुण होने से, असर्वविषयत्वात् = सर्वविषयक न होने से, द्रव्यशब्दः = द्रव्य शब्द (२४ अक्षर) से युक्त, स्यात् = गायत्री ऋचा का वाचक है।

**व्याख्या—** गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों वाली ऋचा का वाचक है। गायत्री शब्द को यदि मात्र संख्या का ही वाचक माना जाता है, तो उसका प्रयोग चौबीस घंटे हैं, चौबीस गायें हैं, ऐसा भी प्राप्त होता; जबकि ऐसा नहीं है। अतएव गायत्री शब्द को संख्या का वाचक न मानकर ऋचा का ही वाचक मानना न्यायोचित है॥ १६॥

**( १४८० ) गोत्ववच्च समन्वयः॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गोत्ववत् = जैसे 'गौ' पद गमन क्रिया से सम्बद्ध किसी पशु के लिए हो सकता है, किन्तु उस पद का भाव गाय से ही मान्य है, समन्वयः = वैसे ही गायत्री छन्द का समन्वय ऋग्वेद के वचनों में ही हुआ करता है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि जैसे 'गौ' शब्द गमन अर्थ वाले समस्त पदार्थों का वाचक सिद्ध नहीं होता; किन्तु गलकम्बल-सास्ना आदि से युक्त गौ आदि में ही समन्वित होता है, वैसे ही गायत्री शब्द भी चौबीस अक्षर वाले ऋग्वेदीय ऋचा में ही समन्वित होता है, ऐसा मानना चाहिए॥ १७॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त संख्या को शब्दत्व से युक्त होना बतलाते हैं—**

**( १४८१ ) संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संख्यायाः = चौबीस की संख्या वाचक, शब्दवत्वात् = शब्द के प्राप्त होने से यही सिद्ध होता है कि उक्त संख्या शब्दवान् है।

**व्याख्या**— गायत्री छंद के सन्दर्भ में जब चौबीस की संख्या का कथन करने वाला चतुर्विंश शब्द विद्यमान है, तब पुनः उसी संख्या का निर्धारण गायत्री शब्द से करना आवश्यक नहीं॥ १८॥

**ऋग्वेद की ऋचाओं को ही गायत्री कहते हैं, यही बतलाने के लिए ही अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## (१४८२) इतरस्याश्रुतित्वाच्च॥ १९॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, इतरस्य = ऋक् रूप ऋचा के, अश्रुतित्वात् = अश्रुति वचन होने से संख्या का शब्दत्व उपपन्न होता है।

**व्याख्या**— ऋग्वेद की ऋचाओं से जो इतर हैं, उनके श्रुति-प्रमाण न होने से भी गायत्री की सार्थकता सिद्ध होती है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में संख्या का उल्लेख न होने से गायत्री ऋचाओं का आगम मानना उचित है॥ १९॥

**इसी क्रम में, उक्थ्य का लोप किया जाना आवश्यक होता है, यह बतलाते हैं—**

## (१४८३) द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ**— द्रव्यान्तरे = अग्निष्टोम शब्द का अन्य द्रव्य में, अनिवेशात् = निवेश न होने के कारण, उक्थ्यलोपे = उक्थ्य का लोप होने की स्थिति में ही, विशिष्टम् = विशिष्ट अग्निष्टोम की संज्ञा, स्यात् = होती है।

**व्याख्या**— अग्निष्टोम शब्द का किसी भी अन्य द्रव्य में निवेश न होने से यह मात्र अग्निष्टोमान्तता का ही बोधक है। उक्थ्य का लोप किये बिना द्वादशाहिकों की अग्निष्टोमान्तता उपपन्न नहीं होती। अग्निष्टोम संज्ञक साम के द्वारा याग का समापन किये जाने से 'अग्निष्टोम' की विशिष्ट संज्ञा होती है॥ २०॥

**त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों से गायत्री का बोध नहीं हो सकता, इस हेतु सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र प्रस्तुत किया—**

## (१४८४) अशास्त्रलक्षणत्वाच्च॥ २१॥

**सूत्रार्थ**— च = तथा, अशास्त्रलक्षणत्वात् = लक्षणों का अभाव होने से उक्थ्य द्वारा गायत्री का बाध संभव नहीं।

**व्याख्या**— गायत्री का शास्त्र लक्षण होना सिद्ध है। इसलिए शताग्निष्टोम में उक्थ्य स्तोत्र शास्त्र के लक्षण न होने से उनके द्वारा गायत्री का बाध किया जाना असम्भव है, ऐसा समझना चाहिए॥ २१॥

**अगले सूत्र में 'द्वे गायत्रौ' आदि वाक्य में गायत्री शब्द का प्रयोग गौण बतलाया है—**

## (१४८५) उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ**— उत्पत्तिनामधेयत्वात् = ऋचा का नाम गायत्री है, ऐसा स्वभाव सिद्ध होने से, भक्त्या = गौणी वृत्ति से, पृथक् सतीषु = जगती आदि में गायत्री शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या**— 'द्वे गायत्र्यौ एका जगती' में यहाँ जगती के साथ जो गायत्री का प्रयोग किया गया है, वह गौणी वृत्ति से किया प्रयोग है, ऐसा समझना चाहिए। जगती छन्द के चौबीस-चौबीस अक्षरों के लिए प्रयुक्त गायत्री शब्द प्रमुखतः चौबीस अक्षर वाली गायत्री ऋचा के लिए ही व्यवहृत है॥ २२॥

**उक्त कथन में आशङ्का की अभिव्यक्ति करते हैं—**

## (१४८६) वचनमिति चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ**— वचनम् = विधिवाक्यों में संख्या मूलक गायत्री है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या**—'द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां वैशस्य क्रियते जगत्यैवं कृतं भवति' अर्थात् 'दो गायत्रियों के द्वारा वैश्य के कर्म सम्पादित होते हैं, एक जगती से कार्य की सम्पन्नता होती है।' इस वाक्य के आधार पर दो गायत्री (२४+२४) एवं एक जगती (४८ अक्षर) समान हैं। इस उक्त विधान में लक्षणावृत्ति (गौण वृत्ति) से प्रयोग होना सर्वथा अयुक्त है॥ २३॥

**उक्त आशङ्का का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( १४८७ ) यावदुक्तम्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** यावदुक्तम् = समस्त प्रकार की वृत्तियों से प्रयोग सम्भव है।

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का उक्त कथन ठीक नहीं, करण यह कि एक ही स्थान पर उसका अर्थवाला होना उपपन्न होता है, एक से अधिक स्थलों पर नहीं। अतएव समस्त वृत्तियों से प्रयोग किया जाना संभव है॥ २४॥

**उक्त विवेचन के क्रम में ही सूत्रकार ने कहा—**

**( १४८८ ) अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि संख्याविधानम्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, यदिसंख्याभिधानम् = गायत्री शब्द का विधान यदि संख्या में मानें, अपूर्वे = तो प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास में, विकल्पः = गायत्री का विकल्प मानना, स्यात् = होगा।

**व्याख्या—** उक्त संख्या में यदि गायत्री शब्द का विधान स्वीकार किया जाता है, तो प्रकृतिभूत याग दर्श-पौर्णमास में गायत्री का विकल्प भी स्वीकार करना पड़ेगा। उक्त प्रकरण में प्राप्त 'जगत्यापरिदध्यात्' वाक्य के पाठ के अनन्तर ही 'गायत्र्या परिदध्यात्' भी पठित है। अतएव इससे भी उक्त संख्या का विधान अमान्य हो जाता है॥ २५॥

**अगले सूत्र में सन्देह की अभिव्यक्ति करके समाधान का भी कथन करते हैं—**

**( १४८९ ) ऋग्गुणत्वान्नेति चेत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** ऋग्गुणत्वात् = ऋचाओं का गुण होने से विकल्प की प्राप्ति है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** ऋग्गुण का तात्पर्य गायत्रीत्व से है, जिसे ऋचा विशेष का गुण कहा जाता है। अतएव जगती छन्द का सम्पूर्ण भाग ही ऋग्गुणों से युक्त है, अतएव गायत्री से ही परिधान किया जाना उचित है तथा इसमें गायत्री का विकल्प मानना युक्त नहीं। कारण यह कि ऋचाओं का गुण उपसंगृहीत होता है॥ २६॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने कहा कि उक्त प्रमाण के द्वारा बृहस्पतिसव में भी ऋक् के ही धर्म होते हैं—**

**( १४९० ) तथा पूर्ववति स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही (अपूर्व के समान), पूर्ववति = पूर्ववान् बृहस्पतिसव में भी ऋक् का ही धर्म, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** विकृतिभूत याग बृहस्पतिसव में भी ऋक् गान किया जाना ज्ञात है। प्रकृतिभूत याग ज्योतिष्टोम में किया जाने वाला गान ऋचाओं के अन्तर्गत ही गाया जाता है, इसलिए गायत्री छन्दों में ही गान सम्पादित होना चाहिए॥ २७॥

**सर्वत्र चौबीस संख्या की समाविष्टता का कथन करने के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १४९१ ) गुणावेशश्च सर्वत्र॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गुणावेशः = गुण चौबीस संख्या का सर्वत्र समावेश होना प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कहना है कि गायत्री शब्द को चौबीस संख्या का वाचक मानने की स्थिति में तो जहाँ चौबीस ग्रह पात्र हों, तो वहाँ गायत्री ग्रह कहा जायेगा, २४ ग्रह नहीं, किन्तु ऐसा व्यावहारिक प्रयोग प्राप्त न होने से यही सिद्ध होता है कि गायत्री चौबीस की संख्या का वाचक नहीं, प्रत्युत चौबीस अक्षरों वाले ऋक् मन्त्र का वाचक है॥ २८॥

**आशङ्का की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( १४९२ ) निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** निष्पन्नग्रहणात् = गायत्री शब्द का ग्रहण रूढ़ि रूप में होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** गायत्री में अक्षरों की गिनती करने में जो चौबीस की संख्या का रूढ़ि होना प्राप्त है, उसी का प्रयोग ग्रह संज्ञक यज्ञ पात्रों में भी किया जाना चाहिए, यदि ऐसा माना जाये, तो ?॥ २९॥

**उक्त आशङ्का का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( १४९३ ) तथेहापि स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रमाण के अनुसार, इह = यहाँ पर, अपि = भी, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** ऋक् के अतिरिक्त किन्हीं अन्य स्थलों पर किसी भी पदार्थ के लिए गायत्री शब्द का व्यवहार प्राप्त नहीं होता। अतएव चौबीस अक्षर की संख्या से युक्त ऋग्वेद की ऋचा को ही गायत्री का रूप मानना न्यायोचित है॥ ३०॥

**समाधान के उक्त क्रम में सूत्रकार ने पुनः कहा—**

**( १४९४ ) यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छरेष्वपि प्रसिद्धः स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** अविशये = गायत्री शब्द विषय से भिन्न अर्थ, यदि वा = यदि माने तो, प्रकृत्युपबन्धात् = अतिदेश शास्त्र के अनुग्रह से, नियमः = नियमानुसार, शरेषु अपि प्रसिद्धः स्यात् = बर्हि (कुश) में भी शर शब्द कल्पित करना होगा।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि अतिदेश शास्त्र के अनुग्रह के कारण असंशय की स्थिति में भी यदि अगायत्री में गायत्री की कल्पना की जाती है, तो 'शरमयं बर्हिर्भवति' वाक्य के न्याय से वहाँ कुशों में शर की कल्पना भी आवश्यक रूप से करनी पड़ेगी। अतिदेश वाक्य की प्राप्ति पाठ रूप में शबर स्वामी के भाष्य में है- 'प्रकृत्युपबन्धात् अगायत्र्यां गायत्री शब्दः कल्प्यते'॥ ३१॥

**उक्त कथन में आशङ्का की अभिव्यक्ति करने के उद्देश्य से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १४९५ ) दृष्टः प्रयोग इति चेत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगः = गायत्री में २४ का प्रयोग, दृष्टिः = दृष्टिगत है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** गायत्री से २४ अक्षर युक्त पद मान्य है तथा जगती छन्द का निर्माण चौबीस +चौबीस अक्षरों से मिलकर होता है। अतएव अगायत्री छन्द में भी गायत्री की शब्द प्रयुक्तता का अनुमान किया जाना संभव है और ऐसे ही कुश शब्द का व्यवहार में शर में होना सम्भव है॥ ३२॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—**

**( १४९६ ) तथा शरेष्वपि॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे उसी प्रकार (उक्त प्रमाण द्वारा) शरेषु = शर शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है।

**व्याख्या—** 'शरवणेदं हि कुशावनम्' यह शरवण ही निश्चित रूप से कुशवन है। इस प्रकार से शर शब्द का प्रयोग भी कुश के अर्थ में दृष्टिगत है॥ ३३॥

**उक्त कथन में आशङ्का बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( १४९७ ) भक्त्येति चेत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** भक्त्या = शर शब्द का प्रयोग लक्षणावृत्ति से होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का कहना है कि 'शरणवेदं हि कुशवनम्' में शरवण में कुशवन शब्द की प्रयुक्तता

लक्षणावृत्ति से की गयी है, यदि ऐसा कहा जाये, तो यह उचित है॥ ३४॥

**उक्त आशङ्का का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( १४९८ ) तथेतरस्मिन्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही, इतरस्मिन् = अन्य स्थलों में भी समझना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता का मानना है कि 'शरवणेदं हि कुशवनम्' के न्याय से यदि शरवण में कुशवन शब्द के प्रयोग को लक्षणा (गौण) वृत्ति से किया गया प्रयोग माना जाता है, तो 'द्वै गायत्र्यौ सैका जगती' वाक्य में प्रयुक्त गायत्री शब्द के प्रयोग को भी गौण वृत्ति से किया गया प्रयोग मानना होगा। इस प्रकार से यही सिद्ध होता है कि गायत्री शब्द का प्रधान अर्थ ऋक् की ऋचाओं में ही चरितार्थ होता है न कि संख्या के अर्थ में॥ ३५॥

**अगले क्रम में पाद का अन्तिम सूत्र प्रस्तुत कर प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं—**

**( १४९९ ) अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थस्य = अर्थ की, असमाप्तत्वात् = समाप्ति न होने के कारण, तासाम् = प्रकृतिगत त्रिष्टुप्, जगती आदि के, एकदेशे = एक भाग में गायत्री शब्द का प्रयोग, न = नहीं, स्यात् = होता।

**व्याख्या—** अक्षरों का लोप हो जाने पर शेष बचे शब्दों के द्वारा सुचारु रूप से शब्दबोध का हो पाना सम्भव नहीं। जगती, त्रिष्टुप् आदि छन्दों में से अक्षरों का लोप कर उसे गायत्री छन्द बनाने पर शब्दों का अपूर्ण अर्थ प्राप्त होगा। इसीलिए उनके एक अंश में गायत्री शब्द का प्रयोग नहीं होता। अतएव चौबीस अक्षरों वाली ऋग्वेद की ऋचाओं- मन्त्रों को ही गायत्री मन्त्र के रूप में ग्रहण किया जाना युक्त है॥ ३६॥

**॥ इति अष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥**

# ॥ अथ अष्टमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**चतुर्थ पाद के शुभारम्भ में दर्विहोम से सम्बन्धित प्रथम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५०० ) दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** दर्विहोमः = दर्विहोम को, यज्ञाभिधानम्= याग की संज्ञा दी गई है, होमसंयोगात् = होम का संयोग होने से यही उपपन्न है।

**व्याख्या—** दर्वि के साथ होम शब्द संयुक्त है तथा यह सम्बन्ध अभेदपूर्ण है। इस कथन की सिद्धि में 'यदेकया जुहुयात् दर्विहोमं कुर्यात्' यह वाक्य प्रमाण है। अतएव दर्विहोम का याग होना सिद्ध हो जाता है॥ १ ॥

**दर्विहोम के प्रसङ्ग में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १५०१ ) स लौकिकानां स्यात् कर्त्तुस्तदाख्यत्वात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** तदाख्यत्वात् = उक्त दर्विहोम के साथ, कर्तुः = कर्त्ता का स्मरण होने से, सः = वह (दर्विहोम), लौकिकानाम् = लौकिक कर्मों का नामधेय, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** जिस कर्म का सम्पादन जो मनुष्य करता है, वह उस कर्म का नामधेय हो जाता है- अन्न काटने वाला लावक, पंखा झलने वाला पावक, इसी प्रकार से दर्विहोम करने वाला दार्विहोमिक कहलाता है। 'शिनीनां दार्वि होमिको ब्राह्मणः, अम्बष्ठानां दार्विहोमिको ब्राह्मणः'। इस वाक्य में दार्विहोमिक ब्राह्मण का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होने से दार्विहोम का लौकिक कर्म होना सिद्ध है॥ २ ॥

**अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५०२ ) सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** वास्तुहोमे = वास्तुहोम में, दर्शनात् = दृष्टिगोचर होने से, सर्वेषाम् वा = दर्विहोम लौकिक एवं वैदिक सभी कर्मों की संज्ञा है।

**व्याख्या—** दर्विहोम मात्र लौकिक कर्म ही नहीं, वैदिक कर्म भी है। उपर्युक्त वाक्य 'यदेकया जुहयाद् दर्विहोमं कुर्यात्' के द्वारा जहाँ उसके लौकिक होने का कथन प्राप्त होता है, वहीं एक अन्य वाक्य 'पुरोवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवत्वात्' में याज्या के द्वारा होम का विधान दर्विहोम को वैदिक कर्म सिद्ध करता है। अतएव लौकिक तथा वैदिक दोनों ही कर्मों को दर्विहोम की संज्ञा प्राप्त है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३ ॥

## ( १५०३ ) जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** जुहोति चोदनानाम् = विधान वाक्य में जुहोति शब्द होने से, तत्संयोगात् = दर्वि के साथ होम शब्द का संयोग है।

**व्याख्या—** होम तथा याग दोनों के अर्थ एक दूसरे से भिन्न हैं। होम के अन्तर्गत अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। याग (यज्ञ) का तात्पर्य यजति-यजन करने से है, प्रस्तुत वाक्य यही बतलाता है- 'प्रक्षेपाङ्गकोद्देशत्यागरूपक्रियाद्वयवृत्तिजातेः यागत्वात् उद्देशत्याग-प्रक्षेपात्मकक्रियात्रयवृत्तिजातेः होमत्वाच्च'। अतएव यह सिद्ध होता है कि दर्विहोम की संज्ञा होम है, याग नहीं॥ ४॥

**प्रस्तुत प्रसङ्गान्तर्गत अगले क्रम में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( १५०४ ) द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्रव्योपदेशात् = दर्विपद से होम रूप द्रव्य का उपदेश होने से, गुणाभिधानम् = यहाँ पर गुणविधि ही, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** दर्विहोम में तृतीया तत्पुरुष समास है- दर्व्या होमः दर्विहोमः। इस तत्पुरुष समास द्वारा दर्विरूप

द्रव्य से होम किया जाना प्राप्त होने से उक्त दर्विहोम शब्द गुणविधि का सूचक है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले चार सूत्रों में करते हैं—**

**( १५०५ ) न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त पूर्वपक्ष का कथन युक्त नहीं, लौकिकानाम् = क्योंकि लौकिकों के, आचारग्रहणत्वात् = आचार का ग्रहण होने से ही दर्वि का ग्रहण होता है, च = तथा, शब्दवताम् = जितने श्रौत होम (कर्म) हैं, अन्यार्थविधानात् = उनके लिए भी अन्य होमार्थ पात्र विहित किये गये हैं।

**व्याख्या—** स्मार्त होम में लौकिक आचार से दर्वि का ग्रहण किया जाता है— 'न्वग्बिलया मूल दण्डया दर्व्या जुहोति' (नीचे बिलवाली मूल में दण्डवाली दर्वि से होम करता है)। परन्तु श्रौत कर्मों में तो होमार्थ अन्य ही पात्र विहित हैं- स्रुवेण जुहोति आदि। अतएव दर्वि होम को गुणविधि कहना उचित नहीं॥ ६॥

**( १५०६ ) दर्शनाच्चान्यपात्रस्य॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अन्य = अन्य, पात्रस्य = पात्र का, दर्शनात् = दर्शन होने से भी;

**व्याख्या—** उक्त दर्विहोम में अन्य यज्ञ पात्रों की दृष्टिगोचरता यह सिद्ध करती है कि दर्विहोम गुणविधि नहीं है। 'भूतेभ्यस्त्वा' कहकर अपूर्वस्रुवा का स्मरण किया जाना उक्त कथन में हेतु है॥ ७॥

**( १५०७ ) तथाग्निहविषो:॥ ८॥**



**सूत्रार्थ—** तथा = वैसे ही, अग्निहविषो: = अग्नि एवं हविष् का स्थानापन्न दर्वि को मानना अनुचित है।

**व्याख्या—**'यदाहवनीये जुहोति' वाक्य आधार के रूप में आहवनीय अग्नि का विधान करता है और प्रदेय रूप में पुरोडाश के विधान का भी अभाव है। इसलिए हविष् एवं अग्नि के कार्य में दर्वि का निवेश नहीं होता; अत: दर्वि को गुण विधान मानना भी उचित नहीं॥ ८॥

**( १५०८ ) उक्तश्चार्थऽसम्बन्ध:॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थसम्बन्ध: = अर्थ का सम्बन्ध, उक्त: = कहा भी गया है।

**व्याख्या—** दर्वि का उपदेश अग्नि के कर्म में किया जाना सम्भव नहीं; अग्नि के कर्म हैं- दहन, पाचन एवं प्रकाशन और इसे द्रव्य कर ही नहीं सकता। अतएव दर्विहोम शब्द गुणविधि न होकर होम का ही वाचक है॥ ९॥

**उक्त दर्वि होम अपूर्वकर्म है, इस हेतु से सूत्रकार अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( १५०९ ) तस्मिन्सोम: प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मिन्= उसमें- उक्त दर्विहोम में, सोम: = सोम के धर्मों की, प्रवर्त्तेत = प्रवृत्ति होनी चाहिए, अव्यक्त्वात् = क्योंकि अव्यक्त रूप समानता के होने से यही मानना उचित है।

**व्याख्या—** सोमयाग की तरह दर्विहोम में भी अव्यक्त विधि ही है। इस समानता के कारण दर्विहोम में सौमिक धर्मों की ही प्रवृत्ति माननी युक्ति-युक्त प्रतीत होती है॥ १०॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५१० ) न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** स्वाहाकारेण = क्योंकि उसमें स्वाहाकार के साथ, संयोगात् = संयोग प्राप्त होने से, तन्त्रे = तथा सोमादि तन्त्र में, वषट्कारस्य = वषट्कार का, च = भी, निर्देशात् = निर्देश प्राप्त होने से, तेन = उसके साथ, विप्रतिषेधात् वा = विरोध होने से, न = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** 'पृथिव्यै अन्तरिक्षाय स्वाहा' वाक्य के अनुसार दर्विहोम का स्वाहाकार से संयुक्त होना प्राप्त है। सोमयाग में वषट्कार का निर्देश प्राप्त होने से उक्त स्वाहाकार का वषट्कार के साथ विरोध प्राप्त होता है;

इसलिए दर्विहोम अपूर्व कर्म है, यही मानना युक्त है॥ ११॥

**( १५११ ) शब्दान्तरत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दान्तरत्वात् = शब्दान्तर प्रयोग प्राप्त होने से भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** 'सोमेन यजेत' में यजति पद के प्रयोग द्वारा सोम का विधान प्राप्त है, जबकि दर्विहोम में वह विधान 'जुहोति' पद से किया गया है। इसलिए शब्दान्तर-पृथक्-पृथक् शब्दों के प्राप्त होने से भी दर्विहोम में 'सौमिक धर्मों' की प्रवृत्ति होनी संभव नहीं॥ १२॥

**उक्त कथन के ही पक्ष में एक और हेतु बतलाते हैं—**

**( १५१२ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग के देखे जाने से भी उक्त कथन उपपन्न है।

**व्याख्या**- 'घृतेन द्यावापृथिवी आपृणेथाम्' आदि वाक्य में औदुम्बर्या जुहोति का कथन करके औदुम्बरी होम में स्वाहाकार का लिङ्ग दृष्टिगत होना बताया है- 'आमूलादवस्त्रावयति भूमिगते स्वाहा'। जुहोति पद से विधान किये गये उक्त दर्वि होम में यदि सौमिक विध्यन्त होता, तो 'भूमिगते स्वाहा' का प्रयोग न करके वषट्कार का विधान किया जाता। इससे भी यह सिद्ध होता है कि दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त नहीं होता॥ १३॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५१३ ) उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिर्लिंङ्ग-दर्शनात्पशुवत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** उत्तरार्थः = प्रकृति भिन्न के लिए, तु = तो, स्वाहाकारः = स्वाहाकार का विधान उसी प्रकार से है, यथा = जैसे, साप्तदश्यम् = साप्तदश्य वाचक मित्रविंदादि विकृतियाग में, तत्र = उसमें, अविप्रतिषिद्धा = सौमिक धर्म की प्रवृत्ति का प्रतिषेध न होकर, पुनः प्रवृत्ति = दुबारा-फिर से प्रवृत्ति होती है, लिङ्गदर्शनात् = जैसे कि लिङ्गभूत वाक्य के देखे जाने से, पशुवत् = पशुदेयक याग में पुनर्प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** स्वाहाकार विधि-व्यवस्था उत्तरार्थ - विकृतियाग के लिए बतलाई गई है। प्रमाण के आधार पर 'स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविर्दीयते' स्वाहाकार द्वारा वषट्कार में अवरोधित दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में सन्निविष्टता नहीं होती, अपितु स्वाहाकार श्रूयमाणस्थल में ही समापन-उपसंहार होता है। अतएव उक्त प्रमाण वाक्य से सोम के धर्मों की प्राप्ति में प्रतिषेध नहीं होता तथा ऐसे ही स्वाहाकार की विधि-व्यवस्था रहते हुए भी सोम के धर्मों का विरोध न होने से उक्त दर्विहोम में सोम के धर्मों की प्राप्ति उपपन्न हो जाती है॥ १४॥

**उक्त आक्षेप का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५१४ ) अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राकृतस्योपरोधः स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** अनुत्तरार्थः वा = स्वाहाकार विधि प्रकृति भिन्न के लिए नहीं है, हि = क्योंकि, आनर्थक्यात् = साप्तदश्य की आनर्थक्यता से, प्राकृतस्य = प्राकृत का, उपरोधः = विरोध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि अनर्थक होने के कारण उक्त स्वाहाकार विधि प्रकृति भिन्न के लिए (उत्तरार्थ) नहीं है। आनर्थक्यता के प्राप्त होने से प्राकृत प्रकृतिगत वषट्कार का बाध-उपरोध हो जाया करता है। अतएव यही मानना न्यायोचित है कि उक्त स्वाहाकार विधि उत्तरार्थ नहीं, प्रत्युत मात्र विकृति के लिए ही है और उक्त दर्विहोम में सौमिक की प्राप्ति नहीं होती॥ १५॥

**अगले सूत्र में पुनः आक्षेप की स्थापना करते हैं—**

**( १५१५ ) न प्रकृतावपीति चेत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = नारिष्ठ आदि प्रकृतिभूत याग में, अपि = भी, न = स्वाहाकार का सन्निवेश मानना उचित नहीं, इति चेत्= यदि ऐसा कहा जाये, तो ?

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित 'द्व्यक्षरो वषट्कार:, एष वै प्रजापति:, सप्तदशो यज्ञेऽन्वायत्त:' इस वाक्य के अनुसार अनुवषट्कार विधि-विधान के प्रकरण से वषट्कार की सन्निविष्टता नारिष्ठ आदि होम में भी प्राप्त होती है और इसी कारण इनमें (नारिष्ठ होम में) स्वाहाकार का निवेश नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

व्यक्त आशङ्का का निवारण सूत्रकार अगले चार सूत्रों में करते हैं—

## ( १५१६ ) उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥ १७ ॥

**सूत्रार्थ—** उक्तम् = पूर्व में कहा जा चुका है कि जिन-जिन स्थलों में श्रुत्यादि का, समवाये = समवाय होता है वहाँ, पारदौर्बल्यम् = 'पर' का दौर्बल्य प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** सूत्र-'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण- स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' में यह कहा गया है कि श्रुत्यादि का समवाय जहाँ-जहाँ प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ 'पर' का दौर्बल्य होना सुनिश्चित है। उक्त नियमानुसार वषट्कार की प्राप्ति से, वाक्य द्वारा प्राप्त स्वाहाकार की प्राप्ति अपेक्षाकृत अधिक सामर्थ्यवान् होती है। वैसे भी प्रकरण की अपेक्षा वाक्य को बलवान् माना गया है- 'वाक्यं च प्रकरणाद् बलीय:'। इस हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि उक्त दर्विहोम अपूर्व कर्म है तथा इसीलिए उसमें सोम के धर्मों की प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

## ( १५१७ ) तच्चोदना वेष्टे: प्रवृत्तत्वाद्विधि: स्यात् ॥ १८ ॥

**सूत्रार्थ—** तच्चोदना = प्रेरक वाक्यों के अनुसार, इष्टे: = दर्श-पूर्णमास इष्टि में, प्रवृत्तत्वात् = उसके प्रवृत्त होने से, विधि: = विधि-व्यवस्था की प्राप्ति, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—** प्रकरण में स्थित जिस विधि-विधान के द्वारा अनेकों इष्टियाँ उपकृत होती हैं, उस विधि से अग्निहोत्र भी उपकृत ही होगा। अतएव उक्त नारिष्ठ आदि के जो धर्म हैं, उनकी प्रवृत्ति दर्विहोम में भी होनी चाहिए तथा अग्निहोत्रादि में भी। अतएव दर्विहोम का अपूर्व कर्म होना उपपन्न नहीं होता ॥ १८ ॥

## ( १५१८ ) शब्दसामर्थ्याच्च ॥ १९ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शब्दसामर्थ्यात् = शब्द की सामर्थ्यता से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'जुहोति' शब्द से - 'नारिष्ठाञ्जुहोति' एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' में विधि की समानता होने से अग्निहोत्र में नारिष्ठोम के धर्मों की प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

## ( १५१९ ) लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २० ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् =लिङ्गभूत वाक्य के प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास में किये गये कथन के अनुसार परिधि एवं अन्तर्वेदि सांगप्रधान कर्म के अङ्ग हैं। यह उक्त कथन उक्त दोनों को (परिधि एवं अन्तर्वेदि को) नारिष्ठ होमों का अङ्ग होना भी सिद्ध करता है। प्रमाण परक वाक्य-'मध्यमेन पूर्णेन द्यावापृथिव्यया ऋचा अन्त: परिधिं निनयेत्', द्वारा अग्निहोत्र में नारिष्ठ के धर्मों की प्राप्ति का कथन किया गया है। इस प्रकार से एक अन्य वाक्य से भी यही बतलाया गया है-'अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्राणि जुहोति'। उक्त सभी प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि अग्निहोत्र (दर्विहोम) में नारिष्ठ के धर्मों की प्राप्ति है ॥ २० ॥

उपर्युक्त उत्थापित अन्य पक्ष का प्रतिषेध करने के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

## ( १५२० ) तत्राभावस्य हेतुत्वाद्गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥ २१ ॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उसमें-वहाँ, अभावस्य = अभाव का कथन, हेतुत्वात् = हेतु रूप से किया गया है, गुणार्थे =

गुण प्रधान के लिए होने के कारण इध्म बर्हिष् आदि गुणों के भावों की प्राप्ति, स्यात् = होनी चाहिए, अदर्शनम् = इसलिए साधक नहीं है।

**व्याख्या—** प्रवृत्ति प्रतिज्ञा वाक्य- 'अप्रतिष्ठिता वै त्र्यम्बकाः। नेध्माबर्हिःसंनह्यते न प्रयाजा इज्यन्ते, नानुयाजा इज्यन्ते, न सामिधेनीरन्वाह' में नारिष्ठ होम के गुणों का प्राप्त न होना बतलाया है। अतएव यही सिद्ध होता है कि दर्विहोम में नारिष्ठ होम के धर्मों की प्रवृत्ति नहीं होती॥२१॥

**उक्त कथन में आशङ्का के भावों की अभिव्यक्ति करते हैं—**

## (१५२१) विधिरिति चेत्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** विधिः = यह विधि इध्मादि की निषेधक-प्रतिषेधक विधि है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** उपर्युक्त गुणों की अप्राप्ति से यदि उक्त विधि को इध्मादि का प्रतिषेध करने वाली विधि-व्यवस्था मानी जाये, तो क्या यह उचित नहीं?॥ २२॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—**

## (१५२२) न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** न = उपर्युक्त कथन का औचित्य नहीं है। वाक्यशेषत्वात् = वाक्य का शेष होने के कारण, च = तथा, गुणार्थे = उपर्युक्त वाक्य को गुण विध्यर्थ माना जाता है, समाधानम् = तो उसका समाधान, नानात्वेन = अनेक वाक्यों से, उपपद्यते = उपपन्न हो जाता है।

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण यह कि इसकी विधि उससे पृथक् अन्य प्रकार से बतलायी गई है। 'न प्रयाजा' 'नानुयाजा' एवं 'आदित्यं चरुं निर्वपेत्' ये सभी वाक्य शेष हैं। इध्माबर्हिषि के अभाव को यदि गुण विध्यर्थ माना जाता है, तो उक्त अन्य वाक्यों से उसका निषेध प्राप्त होता है तथा अनुवाद स्वरूप होने की स्थिति में उनका विधायकत्व भी सिद्ध नहीं होता॥ २३॥

**अगले क्रम में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

## (१५२३) एषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** एषाम् = इन पत्नी संयाज, आदि होम स्वरूप कर्म में, अपरयोः वा = गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि में भी, होमः = होम होता है, तेषाम् = उनमें उनकी धर्म प्राप्ति, स्यात् = होती है, अविरोधात् = क्योंकि वहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

**व्याख्या—** गार्हपत्य आदि में इध्मबर्हिषि अङ्गरूप में व्यवहित नहीं है। अतएव गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि के पत्नीसंयाज पिष्टलेप एवं फलीकरण रूप होमों के धर्मों की प्राप्ति उक्त दर्विहोम में माननी चाहिए। अस्तु; दर्विहोम को अपूर्व कर्म नहीं माना जा सकता॥ २४॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

## (१५२४) तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = वहाँ दर्विहोम में, औषधानि = औषधि द्रव्य के रूप में, चोद्यन्ते = व्रीहि आदि का विधान विद्यमान है, तानि = वे सभी द्रव्य, स्थानेन = स्थान के द्वारा, गम्येरन् = उनके धर्मों की प्राप्ति कर सकते हैं।

**व्याख्या—** 'प्रतिपुरुषमेक कपालान्निर्वपेत्' वाक्य के द्वारा जैसे पुरोडाश का विधान किया जाता है, वे द्रव्य (व्रीहि आदि के) स्थान से (उनके धर्मों की प्राप्ति कर सकते) गम्यमान होते हैं। उदाहरणार्थ- 'सौम्यं श्यामाकं चरुम्'। व्रीहि द्रव्य के स्थान में विहित होने से निर्वाप आदि व्रीहि के धर्मों की प्राप्ति करते हैं। अतएव दर्विहोम में कहीं से भी किसी भी धर्म की प्रवृत्ति नहीं होती॥ २५॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की मान्यता प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५२५ ) लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ॥ २६ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद यहाँ पूर्वपक्ष का द्योतक है। लिङ्गात् = पिष्टलेप एवं फलीकरण होम के विधि स्वरूप लिङ्ग के द्वारा, शेषहोमयोः = शेष बचे होम के धर्म की प्राप्ति नहीं हुआ करती।

**व्याख्या—** उक्त दर्विहोम में पिष्टलेप तथा फलीकरण रूप होम के धर्मों की प्रवृत्ति अनुचित नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उक्त दोनों में ही व्रीहि रूप औषधि की प्रयुक्तता है। अतएव जिन दोषों की अभिव्यक्ति पूर्व में की गई है, यहाँ पर उनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती॥ २६ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १५२६ ) प्रतिपत्ती तु ते भवतस्तस्मादतद्विकारत्वम्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** ते = वे पिष्टलेप आदि होम, तु = तो, प्रतिपत्ती = प्रतिपत्तिक कर्म, भवतः = हैं, अतस्तद्विकारत्वम् = अतएव दर्विहोम को उनका विकार नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** प्रतिपत्ति कर्म का तात्पर्य शेष द्रव्य के संस्कार से है। उक्त पिष्टलेप एवं फलीकरण आदि होम, शेष द्रव्य के संस्कार स्वरूप कर्म हैं तथा प्रतिपत्ति कर्म को प्रकृति कहना सम्भव नहीं। अतः उक्त दर्विहोम किसी भी प्रकृतियाग का विकार न होकर एक अपूर्व कर्म है, ऐसा समझना चाहिए॥ २७॥

**पाद तथा प्रकरण का समापन करने के भाव से उपसंहार सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५२७ ) सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्था-नादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—**विरोधिनाम् = दोषपूर्ण वाक्यों के, सन्निपाते = प्रयोग की स्थिति में भी, अप्रवृत्तिः = नारिष्ठ होम के धर्मों की अप्रवृत्ति ही, प्रतीयेत = समझनी चाहिए, विध्युत्पत्ति = नारिष्ठहोम तथा उसके धर्मों के उत्पत्ति की, व्यवस्थानात् = विधि-व्यवस्था का नियम प्राप्त होने से, अर्थस्य = नारिष्ठ धर्म का, अपरिणेयत्वात् = अतिदेश नहीं हुआ करता, वचनात् = प्रमाणपरक वाक्यों से हो, अतिदेशः = तो अतिदेश होना सम्भव, स्यात् = है।

**व्याख्या—** दोषयुक्त वाक्यों का प्रयोग किये जाने की स्थिति में भी नारिष्ठ संज्ञक होमों की प्रवृत्ति असम्भव है। दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में ही नारिष्ठ होम तथा उसके धर्मों की विधि-व्यवस्था की उत्पत्ति पठित है और कहीं भी नहीं। इसलिए दर्विहोमों की धर्म प्राप्ति किसी प्रकार से भी उचित नहीं, किन्तु वाक्य से अतिदेश हो जाया करता है; क्योंकि सर्वत्र अप्राप्ति का स्वभाव भी नहीं है, ऐसा समझना ही युक्त है॥ २८॥

## ॥ इति अष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

## ॥ अथ नवमाध्याये प्रथमः पादः ॥

**नवम अध्याय के अन्तर्गत 'ऊह' ( अनुक्त पद की अध्याहार द्वारा पूर्ति ) के सन्दर्भ में विचार-विमर्श किया जायेगा। अग्निहोत्रादि में बतलाये गये धर्म अपूर्व हेतु यह अधिकरण ( प्रकरण ) प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( १५२८ ) यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु - संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ**—यज्ञकर्म = यज्ञ का कार्य, प्रधानम् = प्रमुख है, हि = कारण कि, तत् = वह अपूर्व, चोदनाभूतम् = प्रेरणाभूत विधिगम्य है, तस्य = इससे सम्बन्धी, द्रव्येषु = व्रीहि आदि द्रव्यों में, संस्कारः = जो अवहनन आदि संस्कार हैं, तदर्थत्वात् = तदर्थ होने से, तत्प्रयुक्तः = वे भी अपूर्व प्रयुक्त हैं।

**व्याख्या**— आचार्य कहते हैं कि दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम याग में जो पृथक् धर्म बतलाये गये हैं। उनमें यह संदेह होता है कि वे अपूर्व होने से प्रयुक्त हैं अथवा याग होने से प्रयुक्त होते हैं। इसी के विवेचनार्थ सूत्रकार कहते हैं कि यज्ञ कर्म प्रमुख होता है। यह यजति का कार्य है तथा वह फलवत् होने से विधिगम्य होता है। उसके व्रीहि आदि द्रव्यों एवं यजति में अवहनन आदि संस्कार हैं, तदर्थ होने से वे सभी अपूर्व के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अपूर्व के लिए सकल धर्म यज्ञ में करने चाहिए॥ १॥

**प्रोक्षण अपूर्व प्रयुक्त है। इस अधिकरण के सूत्र में पूर्वपक्ष का मत अगले सूत्र में प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( १५२९ ) संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ**— संस्कारे = अवहनन नामक संस्कार में, युज्यमानानाम् = प्रयुक्त होने वाले प्रोक्षण आदि धर्म, तादर्थ्यात् = अवहनन के लिए होने से,तत्प्रयुक्तम् = उससे प्रयुक्त, स्यात् = है।

**व्याख्या**— पूर्वपक्ष का कथन है कि जो कर्त्तव्य जिसके द्वारा सम्पन्न होता है, वह यदि अपूर्व द्वारा किया गया है, तो इसका अपूर्व ही प्रायोजक होता है। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में 'प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति' नामक वाक्य प्रयुक्त किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अवहनन (कूटने) आदि का संस्कार व्रीहि (चावल) आदि अन्नों में करना होता है। इससे पूर्व उलूखल और मूसल को प्रोक्षित करने के लिए कहा गया है। यह प्रोक्षण अवहनन संस्कार हेतु होने से वहाँ प्रयुक्त किया गया है। अस्तु; अपूर्व ही उसका प्रायोजक होना चाहिए॥ २॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान सिद्धान्त पक्ष से प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५३० ) तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसम्बन्धस्तस्माद् यज्ञप्रयुक्तं- स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ**— तेन अर्थेन तु = अवहनन रूप कार्य से तो, यज्ञस्य संयोगात् = यज्ञ के संयोग से, धर्मसम्बन्धः = अपूर्व धर्म का सम्बन्ध है, तस्मात् = इससे, यज्ञप्रयुक्तम् = यज्ञ प्रयुक्त, स्यात् = है। यज्ञ के स्थान पर अपूर्व को समझना चाहिए, संस्कारस्य = प्रोक्षण रूपी संस्कार भी, तदर्थत्वात् = अपूर्व के लिए ही है।

**व्याख्या**— सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि प्रोक्षण अवहनन के लिए है तथा अवहनन यज्ञ प्रयोग में अपूर्व के लिए ही होता है। जब अवहनन अपूर्व के लिए है, तब उसके लिए उलूखल आदि में होने वाला प्रोक्षण भी अपूर्व के लिए है, ऐसा तो स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इसलिए संस्कार की तदर्थता होने के कारण यज्ञ (अपूर्व) की यज्ञ प्रयुक्तता होती है॥ ३॥

**फलदेवता से सम्बद्ध धर्म भी अपूर्व प्रयुक्त है, इस अधिकरण के सूत्र में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १५३१ ) फलदेवतयोश्च॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, फलदेवतयो: = फल और देवता मंत्र के उच्चारणार्थ हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जो मन्त्र फल और देवता के प्रकाशक हैं,उन्हें भी अपूर्व (यज्ञ) की प्रयुक्तता की प्राप्ति होती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत'। यहाँ इस मन्त्र में फल सम्बद्ध धर्म और देवता सम्बद्ध अपूर्व प्रयुक्त कहा गया है। 'अगन्म सुव: सुवरगन्म।' अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषम्' ये दो मन्त्र हैं, इनमें स्वर्गरूपी फल और अग्निरूपी देवता की प्रतीति होती है। ये दोनों मन्त्रोच्चारण के प्रयोजक हैं। इन मन्त्रों से सौर्य यज्ञ में स्वर्गरूप फल और अग्निरूपी देवता न होने से उद्देश्य का निवारण हो जाने से मन्त्र के उच्चारण का निस्तारण हो जाता है। इसलिए वहाँ पर 'ऊह' की प्राप्ति नहीं होती॥ ४॥

**अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## (१५३२) न चोदनातो हि तादृगुण्यम्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** न = फलदेवता के स्वरूप को प्रकाशित करने में मन्त्रोच्चारण उद्देश्य नहीं होता, हि = क्योंकि, चोदनात् = फल और देवता के प्रकाशन से, तादृगुण्यम् = अपूर्व प्रयुक्त बन जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मन्त्रोच्चार मात्र फल और देवता के प्रकाशन हेतु ही नहीं होता। जिसका स्वरूप मात्र से प्रकाशन ही लक्ष्य हो, तो फिर उसका कोई अर्थ ही नहीं होता। अत: फल और देवता के प्रकाशन से अपूर्व को साध लेना चाहिए। इस कारण से मन्त्रोच्चारण भी अपूर्व प्रयुक्त है। इसलिए सौर्य यज्ञ रूप विकृति में भी प्रयोजक अपूर्व के लिए होने के कारण मन्त्र का अतिदेश प्रमाणित होता है॥ ५॥

**'धर्मों का देवता में प्रयुक्तत्व नहीं होता।' अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## (१५३३) देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** देवता = इन्द्र आदि देवता, प्रयोजयेत् = प्रधान कर्मों के प्रयोजक होते हैं, अस्तु; भोजनस्य = भोजन का प्रयोग, अतिथिवत् = अतिथि की तरह, तदर्थत्वात् = देवता के लिए ही होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जितने सांग प्रमुख कर्म हैं, उन सभी के प्रयोजक इन्द्र, अग्नि आदि देवता हैं। यज्ञ तो देवों का ही भोजन माना जाता है। अस्तु; जिस प्रकार अतिथि को दिया जाने वाला अन्न अतिथि के लिए ही होता है, उसी प्रकार सभी यज्ञ-यागादि कर्मों के प्रयोजक अग्नि आदि देवगण ही हैं। यज्ञ देवों की आराधना के लिए होता है तथा इसका फल भी वही देता है। अत: यागादि में देवता गौण नहीं होते। शाबर भाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि हे इन्द्र! जो हविष् आपको प्रदान किया गया है, उसे ग्रहण कर जलपान करें। देवता अन्न का मात्र रस ही पान करते हैं, अत: उन्हें दिया हुआ अन्न कम नहीं होता॥ ६॥

## (१५३४) आर्थपत्याच्च ॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, आर्थपत्यात् = अर्थ की स्वामिता होने से।

**व्याख्या—** यजमान को उसके वाञ्छित अर्थ आदि को प्रदान करने वाले देवगण ही हैं। 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या .....' इत्यादि मन्त्र में स्वर्ग का स्वामी इन्द्र ही सूचित किया गया है। देवों की कृपा के अभाव में स्वर्ग की उपलब्धि नहीं होती। अत: कर्म में प्रमुख देवगण ही हैं॥ ७॥

## (१५३५) ततश्च तेन सम्बन्ध:॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तत: = उससे, तेन = स्वर्गादि के साथ, सम्बन्ध: = सम्बन्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जिन-जिन फलों के स्वामी जो देवगण हैं, उनकी आराधना करने से उन-उन फलों की प्राप्ति सहजता से सम्भव हो जाती है। शाबर भाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'येन कर्मणा अग्निराराधितो यस्य फलस्य ईष्टे तत्कर्त्रे प्रयच्छति न तत्सूर्य: प्रदातुमर्हति। वचनादेतत् अवगम्यते क:

किं प्रयच्छति इति। यथा अग्नौ वचनं, न तत्सूर्ये'। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस कर्म से अग्नि की आराधना करने में आये, वह अग्नि उसी कर्म का फल प्रदान करता है, सूर्य नहीं। जो श्रुति-वचन अग्नि के लिए होता है, वह सूर्यदेव के लिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है॥ ८॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५३६ ) अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, देवताश्रुतिः = देवता सम्बन्धी वचन, गुणत्वे = गौण होने से, शब्दपूर्वत्वात् = शब्द द्वारा ही ज्ञात हो सकने से, यज्ञकर्म = यज्ञ का कार्य, प्रधानम् स्यात् = प्रधान है।

**व्याख्या—** 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' ऐसा साक्षात् (बोध) होने के कारण यागजन्य जो अपूर्व है, वही प्रमुख है तथा वही फल प्रदाता भी है। इसमें शब्द (श्रुति वचन) ही फल प्राप्ति के विषय में प्रमाण हैं। जो फल देता है, वही प्रयोजक हुआ करता है॥ ९॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार पुनः अन्य युक्ति द्वारा समाधान देते हैं—**

**( १५३७ ) अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** अतिथौ = अतिथियों के भोजनादि के दान में, तत्प्रधानत्वम् = अतिथियों की प्रधानता है, कर्मणि अभावः स्यात् = तो यज्ञादि कर्म में देवता की प्रीति का अभाव होता है, तस्य = उस (आतिथ्य कर्म में अतिथि) की, प्रीतिप्रधानत्वात् = प्रीति (तृप्ति) ही प्रमुख होती है।

**व्याख्या—** अतिथि के सन्दर्भ में सूत्रकार स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि अतिथियों और देवों के प्रसङ्ग समान नहीं हैं। जिन पदार्थों से अतिथि को प्रसन्नता हो, वही प्रिय पदार्थ उन्हें देना चाहिए। इस प्रकरण में शब्द ही प्रमाण होता है। उदाहरणार्थ देखें- 'अतिथिर्येन सन्तुष्टः तथा कुर्यात्प्रयत्नतः' अर्थात् जिससे अतिथि सन्तुष्ट हो, वही अन्न पुरुषार्थपूर्वक प्रदान करना चाहिए। यज्ञीय कर्म के सन्दर्भ में तथा अग्नि आदि देवों के सन्दर्भ में ऐसा कोई कहीं भी नियम नहीं है। इसके अलावा इन्द्र, अग्नि आदि देवगण देहधारी हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। शाबर भाष्य मीमांसा के ९/१/९ में कहा गया है कि परमात्मा के अलावा अन्य कोई भी देव उपास्य नहीं हैं। देवों को भोग लगाया गया अन्न नीरस हो जाता है, यह कहना असत्य नहीं होगा; क्योंकि स्वयं भाष्यकार ही स्पष्ट करते हैं कि वायु के प्रभाव से अन्न नीरस हो जाता है तथा शीतल हुआ अन्न भी रसरहित हो जाता है। इस कारण विग्रहवान् चेतन देवता को स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है॥ १०॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए 'प्रोक्षणादि अपूर्व प्रयुक्त है' को व्यक्त करते हैं—**

**( १५३८ ) द्रव्यसंख्या हेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिसंयोगात् वा = श्रुति का सम्बन्ध होने से तो, द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायम् = व्रीहि आदि द्रव्य, परिधिगत त्रित्व आदि संख्या, होम में शूर्प गत अन्न हेतुत्व, चतुर्होत्राभिमर्शन में पौर्णमासी यज्ञ गत समुदायत्व- यह चार प्रोक्षणादि के प्रयोजक हैं।

**व्याख्या—** पूर्व पक्ष के मन्तव्य को प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं कि दर्शपूर्णमास में प्रायः सुनने को मिलता है कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' अर्थात् व्रीहि (धान्य) का प्रोक्षण करना चाहिए। 'त्रीन् परिधींस्तिस्रः समिधः'। इस मन्त्र में तीन समिधाओं का विधान किया गया है। 'शूर्पेण जुहोति तेन अन्नं क्रियते' अर्थात् शूर्प द्वारा हवन करना चाहिए; क्योंकि उसी से अन्न की शुद्धि होती है। परिधिगत त्रित्व आदि संख्या मन्त्र बोलने में प्रयोजक है। हवन करना है, अतः शूर्प से अन्न को संस्कृत-परिमार्जित करना चाहिए। यहाँ पर जो हेतु बतलाया गया है, वह यज्ञ में प्रयोजक है। इस प्रकार से प्रोक्षण मन्त्र का उच्चारण और यज्ञ धर्मों का प्रयोजक व्रीहि रूप ही है॥ ११॥

**( १५३९ ) अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अर्थकारिते = अपूर्व के लिए उक्त धर्म करने में आये तो, द्रव्येण = मैत्रावरुण ग्रह संयुक्त सोमरस आदि द्रव्य के साथ, व्यवस्था = व्यवस्था, न = नहीं, स्यात् = हो सकती।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य पुनः कहते हैं कि यदि अपूर्व को उपर्युक्त अर्थ में प्रयोजक स्वीकार करे, तो दश ग्रहों और चमसों में अपूर्व साधनत्व एक जैसा ही है, तो सभी जगह पयः संयोग की उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। एकमात्र 'मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति' अर्थात् मैत्रावरुण के जो ग्रह और चमस आदि हैं, उन्हें पयस् द्वारा श्रपण (पकाना) करना होता है। अतः द्रव्य का स्वरूप ही प्रयोजक है, अपूर्व प्रयोजक नहीं है॥ १२॥

**अब अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५४० ) अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थः वा = अर्थ ही, प्रयोजनम् = प्रयोजक, स्यात् = है, इतरेषाम्=अन्य द्रव्य आदि, अचोदनात् = कर्त्तव्य रूप में विहित न होने से, तस्य = द्रव्यादि का अपूर्व में, गुणभूतत्वात् = गुण भूत तत्त्व होता है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि द्रव्यादि में कर्त्तव्यता विहित नहीं होती, जिनमें कर्त्तव्यता विहित होती है, उन्हें ही धर्म की आकांक्षा होती है। इसी कारण द्रव्यादि कर्त्तव्यभूत अपूर्व के प्रति गुणभूत तत्त्व हैं। अतः व्रीहि स्व-कर्त्तव्य न होने के कारण वह प्रोक्षण जन्य अपूर्व के प्रति गुणभूत तत्त्व है। ऐसे ही अन्य दूसरे में भी जानना चाहिए॥ १३॥

**( १५४१ ) अपूर्वत्वाद् व्यवस्था स्यात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** अपूर्वत्वात् = अपूर्व के कारण, व्यवस्था = व्यवस्था, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त बारहवें सूत्र में कहा गया है कि यदि अपूर्व को प्रयोजक मान लें, तो '**पयसा श्रीणाति**' आदि में व्यवस्था नहीं हो सकती। इसके समाधान में सूत्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अपूर्व को मान लेने से व्यवस्था हो सकती है। मैत्रावरुण को उद्दिष्ट करके जो श्रपण होता है, उसका उद्देश्य अवच्छेदक अन्य किसी में नहीं होता है। इसलिए अपूर्व मानने में ही व्यवस्था हो सकती है॥ १४॥

**( १५४२ ) तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तत्प्रयुक्तत्वे = अपूर्व को मानें, धर्मस्य = तो उन धर्मों के, सर्वविषयत्वम् = समस्त विषय हो जायें।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि द्रव्यादि में प्रयुक्त प्रोक्षण आदि धर्मों को स्वीकार करने से धर्म की सर्व विषयता हो जाती है। जैसे भात पकाने वाले चावल और बाजार के व्रीहि दोनों का प्रोक्षण जरूरी होगा, जबकि भात पकाने के क्रम में सब प्रक्रिया पहले ही हो चुकी है। इस कारण से इस पक्ष में यह एक दोष उत्पन्न हो जाता है, जो किसी को भी इष्ट नहीं। यदि द्रव्य का रूप प्रोक्षण आवश्यक माना जायेगा, तो वह विसङ्गति नहीं होगी; क्योंकि यज्ञ के सम्बन्ध में आये व्रीहि एवं बाजार की दुकानों में उपलब्ध व्रीहि का स्वरूप तो एक ही तरह का होता है। अतः द्रव्य रूप को प्रयोजक न मानते हुए अपूर्व को ही प्रयोजक स्वीकार करना चाहिए॥ १५॥

**अब अगले सूत्र में आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

**( १५४३ ) तद्युक्तस्येति चेत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तद्युक्तस्य = यज्ञ से युक्त जो द्रव्य है वही प्रयोजक है, इति चेत् = यदि ऐसा माना जाये, तो?

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्र के सन्दर्भ में आशङ्का व्यक्त करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि याग से युक्त जो व्रीहि (चावल) है, उनमें ही प्रोक्षण आदि धर्म की उद्देश्यता निर्भर होती है। बाजार में जो व्रीहि उपलब्ध रहता है, उसमें उद्देश्यता नहीं होती। ऐसा कहें, तो?॥ १६॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५४४ ) नाश्रुतित्वात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, अश्रुतित्वात् = प्रकृत व्रीहि ही उद्देश्य है, इसमें कोई भी शब्द प्रमाण नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि किया गया उक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि प्रकरणयुक्त व्रीहियों (चावलों) के निर्वपन (समर्पित करना) का श्रुति-वचन कहीं पर भी नहीं सुना जाता। साथ ही वाक्य से बाधित प्रकरण-धर्म का नियम करने की पात्रता भी नहीं होती॥ १७॥

**अगले सूत्र में पुनः आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

## ( १५४५ ) अधिकारादिति चेत्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** अधिकारात् = अधिकार होने से, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो?

**व्याख्या—** पुनः आशङ्का व्यक्त की जाती है कि श्रुति-वचनों का श्रवण (सुना जाना) भले ही अविशेष रहा हो, फिर भी याग का तो अधिकार है ही। अतः यज्ञीय व्रीहि में ही प्रोक्षण की क्रिया सम्पन्न होना उचित है, अन्य कार्यों के निमित्त नहीं। वहाँ पर जो कार्यार्थ होंगे, उन्हीं की प्रोक्षण क्रिया सम्पन्न होगी॥ १८॥

**अब अगले सूत्र में उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## ( १५४६ ) तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः पृथक् सत्तां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** तुल्येषु = समान में, अधिकारः न स्यात् = अधिकार सम्भव नहीं है, सम्बन्धः = अतः यज्ञार्थत्व का सम्बन्ध, अचोदितः = शास्त्र में निर्दिष्ट नहीं है, यज्ञार्थे = यज्ञ के अर्थ में, पृथक् सत्ताम् = भिन्नसत्ता का, नाभिसम्बन्धः = व्रीहियों का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, तस्मात् = इसलिए, यज्ञप्रयोजनम् = प्रोक्षण का प्रयोजक यज्ञ है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर समस्त व्रीहि समान होते हैं, जो यज्ञार्थ होते हैं, वहीं भोजनार्थ भी होते हैं। अस्तु; प्रोक्षण आदि में कोई दोष नहीं है। यज्ञीय व्रीहि और बाहर के व्रीहि भिन्न हैं, ऐसा लोक व्यवहार द्वारा भी नहीं समझा जा सकता। जैसे यह अश्व है, यह वृषभ है, ऐसा स्पष्ट भेद समझ में आता है; वैसे ही यज्ञीय व्रीहि और बाजार के व्रीहि में भेद स्पष्ट समझ में नहीं आता। इस प्रकार से जब तक शास्त्रीय अतिदेश करने में न आये, तब तक समस्त व्रीहियों का यथार्थ के साथ सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध से निखिल व्रीहियों के प्रोक्षण का उद्देश्य है; यही जानना उचित होगा। इस कारण से व्रीहि के स्वरूप को प्रयोजक न मानते हुए एकमात्र अपूर्व को ही प्रोक्षण आदि का प्रयोजक स्वीकार करना चाहिए॥ १९॥

**अग्नीषोमीय के पूर्वभाग में अनुष्ठीय पदार्थों का जो उपांशुत्व है, वह उन-उन पदार्थों से उपलब्ध अपूर्व से युक्त है। इसी प्रकरण को प्रतिपादित करने हेतु अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५४७ ) देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्यात् श्रुतिनिर्देशात्तस्यच तत्र भावात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** देशबद्धम् = समय बद्ध सीमा में किया जाने वाला, उपांशुत्वम् = मौन अनुष्ठान, श्रुतिनिर्देशात् = वैदिक वाक्य का निर्देश होने से, च तस्य तत्र भावात् = और उस कर्म का उस देश से सम्बन्ध होने के कारण, तेषाम् स्यात् = दीक्षणीय आदि है।

**व्याख्या—** अग्नीषोमीय के पूर्वभाग में जो-जो पदार्थ कर्म करने हेतु प्रयुक्त होते हैं, वे उपांशुत्व के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इसमें उपांशुत्व यज्ञ के लिए विशेष श्रुति-वचन प्रमाण हेतु प्राप्त होते हैं। यथा- 'त्सरा वा एषा यज्ञस्य तस्मात् यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशुं प्रचरन्ति।' इस वाक्य कथन में 'त्सरा' शब्द का अर्थ छद्म गति होता है, अत: जो उपांशु कर्म करने में आता है, वह यज्ञ की छद्म गति है। इस छद्मगति से प्रमुख अपूर्व को सिद्ध करता है। पूर्व देश में अनुष्ठीयमान होने वाला कर्म मानना चाहिए तथा लक्षणा से इसका बोध भी हो जाता है। मीमांसा शास्त्र के इस सूत्र में कर्म और देश का सम्बन्ध बना रहता है॥ २०॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य उक्त विषय के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५४८ ) यज्ञस्य वा तत्संयोगात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तत्संयोगात् = यज्ञ का वाक्य में सम्बन्ध होने से, यज्ञस्य = प्रधान का अपूर्व में प्रयोजकत्व है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि यज्ञ शब्द का सम्बन्ध 'त्सरा' के साथ नहीं है; बल्कि उसका 'यज्ञस्य यत्प्राचीनम्' के साथ सम्बन्ध है। अत: यहाँ पर इसका अर्थ यह हुआ कि यज्ञ-सम्बन्धी जो पूर्व भाग में कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, वे सभी उपांशु ही होने चाहिए। इस सन्दर्भ में तन्त्र वार्तिककार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-'यज्ञशब्द: त्सराशब्देन सम्बध्यते। अप्रवृत्तिविशेष करत्वात्। यस्मात् प्राचीनशब्देन सम्बध्यमान: प्रवृत्तिविशेषकरो भवति। तेन यज्ञस्य य: प्राग्भागस्तस्यायं धर्म उपांशुत्वं विधीयते।' प्रस्तुत इस वार्तिक से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ का सम्बन्ध पूर्वभाग में अनुष्ठीयमान धर्मों के साथ है, अत: परमापूर्व प्रयुक्त उपांशु है॥२१॥

**( १५४९ ) अनुवादश्च तदर्थवत्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अनुवाद: = अर्थवाद भी, तदर्थवत् = परमापूर्व प्रयुक्तत्व बतलाता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी शाबर भाष्य का उद्धरण देते हुए बतलाते हैं कि जिस तरह से पक्षियों को पकड़ने के लिए शिकारी प्रच्छन्न गति अर्थात् ऐसी गति करता है कि आने की कोई आहट न होने पाये। अनजान पक्षी ऐसी ही गति से सहजतापूर्वक पकड़ा जाता है। उसी तरह उपांशुत्व रूप धर्म द्वारा यज्ञ को पाया जा सकता है, ऐसी शुभकामना है। शिकारी को चुपके से कदम रखना आदि उस देश (क्षेत्र) के लिए नहीं; बल्कि पक्षी को पकड़ने हेतु ही होते हैं। वैसे ही यहाँ सूत्र में भी उपांशुत्व रूपी धर्म देश के पदार्थों के लिए नहीं किये जाते; वरन् अपूर्व रूपी यज्ञ को पाने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। इस उक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उपांशुत्व यह परमापूर्व प्रयुक्त है॥ २२॥

**( १५५० ) प्रणीतादि तथेति चेत्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** प्रणीतादि = प्रणीता, प्रणयन आदि से सम्बन्धित वाङ् नियम भी, तथा इति चेत् = परमापूर्व प्रयुक्त हैं, यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मन्तव्य है- 'यज्ञं तनिष्यन्तौ अध्वर्यु यजमानौ वाचं यच्छत: तां वाचं हविष्कृता विसृजेयाताम्।' इस प्रस्तुत वाक्य-कथन में निरूपित वाणी का जो संयम है, वह परमापूर्व प्रयुक्त है। अत: मौन रहकर अध्वर्यु और यजमान यज्ञानुष्ठान करें; ताकि चित्त-वृत्तियों में विक्षेप न आने पाये। तेज आवाज में बोलना अथवा अप्रासंगिक बात करने से चित्त चंचल होता है, चित्त के चंचल होने से यज्ञ में वैकल्य का प्रकट होना सम्भव है। अत: मौन रहने का उपर्युक्त सूत्र कथन में नियम है तथा यह परमापूर्व के लिए ही है॥ २३॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५५१ ) न यज्ञस्याश्रुतित्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, यज्ञस्य = यज्ञ की, अश्रुतित्वात् = विवक्षा (कथन) न होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर पदार्थों की यज्ञ भाग विशिष्टता सम्बन्धी शब्द श्रूयमाण नहीं होता है। वाक् संयम के नियम का उद्देश्य अध्वर्यु और यजमान हैं। यज्ञ तो इनका विशेषण मात्र है। अत: उद्देश्य का विशेषण विवक्षित नहीं है॥ २४॥

## (१५५२) तद्देशानां वा संघातस्याचोदितत्वात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तद्देशानाम् = पूर्वदेश सम्बन्धी पदार्थों से उपांशुत्व प्रयुक्त होता है, संघातस्य अचोदित्वात् = ग्रह, यजि और अभ्यास आदि संघात् का उपांशु भाग नहीं।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि ग्रह, यजि और अभ्यास आदि संघात का उपांशुत्व नहीं होता; क्योंकि अग्नीषोमीय का जो पूर्व देश है, उनमें अनुष्ठीयमान होने वाले पदार्थों का सम्बन्ध रखने वाले उपांशुत्व होते हैं। अत: वह अवान्तरापूर्व प्रयुक्त ही होता है॥ २५॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार इष्टिकर्मों के विषय में पूर्व पक्ष का कथन करते हैं—**

## (१५५३) अग्निधर्म: प्रतीष्टकं संघातात्पौर्णमासीवत्॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** अग्निधर्म: = कर्षण, प्रोक्षण आदि अग्नि के धर्म हैं, पौर्णमासीवत् = अस्तु; जिस प्रकार संघात् में पौर्णमासी शब्द व्यवहृत होता है, संघातात् = (उसी प्रकार) अग्निपद वाच्य इष्टि का समुदाय होने से, प्रतीष्टकम् = प्रत्येक इष्टिकाओं में कर्षण करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि कर्षण और प्रोक्षण आदि क्रियाएँ अग्नि के धर्म हैं। अस्तु; जिस प्रकार से आग्नेय, उपांशु और अग्नीषोमीय के संघात में पौर्णमासी शब्द व्यवहार में आता है, उसी प्रकार से अग्निपद वाची प्रत्येक ईंटों के समुदाय का कर्षण होना चाहिए। 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' अर्थात् जैसे पूर्णमासी का चयन होता है, वैसे ही चयन यहाँ भी उचित होगा। प्रस्तुत प्रकरण में श्रुति-वचन कहता है कि 'मण्डूकेनाग्निं विकर्षति? अर्थात् यहाँ पर जो विकर्षण कहा गया है, वह हर एक ईंटों पर लागू होता है॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त पक्ष से करते हैं—**

## (१५५४) अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्रव्यैकत्वात् = अग्नि रूपी द्रव्य एक ही होने से, इतरासाम् = इष्टका अर्थात् ईंटें, तदर्थत्वात् = अग्नि के लिए होने से, अग्नि: =इष्टिका से पृथक् अग्नि का विकर्षण है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि इष्टका- अग्नि इन दोनों के धर्म अलग-अलग होते हैं। अग्नि रूपी द्रव्य एक होने से इष्टका तदर्थ अर्थात् अग्नि के लिए होती है। 'इष्टकाभिरग्निम् चिनुते' अर्थात् केवल इष्टकाओं से ही चयन होना चाहिए। यहाँ वाक्य-सूत्र में इष्टका शब्द में तृतीया विभक्ति है तथा अग्नि शब्द में द्वितीया विभक्ति है। अत: इष्टका साधन है और अग्नि साध्य। साध्य एवं साधन दोनों ही अलग-अलग होते हैं। इसलिए इष्टका और अग्नि में भेद मानना उचित होना चाहिए॥ २७॥

## (१५५५) चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** चोदनासमुदायात् = विधान समुदायपरक होने से, तु = तो, पौर्णमास्याम् = पौर्णमासी में, तथात्वम् = वैसे ही मानने योग्य, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पौर्णमासी शब्द संघातपरक है, यह तो वैदिक विधान है। किन्तु प्रकृत स्थल में अग्नि शब्द को इष्टकापरक मान लेने में किसी भी तरह का प्रमाण नहीं प्राप्त होता। इससे

स्पष्ट हो जाता है कि उक्त विकर्षण अग्नि के सम्बन्ध में है, इष्टका के सम्बन्ध में नहीं॥ २८॥

**द्वादशाह यज्ञ में कर्म के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( १५५६ ) पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** पत्नीसंयाजान्तत्वम् = पत्नी संयाजान्तत्व, अविशेषात् = सभी के लिए समान रूप से कहने में आया हुआ होने के कारण है, सर्वेषाम् = सर्व अहन्नामक यागों में होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अहर्गण यज्ञ विशिष्ट है। 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' अर्थात् प्रजा की कामना करने वाले को द्वादशाह नामक अहर्याग करना उचित होगा। इस स्थल पर 'पत्नीसंयाजान्तानि अहानि संतिष्ठन्ते।' अहन् नामक याग पत्नीसंयाज कर्म के उपरान्त पूर्ण होता है। पूर्वपक्षानुसार यह कहा जाता है कि कोई किसी विशेष का श्रवण न होने के कारण संयाजान्तत्त्व धर्म अनुष्ठान प्रत्येक यज्ञ के समापन पर करना चाहिए॥ २९॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५५७ ) लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, लिङ्गात् = लिङ्ग वाक्य का समर्थन होने से, उत्तमात् प्राक् = अन्तिम यज्ञ के पूर्व समस्त यज्ञों में पत्नीसंयाजान्तत्व नामक धर्म सम्पन्न होता है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि लिंग वाक्य अर्थात् श्रुति-प्रमाणों के उपलब्ध होने से उत्तम यागों अर्थात् अन्तिम यज्ञ के पूर्व सभी यज्ञों में पत्नीसंयाजान्तत्व नामक धर्म सम्पन्न किया जाता है। अर्थवाद रूपी लिङ्ग वाक्य में श्रवण होने के कारण अन्तिम दिन के पूर्व के समस्त अहनों (यज्ञों) में पत्नी संयाजान्तत्व है। इस लिङ्ग वाक्य में असंस्थित शब्द का अर्थ असमाप्त होता है। अतः जो अहन् में यज्ञ असंस्थित रहे, उनमें ही पत्नी संयाजान्तत्व धर्म अनुष्ठान के योग्य है, सभी यज्ञों में नहीं॥ ३०॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष की तरफ से आक्षेप करते हैं—**

## ( १५५८ ) अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, नक्तं संस्थापनस्य = नक्त (रात्रि) में संस्थापन का उल्लेख, अनुवादः = अर्थवाद है, यथा = जिस प्रकार, दीक्षा = दीक्षा का उन्मोचन वचन होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष की तरफ से आक्षेप किया है कि पत्नीसंयाजान्तत्व नामक धर्म तो अर्थवाद के लिए है। असंस्थितो यज्ञश्चिरेण संस्थास्यते-असंस्थित-असमाप्त यज्ञ लम्बे समय में सम्पन्न होता है। उक्त समस्त यज्ञ संस्था वाले कहे गये हैं। जिस तरह से दीक्षा का उन्मोचन वचन नक्त (रात्रि) में संस्थापन के अर्थवाद हेतु है, उसी तरह उपर्युक्त स्थान पर असंस्था वचन अर्थवाद के लिए है। अतः पत्नीसंयाजान्तत्व सभी अहन् यागों में सम्पन्न होना चाहिए॥ ३१॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५५९ ) स्याद्वाऽनारभ्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्यात् = अन्त्य अहन् याग पूर्व के यागों में पत्नी संयाजान्तत्व है, अनारभ्य विधानात् = अन्तिम याग को उद्दिष्ट कर विधान होने से, लिङ्गविरोधात् = लिङ्ग वाक्य के साथ विरोध होने से।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्त में लिङ्ग का विरोध होने के कारण उत्तम अर्थात् अन्तिम याग से पूर्व पत्नीसंयाजान्तता होती है। पत्नी संयाज करने से किसी भी याग की समाप्ति नहीं होती; इस कारण अन्तिम यज्ञ को छोड़कर उसके पूर्व के सभी यज्ञों में उन्हें करना चाहिए॥ ३२॥

**सामिधेनी का अभ्यास स्थान-धर्मता के कारण है, इस प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में व्यक्त करते हैं—**

**( १५६० ) अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** प्राथम्यात् = स्थान की प्रथम उपस्थिति होने से, सामिधेनीनाम् = सामिधेनी ऋचाओं का, अभ्यासः = बारम्बार उच्चारण करना, स्थानधर्मः स्यात् = स्थानधर्म है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सामिधेनी ऋचाओं के द्वारा स्थान की प्रथम उपस्थिति होने से जो बारम्बार उच्चारण किया जाता है,वह स्थान-धर्म कहलाता है। दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत इसका श्रवण होता है। 'त्रिः प्रथमामन्वाह' इस स्थान पर तीन बार उच्चारण करना अभ्यास को सूचित करता है। इसके द्वारा विकृति यज्ञ में 'प्र वो वाजा' ऋचा से पृथक् ऋचा का भी तीन बार अभ्यास होना इष्ट है। स्थान का अभ्यास अशक्य होने के कारण स्थान में पठित ऋचाएँ ही लक्षणा-वृत्ति से 'प्रथमाम्' पद से संबोधित होती हैं। पीछे की ऋचा का तो उक्त रीति द्वारा साक्षात् होता है। इसीलिए अभ्यास की स्थानधर्मता सिद्ध होती है॥ ३३॥

**सूत्रकार अगले सूत्र में 'आरम्भणीया इष्टि' के प्रकरण के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५६१ ) इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तेतारम्भणीया॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** इष्ट्यावृत्तौ = दर्शपूर्णमास की आवृत्ति में, आरम्भणीया = आरम्भणीया इष्टि की भी, प्रयाजवत् = प्रयाज की भाँति, आवर्तेत = आवृत्ति करनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि इष्टि अर्थात् दर्शपूर्णमास की आवृत्ति में प्रयाज की भाँति आरम्भणीया इष्टि का भी आवर्तन होता है। 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दर्शपूर्णमासा वारिप्समानः' इस वाक्य द्वारा विहित है कि यह आरम्भणीया इष्टि जब-जब दर्शपूर्णमास इष्टि करने में आये, तब-तब करना चाहिए॥ ३४॥

**अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष से समाधान देते हैं—**

**( १५६२ ) सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** सकृत् = एक समय, आरम्भसंयोगात् = आरम्भ का श्रवण होने से, आरम्भः पुनः एक : = एक बार ही आरम्भ करना चाहिए, यावज्जीवप्रयोगात् = जब तक जीवन की गति रहे, तब तक प्रयोग होता रहे।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि आरम्भ के संयोग से एक बार ही आरम्भणीया इष्टि का अनुवर्तन करना चाहिए। मन में ऐसा संकल्प उठे कि जब तक मैं जीवित रहूँगा, तब तक यज्ञ सम्पन्न करता रहूँगा। ऐसा संकल्प उठते ही आरम्भ के साथ ही आरम्भणीया इष्टि का श्रवण होने लगता है। प्रत्येक दर्शपूर्णमास के यज्ञ में उसकी आवृत्ति नहीं होनी चाहिए॥ ३५॥

**निर्वाप मंत्र में असमवेतार्थक सवितृ आदि पदों का ऊह नहीं होता। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को आचार्य अगले सूत्र में प्रतिपादित करते हैं। यहाँ सूत्र में आचार्य पहले पूर्वपक्ष का मन्तव्य बतलाते हैं, तदुपरान्त सिद्धान्त पक्ष से समाधान भी करते हैं—**

**( १५६३ ) अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः -**
**स्यात्तत्रायोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्रेषु = मन्त्रों में, शेषभावः = अंगत्व, स्यात् = प्राप्त है। अर्थाभिधानात् संयोगात् = अर्थ प्रकाशन सम्बन्ध होने से, तत्र = दर्शपूर्णमास में, अचोदितम् = अविहित है, अप्राप्तम् = अतः अप्राप्त है, चोदिताभिधानात् = मंत्र में विधि विहित अर्थ का प्रकाशन होने के कारण।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि यहाँ सूत्र में कर्म समवेत अर्थ का मंत्र बोध कराता है, इसी कारण से ही मंत्र अङ्ग रूप यज्ञ में बारम्बार वर्णित होता है। 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि'। दर्शपूर्णमास में इसे निर्वापमंत्र कहते हैं। इसमें सवितृ आदि देव वाचक जो शब्द हैं, वे सभी

देवता रूपी अर्थ के प्रकाशक हैं। इस मंत्र की सौर याग में जब उपलब्धि होती है, तब सवितृ पद की जगह पर सूर्य आदिपद का प्रक्षेप रूप ऊह करना चाहिए। अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं कि प्रकृति में मंत्र लिङ्ग से कल्पित देवता के साथ अग्नि आदि देवों का विकल्प है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि इससे एक वाक्यता भंग होती है। उत्पत्तिशिष्ट अग्नि आदि देवों की प्रबलता भी है, अत: सौर्यादि विकृति यज्ञ में सवितृ पद की जगह सूर्यादि पदों का ऊह नहीं करना चाहिए॥ ३६॥

**अगले सूत्र में आचार्य पुन: पुष्ट करते हैं—**

## (१५६४) ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** तत: = इस कारण से, तेषाम् = उनका, अवचनम् = अश्रुत का वचन करने में नहीं आता। इतरार्थम् प्रयुज्यते = निर्वाप की स्तुति के लिए इसका प्रयोग करने में आता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्र में किये गये अर्थ में प्रयुक्त कारण से उनका अवचन इतरों (निर्वाप की स्तुति) के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'देवस्य त्वा सवितु: प्रसवे .....।' इस मंत्र में सवितृ, अश्विन एवं पूषन् आदिदेव निर्वाप की स्तुति के लिए हैं तथा निर्वाप 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मंत्र को गत वाक्य से शुरू करना चाहिए। इस कारण से सवितृ आदि शब्द की जगह पर सूर्यादि शब्द का ऊह करना उचित नहीं है॥ ३७॥

**'अग्नये जुष्टं' इत्यादि वाक्य गत अग्निपद का ऊह (कथन) विकृति में करना चाहिए।' इस अधिकरण (प्रकरण) के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## (१५६५) गुणशब्दस्तथेति चेत्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** गुणशब्द: = गुणभूत अग्नि आदि अर्थ का वाचक शब्द भी, तथा = सवितृ आदि पद की भाँति स्तावक है, इति = यदि ऐसा, चेत् = कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि निर्वाप मंत्र 'देवस्य त्वा सवितु: प्रसवे' इत्यादि में जो गुण भूत अग्नि वाचक शब्द है, वह भी सवितृ आदि शब्दों की तरह स्तावक ही है। अत: विकृति यज्ञ में उसका ऊह (कथन) नहीं करना चाहिए॥ ३८॥

**उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान आचार्य अगले सूत्र में देते हैं—**

## (१५६६) न समवायात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** समवायात् = अर्थ की बाधा न होने से, न = स्तावक शब्द नहीं होता है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उक्त पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं है। 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस उक्त मंत्र का अर्थ यह है कि अग्नि के साथ जुष्ट रीति से होता है, उसी रीति से मैं निर्वाप (दान) करता हूँ। अत: अर्थ की बाधा न होने से अग्नि शब्द स्तावक नहीं है, इससे विकृति यज्ञ में अग्नि पद का ऊह (कथन) करना चाहिए॥ ३९॥

**इडोपह्वान मंत्रों में जो यज्ञपति शब्द पठित है, इस प्रकरण को अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

## (१५६७) चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवदविकार: स्यात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** चोदिते = यज्ञपति शब्द का पाठ होने पर, तु = भी, परार्थत्वात् = इडा की स्तुति के लिए होने से, विधिवत् = विधि की भाँति, अविकार: = ऊह नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यदि चोदित अर्थात् यज्ञपति शब्द का पाठ परार्थ होने से अविकार (ऊह) से प्रयुक्त किया जाता है। दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत इस प्रकार का मंत्र आता है- 'ये यज्ञपतिं वर्धान्' यहाँ पर 'वर्धान्' का अर्थ 'वर्धयन्तु' किया गया है। अब बहुयजमान वाले सत्र में यज्ञपति शब्द का अतिदेश होने से यज्ञपति शब्दोत्तर बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए या नहीं? इस प्रकरण में पूर्व पक्ष का कथन है कि

बहुवचन का ऊह करना चाहिए और सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि बहुवचन का ऊह नहीं करना चाहिए। यज्ञपति शब्द तो केवल इडा स्तुति हेतु प्रयुक्त किया गया है तथा इससे वह असमवेत है। एक वचनान्त यज्ञपति शब्द द्वारा भी इडा की स्तुति हो सकती है॥ ४०॥

**सूक्तवाक में यजमान शब्द का ऊह है, अगले सूत्र में आचार्य इस प्रकरण का प्रतिपादन करते हैं—**

## ( १५६८ ) विकारस्तत्प्रधाने स्यात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** तत्प्रधाने = यजमान-प्रमुख मंत्र में, विकार:स्यात् = ऊह करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यजमान प्रधान मंत्र में विकार (ऊह) करना चाहिए। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में जो सूक्तवाक मंत्र है,उसमें ये वाक्यांश हैं- 'यजमान आयुराशास्ते, सुप्रजस्त्वमाशास्ते, उत्तरां देवयज्यामाशास्ते, भूयो हविष्करणमाशास्ते' इत्यादि इन वाक्यांशों में जो यजमान शब्द है, उसका सत्रान्तर्गत बहुवचन रूप में ऊह (कथन) करना चाहिए; क्योंकि जितने लोग होते हैं, वे सभी फलाकांक्षी होते हैं॥ ४१॥

**सुब्रह्मण्याह्वान के निगद में हरिवत् शब्द का ऊह ( कथन ) नहीं होता। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को अगले सूत्र में बतलाते हैं—**

## ( १५६९ ) असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** तदर्थेषु = हरिवत् आदि शब्दों के अर्थों में, असंयोगात् = सम्बन्ध न होने से, तद्विशिष्टम् = हरिवदादि शब्द विशिष्ट ही विकृति यज्ञ में, प्रतीयेत = प्रतीत होते हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ज्योतिष्टोम प्रकरण में सुब्रह्मण्याह्वान में 'इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथे:' इत्यादि मंत्र बारम्बार वर्णित हुआ है। अग्निष्टुत नामक विकृति यज्ञ में इसका अतिदेश नहीं होता। यहाँ पर हरिवत् आदि शब्द का जो शब्दार्थ किया गया है, उसका इन्द्र के साथ सम्बन्ध न होने के कारण हरिवत् शब्द का ऊह (कथन) मानने में नहीं आता। एकमात्र अनुपस्थित सद्गुणों के द्वारा इन्द्र की स्तुति होती है॥ ४२॥

**अगले सूत्र में उक्त सूत्र के प्रति आशङ्का प्रकट की गई है—**

## ( १५७० ) कर्माभावादेवमिति चेत्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** कर्माभावात् = हरिवत् आदि शब्द का प्रयोग निमित्त शब्द का सम्बन्ध इन्द्र न होने से, एवम् = उक्त कथन किया जाये, इति चेत् = यदि ऐसा माने, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त की जाती है कि कर्माभाव होने के कारण 'हरिवत्' शब्द आदि का प्रयोग होता है। यहाँ पर हरिवत् शब्द का प्रयोग इन्द्र अर्थ में किया गया है। जिस तरह से 'अहोरात्रे वा इन्द्रस्य हरी' अर्थात् रात और दिन इन्द्र के हरि हैं; क्योंकि 'ताभ्यामेव सर्वं हरति' अर्थात् उनसे ही इन सबका हरण संभव होता है। इस प्रकार से हरिवत् शब्द समवेतार्थक है। इसी कारण से हरिवद् आदि शब्दों का भी कथन होना चाहिए॥ ४३॥

**उक्त आशङ्का का समाधान आचार्य अगले सूत्र में देते हैं—**

## ( १५७१ ) न परार्थत्वात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** परार्थत्वात् = केवल परार्थत्व अर्थात् स्तुति के लिए होने से, न = ऐसा नहीं होता।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'हरिवत्' आदि शब्द इन्द्र की स्तुति के लिए होने के कारण परार्थ होते हैं। अत: परार्थत्व होने से इस प्रकार का अभिसम्बन्ध (कथन) नहीं किया जाता॥ ४४॥

**'सारस्वती मेषी में अध्रिगुवचन का अभाव है।' इस प्रकरण को अगले सूत्र में आचार्य प्रकट करते हैं—**

## ( १५७२ ) लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** समानविधानेषु = पशु सम्बन्धी धर्म विधियों में, लिङ्गविशेषनिर्देशात् = पुल्लिंग का निर्देश होने से

तथा मेषी तो, स्त्रीत्वात् = स्त्री होने से, सारस्वती = सरस्वती देवताक मेषी द्रव्यक याग, अप्राप्त = प्राप्त नहीं होता है।

**व्याख्या**- उक्त प्रकरण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अध्रिगु नाम के ऋत्विक् को उद्दिष्ट करके प्रैष मंत्र उच्चारित किये जाते हैं 'दैव्यः शमितारः आरभध्वम्' आदि। अतिरात्र याग में सवनीय पशु का वैदिक कथन इस प्रकार है- सारस्वती मेष्यमतिरात्रे अर्थात् इस मेषी में उपर्युक्त मन्त्र लागू नहीं होता; क्योंकि 'मेषी' स्त्रीलिंग है तथा 'प्रास्मा अग्निं भरत' इस जगह अस्मै पद पुल्लिंग वाची है। इसलिए सारस्वती मेषी जो अतिरात्र में देने योग्य है, उससे 'दैव्यः शमितारः' आदि मंत्रों का निवारण होता है॥ ४५॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १५७३ ) पश्वभिधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, पश्वभिधानात् = पशु का अभिधान होने से,तत् हि = वही, चोदनाभूतम् = विधि का विषय है, पुंविषयम् = अतः पुं-पशु भी मेषी को उद्दिष्ट करता है। पुनः पशुत्वम् = मेषी में पशुत्व तो है ही।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का अभिमत देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि पुल्लिंग वाचक पशु भी मेषी को उद्दिष्ट करता है तथा पुनः वह पशु शब्द के द्वारा कहा जाता है।'अग्नीषोमीये पशुमालभेत'; इस सूत्रांश में पशु शब्द का ही पाठ मिलता है।'प्रास्मा अग्निं भरत,' यहाँ पर अस्मै पद मेषी को ही उद्दिष्ट करता है।'मेषी' भी पशु है। वस्तु या पदार्थ मात्र तीन लिंगों में प्रयुक्त होता है। किसी भी क्षण पुरुष को उद्दिष्ट करके कहा जाता है कि 'इदं वस्तु दुर्लभम्।' यहाँ वस्तु का तात्पर्य पुरुष में नपुंसक का निर्देश हुआ है। व्यक्ति के तात्पर्य से स्त्रीलिंग का भी निर्देश हो सकता है। अतः पुल्लिंग वचन में कोई विरोध नहीं है। अतः सारस्वती मेषी अध्रिगु प्रैष को प्राप्त होती है॥ ४६॥

**अब अगले तीन सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष में दोष कथन करते हैं—**

**( १५७४ ) विशेषो वा तदर्थनिर्देशात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तदर्थनिर्देशात् = पुंस्त्व की विवक्षा (कथन) होने से, विशेषः = विशेष है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का दोष कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि विशेष रूप से पुल्लिंग का कथन होने के कारण सारस्वती मैषी अध्रिगु के प्रैष का विषय नहीं है। अर्थ का निर्देशन होने से यह वचन विशिष्ट है। अस्तु; यह शब्द पुंस्त्व का निर्देश नहीं कर सकता है। अतः प्रथम पक्ष ही बतलाया गया है॥ ४७॥

**( १५७५ ) पशुत्वं चैकशब्द्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पशुत्वम् = पशुत्व का जो निर्देश है, ऐक्यशब्द्यात् = वह मेषी और पशु की एकता होने से ही सम्भव है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सूत्र में यहाँ जो एकत्व शब्द प्रयुक्त किया गया है, वह पशुत्व के अभिप्राय वाला होना चाहिए। आचार्य आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेषी पशु है। यहाँ पशु होना विशेष रीति से संभव है; किन्तु इससे जहाँ मेषी की जरूरत हो, वहाँ चाहे जो भी पशु कदापि स्वीकार्य नहीं होता॥ ४८॥

**( १५७६ ) यथोक्तं वा सन्निधानात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, सन्निधानात् = सन्निधान होने से, यथोक्तम् = अध्रिगु प्रैष मेषी को प्राप्त नहीं होता।

**व्याख्या—** उक्त दोष कथन को पुष्ट करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यहाँ पर सर्वनाम शब्द सन्निहित वचन वाला है। अतः सन्निधान होने से जैसा कहा गया है, वही उचित है। सूत्रकार कहते हैं कि जहाँ पर सारस्वती मेषी का दान देना हो, तो वहाँ पर विधि वर्णित मेषी ही पहले बुद्धि गोचर होती है, पशुत्व नहीं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अध्रिगु प्रैष मेषी को अप्राप्त है॥ ४९॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के अधिकरण ( प्रकरण ) के विषय में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५७७ ) आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** अधिकारे = इस अधिकार में, आम्नातात् = कथन किये गये साम से, अन्यद्विकारः = अन्य आदेशभूत विकार होता है, वचनात् = विशेष का विधान होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि विशेष का विधान होने के कारण आम्नात (वैदिक कथन) से अन्य आदेश का विकार प्रकट होता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ में यज्ञायज्ञीय नामक स्तोत्र आता है। उसमें यह ऋग्वेद ६/४८/१ की ऋचा प्रयुक्त हुई है- 'यज्ञयज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे। प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्।' इस ऋचा में जहाँ 'गिरा गिरा' पद है, वहाँ पर 'इरा इरा' पद अवस्थित कर सामगान करना चाहिए; क्योंकि 'ऐरं' कृत्वोद्गायेत्' ऐसा विशिष्ट विधान है। इसका कारण प्रयोगान्तर्गत पठित वर्ण के बाधक रूप में 'इरा-इरा' विकार करके गायन करना चाहिए॥ ५०॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( १५७८ ) द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात्॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्वैधम् = दोनों रीतियों का पाठ रखकर गान करना, तुल्यहेतुत्वात् = समान हेतु होने से,सामान्यात् = समानता होने से, विकल्पःस्यात् = विकल्प होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि पाठ दो प्रकार का होता है- १. इरापद और २. गिरा पद। सूत्र में पाठ 'गिरा-गिरा' आने से, उसी 'गिरा' पद का ही गायन होना चाहिए और 'इरा-इरा' भी पाठ में विधान किया गया है, अतः उसका भी गायन होना चाहिए। प्रयोगान्तर्गत दोनों पदों में से कोई भी पद रखकर गायन करना उचित है॥ ५१॥

## ( १५७९ ) उपदेशाच्च साम्नः॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, साम्नः = साम का, उपदेशात् = उपदेश होने से।

**व्याख्या—** साम के उपदेश होने के कारण भी 'गिरा' पद उपदिष्ट हो जाता है। साम मन्त्रान्तर्गत 'गिरा' पद पठित होने से उसकी विधि अनुमान के योग्य है। साथ ही 'इरा' की विधि भी प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि 'ऐरं कृत्वोद्गायेत्' ऐसा स्पष्ट किया गया है। इसलिए दोनों का समान बल होने से विकल्प मानने के योग्य है॥ ५२॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष देते हुए सूत्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५८० ) नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत्॥ ५३॥

**सूत्रार्थ—** श्रुतिविशेषात् = श्रुति वचन से, नियमः = 'इरा' पद का ही नियम है, इतरत् = मंत्र घटक 'गिरा पद' साप्तदश्यवत् = पाँचदश्य से साप्तदश्य की प्रकृति में बाधा होती है, वैसे ही यहाँ पर भी बाधा होती है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रुति विशेष के द्वारा 'इरा' पद ही उपदिष्ट किया गया है। अतः नियम यहाँ पर 'इरा' पद का नियम है तथा जो इतर 'गिरा' पद है, वह साप्तदश्य की तरह ही होता है। जब 'ऐरं कृत्वोद्गायेत्' ऐसा बाधा उत्पन्न करने वाला वचन है, तो पुनः गिरा पद से गायन न करना ही विधान के अनुकूल है। अतः जब 'यज्ञायज्ञीयेन स्तुवीत' ऐसा कहा जाये, तो मंत्र घटक पद 'गिरा' की जगह 'इरा-इरा' कहते हुए गायन करना चाहिए॥ ५३॥

**'इरा' पद का प्रगीतत्व है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५८१ ) अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ—** शब्दान्यत्वे = 'इरा' पद 'गिरा' शब्द से भिन्न होने के कारण, अप्रगाणात् = अप्रगीत शब्द ही है, तथाभूतोपदेशः स्यात् = अतः जिस प्रमाण द्वारा विहित है, उसी प्रमाण द्वारा पाठ करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'इरा' पद 'गिरा' शब्द से भिन्न होने के कारण अप्रगीत अगेय है। अतः जैसा विहित है, वैसा ही प्रमाण युक्त पाठ करना चाहिए। जिस प्रकार मंत्र में पाठ मिलता है, उसी प्रकार से गायन होना चाहिए॥ ५४॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान देते हैं—**

**( १५८२ ) यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, पदान्यत्व प्रधानत्वात् = भिन्न पद की प्रधानता होने से, यत्स्थाने = जिस स्थान में जिस शब्द का आदेश हो, तद्गीतिः = उसका गान, स्यात् = करना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'गिरा' के स्थान पर 'इरा' पद का आदेश है। उस पद की जो गति है, वह 'इरा' पद में होती है। स्थान की अपेक्षा आदेश प्रमुख होता है, अतः प्रधानता होने से 'इरा' का ही गान होना चाहिए। 'ऐरं कृत्वोद्गायेत्' इस विधि के अभिप्राय का विषय भी 'इरा' पद के गायन में है॥ ५५॥

**( १५८३ ) गानसंयोगाच्च॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, गानसंयोगात् = गान का संयोग होने से भी 'इरा' पद होता है।

**व्याख्या—** उक्त कथन को आचार्य पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'उद्गेयमा इरा च दाक्षासा' इस सूत्र में वर्ण गान भी संयुक्त पाठ है, अतः 'इरा' पद का गान विशेष रूप से होना चाहिए॥ ५६॥

**अगले सूत्र में आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १५८४ ) वचनमिति चेत्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** वचनम् = वचन किसलिए है, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो?

**व्याख्या—** सूत्रकार आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि गान प्रतिपादक शास्त्र होते हुए भी उक्त वचन 'उद्गेयमा इरा च दाक्षासा' का विधान किस कारण से किया गया है, यदि ऐसा कहते हैं, तो?॥ ५७॥

**उक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में देते हैं—**

**( १५८५ ) न तत्प्रधानत्वात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रधानत्वात् = वहाँ पर 'इरा' पद की प्रधानता होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि गान विशिष्ट 'इरा' पद का कोई विधान नहीं है। विधान में केवल 'इरा' पद की ही प्रधानता है। विधि का विषय इरा पद ही है। गान तो गान विधायक शास्त्र द्वारा ही प्रतिपादित है। अतः समाधान यह है कि 'इरा' पद का ही गायन करना उचित है॥ ५८॥

## ॥ इति नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

# ॥ अथ नवमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**'गीत ही साम है।' इस प्रकरण को अगले सूत्र में निरूपित करते हुए आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं-**

## ( १५८६ ) सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** मन्त्रम् = मन्त्रों को, सामानि = साम को, एके = कितने ही आचार्यों ने माना है, स्मृत्युपदेशाभ्याम् = उनमें स्मृति और उपदेश के लिए वर्णित हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि कितने ही विद्वज्जनों का मानना है कि स्मृति और गुरु-शिष्य परम्परा से होने वाला उपदेश; इन दो हेतुओं से स्पष्ट होता है कि साम प्रगीत मन्त्र वाक्य है। इसका प्रमाण यह है कि 'प्रगीते मन्त्रः, सामः' अर्थात् गाये हुए मन्त्र साम हैं। अन्यत्र भी गुरु शिष्य को उपदेश देता है कि 'रथन्तरं पठ' अर्थात्- रथन्तर साम पढ़। अतः स्मृति और उपदेश रूप इन दोनों हेतुओं से गान विशेष ऋचाओं को ही साम कहते हैं॥ १॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष से आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५८७ ) तदुक्तदोषम्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** तत् = यह पक्ष, उक्तदोषम् = दोषयुक्त है।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह पक्ष दोषयुक्त है, इसका उल्लेख सप्तम अध्याय में किया जा चुका है। साम गीतियाँ है, प्रगीत मन्त्र वाक्य नहीं हैं। अतः शुद्ध गान का नाम ही साम है तथा यह गान जिन मंत्रों में किया जाता है, वे मंत्र सामयोनि वाले कहे जाते हैं॥ २॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य पुनः पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १५८८ ) कर्म वा विधिलक्षणम्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विधिलक्षणम् = द्वितीया विभक्ति का श्रवण होने से, कर्म = साम प्रधान कर्म है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि इस नाम में प्रधान विधि का लक्षण है, इस कारण साम शब्द से प्रधान कर्म कहलाता है। 'रथन्तरं गायतीत्यत्र प्रयाजान् यजतीतिवत् प्रधानकर्म लक्षणम्।' यहाँ सूत्र में जैसे 'प्रयाज' में द्वितीया विभक्ति लगी हुई है, वैसे ही 'रथन्तरम्' में भी द्वितीया विभक्ति है। अतः प्रयाज के सदृश साम भी प्रमुख कर्म है॥ ३॥

## ( १५८९ ) तदृग्द्रव्यं वचनात्पाकयज्ञवत्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** तत् = वह, ऋग्द्रव्यम् = ऋक् मंत्र रूप द्रव्य है, वचनात् = 'ऋचि साम गायति' इत्यादि वचन होने से, पाकयज्ञवत् = पाक यज्ञ में जिस प्रकार लाजा आदि द्रव्य याग-अंग हैं, उसी प्रकार ऋग्द्रव्य भी गुणभूत है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि जिस प्रकार से पाक यज्ञ में गुण द्रव्य याग-अङ्ग गिनाये गये हैं, उसी प्रकार से सामगान के ऋचा मन्त्र रूप, ऋक् द्रव्य भी गुणभूत है तथा सामगान प्रधान कर्म है॥ ४॥

## ( १५९० ) तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = क्रतु विशेष में, द्रव्यान्तरे = अन्य ऋचाओं में, प्रदेशः = अतिदेश शास्त्र, व्यतिरेकः = अभाव, अप्रतिषिद्ध = अविरुद्ध है।

**व्याख्या—** क्रतु विशेष में द्रव्यान्तर (दोनों ऋचाओं) में प्रदेश (अतिदेश शास्त्र) तथा व्यतिरेक नहीं हैं, इसलिए साम प्रधान कर्म है। 'अभित्वा शूर नोनुमः' इस ऋचा में रथन्तर साम गायन का नियम है, तब भी पुनः 'कवतीषु साम गायति' आदि अतिदेश अर्थरहित हो जाते हैं। इसका समाधान यह है कि किसी वस्तु विशेष में 'कवतीषु साम गायति' इत्यादि अतिदेश नियम लागू होता है। अतः 'अभित्वा शूर नोनुमः' में जो

रथन्तर साम गायन हेतु कहा गया है, वह सामान्य शास्त्र है तथा 'कवती' में रथन्तर साम गायन को कहा गया है; क्योंकि वह विशिष्ट शास्त्र है। अतः स्थान भेद में दोनों ही प्रस्तुत हो सकते हैं॥ ५॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष से समाधान करते हैं—**

**( १५९१ ) शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दार्थत्वात् = रथन्तरादिगान ऋचाओं के लिए होने से, तु = तो, न एवं स्यात् = गान प्रधान कर्म नहीं है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार बतलाते हैं कि शब्द का उपकारक साम प्रत्यक्षतया प्राप्त होता है। इसलिए शब्दार्थत्व होने से अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी चाहिए। अतः गान क्रिया का फल अदृष्ट न होकर दृष्ट ही होना चाहिए; क्योंकि गान प्रधान कर्म नहीं, बल्कि गुण कर्म ही उचित है॥ ६॥

**( १५९२ ) परार्थत्वाच्च शब्दानाम्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दानाम् = रथन्तरादि शब्दों का, परार्थत्वात् = स्तुतिपरक होने से भी (ऐसा ही है)।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रथन्तर आदि शब्दों के परार्थ-स्तुतिपरक होने के कारण भी साम गुणभूत है। सामगान द्वारा ऋचा के अक्षरों की अभिव्यक्ति होती है तथा इन अक्षरों के द्वारा देवताओं की स्तुति होती है। इस कारण से साम का फल=परिणाम अदृष्ट न होकर दृष्ट होना ही है॥ ७॥

**( १५९३ ) असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दयोः पृथगर्थत्वात् = एक गीतिवाचक और दूसरा शब्द स्तोत्र वाचक होने से, कर्मणा असम्बद्धम् = जो ऋचा के अंग रूप में मानने में आये, तो उसके साथ साम का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** सूत्रकार समझाते हुए आगे कहते हैं कि स्तुति और गान एकार्थी नहीं होते, तब फिर 'रथन्तरं पृष्ठं भवति' इस जगह पर रथन्तर (गान) और पृष्ठ (स्तुति) का अभेद किस कारण से सम्भव हो सकता है? दोनों शब्दों की प्रकृति अलग-अलग होने से तो उनमें अभेद सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, किन्तु 'रथन्तर' शब्द का अर्थ रथन्तर गुण वाला स्तोत्र मानने से स्तोत्र और पृष्ठ ये दोनों एकार्थी होने से अभेद सम्बन्ध हो सकता है। इसलिए साम को ऋक् संस्कारज कर्म स्वीकार कर लेना चाहिए॥ ८॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य बतलाते हैं कि अग्न्याधान से संस्कृत होने पर पुनः संस्कार की जरूरत नहीं पड़ती—**

**( १५९४ ) संस्कारश्चाप्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अप्रकरणे = प्रयोग के बाहर, अध्ययन आदि के समय, प्रयुक्तत्वात् = प्रयुक्त होने से, संस्कारः = संस्कार हो चुकने के उपरान्त पुनः संस्कार नहीं होता, अग्निवत् स्यात् = जिस तरह से अग्नि प्रयोग बाहर आधान से संस्कृत होने पर पुनः इसके संस्कार की जरूरत नहीं रह जाती।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार अग्न्याधान के समय अग्निसंस्कार प्राप्त होता है और पुनः ज्योतिष्टोम प्रयोग अवधि में इसके संस्कार की कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार अध्ययन काल में ऋचाओं के गान से संस्कृत (संस्कारित) हुए प्रयोग (याग) के समय संस्कार की जरूरत नहीं रहती। जैसे अग्न्याधान होता है, वैसे ही ऋक् का गान भी संस्कारज होता है॥ ९॥

**( १५९५ ) अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अकार्यत्वात् = जो मंत्र पहले से ही संस्कृत (संस्कारित) हुआ हो, तो उसके प्रयोग की अवधि में पाठ नहीं करना चाहिए। शब्दानाम् = शब्द का, अप्रयोगः प्रतीयेत = अप्रयोग होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य बतलाते हैं कि यदि अध्ययन काल में सामगान द्वारा मन्त्र संस्कारित करना मानें, तो प्रयोगान्तर्गत उस मंत्र का पाठ निरर्थक हो जाता है। यदि अध्ययन काल में गान का उद्देश्य मंत्रों में संस्कार

प्रादुर्भूत करना होता, तो प्रकट हो जाने पर फिर प्रयोग के समय मंत्रों का गान किसलिए किया जाये? वस्तुत: मंत्रों के गान-प्रयोग का समय होने पर प्रयोग की अवधि में सामगान ही मन्त्रों का संस्कारज होता है॥ १०॥

**( १५९६ ) आश्रितत्वाच्च॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, आश्रितत्वात् = औदुम्बरी स्पर्श के आश्रित होने से भी उपर्युक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा......उद् गायेत्' इस वाक्य में औदुम्बरी को स्पर्श कर, उसको आश्रित करके सामगान करने का विधान किया गया है। अत: प्रयोगावधि में गान करना ही संस्कार है। यहाँ यही सिद्ध होता है॥ ११॥

**अगले सूत्र में आचार्य आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १५९७ ) प्रयुज्यत इति चेत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयुज्यत = प्रयोग के समय सामगान का प्रयोग होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि प्रयोग की अवधि में सामगान का विधि विधान हो, तो अध्ययन काल अर्थात् पठन-पाठन की अवधि में जो सामगान किया जाता है, वह तो व्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार से उत्पन्न उक्त आशङ्का का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं॥ १२॥

**( १५९८ ) ग्रहणार्थं प्रयुज्येत॥१३॥**

**सूत्रार्थ—** ग्रहणार्थम् = अभ्यास के लिए, प्रयुज्येत = प्रयुक्त होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त सूत्र में वर्णित कथन उपयुक्त नहीं है; क्योंकि अध्ययन काल की अवधि में जो साम गान होता है, वह तो केवल अभ्यास मात्र के लिए ही होता है। अध्ययन कालावधि में सामगान करने से गान में पटुता आ जाती है। इससे प्रयोग काल में विस्मृत हुए बिना भी गान होता रह सकता है॥ १३॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १५९९ ) तृचे स्यात् श्रुतिनिर्देशात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** तृचे = तीन ऋचाओं में, स्यात् = सामगान होता है, श्रुतिनिर्देशात् = श्रुति में ऐसा कथन होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि तीन ऋचाओं को ही 'तृच' के नाम से जाना जाता है। सामगान तीन ऋचाओं के समूह में ही करना चाहिए; क्योंकि 'एकं साम तृचे क्रियते' ऐसा विधान भी है॥ १४॥

**( १६०० ) शब्दार्थत्वाद्विकारस्य॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** विकारस्य = सामगान रूपी विकार, शब्दार्थत्वात् = शब्दार्थ से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सामगान ऋचाओं के अक्षरों को संस्कार देता है। अत: जिस तरह तीन खूँटियों के ऊपर एक पट रखा जाता है, वैसे ही एक साम तीन मंत्रों में पूर्ण होना चाहिए, एक या दो मंत्र (ऋचा) में नहीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक सामगान तीन ऋचाओं में व्यासज्य वृत्ति द्वारा (बाँटकर) ही होना चाहिए॥ १५॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि उक्त कथन को अर्थवाद भी पुष्ट करता है—**

**( १६०१ ) दर्शयति च॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, दर्शयति = अर्थवाद भी ऐसा ही बतालाता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अर्थवाद का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'ऋक् सामो वाच:, आवां मिथुनी संभवावेति, सोऽब्रवीत् न वै त्वं ममालमसि जायार्थे। ततस्ते द्वे भूत्वोचतु: संभवामेति। सोऽब्रवीत् न युवां ममालमिति। तास्तिस्रो भूत्वोचुर्मिथुनी संभवामेति सोऽब्रवीत्, संभवामेति।' यहाँ पर इस अर्थवाद द्वारा भी

पुष्ट होता है कि तीन ऋचाओं में एक ही साम का गान किया जाता है॥ १६॥

**अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष द्वारा प्रतिपादन करते हैं—**

**( १६०२ ) वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारस्य = अक्षराभिव्यक्ति, तदर्थत्वात् = ऋचा के लिए होने से, वाक्यानाम् = ऋग् रूप वाक्य, विभक्तत्वात् = विभक्त अर्थात् अलग-अलग होने से, प्रतिशब्दम् = प्रत्येक ऋचा में, समाप्तिः = सामगान की समाप्ति, स्यात् = करनी चाहिए।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि संस्कार (अक्षरों की अभिव्यक्ति) ऋचा के लिए होता है। एक ऋचा से स्तुति पूरी होती है,अतः हर एक ऋचा का सामगान पूरा-पूरा होना चाहिए। सम्पूर्ण गायन होने से ही ऋचा के अक्षरों की अभिव्यक्ति हो सकती है। यदि तीन ऋचाओं में एक साम व्यासज्य वृत्ति से करने में आये, तो एक ऋचा में साम का अवयव आयेगा और साम के अवयव द्वारा ऋचा के अक्षरों की अभिव्यक्ति नहीं होती। ऋचा का उपकार करने वाला एकमात्र साम है, साम-अवयव का नहीं है। इसलिए तृच में हर एक ऋचा में सामगान पूरी तरह से होना उचित है॥ १७॥

**( १६०३ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = और उसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य अर्थ में दृष्टिगोचर होता है।

**व्याख्या—** आचार्य आगे बतलाते हैं कि वैसे ही अन्य अर्थ दर्शन भी होता है। जहाँ तक वाक्य परिपूर्ण हो, वहाँ तक सामगान करना चाहिए। प्रत्येक ऋचा में साम की समाप्ति होने पर अन्य दूसरे अर्थ की सिद्धि होती है। एक ही ऋचा के अन्तर्गत सामगान पूर्ण करना अनिवार्य होता है; क्योंकि इसी से अन्यार्थ की सिद्धि होती है। अन्य अर्थ है, इसी कारण से प्रस्ताव का भेद है। यह प्रस्ताव भेद इस प्रकार कहा जाता है, देखें- 'अष्टाक्षरेण प्रथमायामृचि प्रस्तौति द्व्यक्षरेणोत्तरयोः।' ऋक् पाद में भी सामगान पूर्ण करने को कहा गया है। जब तीनों ऋचाओं में व्यासज्य वृति से सामगान होता है, तब उक्त प्रस्ताव वहाँ पर सिद्ध नहीं हो सकता॥ १८॥

**( १६०४ ) अनवानोपदेशश्च तद्वत्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तद्वत् = उसी प्रमाण से, अनवानोपदेशः = अनवान का भी उपदेश होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रत्येक ऋचा के साथ गान करना अति आवश्यक होता है। जब एक ही साम तृच- तीनों ऋचाओं में व्यासज्य वृत्ति से करने में आये, तब तो उसकी अनवानता (एक ही श्वास में गान करना)सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक ऋचा में सामगान करना चाहिए॥ १९॥

**आवृत्ति द्वारा अन्य ऋचाएँ भी इसी साम से सम्बद्ध होती हैं-**

**( १६०५ ) अभ्यासेनेतरा श्रुतिः॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** अभ्यासेन = आवृत्ति द्वारा, इतरा श्रुतिः = अन्य ऋचाएँ भी इसी साम द्वारा सम्बद्ध होती हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि बारम्बार अभ्यास करते समय सामगान करने वालों ने एक ऋचा में सम्पूर्ण सामगान का अभ्यास किया है। उससे प्रयोग-काल में भी ऐसे ही सामगान करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक ऋचा में सामगान पूर्ण करना आवश्यक होता है॥ २०॥

**अगले दो सूत्रों में सामगान के लिए तीन ऋचायें समान छन्द वाली होने की बात कही जा रही है—**

**( १६०६ ) तदभ्यासः समासु स्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** तदभ्यासः = उस (तृच) साम का अभ्यास, समासु स्यात् = समान छन्द वाली तीन ऋचाओं में करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि तृच में अर्थात् तीनों ऋचाओं में सामगान करना हो, तो वे तीनों ऋचाएँ एक जैसे छन्द वाली होनी चाहिए, अन्यथा संशर एवम् विलेश नाम का दोष लगता है। संशर यानी ऋचा अल्पाक्षर छन्दवाली हो, तो शेष साम का लोप हो जाता है तथा अधिक अक्षर वाली (विलेश) हो, तो साम की अपेक्षा अक्षर ज्यादा पड़ते हैं। अधिक हुए अक्षर असंस्कृत रह जाते हैं। इसलिए तीन ऋचाओं का मात्र एक ही छन्द होना उचित है॥ २१॥

**( १६०७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = उक्त अर्थ में लिङ्ग वाक्य भी प्राप्त है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि समान छन्दों में ही सामगान करने के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। 'स्थाल्यां सक्त्ववधीयते यद् बृहद् गायत्रीषु क्रियते' अर्थात् बहु अक्षरों से युक्त छन्द से सम्बन्धित सामगान अल्पाक्षर युक्त ऋचा के अन्तर्गत किये जाने से दोष होता है। अतः समान छन्द वाली तीन ऋचाओं में सामगान करना उचित है॥ २२॥

**अगले सूत्र में उत्तरा नामक ग्रन्थ में पठित दो ऋचाओं का ग्रहण होना बतलाते हैं—**

**( १६०८ ) नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** नैमित्तिकम् = यद्योन्यां तदुत्तरयोः इत्यादि में जो उत्तरा पद है, इससे उत्तरा नामक ग्रन्थ में बताई दो ऋचाओं का ग्रहण करना, उत्तरात्वम् = उत्तरात्व, आनन्तर्यात् = सम्बन्ध निकट में ही, प्रतीयेत = प्रतीत होते हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि सामगान करने वालों के दो ग्रन्थ हैं। इनमें से एक छन्द और दूसरा उत्तरा छन्द। सूक्त की प्रथम ऋचा योनिभूत होती है तथा अन्य दो उत्तरा कहलाती हैं। ये दोनों उत्तरा नामक ग्रन्थ में होती हैं; परन्तु 'यद्योन्यां तदुत्तरयोः' इस सूत्र के अनुसार जिस सूक्त की प्रथम ऋचा योनिभूत हो, उसी सूक्त की अवशिष्ट दो ऋचायें माननी चाहिए॥ २३॥

**अगले सूत्र में आचार्य बतलाते हैं कि तीन ऋचाएँ एक ही अर्थ में संगत होती हैं—**

**( १६०९ ) ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, ऐकार्थ्यात् = तीन ऋचाओं की एक अर्थ में संगति होने से, तदभ्यासः = उसका अभ्यास करने में आता है।

**व्याख्या—** आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि तृच में तीनों ऋचाएँ एक ही अर्थ में संगत होती हैं। इसलिए प्रथम योनिभूत ऋचा का गायन करने के उपरान्त उसी सूक्त के पीछे दो उत्तर ऋचाओं का ही गायन करना चाहिए॥ २४॥

**अगले तीन सूत्रों में छन्दों का प्रग्रथन करके सामगान करने का कथन करते हैं—**

**( १६१० ) प्रागाथिकं तु॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो (निश्चय ही), प्रागाथिकम् = प्रागाथिक सामगान भी करने में आता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि गान करना चाहिए। पूर्वा बृहती और उत्तरा पंक्ति इन दोनों छन्दों का प्रग्रथन करके ही सामगान करना चाहिए। ज्योतिष्टोम याग में माध्यन्दिन सवन में बृहद् रथन्तर आदि का सामगान करने का नियम-विधान बनाया गया है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए सुधी पाठकों को शाबर भाष्य का अवलोकन करना चाहिए॥ २५॥

**( १६११ ) स्वे च॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, स्वे = ककुभ् आदि छन्दों में भी गान होता है।

**व्याख्या—** आचार्य आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अपने छन्द में ही गान करना अभीष्ट होता है। प्रग्रथन अर्थात् एक छन्द में दूसरे छन्द के पाद को मिलाने से ककुभ् आदि छन्द बनते हैं। इन छन्दों में गान करने से ककुभ् में ही गान हुआ, ऐसा समझा जाता है॥ २६॥

**( १६१२ ) प्रगाथे च॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रगाथे = प्रगाथ में (भी गान होता है)।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जहाँ पर प्रकर्षपूर्वक गान होता है, वही प्रगाथ कहलाता है। शाबर भाष्य में इसका उल्लेख निम्नवत् है- 'एवम् चात्र प्रगाथशब्द उपपन्नो भवति।' प्रकर्षं हि प्रशब्दो द्योतयति। प्रकर्षेण यत्र गानं स प्रगाथ कश्च प्रकर्षः। यत्किञ्चित्पुनर्गायिति तस्मादपि प्रकृतयोः प्रग्रथनं कर्त्तव्यम्।' छन्द अलग-अलग हों, इनमें एक अथवा दो पाद लेकर एक अलग ही छन्द कुकुभ् आदि उत्पन्न कर ऋग्वर्णों को बारम्बार गायन करने की प्रक्रिया का नाम ही प्रगाथ है। इस पद्धति के द्वारा प्रगाथ में भी गायन किया जाता है। यह पद्धति सामगान के निष्णातों द्वारा अच्छी तरह से जाननी चाहिए॥ २७॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि लिङ्ग वाक्य का अतिरेक होने से भी गान संभव है—**

**( १६१३ ) लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकात् = लिङ्ग वाक्य का अव्यतिरेक होने से (भी सामगान होना आवश्यक है)।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रमाणों का अव्यतिरेक होने से भी सामगान करना अनिवार्य है। 'एषा वै प्रतिष्ठिता बृहती यत्पादं पुनरारभते' इत्यादि बृहती के अर्थवाद में पादारम्भ लिङ्गदर्शन का अन्य कोई उपाय नहीं है अर्थात् यहाँ प्रग्रथन करने का कथन है। पूर्वा बृहती है, उत्तरा पंक्ति है; फिर भी उन दोनों के प्रग्रथन द्वारा तृच (तीनों ऋचाओं का) कर्म करके ककुबुत्तराकार रूप सामगान करना उचित है॥ २८॥

**अगले सूत्र में प्रयोजन की एकता से गीति के विकल्प बताए गये हैं—**

**( १६१४ ) अर्थैकत्वात् विकल्पः स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थैकत्वात् = प्रयोजन के एक होने से, विकल्पः स्यात् = विकल्प है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सामवेद में गीति के अनेकों-पर्याप्त उपाय बतलाये गये हैं। इसका उल्लेख शाबर भाष्य में इस प्रकार मिलता है- सामवेदे सहस्त्र-गीत्युपायाः अर्थात् गीति के एक सहस्त्र उपाय सामवेद में कहे गये हैं। गीति एक तरह की क्रिया है तथा वह आन्तरिक प्रयत्नजनित स्वर विशेष की अभिव्यञ्जिका है। सभी प्रकार की गीतियों का प्रयोजन एक ही है। इसलिए किसी भी एक गीति का प्रयोग होता हो, तो पीछे अन्य गीतियों का प्रयोग करने की जरूरत नहीं होती॥ २९॥

**'साम्ना स्तुवते' इस वाक्य के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १६१५ ) अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थैकत्वात् = अर्थ (प्रयत्न) का एकत्व होने से, ऋक्सामयोः = ऋचा और साम, तदर्थत्वात् = तुल्यता के कारण स्तुत्यर्थ हेतु ही श्रवण होने से, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ऋक् और साम दोनों वेदों के द्वारा स्तुति की जा सकती है। इसलिए ऋचा और साम (गान) का विकल्प है; क्योंकि उक्त दोनों का स्तुति रूप एक ही उद्देश्य है॥ ३०॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हैं—**

**( १६१६ ) वचनाद्विनियोगः स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन के अनुसार, विनियोगः स्यात् = विनियोग होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि श्रुति वचन के अनुसार मात्र साम के द्वारा ही स्तवन करना चाहिए, ऋचा से नहीं; क्योंकि ऋचा द्वारा स्तुति करने में वाक्य में निन्दा बतलाई गई है। यथा 'यदसुरा अन्ववायन' यह कथन निंदा सूचित करता है। स्तुति में असुरों का सम्बन्ध होना ही निन्दा है। अतः साम द्वारा ही गान (स्तुति) उचित है॥ ३१॥

**'रथन्तरमुत्तरयोर्गायति' इस स्थान में उत्तरा के जो वर्ण हों, उन्हीं के अनुसार गान करना चाहिए। इस अधिकरण (प्रकरण) को निरूपित करने के लिए आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## (१६१७) सामप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** सामप्रदेशे = सामगान के सन्दर्भ में, शास्त्रकृतत्वात् = शास्त्र द्वारा प्रतिपादित होने से, विकारः = लक्षण विकार, तदपेक्षः स्यात् = योनि अपेक्षाकृत होने से उसी तरह होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि योनिभूत ऋचा वर्णों का जो विकार करके गान किया जाता है, वैसा ही विकार कर उत्तर ऋचा में भी गान करना चाहिए। ऐसा करने से योनिवद् गान किया जा सकता है। जिस तरह 'कया नश्चित्र आभुवत्।' सूत्र में यहाँ 'कया' यह प्रथम भाग है और नश्चित्र आभुवत् यह द्वितीय भाग है। द्वितीय भाग के दूसरे 'च्' के आगे रही 'इ' का 'आई' भाव गान करना चाहिए। इसी तरह से उत्तरा ऋचा 'कस्त्वा सत्यो मदानाम्' यहाँ भी चतुर्थ वर्ण 'य्' के आगे वाले 'अ' कार और 'उ' कार का लोप कर उसके स्थान में आ ई, भाव कर गायन करें। इसी प्रकार 'अभीषुणः' इस दूसरी उत्तरा ऋचा में 'ण' के उत्तर वर्त्ती अकार का लोप करके 'आई' भाव करना चाहिए। इस प्रकार से वर्ण विकार करके गान करने से शास्त्रों के प्रमाणानुसार गान हो सकता है॥ ३२॥

**उक्त कथन के सन्दर्भ में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## (१६१८) वर्णे तु बादरिर्यथा द्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यव्यतिरेकात् = वर्णों का व्यतिरेक होने से, वर्णे तु = वर्णों में, यथा द्रव्यम् = संध्यक्षर का विवरण होता है, बादरिः = ऐसा आचार्य बादरि का मन्तव्य है।

**व्याख्या—** आचार्य बादरि (वेदव्यास) की मान्यता है कि 'आई' भाव उत्तरावर्ण के अनुसार करना चाहिए योनि के अनुसार नहीं। इसमें द्रव्य व्यतिरेक को हेतु माना गया है। योनिभूत ऋचा में च कार के आगे 'इ' होता है। यदि वह वृद्धि 'वृद्धिरेचि' सूत्र के अनुसार हो, तो 'इ' को 'ए' कार हो जाता है। अतः 'ए' कार में प्रथमाक्षर 'अ' है और द्वितीय अक्षर 'इ' है। इसलिए सहज रीति से ही 'आई' होता है शास्त्र कथन भी इस प्रकार है- 'वृद्धतालव्यमायीभाव:' अर्थात् तालव्य अक्षर 'इ' से वृद्धि प्राप्त करके आई भाव होता है, किन्तु उत्तरा अन्य ऋचाओं में चतुर्थ अक्षर 'इ' नहीं आता। अतः उसके चतुर्थ अक्षर को आई भाव नहीं करना चाहिए; लेकिन जहाँ पर इ आये, तो वहाँ आई भाव करके गान करना चाहिए। 'अभीषुणः ससीनाम् अविता जरित्तृणाम्।' इस सूत्र में रेफ के आगे जो 'इ' है, उसका 'आई' भाव अतिदेश नहीं होता है॥ ३३॥

**'उत्तरा ऋचाओं में स्तोभ अक्षरों के अतिदेश के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## (१६१९) स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** एके = कई एक आचार्य, स्तोभस्य = स्तोभाक्षरों की भी, ऋग्वत् = ऋचा के अक्षरों के तुल्य, द्रव्यान्तरे = उत्तरा ऋचाओं में, निवृत्तिम् = निवृत्ति मानते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि जिस तरह से योनिभूत ऋचा के अक्षर उत्तरा ऋचाओं में नहीं बोले जाते, ठीक वैसे ही स्तोभ अक्षरों का भी उत्तरा ऋचाओं में उपयोग नहीं करना चाहिए।

'वामदेवसाम्नो योनौ द्वयोरर्धयोर्मध्ये ओकारद्वयेन होशब्देन हायीशब्देन च निष्पन्नः स्तोभ एव आम्नातः' अर्थात् दो अर्धों के मध्य में दो 'ओ' कार से हो शब्द और हायी शब्द जो उच्चारण किये जाते हैं, वे वामदेव्य गान में स्तोभ के अन्तर्गत गिने जाते हैं। ये स्तोभाक्षर योनिभूत ऋचा में बोलने में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उत्तरा ऋचाओं में उपयुक्त नहीं होते॥ ३४॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य उक्त कथन का सिद्धान्त पक्ष द्वारा समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६२० )     सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वातिदेशः = स्तोभ सहित साम का अतिदेश होता है, सामान्यात् = सामान्य होने से, लोकवत् = लोक व्यवहार के तुल्य, विकारः स्यात् = विकार होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार लौकिक गान की सुन्दरता के लिए अनर्थक वर्णों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार उत्तरा ऋचाओं में भी स्तोभ वर्ण का प्रक्षेप रूपी विकार करना उचित होता है। प्रस्तुत कथन के सन्दर्भ में शाबर भाष्य में उल्लेख मिलता है- 'ऋक्स्तोभस्वरकालाभ्यासविशिष्टाया गीतेः सामशब्दो वाचकः' अर्थात् ऋचा, स्तोभ, स्वर, काल, अभ्यास- ये सभी मिलकर जो सर्वोत्कृष्ट गीति होता है, उसी का नाम साम है। यदि स्तोभ की निवृत्ति कर दी जाये, तो उसके लिए गान में जो विशेषता प्रकट होती है, वह न हो। अतः स्तोभ अक्षर की भी आवृत्ति उत्तरा ऋचा में करना आवश्यक होता है॥ ३५॥

**( १६२१ )     अन्वयं चापि दर्शयति॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अन्वयम् = अन्वय, अपि = भी, दर्शयति = बतलाया है।

**व्याख्या-** सूत्रकार आगे कहते हैं कि अन्वय द्वारा भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। 'स्तोभा गेह्याश्चानुयन्ति' इस वाक्यांश में स्तोभाक्षर तथा स्वरों की अनुवृत्ति बतलायी गई है। सूत्रांश में गेह्या शब्द का अर्थ 'स्वर' बतलाया गया है। अतः अन्य दूसरी ऋचाओं में भी स्तोभाक्षरों का प्रयोग करना समीचीन होगा॥ ३६॥

**( १६२२ )     निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, निवृत्तिः = स्तोभाक्षर की निवृत्ति, अर्थलोपात् = अर्थ के लोप हो जाने से होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे बतलाते हैं कि अर्थ के लोप हो जाने से स्तोभाक्षर की निवृत्ति होती है। स्तोभाक्षरों का किसी भी तरह का कुछ भी अर्थ न होने के कारण उनका उत्तर ऋचा के अन्तर्गत लोप मानना उचित है॥ ३७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार समझाते हुए कहते हैं, अर्थवाद स्वार्थ में प्रमाण न होने से अनुवृत्ति ही मानना चाहिए—**

**( १६२३ )     अन्वयो वाऽर्थवादः स्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थवादः = अर्थवाद के अनुसार, अन्वयः स्यात् = अनुवृत्ति मानना ही उचित है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि स्तोभ अक्षरों की अनुवृत्ति स्वीकार करना चाहिए। अर्थवाद स्वार्थ में प्रमाणभूत नहीं होते अर्थात् वे अर्थरहित होते हैं। वैसे ही स्तोत्र अक्षर चाहे निरर्थक रहे, किन्तु गान में उनकी अनिवार्यता होने के कारण उनका प्रयोग निश्चित रूप से कर लेना चाहिए॥ ३८॥

**अगले सूत्र में आचार्य 'स्तोभ का लक्षण' के सन्दर्भ में आचार्य जैमिनि के मत को प्रकट करते हैं—**

**( १६२४ )     अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अधिकं च = और अधिक, विवर्णं च = ऋगक्षर से विलक्षण जो वर्ण हो, तो स्तोभशब्दत्वात् = स्तोभ अक्षर कहलाते हैं, जैमिनिः = ऐसी आचार्य जैमिनि की मान्यता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जो ऋक् के सभी अक्षरों से अधिक और विलक्षण वर्ण होता है, वही स्तोभ अक्षर कहलाता है। ऐसी मान्यता आचार्य जैमिनि की है। लोकप्रचलन में भी आता है कि 'प्रकृतार्थानन्वितं

कालक्षेपमात्रहेतुं शब्दराशिं स्तोभ इत्याचक्षते' अर्थात् प्रकृत अर्थ में जिनका सम्बन्ध न हो तथा एकमात्र कालक्षेप हेतु जिन अक्षरों का प्रयोग होता है, उन्हें ही स्तोभ अक्षर कहते हैं। उदाहरण के लिए जैसे- 'इ' की जगह पर 'आ' 'ई' वर्ण का प्रयोग गीति में होता है, उसे ही स्तोभाक्षर कहते हैं॥ ३९॥

**नीवार ( धान ) आदि में प्रोक्षण ( विशेष रूप से सिंचन करना ), अवघात ( धान आदि को कूटना ) आदि धर्मों का अनुष्ठान हुआ है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को सूत्रकार अब अगले सूत्र में बतलाते हैं—**

**( १६२५ ) धर्मस्यार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे चोदनानुबन्धः समवायात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** धर्मस्य = विधीयमान प्रोक्षण आदि धर्म का, अर्थकृतत्वात् = अर्थ प्रयुक्त होने के कारण, समवायात् = व्रीहि आदि के स्थान में होने से, द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे = द्रव्य, गुण, विकार, व्यतिक्रम और प्रतिषेध में, चोदनानुबन्धः = विधि-प्रमाण सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि धर्म को अर्थ-कृतित्व (अर्थात् प्रोक्षण आदि अपूर्वरूप अर्थ से युक्त) होने के कारण द्रव्य, गुण, विकार व्यतिक्रम और प्रतिषेध में समवायात् अर्थात् व्रीहि आदि के स्थान में सम्बन्ध होने से विधि प्रमाण सम्बन्ध होता है। 'नैवारश्चरुं निर्वपेत्' इत्यादि व्रीहि के स्थान पर नीवार में भी प्रोक्षण आदि जो स्थानीय धर्म हैं, वे सभी करने चाहिए। इस प्रकार से गुण-धर्म आदि स्थानीय धर्म आदेश में करना कर्त्तव्य हो जाता है॥ ४०॥

**'परिधि में यूप धर्मों के निर्वाह हेतु आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६२६ ) तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** तदुत्पत्तेः = आह्वनीय के परिधान के लिए, निवृत्तिः = यूप धर्मों की निवृत्ति है। तत्कृतत्वात् स्यात् = यूप के धर्म एकमात्र पशु नियोजन के लिए होते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि परिधि में यूप के धर्मों को नहीं करना चाहिए; क्योंकि यूप के धर्म पशु-नियोजन अर्थात् आबद्ध करने के लिए हैं। यूप के जो भी लक्षण धर्म हैं, वे सभी केवल पशु नियोजन हेतु ही होते हैं। वह परिधि के अन्तर्गत करना कर्त्तव्य नहीं होता॥ ४१॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का सिद्धान्त पक्ष से समाधान करते हैं—**

**( १६२७ ) आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारस्य = संस्कार के, तदर्थत्वात् = पशु बंधन रूप धर्म होने से, अर्थवत्त्वात् = और उनसे ही उनकी सफलता होने से, आवेश्येरन् = यूप के धर्म परिधि में भी करने चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि यूप का संस्कार पशुओं के बंधनों को निष्पादित करता है तथा तदर्थोत्पत्ति और अतदर्थोत्पत्ति की आकांक्षा-अपेक्षा नहीं करता। यूप के जो उछ्राय आदि धर्म हैं, वे पशु को बाँधने के लिए हैं। इसलिए स्थानीय परिधि में भी यूप के जो-जो सम्भावित धर्म होते हैं, उन-उन सभी धर्मों को निश्चित रूप से करना चाहिए। इन धर्मों को सम्पन्न करने में किसी भी तरह का विरोध नहीं होता है॥ ४२॥

**( १६२८ ) आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** आख्या च एवम् = यूप शब्द भी इसी तरह है, तदावेशात् = परिव्याण एवम् अञ्जन रूप संस्कार के आवेश के कारण, अपूर्वत्वात् स्यात् = अपूर्व का निमित्त होने से, विकृतौ = विकृति में भी यूप शब्द है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं यूप शब्द के स्थान पर परिधि का प्रयोग अनुचित है, फिर भी संस्कार के निमित्त यूप शब्द परिधि में भी प्रयुक्त है। 'यूपयाज्यमानायानुब्रूहि' इस प्रैष मंत्र में 'परिधये आज्यमानाय' इस

तरह का ऊह (कथन) नहीं करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यूप के जो धर्म शक्य हों, वे परिधि में करने चाहिए; किन्तु यूप के स्थान पर परिधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ४३॥

**शृतादि में प्रणीता धर्म के विषय में आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( १६२९ ) परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** संस्कारस्य = उत्पवनादि संस्कार, तदर्थत्वात् = हविः श्रपण के लिए होने से, परार्थे = प्रधान यज्ञ के लिए, न = प्रणीता धर्म नहीं है, अर्थ सामान्यम् = प्रणीता कार्यकारित्व, तु = भी नहीं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि अभ्युदयेष्टि में 'शृते चरुम्' 'दध्निचरुम्- ऐसा कहा गया है। अस्तु; शृत (उबला हुआ दूध) तथा दही इन दोनों में प्रणीता धर्म कर्त्तव्य नहीं है; क्योंकि वे धर्म हविः श्रपण के लिए होते हैं। दही और दूध-ये दोनों श्रपण के लिए नहीं होते, किन्तु ये तो हविष् हैं। इसलिए ये देने के लिए होते हैं, इससे साम्य (अनुकूलता) न होने से उत्पवनादि धर्म दही और घृत में कर्त्तव्य नहीं होते हैं॥ ४४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष के द्वारा समाधान देते हैं—**

## ( १६३० ) क्रियेरन् वाऽर्थनिर्वृत्तेः॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** अर्थनिर्वृत्तेः = दही और पयः में अर्थ निवृत्ति से, क्रियेरन् वा = उत्पवनादि धर्म भी करने चाहिए।

**व्याख्या—** प्रणीता धर्म दधि और दुग्ध का न करके श्रपण साधन में किये जाते हैं, यदि ऐसा कहते हैं, तो ये द्रव्य श्रपण के लिए उत्पन्न नहीं होते हैं, जिससे कि अर्थ की निष्पत्ति हो सके। हविः श्रपण भी उन दोनों दधि और दुग्ध से होता है। इसलिए दुग्ध और दही ये दोनों प्रमुख यज्ञ के होने पर भी उनमें उत्पवनादि धर्म कर्त्तव्य होते हैं॥ ४५॥

**'बृहद् और रथन्तर धर्म की व्यवस्था के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १६३१ ) एकार्थत्वादविभागः स्यात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** एकार्थत्वात् = एक ही प्रयोजन होने से, अविभागः = अविभाग, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि बृहद् और रथन्तर धर्मों की एकार्थता होने से विभाग नहीं होता। ज्योतिष्टोम याग में विकल्पित पृष्ठस्तोत्र का विधान है। 'बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति' इन दोनों स्थलों पर अलग-अलग धर्मों को कहा गया है। उदाहरणार्थ-'बृहति स्तूयमाने मनसा समुद्रं ध्यायेत् रथन्तरे स्तूयमाने समीलयेत्' अर्थात् बृहत्स्तोत्र के समय समुद्र का ध्यान करना तथा रथन्तर स्तोत्र में समलीन करना चाहिए। इन दोनों धर्मों का एक में ही समावेश है; क्योंकि दोनों स्तोत्रों का कार्य पृष्ठ स्तोत्र रूप एक ही है॥ ४६॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान आचार्य सिद्धान्त पक्ष से करते हैं—**

## ( १६३२ ) निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, निर्देशात् = निर्देश का भेद होने से, व्यवतिष्ठेरन् = धर्मों की व्यवस्था है।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि बृहद् के धर्म बृहद् में ही होने चाहिए, रथन्तर में नहीं तथा रथन्तर के धर्म रथन्तर में ही होने चाहिए। 'उच्चैर्गेयम् बलवद् गेयम्' अर्थात् उच्च गान और बलवद् गान, ये दोनों बृहद् के धर्म हैं तथा उच्चैस् न गायन करना और बलवद् गान न करना, यह रथन्तर का धर्म है। इन दोनों का, एक दूसरे के विपरीत धर्मों का, एक में समावेश नहीं हो सकता है। इसलिए बृहद् और रथन्तर में अलग-अलग धर्मों की व्यवस्था है॥ ४७॥

## ( १६३३ ) अप्राकृते तद्विकाराद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** अप्राकृते = विकृतिभूत काण्व रथन्तर में, तद्विकारात् = बृहद् और रथन्तर का विकार होने से,

विरोधात् = जहाँ विरोध आये वहाँ, व्यवतिष्ठेरन् = व्यवस्था समझनी चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि विकृतिभूत काण्व रथन्तर का विकार होने के कारण से विरोध के कारण व्यवस्था हो जायेगी। बृहद् एवं रथन्तर साम के स्थान पर काण्व रथन्तर का नियम है। उसके अन्तर्गत दोनों के धर्मों का समावेश होता है। लेकिन जहाँ पर दोनों के धर्म शक्य न हों, वहाँ पर दोनों में से एक के धर्म ही स्वीकार्य होने चाहिए। उदाहरणार्थ रथन्तर का धीमे से गान रूप धर्म एवं बृहद् का उच्चता से गान रूप धर्म एक में समाहित नहीं किये जा सकते हैं, इस कारण से वहाँ पर विकल्प होना उचित नहीं है॥ ४८॥

**'द्विसामक याग में बृहद् एवं रथन्तर धर्मों की व्यवस्था के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**(१६३४) उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** उभयसाम्नि = दोनों प्रकार के साम जिनमें हैं ऐसे क्रतु में, च = और, एवम् = काण्व रथन्तरवत् प्रत्येक में धर्मद्वय की प्राप्ति होती है, एकार्थापत्तेः = पृष्ठ स्तोत्र रूप एक कार्य में प्राप्त होने के कारण।

**व्याख्या—** पूर्व कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि एकार्थापत्ति अर्थात् पृष्ठ स्तोत्र रूपी एक कार्य में प्राप्त होने के कारण जहाँ पर उभय अर्थात् दोनों प्रकार के साम होते हैं, वहाँ पर क्रतु में काण्व रथन्तरवत् प्रत्येक धर्मद्वय की प्राप्ति होती है। गोसव आदि क्रतु में दोनों प्रकार के साम अर्थात् बृहद् एवं रथन्तर साम की प्राप्ति होती है। अतः प्रत्येक स्तोत्र में दोनों धर्मों की प्राप्ति संभव है॥ ४९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्त पक्ष से समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(१६३५) स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात्प्रकृतिवत्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रकृतिवत् = जैसे प्रकृति में अर्थात् ज्योतिष्टोम में साम प्रयुक्त व्यवस्था है, स्वार्थत्वाद् = वैसे ही बृहद् और रथन्तर रूप साम के लिए दोनों धर्म होने से, व्यवस्था स्यात् = व्यवस्था है।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार से प्रकृति अर्थात् ज्योतिष्टोम यज्ञ में बृहद् के धर्म बृहद् में और रथन्तर के धर्म रथन्तर में होते रहते हैं, उसी प्रकार से द्विसामकयाग अर्थात् दो साम से युक्त यज्ञों में भी बृहद् और रथन्तर साम के दो धर्म होने की व्यवस्था समझनी चाहिए। धर्मों के स्वार्थत्व होने के कारण संहृत बृहद् और रथन्तर दोनों के धर्म एक साथ आपस में नहीं करने चाहिए। दोनों धर्मों की व्यवस्था प्रकृतिवत् अर्थात् ज्योतिष्टोम याग के अनुसार ही जानना उचित होगा॥ ५०॥

**'सौर्य अर्थात् विकृति यागादि में पार्वण नामक होम का अनुष्ठान नहीं होता है।' इस अधिकरण (प्रकरण) को सूत्रकार अगले सूत्र में निरूपित करते हैं—**

**(१६३६) पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्या हि॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** पार्वणहोमयोः तु = वैकृतकर्म में तो पार्वण होम की, अप्रवृत्तिः = प्रवृत्ति नहीं है, समुदायार्थसंयोगात् = दर्शत्रिक और पौर्णमासत्रिक रूप जो अर्थ समुदाय है, उसके साथ सम्बन्ध होने के कारण है, हि = क्योंकि, तदभीज्या = समुदाय को उद्दिष्ट कर इज्या (याग) कर्त्तव्य है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सौर्य याग को ही विकृति याग कहते हैं। इसमें पार्वण होम करना कर्त्तव्य नहीं है; क्योंकि दर्शपूर्णमास रूपी प्रकृति यज्ञ में तीन का समुदाय पूर्णमास याग में तथा अन्य तीन का दर्शयाग में होता है। सौर्ययाग में उपर्युक्त त्रिक् न होने के कारण उसमें पार्वण होम करना कर्त्तव्य नहीं है। पर्व शब्द आग्नेय आदि त्रिक् रूप संपरक है। दानार्थक पृणाति धातु से पर्व शब्द की निष्पत्ति होती है। सौर्ययाग समुदाय का विकार नहीं, बल्कि मात्र अग्नि का ही विकार है। इसलिए उसमें पार्वण होम करना कर्त्तव्य नहीं है॥ ५१॥

**अगले सूत्र में आचार्य 'पर्व' शब्द काल वाचक है, ऐसी आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**(१६३७) कालस्येति चेत्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** कालस्य = पर्व शब्द काल वाचक है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्षी का कथन करते हुए कहते हैं कि 'पर्व' शब्द कालवाची है, तब फिर इसका अनुसरण करते हुए सौर्य-विकृतियाग में पार्वण होम क्यों नहीं करना चाहिए॥ ५२॥

**उक्त आशङ्का का समाधान आचार्य अगले दो सूत्रों में व्यक्त करते हैं—**

**( १६३८ ) नाप्रकरणत्वात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणत्वात् = प्रकरण न होने से, न = ऐसा उचित नहीं है।

**व्याख्या—** उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि विशेष प्रकरण द्वारा समुदाय वाची का ग्रहण होता है, काल वाची का नहीं। उदाहरण के लिए यह उद्धरण द्रष्टव्य है 'यथा सैन्धव शब्दस्य नानार्थत्वेऽपि भोजनादिप्रकरणं लवणादितात्पर्यग्राहकं तथा यागत्रिके तात्पर्यग्राहकं प्रकरणम् कालस्य न प्रकरणम्' अर्थात् जिस प्रकार सैन्धव शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ वाला होने पर भी भोजनादि के प्रकरण में उसका अर्थ नमक ही होता है, वैसे ही 'पर्व' शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ वाला होने पर भी प्रकरण द्वारा यागत्रिक का ही अर्थ प्रकट करता है। अत: सौर्य-विकृति याग में पार्वण होम करना कर्त्तव्य नहीं होता॥ ५३॥

**( १६३९ ) मन्त्रवर्णाच्च॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, मन्त्रवर्णात् = मंत्रवर्ण भी अनुगृहीत होते हैं।

**व्याख्या—** मंत्र के वर्णों से भी समुदाय के लिए ही यज्ञ करना कर्त्तव्य होता है। 'ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे'। प्रस्तुत मंत्र भी 'पर्व' शब्द का अर्थ समुदाय वाचक होने से अपने अनुकूल ही होता है॥ ५४॥

**अगले सूत्र में आचार्य आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १६४० ) तदभावेऽग्निवदिति चेत्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** तदभावे (अपि) = उसका अभाव होने पर (भी) अग्निवत् = सन्निहित या असन्निहित अग्नि का यज्ञ के लिए आवाहन होता है, इति चेत् = यदि ऐसा मानने में आये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जिस प्रकार यज्ञ के लिए सन्निहित (समीप) हो या असन्निहित (दूर), दोनों ही अवस्थाओं में भी अग्नि का आवाहन किया जाता है, उसी प्रकार से यदि सौर्य-विकृति याग में त्रिक् (तीनों ऋचाओं) के अभाव में भी इस नाम वाले देवता का भाव लें तो?॥ ५५॥

**उपर्युक्त सूत्र में की गई आशङ्का का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—**

**( १६४१ ) नाधिकारिकत्वात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, अधिकारिकत्वात् = त्रिक् के संसार के लिए ही पार्वण होम का अधिकार है।

**व्याख्या—** उक्त आशङ्का का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि क्रतु के संस्कार के लिए पार्वण होम का अधिकार है। पार्वण होम प्रकृतिगत त्रिक् (तीन ऋचाओं से युक्त) के संस्कार के लिए ही अधिकारी होता है। जिसका जहाँ पर अधिकार होता है, वहीं पर वह उपकार कर सकता है। इसलिए सौर्ययाग में पार्वण होम का अधिकार नहीं है, अत: वह भी वहाँ पर करना कर्त्तव्य नहीं होता॥ ५६॥

**'दर्शपूर्णमास में दोनों होमों की व्यवस्था है।' इस प्रकरण में सूत्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६४२ ) उभयोरविशेषात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** उभयो: = दोनों में, अविशेषात् = अविशेष करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि पौर्णमासी और अमावस्या दोनों में दोनों ही पार्वण होम हो सकते हैं; क्योंकि दोनों के प्रकरण में ये दोनों ही कहे गये हैं॥ ५७॥

**पूर्वपक्षी की उक्त मान्यता का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष से प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १६४३ ) यदभीज्या वा तद्विषयौ॥ ५८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यदभीज्या = जिस नाम का यज्ञ हो, तद्विषयौ = वह उसी का उपकारक होता है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि दोनों उभयत्र हैं, ऐसा नहीं होता है। जहाँ पर यह अभीज्या (यज्ञ करना कर्त्तव्य है) वहाँ पर वह (पार्वण होम) होता है; क्योंकि वह उसका उपकार करने वाला होता है। अस्तु; पौर्णमासी यज्ञ में पौर्णमासत्रिक् स्मरणात्मक संस्कार होने से 'पूर्णमासाय स्वाहा' कहकर होम करना चाहिए और अमावास्यायै स्वाहा कह करके अमावास्या के लिए पार्वण होम करना चाहिए। इस तरह से व्यवस्थापूर्वक पार्वण होम करना उचित है॥ ५८॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष का आक्षेप कथन प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १६४४ ) प्रयाजेऽपीति चेत्॥ ५९॥

**सूत्रार्थ—** प्रयाजे अपि = प्रयाज में भी याग संस्कार रूप है, इति चेत् = यदि ऐसा मानने में आये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रयाज में भी याग संस्कार रूप परिकृत देवता हो सकता है। यदि ऐसा कथन कहें, तो उचित नहीं है। 'समिधो यजति' अर्थात् यहाँ समिधादि देवता हैं तथा यज्ञ के द्वारा देवता संस्कृत होते हैं। 'विष्णुं यजति' यहाँ पर जैसे विष्णु आदि देवता हैं तथा उनके संस्कार के लिए ही यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, वैसे ही समिधादि में भी समझना चाहिए॥ ५९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के आक्षेप कथन का सिद्धान्त पक्ष द्वारा समाधान करते हैं—**

## ( १६४५ ) नाचोदितत्वात्॥ ६०॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, अचोदित्वात् = विहित न होने से (संस्कार हेतु याग का विधान संभव नहीं है)।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस तरह से अग्न्यादि यागत्रय हर एक वाक्य द्वारा विहित है तथा समुदाय का स्मरण है, उसी तरह समिधादि देवता का विधान नहीं होता है। इसलिए उसके संस्कार के लिए यज्ञ का विधान संभव नहीं है। देवता शब्द का कथन चतुर्थी विभक्ति से अथवा तद्धित प्रत्यय द्वारा होता है। उदाहरणार्थ जैसे- 'यदग्नये सायं जुहुयात' या 'अग्नयोऽष्टाकपाल:' इस विधि से समिध में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, वैसे ही समिध शब्द के पीछे तद्धित प्रत्यय भी नहीं होता। इस कारण 'समिधो यजति' इस वाक्य-कथन द्वारा एक मात्र यज्ञ का ही विधान है। देवता संस्कार का विधान नहीं होता॥ ६०॥

## ॥ इति नवमाध्यायस्य द्वितीय: पाद:॥

# ॥ अथ नवमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**इस पाद के अन्तर्गत विकृति याग में मंत्र में आये व्रीहि आदि शब्दों के ऊह का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—**

**( १६४६ ) प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति यज्ञों में, यथोत्पत्ति वचनम् = पद घटित मंत्रों की उत्पत्ति के अनुसार, अर्थानाम् = अग्न्यादि देवों का अभिधान, उत्तरस्याम् = बाद की (विकृति) इष्टियों में, तत्प्रकृतत्वात् = प्रकृति प्रमाण से,अर्थे = सूर्य प्रकाशन रूप कार्य में, च = और, अकार्यत्वात् = प्रकृति पठित मंत्र की असामर्थ्य होने से सूर्य पद का ऊह करना आवश्यक है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार प्रकृति अर्थात् दर्शपूर्णमास यज्ञों में अर्थों का उत्पत्तिवचन होता है, उसी प्रकार सौर्यादि विकृति यज्ञों में भी उसी मन्त्र से वचन करना चाहिए; क्योंकि अर्थ में कार्यत्व अर्थात् सामर्थ्य नहीं होती। विकृति याग में **'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि'** इस देवता विषयक **'नीवाराणाम् मेधः सुमनस्यमानः'** इस द्रव्य सम्बन्धी मन्त्र का इस प्रमाण द्वारा ऊह नहीं करना चाहिए। इस तरह सूत्र के पूर्वार्द्ध से पूर्वपक्ष का कथन किया गया है और सूत्र के उत्तरार्द्ध में सिद्धान्त पक्ष से उत्तर दिया गया है। सूर्य प्रकाशन रूप कार्य में प्रकृति पठित अग्निपद घटित मंत्र की सामर्थ्य न होने से 'सूर्य' पद का ऊह निश्चित रूप से करना चाहिए॥ १॥

**अगले सूत्र में आचार्य लिङ्ग दर्शन द्वारा भी इस तथ्य को सिद्ध करते हैं—**

**( १६४७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग का दर्शन होने से भी सूर्य पद का ऊह करना सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रमाण उपलब्ध होने के कारण भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। यथा- 'न माता वर्धते न पिता न भ्राता न स्वसा' अर्थात्- जैसे भ्राता से सखा और भ्राता अहित नहीं होते हैं,अन्य दूसरे ही अहित होते हैं, उसी तरह से इस अर्थ द्वारा भी लिङ्ग का दर्शन होना बतलाया गया है। इस मंत्र में वर्धते का अर्थ 'अहं न प्राप्नोति' किया गया है। माता आदि शब्दों का ऊह नहीं होता, यह उपर्युक्त अर्थापत्ति द्वारा इस तरह समझा जाता है कि अन्य शब्दों का ऊह होता है अर्थात् सूर्यादि पदों का ऊह अवश्य होता है॥ २॥

**'पौण्डरीकों में हविः प्रस्तरण मंत्र के ऊह सम्बन्धी प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

**( १६४८ ) जातिनैमित्तिकं यथास्थानम्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** जातिनैमित्तिकम् = जाति वाचक दर्भ शब्द, यथा-स्थानम् = यथा योग्य ऊह करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जाति शब्द स्तरण में और नैमित्तिक शब्द स्तरण साधन में द्रव्य होता है। 'मौद्‍गं चरुं निर्वपेत् श्रीकामः' इस इष्टि में पौण्डरीकं बर्हिर्भवति इस प्रमाण द्वारा श्रवण होता है। प्रकृति यज्ञ में बर्हिस्तरण मंत्र अतिदेश से प्राप्त इस प्रकार है- 'दर्भैः शृणीतं हरितः सुपर्णैः' यहाँ दर्भ के स्थान में पुण्डरीक शब्द का ऊह हो सकता है तथा 'हरित' शब्द के स्थान पर 'रक्त' शब्द का भी कथन होता है॥ ३॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार कुछेक आचार्यों के मतानुसार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( १६४९ ) अविकारमेकेऽनार्षत्वात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** एके = कई आचार्य, अनार्षत्वात् = आर्ष न होने से, अविकारम् = ऊह को स्वीकार नहीं करते।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि कुछेक आचार्यों का मन्तव्य है कि वे अनार्ष (अपौरुषेयत्व) होने के कारण ही ऊह को नहीं स्वीकार करते। प्रथम सूत्र के आधे भाग में जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है, उसे और दृढ़ करने हेतु यहाँ पर यह सूत्र प्रस्तुत है। ऊह नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से मंत्र का अपौरुषेयत्व

विनष्ट होता है। ऊह अपौरुषेय होता है, अतः प्रकृति प्रमाण द्वारा ही पाठ करने को प्रमुखता देनी चाहिए॥ ४॥

## ( १६५० ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य के होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इस अर्थ में भी लिङ्ग का दर्शन (प्रमाण) उपलब्ध होता है। अग्निषोमीय पशु में लिङ्ग का श्रवण होता है। आग्नेय पशु में कहा है– 'अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' अर्थात् जो ऊह होता हो, तो ऊह से ही मंत्र के स्वरूप की सिद्धि होती है। अतः पीछे से अग्नि घटित मंत्र द्वारा पाठ करना व्यर्थ था। यहाँ पर ऊपर के हेतुओं को दोषयुक्त ठहराया गया है॥ ५॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य समाधान देते हैं—**

## ( १६५१ ) विकारो वा तदुक्तो हेतुः॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विकारः = ऊह करना चाहिए, तदुक्तः हेतुः = पहले उसका हेतु दिया गया है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि ऊह करना चाहिए; क्योंकि मन्त्राक्षर अर्थ प्रधान होते हैं। वे स्वरूप प्रधान नहीं होते। इसलिए एकमात्र लिङ्ग का ही परिहार नहीं करना चाहिए, इसका हेतु इसी पाद के प्रथम सूत्र में कहा जा चुका है। मंत्र भंग होने से इष्टापत्ति (अभीष्ट प्रयोजन की अप्राप्ति) है,ऐसा सिद्धान्त पक्ष का मानना है॥ ६॥

## ( १६५२ ) लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** लिङ्गम् = लिङ्ग वाक्य कथन का उद्देश्य, मंत्रचिकीर्षार्थम् = मंत्र करने की इच्छा से है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ऊह निश्चित रूप से करना चाहिए। पूर्वपक्षवादी ने जो लिङ्ग वाक्य बतलाया है, उसका उद्देश्य मन्त्रत्व करने की आकांक्षा अर्थात् 'अग्नये छागस्येति' यह मन्त्र पाठ है। ऐसा बतलाने के लिए ही उपर्युक्त लिङ्ग वाक्य का कथन किया गया है॥ ७॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि विकल्प से दोनों मन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने से नियम होता है—**

## ( १६५३ ) नियमो वोभयभागित्वात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उभयभागित्वात् = दोनों मंत्रों के साथ सम्बन्ध होने से, नियमः = नियम है।

**व्याख्या—** विकल्प से उभयभागी अर्थात् दोनों मन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने के कारण नियम– विधान होता है। यदि एक यूप का स्पर्श करें, तो 'एष ते वायो इति ब्रूयात् यदि द्वौ एतौ' अर्थात्– जो दो यूप हों तो, 'ते वायू इति ब्रूयात्' ऐसा द्विवचनान्त पाठ करना चाहिए। यदि ऊह द्वारा ही द्विवचनान्त की सिद्धि हो, तो 'एतौ इति ब्रूयात्' यह वाक्य बेकार हो जाता है। इस आशङ्का के समाधान में इस प्रकार कहा जाता है– 'यदि यह विधान– नियम न हो', तो एक वचनान्त एवं द्विवचनान्त मंत्र पाठ में एक यूप का स्पर्श उभय (दोनों) मंत्र गामी बन जाता है। अतः विकल्प से एकवचनान्त पाठ हो, तो एक यूप का स्पर्श करने एवं जो यदि द्विवचनान्त पाठ हो, तो दो यूपों का स्पर्श करने के लिए विधान बेकार नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पौण्डरीकीय हविः प्रस्तरण मंत्र का यह अनिवार्य है॥ ८॥

**'अग्निषोमीय पशु में लौकिक यूप का स्पर्श करने में प्रायश्चित्त का स्पष्टीकरण अगले सूत्र में है—**

## ( १६५४ ) लौकिके दोषप्रसंगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** लौकिके = लौकिक स्पर्श में मंत्र पाठ अनिवार्य होता है, दोषप्रसंगात् = दोष का सम्बन्ध होने से, अपवृक्ते = निषिद्ध स्पर्श रूप निमित्त में, चोद्यते हि = मंत्र पाठ का विधान होने से, निमित्तेन = निमित्त होने से, प्रकृतौ = प्रकृत में, अभागित्वात् = निषेध का भागी न होने से, न स्यात् = मंत्र का पाठ नहीं होता।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु प्रकरण में यूप स्पर्श के क्रम में 'यदि एक यूपमुपस्पृशेत्' 'ऐष ते वायो इति ब्रूयात्', इस मन्त्र पाठ का रूप प्रायश्चित्त लौकिक स्पर्श करने में विहित होता है, वैदिक स्पर्श में नहीं होता। जहाँ पर दोष होता है, वहाँ ही प्रायश्चित्त होता है। इसलिए लौकिक यूपोपस्पर्शन में ही प्रायश्चित्त होता है, वैदिक में नहीं होता। वेद तो स्पर्श का विधान करता है। अत: उपर्युक्त प्रायश्चित्त लौकिक स्पर्श विषय से सम्बन्धित है॥ ९॥

**'द्विपशुयाग में पाश सम्बन्धी दो मंत्रों में एकवचनान्त की जगह पर द्विवचनान्त से ऊह करना चाहिए।' इस अधिकरण (प्रकरण) को सूत्रकार अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## (१६५५) अन्यायस्त्वविकारेण दृष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** दृष्टप्रतिघातित्वात् = अर्थ बाधित होने से, अविशेषात् च = तथा विकृति याग में भी विशेष निर्देश न होने से, तु = तो, अन्याय: = विकृति याग में भी वह मंत्र, अविकारेण = बिना विकार प्रयोग करना चाहिए।

**व्याख्या—** अन्याय अर्थात् दर्शपूर्णमास याग में एक पाश में प्रतिघात द्रष्टव्य नहीं होता है तथा अन्य कोई विशिष्टता भी नहीं है, इसलिए एक वचनान्त की ही निवृत्ति संभव होती है। यथा:- अग्नीषोमीय पशु-प्रकरण के अन्तर्गत पाश सम्बन्धी दो मन्त्रों का पाठ निम्नवत् है- 'अदिति:पाशं प्रमुमोक्त्वेतम्' और 'अदिति: पाशान् प्रमुमोक्त्वेतान्।' इन दोनों मंत्रों में 'पाश' शब्द एक वचन और बहुवचन-दोनों वचनों में प्रयुक्त किया गया है। एक पशु के लिए एक पाश (रशना) होती है, अत: उसके लिए एक वचन ही उचित है। प्रकृति याग में जहाँ एक पशु के लिए बहुवचन का प्रयोग किया जाता है, वहीं विकृति याग में, जिसमें कि दो पशु होते हैं तथा उनके लिए दो रशनायें होती हैं। अत: दोनों के लिए बहुवचनान्त पद का प्रयोग करना चाहिए। प्रकृति याग में बाधित अर्थ का प्रतिघात किया गया है, तो विकृति याग में भी बाधित अर्थ का प्रकृति याग होने से कोई दोष नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दो रशना वाले विकृतियाग में भी 'अदिति: पाशान् प्रमुमोक्त्वेतम्' इस मंत्र का ही पाठ करना उचित होगा॥ १०॥

## (१६५६) विकारो वा तदर्थत्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तदर्थत्वात् = योग्य अर्थ होने से, विकार: = उसका पाठ विकृति में करना चाहिए।

**व्याख्या—** योग्य अर्थ होने से विकार-ऊह होता है। प्रकृति में एक वचनान्त पद वाले को द्विवचन में रखकर उसका पाठ विकृति याग में करना चाहिए। पाश मन्त्र करण-मन्त्र होता है, अत: द्विपाशिका विकृति में प्रत्येक पाश में आवृत्ति में ही प्रयोग होता है। अत: 'अदिति: पाशौ प्रमुमोक्त्वेतम्' इस तरह से पाठ करना ठीक रहता है। दो रशनाओं के लिए पाशान् ऐसा बहुवचनान्त पाठ करना अर्थ रहित है। अत: बहुवचनान्त पाश पद वाले मंत्र का पाठ न करके द्वित्व बोधक द्विवचनान्त का ऊह करके उसका पाठ करना चाहिए॥ ११॥

## (१६५७) अपि त्वन्याय्यसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थं स्यात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** अपि = फिर भी, अन्याय्यसम्बन्धात् = अन्याय का सम्बन्ध होने से, तु = तो, निश्चय ही, प्रकृतिवत् = प्रकृति के समान, परेषु अपि = विकृति में भी, यथार्थं स्यात् = यथार्थ है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि जैसे प्रकृति याग में एकवचनान्त पद वाले को द्विवचन में रखकर उसका पाठ किया जाता है, वैसे ही विकृति याग में भी करना चाहिए। अत: दो अर्थ और उनके लिए द्विवचनान्त पद का प्रयोग भी होना चाहिए। इसलिए मंत्र का पाठ 'अदिति: पाशौ प्रमुमोक्त्वेतम्' इस प्रकार करना चाहिए। दो रशनाओं के लिए पाशान् ऐसा बहुवचनान्त पाठ करना अर्थ रहित होता है॥ १२॥

**अब अगले पाँच सूत्रों में सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष के कथन का सिद्धान्त पक्ष द्वारा समाधान करते हैं—**

**( १६५८ ) यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** यथार्थं च = दोनों मंत्रों के अर्थ की बाधा न होने से द्विवचनान्त पद छोड़कर पाठ करना, अचोदित्वात् = विहित न होने से, न्यायस्य = न्याय के अनुकूल है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि विकल्प में दो मंत्रों में से एक-एक के पाठ के द्विवचन ऊह करना उचित नहीं। बहुवचनान्त का द्विवचनान्त में ऊह करना अनिवार्य होता है। शब्दार्थ के अवगम में लोक ही प्रमाण रहता है। लोक में दोनों अर्थों में बहुवचनान्त अथवा एक वचनान्त प्रवर्तमान दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए ऊह के द्वारा दोनों पाशों में बहुवचन या फिर एक वचनान्त ही प्रयोग करना उचित है॥ १३॥

**( १६५९ ) छन्दसि तु यथादृष्टम्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** छन्दसि = वेद में, तु = तो , यथादृष्टम् = जैसा देखा जाये, वैसा पाठ करना उचित है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि छन्द अर्थात् वेद में तो जैसा लिखा (दृष्टिगोचर) हो, वैसा ही पाठ करना उचित होता है। मात्र एक रशना के लिए बहुवचनान्त 'पाश' शब्द का प्रयोग वेद-छन्द में किसलिए किया? ऐसा प्रश्न वेद के लिए करना उचित नहीं। उसमें तो जिस प्रकार से पाठ दृष्ट हो, वही बोलना चाहिए॥ १४॥

**( १६६० ) अन्याय्यस्याचोदितत्वात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** अन्याय्यस्य = अर्थ बाध (बाधा), अचोदित्वात् = अविहित है।

**व्याख्या—** अर्थ का बाध (की बाधा) अविहित है। ऊह करते समय अर्थ का बाध नहीं होना चाहिए। अत: अर्थ के प्रमाण में ऊह होना चाहिए। दो अर्थ होने से द्विवचन में ही ऊह होना चाहिए॥ १५॥

**( १६६१ ) विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** विकल्पः स्यात् = विकल्प होता है, तत्समत्वात् = मन्त्रों का प्रकरण समान होने से, गुणे = गुणों के, विप्रतिपत्तौ = विरोध में, एकदेशत्वात् = अप्रधान होने से, अन्याय कल्पना = अभाव की कल्पना करनी योग्य है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि किसी विरोध के होने पर ही विकल्प होता है। समत्व होने से गुणों के विभक्त होने के अर्थ में अन्याय की कल्पना होती है। अग्नीषोमीय प्रकरण के अन्तर्गत 'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु तथा अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' ये दोनों मंत्र प्रकृति में विकल्प रूप में बोले जाते हैं। पाश एक है और मंत्र गत 'पाश' शब्द बहुवचन अविवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए। संख्या गौण है तथा प्रतिपादक अर्थ प्रमुख है। मुख्यानुसारी कल्पना ही होनी चाहिए, यही प्रतिपादन न्यायोचित है॥ १६॥

**( १६६२ ) प्रकरणविशेषाच्च॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकरण विशेषात् = दोनों मंत्रों का प्रकरण समान होने से किसी का परित्याग ठीक नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य आगे स्पष्ट करते हुए पुन: कहते हैं कि विशेष प्रकरण होने के कारण अग्नीषोमीय 'पशु' में प्रतिपादिकार्थ विद्यमान है। यह प्रकृति है, बहुवचनार्थ विकृतियों में है। इससे भी स्पष्ट होता है कि बहुवचनान्त का प्रकृति में निवेश होता है॥ १७॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १६६३ ) उत्कर्षोवा द्वियज्ञवत् ॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्वियज्ञवत् = द्वियज्ञ की भाँति, उत्कर्षः = (मंत्र का) उत्कर्ष करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि बहुवचन के अन्तर्गत पद वाले मन्त्रों का उत्कर्ष द्वियज्ञ के मन्त्रों के सदृश ही करना चाहिए। 'युवं हि स्थ:स्व:पती' इस मंत्र का जिस तरह 'राजपुरोहितौसायुज्यकामौ यजेतामिति' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित दो यजमान वाले कुलाय नाम से युक्त याग में उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी बहुवचन वाले आये हुए पद-मंत्रों का उत्कर्ष करना चाहिए॥ १८॥

**आचार्य अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**(१६६४) अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् नोत्पत्तिशब्दत्वात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थाभावात् तु = द्वित्व विशिष्ट रूप, अर्थ बोध का प्रकृत में अभाव होने से, गुणमात्रम् इतरत् = दूसरा गुण मात्र है, नैवं स्यात् = इस कारण से ऐसा नहीं होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि द्वित्व अर्थ बोधक विधान का प्रकृत में अभाव होता है। यहाँ दोनों में गुण मात्र है, अत: उत्कर्ष नहीं होगा। 'युवं हि रथ:स्व:पती' यह मन्त्र इस प्रकार से है; क्योंकि यह विनियोजक विधि हीन नहीं है। अत: दृष्टान्त में विषमता है, इस कारण से उक्त स्थान में तो उत्कर्ष होगा; किन्तु 'पाशान्' पद वाले उपर्युक्त मंत्र का उत्कर्ष नहीं होता है॥ १९॥

**अगले सूत्र में आचार्य आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**(१६६५) द्यावोस्तथेति चेत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** द्यावो: = द्यावा-पृथिवी आदि, तथा = की तरह अनुमंत्रों का उत्कर्ष होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए मीमांसाकार कहते हैं कि दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत पठित जो अनुमंत्र हैं, उनमें द्यावापृथिव्योरहम् इत्यादि दृष्टान्तों की तरह उत्कर्ष होता है अर्थात् जैसे वहाँ उत्कर्ष होता है, यदि ऐसा मानें, तो?॥ २०॥

**अगले सूत्र में उक्त आशङ्का के सन्दर्भ में सूत्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(१६६६) नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, उत्पत्तिशब्दत्वात् = उत्पत्ति शब्द होने से (भी उचित नहीं है)।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उक्त आशङ्का उचित नहीं है; क्योंकि द्यावा- पृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द (प्रमाण) नहीं है। शाबर भाष्य में वर्णन आता है- प्रकृति में 'रशनया यूपं परिव्ययति' इस स्थान पर 'पाश' का अर्थ बतलाने वाला शब्द है, परन्तु 'न हि दर्शपूर्णमास योर्द्यावापृथिव्यादीनामुत्पत्तौशब्दोऽस्ति' अर्थात् दर्शपूर्णमास में द्यावापृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द (प्रमाण) नहीं है। अत: इस विषमता के कारण उक्त दोनों मन्त्रों का प्रकृति के अन्तर्गत विकल्प से पाठ करना उचित होगा॥ २१॥

**'दर्शपूर्णमास याग में द्विपत्नीक प्रयोग में 'पत्नीं' सन्नह्यं' इत्यादि मन्त्रों का ऊह नहीं होता।' इस अधिकरण (प्रकरण) को आचार्य अगले सूत्र में प्रतिपादित करते हैं—**

**(१६६७) अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** अपूर्वे = प्रकृति में, तु = सिद्धान्त सूचक है, अप्रदेशात् = उपर्युक्त न होने से, अविकार: = प्रतिषेध कथन, प्रतीयेत = प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ है। 'पत्नीं संनह्याज्येनो देही'। बहुपत्नीक दर्शपूर्णमास के प्रयोग में ऊह करना चाहिए अथवा नहीं? इसके समाधान में आचार्य बतलाते हैं कि बहुपत्नीक प्रयोग में पत्नीम् शब्द का बहुवचन में ऊह नहीं करना चाहिए;

क्योंकि ऐसा अतिदेश होता ही नहीं है। जहाँ पर अतिदेश होता हो, वहाँ ही ऊह होता है। अपूर्व अर्थात् अप्रकृतिपूर्वक कर्म में अविकार अर्थात् प्रतिषेध कथन द्वारा प्रयोग करना चाहिए। एकपत्नीक के प्रयोग से बहुपत्नीक प्रयोग में अतिदेश (उपयुक्त) नहीं होता; क्योंकि वहाँ सामर्थ्य से द्विवचन और बहुवचन की प्राप्ति हो जाती है॥ २२॥

**जिन प्रकरणों में मंत्र का ऊह नहीं होता, उस उन्दर्भ में अगले तीन सूत्र प्रतिपादित हैं—**

## ( १६६८ ) विकृतौ चापि तद्वचनात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** विकृतौ च अपि = विकृति यज्ञों में भी, तद्वचनात् = उन वचनों के अनुसार ऊह करना कर्त्तव्य नहीं है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि विकृति भूत सौर्ययाग में भी प्रकृति अर्थात् दर्शपौर्णमासेष्टि के सदृश ही करना चाहिए। जो प्रकृति में है, वही विकृति में भी करना चाहिए, यही तद्वचन है। सौर्ययाग बहुपत्नीक प्रयोग वाला भी होता है, अतः पत्नी शब्द का द्विवचन में या बहुवचन में ऊह करना उचित नहीं है। प्रकृति में एकत्व विवक्षित नहीं होता। यहाँ पर भी द्वित्व, बहुत्व एवं एकत्व विवक्षित नहीं होना चाहिए॥ २३॥

## ( १६६९ ) अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** अध्रिगुः = अध्रिगु प्रैष मंत्र का भी, समानविधानाश्चेत् = यदि समान विधान हो, सवनीयेषु = तो सवनीय पशुओं में, तद्वत् = उस प्रकार से ऊह नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यदि समान विधान हो, तो 'अध्रिगुप्रैष्य मन्त्र' को भी सवनीय पशुओं में उसी प्रमाण द्वारा ऊह नहीं होना चाहिए। यहाँ पर पत्न्याधिकरण की भाँति ही पूर्वपक्ष है और अविकार सिद्धान्त लागू होता है। 'प्रास्ना अग्निं भरत' इस मन्त्र सूत्र में अस्मै पद का स्त्रीलिङ्ग और द्विवचन, बहुवचन में ऊह नहीं होना चाहिए; क्योंकि यहाँ पर भी प्रातिपदिक विभक्ति ही विवक्षित है, संख्यात्मक विभक्ति विवक्षित नहीं है। यदि विवक्षित हो, तभी छान्दस्व्यत्यय के द्विवचन का लाभ हो सकेगा॥ २४॥

## ( १६७० ) प्रतिनिधौ चाविकारात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** प्रतिनिधौ च = व्रीहि के अभाव (अभाव-अप्राप्ति) में नीवार (तिन्नी के चावल) प्रतिनिधि हुए, अविकारात् = पश्चात् उनमें ऊह के अभाव में ही अर्थात् ऊह के बिना ही मंत्र का पाठ करना उचित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यदि व्रीहि उपलब्ध न हो, तो व्रीहि धान चावल जैसे नीवारों (तिन्नी के दानों) का याग में प्रयोग करना चाहिए। 'तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' इत्यादि इस प्रकार के मंत्र में व्रीहीणां की जगह पर नीवाराणां पाठ करना जरूरी नहीं होता। यदि व्रीहि (धान+चावल) शब्द का प्रतिनिधि नीवार हो, तो अविकारपूर्वक व्रीहि शब्द नीवार के प्रकाशन में समर्थ नहीं होता है। ऐसी स्थिति में वहाँ पर ऊह के बिना ही मंत्र पाठ उचित है॥ २५॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १६७१ ) अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** अनाम्नानात् = यदि मंत्र में 'व्रीहि' शब्द का पाठ न किया गया होता, तो ऊह न होता, च = और, इतरस्य = उससे पृथक् नीवार आदि का, अभावात् = अभाव होने से, अशब्दत्वम् = अभिधान (कथन) नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि मन्त्र में 'व्रीहि' शब्द का पाठ न किया गया होता, तो ऊह (कथन) न करना पड़ता; किन्तु यदि व्रीहि शब्द का पाठ होता है और वह नीवार (धान्य) आदि का वाच्य बनता है, तो ऊह अवश्य ही करना चाहिए॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के कथन के सन्दर्भ में सूत्रकार समाधान देते हैं—**

**( १६७२ ) तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तादर्थ्यात् = नीवार व्रीहि के अर्थ में है, संस्कारैः च अविशिष्टत्वात् = और प्रोक्षण आदि संस्कार भी उसके द्वारा ही होते हैं, तदाख्यं स्यात् = अतः व्रीहि शब्द नीवार पद का वाचक होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं कि नीवार व्रीहि के लिए ही है तथा प्रोक्षण आदि संस्कार भी नीवार में करने कर्त्तव्य होते हैं। इस कारण यह व्रीहि शब्द ही उस नीवार का वाचक है। तदर्थ होने से प्रोक्षण आदि संस्कार होते हैं तथा संस्कारों से ग्रह-विशिष्टता से परे रहने वाला है। अतः ऊह के अभाव में ही व्रीहि शब्द का पाठ मंत्र में करना उचित है॥ २७॥

**( १६७३ ) उक्तं च तत्त्वमस्य॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अस्य = इसकी, तत्त्वम् =यथार्थता, उक्तम् = उक्त छठें अध्याय में कही जा चुकी है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इस विषय का विशेष तत्त्व (तद्भाव) छठें अध्याय में कहा जा चुका है। षष्ठ अध्याय में व्रीहिगत जो विशेषता है, वही नीवार में भी है। अतः व्रीहि वाची नीवार हो सकता है, इस कारण से ऊह करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती है॥ २८॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य पुनः ऊहरहित प्रकरणों का उल्लेख करते हैं—**

**( १६७४ ) संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संसर्गिषु = शरीर के साथ संसर्ग-सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में, अर्थस्य = तेजो रूप अर्थ का, अस्थितपरिमाणत्वात् = परिमाण के स्थित न होने से ऊह नहीं होता।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि पशुओं का भेद होने पर भी संसर्ग-सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में परिमाण के स्थित न होने के कारण ऊह नहीं होता है। जिस याग के अन्तर्गत दो पशुओं का दान होता है, उसमें यह मंत्र आया है- 'सूर्यंचक्षुर्गमयतात्' अर्थात् यहाँ पर दो पशुओं का दान होने से चक्षु शब्द का बहुवचन में ऊह करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि गोलक का नाम चक्षु नहीं, किन्तु देखने की शक्ति का नाम चक्षु है। वह तेज एक ही है तथा उसकी सूर्य के साथ उपमा प्रदान की गई है। दोनों में एक ही तेज होने के कारण बहुवचन में ऊह करने की कोई जरूरत नहीं होती॥ २९॥

**( १६७५ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य का दर्शन होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रमाण की उपलब्धता से भी सम्बन्धियों की भाँति प्राण का ऊह नहीं सिद्ध होता है। 'न माता वर्धते न मज्जा न नाभिर्न प्राणः' इत्यादि मंत्र में माता, मज्जा, नाभि एवं प्राण आदि शब्दों का द्विवचन अथवा बहुवचन में पाठ नहीं होता, वैसे ही चक्षु आदि शब्दों में भी उचित है॥ ३०॥

**अगले सूत्र में आचार्य द्विपशु याग प्रकरण का सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६७६ ) एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** एक संयोगात् = एक समय के उच्चारण से, असर्वविषयत्वात् = समस्त पशुओं का सम्बन्ध न होने से, एकधा इति = 'एकधा' इस शब्द का, अभ्यासेन अभिधानं स्यात् = अभ्यास द्वारा अभिधान करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि एक समय में उच्चारण का समस्त पशुओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से एक प्रकार से शब्द का अभ्यासपूर्वक कथन करना चाहिए। 'एकधाऽस्य त्वचमात्स्यात्' इत्यादि मंत्र में कहा

गया है कि एक प्रकार से पशु की त्वचा का स्पर्श करना चाहिए। जिस याग में बहु पशुओं का दान होता हो, तो उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति करनी चाहिए। अधिकतर पशुओं का स्पर्श एक मनुष्य एक ही साथ नहीं कर सकता, अतः ऊह करना चाहिए॥ ३१॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त सिद्धान्त पक्ष के कथन के संदर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १६७७ ) अविकारो वा बहूनामेककर्मवत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, बहूनाम् एककर्मवत् = बहुतों का एककर्म हो सकने से, अविकारः = अभ्यास की जरूरत नहीं होती।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जहाँ बहुत से कर्मों के स्वीकरण अर्थात् एकीकरण की भाँति अविकार होता है, उनका ऊह (कथन) नहीं होता है। जिस तरह से एक ही व्यक्ति एक ही काल में अनेक गौओं को एक ही सरोवर में जल पिला या खेत में चारा-चरा सकता है, उसी तरह से एक ही व्यक्ति अनेक पशुओं को क्षण मात्र में स्पर्श कर सकता है। इसलिए 'एकधा' शब्द की बारम्बार आवृत्ति नहीं करनी चाहिए॥ ३२॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का समाधान करते हैं—**

**( १६७८ ) सकृत्त्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात् परेष्वभ्यासेनैव विवृद्धावभिधानं स्यात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** एकध्यं = एक प्रकार, च = और, सकृत्त्वं = एक समय ऐसा बोध होता है; एकत्वात्त्वचः = त्वच एक होने से, अनभिप्रेतम् = काल की एकता होने से, तत्प्रकृतित्वात् = प्रकृति यज्ञ में एकधा शब्द की आवृत्ति जरूरी नहीं होती, परेषु अभ्यासेन = परन्तु विकृति यज्ञ में अभ्यास की जरूरत है, एव = ही (क्योंकि), विवृद्धौ अभिधानं स्यात् = उसमें बहुपशु देय होने से अभ्यास के अभिधान (कथन) की जरूरत नहीं है।

**व्याख्या—** उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रकृतियाग में एक समय में एक पशु देय रूप होने के कारण उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती; किन्तु विकृति याग में पशुओं की वृद्धि होने के कारण एकधा शब्द की आवृत्ति होनी ही चाहिए॥ ३३॥

**'द्विपश्वादि पशुविकृतियाग में मेधपति शब्द का देवतानुसार ऊह करना चाहिए।' इस हेतु से अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६७९ ) मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात् तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वत्रैवाविकारः स्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** मेधपतित्वम् = मेध का स्वामीपन, स्वामिदेवतस्य = यजमान और देवता का है, समवायात् = यजमान और अग्नीषोमौ दोनों देवता मिलकर तीनों में स्वामीपन विद्यमान होने के कारण, सर्वत्र = सभी देशों में, च = और यजमान एवं देवता में ही यज्ञ का स्वामीपन, प्रयुक्तत्वात् = प्रयुक्त होने से, तस्य अन्यायनिगदत्वात् = उस एक यजमान और दो देवता मिलकर तीनों में एकवचन या द्विवचन का प्रयोग होना अन्याय (प्रकृतितः) है, सर्वत्र एव अधिकारः स्यात् = प्रकृति में और विकृति में ऊह किये बिना ही प्रयोग करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष अपना तर्क देते हैं। सूत्र में मेध, यज्ञ को कहा गया है। मेध के स्वामी देवता और यजमान होते हैं। यजमान एक है और अग्नीषोम नामक देवता दो हैं। 'आशासाना मेधपतिभ्याम् मेधम्।' यहाँ मंत्र में मेधपति शब्द में द्विवचन प्रयुक्त किया गया है तथा अन्य किसी शाखा में, 'आशासना मेधपतये मेधम्'

मेधपति शब्द एकवचन में है। ये दोनों प्रयोग उचित नहीं; क्योंकि एक वचन या द्विवचन से तीन का साक्षात् नहीं होता। इस तरह से बाधित अर्थ का कथन करने से निगद अन्याय्य होता है। इसलिए प्रकृति में तथा विकृति में ऊह के अभाव में ही प्रयोग उचित है॥ ३४॥

**( १६८० ) अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी, द्विसमवायः = द्विवचनान्त पद का प्रयोग, अर्थान्यत्वे = अर्थ की भिन्नता से, यथासंख्यं प्रयोगः = संख्या प्रमाण द्वारा प्रयोग, स्यात् = मान लेना चाहिए।

**व्याख्या—** अन्य पूर्वपक्ष का कथन है कि जब एकवचन का प्रयोग करना हो, तो यजमान का तात्पर्य रखकर प्रयोग करना चाहिए; क्योंकि यजमान तो एक ही है। देवता की वृद्धि अर्थात् दो से ज्यादा यदि देवता हों, तो बहुवचनान्त प्रयोग करना चाहिए। जैसे मेधापति का बहुवचन प्रयोग मेधापतिभ्यः प्रयोग करना उचित है। द्विवचनान्त पद का प्रयोग देवता में तथा एक वचनान्त का प्रयोग यजमान (स्वामी) में होने से क्रमानुसार प्रयोग होता है॥ ३५॥

**( १६८१ ) स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्या द्वितीयशब्दःस्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्वामिनः = दोनों मंत्रों में यजमान रूप स्वामी का ही ग्रहण है, ऐकशब्द्यात् = एकार्थ प्रतिपादक शब्द का प्रयोग होने से , देवतायाम् = जो देवता वाच्य हो, उत्कर्षः स्यात् = तो एक वचनान्त पद का उत्कर्ष करना चाहिए, पत्न्या द्वितीयः शब्दः स्यात् = यजमान वाच्य हो तो द्विवचनान्त पद वाले मन्त्र में पत्नी के साथ यजमान मान लेने से द्विवचन भी यथार्थ हो सकता है।

**व्याख्या—** आचार्य तृतीय पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि दोनों मंत्रों में यजमान रूप स्वामी का ग्रहण किया गया है। एकार्थ प्रतिपादक शब्द यदि देवता वाच्य हो, तो एकवचनान्त पद का उत्कर्ष होता है तथा यजमान वाच्य हो, तो द्विवचनान्त पद वाले मंत्र में पत्नी के सहित यजमान समझ लेना उचित है॥ ३६॥

**अगले पाँच सूत्रों में सूत्रकार पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रतिपादित करते हैं—**

**( १६८२ ) देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्यनर्थिका स्यात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** देवता = देवता शब्द, तदाशीष्ट्वात् = उसी उद्देश्य से प्रयुक्त होने से, सम्प्राप्तत्वात् = यजमान के स्वत्व को, स्वामिन् = यदि स्वामिपरक मान लें, अनर्थिका = तो मेध मेधपतिभ्यामाशासाना यह वाक्यार्थ अनर्थक, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि मेधपतिशब्द का अर्थ देवता ही मानना चाहिए; क्योंकि देवता के उद्देश्य से मेध होता है। यदि उसे स्वामीपरक भी मानें, तो यजमान के सत्व की मेध में प्राप्ति होने से 'मेधं मेधपतिभ्यामाशासाना' यह वाक्य भी निरर्थक हो जाता है। इसलिए मेधपति शब्द का अर्थ देवता भी होता है॥ ३७॥

**( १६८३ ) उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, उत्सर्गात् = देवता को उद्दिष्ट करके यजमान का उत्सर्ग करने से देवता ही मेधपति होता है, तस्मिन् = यजमान में, भक्त्या = गौणवृत्ति से, पतित्वं = स्वामीपन, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आचार्य पुनः कहते हैं कि यजमान देवता के उद्देश्य से उत्सर्ग करता है। अतः मेधपतित्व देवता में मुख्य है और स्वामीपन के लिए वह गौण होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवता मुख्य मेधपति हैं और यजमान अमुख्य मेधपति हैं॥ ३८॥

## ( १६८४ ) उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** एकसंयुक्तौ = एक संयुक्त का ही, उत्कृष्येत् = उत्कर्ष किया जाना चाहिए, द्विदेवते = द्विदेवता में, संभवात् = वह संभव नहीं होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि एक संयुक्त का ही उत्कर्ष होना चाहिए; क्योंकि द्वि (दो) देवताओं में प्राय: वह असम्भव ही होता है॥ ३९॥

## ( १६८५ ) एकस्तु समवायात्तस्य तल्लक्षणत्वात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** एक: तु = जो एक वचनान्त प्रयोग है, तस्य = उस गण का, समवायात् = एक से देवतागण बोधित होने से, तल्लक्षणत्वात् = यह लक्षण होने के कारण वह एक वचन से बोधित होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'मेधपति' शब्द 'मेधपतये' ऐसा एक वचनान्त पाठ है। यह शब्द देवतागण का साक्षात् (बोध) कराने वाला है; जहाँ पर दो अपने स्तोमों के गण हों, वहाँ पर जो मेधपति शब्द है, वह देवता समवेत होता है; क्योंकि उसका यही लक्षण है॥ ४०॥

## ( १६८६ ) संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्प: स्यात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तस्मात् = इसलिए, संसर्गित्वात् = दोनों मंत्रों का प्रकृति याग में सम्बन्ध होने के कारण, तेन = एकार्थ वाची होने से भी, विकल्प: स्यात् = दोनों मंत्रों का विकल्प है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि दोनों मंत्रों का प्रकृति याग में सम्बन्ध होने के कारण तथा एकार्थवाची भी होने से दोनों मंत्रों का विकल्प होता है। मेधपति शब्द देवतापरक होने से तथा देवता गण वाचक एकवचनान्त पद भी होने के कारण दोनों मंत्र प्रकृति- सम्बन्धी हैं तथा प्रकृति में उनका विकल्प स्थित है। यहाँ देवता का जो नाम है, वह अर्थ संसर्गी है। किसी समय एक देवता होता है तथा यह दो मंत्रों के लिए परिकल्पित कुछ द्रव्य होता है, वहाँ पर दो देवता होते हैं। अत: एकवचनान्त भी प्रकरण का अभिनिवेश होता है॥ ४१॥

**अगले सूत्र में आचार्य बतलाते हैं कि देवता प्रमाण में मेधपति शब्द का ऊह करना चाहिए—**

## ( १६८७ ) एकत्वेऽपि न गुणापायात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** एकत्वे अपि = एकत्व की विवक्षा हो तब भी, गुणापायात् = एकत्व रूपी गुण की अविवक्षा से, न = प्रकरण में से उत्कर्ष नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि एकत्व होने के कारण भी अविवक्षित होने से वह प्रकरण से उत्कृष्यमाण नहीं होता है। एकवचनान्त पद से गुणरूप एकत्व की विवक्षा न करने से दोनों मन्त्रों का प्रकरण में निवेश हो सकता है। एक की यदि विवक्षा करें, तब भी उक्त रीति द्वारा उत्कर्ष करना नहीं होता; क्योंकि बहुदेवताक विकृति यज्ञ में एकवचनान्त पद से देवता गण का साक्षात् (बोध) होता है। इस बोध से देवता प्रमाण में मेधपति शब्द का ऊह करना चाहिए॥ ४२॥

**'बहुदेवत्य पशु में एकवचनान्त मेधपति शब्द का ऊह होता है।' इस प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १६८८ ) नियमो बहुदेवते विकार: स्यात्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** नियम: = नियमानुसार, बहुदेवते = बहुदेवताक विकृति याग में, विकार: स्यात् = ऊह होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि बहुदेवताक विकृति यज्ञ के अन्तर्गत द्विवचनान्त 'मेधपतिभ्याम्' नामक इस शब्द का ही ऊह होता है। प्रकृति यज्ञ के अन्तर्गत इसका अर्थ समवेत होने से ऊह होने के

योग्य होता है। अत: द्विवचनान्त का बहुवचनान्त के अन्तर्गत ऊह करना चाहिए॥ ४३॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का सिद्धान्त सूत्र द्वारा समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६८९ ) विकल्पो वा प्रकृतिवत्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रकृतिवत् = प्रकृति की भाँति, विकल्प: = विकल्प से समावेश होता है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से प्रकृतियाग में विकल्प का समावेश होता है, उसी प्रकार से विकृति याग में भी एकवचनान्त भी द्विवचनान्त द्वारा विकल्पित होने के योग्य होता है॥ ४२॥

**अन्तिम सूत्र में एकादशिनी में एकवचनान्त मेध शब्द के ऊह का अनुशासन है—**

**( १६९० ) अर्थान्तरे विकार: स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थान्तरे = भिन्न-भिन्न देवताक याग समुदाय में, देवतापृथक्त्वात् = भिन्न-भिन्न देवता होने से, एकाभिसमवायात् = एक तद्धित प्रत्यय वाच्य देवता न होने से, विकार: स्यात् = ऊह होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि देवता के पृथक् होने के कारण अर्थात् अन्य पशु का अन्य देवता होने से अर्थान्तर करने में विकार (ऊह) होता है। ऐसा एकाभिसमवाय होने के कारण होता है। अलग-अलग देवों से अर्थात् अन्य पशु का अन्य देव होने से तथा एक तद्धित प्रत्यय वाची देवता न होने से पृथक् देवताक याग समुदाय में ऊह विकार होता है॥ ४५॥



**॥ इति नवमाध्यायस्य तृतीय: पाद:॥**

# ॥ अथ नवमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**'षड्विंशतिरस्य क्रयः' इत्यादि शब्द में समास का ऊह करना होता है। इस प्रकरण को अगले दोसूत्रों में वर्णित कर इस चतुर्थ पाद का शुभारम्भ करते हुए पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६९१ ) षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकात्स्न्यें-नाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** पशुगणे = द्विपशुक याग में, तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वात् = पशु की प्रवृत्ति तथा वंक्रियों की संख्यानुसार, षड्विंशतिः अभ्यासेन = षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का अभ्यास करना चाहिए, तासाम् अकात्स्न्येंनाभिसम्बन्धः = क्योंकि २६ संख्या रूप गुण का सम्बन्ध दो पशुओं में परिपूर्ण नहीं हो सकता है, न समासः = दो पशुओं में ५२ शब्दों का समास नहीं करना चाहिए, विकारात् = ऐसा करने से विकृत अर्थ होता है, असंयोगात् च सर्वाभिः = और किसी भी एक पशु के ५२ वंक्रियों का सम्बन्ध नहीं, स्यात् = होता।

**व्याख्या—** यहाँ इस प्रकरण में वंक्रि शब्द का अर्थ माधवाचार्य जी ने इस प्रकार किया है— 'वंक्रि' अर्थात् यज्ञ में देय पशु के पृष्ठ भाग की वक्र २६ अस्थियाँ हैं। अग्नीषोमीय याग में एक पशु का दान होता है और विकृति यज्ञ में दो पशुओं का दान किया जाता है। इस कारण जब इन पशुओं का दान करने का समय आये, तो षड्विंशति (छब्बीस) शब्द दो बार उच्चारण करना चाहिए; क्योंकि दान में देने वाले पशुओं की संख्या दो है। दो पशुओं की ५२ वंक्रियाँ हैं, किन्तु इस शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। ऐसा करने के बाद प्रकृति से भिन्न बन जाता है। अतः षड्विंशति शब्द का अभ्यास करना चाहिए, यह मान्यता पूर्वपक्ष की है॥ १ ॥

**आचार्य अगले सूत्र में आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १६९२ ) अभ्यासेऽपि तथेति चेत्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अभ्यासे = अभ्यास में, अपि = भी, तथेति चेत् = वही है,यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि 'षडविंशतिरस्य वंक्रयः' नामक वाक्य का अभ्यास करने पर भी वही अप्राकृतत्व रूप दोष तो आता ही है; क्योंकि प्रकृति याग में ऐसी रीति (परम्परा) से उपर्युक्त वाक्य का दो बार (समय) पाठ नहीं होना चाहिए॥ २ ॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १६९३ ) न गुणादर्थकृतत्वाच्च॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, अर्थकृतत्वात् च = अभ्यास करने से सभी वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं से माना जा सकता है, गुणात् = समास करने से इस प्रकार नहीं होता है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि उक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि अभ्यास से वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं के साथ हो सकता है, लेकिन समास करने से ऐसा नहीं होता है। 'द्वापञ्चाशत्' (बावन) ऐसा कहने पर प्रधानभूत 'षड्विंशति' (छब्बीस) शब्द का साक्षात् होता है। अभ्यास पक्ष में प्रमुख की रक्षा होती है, जबकि समास पक्ष में उसकी रक्षा नहीं होती। अतः अभ्यास करना ही उचित है॥ ३ ॥

**अगले सूत्र में पुनः आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १६९४ ) समासेऽपि तथेति चेत्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** समासेऽपि = समास में भी, तथा = वही है, इति चेत् = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** अर्थ स्मरण के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'द्विपञ्चाशत्' शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का स्मरण तो होता है तथा अतिदेश शास्त्र भी अनुकूल होता है। यदि ऐसा कहें, तो?॥ ४ ॥

उक्त आशङ्का का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

**( १६९५ ) नासम्भवात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, असंभवात् = संभव न होने से,

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि असम्भव होने के कारण उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस शास्त्र प्रमाण द्वारा 'द्विपञ्चाशत्' शब्द प्रकृति-प्रमाण नहीं है, अतः इस प्रमाण द्वारा उक्त कथन सम्भव नहीं है॥ ५॥

अगले सूत्र में पुनः प्रकारान्तर से पूर्वपक्षी अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

**( १६९६ ) स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = अग्नीषोमीय में, स्वाभिः वचनं च = स्व सम्बन्धी वंक्रि वचन है, तथा इह स्यात् = उस प्रकार अभ्यास हो सकता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृति अर्थात् अग्नीषोमीय याग में स्वसम्बन्धी वंक्री वचन है, वैसे ही अभ्यास में भी हो सकता है। समास पक्ष में तो समुदाय विशेष रूप में हो जाने से पशु की प्रमुखता का बोध सतत होता रहता है। जैसे प्रकृति में वंक्रियों के द्वारा पशु उपलक्षित होता है, वैसे ही यहाँ पर उपलक्षण के योग्य हो जाता है। यह अभ्यास वचन में ही हो सकता है॥ ६॥

अगले दो सूत्रों में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

**( १६९७ ) वंक्रीणान्तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वंक्रीणाम् तु = गणना में तो वंक्रियों की, प्राधान्यम् = प्रधानता है, पशु की नहीं, अध्रिगोः तदर्थत्वात् = अध्रिगुप्रैष का भी यही भाव है, प्रधानत्वात् = वंक्री की प्रधानता होने से, समासेनाभिधानं स्यात् = समास का कथन करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि २६ वंक्रियाँ लाते हैं। इस गणना में पशु की प्रधानता न होकर वंक्रियों की है तथा दो पशुओं की वंक्रियाँ ५२ हैं। इस प्रकार समास करके कहने में भी वंक्री की प्रधानता सूचित होती है। अतः दोनों का अर्थात् दो षड्विंशति (२६) का द्वापञ्चाशत् (५२) इस प्रकार समास करके उक्त वाक्य का उच्चारण करना चाहिए॥ ७॥

अगले सूत्र में आचार्य वंक्रियों को ही प्रधान बतलाते हैं—

**( १६९८ ) तासां च कृत्स्नवचनात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तासाम् = उन वंक्रियों का, कृत्स्नवचनात् = सम्पूर्णता से गणना वचन होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'ताः अनुष्ठ्यो च्यावयतात्' इस वाक्यांश में ताः पद से वंक्रियों का परामर्श होता है, अतः वंक्रियाँ ही प्रमुख हैं। यहाँ पर यह भी हेतु प्रस्तुत है कि छब्बीस वंक्रियों का उद्धरण कर्म्यपूर्वक सम्पन्न करना चाहिए; क्योंकि यहाँ पर वंक्रियाँ ही प्रधान हैं, पशुओं की प्रधानता नहीं है॥ ८॥

पुनः अगले सूत्र में पूर्वपक्षी अपना मन्तव्य देते हैं—

**( १६९९ ) अपि त्वसन्निपातित्वात्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, अपि = भी, आम्नातेन = प्रकृति पाठ से, अभिधानं स्यात् = अभिधान (कथन) होता है, असन्निपातित्वात् = असन्निकृष्ट होने से, पत्नीवत् = 'पत्नी संनह्य' इत्यादि के सदृश।

**व्याख्या—** सूत्र में प्रतिपादित अपितु शब्द पक्षान्तर को बतलाता है। असन्निकृष्ट होने से वंक्रियों का षड्विंशति (छब्बीस) शब्द विकार अर्थात् ऊह- रहित (पत्नीसनंह्य) शब्द के सदृश प्रयुक्त करना चाहिए।

जिस प्रकार से बहुपत्नी प्रयोग में 'पत्नींसन्नह्य' इस स्थान में वचन विवक्षित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत स्थान में भी मंत्रपाठ प्रकृति और विकृति में अदृष्ट अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है; क्योंकि मंत्र से स्मृति में आने वाली क्रिया संनिकृष्ट नहीं है। मन्त्रोच्चारण काल में ही मात्र वंक्रियों की गणना नहीं होती॥ ९॥

**आचार्य अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हैं—**

## ( १७०० ) विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** विकार: = कथन, तु = तो, प्रदेशत्वात् = प्रदेश वृत्ति से, यजमानवत् = यजमान की भाँति करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यजमान शब्द के सदृश प्रदेश-वृत्ति होने से विकार अर्थात् ऊह (कथन) होता है। जैसे यजमान नामक शब्द एक यजमान के स्वसंख्यावाची वचन से एक वचन और दो यजमान वाले प्रयोग में स्वसंख्या वचन प्रदेश से ऊहित होता है, वैसे ही यहाँ पर भी होता है। २६ की संख्या का ही वाचक यह शब्द नहीं है, अत: ऊह (कथन) करना चाहिए। द्वियजमानक प्रयोग में 'यजमानौ' ऐसा ऊह करना पड़ता है। वैसे ही षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का ऊह करना चाहिए॥ १०॥

## ( १७०१ ) अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रकार, अपूर्वत्वात् = अपूर्व अर्थ होने से, पत्न्याम् = पत्नी में ऊह करना नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'पत्नीसंनह्य' उस स्थान पर पत्नी शब्दोत्तरवती एकवचन के प्रयोग में अपूर्व अर्थ होने से ऊह (कथन) नहीं करना चाहिए; क्योंकि केवल प्रकृति और प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता, इसलिए अविवक्षित एक वचन का प्रयोग किया गया है, लेकिन षड्विंशतिरस्य आदि मन्त्र का फल तो अभीष्ट है। इस मन्त्र द्वारा २६ वंक्रियों की गणना करना याद आता है। जिस प्रकार मनीषीजन की आज्ञा कुछ समय के अन्तराल में लोग सुनते हैं और उस आज्ञा-उपदेश का अनुष्ठान जब आवश्यक हो, तभी उसका स्मरण कर सकते हैं। अत: उपर्युक्त मंत्र का ऊह (कथन) अनिवार्य रूप से करना चाहिए॥ ११॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पक्ष का उत्थापन करते हैं—**

## ( १७०२ ) आम्नातस्त्वविकारात्संख्यासु सर्वगामित्वात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, आम्नात: = प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसी रीति से कहा गया है, अविकारात् = उसी रीति से ऊह किये बिना षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का पाठ करना, संख्यासु = संख्या वाचक वचन में विकार करना, सर्वगामित्वात् = वैसा करने से सब वंक्रियों का कथन हो सकेगा।

**व्याख्या—** जिस प्रकार प्रकृति में षड्विंशति (छब्बीस) शब्द हैं, उसी प्रकार विकृति में स्थिर रखना चाहिए तथा उसके उत्तर में संख्या वाचक एकवचन में विकार करना चाहिए। 'षड्विंशतिर्वंक्रयोऽस्य' इस रीति से पाठ रखना उचित है। द्विवचन रखने से दोनों पशुओं की ५२ वंक्रियों का साक्षात् हो सकता है। प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसे कहे गये हैं, वैसे ऊह किये बिना षड्विंशति शब्द का प्रयोग उचित है। संख्यावाचक वचन में विकार करने से उसका सभी वंक्रियों में ऊह (कथन) करना उचित होगा॥ १२॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार इसका निराकरण करते हैं—**

## ( १७०३ ) संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्वंक्रय: पुन: प्रधानम्॥ १३।

**सूत्रार्थ—** तु = तो, एवं संख्या प्रधानम् स्यात् = इस प्रकार संख्या का ऊह करने से संख्या प्रधान होगी, वंक्रय: पुन: प्रधानम् = वास्तव में वंक्रियाँ ही प्रमुख हैं।

**व्याख्या—** निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि संख्या का ऊह करने से संख्या ही प्रधान रूप से समझी

जाती है। प्रकृतितः वंक्री की ही प्रमुखता है, संख्या की नहीं। अतः एकवचन ही उपपन्न होता है। यहाँ पर वचन का ऊह (कथन) करना उचित नहीं है॥ १३॥

**अगले सूत्र में आचार्य युक्ति कथन करते हैं—**

**( १७०४ ) अनाम्नातवचनमवचनेन हि वंक्रीणां स्यान्निर्देशः॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** अनाम्नात वचनम् = वेद वचन अनार्ष प्रयोग होने से, अवचनेन = विना कथन के (ही), हि = निश्चय ही, वंक्रीणाम् = वंक्रियों का, निर्देशः स्यात् = निर्देश होता है।

**व्याख्या—** आचार्य युक्ति कथन करते हुए कहते हैं कि इस स्थल पर तो सभी आम्नात हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर आम्नात वचन जैसा प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ- जैसे षड्विंशती षड्विंशतयः अनार्ष प्रयोग होने से द्विवचन और बहुवचन में प्रयोग नहीं किये जाते हैं। उन वंक्रियों का कार्त्स्नेय अर्थात् सम्पूर्णता से पूर्णरूपेण अभिधान (कथन) नहीं होता; बल्कि उनका निर्देश (कथन) होता है॥ १४॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्व पक्ष का कथन करते हैं—**

**( १७०५ ) अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अभ्यासः स्यात् = अयं पद का अभ्यास करना चाहिए, अविकारात् = प्राकृत षड्विंशति (छब्बीस) शब्द के जो प्रत्यय श्रेष्ठ हैं, उनका विकार होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि समान वचन नहीं हैं, अभ्यास ही प्रमुख होता है। एकमात्र 'अयम्' पद का ही अभ्यास प्रधान रूप से करना चाहिए। प्रकृतिगत प्रत्यय विशिष्ट षड्विंशति पद का विकार नहीं करना चाहिए। इस तरह से करने पर प्रकृति याग में श्रूयमाण वर्ण का साक्षात् (बोध) नहीं हो पायेगा॥ १५॥

**अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हैं—**

**( १७०६ ) पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात्समासशब्दः स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, एवं पशुप्रधानम् = ऐसा अभ्यास करने से पशुप्रधान रूप में, स्यात् = होगा, अभ्यासस्य = अभ्यास करने में, तन्निमित्तत्वात् = उस पशु निमित्त होने से, तस्मात् = अतः उस, समासशब्दः स्यात् = समास शब्द का पाठ करना ही उचित है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ऐसा मान लेने से यहाँ पर पशु ही प्रधान रूप से निर्दिष्ट हो जाता है। अभ्यास करने में पशु शब्द निमित्त है। अतः समास शब्द का पाठ करना ही उचित है। 'अयं' पद का अभ्यास करने से पशु की प्रधानता मानी जाती है; क्योंकि 'योग्यः पशुः षड्विंशतिवंक्रीकः' ऐसा ही वाक्यार्थ होता है। वस्तुतः वंक्रियाँ ही प्रधान हैं। इस कारण समास अर्थात् २६ का दो गुना करके द्वापञ्चाशत् ५२ शब्द का करना ठीक है॥ १६॥

**'चतुस्त्रिंशद्वाजिनः' इत्यादि वाक्य-वचन द्वारा आश्वमेधिक सवनीय अश्व का चतुस्त्रिंशत् वंक्रि रूप विशेष वचन है। इस विषय में आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १७०७ ) अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** अश्वस्य चतुस्त्रिंशत् = यह मंत्र वाक्य, तस्य वचनात् = ३४ वंक्रियों का प्रकाश करने वाला होने से, वैशेषिकम् = खास अश्व के लिए ही है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि अश्वमेध यज्ञ में चौंतीस वंक्रियाँ कही गई हैं। वहाँ पर यह आशङ्का होती है कि क्या वह वचन अश्व का ही वैशेषिक है? अश्वमेध यज्ञ में एक अश्व और

अन्य दो तूपर एवं गोमृग सवनीय पशु हैं। उन सभी में 'अश्वस्य चतुस्त्रिंशत् यह विशेषण अश्वपरक ही है तथा षड्विंशतिरस्य वंक्रय: ये जो अग्नीषोमीय के अन्तर्गत कहे गये हैं, वह अतिदेश शास्त्र द्वारा भी प्राप्त होता है। तूपर और गोमृग इन दोनों पशुओं की वंक्रियाँ द्वापञ्चाशत् (५२) ही हैं। इस प्रकार से प्रकाश समास करके कहना तथा अश्व की ३४ वंक्रियाँ उक्त वचन द्वारा प्रकाशित होती हैं॥ १७॥

**इस प्रकरण को आचार्य अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष से समझाते हैं—**

**(१७०८) तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** सा = वे, चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वम् = चौंतीस संख्या का भी वाच्य होने से, तत्प्रतिषिध्य = वैशेषिक वचन का प्रतिषेध कर, प्रकृति: = शास्त्र विहित वचन, नियुज्यते = विहित किया जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त कथन को स्पष्ट करते हैं कि वहाँ पर ऋचा का अर्थवान् वचन होने के कारण यह अश्व का ही वैशेषिक है। इस प्रकार से न मानने पर ऋचा के वचन में अनर्थकत्व दोष उत्पन्न हो जायेगा। 'न चतुस्त्रिंशद् इति ब्रूयात्' इस वचन से पूर्वोक्त विशेष वचन कहलाता है अर्थात् छियासी (८६) वंक्रियाँ तीन पशुओं में मिलकर होती हैं। अत: ८६ को सामासिक बोलना चाहिए। इनके अन्तर्गत ३४ संख्या का वाच्यार्थ भी आ जायेगा। अतिदेश शास्त्र विकल्प में वैशेषिक वचन का वारण (अवरोध) भी करता है॥ १८॥

**(१७०९) ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्याय:॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, ऋक् स्यात् = समस्त ऋचा का विधान है, आम्नातत्वात् = प्रकरण में पाठ होने के कारण, च = और, अविकल्प: = अविकल्प ही उचित है।

**व्याख्या—** पक्षान्तर से समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जो ऋक् आम्नात (कथन कहा गया) है, वह अप्रतिषिद्ध है। इसलिए अश्व का वैशेषिक वचन होता है तथा वही अविकल्प भी है। चूँकि प्रकरण में उस ऋचा का पाठ प्राप्त होता है। अत: उसे अविकल्प ही मान लेना उचित है॥ १९॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन को आचार्य पुन: दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—**

**(१७१०) तस्यां तु वचनादेरवत्पदविकार: स्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** तस्यां तु = वह ऋचा तो, वचनात् = उक्त निषेध वचन द्वारा, एरवत् = इस स्थल की तरह से, पदविकार: स्यात् = चतुस्त्रिंशत् पद के स्थान पर षड्विंशति शब्द का प्रक्षेप करना चाहिए।

**व्याख्या—** पुन: स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि उस ऋचा में पद-विकार होकर चतुस्त्रिंशत् (चौंतीस) न कहकर षड्विंशति (छब्बीस) ही उच्चारण करना चाहिए। उदाहरणार्थ- जैसे इरा की जगह पर गिरा शब्द का उच्चारण किया जाता है। उपर्युक्त निषेध वचन सभी ऋचाओं का निषेध नहीं; बल्कि उस ऋचा में जो चतुस्त्रिंशत् पद है, उसका ही मात्र निषेध है। पद के निषेध से समस्त ऋचा का निषेध मानने में यदि आये, तो लक्षणा शैली माननी होगी; किन्तु ऐसा मानना उचित न होगा॥ २०॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त दृष्टान्त की विषमता बतलाते हैं—**

**(१७११) सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पदेन स्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, सर्वप्रतिषेध: = समस्त ऋचा का प्रतिषेध, असंयोगात् पदेन स्यात् = ऋचा के प्रथम पद के साथ संयोग न होने से हो सकता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अथवा 'चतुस्त्रिंशत'(चौंतीस) इस पद का ऋचा के साथ संयोग न होने से समस्त ऋचा का भी निषेध हो सकता है। उपर्युक्त जो दृष्टान्त दिया गया है, वह 'गिरा' पद ऋचा के शुरुआत का नहीं है। इस कारण दृष्टान्त की समानता नहीं है॥ २१॥

**अग्नीषोमीय पशु में उरुक शब्द से द्रव्य का अभिधान ( कथन किया गया ) है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

## ( १७१२ ) वनिष्टुसन्निधानादुरुकेण वपाभिधानम्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** वनिष्टुसन्निधानात् = वनिष्टु के सामीप्य से, उरुकेण = उरुक शब्द से, वपाभिधानम् = वपा (चर्बी) का अभिधान-कथन होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशुयाग में जो 'अध्रिगु' वचन है। वहाँ पर वनिष्टु का सन्निधान होने से 'उरूक' शब्द उल्लू का वाचक न होकर वपा (चर्बी) का वाची है। 'ऊरुविस्तीर्णमूको मेदो यत्र स उरूक:।' इस व्युत्पत्ति द्वारा भेदपूर्ण वपा विशेष का नाम ही उरूक है। उरूक और उलूक शब्दों के साम्य से उरूक का अर्थ उलूक नहीं मानना चाहिए। उक्त प्रकरण का यही अभिप्राय है॥ २२॥

**अध्रिगु में जो प्रशसा शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ प्रशंसा है। इस अधिकरण के सूत्रान्तर्गत आचार्य पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७१३ ) प्रशसाऽस्यभिधानम्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** प्रशसा = प्रशसा शब्द, अस्यभिधानम् = असि के अर्थ का वाचक है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि इस अग्नीषोमीय प्रकरण के अन्तर्गत प्रशसा शब्द आता है। प्रशसा शब्द का अर्थ यहाँ असि (तलवार) किया गया है। 'अध्रिगु: प्रैष' मंत्र में 'प्रशसा' शब्द तलवार के अर्थ का वाचक है। प्रकरण में 'अध्रिगो प्रशसा बाहू' यह वचन है। यहाँ आशङ्का होती है कि 'प्रशसा'- यह बाहु का अभिधान (कथन) है अथवा उसका विशेषण है?॥ २३॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७१४ ) बाहुप्रशंसा वा ॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, बाहुप्रशंसा = बाहु की प्रशंसा वाचक यह शब्द है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रशसा शब्द असि वाचक नहीं; बल्कि प्रशंसा वाचक है। 'प्रशस्तौ इति बाहुविशेषणम्' प्रशंसौ शब्द द्वितीया के द्विवचन का रूप है। यहाँ पर 'प्रशंसा' शब्द बाहु की प्रशंसा बतलाने वाला है। प्रशसा बाहु का अर्थ- 'प्रशस्त बाहु' है। यदि तलवार अर्थ होता, तो 'प्रशसा' का ऊह करके बहुवचन करना होता; किन्तु यहाँ पर ऊह करना विहित नहीं है॥ २४॥

**'अध्रिगुप्रैष में 'श्येनमस्य' इत्यादि वाक्य गत श्येनादि शब्दों का कार्त्स्न्य वचन है।' इस अधिकरण ( प्रकरण ) पर अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का मत प्रकट करते हैं—**

## ( १७१५ ) श्येनशलाकश्यपकवषस्त्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात्॥२५॥

**सूत्रार्थ—** श्येनशलाकश्यपकवषस्त्रेकपर्णेषु = श्येन, शला, कश्यप, कवष, स्त्रेकपर्ण में, प्रसिद्धसंन्निधानात् = प्रसिद्ध स्येन आदि पद के सन्निधान से, आकृति वचनम् = सादृश्य वचन है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि श्येन, शला, कश्यप, कवष, स्त्रेक पर्ण में प्रसिद्ध श्येन आदि पद का सन्निधान होने के कारण सादृश्य (अर्थात् श्येन पक्षी के समान) वचन है। यज्ञ में दान देने योग्य पशु के देह में अनेक अंग-अवयव श्येन आदि पक्षी के समान होते हैं। यहाँ पर सिंहाकृति एवं मेखलाकृति वचन गम्यमान होता है। वैसे ही प्रसिद्ध के सन्निधान होने से यहाँ पर श्येनाकृति, शलाकृति भुजाएँ, कश्यपाकृति कन्धे, कवष की आकृति वाली जंघाएँ और करवीरपर्णाकृति वाले जानु (घुटने) सदृश होते हैं॥ २५॥

**अगले सूत्र में आचार्य विकल्प प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७१६ ) कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** तथा भावात् = तत्-तत् अर्थात् उन-उन पक्षियों के साथ उस भाग के अधिकाधिक एक जैसा मिलते रहने से, कात्स्न्यं वा स्यात् = सम्पूर्ण आकृति श्येनादि जैसी ही सहज-स्वाभाविक रीति से होती है।

**व्याख्या—** आचार्य विकल्पपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एकाङ्ग अर्थात् एक अङ्ग के अंकन से पूर्णरूपेण उस पशु के शरीर (अङ्ग-अवयवों) का ज्ञान नहीं हो पायेगा। अत: सम्पूर्ण कृति-सर्जना ही गम्यमान होती है। पशुओं के देह के वक्षस्थल की आकृति सम्पूर्ण रीति से श्येन आदि पक्षियों की तरह ही होती है। इसका ज्ञान मात्र एकाङ्ग के उद्धरण मात्र से सम्भव नहीं है। वहाँ यह विकल्प पक्ष हुआ॥ २६॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उत्तर पक्ष ( समाधान ) देते हैं—**

**( १७१७ ) अध्रिगोश्च तदर्थत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अध्रिगो: तदर्थत्वात् = अध्रिगु नामक ऋत्विक् को पशुओं के देह के अवयवों-अङ्गों की आकृति का ज्ञान होना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अध्रिगु नाम वाले ऋत्विक् को उक्त पशु के अङ्गों का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि ऋत्विक् को पशु के किसी एक अङ्ग मात्र से सभी अङ्गों का ज्ञान नहीं हो सकता, इस कारण उसकी सम्पूर्ण आकृति का उल्लेख किया गया है॥ २७॥

**'दर्शयाग के लिए उद्धृत अग्नि का लोप हो, तो प्रायश्चित्त रूप ज्योतिस्मती इष्टि का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।' इस सम्बन्ध का अधिकरण ( प्रकरण ) आचार्य अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७१८ ) प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थे हि विधीयते॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** प्रासंगिके = दर्श और पूर्णमास के लिए उद्धृत अग्नि यदि शान्त हो जाये तो, प्रायश्चित्तं न विद्यते = प्रायश्चित्त ज्योतिष्मती इष्टि कर्त्तव्य नहीं है, परार्थत्वात् = ज्योतिष्मती इष्टि अन्य के लिए होने से, तदर्थे हि विधीयते = अग्निहोत्र के लिए यह विहित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि दर्शपौर्णमास इष्टियों में गार्हपत्य से अग्नि लाते समय यदि वह अग्नि बुझ जाये, तो प्रायश्चित्त रूप में ज्योतिष्मती इष्टि करने का नियम नहीं है। अग्निहोत्र के लिए उद्धृत अग्नि में प्रायश्चित्त होता है; क्योंकि वह सब स्वार्थ के लिए ही करना पड़ता है, किन्तु प्रासङ्गिक (दर्श-पौर्णमास) अग्नि के शान्त हो जाने पर परार्थ होने से कोई प्रायश्चित्त नहीं होता। अग्निहोत्र के प्रकरण में ही प्रायश्चित्त करना कहा गया है॥ २८॥

**'धार्य' अग्नि के उद्वान ( प्रज्वलित करने ) में ज्योतिष्मती अग्नि का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को सूत्रकार अगले दो सूत्रों में बतलाते हैं—**

**( १७१९ ) धारणे च परार्थत्वात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, धारणे = धार्यमाण अग्नि, परार्थत्वात् = सर्व कर्म के लिए होने से उसके उद्वान (प्रज्वलन) में ज्योतिष्मती इष्टि नहीं करनी चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'धार्य' अग्नि के शान्त हो जाने पर भी यह प्रायश्चित्त नहीं होता। आहवनीय यज्ञकुण्ड में से जो अग्नि ली जाती है, वह सभी कर्मों के लिए होने से अग्निहोत्र के लिए भी है। गतश्रिय (शान्त हुई) अग्नि के अनुगमन में भी परार्थ होने से प्रायश्चित्त नहीं होता॥ २९॥

**( १७२० ) क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** क्रियार्थत्वात् = विभिन्न क्रियाओं के लिए होने से, इतरेषु कर्म स्यात् = अन्य में कर्मानुष्ठान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार से परिसमूहन एवं पर्युक्षण आदि किये जाते हैं, उसी

प्रकार प्रायश्चित्त होने से निवारण भी हो जाता है। अत: पर्युक्षणादि से प्रायश्चित्त की कोई तुल्यता नहीं होती है। परिसमूहन आदि यज्ञीय कर्म करने ही चाहिए। इस कल्प सूत्र ('धार्यो गतश्रिय आहवनीय:' आर्थो ह वै गतश्रिय:-ब्राह्मण: शुश्रुवान् ग्रामणी राजन्य:। औवौ गौतमो भारद्वाज:) के आधार पर गतश्रीत्व धारण का निमित्त है, यज्ञ निमित्त नहीं। अत: यज्ञ करने से पूर्व अग्नि का उद्वान (प्रज्वलन) हो जाये, तो ज्योतिष्मती नामक इष्टि नहीं करनी चाहिए। श्री माधवाचार्य जी भी लिखते हैं कि 'निमित्त के बिना वह करना कर्त्तव्य नहीं है'॥ ३०॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि अमंत्रक का ही उद्धरण करना चाहिए—**

**( १७२१ ) न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पन्ने = परार्थ-प्रादुर्भूत अग्नि में, यस्य चोदना = जो अग्निहोत्र का विधान है उसमें, न तु = मंत्र नहीं बोलना चाहिए, अप्राप्तकालत्वात् = पृथक् काल होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि परार्थ प्रादुर्भूत अग्नि अर्थात् दर्शपौर्णमास में जिस अग्निहोत्र का नियम-विधान होता है, वहाँ पर काल के अभाव में विगुणता होने से 'वाचा त्वा होत्रा' आदि मन्त्र नहीं बोलना चाहिए। अमंत्रक का ही उद्धरण करना चाहिए; क्योंकि अग्निहोत्र तथा उद्धरण का समय भिन्न होता है। इस कारण यहाँ पर मन्त्र नहीं होना चाहिए। यदि हुआ भी, तो वह व्यर्थ ही हो जायेगा॥ ३१॥

**'प्रायणीय चरु में प्रदान धर्मों के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७२२ ) प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** श्रपणे = दूध के उबालने में, प्रदानदर्शनम् = देवता को प्रदान करने की दृष्टि से, मधूदकवत् = मधु और जल की भाँति, संसर्गात् = मिश्रित होने से, भोजनार्थत्वात् च = तथा याग के लिए होने से, तद्धर्म = प्रदेय द्रव्य को, जो धर्म कर्त्तव्य होते हैं, वे धर्म प्रदेय पय के भी कर्त्तव्य हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि मधु और उदक के सदृश संसृष्ट होने से एवम् यज्ञ हेतु प्रदेय द्रव्य के जो धर्म कर्त्तव्य मधुदक के हैं, वे धर्म प्रदेय पय (दुग्ध) के भी कर्त्तव्य होते हैं, ज्योतिष्टोम में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'आदित्य प्रायणीय: पयसि चरु:' अर्थात् जैसे चरु प्रदेय द्रव्य है ,वैसे ही पय भी प्रदेय द्रव्य है।' जैसे चरु का देवता आदित्य है, वैसे ही पयस् का भी देवता आदित्य है। अत: प्रदेय द्रव्य पयस् के जो धर्म वत्सापाकरण आदि हैं, वे भी कर्त्तव्य पूरे करने होते हैं॥ ३२॥

**अगले सूत्र में आचार्य वाक्य धर्म का प्रतिषेध बतलाते हैं—**

**( १७२३ ) संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, संस्कारप्रतिषेध: तद्वत् = कई एक संस्कारों का भी प्रतिषेध है।

**व्याख्या—** आचार्य आगे और स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि प्रदेय संस्कारों का जो प्रतिषेध उत्पन्न होता है, वह न्याय ही होता है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि प्रदान के यही धर्म कर्त्तव्य हैं। उदाहरणार्थ जैसे- 'अयजुषा वत्सानपाकरोति' अर्थात् यजुष् मन्त्रों के द्वारा वत्सों का अपाकरण (अलग)नहीं करना चाहिए। यहाँ पर इसी वाक्य से धर्म का निषेध किया गया है॥ ३३॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १७२४ ) तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तत्प्रतिषेधे = उस पय (दुग्ध) का जो प्रदेयत्व रूप में प्रतिषेध मानने में आये, तथा भूतस्य वर्जनात् = तो पयोमिश्रित चरु द्रव्य का भी निषेध हो जाता है।

**व्याख्या—** जब उस पय (दुग्ध) के प्रदेयत्व का निषेध माना जाये, तो पयोमिश्रित चरुद्रव्य का भी निषेध हो जायेगा। उदाहरण के लिए जैसे डॉक्टर किसी रोगी को दूध पीने के लिए रोक लगाये, तो फिर उसे दुग्ध से निर्मित पदार्थ भी छोड़ने पड़ते हैं। इस कारण दुग्ध में पकाये गये चरु का भी निषेध हो जाता है। अत: जब ऐसी स्थिति हो, तो ?॥ ३४॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त आशङ्का का सिद्धान्त पक्ष से समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(१७२५) अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** अप्रदानात् = पयस् विधि में प्रदेय का, अधर्मत्वम् = धर्मत्व नहीं, प्रणीतार्थे = प्रणीता के लिए, विधानात् = विधान होने से, अतुल्यत्वात् = तुल्य न होने से, असंसर्गः = संसर्ग नहीं है।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि पय (दुग्ध) प्रत्यक्षतया अधिकरण से श्रूयमाण होता है तथा प्रदेयत्व से चरु होता है। पय में चरु का सम्बन्ध भी नहीं होता है। अत: पय में प्रदेय धर्म नहीं हो सकता। जैसे पयसि चरुः में 'चरु' शब्द प्रथमान्त होने से विधेय नहीं हो सकता। वैसे ही 'दधिमधु घृतमापो धानाः' आदि की तरह से संसर्ग भी नहीं होता है; क्योंकि दृष्टान्त में सभी प्रथमान्त हैं, जबकि दार्ष्टान्तिक 'पयस्' में सप्तमी विभक्ति लगी है तथा उससे पयस् चरु का अधिकरण सिद्ध होता है॥ ३५॥

**(१७२६) परो नित्यानुवादः स्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** परः = अन्य, नित्यानुवादः = नित्य का अनुवाद, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अन्य वचन अर्थात् 'अयजुषा वत्सानपाकरोति' नित्य विधि का अनुवाद है। इस वाक्य- अन्य वचन से वत्सापाकरण का निषेध प्रतीत होता है, यह तो एकमात्र अर्थवाद है। यदि इसे नित्यानुवाद कहा जाये, तो वह अनर्थक हो जायेगा। इसलिए इस वाक्य द्वारा यह गम्यमान होता है कि न यजुषा वत्सा अपाक्रियन्ते अर्थात् वह अप्रदेय होने में अप्राप्त है॥ ३६॥

**आचार्य अगले सूत्र में उक्त कथन-वचन को शाखान्तर में विहित विधान का प्रतिषेधक बतलाते हैं—**

**(१७२७) विहितप्रतिषेधो वा॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विहितप्रतिषेधः = शाखान्तर में जो विहित है, उसका प्रतिषेध किया गया है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि वह वचन (कथन) शाखान्तर के अन्तर्गत विहित (अर्थात् यजुषा वत्सानपाकरोति) विधान का प्रतिषेधक है। इस कारण से प्रमुख धर्मों का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य नहीं होता है। वह वचन प्रतिषेध होने के साथ ही अर्थवान् भी होता है॥ ३७॥

**अगले सूत्र में समाधान बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि अप्रधान होने के कारण केवल ओदन का अशन हो सकता है—**

**(१७२८) वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात्स्यात्कारणात्केवलाशनम्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** तदुक्तप्रतिषेधात् ='पयो वा भुङ्क्ष्व' ऐसा प्रतिषेध होने से, वर्जने = संसृष्ट अन्न वर्जन में, गुणभावित्वात् = अप्रधान होने के, कारणात् = कारण से, केवलाशनम् = मात्र ओदन का अशन, स्यात् = हो सकता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'पयो मा भुङ्क्ष्व' अर्थात् तुम दुग्ध का उपयोग मत करो। यहाँ यह प्रतिषेध उचित है। भोजन पय (दुग्ध) प्रधान नहीं है। केवल दुग्ध का सेवन व्रत में एवं रुग्णावस्था में औषध (दवा) के रूप में किया जाता है। केवल ओदन (भात) का अशन (भोजन ग्रहण) करना हो सकता है; किन्तु दृष्टान्त में चरु, दुग्ध में ही राँधने का नियम है। अत: यह ओदन रूप चरु दुग्ध में से अलग नहीं हो सकता। इसलिए चरु के साथ 'पयो मा भुङ्क्ष्व' का दृष्टान्त उचित नहीं है। लोक में संसृष्ट

अन्न को वर्जनीय कहा गया है, जो युक्तिसंगत है। केवलाशन पय-दुग्ध का प्रतिषेध होता है॥ ३८॥

**अगले सूत्र में आचार्य अप्रदेय पय के संसर्ग वाले चरु के सम्बन्ध में शङ्का करते हैं—**

**( १७२९ ) व्रतधर्माच्च लेपवत्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, व्रतधर्मात् = व्रत धर्म होने से, लेपवत् = लेपवत् के सदृश (लोप हो जाता है)।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला साधक यदि मद्य के लेपवाला अथवा मांस के संसर्ग (मिश्रण) वाला पदार्थ ग्रहण करता है, तो उसके व्रतों का लोप अनिवार्य रूप से हो जाता है। उसी तरह यहाँ पर भी अप्रदेय पय के द्वारा संसृष्ट चरु आदि पदार्थों का भी वर्जन हो जायेगा॥ ३९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को अनुचित बतलाते हुए समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७३० ) रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, पुरुषधर्मत्वात् = पुरुष का धर्म होने से, रसप्रतिषेधः = रस का प्रतिषेध है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि व्रत पुरुष का धर्म होने से उसमें रस का प्रतिषेध है। पुरुष का धर्म (स्वभाव) राग है। राग द्वारा पुरुष मद्य का पान करता है। अतः पदार्थ में जब ब्रह्मचारी को मधु के रस का ज्ञान हो जाये, इस कारण लेप का निषेध किया गया है। मधु (मद्य) का किसी भी पदार्थ के साथ संसृष्ट होना, इसमें प्रमुख कारण पुरुष का राग है; किन्तु चरु में जो दुग्ध का सम्बन्ध है, वह तो शास्त्र प्रतिपादित है और शास्त्र द्वारा मान्य प्राप्त संयोग का निषेध होना अनुचित है। अतः उसमें प्रणीता के धर्म उत्पवन आदि करने कर्त्तव्य होते हैं॥ ४०॥

**'अभ्युदय इष्टि में दधि और शृत में प्रदेय धर्मों के सन्दर्भ में अगले दो सूत्र हैं—**

**( १७३१ ) अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** अभ्युदये = चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय इष्टि में, दोहापनयः = दधिशृत रूप द्रव्य में से पूर्व देवता का विभाग और अन्य देवता के सम्बन्ध का विधान है, प्रवृत्तत्वात् = याग के लिए पूर्व से दधि और दुग्ध प्रवृत्त होने से, स्वधर्मास्यात् = प्रदेय द्रव्य धर्म वाले अपनय अर्थात् अन्य देवता होते हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय इष्टि में स्वधर्मा और इज्या के लिए दही की भी आहुति प्रदान की जाती है और साथ ही पके हुए दुग्ध की भी आहुति देते हैं। जिस तरह से चरु का देवता से सम्बन्ध है, उसी तरह से वाक्य भेद से दधि और पय का भी सम्बन्ध होता है। अतः प्रदान के लिए दधि-दुग्ध के धर्म अपनाने चाहिए॥ ४१॥

**( १७३२ ) शृतोपदेशाच्च॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शृतोपदेशात् = शृत अर्थात् पाकाश्रय ऐसा निर्देश होने से।

**व्याख्या—** शृत अर्थात् पके हुए दुग्ध के उपदेश द्वारा भी इज्यार्थ ही दही और पके हुए दुग्ध के धर्म अपनाने चाहिए। ऐसे सिद्धवत् जो निर्देश होते हैं, वे प्रदेय धर्म में ही घटित हो सकते हैं। अतः दही और पाकाश्रय दुग्ध में अभ्युदय के समय में ही इष्टि के धर्म करना उचित है॥ ४२॥

**पशुकामेष्टि में ही दही और शृत के निषेध का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं—**

**( १७३३ ) अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, चरुपयोवत् = चरु और पयस् की भाँति, अर्थान्तरे विधानात् = श्रपण (उबालने-गरम करने) रूप कार्यान्तर में विधान होने से, अपनयः = इज्या के धर्म का अभाव है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि चरु और पयस् की भाँति श्रपण (दूध को उबालने) वाले कर्म में इज्या के

धर्म का अभाव है। 'आदित्य: प्रायणीय: पयसि चरु अर्थात् जैसे यहाँ पर पयस् में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान नहीं होता, वैसे ही पशुकामेष्टि में दधि और शृत (पके हुए दुग्ध) में इज्या के धर्म कर्त्तव्य नहीं होते॥ ४३॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि उक्त सूत्र में जो सिद्धश्रृतोपदेश होता है, वह कोई दोष नहीं है—**

## (१७३४) लक्षणार्था शृतश्रुति:॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** लक्षणार्था = लक्षण के लिए, शृतश्रुति: = शृत (पके हुए दुग्ध) के सम्बन्ध में किया गया कथन।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सिद्ध शृत (पके हुए दुग्ध) के सम्बन्ध में किया गया कथन ही उपदेश होता है। यहाँ इसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि शृत श्रुति लक्षणार्थ है। श्रपण द्वारा द्रव्य लक्षित किया जाता है। चरु का श्रपण करना ही अर्थ द्वारा प्राप्त होता है। उससे सम्बन्ध को लक्षित किया जाता है॥ ४४॥

**ज्योतिष्टोम याग में प्रदेय धर्मों का अनुष्ठान न होने के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## (१७३५) श्रपणानां त्वपूर्वत्वात्प्रदानार्थे विधानं स्यात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** श्रपणानाम् तु = पय: (दुग्ध) आदि श्रपणों का, प्रदानार्थविधानम् = याग के लिए विधान, अपूर्वत्वात् = अपूर्व कर्म होने से, स्यात् = किया गया है।

**व्याख्या—** पयस् (दुग्ध) आदि श्रपण का याग के लिए अपूर्व कर्म होने के कारण विधान किया गया है। 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' यहाँ पय में इज्या धर्म ही कर्त्तव्य है। इस उक्त वाक्यांश में सोम के साथ पय (दुग्ध) का पकाना (गरम करना) कहा गया है। सोम प्रदेय है, इसलिए पयस् (दुग्ध) में सोम का जो क्रय आदि धर्म है। वही दुग्ध में भी कर्त्तव्य होता है॥ ४५॥

**अगले अगले पाँच सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त पक्ष द्वारा करते हैं—**

## (१७३६) गुणो वा श्रपणार्थत्वात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, गुण:= सोमरस का गुणभूत पय है, श्रपणार्थत्वात् = पयस् का उपयोग श्रपण अर्थात् उबालने-गरम करने के लिए है।

**व्याख्या—** सोमरस प्रमुख है, पयस् (दुग्ध) गौण है; क्योंकि दुग्ध तो केवल पकाने के लिए ही है। वह सोमार्थ से ही श्रुत होता है। अत: वह प्रदेय द्रव्य नहीं है॥ ४६॥

## (१७३७) अनिर्देशाच्च॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अनिर्देशात् = पयस् (दुग्ध) देवता के साथ निर्देश नहीं है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सोम द्रव्य का मित्र और वरुण के साथ का सम्बन्ध ज्ञात होता है। पयस् के साथ किसी भी देवता का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। अत: पयस् गौण है, इसलिए उसमें प्रदेय के धर्म करणीय नहीं होते हैं॥ ४७॥

## (१७३८) श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, श्रुते: = श्रुति होने से, तत्प्रधानत्वात् = सोम की प्रधानता स्पष्ट होती है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि द्वितीया विभक्ति की (पयसा सोमं श्रीणाति) श्रुति होने से भी सोम की ही प्रधानता स्पष्ट होती है। द्वितीया विभक्ति प्रधानता सूचित करती है, इस कारण सोम ही प्रमुख है, पयस् (दुग्ध) नहीं । अत: सोम ही प्रदेय है, पयस् नहीं॥ ४८॥

## (१७३९) अर्थवादश्च तदर्थत्वात्॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अर्थवाद: = अर्थवाद भी, तदर्थत्वात् = सोम की प्रधानता सूचित करता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे और कहते हैं कि अर्थवाद भी सोम तत्त्व की प्रधानता बतलाता है। 'पयसैव मे

सोमं श्रीणातु' यह वाक्य अर्थवाद का प्रतीक है, इसमें भी सोम की प्रधानता प्रतीत होती है। इस वाक्यांश से भी स्पष्ट होता है कि पयस् में प्रदेय के धर्म करणीय नहीं हैं॥ ४९ ॥

**( १७४० ) संस्कारं प्रतिभावाच्च तस्मादप्यप्रधानम्॥ ५० ॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारं प्रति = संस्कार के लिए, भावात् = होने से, तस्मात् = इससे, अपि = भी, अप्रधानम् = (पयस्) अप्रधान है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि पयस् तो सोम के संस्कार के लिए अनिवार्य है, यज्ञ के लिए नहीं। इसलिए वह (पयस्) अप्रधान है। अत: इसमें प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं हैं॥ ५० ॥

**अश्वमेध में 'ईशानाय परस्वत:' इस वाक्य द्वारा यागान्तर का विधान है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को आचार्य अगले सूत्र में समझाते हुए पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७४१ ) पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत्॥ ५१ ॥**

**सूत्रार्थ—** पर्यग्निकृतानाम् = पर्यग्निकृत परस्वतों को, उत्सर्गे = छोड़ देने से, तादर्थ्यम् = उसके लिए, उपधानवत् = चरु के उपधान के सदृश होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जिस प्रकार चरु का उपादान उपधान के लिए होता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत वन्य पशुओं के उत्सर्ग (त्यागने) में होता है। वाक्यार्थ प्रतिषेध द्वारा श्रुति बलीयसी होती है। अश्वमेध प्रकरण के अन्तर्गत कहा गया है-'ईशानाय परस्वत: आलभते, तं पर्यग्निकृतमुत्सृजति।' अर्थात् परस्वत् को अग्नि के पास ले जाकर उसे छोड़ देना चाहिए। यहाँ वाक्य में 'परस्वत्' शब्द वन्य पशु विशेष का वाचक है। उसका छोड़ना या त्यागने से तात्पर्य किसी को दान में देना नहीं है। जैसे 'चरुमुपदधाति' अर्थात् चरु का उपधान करने में आता है, वैसे ही परस्वत् का उत्सर्ग (परित्याग) कर देना चाहिए॥ ५१ ॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के कथन पर समाधानपरक सिद्धान्त पक्ष का कथन आचार्य प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७४२ ) शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत्॥ ५२ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थाभावात् = कर्त्तव्य अर्थ न होने से, इडान्तवत् = आतिथ्य में इडान्त कर्म अन्य के निवर्तक होते हैं, शेषप्रतिषेध: = वैसे ही पर्यग्नि किये पीछे प्राकृत अंग का प्रतिषेध है।

**व्याख्या—** सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि कर्त्तव्यार्थ न होने के कारण पर्यग्नि संस्कार करने के बाद प्राकृत अङ्गों का प्रतिषेध है। जिस प्रकार आतिथ्य में इडान्त कर्म अन्य प्राकृत कर्त्तव्य का निषेध करता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत् कर्म करने के पश्चात् अन्य कोई विधेय अंश न रहने से उक्त दो वाक्यों में उत्तर वाक्य फल-रहित हो जाता है। आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ कर्म शेष का प्रतिषेध है; क्योंकि 'इडान्तवत्' कर्म का अभाव होता है। यदि उत्सर्गार्थ है, तो आलम्भ (स्पर्श) का विधान न होता और तब 'ईशानाय परस्वत् आलभते' इस विशेष वाक्य का अर्थ कुछ भी न होता॥ ५२ ॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वोक्त वाक्य कथन का उल्लेख करते हुए और दृढ़ता से स्पष्ट करते हैं—**

**( १७४३ ) पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्तेनोपपद्यते॥ ५३ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दस्य पूर्वत्वात् = पूर्वशब्द यज्ञ सूचक होने से, संस्थापयति इति = समाप्ति सूचक शब्द भी होने से, अप्रवृत्तेन च = जो पूर्वयाग प्रवृत्त न होता तो, उपपद्यते = उत्सर्ग मात्र हो सकता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे और कहते हैं कि पूर्व शब्द यज्ञ का सूचक है तथा आज्य के द्वारा शेष का संस्थापन होता है। यदि यागपूर्वक प्रवृत्ति नहीं है, केवल उत्सर्ग मात्र ही है, तो फिर वहाँ पर 'संस्थापयति'- यह शब्द उपपन्न नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ पर यही सिद्ध होता है कि शेष कर्म का प्रतिषेध है॥ ५३ ॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य कहते हैं कि आज्य की भाँति ही संस्कारों का भी ग्रहण नहीं होता है—**

**( १७४४ ) प्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात्प्रतिषेधे संस्कारणामकर्म स्यात् तत्कारितत्वाद् यथा प्रयाज प्रतिषेधे ग्रहणमाज्यस्य॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रवृत्तेः = संस्कारों की प्रवृत्ति का, यज्ञहेतुत्वात् = यज्ञ का हेतु होने से, प्रतिषेधे = प्रतिषेध होने पर, संस्काराणाम् = संस्कारों के, अकर्म स्यात् = कर्म का अभाव होता है, तत्कारित्वात् = क्योंकि संस्कार उस यज्ञ के आधार पर होता है, यथा = जैसे, प्रयाजप्रतिषेधे = प्रयाज के प्रतिषेध (अभाव) में, ग्रहणम् आज्यस्य = आज्य के ग्रहण का, निषेध हो जाता है। उसी तरह से संस्कारों का ग्रहण भी नहीं होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि संस्कारों की प्रवृत्ति में यज्ञ का हेतु होने के कारण द्रव्योत्सर्ग विधीयमान होता है; क्योंकि संस्कार तो उस यज्ञ कर्म पर ही आश्रित होते हैं। जिस प्रकार प्रयाज के प्रतिषेध (अभाव) में आज्य का ग्रहण नहीं होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी संस्कारों का ग्रहण नहीं करना चाहिए॥ ५४॥

**अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए प्रकरण समाप्त करते हैं—**

**( १७४५ ) क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्मसर्वहानं स्यात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अकर्मसर्वहानम् = सभी तरह के कर्मों का अभाव हो जाना, अवच्छेदात् = उत्तरांग का व्यवच्छेद होने के कारण, क्रिया = अर्थात् यज्ञ-कर्म का विधान होता है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि अवच्छेद सत्र में क्रिया (यज्ञ कर्म) होनी चाहिए। याग के क्रम ही संस्कार होते हैं; अतः संस्कारों के रक्षार्थ श्रेष्ठ कर्म (यज्ञ) अवश्य ही करना चाहिए। पूर्वोक्त सूत्र जैसे याग का प्रतिपादन करता है, वैसे ही 'तं पर्यग्निकृमुत्सृजति' यह वाक्य भी याग का प्रतिपादन करता है। अस्तु; 'परस्वत्' आरण्यक (जंगली) पशु विशेष का दान किया जाता है, यही भाव इस अधिकरण (प्रकरण) में व्यक्त किया गया है॥ ५५॥

**'आज्येन शेषं संस्थापयति' इस वाक्यांश से कर्मान्तर का विधान बतलाया गया है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) को स्पष्ट करने के लिए अगले दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७४६ ) आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्योत्सर्गात् = पूर्वद्रव्य का परित्याग होने से, आज्य संस्था = आज्य की समाप्ति, प्रतिनिधिः स्यात् = प्रतिनिधि होती है।

**व्याख्या—** 'आज्येन शेषं संस्थापयति' अर्थात् यहाँ पर द्रव्य के उत्सर्ग होने से आज्य की समाप्ति प्रतिनिधिभूत है। इस कथन में आज्य शब्द पूर्व के प्रतिनिधित्व का सूचक है। 'पत्नीवत्' देवता वाला है। द्रव्य आगे कहा गया है और उसका प्रतिनिधि आज्य पद वाच्य है, ऐसी मान्यता पूर्वपक्ष की है॥ ५६॥

**( १७४७ ) समाप्तिवचनात् च ॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, समाप्तिवचनात् = समाप्ति का वचन होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त पूर्व कथन को और आगे बढ़ाते हुए कहते हैं- समाप्ति-वचन प्राप्त होने के कारण भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व की ही परिसमाप्ति है। 'आज्येन शेषं समापयेत्' अर्थात् आज्य (घृत) से अवशिष्ट कर्म समाप्त होता है। यदि कर्मान्तर का विधान होता, तो 'आज्येन कर्मारभेत' इस प्रकार वाक्य-कथन होना चाहिए। अतः यहाँ पर अन्य कर्म का विधान नहीं है॥ ५७॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त पक्ष द्वारा करते हैं—**

**( १७४८ ) चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, चोदना = अपूर्व कर्म का विधान है, कर्मोत्सर्गात् = पूर्वकर्म की समाप्ति होने से, अन्यैः अविशिष्टत्वात् स्यात् = अन्य वाक्य के साथ समानता होने से है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि दोनों वाक्यों में समानता होने के कारण पूर्वकर्म की परिसमाप्ति होने से कर्मान्तर का विधान होता है। 'पात्नीवतमालभते पर्यग्निवतमुत्सृजति आज्येन शेषं संस्थापयति' इस वाक्य के अन्तर्गत 'आज्येन शेषं संस्थापयति' इस अंश से एक अन्य कर्म का ही विधान होता है। वस्तुतः इसमें यागवाचक कोई पद नहीं है, फिर भी जिस तरह अन्य वाक्य हैं, जैसे:- 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इस वाक्यांश में भी यागवाचक पद न होने से भी वह इस याग रूपी कर्मान्तर का विधान करता है॥ ५८॥

**अगले सूत्र में आचार्य वनस्पति-याग का अभाव बतलाते हैं—**

## ( १७४९ ) अनिज्यां च वनस्पतेः प्रसिद्धान्तेन दर्शयति॥ ५९॥

**सूत्रार्थ—** प्रसिद्धान्तेन = प्रसिद्ध चरम अवयव से, वनस्पतेः = दशम प्रयाज का, अनिज्याम् = याग के अभाव को, दर्शयति = बतलाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि शेष की परिसमाप्ति होने पर वनस्पति याग किया जाता है। यही वनस्पति इज्या कहलाती है। अङ्गान्तर द्वारा बदलते हुए वनस्पतीज्या का अभाव प्रदर्शित किया जाता है। इससे पूर्वकर्म परिसमाप्त हो जाता है, यही कर्मान्तर है। यहाँ पर इस सूत्र में आचार्य याग के अभाव को सूचित करते हैं। इसीलिए शेष कर्म की यहाँ पर निवृत्ति समझ लेनी चाहिए॥ ५९॥

**अगले सूत्र में आचार्य 'आज्येन शेषम्' वाक्यांश द्वारा कर्मान्तर का विधान बतलाते हुए 'आज्येन समापयेत्' वाक्यांश द्वारा उक्त प्रकरण को पूर्ण करते हुए चतुर्थपाद के सहित नवम अध्याय समाप्त करते हैं—**

## ( १७५० ) संस्था च तद्देवतात्वात् स्यात्॥ ६०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तद्देवतात्वात् = पत्नीवत् देवताक होने से, संस्था = संस्था नामक यह शब्द समाप्ति का वाचक, स्यात् = है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'आज्येन शेषम्' इत्यादि वाक्यांश द्वारा कर्मान्तर का विधान होता है। देवता का श्रवण न होने से सन्निहित पत्नीवत् देवता ही ग्रहणीय होता है। अतः दोनों पूर्व और उत्तर कर्मों का साजात्य होने से पत्नीवत् देवताक से जो कर्म शुरू किया जाता है, वह 'आज्येन समापयेत्' इत्यादि वाक्यांश से प्रतीत हुए कर्म द्वारा समाप्त कर देना चाहिए॥ ६०॥

## ॥ इति नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

# ॥ अथ दशमाध्याये प्रथमः पादः ॥

**विकृति याग एवं प्रकृति याग में विवेचित अर्थ का बाध ( अवरोध ) उत्पन्न होने के सन्दर्भ में सूत्रकार इस नये अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भ में पूर्वपक्ष प्रतिपादित करते हैं—**

## ( १७५१ ) विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणान्तरे = प्रकरण के अन्तर्गत, अतिदेशात् = अतिदेश प्राप्त होने से, विधेः = प्रकृति याग के कर्मों का, सर्वकर्म स्यात् = विकृति यागों में भी अनुष्ठान होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस तरह का सामान्य अतिदेश प्राप्त है। अतः प्रकृति याग में जितने भी कर्म विहित हैं, वे सभी विकृति याग में भी सम्पन्न करने चाहिए। किसी भी कर्म का अवरोध विकृति याग में नहीं करना चाहिए, चाहे वे लुप्त ही क्यों न हों। ऐसी पूर्वपक्षवादी की मान्यता है॥ १ ॥

**अब मीमांसाकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## ( १७५२ ) अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियेत तादर्थ्यात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—**अपिवा =फिर भी, तादर्थ्यात्=प्रयोजन से सम्बद्ध होने के कारण, अभिधानसंस्कारद्रव्यम् = अभिधान-संस्कार रूप आदान आदि क्रियाकलाप जिसमें हैं, अर्थे = प्रयोजन होने पर ही, क्रियेत = किया जाता है।

**व्याख्या—** अभिधान-संस्कार अर्थात् जिस-जिस मंत्र द्वारा जो-जो क्रियाएँ करनी विहित हों, उन-उन क्रियाओं को द्रव्य का उपयोग होने पर ही किया जाता है, जहाँ उपयोग न हो, वहाँ नहीं किया जाता॥ २ ॥

## ( १७५३ ) तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = उनके, अप्रत्यक्षशिष्टत्वात् = आनुमानिक शास्त्र के अंग होने से।

**व्याख्या—**विकृति याग में किस कर्म को किस प्रकार करना चाहिए ? इसका स्पष्ट उल्लेख न किया गया हो, तो उन्हें प्रकृति याग के समान करना चाहिए। ऐसा जो अतिदेश है, वह आनुमानिक अङ्ग है, प्रत्यक्ष नहीं। जहाँ प्रत्यक्ष कथन हो, वहाँ अनुमान का निषेध हो जाता है; क्योंकि प्रत्यक्ष की तुलना में, अनुमान निर्बल है॥ ३ ॥

**दीक्षणीय इष्टियों में आरम्भणीय इष्टियों के अवरोध को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं—**

## ( १७५४ ) इष्टिरारम्भसंयोगादङ्गभूतान्निवर्तेतारम्भस्य प्रधानसंयोगात्॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** आरम्भस्य = आरम्भ का, प्रधानसंयोगात् = सम्बन्ध प्रधान याग के साथ होने के कारण, आरम्भसंयोगात् = आरम्भ सम्बन्ध होने से, अङ्गभूतात् = अङ्गभूत में, इष्टिः = इष्टि की, निवर्तेत = निवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार का मत है कि प्रकृतियाग की दीक्षणीय-इष्टि में जो आरम्भणीया-इष्टि की जाती है, उसका ज्योतिष्टोम की दीक्षणीय में अवरोध हो जाता है; क्योंकि आरम्भ का सम्बन्ध प्रधानभूत दर्शपूर्णमास याग के साथ है; अतः दीक्षणीयादि में आरम्भणीया इष्टि की निवृत्ति है॥ ४ ॥

**अनुयज्ञादि में आरम्भणीया इष्टि का अवरोध होता है। अब सूत्रकार इस प्रकरण का कथन करते हैं—**

## ( १७५५ ) प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात्॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अन्यसंयुक्तात् = अन्य सोमादि रूप प्रधान से युक्त, प्रधानात् = प्रधान से सम्बन्धित इष्टि की, निवर्तेत = निवृत्ति होती है, सर्वारम्भात् = सर्व के आरम्भ होने से, अनङ्गत्वात् = वह केवल इष्टि का अङ्ग नहीं।

**व्याख्या—** राजसूय यज्ञ में पशुयाग, सोमयाग आदि प्रधान कर्म हैं, उनके अन्तर्गत अनुमति आदि इष्टियाँ भी विहित हैं। ये इष्टियाँ दीक्षणीयादि इष्टियों के समान अन्य के अङ्ग नहीं; बल्कि प्रधानभूत हैं। इष्टि, पशु, सोम, बर्हि, होमरूप अनेक प्रधान कर्मों का समूह ही राजसूय कहलाता है। अतः इन अनुमति आदि इष्टियों में भी आरम्भणीया-इष्टि का अवरोध है; क्योंकि जो प्रधान कर्म दूसरे प्रधान कर्मों से जुड़े हैं, उनमें आरम्भणीया कर्म करने की आवश्यकता नहीं है॥ ५ ॥

**आरम्भणीया में भी आरम्भणीया इष्टि करने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७५६ ) तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** तस्याम् तु = आरम्भणीया इष्टि में तो, प्रयाजवत् = प्रयाजों की भाँति, स्यात् = (इष्टि) होनी चाहिए।

**व्याख्या—** आरम्भणीया याग में प्रयाजों की भाँति इष्टि का भी अतिदेश है। अत: दूसरी इष्टियों की ही तरह आरम्भणीया में भी आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए॥ ६॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष कहता है कि आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया इष्टि नहीं होती—**

**( १७५७ ) न वाऽङ्गभूतत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गभूतत्वात् = दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग होने से, न वा = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** 'आरम्भो वरणम् यज्ञे' के अनुसार यज्ञ में ऋत्विक् का वरण करना आरम्भ कहलाता है। आरम्भ प्रधान कर्म के लिए ही होता है। अस्तु; ज्योतिष्टोम याग की भाँति दर्शपूर्णमास यज्ञ में भी प्रधान कर्म के लिए वरण किए गये ऋत्विजों का अङ्ग-कार्य में पृथक् वरण नहीं होता॥ ७॥

**( १७५८ ) एकवाक्यत्वाच्च॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, एकवाक्यत्वात् = एक वाक्य होने से।

**व्याख्या—** मात्र एक ही वाक्य है,जो आरम्भणीया इष्टि का विधान करता है। उस काल में यह दर्शपूर्णमास याग को विहित नहीं करता है; परन्तु अविहित रहकर भी दर्शपूर्णमास याग का विधान कर देता है। अत: इस कारण से भी आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया इष्टि का विधान नहीं है॥ ८॥

**प्रस्तुत सूत्र में 'यूप' के संस्कार से सम्बन्धित आहुति देने या न देने का प्रकरण वर्णित है—**

**( १७५९ ) कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—**च =और, तादर्थ्यम् = कर्म से सम्बन्धित, श्रुतिसंयोगात् = श्रुतिवाक्य के आधार पर, कर्म = पूर्णाहुति कर्म, द्रव्यसंयोगार्थम् = द्रव्य संयोगार्थ होने से, अर्थाभावात् = अर्थ के अभाव में, निवर्तेत = निवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** पदार्थ के संयोगार्थ जो कर्म होता है, वह अर्थ का अभाव होने से निवृत्त हो जाता है; क्योंकि तादर्थ्य का वेद से संयोग होता है। अत: यूप करणार्थ जो यूपाहुति आदि संस्कार हैं, वे निवृत्त हो जाते हैं॥ ९॥

**साद्यस्क-यज्ञ में स्थाणु की आहुति का अवरोध है, पूर्वपक्ष द्वारा अब इस प्रकरण का कथन किया जाता है—**

**( १७६० ) स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** स्थाणौ तु = स्थाणु तो, देशमात्रत्वात् = मात्र आहुति का देश बताने वाला होने से, अनिवृत्तिः प्रतीयेत = आहुति की निवृत्ति नहीं होती है।

**व्याख्या—** अग्नीषोमीय पशुयाग में स्थाणु में स्थाणु की आहुति श्रूयमाण होती है। यूप स्थाणु से अलग हो जाने से स्थाणु को दी जाने वाली आहुति यूप संस्कार के लिए मान्य नहीं॥१०॥

**उक्त प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए अब सिद्धान्त पक्ष अगले तीन सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७६१ ) अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, शेषभूतत्वात् = आहुति रूप कर्म का अङ्गभूत होने से, संस्कारः प्रतीयेत = यूप का संस्कार है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** यूप का अङ्गभूत होने के कारण आहुतिरूप कर्म का संस्कार भी आवश्यक लगता है। जो प्रसिद्धि होती है, वह न्याय से बाध्य हो जाती है। इसलिए यूप का संस्कार पक्ष श्रेष्ठ है॥ ११॥

**( १७६२ ) समाख्याञ्च तद्वत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और भी, तद्वत् = अवान्तर प्रकरण की तरह, समाख्यानम् = समाख्यान प्रकरण भी है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार स्थाणु आहुति के अङ्ग रूप में सिद्ध करने वाला अवान्तर प्रकरण है, उसी प्रकार स्तुति, लिङ्ग आदि ६ प्रमाणों में से समाख्यानरूप प्रमाण भी स्थाणु-प्रधान आहुति को ही अङ्गरूप सिद्ध करता है। अत: इस प्रकार स्थाणु संस्कार के माध्यम से यूप का ही संस्कार होता है॥ १२॥

**( १७६३ ) मन्त्रवर्णश्च तद्वत्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = समाख्यान की तरह, मंत्रवर्ण: = मन्त्र-वर्णन भी अंगत्व में प्रमाण है।

**व्याख्या—**समाख्यान की भाँति मंत्र का जो वर्णन है। वह भी आहुति रूप कर्म अङ्गत्व में प्रमाण है और उस यूप में संस्कार उत्पन्न करता है। यूप संस्कारक होने के कारण स्थाणु-आहुति का अवरोध होता है॥ १३॥

**उत्तम प्रयाज संस्कार कर्म है, इस प्रकरण में अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७६४ ) प्रयाजे च तन्न्यायत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रयाजे = प्रयाज में, तन्न्यायत्वात् = वही प्रतिज्ञा, हेतु , उदाहरण आदि न्याय है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास याग हेतु प्रयाज में संस्कार कर्म उचित है। जिस प्रकार स्थाणु-आहुति यूप द्वारा निकटता से उपकारक है, उसी प्रकार यक्ष्यमाण (आहुति योग्य) अग्न्यादि भी संस्कार द्वारा उपकारक है॥ १४॥

**( १७६५ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाण वाक्य पाये जाने से।

**व्याख्या—** चातुर्मास्य में इस प्रमाण वाक्य का उल्लेख है- 'स्वाहा अग्निम्, स्वाहा सोमम्, स्वाहा सवितारम्, स्वाहा सरस्वतीम्, स्वाहा पूषणम्। इस प्रकार चातुर्मास यज्ञों में उत्तम प्रयाज संस्कार कर्म मान्य है॥ १५॥

**अग्नियाग का आराद् उपकारत्व है, पूर्वपक्ष अब इस प्रकरण का सूत्रारम्भ करता है—**

**( १७६६ ) तथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उत्तम प्रयाजवत्, आज्यभागाग्नि = आज्य भाग के अन्तर्गत होने वाला अग्नियाग, अपि = भी, सन्निपत्य उपकारक है; इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का प्रश्न है कि उत्तम प्रयाज की तरह आज्य भाग में आया हुआ अग्नियाग भी निकटतापूर्वक उपकारक है, यदि ऐसा कहा जाये, तो?॥ १६॥

**अब पूर्वपक्ष के उक्त आक्षेप का सिद्धान्त पक्ष द्वारा समाधान अगले दो सूत्रों में किया जाता है—**

**( १७६७ ) व्यपदेशाद्देवतान्तरम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** व्यपदेशात् = कथन में निर्देश होने से, देवतान्तरम् = प्रधान देवता से भिन्न देवता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का उक्त कथन ठीक नहीं; क्योंकि वाक्य में निर्देश होने से देवान्तर का यजन होने के कारण आराद् उपकारक अर्थात् परम्परा सम्बन्ध से उपकारक है, मुख्य उपकारक नहीं॥ १७॥

**( १७६८ ) समत्वाच्च॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, समत्वात् = समत्व के आधार पर भी।

**व्याख्या—** इस स्थान पर यज्ञ और देवता दोनों ही समान प्रयोजन वाले हैं, इसलिए देवता की यागार्थता उचित है; क्योंकि देवता के अभाव में यज्ञ होना सम्भव नहीं है॥ १८॥

**पशु पुरोडाश यज्ञ में भी देवता संस्कारक है, पूर्वपक्ष अब आक्षेपपूर्वक इस प्रकरण का सूत्र प्रस्तुत करता है—**

**( १७६९ ) पशावपीति चेत्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** पशौ अपि = आज्य भागाग्नि जिस प्रकार आरात् उपकारक है, उसी प्रकार पशु पुरोडाश में भी आरात् उपकारकत्व है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** जिस प्रकार आज्यभागाग्नि यज्ञ आरात् (निकटता का) उपकारक है उसी प्रकार जिसमें पशुओं का दान एवं पुरोडाश का त्याग होता है, वह भी आरात् उपकारक है। यदि ऐसा कहो, तो ?॥ १९॥

**सूत्रकार आगामी दो सूत्रों के माध्यम से पूर्वपक्ष के उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—**

**( १७७० ) न तद्भूतवचनात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, तद्भूतवचनात् = एक देवता 'प्रतिपादक' वचन के पाये जाने से।

**व्याख्या—** उक्त वचन उचित नहीं है। 'यद् देवत्य: पशु: तद्देवत्य: पशु पुरोडाश:' इस कथन के अनुसार दोनों के देवता एक ही हैं अर्थात् जिस देवता का पशु है, उसी देवता का पुरोडाश होता है। अत: एक ही देवता का स्मरण करके दान और त्याग होने से आरात् उपकारक नहीं, परन्तु याग संस्कारक है॥ २०॥

**( १७७१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्गभूत कथन पाये जाने से।

**व्याख्या—** इस अर्थ का प्रमाण पाये जाने से भी पशु-पुरोडाश के क्रम में दोनों को उद्धृत किया गया है। इसलिए पशु-देवता-संस्कार के लिए पुरोडाश याग होता है॥ २१॥

**पुन: पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १७७२ ) गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कपालवत् = कपाल के अङ्गों की तरह, च = तथा, गुणभूतविकारात् = गुणभूत अग्नीषोमीय की विकृति होने से, गुण: = देवता अङ्ग है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार एक कपाल (पुरोडाश पकाने का पात्र) श्रपण (उबालने की क्रिया) में तथा तुष (भूसी) के वपन में गुणभूत है, उसी प्रकार अग्नीषोमीय देवता अभिन्न पशुयाग एवं पुरोडाश याग में गुणभूत होंगे। अत: इससे सिद्ध होता है कि पशु-पुरोडाश की निकटता मान्य है तथा देवता याग का अङ्ग है॥ २२॥

**अब अगले दो सूत्रों में सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—**

**( १७७३ ) अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कार: प्रतीयेत स्वाहाकारवदङ्गानामर्थसंयोगात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा संस्कार: = फिर भी देवता संस्कार, प्रतीयेत = प्रतीत होता है, शेषभूतत्वात् = यज्ञ देवता का अङ्ग होने के कारण, स्वाहाकारवत् = स्वाहाकार यज्ञ निष्प्रयोजन बतलाते हैं, जिस प्रकार देवता संस्कार के लिए हैं, अङ्गानामर्थसंयोगात् = उसी प्रकार जो-जो अङ्ग हैं, उनका प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होता है।

**व्याख्या—** स्वाहाकार शब्द का उच्चारण जिस प्रकार देवता-संस्कार के लिए है, उसी प्रकार उक्त कर्म भी देवता-संस्कार के निमित्त है। जो-जो अङ्ग होते हैं, उनका भी प्रयोजन के साथ सम्बन्ध गम्यमान होता है। इसलिए उक्त यज्ञ आरात् उपकारक नहीं, अपितु संस्कार कर्म ही है॥ २३॥

**( १७७४ ) व्यृद्धवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, विप्रतिपत्तौ = पशु पुरोडाश तथा देवता (के विरोध) की विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में, व्यृद्धवचनम् = व्यृद्ध अर्थात् अङ्गलोप वचन, तदर्थत्वात् = संस्कार पक्षार्थक होने के कारण।

**व्याख्या—** 'यद्वै सौत्रामण्यै व्यृद्धं तदस्यै समृद्धम्' यह कथन संस्कार पक्ष में अनुकूल है। आरात् उपकारक पक्ष में अङ्गलोप कहना अयुक्त है; अत: व्यृद्ध वचन कहना भी उचित नहीं। तात्पर्य यह है कि सौत्रामणी में पशु पुरोडाश और देवता के विरोध के सम्बन्ध में अङ्गलोप वचन संस्कार पक्ष में ही अवकल्पित होता है॥ २४॥

**पूर्वपक्ष अब गुणपक्ष में भी समान दोष की आशङ्का प्रकट करते हैं—**

**( १७७५ ) गुणेऽपीति चेत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** गुणेऽपि = गुण पक्ष में भी समान दोष है, इति चेत् = यदि ऐसा कहो, तो ?

**व्याख्या—** पुरोडाश यज्ञ में देवता के लिए गुणवाद माना जाये, तो उक्त दोष समान हो जाता है। जैसे संस्कार पक्ष में अङ्गलोप वचन अर्थवाद है, वैसे आरात् उपकारक पक्ष में भी अर्थवाद ही है, ऐसा कहें, तो?॥ २५॥

**सूत्रकार अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( १७७६ ) नासंहानात्कपालवत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त वचन ठीक नहीं, असंहानात् = हानि नहीं, कपालवत् = कपाल की तरह।

**व्याख्या—** मीमांसाकार आरात् - उपकारक पक्ष में विषमता बतलाते हैं । एक कपाल से तुष (अन्न का छिलका) का उपवपन करने से जिस प्रकार दूसरे कपाल का कोई नुकसान नहीं होता, उसी प्रकार दूसरे देवता से पुरोडाश यज्ञ करने में पशु याग देवता को कोई नुकसान नहीं होता है। अत: आरात् उपकारक पक्ष में अङ्गलोप वचन निरर्थक एवं संस्कार पक्ष में सार्थक होता है, इसलिए देवता पक्ष ही मानना उचित है॥ २६॥

**( १७७७ ) ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, ग्रहाणाम् = ग्रह नामक पात्र के, संप्रतिपत्तौ = देवता के सम्बन्ध में मतैक्य, तद्वचनम् = वह वचन है, तदर्थत्वात् = देवता संस्कारक होने से।

**व्याख्या—** सौत्रामणी के ग्रहों (पात्रों) में पुरोडाश सम्बन्धी वचन पाये जाते हैं- 'ग्रह-पुरोडाशा: ह्येते पशव:'। वह ग्रह और पशु दोनों देवता संस्कार के लिए हैं, इसलिए संस्कार पक्ष ही प्रभावी है॥ २७॥

**( १७७८ ) ग्रहाभावे च तद्वचनम्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, ग्रहाभावे = ग्रह के अभाव में, तद्वचनम् = वह वचन है।

**व्याख्या—** यदि ग्रह देवता के संस्कार के लिए है, तो पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है। 'नैतस्य पशोर्ग्रहं गृह्णन्ति' - ग्रहाभाव के इस कथन के आधार पर ग्रह एवं पुरोडाश का प्रयोजन एक ही है॥ २८॥

**आगामी दो सूत्रों में पुरोडाशों की देवता-संस्कारार्थता सूत्रकार द्वारा सिद्ध की जाती है—**

**( १७७९ ) देवतायाश्च हेतुत्वं प्रसिद्धं तेन दर्शयति॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, देवताया: हेतुत्वम् = देवता हेतु रूप हैं यह, प्रसिद्धम् = प्रसिद्ध है, तेन दर्शयति = उसके द्वारा बतलाते हैं।

**व्याख्या—** श्रुतिवाक्य है कि 'आग्नेया हि पुरोडाशा भवन्ति। आग्नेया हि पशव:' अर्थात् अग्नि स्वरूप परमात्मा (देवता) का नाम लेकर ही पशु का दान दिया जाता है तथा अग्नि स्वरूप परमात्मा को याद करके ही पुरोडाश का यजन किया जाता है। अत: प्रमाणित होता है कि पुरोडाशों के देवता संस्कार के प्रयोजन से हैं॥ २९॥

**( १७८० ) अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेः शृतवद् गुणभूतविकार: स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** उपपत्ति: = सिद्ध होते हैं, अर्थापत्ते: = अर्थ निष्पत्ति, अविरुद्धा = अविरुद्ध है, शृतवत् = शृत (पका हुआ दूध) के यज्ञार्थ होने की तरह, गुणभूतविकार: स्यात् = प्राकृत अग्नीषोमीय का विकार पशु-यज्ञ है।

**व्याख्या—** अभ्युदय- यज्ञ में प्रधान द्रव्य के संस्कार हेतु की जाती हुई प्रणीता (एक क्रिया विशेष) के गुण प्रधानकर्म में ही होते हैं, जैसे शृत (चरु) को समर्पित करने के लिए उसे दधि के साथ मिश्रित करके तैयार किये जाने पर वह गुणों से संयुक्त हो जाता है, न कि दोषपूर्ण होता है। तात्पर्य यह है कि जो गुणीभूत (गौण) के धर्म हैं, वही प्रधान के भी धर्म हो सकते हैं॥ ३०॥

**जिस याग का पूर्व में विवेचन किया गया है, उस याग के बारे में सूत्रकार आगे शङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १७८१ ) स द्व्यर्थ: स्यादुभयो: श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं तस्यार्थवादत्वम्॥**

**सूत्रार्थ—** स: = वह (याग), द्व्यर्थ: = दो प्रयोजन वाला, स्यात् = होता है, उभयो: =दोनों अर्थ,

श्रुतिभूतत्वात् = वेद में वर्णित हैं, विप्रतिपत्तौ = संशय में, तस्य = उसके, अर्थवादत्वम् = अर्थवाद के आधार पर, तादर्थ्यात् = उभय अर्थी होने से, विकारत्वम् उक्तम् = विकृति याग भी उसी के लिए है।

**व्याख्या—** याग दो प्रयोजन वाला होता है। प्रथम देवता के संस्कार के लिए (अर्थात् अच्छाइयों-सद्गुणों की वृद्धि हेतु) तथा द्वितीय छिद्र ढकने के लिए (बुराइयों-दुर्गुणों या पतन की रुकावट के लिए)। उक्त दोनों ही प्रयोजनों का वेद में विधान है। संशय पैदा होने पर अर्थात् यह निश्चय न होने पर कि किस प्रयोजन वाला है, उभयार्थक याग मानना उचित होगा। विकृतियाग भी उसी के हेतु हैं॥ ३१॥

**सूत्रकार संशय की स्थिति का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**(१७८२) विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** तासाम् = देवताओं के सम्बन्ध में, विप्रतिपत्तौ = सन्देह का कारण, आख्याविकारः = नाम की आख्या विकार से, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** देवताओं के विषय में जो सन्देह होता है, वह मात्र कथन का विकार है। पशु, देवता आदि के संस्कार-प्रकरण में पुरोडाश आदि के लिए प्रयुक्त शब्द देवता आदि का नामान्तरण मात्र है। सरस्वती देवताक प्रकरण में कहा गया है- 'विश्वस्य वृसयस्य मायिनः', यहाँ पर 'वृसय' शब्द बृहत् शब्द के अर्थ का द्योतक है। पशु आदि का कोई अलग देव नहीं होता॥ ३२॥

**(१७८३) अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अभ्यासः = याग का अभ्यास, प्रयाजवत् = प्रयाज के समान, एकदेशः = एक देशीय, अन्य देवत्यः = भिन्न देवता वाला है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं, जहाँ देवता संस्कार-पक्ष में आख्यानों (कथनों) का विकार नहीं है, वहाँ अनाख्या विकारों में भी संस्कार-पक्ष ही अवकम्पित होता है। 'अभ्यास एव पुरोडाश यागस्य भविष्यति' के अनुसार पुरोडाश याग का अभ्यास होगा। वहाँ पशु-पुरोडाश के भिन्न देवता हैं और पशु-देवता के ग्रहरूप अन्य द्रव्य का विधान होता है। पशु-याग में पाँच प्रयाजों का वर्णन है, जिन्हें ग्यारह संख्या में किया जाता है। अतः जिस प्रकार प्रयाजों का अभ्यास करके ग्यारह की संख्या पूर्ण की जाती है, उसी प्रकार याग का अभ्यास कर भिन्न देवता और भिन्न द्रव्य का सम्बन्ध कर सकते हैं॥ ३३॥

**सौर्ययाग में चरु शब्द का अर्थ 'ओदन' के रूप में है। अब इस प्रकरण के सूत्र की व्याख्या आरम्भ करते हैं—**

**(१७८४) चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** चरुः = चरु शब्द का अर्थ, हविर्विकारः = हविष् का विकार, स्यात् = होता है, इज्यासंयोगात् = याग का सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** इज्या के साथ हवि का संयोग होने से वह हवि का ही विकार होता है, 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इस कथन में 'चरु' शब्द का अर्थ हविष् का विकार ही होता है; क्योंकि जो कार्य पुरोडाश करता है, वही कार्य चरु करता है। प्रकृति याग में पुरोडाश बतलाया है; जबकि सौर्ययाग-रूप विकार में चरु बतलाया है। 'चर्यते भक्ष्यते स चरुः' तात्पर्य यह है कि धान्य में से बनाये गये किसी भी खाद्य पदार्थ की संज्ञा चरु है॥ ३४॥

**चरु का पाक स्थाली अथवा अन्य किसमें होता है? इस आशङ्का के निवारण हेतु पूर्वपक्ष कथन करते हैं—**

**(१७८५) प्रसिद्धग्रहणाच्च॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रसिद्धग्रहणाच्च = प्रसिद्ध (प्र=प्रकृष्ट रूप से, सिद्ध = पकाया हुआ) से भी।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि चरु स्थाली (हाँड़ी) में प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध शब्द का अर्थ यहाँ भली प्रकार

सिद्ध किया हुआ (पकाया हुआ) उचित लगता है। इस प्रकार स्थाली में प्रसिद्ध होने के कारण स्थाली में ही हवि का विकार (रूपान्तरण) करना उचित है॥ ३५॥

**अब उक्त विषय में मीमांसाकार अपना मत व्यक्त करते हैं—**

## (१७८६) ओदनो वाऽन्नसंयोगात्॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अन्नसंयोगात् = अन्न अर्थात् अदनीय-भोजन करने योग्य पदार्थ का संयोग होने के कारण, ओदन: = चरु शब्द का अर्थ ओदन होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार यहाँ अपना वैकल्पिक मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अन्न अर्थात् अदनीय (खाने योग्य) पदार्थ का ही शिष्ट जन यज्ञ में प्रयोग करते हैं। अत: खाने योग्य पदार्थों के साथ संयोग पाये जाने के कारण चरु शब्द का अर्थ ओदन अर्थात् अन्न समझना चाहिए॥ ३६॥

**उक्त विषय में पूर्वपक्ष पुन: अगले पाँच सूत्रों में अपने तर्क प्रस्तुत करता है—**

## (१७८७) न द्व्यर्थत्वात्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन ठीक नहीं, द्व्यर्थत्वात् = (चरु के) दो अर्थ मानने से (दोष होगा)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष कहता है कि चरु शब्द का अर्थ ओदन अर्थात् अदनीय पदार्थ मानना उचित नहीं। ऐसा समझने पर उसमें दो अर्थ वाला होने का दोष आ जाता है; क्योंकि चरु की प्रसिद्धि स्थाली में ही है तथा ओदन से चरु शब्द का सम्बन्ध होने से लाक्षणिक समझना आचार-अनुरोध से न्याय संगत नहीं होता है॥ ३७॥



## (१७८८) कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थोपपत्तिभ्याम् = अर्थ और उपपत्ति के पाये जाने से, विशये = सन्देह होने से, कपालविकार: = (चरु) कपाल विकार है।

**व्याख्या—** चरु शब्द की द्वि-अर्थी मान्यता के दोष से बचाव हेतु अन्य पक्ष यह भी है कि उसका अर्थ कपाल का विकार मानना ठीक है। चरु स्थाली (हाँड़ी) में पकाया जाता है। अस्तु; उस कपाल का विकार अर्थात् कपाल का अङ्ग मानना औचित्यपूर्ण है॥ ३८॥

## (१७८९) गुणमुख्यविशेषाच्च॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, गुणमुख्य विशेषात् = गुण मुख्य का विशेष होने से।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञ में कपाल और पुरोडाश दोनों का विधान है; किन्तु विकृति याग में चरु शब्द प्रयुक्त है। अत: दोनों में से एक का अवरोध अवश्य होना चाहिए। या तो कपाल की जगह चरु-रूप अर्थ होना चाहिए अथवा पुरोडाश की जगह। यदि कपाल का अवरोध माना जाये, तो अंग का अवरोध होता है तथा पुरोडाश का बाध हो, तो मुख्य का अवरोध होता है। अब मुख्य का अवरोध करने के बदले अंग का अवरोध करना औचित्यपूर्ण है। अत: कपाल के स्थानापन्न उसी की तरह का कोई चरु शब्द का वाच्य होना चाहिए॥ ३९॥

**यहाँ से सिद्धान्त पक्ष प्रारम्भ होकर अगले ४४वें सूत्र तक चलता है—**

## (१७९०) तत् श्रुतौ चान्यहविष्ट्वात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तत् श्रुतौ = उनकी श्रुति में भी, अन्यहविष्ट्वात् = दूसरी हविष् का सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** 'प्राजापत्यम् घृते चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्काम:' इस शास्त्र कथन में कृष्णल (घुँघची) और घृत शब्द के रूप में अन्य हवियों का प्रतिपादन हुआ है तथा चरु शब्द का भी उसके साथ सम्बन्ध है। अत: श्रुति वचन से भी चरु शब्द का तात्पर्य हविष् ही सिद्ध होता है॥ ४०॥

## (१७९१) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् =लिङ्ग वाक्य के दर्शन से भी।

**व्याख्या—** 'पृश्नयै दुग्धे प्रैयङ्गवम् चरुम् निर्वपेद् मरुद्भ्यो ग्रामकामः।' प्रस्तुत प्रमाण कथन में 'प्रैयंगव' शब्द चरु का विशेषण है जो प्रियंगु से बना है। प्रियंगु अर्थात् धान्य से तैयार किया हुआ चरु। अतः लिङ्ग वाक्य के अनुसार भी चरु शब्द हविष् वाचक है॥ ४१॥

**अब अगले तीन सूत्रों में इसी सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७९२ ) ओदनो वा प्रयुक्तत्वात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, ओदनः = चरु शब्द का तात्पर्य ओदन होता है, प्रयुक्तत्वात् = प्रयोग होने से।

**व्याख्या—** चरु शब्द का ओदन में भी प्रयोग होने के कारण ओदन अर्थात् भात भी हवि का विकार है। सूर्य को प्रदान किया जाने वाला कोई अन्य द्रव्य नहीं है, जिससे चरु को जोड़ा जाये। सूर्य देवता को समर्पित की जाने वाली 'हवि' सौर्य हविष् कहलाती है॥ ४२॥

## ( १७९३ ) अपूर्वव्यपदेशाच्च॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, अपूर्वव्यपदेशात् = अपूर्व का व्यपदेश अर्थात् कथन होने से।

**व्याख्या—** अपूर्व का कथन भी इसी पक्ष में है। 'यः कामयेतामुष्मिंल्लोके ऋध्नुयाम् स पुरोडाशं कुर्वीत यः कामयेतास्मिंल्लोके ऋध्नुयामिति स चरुम् कुर्वीत।' प्रस्तुत वाक्य में कहा गया है कि अभीष्ट लोक में ऋद्धि की कामना करने वाला पुरोडाश बनाए तथा इस लोक में ऋद्धि की कामना वाला चरु बनाए। उपर्युक्त कथनों से यह ज्ञात होता है कि पुरोडाश जैसा ही हविष् चरु भी है॥ ४३॥

## ( १७९४ ) तथा च लिङ्गदर्शनम्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** तथा च = उसी प्रकार, लिङ्गदर्शनम्= लिङ्ग वाक्य भी उपलब्ध हो जाते हैं।

**व्याख्या—** इस पक्ष में लिङ्ग वाक्य भी देखने में आते हैं। 'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' 'चतुरआज्यभागान् यजति' आदि वाक्यों में चार आज्य के भागों में विधान दिखाया गया है तथा चरु शब्द का अर्थ ओदन द्वारा हवि का विकार दर्शाया है, न कि कपाल। अतः प्रस्तुत प्रकरण में चरु शब्द का अर्थ ओदन ही है ऐसा सिद्धान्त पक्ष से सुनिश्चित किया गया है॥ ४४॥

**अब सौर्य हवि का पाक स्थाली ( तपेली ) में करने के सन्दर्भ में अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष का कथन है—**

## ( १७९५ ) स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—**सः =वह(ओदन), कपाले = कपालों में पकाना चाहिए, प्रकृत्या स्यात् = क्योंकि दर्शपूर्णमास-रूप प्रकृति में कपालों की ही प्राप्ति होती है, च = और, अन्यस्य = अन्य कोई पात्र, अश्रुतित्वात् = विहित नहीं।

**व्याख्या—** हवि के रूपान्तरित रूप ओदन (भात) का पाक पुरोडाश के समान आठ कपालों (पुरोडाश पकाने वाला कड़ाही जैसा पात्र ) में करना चाहिए; क्योंकि दर्शपूर्णमास में अतिदेश शास्त्र के अनुसार सौर्य विकृति याग में कपालों का उल्लेख है तथा दूसरा कोई भी पात्र शास्त्रानुमोदित नहीं है॥ ४५॥

## ( १७९६ ) एकस्मिन् वा विप्रतिषेधात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** वा = या, एकस्मिन् = एक कपाल में ही चरु पकाना चाहिए, विप्रतिषेधात् = विरोध होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी की द्वितीय मान्यता के अनुसार विरोध होने पर या आठ कपालों की अप्राप्य स्थिति में ओदन के पाक हेतु केवल एक ही कपाल का प्रयोग किया जा सकता है। जल को चूँकि एक ही पात्र में धारण किया जा सकता है, अतः चरु के लिए पकाया जाने वाला भात एक ही कपाल में पकाना चाहिए॥४६॥

**उक्त प्रसंग में सिद्धान्त पक्ष अगले दो सूत्रों में अपना मत प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १७९७ ) न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे पाकसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, न = नहीं, अपूपे = अपूप अर्थात् पुरोडाश में, अर्थान्तरसंयोगात् = अर्थान्तर का संयोग होने से, चरौ = चरु में, पाकसंयुक्तम् = पाक (पकाने का) साधन जो ऊष्मा से संयुक्त हो तो, धारणार्थम् = जल के धारण हेतु, भवति = होता है, तत्र = वहाँ, अर्थात् = अर्थापत्ति प्रमाण से, पात्रलाभः स्यात् = पात्र का लाभ होता है, अविशेषात् = कोई विशेष पात्र होना ही चाहिए, अनियमः = ऐसा कोई नियम नहीं है।

**व्याख्या—** अर्थान्तर का संयोग होने के कारण ओदन (भात) का पाक कपाल में नहीं करना चाहिए; क्योंकि कपाल की आवश्यकता अपूप अर्थात् पुरोडाश के लिए होती है। ओदन पकाने के आधार में जल की ऊष्मा से यह तैयार होता है, कपाल की ऊष्मा से नहीं। अतः जिसमें उचित मात्रा में जल रह सके, ऐसी किसी स्थाली की आवश्यकता पड़ती है। अमुक पात्र ही लेना चाहिए, ऐसा कोई विशेष नियम न होने से, जिसमें ओदन पकाया जा सके, ऐसे किसी भी पात्र का प्रयोग किया जा सकता है॥ ४७॥

## (१७९८) चरौ वा लिङ्गदर्शनात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, चरौ = चरु बनाने के लिए, लिङ्गदर्शनात् = ऐसे लक्षण पाये जाते हैं।

**व्याख्या-** सिद्धान्त पक्ष की ओर से कहते हैं कि चरु के विषय में लिङ्ग वाक्य पाया जाता है। 'यासु स्थालीषु सोमास्युस्ते चरवः स्युः' इस कथन का तात्पर्य है कि चरु को सोमस्थाली में ही पकाना चाहिए। कपाल अथवा कटाह में चरु नहीं पकाना चाहिए॥ ४८॥

**अब सौर्य चरु में पेषण (पीसना) का प्रकरण आरम्भ किया जाता है—**

## (१७९९) तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात्॥ ४९॥

**सूत्रार्थ—**तस्मिन् = उस चरु में, अनर्थलोपात् = अर्थ का लोप न होने से, पेषणम् स्यात् = पेषण होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि चरु में पेषण किया जाना चाहिए; क्योंकि चावल में पेषण अर्थात् चूर्णीकरण सम्भव है तथा पेषण-रूप अर्थ का लोप उसमें नहीं है॥ ४९॥

**सूत्रकार उक्त विषय में अब सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## (१८००) अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** अपूपहेतुत्वात् = पेषण अपूप का हेतु होने से, अक्रिया वा = चरु बनाने में पेषण कर्त्तव्य नहीं।

**व्याख्या—** ओदन अर्थात् चरु बनाने के लिए पेषण की आवश्यकता न होने से वह कर्त्तव्य नहीं। पुरोडाश बनाने हेतु पेषण (चूर्णीकरण) करना चाहिए॥ ५०॥

**अब मीमांसाकार चरु के सन्दर्भ में विभिन्न निषेधों का कथन अगले आठ सूत्रों में करते हैं—**

## (१८०१) पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम्॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, संयवनम् = चरु का संयवन (पानी मिलाकर गूँथना) नहीं करना चाहिए, पिण्डार्थत्वात् = क्योंकि वह पिण्ड के निर्माण के लिए है।

**व्याख्या—** चरु का संयवन (पानी मिलाकर गूँथने की क्रिया) नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह पिण्ड बनाने के लिए ही किया जाता है तथा पुरोडाश का पिण्ड से कोई प्रयोजन नहीं होता है॥ ५१॥

**अब सूत्रकार सौर्य चरु में संवपन के बाध का कथन करते हैं—**

## (१८०२) संवपनं च तादर्थ्यात्॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** च = और, संवपनम् = समर्पित करना, तादर्थ्यात् = उसके अर्थानुसार होना चाहिए।

**व्याख्या—** संवपन अर्थात् पिण्ड समर्पण पुरोडाश के लिए किया जाता है, कारण कि वह उसी निमित्त होता है। चरु में उसका कोई प्रयोजन न होने से उसका बाध होता है॥ ५२॥

**सौर्य चरु में सन्तापन के निषेध का आगामी सूत्र में कथन करते हैं—**

**( १८०३ ) सन्तापनमधः श्रपणात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** सन्तापनम् अधः = सन्तापन का भी निषेध होता है, श्रपणात् = यहाँ श्रपण (पकाना) होने से।

**व्याख्या—** 'भृगूणामङ्गिरसाम् धर्म्मस्य तपसा तप्यध्वम्' इस वाक्य कथन के माध्यम से जो कपाल में सन्तापन अर्थात् तपाने अथवा सेंकने का संकेत किया गया है, उसका भी चरु में बाध (निषेध) है॥ ५३॥

**सूत्रकार अब सौर्य चरु में उपधान के बाध का कथन करते हैं—**

**( १८०४ ) उपधानं च तादर्थ्यात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, उपधानम् = उपधान (कपाल को आग पर रखने की क्रिया) का बाध है, तादर्थ्यात् = हविष् पाक के लिए होने के कारण।

**व्याख्या—** आवश्यक न होने के कारण उपधान (कपालों को आग पर रखने की क्रिया) का भी ओदन में बाध है; क्योंकि स्थाली में ही उपधान का निर्वाह हो जाता है॥ ५४॥

**( १८०५ ) पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूपत्वात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पृथुश्लक्ष्णे = प्रथन (लोई बनाना) और श्लक्ष्णीकरण (चिकना करना) का बाध है, अपूपत्वात् = क्योंकि वे दोनों अपूप अर्थात् पुरोडाश के लिए हैं।

**व्याख्या—** 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इस प्रमाण वाक्य के आधार पर प्रथन (फैलाना) और श्लक्ष्ण (चिकना करना) आदि क्रियाएँ पुरोडाश के लिए होती हैं, अतः चरु में इनका निषेध है॥ ५५॥

**( १८०६ ) अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अभ्यूहः = अभ्यूहन (पुरोडाश को अङ्गारे से ढकने की क्रिया), उपरिपाकार्थत्वात् = पुरोडाश के ऊपरी भाग के पाक हेतु होता है।

**व्याख्या—** पुरोडाश के ऊपरी भाग को पकाने के लिए करछुल से अङ्गारे लेकर उसे ऊपर से ढकने की क्रिया अभ्यूहन कहलाती है। ओदन में यह क्रिया व्यर्थ है, अतः अभ्यूहन का भी उसमें बाध (अवरोध) है॥ ५६॥

**( १८०७ ) तथा च ज्वलनम्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = उसी प्रकार, ज्वलनम् = दर्भ (कुश) के पूलों से ज्वलन करने का भी बाध है।

**व्याख्या—** उसी तरह से दर्भ अर्थात् कुश के पूलों (जूड़ों) को जलाकर चारों ओर से गर्म करना भी पुरोडाश के साथ ही होता है, चरु में यह भी व्यर्थ है। अतः ज्वलन का भी चरु में निषेध है॥ ५७॥

**( १८०८ ) व्युद्धृत्यासादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतौ अश्रुतित्वात् = प्रकृति याग में श्रुत न होने से, व्युद्धृत्य-आसादनम् = पुरोडाश को कपाल में से अलग करके वेदी में रखने की क्रिया का चरु में बाध है।

**व्याख्या—** 'कपालेभ्यो व्युद्धृत्य आसादयितव्यः पुरोडाशः' अर्थात् पुरोडाश को कपाल से उठाकर अलग वेदी में रखना चाहिए। ऐसा कथन प्रकृति याग में चरु के सन्दर्भ में नहीं सुना जाता है; अतः ओदन को स्थाली में से निकालकर वेदी में रखना यह प्रक्रिया भी करणीय नहीं॥ ५८॥

**॥ इति दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥**

# ॥ अथ दशमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**आयु की कामना वालों के लिए प्रस्तुत प्रकरण में चरु के रूप में कृष्णल ( सोने के दाने ) का विधान है। उसी से सम्बन्धित पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( १८०९ ) कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** कृष्णलेषु = कृष्णल युक्त चरु में, अर्थलोपात् = अर्थ का लोप होने से, अपाकः = पाक नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि कृष्णल (सोने के छोटे-छोटे दाने युक्त) चरु का पाक सम्भव नहीं हो सकता। प्रकृत यज्ञों में पुरोडाश एवं ओदन आदि पकाने का तो विधान मिलता है, कृष्णल का नहीं; क्योंकि कृष्णल चरु में पाक के बिना भी कृष्णल तो कृष्णल ही रहते हैं। अतः कृष्णल में पाक नहीं करना चाहिए॥ १॥

**अब इस विषय में सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( १८१० ) स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** वा = या, प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = प्रत्यक्ष विधान होने से, प्रदानवत् = प्रदान के समान,स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** 'घृते श्रपयति प्राजापत्यं चरुं निर्वपेत् घृते शतकृष्णलमायुष्कामः' इस वाक्य के अनुसार आयुष्य की कामना वालों के लिए घृत युक्त कृष्णल समर्पित करने का प्रत्यक्ष विधान है। प्रेरक वाक्य के द्वारा यद्यपि इनके पाक का आदेश प्राप्त नहीं होता है, फिर भी विकल्प से पाक हो सकता है। चूँकि अन्न की तरह कृष्णल पकाया नहीं जा सकता, अतः यहाँ पाक का अर्थ घृत में श्रपण करना होगा। यदि पाक का अर्थ उष्णता अथवा गरम करना किया जाए, तो कृष्णल को यह उत्तप्त कर सकता है। इस प्रकार कृष्णल में पाक कर्त्तव्य है॥ २॥

**सूत्रकार अब कृष्णल चरु में उपस्तरण और अभिघारण के निषेध का सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८११ ) उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वादकर्म स्यात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** उपस्तरणाभिघारणयोः = उपस्तरण और अभिघारण, अमृतार्थत्वात् = स्वादुत्व के लिए होने से कृष्णल चरु में, अकर्म स्यात् = कर्त्तव्य नहीं है।

**व्याख्या—** कृष्णल चरु में उपस्तरण (स्रुच् में हवि डालने के पूर्व घी उड़ेलना) और अभिघारण (हविष् के ऊपर से घी डालना) का बाध है; क्योंकि ये क्रियाएँ तो हविष् (भात) में स्वाद उत्पन्न करने के लिए की जाती हैं और कृष्णल में घी से स्वाद पैदा करना सम्भव न होने के कारण उक्त दोनों क्रियाएँ करणीय नहीं हैं॥ ३॥

**अब उक्त विषय में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १८१२ ) क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, क्रियेत = (उपस्तरण और अभिघारण दोनों) करने चाहिए, तयोः अर्थवादत्वात् = स्वाद बढ़ाना तो मात्र अर्थवाद ही है, संसर्गहेतुत्वात् = मुख्य हेतु आज्य का संसर्ग है।

**व्याख्या—** 'यदुपस्तृणाति, अभिघारयति अमृतामाहुतिमेवैनाम् करोति' इस वाक्य से चरु के साथ उपस्तरण और अभिघारण-ये दोनों क्रियाएँ करने का निर्देश प्राप्त है। कृष्णल के सन्दर्भ में स्वाद वाली बात तो केवल अर्थवाद ही है। उपस्तरण और अभिघारण ये दोनों कर्म तो हविष् के साथ घृत का सम्बन्ध करने के लिए ही होते हैं। अतः दोनों क्रियाएँ करनी चाहिए॥ ४॥

**मीमांसाकार अब उक्त विषय में पुनः सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८१३ ) अकर्म वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अकर्म = इसका अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं, चतुर्भिः आप्तिवचनात् = चार आप्तिवचनों के

होने से, सह= उन दो के साथ, पूर्णम् = अवदान करने से चतुरवत् पूर्ण होता है, पुनश्चतुरवत्तम् = तो पुन: चार कृष्णल से अवदान करने में चतुरवत् उसका व्याघात होता है।

**व्याख्या—** उपस्तरण और अभिघारण कर्त्तव्य नहीं; क्योंकि चार कृष्णल हैं और चार ही अवदान हैं। एक-एक कृष्णल एक-एक अवदान के स्थान में होता है। 'चतुर्भि:' इस आप्त वचन के होने से उपस्तरण और अभिघारण दोनों की निवृत्ति हो जाती है और यदि ये दोनों क्रिया के साथ अवदान करने में आयें, तो 'चत्वारि कृष्णलानि अवद्यति चतुरवत्तस्य आप्त्यै' इस वचन का व्याघात हो जाता है॥ ५॥

**अभीष्ट उत्तर की प्राप्ति हेतु अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्षी पुन: आशङ्का उठाते हैं—**

**( १८१४ ) क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात् सामान्यात्तद्गुणत्वम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—**वा =या, मुख्यावदानपरिमाणात् = मुख्य हवि का परिमाण, सामान्यात् = आकांक्षापूरक साजात्य होने से, तद्गुणत्वम् = गुण अर्थात् अंग है, क्रिया = इसलिए उपस्तरण और अभिघारण दोनों कर्म करने चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि उपर्युक्त सूत्र में मुख्य हविष् में से कितना अवदान करना? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया- चार कृष्णल जितना। यह परिमाण स्वयं गुण अर्थात् अङ्ग होने के कारण मुख्य द्रव्य का बाध (अवरोध) नहीं कर सकता। अत: उपस्तरण और अभिघारण ये दोनों कर्म करने चाहिए॥ ६॥

**( १८१५ ) तेषां चैकावदानत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तेषाम् = चार कृष्णल जितना, एकावदानत्वात् = एक ही अवदान का विधान होने से।

**व्याख्या—** चारों कृष्णलों (सोने के दोनों) की एक ही अवदानता होती है, इस प्रकार 'चत्वारि कृष्णलानि' बतलाते हैं। अत: उक्त दोनों क्रियाओं की अनिवृत्ति होती है॥ ७॥

**( १८१६ ) आप्ति: संख्या समानत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** समानत्वात् = संख्या की समानता होने से, आप्ति:संख्या = आप्तिवचन चतु:संख्या की ही संस्तुति है, अत: उक्त दोनों क्रियाओं की निवृत्ति नहीं।

**व्याख्या—** संख्या की समानता होने के कारण आप्ति वचन चतु: संख्या की ही संस्तुति है। इसलिए उपस्तरण और अवघारण की निवृत्ति नहीं होती॥ ८॥

**अब उक्त विषय में पूर्वपक्षीय के प्रतिपादन पर सिद्धान्त पक्ष आक्षेप लगाता है—**

**( १८१७ ) सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—**सतो: =उक्त क्रियाओं के विद्यमान होने से, तु = तो, आप्तिवचनम् = स्तुति वचन, व्यर्थम् = व्यर्थ है।

**व्याख्या—** यदि उपस्तरण और अभिघारण क्रियाएँ की जाएँ, तो उस स्थिति में आप्ति वचन व्यर्थ होता है अर्थात् स्तुति संभव नहीं होती॥ ९॥

**अगले दो सूत्रों में पुन: अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८१८ ) विकल्पस्त्वेकावदानत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** एकावदानत्वात् तु = एक अवदान का कथन होने से, तो, विकल्प: = विकल्प प्रतीत होता है।

**व्याख्या—** आप्ति वचन से उपस्तरण एवं अभिघारण की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार एक अवदान का कथन उक्त दोनों क्रियाओं को व्यवस्थापित करता है। अत: इस लिङ्ग में विकल्प ही प्राप्त होता है॥ १०॥

**( १८१९ ) सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हीतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृत: स्यादितरस्यान्याय्यत्वात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वविकारे तु = चार समय अवदान का विकार हो तो, अभ्यासानर्थक्यम् = चत्वारि-चत्वारि यह

अभ्यास निरर्थक हो जाये, इतरस्य हविषो हि स्यात् = सिद्धान्तवादी पक्ष में तो दूसरे हविष् के अवदान के लिए अभ्यास है, अपि वा = अथवा , स्विष्टकृत: स्यात् = स्विष्टकृत् हेतु अभ्यास चरितार्थ होगा, इतस्य अन्याय्यत्वात् = मुख्य प्रकरण को छोड़कर अन्य प्रकरण का स्वीकार करना अन्याय्य होने से यह उचित नहीं।

**व्याख्या—** चारों कृष्णलों में चार समय अवदान (सर्वावदान) का विकार होने पर चत्वारि-चत्वारि यह अभ्यास (पुनरावृत्ति) व्यर्थ हो जाएगा। हमारे पक्ष (पूर्वपक्ष) में इतर हवि द्वितीय अवदान की अपेक्षा करके पुनरावृत्ति अवकल्पित होती है। स्विष्टकृत् आहुति से यह अभ्यास चरितार्थ नहीं हो सकता, कारण कि स्विष्टकृत् आहुति तो कृष्णल आहुतिरूप प्रकरण से बाहर है। प्रधान प्रकरण को छोड़कर अन्य प्रकरण को स्वीकार करना अन्याय्य है, अत: उपस्तरण और अभिघारण-दोनों क्रियाएँ करनी चाहिए॥ ११॥

**अब पूर्वपक्ष की आशङ्का के निराकरण में सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

## ( १८२० ) अकर्म वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् तस्मादाप्तिसमर्थत्वम्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** अकर्म = उपस्तरण और अभिघारण कर्त्तव्य नहीं, संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् = संसर्ग की निवृत्ति के लिए होने से, वा = और, आप्तिसमर्थत्वम् = आप्तिवचन का समर्थन होने से, तस्मात् = उसकी निवृत्ति है।

**व्याख्या—** प्रकृत पुरोडाश के सूक्ष्म कण (दाने) स्रुक् (स्विष्टकृत् आहुति सम्पन्न किया जाने वाला पात्र-स्रुचि) में चिपके न रहें, इस हेतु उपस्तरण और अभिघारण क्रिया की जाती है। चूँकि (सोने के दाने) चिपकने वाले नहीं होते। अत: उक्त दोनों कर्मों-उपस्तरण और अभिघारण की निवृत्ति होती है और आप्तिवचन भी उपपन्न हो जाता है॥ १२॥

**अब कृष्णल चरु में भक्षण कर्त्तव्यता का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। पूर्वपक्ष का कथन है—**

## ( १८२१ ) भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** भक्षाणाम् = भक्ष्य की, प्रीत्यर्थत्वात् = प्रीति होने के कारण, तु = तो, अकर्म स्यात् = कृष्णल चरु में भक्षण नहीं होता है।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञ में चरु का भक्षण ऋत्विजों को करना होता है; परन्तु यहाँ कृष्णल का भक्षण नहीं हो सकता। अत: कृष्णल का भक्षण नहीं करना चाहिए; क्योंकि कृष्णल तो स्वर्ण है, जिसका भक्षण अशक्य है॥ १३॥

**उक्त प्रसंग में सूत्रकार सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १८२२ ) स्याद्वा निर्धानदर्शनात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, निर्धानदर्शनात् = निर्धान शब्द से, स्यात् = भक्षण विहित है।

**व्याख्या—** 'निर्धान' शब्द से कृष्णल के भक्षण का विधान है। 'निरवधयन्तो भक्षयन्ति' इस श्रुति कथन से कृष्णल चरु में भक्षण सिद्ध होता है। अत: कृष्णल चरु में भक्षण करना चाहिए॥ १४॥

**कृष्णल चरु में भक्षण के प्रसंग में पूर्वपक्षी आक्षेप प्रकट करते हैं—**

## ( १८२३ ) वचनं आज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, वचनम् = यह वचन, आज्यभक्षस्य = आज्य अर्थात् घृत-भक्षण के लिए, स्यात् = होना चाहिए, प्रकृतौ = प्रकृति में, अभागित्वात् = आज्यभागी रूप में नहीं।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञ में होने के कारण यह वचन आज्य अर्थात् घृत के लिए है। आज्य का भक्षण सम्भव तो है; परन्तु प्रकृति यज्ञ में आज्य का भक्षण करने को नहीं कहा गया है, वहाँ तो चरु का भक्षण करने को कहा गया है और यह भक्षण-क्रिया कृष्णल-चरु में शक्य नहीं है॥ १५॥

**प्रस्तुत सूत्र में उक्त पूर्वपक्षी का समाधान करते हुए मीमांसाकार कहते हैं—**

## (१८२४) वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, वचनम् = उक्त (भक्षण सम्बन्धी) वचन, प्रदानवत् = प्रदान करने की क्रिया की तरह, आज्यस्य = आज्य के, गुणभूतत्वात् = गुणभूत होने से, हिरण्यस्य = सोना के लिए है।

**व्याख्या**—सूत्रकार कहते हैं कि उक्त वचन 'हिरण्य' के लिए है, आज्य (घृत) के लिए नहीं। जैसे भक्षणीय द्रव्य प्रदान किया जाता है, उसी प्रकार भक्षण भी होता है। चूँकि आज्य तो गुणीभूत है, अत: कृष्णल चरु का ही भक्षण प्रकृति में बताया गया है। प्रधान का ही ग्रहण इष्ट है। 'यथा इष्टका कूटे दण्ड: तिष्ठति प्रहर चौरम्' अर्थात् ईटों के ढेर पर लकड़ी है, 'चोर को मार' इस कथन में चोर को लकड़ी से ही मारना बतलाया जाता है; क्योंकि वह प्रधान है। इसी तरह प्रधान चरु ही भक्षणीय है और उसके भक्षण की तकनीक व उपाय यह है कि घी वाले कृष्णल को मुँह में रखकर चूसना चाहिए। इस तरह से कृष्णल चरु में भक्षण का सहभाव है॥

**अब सिद्धान्तवादी कृष्णल-चरु में सहपरिहार विधान का प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं—**

## (१८२५) एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहितत्वात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ**—उपहारे = उपहारो भक्षणाय समर्पणम् यहाँ पर उपहार का अर्थ खाने के लिए देना है, एकधा = एक ही समय में प्राकृत इडा आदि हविष् के चार भाग कर देने में, सहत्वम् =सहत्व यानी एक साथ है, ब्रह्मभक्षाणाम् = ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के भक्ष्य भागों का, प्रकृतौ = प्रकृति यज्ञ में, विहितत्वात् = विहित होने से।

**व्याख्या**— प्रकृति याग में ऐसा बतलाया है कि उस यज्ञ में किये गये इडारूप हवि के चार भाग ब्रह्मा नामक ऋत्विज् को देना पड़ता है। विकृति याग में भी अतिदेश शास्त्र से ऐसा ही संकेत मिलता है। उपर्युक्त सूत्र में 'एकधा' का अभिप्राय बारी-बारी से एक भाग ब्रह्मा को देना अथवा चार भाग एक साथ देना, इस असमञ्जस का समाधान सूत्रकार इस प्रकार देते हैं कि चार भक्ष्य भाग एक साथ देना चाहिए। बारी-बारी से दिए जाने में अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए तीन भागों का बाध होता है और एक साथ देने में शेष तीन कालों का बाध होता है। यहाँ पर भक्ष्य प्रधान है; जबकि काल गौण है। प्रधान का बाध (निषेध) करने की अपेक्षा गौण का ही बाध करना उचित है, अत: सह परिहार का ही विधान है॥ १७॥

**अब पूर्वपक्ष कृष्णल चरु में ब्रह्मा को सर्वभक्ष भागार्पण-इस प्रकरण का सूत्र आरम्भ करते हैं—**

## (१८२६) सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ**— च = और, तेषाम् = ब्रह्मा सम्बन्धी भोगों का, सर्वत्वम् स्यात् = सर्वत्व विहित है, अधिकारात् = अधिकार होने से।

**व्याख्या**— कृष्णल-चरु में जितने भी निर्धारित भाग होते हैं, उन सभी पर दूसरे सभी ऋत्विजों का भी अधिकार होता है; परन्तु सूत्र में बतलाये गये भागों में ब्रह्मा नाम के ऋत्विज् का ही अधिकार है- 'सर्वं ब्रह्मणे परिहरति' अर्थात् अधिकार होने से सर्वत्व ब्रह्म भक्षों का होता है। अत: अध्वर्यु आदि ऋत्विजों को इन भागों का भक्षण नहीं करना चाहिए॥ १८॥

**उक्त पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में अब सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## (१८२७) पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ**— 'वा' शब्द पक्ष के व्यावर्तन का सूचक है, पुरुषापनय: = अन्य पुरुषों का दूरीभाव होता है, तेषाम् = उनका, अवाच्यत्वात् = वाच्यत्व न होने के कारण।

**व्याख्या**— शेष बचे हवि में ब्रह्मा नामक ऋत्विक् का सम्बन्ध पाये जाने के कारण अन्य पुरुषों के सम्बन्ध की निवृत्ति होती है; क्योंकि अन्य ऋत्विज् तो अवाच्य हैं अर्थात् उनके कथन का अभाव है॥ १९॥

**मीमांसाकार अब भक्ष भागों का भक्षण ब्रह्मा द्वारा किए जाने सम्बन्धी प्रकरण के सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८२८ ) पुरुषापनयात्स्वकालत्वम्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** पुरुषापनयात् = अन्य पुरुषों (ऋत्विजों) का सम्बन्ध दूर होने के बाद, स्वकालत्वम् = उस-उस काल में ब्रह्मा द्वारा ही उस भक्ष्य भाग का भक्षण करना।

**व्याख्या—** सूत्रानुसार अन्य ऋत्विजों का अपनय (दूरीभाव) हो जाने से यह सिद्ध होता है कि भक्ष के सभी भागों का भक्षण ब्रह्मा द्वारा ही किया जाना चाहिए, अन्य ऋत्विजों द्वारा नहीं तथा ब्रह्मा द्वारा एक ही समय में सभी भागों का भक्षण न करके निर्धारित भागों का निर्धारित काल में ही भक्षण किया जाना चाहिए॥ २०॥

**सूत्रकार अब ब्रह्मभक्ष में चतुर्धाकरण आदि के अभाव का कथन करते हैं—**

**( १८२९ ) एकार्थत्वादविभागः स्यात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** एकार्थत्वात् = एक ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के लिए ही सम्पूर्ण चरु होने से, अविभागः स्यात् = विभाग करने की आवश्यकता नहीं है।

**व्याख्या—** जहाँ बहुतों का सम्बन्ध होता है, वहाँ विभाग किया जाता है; परन्तु यहाँ तो सम्पूर्ण चरु एक ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के लिए होने से विभाग करने की आवश्यकता नहीं है॥ २१॥

**पूर्वपक्ष द्वारा अब ऋत्विग्दान की आनति सम्बन्धी सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( १८३० ) ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददाति सामर्थ्यात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** ऋत्विग्दानम् = ऋत्विजों को जो दान दिया जाता है वह, धर्ममात्रार्थम् = केवल धर्म के लिए (अदृष्ट के लिए), स्यात् = है, ददाति सामर्थ्यात् = ददाति शब्द की सामर्थ्य अदृष्ट के लिए होती है।

**व्याख्या—** 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इस प्रकार का कथन जो कि प्रकृति याग में सुना जाता है, वह अदृष्ट के लिए अथवा आनति (वेतन देकर किसी से काम लेने) के लिए है। 'भृत्या परिक्रीय वशीकार आनतिः' यहाँ पूर्वपक्ष की मान्यता अदृष्ट के लिए दक्षिणा की है। ऋत्विजों को जो अन्न और स्वर्ण आदि का दान दिया जाता है, वह केवल धर्म- मात्र के लिए मानने में आता है; क्योंकि उसकी कर्त्तव्यता सुनी जाती है॥ २२॥

**उक्त विषय में आचार्य अगले पाँच सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८३१ ) परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, परिक्रयार्थम् = आनति के लिए है, कर्मसंयोगात् = कर्म के साथ संयोग होने से, लोकवत् = लोक व्यवहार की तरह काम के परिक्रय के लिए।

**व्याख्या—** लोक व्यवहार में जिस प्रकार किसी काम के बदले में निश्चित किया गया धन पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है, उसी प्रकार ऋत्विजों की सेवाओं के बदले में दी जाने वाली यज्ञ की दक्षिणा भी अदृष्ट अर्थात् पुण्य-प्रयोजन के लिए नहीं; अपितु दृष्ट कर्म के बदले में दी जाती है॥ २३॥

**( १८३२ ) दक्षिणायुक्तवचनाच्च॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, दक्षिणायुक्तवचनात् = दक्षिणायुक्त इस वचन रूपी लिङ्ग के पाये जाने से।

**व्याख्या—** 'दक्षिणायुक्ता वहन्तिऋत्विजः' - इस शास्त्र वचन से भी यह सिद्ध होता है कि दक्षिणा देने से ऋत्विज् कर्म करते हैं, अतः दक्षिणा परिक्रय के लिए है और उसका परिणाम अदृष्ट न होकर दृष्ट ही है॥ २४॥

**( १८३३ ) परिक्रीतवचनाच्च॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, परिक्रीतवचनात् = परिक्रीत वचन के भी प्राप्त होने से।

**व्याख्या—** 'दक्षिणा परिक्रीता ऋत्विजो याजयन्ति' अर्थात् दक्षिणा देने का वचन देकर दीक्षित हुए ऋत्विज् कर्म करते हैं; इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि दान परिक्रयार्थ अर्थात् दृष्ट अर्थ के लिए ही होता है॥ २५॥

**( १८३४ ) सनिवन्ये च भृतिवचनात्॥ २६ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सनिवन्ये = याचना से प्राप्त धन में, भृतिवचनात् = भृति शब्द का प्रयोग होने के कारण।
**व्याख्या—** 'द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भृतिम् वन्वीत' अर्थात् दीक्षित हुए यजमान को बारह रात्रियों तक ऋत्विक् को देने की दक्षिणारूप भृति के लिए विनय करनी चाहिए। भृति शब्द परिक्रय रूप में प्रयोग में आता है, जिसका लौकिक अभिप्राय मजदूरी होता है॥ २६॥

**( १८३५ ) नैष्कर्तृकेण संस्तवाच्च॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, नैष्कर्तृकेण = निष्कर्तृक (लकड़हारे) शब्द का, संस्तवात् = प्रयोग होने से।
**व्याख्या—** और निष्कर्तृक (लकड़हारे) शब्द का प्रयोग होने के कारण भी दान परिक्रयार्थ ही होता है। जिस प्रकार लकड़हारा पारिश्रमिक लेकर लकड़ी काटता है, उसी प्रकार ऋत्विज् भी दक्षिणा लेकर यज्ञ कराते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दक्षिणा शब्द का अर्थ अदृष्ट न होकर दृष्ट ही है॥ २७॥

**पूर्वपक्ष अब ज्योतिष्टोम में भक्ष की प्राप्ति ( ग्रहण ) का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—**

**( १८३६ ) शेषभक्षाश्च तद्वत्॥ २८ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शेषभक्षाः = हविशेष का भक्षण, तद्वत् = दक्षिणा के समान दृष्टार्थक है।
**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम और दर्शपूर्णमासादि में हवि-शेषों का भक्षण भी दक्षिणा की ही भाँति दृष्टार्थक होता है। अतः यह भक्षण भी परिक्रयरूप है॥ २८॥



**अगले चार सूत्रों में आचार्य सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८३७ ) संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात्॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्रव्यस्य परार्थत्वात् = हवि के परार्थक होने से, संस्कारः = संस्कार के लिए है।
**व्याख्या—** दक्षिणा भले ही परिक्रयार्थ हो, परन्तु पुरोडाश हवि तो परार्थ अर्थात् यज्ञ के लिए है। अतः इसके भाग का भक्षण पुरुष की आत्मा के संस्कार के लिए अर्थात् अदृष्ट (पुण्य) के लिए है॥ २९॥

**( १८३८ ) शेषे च समत्वात्॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शेषे = जो द्रव्य शेष है, समत्वात् = यजमान और ऋत्विज् दोनों समान होने से।
**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि शेष द्रव्य (हवि) देवतार्थ संकल्पित है। अतः उसका उपयोग यजमान एवं ऋत्विज् दोनों ही अपने लिए नहीं कर सकते। इससे भक्षण का परिक्रयार्थ न होना ही सिद्ध होता है॥ ३०॥

**( १८३९ ) स्वामिनि च दर्शनात्तत्सामान्यादितरेषां तथात्वम्॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, स्वामिनि = स्वामी (यजमान) के लिए (शेष भक्षण), दर्शनात् = श्रुति में दिखाई देता है, तत्सामान्यात् = उस (शेष भक्षण) के समान, इतरेषाम् = अन्य के , तथात्वम् = वैसा ही नियम है।
**व्याख्या—** जिस प्रकार स्वामी अर्थात् यजमान के लिए शेष भक्षण का श्रुति में विधान देखा जाता है और वह अदृष्टार्थ होता है, उसी प्रकार अन्य ऋत्विजों का भक्षण भी अदृष्टार्थ ही होता है। इसलिए परिक्रय के लिए भक्षण न होने की बात सिद्ध होती है॥ ३१॥

**( १८४० ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इस प्रकार, च = और, अन्यार्थ = अन्य प्रयोजन के लिए, दर्शनम् = दिखाई देता है।
**व्याख्या—** यह (भक्षण की प्रक्रिया) अन्य प्रयोजन और स्थिति में दिखाई देती है। जैसे- 'कुण्डपायी' नामक यज्ञ में 'अत्सरुक' नामक चमस (पात्र) से सोम का भक्षण करते हैं। यह विशेष कथन के रूप में है। अन्य सत्रों (बड़े यज्ञों) में भी ऐसा देखा जाता है; किन्तु इससे परिक्रय के निमित्त भक्षण की कल्पना करना

उचित नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि परिक्रय के लिए भक्षण नहीं है॥ ३२॥

**अब बड़े यज्ञों में ऋत्विक् वरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( १८४१ ) वरणमृत्विजामानमनार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** सत्रे = सत्र (बड़े यज्ञ) में, स्वकर्मत्वात् = अपने ही कर्म होने से, न = (ऋत्विक् का वरण) नहीं, स्यात् = होता, ऋत्विजाम् = ऋत्विजों का, वरणम् = वरण, आनमनार्थत्वात् = परिक्रय के लिए होने से।

**व्याख्या—** यज्ञों में ऋत्विजों का वरण दक्षिणा देकर कार्य सम्पादन करने हेतु होता है। बड़े यज्ञों में न तो ऋत्विजों का वरण होता है और न ही उनकी सेवाओं का दक्षिणा द्वारा परिक्रय ही होता है, क्योंकि सत्रों में तो ऋत्विज् स्वयं ही यजमान रूप में होते हैं, अत: सत्र ऋत्विजों का ही होता है। चूँकि सत्र में सत्रह यजमान ही ऋत्विज् रूप होते हैं। अस्तु; अपना ही यज्ञ होने के कारण उसमें (बड़े यज्ञ में) ऋत्विक् वरण नहीं होता॥ ३३॥

**अब सत्र ( बड़े यज्ञ ) में परिक्रय के अभाव होने की बात कही जा रही है—**

**( १८४२ ) परिक्रयश्च तादर्थ्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, परिक्रय: = दक्षिणा भी, तादर्थ्यात् = उसके लिए होने से।

**व्याख्या—** तादर्थ्य (अन्य के लिए) होने से ही परिक्रय किया जाता है। सत्र (बड़े यज्ञ) अपने लिए होने के कारण उसमें दक्षिणा रूप में कुछ भी नहीं दिया जाता है। उस (दक्षिणा) के बिना अब परिक्रय की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि सत्र परार्थ (दूसरों के लिए) न होकर आत्मार्थ (स्वयं के लिए) होते हैं॥ ३४॥

**अब सत्र में दक्षिणा के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष द्वारा आक्षेप प्रकट किया जाता है—**

**( १८४३ ) प्रतिषेधश्च कर्मवत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, कर्मवत् = कर्म के समान प्राप्ति होने पर, प्रतिषेध: = निषेध होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष कहते हैं कि जिस सत्र में दक्षिणा नहीं दी जाती, उसमें दक्षिणा का निषेध भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि कर्म की भाँति प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। यदि दक्षिणा दी ही नहीं जायेगी, तो उसका निषेध कैसा? और फिर 'अदक्षिणानि सत्राणि' जैसे वाक्य का क्या प्रयोजन?॥ ३५॥

**सूत्रकार अगले दो सूत्रों में समाधान करते हैं—**

**( १८४४ ) स्याद्वा प्रासर्पिकस्य धर्ममात्रत्वात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्यात् = प्रतिषेध की सिद्धि हो सकती है, प्रासर्पिकस्य = प्रासर्पिक दान का होना, धर्ममात्रत्वात् = अदृष्टार्थ होने से।

**व्याख्या—** प्रासर्पिक दान का निषेध होता है; क्योंकि सत्रों (बड़े यज्ञों) में दान अदृष्टार्थ ही होता है और वह निवृत्त हो जाता है। अत: दान के प्रतिषेध से दक्षिणा के प्रतिषेध की सिद्धि होती है॥ ३६॥

**( १८४५ ) न दक्षिणाशब्दात्तस्मान्नित्यानुवाद:॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** न = प्रासर्पिक दक्षिणा का प्रतिषेध नहीं, दक्षिणाशब्दात् = क्योंकि दान में ही दक्षिणा शब्द रूढ़ होने से, तस्मात् नित्यानुवाद: = अत: नित्य प्राप्त का ही यह अनुवाद है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि सत्र में प्रासर्पिक दान का निषेध नहीं होता; परन्तु आनत्यर्थक दक्षिणा का अर्थात् काम के प्रतिफल स्वरूप ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा का ही निषेध होता है। सत्र दक्षिणा-हीन होते हैं, अत: दक्षिणा का निषेध तो नित्य-प्राप्त का ही अनुवाद अर्थात् अर्थवाद मात्र है॥ ३७॥

**अब उदवसानीय याग के अङ्गभूत दान के परिक्रय प्रकरण का पूर्वपक्ष आरम्भ करते हैं—**

**( १८४६ ) उदवसानीय: सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** उदवसानीयः = उदवसानीय सत्र, सत्रधर्मा = सत्र धर्म वाला, स्यात् = है, तदङ्गत्वात् = उक्त सत्र का अङ्ग होने से, तत्र दानम् = उसमें दान, धर्ममात्रम् = केवल अदृष्टार्थ, स्यात् = है।

**व्याख्या—** उदवसानीय सत्र (बड़ायाग) विशेष याग का नाम है। यह उक्त सत्र- धर्म वाला होता है। 'सत्रादुदवसाय पृष्ठशमनीयेन ज्योतिष्टोमेन सहस्रदक्षिणेन यजेरन्' इस कथन का तात्पर्य यह है कि सत्र समाप्ति के अनन्तर पृष्ठशमनीय-संज्ञक सोम याग करना चाहिए। उसमें जो दान देने में आता है, वह ऋत्विजों के कार्य के बदले में न होकर मात्र धर्मबुद्धि से प्रेरित होने के कारण अदृष्टार्थ होता है; क्योंकि उक्त याग सत्र-विशेष का अङ्ग होता है। अस्तु; उस सत्र के धर्म उसी पृष्ठशमनीय उदवसानीय याग में भी होने चाहिए॥ ३८॥

**उक्त पूर्वपक्ष के विषय में मीमांसाकार अब सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

### (१८४७) न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** 'तु' शब्द सिद्धान्त सूचक है, न = नहीं, एतत् = यह, प्रकृतित्वाद् = (सत्र) प्रकृतिजन्य होने से, विभक्त = पृथक्, चोदितत्वात् = प्रेरक (विधान) वाक्य होने के कारण।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि उदवसानीय याग में दक्षिणा दी जाती है और वह धर्म-मात्र ही नहीं होता; अपितु परिक्रयार्थ अर्थात् ऋत्विजों से कर्म कराने के बदले में होती है; क्योंकि उदवसानीय याग प्राकृतिक नहीं तथा यह सत्र का अङ्ग भी नहीं होता। सत्र समापन के पश्चात् इसका अलग से विधान है॥ ३९॥

**पूर्वपक्ष अब उदवसानीय सत्र के ऋत्विजों द्वारा याग करने सम्बन्धी अधिकरण के सूत्र कहते हैं—**

### (१८४८) तेषां तु वचनाद्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** तेषाम् = उन ऋत्विजों के, तु = निश्चयार्थक, वचनात् = कथन होने से, द्वियज्ञवत् = राजा और पुरोहित के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ की तरह, सह = मिल-जुलकर, प्रयोगः = प्रयोग, स्यात् = करना चाहिए।

**व्याख्या—** सत्र से उठकर उदवसानीय (पृष्ठशमनीय) सहस्र दक्षिणा वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए। इस कथन का तात्पर्य है कि पृष्ठशमनीय सत्राङ्ग नहीं है। पूर्वपक्ष का मत है कि जिस प्रकार राजा और पुरोहित दोनों साथ मिलकर यज्ञ करते हैं। उसी प्रकार उक्त याग सभी ऋत्विजों को सम्मिलित रूप से करना चाहिए॥ ४०॥

**पूर्वपक्ष के इस संशय के निराकरण हेतु सिद्धान्त पक्ष में अगले दो सूत्र कहते हैं—**

### (१८४९) तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** तत्र = उक्त यज्ञ में, अन्यान् ऋत्विजः = भिन्न ऋत्विजों का, वृणीरन् = वरण करना चाहिए।

**व्याख्या—** मीमांसाकार के अनुसार उदवसानीया इष्टि के अन्तर्गत सत्र में रहने वाले ऋत्विजों का वरण करना उचित नहीं; अपितु उससे भिन्न ऋत्विजों का ही वरण करना चाहिए॥ ४१॥

### (१८५०) एकैकशस्त्वप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** अप्रतिषेधात् = प्रतिषेध (निषेध) नहीं होने से, च = और, प्रकृतेः = प्रकृति में, एकसंयोगात् = एक कर्त्ता का संयोग होने से, तु = तो, एकैकशः = सत्र के सभी ऋत्विज् याग कर सकते हैं।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि संहत (समूह) करके पृष्ठशमनीय याग नहीं करना चाहिए; अपितु यह इष्टि सत्र में भागीदार प्रत्येक ऋत्विज् को अलग-अलग करना चाहिए। कारण कि प्रकृति याग में एक कर्त्ता का संयोग पाया जाता है और उदवसानीय याग में इसका कोई निषेध वचन नहीं है॥ ४२॥

**कामेष्टि में दान परिक्रयार्थ होता है, पूर्वपक्ष द्वारा अब इस अधिकरण को प्रस्तुत किया जाता है—**

### (१८५१) कामेष्टौ च दानशब्दात्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** च = और, कामेष्टौ = कामेष्टि में, दानशब्दात् = दक्षिणा विहित होने से परिक्रयार्थ है।

**व्याख्या**— सारस्वत सत्र में कामेष्टि करणीय है। पूर्वपक्ष की मान्यता है कि कामेष्टि में दक्षिणा परिक्रयार्थ अर्थात् दृष्टार्थक होती है; क्योंकि यहाँ दान शब्द का प्रयोग होने से दक्षिणा का विधान पाया जाता है॥ ४३॥

**उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सूत्रकार अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १८५२ ) वचनं वा सत्रत्वात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, वचनम् = परिक्रय हेतु वचन (नहीं), सत्रत्वात् = सत्र का अङ्ग होने से।

**व्याख्या**— सिद्धान्तवादी कहते हैं कि कामेष्टि स्वतन्त्र सत्र नहीं; अपितु सारस्वत सत्र का अङ्गमात्र है। इसमें ऋत्विजों की सेवाओं का परिक्रय करने हेतु दक्षिणा नहीं होती; कारण कि यहाँ भी ऋत्विज् अलग नहीं होते। अतः यहाँ जो दान का वचन है, वह भी परिक्रयार्थ नहीं; अपितु केवल धर्म के लिए है तथा अदृष्ट फल की आकांक्षा का द्योतक है॥ ४४॥

## ( १८५३ ) द्वेष्ये वा चोदनाद्दक्षिणापनयात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, द्वेष्ये = द्वेष्य को (द्वेष किये जाने वाले को), चोदनात् = दक्षिणा देने का प्रेरक कथन होने से, दक्षिणापनयात् = दक्षिणा का अपनय होने से।

**व्याख्या**— वैश्वानर इष्टि में ऋत्विज् को दान में देने सम्बन्धी वचन है। 'द्वेष्याय दद्यात्' अर्थात् द्वेष करने वाले को दें। तब यहाँ संशय उत्पन्न होता है कि यह दान परिक्रयार्थ है अथवा धर्म मात्र। इसका समाधान वाक्य है- 'ऋत्विगाचार्यौ नातिचरितव्यौ' अर्थात् ऋत्विज् तथा आचार्य को मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, उन्हें अतिरिक्त कामना नहीं करनी चाहिए। अस्तु; जो दक्षिणा दी जाती है, वह परिक्रयार्थक नहीं; अपितु अदृष्टार्थक धर्म मात्र ही है॥ ४५॥

**अब सूत्रकार अस्थियज्ञ के सन्दर्भ में विभिन्न समाधान अगले छः सूत्रों में देते हैं—**

## ( १८५४ ) अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ**— अस्थियज्ञः = अस्थियज्ञ, इतरेषाम् = मृतभिन्नों (जीवितों) का, स्यात् = है, अविप्रतिषेधात् = अवरोध न आने से, अस्थ्नाम् = अस्थि का, विप्रतिषेधात् =बाध होने से।

**व्याख्या**— सत्र के यजमानों में से कोई यदि सत्र की पूर्णता से पूर्व ही मर जाए, तो उसका अग्नि संस्कार करके उसकी हड्डियों को मृगचर्म में बाँधकर लाते हैं और उस मृतक के किसी निकटस्थ सम्बन्धी व्यक्ति को उसके स्थान पर दीक्षित करके यजमान बना लेते हैं। इस प्रकार नव दीक्षित व्यक्ति के साथ सत्र (यज्ञ) का कार्य चलता रहता है। इस अस्थियज्ञ के द्वारा जो भी फल प्राप्त होता है, वह मृतक को मिलता है, ऐसा मत पूर्वपक्षवादियों का है। इस सन्दर्भ में सिद्धान्तवादी का कथन है कि त्याग मन से किया जाता है और अस्थियों का मन नहीं होता है। अस्तु; जीवित यज्ञ करने वाले को ही इसका फल मिलता है॥ ४६॥

## ( १८५५ ) यावदुक्तमुपयोगः स्यात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ**— यावत् = जितना, उक्तम् = कहा, उपयोगः = उपयोग (प्राप्त) कर सकना, स्यात् = हो सकता है।

**व्याख्या**— 'अस्थ्नि कुम्भमुपनिधाय स्तुवीत' के अनुसार अस्थियज्ञ में अस्थि का उपयोग उसके ऊपर घड़े को रखकर स्तुति करने में होता है; परन्तु इतने मात्र से ही जिस मृत पुरुष (यजमान) की वह हड्डी है, उसको यज्ञ का फल प्राप्त नहीं होता है॥ ४७॥

## ( १८५६ ) यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात्॥ ४८॥

**सूत्रार्थ**— यदि = किन्तु यदि, वचनात्तेषां = उक्त वचनों को, तदर्थत्वात् = उस (मृत व्यक्ति को) फलदायी भी मानें, सेष्टि = तो इष्टि सहित, जपसंस्काराम् = जप आदि, अर्थलुप्तम् = कर्मकाण्ड का अर्थ

प्रयोजन ही लुप्त हो जाएगा।

**व्याख्या—** जो व्यक्ति यज्ञ कार्य सम्पन्न करता है, उसके लिए जप, मुण्डन आदि कर्म अनिवार्य होते हैं। यह कर्म अस्थियों से सम्पन्न नहीं कराए जा सकते। इस प्रकार जिसकी हड्डी है, उसके निकटस्थ सम्बन्धी से ही उक्त संस्कारादि एवं यज्ञ कार्य ऋत्विजों को करवाना चाहिए, यही उक्त कथन का अर्थ है। 'अस्थीनि याजयेत' यह तो लाक्षणिक प्रयोग मात्र है॥ ४८॥

**( १८५७ ) क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** गुणभूतत्वात् =गुणभूत होने से, तु = तो, क्रत्वर्थम् = यज्ञार्थ कर्म, क्रियेत = करना चाहिए।

**व्याख्या—** जो यज्ञार्थ हो, वह करना चाहिए; क्योंकि वह यजमान का गुणभूत कर्त्तव्य है। यजमान के परिमाण के बराबर यूप को नापना तथा शुक्रग्रहपात्र का स्पर्श जैसे कर्म यज्ञ के गुणभूत हैं। अत: उक्त कर्म यजमान के करणीय कर्त्तव्य होने के कारण किए जाएँगे॥ ४९॥

**( १८५८ ) काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** तु = और , कामाज्ञानात् = कामना का ज्ञान न होने से, इतरस्य = दूसरों को, अनुच्यमानानि = अनुक्त का ज्ञान नहीं होता, तथा = इससे, काम्यानि = काम्य कर्म भी, न विद्यन्ते = कर्त्तव्य नहीं।

**व्याख्या—** अस्थियज्ञ में काम्य कर्म भी कर्त्तव्य नहीं; क्योंकि अस्थियों में कोई कामना नहीं होती। जब तक बताया न जाये, तब तक एक के मन में क्या है, इसका दूसरे को ज्ञान नहीं होता, तो फिर जड़ अस्थि में कोई कामना कैसे हो सकती है?॥ ५०॥

**( १८५९ ) ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** सूक्तवाकवत् = सूक्तवाक के इस प्रमाण से, ईहार्थाः = आयुष् आदि की प्रार्थना, च = भी, अभावात् = ज्ञान के अभाव से कर्त्तव्य नहीं ।

**व्याख्या—** आयुष् आदि की प्रार्थना भी सूक्तवाक में श्रूयमाण न होने के कारण अस्थियज्ञ में कर्त्तव्य नहीं, कारण कि आयुष् आदि अस्थि में सम्भावित नहीं है॥ ५१॥

**उक्त विषय में अब पूर्वपक्षवादी अपना मत व्यक्त करते हैं—**

**( १८६० ) स्युर्वाऽर्थवादत्वात्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थवादत्वात् = अर्थवाद के अनुसार, स्युः = उक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

**व्याख्या—** उक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, जो सूक्तवाक में बतलाये गये हैं, कारण कि ये विधियाँ नहीं हैं; अपितु अर्थवाद हैं। अत: ईहार्थ कार्य करने चाहिए॥ ५२॥

**ईहार्थ कर्म के सन्दर्भ में पूर्वपक्षवादी की मान्यता का खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्ष कहता है—**

**( १८६१ ) नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** इच्छाभिधानात् = इच्छा का कथन होने से, इतरस्मिन् = और अन्य जो अस्थि है उसमें, तदभावात् = इच्छा का अभाव होने से, न = ऐसा नहीं होता।

**व्याख्या—** ये कर्म इच्छा-विधान हैं अर्थात् इच्छा-कामना के उद्भव से ही हो सकते हैं और जीवित-चैतन्य में ही ये कर्म होते हैं। अस्थियों में इच्छा के न उत्पन्न होने से आयुराशंसन (ईहार्थ) आदि कर्त्तव्य नहीं होते॥ ५३॥

**अब अस्थियाग में होतृकाम प्रकरण पर पूर्वपक्ष का कथन है—**

**( १८६२ ) स्युर्वा होतृकामाः॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, होतृकामाः = होतृकाम, स्युः = होना चाहिए।

**व्याख्या—** केवल विधान होने के कारण जिस प्रकार जीवित को होतृकाम करना होता है, उसी प्रकार से अस्थियों के लिए भी होतृकाम कर्त्तव्य है। इस प्रकार करने से विधि कथन सिद्ध (चरितार्थ) होगा॥ ५४॥

**उक्त विषय में पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सूत्रकार अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( १८६३ ) न तदाशीष्ट्वात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** न (अस्थियों में होतृकार्य) = नहीं करना चाहिए, तदाशीष्ट्वात् = यजमान का आशीष होने से।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी का कथन है कि यजमान ऋत्विज् का आशीष चाहते हैं, किन्तु यहाँ तो यजमान हैं ही नहीं। अस्तु; अस्थियों में होतृकर्म नहीं करने चाहिए॥ ५५॥

**यजमान की मृत्यु होने की स्थिति में सर्वस्वार याग के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष कहते हैं—**

**( १८६४ ) सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** दिष्ट = मरण, गतौ = होने के पश्चात्, सर्वस्वारस्य = 'सर्वस्वार' नामक क्रतु की, समापनम् = समाप्ति, न विद्यते = नहीं होती, कर्मणो जीवसंयोगात् = कर्म का जीवित यजमान के साथ संयोग होने से।

**व्याख्या—** 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ विशिष्ट है एवं ज्योतिष्टोम का विकार है। 'मरणकामो ह्येतेन यजेत' अर्थात् मरण की इच्छा वाले यजमान को यह यज्ञ करना चाहिए। इस विषय में पूर्वपक्षवादी का मत है कि यज्ञ रूप कर्म का जीवित यजमान से संयोग होने के कारण यजमान के मरण के बाद सर्वस्वार की समाप्ति नहीं होनी चाहिए॥ ५६॥



**उक्त विषय में मीमांसाकार अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८६५ ) स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्यात् = समाप्ति करनी चाहिए, उभयोः = क्रतु और समाप्ति, प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = प्रत्यक्ष प्रैष विधान होने से।

**व्याख्या—** मृत्युकाल में यजमान का यह स्पष्ट कथन है कि हे ब्राह्मणो! मेरा यज्ञ समाप्त करो- इस वाक्य से स्पष्टतः 'सर्वस्वार' की परिसमाप्ति होती है; क्योंकि क्रतु और परिसमाप्ति दोनों का ही प्रत्यक्ष विधान है॥ ५७॥

**( १८६६ ) गते कर्मास्थियज्ञवत्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—**गते =यजमान की मृत्यु के बाद, अस्थियज्ञवत् =अस्थियज्ञ की तरह, कर्म =यज्ञ कर्म करना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार यजमान के मरने के पीछे अस्थियज्ञ किया जाता है, उसी प्रकार 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ भी यजमान के मरण के पश्चात् नियमित रखकर उसकी समाप्ति करनी चाहिए॥ ५८॥

**पूर्वपक्षवादी अब सर्वस्वार में यजमान के आयुष्य की कामना वाले मन्त्रों के सम्बन्ध में कहते हैं—**

**( १८६७ ) जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात्॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ—** जीवत्यवचनम् = जीवन की कामना सम्बन्धी वचन तो, तदर्थत्वात् = अर्थ के अनुसार, आयुष् = आयु की प्रार्थना हेतु, आशिषः = आशीर्वचन होते हैं।

**व्याख्या—** 'अयम् यजमान आयुराशास्ति' जीवन की कामना करने का वचन होने से 'सर्वस्वार' में यह मंत्र वाक्य बोलना चाहिए अथवा नहीं? इस विषय में पूर्वपक्षवादी का मत है कि नहीं बोलना चाहिए; कारण कि जहाँ यजमान आयु की कामना करता है, वहाँ पर ही जीवन की कामना के लिए आशीर्वचन होता है और यदि मरण कामना वाला यजमान हो, तो पीछे जीवन की कामना रखना, यह कैसे सम्भव हो सकता है?॥ ५९॥

**उक्त विषय में मीमांसाकार अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( १८६८ ) वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात्॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, भागित्वात् = भागीदारी के कारण, यथोक्तात् प्राक् = जैसे अन्य क्रियाएँ की जाती हैं, वचनम् = आयु का आशीर्वचन करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि आर्भव-पवमान-स्तोत्र पूर्ण होने तक यजमान को जीवित रहने की इच्छा होती है। अत: तब तक यजमान द्वारा जीवन को स्थिर रखने के लिए आयु के आशा सूचक उक्त मंत्रों का पाठ अवश्य करना चाहिए॥ ६०॥

**द्वादशाह सत्र में ऋतु याज्यावरण प्रकरण पर प्रकाश डालते हुए आगामी सूत्र प्रस्तुत है—**

**( १८६९ ) क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** धर्ममात्राणाम् = अदृष्ट (पुण्य) प्रयोजन वाले कर्त्तव्यों का, क्रिया = अनुष्ठान, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** द्वादशाह सत्र में ऋतुयाज्यावरण का अनुष्ठान करना होता है; क्योंकि वह केवल अदृष्टार्थक होता है। जिस सत्र में वरण और दान दोनों की निवृत्ति होती है, वह तो आनति (संतुष्टि) प्रयोजन वाला हो और आनत्यर्थ न हो तथा अदृष्ट (धर्ममात्र ) के लिए हो, तो वह करने में कोई आपत्ति नहीं॥ ६१॥

**अब पवमानेष्टि में निर्वाप का अनुष्ठान होने सम्बन्धी प्रकरण के सूत्रों पर प्रकाश डालते हैं—**

**( १८७० ) गुणलोपे तु मुख्यस्य॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** गुणलोपे तु = गुण का लोप हो तो भी, मुख्यस्य = हवि पकाने की मुख्य क्रिया होती है।

**व्याख्या—** अग्न्याधान में पवमानेष्टि करनी होती है। उसमें अग्निहोत्र-हवणी से हवि का निर्वाप (हवि पाक की क्रिया) करना चाहिए; परन्तु यह तो अग्न्याधान काल है। अग्निहोत्र का समय तो उसके बाद होता है, तो उक्त क्रिया कैसे सम्भव हो सकेगी? ऐसी पूर्वपक्षवादी की जिज्ञासा है। सिद्धान्तवादी का मत इससे भिन्न है। सूत्रकार के अनुसार निर्वाप प्रधान है व अग्निहोत्र हवणी गुण (गौण) है। अत: गुण (अग्निहोत्र-हवणी) के लोप हो जाने पर भी प्रधान कर्म निर्वाप की क्रिया तो करनी ही चाहिए॥ ६२॥

**वाजपेय मुष्टिलोप अधिकरण पर प्रकाश डालते हुए पूर्वपक्षवादी का कथन है—**

**( १८७१ ) मुष्टिलोपात्तु संख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ-** मुष्टिलोपात् = मुष्टिलोप की अपेक्षा से तो, संख्यालोप: स्यात् = संख्या का लोप होता है यह मानना उचित है, (क्योंकि) तद्गुणत्वात् = संख्या-मुष्टि का गुण होने से।

**व्याख्या-** पूर्वपक्षवादी का मानना है कि मुष्टि का बाध होने पर ही अधिकरण स्वरूप संख्या निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि संख्या मुष्टि का गुण है और मुख्य की अपेक्षा गुण का बाध होना उचित है॥ ६३॥

**उक्त विषय में आचार्य सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( १८७२ ) न निर्वापशेषात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ-** न = नहीं, निर्वापशेषात् = निर्वाप का शेष होने से।

**व्याख्या-** मीमांसाकार का मानना है कि संख्या मुष्टि का गुण नहीं; अपितु निर्वाप (पाक) का गुण है। अत: संख्या का लोप (बाध) मानना उचित नहीं; बल्कि मुष्टि का ही बाध मानना उचित है॥ ६४॥

**उक्त सन्दर्भ में पूर्वपक्षवादी अब सिद्धान्त पक्ष का प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८७३ ) संख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकार: संयोगाच्च परं मुष्टे:॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ-** चोदनाम् प्रति सामान्यात् = विधान के प्रमाण का सादृश्य, तद्विकार: = उसका विकार, च = और, संयोगात् = द्रव्य का मान नहीं, संख्या परं मुष्टे: = संख्या और मुष्टि विकार बाधित होता है।

**व्याख्या-** पूर्वपक्षवादी का मत है कि मुष्टि का बाध करने से संख्या अबाधित नहीं रहती 'चतुरो मुष्टीर्निर्वपति' यह प्रकृति वाक्य है और 'सप्तदश शराव' यह विकृतिगत वाक्य है। यहाँ प्रकृति में वर्णित पदार्थों का विकृति

में वर्णित पदार्थों से बाध (अवरोध) होता है। 'चार' और 'सत्रह' यह शब्द संख्या को बतलाते हैं, अतः सादृश्य से चार संख्या का सत्रह संख्या से बाध होता है। उसी प्रकार मुष्टि द्रव्य है और शराव भी द्रव्य है, अतः शराव से मुष्टि का बाध होता है। इस प्रकार सादृश्य से संख्या और मुष्टि दोनों का बाध होता है॥ ६५॥

**सिद्धान्तवादी अब पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८७४ ) न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात्॥ ६६॥**

**सूत्रार्थ**- चोदनाभिसम्बन्धात् = याग के साथ सम्बन्ध होने के कारण, प्रकृतौ = प्रकृति में, संस्कारयोगात् = निर्वाप रूप संस्कार के साथ सम्बन्ध होने से, न = दोनों का बाध नहीं होता।

**व्याख्या**- चार मुष्टि का सम्बन्ध प्रकृति याग में निर्वाप (पाक) संस्कार के साथ है तथा सत्रह शराव (सकोरा) का सम्बन्ध वाजपेय याग के साथ है। दोनों के अनुशासन भिन्न हैं। अस्तु; प्रेरक कथन के पाये जाने से मुष्टि का बाध होकर सत्रह शराव-भर का अनुष्ठान अवश्य होना चाहिए॥ ६६॥

**धेनु आदि शब्द के गोवाचक होने सम्बन्धी प्रकरण पर प्रकाश डालते हुए अब आगामी सूत्र प्रस्तुत है—**

**( १८७५ ) औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात्॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ**- औत्पत्तिके तु = उत्पत्ति के समय तो, द्रव्यतो विकारः = प्राकृत द्रव्य का बाध, स्यात् = होता है, अकार्यत्वात् = उसका (गुण) कार्य न होने से।

**व्याख्या**— जाति विशिष्ट गुण उत्पत्ति के बाद (मूल) द्रव्य से विकृत (परिवर्तित) होता है। द्रव्य भी विकृत (परिवर्तित होता) है, केवल गुण ही विकृत नहीं होता; क्योंकि वह अकार्य है। चोदक (प्रेरक) की अपेक्षा से प्रत्यक्ष जाति का त्याग नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- 'द्यावा-पृथिव्याम् धेनुमालभेत' इस कथन में धेनु शब्द गुणवाचक है, जिसका अर्थ गाय है, दुग्ध देने वाली अजा (बकरी) नहीं। जो एक समय अर्थात् एक बार में एक वत्स (बच्चा) प्रसव करे, वह धेनु है, ऐसा पूर्वपक्षवादी का मानना है, जबकि सिद्धान्तवादी के मतानुसार धेनु शब्द गुणवाचक नहीं है; परन्तु गुण विशिष्ट जाति वाचक है। अतः एक समय अकेली उत्पन्न हुई (या ऐसी) गाय को धेनु कहा जाता है॥ ६७॥

**अब वायव्य पशु से अज समझने सम्बन्धी अधिकरण के सूत्र कहते हैं—**

**( १८७६ ) नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ**— नैमित्तिके तु = केवल गुण को निमित्त मानकर प्रवृत्त हुए शब्द, कार्यत्वात् = कार्य होने से, प्रकृतेः = प्रकृति में 'अज' का ग्रहण, स्यात् = होता है, तदापत्तेः = अतिदेश शास्त्र की उपपत्ति (सिद्धि) होने से।

**व्याख्या**— 'वायव्यम् श्वेतमालभेत' यहाँ श्वेतशब्द मात्र गुण को निमित्त करके प्रवृत्त हुआ है, जाति को निमित्त करके नहीं। अतः प्रकृति (याग) से अतिदेश शास्त्र की उपपत्ति होने से श्वेत शब्द से श्वेत अज (बकरा) का ग्रहण हो सकता है॥ ६८॥

**खलेवाली में खदिरादि का कोई नियमन नहीं, अब प्रस्तुत सन्दर्भ में अगला सूत्र प्रस्तुत है—**

**( १८७७ ) विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्राकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ**— विप्रतिषेधे = गुणों का विरोध हो, तेन कर्मसंयोगात् = तो उनके कर्म संयोगानुसार, तद्वचनात् = वैकृत गुण का वचन मान्य होने से, प्राकृतगुणलोपः = प्राकृत गुणों का लोप (बाध), स्यात् = होता है।

**व्याख्या**— समीपवर्ती यूप के साथ कर्म का संयोग होने से प्राकृत और वैकृत गुणों का वैषम्य होने पर वैकृत गुण का वचन मान्य होने के कारण प्राकृत गुण का बाध होता है। 'खले वाल्याम् यूपो भवति' इस कथन से खलेवाली में यूप का विधान है, सामान्य रूप से खलेवाली खदिर से करनी चाहिए; परन्तु प्राकृत गुण खदिर का बाध होता है। अतः खदिर हो या अखदिर किसी भी वृक्ष से खलेवाली बनानी चाहिए॥ ६९॥

**अब खलेवाली में तक्ष ( लकड़ी आदि काटना ) आदि के सम्बन्ध में अगले दो सूत्र प्रस्तुत हैं—**

## ( १८७८ ) परेषां प्रतिषेधः स्यात्॥ ७०॥

**सूत्रार्थ—** परेषाम् = दूसरों का, प्रतिषेधः स्यात् = प्रतिषेध (निषेध) होता है।

**व्याख्या—** 'खलेवाली' में यूप के तक्ष (लकड़ी आदि काटना), जोषण (जोख-माप) और उच्छ्रयण (छीलना) आदि कर्त्तव्यों की भी आवश्यकता नहीं; क्योंकि खलेवाली तो पहले से ही निर्मित होती है॥ ७०॥

## ( १८७९ ) विप्रतिषेधाच्च॥ ७१॥

**सूत्रार्थ—** च = और, विप्रतिषेधात् = विरोध होने से भी।

**व्याख्या—** विरोध होने पर भी 'खलेवाली' में तक्षण आदि कर्त्तव्य नहीं, कारण कि काटना-छीलना आदि कर्म करने पर खलेवाली का रूप नष्ट होकर उसका अन्य स्वरूप बन जायेगा॥ ७१॥

**अब खलेवाली में 'पर्युहण' आदि संस्कार की कर्त्तव्यता पर प्रकाश डालने हेतु अगला सूत्र कहते हैं—**

## ( १८८० ) अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात्॥ ७२॥

**सूत्रार्थ—** अर्थाभावे = तक्षण आदि अर्थों (कार्यों) का अभाव होने पर भी, संस्कारत्वम् स्यात् = जिन संस्कारों का फल इष्ट है, वे तो करने ही चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि खलेवाली में यूपत्व के निमित्त तक्षण आदि कार्यों का अभाव होने पर भी पर्युहण आदि जिन संस्कारों का फल इष्ट है, वे तो करने ही चाहिए। पर्युहण अर्थात् जमीन में गड्ढा खोदकर काष्ठ को पूरा गाड़ना एवं बाद में पानी के छींटे देना तथा बाहर निकालने पर तेल चुपड़ना आदि। इन क्रियाओं को करने से उसमें सुदृढ़ता आती है। अस्तु; ये संस्कार खलेवाली में कर्त्तव्य हैं॥ ७२॥

**महापितृयज्ञ में धान के अवघात करने के ( कूटने के ) सम्बन्ध में यह सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## ( १८८१ ) अर्थेन च विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्वमेव स्यात्॥ ७३॥

**सूत्रार्थ—** अर्थेन = पदार्थ होने से, च = और भी, विपर्यासे = विपरीत क्रम में, तादर्थ्यात् = क्रम पदार्थ का शेष होने से, तत्त्वमेव स्यात् = क्रम रहितत्व और धानत्व संपादन अवहनन होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'महापितृयज्ञे बर्हिषद्भ्यो धानाः' अर्थात् यहाँ धाना (खील) को हविष् के रूप में बतलाया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धाना का अवहनन करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए? यदि धाना पर अवहनन (अवघात करके दाने अलग करना) किया जाता है, तो उसका चूर्ण होकर सत्तू जैसा बन जाता है अर्थात् धाना का धानात्व भंग हो जाता है और ऐसी स्थिति में वह हविष् रूप में नहीं रह जाता। इस समस्या का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि महापितृयज्ञ में धाना (खीलों) को भूनने से पूर्व थोड़ा कूट लेना चाहिए, इससे उसका धानात्व नष्ट नहीं होता है। पहले अवघात और उसके पश्चात् पाक करने में क्रम का बाध होता है, परन्तु पदार्थ का नहीं। क्रम इस पद का अंग है, अतः अंग का बाध करना पदार्थ का बाध करने की अपेक्षा उचित है॥ ७३॥

## ॥ इति दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

# ॥ अथ दशमाध्याये तृतीयः पादः ॥

**तृतीय पाद के अन्तर्गत आचार्य विकृत यागों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन अगले तीन सूत्रों में करते हैं—**

**( १८८२ ) विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** विकृतौ = विकृत यज्ञों में, शब्दवत्त्वात् = एकादशत्वादिविशिष्ट प्रयाज आदि विधायक शब्द होने से, प्रधानस्य सन्निधानात् = प्रमुख भावना का सन्निधान होने से, गुणानाम् = अप्राकृत गुणों की, अधिकोत्पत्तिः = स्वतन्त्रता से प्रादुर्भाव होता है।

**व्याख्या—** प्रधान (मुख्य) भावना का सन्निधान होने के कारण विकृति यागों में शब्दवत्वात् प्रधान हैं, अङ्ग नहीं। इनसे आकृति की इति-कर्त्तव्यता प्राप्त नहीं होती, वह प्रकृति में सन्निहित होती है, इस कारण सन्निहित प्रकृति का अतिक्रमण नहीं करती। विकृति में अप्राकृत गुण ही कर्त्तव्य होते हैं; क्योंकि विकृति-याग में 'एकादश प्रयाजान् यजति' ऐसा विधान होता है। प्राकृत प्रयाजों का अनुवाद करना एवं संख्यामात्र ही विहित है, ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रमुख भावना अर्थात् धात्वर्थ की विधि योग्य है। अतः प्राकृत अंगों की उपर्युक्त विकृति-याग में निवृत्ति की गई है॥ १॥

**( १८८३ ) प्रकृतिवत्वस्य चानुपरोधः॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतिवत्वस्य = प्रकृतिवत्व पद का, अनुपरोधः = आग्रह नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि इस सन्दर्भ में अनेक वाक्यों द्वारा व्यवघात करने वाली प्रकृति की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार 'पशुमालभेत' इस वाक्य में-'प्रकृतिवत्' पद की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि उपर्युक्त प्रयाज विधायक वाक्य द्वारा ही भावाकांक्षा की शान्ति हो जाती है॥ २॥

**( १८८४ ) चोदनाप्रभुत्वाच्च॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, चोदनाप्रभुत्वात् = प्रयाज आदि विधि में उक्त वाक्य का प्रभुत्व है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि प्रयाजादि विधि में 'एकादशप्रयाजान् यजति' इस वाक्य का ही प्रभुत्व है। प्राकृत अंगों की कर्त्तव्यता उक्त विकृति याग में नहीं होती है॥ ३॥

**अब अगले पाँच सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत को सिद्धान्त पक्ष से प्रतिपादित करते हैं—**

**( १८८५ ) प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि - पूर्ववान्विधिरविशेषात्प्रवर्तितः॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** प्रधानं तु = प्राकृत कर्म, अङ्गसंयुक्तम् = जिस प्रकार अंगों में संयुक्त हुए , तथाभूतं अपूर्वम् = उसी प्रकार अंगों से उपलब्धि होने से, सर्वो हि पूर्ववान् विधिः = सभी विकृति याग भी प्रकृतिपूर्वक, अविशेषात् प्रवर्तितः = सामान्य रूप से प्रवर्तित, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्राकृत कर्म जिस अङ्ग द्वारा संयुक्त होता है, उसी अङ्ग से सामान्यतः विकृति याग संयुक्त होता है। सूत्र वाक्य है- 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अर्थात् प्राकृत अङ्गों की प्राप्ति से सभी विकृतियाग प्रकृति याग की तरह होते हैं। अतः इतिकर्तव्या को प्राप्त कर लेने के कारण यह गुण विधि है। उक्त वाक्यांश (कथन) यहाँ सामान्य रूप से प्रवर्तित होता है॥ ४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को और स्पष्ट करते हैं—**

**( १८८६ ) न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अनङ्गे =अंगरहित कर्म में, अंगविधिः = अंग की विशेष विधि, न स्यात् = नहीं होती।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन को और स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अङ्गविहीन कर्म में अङ्ग की विशेष

विधि भी नहीं होती है। 'विशेषविधिराश्ववालः प्रस्तरः नहि असति प्रस्तरे प्रस्तरविशेषः शिष्येत्' अर्थात् जब प्रस्तर ही न हो, तो आश्ववाल रूपी प्रस्तर विशेष का विधान ही नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि किसी दम्पति के संतान ही नहीं होती, तो उसके पुत्र के खेलने के लिए खिलौने नहीं बनाये जाते अथवा खिलौनों की कोई जरूरत ही नहीं होती। इसलिए यह उक्त कथन गुण-विधि वाला ही है॥ ५॥

**( १८८७ ) कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणः च एकशब्द्यात् = प्रधान कर्म और गुण कर्म प्रयोग वाचक एक शब्द से कहलाते हैं, सन्निधाने = प्रधान वचन से अंग सन्निहित होते हैं, विधेः आख्यासंयोगः = अंगविधि के साथ सम्बन्ध होता है, शब्दस्य विधिगामित्वात् = शब्द के गुण विधेय होने से, च = और, उपदेश्यत्वात् = उपदेश होने से भी है, गुणेन तद्विकारः स्यात् = एकादशत्व संख्या-रूप गुण से विकार होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृति यज्ञ में से विकृति याग में इतिकर्त्तव्यता की प्राप्ति होती है। उसके प्राप्त होने पर विकृति-याग में कहा गया वचन 'एकादशप्रयाजान् यजति' अर्थ रहित नहीं होता; क्योंकि नाम के साथ अंगविधि का सम्बन्ध होता है। एकादशत्वादि शब्द प्रयाजादि विधिगामी है तथा गुण का उपदेश करने के अनुकूल है। इससे भी इतिकर्त्तव्यता की प्राप्ति होती है॥ ६॥

**( १८८८ ) अकार्यत्वाच्च नाम्नः॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, नाम्नः = नाम का, अकार्यत्वात् = सम्बन्ध न होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि नाम का सम्बन्ध न होने के कारण से भी इतिकर्त्तव्यता प्राप्त होती है और ये सभी गुण विधियाँ भी हैं। 'प्रयाज' आदि इन प्रसिद्ध नामों का उच्चारण गुण विधान के लिए ही होता है। इनके द्वारा भी इतिकर्त्तव्यता की प्राप्ति सम्भव है और ये सभी गुण-विधियाँ भी हैं॥ ७॥

**( १८८९ ) तुल्या च प्रभुता गुणे॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रभुता = शक्ति, गुणे = गुण कर्म में तथा प्रधान कर्म में, तुल्या = तुल्य है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि विधि-प्रत्यय शक्ति गुणकर्म और प्रधान (मुख्य) कर्म में समानता होती है कहे गये सम्मानित शब्दों की प्रभुता तुल्य होती है। उदाहरणार्थ- जो (व्यक्ति) पाषाण (पत्थर) खा (भक्षण कर) सकता है, उसके लिए मुद्गशष्कुली (मूँग के पकवान) तो सामान्य बात है। इससे भी गुणविधि होना सिद्ध है॥ ८॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार समस्त प्रमुख कर्म के होने पर आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( १८९० ) सर्वमेवं प्रधानमिति चेत्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** एवम् = इस प्रकार, सर्वम् = सर्वकर्म, प्रधानम् = प्रधान होगा, इति चेत् = यदि ऐसा मानें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इस आख्यात अर्थात् कहे हुए सम्मानित शब्द द्वारा गुण - कर्म का विधान यदि इस प्रकार से माना जाए, तो ऐसा होने पर आख्यात शब्द वाच्य होने से सभी कर्म-विधान, प्रधान ही होने चाहिए। यदि ऐसा कथन (आशङ्का) कहें, तो?॥ ९॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८९१ ) तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविधयः स्युः॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** तथाभूतेन = द्वितीय अध्याय में वर्णित विवरण के अनुसार, संयोगात् = संयोग होने से, यथा अर्थविधयः स्युः = गुण - कर्म विधि मानने में आती है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हैं कि द्वितीय अध्याय में गुण और प्रधान के जैसे लक्षण कहे गये हैं, वैसा ही संयोग होने के कारण यथार्थ विधियाँ हो जायेंगी। लक्षण के अनुसार ही उसी तरह से गुण-कर्म और प्रधान कर्म की व्यवस्था जान लेनी चाहिए। अत: जो प्रधान है, वह ही प्रधान है और जो गुणभूत है, वही गुणभूत है॥१०॥

**( १८९२ ) विधित्वं चाविशिष्टं वैकृतैः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम्॥ ११ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, कर्मणा योगात् = अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होने से, वैकृतैः अविशिष्टं विधित्वम् = वैकृत कर्म के साथ विधित्व समान है, तस्मात् सर्वं प्रधानार्थम् = अत: सभी प्रधान के लिए ही हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होने से वैकृत कर्म के साथ विधित्व समान है। अत: समस्त प्रधानार्थ विकृति में गुणभूत होता है। प्राकृतों का वैकृतों के साथ अर्थवाद कर्मवाद से योग विशेषता को प्राप्त नहीं कर पाता है। जिस तरह प्रकृति में कहा गया है कि जो आज्य भागों का यज्ञ करने में आता है, तो यज्ञ ही चक्षु स्वरूप है, उसी तरह से ही विकृतियाग में भी अर्थवाद कहने में आया है। अत: इस तरह के सभी विधान-प्रधान के लिए ही होते हैं॥ ११ ॥

**( १८९३ ) समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारैरधिकारः स्यात्॥ १२ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, समत्वात् = समानकर्म होने से, तदुत्पत्तेः = प्रयाजादि का, संस्कारैः अधिकारः स्यात् = संस्कार के साथ अधिकार भी होते हैं।



**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उत्पत्ति क्रम की समानता होने से प्रयाज आदि का संस्कार के साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से सब प्रधान न होकर कुछ प्रधानार्थ भी होता है। उत्पत्ति क्रम की समानता होने से जिस क्रम से प्रकृति में प्रयाज, अनुयाज आदि संस्कारों का अधिकार होता है, उसी क्रम से वह विकृति में भी दृष्टिगोचर होता है। अत: सामिधेन्यादि प्राकृत इतिकर्त्तव्यता विकृति में भी कर्त्तव्य होती है, यही इस अधिकरण (प्रकरण) का अभिप्राय है॥ १२॥

**'हिरण्यगर्भ' यह मंत्र उत्तर आधार में गुण रीति से विहित है। इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षी अगले दो सूत्र कहते हैं—**

**( १८९४ ) हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात्॥ १३ ॥**

**सूत्रार्थ—** हिरण्यगर्भः = हिरण्यगर्भ इत्यादि मंत्र, मंत्र लिङ्गात् = मन्त्र के प्रतीकात्मक संकेत से, पूर्वस्य = पूर्व आधार के गुण-रीति से है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि मन्त्र में प्रजापति देवता का स्तवन (स्तुति) होने के कारण 'हिरण्यगर्भ' मन्त्र पूर्व आधार की गुणविधि है। वायव्य पशु विशेष में 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' आदि मंत्र श्रवणीय होता है। पूर्वपक्षी का मन्तव्य है कि प्रथम आधार का उक्त मंत्र है; क्योंकि प्रकृति में प्रजापति श्रवणीय है। इस मंत्र में प्रजापति की स्तुति की गई है॥ १३॥

**( १८९५ ) प्रकृत्यनुपरोधाच्च॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृत्यनुपरोधात् = प्राकृत मन्त्र का अनुपरोध (अवरोध) न होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी पुन: कहते हैं कि प्रकृति के अवरोध होने से भी यह पूर्व की ही गुण-विधि सिद्ध होती है। द्वितीय आधार में प्रकृति के अन्तर्गत 'ऊर्ध्वो अध्वरः' इत्यादि मन्त्र आता है, जो द्वितीय मंत्र आधार में 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मंत्र गुण-रीति द्वारा मान लेने में आये, तो उक्त मन्त्र में बाध उपस्थित हो जायेगा॥ १४॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य उपर्युक्त सन्दर्भ में सिद्धान्त सूत्र द्वारा समझाते हैं—**

**( १८९६ ) उत्तरस्य वा मन्त्रार्थित्वात्॥ १५ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, उत्तरस्य = उत्तर आधार के, मन्त्रार्थित्वात् = मन्त्र की आवश्यकता होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यह पूर्वपक्ष की गुणविधि नहीं; बल्कि उत्तर पक्ष की गुणविधि है। यहाँ पर 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्र कार्य-विशेष का विधायक है, कार्य-सामान्य का नियामक नहीं है। पूर्व आधार के मन्त्र की आवश्यकता नहीं है। अत: उत्तर के आधार का ही 'हिरण्यगर्भ' यह गुण-रीति से है॥ १५॥

**( १८९७ ) विध्यतिदेशात्तच्छ्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** विध्यतिदेशात् = आधार-विधि का प्रकृति में से अतिदेश होने से, तच्छ्रुतौविकार: स्यात् = उसके अनुवाद में अनुवाद्य के जो प्राकृत गुण होते हैं, गुणानामुपदेश्यत्वात् = उन गुणों का ही विधान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृति द्वारा आधार-विधि का अतिदेश करना पड़ता है। उसके द्वारा 'हिरण्यगर्भ' इस मंत्र का उत्तर-आधार में अतिदेश है। द्वितीय आधार में जो 'ऊर्ध्वो अध्वर:' इत्यादि मंत्र हैं, उनका बाध (अवरोध) होता है तथा 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मंत्र उत्तर-आधार का गुण होता है॥ १६॥

**( १८९८ ) पूर्वस्मिंश्चामन्त्रदर्शनात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पूर्वस्मिन् = पूर्व आधार में, अमंत्रदर्शनात् = मंत्र दर्शन नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य आगे स्पष्ट करते हैं कि पूर्व आधार में मंत्र दर्शन नहीं है, इसलिए उत्तर की गुणविधि सिद्ध होती है। 'न स्वाहा करोति मंत्रं च नाहं' अर्थात् न स्वाहा बोलते हैं और न ही मन्त्र भी बोला जाता है। अत: 'हिरण्यगर्भ' नामक मंत्र ही उत्तर आधार का अङ्ग है॥ १७॥

**आसादन और नियोजन प्राकृत गुण-विधि है। इस सन्दर्भ में अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( १८९९ ) संस्कारे तु क्रियान्तरं तस्य विधायकत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** तस्य विधायकत्वात् = वाक्य पशु नियोजन का विधायक होने से, संस्कारे तु = परिधि के सम्बन्ध से पशु का संस्कार होने से, क्रियान्तरम् = प्राकृत कर्म की अपेक्षा यह कर्म भिन्न है और वह अदृष्टार्थक है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि सौमिक चातुर्मास्य में इस तरह के वाक्यांश का श्रवण होता है 'उत्करे वाजिनमासादयन्ति परिधौ पशुं नियुञ्जन्ति' इस वाक्य से ऐसा ज्ञात होता है कि परिधि में नियोजन करने से पशु का संस्कार होता है; क्योंकि यह अदृष्ट कर्म है। अत: वे प्राकृत कर्म से पृथक् कर्म हैं। परिधि नियोजन का इष्ट फल अज्ञात होता है॥ १८॥

**( १९०० ) प्रकृत्यनुपरोधाच्च॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृत्यनुपरोधात् = इस प्रकार स्वीकार करने से प्राकृत धर्म का अपरोध नहीं होता।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह क्रियान्तर सिद्ध होता है। आसादन नियोजन विधि का वहाँ पर इष्ट होने के कारण भी यह विधान उचित नहीं है॥ १९॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के कथन को आचार्य सिद्धान्त पक्ष से समझाते हैं—**

**( १९०१ ) विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** विधे: = नियोजन की प्रत्यक्ष विधि से, तु = तो, तत्र = यज्ञ विशेष से, संदेहे = संदेह में, यस्य = जिसे, शब्द: = परिधि रूप शब्द प्रयुक्त हुआ है, तदर्थम् = वह नियोजनार्थक, स्यात् = है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि क्रतु विशेष में नियोजन विषयक प्राकृत और प्रत्यक्ष विधियों में परिधि शब्द नियोजन के लिए है, अत: यही गुणविधि है। वाजिन का आसादन उत्कर में है तथा पशु का नियोजन परिधि में किया गया है। उत्कर अर्थात् वेदी में से नि:सृत धूल का ढेर, इसके ऊपर -वाजिन नामक द्रव्य डाल देना एवम् पशु भाग न जाने पाये, इस कारण परिधि द्वारा बाँधना चाहिए। ये दोनों कार्य दृष्टार्थक होने से ही गुणविधि है, इसमें कोई भी अपूर्व कर्म नहीं है॥ २०॥

## ( १९०२ ) संस्कारसामर्थ्याद्गुणसंयोगाच्च॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** संस्कारसामर्थ्यात् = संस्कार की सामर्थ्य, च = और, गुणसंयोगात् = गुण का सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** यहाँ पर आचार्य स्पष्ट करते हैं कि पशु के नाम की प्रतिबन्धरूप सामर्थ्य परिधि में है तथा स्थूलता गुण उत्कर में है। इससे उसके ऊपर वाजिन द्रव्य रखा जा सकता है। इस द्रष्टाफलकत्व के कारण आसादन एवं नियोजन गुण विधि है, अपूर्व विधि नहीं है। संस्कार सामर्थ्य एवं गुण के साथ संयोग होने से तथा आसादन नियोजन संस्कारों की सामर्थ्य से कर्मान्तर नहीं होता है॥ २१॥

## ( १९०३ ) विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** प्रकरणे = सौत्रामणी प्रकरण में, विप्रतिषेधात् = दृष्टार्थकता सम्भावित न होने से, क्रिया = कर्म, स्यात् = अपूर्व कर्म है।

**व्याख्या—**सूत्रकार कहते हैं कि सौत्रामणी प्रकरण के अन्तर्गत हविरासादन अदृष्टार्थक है। इसके द्वारा उसमें जो भी आसादन कर्म है, वही अपूर्व कर्म है; किन्तु प्राकृत में तो दृष्टार्थक कर्म होने से गुणविधि है॥ २२॥

**अब 'अग्निचयन में प्राकृत एवं वैकृत दोनों दीक्षाहुतियों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं'—**

## ( १९०४ ) षड्भिर्दीक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** तासाम् = प्राकृत एवम् वैकृत दीक्षा आहुतियों में, मन्त्रविकारः = प्राकृत मंत्रों की अपेक्षा अन्य मंत्र होते हैं, षड्भिर्दीक्षयतीतिश्रुतिसंयोगात् = इस श्रुति का संयोग होने से छः प्रकार के दीक्षा मंत्र होते हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि अग्निचयन के क्रम में प्राकृत और वैकृत दीक्षाहुतियों का अनुष्ठान होता है। इन प्राकृत और वैकृत-मंत्रों में संदेह होता है कि वैकृती का प्रयोग करें एवम् प्राकृत की निवृत्ति करें? अथवा दोनों का समुच्चय करें। इसमें पूर्वपक्षी की मान्यता है कि वैकृत मंत्रों से प्राकृत मंत्र निवृत्त होने चाहिए। यहाँ षड् शब्द से वैकृत मन्त्र ग्राह्य हैं। अतः प्राकृत मंत्रों की बाधा है। दोनों के समुच्चय का अभाव है॥ २३॥

**नोट-** प्राकृत मंत्र-१. आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा। २. मनोमेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा। ३. चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा। ४. वाचो विधृतिमग्निं स्वाहा। ५. प्रजापतये मनवे स्वाहा। ६. अग्नये वैश्वानराय स्वाहा- ये छः प्राकृत दीक्षाहुतियों के मंत्र हैं। अब वैकृती दीक्षा के छः प्रकार इस तरह हैं- १. आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा। २. मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा। ३. दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा। ४. सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। ५. आपोदेवीर्बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्षंबृहस्पतिर्नो हविषा विधातु स्वाहा। ६. विश्वे देवस्य नेतुर्मर्त्तो वृणीत सख्यं विश्वेराय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा। ये छः मंत्र वैकृती दीक्षा के हैं-

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के कथन का आचार्य अगले छः सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष से समाधान करते हैं—**

## ( १९०५ ) अभ्यासात्तु प्रधानस्य॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, प्रधानस्य = प्राकृत दीक्षाहुति की, अभ्यासात् = आवृत्ति होने से।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष आचार्य कहते हैं कि प्राकृत दीक्षा--आहुतियों की आवृत्ति होने से समुच्चय होता है। समुच्चय में प्रधान की आवृत्ति होती है। वहाँ पर कोई दोष नहीं होता; क्योंकि प्रधान होम की आवृत्ति श्रूयमाण होती है। यदि अवरोध के अभाव में उपपत्ति होती है, तो अवरोध मानना ठीक नहीं है॥ २४॥

## ( १९०६ ) आवृत्त्या मन्त्रकर्म स्यात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** आवृत्त्या = आवृत्ति से, मंत्रकर्म = मंत्र कर्म, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि आवृत्ति होने पर भी मंत्र कर्म होता है। वैकृत मंत्रों का प्रत्यक्ष विधान होता है तथा प्राकृत मंत्र अतिदेश द्वारा प्राप्त होते हैं। अतिदेश की अपेक्षा प्रत्यक्ष विधान बलशाली होता है। इसलिए

इस प्रकरण में प्राकृत मंत्रों का अवरोध (बाध) होता है॥ २५॥

**( १९०७ ) अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानि: स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यास:॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी (प्रमाण है), प्रतिमन्त्रत्वात् = प्रत्येक मंत्र में आहुति प्राप्त होने से, प्राकृतानाम् अहानि: स्यात् = प्राकृत मंत्रों की हानि नहीं होती है, च = और, कृते अभ्यास: अन्याय: = एक समय वैकृत मंत्रों का पाठ होता है, पुन: पाठ करना अन्याय है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक मंत्र में आहुतियाँ होने से प्राकृत मंत्रों की हानि नहीं होती है। वैकृतमंत्रों का प्रत्यक्ष पाठ है तथा प्राकृत मंत्र अतिदेश द्वारा मिलते हैं। अत: दोनों प्रकरणों का समुच्चय हो सकता है। जब एक बार प्राकृत मंत्रों का पाठ हो जाता है, तब पुन: उनका पाठ करना उचित नहीं होता है॥ २६॥

**( १९०८ ) पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अभ्यासे = अभ्यास में, नैमित्तिकत्वात् = आगन्तुक नैमित्तिक होने से, पौर्वापर्यम् = पूर्वापर भाव, न उपपद्यते = सिद्ध नहीं होता,

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अभ्यास (आवृत्ति) में पूर्वापर भाव सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि आगन्तुक नैमित्तिक होता है। पूर्व निमित्तक उत्तर शब्द है तथा उत्तर निमित्तक पूर्व शब्द कहलाता है। इसके द्वारा भी प्राकृतों की हानि संभव नहीं होती। छ: मंत्र पूर्व के और छ: उत्तर के हैं, जो कि सुने जाते हैं। प्राकृत मन्त्र आगन्तुक होने से नैमित्तिक हैं। वैकृत का अभ्यास करने से या तो छ: मंत्र पूर्व अथवा उत्तर यह नहीं समझा जा सकता । अत: प्राकृत मंत्रों की हानि नहीं होती॥ २७॥

**( १९०९ ) तत्पृथक्त्वं च दर्शयति॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तत्पृथक्त्वम् = उन आहुतियों का पृथक्त्व, दर्शयति = बतलाता है।

**व्याख्या—** यहाँ इस सूत्र में आचार्य 'आग्निकी' और 'आध्वरिकी'- इन दोनों आहुतियों का पृथक्त्व बतलाते हैं। 'उभयीर्जुहोति आग्निकीश्च आध्वरिकीश्च' अर्थात् आग्निकी और आध्वरिकी-इन दोनों मन्त्र आहुतियों से हवन करना चाहिए। जब प्राकृत और वैकृत मंत्रों से आहुतियाँ देनी हों, तभी उक्त निर्देश चरितार्थ होता है। अत: प्राकृत एवं वैकृत मंत्रों का समुच्चय है॥ २८॥

**( १९१० ) न चाविशेषाद्व्यपदेश: स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, च = और, अविशेषाद् = विशेष न होने के कारण, व्यपदेश: = व्यपदेश (कथन) है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि व्यपदेश होने के कारण अनिवृत्ति समुच्चय होता है। 'पूर्वमध्वरस्याथाग्ने' इस प्रकार व्यपदेश है। इसलिए दोनों प्रकार के मन्त्रों का समुच्चय है, प्राकृत मंत्रों का अवरोध नहीं। इस प्रकार से प्राकृत और वैकृत दोनों दीक्षाहुतियों का अनुष्ठान करना सम्भव होता है॥ २९॥

**अगले दो सूत्रों में पुनराधान में अग्न्याधान की दक्षिणा के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९११ ) अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** वाक्यसंयोगात् = वाक्य का सम्बन्ध होने से, नैमित्तिके = पुनराधेय में, गुणविकारे = गुण विकार होने पर भी, अग्न्याधेयस्य = अग्न्याधान की, दक्षिणादानम् = दक्षिणादान, अधिकम् = अधिक, स्यात् = है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि जब किसी निमित्त से पुन: अग्न्याधान किया जाता है, तब उससे पहले अग्न्याधान की और पुन: अग्न्याधेय की दक्षिणा देनी होती है। इसलिए दोनों दक्षिणा रूपी गुणों का समुच्चय है। 'वैकृतदक्षिणा-पुनर्निष्कृतोरथ:' अर्थात् पुन: ठीक किया हुआ रथ ही पुनरग्न्याधान की दक्षिणा है; क्योंकि

(उभयीर्ददाति आग्न्याधेयिकीश्च पुनराधेयिकीश्च) इस प्रकार का वाक्य दोनों दक्षिणा का समुच्चय बतलाता है।

**( १९१२ ) शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शिष्टत्वात् = विधान होने से, इतरासाम् = अन्य प्राकृत दक्षिणा का, यथास्थानम् = यथा क्रम होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी पुनः कहते हैं कि प्रकृतियों का वचन-प्रामाण्य होने से तथा प्राकृत दक्षिणा देने का विधान होने के कारण क्रम से दोनों दक्षिणाएँ देनी चाहिए। इसका अनुशासन-प्रमाण इस प्रकार है- 'आग्न्याधेयिकीर्दत्वा पुनराधेयिकीर्ददाति'। इस प्रमाण द्वारा दक्षिणाओं का समन्वय होता है॥ ३१॥

**अब अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९१३ ) विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** हि = क्योंकि, प्रकरणे = अप्रकृतिभूत विकृति याग में, तु = तो, काम्यानि = पुनराधेय की जो दक्षिणा होती है वही देनी होती है, विकारः = प्राकृत दक्षिणा का बाध (अवरोध) होता है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अप्रकृतिभूत विकृतियाग में पुनराधेय की जो दक्षिणा होती है, वह वर्तमान अर्थात् पिछले अग्न्याधान की है, पूर्व अग्न्याधान की नहीं। अस्तु; दोनों दक्षिणाओं का समुच्चय नहीं होता है। यहाँ यह नियम है कि नैमित्तिक कर्म में नित्य कर्म का बाध-अवरोध-होता है। किसी रोगी को रोटी के स्थान पर खिचड़ी दी जाती है; किन्तु रोटी के साथ खिचड़ी नहीं दी जाती। इस प्रकार प्रकृतियों की निवृत्ति होती है॥ ३२॥

**( १९१४ ) शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शङ्कते = प्राकृत दक्षिणा सम्बन्धी शङ्का करते हैं, निवृत्तेः = पूर्व दक्षिणा की निवृत्ति होने से, हि = क्योंकि, उभयत्वं श्रूयते = उभयः - दोनों दक्षिणाएँ देते हैं, ऐसा सुना जाता है।

**व्याख्या—** 'प्राकृत दक्षिणा देनी होगी या नहीं' इस आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रुति द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि विकृति की दक्षिणा द्वारा दोनों दक्षिणाओं का काम चल जायेगा। वस्तुतः जो वैकृती (पुनराधेय) की दक्षिणा चुकाते हैं, वे दोनों दक्षिणा देते हैं, ऐसा तो केवल अर्थवाद ही है। यथार्थतः दोनों दक्षिणाओं का समुच्चय नहीं होता, वरन् मात्र एक ही दक्षिणा देनी पड़ती है। इस आधार पर पूर्व अग्न्याधान के दक्षिणा की निवृत्ति होती है॥ ३३॥

**अगले पाँच सूत्रों में आचार्य वासोवत्स प्रकरण के विभिन्न अनुशासन समझाते हैं—**

**( १९१५ ) वासो वत्सं च सामान्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, वासोवत्सम् = वास और वत्स पुनराधेय दक्षिणा के समान बाध (अवरोध) करते हैं, सामान्यतः = एक कार्यकारी होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आग्रयण में प्रायः इस तरह से सुना जाता है कि- 'वासो दक्षिणावत्सः प्रथमजो दक्षिणा' अर्थात् वास दक्षिणा और प्रथमज वत्स दक्षिणा कार्य सामान्यतः होता है। यहाँ सूत्र में च शब्द द्वारा अन्वादेश किया जाता है। कार्य सामान्य से अन्वाहार्य की निवृत्ति होती है। आग्रयण यज्ञ में वासोवत्स कार्य में वस्त्र या बछड़ा ही दान में दिया जाएगा। दक्षिणा का समुच्चय नहीं, बल्कि निवृत्ति होती है॥ ३४॥

**( १९१६ ) अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थापत्तेः = प्राकृत मन्त्र आदि के अर्थानुसार, निमित्ताख्याभिसंयोगात् = मन्त्र निमित्त का दक्षिणा

नाम के साथ संयोग होने से, तद्धर्म: स्यात् = वासोवत्स में अन्वाहार्य के धर्म होते हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्राकृत मन्त्र आदि के उद्देश्य-भूत दक्षिणा की उपलब्धि होने से वस्त्र अथवा वत्स (बछड़ा) में अन्वाहार्य के धर्म होते हैं; किन्तु ये समस्त धर्म तब होते हैं, जब मन्त्र निमित्त का दक्षिणा के साथ संयोग होता है। अन्वाहार्य दक्षिणा के जो अन्य धर्म हैं, उनका इस नवीन दक्षिणा के अन्तर्गत भी पालन करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ जिस प्रकार भात प्रदान किया जाता है, उसी प्रकार से वस्त्र अथवा वत्स (गो-वत्स) भी प्रदान किया जायेगा॥ ३५॥

**( १९१७ ) दाने पाकोऽर्थलक्षण: ॥ ३६ ॥**

**सूत्रार्थ**—अर्थलक्षण: = अर्थ लक्षण, पाक:=पाक होने से, दाने = दान साधन वत्स में उसकी निवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार बतलाते हैं कि अन्वाहार्य धर्मों में भात का पाक भी कर्त्तव्य है; किन्तु दान-साधन वत्स में उसकी निवृत्ति है, वत्स के दान में पाक नहीं करना चाहिए; क्योंकि अपक्व ही वत्स होता है। वचन में वत्स ही श्रूयमाण होता है, मांस नहीं होता॥ ३६॥

**( १९१८ ) पाकस्य चान्नकारित्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पाकस्य अन्नकारित्वात् = पाक यह अन्न में कर्त्तव्य होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य उक्त प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पाक तो अन्न आदि में ही कर्त्तव्य होता है। 'वासस्' अर्थात् वस्त्र में भी पाक की निवृत्ति निश्चित है॥ ३७॥

**( १९१९ ) तथाभिघारणस्य॥ ३८ ॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इस प्रकार, अभिघारणस्य = अभिघारण की भी निवृत्ति हो जाती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अन्वाहार्य का धर्म अभिघारण है, तब भी वस्त्र और वत्स में कर्त्तव्य नहीं है। ओदन आदि में वह कर्त्तव्य होता है। अन्वाहार्य में अभिघारण स्वाद हेतु किया जाता है। वास और वत्स में स्वाद का कोई उद्देश्य नहीं है, अत: वहाँ अभिघारण नहीं होता है॥ ३८॥

**'ज्योतिष्टोम में जो द्वादशशत ( ११२ या १२०० ) दक्षिणा बतलाई गयी है, वह किस-किस द्रव्य से सम्बन्ध रखती है।' इस प्रकरण हेतु आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९२० ) द्रव्यविधिसन्निधौ संख्या तेषां गुणत्वात्स्यात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यविधिसन्निधौ = द्रव्य विधि की सन्निधि में, संख्या = जो संख्या नामक शब्द है, तेषाम् गुणत्वात् = द्रव्य का गुण होने से, स्यात् = प्रत्येक द्रव्य के साथ उसका सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि द्रव्यविधि की सन्निधि में जो संख्या नामक शब्द है, द्रव्य का गुण होने के कारण उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ सम्बन्ध होता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के अन्तर्गत इस प्रकरण के पाठ का भावार्थ इस प्रकार मिलता है- वह गवादि माषान्त जितने द्रव्य हैं, उन सभी के साथ द्वादशशत का सम्बन्ध है अर्थात् सभी द्रव्य ११२ या १२०० की संख्या में दान करने चाहिए। द्रव्य प्रमुख और संख्या गौण है। 'प्रतिप्रधानमङ्गावृत्ति:' अर्थात् जितने प्रधान हों, उनके साथ अंग की आवृत्ति करनी चाहिए। अत: उपर्युक्त प्रत्येक द्रव्य के साथ संख्या का सम्बन्ध है॥ ३९॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन में दोष बतलाते हुए समाधान देते हैं—**

**( १९२१ ) समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** गुणानाम् = माषान्त गुण और संख्या का, समत्वात् = तुल्यत्व होने से, तु = तो, श्रुतिसंयोगात् = द्वादशशत शब्द का संख्या के साथ सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि श्रुति वचन में गुण और संख्या के समान होने से 'संख्या' एक वस्तु का ही निर्देशन करती है, एक-एक का अलग-अलग नहीं। गवादि के साथ संख्या का सम्बन्ध नहीं है; परन्तु दक्षिणा के साथ गवादि का सम्बन्ध है। द्वादशशत संख्या समन्वित दक्षिणा होनी चाहिए। तत्पश्चात् उपर्युक्त गुणों में से चाहे जो भी द्वादशशत हों। गवादि का दक्षिणा से सम्बन्ध है, संख्या भी उससे सम्बद्ध होती है। दक्षिणा ही संख्या द्वारा विशेषतया चोद्यमान है, गवादि नहीं; क्योंकि संख्या का दक्षिणा से सम्बन्ध होने से सत्र में निश्चित संख्या वाली गवादि में संख्या की दक्षिणा के सम्बन्ध से अनर्थकता उत्पन्न हो जायेगी। अत: एक ही संख्या का निर्देश होता है। इस प्रकार एक वचन ही श्रवणीय होता है॥ ४०॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को प्रकारान्तर से समझाते हैं—**

## (१९२२) यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यस्य सन्निधाने = जिसके सन्निधान में शब्द हो, तेन हि अभिसम्बन्ध: स्यात् = उसके साथ अभिसम्बन्ध जानना चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन का विकल्प समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस शब्द के सन्निधान में संख्या शब्द उच्चारित होता है, उसी के साथ उसका अभिसम्बन्ध होता है। वाक्य का यही भाव है। बाद में उच्चारित शब्दों से उसका सम्बन्ध नहीं होता॥ ४१॥



**आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से सभी के साथ संख्या का सम्बन्ध बतलाते हैं—**

## (१९२३) असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो, असंयुक्ता: = केवल भाषा के साथ संयुक्त नहीं, इतराभि: = अन्य द्रव्य श्रुति के साथ, तुल्यवत् = समानता से, विधीयन्ते = विधान है, तस्मात् = अत: उसका, सर्वाधिकार: स्यात् = सर्व के साथ सम्बन्ध है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि असंयुक्त संख्या एकमात्र 'माषों' में ही होती है, अन्य द्रव्यों का श्रुति के साथ समानतापूर्वक अर्थात् सम्यक् रूप से विधान किया गया है। इस कारण संख्या का सभी के साथ सम्बन्ध होता है। गौ से लेकर माष पर्यन्त 'च' कार का सम्बन्ध है और चकार समुच्चय को सूचित करता है। इससे भी समस्त द्रव्यों के साथ संख्या का सम्बन्ध है। संख्या का सम्बन्ध होने से कुछ भी वर्जित नहीं होगा। अत: इससे गवादि राशि इस संख्या द्वारा सम्बद्ध होनी चाहिए॥ ४२॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त रूप में सजातीय एक द्रव्य के साथ ही संख्या का सम्बन्ध बतलाते हैं—**

## (१९२४) असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्यात् श्रुत्याकोपात्क्रतोः॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** असंयोगात् = सभी द्रव्यों के साथ संयोग-सम्बन्ध न होने से, विधिश्रुतौ = विधि वाक्य में, एक जाताधिकार: स्यात् = किसी एक द्रव्य के साथ संख्या का अन्वय है, श्रुत्या = विधि वाक्य का, कोपात् = व्याकोप होने से, क्रतो: = क्रतु का ही बोधक है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि संख्या का सभी तरह के द्रव्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है; क्योंकि तस्यद्वादशशतम् नामक वाक्यांश में 'तस्य' शब्द एकवचन का प्रयोग हुआ है। अत: यहाँ पर एक द्रव्य के साथ ही सम्बन्ध है। यदि ऐसा न मानें, तो श्रुति का व्याकोप होगा। इस कारण से एक जातीय एक द्रव्य के साथ ही संख्या का सम्बन्ध मान्य है॥ ४३॥

## (१९२५) शब्दार्थश्चापि लोकवत्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** चापि = और, लोकवत्=लौकिक भाषा के समतुल्य, शब्दार्थ: = वेद वाक्यों का अर्थ होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि लौकिक भाषा के समान वेद में भी शब्दों का अर्थ होता है। लोक व्यवहार में 'शतं गाव:' वाक्य द्वारा जिस प्रकार एक सौ (१००) गौएँ ही जानी जाती हैं, उसमें अश्वादि विजातीय अर्थ ग्रहण नहीं होता, उसी प्रकार वेद में भी एक ही तरह के अर्थ लिये जाते हैं। विजातीय अश्व आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। द्वादशशत संख्या भी किसी एक सजातीय पदार्थ हेतु मान्य है॥ ४४॥

**(१९२६) सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** सा= वह संख्या, विभागात्=लोक व्यवहार से, पशूनाम्=पशुओं की, उत्पत्तित: द्योतक है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि वह संख्या पशुओं से सम्बन्ध है। लोकव्यवहार में पशुओं का आदान-प्रदान संख्या के आधार पर ही होता है॥ ४५॥

**'पशुओं में गाय का नियम है' -इस प्रकरण में आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं—**

**(१९२७) अनियमोऽविशेषात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** अनियम: = नियम नहीं होता, अविशेषात् = अविशेष बतलाने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि गौओं का ही दान करना चाहिए, इस प्रकार का यहाँ ऐसा कोई नियम नहीं है। जब पशुओं के साथ द्वादशशत संख्या का सम्बन्ध है, इसका सम्बन्ध केवल गायों के साथ क्यों माना जाना चाहिए?॥ ४६॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य गौ के पक्ष में अपने समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(१९२८) भागित्वाद्वा गवां स्यात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, भागित्वात् = उपकारक होने से, गवां स्यात् = गौओं का दान उचित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि गौएँ विभिन्न प्रकार से महान् (श्रेष्ठ) उपकार करने वाली होती हैं। इसलिए गौओं का ही दान करना चाहिए। महाभाग गौओं के दान का सर्वाधिक उल्लेख पाया जाता है। अत: यहाँ द्वादशशत ही गायों के लिए मान्य है, अश्वों के लिए नहीं॥ ४७॥

**(१९२९) प्रत्ययात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** प्रत्ययात् = विशेष्य की आकांक्षा से शास्त्र सर्वप्रथम गाय का ही प्रतिपादन करता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'गौश्चाश्वाश्चाश्वतरश्चेत्यादि' इस शास्त्रीय वाक्य कथन में गाय का स्थान सबसे पहले आता है, वचन है- 'असति बाधके तत्परित्यागोऽनुचित:' अर्थात् जब तक कोई बाधक न हो, तब तक प्रथम चयनित का त्याग करना उचित नहीं होता। अस्तु; यह गाय के दान का नियम स्पष्ट प्रतीत होता है॥ ४८॥

**(१९३०) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = शास्त्रान्तर में गोदान विहित होने से भी गाय की दक्षिणा देनी चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य आगे कहते हैं कि लिङ्ग दर्शन के द्वारा भी यह उक्त अर्थ परिलक्षित होता है। शास्त्र-प्रमाण भी गोदान में लिङ्ग रूप हैं, इसलिए इस प्रकरण में गोदान का नियम है॥ ४९॥

**विभाग करके दक्षिणा देने के प्रकरण को आचार्य अगले तीन सूत्रों में प्रतिपादित करते हैं—**

**(१९३१) तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र = ऐसे प्रकरणों में, प्रदानानाम् = प्रतिग्रहीता लेने वाले, पृथक्त्वात् = पृथक्-पृथक् होने से, दानम् = दान को, विभागेन = विभाग करके देना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रतिग्रहीताओं के अलग-अलग होने के कारण गौओं आदि का दान विभाग

करके (दान देने वालों की पात्रता के अनुसार) देना चाहिए। ऋत्विजों को स्वयं ही सामूहिक दान प्राप्त कर पीछे अपने में विभाग नहीं करना चाहिए। वह यजमान द्वारा स्वयमेव सम्पन्न किया जाना चाहिए॥ ५०॥

**( १९३२ ) परिक्रयाच्च लोकवत्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लोकवत् = लोक की भाँति, परिक्रयात् = परिक्रयार्थ होने से विभाग करके दक्षिणा (दान) देना उचित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार से स्वामी (मालिक) काष्ठवाहक अर्थात् लकड़हारे आदि श्रमिकों को विभाग करके निर्देश पूर्वक मजदूरी (धन) देता है, उसी प्रकार से यह दान भी परिक्रयार्थ होता है, धर्म मात्र (केवल विधान) ही नहीं है। अत: विभाग करके लोक-मान्यतानुसार ही दक्षिणा देनी चाहिए, यही उचित है॥ ५१॥

**( १९३३ ) विभागं चापि दर्शयति॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, विभागम् = विभाग को, दर्शयति अपि = श्रुति भी बतलाती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे उक्त कथन को और पुष्ट करते हुए बतलाते हैं कि श्रुति भी विभाग का निर्देशन करती है। 'तुथो वो विश्ववेदा विभजतु' यह मन्त्र विभाग के अन्तर्गत कारणरूप कहा गया है। 'अग्नीधे ददाति ब्रह्मणे ददाति' अर्थात् अग्नीध् नामक ऋत्विक् को दक्षिणा देता है। ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को दक्षिणा देता है। इस प्रकार से प्रतिग्रह करने वाले के लिए ऋत्विजों का नाम लेकर दक्षिणा देने का उल्लेख श्रुति में प्राप्त होता है॥ ५२॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष दान के विभाग के सन्दर्भ में शङ्का उठाते हैं—**

**( १९३४ ) समं स्यादश्रुतित्वात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** अश्रुतित्वात् = वैषम्य का श्रवण न होने से, समम् = सबको समान दक्षिणा, स्यात् = देनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि वैषम्य का श्रवण न होने से दक्षिणा का विभाग एक जैसा होना चाहिए। जिस स्थान पर किसी भी विभाग का श्रवण नहीं होता, वहाँ पर सम विभाग ही हो सकता है॥ ५३॥

**अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १९३५ ) अपि वा कर्मवैषम्यात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा तो, कर्मवैषम्यात् = कर्म प्रमाण में वैषम्य होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि दक्षिणा में भेद रखा गया, तो दाता के कर्म में विषमता का दोष लगेगा॥ ५४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं—**

**( १९३६ ) अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते दर्शनाद्विशेषस्य तथाऽभ्युदये॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** परिक्रये अतुल्याः स्युः = दक्षिणा दान में अतुल्य विभाग होना चाहिए, विषमाख्या विधि श्रुतौ = समाख्या प्रमाण द्वारा ऋत्विजों में दक्षिणा के विभाग के वैषम्य का, परिक्रयात् = निर्णय होने से, कर्मणि न उपपद्यते = कर्म में वैषम्य उत्पन्न नहीं होता, विशेषस्य दर्शनात् = विशेष का दर्शन होने से, तथाऽभ्युदये = अभ्युदय सत्र में ऐसी ही श्रुति है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष को बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि दक्षिणा (पारिश्रमिक) समान होना उचित नहीं है। श्रुति-प्रमाण द्वारा ऋत्विजों में दक्षिणा का विभाग पारिश्रमिक के कारण विषम होता है। (किसी को अर्द्ध भाग, किसी को चतुर्थ भाग, किसी को तृतीय भाग तथा ब्रह्मा एवं उद्गाता आदि को पूरा-पूरा भाग प्राप्त

होता है।) यह वैषम्य कर्म के कारण नहीं है। यह श्रुतिकृत कर्म वैषम्य है, जैसा कि अभ्युदय नाम वाले सत्र में विधान किया गया है। अभ्युदय फल में विशिष्ट दृष्टिगोचर होता है। अत: अर्थी आदि से समाख्यान होने से समाख्या श्रुति वैषम्य हो सकता है॥ ५५॥

**अब 'भू' नामक याग में धेनु दक्षिणा के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है—**

**( १९३७ ) तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौ विभक्तचोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** तस्य धेनुः इति = 'भू' नामक याग की एक धेनु दक्षिणा विहित है, गवाम् = वह अतिदेश प्राप्त गोरूप दक्षिणा का बाध (अवरोध) करता है, विभक्त चोदितत्वात् = प्रकृति में 'गोश्च अश्वश्च' इस तरह से पृथक्-पृथक् दक्षिणा बतलाने से, सामान्यात् तद्विकारः = अतः धेनु का गो के साथ सामान्य होने से उसका ही विकार (अवरोध), स्यात् = होता है, यथाइष्टिः गुणशब्देन = जैसे इष्टि में विहित द्रव्य सूर्यादि का सम्बन्ध बतलाता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'भू' नामक एकाह याग विशेष का उपक्रम करके उसमें 'धेनुर्दक्षिणा' अर्थात् एक धेनु दक्षिणा विहित की गयी है। 'या गौ सा धेनुः' इस तरह से विशेषण विशिष्ट किये जा सकते हैं। अश्व आदि के प्रमाण द्वारा विशेषित नहीं होते। 'योऽश्वः सा धेनुः' यहाँ पर ऐसा प्रयोग कदापि नहीं हो सकता है। वह अतिदेश से प्राप्त गो रूप दक्षिणा का बाध (अवरोध) करती है। अत: गो रूप धेनु से प्राकृत गो सामान्य का ही अवरोध होता है। प्रकृतियाग में गौ, अश्वादि पृथक्-पृथक् दक्षिणाएँ बतलाने से तथा धेनु एवं गौ के सदृश होने से उसका अवरोध होता है, जैसे इष्टि में विहित द्रव्य सूर्य आदि के साथ सम्बन्ध बतलाता है॥ ५६॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन का सिद्धान्त पक्ष से समाधान करते हैं—**

**( १९३८ ) सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तस्मात् समवायाद्धि कर्मभिः॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वस्य वा = अथवा सर्वक्रतु दक्षिणा का इससे बाध (अवरोध) होता है, दक्षिणार्थस्य = सर्व दक्षिणा का, क्रतुसंयोगात् एकत्वम् = क्रतु के साथ सम्बन्ध होने से एकत्व अर्थात् समुच्चय है, गुणानाम् कार्यैकत्वात् = क्रतु में जितने गुण होते हैं, उनका प्रमुख कार्य के साथ सम्बन्ध होता है, अर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात् = विकृति में जो श्रुति होती है, वह प्राकृत अर्थ का बाध करती है, तस्मात् समवायात् कर्मभिः = अतः समुच्चय कर्म के साथ होने से धेनु-रूप दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्त्तिका है।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'भू' नामक विकृति याग में जो धेनु रूपी दक्षिणा विहित है, वह प्राकृत अखिल दक्षिणा का बाध (अवरोध) करती है; किन्तु वह एकमात्र गाय रूपी दक्षिणा का अवरोध नहीं करती। गवादि माषान्त सभी द्रव्य एक दक्षिणा रूप हैं, कोई पृथक्-पृथक् दक्षिणा नहीं होती। सर्वदक्षिणा का क्रतु के साथ सम्बन्ध होने से एकत्व अर्थात् समुच्चय है। क्रतु में जो गुण होता है, उसका प्रमुख कार्य के साथ सम्बन्ध होता है। विकृति में जो श्रुति होती है, वह प्राकृत अर्थ का अवरोध करती है। अत: समुच्चय कर्म होने से धेनुरूपी दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्त्तिका है। इसलिए उक्त याग में धेनु दक्षिणा देने के बाद अश्व आदि की दक्षिणा देने की जरूरत नहीं होती॥ ५७॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को और पुष्टि प्रदान करते हैं—**

**( १९३९ ) चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** चोदनानाम् = प्राकृत अर्थ जो, अनाश्रयात् = अनाश्रय हो तो, लिङ्गेन नियमः स्यात् = लिङ्ग द्वारा नियम होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यदि प्राकृत अर्थ (कार्य) अनाश्रय (स्पष्ट उल्लेख न) हो, तो लिङ्ग (संकेत) के द्वारा उसका नियम मान लिया जाता है; किन्तु यहाँ पर तो धेनुरूप दक्षिणा की स्पष्ट विधि बतलाई गयी है। अतः इसके द्वारा उसकी सर्व प्राकृत दक्षिणा का बाध (अवरोध) उपस्थित होगा। इसके लिए लिङ्ग वाक्य ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती॥ ५८॥

**दक्षिणा स्वरूप दी जाने वाली 'गौ' कितनी हो, इसे स्पष्ट करने के लिए आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## (१९४०) एका पञ्चेति धेनुवत्॥ ५९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, एकापञ्च इति = एक गाय की दक्षिणा देनी चाहिए अथवा पाँच गौओं की दक्षिणा देनी चाहिए, इससे सर्वदक्षिणा का बाध (अवरोध) होता है, धेनुवत् = जैसे अधिकरण में धेनु अन्य दक्षिणा की निवर्तिका बनती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि एक गौ या पाँच गौओं की दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्तिका है। जिस तरह से उपर्युक्त प्रकरण में धेनु दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निवर्तिका कही गयी है तथा एक और पाँच गौ श्रूयमाण हैं, वहाँ पर चाहे एक हो अथवा पाँच, धेनु (शब्द) कृत्स्न (सर्वदक्षिणा) की निवर्तिका (निषिद्धता) होती है। दक्षिणा के विषय में उनका प्रत्यक्ष श्रवण होता है। यह पूर्वपक्षी की मान्यता है॥ ५९॥

**'साद्यस्क्र याग में 'त्रिवत्स' से सर्वक्रयार्थ का बाध (अवरोध) होता है', अगले सूत्र में आचार्य इसी प्रकरण को बतलाते हैं—**

## (१९४१) त्रिवत्सश्च॥ ६०॥

**सूत्रार्थ—** च = और, त्रिवत्सः = तीन वर्ष का साँड़ भी दक्षिणा द्वारा अन्य सभी दक्षिणाओं का बाधक हो जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि साद्यस्क्र याग में तीन वर्ष के बछड़े की दक्षिणा से अन्य सभी दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) हो जाता है। इस याग के अन्तर्गत तीन वर्ष के साँड़ (बछड़े) से सोम का क्रय होता है तथा अजा, हिरण्य आदि जो क्रय के साधन बतलाये गये हैं, उन सभी का अवरोध होता है अथवा एकमात्र ऋषभ का ही बाध (अवरोध) होता है। इस आशङ्का के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी का मन्तव्य यह है कि केवल ऋषभ का ही बाध (अवरोध) होता है; क्योंकि साँड़ में और ऋषभ में प्रागवत्त्व रूप धर्म सामान्य है। इसमें सिद्धान्त पक्ष यह है कि त्रिवत्स साँड़ क्रय के सर्व साधनों का अवरोध करता है। इसलिए वह कृत्स्न क्रयार्थ का निवर्तक होता है। तात्पर्य है कि तीन बछड़े के साँड़ से सोम क्रय करना चाहिए, अन्य किसी साधन से क्रय नहीं करना चाहिए॥ ६०॥

**आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं कि प्रमाणों की प्राप्ति से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है—**

## (१९४२) तथा च लिङ्गदर्शनम्॥ ६१॥

**सूत्रार्थ—** तथा च = और उस प्रकार, लिङ्गदर्शनम् = लिङ्ग वाक्य भी है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे कहते हैं कि अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है। साद्यस्क्र याग में जितने सोम-क्रय के साधन हैं, उनका अवरोध करके सभी के बदले एक स्त्री गो (गाय) होने से स्पर्धा की निवृत्ति होती है। अतः सोम के क्रय का साधन एक ही रहने से अन्य साधन द्वारा सोम का

क्रय-करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, यह प्रश्न ही नहीं रह जाता है। यहाँ समान श्रुति है। अतः इनकी स्पर्धा आवृत्तियों में की जाती है॥ ६१॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को सिद्धान्त पक्ष से सिद्ध करते हैं—**

**( १९४३ ) एके तु श्रुतिभूतत्वात्संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** एके तु = एकाम् यह द्वादशशत संख्या विशिष्ट गाय का बोधक है, श्रुतिभूतत्वात् = ऐसा इस श्रुति का तात्पर्य होने से, गवाम् संख्यया=गोवृत्ति संख्या का, लिङ्गविशेषेण=स्त्रीलिङ्ग गोगत एक संख्या का भाव है।

**व्याख्या—** सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं कि संख्या का गौ शब्द में प्रत्यक्ष समन्वय है, जो शब्द द्वारा परोक्ष सम्बन्धित होता है। यहाँ पर गौ शब्द ही प्रमुख अर्थवाला है। लिङ्ग की विशेषता से संख्या गौओं में निवेश करती है। एकाम् यह स्त्रीलिङ्ग है तथा गाय की विशेषता बतलाने वाला है। अतः प्राकृत संख्या से युक्त गौओं की निवृत्ति करता है। एकाम् का सम्बन्ध दक्षिणा के साथ न होकर गाय के साथ होता है। इसलिए साद्यस्क्र याग में विहित एक गाय की दक्षिणा प्राकृत संख्या विशिष्ट गौओं की निवृत्तिका है, इतर अश्व आदि पशुओं की नहीं है॥ ६२॥

**यहाँ अश्वमेध प्रकरण में अध्वर्यु को दिए जाने वाले दान के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है—**

**( १९४४ ) प्राकाशौ च तथेति चेत्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्राकाशौ = सोना (स्वर्ण) के दीप को प्राकाश कहते हैं, यह अध्वर्यु को दान रूप में प्रदान किया जाता है वह भी, तथेति चेत् = धेनु की भाँति सभी दक्षिणाओं का बाध अर्थात् अवरोध करता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि अश्वमेध याग में अध्वर्यु को दो सुवर्णमय दीप स्तम्भ देने का विधान है। यह दान देने के उपरान्त अन्य कोई भी दक्षिणा देनी शेष नहीं रहती॥ ६३॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त कथन का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९४५ ) अपि त्ववयवार्थत्वाद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेदन्ताविकारः स्यात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** अपि तु = तो भी, अवयवार्थत्वात् = ऋत्विजों में एक देश अध्वर्यु होने से तथा अध्वर्यु के लिए ही दक्षिणा होने से, विभक्तप्रकृतित्वात् = विभाग वाली दक्षिणा होने से, गुण-इदन्ताविकारः स्यात् = प्राकाश दक्षिणा अध्वर्यु की ही होने से अन्य दूसरों की दक्षिणा शेष रहती है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि प्राकाश दक्षिणा अवयव कार्य के लिए है, कृत्स्न अर्थात् सम्पूर्ण कार्य के लिए नहीं है; क्योंकि अध्वर्यु आदि के भाग विभक्त होते हैं। 'प्राकाश' दक्षिणा अध्वर्यु की होने से अन्य दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) नहीं होता है। वह दक्षिणा तो अनिवार्य रूप से देनी ही पड़ती है॥ ६४॥

**आचार्य उपहव्य याग में अश्व दक्षिणा सम्बन्धी प्रकरण यहाँ प्रस्तुत कर रहेहैं—**

**( १९४६ ) धेनुवच्चाश्वदक्षिणा स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ—** धेनुवत् अश्वदक्षिणा च = और उपहव्य नामक एकाह याग में जो अश्वदक्षिणा है, वह धेनु दक्षिणा की भाँति सम्पूर्ण दक्षिणा की निवारिका है, यथा हिरण्यस्य = जैसे शतकृष्णल चरु में सोने की दक्षिणा की भाँति, स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो' = वह अन्य ऋत्विजों के सम्बन्ध को दूर करती है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि उपहव्य नामक एक दिवस का याग होता है, उसमें जिसके माथे पर श्याम और स्वर्ण बाल हैं, ऐसे अश्व की दक्षिणा दी जाती है। वह धेनु दक्षिणा के सदृश सम्पूर्ण दक्षिणा की निवर्त्तिका है। यह दक्षिणा एक मात्र ब्रह्मा नामक 'होता' को देनी चाहिए। यह दक्षिणा अन्य सभी तरह की

दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) करती है। अतः अन्य किसी को क्रतु-दक्षिणा नहीं देनी होती। उदाहरणार्थ- 'शत कृष्णल' याग में स्वर्ण की दक्षिणा केवल एकमात्र ब्रह्मा के लिए ही देय है॥ ६५॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन के विषय में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**(१९४७) एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्य लिङ्गविशेषेण॥ ६६॥**

**सूत्रार्थ—** एके तु = एक दक्षिणा से तो हैं, सम्पूर्ण दक्षिणा निवृत्त नहीं होती, कर्तृसंयोगात् = कर्म कराने वाले का सम्बन्ध होने से, तस्य लिङ्गविशेषण = उस ऋत्विज् के सम्बन्ध के नाते, स्रग्वत् = स्रग् (फूलमाला) जैसे उद्गाता नामक होता को प्रदान की जाती है तथा दूसरे की दक्षिणा कायम रहती है, वैसे ही रहनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि एक लिङ्गविशेष से कृतसंयोग होने से स्रक् अर्थात् पुष्प माला के सदृश अर्थ निवृत्त होते हैं। यह दक्षिणा अतिदिष्ट सर्वदक्षिणा का बाध (अवरोध) नहीं करती, किन्तु दक्षिणा के अमुक भाग की ही निवृत्ति करती है। ब्रह्मा को जो उपर्युक्त प्रकार के अश्व की दक्षिणा है, तो अन्य ऋत्विजों को भी दक्षिणा देनी चाहिए तथा वह प्रकृति यज्ञ में कही हुई दक्षिणा होनी चाहिए॥ ६६॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष से बतलाते हैं—**

**(१९४८) अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात्॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, तदधिकारात् = दक्षिणा का अधिकार होने से, हिरण्यवत् विकारः स्यात् = हिरण्य के सदृश उस दक्षिणा का ही विकार है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि दक्षिणा का अधिकार हो जाने से हिरण्य की भाँति वह अश्व दक्षिणा अन्य प्राकृतिक दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) करती है। अतः कृत्स्न विकार निश्चित ही हिरण्यवत् ही होता है। वह विकार स्रग्वत् (फूलमाला) की तरह से नहीं होता है॥ ६७॥

**ऋतपेय यज्ञ में दी जाने वाली चमस दक्षिणा के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**(१९४९) तथा च सोमचमसः॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = और इसी प्रकार, सोम चमसः = सोम चमस दक्षिणा का विधान है, (इसी का अवरोध) करती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि उपर्युक्त की तरह 'ऋतपेय' नामक याग में 'सोमचमस' की दक्षिणा अन्य समस्त दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) करती है। ऋतपेय नामक याग में उदुम्बर (गूलर) नामक काष्ठ से निर्मित सोम-चमस दक्षिणा के रूप में ब्रह्मा नामक ऋत्विज् को प्रदान की जाती है। पूर्वोक्त प्राकाश दक्षिणा जैसे अध्वर्यु भाग का अवरोध करती है, वैसे ही उपर्युक्त दक्षिणा ब्रह्मा के भाग का अवरोध करती है॥ ६८॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हैं—**

**(१९५०) सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, सर्वविकारः = सर्व का अवरोध करती है, क्रत्वर्थे = क्रत्वर्थक दान में, पशूनाम् प्रतिषेधात् = पशुओं के दान का प्रतिषेध होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है ऋतपेय नामक याग पशुदान का निषेध करता है तथा सोम-चमस दक्षिणा को ही विहित मानता है। साथ ही यह दक्षिणा ब्रह्मा को प्रदान की जाती है। इसलिए वह सर्व दक्षिणाओं का निवारक है॥ ६९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन पर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९५१ ) ब्रह्मदानेऽवशिष्टमिति चेत्॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** ब्रह्मदाने = ब्रह्मा को दक्षिणा देनी चाहिए, अवशिष्टम् = अन्य दक्षिणा अवशिष्ट (शेष) रहती है, इति चेत् = यदि ऐसा मानें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि ब्रह्मा को दक्षिणा देने के बाद अन्य दक्षिणाएँ भी देय होती हैं। अत: उन्हें भी दक्षिणा देनी चाहिए। यह चमस दक्षिणा केवल ब्रह्मा का ही अवरोध करती है। अन्य ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा का अवरोध नहीं होता है॥ ७०॥

**ऊपर किये गये आक्षेप कथन का यहाँ अगले सूत्र में आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९५२ ) उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात्प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात्॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात् = उत्सर्ग का दान क्रतु के लिए होता है, प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वात् = इस यज्ञ में पशुदान का निषेध होने के कारण, न च गौण: प्रयोजनम् अर्थ: स दक्षिणानां स्यात् = चमस रूपी दक्षिणा का गौण अर्थ प्रयोजन नहीं है।

**व्याख्या—** आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि उक्त आक्षेप (कथन) उचित नहीं है। प्रकृतियाग में पशुदान का निषेध होने से सबके स्थान में चमस दक्षिणा देय है। चमस रूपी दक्षिणा का प्रयोजन गौण नहीं होता है। अत: सोमचमस रूपी दक्षिणा सम्पूर्ण क्रतु दक्षिणा का बाध (अवरोध) करती है॥ ७१॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९५३ ) यदि तु ब्रह्मणस्तदूनं तद्विकारः स्यात्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ—** यदि तु = जो, ब्रह्मण: = सोमचमस दान ब्रह्मा का ही हो, तदूनं तद्विकार: स्यात् = तो वह अल्प होगी तथा वह केवल अमुक भाग का ही बाध (अवरोध) करेगी।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का मत है कि यदि सोमचमस दान केवल ब्रह्मा का ही भाग है, तो वह दक्षिणा ब्रह्मा के भाग से अत्यल्प हो जायेगी। यदि ब्रह्मा को ही उपर्युक्त दक्षिणा दी जाये, तो अन्य ऋत्विजों की दक्षिणा जो प्रकृति याग में कही गई है, वह शेष रहती है तथा उक्त दक्षिणा ब्रह्मा की दी जाने वाली अन्य दूसरी दक्षिणा का अवरोध करती है॥ ७२॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के मत को सिद्धान्त पक्ष द्वारा पुष्ट करते हैं—**

**( १९५४ ) सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात्॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वं वा = उक्त कथन दक्षिणा का निवारक है, तासाम् क्रतु प्रधानत्वात् = दक्षिणा क्रतु के ही प्रमुख होने से, पुरुषापनयात् = अन्य ऋत्विजों के अधिकार का अपनय करने में आता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष के अनुसार कहते हैं कि दक्षिणाओं में क्रतु-प्रधानता होने से पुरुष-अपनय (अन्य ऋत्विजों के भाग का निषेध) किया जाता है कि वह ब्रह्मा को ही देना चाहिए। क्रतु को उद्दिष्ट करके जो दक्षिणा देनी है, वह तो ब्रह्मा को ही प्रदान की जाती है। इस कारण से ब्रह्मा को जो दक्षिणा दी जाती है, वह सर्व दक्षिणा का अवरोध करती है। अन्य दूसरे ऋत्विक् गणों के आगमन के लिए लौकिक दान देना उचित है। क्रत्वर्थक दान उचित नहीं है॥ ७३॥

**अब वाजपेय याग में रथ का दान करने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( १९५५ ) यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात्॥ ७४॥**

**सूत्रार्थ—** यजुर्युक्ते = वाजपेय याग में यजुर्वेद युक्त रथ, अध्वर्योः = अध्वर्यु को जो देने में आये तो वह, दक्षिणा विकारः स्यात् = अन्य दक्षिणाओं का बाध (अवरोध) करता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि वाजपेय याग के अन्तर्गत यजुः से युक्त रथ (रथ विशेष) अध्वर्यु को प्रदान किया जाता है, वह अन्य दूसरी दक्षिणाओं का बाध करता है। जितने भी द्रव्य जो दक्षिणा के रूप में विहित (जाने जाते) हैं, वे सभी सत्तर की संख्या में होते हैं। यह यजुः युक्त रथ अध्वर्यु की अन्य दक्षिणा का बाधक है। यह इसलिए है कि इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में अध्वर्यु का भाग नहीं होता है)॥ ७४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष से समझाते हैं—**

**( १९५६ ) अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते॥ ७५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, श्रुतिभूतत्वात् = श्रूयमाण होने से, सर्वासाम् = सर्व दक्षिणा की प्राप्ति होने से, तस्य = अध्वर्यु के, भाग:नियम्यते = भाग का नियमन किया जाता है।

**व्याख्या—** सामान्य वचन से सभी रथ श्रुतिभूत हैं; क्योंकि सप्तदश-रथ सभी को अविशेषतया प्राप्त होते हैं। वाजपेय यज्ञ में श्रुति द्वारा सप्तदश रथ आदि बहुत सी दक्षिणाओं का नियम है। इनमें यजुष् युक्त रथ अध्वर्यु को, ऋग्युक्त रथ होता को तथा सामयुक्त रथ उद्गाता को प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त शेष का सभी में यथायोग्य विभाग हुआ, अतः यजुष् युक्त रथ किसी का बाधक नहीं है॥ ७५॥

**॥ इति दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥**

# ॥ अथ दशमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**आचार्य अग्न्यादि में नारिष्ठ होम आदि के सहित नक्षत्रेष्ट्यादि के समुच्चय को अगले दो सूत्रों में प्रतिपादित करते हैं—**

## ( १९५७ ) प्रकृतिलिङ्गासंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिलिङ्गासंयोगात् = प्रकृति के कार्य के साथ संयोग न होने से, कर्मसंस्कारम् = अदृष्ट फलक है, विकृतौ = इससे विकृति में, अधिकं स्यात् = समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि नारिष्ठादि उपहोमों का प्रकृति के कार्य के साथ संयोग नहीं होता है। वह अदृष्टफल वाला है। अतः उसका (कर्म संस्कार) विकृति में समुच्चय होता है॥ १ ॥

**अगले सूत्र में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति लिङ्ग में संयोग होने पर उसके विकार की स्थिति बन जाती है—**

## ( १९५८ ) चोदना लिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात्॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** चोदना लिङ्गसंयोगे = प्राकृत विधि में संयोग होने से, प्रकृतिसन्निधानात् = विधि घटक शब्द सन्निधान होने पर, तद्विकारः प्रतीयेत = उनके बाध अर्थात् विकार की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्राकृत विधि में संयोग होने से भी यदि बाधक लिङ्ग वाक्य हों, तो विकृति में-प्रकृति में विहित अर्थ का बाध (विकार) होता है। उदाहरणार्थ-जैसे 'शरमयं बर्हिर्भवति' अर्थात् यहाँ पर बर्हि के स्थान पर शर नामक कुश (घास) रखने का नियम है। इससे बर्हि का शर से विकार है, वैसे ही उपर्युक्त सूत्र में भी होता है। वहाँ पर भी कोई लिङ्ग वाक्य नहीं है, अतः वहाँ पर तो समुच्चय ही अभीष्ट है॥२॥

**बृहस्पति सत्र आदि में विविध ग्रहों के समुच्चय को आचार्य अगले तीन सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—**

## ( १९५९ ) सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** सर्वत्र तु = जहाँ पर सभी स्थलों में, ग्रहाम्नातम् = ग्रहों का वर्णन किया गया हो, प्रकृतिवत् = प्रकृति याग की भाँति, अधिकम् = वहाँ पर प्राकृत ग्रहों से अधिक, स्यात्= समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार से प्रकृति याग में 'ग्रहं गृह्णाति' आदि वाक्यों के द्वारा समुच्चय माना जाता है, उसी प्रकार से सभी स्थलों में 'बृहस्पति-सव' आदि विकृतियागों में ग्रहों का उल्लेख होने से बृहस्पति ग्रहों के साथ इन्द्र, वायु, मैत्रावरुण आदि ग्रहों का समुच्चय होता है, विकार (बाध) नहीं होता; क्योंकि प्राकृतविधि में संयोग होना भी प्रत्यक्ष श्रवण की भाँति ही प्रमाण है॥ ३ ॥

## ( १९६० ) अधिकश्चैकवाक्यत्वात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** च = और, एकवाक्यत्वात् = एक वाक्यता होने से, अधिकः = समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि एकवाक्यता के होने से भी समुच्चय होता है। वाजपेय यज्ञान्तर्गत 'सप्तदश-प्राजापत्याग्रहं गृह्यन्ते सोमग्रहांश्च सुराग्रहांश्च गृह्णाति' इस वाक्य के द्वारा भी प्रतीत होता है कि एक वाक्यता से भी समुच्चय होता है; क्योंकि ये सभी सप्तदश ग्रह ग्रहणीय हैं॥ ४॥

## ( १९६१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य के दर्शन से भी समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि (अन्य) प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी समुच्चय होता है। 'विरण्यो वा एष यज्ञक्रतुर्यद् वाजपेय इति' अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि की अपेक्षा यह याग विरण्य है। विरण्य शब्द यज्ञ-क्रतु के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा विरण्य शब्द विस्तीर्ण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, यह विरण्य शब्द भी समुच्चय को ही बतलाता है॥ ५ ॥

अब आचार्य अगले दो सूत्रों में वाजपेय याग में पशुओं एवं अनुयाजों के समुच्चय को स्पष्ट करते हैं—

**( १९६२ ) प्राजापत्येषु चाम्नानात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, आम्नानात् = उल्लेख होने से, प्राजापत्येषु = प्राजापत्य पशुओं के साथ भी समुच्चय है।

**व्याख्या—** सूत्रकार आगे कहते हैं कि उल्लेख होने से वाजपेय यागान्तर्गत उपदिष्ट प्राजापत्य पशुओं के सहित अतिदिष्ट क्रतु पशुओं का भी समुच्चय होता है। वाजपेय याग में जब पशुओं का दान किया जाता है, तब उसमें प्राकृत पशुओं का समुच्चय होता है। 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति नाग्निष्टोमो नोक्थ्य इत्यारभ्य तान् पशुभिरेवावरुन्धे।' यहाँ पर, इस वाक्य द्वारा समुच्चय स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है॥ ६॥

**( १९६३ ) आमने लिङ्गदर्शनात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य होने के कारण, आमने = आमन में भी समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि लिङ्ग वाक्य होने अर्थात् प्रमाणों की उपलब्धि से 'सांग्रहणी' इष्टि में अनुयाजों का 'आमन' होमों के साथ समुच्चय होता है; क्योंकि वहाँ इस अर्थ को बहिरात्मा व 'प्रयाजानुयाजा' इत्यादि का उल्लेख लिङ्ग वाक्य द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार लिङ्ग वाक्य से आमन होमों का अनुयाजों के साथ समुच्चय स्पष्ट रूप से सूचित होता है॥ ७॥

महाव्रत में ऋत्विक् के उपगान का पत्न्युपगान के साथ समुच्चय है। इस प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—

**( १९६४ ) उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** उपगेषु = उपगान करने वालों में, शरवत् स्यात् = दर्भ में जैसे शर बाधक होता है, प्रकृतिलिङ्ग संयोगात् = वैसे ही प्राकृत उपगान के साथ संयोग (सम्बन्ध) होने से समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि उपगान करने वालों में शर की भाँति प्राकृत लिङ्ग के साथ संयोग होने से जिस प्रकार दर्भ में शर बाधक होता है, उसी प्रकार पत्न्युपगान भी बाधक होता है। 'महाव्रत' में प्रायः इस प्रकार से सुनने में आता है कि 'पत्न्युपगायन्ति' अर्थात् पत्नियाँ उपगान करती हैं। यह उपगान प्रकृति याग में ऋत्विज् के उपगान का बाधक है॥ ८॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष से समझाते हैं—

**( १९६५ ) आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** अधिकं स्यात् = उपगान के साथ समुच्चय होता है, आनर्थक्यात् तु = (वीणा आदि से तुलना) अनर्थक होने से।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि बाध अर्थरहित होने से ऋत्विक् उपगान के साथ पत्नियों के उपगान का समुच्चय होता है। यदि विकार मानें, तो वीणा आदि से जो उपगान किया जाता है, वह भी अर्थरहित हो जायेगा॥ ९॥

अञ्जन एवम् अभ्यञ्जन संस्कार में समुच्चय की बात आचार्य अगले दो सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—

**( १९६६ ) संस्कारे चान्यसंयोगात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारे = अञ्जन एवम् अभ्यञ्जन संस्कार में, अन्यसंयोगात् = अन्य संयोग अर्थात् दीक्षाकाल तथा सुत्याकाल का संयोग होने से समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अञ्जनाभ्यञ्जन संज्ञक पचास दिन में सिद्ध होने वाला एक सत्र है। उसमें दो वाक्य मिलते हैं 'गौग्गुलवेन प्रातः सवने समञ्जते' एवं 'नवनीतेन अभ्यञ्जते'। उक्त प्रथम वाक्य से प्राकृत नवनीताञ्जन का बाध होता है। इस प्रकार की शंका के समाधान में यह कहा गया है कि प्राकृत

नवनीताञ्जन का विकार नहीं होता, किन्तु उसका संयोग-समुच्चय होता है; क्योंकि एक दीक्षाकालिक है और दूसरा सुत्याकालिक। इस तरह से काल का भेद होने के कारण विकार का अवसर प्राप्त नहीं होता॥ १०॥

**( १९६७ ) प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयाजवत् इति चेत् = प्रयाज जैसे भिन्न कालिक होने पर भी विकार होते हैं, वैसे यहाँ पर भी विकार होंगे, यदि ऐसा कहा जाये तो, न अर्थान्यत्वात् = भिन्न कार्य होने से बाध नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रयाजवत् भिन्न कालिक होने से इसका विकार होता है, यदि इस प्रकार कहें, तो यह उचित नहीं; क्योंकि पृथक् कार्य होने से विकार नहीं हो सकता। नवनीत के अञ्जन से त्वचा में मृदुता आ जाती है तथा गौग्गुलव अञ्जन से शैत्य (शीतलता) आ जाती है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् कार्य होने से यहाँ विकार नहीं माना जा सकता, वरन् समुच्चय ही होगा॥ ११॥

**महाव्रत में अहतवासस् का व्रत आदि के साथ समुच्चय है। इस प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९६८ ) आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** आच्छादने = आच्छादन में, ऐकार्थ्यात् = एक प्रयोजन होने से, तु = तो, प्राकृतस्य = प्राकृत अहतवासस् (कोरे वस्त्र) का, विकारः स्यात् = विकार होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि 'महाव्रत' में प्रायः सुना जाता है कि-'तार्प्यं यजमानम् परिधापयाते' अर्थात् यजमान को तार्प्य अर्थात् 'घृताक्तकम्बलस्तार्यम्' (घृत से भीगा कम्बल) पहनना (ओढ़ना) चाहिए। प्रकृति में अहतवासस् अर्थात् कोरा वस्त्र धारण करने का नियम है। अतः अतिदेशशास्त्र से प्राप्य अहतवासस् के साथ तार्प्य का महाव्रत में विकार होता है, यह मानना चाहिए; क्योंकि दोनों वस्त्रों का आच्छादन-रूप एक ही उद्देश्य है। अतः एक की ही जरूरत है, दोनों की एक साथ नहीं ॥ १२॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९६९ ) अधिकं वाऽन्यार्थत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अन्यार्थत्वात् = भिन्न प्रयोजन होने से, अधिकम् = समुच्चय है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि 'महाव्रत ' में तार्प्य (घृत से सराबोर) आदि वस्त्रों का प्रकृतियाग के अहत-कोरे वस्त्रों के साथ समुच्चय भिन्न प्रयोजन होने से होता है। ऐसा परिद्धत्ते (धारण करता है) शब्द द्वारा प्रकट होता है अर्थात् यह अवयव सिद्धि से होता है॥ १३॥

**( १९७० ) समुच्चयं च दर्शयति॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, समुच्चयम् = कई वस्तु समुच्चय है, इसे ही उक्त कथन, दर्शयति = दिखलाता है।

**व्याख्या—** आचार्य आगे कहते हैं कि 'वास' (वस्त्र) शब्द के बहुवचनान्त प्रयोग से समुच्चय (समूह) की बात स्वतः सिद्ध हो जाती है॥ १४॥

**रथन्तर साम का श्लोकादि साम के साथ समुच्चय होता है-अब आचार्य यह स्पष्ट करते हैं—**

**( १९७१ ) सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** सामसु = सामगान में, अर्थान्तरश्रुतेः = प्राकृत साम के साथ, अविकारः प्रतीयेत = विकार रहित समुच्चय की प्रतीति होती है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि सामगान में प्राकृत साम के साथ समुच्चय की प्रतीति होती है। महाव्रत में इस प्रकार से सुनने को मिलता है कि- 'श्लोकेन पुरस्तात् सदसः स्तुवन्ति' यहाँ इस वाक्य से यह मालूम होता है कि श्लोक साम के द्वारा प्राकृत, रथन्तर आदि साम का बाध (विकार) होना चाहिए, किन्तु विकार न होकर

समुच्चय ही होता है। श्लोकादि साम के द्वारा नवीन स्तुति ही जानी जाती है, इससे रथन्तर आदि साम के साथ श्लोकादि साम का विकार न होकर समुच्चय की ही प्रतीति होती है॥ १५॥

**अब आचार्य समझाते हैं कि प्राकृत सामगान का कौत्सादि से निवारण होता है—**

**( १९७२ ) अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, अर्थे = प्राकृतफल के, अश्रूयमाणे = श्रूयमाण न होने पर भी, शेषत्वात् = शेष रहने से, प्राकृतस्य = प्राकृत सामगान का, विकारः स्यात् = विकार होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि किसी प्रकृति विशेष में ऐसा सुनने को मिलता है कि 'कौत्सं भवति, भर्ग यशसी भवतः'। इस विकृति गत वाक्य द्वारा अतिदेश से प्राकृत सामगान का बाध (विकार) होता है। 'स्तुवते' ऐसा क्रिया पद उपर्युक्त वाक्य में नहीं है; परन्तु सामगान पात्रक्रतु के अंगभूत ही होता है, इसलिए विकृति सामगान द्वारा ऋचा का संस्कार हो जाता है, प्राकृत साम द्वारा जो भी कर्म करने होते हैं, वे सभी कार्य विकृतिगत सामगान से सम्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार कौत्स आदि विकृति सामगान द्वारा प्राकृत सामगान का निवारण होता है॥ १६॥

**इस प्रकरण में पूर्वपक्ष की ओर से शङ्का व्यक्त की जाती है—**

**( १९७३ ) सर्वेषामविशेषात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = विशेष कुछ भी न होने से, सर्वेषाम् = विकृति पाठ सभी साम गानों का निवर्त्तक है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि विकृत पाठ से किस प्राकृत पाठ का निवारण होता है। इस सन्दर्भ में विशेष प्रमाण उपलब्ध न होने से विकृति पठित साम प्रकृति-पठित सभी सामों का ही निवर्त्तक होता है॥१७॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को सिद्धान्त पक्ष से समझाते हैं—**

**( १९७४ ) एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, एकस्य = एक साम एक का निवर्त्तक है। श्रुतिसामर्थ्यात् = एकवचनादि श्रुति के बल से, च = और, प्रकृतेः = प्राकृत सामों का, अविकारात् = विकार न होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्राकृत साम का ग्रहण न होने से श्रुति की सामर्थ्य होने के कारण एक साम एक का ही निवर्त्तक होता है। श्रुति के अनुसार जहाँ पर एक श्रूयमाण होता है, वहाँ एक का ही निवर्त्तक होता है॥ १८॥

**इस सूत्र में आचार्य विवृद्ध और अविवृद्ध नाम वाले क्रतुओं में बाध या समुच्चय की मर्यादा समझाते हैं—**

**( १९७५ ) स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** स्तोमविवृद्धौ = स्तोम की जहाँ वद्धि हो, उस क्रतु में, तु अधिकं स्यात् = प्राकृत साम और विकृत साम का समुच्चय होता है, इतरस्य = दूसरों का, अश्रुतित्वात् = श्रवण न होने से, अविवृद्धौ = जिस क्रतु में सोम की वृद्धि न बताई गई हो, द्रव्यविकारः स्यात् = वहाँ साम का बाध, होता है।

**व्याख्या—** उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस क्रतु में स्तोम की वृद्धि होती है, उसमें प्रकृति और विकृति सामों का समुच्चय होता है। दोनों का श्रवण न होने से आगम के द्वारा संख्यापूर्ति की जाती है। जिस क्रतु में स्तोम का विकास नहीं होता, वहाँ साम रूपी द्रव्य का विकार (बाध) होता है; क्योंकि वहाँ इतर श्रुति नहीं होती है। यहाँ सूत्र में साम को द्रव्य कहा गया है। मीमांसकों के मत में शब्द द्रव्य है, यथा- 'मीमांसकमते शब्दस्य द्रव्यरूपत्वे गमकमिदम्'॥ १९॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य विवृद्ध और अविवृद्ध स्तोम वाले क्रतुओं का पवमान स्तोत्रों में ही साम के आवाप और उद्वाप का अनुशासन समझाते हैं—**

## ( १९७६ ) पवमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** तस्मिन् = स्तोमों में, आवापोद्वापदर्शनात् = आवाप और उद्वाप दर्शन के आधार पर, पवमाने = पवमान स्तोम में, स्याताम् = आवाप और उद्वाप होते हैं।

**व्याख्या—** उक्त प्रकरण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो विवृद्ध स्तोमक क्रतु है, वहाँ अनिवृत्ति और जो अविवृद्ध स्तोमक है, वहाँ निवृत्ति होती है। उनमें कहीं पर आवाप (स्तोत्र में वृद्धि) और कहीं पर उद्वाप (स्तोम में कुछ घटाना) होता है; किन्तु पवमान में आवापोद्वाप दोनों ही होते हैं॥ २०॥

## ( १९७७ ) वचनानि त्वपूर्वत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वचनानि तु = वचन भी, अपूर्वत्वात् = न्याय के अभाव में निर्णायक हैं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि न्याय (दलील) के अभाव में वचन ही निर्णायक होते हैं। अत: इससे पवमान स्तोत्रों में ही आवापोद्वाप-स्थान हो सकता है। इस कारण से पवमान में ही गायत्री आदि छन्दों में सामगान के आवाप और उद्वाप को समझ लेना चाहिए॥ २१॥

**आचार्य अगले तीन सूत्रों में यागादि में विधिगत एवं देवतापरक शब्दों के उच्चारण-प्रयोग का अनुशासन समझाते हैं—**



## ( १९७८ ) विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भाव: स्यात्तेन चोदना॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे = मन्त्र में देवता वाचक शब्द का उल्लेख तथा, तेन चोदना = उस विधिगत शब्द का विधान होने से, भाव:स्यात् = याग और निर्वाप में इसी शब्द का उच्चारण होना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि मन्त्र-सम्बन्धी देवतावाची शब्द का उच्चारण विधिगत ढंग से ही होना चाहिए। जैसे-'अग्नये स्वाहा' की जगह 'पावकाय स्वाहा' नहीं पढ़ना चाहिए॥ २२॥

## ( १९७९ ) शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते॥ २३॥

**सूत्रार्थ—**शेषाणाम् वा = अथवा और शेष मंत्रों में भी, चोदनैकत्वात् = विधि की एकरूपता होने से, तस्मात् = उससे, सर्वत्र = समस्त स्थलों पर, श्रूयते = विधिगत शब्दों का प्रयोग होना ही अभीष्ट है, ऐसा सुना जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि शेष मंत्रों में भी विधि की एकरूपता होने से सभी स्थानों पर विधिगत शब्दों का ही प्रयोग श्रवणीय है। अतिदेश स्थलों में विधिगत जो शब्द होता है, उसके द्वारा ही देवता शब्द (तत्त्व) का अभिधान होता है॥ २३॥

## ( १९८० ) तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात्॥ २४॥

**सूत्रार्थ—** तथा = इस प्रकार से, उत्तरस्यां = सौर्यादि विकृति याग में भी, तत्प्रकृतित्वात् = उनकी दर्शपौर्णमास जैसी प्रकृति होने से, ततौ = उसी प्रकार शब्द का नियमन होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उक्त कथन की भाँति ही सौर्यादि विकृति याग में भी शब्द का नियमन होता है; क्योंकि वह दर्शपौर्णमास प्रकृतिवाला है। जहाँ पर मात्र अर्थ ही अभीष्ट हो, तो वहाँ पर्याय का प्रयोग होता है; किन्तु जहाँ पर शब्द भी विवक्षित हो, वहाँ पर तो शब्द परिवर्तित नहीं हो सकता है॥ २४॥

**आधान में अग्नि का सगुण में अभिधान है। इस प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

## ( १९८१ ) प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात्॥ २५॥

**सूत्रार्थ—** प्राकृतस्य = प्राकृत अग्नि की, गुणश्रुतौ = गुण श्रुति में, सगुणेन अभिधानं स्यात् = सगुण का ही अभिधान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्राकृत अग्नि की गुणश्रुति में सगुण अग्नि का अभिधान करना चाहिए। 'अग्नये पवमानायाष्टाकपालम्' इत्यादि श्रूयमाण होते हैं। अग्नि के साथ पावक अर्थात् जो पवित्र करने वाला शब्द है, वह अग्नि का गुणवाचक शब्द है। अत: देवता का अभिधान पावक गुण विशेष युक्त अग्नि के द्वारा करना चाहिए, मात्र अग्नि शब्द द्वारा नहीं॥ २५॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९८२ ) अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अविकार: = एक मात्र अग्नि शब्द का प्रयोग करना, द्रव्यवत् = द्रव्य के सदृश, अर्थशब्दानपायात् = मात्र अग्नि शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का परित्याग नहीं होता है।

**व्याख्या—** आचार्य पूर्वपक्ष का कथन करते हुए कहते हैं कि गुण विशिष्ट सहित अग्नि शब्द का देवता-रूप में जहाँ प्रयोग हो, वहाँ पर भी मात्र अग्नि शब्द स्वयं ही देवता का अभिधान हो सकता है। जिस प्रकार उत्पत्ति वाक्य में गुण सहित द्रव्य का अभिधान होता है, पर त्याग आदि के समय केवल गुण-रहित द्रव्य का अभिधान इष्ट मान लेने में आता है। उसी प्रकार देवता के अभिधान में भी समझ लेना चाहिए॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त प्रकरण के संदर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९८३ ) आरम्भासमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** आरम्भासमवायात् = केवल अग्न्यादि पद का अर्थ उत्पत्ति वाक्य में असम्बद्ध होने से, च = और, अर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने = गुण विशिष्ट अग्न्यादि वचन का बोध दुरूह होने से, चोदितेन अभिधानं स्यात् = विधि वाक्य अनुसार ही अभिधान होना चाहिए, गुणशासनम् अनर्थकं स्यात् = अन्यथा गुण का उल्लेख करना निरर्थक हो जाता है।

**व्याख्या—**सिद्धान्तपक्ष का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि आरम्भ असमवाय होने के कारण विधिविहित गुणसहित ही शब्द का अभिधान करना चाहिए। कर्म में केवल स्वरूप द्वारा देवता का साधन भाव नहीं होता, बल्कि देवतार्थ का श्रुति समवायी होने से ही होता है। देवता और हवि का साक्षात् सम्बन्ध है। यदि गुण का अभिधान न किया जाये, तो गुण का उल्लेख ही निरर्थक हो जायेगा॥ २७॥

**( १९८४ ) द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थे विकार: सामर्थ्यात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्येषु = द्रव्यों में, आरम्भगामित्वात् = उत्पति वाक्य में गुणरहित द्रव्य भावना के साथ सम्बद्ध होने से, अर्थे विकार: सामर्थ्यात् = केवल निर्गुण द्रव्य का अभिधान इष्ट है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि द्रव्य के संदर्भ में तो केवल द्रव्य की भावना के अनुरूप ही द्रव्य का अभिधान होना इष्ट है। अत: यदि सगुण देवता भावना के साथ सम्बद्ध हो, तो सगुण देवता का ही कथन करना चाहिए और यदि भावना के साथ केवल देवता का सम्बन्ध हो, तो एक मात्र देवता का ही अभिधान करना चाहिए॥ २८॥

**पवमान इष्टियों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष अपनी शङ्का भिन्न प्रकार से व्यक्त करते हैं—**

**( १९८५ ) बुधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** पवमानवत् = पवमान इष्टि की तरह ही, बुधन्वान् = वैसे ही 'बुधन्वान् आग्नेय:' इस कथन में भी,

विशेषनिर्देशात् = अग्नि बुधन्वान् ऐसा विशेष निर्देश होने में गुण सहित अग्नि का ही अभिधान करना चाहिये।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि बुधन्वानाग्नेय: वाक्य में निर्देशानुसार बुधन्वान् शब्द अग्नि का विशेषण है, अत: पवमान इष्टि में जैसे 'पवमान अग्नि:' है, वैसे ही आज्य भागों में भी बुधन्वान् अग्नि ऐसा ही अभिधान होना उचित है॥ २९॥

**अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष से पूर्वपक्ष का समाधान देते हैं—**

**( १९८६ ) मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकार: स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्रविशेषनिर्देशात् = विशेष मन्त्र का निर्देश-वाचक होने से, न देवताविकार: स्यात् = देवता का विशेषण बुधन्वान् नहीं होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि बुधन्वान् पद अग्नि देवता का विशेषण नहीं है, वह केवल मन्त्र का विशेषण है। अत: पूर्वपक्ष के कथन के अन्तर्गत 'पवमान अग्नि:' का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह संगत नहीं है। अत: यहाँ गुणरहित (निर्गुण) देवता का अर्थात् केवल अग्नि का ही अभिधान करना चाहिए॥ ३०॥

**आनुबन्ध्य और वनस्पति याग के नियमों में पर्यायवाची शब्दों के सन्दर्भ में पूर्व कथन प्रस्तुत है—**

**( १९८७ ) विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपि भेद: स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति में, विधिनिगमभेदात् = विधि एवम् निगम में भेद होने से, विकृतौ अपि = विकृति में भी, तत्प्रकृतित्वात् = उसकी प्रकृति के अनुसार, भेद: स्यात् = भेद होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि विधि और निगम में भेद होने के कारण प्रकृति में और विकृति में भी तत्प्रकृतित्व होने से भेद होता है। ज्योतिष्टोमयाग में 'गौरनुबन्ध्य:' पाठ मिलता है। यहाँ 'गो' शब्द विधिगत है। अत: उसका विधान पर्यायवाची शब्द द्वारा भी हो सकता है॥ ३१॥

**उक्त प्रकरण के सन्दर्भ में आचार्य अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९८८ ) यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विप्रतिपत्ते: न चोदना = विधि वाक्य में प्रयुक्त शब्द को बदल कर बोलने के पक्ष में प्रमाण न होने से, यथोक्तम् = जैसा शब्द पाठ कहा गया हो, वैसा ही बोलना चाहिए।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष से आचार्य कहते हैं कि यथोक्त अर्थात् जिस प्रकार विधि में शब्द पाठ कहा गया हो, उसी विधि द्वारा अभिधान करना उचित है; क्योंकि विधि और निगम की प्रतिपत्ति हेतु, ऐसा कोई भी नियम नहीं है। यदि 'गो' शब्द विधिगत हो, तो 'गो' के अतिरिक्त उसके पर्यायवाची शब्द का पाठ ठीक नहीं है॥ ३२॥

**'अवभृथ में अग्नीवरुण दोनों देवताओं का अभिधान स्विष्टकृत् के साथ है।' इस प्रकरण को स्पष्ट करने हेतु पूर्वपक्ष का मत अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( १९८९ ) स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत॥३३॥**

**सूत्रार्थ—** स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे = प्रकृति के अन्तर्गत स्विष्टकृत् के देवता पृथक् होने से, तच्छब्दत्वात् = प्राकृत अग्नि अर्थ विशिष्ट शब्द होने के कारण, निवर्त्तेत = स्विष्टकृत् शब्द की निवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि उक्त प्रकरण में उल्लेख है- 'अवभृथे अग्नीवरुणौ स्विष्टकृतौ यजति' अर्थात्- प्रकृति में स्विष्टकृत् गुण विशिष्ट अग्नि देवता है। उसके ही एक देश से स्विष्टकृत् शब्द के स्थान पर 'अग्नि और वरुण' का नियम है तथा प्राकृत गुण का बाध किया गया है। अत: केवल अग्नीवरुण का अभिधान करना चाहिए, स्विष्टकृत् का नहीं करना चाहिए॥ ३३॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त प्रकरण सिद्धांत पक्ष से स्पष्ट करते हैं—

**( १९९० ) संयोगो वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थापत्तेः = स्विष्टं करोति अर्थ की प्राप्ति होने से, अभिधानस्य कर्मजत्वात् = स्विष्टकृत् शब्द क्रिया निमित्तक होने से, संयोगः = दोनों का संयोग होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धांत पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से पाचक शब्द क्रिया निमित्तक होता है, उसी प्रकार से स्विष्टकृत् शब्द भी क्रिया निमित्तक होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्विष्टकृत् शब्द के साथ ही अग्नि एवं वरुण देवता का संयोग होना चाहिए॥ ३४॥

यहाँ याग के साथ मन्त्रों में गुणलोप होने, न होने के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—

**( १९९१ ) सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणस्थाने यावदुक्तं स्यात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** सगुणस्य गुणस्थाने गुणलोपे = प्रकृति याग में गुण लोप का विधान होने पर, निगमेषु = मंत्रों में, गुणस्थाने = गुण के प्रसङ्ग में जैसी उक्ति हो, वैसा ही करना चाहिए, यावदुक्तं स्यात् = श्रुत के त्याग में जितने दोष हैं, उतने ही अश्रुत की कल्पना में दोष हैं। इसलिए याग में ही गुणों का लोप होना चाहिए, निगम आदि में नहीं।

**व्याख्या—**पूर्वपक्ष का कथन है कि प्रकृतितः स्विष्टकृत् अग्नि के सगुण स्थान में गुणलोप प्राप्त होने की स्थिति में निगमों-मन्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है, वही होता है। तात्पर्य यह है कि श्रुति वाक्य उपलब्ध होने से याग में तो गुणलोप करना चाहिए, किन्तु मन्त्रों के सन्दर्भ में वैसा कथन न होने से वैसा नहीं करना चाहिए। श्रुत के त्याग की तरह अश्रुत की कल्पना करना भी दोषपूर्ण है॥ ३५॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त प्रकरण के सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—

**( १९९२ ) सर्वस्य वैककर्म्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—**वा = अथवा, ऐककर्म्यात् = कर्म की एकता के कारण, सर्वस्य = सभी में गुण का लोप होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चूँकि स्विष्टकृत् एवं याग रूपी प्रयोग तो एक ही है, इसलिए याग की तरह और निगमों में भी गुण-रहित अग्निशब्द का अभिधान होना चाहिए॥ ३६॥

'अनुयाज में स्विष्टकृत् याग संस्कार कर्म है', इस प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

**( १९९३ ) स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात् प्रयोजनवदङ्गानामर्थसंयोगात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोजनवदङ्गानाम् अर्थसंयोगात् = समीपवर्ती अंग वाक्य में श्रूयमाण अर्थ के साथ संयोग प्राप्त करने से, स्विष्टकृत् आवापिकः = स्विष्टकृत् आवापिक संस्कार, अनुयाजे स्यात् = अनुयाज में होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि आज्य भाग और स्विष्टकृत् के बीच में जो आवाप स्थान होता है, उसे ही आवापिक स्विष्टकृत् याग संस्कार कहते हैं। उल्लेख शाबर भाष्य में भी मिलता है- 'अपि च द्विविधान्यंगानि आरादुपकारकाणि सामवायिकानि च। आरादुपकारकेभ्यः सामवायकानि गरीयांसि' अर्थात् समीपवर्ती उपकारक और सामवायिक दोनों प्रकार के अंगों का वाक्य में श्रूयमाण अर्थ के साथ संयोग होने से प्रयोजनवान् अग्नि के सदृश अनुयाज में स्विष्टकृत् आवापिक संस्कार होता है। अतः आवापिक स्विष्टकृत् याग सामवायिक-संस्कार कर्म है॥ ३७॥

अब 'दर्श और पूर्णमास में याज्या और पुरोनुवाक्या ऋचाओं के प्रकरण में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—

**( १९९४ ) अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** अन्वाह इति च = तिष्ठन् अन्वाह इत्यादि, शस्त्रवत् = शंसति इत्यादि के सदृश, चोदनान्तरात् = स्वतन्त्र विधि विहित होने से, कर्मस्यात् = प्रधान कर्म है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि दर्शपूर्ण मास याग में 'तिष्ठन् अन्वाह' इस वाक्य द्वारा याज्या ऋचा और पुरोनुवाक्या ऋचा का अनुवचन प्रमुख कर्म है। यदि यहाँ संस्कार कर्म होता, तो अन्वाह इस वचन की आवश्यकता नहीं होती। जब प्रधान कर्म हो, तभी 'अन्वाह' यह पद चरितार्थ हो सकता है। अत: यहाँ 'अन्वाह' पद प्रयुक्त होने से यह प्रधान कर्म है॥ ३८॥

**उक्त प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अगले दो सूत्रों में सिद्धांत पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( १९९५ ) संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, संस्कार: = संस्कार कर्म है, चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् = क्योंकि जो विहित वाचक शब्द है, वह दृष्टार्थ होना सम्भव है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि दर्शपौर्णमास के अनुयाजों में स्विष्टकृत् आहुति स्वतन्त्र कर्म न होकर मात्र संस्कार कर्म के लिये है। 'अन्वाह' संस्कारक कर्म का सूचक है अर्थात् देवता का स्मरण कराके संस्कारों का प्रादुर्भाव करता है। इसलिए जो विहित शब्द है, वह दृष्ट अर्थ का साक्षात्कर्ता है, अत: वह शब्द अपूर्व कर्म के लिये नहीं है। यदि यहाँ यह आशङ्का करें कि विधि न होने से वह दृष्टार्थक नहीं होता और दृष्ट अर्थ के लिये अपूर्व का कोई नियम-विधान नहीं होता, तो इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं॥ ३९॥

## ( १९९६ ) स्याद् गुणार्थत्वात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** गुणार्थत्वात् = गुणार्थक, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त आशङ्का उचित नहीं है। गुणार्थक होने से इष्ट अर्थ हेतु ही अन्वाह का कथन किया गया है, अस्तु 'तिष्ठन् अन्वाह' यह प्रधान कर्म नहीं; बल्कि यह संस्कार कर्म ही है॥ ४०॥

**'मनोता मन्त्र में ऊह नहीं होता।' इस अधिकरण ( प्रकरण )को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

## ( १९९७ ) मनोतायां तु वचनादविकार: स्यात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** मनोतायां तु = 'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता' इत्यादि प्रकृति गत मंत्र में, वचनात् = वचन होने से , अविकार: स्यात् = ऊह (कथन) करना नहीं होता।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि मनोता मंत्र (त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता) यह प्रकृतिगत मंत्र है । इस मंत्र के देवता अग्निदेव हैं। इस कारण इसे आग्नेयी ऋचा कहते हैं। वायव्य पशु में 'त्वं हि वायो' ऐसा ऊह (कथन)करना चाहिए। पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि पशु अन्य देवत्य है, इसलिये कि वह वायव्य पशु है और मनोता आग्नेयी है । पर वचन होने के कारण ऊह (कथन) करने में नहीं आता । अत: मनोता मन्त्रान्तर्गत बिना विकार किये ही उस कथन का पाठ करना उचित है॥ ४१॥

**'कण्वरथन्तर का गान स्वयोनि में होता है।' इस प्रकरण में पूर्वपक्ष का मत है—**

## ( १९९८ ) पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** पृष्ठार्थे = पृष्ठ स्तोत्रकार्य में, रथन्तरात् अन्यत् = रथन्तर से पृथक् जो कण्व रथन्तर साम है, ऋचां प्रविभक्तत्वात् = बृहद्योनि भूत ऋचा की निवृत्ति होने से, तद्योनिपूर्वत्वात् स्यात् = वह ज्योतिष्टोम प्रकृति होने से उसका गान रथन्तर योनि में करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि 'कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवति' अर्थात् वैश्यस्तोत्र में कण्व रथन्तर सामगान( पृष्ठ)

होता है। पृष्ठार्थ में अन्यरथन्तर होने से पृथक् जो कण्वरथन्तर- सामविहित है, वह ज्योतिष्टोम प्रकृति वाला होने से रथन्तर योनि में गान करना चाहिए। बृहद् पृष्ठ की योनिभूत ऋचा के पृथक् होने से उसमें गायन नहीं करना चाहिए॥ ४२॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के दोष व्यक्त करते हैं—**

## (१९९९) स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, सर्वाख्यत्वात् = कण्वरथन्तर शब्द सामविशेष में रूढ़ होने से, स्वयोनौ = उसका गान अपनी ही योनि (ऋचा) में करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के कथन में दोष बताते हुए आचार्य कहते हैं कि सर्वविशिष्टता से युक्त का रथन्तर शब्द वाचक होने से स्वयोनि अर्थात् उसकी जो योनि (ऋचा) है, उसी में कण्वरथन्तर नाम का सामगान होना चाहिए॥ ४३॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्षी की आशङ्का प्रस्तुत करते हैं—**

## (२०००) यूपवदिति चेत्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** यूपवत् = यूप के समान अनुशासन इसमें भी है, इति चेत् = ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न है कि जिस प्रकार यूप शब्द संस्कार को निमित्त करके प्रवृत्त होता है। (चाहे जिस काष्ठ या वृक्ष को यूप नहीं कहा जाता है) उसी प्रकार प्राकृतरथन्तर सम्बन्धी जितने भी धर्म हैं, उन सबमें रथन्तर शब्द प्रवृत्त होता है। अत: कण्वरथन्तर का गान भी सामरथन्तर की योनि में ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहें, तो?॥ ४४॥

**उक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में—**

## (२००१) न कर्मसंयोगात्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** कर्मसंयोगात् = कर्म के संयोग से, न = प्रवृत्त नहीं हुआ।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि उक्त कथन उचित नहीं है। कर्म के संयोग द्वारा काष्ठ-यूपता होती है। कोई भी काष्ठ यूप नहीं होता। जहाँ संस्कार है, वहीं यूप है । वैसे ही यहाँ विशेषण विशिष्ट रथन्तर शब्द लोक में है। अत: सांविज्ञापिक कण्वरथन्तर शब्द स्वयोनि (अपनी ऋचा) में ही गीयमान होता है॥ ४५॥

**'कण्वरथन्तर साम की जो ऋचा हो, उसके पीछे अन्य दो ऋचाओं में गान करना चाहिए।' इस प्रकरण को स्पष्ट करने हेतु पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## (२००२) कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** कार्यत्वात् = सामगान रूपी कार्य , उत्तरयो: = प्रथम के अतिरिक्त दूसरी ऋचा में, यथाप्रकृति = उनकी अपनी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि सामगान तृच (तीन ऋचाओं) में होता है। पूर्वपक्ष का कहना है कि कण्वरथन्तर सामगान हेतु एक ऋचा तो उसकी स्वयं की होती हैं; किन्तु दूसरी दो उत्तर ऋचाएँ जो अपेक्षित हैं, उनका गान उनकी अपनी प्रकृति के अनुसार किया जाना चाहिए॥ ४६॥

**अब अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हैं—**

## (२००३) समानदेवते वा तृचस्याविभागात्॥ ४७॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तृचस्य = तृच अर्थात् तीन ऋचाओं का, अविभागात् = विभाग नहीं होता, समानदेवते = इस सम्पूर्ण तृच का एक ही देवता होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि विधान के अनुसार 'एकं साम तृचे क्रियते' अर्थात् एक सामगान 'तृच' (तीन ऋचाओं का समूह) में करना चाहिए। इन तीन ऋचाओं का देवता और छन्द-दोनों एक ही होने से उसमें विभाग नहीं किया जाता॥ ४७॥

**'अग्निष्टुद् याग में स्तुत तथा शस्त्र मंत्रों में ऊह नहीं होता।' यह अधिकरण अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

**( २००४ ) ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** ग्रहाणाम् = ग्रहों के, देवतान्यत्वे = देवता स्तुत शस्त्र मंत्र के देवता से पृथक् होने पर भी, स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वात् = स्तोत्र एवं शस्त्र प्रधान कर्म होने से, अविकारः स्यात् = ऊह नहीं होता है।

**व्याख्या—** मन्त्रों का गान किये बिना जो स्तुति होती है, उसे शस्त्र कहते हैं तथा मन्त्रों का गान करके जो स्तुति होती है, उसे स्तोत्र कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि ग्रहों का देवता स्तुत शस्त्र मंत्र के देवता से पृथक् होने पर ऊह नहीं होता है। ये स्तोत्र एवं शस्त्र प्रधान कर्म होते हैं। ये संस्कारक कर्म नहीं होते हैं। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में भी स्तोत्र एवं शस्त्र प्रमुख कर्म हैं, ऐसा सिद्धान्त रूप में कहा गया है॥ ४८॥

**'चातुर्मास्य याग में आज्य एवं दधि के कथन के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष कहते हैं—**

**( २००५ ) उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** निगमेषु पातव्यस्य उपलक्षणत्वात् = मंत्र में जो पीने योग्य पदार्थ है, उसका उपलक्षण है (अस्तु), पृषदाज्ये = पृषदाज्य हविष् में , उभयपानात् = दही और घृत दोनों का पान होने से, दध्नः अपि उपलक्षणम् = दही का भी उपलक्षण समझना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि पृषदाज्य हविष् में जो पीने योग्य पदार्थ है, उसमें पठित वचन उपलक्षण दधि और आज्य दोनों का उपलक्षण है; 'यच्च त्यज्यते तत्पीयते' इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'आज्यपान् आवह' इस मंत्र में पृषदाज्य हविष् देते समय दही शब्द का भी ऊह होना उचित है। अतः 'दध्याज्यापान् आवह' यही बोलना चाहिए॥ ४९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष में दोष बतलाते हैं—**

**( २००६ ) न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, परार्थत्वात् = पर प्रत्यायक होने से  न = (मन्त्र में दोनों का प्रयोग) नहीं करना चाहिए, यज्ञपतिवत् = यज्ञपति के सदृश।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार से यज्ञपति अविकार से प्रयुज्यमान होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी पर-प्रत्यायक (अर्थात् दूसरे के लिए) होने से आज्य शब्द के प्रयोग से दधि भी समझ सकते हैं। जैसे-'कम्बुग्रीवादिमत्वं घटत्वम्' अथवा 'कपालजन्यत्वं घटत्वम्' इन दो लक्षणों में किसी भी एक के उच्चारण से घट पदार्थ समझा जाता है, उसी प्रकार से दोनों (आज्य एवं दधि) में से किसी भी शब्द के प्रयोग द्वारा देवता का स्मरण किया जा सकता है॥ ५०॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य पुनः पूर्वपक्ष को दृढ़तापूर्वक कहते हैं—**

**( २००७ ) स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आवाहनस्य तादर्थ्यात् = आवाहन पातृ एवम् पेय- दोनों का स्मरण होने से, स्याद् = दही  पद का प्रक्षेप करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि आवाहन पातृ और पेय दोनों का स्मारक होने के कारण दधि शब्द का भी प्रक्षेप करना चाहिए; क्योंकि आवाहन पातृ और पेय वे दोनों स्मरण कराने के लिए ही हैं। यज्ञपति के सदृश

यहाँ नहीं होता है; क्योंकि आवाहन तो स्मरणार्थ है, इसलिए पातृ एवं पेय-दोनों ही स्मरणीय हैं॥ ५१॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के कथन के सन्दर्भ में आचार्य सिद्धान्त पक्ष का उद्‌भाव व्यक्त करते हैं—**

## ( २००८ ) न वा संस्कारशब्दत्वात्॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** न वा = अथवा नहीं, संस्कारशब्दत्वात् = दही रूप अर्थ तो संस्कार के लिए ही है।

**व्याख्या—** सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यहाँ दधि का उपलक्षण नहीं होता; क्योंकि दधिरूपी अर्थ तो मात्र संस्कार के लिए ही है। जैसे आज्य प्रमुख है, वैसे दधि प्रमुख नहीं है। ऐसा तो आज्य में चित्रता रूप संस्कार लाने के लिए है । जिस प्रकार से आज्य का होम होता है, वैसे ही पृषदाज्य में दधि का हवन नहीं होता। अत: मंत्र में दधि शब्द का ऊह करके प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है॥ ५२॥

**अगले सूत्र में आचार्य पुन: पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( २००९ ) स्याद्वा द्रव्याभिधानात्॥ ५३॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्रव्याभिधानात् स्याद् = दही भी द्रव्य है, अस्तु; उसका भी ऊह होना चाहिए।

**व्याख्या—** पुन: पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'दधि' शब्द का भी प्रयोग करना उचित है; क्योंकि दधि भी द्रव्य की तरह से अभिहित होता (जाना जाता) है। 'पृषदाज्यम् गृह्णाति' अर्थात् पृषदाज्य को स्वीकार करते हैं। जब इस प्रकार से कहा जाता है, तब 'सर्पिश्चैव दधि द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजनम्' ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इन दोनों उद्धरणों से जाना जा सकता है कि आज्य की भाँति दधि शब्द का ही प्रयोग करना उचित है॥ ५३॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—**

## ( २०१० ) दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमा: स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ—** दध्न: तु गुणभूतत्वात् = दधि के गौण होने से, आज्यपा निगमा: स्यु: = निगमों में आज्य शब्द का ही प्रयोग होना उचित है। गुणत्वम् = दधि का गुणत्व है, श्रुते: आज्यप्रधानत्वात् = आज्य की प्रधानता तो श्रुति द्वारा जानी जा सकती है।

**व्याख्या—** उक्त पूर्वपक्ष के कथन का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि दधि शब्द गौण होने से मंत्रों में आज्य शब्द का प्रयोग होना उचित है । दधि का गुणत्व है; क्योंकि श्रुति में आज्य की प्रमुखता स्पष्ट रूप से कही गई है। 'पृषदाज्येन यजति' इस वाक्य-कथन में आज्य शब्द के निराकरण में तृतीय विभक्ति का श्रवण है। इस कारण आज्य याग का अंग है, ऐसा स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। दधि तो आज्य के संस्कार हेतु उचित है। इसलिए आज्य के तुल्य दधि नहीं है, इससे मंत्र में उसका ऊह (कथन) नहीं करना चाहिए॥ ५४॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्षी पुन: दधि की प्रधानता बतलाते हैं—**

## ( २०११ ) दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात्॥ ५५॥

**सूत्रार्थ—** दधि वा स्यात् प्रधानम् = अथवा दधि ही प्रधान है, आज्ये = आज्य के साथ प्रथमान्त्यसंयोगात् = प्रथम और अन्त में संयोग होने से ।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी पुन: कहते हैं कि आज्य में प्रथमान्त अर्थात् प्रथम और अन्त (बाद) में संयोग सम्बन्ध होने से दधि ही प्रधान है। इसलिए दधि का ही उपलक्षण करना उचित है। 'यदि च सत्रे यजेत द्विरुपस्तृणीयात् सकृदभिघारयेत्' अर्थात् इस तरह से पुरोडाश-हविष् में दो बार (समय)उपस्तरण और एक बार (समय) अभिघारण होना चाहिए । उपस्तरण पहले और अभिघारण बाद में होता है। इस प्रमुख संस्कार को व्यक्त करने वाला होने से दधि भी गौण न होकर प्रमुख ही है । अत: दधि का ही प्रयोग करना उचित है॥ ५५॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त दधि की प्रधानता वाले कथन के विषय में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०१२ ) अपि वाऽऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्द: स्यात्॥ ५६॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा आज्यप्रधानत्वात् = फिर भी आज्य ही प्रधान है, गुणार्थे भक्त्या व्यपदेशे = गुणार्थ होने से, उपस्तरण आदि भक्ति से, संस्कारशब्दः स्यात् = अतः दधि संस्कार के लिए है, इससे वह प्रमुख नहीं है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि याग के संयोग से प्रयोजन युक्त आज्य ही प्रमुख है। गुणार्थ होने से व्यपदेश में भक्ति से संस्कार शब्द उपस्तरण एवं अभिघारण करता है। उपस्तरण आदि शब्द अवदानार्थक हैं। अतः उनका प्रयोग लक्षणा के द्वारा किया जाता है। इसलिए दधि गौण है और आज्य प्रमुख है । इससे निगम में दधि शब्द का ऊह करके दधि का मंत्र में प्रक्षेप करना उचित नहीं है॥ ५६॥

**अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त कथन से पृथक् पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०१३ ) अपि वाऽऽख्याविकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, आख्याविकारत्वात् = संज्ञा का भेद होने से , तेन = उस संज्ञा का , उपलक्षणम् = मंत्र में प्रयोग, स्यात् = करना उचित है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि संज्ञा का भेद होने से उस संज्ञा का मंत्र में प्रयोग करना उचित है। आज्य में जब दही डालते हैं, तब वह पृथक् द्रव्य हो जाता है तथा उस द्रव्य का पृषत् नामकरण किया जाता है। इसलिए मंत्र में 'पृषदाज्यपान् देवान् आवह' इस प्रकार ऊह (कथन) करना चाहिए॥ ५७॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के कथन के सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०१४ ) न वा स्यादगुणशास्त्रत्वात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** न वा स्यात् = अथवा, भिन्न द्रव्य नहीं होता, गुणशास्त्रत्वात् = संस्कार जनक होने से, अर्थात् शास्त्र में गुण का विधान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि ऊह नहीं करना चाहिए; क्योंकि शास्त्र में गुण का विधान होता है। इसका भाव यह हुआ कि आज्यपान् शब्द के स्थान पर 'दधिपान्' नहीं कहना चाहिए। पृषदाज्य शब्द वाचक है; क्योंकि उसका उपचार-विधान होता है। वह उपचार लोक से ही जाना जाता है। वह गुण मात्र आज्य में होता है, अतः गम्यमान होता है। आज्यपान् में ऊह के अभाव जैसा प्रकृति में पाठ है, उसी तरह से प्रयोग करना चाहिए अर्थात् पृषदाज्य हविष् में 'आज्यपान् देवान् आवह' इसी तरह का प्रयोग करना ही उचित है॥ ५८॥

## ॥ इति दशमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

# ॥ अथ दशमाध्याये पञ्चमः पादः ॥

**दशम अध्याय के इस पाँचवें पाद में प्राकृत धर्मों में से एकदेश ( भाग ) के बाध पर विचार किया गया है। यहाँ प्रथम दो सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त पक्ष से मन्त्र समूह में से कुछ मन्त्रों के चयन कर अनुशासन समझाते हैं—**

**( २०१५ ) आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ-** आनुपूर्व्यवताम् = नियत क्रम वालों में, एकदेशग्रहणेषु = विकृति में जहाँ एक देश (एक भाग) का ग्रहण करना हो, अन्त्यलोपः = वहाँ अन्त के पदार्थों का लोप, स्यात् = होता है, आगमवत् = लोक समाज में जैसा होता है, उसी प्रकार।

**व्याख्या-** 'द्यावापृथिवीयमेककपालम् भवति, आश्विनं द्विकपालं, वैष्णवम् त्रिकपालम्' इस विकृति याग में प्रकृति याग में से आठ उपधान-मन्त्रों की ही प्राप्ति होती है। अब यहाँ आशङ्का होती है कि जब उनमें से कुछ ही मन्त्र लेते हैं, तो प्रारम्भ के मन्त्रों की निवृत्ति होनी चाहिए या अंतिम मन्त्रों की अथवा किसी भी मन्त्र की। सिद्धान्तवादी इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि नियत क्रम वालों में से जहाँ एकदेश अर्थात् अमुक एक भाग का ग्रहण करना हो, तो वहाँ आद्य (प्रारम्भिक) मन्त्रों का ग्रहण और अन्तिम की निवृत्ति करनी चाहिए। लोक-समाज में भी ऐसा ही प्रचलन देखा जाता है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार इस प्रकरण में प्रथम के एक-दो अथवा तीन मन्त्र का ग्रहण करके शेष मन्त्रों की निवृत्ति करनी चाहिए॥ १॥

**( २०१६ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २॥**



**सूत्रार्थ-** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य के पाये जाने से।

**व्याख्या-** इस निवृत्ति और ग्रहण-क्रम में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। 'आग्नेयं पञ्चकपालमुदवसानीयम्' इस स्थान पर पाँचवें कपाल का निर्वपन (ग्रहण) तथा छठवें कपाल का लोप दर्शाया गया है, पहले का नहीं होता है। अतः इस प्रमाण कथन से भी अन्तिम की निवृत्ति होती है, ऐसा स्पष्ट है॥ २॥

**उक्त सिद्धान्त पक्ष के कथन पर आशङ्का व्यक्त करते हुए आचार्य पूर्वपक्ष अगले तीन सूत्र कहते हैं—**

**( २०१७ ) विकल्पो वा समत्वात् ॥ ३॥**

**सूत्रार्थ-** वा =अथवा, विकल्पः = विकल्प है, समत्वात् = समान होने से।

**व्याख्या-** पूर्वपक्ष का कथन है कि आद्योपादान और अन्त्यलोप में कोई श्रुति न होने से दोनों समान होते हैं, अतः कभी प्रारम्भ का और कभी अन्तिम पदार्थ का लोप करना होता है॥ ३॥

**( २०१८ ) क्रमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ-** क्रमात् = काल्पनिक क्रम होने से, उपसर्जन = अप्रधान, अन्ते = अन्त में, स्यात् = होता है।

**व्याख्या-** पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि लोक-समाज का जो दृष्टान्त दिया गया है, वहाँ तो क्रम निर्धारित होता है; परन्तु जहाँ क्रम निर्धारित नहीं हो, वहाँ पर लोक समाज का दृष्टान्त देना उचित नहीं होता॥ ४॥

**( २०१९ ) लिङ्गमविशिष्टं संख्याया हि तद्वचनम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गम् = लिङ्ग वाक्य भी, अविशिष्टम् = विशिष्ट नहीं हो सकता, हि = कारण कि, तद्वचनम् = वह वचन तो, संख्यायाः = केवल संख्या का ही बोध कराता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि ऊपर जो लिङ्ग वाक्य कहा गया है, वह भी विशिष्ट नहीं है। अन्तिम संख्या ही होनी चाहिए, इस तरह का कोई नियम उक्त लिङ्ग वचन से ज्ञात नहीं होता। जैसे चार भाई हों और उनमें कोई भी एक दिखाई न दे, तो लोग यही कहते हैं कि तुम तीन तो हो, चौथा कहाँ गया? यहाँ चौथा कहाँ गया, यह कथन सबसे छोटे अथवा सबसे बड़े का वाचक है, ऐसा कुछ भी सुनिश्चित नहीं। अतः लिङ्ग वचन

भी अन्तिम की निवृत्ति करता है, ऐसा कुछ सुनिश्चित नहीं जान पड़ता है॥ ५॥

**अब मीमांसाकार उक्त पूर्व पक्ष की आशङ्काओं का समाधान करते हुए सिद्धान्त सूत्र कहते हैं—**

**( २०२० ) आदितो वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आदितो = प्रारम्भ से, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, स्यात् = होनी चाहिए, तदादित्वात् = कपालोपधान में मन्त्र करणक, आरम्भस्य = आरंभ होने से, वचनाद =(श्रुति) वचन से, अन्त्यविधिः = अन्त्यविधि, स्यात् = हो सकती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृति याग के क्रम में जब कपालों के उपधान का आरम्भ किया जाता है तब क्रमशः एक-एक मन्त्रोच्चारण कर एक-एक कपाल रखा जाता है, ऐसा ही विकृति याग में भी रखना होता है। अतः तीन कपालों का उपधान होने के पश्चात् कपाल के शेष न रहने के कारण बाद में उपधान भी नहीं होता। अस्तु; प्रारम्भ के तीन मन्त्रों की उपयोगिता के पश्चात् शेष रहे मन्त्रों की स्वतः निवृत्ति हो जाती है। परन्तु 'चतुरः प्रयाजान् यजति' ऐसे विधान में 'अपबर्हिणः प्रयाजान् यजति' ऐसा विशेष श्रुति वचन प्रमाण पाये जाने के कारण अन्त्यविधि भी हो सकती है; किन्तु जहाँ ऐसा वचन प्रमाण न प्राप्त हो, वहाँ प्रारम्भ का ग्रहण एवं अन्त्य का बाध होता है॥ ६॥

**अब एकत्रिक नामक याग में आद्यतृच ( प्रथम की तीन ऋचाओं का समूह ) में गान सम्बन्धी प्रकरण का आरम्भ करते हुए पूर्वपक्ष कहता है—**



**( २०२१ ) एकत्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनश्छन्दसां श्रुतिभूतत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** एकत्रिके = एकत्रिक नामक क्रतु में, माध्यन्दिनः = माध्यन्दिन पवमान, छन्दसाम् = ऋचाओं के छन्दों का, श्रुतिभूतत्वात् = प्रकृति में श्रुतिभूत होने से, तृचादिषु = तृचों (तीन ऋचाओं ) में प्रत्येक की प्रथम ऋचा में गान होता है।

**व्याख्या—** 'एकत्रिक' संज्ञक एक याग है, इसमें माध्यन्दिन पवमान के प्रकृति में जो तीन तृच विहित हैं, उनमें से प्रत्येक तृच की प्रथम ऋचा में गान होता है; क्योंकि श्रुति में तीन छन्दों का विधान पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'उच्चा ते जातम्' और 'प्रतुद्रवः' आदि यह गायत्री छन्द एवं त्रिष्टुप् छन्द में है और 'पुनानः सोमः' इत्यादि यह बृहती छन्द में है। अलग-अलग छन्द वाले यह जो तीन तृच बने हैं, उनमें से हर एक की पहली ऋचा लेकर उनमें सामगान करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्षवादी का मन्तव्य है॥ ७॥

**उक्त विषय में आगामी दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष स्पष्ट किया जा रहा है—**

**( २०२२ ) आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आदितः = आद्य तृच में ही गान करना चाहिए, तन्न्यायत्वात् = (कपाल उपधान की तरह) यही न्याय है, इतरस्य = अन्य प्रकार (पूर्वपक्ष के अनुसार करना) तो, आनुमानिकत्वात् = आनुमानिक है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि प्रथम तृच (प्रथम की तीन ऋचाओं का समूह) का ही गान करना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक तृच की ऋचा को लेकर उसमें गान करने का कोई श्रुति वचन नहीं है, अपितु वह मात्र आनुमानिक है। अतः पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं॥ ८॥

**( २०२३ ) यथानिवेशञ्च प्रकृतिवत्संख्यामात्रविकारत्वात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतिवत् = प्रकृति में जैसा क्रम है, यथानिवेशम् = उस प्रकार तथा जैसा तृच का निर्देश है, संख्यामात्रविकारत्वात् = उसी प्रकार प्रकृति निर्दिष्ट अन्य दो ऋचाओं का बाध होने से।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि प्रकृति में तृच का जो क्रमिक संनिवेश है, उसी प्रमाण के अनुसार प्रथम संख्या में रखी तृच उसके बाद की दोनों तृचों का बाध करती है। क्रमानुग्रह मुख्य है, अतः आद्य तृच में ही गान करना चाहिए॥ ९॥

**पूर्वपक्षवादी अब एक ऋचा में धूर्सामगान करने सम्बन्धी अधिकरण के सूत्र कहते हैं—**

## (२०२४) त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात्॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** धुर्ये = धूर्गान स्तोत्र में, त्रिकः = जो स्तोत्र है वह, तृचे = तीन ऋचाओं में, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** एकत्रिक नामक याग में किसी नियत स्थान पर धूर्गान का उल्लेख है, इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का कथन है कि धूर्साम गान त्रिक अर्थात् तीनों ऋचाओं में ही होना चाहिए॥ १०॥

**उपर्युक्त विषय में आचार्य सूत्रकार अब सिद्धान्त सूत्र कहते हैं—**

## (२०२५) एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्तोमस्य = स्तोत्र का, आवृत्तिधर्मत्वात् = आवृत्ति धर्म होने से, एकस्याम् = एक ऋचा में गान होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'आवृत्तम् धूर्षु स्तुवते' इस वचन प्रमाण से यह स्पष्ट होता है कि धूर्गान में स्तोम (स्तुति) की आवृत्ति होती है। आवृत्ति स्तुति का विशेषण है। यदि स्तुति की ऋचाएँ अलग-अलग मानी जाएँ, तो प्रत्येक ऋचा के अनुसार अलग-अलग अर्थ होने के कारण आवृत्ति का बाध होगा। अस्तु; एक ही ऋचा की आवृत्तिपूर्वक धूर्सामगान होना चाहिए॥ ११॥

**द्विरात्रादि यागों में दशरात्र का विध्यन्त होने के बारे में सिद्धान्त पक्ष द्वारा अगले दो सूत्र प्रस्तुत हैं—**

## (२०२६) चोदनासु त्वपूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** चोदनासु = प्राप्त नियमों के अनुसार, तु = तो, अपूर्वत्वात् = पूर्व का सम्बन्ध न होने से, लिङ्गेन = द्विरात्र सन्दर्भ में जो लिङ्ग वचन है, धर्मनियमः = उससे धर्म का नियम बँधता है।

**व्याख्या—** द्विरात्र याग अर्थात् दो रात्रियों वाला यज्ञ। यह द्वादशाह संज्ञक यज्ञ का विकार है। अब द्वादशाह में से कौन सी दो रात्रियाँ द्विरात्र की गिनती में मानी जायें- प्रथम दो या कोई अन्य दो? इस सम्बन्ध में सिद्धान्त मत है कि द्वादशाह याग में प्रथम दिवस के सिवाय अन्य दो दिनों में जो नियम-विधि की जाती है, वही द्विरात्र नामक याग में भी करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा लिङ्ग वचन पाये जाने से भी स्पष्ट होता है॥ १२॥

## (२०२७) प्राप्तिस्तु रात्रिशब्दसम्बन्धात्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** प्राप्तिः तु = धर्म की प्राप्ति तो, रात्रिसम्बन्धात् = रात्रि का सम्बन्ध होने से समझी जाती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि रात्रि (द्विरात्रम्, दशरात्रम्) का सम्बन्ध दोनों स्थानों पर है। अस्तु; द्वादश-रात्र के धर्म की द्विरात्र में प्राप्ति होती है॥ १३॥

**'सप्तभिराधुनोति' इस वचन की सार्थकता के सम्बन्ध में आगामी सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—**

## (२०२८) अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थवत्त्वात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** अपूर्वासु तु = विधि विहित, संख्यासु = संख्याओं में, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है, सर्वासाम् = सभी ऋचाओं का, अर्थवत्त्वात् = अर्थ (फल) होने से।

**व्याख्या—** मीमांसाकार का कथन है कि महाग्निचयन में 'या जाता' आदि बीजावाप मन्त्र चौदह से अधिक संख्या में हैं, जिनमें से किन्हीं सात मन्त्रों के द्वारा अग्नि धुनन रूपी अनुष्ठान सम्पन्न किया जा सकता है; क्योंकि समस्त ऋचाओं के पाठ का फल है, निष्फल कोई नहीं॥ १४॥

**पूर्वपक्ष अब विवृद्ध स्तोम में अप्राकृत साम मन्त्रों का आगम होने सम्बन्धी अधिकरण के सूत्र कहते हैं—**

**( २०२९ ) स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संख्यापूरणमधिकारात्संख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** स्तोमविवृद्धौ = स्तोम की जहाँ वृद्धि होती है वहाँ, अधिकारात् = सन्निधान होने से, गुणशब्दत्वात् = एकविंशति संख्या शब्द गुणशब्द होने से, च = और, अन्यस्य = अप्राकृत ऋचाओं के, अश्रुतित्वात् = अशास्त्रीय होने से, प्राकृतानाम् = प्रकृत (प्रस्तुत प्रकरण) में विहित साम ऋचाओं के, अभ्यासेन = अभ्यास से, संख्यापूरणम् = संख्या की पूर्ति की जाती है।

**व्याख्या—** किन्हीं क्रतुओं (यज्ञों) में स्तोम की भी वृद्धि देखी जाती है, ऐसे स्थान पर पूर्वपक्षवादी के कथन का भाव यह है कि प्रकृति याग में तो तीन, पन्द्रह या सत्तर ऋचाएँ विहित हैं, तो फिर संख्या की पूर्ति प्रकृतिगत किसी भी साम ऋचा की आवृत्ति द्वारा की जानी उचित है, न कि आप्रकृत (प्रकृति से बाहर) के किसी अन्य साम ऋचा द्वारा॥ १५॥

**अब उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण आचार्य अगले चार सूत्रों में करते हैं—**

**( २०३० ) आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** 'वा' = अथवा, अभ्यासात् = आवृत्ति (अभ्यास) का, अश्रुतित्वात् = श्रवण न होने से, आगमेन = प्रकृति से बाहर के मन्त्र लाकर संख्या पूर्ति करना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि प्रकृति में साम ऋचाओं की विकृति में अतिदिष्ट होने के पश्चात् भी यदि संख्या की पूर्ति न हो, तो अप्राकृत सामों की आगमों से संख्यापूर्ति करनी चाहिए; क्योंकि आवृत्ति विहित नहीं है। अस्तु; प्रकृति ऋचा की आवृत्ति नहीं करनी चाहिए॥ १६॥

**( २०३१ ) संख्यायाश्च पृथक्त्वनिवेशात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, संख्याया: = संख्या का, पृथक्त्व = पृथक्पन से, निवेशात् = निवेश होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि संख्या पृथक् निवेशिनी होती है, आवृत्ति से उसकी पूर्ति नहीं होती, अत: उसकी पूर्ति आगम से ही करनी चाहिए। उदाहरणार्थ- यदि किसी व्यक्ति को सात घड़ों की आवश्यकता हो, तो एक घड़े को सात बार बारी-बारी से लाने- ले जाने से उनकी पूर्ति नहीं हो सकती, उसके लिए तो सात घड़े ही चाहिए। इसी तरह से साम ऋचाएँ भी पृथक्-पृथक् ही लेनी चाहिए॥ १७॥

**( २०३२ ) पराक्छब्दत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** पराक्शब्दत्वात् = पराक् शब्द का प्रयोग होने से।

**व्याख्या-** पराक् शब्द अभ्यास (आवृत्ति) का वाचक नहीं है। यथा- 'पराग् बहिष्पवमानेन स्तुवन्ति' इस कथन से भी भिन्न-भिन्न साम ऋचाओं से संख्या की पूर्ति करनी चाहिए, यह सिद्ध होता है॥ १८॥

**( २०३३ ) उक्ताविकाराच्च॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, उक्ताविकारात् = निन्दा का श्रवण होने से भी।

**व्याख्या-** 'जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदेकं भूय: क्रियते' इस कथन से एक ही ऋचा का अभ्यास करने में निन्दा का बोध होता है। अस्तु; आवृत्ति नहीं करनी चाहिए॥ १९॥

**उक्त विषय में अब आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०३४ ) अश्रुतित्वान्नेति चेत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** अश्रुतित्वात् = आगम का श्रवण न होने से, न = यह उचित नहीं, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आगम करना (अन्य मन्त्र लाकर संख्या की पूर्ति करना) भी श्रूयमाण नहीं होता, अतः उसका परिहार (दोष परिमार्जन) कर देना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाए, तो ठीक नहीं॥ २०॥

**उपर्युक्त सूत्र के आक्षेप का आगामी तीन सूत्रों में आचार्य समाधान करते हैं—**

**(२०३५) स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थचोदितानाम् = प्राप्त प्रेरणा में संख्या का स्पष्ट विधान है, परिमाणशास्त्रम् = अतः परिमाण बताने वाले शास्त्र प्रमाण से कार्य, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान में सूत्रकार कहते हैं- 'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजाकामम् याजयेत्' इस वाक्य में एकविंश (इक्कीस) संख्या का परिमाण स्पष्ट विहित है, अतः परिमाण बतलाने वाले शास्त्र प्रमाण से कार्य होना चाहिए। अस्तु; बाहर से साम ऋचाएँ लेकर इक्कीस की संख्या पूर्ण की जानी चाहिए॥ २१॥

**(२०३६) आवापवचनं वाऽभ्यासे नोपपद्यते॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अभ्यासे = आवृत्ति करने में, आवापवचनम् = आवाप-मिलाने के वचन भी, न = नहीं, उपपद्यते = उपपन्न होते।

**व्याख्या—** अभ्यास में आवाप वचन भी अनुपपन्न होता है। प्रेरक वाक्य है 'अत्र ह्येवावपन्ति' अर्थात् इसमें अन्य मन्त्र बोलने चाहिए। यह मन्त्र पाठ आगम के बिना नहीं हो सकता। पाठ और आवृत्ति एक नहीं है। अस्तु; प्रकृति से बाहर के साम मन्त्र बोलने चाहिए॥ २२॥

**(२०३७) साम्नां चोत्पत्तिसामर्थ्यात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, साम्नाम् = अप्राकृत साम मन्त्रों का, उत्पत्तिसामर्थ्यात् = पाठ की सामर्थ्य होने से।

**व्याख्या—** यदि सभी स्थानों पर आवृत्ति से ही संख्या की पूर्ति मानी जायेगी, तो इन साम मन्त्रों की संख्या बताना व्यर्थ हो जाना सिद्ध होता है, इससे भी आगम ही मान्य होगा॥ २३॥

**आगामी सूत्र में पूर्वपक्षवादी पुनः आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—**

**(२०३८) धुर्येष्वपीति चेत्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** धुर्येषु अपि = धूर्गान में भी आवृत्ति न होकर आगम होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी उपर्युक्त समाधान तर्कों पर आक्षेप प्रकट करते हैं कि फिर तो पीछे धूर्साम में भी आवृत्ति के स्थान पर अन्य मन्त्र लाने चाहिए। यदि ऐसा कहो, तो?॥ २४॥

**आगामी सूत्र में आचार्य अब उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**(२०३९) नावृत्तिधर्मत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** न = (उक्त कथन ठीक) नहीं, आवृत्तिधर्मत्वात् = आवृत्ति का धर्म होने से।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उक्त कथन ठीक नहीं; क्योंकि धूर्सामगान में तो आवृत्ति का स्पष्ट विधान है। 'आवृत्तम् धूर्षु स्तुवते पुनरावृत्तम् पृष्ठैरुपतिष्ठते'। आवृत्ति करने के लिए प्रस्तुत वाक्य प्रमाण वचन है, अतः वहाँ आगम नहीं होगा॥ २५॥

**अब अगले सूत्र में आचार्य बहिष्पवमान में ऋचाओं का आगम करने के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हैं—**

**(२०४०) बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = परन्तु, बहिष्पवमाने = बहिष्पवमान नामक स्तोम-वृद्धि में, ऋगागमः = ऋचाओं का आगम करना पड़ता है, सामैकत्वात् = क्योंकि उसमें एक ही साम है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि बहिष्पवमान नामक स्तोम की वृद्धि में आगन्तुक ऋचाओं से संख्या की

पूर्ति करनी चाहिए; क्योंकि एक ही साम का विधान कर अन्य साम का प्रतिषेध किया गया है॥ २६॥

**अब पूर्वपक्षवादी अवशिष्ट सामिधेनियों में ऋचाओं के आगम सम्बन्धी मत रखते हैं—**

**( २०४१ ) अभ्यासेन तु संख्यापूरणं सामिधेनिष्वभ्यासप्रकृतित्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** अभ्यासप्रकृतित्वात् = प्रकृति में अभ्यास होने से, सामिधेनिषु = सामिधेनियों में (जहाँ २१ मन्त्र बोलने हों, वहाँ), अभ्यासेन तु संख्यापूरणम् = अभ्यास से ही संख्या की पूर्ति करनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'एकविंशतिमनुब्रूयात्' 'इक्कीस सामिधेनी मन्त्र बोलने हैं' और मूल प्रकृति में ग्यारह सामिधेनी विहित हैं, तो शेष दस मन्त्रों की पूर्ति कहाँ से की जाए। इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि शेष की पूर्ति ग्यारह विहित ऋचाओं में से किसी भी ऋचा की आवृत्ति करके कर लेनी चाहिए॥ २७॥

**आगामी सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में आशङ्का प्रकट करते हैं—**

**( २०४२ ) अविशेषान्नेति चेत्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् न = अभ्यास और आगम में कोई विशेष कथन नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसी शङ्का हो, तो?

**व्याख्या—** उक्त विषय में आक्षेप है कि जहाँ पन्द्रह सामधेनियाँ उच्चरित करनी होती हैं, वह यज्ञ जहाँ इक्कीस सामिधेनी उच्चरित करनी होती हैं, उस (यज्ञ) की प्रकृति नहीं; अपितु विकृति है। अत: जहाँ पर प्रकृति-विकृति भाव है, वहाँ आवृत्ति होती है, यदि ऐसा कहो, तो?॥ २८॥

**उक्त आक्षेप का अगले सूत्र में पूर्वपक्षवादी समाधान करते हैं—**

**( २०४३ ) स्यात्तद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येत आसंख्यापूरणात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** तद्धर्मत्वात् स्यात् = विकृति-धर्मता होने से ही अभ्यास होता है, प्रकृतिवत् = पूर्व प्रकृति की संख्या की तरह, अभ्यस्येत = अभ्यास करना, आसंख्यापूरणात् = संख्या की पूर्ति होने तक।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आशङ्का उचित नहीं, उत्तर यह है कि पूर्व प्रकृति की संख्या के समान विकृति-धर्मता होने के कारण ही अभ्यास होता है। पंचदश प्रकृति तथा एकविंश विकृति है। इसलिए जब तक संख्या की पूर्ति न हो, तब तक ऋचाओं का अभ्यास करना चाहिए॥ २९॥

**उपर्युक्त विषय में अब सूत्रकार आगामी दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( २०४४ ) यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कृतपरिमाणत्वात् = परिमाण निर्दिष्ट किया गया होने से, यावदुक्तम् = शास्त्र में जितना कथन है, उतना ही अभ्यास करना चाहिए।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि शास्त्र में जहाँ निश्चित परिमाण निर्दिष्ट किया गया होता हो, वहाँ उतना ही अभ्यास करना चाहिए। यथा- 'त्रि: प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' अर्थात् ग्यारह में से पन्द्रह करने हेतु तो शास्त्र विधान है, परन्तु पन्द्रह में से इक्कीस की संख्या पूर्ति हेतु शास्त्र विहित उक्त प्रमाण नहीं है। अस्तु; जहाँ प्रत्यक्ष अभ्यास न हो, वहाँ ऋचाओं के आगम से संख्या पूरी करनी चाहिए॥ ३०॥

**( २०४५ ) अधिकानाञ्च दर्शनात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अधिकानाम् = अधिक ऋचाओं का पाठ करना, दर्शनात् = दर्शन भी है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि अभ्यास का निषेध करने हेतु दूसरे शास्त्र प्रमाण भी हैं। 'अग्नीषोमीयपशौ सप्तदशसामिधेनीके पृथुपाजा: तं संबाध इति ऋचो: अधिकयो: दर्शनात्' दो ऋचाओं के पाठ का भी स्पष्ट विधान है, इसलिए प्रकृति में ही ऋचाओं का पाठ करना चाहिए॥ ३१॥

**आगामी सूत्र में पूर्वपक्षी शङ्का उपस्थित करते हैं—**

**( २०४६ ) कर्मस्वपीति चेत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मसु अपि = धूर्गान कर्म में भी ऐसा ही होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहो, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी की शङ्का है कि फिर तो धूर्सामगान-रूप-कर्म में भी घटती साम ऋचाओं में अन्य साम ऋचाओं का पाठ क्यों नहीं करना चाहिए?॥ ३२॥

**पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई आशङ्का का समाधान आचार्य आगामी सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०४७ ) न चोदितत्वात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त आशङ्का उचित नहीं, चोदितत्वात् = क्योंकि वहाँ स्पष्ट विधान है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि उक्त शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि धूर्गान में तो अभ्यास करने का स्पष्ट विधान है। यथा- 'आवृत्तं धूर्षु स्तुवते' के अनुसार वहाँ अन्य साम ऋचाओं का पाठ नहीं किया जा सकता॥ ३३॥

**षोडशी याग प्रकृति विहित है अथवा विकृति विहित? इस हेतु आचार्य अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०४८ ) षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र = वहाँ (विकृति में), षोडशिनो = षोडशी का, कृत्स्नविधानात् = सम्पूर्ण विधान होने से, वैकृतत्वम् = षोडशी ग्रह विकृति विहित है।

**व्याख्या—** 'यः एवं विदुषः षोडशी गृह्यते' इस प्रकार ज्योतिष्टोम याग में षोडशी नामक ग्रह का विधान है। संशय होता है कि इसे प्रकृति विहित समझना चाहिए अथवा विकृति विहित? पूर्वपक्षवादी की मान्यता है कि षोडशी ग्रह विकृति विहित है; क्योंकि विकृति में ही उसके सम्पूर्ण अङ्ग का विधान है॥ ३४॥

**( २०४९ ) प्रकृतौ चाभावदर्शनात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतौ = प्रकृति में, अभावदर्शनात् = (षोडशी ग्रह) के अभाव का दर्शन होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी अपने कथन की पुष्टि में दूसरा कारण यह बतलाते हैं कि प्रकृति में षोडशी ग्रह के अभाव का दर्शन होने से वहाँ (प्रकृति में) इसका निषेध भी है, अतः यह वैकृत है॥ ३५॥

**उपर्युक्त प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष द्वारा अन्य तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २०५० ) अयज्ञवचनाच्च॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अयज्ञवचनात् = (षोडशी से रहित ज्योतिष्टोम के लिए) अयज्ञ वचन भी है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी आगे कहते हैं कि किन्हीं स्थानों पर उसका अयज्ञ वचन पाए जाने के कारण भी यह वैकृत है। यथा- 'अयज्ञो वाव ज्योतिष्टोमो यत् षोडश्य हीनः' अर्थात् षोडशी से रहित ज्योतिष्टोम याग अयज्ञ है। इस कथन का तात्पर्य है कि षोडशी का अभाव ज्योतिष्टोम-रूप प्रकृतियाग में है। अस्तु; यह वैकृत ही है॥ ३६॥

**उक्त विषय में आचार्य सूत्रकार अब अगले पाँच सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०५१ ) प्रकृतौ वा शिष्टत्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रकृतौ = प्रकृति में, शिष्टत्वात् = विहित होने से वह (षोडशी) प्राकृत है।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि प्रकृति अर्थात् ज्योतिष्टोम में षोडशी का उल्लेख है, अतः षोडशी प्राकृत है। विकृति में भी ऐसा कथन है, इस कारण प्रकृति में वर्णन होने का निषेध हो सकता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार प्रकृति-याग में शिष्ट का निषेध न होने के कारण षोडशी प्राकृत है॥ ३७॥

**( २०५२ ) प्रकृतिदर्शनाच्च॥ ३८ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतिदर्शनात् = प्रकृति में भी वाक्य (षोडशी) का दर्शन होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का तर्क है कि षोडशी के विकृति का अंग होने में वाक्य प्रमाण है। सिद्धान्तवादी इसका समाधानपरक उत्तर देते हैं कि 'अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्' यह प्रकृति का भी वाक्य है और यहाँ षोडशी के दर्शन होने से भी षोडशी प्राकृत है॥३८॥

**( २०५३ ) आम्नातं परिसंख्यार्थम्॥ ३९ ॥**

**सूत्रार्थ—** परिसंख्यार्थम् = परिसंख्या के लिए, आम्नातम् = (षोडशी का विकृति में भी) उल्लेख है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष की मीमांसा करते हुए मीमांसाकार कहते हैं कि प्रकृति याग में षोडशी का निमित्त राजन्यकर्तृक है। अस्तु; विकृति में निमित्त होने पर ही षोडशी की प्राप्ति हो। अतः निमित्त का परिसंख्यान (गणना) करने के लिए ही षोडशी का विकृति में भी आम्नात (उल्लेख) होता है॥ ३९॥

**( २०५४ ) उक्तमभावदर्शनम्॥ ४० ॥**

**सूत्रार्थ—** अभावदर्शनम् = (षोडशी के) अभाव का दर्शन, उक्तम् = कहा गया है।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी का कथन है कि प्रकृति में षोडशी का जो अभाव देखा जाता है, वह तो षोडशी के विकल्प के लिए है॥ ४०॥

**आगामी सूत्र में आचार्य षोडशी को 'अयज्ञ' कहे जाने की मीमांसा करते हैं—**

**( २०५५ ) गुणादयज्ञत्वम्॥ ४१ ॥**

**सूत्रार्थ—** गुणात् = स्तुति के कारण (गौणवृत्ति से), अयज्ञत्वम् = अयज्ञत्व कहा जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य का कथन है कि षोडशी को 'अयज्ञ' गौणवृत्ति से कहा गया है। पक्ष में यज्ञ न होने के कारण वह (षोडशी) वैकल्पिक है। सूत्रकार कहते हैं कि पक्ष में अभाव होने से गौणवृत्ति में अयज्ञ कहने में आता है, जबकि वास्तव में षोडशी प्राकृत है और यह सिद्धान्त पक्ष में प्राप्त होती है॥ ४१॥

**अब आचार्य जिस षोडशी ग्रह से सोमरस लेते हैं, इसकी प्राप्ति का अनुशासन प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०५६ ) तस्याग्रयणाद्ग्रहणम्॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** तस्य = उस षोडशी ग्रह का, ग्रहणम् = ग्रहण (प्राप्ति), आग्रयणात् = आग्रयण से करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य यहाँ सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि उस षोडशी-ग्रह का ग्रहण आग्रयण से करना चाहिए, जिससे सोमरस का ग्रहण किया जाता है; क्योंकि इसके लिए वचन पाया जाता है॥ ४२॥

**उक्त विषय में सूत्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०५७ ) उक्थ्याच्च वचनात्॥ ४३ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, वचनात् = वचन के प्रमाण से, उक्थ्यात् = उक्थ्य से भी उसका ग्रहण करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि 'उक्थ्याद् गृह्णाति षोडशिनम्' इस वाक्य प्रमाण से उक्थ्य से भी षोडशी ग्रह का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा समझा जाता है॥ ४३॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य इस सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०५८ ) तृतीयसवने वचनात्स्यात्॥ ४४ ॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन पाये जाने से, तृतीयसवने = तीसरे सवन में भी षोडशी का ग्रहण, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** 'तृतीये सवने गृह्णीयात्' इस वचन प्रमाण की उपलब्धता से तीसरे सवन में भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए, ऐसी सिद्धान्त पक्ष की मान्यता है॥ ४४॥

**( २०५९ ) अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** पराक्छब्दस्य = वचन में पराक् शब्द है, तादर्थ्यात् = उसके अर्थानुसार, अनभ्यासे = एक समय ग्रहण उचित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'पराक्' शब्द अनभ्यास में होता है। पराक् शब्द दिग् वाचक है तथा 'एक ही समय' यह अर्थ भी दर्शाता है। 'पराङ्मुक्थ्याद् गृह्णाति' इस कथन के अनुसार षोडशी का ग्रहण एक समय तीसरे सवन में ही करना उचित है॥ ४५॥

**उक्त विषय में आचार्य अब पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०६० ) उक्थ्यविच्छेदवचनत्वात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** उक्थ्यविच्छेद = उक्थ्य का विच्छेद होने का, वचनत्वात् = प्रमाण उपलब्ध होने से।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी की मान्यता है कि उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि विच्छेद वचन उपलब्ध होता है॥ ४६॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त सूत्र पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०६१ ) आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आग्रयणाद् = आग्रयण में से ग्रहण करना, पराक्छब्दस्य = पराक् शब्द के, देशवाचित्वात् = देशवाची होने से, पुनराधेयवत् = पुनराधेय की भाँति।

**व्याख्या—** 'यथा पराङ्मग्न्याधेयात् पुनरादधाति' मीमांसाकार के कथनानुसार यहाँ पर उत्तरकाल-रूप देश वाचक पराक् शब्द प्रयुक्त हुआ है। अस्तु; पराक् शब्द के देशवाची होने से पुनराधेय की तरह आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए॥ ४७॥

**( २०६२ ) विच्छेदः स्तोमसामान्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** विच्छेदः = विच्छेद वचन, स्तोमसामान्यात् = स्तोम सामान्य के कारण हैं।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि विच्छेद-वचन स्तोम (स्तुति के साम-मन्त्र) सामान्य के लिए हैं। अतः आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए॥ ४८॥

**आगामी सूत्र में अब आचार्य षोडशी-ग्रह के स्तोत्र और शस्त्र के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०६३ ) उक्थ्याग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** उक्थ्य-अग्निष्टोम- संयोगात् = उक्थ्य और अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध होने से, अस्तुतशस्त्रः = यह (षोडशी-ग्रह) स्तोत्र और शस्त्र से रहित, स्यात् = होती है, सति = यदि स्तोत्र तथा शस्त्र से युक्त माना जाये तो, संस्थान्यत्वम् हि = भिन्न संस्था ही माननी पड़ेगी।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी की अवधारणा है कि षोडशी-ग्रह का उक्थ्य और अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह स्तोत्र एवं शस्त्र से रहित होती है। यदि षोडशी को स्तोत्र और शस्त्र से युक्त माना जाए, तो षोडशी नाम की पृथक् संस्था माननी पड़ेगी; षोडशी नामक भिन्न संस्था का श्रवण नहीं होता, अपितु अग्निष्टोमादि संस्था का ही श्रवण होता है। इसलिए षोडशी स्तोत्र और शस्त्र से रहित ही होती है॥ ४९॥

**अब आचार्य अगले तीन सूत्रों में उक्त विषय का सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०६४ ) सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तदङ्गत्वात् = स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग होने से, सस्तुतशस्त्रः = षोडशी-ग्रह स्तोत्र और शस्त्र सहित होती है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि षोडशी-ग्रह स्तुत और शस्त्र सहित होती है; क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र याग के अङ्गभूत होते हैं और अङ्ग के बिना अङ्गी का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता॥ ५०॥

**( २०६५ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य के पाए जाने से।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष की पुष्टि के लिए आचार्य लिङ्गवचन प्रस्तुत करते हैं 'ऊर्ध्वा वा अन्ये यज्ञक्रतवः सन्तिष्ठन्ते तिर्यञ्चोन्ये ये होतारमभिसन्तिष्ठन्ते ते ऊर्ध्वाः, येवा अच्छावाकं ते तिर्यञ्चः' इस कथन में यज्ञ भेद दो प्रकार से किया गया है- ऊर्ध्व और तिर्यक्। यदि स्तुत और शस्त्र से रहित होता, तो 'अध्वर्युमभि सन्तिष्ठेत' इस प्रकार से तीसरा भेद भी होता, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि षोडशी ग्रह स्तुत और शस्त्र सहित है॥ ५१॥

**( २०६६ ) वचनात्संस्थान्यत्वम्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन होने से, संस्थाऽन्यत्वम् = भिन्न संस्था भी मान्य है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि वचन होने के कारण भिन्न संस्था होने की जो आपत्ति बतलाई गई है, वह इष्टापत्ति है। अतः प्रमाणों के उपलब्ध होने के कारण पृथक् संस्था भी मान्य है॥ ५२॥

**अब पूर्वपक्ष द्वारा अंगिरसों के द्विरात्र याग में षोडशी के परिसंख्या प्रकरण पर प्रकाश डाला जा रहा है—**

**( २०६७ ) अभावादतिरात्रेषु गृह्यते॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** अभावात् = अंगिरस का द्विरात्र में अभाव होने से, अतिरात्रेषु = अङ्गिरस द्विरात्र में, गृह्यते= षोडशी का ग्रहण होता है।

**व्याख्या—** 'वैखानसम् पूर्वेऽहन् साम भवति षोडशी उत्तरे' प्रस्तुत कथन में अङ्गिरस द्विरात्र में ही षोडशी का ग्रहण होता है; क्योंकि अङ्गिरस का द्विरात्र में अभाव पाया जाता है, ऐसी पूर्वपक्षवादी की मान्यता है॥५३॥

**आगामी सूत्र के माध्यम से अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( २०६८ ) अन्वयो वाऽनारभ्यविधानात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अनारभ्यविधानात् = अनारभ्य विधान होने से, अन्वयः = सभी द्विरात्र में षोडशी-ग्रह का सम्बन्ध होता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में सिद्धान्तवादी कहते हैं- 'उत्तरेऽहन् द्विरात्रस्य गृह्यते' सभी द्विरात्र याग में षोडशी ग्रह का सम्बन्ध होता है; क्योंकि अनारभ्य विधान पाया जाता है॥ ५४॥

**अब आचार्य पृथक्-पृथक् अहीन यागों में षोडशी ग्रहण के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०६९ ) चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** अहीनस्य = एक ही अहीन याग में, चतुर्थे-चतुर्थे अहनि = चौथे-चौथे दिन में, गृह्यते = षोडशी का ग्रहण होता है, इति अभ्यासेन = ऐसा (चतुर्थ शब्द के) अभ्यास से, प्रतीयेत = प्रतीत होता है, भोजनवत् = भोजन की भाँति।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी का कथन है कि 'चतुर्थे-चतुर्थे' का अभिप्राय यहाँ एक ही अहीनयाग के चौथे-चौथे दिन से मानना चाहिए। उदाहरणार्थ -चौथे-चौथे दिन में भोजन करता है, तो इस कथन का आशय यह है कि जिस दिन भोजन किया गया हो, उसके पश्चात् आगामी चौथे दिन पुनः भोजन ग्रहण करना चाहिए। इसलिए एक ही अहीन याग में चौथे-चौथे दिन षोडशी का ग्रहण समझना चाहिए॥ ५५॥

**आगामी दो सूत्रों में आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( २०७० ) अपि वा संख्यावत्त्वान्नानाहीनेषु गृह्यते पक्षवदेकस्मिन्संख्यार्थभावात्॥ ५६ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, संख्यावत्त्वात् = चतुर्थ पद संख्यावाचक है, एकस्मिन् पक्षवत् = (और) एक पक्ष में, संख्यार्थभावात् = संख्या का प्रयोजन सफल होने से, नानाहीनेषु = भिन्न-भिन्न अहीन यागों में, गृह्यते = षोडशी का ग्रहण होता है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि 'चतुर्थ' यह पद संख्यावाचक है, अतः एक अहीनयाग में दो चतुर्थ दिवस नहीं आ सकते। एक चतुर्थ के बाद उसके सहित जो दूसरा चतुर्थ आता है, वह तो अहीनयाग का आठवाँ दिन कहलाता है, जो होता नहीं। अस्तु; चतुर्थ पद से भिन्न-भिन्न अहीन-यागों का चतुर्थ दिवस ग्रहण करना चाहिए॥ ५६ ॥

**( २०७१ ) भोजने च तत्संख्यं स्यात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, भोजने=भोजन में, तत्संख्यम् = वही संख्या, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष की मान्यता है कि यह जो भोजनवत् कहा गया है, उससे भी चतुर्थ-चतुर्थ का अर्थ अहन का आठवाँ दिन नहीं हो सकता। वहाँ भी भिन्न अहनों का चतुर्थ दिन मान्य है॥ ५७॥

**आगामी सूत्र में आचार्य विकृति में ग्रहों का आग्रयणाग्रत्व सम्बन्धी प्रकरण पर प्रकाश डालते हैं—**

**( २०७२ ) जगत्साम्नि सामाभावादृक्तः साम तदाख्यं स्यात्॥ ५८ ॥**

**सूत्रार्थ—** जगत्साम्नि = जगत् सामपद घटित पूर्वोक्त श्रुति में, ऋक्तः = जगती छन्द वाली ऋचा का सम्बन्ध होने से, साम तदाख्यम् = 'जगत्साम'- इस आख्या वाला साम, स्यात् = माना जाता है, सामाभावात् = क्योंकि सम्पूर्ण सामवेद में जगत्संज्ञक साम का अभाव है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम प्रकरण में ऐसा वाक्य आता है- 'यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्'। प्रकृति याग में इस कथन का निवेश नहीं है; क्योंकि जगत्संज्ञक साम का सम्पूर्ण सामवेद में अभाव है। अस्तु; विकृति याग में उक्त वचन का निवेश है और इसका अभिप्राय यह है कि जगती छन्द में जिस ऋचा का गायन होता है, उस ऋचा के आधार पर यह जगत्साम नाम पड़ा, न कि साम के आधार पर॥ ५८ ॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य गोसव आदिक्रतुओं में ऋचाओं के विकल्प सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०७३ ) उभयसाम्नि नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात्॥ ५९ ॥**

**सूत्रार्थ—** उभयसाम्नि = दोनों साम वाले ('गोसव' आदि) क्रतुओं में, समत्वात् = नियामक कारण न होने से, नैमित्तिकम् = जिनका निमित्त हो (उन ऋचाओं का), विकल्पेन = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** प्रकृति-याग में उद्धृत है- 'गोसवे उभे कुर्यात्। उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात्। उपवतीं रथन्तरपृष्ठस्य प्रतिपदम् कुर्यात् अग्रियवतीं बृहत्पृष्ठस्य' अर्थात् उपवती रथन्तर पृष्ठ की और अग्रवती बृहत् पृष्ठ की ऋचाएँ विहित हैं। अब दोनों को एक साथ प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। अस्तु; उनमें विकल्प होना चाहिए और कोई महत्त्वपूर्ण नैमित्तिक कारण नहीं होने से चाहे जिसे प्राथमिकता दी जा सकती है॥ ५९ ॥

**( २०७४ ) मुख्येन वा नियम्येत॥ ६० ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, मुख्येन = प्रथम ऋचा का ही, नियम्येत = नियम करना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि चूँकि उपवती साम (ऋचा) प्रथम है। अस्तु; जिस स्थान पर दो साम ऋचाएँ पायी जाती हों, वहाँ पर रथन्तर-साम की उपवती ऋचा को ही प्राथमिकता के स्थान पर महत्त्व देना चाहिए॥६० ॥

**आगामी सूत्र के माध्यम से उक्त विषय में अब आचार्य सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन करते हैं—**

**( २०७५ ) निमित्तविघाताद्वा क्रतुयुक्तस्य कर्म स्यात्॥ ६१ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, निमित्तविघाताद् = निमित्त का विघात होने से, क्रतुयुक्तस्य = क्रतु के आधार पर, कर्म स्यात् = उससे भिन्न ऋचा ही ली जाएगी।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्राकृत गोसवादि में दोनों निमित्तों का विघात अर्थात् दोनों में से कोई भी निमित्त न होने के कारण नैमित्तिक उपवती और अग्रवती इन दोनों में से एक भी ऋचा प्राप्त नहीं होती, अपितु उससे कोई भिन्न ही ऋचा क्रतु (याग) के आधार पर ली जाती है॥ ६१॥

**अगले सूत्र में आचार्य ऐन्द्रवायव का सर्वादित ( सर्वप्रथम ) प्रतिकर्ष अधिकरण सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०७६ ) ऐन्द्रवायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात्॥ ६२॥

**सूत्रार्थ—** ऐन्द्रवायवस्य = ऐन्द्रवायव ग्रह (पात्र) का, अग्रवचनात् = अग्रवचन होने से, आदितः = सबसे पूर्व (पहले), प्रतिकर्षः = ग्रहण, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम याग में ग्रहों का पाठ निम्न क्रमानुसार है- 'उपांशुग्रहः प्रथमः, अन्तर्यामग्रह द्वितीयः, ऐन्द्रवायवग्रहस्तृतीयः मैत्रावरुणग्रहश्चतुर्थः' इस प्रकार ऐन्द्रावायव ग्रह (पात्र) में अग्रवचन होने से सर्वादित प्रतिकर्ष होता है तथा विशेषता न होने के कारण से प्रथम उसका ग्रहण होना चाहिए॥ ६२॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०७७ ) अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रकरणादग्रत्वमुच्यते॥ ६३॥

**सूत्रार्थ—** 'अपि वा' = फिर भी, धर्मविशेषात् = ऐन्द्रवायव-ग्रह विशेष धर्म वाले होने से, तद्धर्माणाम् = उसी धर्म के, प्रकरणात् = प्रकरण गत प्रमाण से, स्वस्थाने = अपने स्थान में, अग्रत्वम् उच्यते = अग्रत्व विधीयमान होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि ऐन्द्रवायव (इन्द्र, वायु) ग्रह विशिष्ट-धर्म वाले होने के कारण उसी धर्म से जुड़े हुए हैं। यहाँ अग्रता का विधान नहीं है; परन्तु मैत्रावरुण, अश्विन आदि सर्व ग्रहों के ग्रहण का ही विधान है। अतः यहाँ प्रकरण के अनुसार होने वाले पाठ प्रमाण से अपने-अपने स्थान में ही स्थित रहने वालों का अग्रत्व होता है। अस्तु; जहाँ मैत्रावरुण आदि ग्रह लिए जाते हैं, वहाँ ऐन्द्रवायव ग्रह उनसे पूर्व में लिया जाएगा अर्थात् ग्रह अपने स्थान पर ही लेना चाहिए॥ ६३॥

## ( २०७८ ) धारा संयोगाच्च॥ ६४॥

**सूत्रार्थ—** च = और, धारा संयोगात् = धारा ग्रह का संयोग होने से।

**व्याख्या—** आचार्य का कथन है कि धाराग्रह का संयोग होने से सर्व की अग्रता का विधान नहीं, तदग्रों का अधिकार करके ग्रहण विधीयमान होता है, अतः सभी के आदि में प्रतिकर्ष नहीं करना चाहिए॥ ६४॥

**अब काम संयोग में ऐन्द्रवायव ग्रह के ग्रहण संदर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०७९ ) कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात्॥ ६५॥

**सूत्रार्थ—** कामसंयोगे = काम (फल) का संयोग होता है, तु = वहाँ तो, वचनात् = वचन के कारण, आदितः = सर्व के आदि में, प्रतिकर्षः = प्रतिकर्ष, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** 'ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् यः कामयेत यथापूर्वम् प्रजाः प्रकल्पेरन्', इस शास्त्र-वचन में कामयेत क्रिया पद से कामना परिलक्षित होती है, अतः जिस स्थान पर काम का संयोग होता है। उस स्थान पर ग्रह का सब से आदि में प्रतिकर्ष करना चाहिए, अन्यथा उक्त प्रमाण का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा॥ ६५॥

**उक्त विषय में मीमांसाकार अब सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०८० ) तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात्॥ ६६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तद्देशानाम् = अपने-अपने देश में स्थित रहने वाले ग्रहों का ही ग्रहण होता है, नित्यसंयोगात् = नित्य संयोग होने से, अग्रसंयोगात् = अग्रता का सम्बन्ध होने से, तद्युक्ते = स्वस्थान में युक्त, कामशास्त्रम् = फलबोधक विधि, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष की मान्यता है कि कामना बोधक वाक्य होने पर भी 'अग्र' पद का स्थायी सम्बन्ध अपने-अपने देश में स्थित ग्रहों के साथ है। तात्पर्य यह है कि कामना बोधक पद, जो वाक्य में है, वहाँ भी ग्रह के ग्रहण में अंतर नहीं पड़ता अर्थात् अपने नियत स्थान पर ही ग्रहण होता है॥ ६६॥

**आगे आचार्य आश्विनादि ग्रह के प्रतिकर्ष सम्बन्धी प्रकरण में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( २०८१ ) परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात्तदादिषु॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, परेषु = ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों में श्रूयमाण, अग्रशब्दः = अग्र शब्द, पूर्ववत् स्यात् = पूर्व अधिकरण के समान होता है, तदादिषु = तत् आदि में।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी का कहना है कि ऐन्द्रवायव (इन्द्र, वायु) आदि ग्रहों में सुना जाने वाला अग्र शब्द पूर्व अधिकरण की भाँति होता है। अस्तु; जिस- जिस की अग्रता सुनी जाती है, उन अग्रों का काम-संयोग होता है। यथा- 'शुक्राग्रान् गृह्णीत गतश्रीः प्रतिष्ठाकामः' इस कथन से जिन शुक्र आदि ग्रहों का ग्रहण प्रतिष्ठा काम के लिए करने को कहा गया है, उनमें भी पहले की भाँति यथास्थान स्थित शुक्र-ग्रह का ग्रहण होना उचित है॥ ६७॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य अब सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०८२ ) प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, नित्यार्थेन = पाठक्रम के नियमित क्रमानुसार, अग्रस्य = अग्रता का, तदसंयोगात् = फल के साथ संयोग नहीं होने से, प्रतिकर्षो = ऐन्द्रवायव से प्रतिकर्ष होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उक्त सूत्र में जिस शुक्राग्रता का वर्णन है, उसका फल के साथ सम्बन्ध है। अस्तु; शुक्र ग्रह का स्वस्थान से हटाकर उसका ऐन्द्रवायव ग्रह के पूर्व ग्रहण करना चाहिए॥ ६८॥

**( २०८३ ) प्रतिकर्षञ्च दर्शयति॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रतिकर्षम् = लिङ्ग वाक्य भी प्रतिकर्ष, दर्शयति = दर्शाता है।

**व्याख्या—** 'धारयेयुस्तम् यं कामाय गृह्णीयुः ऐन्द्रवायवं गृहीत्वा सादयेत् तम्' इत्यादि लिङ्ग वाक्यों में भी शुक्रग्रह का ऐन्द्रवायव ग्रह की अपेक्षा पहले ग्रहण होना दिखाया गया है। इस प्रकार से शुक्र ग्रह का प्रतिकर्ष होना स्पष्ट सिद्ध होता है॥ ६९॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य आश्विन आदि ग्रहों का ग्रहण ऐन्द्रवायव ग्रह के पूर्व होने सम्बन्धी प्रकरण पर सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०८४ ) पुरस्तादैन्द्रवायवादग्रस्य कृतदेशत्वात्॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** ऐन्द्रवायवात् पुरस्तात् = ऐन्द्रवायव ग्रहों के पहले, अग्रस्य = अग्रता का, कृतदेशत्वात् = देश (स्थान) निश्चित होने से।

**व्याख्या—** मीमांसाकार का मत है कि यदि धारा-ग्रह हो, तो उसके पूर्व पक्षियों (पहले वालों) का ग्रहण होना चाहिए और यदि आधार-ग्रह हो, तो उससे पहले ग्रहण नहीं होना चाहिए। अस्तु; अग्रता का स्थान निश्चित होने से आश्विन आदि ग्रहों का ऐन्द्रवायव ग्रहों के पूर्व प्रतिकर्ष होना चाहिए॥ ७०॥

**( २०८५ ) तुल्यधर्मत्वाच्च॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तुल्यधर्मत्वात् = समान-धर्मता होने से।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी का कथन है कि धाराग्रहत्वरूप समान धर्मता के पाये जाने से भी ऐन्द्रवायव से पूर्व आश्विन आदि का ग्रहण करना उचित है॥ ७१॥

**( २०८६ ) तथा च लिङ्गदर्शनम्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = और इस प्रकार का, लिङ्गदर्शनम् = लिङ्ग वाक्य भी पाया जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'कामाय गृह्णीयु: इति काम्यस्य धारणानन्तरमैन्द्रवायवस्य ग्रहणम् दर्शयति' इस लिङ्ग (प्रमाण) वचन में भी काम्य के धारणान्तर ऐन्द्रवायव का ग्रहण दिखाया जाता है॥ ७२॥

**सादन का भी प्रतिकर्ष होना चाहिए, इस प्रकरण में आचार्य आगामी दो सूत्र कहते हैं—**

**( २०८७ ) सादनं चापि शेषत्वात्॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सादनम् अपि = सादन भी अपकृष्ट होता है, शेषत्वात् = क्योंकि वे ग्रहण के शेष हैं।

**व्याख्या—** मीमांसाकार का कथन है कि जहाँ ग्रहण का अपकर्ष होता है, वहाँ आसादन (वेदि पर यथास्थान रखना) भी अपकृष्ट होता है; क्योंकि सादन ग्रहण का शेष है। ग्रहण (ग्रह पात्र को लेना) अङ्गी है और सादन उसका अङ्ग है। अस्तु; अङ्गी के अपकर्ष के साथ अङ्ग का अपकर्ष होना ही चाहिए॥ ७३॥

**( २०८८ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ७४॥**



**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य का श्रवण होने से (भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है)।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी कहते हैं कि 'धारयेयुस्तं यं कामाय गृह्णीयु: ऐन्द्रवायवम् गृहीत्वा सादयेत्' यह वचन ही प्रमाण है, अत: इससे भी सादन का अपकर्ष सिद्ध होता है॥ ७४॥

**अब प्रदान के प्रतिकर्ष प्रकरण की मीमांसा करने हेतु आचार्य पूर्वपक्ष सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०८९ ) प्रदानं चापि सादनवत्॥ ७५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रदानम् अपि = प्रदान का भी, सादनवत् = आसादन के समान प्रतिकर्ष होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष वादी का मत है कि जिस प्रकार से आसादन का प्रतिकर्ष होता है, उसी प्रकार से प्रदान अर्थात् याग (आहुति देना) का भी प्रतिकर्ष होता है; क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है॥ ७५॥

**उक्त विषय में मीमांसाकार अब सिद्धान्त पक्ष रखते हैं—**

**( २०९० ) न वा प्रधानत्वाच्छेशत्वात्सादनं तथा॥ ७६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रधानत्वात् = प्रदान मुख्य होने से, शेषत्वात् तथा सादनम् = शेष होने से सादन के समान ऐसा, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि शेष होने से आसादन के समान प्रदान का प्रतिकर्ष नहीं होगा; क्योंकि प्रदान (याग) तो प्रधान अर्थात् मुख्य कर्म है और अमुख्य के लिए मुख्य का प्रतिकर्ष (अदल-बदल) नहीं होता॥७६॥

**त्र्यनीका में ऐन्द्रवायव के कथन के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं—**

**( २०९१ ) त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात्॥ ७७॥**

**सूत्रार्थ—** त्र्यनीकायाम् = त्र्यनीका में, न्यायोक्तेषु = अतिदेश शास्त्र से प्राप्त, आम्नानम् = जो पुन: कथन किया गया है वह, गुणार्थं स्यात् = अर्थवाद (स्तुति के लिए) है।

**व्याख्या—** द्वादशाह में पहले, दसवें और बारहवें (अन्तिम) दिवस के अलावा शेष रहे नौ दिनों के जो तीन त्रिक होते हैं, उनका नाम त्र्यनीका है। इस त्र्यनीका सम्बन्धी निर्देश वाक्य 'ऐन्द्रवायवाग्रम् प्रथममह:, अथ शुक्राग्रम् अथाग्रयणाग्रम्' में प्रथम, द्वितीय दिनों में ऐन्द्रवायवाग्रता और शुक्राग्रता श्रूयमाण है। अब अन्य

दिवसों में जो अग्रता का कथन अतिदेश शास्त्र से प्राप्त होता है, वह अपूर्व विधान है अथवा अर्थवाद है? पूर्वपक्षवादी इसके उत्तर में कहते हैं कि यह तो मात्र अर्थवाद (स्तुति के लिए) है॥ ७७॥

**उक्त विषय में मीमांसाकार अब आगामी सूत्र के माध्यम से सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

## ( २०९२ ) अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं विधानं स्यात्॥ ७८॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, अहर्गणेषु = अहर्गणों में, अग्निवत् = अग्नियजन की भाँति, समानम् = समान, विधानं स्यात् = विधान है अर्थवाद नहीं।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष से आचार्य कहते हैं कि अहर्गणों में अग्नियजन की तरह समान विधान होता है, अर्थवाद नहीं होता। 'अथातोऽग्निष्टोमेन यजेत तम् द्विरात्रेण' कथनानुसार जिस प्रकार अग्निष्टोम में अग्नि का विधान पाया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति-स्थान में भी अतिदेश-शास्त्र से अग्रता की प्राप्ति प्रकृति में से ही होने पर पुनः विधान ही होता है, न कि अर्थवाद॥ ७८॥

**अब आचार्य व्यूढ़ द्वादशाह के समूढ़ विकार प्रकरण की विवेचना करने हेतु पूर्वपक्ष कहते हैं—**

## ( २०९३ ) द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात्॥ ७९॥

**सूत्रार्थ—** द्वादशाहस्य = द्वादशाह के, पृष्ठवत् = पृष्ठ के समान, व्यूढसमूढत्वम् = व्यूढ़ और समूढ़ के रूप में, समानविधानम् = समान विधान वाला, स्यात् = है।

**व्याख्या—** द्वादशाह याग दो प्रकार का होता है-समूढ़ और व्यूढ़ रूप में। यहाँ पर पूर्वपक्षवादी की मान्यता है कि दोनों में कोई किसी की प्रकृति अथवा विकृति नहीं, दोनों में समान विधि है। बृहद् और रथन्तर पृष्ठ में जिस प्रकार से तुल्यत्व होता है, उसी प्रकार द्वादशाह में भी समझना उचित है॥ ७९॥

**उक्त प्रसङ्ग में आचार्य आगामी तीन सूत्रों के द्वारा सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २०९४ ) व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात्॥ ८०॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य के अनुसार, व्यूढः = व्यूढ़, समूढविकारः स्यात् = समूढ़ का विकार है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि व्यूढ़ और समूढ़ दोनों समान विधि वाले नहीं हैं; अपितु व्यूढ़ द्वादशाह, समूढ़ द्वादशाह का विकृति याग है। इस सन्दर्भ में प्रमाण उपलब्ध होता है-'ऐन्द्रवायवस्य वा एतदायतनम् यच्चतुर्थमहः' अर्थात् व्यूढ़ को समूढ़ की विकृति मानने की अवस्था में ही उक्त वाक्य की उपपत्ति हो सकती है॥ ८०॥

## ( २०९५ ) कामसंयोगात्॥ ८१॥

**सूत्रार्थ—** कामसंयोगात् = कामना का संयोग होने से (व्यूढ़ समूढ़ का विकार है)

**व्याख्या—** व्यूढ़ द्वादशाह याग में इस प्रकार सुना जाता है- 'यः कामयेत् बहु स्याम् प्रजायेय', अर्थात् जो काम्य अथवा नैमित्तिक होता है, वह नित्य अर्थ की विकृति होता है। अस्तु; व्यूढ़, समूढ़ का विकार है॥ ८१॥

## ( २०९६ ) तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात्॥ ८२॥

**सूत्रार्थ—** तस्य = द्वादशाहों की, ऐककर्म्यात् = एक कर्मता होने से, उभयथा = दोनों रीति से, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार का कथन है कि व्यूढ़ और समूढ़ दोनों की प्रवृत्ति समान होती है; क्योंकि दोनों की एक-कर्मता है। अस्तु; जहाँ व्यूढ़ का प्रमाण उपलब्ध हो, वहीं व्यूढ़ को द्वादशाह की प्रवृत्ति और जहाँ प्रमाण

उपलब्ध न हो, वहाँ प्रकृतिभूत समूढ़ द्वादशाह की ही प्रवृत्ति समझनी चाहिए॥ ८२॥

**संवत्सर सत्र में अनीकों के विवृद्धि सम्बन्धी अधिकरण पर मीमांसाकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०९७ ) एकादशिनवत् त्र्यनीका परिवृत्तिः स्यात्॥ ८३॥**

**सूत्रार्थ—** एकादशिनवत् = एकादशिन जैसी ही आवृत्ति, त्र्यनीकापरिवृत्तिः = वैसी त्र्यनीक में भी, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** एक वर्ष पर्यन्त चलने वाला गवामयन संज्ञक क्रतु द्वादशाह का विकार है। उस याग में आगे-आगे वर्णित प्रकरण में बताये गये त्र्यनीकों की आवृत्ति करनी होती है। यह आवृत्ति दण्डकलित एवं स्वस्थान विवृद्धि दो प्रकार की होती है। पूर्वपक्षवादी का मत है कि दण्ड की भाँति गवामयन में भी त्र्यनीकों की आवृत्ति करनी चाहिए। जिस तरह दण्ड के आदि, मध्य और अन्त भाग होते हैं और हर समय तीनों के साथ रहते हैं, इसी तरह एक समय तीन त्रिक का अनुष्ठान करने के बाद अन्य समय तीन त्रिक का अनुष्ठान करना चाहिए और क्रतु (यज्ञ) की समाप्ति तक अर्थात् वर्ष पर्यन्त करते रहना चाहिए॥ ८३॥

**अगले चार सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २०९८ ) स्वस्थानविवृद्धिर्वाह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात्॥ ८४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्वस्थानविवृद्धिः = स्वस्थान विवृद्धि रूप आवृत्ति है, अह्नाम् = क्योंकि दिवसों की, अप्रत्यक्षसंख्यत्वात् = संख्या अप्रत्यक्ष है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्षवादी का मत है कि दण्ड की भाँति नहीं, अपितु स्वस्थान विवृद्धि की भाँति आवृत्ति करनी चाहिए; क्योंकि अह्नों (दिवसों) की संख्या प्रत्यक्ष नहीं है। 'आग्रयग्रान् कृत्वा ऐन्द्रवायवाग्रा कर्त्तव्या' अर्थात् आग्रयण करने के बाद ऐन्द्रवायवाग्र कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वस्थान विवृद्धि रूप आवृत्ति ही करनी चाहिए॥ ८४॥

**( २०९९ ) पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्रयस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात्॥ ८५॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पृष्ठ्यावृत्तौ = पृष्ठ्य की आवृत्ति में, आग्रयणस्य = आग्रयणाग्रता का, दर्शनात् = दर्शन होने से, त्रयस्त्रिंशे = तैंतीस दिन में, परिवृत्तौ पुनः = दण्डकलित आवृत्ति में तो पुनः, ऐन्द्रवायवः स्यात् = ऐन्द्रवायव होता है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार इस सूत्र के द्वारा स्वस्थानवृद्धिरूप-आवृत्ति का ही समर्थन-संकेत करते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि पृष्ठ्य की आवृत्ति में तैंतीस दिवस में आग्रयणाग्रता का दर्शन होता है फिर दण्डकलित आवृत्ति में ऐन्द्रवायव होता है। अस्तु; स्वस्थानविवृद्धिरूप-आवृत्ति ही होती है॥ ८५॥

**( २१०० ) वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु॥ ८६॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकादशिनेषु = एकादशिन प्रकरण में, वचनात् = प्रमाण होने से, परिवृत्तिः = आवृत्ति की जाती है।

**व्याख्या—** आचार्य का कहना है कि एकादशिन प्रकरण में यह वचन पाया जाता है- 'वारुणमन्ततः पुनः पर्यावृत्तेषु आग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेत' इस प्रकार वचन प्रामाण्य होने के कारण एकादशिन प्रकरण में दण्डकलित आवृत्ति ग्रहण होती है॥ ८६॥

**( २१०१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ८७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाण उपलब्ध होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'दण्डकलितवत् ऐकादिशना आवर्त्तन्ते' इस प्रकार लिङ्ग वचन प्रदर्शित

होने के कारण भी एकादशिन प्रकरण में दण्डकलित आवृत्ति स्वीकार्य है॥ ८७॥

**अन्तिम सूत्र में आचार्य व्यूढ़ द्वादशाह में मन्त्रों के ही छन्दों में व्यतिक्रम की विवेचना करते हैं—**

**( २१०२ ) छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे भक्षपवमानपरिधिकपालस्यमन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात्॥ ८८॥**

**सूत्रार्थ—** व्यूढे = व्यूढ़ द्वादशाह याग में, छन्दोव्यतिक्रमात् = मुख्य छन्दों का व्यतिक्रम श्रुत होने से, भक्षपवमानपरिधिकपालस्य = भक्ष, पवमान, परिधि, कपाल के; मन्त्राणाम् = मन्त्रों का, यथा = जिस प्रकार, उत्पत्तिकथनम् = उत्पत्ति का कथन है, ऊहवत् स्यात् = अनुमान के आधार पर उसी प्रकार बोलना चाहिए।

**व्याख्या—** व्यूढ़ नामक द्वादशाह याग में मात्र मुख्य छन्दों का ही व्यतिक्रम होता है। अस्तु; उन-उन छन्द वाले मन्त्रों का वचन ही विपर्यस्त होता है। भक्ष, पवमान, परिधि और कपाल के मन्त्रों का जिस प्रकार पाठ-क्रम है, उसी प्रकार बोले जाएँगे। इस प्रकार मन्त्रों में व्यतिक्रम (अदल-बदल) नहीं होगा; ऊह मात्र छन्दों में होगा अर्थात् मन्त्रगत छन्दों का ही व्यतिक्रम होगा॥ ८८॥

**॥ इति दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः॥**

# ॥ अथ दशमाध्याये षष्ठः पादः ॥

**प्रस्तुत षष्ठ पाद में रथन्तर आदि सामों का गान तृच में करना चाहिए, यह सिद्ध करने के लिए पाद का आरम्भ पूर्वपक्ष के स्थापन से करते हैं—**

## ( २१०३ ) एकर्चस्थानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत्॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** यज्ञे = यज्ञ में, स्वाध्यायवत् = स्वाध्याय के तुल्य, एकर्चस्थानि = एक ही ऋचा में रथन्तर आदि सामों का गान, स्युः = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का मन्तव्य यह है कि अध्ययन के समय में जिस प्रकार से सामगान एक ही ऋचा में होता है, वैसे ही याज्ञिक प्रयोग के समय एक ही ऋचा में साम का गान किया जाना चाहिए॥ १ ॥

**समाधान हेतु अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जा रही है—**

## ( २१०४ ) तृचे वा लिङ्गदर्शनात्॥२ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाण वाक्य उपलब्ध होने से, तृचे = तृच (तीन ऋचाओं) में सामगान होना चाहिए।

**व्याख्या—** साम का गान तीन ऋचाओं में होना चाहिए, इसका लिङ्गबोधक वाक्य इस प्रकार है-'अष्टाक्षरेण प्रथमाया ऋचः प्रस्तौति द्व्यक्षरेणोत्तरयोः'। इसके अतिरिक्त 'ऋक्सामोवाच' आदि स्तावक वाक्य में भी तीन ऋचाओं में ही साम का गान किया जाना बतलाया है। इसलिए 'तृच' में ही गान किया जाना उचित है॥ २ ॥

स्वाध्यायवत् = स्वाध्याय के तुल्य।

## ( २१०५ ) स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात्॥ ३ ॥

**सूत्रार्थ—** स्वर्दृशं प्रति = स्वर्दृक् पद के लिए किया गया, वीक्षणम् = वीक्षण का कथन, परार्थत्वात् = परार्थ-स्तुत्यर्थक होने से, कालमात्रम् = केवल काल का लक्षण है।

**व्याख्या—** 'अभिवा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः' ऋग्वेद की इस ऋचा में 'स्वर्दृक्' पद की उपलब्धता है। इस ऋचा का गान जब किया जाता है, तब संमीलन करे तथा उस ऋचा में 'स्वर्दृक्' पद का आगम होने पर उसे देखे (वीक्षण करे)-''रथन्तरे प्रस्तूयमाने संमीलयेत् स्वर्दृशं प्रतिवीक्षेत्'। प्रस्तुत स्थल पर 'स्वर्दृक्' वीक्षण का अङ्ग न होकर काल (समय) को लक्षित करता है तथा यह पद परार्थ होने से स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः उसे वीक्षण का अंग नहीं माना जा सकता॥ ३ ॥

**अगले सूत्र में सामों के विभाग को सुनिश्चित करने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २१०६ ) पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम्॥ ४ ॥

**सूत्रार्थ—** पृष्ठ्यस्य = पृष्ठ संज्ञक स्तोत्र का, युगपद्विधेः = युग पद विधि-एक साथ गायन का विधान होने से एकाहवत् = एकाह के समान, द्विसामत्वम् = दोनों सामों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** ''पृष्ठ्यः षडहो बृहद्रथन्तरसामा इति'' इस वाक्य में पृष्ठ्य स्तोत्र का एक साथ विधान प्राप्त है। इसलिए षडह संज्ञक, याग में 'बृहत्' तथा 'रथन्तर' दोनों सामों का गान,एकाह के समान प्रत्येक दिन किया जाना चाहिए। पूर्वपक्षी के कथन का मन्तव्य यही है॥ ४ ॥

***[ नोट- उक्त आम्नान वाक्य में प्रयुक्त ''बृहद्रथन्तरसामा'' में द्वन्द्व-गर्भित बहुव्रीहि समास मानने से पूर्वपक्ष द्वारा यह अर्थ निकाला गया है। ]***

**अगले सूत्र में सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

## ( २१०७ ) विभक्ते वा समस्तविधानात्तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम्॥ ५ ॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद सिद्धान्त-सूचक है। विभक्ते = उक्त 'पृष्ठ्यः' पद में द्वन्द्व-समास न होने के कारण, समस्तविधानम् = केवल बहुव्रीहि समास का विधान प्राप्त होने से, तद्विभागे = उनके (बृहत् एवं रथन्तर साम के) विभाग में, अप्रतिषिद्धम् = प्रतिषेध नहीं है।

**व्याख्या—** सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त वाक्य में प्रयुक्त पदों 'बृहद्रथन्तरसामा' में मात्र बहुव्रीहि-समास ही है, द्वन्द्व-समास नहीं। इस कारण से उनका (बृहत् एवं रथन्तर साम का)विभाग पूर्णतः अबाधित है । इसलिए विकृतिभूत-याग षडह में प्रतिदिन एक-एक स्तोत्र(साम) का, किसी दिन रथन्तर साम का गान, तो किसी अन्य दिन बृहत् साम का गान किया जाना चाहिए। षडह के छहों दिन तक ऐसा ही क्रम बनाये रखना चाहिए, जैसा कि प्रकृतिभूत याग में हुआ करता है॥ ५॥

**अगले दो सूत्रों में एकादशिन पशुओं के दान के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है—**

## ( २१०८ ) समासस्त्वैकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** ऐकादशिनेषु = (विकृति यागों में) एकादशिन पशुओं के दान के क्रम में, तत् = उसके, प्रकृतित्वात् = प्रकृतिभूत यागों की भाँति, समासः = समस्त एकादशिन पशुओं का दान किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृति-भूत याग (ज्योतिष्टोम) में जिस प्रकार सम्पूर्ण एकादशिन पशुओं का आलभन-दान होने के कारण समास होता है, उसी प्रकार उसके विकृतिभूत याग (द्वादशाह) में भी एक ही दिन में समस्त एकादशिनों (पशुओं) का दान किया जाना चाहिए॥ ६॥

## ( २१०९ ) विहारप्रतिषेधाच्च ॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विहारप्रतिषेधात् = असमान-अधिकरण के प्रतिषेध से भी ऐसा ही है।

**व्याख्या—**'प्रायणीयोदयनीययोरालभेत्' इस वाक्य में यह कहा है कि प्रायणीय एवं उदयनीय दिनों में समस्त पशुओं का दान दिया जाना चाहिए। असमान-अधिकरण तब होता है, जब प्रत्येक दिन एक पशु के दान का क्रम बनाया जाये। उक्त विधि-वचन में असमान-अधिकरण का प्रतिषेध किये जाने से समस्त एकादशिन पशुओं का दान एक ही साथ किया जाना चाहिए॥ ७॥

**अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

## ( २११० ) श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, श्रुतितः = द्वित्व की श्रुति होने से जिस प्रकार, लोकवत् स्यात् = लोक व्यवहार में विभाग होता है, द्विविभागः = वैसे ही प्रायणीय एवं उदयनीय (वैदिक वचनों) में भी समझना चाहिए।

**व्याख्या—** 'चैत्रमैत्रयोः शतंदेहि' लोक प्रचलित इस वाक्य की भाँति ही ''प्रायणीयोदयनीयो'' में भी द्वित्व-द्विवचन है।'चैत्र मैत्रयोः शतंदेहि' का अर्थ जिस तरह से यह है कि चैत्र एवं मैत्र-संज्ञक पुरुषों को सौ रुपये पचास-पचास करके (विभागपूर्वक) बाँट दो, वैसे ही प्रायणीय एवं उदयनीय दोनों के दिनों में एकादशिन पशुओं का दान किया जाना भी समझ लेना चाहिए॥ ८॥

## ( २१११ ) विहारप्रकृतित्वाच्च॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रकृतित्वात् = प्रकृत के अनुसार, विहारः = विभागपूर्वक पशुदान उचित है।

**व्याख्या—** प्रत्येक दिन एक-एक पशु के दान का प्रकृत होना भी प्राप्त है-''अन्वहमेकैकमालभेत''। ऐसे प्रमाण वाक्य तदनुरूप ही किये जाने चाहिए॥ ९॥

## ( २११२ ) यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं विशये च तदासत्तेः॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** यावच्छक्यम् = जहाँ तक संभव हो, तावत् = तब तक, विहारस्य = इस विहार के वाक्यार्थ का ही,

अनुग्रहीतव्यम् = अनुगृहीत (अनुसरण) करना चाहिए,च = तथा विशये = संशय की स्थिति उत्पन्न होने पर, तदासत्तेः = प्रधान (प्रकृति) के प्रमाण के आधार पर निर्णय करना चाहिए।

**व्याख्या—** भाव यह है कि यथा सम्भव विहार वाक्य के कथन का पालन करना चाहिए, संशय की स्थिति होने पर मुख्य-प्रकृति (प्रधान) प्रमाणों के आधार पर निर्णय करना चाहिए॥ १०॥

**उक्त कथन में आक्षेप की अभिव्यक्ति करते हैं—**

**( २११३ ) त्रयस्तथेति चेत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इस तरह से निर्णय किये जाने पर तो, त्रयः = तीन ही पशुओं का प्रायणीय में दान (आलभन) होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपकर्त्ता का कथन है कि मुख्य प्रमाणपरक वचनों के अनुसार चलें तो प्रायणीय दिवस में तीन ही पशुओं का दान किया जाना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाये, तो?॥ ११॥

**उक्त आक्षेप का निराकरण अगले सूत्र में करते हैं—**

**( २११४ ) न समत्वात्प्रयाजवत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयाजवत् = प्रयाज के समान, समत्वात् = समान भाग होने से, न = उक्त आक्षेप नितान्त अयुक्त है।

**व्याख्या—** समाधान-कर्त्ता का कहना है कि प्रयाजों के विभागों की भाँति ही प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए वचन है–'एकादश मध्ये षडागन्तवः प्रयाजाः प्रथमोत्तमयोर्विकार भूताः साम्येन प्रविभज्यन्ते एवमिहापि'। अर्थात् ग्यारह प्रयाजों में आगन्तुक छः प्रयाज पूर्व प्रयाजों के विकार भूत होते हैं तथा उनके विभाग भी बराबर होते हैं। आशय यह है कि प्रयाज के तुल्य समान भाग होने से प्रायणीय एवं उदयनीय दिनों में पशुदान के लिए समान ही विभाग किया जाना चाहिए॥ १२॥

**विश्वजित् सर्वपृष्ठ है, इसके विधान के विषय में आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २११५ ) सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वपृष्ठे = सर्वपृष्ठ में, पृष्ठशब्दात् = पृष्ठ शब्द द्वारा प्राप्त निर्देश के होने से , तेषाम् = उनमें छहों पृष्ठों-सामों का, एकदेशत्वम् = एकदेशत्व है, पृष्ठस्य = (क्योंकि) पृष्ठ का, कृत- देशत्वात् = सुनिश्चित देश होने से वह पूर्व-निर्णीत, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति' वाक्य के अनुसार विश्वजित्-संज्ञक याग में, समस्त (छहों) सामों का विनियोग प्राप्त है। सभी छहों सामों (रथन्तर, बृहद्, वैराज,शाक्वर एवं रैवत) का एकदेशत्व होने से इनका गान एक ही स्थल पर होना होता है। कारण यह कि साम-पृष्ठ का स्थान पहले से ही निर्धारित होता है–'ऊर्ध्वं माध्यन्दिन-पवमानात् प्राङ् मैत्रावरुणसाम्नः इदमन्तरालं पृष्ठदेशः'। इस वाक्य में प्राप्त अन्तराल ही पृष्ठदेश है और पूर्वपक्षों के कथनानुसार यह (अन्तराल) पृष्ठदेश सभी सामों के लिए है॥ १३॥

**समाधान हेतु अगले सूत्र में सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २११६ ) विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** विधेः = विधि वाक्य से, तु = तो, विप्रकर्षः = देशभेद की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** 'पवमाने रथन्तरं करोति आर्भवे बृहत्, मध्ये इतराणि, वैरूपं होतुः पृष्ठम् वैराजं ब्रह्मसाम शाक्वरं मैत्रावरुणसाम रैवतमच्छावाकसाम' - इस शाबर भाष्य के प्रत्यक्ष वाक्य द्वारा भिन्न देशों (गायन के स्थलों)का कथन किया है। अतएव न्यायानुसार समस्त सामों की प्राप्ति एक देश(पृष्ठ देश)में होने पर भी प्रत्यक्ष वाक्यों की उपलब्धता होने के कारण देश वैभिन्न्य भी मानना चाहिए॥ १४॥

**पृष्ठ कार्य में 'वैरूप' एवं 'वैराज' सामों का निवेश होना बतलाने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष करते हैं—**

## ( २११७ ) वैरूपसामा क्रतुसंयोगात् त्रिवृद्वदेकसामा स्यात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** क्रतुसंयोगात् = क्रतु (याग) के साथ सम्बन्ध होने से, वैरूपसामा = उक्थ्य में मात्र वैरूप साम का ही होना उचित है, त्रिवृत्वत् = जैसे अग्निष्टोम याग में जैसे त्रिवृत् सोम का सम्बन्ध है, एकसामा = वैसे ही उक्थ्य में भी एक साम ही, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्योतिष्टोम प्रकृति-याग के साथ सम्बन्ध होने से उक्थ्य में वैरूप-संज्ञक एक ही साम होना चाहिए। जिस प्रकार से अग्निष्टोम में मात्र त्रिवृत्-साम का गान किया जाता है तथा सम्पूर्ण क्रतु के साथ उसका सम्बन्ध है, वैसे ही उक्थ्य में भी एक ही साम होना युक्त है॥ १५॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करते हैं—**

## ( २११८ ) पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्॥ १६॥

**सूत्रार्थ—** वा = समाधान-सूचक यह पद सिद्धान्त हेतु प्रयुक्त है, प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् = प्रकृतिलिङ्ग के संयोग की प्राप्ति से, पृष्ठार्थे = पृष्ठ कार्य के लिए ही उसमें वैरूप साम का निवेश प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि उक्थ्य-क्रतु के साथ वैरूप-साम के साथ प्रत्यक्षतः अबाधित सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत-वैरूप साम का पृष्ठ (अन्तराल) में संयोग प्राप्त है। इसलिए इस संयोग के होने से ही वैरूप-साम उक्थ्य-क्रतु के साथ सम्बन्ध का लाभ प्राप्त करता है॥ १६॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त कथन पर आक्षेप एवं समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २११९ ) त्रिवृद्वदिति चेत्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** त्रिवृतवत् = इस प्रसंग में भी त्रिवृत की भाँति होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी का कहना है कि त्रिवृदग्निष्टोम के अन्तर्गत जिस प्रकार से त्रिवृत्त्व का संयोगरूप निवेश समस्त क्रतु के साथ हुआ करता है, उसी प्रकार से यहाँ क्यों नहीं होता (समाधान अगले सूत्र में है)॥ १७॥

## ( २१२० ) न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति में, अकृत्स्नसंयोगात् = समस्त याग से सम्बन्ध न होने से, न = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता का कहना है कि प्रकृति के अन्तर्गत साम के विधान कर्त्ता जितने भी वाक्य हैं, उन सबमें बहुब्रीहि समास नहीं, प्रत्युत कोई -कोई साम-स्तोत्र ही बहुब्रीहि समास वाले हुआ करते हैं। अतः सर्वत्र त्रिवृत्त्व नहीं होने से कई साम बाधित होते हैं॥ १८॥

**उक्त कथन में पुनः आक्षेप और इसका समाधन अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २१२१ ) विधित्वान्नेति चेत्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** विधित्वात् = धेनु विधि में जिस प्रकार से क्रतु के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह से यहाँ भी क्रतु के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, नेति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी के कथनानुसार धेनुर्दक्षिणा का सम्बन्ध जैसे क्रतु के साथ है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी क्रतु के साथ सम्बन्ध होना उचित है (समाधान अगले दो सूत्रों में है)॥ १९॥

## ( २१२२ ) न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** विशये = संशय की स्थिति में, तन्न्यायत्वात् = उसके न्याय्य होने से (और), कर्माविभागात् = कर्मों का अविभाग- अभेद होने से, न स्यात् = यह विधि, धेनु विधि के समान नहीं है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता ने कहा कि उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं। धेनु विधि के समान यह विधि नहीं है।

धेनु-दक्षिणारूप कार्य के एक होने के कारण समस्त याग के साथ उसका सम्बन्ध मानना सम्भव है; परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में तो सामों में भिन्नता-रूप भेद होने से वैषम्य है॥ २०॥

**अगले सूत्र में युक्ति का कथन करते हैं—**

**( २१२३ ) प्रकृतेश्चाविकारात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, प्रकृतेः = (यह) प्रकृतियाग का, अविकारात् = विकार न होने से भी ऐसा ही है।

**व्याख्या—** प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में गेय, साम से भिन्न अन्य सामों का निषेध न होने से अन्य साम भी मान्य हैं। 'वैरूप सामा क्रतु उक्थ्यः' वाक्य में वैरूप साम का निवेश पृष्ठ-कर्म में प्राप्त होता है॥ २१॥

**त्रिवृत् अग्निष्टोम में स्तोमगत संख्या का विकार होना बतलाने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१२४ ) त्रिवृति संख्यात्वेन सर्वसंख्याविकारः स्यात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** त्रिवृति = त्रिविदाग्निष्टोम में, संख्यात्वेन = त्रिवृत्- त्रैगुण्य स्वरूप संख्या का विधान प्राप्त होने से, सर्वसंख्याविकारः= ज्योतिष्टोम में प्रयुक्त होने वाली प्रत्येक वस्तु को तीन गुना करना चाहिए, (क्योंकि) सामान्य के द्वारा सर्वसंख्या का विकार, स्यात् = प्राप्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि त्रिवृत् का तात्पर्य ही तिगुना है। अस्तु, ज्योतिष्टोम याग में त्रिवृत् पद की प्राप्ति होने से उस याग में प्रयुक्त समस्त साधनों की संख्या तीन गुनी होनी चाहिए॥ २२॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २१२५ ) स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = या, तल्लिङ्गत्वात् = प्रमाण-वचनों की प्राप्ति से, स्तोमस्य = मात्र स्तोम का ही त्रिवृत् होता है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता का कथन है 'त्रिवृत् बहिष्पवमानः' प्रमाणपरक वचनों से यही सिद्ध होता है कि त्रिवृदग्निष्टोम में समग्र द्रव्यों का त्रिवृत् न होकर मात्र स्तोमों का ही त्रिवृत् (तीन गुना) होता है॥ २३॥

**अगले सूत्र में उभय-साम में बृहद् तथा रथन्तर-साम का समुच्चय बतलाने के लिए पूर्वपक्ष की प्रस्तुति है—**

**( २१२६ ) उभयसाम्नि विश्वजिद्वद्विभागः स्यात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** उभयसाम्नि = उभय साम से युक्त याग में, विश्वजित्वत् = विश्वजित् याग के समान, विभागः = विभाग, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के अनुसार जो याग उभय-साम वाला हो, उसमें (संसवे बृहद्रथन्तरे उभे कुर्यात्) विश्वजित् याग के तुल्य विभाग होता है। उसमें जिस प्रकार से एक साम का विनियोग पृष्ठ-कार्य में होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना युक्त है; क्योंकि ये सभी उसके विभाग हैं॥ २४॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष से समाधान करते हैं—**

**( २१२७ ) पृष्ठार्थे वाऽतदर्थत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद समाधान अर्थ में प्रयुक्त है। पृष्ठार्थे = पृष्ठार्थ में (पृष्ठ कार्य में) दोनों का विनियोग प्राप्त है, अतदर्थत्वात् = अतदर्थ होने के कारण उन दोनों का अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता का कथन है कि स्तोत्र से अन्य के साथ इनके सम्बन्धों का अभाव होने से मात्र पृष्ठकार्य में ही दोनों (बृहत् एवं रथन्तर) सामों का विनियोग प्राप्त है। अतः इनके विभाग नहीं, प्रत्युत समुच्चय है। प्रस्तुत वाक्यार्थ से भी यही उपपन्न होता है- 'रथन्तरसहितबृहता पृष्ठकार्यं साधयेत्'॥ २५॥

**( २१२८ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाणपरक वचनों की प्राप्ति से भी उक्त कथन की उपपन्नता है।

**व्याख्या—** एक ही दिवस में पूर्व का भाग रथन्तर तथा उत्तर का भाग बृहत् के लिए है- 'पूर्वाह्णो वै रथन्तरमपराह्णो बृहत्।' उक्त दोनों सामों का विधान एक ही (दिन में) स्थल पर प्राप्त होने से समुच्चय मानना ही उचित है। उक्त लिङ्ग-वाक्य द्वारा यही सिद्ध होता है॥ २६॥

**'गवामयन' में विहित वैकल्पिक मध्वशन तथा घृताशन का ग्रहण 'षडह' याग के समापन दिवस में किया जाना बतलाने के प्रयोजन से अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २१२९ ) पृष्ठे रसभोजनमावृत्तेसंस्थिते त्रयस्त्रिंशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** पृष्ठे = पृष्ठ में, रसभोजनम् = घृत अथवा मधु से युक्त उत्तम भोजन, आवृत्ते: = विपरीत क्रम से किया जाना चाहिए, प्रकृतिवत् = जैसा कि प्रकृतियाग में, स्यात् = होता है, त्रयस्त्रिंशे = तैंतीसवें, अहनि = दिन के, संस्थिते: = संस्थित होने की दशा में, तदानन्तर्यात् = क्योंकि उनमें (उन दोनों में) आनन्तर्य होने से (यही युक्त है)।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि द्वादशाह याग के प्रकरण में पठित ''संस्थिते पृष्ठ्ये षडहे मध्वाशयेत्'' वाक्य के अनुसार जब षडह का समापन हो, तब जैसे प्रकृतियाग में किया जाता है, वैसे ही तैंतीसवें दिवस में मध्वशन (सरस भोजन) ग्रहण किया जाना चाहिए॥ २७॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष से करते हैं—**

**( २१३० ) अन्ते वा कृतकालत्वात्॥ २८॥**

**सूत्राथ—**वा = अथवा, कृतकालत्वात् = समय निर्धारित होने से, अन्ते = अन्तिम दिन ही होना चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'संस्थिते पृष्ठ्ये षडहे मध्वाशयेत्' वाक्य से षडह-संज्ञक याग के पूर्ण होने पर मध्वशन किया जाना ही सिद्ध होता है। कारण यह कि 'षडह' याग छ: दिनों में ही पूर्ण हो जाता है। अत: छठवें दिन में रस भोजन (मध्वशन)किया जाना चाहिए॥ २८॥

**अब षडह की आवृत्ति होने पर मध्वशन तथा घृताशन के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१३१ ) अभ्यासे च तदभ्यास: कर्मण: पुन: प्रयोगात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मण: = षडह-संज्ञक यज्ञ कर्म के , पुन: प्रयोगात् = बारम्बार प्रयोग होने से, अभ्यासे = उसकी आवृत्ति होने पर, तदभ्यास: = उसकी अभ्यासरूप आवृत्ति , च = भी करनी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का मानना है कि 'षडह' कर्म के पुन:-पुन: अभ्यास (आवृत्ति) होने की स्थिति में मध्वशन एवं घृताशन का भी पुन:-पुन: अभ्यास होना चाहिए॥ २९॥

**समाधान के लिए अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं—**

**( २१३२ ) अन्ते वा कृतकालत्वात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कृतकालत्वात् = काल निर्धारित होने से, अन्ते = अन्तिम चरण में ही रस-भोजन होगा।

**व्याख्या—** सूत्र का सार-संक्षेप यह है कि किसी कर्मानुष्ठान के अन्तर्गत 'षडह' की पुन:-पुन: आवृत्ति होती हो, तो प्रत्येक षडह की पूर्णता पर मध्वशन एवं घृताशन नहीं किया जाना चाहिए, प्रत्युत सम्पूर्ण षडहों के समापन पर उसके अन्तिम दिन में उक्त रस-भोजन किया जाना चाहिए॥ ३०॥

**( २१३३ ) आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** व्यवाये = व्यवधान होने की स्थिति में, कालभेदात् = काल का भेद होने से, तु = तो, आवृत्ति: = भक्ष की आवृत्ति मासान्त में होनी चाहिए।

**व्याख्या—** गवामयन याग में सबसे पहले 'षडह' को अनुष्ठित कर अभिप्लवक-संज्ञक अहनों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए, तब फिर से षडह को अनुष्ठित करे। इस तरह से एक ही कर्म 'षडहों' के मध्य में अभिप्लवक-संज्ञक अह्नों से व्यवधान की उत्पत्ति होती है। अतएव व्यवधान के प्राप्त होने तथा कालभेद होने के कारण षडह की आवृत्ति होने के साथ मध्वशन एवं घृताशन की भी आवृत्ति प्रतिमास होनी चाहिए॥ ३१॥

**अगले सूत्र में द्वादशाह याग में सत्री को रसाहार कराने के सन्दर्भ में पूर्व पक्ष स्थापित किया गया है—**

## ( २१३४ ) मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** दीक्षिताः = सत्री (याग करने वाले) जनों के दीक्षित होने तथा उनके द्वारा, ब्रह्मचारित्वात् = ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह करने के कारण उनको, मधु = मध्वशन, न = नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के अनुसार यज्ञ में दीक्षित ब्रह्मचारी यज्ञिकों को (ब्रह्मचारियों के लिए मधु आहार वर्जित होने से) मध्वशन नहीं करना चाहिए॥ ३२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २१३५ ) प्राश्येत वा यज्ञार्थत्वात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यज्ञार्थत्वात् = उक्त आहार के यज्ञार्थक होने से , प्राश्येत = मध्वशन होना चाहिए।

**व्याख्या—** ब्रह्मचारियों को मधु आहार से लगाव-अनुराग नहीं होना चाहिए, किन्तु जिस आहार का विधान यज्ञ प्रसाद रूप में ही किसी प्रकार का दोष नहीं है॥ ३३॥

**मानस-ग्रह को दशम अहन् का अङ्ग होना बतलाने के प्रयोजन से अगले चार सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २१३६ ) मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात्॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** मानसम् = मानस-संज्ञक ग्रह, व्यपदेशात् = भेद-व्यपदेश होने से, द्वादशाहे = द्वादशाह के अहरन्तरम् = बारह दिवसों की अपेक्षा उससे अन्य-भिन्न दिवस का ही अङ्ग, स्यात् = है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी की मान्यता के अनुसार मानस नामक ग्रह द्वादशाह के बारह दिनों से भिन्न दिवस का अङ्ग है; क्योंकि प्रस्तुत वाक्य 'वाग्वै द्वादशाहो मनोमानसम्' में वाक्(वाणी) को बारहवाँ दिवस तथा मन को भिन्न संख्या कहा है॥ ३४॥

## ( २१३७ ) तेन च संस्तवात्॥ ३५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तेन = उसके द्वारा, संस्तवात् = संस्तुत होने के कारण भी उक्त कथन की सिद्धि है।

**व्याख्या—** "द्वादशाहस्य यानि गतरसानि छन्दांसिस्य, तानि मानसेन आप्याययन्ति" इस अर्थवाद वाक्य का अर्थ है- द्वादशाह याग के छन्द गत-रस हुए रहते हैं, वे छन्द मानस ग्रह के द्वारा रसयुक्त हुआ करते हैं। उक्त स्तावक-वाक्य मानसग्रह एवं द्वादशाह के मध्य भेद की सिद्धि करता है॥ ३५॥

## ( २१३८ ) अहरन्ताच्च परेण चोदना॥ ३६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा,चोदना = मानसग्रह का विधान, अहरन्तात् = द्वादशाह के अन्तिम दिन से,परेण = पीछे होने से भी उक्त कथन की उपपन्नता है।

**व्याख्या—** विधि वाक्य 'पत्नी: संयाज्य प्राञ्च उदेत्य मानसाय प्रसर्पन्ति' के अनुसार पत्नी संयाजात्मक कर्म का सम्पादन बारहवें दिन होना तथा उसके अनन्तर मानसग्रह के लिए प्रसर्पण का विहित होना सिद्ध होता है॥ ३६॥

## ( २१३९ ) पक्षे संख्या सहस्रवत्॥ ३७॥

**सूत्रार्थ—** पक्षे = पूर्वपक्ष के समर्थन में यह तर्क भी है कि, संख्या = द्वादशाह -बारह संख्या का व्यवहार,

सहस्रवत् = सहस्र के समान अधिक के लिए भी हुआ करता है।

**व्याख्या—** सूत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि 'अतिरात्रेण सहस्रसाध्येन यजेत' वाक्य में सहस्र शब्द का व्यवहार सहस्र से अधिक की संख्या के लिए किया गया है, इसी तरह से द्वादशाह को भी समझना चाहिए, उसका भी व्यवहार बारह से अधिक के लिए किया गया है॥ ३७॥

***नोट- मानस-ग्रह का आशय इस प्रकार से समझना चाहिए-'अजया त्वया पृथिव्या पात्रेण समुद्ररसया प्रजापत्ये त्वा जुष्टम् गृह्णामि इति, मानसं प्राजापत्यं गृह्णामि' अर्थात् पृथ्वी पात्र है, उसमें स्थित समुद्र सोम है तथा प्रजापति देवता हैं, ऐसे ग्रह के ग्रहण में मन ही एकमात्र साधन है ।***

**अगले पाँच सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

## (२१४०) अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाऽभावात्॥ ३८॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अंशुवत् = जिस प्रकार अंशुग्रह सुत्यादिवस का अङ्ग है, चोदनाऽभावात् = पृथक् विधान का अभाव होने से, अहरङ्गम् = द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग है, न कि पृथक् कर्म।

**व्याख्या—** पृथक् विधान की प्राप्ति न होने से मानस-ग्रह को पृथक् कर्म नहीं माना जा सकता। जैसे सोम याग में अंशु ग्रह अभ्यास स्वरूप सुत्यादिवस का अङ्ग हुआ करता है, वैसे ही मानस-ग्रह भी द्वादशाह का अङ्ग ही है॥ ३८॥

## (२१४१) दशमविसर्गवचनाच्च॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, दशमविसर्गवचनात् = दशम दिवस के विसर्ग-वचन से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** दसवें दिन के विसर्ग-वचन का स्वरूप इस प्रकार है-'एष वै दशमस्याह्नो विसर्गो यन्मानसम्'। इस विधि-वचन से भी मानस-ग्रह का द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग होना उपपन्न होता है॥ ३९॥

## (२१४२) दशमेऽहनीति च तद्गुणशास्त्रात्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, दशमे अहनि = दसवें दिन, तद्गुणशास्त्रात् = उसके गुण वाचक शास्त्र की प्राप्ति से भी, इति = इसी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** 'दशमेऽहनि मानसाय प्रसर्पन्ति'। यह विधि वाक्य उक्त मानस-ग्रह के लिए प्रसर्पण-स्वरूप गुणों का कथन करता है। अत: मानस-ग्रह का दशम दिवस का अङ्ग होना सिद्ध होता है॥ ४०॥

## (२१४३) संख्यासामञ्जस्यात्॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** संख्या = बारी की संख्या का, सामञ्जस्यात् = सामञ्जस्य प्राप्त होने से भी ऐसा ही है।

**व्याख्या—** द्वादशाह के दसवें दिन को यदि उक्त मानस-ग्रह का अङ्ग माना जाता है, तो द्वादशाह के बारह की संख्या में सामञ्जस्य की प्राप्ति होती है तथा नाम की यथार्थता सिद्ध होती है॥ ४१॥

## (२१४४) पश्वतिरेके चैकस्य भावात्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पश्वतिरेके = पशुओं के दान में अतिरेक होने से, एकस्य = एक की अधिकता की प्राप्ति, भावात् = होने से भी मानस ग्रह का अङ्ग होना ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** द्वादशाह याग के बारह दिनों में एकादशिन पशुओं के दान का विधान होने से प्रश्न उठता है 'कथमेकादशपशवो द्वादशाहनि' अर्थात् जब बारह दिन हैं तो ग्यारह पशु ही क्यों? एकादशिन पशुओं की संख्या (११) से एक दिन अधिक का होना भी मानस ग्रह का कर्मान्तर न होना तथा द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग होना सिद्ध होता है॥ ४२॥

**अब आचार्य गत ३५वें सूत्र में दी गयी पूर्वपक्षी युक्ति का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( २१४५ ) स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** स्तुतिव्यपदेशम् = स्तुति के रूप में किया गया कथन, व्रतवत् = व्रत के तुल्य, अविप्रतिषिद्धम् = नहीं हुआ करता, अङ्गेन = क्योंकि अङ्ग के द्वारा अङ्गी की स्तुति सर्वथा सम्भव है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि 'गवामयने चरमं महाव्रतसंज्ञं तस्य यन्ति वा एते मिथुनाद्ये संवत्सरमुपन्त्यन्तर्वेदि मिथुनौ सम्भवतस्तेनैव मिथुनान्नयन्ति' महाव्रत के इस स्तावक वाक्य से ज्ञात होता है कि संवत्सर तक चलने वाले उपर्युक्त सत्र में दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालनार्थ अन्तर्वेदि में ही मिथुनी भाव की प्राप्ति करते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में स्तुत्य एवं स्तावक सत्र से पृथक् न होकर उसी (सत्र) का ही अङ्ग अपने अङ्गी (सत्र) की स्तुति करता है। ठीक ऐसा ही द्वादशाह में भी समझना चाहिए॥ ४३॥

**( २१४६ ) वचनादतदन्तत्वम्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन से, अतदन्तत्वम् = उसका (द्वादशाह के अन्तिम दिन का) बोध नहीं होता।

**व्याख्या—** विधि वचन 'पत्नी: संयाज्य प्राञ्च उदेत्य मानसाय प्रसर्पन्ति' से भी द्वादशाह याग के अंतिम दिन का नहीं; प्रत्युत १०वें दिन का बोध होता है। आशय यह है कि मानस-ग्रह का ग्रहण पत्नीसंयाज से पीछे होता है। अत: इससे भी यही सिद्ध होता है कि मानस-ग्रह एक स्वतन्त्र कर्म न होकर द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग है॥ ४४॥

**सत्र का बहुकर्तृक होना बतलाने के लिए अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१४७ ) सत्रमेक: प्रकृतिवत्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** सत्रम् = सत्र का सम्पादन, प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग के समान, एक: = एक ही कर्त्ता करता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस प्रकार प्रकृति याग ज्योतिष्टोम आदि में एक ही कर्त्ता (यजमान) यज्ञ का सम्पादन करता है, वैसे ही सत्र में भी एक ही कर्त्तारूप यजमान होना चाहिए॥ ४५॥

**समाधान के लिए सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २१४८ ) बहुवचनात्तु बहूनां स्यात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = परन्तु, बहुवचनात् = बहुवचन का व्यवहार होने से तो, बहूनाम् = बहुतों द्वारा किया जाना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'ऋद्धिकामा:सत्रमासीरन्।' इस वाक्य में प्रयुक्त क्रियापद 'आसीरन्' एवं कर्तृपद 'ऋद्धिकामा:' में बहुवचन का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि सत्र में अनेक कर्त्ता होते हैं॥ ४६॥

**अगले सूत्र में पुन: आक्षेप की अभिव्यक्ति करते हैं—**

**( २१४९ ) अपदेश: स्यादिति चेत्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** अपदेश: = बहुवचन का प्रयोग भिन्न कारण से, स्यात् = है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी का कहना है कि उक्त वाक्य ''ऋद्धिकामा: सत्रमासीरन्'' में मात्र क्रिया का सम्बन्ध होने से बहुवचन का व्यवहार प्राप्त है। इस वाक्य के अनुसार एक कर्त्ता का होना भी संभव है, क्योंकि पृथक्-पृथक् कर्त्ता को उद्दिष्ट करके भी यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग किया जा सकता है॥ ४७॥

**अगले तीन सूत्र समाधान हेतु प्रस्तुत हैं—**

**( २१५० ) नैकव्यपदेशात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** एकव्यपदेशात् = एक का व्यपदेश होने के कारण, न = उक्त आक्षेप युक्त नहीं है।

**व्याख्या—** 'सत्र' एवं 'अहीन' ये दोनों द्वादशाह के ही प्रतिरूप हैं 'एष ह वै कुणपमति: य: सत्रे प्रतिगृह्णाति'

वाक्य से प्राप्त कथन में एकवचन के प्रयोग द्वारा सत्र में प्रतिग्रह की निन्दा की अभिव्यक्ति की गई है। इस प्रकार से सत्र याग में अनेक (यजमान) कर्त्ता का होना उपपन्न होता है॥ ४८॥

**( २१५१ ) सन्निवापं च दर्शयति॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संनिवापम् = संनिवाप के व्यवहार से भी सत्र का बहुकर्तृक होना, दर्शयति = दर्शाता है।

**व्याख्या—** संनिवाप के व्यावहारिक वाक्य का स्वरूप इस प्रकार है –''सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन् इति बहुयजमाना ये अग्नये तेषामेकत्र मेलनं दर्शयति''। इस वाक्य में किया गया संनिवाप का व्यवहार भी सत्र याग के बहुकर्तृकत्व की सिद्धि करता है॥ ४९॥

**अगले सूत्र में भी युक्ति कथन करते हैं—**

**( २१५२ ) बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचनं व्यर्थम्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** बहूनाम् = बहुवचन, च = तथा, एकस्मिन् = एक वचन, इति = इस प्रकार के वाक्य में एक प्रधान कर्त्ता के साथ, विशेषवचनं = बहुवचन का कथन होने के कारण, (एक ही कर्त्ता मानने पर) व्यर्थम् = वह अर्थहीन हो जाएगा।

**व्याख्या—** मीमांसाकार उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि सत्र याग में एक नहीं, अपितु अनेक यजमान (कर्त्ता) का होना सिद्ध है तथा उन अनेकों में से गृहपति ही सर्वश्रेष्ठ हुआ करता है।'यो वै बहूनाम् यजमानानां गृहपतिः स सत्रस्य प्रत्येता स हि भूयिष्ठां समृद्धिमाप्नोति इति। एकस्मिन् गृहपतौ बहुभिर्यजमानैः सह प्रवृत्ते फलविशेषं ब्रुवन् बहूनां सहप्रयोगं दर्शयति।' यह वाक्य बहुकर्तृकत्व मानने पर ही उपपन्न होता है। अतः सत्र याग बहुकर्तृक है, यही सर्वथा सिद्ध है॥ ५०॥

**सत्र-याग यजमान का ही ऋत्विज् होना बतलाने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१५३ ) अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् = प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम के समान, अन्ये स्युः ऋत्विजः = (अन्य) सत्र-याग में उससे (यजमान से) पृथक् ऋत्विज् हुआ करते हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी की मान्यता के अनुसार प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में जिस प्रकार यजमान से भिन्न ही ऋत्विज् होते हैं, उसी प्रकार से सत्र-याग में भी होना चाहिए॥ ५१॥

**अगले सूत्र में समाधान के उद्देश्य से सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २१५४ ) अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, यजमानाः = यजमान ही ऋत्विज् होते हैं, ऋत्विजाम् = ऋत्विजों के, अभिधानः = नाम का, संयोगात् = सम्बन्ध प्राप्त होने से , तेषाम् = उन्हीं का, यजमानत्वम् = यजमानत्व, स्यात् = है।

**व्याख्या—**'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति' अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विज् गृहपति(यजमान) को दीक्षा देकर फिर ब्राह्मण (ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विज्) को दीक्षा देता है। इस वाक्य से ऋत्विजों के नाम का सम्बन्ध सिद्ध होने से यही उपपन्न होता है कि सत्रयाग में यजमान - गृहपति ही ऋत्विज् होते हैं॥ ५२॥

**आचार्य अगले दो सूत्रों में आक्षेप तथा उसका निवारण बतलाते हैं—**

**( २१५५ ) कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** कर्तृसंस्कारः = कर्त्तारूप यजमान का संस्कार, वचनात् = वाक्य सामर्थ्य से ऋत्विक् के संस्कार के रूप में मान्य है, आधातृवत् = आधान के समान, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या**— "अग्निं आधास्यत् स्यात् स एतां रात्रिं व्रतं चरेदिति न मांसमश्नीयात् न स्त्रियमुपेयादिति" आधान के प्रकरण में पठित उक्त वाक्य में उपदेशित व्रतों में यजमान संस्कार की तद्रूपता होते हुए भी वचन सामर्थ्य के कारण ऋत्विक् संस्कार को भी स्वीकार किया गया है। अतः आक्षेपी के मतानुसार दीक्षा संस्कार ऋत्विजों के लिए होने पर भी सत्रयाग के अन्तर्गत यजमान से इसकी भिन्नता ही होनी चाहिए॥ ५३॥

**( २१५६ ) स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ**— विशये = संशय की स्थिति में, प्रकृतिवत् = प्रकृति याग की भाँति, स्यात् = यजमान ही ऋत्विज् हुआ करते हैं, तन्न्यायत्वात् = वही न्याय्य भी है।

**व्याख्या**—समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रकृति से द्वादशाह में उक्त दीक्षा संस्कार ऋत्विजों के नाम के साथ किया जाता है। इस प्रकरण में अपूर्व का विधान प्राप्त होने से यजमान की दीक्षा को मानना पड़ता है, जबकि प्रकृति में इस प्रकार से नहीं हुआ करता। अतः आक्षेप सूत्र में आगत उक्त आधान वाक्य की प्रयुक्तता प्रस्तुत प्रसङ्ग में औचित्यपूर्ण नहीं है॥ ५४॥

**पुनः आक्षेप का कथन करते हैं—**

**( २१५७ ) स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ**— गृहपतिवत् = गृहपति के समान, स्वाम्याख्याः = स्वामित्व वाचक (यजमान वाचक) शब्द भी, स्युः = होते हैं, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का व्यक्त की जाये, तो?

**व्याख्या**— आक्षेपी का कथन है कि ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि शब्दों को भी 'गृहपति' शब्द के तुल्य यजमान का वाचक मानना चाहिए, वे भी स्वामित्व वाचक होने चाहिए॥ ५५॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—**

**( २१५८ ) न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ**— न = नहीं, प्रसिद्धग्रहणत्वात् = जिसकी प्रसिद्धि है, उसी का ग्रहण होने से, तद्धर्मेण = उस ऋत्विक् के धर्म से, असंयुक्तस्य = असम्बद्ध व्यक्ति ही स्वामी होता है।

**व्याख्या**— ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता आदि पद वाले ऋत्विक् अपने-अपने द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रिया के साथ सम्बद्ध होते हैं। यजमान को ऋत्विजों का सम्बोधन तो दिया जा सकता है, गृहपति स्वामी का नहीं।॥५६॥

**( २१५९ ) बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ**— बहूनाम् इति = इस प्रकार बहुत से यजमानों में जो गृहपति होता है (सत्र कर्त्ता कहलाता है), तुल्येषु = मात्र यजमानों में, विशेषवचनम् = विशेष वचन, न उपपद्यते = सिद्ध नहीं होते।

**व्याख्या**— विशेष वाक्य है 'बहूनां यजमानानां गृहपतिः सत्रस्य प्रत्येता' अर्थात् बहुत से यजमानों में गृहपति ही सत्र कर्त्ता होता है। मीमांसाकार की मान्यता के अनुसार यजमान एवं षोडश ऋत्विजों की कर्त्ता के रूप में प्रसिद्धि है, किन्तु गृहपति से उनकी तुलना करने सम्बन्धी कोई विशेष वचन उपलब्ध नहीं है॥ ५७॥

**अगले दो सूत्रों में दीक्षित-अदीक्षित प्रकरण के अन्तर्गत सिद्धान्त पक्ष का कथन करते हैं—**

**( २१६० ) दीक्षितादीक्षितव्यपदेशश्च नोपपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ**— च = तथा सत्र याग में, अर्थयोः = अर्थ का, नित्यभावित्वात् = नित्य भाव होने से दीक्षितादीक्षितव्यपदेशः = दीक्षित एवं अदीक्षित का व्यपदेश, उपपद्यते = उपपन्न (सिद्ध), न = नहीं होता।

**व्याख्या**— सत्र में दीक्षित एवं अदीक्षित का व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता। दीक्षित एवं अदीक्षित दोनों में अर्थ का नित्य भाव प्राप्त है। अतएव सत्र याग में सभी कर्म यजमान के द्वारा ही सम्पादित होते हैं॥ ५८॥

**( २१६१ ) अदक्षिणत्वाच्च॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अदक्षिणत्वात् = सत्रयाग में दक्षिणा के न होने से भी उक्त कथन सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** ''अदक्षिणानि सत्राणि'' सत्रयाग दक्षिणारहित होते हैं तथा इस याग में गौ, वस्त्र एवं सुवर्ण दान स्वरूप नहीं दिया जाता -'न ह्यत्र गौर्दीयते, न वासः,न हिरण्यम्'। इससे यही सिद्ध होता है कि सत्र में ऋत्विज् एवं यजमान एक ही होते हैं, जो यजमान है, वही ऋत्विज् है, कर्त्ता है॥ ५९॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य सत्र तथा अहीन का भेद स्पष्ट करते हैं—**

**( २१६२ ) द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात्॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** आसनोपायिचोदनेन = बैठने तथा कर्मारम्भ का जिनमें विधान प्राप्त होता हो, च = तथा, यजमानबहुत्वेन=यजमान की बहुलता की प्राप्ति हो (और), द्वादशाहस्य = द्वादशाह के साथ सम्बन्ध रखने वाले, सत्रशब्दाभिसंयोगात् = (अनुष्ठानों को) सत्र कहा जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार सत्र के लक्षणों का कथन करते हुए कहते हैं कि 'आस' तथा 'उप+इ' धातु की विध्यर्थ के रूप में जिसमें प्राप्ति हो, यजमानों की बहुलता हो और द्वादशाह से सम्बन्धित 'सत्र' पद की प्रयुक्तता हो, उसे ही सत्र कहा जाता है। यथा-'गावो वा सत्रमासत सप्तदशावराः सत्रमासीरन्'। इस दृष्टान्त वाक्य में आस् धातु विध्यर्थक है, यजमान बाहुल्यता भी है तथा सत्र शब्द की प्रयुक्तता भी है॥ ६०॥

**( २१६३ ) यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चास्थितपरिमाणत्वात्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** यजति चोदनात् = (जिनमें) यजति धातु का प्रयोग विध्यर्थ रूप में हो, च = और, स्वामिनाम् = यजमानों की, अस्थितपरिमाणत्वात् = संख्या का सुनिश्चित निर्धारण न हो (उन्हें अहीन की संज्ञा दी जाती है)।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जिनमें 'यजेत' (यज् धातु) की प्रयुक्तता हो तथा यजमानों की संख्या (परिमाण) की सुनिश्चितता का अभाव हो, उन्हें द्वादशाह अहीन कहा जाता है॥ ६१॥

**अब पौण्डरीक संज्ञक अहीन याग में गौओं और अश्वों के दान प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१६४ ) अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात्॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** अहीने = अहीन सत्र में, दक्षिणाशास्त्रम् = दक्षिणा का विधान, गुणत्वात् = गौण होने से (तथा), कर्मदः = प्रत्येक दिन के कर्म में वैभिन्य होने से, प्रत्यहम् स्यात् = प्रतिदिन होना उचित है।

**व्याख्या—** 'अहीनः पौण्डरीक एकादश रात्रः' अर्थात् पौण्डरीक अहीन ग्यारह रात्रियों वाला होता है। इस याग में दक्षिणा स्वरूप दस सहस्र गौओं तथा एक सहस्र अश्वों का दान किया जाता है। पूर्वपक्षी के मतानुसार प्रत्येक दिन के कर्म में भिन्नता होने के कारण उक्त दक्षिणा प्रत्येक दिन होनी चाहिए॥ ६२॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के कथन पर आक्षेप एवं उसका निवारण बताते हैं—**

**( २१६५ ) सर्वस्य वैककर्म्यात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, सर्वस्य = समस्त दिनों का समूह रूप, एककर्म्यात् = एकयागरूप कर्म होने से यज्ञ की पूर्णता पर ही दक्षिणा दी जानी चाहिए।

**व्याख्या—** पौण्डरीक नामक अहीन याग में समस्त ग्यारह दिनों का समूह-स्वरूप एक ही कर्म है। इसलिए याग के समापन पर (दक्षिणा दी जानी चाहिए) एक बार ही दक्षिणा दी जानी चाहिए॥ ६३॥

**( २१६६ ) पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद उक्त आक्षेप का निवारण करता है, पृषदाज्यवत् = पृषद् (संस्कारित) आज्य के समान, अह्नां गुणशास्त्रम् = दक्षिण अह्नों (दिनों)का गुणशास्त्र, स्यात् = प्राप्त है।

**व्याख्या—** पौण्डरीक-संज्ञक अहीन याग में एक ही बार दक्षिणा दी जानी चाहिए, यह कथन उचित नहीं। पृषदाज्य के समान प्रतिदिन दी जाने वाली दक्षिणा में पृथक्त्व-भेद संभव है। कारण यह कि यहाँ पर अह्न का प्रधानत्व एवं दक्षिणा का गौणत्व प्राप्त है। अत: प्रत्येक दिन दक्षिणा की आवृत्ति सर्वथा सम्भव है॥ ६४॥

**अगले दो सूत्रों में पुन: आक्षेप एवं उसके निवारण का कथन करते हैं—**

**( २१६७ ) ज्यौतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत् तस्मात्तासां विकारः स्यात्॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, सर्वासाम् = सम्पूर्ण कार्य के, एककर्मत्वात् = एक कर्म होने से, ज्यौतिष्टोम्य: = ज्यौतिष्टोम की, दक्षिणा: = दक्षिणा भी एक ही होती है, प्रकृतिवत् = प्रकृति के तुल्य, तस्मात् = इसलिए, तासाम् = उसका, विकार: = विकार, स्यात् = है।

**व्याख्या—** आक्षेपी का कहना है कि अहीन याग विकृति यज्ञ है। अतएव प्रकृति याग में जिस प्रकार कर्म के समापन पर (एक ही बार) दक्षिणा दी जाती है, वैसे ही पौण्डरीक नामक अहीन में भी याग की पूर्णता पर ही दक्षिणा का विधान होना चाहिए। प्रकृति एवं विकृति होने से दक्षिणा की आवृत्ति उससे भिन्न में एक जैसा विधान नहीं हुआ करती, ऐसा समझना चाहिए॥ ६५॥

**( २१६८ ) द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु तासां संख्याविकारः स्यात्॥ ६६॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, द्वादशाहे = द्वादशाह याग में, वचनात् = प्रत्यक्ष वचन की प्राप्ति से, दक्षिणा भेद: = दक्षिणा में भेद प्राप्त है, परेषु = पौण्डरीक आदि अहीन याग में भी, तत् = उसकी(द्वादशाह की),प्रकृतित्वात् = प्रकृति होने से , तासाम् = उसकी दक्षिणा में संख्या विकार: = कर्मानुसार दक्षिणा में भेद रूप विकार, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए कहता है कि "अन्वहं द्वादशशतं ददाति" इस प्रत्यक्ष वचन से द्वादशाह याग में प्रत्येक दिन दक्षिणा देने का विधान प्राप्त है। अतएव द्वादशाह के विकार स्वरूप पौण्डरीक में भी उसी प्रकार प्रतिदिन दक्षिणा देनी चाहिए॥ ६६॥

**अब अगले दो सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २१६९ ) परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात्॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, परिक्रय: = परिक्रय में, अविभागात् = विभाग का अभाव होने से, समस्तस्य = सम्पूर्ण का, विकार: = विकार, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—**ऋत्विजों का परिक्रय हो जाने पर सम्पूर्ण याग को सम्पन्न करने का दायित्व भी ऋत्विक् स्वीकार कर लेते हैं। जब परिक्रय में भेद न होकर एकत्व है, तो दक्षिणा में एकत्व एवं अभेद ही होना युक्त है। फल का प्रदाता सम्पूर्ण याग है, न कि उस याग का कोई एक अङ्ग। इसलिए सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण क्रतु की दक्षिणा एक ही बार (यज्ञ के समापन पर) दी जानी चाहिए॥ ६७॥

**( २१७० ) भेदस्तु गुणसंयोगात्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** तु = किन्तु, भेद: = द्वादशाह में जो भेद है वह मात्र, गुणसंयोगात् = गुण के संयोग के कारण है।

**व्याख्या—**द्वादशाह में दक्षिणा सम्बन्धी जो भेद का कथन प्राप्त होता है, वह मात्र गुण सम्बन्ध(सुत्या के

सम्बन्ध) से है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार के वचन की प्राप्ति पौण्डरीक याग में नहीं होती, अतएव सिद्धान्त के अनुसार उसमें एक ही समय दक्षिणा का विधान प्राप्त है॥ ६८॥

**पौण्डरीक याग में भी नित्य दक्षिणा ले जाने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१७१ ) प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सर्वशेषत्वात्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् = प्रकृति याग में जैसे, सर्वसंस्कारः = सर्व(सम्पूर्ण) दक्षिणा का संस्कार (एक ही समय में) हो जाता है (वैसे ही), सर्वशेषत्वात् = सम्पूर्ण माध्यन्दिन सवन का शेष होने से, प्रत्यहम् = प्रतिदिन, सर्वासाम् = सम्पूर्ण दक्षिणा का नयन (ले जाना) किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में जैसे सम्पूर्ण दक्षिणा का नयन रूप संस्कार उसी समय (माध्यन्दिन सवन में) ही हो जाया करता है, वैसे ही अतिदेश शास्त्र के अनुसार पौण्डरीक (विकृतियाग) में भी दक्षिणा का नयन (ले जाना) प्रतिदिन होना चाहिए॥ ६९॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आक्षेप तथा उसके निवारण का कथन है—**

**( २१७२ ) एकार्थत्वान्नेति चेत्॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** एकार्थत्वात् = सम्पूर्ण दक्षिणा का एकार्थत्व होने के कारण प्रतिदिन उनके नयन (ले जाने) रूप संस्कार की आवश्यकता, न = नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी के कथनानुसार प्रत्येक दिन सम्पूर्ण दक्षिणा का नयन रूप (ले जाने वाला) संस्कार नहीं हुआ करता, प्रत्युत माध्यन्दिन सवन में ही सम्पूर्ण दक्षिणा का नयन होता है॥ ७०॥

**( २१७३ ) उत्पत्तौ कालभेदात्॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तौ = विकृति के प्रकृतिभूत याग में दक्षिणाओं की उत्पत्ति में, कालभेदात् = काल भेद की विशिष्टता प्राप्त होने से, उक्त आक्षेप सर्वथा आधारहीन है।

**व्याख्या—** आक्षेपी का उक्त कथन सर्वथा अयुक्त है। कारण यह कि विकृति-पौण्डरीक याग के प्रकृतिभूत याग द्वादशाह में काल भेद की विशिष्टता श्रूयमाण है। आशय यह है कि नयन-रूप संस्कार का भेद प्राप्त है, अतएव इस भेद के कारण दक्षिणा का नयन प्रत्येक दिन होना चाहिए॥ ७१॥

**अगले क्रम में आचार्य सिद्धान्त पक्ष का निरूपण करते हैं—**

**( २१७४ ) विभज्य तु संस्कार वचनाद्द्वादशाहवत्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तो, संस्कारवचनात् = क्योंकि वचन की प्राप्ति होने से वचन रूप संस्कार किया जाना चाहिए, द्वादशाहवत् = द्वादशाह के समान, विभज्य = विभाग करके ही।

**व्याख्या—** पौण्डरीक संज्ञक अहीन याग का प्रकृतिभूतयाग ज्योतिष्टोम नहीं, प्रत्युत द्वादशाह है- 'पौण्डरीकश्च द्वादशाह प्रकृतिः न ज्योतिष्टोमः'। अतएव द्वादशाह के ही तुल्य विभाग करके ही दक्षिणा देनी चाहिए। विभाग के वाक्य का स्वरूप इस प्रकार है- 'अन्वहं द्वादशशतं ददाति'। अतएव प्रति अहन् (प्रत्येक दिन) एक सहस्र गौओं का (एक हजार गौओं का) नयन रूप (ले जाने का) संस्कार किया जाना चाहिए। ग्यारहवें दिवस में दक्षिणा स्वरूप एक सहस्र अश्व का नयन किया जाना चाहिए॥ ७२॥

**''मनोर्ऋचः सामिधेन्यो भवन्ति'' वाक्य के अनुसार 'मनु' की ऋचाओं में से अपनी आवश्यकतानुसार ऋचाओं का विनियोग सामिधेनी की रीति से किया जाना चाहिए, यही बतलाने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१७५ ) लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः स्याल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात्॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गस्य = लिङ्ग के, सर्वगामित्वात् = सर्वगामी होने के कारण, लिङ्गेन = लिङ्ग वाक्य द्वारा,

द्रव्यनिर्देशे = द्रव्य रूप शब्द का निर्देश होने पर, सर्वत्र प्रत्ययः स्यात् = समस्त मनु आदि ऋषियों से सम्बन्धित ऋचाओं का बोध होता है।

**व्याख्या—** 'मनोर्ऋचः सामिधेन्यो भवन्ति' प्रमाणपरक इस वाक्य के अनुसार दशममण्डल वाले ऋग्वेद में प्राप्त मनु आदि ऋषियों की समस्त ऋचाओं का आग्नेयवत् सामिधेनी में ही विनियोग किया जाना चाहिए। 'आग्नेयेन संवत्सरमिष्टका उपदधाति' में जिस प्रकार से समस्त आग्नेय सूक्त का ग्रहण हो जाता है, वैसे ही समस्त मानवी (मनु की ) ऋचाओं का ग्रहण होना चाहिए॥ ७३ ॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य सिद्धान्त निरूपित करते हैं—**

**( २१७६ ) यावदर्थं वार्थ शेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिंश्च लिङ्गसामर्थ्यम्॥ ७४ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थशेषत्वात् = अर्थशेष होने के कारण, अर्थेन = कार्य से, परिमाणम् = उसका परिमाण निर्धारित, स्यात् = किया जाना चाहिए, च = और, तस्मिन् = उनमें ही, लिङ्गसामर्थ्यम् = लिङ्ग वाक्य की सामर्थ्य के अनुसार, यावदर्थम् = अर्थ के अनुरूप ही मनु की ऋचाओं का विनियोग होना चाहिए।

**व्याख्या—** सिद्धान्त के अनुसार कर्म की सिद्धि के लिए जितनी मानवी ऋचाओं की अपेक्षा एवं आवश्यकता हो, उतनी ही ऋचाओं का सामिधेनी के अनुरूप विनियोग किया जाना चाहिए, सभी का नहीं। कर्मानुरूप ही उनके परिमाण (संख्या) का निर्धारण किया जाता है तथा लिङ्ग वाक्य की सामर्थ्य भी उन्हीं में है॥ ७४ ॥

**( २१७७ ) आग्नेये कृत्स्नविधिः॥ ७५ ॥**

**सूत्रार्थ—** आग्नेये = आग्नेय सूक्त में, कृत्स्नः = सम्पूर्ण मन्त्रों के अङ्गत्व का, विधिः = विधान है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के उक्त कथन में जो 'आग्नेयेन संवत्सरमिष्टका उपदधाति' वाक्य से समस्त आग्नेय सूक्तों के ग्रहण का कथन किया गया है, उससे तो समस्त सूक्तों का ग्रहण होता है, ऐसा समझना चाहिए। इष्टिकाओं के एक से अधिक (अनेक)होने के कारण प्रत्येक सूक्त में 'उपदधाति'वचन की प्राप्ति है, जबकि सूत्र अल्प ही हैं। इसलिए इष्टिका के उपधान हेतु समस्त सूक्तों का ग्रहण करना होता है॥ ७५ ॥

**( २१७८ ) ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात्॥ ७६ ॥**

**सूत्रार्थ—** ऋजीषस्य = ऋजीष के, प्रधानत्वात् = प्रधान होने से, अहर्गणे = द्वादशाह आदि में, सर्वस्य = सम्पूर्ण की, प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति, स्यात् = हुआ करती है।

**व्याख्या—** प्रतिपत्ति संस्कार में 'ऋजीष्मप्सु प्रक्षिपेत' वाक्य मिलता है। सोमलता का रस निकलने की प्रक्रिया को प्रतिपत्ति संस्कार कहते हैं। रस निचोड़ने के बाद बचे हुए समस्त छिलकों को पानी में फेंकने के लिए उक्त निर्देश है। सूत्रकार का कथन है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऋजीष की प्रधानता तथा प्रक्षेपण की अङ्गरूपता होने से समस्त ऋजीष का जल में प्रक्षेपण किया जाना ही उचित है- 'प्रतिप्रधानमंगावृत्तिः' प्रत्येक प्रधान के अङ्ग की आवृत्ति की जानी चाहिए; परन्तु इस दृष्टांत का व्यवहार मानवी ऋचाओं पर भी उसी प्रकार व्यवहृत हो, ऐसे किसी भी प्रमाण का सर्वथा अभाव है। अतः आवश्यकता के अनुरूप ही मानवी ऋचाओं का विनियोग होना उचित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ७६ ॥

**प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में सोम का तोलना( मान ) एवं उपावरण( बटोरना ) दोनों कार्य एक ही वस्त्र में होने तथा अहर्गण याग में भिन्न वस्त्र का उपयोग बतलाने के उद्देश्य से अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २१७९ ) वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात्॥ ७७ ॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति याग (ज्योतिष्टोम) में, सोमस्य = सोम का, मानोपावहरणे = मान तथा उपावहरण दोनों, वचनात् = वचन की सामर्थ्य से, वाससि = एक ही वस्त्र में हो जाया करता है।

**व्याख्या—** 'वाससि मानं वाससा चोपवहरणं कार्यम्'- वाक्य के अनुसार सोम के मान (माप या तोलना) तथा समेटना (उपावहरण करना)रूप कार्य एक ही कपड़े में किया जाना चाहिए। पृथक्-पृथक् वस्त्रों में नहीं करना चाहिए॥ ७७॥

**( २१८० ) तत्राहर्गणेऽर्थाद्वासः प्रकृतिः स्यात्॥ ७८॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र = वहाँ पर, अहर्गणे = अहर्गण में, अर्थात् = अर्थापति के द्वारा, वासः = अन्य वस्त्र का, प्रकृतिः = उत्पादन, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** द्वादशाह अहर्गण याग में तो उन-उन अह्नों-दिनों के लिए अभीष्ट सोम, खरीदे गये सोम में से पृथक् निकाल कर रख लिया जाता है । अतएव कपड़े में स्थित सम्पूर्ण सोम में से उस दिन के लिए जितना सोम अभीष्ट हो, उतना किसी नये (अन्य)वस्त्र में ही लिया जाना चाहिए। अतः मान एवं उपावहरण दोनों कार्यों का सम्पादन एक ही वस्त्र में किया जाना सम्भव नहीं, इसलिए नया वस्त्र लेना ही उचित है॥ ७८॥

**अन्य ( नये ) वस्त्र का उपादान-मात्र उपावहरण कर्म के लिए ही किया जाना चाहिए, इसी की उपपन्नता के लिए आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २१८१ ) मानं प्रत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दर्शनादुपावहरणस्य॥ ७९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति याग में, उपावहरणस्य = उपावहरण के, दर्शनात् = नियमानुसार, मानम् = तौलने के, प्रति = उद्देश्य से ही, तेन = नये वस्त्र का, उत्पादयेत् = उपादान किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृति में उपावहरण के सम्पादनार्थ नये वस्त्र के उत्पादन (उपादान) का श्रवण होता है। जिस वस्त्र में जो मान किया गया, उसी वस्त्र में उपावहरण न करके अन्य नये वस्त्र में उपावहरण करना चाहिए तथा उसके लिए नया वस्त्र लेना आवश्यक है॥ ७९॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु आचार्य ने पाद के अन्तिम सूत्र में सिद्धान्त की स्थापना की—**

**( २१८२ ) हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन॥ ८०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, हरणे = सोम के उपावहरण काल में ही नये (अन्य) वस्त्र का उत्पादन किया जाना चाहिए, तेन = उससे,विकृतौ = विकृति में, श्रुत्यसंयोगात् = श्रुति का संयोग प्राप्त न होने से केवल उपावहरण में ही अन्य वस्त्र लेना चाहिए।

**व्याख्या—** विकृति में मान-माप (तौलने) के काल में अन्य वस्त्र का उपादान किये जाने सम्बन्धी श्रुति का संयोग प्राप्त न होने के कारण यही सिद्ध होता है कि मान एवं उपावहरण दोनों कर्मों के सम्पादनार्थ भिन्न-भिन्न वस्त्रों का व्यवहार किया जाना चाहिए॥ ८०॥

**॥ इति दशमाध्यायस्य षष्ठः पादः॥**

# ॥ अथ दशमाध्याये सप्तमः पादः ॥

**यहाँ आचार्य ज्योतिष्टोम यज्ञीय अनुष्ठान में हविष् में भेद सन्दर्भ से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २१८३ ) पशावेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** पशौ = अग्नीषोमीय पशु में, समस्त चोदितत्वात् = समग्र विधान के अनुसार, एक हविष्ट्वम् = एक हवि की कल्पना होती है।

**व्याख्या—** होमीयद्रव्य-रूप पदार्थ का साधन होने के कारण अग्नीषोमीय पशु में भी एक हवि (हविष्पन) की कल्पना हुआ करती है। पूर्वपक्षी के मतानुसार उक्त पशु (संयुक्त हविष्य) में समग्र पशु घी, दूध आदि का साधन होने से उसमें हवि की कल्पना करना युक्त है॥ १ ॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २१८४ ) प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् = पशु के अङ्गों की पृथक् कल्पना होने से, ग्रहवत् = ग्रह संज्ञक यज्ञ पात्रों के समान, प्रत्यङ्गम् = प्रत्येक अङ्ग में हविष् का भेद प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** ग्रह संज्ञक पात्रों में जैसे भेद होता है, वैसे ही पशु के विषय में भी समझना चाहिए। दूध, दही, घृत आदि पशु (समग्र हवि) के ही अंगरूप हैं तथा ये सब पृथक्-पृथक् हवि हैं। अतएव सम्पूर्ण पशु में एक हवि की कल्पना करने के साथ-साथ उसके अङ्गों की भी पृथक्-पृथक् कल्पना करनी चाहिए॥ २ ॥

**पशु के समग्र अङ्ग विशिष्ट हवि की कल्पना में एक हेतु हैं, इस सन्दर्भ में यहाँ पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २१८५ ) हविर्भेदात्कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात्तेभ्योऽवदानं स्यात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** हविर्भेदात् = हविष् में भेद होने के कारण, कर्मणोऽभ्यासः = कर्म का भी अभ्यास होना उचित है, तस्मात् = इसलिए, तेभ्यः = उन अङ्गों से भी, अवदानम् = आहुतियों का अवदान, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** अङ्ग भेद के कारण हविष् भेद होने के आधार पर कर्मों का अभ्यास आवश्यक है। अस्तु,पशु के अवयवों-दूध, दही, घृत आदि द्रव्यों से भी आहुतियों का अवदान किया जाना चाहिए॥ ३ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने हेतु आचार्य ने अगले दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं—**

**( २१८६ ) आज्यभागवद्वा निर्देशात्परिसंख्या स्यात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद समाधान के अर्थ में प्रयुक्त है, आज्यभागवत् = आज्य भाग के सदृश, निर्देशात् = निर्देश के प्राप्त होने से सभी का ग्रहण, परिसंख्या = परिसंख्या के लिए, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** समुचित, समाधान हेतु सूत्रकार कहते हैं कि गृहमेधीय में जिस प्रकार से पंचम पक्ष के अंतर्गत आज्य भाग का निर्देश किया गया है, वैसे ही प्रस्तुत प्रसंग में भी परिसंख्या के लिए ही समस्त अङ्गों के ग्रहण का कथन किया गया है। आशय यह है कि उन्हीं अङ्गों का अवदान करना चाहिए, जिनका निर्देश किया गया हो। क्योंकि मुख्य हवि की उपलब्धता में समस्त अङ्गों की भूमिका एक सी नहीं है॥ ४ ॥

**( २१८७ ) तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशोः पञ्चावदानत्वात्॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, पशोः पञ्चावदानत्वात् = पशु के पंच अवयवों-अङ्गों के अवदान का श्रवण होने से, तेषाम् = उनमें (हवियों में) भी, द्व्यवदानत्वम् = दो अवदानों की, विवक्षन् = विवक्षा करते हुए, अभिनिर्दिशेत् = उन्हीं का निर्देश प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** एकादश हवियों में दो-दो अवदान किए जाने चाहिए, इसे अनुवाद न मानकर अपूर्व विधि मानना चाहिए। वह इसलिए कि पशु से प्राप्त घृत, दूध आदि पञ्च अवदानों-अवयवों का श्रवण होता है। जिन

दो अवदानों की प्राप्ति नहीं है, उन्हीं का विधान होना सम्भव है। इस कारण ग्यारह हवियों के अतिरिक्त सभी हविषों में से उनका कुछ-कुछ भाग निकालकर हवन करना चाहिए॥ ५॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने पुनः पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( २१८८ ) अंसशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च तदन्यपरिसंख्यानेऽनर्थकः स्यात् प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अंसशिरोनूकसक्थिः = अंस, शिर, अनूक, सक्थि आदि में, प्रतिषेधः = हविष् की रीति के अनुसार कल्पित किये जाने का निषेध है, तदन्यपरिसंख्याने = उनके अतिरिक्त अन्य के परिसंख्यान में प्रतिषेध की, अनर्थकः = अनर्थकता, स्यात् = होती है (इसी कारण से), तेषाम् प्रदानत्वात् = उनकी भी प्रदेयता प्राप्त होने से, निरवदानः = उनके निरवदान का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध-निषेध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** घृत, दूध, दही आदि की ग्यारह हवियों के अतिरिक्त जितनी भी हवियाँ हों, उन सभी में से एक-एक बार तथा उपर्युक्त एकादश हविषों में से दो-दो समय अवदान किया जाना चाहिए। अंस (कन्धा), शिर, अनूक (मेरुदण्ड), सक्थि (जंघा) आदि की हवि के रूप में कल्पना करनी चाहिए। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि इज्या (यजन) सभी अङ्गों द्वारा की जानी चाहिए॥ ६॥

**अगले तीन सूत्रों में सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की—**

**( २१८९ ) अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद सिद्धान्त सूचक अर्थ में प्रयुक्त है, अनवदानीयशब्दत्वात् = अनवदानीय शब्दों की प्रयुक्तता होने के कारण, परिसंख्या स्यात् = परिसंख्या होना सम्भव है।

**व्याख्या—** अनवदानीय शब्द की प्राप्ति होने से पक्षान्तर में परिसंख्या का होना सम्भव है, अतः परिसंख्या-संज्ञक विधि मानना युक्त है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि जितने भी होमीय हविष्-रूप द्रव्य प्राप्त हों, होमकर्म के लिए उन सभी से अवदान करना उचित है, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**( २१९० ) अब्राह्मणे च दर्शनात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अब्राह्मणे = ब्राह्मण से भिन्न को भी, दर्शनात् = यज्ञ शेष हवि का भक्षण विहित है।

**व्याख्या—** यज्ञ विशेष में यदि ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय आदि वर्ण का यजमान है, तो उसके लिए अवशिष्ट हवियज्ञ शेष का भक्षण विहित है- 'ककुभो राजपुत्रः प्राश्नाति'। उक्त कथन में यह वाक्य प्रमाण है॥ ८॥

**( २१९१ ) शृताशृतोपदेशाच्च तेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शृताशृतोपदेशात् = अग्निपक्व एवं अनग्निपक्व का उपदेश होने से, तेषाम् = उसमें-परिसंख्या में, उत्सर्गवत् = उत्सर्ग के तुल्य, अयज्ञशेषत्वम् = अयज्ञशेषत्व होता है, सर्वेषाम् = सभी का, श्रपणम् = श्रपण, न = नहीं, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सभी यजनीय हविष्य अग्निपक्व ही हों, ऐसा नियम प्राप्त नहीं है। अनग्निपक्व द्रव्यों-हवियों से भी आहुति देने का विधान मिलता है। इस प्रकार अग्निपक्व एवं अनग्निपक्व दोनों का उपदेश प्राप्त होने के कारण भी उत्सर्ग प्रमाण के आधार पर उसी के समान परिसंख्या में अयज्ञशेषत्व हुआ करता है। आशय यह है कि हवि-स्वरूप जो द्रव्य नहीं हैं, उन्हें यज्ञशेष भी नहीं माना जाता॥ ९॥

**स्विष्टकृत् होम के विषय में सूत्रकार ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( २१९२ ) इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** इज्याशेषात् = इज्या के शेष में से, स्विष्टकृत् = स्विष्टकृत्, इज्येत = हवन करना चाहिए,

प्रकृतिवत् = जिस प्रकार से प्रकृति याग में किया जाता है।

**व्याख्या—** प्रकृतियाग में जिस प्रकार से इज्या के शेषभूत में से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है, उसी प्रकार से विकृतियाग में भी इज्या के शेष भूत में से ही स्विष्टकृत् होम का सम्पादन किया जाना चाहिए॥ १०॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( २१९३ ) त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** वा=यह पद समाधान के अर्थ में प्रयुक्त है, त्र्यङ्गैः=उक्त स्विष्टकृत् होम तीन प्रकार की हवियों (अङ्गों) से किया जाना चाहिए (जैसे), शरवद्विकारः=शर के तुल्य विकार, स्यात्=हो जाया करता है।

**व्याख्या—** वैदिक वाक्य 'शरमयं बर्हिः' से जिस प्रकार शर-संज्ञक घास के विधान द्वारा कुशाओं (बर्हि) का बाध होता है, उसी प्रकार से मात्र एक ही अङ्ग से स्विष्टकृत् होम न करके तीनों यज्ञाङ्गों (हविषों-पक्व, अपक्व एवं घृत) से स्विष्टकृत् होम किया जाना युक्ति युक्त है, ऐसा समझना चाहिए॥ ११॥

**विवेचना के इसी क्रम में सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में पुनः पूर्वपक्ष रखा—**

**( २१९४ ) अध्यूध्नी होतुस्त्र्यङ्गवदिडाभक्षविकारः स्यात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** अध्यूध्नी = अध्यूध्नी-संज्ञक पशु का अङ्ग (अवयव) होता है, त्र्यङ्गवत् = त्र्यङ्गों (पक्व, अपक्व तथा घृत) से इज्या शेष की निवृत्ति हो जाया करती है तथा, होतुः = होता द्वारा उसमें, इडाभक्षविकारः = इडा-संज्ञक हविष् के विकार की कल्पना, स्यात् = की जानी चाहिए।

**व्याख्या—** इस सूत्र का आशय यह है कि अध्यूध्नी में तो तीनों अङ्गों (पक्व, अपक्व एवं घृत इन तीनों) के समान, होता ऋत्विज् के 'इडा' (हविष विकार) संज्ञक भक्ष की कल्पना करनी चाहिए॥ १२॥

**( २१९५ ) शेषे वा समवैति तस्माद्रथवन्नियमः स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, शेषे = आहुति से बचे द्रव्यों में, समवैति = समवैति हुआ करती है, तस्मात् = इसलिए, रथवत् = रथ के तुल्य यहाँ पर भी, नियमः = होतृ भाग में नियम, स्यात् = होते हैं।

**व्याख्या—** सभी हुतशेष द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य की कल्पना करना संभव है, किन्तु अध्यूध्नी के लिए एक नियत नियम की व्यवस्था है-वाजपेय यज्ञ में सत्तर रथों में से यजुर्युक्त रथ अध्वर्यु ऋत्विज् को देना चाहिए। पूर्वपक्षी का मत है कि ऐसे ही इडा विकार की कल्पना की जानी चाहिए॥ १३॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने उक्त दोनों पूर्वपक्षी सूत्रों का समाधान किया—**

**( २१९६ ) अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** अशास्त्रत्वात् = अशास्त्रीय होने के कारण, तु = तो, एवम् = इस प्रकार की कल्पना करना भी, न स्यात् = सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** सिद्धान्ती कहते हैं कि अध्यूध्नी संज्ञक अवयव में तो इड़ा नामक भक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती; क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता॥ १४॥

**पुनः अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २१९७ ) अपि वा दानमात्रं स्याद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है, भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् = भक्ष शब्द के साथ संयोग का अभाव होने से, दानमात्रम् = मात्र पशु का दान ही किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** इडा को भक्ष का विकार इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि भक्ष के साथ सम्बन्ध प्राप्त नहीं है। इसलिए यह पशु का दानमात्र है, ऐसा समझना चाहिए॥ १५॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में दिया जा रहा है—**

**( २१९८ ) दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ**—शेषं प्रति = शेष के प्रति, अविशिष्टत्वात् = विशिष्टता का अभाव होने, दातुः = दाता के, अविद्यमानत्वात् = विद्यमान न होने के कारण वह, इडा = इडा का, भक्षविकारः = भक्ष का विकार ही, स्यात् = होता है।

**व्याख्या**— पशु का दान इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि दाता अनुपलब्ध है। जिस प्रकार से यजमान है, वैसा ही होता। अतः समानता होने के कारण इडा के भक्ष का विकार मानना ही उचित होगा॥ १६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि वनिष्ठु भी अग्नीध के लिए होता है—**

**( २१९९ ) अग्नीधश्च वनिष्ठुरध्यूध्नीवत्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ**— च = तथा, अध्यूध्नीवत् = अध्यूध्नी के ही समान, वनिष्ठुः = वनिष्ठु भी, अग्नीधः = अग्नीधसंज्ञक ऋत्विज् के लिए हुआ करता है।

**व्याख्या**— सूत्र का भाव यह है कि अध्यूध्नी के ही समान वनिष्ठु, अङ्ग-अवयव की कल्पना अग्नीध ऋत्विज् को करनी चाहिए; क्योंकि वनिष्ठु अग्नीध नामक ऋत्विज् के लिए ही होता है॥ १७॥

**हुत शेष हवि के भक्षण का अधिकार स्पष्ट करने के लिए आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष रखते हैं—**

**( २२०० ) अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ**— अप्राकृतत्वात् = प्रकृतियाग में विधान न किये जाने से, मैत्रावरुणस्य = मैत्रावरुण-संज्ञक ऋत्विज् के लिए, अभक्षत्वम् = अभक्ष माना गया है।

**व्याख्या**— प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के साथ मैत्रावरुण-संज्ञक ऋत्विज् का सम्बन्ध विहित न होने के कारण उक्त ऋत्विक् के लिए हविशेष भक्ष नहीं है॥ १८॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( २२०१ ) स्याद्वा होत्रध्वर्य्युविकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, होत्रध्वर्युविकारत्वात् = होता तथा अध्वर्यु का प्रतिनिधि होने से तथा, तयोः = उन दोनों का, कर्माभिसम्बन्धात् = कर्म सम्बन्ध से शेष हवि का भक्ष मैत्रावरुण के लिए ही, स्यात् = है।

**व्याख्या**— होता तथा अध्वर्यु ऋत्विज् का सम्बन्ध प्राकृत कर्म के साथ प्राप्त है। अध्वर्यु द्वारा किया जाने वाला प्रैष कार्य मैत्रावरुण द्वारा किया जाता है। अस्तु, मैत्रावरुणसंज्ञक ऋत्विज् होता एवं अध्वर्यु का प्रतिनिधि स्वरूप होने से शेष हविष् के भक्ष का अधिकारी है॥ १९॥

**मैत्रावरुण के भाग के विषय में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २२०२ ) द्विभागः स्याद्द्विकर्मत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ**— द्विकर्मत्वात् = दोनों के कर्मों का सम्पादन करने से तो मैत्रावरुण को, द्विभागः = दो भागों की प्राप्ति, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या**— पूर्वपक्षी का कहना यह है कि जब मैत्रावरुणसंज्ञक ऋत्विज् होता एवं अध्वर्यु दोनों के कार्य सम्पादित करता है, तो उसे दो भाग मिलने चाहिए॥ २०॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त रूप में करते हैं—**

**( २२०३ ) एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, भागस्य = दो भागों का कथन, अश्रुतिभूतत्वात् = शास्त्रों में न सुने जाने के कारण, एकत्वात् = कर्मनिमित्तक लक्षण के एकत्व से, एक भागः = एक ही भाग, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या**— मैत्रावरुण ऋत्विज् को दो भाग मिलने चाहिए, इस प्रकार का विधायक वाक्य शास्त्र में सर्वथा अनुपलब्ध होने से एवं कर्म निमित्तक लक्षण के एकत्व से, उसको एक ही भाग मिलना चाहिए॥ २१॥

**प्रतिप्रस्थाता, शेष हवि के भक्षण के लिए अधिकृत नहीं, इस सन्दर्भ में आचार्य ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २२०४ ) प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रतिप्रस्थातुः = प्रतिप्रस्थातासंज्ञक ऋत्विज् के द्वारा, वपाश्रपणात् = वपाश्रपण की भावना करने के कारण हविशेष का भक्षण किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के मतानुसार अध्वर्यु ऋत्विज् द्वारा करणीय कर्म, वपाश्रपण की भावना प्रतिप्रस्थाता द्वारा किये जाने से उसे भी हविशेष का भक्षण करने का अवसर मिलना चाहिए॥ २२॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान दिया गया —**

**( २२०५ ) अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद समाधान अर्थ में प्रयुक्त है, कर्मभेदात् = कर्म में भेद की प्राप्ति होने से तथा, तस्याः = उसके, सर्वप्रदानत्वात् = सर्वप्रदान हो जाने से, अभक्षः = प्रतिप्रस्थाता का भक्षण उचित नहीं है।

**व्याख्या—** होम के प्रयोजनार्थ जो हविष् लायी जाती है, वह सम्पूर्ण रूप से हवन कर दी जाती है। उस हवि का शेष बचता ही नहीं, जिसे प्रतिप्रस्थाता भक्षण कर सके। इसके अतिरिक्त कर्म में भिन्नता रहने से भी उक्त ऋत्विज् को भक्षण करना नहीं होता॥ २३॥

**गृहमेधीय प्रकरण में आज्य भागों के निर्धारण सम्बन्ध में अगले दो सूत्रों में आचार्य ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २२०६ ) विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** विकृतौ = गृहमेधीय प्रकरण के अन्तर्गत, प्राकृतस्यविधेः = प्रकृत याग-दर्शपूर्णमास की विधि का, पुनः = फिर से, ग्रहणात् = ग्रहण होने से, श्रुतिः = श्रुति वचन, अनर्थिका = निरर्थक, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** 'आज्यभागौ यजति यज्ञस्यैव चक्षुषी नान्तरेति' यह वाक्य चातुर्मास्य प्रकरणान्तर्गत वर्णित गृहमेधीय प्रकरण में उपलब्ध है। विद्वानों ने इस वाक्य की विवेचना में कई पक्ष प्रस्तुत किये हैं। पहले पक्ष का मन्तव्य है- कि यह श्रुति वाक्य अर्थहीन है, कारण यह है कि 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या' से प्रकृति के धर्मों का विकृति में अतिदेश प्राप्त ही है, इसलिए फिर से विकृति में इस वाक्य की प्रयुक्तता नहीं होनी चाहिए; परन्तु यदि है, तो वह अपूर्व विधि न होकर मात्र अनुवाद स्वरूप ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ २४॥

**( २२०७ ) अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = और भी पूर्वपक्ष-अन्य मत है कि, आग्नेयवत् = आग्नेय विधि के तुल्य, द्विशब्दत्वम् = दो वचनों से एक ही कर्म की विधि-व्यवस्था, स्यात् = प्राप्त होती है।

**व्याख्या—** 'अग्निमग्न आवह' वाक्य में जैसे अग्नि शब्दों का प्रयोग दो बार होने पर भी एक ही का बोध होता है, वैसे ही गृहमेधीय में प्राप्त प्रत्यक्ष वाक्य से भी दो वचनों द्वारा एक ही कर्म का विधान प्राप्त होता है॥२५॥

**अब आचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में देते हैं—**

**( २२०८ ) न वा शब्दपृथक्त्वात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—**वा =या, शब्द पृथक्त्वात् = अग्नि शब्द के अर्थ में पृथक्ता होने से, न = उक्त कथन ठीक नहीं।

**व्याख्या—** दिये गये दृष्टान्त 'अग्निमग्न आवह' दो बार प्रयुक्त अग्नि शब्दों के अर्थों में मिलता है। एक अग्नि शब्द के अर्थ की प्रतीति अवोढ़ा के रूप में होती है, तो दूसरे अग्नि शब्द का अर्थ है अवोढव्य। जबकि 'आज्यभागौ यजति' आदि वाक्य में अर्थ भिन्नत्व की प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत एक ही अर्थ की प्रतीति होती है। अतएव उक्त वाक्य अनुवाद स्वरूप है, आज्य भाग का स्तावक है॥ २६॥

**( २२०९ ) अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे तेषु हि तादर्थ्यं स्यादपूर्वत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अधिकं स्यात् अर्थवत्वात् = उक्त शास्त्र वाक्य यहाँ पर प्राकृत अर्थ की तुलना में विशिष्ट अर्थ (अधिक) का बोध कराता है, अर्थवादगुणाभावे अविकारे वचनात् = क्योंकि उक्त वाक्य अर्थवाद गुणवाद एवं प्राकृत धर्मों का प्रापक न होने से, तेषु = उसमें, तादर्थ्यम् = तादर्थ्य होने से, अपूर्वत्वात् = अपूर्व विधान, स्यात् = है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'आज्य भागौ यजति' स्तावक वाक्य-अर्थवाद, गुणवाद एवं प्राकृत धर्मों का प्रापक न होने के कारण अधिक अर्थ (विशिष्ट अर्थ) की अभिव्यक्ति करता है। अस्तु, यह अनुवाद नहीं अपूर्व विधान है॥ २७॥

**उक्त अर्थ में आक्षेप बतलाते हैं—**

### ( २२१० ) प्रतिषेधः स्यादिति चेत्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** प्रतिषेधः = अतिरिक्त कर्म करने का निषेध, स्यात् = है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** 'आज्य भागौ यजति' वाक्य में अतिरिक्त कर्म का निषेध है। यदि ऐसा माना जाये, तो?॥ २८॥

**अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—**

### ( २२११ ) नाश्रुतत्वात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** अश्रुतत्वात् = किसी प्रतिषेध वाक्य का श्रवण न होने से, न = ऐसा उचित नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रतिषेध के पक्ष में कोई वचन प्राप्त नहीं और अश्रुत की कल्पना अनुचित है। इसलिए उक्त आक्षेपात्मक कथन अयुक्त है॥ २९॥

**पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करते हैं—**

### ( २२१२ ) अग्रहणादिति चेत्॥३०॥

**सूत्रार्थ—** अग्रहणात् = ग्रहण के लिए कोई निर्देश नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** आज्य-भाग के लिए तो प्रत्यक्ष वाक्यों की विधि-व्यवस्था है, इसलिए अतिदेश वाक्य द्वारा उसका ग्रहण सम्भव नहीं, यदि ऐसी आशङ्का की जाये, तो?॥ ३०॥

**उक्त आक्षेप का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

### ( २२१३ ) न तुल्यत्वात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** तुल्यत्वात् = सभी अङ्गों में समानता होने के कारण, न = उपर्युक्त कथन उचित नहीं है।

**व्याख्या—** अतिदेश वाक्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' द्वारा प्रकृति के अन्तर्गत आने वाले समस्त धर्मों का विधान प्राप्त हो जाता है। अतएव उक्त अतिदेश वाक्य समानरूप से सभी के लिए एक सा है। इसलिए उक्त आक्षेप सर्वथा आधारहीन है॥ ३१॥

**उसी क्रम में पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हैं—**

### ( २२१४ ) तथा तद्ग्रहणे स्यात्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रकार, तद्ग्रहणे = उसके ग्रहण में, स्यात् = होना सम्भव है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से सप्तदश सामिधेनी में दो वाक्यों की प्राप्ति है, यदि उसी प्रकार से आज्य-भाग के ग्रहण में भी होती, तब तो सम्भव हो जाता; परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में तो प्रेरक वाक्य अनुमान पर ही आधारित है। अतएव उपर्युक्त वाक्य को विधि वाक्य नहीं माना जा सकता॥ ३२॥

**आचार्य अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

### ( २२१५ ) अपूर्वतां तु दर्शयेदग्रहणस्यार्थवत्त्वात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** ग्रहणस्य = ग्रहण की, अर्थवत्त्वात् = अर्थवत्ता होने से, तु = तो, अपूर्वताम् = अपूर्व अर्थ की अभिव्यक्ति को, दर्शयेत् = दर्शाता है।

**व्याख्या—** 'आज्य भागौ यजति' वाक्य आज्य-भाग के ग्रहण की अर्थवत्ता युक्त होने से दर्शपूर्णमास से भिन्न गृहमेधीय अपूर्व अर्थ का ही प्रतिपादन करता है॥ ३३॥

**( २२१६ ) ततोऽपि यावदुक्तं स्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** ततोऽपि = गृहमेधीय प्रकरण के अन्तर्गत स्विष्टकृत् आदि भी, यावदुक्तम् = जिन-जिन का विधान प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हो उन सबको, स्यात् = अनुष्ठित किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** गृहमेधीय प्रकरण में आने वाले सभी कर्म अनुष्ठित किये जाने चाहिए; या जिनका विधान उपलब्ध हो, उन्हें ही अनुष्ठित करना चाहिए? इस सन्देह का निराकरण करते हुए सूत्रकार ने सुनिश्चित किया कि उक्त प्रकरण में स्विष्टकृत् आदि जिन-जिन कर्मों को विहित किया गया है, उन सबका अनुष्ठान किया जाना चाहिए- 'अग्नये (स्विष्टकृते) समवद्यति इडामुपह्वयति'॥ ३४॥

**गृहमेधीय में प्राशित्रा का भक्षण न होना बतलाते हैं—**

**( २२१७ ) स्विष्टकृति भक्षप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारणत्वात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** तुल्यकारणत्वात् = तुल्य (समान) कारण के होने से, स्विष्टकृति = गृहमेधीय प्रकरण में श्रुत स्विष्टकृत् में, भक्षप्रतिषेधः = शेष हविष् के भक्षण का प्रतिषेध-निषेध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि गृहमेधीय प्रकरण में जो स्विष्टकृत् का श्रवण होता है, उससे प्राशित्रादि ऋत्विजों के लिए शेष हविष् के भक्षण का निषेध प्राप्त होता है और यह प्रतिषेध तुल्य कारण होने से होता है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३५॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २२१८ ) अप्रतिषेधो वा दर्शनादिडायां स्यात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। अप्रतिषेधः = प्रतिषेध नहीं है, इडायाम् = क्योंकि इडा संज्ञक हवि में, दर्शनात् = भक्षण की दृष्टिगोचरता प्राप्त होने से, स्यात् = भक्षण होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि इडा नामक हवि में भक्षण का श्रवण दृष्टिगत होने से प्राशित्र के भक्षण की प्रतीति होती है, ऐसा समझना उचित है॥ ३६॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के उद्देश्य से सिद्धान्त बतलाते हैं—**

**( २२१९ ) प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विधिपूर्वस्य = जिसकी विधि-प्राप्त होती है, दर्शनात् = उसी के भक्षण की दृष्टिगोचरता होने से, प्रतिषेधः = प्रतिषेध है।

**व्याख्या—** जिस भक्षण की अभिव्यक्ति अनुमान के आधार पर की गयी हो, उसका प्रतिषेध होता है। विधिपूर्वक जिस भक्षण का कथन किया गया हो, उसका प्रतिषेध नहीं होता। 'इडामेवावद्यति' आदि में मात्र इडा के भक्षण की ही प्रतीति होने से उससे भिन्न प्राशित्र आदि के भक्षण का अभाव मानना उचित है॥ ३७॥

**प्रायणीय एवं आतिथ्य इष्टियों का समापन क्रमपूर्वक शंयुवाक तथा इडा का भक्षण करके किया जाना चाहिए, यही बतलाने के लिए सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २२२० ) शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** शंय्विडान्तत्वे = प्रायणीय तथा आतिथ्य इष्टियों में शंयुवाक तथा इडा भक्ष के अनन्तर (पीछे),

विकल्प: = विकल्प, स्यात् = होना चाहिए, परेषु = अन्यथा, पत्न्यनुयाजप्रतिषेध: = पत्न्यनुयाज-पत्नीसंयाज एवं अनुयाज का प्रतिषेध, अनर्थक: = अर्थहीन, स्यात् = हो जायेगा।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी की मान्यता यह है कि प्रस्तुत वाक्य 'शंय्वन्ता प्रायणीया सन्तिष्ठेते न पत्नी: संयाजयन्ति, इडान्ता आतिथ्या सन्तिष्ठते नानुयाजान् यजति' के अनुसार प्रायणीय तथा आतिथ्या इष्टियों में शंयुवाक तथा इडान्त भक्ष के पश्चात् कर्म का जो समापन हो जाता है, उसमें विकल्प का होना आवश्यक है और यदि विकल्प न माना जाये, तो पत्नी संयाज एवं अनुयाज का प्रतिषेध अर्थहीन सिद्ध होगा॥ ३८॥

**उक्त पूर्वपक्ष का अगले सूत्र में समाधान करते हैं—**

**( २२२१ ) नित्यानुवादो वा कर्मण: स्यादशब्दत्वात् ॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कर्मण: = कर्म करने में प्रमाण स्वरूप, अशब्दत्वात् = कोई कथन प्राप्त न होने से, नित्यानुवाद: = स्तावक वाक्य-अर्थवाद, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन यह है कि शंयुवाक आदि कर्म के पश्चात् किसी भी कर्म के विहित होने का प्रमाण प्राप्त नहीं है। अत: उसे मात्र अर्थवाद मानना ही उचित एवं युक्तियुक्त होगा॥ ३९॥

**उक्त इष्टियों के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी पुन: अपना मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२२२ ) प्रतिषेधार्थवत्त्वाच्चोत्तरस्य परस्तात्प्रतिषेध: स्यात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतिषेधार्थवत्त्वात् = प्रतिषेध की सार्थकता होने से, च = भी, उत्तरस्य = उत्तर के-द्वितीय गार्हपत्य से सम्बन्धित, परस्तात् = पीछे के कर्मों का, प्रतिषेध: = प्रतिषेध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना यह है कि प्रस्तुत वाक्य-'दर्शपूर्णमासयो: एक: शंयु: गार्हपत्ये पर: एवमिडाद्वयं श्रूयते' द्वारा दो शंयु (एक शंयु दर्शपूर्णमास में तथा दूसरा शंयु गार्हपत्य में) एवं दो इडा का श्रवण होता है। इसमें उत्तर के प्रतिषेध की सार्थकता होने से उसके पश्चात् सम्पादित होने वाले कर्मों का प्रतिषेध मान लेना ही उचित है॥ ४०॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन करते हैं—**

**( २२२३ ) प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रम: स्यात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, वचनात् = वचन-वाक्य से, पूर्वस्य प्राप्ते: = पहले शंयुवाक की प्रथम प्राप्ति होती है (अन्यथा), अतिक्रम: = शास्त्रीय विधान का अतिक्रमण-उल्लंघन, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पहले शंयुवाक की प्राप्ति प्रथम होने से कर्म का समापन वहीं पर कर दिया जाना चाहिए, उसका अतिक्रमण किये जाने के पक्ष में किसी प्रकार के प्रमाण की उपलब्धता नहीं है तथा ऐसा व्यवहार किये जाने की स्थिति में तो शास्त्र का भी अतिक्रमण हो जायेगा। इसलिए पहले शंयुवाक की पूर्णता के अनन्तर समस्त अङ्गों का समापन किया जाना ही उचित है॥ ४१॥

**( २२२४ ) प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—**प्रतिषेधस्य = जो प्रतिषेध बतलाया गया है,उसके, त्वरायुक्तत्वात् = अनुष्ठान कर्म में 'त्वरा' शब्द के विधान के सूचक होने से, च = भी, तस्य =उसका (शंयुवाक का), अन्यदेशत्वम् = अन्यदेशत्व, न = नहीं है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने कहा कि उक्त प्रतिषेध तो केवल अनुष्ठान कर्म की 'त्वरा' (शीघ्रता) का सूचक है। दूसरे शंयुवाक का यहाँ ग्रहण नहीं है, इसलिए पूर्व शंयुवाक के समयानुसार ही अनुष्ठान कर्म का शीघ्र समापन किया जाना चाहिए॥ ४२॥

**उपसत्कर्म के सम्पादन के विषय में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( २२२५ ) उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** उपसत्सु = उपसत् कर्म में, यावदुक्तम् = अतिदेश शास्त्र द्वारा निर्देशित समस्त कर्मों को सम्पन्न किया जाना चाहिए, अकर्म = निषिद्ध कर्मों को अनुष्ठित नहीं करना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'अप्रयाजास्ता अननुयाजाः', यह वाक्य प्रयाज एवं अनुयाज दोनों का निषेध करता है। अतएव जिन कर्मों का निषेध प्राप्त है, उन्हें छोड़कर अतिदेश शास्त्र से विहित समस्त कर्म सम्पन्न करने चाहिए॥ ४३॥

**समाधान के उद्देश्य से अगले सूत्र में सिद्धान्त बतलाया गया—**

**( २२२६ ) स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्रौवेण = स्रौव वाक्य के द्वारा आघार का विधान प्राप्त होने से वह भी करणीय है, अगुणत्वात् = अगुण-गौण होने से, शेष प्रतिषेधः = शेष कर्मों का प्रतिषेध, स्यात्=होता है।

**व्याख्या—** प्रसङ्गागत स्रौव वाक्य इस प्रकार है- 'स्रुवेण आघारमाघारयति'। इस वाक्य के अनुसार आघार कर्म का सम्पादन किया जाना चाहिए। जितने कर्मों का निर्देश किया गया हो, उन सभी को अनुष्ठित करना युक्त है, परित्याग उन्हीं का किया जाना चाहिए, जिनको निषिद्ध किया गया हो॥ ४४॥

**आक्षेप के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२२७ ) अप्रतिषिद्धं वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसवात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रतिप्रसवात् = प्रति प्रसव होने के कारण, प्रतिषिध्य = प्रतिषेध प्रतीत होता है, अस्तु, अप्रतिषिद्धं = प्रतिषेध नहीं मानना चाहिए।

**व्याख्या—** आक्षेपी का मन्तव्य है कि सभी का त्याग न करके प्रतिषिद्ध का ही त्याग करना युक्त है। 'नान्यामाहुतिं पुरस्ताज्जुहुयात्' वाक्य से उपसद् हवन कर्म के पूर्व वाले का निषेध है तथा उसके पश्चात् उक्त वाक्य 'स्रुवेण आघारमाघारयति' से निषेध का निषेध-प्रतिप्रसव का होना प्राप्त होता है। इससे शेष-अवशिष्ट का प्रतिषेध नहीं होता॥ ४५॥

**उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—**

**( २२२८ ) अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् = प्रधान आहुतियों में अग्नि के अतिरिक्त अन्य आहुतियों के प्राथम्य का प्रतिषेध प्राप्त होने से, शेषस्य = शेष प्राकृत होम का, अनिज्या = यजन नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—**सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि जिस प्रधान देवता के लिए आहुति समर्पित की जानी है, वह प्रधान देवता एकमात्र अग्नि ही है। प्राकृत होम किये जाने की स्थिति में उक्त 'स्रुवेण आघारमाघारयति' वाक्य अपनी सार्थकता से हीन रह जाता, इसलिए अन्य देवताओं (अग्नि, सोम एवं विष्णु आदि) की आहुतियों में से मात्र अग्नि के लिए ही आहुति देनी चाहिए, अन्य के लिए नहीं॥ ४६॥

**अवभृथ के अन्तर्गत सूत्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२२९ ) अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** अवभृथे = अवभृथ में, बर्हिषः = बर्हि का, प्रतिषेधात्=निषेध होने से, शेष कर्म = शेष समस्त कर्मों का सम्पादन, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि 'अपबर्हिषः प्रयाजान् यजति' वाक्य से मात्र बर्हि का ही निषेध प्राप्त होने से अन्य सभी प्राकृत कर्मों का सम्पादन किया जाना चाहिए॥ ४७॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( २२३० ) आज्यभागयोर्वागुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आज्यभागयोः = आज्य भागों का श्रवण, गुणत्वात् = गौण रूप में होने से, शेष = शेष सभी कर्मों का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि आज्य भागों के यजन के पक्ष में अवशिष्ट कर्मों के प्रतिषेध का जो कथन किया गया है, वह गौण रूप से निर्देश प्राप्त होने के कारण आहुतियों के अवशिष्ट भाग के रूप में आज्य भाग का यजन किया जाना श्रुत है। इसलिए उसके अतिरिक्त अन्य शेष कर्म निषिद्ध हैं, यही मानना युक्त है॥

**उक्त कथन में आक्षेप बतलाते हैं—**

**( २२३१ ) प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषेधात् वाक्यशेषत्वं तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयाजानाम् = प्रयाजों में, तु = तो, एकदेशः = एकदेश के, प्रतिषेधात् = प्रतिषेध के कारण, वाक्यशेषत्वम् = वाक्य शेषत्व, न = नहीं होता, तस्मात् = इसलिए वह, नित्यानुवादः स्यात् = मात्र नित्यानुवाद है।

**व्याख्या—** प्रयाजों में एकदेश (एक-भाग) का तात्पर्य बर्हियाग से है। उस बर्हियाग का निषेध होने से शेष अङ्गों (अवशिष्टों) की प्राप्ति सम्भव नहीं (वाक्य शेषत्व नहीं हो सकता)। अतएव अतिदेश से प्राप्त 'आज्य भागौ यजति' वाक्य मात्र नित्यानुवाद है, ऐसा समझना चाहिए॥ ४९॥

**उपर्युक्त आक्षेप का अगले दो सूत्रों में समाधान करते हैं—**

**( २२३२ ) आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** आज्यभागयोः = आज्यभागों का, ग्रहणम् = ग्रहण, नित्यानुवादः = नित्यानुवाद, वा = नहीं है, (प्रत्युत) गृहमेधीयवत् = गृहमेधीय के समान अपूर्व, स्यात् = है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत प्रसङ्ग में यहाँ पर आज्य भागों का ग्रहण अर्थानुवाद-नित्यानुवाद न होकर गृहमेधीय के समान अपूर्व अवभृथ है, ऐसा समझना चाहिए। कारण यह कि बर्हिष् याग के अतिरिक्त अन्य प्रयाज-संज्ञक यागों का विधान हुआ करता है। अतएव यह अपूर्व अवभृथ का विधान है॥ ५०॥

**( २२३३ ) विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतितः= = श्रुति के, विशिष्टत्वात् = प्रबल होने से, विरोधिनाम् = विरोधियों में, एक श्रुतौ = एक ही श्रुत होने पर, नियमः = नियम का विधान, स्यात् = होता है, ग्रहणस्य=ग्रहण का शास्त्र तभी, अर्थवत्वात् = सार्थक होता है।

**व्याख्या—** विकृतिभूत याग का विधायक वाक्य है- 'शरदि वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'। उक्त याग में प्रयुक्त होने वाला यूप खदिर का तथा यज्ञीय पुरोडाश जौ का होना चाहिए। ऐसा होने पर ही 'खादिरो यूपो भवति' आदि वाक्यों की अर्थवत्तासिद्ध होती है। इस प्रकार से उपर्युक्त वाक्यों द्वारा विहित यूपों से प्राकृत पलाश आदि यूपों का बाध हो जाया करता है। जिस प्रकार 'शरमयं बर्हिर्भवति' वाक्य द्वारा बर्हि का शरों से बाध हो जाता है, वैसे ही यहाँ भी होता है॥ ५१॥

**उक्त कथन में आक्षेप करते हैं—**

**( २२३४ ) उभयप्रदेशान्नेति चेत्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—**उभयप्रदेशात् =दोनों का अतिदेश होने से, न = नियम नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी की आशङ्का यह है कि जब अतिदेश वाक्य खदिर तथा पलाश दोनों को विहित करता है, तो खदिर द्वारा पलाश का बाध होना कैसे सम्भव है?॥ ५२॥

**उपर्युक्त आक्षेप के समाधान के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२३५ ) शरेष्वपीति चेत्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** इति चेत् = दोनों (खदिर तथा पलाश) का यदि अतिदेश से प्राप्त होना माना जाता है, तो वह युक्त नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से, शरेषु=शरों में, अपि = भी ऐसा ही मानना पड़ेगा।

**व्याख्या—** अतिदेश शास्त्र से खदिर तथा पलाश दोनों का विधान प्राप्त होने से एक की निवृत्ति न मानें, तो वैसी स्थिति में 'शरमयं बर्हिर्भवति' में भी शरों से कुशों (बर्हि) की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए॥ ५३॥

**उक्त कथन में आक्षेप की अभिव्यक्ति करते हैं—**

**( २२३६ ) विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** विरोध्यग्रहणात् = विरोधी पदार्थों के अग्रहण होने से, शरेषु = शरों में भी, तथा = उसी प्रकार से मानना संभव है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** उक्त प्रसङ्ग में कुशों की निवृत्ति सहज सम्भव है। विरोधी-पदार्थ-रूप शरों को अपनाने के अनन्तर उसके एकदेश-अङ्ग रूप में कुशों का ग्रहण किया जाना उचित नहीं। इसलिए वहाँ पर तो कुशों की निवृत्ति शक्य है॥ ५४॥

**उक्त आक्षेप का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—**

**( २२३७ ) तथेतरस्मिन्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उस प्रकार से तो, इतरस्मिन् = उससे इतर अन्य (खदिर आदि) में भी यही मानना पड़ेगा।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने उक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा कि शरों से कुशों की निवृत्ति होती है। इस न्याय के अनुसार खदिर स्वीकार करने के अनन्तर पलाश का भी बाध माना जाना चाहिए॥ ५५॥

**पुनः आक्षेप करते हैं—**

**( २२३८ ) श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुत्यानर्थक्यम् = ऐसा मानने से तो श्रुति अर्थहीन होगी, इति चेत् = इस प्रकार कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** अतिदेश शास्त्र से खदिर तथा पलाश दोनों की प्राप्ति होने के कारण उक्त कथन स्वीकार करने की दशा में तो श्रुति (अतिदेश शास्त्र) की सार्थकता ही नहीं रहेगी अर्थात् वह अर्थहीन हो जायेगी॥ ५६॥

**अब आचार्य समाधान के उद्देश्य से आक्षेपी के कथन का खण्डन करते हैं—**

**( २२३९ ) ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** ग्रहणस्य = ग्रहणशास्त्र के अर्थयुक्त होने से, उभयोः = दोनों की, अप्रतिपत्तिः = अनुपलब्धता, स्यात् = सम्भव है।

**व्याख्या—** ग्रहण शास्त्र का तात्पर्य अतिदेश शास्त्र से है। उक्त ग्रहण शास्त्र से प्राप्त वाक्य 'खादिरो यूपो भवति' वाक्य के अर्थवान् होने की स्थिति में दोनों (खदिर एवं पलाश) की प्राप्ति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। अतएव खदिर से पलाश का बाध होता है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५७॥

**अब काम्य-इष्टियों के अन्तर्गत प्राकृत द्रव्य देवता का ग्रहण न होना बतलाते हैं—**

**( २२४० ) सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात्॥ ५८॥**

**सूत्राथ—** सर्वासाम् = सर्वकाम्येष्टि विधियों की, च = तथा, गुणानाम् = गुणों की, अर्थवत्त्वात् = अर्थयुक्तता-होने से, अप्रवृत्तेः = अतिदेश शास्त्र के अनुसार अप्रवृत्ति होने से, ग्रहणः = विकृति में द्रव्य देवता का ग्रहण, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि काम्येष्टियों के अन्तर्गत विकृति याग के प्रकरण में वर्णित द्रव्य

तथा देवता का ग्रहण नहीं हुआ करता तथा प्रकृति याग के अन्तर्गत वर्णित द्रव्य देवताओं का ग्रहण काम्येष्टियों में नहीं हुआ करता। अतः इस प्रकार से विकृति के द्रव्य-देवता का, प्राकृत-द्रव्य-देवता के साथ न तो समुच्चय है और न ही विकल्प, यही समझना उचित है॥ ५८॥

**उक्त कथन में आशङ्का करते हैं—**

**( २२४१ ) अधिकं स्यादिति चेत्॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ—** अधिकम् = समुच्चय या विकल्प, स्यात् = होता है, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो?

**व्याख्या—** आशङ्कावादी का मानना है कि उक्त कथन में प्राप्त प्राकृत-द्रव्य-देवता के साथ विकृति के द्रव्य-देवता का विकल्प अथवा समुच्चय माना जा सकता है॥ ५९॥

**सिद्धान्ती अगले दो सूत्रों में उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं—**

**( २२४२ ) नार्थाभावात्॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थाभावात् = आकांक्षा का अभाव होने से, न = उक्त कथन सर्वथा अनुपयुक्त है।

**व्याख्या—** विकृति में बतलाये गये द्रव्य एवं देवता से आकांक्षा की निवृत्ति हो जाया करती है, इसलिए (आकांक्षा की अनुपलब्धता रहने से) काम्येष्टियों में उनका ग्रहण नहीं हुआ करता॥ ६०॥

**( २२४३ ) तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रमाण के आधार पर वैसे ही, एकार्थविकारे = एक ही फल वाले खदिर तथा उदुम्बर द्रव्य के विधान में, प्राकृतस्य = प्राकृत खदिर की, अप्रवृत्तिः = प्रवृत्ति नहीं हुआ करती, प्रवृत्तौ = क्योंकि प्रवृत्ति मानने की स्थिति में, हि = निश्चय करके, विकल्पः = विकल्प मानना, स्यात् = होगा।

**व्याख्या—** विकृति-याग एवं प्रकृति-याग में दो प्रकार के द्रव्यों का विधान प्राप्त होने पर प्राकृत द्रव्य की प्राप्ति विकृति में नहीं हुआ करती और यदि विरोधी-द्रव्य की प्राप्ति उसमें स्वीकार की जाती है, तो विकृतियाग में विहित द्रव्य के साथ विकल्प मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसलिए विकृति याग में यदि उदुम्बर की विधि विहित की गयी हो, तो प्रकृति में विहित खदिर के यूप की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती॥ ६१॥

**आक्षेप के भाव से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२४४ ) यावत् श्रुतीति चेत्॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** यावत् श्रुति = श्रुति प्रमाण से ही किया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपवादी का कहना यह है कि अतिदेशशास्त्र प्रकृति एवं विकृति दोनों के लिए विधान करता है, अस्तु प्रत्यक्षतः जितना विधान श्रुत हो, उसका ही ग्रहण होना चाहिए॥ ६२॥

**उक्त आक्षेप के समाधान हेतु सिद्धान्त बतलाते हैं—**

**( २२४५ ) न प्रकृतावशब्दत्वात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतौ = प्रकृति तथा विकृति में, अशब्दत्वात् = प्रमाण वाक्यों के प्राप्त न होने से, न = वह उचित नहीं।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रमाण वचनों के अभाव में प्रकृति एवं विकृति में वर्णित (खदिर यूप एवं उदुम्बर यूप) दोनों का एक साथ ग्रहण किया जाना शास्त्र-सम्मत नहीं माना जा सकता॥ ६३॥

**ब्रह्मवर्चस की कामना वाला पुरुष व्रीहि के द्वारा यजन करे, यही बतलाने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२४६ ) विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद् गुणशास्त्रं यदेति स्यात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, विकृतौ = विकृति में, तु = तो, अनियमः = विरोधियों में से किसी एक के ग्रहण का नियम नहीं, स्यात् = है, पृषदाज्यवत् = पृषदाज्य के तुल्य, ग्रहणस्य = ग्रहण के, गुणार्थत्वात् = गौण होने से, उभयोः = प्रेरक वाक्य से दोनों की, प्रदिष्टत्वात् = प्राप्ति होने के कारण, यदा गुणशास्त्रम् = जब व्रीहि रूप गुण विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, उस समय यव शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं, स्यात् = होती, इति = ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी की मान्यता यह है कि 'अग्नये गृहपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति कृष्णानां व्रीहीणाम्' वाक्य द्वारा व्रीहि से याग करने का विधान प्राप्त होता है और प्रकृति के अन्तर्गत (उसके प्रकरण में से) जौ (यवागू-यवों) के द्वारा भी यज्ञ किया जाना प्राप्त है। जिस प्रकार से पृषदाज्य में आज्य गुण-विधि के प्रयोजनार्थ है, ठीक उसी प्रकार से यहाँ पर भी व्रीहि गुण-विधि के प्रयोजनार्थ है। अतः यव शास्त्र का प्रवृत्त होना तभी संभव है, जब व्रीहि शास्त्र की प्रवृत्ति न हो। इस तरह से यव (जौ) तथा व्रीहि (चावल) का विकल्प मानना ही औचित्यपूर्ण है॥ ६४॥

**उक्त पूर्वपक्ष के परिहारार्थ अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## (२२४७) ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात्॥ ६५॥

**सूत्रार्थ—** ऐकार्थ्यात् = एक ही प्रयोजन होने के कारण, वा = अथवा, श्रुतितः = व्रीहि का प्रत्यक्ष श्रवण होने से एवं, विशिष्टत्वात् = विशिष्ट होने से, नियम्येत = नियम का विधान है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि व्रीहि तथा यवरूप दोनों द्रव्यों के प्रयोजन में भिन्नता न होने से उसमें नियम का विधान है। इसलिए पूर्वपक्षी द्वारा किया गया अनियम का उक्त कथन सर्वथा अयुक्त है। आशय यह है कि चोदक (प्रेरक) अतिदेश शास्त्र से प्राप्त होने के कारण यव का अनुमान किया जाता है, जबकि व्रीहि का विकृति याग में प्रत्यक्ष विधान मिलता है। अतएव आनुमानिक यव की तुलना में प्रत्यक्ष व्रीहि के बलवान् होने से व्रीहि से ही याग किया जाना शास्त्र-सम्मत है॥ ६५॥

## (२२४८) विरोधित्वाच्च लोकवत्॥ ६६॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विरोधित्वात् = परस्पर विरोधी भाव होने के कारण भी सहप्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं, लोकवत् = लोक व्यवहार के समान।

**व्याख्या—** पारस्परिक विरोधी भाव वालों की एक साथ प्रवृत्ति, लोक व्यवहार में भी नहीं देखी जाती। इस प्रकार परस्पर विरोधियों में सहप्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं॥ ६६॥

## (२२४९) क्रतोश्च तद्गुणत्वात्॥ ६७॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्गुणत्वात् = उनके गुणानुसार, क्रतोः = (यज्ञ) का सम्बन्ध सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** क्रतु (याग) का सम्बन्ध शुक्ल एवं कृष्ण (सफेद एवं काले) व्रीहिरूप द्रव्य के साथ होने के कारण व्रीहि के द्वारा ही हवन की सम्पन्नता उपपन्न (सिद्ध) होती है॥ ६७॥

## (२२५०) विरोधिनाञ्च तत् श्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात्॥ ६८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विरोधिनाम् = विरोधियों में से, तच्छ्रुतौ = उनमें से किसी एक का श्रवण होने से तथा, अशब्दत्वात् = अशब्दत्व होने से, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्र का सार-संक्षेप यह है कि विरोधियों में से किसी एक के श्रवण होने की स्थिति में तथा अन्य के अतिदेश शास्त्र प्राप्त होने पर अशब्दत्व होने के कारण विकल्प होता है॥ ६८॥

**पिछले (६४वें) सूत्र में प्रयुक्त दृष्टान्त पृषदाज्यवत् का समाधान अगले तीन सूत्रों में करते हैं—**

**( २२५१ ) पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** पृषदाज्ये = पृषदाज्य में, समुच्चयात् = समुच्चय होने से, ग्रहणस्य = आज्य के ग्रहण की, गुणार्थत्वम् = गुणार्थकता है।

**व्याख्या—** पृषदाज्य प्रकरण में आज्य का ग्रहण इसलिए किया जाता है कि आज्य एवं दधि का सम्मिश्रण ही पृषदाज्य है। दही के साथ आज्य का समुच्चय होने से आज्य ग्रहण गुणार्थक है॥ ६९॥

**( २२५२ ) यद्यपि चतुरवत्तीति तु नियमे नोपपद्यते॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** यद्यपि = यदि इस प्रकार, चतुरवत्तीति = चतुरवत्त का दर्शन, न उपपद्यते = सिद्ध नहीं होता, तु नियमे = तो नियमानुसार उसका परिहार कर देना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने कहा कि यदि इस प्रकार चतुरवत्त का दर्शन प्राप्त नहीं होता, तो नियमानुसार उसका परिहार कर देना चाहिए॥ ७०॥

**( २२५३ ) क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात्॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, क्रत्वन्तरे = क्रतु (दर्श-पूर्णमास) में, कर्मभेदात् = कर्म का भेद होने से, तन्न्यायत्वात् = विरोधी होने के कारण (चतुरवत्त दर्शन प्राप्त होता है)।

**व्याख्या—** क्रतु का तात्पर्य दर्श-पूर्णमास-याग से है। कर्म की भिन्नता के कारण दर्श-पूर्णमास याग में चतुरवत्त दर्शन की प्राप्ति होती है॥ ७१॥

**उक्त कथन में आक्षेप करते हैं—**

**( २२५४ ) यथाश्रुतीति चेत्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ—** यथाश्रुति = श्रुति के अनुसार ही कार्य किया जाना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** गत सूत्र के विवेचन में प्रसङ्गागत 'अवत्त' का तात्पर्य अवदान से है। चतुरवत्त अर्थात् चार समय अवदान, पंचावत्त अर्थात् पाँच समय अवदान। आक्षेपकर्त्ता का कथन है कि जहाँ पर चतुरवत्त का विधान श्रुति द्वारा प्राप्त होता हो, वहाँ चतुरवत्त और जहाँ पर श्रुति पञ्चावत्त का विधान करती हो, वहाँ पञ्चावत्त के अनुसार यज्ञीय कर्म सम्पादित करना चाहिए॥ ७२॥

**समाधान के उद्देश्य से सिद्धान्त का स्थापन करते हुए इस सप्तम पाद का समापन करते हैं—**

**( २२५५ ) न चोदनैकत्वात्॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, चोदनैकत्वात् = एक ही विधान के प्राप्त होने से उक्त आक्षेप निराधार है।

**व्याख्या—** यज्ञीय हवि सामान्य हो अथवा विशिष्ट उसके लिए एक ही विधान है। अतएव विधान भिन्नता न होने के कारण समस्त हवियों में पञ्चवत्तता को ही अनुष्ठित किया जाना ही शास्त्र सम्मत है॥ ७३॥

**॥ इति दशमाध्यायस्य सप्तमः पादः॥**

# ॥ अथ दशमाध्याये अष्टमः पादः ॥

**यहाँ आचार्य प्रदेश तथा अनारम्भ विधान में निषेध होने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २२५६ ) प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्य विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** प्रदेशे = अतिदेश शास्त्र से प्राप्त, अनारभ्य विधाने = एवं अनारभ्य विधान में, प्रतिषेधः = निषेध होता है, प्राप्तप्रतिषिद्धत्वात् = प्रत्यक्ष प्रतिषेध होने के कारण, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के कथनानुसार 'न होतारं वृणीते नार्षेयं' एवं 'ये यजामहे करोति नानुयाजेषु' आदि प्रमाणपरक वाक्य से महापितृयज्ञ में निषेध की प्राप्ति है। जबकि अतिदेश शास्त्र से 'महापितृयज्ञेन यजेत प्रकृतिवत्' वाक्य द्वारा महापितृयाग से यजन किया जाना विहित है। इस प्रकार से प्रतिषेध तथा प्राप्ति दोनों के प्रमाण प्राप्त होते हैं, अतः विकल्प मानने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता॥ १ ॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आक्षेप कथन प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२५७ ) अर्थप्राप्तवदिति चेत्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थप्राप्तवत् = अर्थ प्राप्ति के समान है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी के अनुसार लोक व्यवहार में जिस प्रकार से 'विषं न भक्षयितव्यम्' इस अर्थ की प्राप्ति में विष का भक्षण करना चाहिए या नहीं? इस प्रकार का विकल्प नहीं माना जाता, वैसे ही उपर्युक्त में (यहाँ) भी विकल्प नहीं मानना चाहिए। आशय यह है कि निषेध ही मानना उचित है॥ २ ॥

**पूर्वपक्षी अगला सूत्र आक्षेप के निवारणार्थ प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२५८ ) न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन युक्त नहीं, तुल्यहेतुत्वात् = हेतुओं के समान होने से, उभयम् = प्राप्ति तथा प्रतिषेध दोनों ही, शब्दलक्षणम् = शब्द लक्षण हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि मात्र निषेध मानना उचित नहीं। शबर स्वामी अपने भाष्य में कहते हैं- 'प्राप्तिरपि प्रतिषेधे प्राप्ते' तथा 'प्रतिषेधोऽपि प्राप्तौ प्राप्तायाम्'। इस प्रकार से जब शब्द के द्वारा ही प्राप्ति एवं प्रतिषेध दोनों की प्राप्ति होती है, तो दोनों प्रमाण उपलब्ध होने से विकल्प का मानना सर्वथा युक्त है॥ ३ ॥

**अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की गई है—**

**( २२५९ ) अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** अपि तु = फिर भी, वाक्यशेषः = वाक्य शेष से प्रतिषेध मानना ही उचित, स्यात् = होगा, विधीनाम् = विधि के, एकदेशः = एक भाग में प्रतिषेध होने से, विकल्पस्य=विकल्प का मानना, अन्याय्यत्वात् = अन्याय्य होगा।

**व्याख्या—** आर्षेयवरण से भिन्न (अतिरिक्त) अन्य समस्त कर्मों का सम्पादन प्रकृति के तुल्य करना चाहिए- 'आर्षेयवरण भिन्नं प्रकृतिवत् कार्यम्' और अनुयाज के अतिरिक्त अन्य कर्मों के सम्पादन में 'ये यजामहे' इस प्रकार के वाक्य का उच्चारण करना चाहिए- 'अनुयाजातिरिक्तेषु ये यजामहे इति वाच्यम्'। इसमें प्रयुक्त 'नञ्' पद निषेध का पर्युदासत्व (निषेधात्मक नियम) है, न कि विकल्प। आशय यह है कि उक्त स्थल में विकल्प न होकर पर्युदास (नियमतः) निषेध है, ऐसा समझना युक्तियुक्त है॥ ४॥

**( २२६० ) अपूर्वे चार्थवादः स्यात्॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अपूर्वे = अपूर्व (सोमयाग) में वह उक्त निषेध, अर्थवादः = अर्थवाद, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** अपूर्व सोमयाग में आज्य भाग का उपलब्धक प्रमाण प्राप्त न होने से उस निषेध को अर्थवाद माना

जाता है। उदाहरण के लिए 'न तौ पशौ करोति न सोमेऽध्वरे' इस स्थल पर सोम अध्वर में 'न' पद से जिस निषेध की प्राप्ति होती है। वह निषेध अर्थवाद है, ऐसा मानना चाहिए॥ ५॥

**( २२६१ ) शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** शिष्ट्वा तु = पूर्व में विधान और बाद में, प्रतिषेधः = प्रतिषेध होने पर, स्यात् = विकल्प होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने कहा कि विकल्प वहाँ होना चाहिए, जहाँ पहले विधान की विधि-व्यवस्था बतलायी गयी हो और पीछे प्रतिषेध की भी प्राप्ति होती हो। उदाहरणार्थ- 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे' इस दृष्टान्त में शब्द प्रमाण के द्वारा प्रथम तो षोडशी की प्राप्ति है तथा पीछे निषेध किया गया है। अतएव अतिरात्र यज्ञ में षोडशी (ग्रह) का विकल्प समझा जाना ही युक्त है॥ ६॥

**आहुतियों के सन्दर्भ में प्राप्त निषेध को कहाँ विकल्प और कहाँ अर्थवाद मानें, इस हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत है—**

**( २२६२ ) न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** न चेत् अन्यं प्रकल्पयेत् = अन्य विधान प्राप्त न हो, तो ही विकल्प होता है, परसामर्थ्यात् = (तथा) पर द्रव्य के विधान की सामर्थ्य से, आनर्थक्यात् = तथा निषेध की व्यर्थता होने से, प्रक्लृप्तौ = उस विहित का, अर्थवादः = अर्थवाद, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** अन्य के विधान की प्राप्ति जहाँ पर न होती हो, वहाँ पर विकल्प के रूप में निषेध की प्राप्ति होती है; परन्तु जहाँ पर अन्य का विधान प्राप्त हो, वहाँ पर निषेध की प्राप्ति अर्थवाद के रूप में होती है। दृष्टान्त स्वरूप यह वाक्य जिसका श्रवण अग्नि चयन के प्रकरण में होता है- जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयात् न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति न आरण्यान् अथो खलु अनाहुतयो वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेति अज क्षीरेण जुहोति इति जर्तितलयवाग्वादीनां विधिनिन्दा श्रवणेन पूर्वाधिकरणवद् विकल्पे प्राप्ते सिद्धान्तमाह। इस वाक्य में -जर्तिल तथा गवीधुक (जंगली वृक्ष) का यवागू (जौ) से हवन करना कहा गया है और पीछे से उसका निषेध बतलाया है तथा अजाक्षीर (बकरी के दुग्ध) से होम किया जाना विहित करके (जंगली तक्ष वृक्ष) जर्तिल की आहुति को अनाहुति कहा गया है। इस प्रकार से यह निषेध केवल अर्थवाद है और वह बकरी के दुग्ध का स्तावक ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**त्र्यम्बक संज्ञक पुरोडाश में प्राप्त अभिघारण तथा अनभिघारण के क्रम में अगला सूत्र बतलाते हैं—**

**( २२६३ ) पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात्॥ ८॥**

**सूत्राथ—** च = तथा, पूर्वैः = पूर्व के, तुल्य = समान, कालत्वात् = स्थिति होने से भी ऐसा ही होता है।

**व्याख्या—**सूत्रकार कहते हैं कि पूर्व के अधिकरण के तुल्य योग-क्षेम होने के कारण अन्य प्रसंगों में भी मान्य है। जैसे- चातुर्मास्य याग में जो त्र्यम्बक आहुतियों के अन्तर्गत अभिघारण अथवा अनभिघारण का कथन किया गया है, उसे न तो विधि मानना चाहिए और न ही निषेध। कारण यह कि वह मात्र अर्थवाद है- 'इत्थं तूष्णीहोमः प्रशस्तः'। शबर स्वामी ने ऐसा ही उल्लेख किया है॥ ८॥

**अगले सूत्र में कहा कि उपवाद में भी विकल्प होता है—**

**( २२६४ ) उपवादश्च तद्वत्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उपवादः = उप शब्द से प्रारंभ होने वाले वाक्य उपवीता वा एतस्य आदि-उपवाद भी, तद्वत् = उसी के (शिष्टा के) समान ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** भाव यह है कि 'उपवीता वा एतस्य अग्नयो भवन्ति यस्याग्न्याधेये ब्रह्मा सामानि गायति' अर्थात् यदि ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विक् साम का गान करते हैं, तो वहाँ से अग्निदेव चले जाते हैं। यहाँ प्रतीत होने वाला निषेध गत छठवें सूत्र 'शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात्' में विहित प्रमाण से विकल्पार्थक है॥ ९॥

**अगले सूत्र में आक्षेप की अभिव्यक्ति करते हैं—**

**( २२६५ ) प्रतिषेधादकर्मेति चेत्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतिषेधात् = प्रतिषेध की प्राप्ति होने से, अकर्मः = सामगान कर्म नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का की जाये, तो?

**व्याख्या—** उक्त दृष्टान्त वाक्य में सामगान का जो निषेध किया है, उससे तो सामगान को अकर्म ही मानना उचित है। आशय यह है कि जो कर्म निंदित हो, उसे करणीय नहीं कहा जा सकता॥ १०॥

**उक्त आक्षेप का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( २२६६ ) न शब्दपूर्वत्वात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** न = आक्षेप ठीक नहीं, शब्दपूर्वत्वात् = (क्योंकि) विधान के प्राप्त होने से सामगान कर्त्तव्य है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता ने कहा कि सामगान का विधान प्राप्त है- 'रथन्तरमभिगायते आधीयमाने' गार्हपत्य अग्नि के आधान के समय रथन्तर साम का गान किया जाना चाहिए। इसका निर्वहन उद्गाता (ब्रह्मा) के द्वारा किया जाना चाहिए। यहाँ ब्रह्मा द्वारा निषेध गायन का ही किया गया है, सामगान का नहीं॥ ११॥

**अब 'दीक्षितो न ददाति' आदि में प्राप्त निषेध की विवेचना करने हेतु अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २२६७ ) दीक्षितस्य दानहोमपाकप्रतिषेधेऽविशेषात्सर्वदान होमपाकप्रतिषेधः स्यात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** दीक्षितस्य = यज्ञ में दीक्षित हुए यजमान को, दान-होम-पाकः = दान, होम और पाक का जो, प्रतिषेधः = निषेध प्राप्त है, अविशेषात् = उसके लिए किसी विशिष्ट प्रमाण के अभाव के कारण, सर्वदान होमपाकः = समस्त दान होम तथा पाक का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध, स्यात् = है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का मत है कि याग में दीक्षा प्राप्त यजमान के जो दान, होम तथा पाक का निषेध प्राप्त होता है, वह याग (क्रतु) एवं अयाग (अक्रतु) दोनों से सम्बन्ध रखने वाले दान होम एवं पाक का है। इस विषय में ऐसे किसी भी प्रमाण की उपलब्धता नहीं है, जो ऐसे दानादि का प्रतिषेध सिद्ध करता हो, जिसका सम्बन्ध मात्र क्रतु (याग) के साथ ही हो। अतः सर्वदानादि का ही निषेध समझना युक्त है॥ १२॥

**( २२६८ ) अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, क्रतोः = याग में दान आदि के, प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = प्रत्यक्ष विधान होने के कारण, अक्रतुयुक्तानाम् = अक्रतु सम्बन्धी दानादि का प्रतिषेध, धर्मः = धर्म, स्यात् = है।

**व्याख्या—** पक्षान्तर का भाव यह है 'मैत्रेयाय हिरण्यं ददाति दाक्षिणानि जुहोति' वाक्य से प्रत्यक्ष विहित होने से क्रत्वर्थ (दान, होम, पाक) का किया जाना अनिवार्य है, अतः दीक्षित यजमान को क्रतु से सम्बन्धित दानादि तो सम्पन्न करना ही चाहिए। क्रतु यज्ञ के साथ असम्बद्ध पुरुषार्थ के लिए दानादि का निषेध-प्रतिषेध मानना उचित है॥ १३॥

**( २२६९ ) तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अविशेषात् = विशिष्ट प्रमाणों का अभाव होने से, तस्य = उसका (उक्त निषेध का) विषय (प्रयाज आदि का होम और अग्निहोत्र), आनुमानिकम् = आनुमानिक है।

**व्याख्या—**प्रयाज आदि का होम तथा अग्निहोत्र, इन दोनों के निषेध की प्राप्ति दीक्षणीय आदि इष्टि में अतिदेश शास्त्र से होती है। इनका विधान करने वाले किसी भी वाक्य की प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती। अतएव इन्हें आनुमानिक माना गया है। अतः दीक्षित यजमान को प्रयाजादि होम एवं अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए॥ १४॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की प्रस्तुति की—**

## ( २२७० ) अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** अपि तु = फिर भी, इतरस्य वाक्यशेषत्वात् = इतर का वाक्य शेष होने के कारण, पर्युदासः = अवस्था विशेष में निषेध है, प्रतिषेधे = प्रतिषेध मानने से तो, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होगा।

**व्याख्या—** 'न दीक्षितो ददाति' आदि विधि वाक्य 'अहरहरग्निहोत्रे जुहुयात' का वाक्य शेष है। इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है कि अदीक्षित यजमान को अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए। इस कथन के आधार पर निषेध का अर्थ पर्युदास (किसी विशिष्ट अवस्था में प्रतिषेध) हुआ करता है। प्रतिषेध मानने की स्थिति में तो विकल्प आवश्यक हो जाता है, जिसे मानना अन्याय्य ही होगा, अतः उक्त निषेध का तात्पर्य पर्युदास ही है॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा वर्त्म हवन आदि के द्वारा आहवनीय का बाध हुआ करता है—**

## ( २२७१ ) अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात्॥

**सूत्रार्थ—** अविशेषेण यत् शास्त्रम् = विशेषण रहित सामान्य शास्त्र वचन (विशिष्ट वचन प्राप्त होने से), आराद् = बाधित होता (दूर होता) है, तत् = क्योंकि वह, विकल्पस्य = विकल्प के रूप में, अन्याय्यत्वात् = न्याय वचन प्राप्त न होने से, संदिग्धम् = संदिग्ध होता है, विशेषशिष्टंस्यात् = अस्तु; जो विशिष्ट शास्त्र विहित है, वही करणीय है।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित एक वाक्य है– 'यद् आहवनीये जुहोति इति सामान्यशास्त्रं सप्तमे पदे जुहोति इति विशेषशास्त्रम्'। उक्त दोनों हवन कर्मों का सम्पादन एक साथ सम्भव न होने के कारण सामान्य शास्त्र से होने वाले कर्म बाधित होते हैं और विशेष शास्त्र द्वारा विहित कर्म अनुष्ठित। आहवनीय में सम्पादित होने वाला होम सामान्य शास्त्र से विहित होने के कारण बाधित होता है तथा सप्तम पद में वर्णित होम को विशेष शास्त्र द्वारा विहित होने के कारण अनुष्ठित किया जाता है। अतएव सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति विशेष शास्त्र के विधान की अनुपलब्धता में ही होती है, ऐसा समझना चाहिए॥ १६॥

**विकृति याग में साप्तदेश्य की विधि-व्यवस्था बतलाने के लिए सूत्रकार ने अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष किया—**

## ( २२७२ ) अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत् प्राकृतप्रतिषेधार्थम्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** अप्रकरणे तु = अप्रकरण में पठित होने से तो, यत् = जो, शास्त्रम् = शास्त्र है, विकृतियाग वैमृध आदि में, श्रूयमाणः = श्रवण है वह, प्राकृतप्रतिषेधार्थम् = प्राकृत अंगों के प्रतिषेध हेतु होने से, आज्यभागवत् = आज्य भाग के तुल्य, अविकृतम् = अविलक्षण-अविकृत रूप माना जाता है।

**व्याख्या—** अप्रकरण पठित, अनारभ्य विधि है– 'सप्तदशसामिधेनीरन्वाह।' प्रकृति याग में इसी विधान का अनुगमन होता है; किन्तु उसी प्रकृति में पाञ्चदश्य का विधान तथा विकृति में साप्तदश्य का सम्बन्ध मिलता है। यह सम्बन्ध प्राप्त होते हुए भी उक्त साप्तदश्य के पाठ की विकृति में प्राप्ति 'नान्यत् प्राकृतं कुर्यात्' की द्योतक है। अतएव यह समझना भी युक्त नहीं कि अन्य विकृत यागों में इन्हें अनुष्ठित न करके मात्र उन्हीं विकृतियों में ही इनका अनुष्ठान होना चाहिए, जिन विकृतियों का पाठ मिलता है॥ १७॥

**इसी क्रम में आगे बताया—**

## ( २२७३ ) विकारे तु तदर्थं स्यात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** विकारे = विकार के प्राप्त होने पर, तु = तो वह, तदर्थम् = उसी के लिए, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्र का भाव यह है कि विकार के श्रवण होने की दशा में तो वह विकार के लिए ही श्रुत है, ऐसा समझना चाहिए। जब ऐसा श्रूयमाण न हो, तब वह प्राकृत अङ्गों के निषेध के लिए ही हुआ करता है॥ १८॥

**अगले चार सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के लिए सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२७४ ) वाक्यशेषो वा क्रतुनाग्रहणात् स्यादनारभ्यविधानस्य॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अनारभ्य विधानस्य = अनारभ्य विधान का, क्रतुनाग्रहणात् = क्रतु-याग के साथ सम्बन्ध न होने के कारण, वाक्यशेषः = यह वाक्य शेष, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने सिद्धान्त रूप में कहा कि विधि द्वारा विहित साप्तदश्य का क्रतु-याग तथा सामिधेनी के साथ भी सम्बन्ध प्राप्त है। अन्य विकृत यागों में क्रतु के साथ सम्बन्ध का अभाव होने के कारण उसे अनुष्ठित नहीं किया जाता। जबकि वैमृध आदि में (उसका अङ्ग होने से) वह अनुष्ठित होता है। अतः विकृत याग-वैमृध आदि में सामिधेनी ऋचाओं का पाठ किया जाना चाहिए॥ १९॥

**समाधान के क्रम में ही सूत्रकार ने आगे कहा—**

**( २२७५ ) मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्रेषु = मन्त्रों में, गुणोपदेशात् = गुणों का उपदेश होने से, अवाक्यशेषत्वम् स्यात् = वाक्य शेष नहीं होता।

**व्याख्या—**सूत्र का भाव यह है कि वर्णानुपूर्वी रूप गुणों का उपदेश होने से 'पृथिव्यै स्वाहा' आदि मन्त्र में प्रयुक्त 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण एक सुनिश्चित नियम का निर्धारण करता है। पृथिव्यै का उच्चारण करने के अनन्तर ही स्वाहा शब्द उच्चरित होना चाहिए, उसके पहले नहीं। इसी प्रकार फट् या वषट् नहीं, प्रत्युत स्वाहा का ही उच्चारण किया जाना चाहिए। उक्त मन्त्र में अनारभ्य वाक्य का उपसंहार सम्भव ही नहीं, यही उचित है॥२०॥

**( २२७६ ) अनाम्नाते दर्शनात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** अनाम्नाते = विधान के अभाव में, दर्शनात् = दृश्य नियमानुसार उच्चारण किया जाता है।

**व्याख्या—** विधान के विहित होने से जहाँ पर (दर्वि होमों में) स्वाहाकार अनाम्नात है, वहाँ पर भी स्वाहाकार का उच्चारण किया जाता है-'घृतेन द्यावा पृथिवी आपृणेथामित्यौदुम्बर्या विशाखे जुहोति.... भूमिप्राप्ते स्वाहा करोति'। गत सूत्र में प्रसङ्गागत 'पृथिव्यै स्वाहा' में यदि उपसंहार माना जाए, तो उक्त विहित-आम्नान में किया गया स्वाहा का विधान ही अनौचित्य पूर्ण हो जायेगा॥ २१॥

**( २२७७ ) प्रतिषेधाच्च॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रतिषेधात् = प्रतिषेध से भी स्वाहाकार की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** कहीं-कहीं प्रतिषेध प्राप्त होने के कारण भी स्वाहाकार की सिद्धि होती है- 'क्वचिन्न स्वाहा करोति' यह प्राप्त का ही प्रतिषेध है। जिसकी प्राप्ति ही नहीं, उसका प्रतिषेध कैसा? इस प्रकार से यदि उक्त अनारभ्याधीत वाक्य का उपसंहार माना जाता है, तो उक्त प्रतिषेध की भी अनर्थकता सिद्ध होगी॥ २२॥

**विकृति में अग्नि तथा अतिग्राह्य संज्ञक ग्रह के प्रसंग में से आचार्य ने अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष किया—**

**( २२७८ ) अग्न्यतिग्राह्यस्यविकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** विकृतौ = विकृति में, अग्न्यतिग्राह्यस्य = अग्नि तथा अतिग्राह्य नामक ग्रह का, उपदेशात् = उपदेश होने से, अतिदेश शास्त्र की, अप्रवृत्तिः = प्रवृत्ति नहीं, स्यात् = होती।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का आशय यह है कि अग्नि तथा अतिग्राह्य संज्ञक ग्रहों का उपदेश विकृति में प्राप्त है, इसी कारण द्विरात्र आदि विकृति में उक्त शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'अथातोऽग्निष्टोमेन यजेत न द्विरात्रेण'। प्रकृति याग अग्निष्टोम है तथा द्विरात्र विकृति। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के अनुसार प्रकृति के धर्मों का अनुष्ठान विकृति में होना चाहिए; किन्तु उक्त प्रकृति के धर्मों का जहाँ विकृति में ही उपदेश मिलता हो, वहाँ पर अतिदेश शास्त्र की प्रवृत्ति सम्भव नहीं॥ २३॥

**( २२७९ ) मासि ग्रहणं च तद्वत्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** मासिग्रहणम् च = मासिग्रहण भी, तद्वत् = उसी प्रकार शास्त्र की प्रवृत्ति का प्रतिषेध करता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार विकृति में प्राकृत धर्मों की प्रवृत्ति सम्भव नहीं, वैसे ही विकृति में 'मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' शास्त्र वचन के अनुसार मास में भी अतिग्राह्य का ग्रहण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार से मासिग्रहण भी प्राकृत धर्म का निवर्तक है॥ २४॥

**समाधान के भाव से सूत्रकार ने अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष स्थापित किया—**

**( २२८० ) ग्रहणं वा तुल्यत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** तुल्यत्वात् = समानता होने से, ग्रहणम् वा = अतिदेश शास्त्र से अतिग्राह्य का ग्रहण भी होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने कहा कि जिस प्रकार से अन्य अङ्ग द्विरात्र आदि विकृतियों में शास्त्र प्रमाण के द्वारा प्राकृत धर्मों की प्रवृत्ति होती है, उसी समानता के आधार पर अतिग्राह्य का भी ग्रहण होता है॥ २५॥

**( २२८१ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्यों की प्राप्ति से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** 'कङ्कचितं चिन्वीत शीर्षचितं चिन्वीत यः कामयेत सुशीर्षा अस्मिंल्लोके सम्भवेयम् इति। तथा पञ्चैन्द्रानातिग्राह्यान् गृह्णात्' प्रस्तुत लिङ्ग वाक्य से कंकाकारता और ऐन्द्रता का कथन, विकृति में अग्निग्राह्य की प्राप्ति को उपपन्न करता है॥ २६॥

**( २२८२ ) ग्रहणं समानविधानं स्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** ग्रहणम् = विकृति में अग्नि तथा अतिग्राह्य का जो उपदेश विहित है, समानविधानम् = वह तो प्रकृति के समान विधान है, स्यात् = ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** ज्योतिष्टोम-प्रकृतियाग में विधान करने के पीछे यदि विकृति याग द्विरात्र में स्वतन्त्र रूप से विधान न किया गया हो, तो उसमें 'छन्दश्चितं चिन्वीत पशुकामः' आदि गुण तथा फल से सम्बन्धित विधि का अतिदेश होना सम्भव नहीं। इसलिए द्विरात्र रूपी विकृति में यदि प्रकृति याग ज्योतिष्टोम के तुल्य विधि की प्राप्ति हो, तो पशुकाम याग के विधि-विधान की प्रवृत्ति का होना शक्य है॥ २७॥

**( २२८३ ) मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** मासिग्रहणम् = मासिग्रहण, अभ्यासः = अभ्यास के, प्रतिषेधार्थम् = प्रतिषेध के लिए है।

**व्याख्या—** सूत्र का भाव यह है कि अग्नि तथा अतिग्राह्य का ग्रहण (दिने-दिने) प्रतिदिन न करके मासिग्रहण (मासे-मासे) प्रत्येक मास-महीने करना चाहिए। इसी कारण विकृति में उक्त अग्नि एवं अतिग्राह्य का उपदेश किया गया है॥ २८॥

**चतुरवदान सम्बन्धी अनुशासन स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२८४ ) उत्पत्तितादर्थ्याच्चतुरवत्तं प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** उत्पत्तिः = पुरोडाश की उत्पत्ति, तादर्थ्यात् = होम के लिए होने से, प्रधानस्य = मुख्य द्रव्य पुरोडाश को, चतुरवत्तम् = चार भागों में विभक्त किया जाना चाहिए, होम संयोगात् = क्योंकि होम से उसका सम्बन्ध होता है, आज्यम् = आज्य द्रव्य तो, अधिकम् = संस्कारार्थ है तथा गुणभूतत्वात् = उसकी उत्पत्ति गौण होने से, लोकवत् = लोक व्यवहार के अनुसार, अतुल्यत्वात् = वह प्रधान-द्रव्य (पुरोडाश) के समान भी नहीं है।

**व्याख्या—** 'चतुरवत्तं जुहोति' दर्श-पूर्णमास याग में श्रुत इस वाक्य के अनुसार चार अवदान पुरोडाश हेतु

इसलिए किया जाना चाहिए; क्योंकि उसका उत्पादन ही होम के सम्पादनार्थ होता है। आज्य संज्ञक द्रव्य तो पुरोडाश के संस्कारार्थ हुआ करता है, इसलिए उसकी गिनती चतुरवत्त में नहीं की जाती। सूत्र में आज्य को अधिक कहने का तात्पर्य है-लोक प्रचलन में एक किलो अन्न खाने वाले व्यक्ति की खुराक एक किलो ही मानी जाती है; जबकि दूध, दही, शाक, सब्जी भी वह खाता है; किन्तु उस अधिक की गिनती एक किलो में नहीं की जाती। ऐसे ही आज्य को भी समझना चाहिए॥ २९ ॥

**अगले सूत्र में इससे सम्बन्धित युक्ति बतलायी गई है—**

**( २२८५ ) तत्संस्कारश्रुतेश्च॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तत् = वह उपस्तरण एवं अभिघारण तो, संस्कारः = संस्कारार्थ, श्रुतेः = श्रुत है।

**व्याख्या—** उपस्तरण तथा अभिघारण का श्रवण संस्कार के लिए होता है, इसी से इनकी गणना चतुरवदान में नहीं की जाती॥ ३०॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के लिए आचार्य ने अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष की प्रस्तुति की—**

**( २२८६ ) ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्त्वे द्विरभिघारणेन तदाप्तिवचनात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, स्विष्टकृतः सहत्त्वे = स्विष्टकृत् प्रकरण के अन्तर्गत स्विष्टकृत् के सहकृत्व में, द्विः = दो बार जो, आप्तिवचनात् = आप्त वचनों द्वारा, अभिघारणेन = अभिघारण का श्रवण होने से, ताभ्याम् सह = उन दोनों (उपस्तरण एवं अभिघारण) के साथ ही चतुरवत्त किया जाता है।

**व्याख्या—** स्विष्टकृत् के प्रकरण में 'सकृत्-सकृत् अवद्यति' इस आप्त वचन से होतव्य द्रव्य-पुरोडाश में से दो बार (दो समय) अवदान किया जाना विहित करने के पश्चात् जो 'द्विरभिघारयति' वाक्य से दो बार अभिघारण बतलाया है, वह चार अभिघारण की पूर्ति के लिए है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए चतुरवत्त उपस्तरण तथा अभिघारण के सहित ही होना युक्त है॥ ३१॥

**( २२८७ ) तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषु भक्त्यनुक्रमणात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** तुल्यवत् = समानतापूर्वक, अभिधायः = कथन करके पुनः, सर्वेषु = सभी में, भक्त्यनुक्रमणात् = भागों का कथन होने से, च = भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** उक्त कथन की पुष्टि में प्रस्तुत वाक्य दृष्टान्त है- 'चत्वारि वा एतानि देवदधानि अवदानानि यदुपस्तृणाति तदनुवाक्यायै यत्पूर्वमवदानं तद्याज्यायै यदुत्तरं तद्देवतायै यदभिघारयति तद्वषट्कारायेति'। इस दृष्टान्त वाक्य में देवदध (देव के चार भागों) का कथन उपस्तरण तथा अभिघारण को मिलाकर किया गया है। आशय यह है कि चारों के समूह को देवदध कहा गया है। इसलिए चतुरवत्ता की पूर्णता उपस्तरण एवं अभिघारण के साथ ही मिलकर होती है॥ ३२॥

**चतुरवत्त का होना उपांशु याग में भी आवश्यक है, इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षी अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२८८ ) साप्तदश्यवन्नियम्येत॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—**साप्तदश्यवत् =साप्तदश्य के समान ही उपांशु याग में भी, नियम्येत = चतुरवत्त का नियम सम्भव है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि सप्तदश (सत्रह) सामधेनियों (सामिधेनी ऋचाओं) का नियम जिस प्रकार से विकृति यागों में है, उसी प्रकार से उपांशु याज में भी चतुरवदान का नियम होना सम्भव है॥ ३३॥

**अगले सूत्र में समाधान के भाव से सिद्धान्त पक्ष की प्रस्तुति की—**

**( २२८९ ) हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, हविषःगुणभूतत्वात् = हविष् (के गुणभूत) विधेय होने से, यथाभूत = होम सामान्य में चतुरवत्त हवि के गुणत्व की, विवक्षा = विवक्षा, स्यात् = है।

**व्याख्या—** समाधानकर्त्ता का कथन है कि उपांशु याज के होम में भी चतुरवत्त के गुणों का विधान प्राप्त है शबर स्वामी के अनुसार 'नोपांशु याजे चतुरवत्तमिति, होमे चतुरवत्तं गुणो विधीयते, स उपांशुयाज होमेऽपि स्यात्, अत्रापि चतुरवदातव्यम्'। होतव्य द्रव्य हविष् को ही चार भागों में विभक्त करके होम किये जाने की बात है। शाबर भाष्य में वर्णित उक्त वाक्य के अनुसार उपस्तरण एवं अभिघारण का अभाव होते हुए भी उपांशु याज में भी हवि का ही चतुरवत्त होता है॥ ३४॥

**प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास के प्रकरण में असोमयाजी के लिए दो पुरोडाशों का श्रुत होना अनुवाद के लिए ही है, ऐसा विहित करने के विषय में अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २२९० ) पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तत् श्रुतित्वाद्वैश्यस्तोमवत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** पुरोडाशाभ्याम् = पुरोडाश द्वय (आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न) में से, अधिकृतानाम् = असोमयाजियों के लिए ही, तत् श्रुतित्वात् = उनके अधिकार का श्रवण होने के कारण, वैश्यस्तोमवत् = वैश्यस्तोम के समान, पुरोडाशयो: = दोनों पुरोडाशों की, उपदेश:=विधि है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि श्रुत वचनों के अनुसार आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न पुरोडाशों की विधि केवल असोमयाजियों के लिए ही है। जिस प्रकार से वैश्यस्तोम याग के लिए मात्र वैश्य यजमान ही अधिकृत है, वैसे ही उक्त आग्नेय तथा ऐन्द्राग्न दोनों पुरोडाशों से याग करने का अधिकार केवल असोमयाजियों को ही है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३५॥

**अगले सूत्र में अन्य पक्ष की प्रस्तुति करते हैं—**

**( २२९१ ) न त्वनित्याधिकारोऽस्ति विधेर्नित्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** विधे: = विधि का, तु = तो, नित्येन = नित्य-दर्श-पौर्णमास के साथ, सम्बन्ध: = सम्बन्ध प्राप्त है, अनित्याधिकार: = (और) अनित्य (स्वर्ग की इच्छा) का अधिकार, न = नहीं, अस्ति = है, तस्मात् = इसलिए उसे, अवाक्यशेषत्वम् = वाक्य का शेष मानना युक्त नहीं।

**व्याख्या—** पुरोडाश के नियोजन कर्त्ता याग के साथ नित्य-दर्शपूर्णमास का सम्बन्ध होने से अनित्य-स्वर्ग की कामना का अधिकार नहीं है। इस प्रकार से प्रयोजन वचन के साथ सम्बन्ध का अभाव होने से उसे वाक्यशेष कहना उचित नहीं। यह भी कहना उचित नहीं कि उक्त पुरोडाश-द्वय की विधि अनित्य-सोमयाजी के लिए है; क्योंकि आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न पुरोडाश तो नित्य-दर्शपूर्णमास के विधान के अनुसार ही विहित है, यही अन्य पक्ष का मन्तव्य है॥ ३६॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन पर आक्षेप करते हैं—**

**( २२९२ ) सति च नैकदेशेन कर्त्तुः प्रधानभूतत्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कर्त्तु: = कर्त्ता का, प्रधानभूतत्वात् = प्रधान भूत होने से, सति = पुरोडाशों का असोमयाजी कर्त्ता के साथ, न = सम्बन्ध का होना सम्भव नहीं, एकदेशेन = नित्य-दर्शपूर्णमास का एक देश भूत पुरोडाश भी फल का साधक नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** अधिकार शेष होने की स्थिति में तो असोमयाजी कर्त्ता के साथ पुरोडाश का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं तथा नित्य दर्शपूर्णमास के एकदेश भूत पुरोडाश के फल का साधक होना भी सम्भव नहीं और फल के अभाव में प्रधान भाव का बन सकना भी सम्भव नहीं। शाबर भाष्य में शबर स्वामी के इस वाक्य 'तस्मादपि नास्त्यधिकारशेष:' के अनुसार भी अधिकार का शेष होना नहीं प्राप्त होता॥ ३७॥

**अगले सूत्र द्वारा आक्षेप का निराकरण करते हैं—**

**( २२९३ ) कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** कृत्स्नत्वात् = सम्पूर्णता होने से, तु = तो, स्तोमे = उस वैश्यस्तोम को किसी का एक देश (एक भाग) नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि वैश्यस्तोम जो अपने आप में सम्पूर्ण है, वह किसी का एक देश नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ फल की उपलब्धता है। अत: जो वैश्यस्तोम का दृष्टान्त पैंतीसवें सूत्र में पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत किया गया, वह सर्वथा अयुक्त है॥ ३८॥

**अगले सूत्र में तृतीय पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २२९४ ) कर्त्तुः स्यादिति चेत्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** कर्त्तुः = गौणकर्त्ता के लिए वह उपदेश-विधान है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष ने अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुए कहा कि उक्त विधान प्रधान के लिए न होकर गौण कर्त्ता (ऋत्विज्) के लिए है, उसी के लिए वह विधि विहित की गयी है, ऐसा समझना युक्त है॥ ३९॥

**उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण अगले सूत्र में करते हैं—**

**( २२९५ ) न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** न = शङ्का उचित नहीं, गुणार्थत्वात् = कर्मानुष्ठान हेतु गुणार्थकता की प्राप्ति से, प्राप्ते: च = तथा जो पहले से प्राप्त है, उपदेश: = उनके पुन: उपदेश का कोई भी, अर्थ: = प्रयोजन, न = नहीं है।

**व्याख्या—** कर्मानुष्ठान की सिद्धि के लिए तो ऋत्विजों का विधान पूर्व में प्राप्त है, इसलिए पुन: उसको उपदेश किया जाना अर्थहीन ही होगा। अतएव एक ऐसे ही पृथक् कर्म की विधि माननी चाहिए, जिसके निर्देशानुसार आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न दोनों पुरोडाशों के द्वारा असोमयाजी याग सम्पन्न कर सकें॥ ४०॥

**अगले सूत्र में चौथा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२९६ ) कर्मणोस्तु प्रकरणे तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन कालशास्त्रं स्यात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणो: = यज्ञ कर्म के, प्रकरणे = प्रकरण में, तु = तो, गुणानाम् = गुणों की, लिङ्गेन = लिङ्ग की उपस्थिति से, कालशास्त्रम् = काल (समय) ही लक्षित, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय यह है कि पुरोडाश तथा याग के प्रकरण में प्रयुक्त होने वाला असोमयाजी पद समय-काल को ही लक्षित करता है। काल-शास्त्र, काल को लक्षित करने का तात्पर्य है कि सोमयाग के समय से पृथक् काल में (दर्श तथा पूर्णमास के काल में) उक्त ऐन्द्राग्न एवं आग्नेय पुरोडाशों से याग सम्पन्न करना चाहिए। इसलिए भिन्न कर्म मानना उचित नहीं॥ ४१॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—**

**( २२९७ ) यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्तकालत्वात्॥**

**सूत्रार्थ—** यदि तु = किन्तु यदि, सान्नाय्यम् = सान्नाय्य हविष्, सोमयाजिन: = सोमयाजियों के लिए ही हो तो, विभक्त-कालत्वात् = काल की पृथक्ता होने से उसका, ताभ्याम् = उन (उक्त दोनों) के साथ, समवाय: = सम्बन्ध, न = सम्भव नहीं, अस्ति = है।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता का कथन है कि उक्त सान्नाय हविष् को यदि सोमयाजियों के लिए ही माना जाता है, तो काल की भिन्नता-पृथक्ता के कारण सोमयाजी के साथ उपर्युक्त दोनों (ऐन्द्राग्न तथा आग्नेय) पुरोडाशों के साथ (समवाय) सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होगा। इसलिए यही मानना उचित है कि उक्त दोनों पुरोडाशों से सम्पन्न होने वाला होम एक पृथक् (भिन्न) कर्म है॥ ४२॥

**अगले सूत्र में पुन: पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २२९८ ) अपि वा विहितत्वाद्गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्याद्यथाऽनभिप्रेतस्तथाऽऽग्नेयो दर्शनादेकदेवते॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = फिर भी, विहितत्वात् = दर्श-पूर्णमास में आग्नेय पुरोडाश का विधान प्राप्त होने से, गुणार्थायाम् = गुणार्थक श्रुति, पुन: = फिर से किसलिए ? संदेहे = इस सन्देह का समाधान यह है कि, श्रुति: = श्रुति दो देवताओं के विधानार्थ है, यथा अनभिप्रेत: तथाऽऽग्नेय: दर्शनात् एकदेवते = एक देवता वाले अग्नि में आग्नेय मात्र अनुवाद स्वरूप है।

**व्याख्या—** प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास दोनों में आग्नेय पुरोडाश का विधान प्राप्त है। यदि कोई यहाँ सन्देह व्यक्त करे कि आग्नेय पुरोडाश एक देवता के लिए है तथा पौर्णमास में दो देवता वाले विधान के लिए पुन: श्रुति प्राप्त है, तो उसका समाधान यह है कि ऐन्द्राग्न पुरोडाश के कथन से दो देवताओं (इन्द्र तथा अग्नि) की प्रतीति होती है और द्विदेवताक विधानार्थ ही पुन: श्रुति है॥ ४३॥

**समाधान के क्रम में आचार्य बादरायण का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( २२९९ ) विधिं तु बादरायण:॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** बादरायण: = आचार्य बादरायण, तु = तो, विधिम् = कालविधि को स्वीकार करते हैं।

**व्याख्या—**आचार्य बादरायण यह नहीं मानते कि एक देवता वाला आग्नेय पुरोडाश मात्र अनुवाद के लिए है तथा ऐन्द्राग्न पुरोडाश विधानार्थ है। वे दोनों पुरोडाशों को केवल काल का ही विधान मानना उचित समझते हैं॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त स्थापित करते हैं—**

**( २३०० ) प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रतिषिद्ध: = सान्नाय द्रव्य के प्रतिषेध का, विज्ञानात् = विशेष ज्ञान (विज्ञान) होने से दोनों का अनुवाद है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यह कालविधि न तो अधिक कर्मों की उत्पत्ति है और न ही आग्नेय का अनुवाद ही। 'अतो नैन्द्राग्नस्यापि विधि:' इस प्रतिषेध वाक्य से तो वह आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न दोनों का अनुवाद होना सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जो सोमयाजी हैं, उनके लिए पुरोडाशों की विधि नहीं है; प्रत्युत वह असोमयाजियों के लिए ही है॥ ४५॥

**( २३०१ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = और, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य श्रुति प्रमाणों से, च = भी उक्त अर्थ की सिद्धि है।

**व्याख्या—** अन्य श्रुति रूप प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि यह कर्मान्तर-अन्य कर्म न होकर दर्श-पूर्णमास का ही अङ्ग है। इस प्रकार अन्य प्रमाण से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है॥ ४६॥

**उपांशुयाग का ध्रौवाज्य द्रव्यक होना विहित करने के प्रयोजनार्थ अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २३०२ ) उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामो प्रतीयेत॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** उपांशुयाजमन्तरायजति = उपांशु याग का विधान प्राप्त है, हविर्लिङ्गा श्रुतित्वात् = (किन्तु) किसी हविविशेष का श्रवण न होने के कारण, यथाकामो = याग कर्त्ता अपनी इच्छानुसार, प्रतीयेत = उपांशुयाज करे।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि उपांशु याग का विधान पौर्णमास याग के मध्य में प्राप्त होता है; किन्तु उसमें किसी हव्य सामग्री का कथन नहीं किया गया है। अत: इससे तो यही प्रतीत होता है कि कर्त्ता अपनी इच्छानुसार जिस किसी भी द्रव्य से वह याग कर सकता है॥ ४७॥

**सिद्धान्त की प्रस्तुति उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु करते हैं—**

**( २३०३ ) ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वसंयोगात् वा = 'सर्व' पद का सम्बन्ध सभी यागों के साथ होने के कारण, ध्रौवात् = ध्रुव संज्ञक पात्र में स्थित आज्य से ही उपांशु याग किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** समाधान कर्त्ता ने कहा कि सर्व पद से सभी प्रकार के यागों का बोध होता है, इसलिए अपनी इच्छानुसार नहीं; प्रत्युत ध्रुव पात्र में विद्यमान आज्य से उपांशु याग सम्पादित किया जाना चाहिए॥ ४८॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २३०४ ) तद्वच्च देवतायां स्यात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = उसी प्रकार से, देवतायाम् = देवता में भी समझना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि द्रव्य के समान ही देवता में भी किसी प्रकार का नियम नहीं है। अतएव जिस किसी देवता को उद्दिष्ट करके उक्त उपांशु याज का सम्पादन किया जाना युक्त प्रतीत होता है॥ ४९॥

**अब समाधान के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—**

**( २३०५ ) तान्द्रीणां प्रकरणात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकरणात् = प्रकरण के अनुसार, तान्द्रीणाम् = तन्द्री (विहित देवताओं) में से किसी एक देवता का ही अवगम सम्भव है।

**व्याख्या—**देवताओं के तन्द्री में विष्णु, प्रजापति तथा अग्नीषोम ये तीनों देवता पौर्णमास में करणीय उपांशु याग के प्रकरण में विहित हैं। इसलिए इनमें से ही किसी एक देवता का चयन कर उपांशु याग करना चाहिए। विष्णु को उद्दिष्ट कर उपांशु याग करना चाहिए 'विष्णुरूपांशुयष्टव्य:' यह तो केवल अर्थवाद है, ऐसा समझना चाहिए॥

**उक्त सन्दर्भ में पूर्वपक्षी अगले तीन सूत्रों में विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत है—**

**( २३०६ ) धर्माद्वा स्यात्प्रजापति:॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** धर्मात् वा = विशिष्टता के कारण तो, प्रजापति: = प्रजापति ही, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के कथनानुसार उपांशुत्व आदि विशेषताओं के कारण तो प्रजापति को ही उद्दिष्ट (कथन) कर उपांशु याग किया जाना चाहिए। प्रजापति ही उपांशु याग का देवता है॥ ५१॥

**( २३०७ ) देवतायास्त्वनिर्वचनं तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं तस्मादिहाधिकारेण॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र तु = वहाँ पर तो, देवताया: = देवता का, अनिर्वचनम् = कथन नहीं मिलता तथा, तत्र = उस (प्राजापत्य याग) में, शब्दस्य = उपांशु धर्म सम्बन्धी शब्द का, इहमृदुत्वम् = स्पष्टत: श्रवण भी नहीं है, तस्मात् = इसलिए, इह = उपांशु याग में, अधिकारेण = प्रधान देवता अग्नि का ही स्वामित्व है।

**व्याख्या—** समस्त देवों में अग्नि को मुख्य देवता माना गया है- 'अग्निरग्ने प्रथमो देवतानाम्'। पक्षान्तर का कथन है कि उपांशु याग के विधान में उसके देवता का कथन प्राप्त नहीं तथा प्राजापत्य याग में उपांशु याग के धर्माभिव्यक्तक शब्दों के स्पष्ट श्रवण का अभाव है। अतएव शब्द वैभिन्यता होने से उपांशु पर मुख्य-प्रधान देवता अग्नि का ही स्वामित्व है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५२॥

**( २३०८ ) विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विष्णु: स्यात् = उपांशु याग का देवता विष्णु है, हौत्राम्नानात् = हौत्रमन्त्र के आम्नान होने से, च = तथा, तत्र = दर्श में, हौत्रस्य = हौत्र का, दर्शनात् = विधान प्राप्त होने से, अमावस्या हवि: = अमावस्या- दर्श का हविष, स्यात् = है।

**व्याख्या—** तृतीय पक्ष का कहना है कि उपांशु याग का देवता अग्नि नहीं, प्रत्युत विष्णु है। 'इदं विष्णु:

प्रतद्विष्णुः' इस याज्या तथा पुरोवाक्य इन दोनों मन्त्रों के आम्नान होने से हविष् भी दर्श-अमावस्या की है। कारण यह कि उस हौत्र के विधान का श्रवण दर्श (अमावस्या) के सामीप्य में ही है॥ ५३॥

**अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत पक्ष से समाधानपरक सिद्धान्त की प्रतीति होती है—**

**( २३०९ ) अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगाद्गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, पौर्णमास्याम् = पौर्णमासी में उपांशु यज्ञ सम्पन्न, स्यात् = होता है (क्योंकि), प्रधानशब्दसंयोगात् = उसी के साथ प्रधान शब्द का श्रवण होने से तथा, मन्त्रः = मन्त्र के, गुणत्वात् = गुण रूप-गौण होने से, यथा प्रधानम् = कर्म प्रधान के अनुरूप, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** इस पक्ष का कथन है कि उपांशु याग का सम्पादन पूर्णमासी में ही होता है; क्योंकि पौर्णमास्यां यजेरन् में प्रधान शब्द का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से श्रुत है। अतएव विधि विहित कर्म की जहाँ प्राप्ति हो, वहीं पर मन्त्र की प्राप्ति होनी चाहिए। इस प्रकार से 'विष्णुरूपांशुयष्टव्यः' मन्त्र का सम्बन्ध पौर्णमास के साथ प्राप्त होने से प्रधान के अनुसार ही कर्म होना चाहिए॥ ५४॥

**उक्त कथन के पक्ष में युक्ति देते हैं—**

**( २३१० ) आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दर्शयत्यमावास्याविकारे॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** अमावास्याविकारे = अमावस्या-दर्श के विकार रूप विकृति याग साकम्प्रस्थानीय में, सान्नायस्य = सान्नाय्य का, आनन्तर्यम्=आनन्तर्य, पुरोडाशेन = पुरोडाश के द्वारा (पुरोडाश के पीछे), दर्शयति = बतलाते हैं, च = अतः उससे भी उपांशु याग का अमावस्या में न होना ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** साकम्प्रस्थानीय दर्श-अमावस्या का विकार स्वरूप विकृति याग है। उसमें इस वाक्य 'अमावस्या विकारे साकम्प्रस्थानीये आग्नेयेन पुरोडाशेन प्रचर्य सह कुम्भीभिराक्रमन्नाह' से सान्नाय्य के आनन्तर्य को पुरोडाश के पीछे बतलाना विहित किया गया है, न कि उपांशु याग को। अतएव उपांशुयाग अमावस्या में अनुष्ठित नहीं होता, यही समझना चाहिए॥ ५५॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन से हटकर एक अन्य पक्ष ( पञ्चम पूर्वपक्ष ) की स्थापना करते हैं—**

**( २३११ ) अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र विधीयते॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** अग्नीषोमः = पौर्णमास याग में अग्नीषोम देवता का, विधानात् तु = विधान प्राप्त होने से तो, पौर्णमास्याम् = उपांशु याग पौर्णमासी में भी कर्त्तव्य है, च = तथा, उभयत्र = पौर्णमास एवं अमावस्या दोनों में भी, विधीयते = किया जाना विहित है।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य 'तावब्रूताम् अग्नीषोमौ पौर्णमास्यां नौ यजेरन्' से यह नहीं समझना चाहिए कि अग्नीषोमीय देवता का विधान पौर्णमास के याग में है। कारण यह कि उक्त किसी प्रकार की कोई उत्पत्ति-विधि नहीं है। अतएव उपांशु याग का विधान पौर्णमास तथा अमावस्या दोनों में समझना चाहिए। अमावस्या में होने वाला उपांशु याग विष्णु देवता वाला है तथा पौर्णमास में होने वाला अग्नीषोम देवताक है॥ ५६॥

**अगले पाँच सूत्रों में मीमांसाकार ने समाधान हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २३१२ ) प्रतिषिद्ध्य विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतिषिद्ध्य = प्रतिषेध करके, विधानात् वा = विधान किये जाने से तो, विष्णुः = विष्णु, समानदेशः = समान देश, स्यात् = है।

**व्याख्या—** 'आज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति प्रकृत्य समाम्नायते जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशु याजमन्तरा यजतीति' यह वाक्य अमावस्या का निषेध करके पौर्णमासी में ही उपांशु याग का

किया जाना विहित करता है। अतएव उपांशु याग का सम्बन्ध पौर्णमासी के साथ ही है, अमावस्या के साथ नहीं। 'विष्णु रुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय अग्नीषोमौ उपांशु यष्टव्यौ अजामित्वाय'। इस वाक्य के अनुसार भी पौर्णमासी में उपांशु याज का होना उपपन्न है तथा विष्णु, प्रजापति एवं अग्नीषोम देवताओं का अवगम भी उसमें है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५७॥

## ( २३१३ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ५८॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = उसी तरह से, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य प्रमाण भी उक्त अर्थ की पुष्टि करते हैं।

**व्याख्या—** शास्त्रीय विधि-व्यवस्था के अनुसार उपांशु याग की कर्त्तव्यता यदि अमावस्या में विहित होती, तो उसके लिए तेरह आहुतियाँ नहीं, प्रत्युत चौदह आहुतियाँ विहित होतीं, जबकि ऐसा नहीं है। अत: इससे भी अमावस्या के साथ उपांशु याग का न होना ही सिद्ध होता है॥ ५८॥

## ( २३१४ ) न वानङ्गं सकृत् श्रुतावुभयत्र विधीयेतासम्बन्धात्॥ ५९॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अनङ्गम् = प्रधान के, असम्बन्धात् = सम्बन्ध का अभाव होने से, सकृत् = एक बार ही, श्रुतौ = श्रूयमाण होने से उसका, उभयत्र = दोनों स्थलों पर, विधीयेत = विहित होना, न = सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** युक्तिकार का कथन है कि एक ही समय में यदि प्रधान का श्रवण प्राप्त हो, तो उस प्रधान का दो स्थलों पर विधान किया जाना सम्भव नहीं। इसलिए उपांशु याग का सम्बन्ध दर्श-पूर्णमास दोनों के साथ न होकर मात्र पौर्णमास के ही साथ है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५९॥

## ( २३१५ ) गुणानां च परार्थत्वात् प्रकृतौ विधिलिंगानि दर्शयति॥ ६०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गुणानाम् = गुणों के, परार्थत्वात् = परार्थ होने से, प्रकृतौ = प्रकृति में, विधिलिङ्गानि = विधि के लिङ्गों को, दर्शयति = दर्शाता है।

**व्याख्या—** सूत्र का सार संक्षेप यह है कि प्रधान होने से परार्थ गुणों की उसमें प्रवृत्ति हुआ करती है; क्योंकि गुण ही परार्थ होते हैं, प्रधान नहीं। विधि लिङ्गों की प्रकृति में (दर्शन) प्राप्ति, परार्थ होने से ही होती है। अत: अमावस्या में उपांशु याज का अप्राप्त होना ही सिद्ध है॥ ६०॥

## ( २३१६ ) विकारे चाश्रुतित्वात्॥ ६१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विकारे = अमावस्या के विकार में, अश्रुतित्वात् = उपांशु याग का श्रवण न होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** अमावस्या का विकार (विकृति याग) साकम्प्रस्थानीय है, उसमें उपांशु याग का श्रवण न होने से भी अमावस्या में उपांशु याग की अकर्त्तव्यता उपपन्न होती है॥ ६१॥

**उपांशु याग की कर्त्तव्यता एक पुरोडाश से युक्त पौर्णमास में भी बताने के लिए अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २३१७ ) द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरालगुणार्थत्वात्॥ ६२॥

**सूत्रार्थ—** द्विपुरोडाशायाम् = दो पुरोडाश वाली पूर्णिमा में, अन्तरालगुणार्थत्वात् = अन्तराल रूप गुण का विधान प्राप्त होने से, स्यात् = उपांशु याग होना चाहिए।

**व्याख्या—** पौर्णमास याग में सोम याग के ऊर्ध्व-पीछे दो पुरोडाश तथा सोम के पहले एक पुरोडाश होता है- 'पौर्णमास्यां सोमादूर्ध्वं पुरोडाशद्वयम् प्रागेक:'। पूर्वपक्षी का कहना है कि अन्तराल का विधान होने से दो पुरोडाश वाले पौर्णमास में उपांशु याग कर्त्तव्य है॥ ६२॥

## ( २३१८ ) अजामिकरणार्थत्वाच्च॥ ६३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अजामिकरणार्थत्वात् = अजामि-असादृश्य करने के लिए भी उक्त अर्थ की सिद्धि है।

**व्याख्या—** शबर स्वामी ने अपने भाष्य में 'जामि' पद का अर्थ सादृश्य बतलाया है-'जामि सादृश्यम्'। अत: सूत्र में प्रयुक्त 'अजामि' पद का अर्थ असादृश्य हुआ, असादृश्यता बनाने के लिए भी दो पुरोडाश वाले पौर्णमास में उपांशु याग की कर्त्तव्यता है। दो पुरोडाश में सादृश्य दोष कहा गया है-'पुरोडाशयो: सादृश्य दोष उच्यते' और दोष का निवारण किया जाना भी कहा है- 'यत्र दोषस्तत्र दोषविघातार्थेन भवितव्यम्'। इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि दो पुरोडाश वाली पौर्णमासी में ही उपांशु याग करणीय है॥ ६३॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त कथन में आक्षेप का कथन करते हैं—**

## (२३१९) तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानत्वात्॥ ६४॥

**सूत्रार्थ—** तत् = (वह) पौर्णमासी के, प्रधानत्वात् = प्रधान होने से, तदर्थम् = गौण अन्तराल के लिए है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, न = तो युक्त नहीं।

**व्याख्या—** सूत्र का आशय यह है कि अन्तरालत्व होने के कारण उपांशु याग द्विपुरोडाशत्व की ही स्थिति में हुआ करता है, यदि ऐसा कहा जाये, तो वह उचित नहीं। कारण यह है कि 'पौर्णमास' प्रधान तथा 'अन्तराल' गौण। अत: उपांशु याग की कर्त्तव्यता एक पुरोडाश वाले पौर्णमास में भी है॥ ६४॥

## (२३२०) अशिष्टेन च सम्बन्धात्॥ ६५॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अशिष्टेन = अश्रूयमाण अन्तराल के अर्थ के साथ, सम्बन्धात् = उपांशु याग का सम्बन्ध होने से भी उक्त कथन पुष्ट होता है।

**व्याख्या—** अश्रुत अन्तराल अर्थ के साथ उपांशु याग का सम्बन्ध किया जाना चाहिए। उसमें (उपांशु याग में) अन्तराल गुण का होता है; किन्तु गुणत्व से विधीयमान अन्तराल दृष्टिगत नहीं है। इसलिए अन्तराल के अभाव वाले एक पुरोडाश से युक्त पौर्णमासी में भी उपांशु याग की कर्त्तव्यता है॥ ६५॥

**आक्षेप के निवारणार्थ सूत्रकार ने अगला सूत्र दिया—**

## (२३२१) उत्पत्तेस्तु निवेश: स्याद्गुणस्यानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादर्थान्तरस्य नैमित्तिकत्वात्तदभावेऽश्रुतौ स्यात्॥ ६६॥

**सूत्रार्थ—** उत्पत्ते: = उत्पत्ति वाक्य से, तु = तो, निवेश: = निवेश की प्राप्ति, स्यात् = है, गुणस्य=गुण का, अनुपरोधेन = उपरोध हुए बिना अन्तराल का प्रतिषेध होता है, विधानात् = विधान की उपलब्धता से, अर्थस्य = अन्तराल अर्थ की, विद्यमानत्वात् = द्विपुरोडाश में ही प्राप्ति होती है, तत् = उसके, अभावे = अभाव में, अश्रुतौ स्यात् = द्विपुरोडाश वाली पौर्णमासी यदि प्राप्त न हो, नैमित्तिकत्वात् = तो अन्तराल स्वरूप नैमित्तिक की विद्यमानता वहाँ होने से वहीं उपांशु याग का होना प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि 'उपांशु याजमन्तरायजति' वाक्य (उत्पत्ति वाक्य) से अन्तराल का गुणत्व के द्वारा ही विहित होना प्राप्त है। अतएव एक पुरोडाश वाली पौर्णमासी में तभी उपांशु याग होता, जब दो पुरोडाश वाली पौर्णमासी न होती। परन्तु जब दो पुरोडाश वाली पौर्णमासी प्राप्त है, तब एक पुरोडाश वाली पौर्णमासी में उपांशु याग किया जाना विधान के प्रतिकूल ही माना जाएगा॥ ६६॥

**अगले चार सूत्रों में आचार्य ने सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए इस पाद का समापन किया—**

## (२३२२) उभयोस्तु विधानात्॥ ६७॥

**सूत्रार्थ—** विधानात् = विधान प्राप्त होने से, तु = तो, उभयो: = एक पुरोडाश एवं द्विपुरोडाश वाली दोनों पौर्णमासियों में उपांशु याग की कर्त्तव्यता है।

**व्याख्या—** एक पुरोडाश वाली पौर्णमासी में भी उपांशु याग का विधान करने वाला वाक्य इस प्रकार है- 'आज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति'। अतएव ऐसा विधान प्राप्त होने से एक पुरोडाश वाली तथा द्विपुरोडाश वाली दोनों पौर्णमासियों में उपांशु याग की कर्त्तव्यता है॥ ६७॥

**( २३२३ ) गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गुणानाम् = गुणों का, परार्थत्वात् = परार्थ-प्रधान के लिए होने से, उपवेषवत् = उपवेषी के समान है, यदा इति स्यात् = अत: गुणों के होने अथवा न होने पर भी प्रधान कार्य हुआ करता है।

**व्याख्या—** गुण सर्वदा परार्थ (प्रधान-मुख्यकर्म) के लिए ही हुआ करते हैं, प्रधान कर्म में गुणाभाव के कारण किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। जैसे कि उपवेष के द्वारा कपालोपधान (कपालों का उपधान) किया जाता है, उपवेष के उपलब्ध न होने पर अन्य के द्वारा कपालोपधान की प्रक्रिया पूर्ण कर ली जाती है। गौण अन्तराल के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए, उसके होने अथवा न होने से उपांशु याग की कर्त्तव्यता प्रभावित एवं बाधित नहीं होती॥ ६८॥

**( २३२४ ) अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, हि = निश्चित रूप से, पुरोडाशौ = दोनों पुरोडाश, कालस्य लक्षणम् = काल को ही लक्षित करते हैं, अनपाय: = एक में भी लक्षण है, ऐसा समझना चाहिए।

**व्याख्या—** एक पुरोडाश एवं दो पुरोडाश इन दोनों के बीच का समय उपांशु याग के सम्पादन का समय है। पहले वाले पुरोडाश याग के सम्पादन के अनन्तर यदि तत्काल उपांशु याग करना सम्भव न हो, तो दूसरा (द्विपुरोडाश) पुरोडाश याग यदि किया जाता है, तो जामिता संज्ञक दोष की प्राप्ति होती है- 'जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशा उपांशु याजमन्तरा यजति'। इसी दोष के निवारणार्थ उपांशु याग किया जाता है। इसी उपांशु याग के काल का लक्षण एक पुरोडाश वाले पौर्णमास में प्राप्त है। उदाहरण के लिए- 'तस्मादुत्तर: स एव काल: योऽसावन्तरालेन लक्षित: यथा नागवेलायामागन्तव्यम्। पटह वेलायामागन्तव्यम्।' जैसे नाग की वेला में आना, शंख ध्वनि की वेला में आना, पटह (ढोल) वाद्य के समय आना। जिस गाँव में शंख न बजाया जाता हो, उसमें भी आने का वही समय है। ऐसे ही पौर्णमास में एक पुरोडाश याग हो, तो उसमें उपांशु याग का सम्पादन काल वही है॥ ६९॥

**( २३२५ ) प्रशंसार्थमजामित्वे यथाऽमृतार्थत्वम्॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** अजामित्वम् = तथा जो अजामित्व के लिए उपांशु याग है यह कहना, प्रशंसार्थम् = मात्र प्रशंसा के लिए किया गया कथन है, यथा = जैसे, अमृतार्थम् = अमृत के लिए कहा है।

**व्याख्या—** उपांशु याग जामि दोष के निवारणार्थ है, ऐसा कहना मात्र प्रशंसा है। उपांशु याग तो काल को ही लक्षित करता है। जैसा कि कहा है- 'यदुपस्तृणाति अभिघारयति अमृताहुतिमेवैनाम् करोति' यदि आहुति का उपस्तरण तथा अभिघारण करता है, तो वह अमृत है। यहाँ पर आहुति को अमृत कहा जाना मात्र स्तुति (प्रशंसा) है। इसी प्रकार से उपांशु याग के लिए भी समझना चाहिए॥ ७०॥

## ॥ इति दशमाध्यायस्य अष्टम: पाद:॥

# ॥ अथ एकादशाध्याये प्रथमः पादः ॥

**दर्शपूर्णमास में आग्नेय इत्यादि याग संयुक्त फल देते हैं, इस सिद्धान्त सूत्र से इस पाद का आरम्भ हो रहा है—**

**( २३२६ ) प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोजनाभिसम्बन्धात् = सभी मिल-जुलकर फल के साथ सम्बद्ध होने से, पृथक् सतां ततः = भिन्न-भिन्न आग्नेय इत्यादि याग भी, एककर्म्यम् = एक फल के उत्पादक हैं, एकशब्दाभिसंयोगात् = इन छः यागों के समुदाय का वाचक एक दर्शपूर्णमास शब्द ही है।

**व्याख्या—** भिन्न-भिन्न आग्नेय आदि याग एक ही कर्म हैं। समस्त अङ्ग एक फलवाले ही होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। दर्शपूर्णमास इस एक नाम से आग्नेय इत्यादि छः याग अभिधेय होते हैं। दर्श एवं पूर्णमास ये दोनों ही शब्द समुदाय वाची हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' वाक्य में प्रयुक्त दर्श शब्द छः में से तीन यागों व पूर्णमास शब्द अन्य तीन यागों का वाचक है; किन्तु इन सभी यागों का फल एक ही है- स्वर्ग की प्राप्ति पृथक्-पृथक् फल नहीं॥ १ ॥

**इस पर आक्षेप करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३२७ ) शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, शेषवत् = शेष के समान, प्रयोजनम् = प्रयोजन- प्रतिफल, प्रतिकर्मविभज्येत = प्रत्येक कर्मानुसार भिन्न-भिन्न भी होता है।

**व्याख्या—** शेष के तुल्य प्रतिकर्म फल का विभेद होता है। समुदाय हेतु संयोग शब्द अवैशेषिक होता है। तात्पर्य यह है कि समुदाय वाची शब्द से पदार्थ का ग्रहण करके उसे उद्देश्य बनाकर जो कुछ किया जाये, वह समुदाय पर घट ही जाये, ऐसा कोई विधान नहीं है; वरन् समुदायगत एक-एक व्यक्ति पर भी घटित होता है।

उदाहरणार्थ- 'गणाय स्नानम्' में वर्णित विराट् जन समुदाय का स्नान से सम्बन्ध निर्दिष्ट है; परन्तु वह समुदाय पर घटित (लागू) न होकर समुदायगत मनुष्य पर लागू होता है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास द्वारा जो स्वर्गफल मिलना निर्दिष्ट है, वह दर्श और पूर्णमास दोनों ही प्रकार के यागों पर लागू होना मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में जितने प्रकार के याग हों, उतने प्रकार के ही फल मानने उचित हैं॥ २ ॥

**अब आचार्य अगले दो सूत्रों में उक्त आक्षेप का निवारण करते हुए कहते हैं—**

**( २३२८ ) अविधानात्तु नैवं स्यात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** अविधानात् तु = विधान न होने से, न एवं स्यात् = तो ऐसा नहीं कह सकते।

**व्याख्या—** व्यक्ति अथवा समूह का स्पष्ट विधान न होने के कारण ऐसा होना सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस समुदाय में साहित्य (सहितता) विवक्षित (कथित) हो, वहाँ पर विधीयमान कर्म समुदाय पर चरितार्थ होता है; किन्तु सहितता विवक्षित न होने की स्थिति में समुदायी पर चरितार्थ होता है। उदाहरणार्थ- 'ब्राह्मणगणं पूजय' या 'गणाय स्नानं' में साहित्य कथित नहीं है; किन्तु दर्श एवं पूर्णमास में तो साहित्य कथित है। अतः साधन रूप में निर्दिष्ट स्वर्गफल दर्शपूर्णमास के छहों यागों द्वारा उत्पद्यमान है॥ ३ ॥

**( २३२९ ) शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रतिप्रधानभावः स्यात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** हि = कारण यह है, शेषस्य परार्थत्वात् = कि अवशिष्ट परार्थ अर्थात् प्रधान के निमित्त होता है, विधानात् = विधान होने के कारण शेष है, प्रतिप्रधानभावः स्यात् = अस्तु; प्रत्येक प्रधान में अङ्ग आवृत्त होता है।

**व्याख्या—** शेष (फल) प्रधान (परार्थ) के निमित्त होता है एवं इसका विधान भी है। अस्तु; प्रत्येक प्रधान में इसकी आवृत्ति हुआ करती है। फल के निमित्त याग शेष है। विधीयमानत्व होने वाले स्थान को शेष कहते हैं। चूँकि याग में विधीयमानत्व है। अस्तु; यही शेष है, अतः दर्शपूर्णमासान्तर्गत छः याग रूप जो शेष हैं, उन सभी का एक ही फल स्वर्ग है॥ ४॥

**अब समस्त अङ्गों द्वारा मिलकर कार्य उत्पन्न करने सम्बन्धी विवरण पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २३३० ) अङ्गानां तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्वम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** क्रतुवत् = क्रतु (यज्ञ) के समान, अङ्गानां फलान्यत्वम् = अङ्गों के फल भिन्न-भिन्न होते हैं, शब्दभेदात् = शब्द भेद होने के कारण, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि शब्द भेद होने के कारण जिस प्रकार विभिन्न क्रतुओं (यज्ञों) के फल पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार अङ्गों के फल भी पृथक्-पृथक् होने चाहिए। जैसे-समिधो यजति, तनूनपातं यजति आदि में एक अङ्ग अन्य अङ्ग की अपेक्षा भी नहीं रखता, अतः अङ्गों के फल भी भिन्न होने में कोई आपत्ति नहीं है॥ ५॥

**उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३३१ ) अर्थभेदस्तु तत्रार्थेहैकार्थ्यादैककर्म्यम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र अर्थभेदः = वहाँ (क्रतुओं में) अर्थभेद है, अथ इह ऐकार्थ्यात् = यहाँ अंगों में प्रधान का उपकारी होने के कारण, तु = तो, ऐककर्म्यम् = एक फलोत्पादक है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि सामान्य रूप से जहाँ भिन्न फल का प्रतिपादक शब्द हो, वहाँ क्रतु एवं अंगों में पृथक् फल स्वीकार करना चाहिए; परन्तु अङ्ग तो मुख्य कर्म का सहायक है। अतः उसका फल एक ही है। अर्थात् प्रधान कर्म का जो फल होता है, वही अंगों का फल होता है॥ ६॥

**उक्त सिद्धान्त पर पुनः आक्षेप प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३३२ ) शब्दभेदान्नेति चेत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दभेदात् = शब्द भेद होने से ऐसा, न = नहीं होता, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** यदि यह कहा जाये कि शब्द वैभिन्य से अङ्गों का फल एक नहीं होता है, तो?॥ ७॥

**उक्त आक्षेप का निवारण इस सूत्र में किया गया है—**

**( २३३३ ) कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मार्थत्वात् प्रयोगे = जब प्रधान प्रयोग कथित हो तब, ताच्छब्द्यम् = अङ्ग के प्रयोग का शब्द, तदर्थत्वात् = मुख्य प्रयोग के निमित्त होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्मार्थता होने से उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। अङ्ग वाक्य विधायक न होकर प्रधान की भावना से ही संयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ- 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं कुर्यात्' वाक्य द्वारा जब यह बताया जाता है कि दर्शपूर्णमास याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तब इस जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है कि दर्शपूर्णमास किस विधि से किया जाये? उसी के निराकरण के लिए **'समिधो यजति'** इत्यादि अङ्ग कलापों का निर्देश दिया जाता है। अतः किस विधि से यजन किया जाये, यह निर्दिष्ट करने के लिए अङ्ग वाक्य होते हैं॥ ८॥

**उक्त सिद्धान्त पर पुनः आक्षेप करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३३४ ) कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** कर्तृविधेः = कर्त्ता की प्रधान विधि, नानार्थत्वात् = नानार्थक होने से, गुणप्रधानेषु = गुण एवं प्रधान विधि में (उद्देश्य पृथक्-पृथक् होते हैं)।

**व्याख्या—** प्रधान एवं अङ्ग विधियों में कर्त्ता की प्रधान विधि भिन्नार्थक होती है। अर्थात् गुणानुष्ठान एवं प्रधानानुष्ठान के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ प्रधान कर्म का उद्देश्य फल होता है, वहीं अङ्गों का उद्देश्य प्रधान कर्म होता है। अस्तु; एक ही वाक्य द्वारा प्रधान कर्म एवं उसकी इतिकर्त्तव्यता का विधान सम्भव नहीं है॥ ९॥

**यहाँ उक्त आक्षेप का निराकरण प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३३५ ) आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** आरम्भस्य = कार्यारम्भ, शब्दपूर्वत्वात् = शब्द जन्य होने के कारण (ऐसा सम्भव है)।

**व्याख्या—** हर व्यापार शब्द सहित होता है। जैसे यजेत् (अर्थात् यागं कुर्यात्) शब्द का श्रवण करते ही तीन प्रकार की आकांक्षाएँ समुत्पन्न होती हैं, कि क्या करना है, किसके द्वारा करना है और किस प्रकार से करना है? जबकि याग शब्द से ये आकांक्षाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। किस प्रकार से करना है, इसका प्रतिपादन 'समिधो यजति' आदि अङ्ग वाक्यों द्वारा होता है। 'आरम्भो व्यापारः क्रिया'- ये तीनों एक ही अर्थ वाले हैं। अस्तु; ये सभी अङ्ग प्रधान स्वरूप कार्य से सम्बद्ध हैं। इनका अलग से कोई अर्थ नहीं हुआ करता॥ १०॥

**अब दर्शपूर्णमास इत्यादि काम्य कर्मों में सभी अङ्गों का उपसंहार करते हुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २३३६ ) एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद् यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** कृतार्थत्वात् = कृत कर्म से उद्देश्य पूरा होने से, एकेन अपि समाप्येत = एक अङ्गीय अनुष्ठान करने से प्रयोग की समाप्ति होती है, यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु = ज्योतिष्टोम आदि में से किसी भी याग द्वारा स्वर्ग भावना की उसी प्रकार पूर्ति होती है, उत्तरावत् च स्यात् = जिस प्रकार उत्तर (बाद की) गायों का दोहन करने में नियम नहीं होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि स्वर्ग के साधन रूप सौर्य आदि यागों में से किसी भी याग के किसी भी एक अङ्ग के अनुष्ठान से प्रयोग की पूर्णता से अन्य समस्त अङ्गों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती, जैसे- 'सान्नाय्ये तिस्रो वाग्यतोदोहयित्वा विसृष्टवागनन्वारभ्य तूष्णीमुत्तरा दोहयति' वाक्य में तीन गायों के सावधानीपूर्वक दोहन के पश्चात् (बाद की) अन्य गायों को दुहने की बात निर्दिष्ट है, पर प्रथम तीन की तरह नियम नहीं, चाहे जितनी भी गायें दुही जाएँ। इसी प्रकार यथेष्ट अङ्गों का अनुष्ठान करना समस्त अनुष्ठानों में नियम नहीं हो सकता॥ ११॥

**यहाँ पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आक्षेप किया जा रहा है—**

**( २३३७ ) फलाभावादिति चेत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** फलाभावात् = (यदि इससे) फल प्राप्त न होने, इति चेत् = यदि ऐसी शङ्का हो, तो।

**व्याख्या—** ऐसा करने से यह शङ्का भी तो उत्पन्न हो सकती है कि समस्त अङ्गों का अनुष्ठान न करने से यज्ञ का फल नहीं मिलेगा?॥ १२॥

**उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए इस सूत्र में पूर्वपक्षी कहते हैं—**

**( २३३८ ) न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, कर्मसंयोगात् = प्रधान कर्म के फल के साथ सम्बद्ध होने के कारण, प्रयोजनम् = प्रतिफल, अशब्ददोषं स्यात् = किसी प्रकार का शब्द-दोष नहीं होता।

**व्याख्या—** उपर्युक्त शङ्का करना उचित नहीं है; क्योंकि फल के साथ तो प्रधान कर्म ही सम्बद्ध है। अस्तु; यदि कुछ अङ्गों का अनुष्ठान न किया जा सके, तो शब्द जन्य दोष भी नहीं माना जायेगा। यदि फल के साथ अङ्गों को भी सम्बद्ध माना जाये, तो यह पता ही न चलेगा कि कौन प्रधान कर्म है और कौन सा अङ्ग कर्म? अस्तु; प्रधान कर्म के साथ संयोग ही उचित है॥ १३॥

**यहाँ पुनः आक्षेप प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३३९ ) ऐकशब्द्यादिति चेत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकशब्द्यात् = निर्देश वाक्य एक होने से, सभी का अनुष्ठान होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपकार कहते हैं कि एक निर्देश वाक्य होने से प्रधान कर्म के साथ जुड़े हुए सभी अङ्ग एक ही विधि के विषय हुआ करते हैं। अस्तु; अनुष्ठान समस्त अङ्गों का होना चाहिए । कोई भी अङ्ग छोड़ देने से प्रयोग में विकलांगता की स्थिति आ जायेगी एवं फल सिद्धि संदेहास्पद रहेगी॥ १४॥

**उक्त आक्षेप का निराकरण पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३४० ) नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थपृथक्त्वात् = अर्थ में पार्थक्य होने से, समत्वात् = सभी के समान होने से, अगुणत्वम् = अर्थात् अमुक कर्म गुणकर्म होता है,ऐसा नहीं कह सकते।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन उचित नहीं, क्योंकि कर्म के अर्थ में विभेद है। जो कर्म, फल के साथ सम्बद्ध रहता है, वह प्रधान कर्म कहलाता है एवं जो कर्म प्रधान कर्म के साथ सम्बद्ध रहता है, वह गुण कर्म कहलाता है। अस्तु; समस्त अङ्गों का उपसंहार होना सम्भव नहीं है॥ १५॥

**सूत्रकार अब अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए पूर्वपक्षी आक्षेपों का निवारण करते हैं—**

**( २३४१ ) विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यत्वत् श्रुतभूताभिसंयोगादर्थेन युगपत्प्राप्तेर्यथाक्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** विधेः एक श्रुतित्वात् = श्रुति वाक्यों में विधि एक ही होने के कारण, अपर्यायविधानात् = बारी-बारी से विधान न होने के कारण, नित्यवत् श्रुतभूताभि संयोगात् = नित्यश्रुत भावना बोधक शब्द से उद्भूत, अर्थेन युगपत्प्राप्तेः = प्रधान कर्म के साथ ही अर्थ की संगति होने से, निवीतवत् = निवीत नामक ऋत्विज् के समान, यथाक्रमम् = समस्त अङ्गों का क्रमशः, तस्मात् सर्वप्रयोगे प्रवृतिः स्यात् = सर्वप्रधान प्रयोग के साथ सर्व-अंग अनुष्ठान करणीय है।

**व्याख्या—** एक स्थान में भी अङ्ग प्रयोग की उक्ति उचित नहीं, क्योंकि विधि का एक निर्देश होने से समस्त अङ्गों का एक साथ प्रयोग हुआ करता है। इन अंगों का पर्याय से भी विधान न होने के कारण एक देश की अपेक्षा उचित नहीं है। निवीत के समान समस्त अङ्गों का क्रमेण अनुष्ठान करणीय है। अस्तु; सर्वप्रधान प्रयोग के साथ ही समस्त अङ्गों का अनुष्ठान करना उचित है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कबूतरों का समूह दाना चुगने के लिए एक साथ धरती पर उतर पड़ता है, उसी प्रकार प्रधान कर्म के साथ जो-जो अङ्ग सम्बद्ध हों, उन सभी का अनुष्ठान कर्त्तव्य है॥ १६॥

**( २३४२ ) तथा कर्मोपदेशः स्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उस प्रकार करने से, कर्मोपदेशः = कर्म का उपदेश, स्यात् = घटित होता है।

**व्याख्या—** इस प्रकार समस्त अङ्गों का अनुष्ठान करने से चतुर्दश आहुतियाँ पूर्णिमा में एवं तेरह आहुतियाँ

अमावस्या में होनी चाहिए, यह उपदेश प्राप्त होता है। इसी संख्या में भी सभी अंगों के भी अनुष्ठान हों, तभी सिद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं हो सकती॥ १७॥

**( २३४३ ) क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** क्रत्वन्तरेषु = भिन्न -भिन्न यागों में, पुनर्वचनम् = भिन्न-भिन्न फलश्रुति होती है।

**व्याख्या—** पृथक्-पृथक् यागों में पृथक्-पृथक् फलश्रुति हुआ करती है। भिन्न-भिन्न क्रतुओं के सन्दर्भ में जो यह कहा गया है कि किसी एक क्रतु से स्वर्ग प्राप्ति सम्भव है, इसलिए सभी क्रतुओं को सम्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है, यह तथ्य उचित नहीं। अस्तु; एक क्रतु द्वारा फल भावना की सिद्धि हो सकती है। अङ्ग कर्मों का फल से सम्बद्ध होना तर्क-संगत नहीं है॥ १८॥

**( २३४४ ) उत्तरास्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** उत्तरासु अश्रुतित्वात् = पश्चात् के यागों में दोहन का विधान न होने से, विशेषाणां कृतार्थत्वात् = विशिष्ट विधान द्वारा कृतार्थ होने से, स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत = गो- दोहन में कर्त्ता स्वतन्त्र है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार कहते हैं कि विगत सूत्रों में जो गायों का दृष्टांत दिया गया है, वह भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तीन गायों के दोहन के पश्चात् शेष गायों के दोहन का विधान ही निर्दिष्ट नहीं है। अस्तु; उनका दोहन स्वेच्छया करना प्रतीत होता है; किन्तु अङ्ग कर्मों में तो विधान निर्दिष्ट होता है, इसलिए उनका अनुष्ठान करने में इच्छा महत्त्वपूर्ण नहीं है। अत: समस्त अङ्गों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए॥ १९॥

**अब अगले दो सूत्रों में काम्यकर्म बारम्बार किये जा सकने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष दे रहे हैं—**

**( २३४५ ) कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भ फलानि स्यु:॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणि-आरम्भभाव्यत्वात् = कर्म के अनुष्ठान द्वारा फलोत्पत्ति होने से, कृषिवत् = कृषि के समान, प्रत्यारम्भफलानि स्यु: = प्रत्येक आरम्भ या अनुष्ठान से फल प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** कामनायुक्त कर्म के अनुष्ठान में तो कृषि कार्य की तरह फल प्राप्ति होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रतिवर्ष कृषि की जाती है और उससे फसल रूप प्रतिफल प्राप्त होता है, उसी प्रकार बारम्बार प्रयोग से कर्मानुष्ठान भी बारम्बार फल प्रदान करता है। अस्तु; कामनानुसार कर्म करके फल प्राप्ति सम्भव है॥२०॥

**( २३४६ ) अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेष:॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सर्वेषां कार्यत्वात् = समस्त कर्म अनुष्ठेय होने से, विशेष: अधिकार: उपपद्यते = विशिष्ट अधिकार समुत्पन्न होते हैं।

**व्याख्या—** समस्त कर्मों का बारम्बार अनुष्ठान करने से विशिष्ट अधिकार उपपन्न(प्राप्त)हुआ करता है। अस्तु; इच्छानुसार (बारम्बार) अभ्यास करना चाहिए॥ २१॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आक्षेप प्रस्तुत है—**

**( २३४७ ) सकृत्तु स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** कृतार्थत्वात् = कर्म विधि के अनुसार, तु = तो, अङ्गवत् = अङ्ग की तरह, सकृत् स्यात् = अनुष्ठान एक ही बार करणीय है।

**व्याख्या—** कामनायुक्त कर्म का तो अङ्ग की तरह एक ही बार अनुष्ठान करणीय है। तात्पर्य यह है कि जब कामनायुक्त कर्म एक बार के करने से ही उसकी विधि चरितार्थ हो जाती है, तब बाद में पुन: कर्म करने की आवश्यकता का प्रसङ्ग ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? अस्तु, जिस प्रकार एक प्रयोग में अङ्गों का अनुष्ठान एक बार ही हुआ करता है, उसी प्रकार काम्य कर्म अनुष्ठान भी एक ही बार होता है॥ २२॥

**( २३४८ ) शब्दार्थश्च तथा लोके॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, शब्दार्थ: = विधि शब्दार्थ, तथा = के अनुरूप ही, लोके = लोक व्यवहार भी है।

**व्याख्या—** विधि शब्द के अर्थ का अनुष्ठान एक बार ही सम्पन्न होता है। जिस प्रकार लोक व्यवहार में गुरु शिष्य को एक ही बार यह कहे जाने पर कि काष्ठ लाओ, शिष्य एक ही बार में गुरु आज्ञा का पालन करते हुए काष्ठ ला देता है, उसी प्रकार काम्य कर्म का अनुष्ठान एक ही बार हुआ करता है॥ २३॥

**अब अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३४९ ) अपि वा सम्प्रयोगे यथाकामीप्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, संप्रयोगे = प्रयोग के अनुष्ठान में, अश्रुतित्वात् = शास्त्र वचन प्राप्त न होने से, यथाकामी प्रतीयेत = कर्त्ता की इच्छा के अनुसार एक बार या अधिक बार कर्म किया जा सकता है, विधिषु वचनानि स्युः = विधियों के वचन मात्र अनुष्ठान ही निरूपित करते हैं।

**व्याख्या—** कामनायुक्त कर्मों का अनुष्ठान करने में कर्त्ता स्वेच्छया एक या अधिक बार काम्यकर्म सम्पन्न कर सकता है । ऐसा कोई शास्त्रीय वचन नहीं है कि एक ही बार कर्म किया जाये। विधि वचन से तो मात्र अभीप्सित कर्मों का अनुष्ठान ही विदित हुआ करता है॥ २४॥

**( २३५० ) ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** ऐकशब्द्यात् = एक ही निर्देश वचन होने से, अङ्गेषु तथा = वैसा ही अंगों में भी होता है।

**व्याख्या—** एक ही शब्द या वचन होने के कारण अङ्गों के अनुष्ठान में भी उसी प्रकार हो सकता है, किन्तु फलेच्छा में नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जब-जब फलेच्छा हो, तब-तब कर्मानुष्ठान करणीय है। अस्तु, काम्य कर्मों की आवृत्ति होती है॥ २५॥

**( २३५१ ) लोके कर्मार्थलक्षणम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** लोके = लौकिक दृष्टान्त भी, कर्मार्थलक्षणम् = कर्म का प्रतिफल प्रत्यक्ष होता है।

**व्याख्या—** लौकिक दृष्टि से भी कर्म की आवृत्ति उचित है। उदाहरणार्थ- गुरु द्वारा शिष्य को काष्ठ लाने की आज्ञा दिये जाने पर शिष्य काष्ठ ले आता है; तथापि उतने काष्ठ से भोजन तैयार न हो पाने की स्थिति में वह पुनः काष्ठ ला सकता है, कर्म दुहराया जा सकता है॥ २६॥

**यहाँ अंग ( क्रिया ) की पुनरावृत्ति के सन्दर्भ में अनुशासन प्रस्तुत है—**

**( २३५२ ) क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षतस्तन्निर्वृत्त्यापवर्गः स्यात्॥ २७॥**

**सूत्राथ—**क्रियाणाम् अर्थशेषत्वात् = विशेष क्रियाओं में अर्थ सिद्धि स्वरूप, प्रत्यक्षतः = फल प्रत्यक्ष होने से, तन्निर्वृत्त्य = उसकी सिद्धि होने पर, अपवर्गः स्यात् = क्रिया समाप्त कर देनी चाहिए।

**व्याख्या—** जो क्रियाएँ दृष्ट प्रयोजन वाली हैं, वे फलसिद्धि होने तक प्रयुक्त होती हैं। अस्तु; प्रयोजन की पूर्णता तक क्रिया की बारम्बार आवृत्ति होनी चाहिए। उदाहरणार्थ 'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य के अनुसार धान के अवहनन भर का संकेत है। इसमें यह स्पष्ट समझना चाहिए कि अवहनन (चावल कूटने की) प्रकिया तब तक चलाई जाती है, जब तक धान में से चावल अलग न हो जाये॥ २७॥

**अब अदृष्ट फल वाली क्रियाओं को एक ही बार करने सम्बन्धी सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३५३ ) धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** धर्ममात्रे तु अदर्शनात् = जहाँ मात्र अदृष्ट फल के साधन हेतु क्रिया हो वहाँ पर, शब्दार्थेन अपवर्गः स्यात् = एक ही बार क्रिया करने से विधि चरितार्थ हुआ करती है।

**व्याख्या—** जहाँ अदृष्टफल के निमित्त अवहनन होता है, वहाँ एक ही बार निर्धारित क्रिया करनी उचित है। कारण यह है कि इस प्रकार करने से विधि चरितार्थ हुआ करती है एवं वहाँ फल प्रत्यक्षत: नहीं होता॥ २८॥

**अब प्रयाज इत्यादि अङ्गों के अनुष्ठान सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २३५४ ) क्रतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा (पूर्वपक्ष का द्योतक), क्रतुवत् अभ्यासे = काम्य यज्ञ की आवृत्ति हो सकने की तरह, अनुमानेन = अनुमान के द्वारा , फलभूमा स्यात् = फलाधिक्य होता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार काम्य यज्ञ आवश्यकतानुसार बारम्बार करने से विशिष्ट फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार प्रयाज इत्यादि अङ्गों का भी बारम्बार अभ्यास किया जाना चाहिए। इसका प्रतिफल यह होगा कि प्रधान कर्म के फल की वृद्धि होगी, यह तथ्य अनुमान से समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सौर्य इत्यादि काम्य यागों में कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनुमान से यह समझ लेना चाहिए कि प्रयाज आदि अङ्गों का भी बारम्बार अभ्यास करने से वे भी उसी प्रकार फल प्रदायक होंगे, जिस प्रकार सौर्य आदि काम्य याग फल प्रदान करते हैं॥ २९॥

**अगले तीन सूत्रों में इसी प्रकरण में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २३५५ ) सकृद्वा कारणैकत्वात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** कारणैकत्वात् = कारण एक होने से, सकृद् वा = उचित मात्रा में ही अनुष्ठान करना चाहिए।

**व्याख्या—** प्रयाजादि अङ्गों का अनुष्ठान एक ही बार करना चाहिए, क्योंकि प्रधान कारण एक ही होता है। उदाहरणार्थ जब मृत्तिकापिण्ड से घट निर्माण किया जाता है, तब चाक को उतनी ही बार फिराना चाहिए, जितने में घट निर्मित हो जाये; उससे अधिक घुमाने से कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार फल प्राप्ति भर के लिए पर्याप्त प्रयाजादि अंगों का अनुष्ठान कर लेने के बाद और अधिक अनुष्ठानों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनसे फलाधिक्य नहीं होता॥ ३०॥

## ( २३५६ ) परिमाणं चानियमेन स्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** परिमाणं च = तथा परिमाण, अनियमेन स्यात् = नियम के बिना हो जाए।

**व्याख्या—** क्रिया के परिमाण को अनियमित नहीं होने देना चाहिए। दर्शयाग में तेरह और पौर्णमास याग में जो चौदह आहुतियों का नियम निर्दिष्ट है, वह नियम आहुतियों की असीमता से निरर्थक सिद्ध होगा। अस्तु, अधिक आहुतियों से अधिक प्रतिफल मिलने के सिद्धान्त को मान्यता देना उचित नहीं है॥ ३१॥

## ( २३५७ ) फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** फलारम्भनिवृत्तेः = स्वर्ग इत्यादि फलों की उत्पत्ति से, क्रतुषु फलान्यत्वम् स्यात् = क्रतुओं में विभिन्न फल प्राप्त होते हैं।

**व्याख्या—** क्रतुओं (यज्ञों) में अभ्यास किया जाना उचित है, क्योंकि उनमें फलभेद होता है। काम्य कर्मों में कर्म प्रमुख है एवं समस्त कर्म मिलकर फल प्रदान करते हैं, अस्तु; वहाँ अभ्यास के नियम की बात उचित नहीं है॥ ३२॥

**अब अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष पुनः अपना तर्क प्रस्तुत कर रहा है—**

## ( २३५८ ) अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्यापरिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** अर्थवान् तु = अङ्गों का अभ्यास फल सम्पन्न होता है,न एकत्वात् अभ्यास: अनर्थक: स्यात् = अनेक कार्य होने के कारण एक कार्य सम्बन्धी अभ्यास निरर्थक हो सकता है, यथाभोजनम् एकस्मिन् = जिस प्रकार एक ही समय में बार-बार भोजन की आवृत्ति अर्थहीन होती है, अर्थस्य अपरिमाणत्वात् प्रधाने च क्रियार्थत्वात् अनियम: स्यात् = प्रधान कर्म में क्रिया फलोत्पत्ति में सहायक होती है (अत: वहाँ नियम नहीं होता)।

**व्याख्या—** अङ्गाभ्यास फलवान् होता है। एक कर्म सम्बन्धी अभ्यास उसी प्रकार अर्थहीन होता है, जिस प्रकार एक ही समय पर भोजन की आवृत्ति का कोई अर्थ नहीं होता। चूँकि प्रधान फल सुनिश्चित नहीं होता एवं प्रधान कर्म में क्रिया फलोत्पत्ति में सहायक होती है। अस्तु; वहाँ अनियम होता है। तात्पर्य यह है कि प्रधान का प्रतिफल कितना है, इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम नहीं है। अस्तु; यदि अङ्गों का अधिक प्रयोग हो, तो प्रधान कर्म अधिक स्वर्ग अर्थात् अधिक सुख-प्रेम समुत्पन्नक हो सकता है। अत: अधिक सुखकामी को अङ्गों की आवृत्ति अधिक करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

**( २३५९ ) पृथक्त्वाद्विधित: परिमाणं स्यात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** पृथक्त्वात् = अर्थ पृथक् होने से, विधित:=विधि युक्त, परिमाणं स्यात् = मात्रा हो सकती है।

**व्याख्या—** दर्श एवं पौर्णमास्य यागों में निर्दिष्ट १३ और १४ संख्या में आहुतियाँ देने का नियम तो भिन्न-अर्थवाला है। अर्थ वैभिन्य के अर्थानुसार नियम संख्या में विधि परक आहुतियाँ दी जा सकती हैं॥ ३४॥

**अब इसके विपक्ष में सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत है—**

**( २३६० ) अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च कर्मण: स्यात्क्रियार्थत्वात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगवचनैकत्वात् अफलत्वात् च = प्रयोग के वचन का ऐक्य तथा अंगाभ्यास फलित न होने से, अनभ्यास: वा = अङ्गों का अभ्यास नहीं होता है, सर्वस्य युगपत् शास्त्रात् = मुख्य कार्य में मुख्य क्रिया ही सम्बद्ध मानी जाती है, क्रियार्थत्वात् कर्मण: स्यात् = क्रिया के अर्थानुसार कर्म होते हैं।

**व्याख्या—** अङ्गों का अभ्यास या आवृत्ति नहीं करनी चाहिए। कारण यह है कि मुख्य कार्य में फल के कारण स्वरूप मुख्य क्रिया ही सम्बद्ध होती है, अङ्ग क्रिया नहीं होती; लेकिन अङ्ग क्रिया निरर्थक नहीं है, वह प्रधान क्रिया की सहायिका ही है। उसके सहयोग से ही मुख्य क्रिया सफल होती है॥ ३५॥

**अब पूर्व पक्ष अपना तर्क प्रस्तुत कर रहा है—**

**( २३६१ ) अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गावदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** वा अभ्यास: = अंगाभ्यास होता है, छेदन सम्मार्गावदानेषु सकृत्त्वस्य वचनात् = आच्छेदन, सम्मार्ग एवं अवदान के एक ही समय करने का वचन होने के कारण।

**व्याख्या—** अङ्गों का अभ्यास (आवृत्ति) करना ही चाहिए, कारण यह है कि एक बार करने का जो विधान निर्दिष्ट है, वह छेदन, सम्मार्ग एवं अवदान से सम्बन्धित है। उन प्रक्रियाओं को एक ही बार करने का विधान है; किन्तु यह विधान अङ्गों के सम्बन्ध में नहीं है, अत: अङ्गों की आवृत्ति या अभ्यास करना ही होता है॥३६॥

**अब सिद्धान्त पक्षी प्रयाजादि अङ्गों में अभ्यास न होने सम्बन्धी अनुशासन प्रस्तुत कर रहा है—**

**( २३६२ ) अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** अनभ्यास: तु = प्रयाज इत्यादि अङ्गों का अभ्यास नहीं होना चाहिए, कारण यह है कि; वाच्यत्वात् = जो एक ही समय के कथन का तथ्य निर्दिष्ट है, उसका अभिप्राय भिन्न है।

**व्याख्या—** प्रयाजादि अङ्गों में अभ्यास (आवृत्ति) की आवश्यकता नहीं है। दर्शपूर्णमास आदि यागों में आच्छादन, सम्मार्जन एवं अवदान के अनेक बार करने के भी विकल्प मिलते हैं, किन्तु जहाँ एक ही बार करना मानने का नियम बना देने से उन्हें एक ही बार किया जाना माना जाता है। अत: प्रयाजादि अङ्गों का अनुष्ठान भी एक ही बार किया जाना चाहिए॥ ३७॥

**अब संख्याओं के विकल्प मिलने सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३६३ ) बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्प: स्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** बहुवचनेन = बहुवचन होने के कारण, सर्वप्राप्ते: = तीन या तीन से अधिक कोई भी संख्या ली जा सकती है, विकल्प: स्यात् = इसलिए संख्याओं का विकल्प उपलब्ध है।

**व्याख्या—** संख्याओं के सन्दर्भ में बहुवचन परक प्रयोग मिलने से संख्याओं के विकल्प उपलब्ध होते हैं। जैसे- वसन्त ऋतु में कपिंजल (पपीहा) प्राप्त करने के वर्णन में कपिंजल का बहुवचनान्त प्रयोग 'कपिञ्जलान् आलभेत' उपलब्ध होता है। कपिञ्जलान् से तात्पर्य तीन या उससे अधिक कपिञ्जलों से है। अत: तीन, चार, पाँच या इससे अधिक कोई भी संख्या ली जा सकती है॥ ३८॥

**अब अगले दो सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष पर आक्षेप प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३६४ ) दृष्ट: प्रयोग इति चेत्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोग: दृष्ट: = बहुवचन से तीन संख्या ही माननी चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** बहुवचन से तीन संख्या ही ग्रहण की जानी चाहिए; क्योंकि ४,५ आदि संख्याओं के लिए 'चत्वारो ब्राह्मणा: पंच प्राणा:' आदि प्रयोग देखे जाते हैं। अस्तु; जहाँ चार-पाँच आदि संख्याओं के लिए उनके स्पष्ट बोधक शब्द न हों, तो बहुवचन का अर्थ तीन संख्या ही लिया जाना उचित है। यदि ऐसा कहें, तो?॥ ३९॥

**( २३६५ ) तथेह॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** तथा इह = उसी प्रकार यहाँ इस सन्दर्भ में भी समझा जाना चाहिए।

**व्याख्या—** बहुवचन के लिए तीन संख्या का ही ग्रहण क्यों किया जाये? जैसे कपिञ्जल शब्द का प्रयोग पपीहा के अतिरिक्त कबूतर और मयूर के लिए भी होता देखा जाता है। तब 'कपिञ्जलान्' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग तो त्र्याधिक संख्या के लिए ही माना जायेगा॥ ४०॥

**अब आक्षेप का निराकरण अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३६६ ) भक्त्येति चेत्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** भक्त्या = गौण रूप में प्रयोग होता है, इति चेत् = यदि ऐसा मानें, तो?

**व्याख्या—** 'सिंहो माणवक:' जैसे प्रयोग में बालक के लिए जो सिंह शब्द प्रयुक्त किया जाता है, वह तो गौण वृत्ति से किया जाता है। भक्ति से तात्पर्य लक्षणा से है। बालक के बल, शौर्य एवं निर्भयत्व के लक्षणों के कारण उसे सिंह कह दिया जाता है, वास्तव में वह प्रयोग उसे स्थूल रूप से शेर दर्शाने के लिए नहीं किया जाता है। यही बात 'कपिञ्जलान्' शब्द में मयूर, कपोत आदि अर्थों के प्रयोग के सम्बन्ध में लक्षणा के अनुसार संख्या को गौण वृत्ति से समझी जा सकती है॥ ४१॥

**( २३६७ ) तथेतरस्मिन्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इसी प्रकार, इतरस्मिन् = अन्यत्र भी गौण वृत्ति से हुआ प्रयोग ही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** बहु शब्द को भी गौण वृत्ति से तीन से प्रारम्भ होकर परार्द्ध (संख्या के अन्तिम छोर) तक की संख्या के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए॥ ४२॥

अब अगले चार सूत्रों में आचार्य द्वारा सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—

**( २३६८ )  प्रथमं वा नियम्येत कारणादतिक्रमः स्यात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रथमम् = बहु संख्या के अन्तर्गत प्रथमतः तीन ही परिगणित किये जाने का, नियम्येत = नियम बनाया गया है, कारणात् अतिक्रमः स्यात् = यदि कोई विशेष कारण हो,तो ही इस नियम (बहुत्व में तीन संख्या के परिगणन)का अतिक्रमण किया जाता है।

**व्याख्या—** बहु संख्या के अन्तर्गत प्रथमतः तो तीन का ही परिगणन किया जाता है (क्योंकि एक ,दो तो क्रमशः एकवचन और द्विवचन के अन्तर्गत आते हैं, बहुवचन का क्रम तो तीन से ही प्रारम्भ होता है)। चार, पाँच आदि संख्याएँ तो बाद में आती हैं। अतः बहु का अभिप्राय तीन करना ही उचित है। कोई विशेष कारण होने पर ही तीन संख्या का उल्लंघन किया जाता है और ४,५,६,७ इत्यादि किसी भी संख्या को बहु के अन्तर्गत मान लिया जाता है॥ ४३॥

**( २३६९ )  श्रुत्यर्थाविशेषात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुत्यर्थ = वैदिक प्रतिपादन के अनुसार, अविशेषात् = संख्या का विशेष उल्लेख नहीं।

**व्याख्या—** श्रुति में पशु के आलभन का तथ्य निर्दिष्ट है उस सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि यदि अधिक संख्या में या अधिक मूल्यवान् पशु का आलभन किया जाये, तो उससे कोई अधिक लाभ नहीं मिलता। अतः बहु के अर्थ में तीन कपिञ्जल मानना ही युक्ति-युक्त है॥ ४४॥

**( २३७० )  तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = इसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य प्रकरण में भी यही समझना चाहिए।

**व्याख्या—** बहुवचन के रूप में प्रथमतः तीन संख्या ही समझनी उचित है। उदाहरणार्थ 'कृष्णा याम्या अवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः तेषामैन्द्राग्नो दशम इति' वाक्य में याम्या रौद्राः एवं पार्जन्याः शब्द बहुवचनान्त हैं, इनमें से प्रत्येक को त्रित्व सम्पन्न अर्थात् तीन-तीन की संख्या वाला माना जाना चाहिए; क्योंकि आगे जो तेषामैन्द्राग्नो दशमों कहकर इनमें ऐन्द्राग्न को दसवाँ बताया है, उससे भी यह बात सिद्ध होती है कि याम्याः (तीन), रौद्राः(तीन) और पार्जन्याः (तीन) मिलकर नौ संख्या वाले हैं, तभी तो ऐन्द्राग्नि को दसवाँ निर्दिष्ट किया है। अस्तु; स्पष्ट है कि उपपद रहित बहुवचन का अभिप्राय तीन संख्या से ही है॥ ४५॥

**( २३७१ )  प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** च प्रकृत्या = और प्रकृति के द्वारा, तदासत्तेः = उसकी निकटता होने से , पूर्ववत् = इस प्रकार का लिङ्ग वचन भी उपलब्ध होता है।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञ में पहले एक पशु को लाने का निर्देश है-अग्नीषोमीयं पशुमालभेत। तत्पश्चात् बहुवचनान्त शब्द- कपिञ्जलान् प्रयुक्त है, अतः प्रथमतः एक पशु लाने के संकेत के पश्चात् बहुवचन वाची शब्द से तीन कपिञ्जलों को प्राप्त करने का तथ्य समझना चाहिए। क्योंकि एकवचन वाची संख्या एक के पश्चात् तीन बहुवचन वाची संख्या ही अधिक निकट है, चार, पाँच आदि नहीं। अतः पहली बहुवचन वाची संख्या (तीन) को ही मानने का प्रमाण मिलता है॥ ४६॥

अब उत्तरादोहन अनुवाद के अधिकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—

**( २३७२ )  उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** उत्तरासु = उत्तर(बाद की) गायों, यावत्स्वम् = अपने अधिकार के अन्तर्गत आने वाली गायों के दोहन का विधान है, अपूर्वत्वात् = पूर्व में प्राप्त न होने के कारण ।

**व्याख्या—** सान्नाय्य सम्बन्धी प्रकरण में यह वाक्य उपलब्ध है 'वाग्यतस्तिस्रो दोहयित्वा विसृष्टवागनन्वारभ्य उत्तरादोहयति'। जिसका अभिप्राय है- तीन गौओं का मौन रखकर दोहन करने के पश्चात् अन्य गौओं को दुहता है। इसमें यह विचारणीय है कि अन्य गौओं के दोहन सम्बन्धी जो तथ्य है, वह विधान है अथवा अनुवाद? पूर्वपक्षी के अनुसार यह विधान है; क्योंकि बाद की अन्य गौओं का दोहन अप्राप्त है॥ ४७॥

**अब आचार्य उक्त सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २३७३ ) यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = सिद्धान्त सूचित करता है, यावत्स्वम् = जितनी अपनी बाद की गायों का दोहन है, अनुवादः = वह अनुवाद है, अन्यविधानेन = विधान तो अन्यत्र अर्थात् दूसरे में है।

**व्याख्या—** जितनी गौओं पर यजमान का स्वत्व है, उन सभी का दोहन करणीय है, यह तो अनुवाद है, विधान तो अन्य ही है। इस वाक्यांश 'विसृष्टवागनन्वारभ्य' का अर्थ है- वाणी को छोड़कर उन गौओं को स्पर्श न करे। इस वाक्यार्थ से विधान द्योतित होता है। इसी वाक्यांश के आगे स्थित वाक्यांश उत्तरादोहयति अर्थात् बाद की गौओं को दुहता है, में विधान दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण अगले सूत्र में बताया गया है॥ ४८॥

**अगले पाँच सूत्रों में उक्त सिद्धान्त की पुष्टि में हेतु प्रस्तुत है—**

**( २३७४ ) साकल्यविधानात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** साकल्यविधानात् = समस्त गौओं के दोहन की उपलब्धि होने के कारण।

**व्याख्या—** उत्तरा दोहन (बाद की गौओं का दोहन) प्रसंग में समस्त गौओं का दोहन पूर्व से ही उपलब्ध है। इस उपलब्धि के कारण पूर्व वर्णित कथन अनुवाद माना जायेगा। चूँकि 'नास्य एतां रात्रिं पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात् कुमाराश्च न पयो लभेरन्' वाक्य में सकल (समस्त) गौओं के दोहन की उपलब्धि होती है, अतः प्राप्त में कथन होने के कारण अनुवाद ही मानना उचित है॥ ४९॥

**( २३७५ ) बह्वर्थत्वाच्च॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, बह्वर्थत्वात् = बहुअर्थीय कथन होने के कारण।

**व्याख्या—** बहुअर्थीय कथन होने के कारण दोहन होना प्रतीत होता है, जैसा कि 'बहुदुग्धि इन्द्राय देवेभ्यो हविः' वाक्य से संकेत मिलता है॥ ५०॥

**( २३७६ ) अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अग्निहोत्रे = अग्निहोत्र में, अशेषवत् = दूध के सान्नाय्य के लिए होने के समान, यवागू नियमः = यवागू (यव की माँड़) की आहुति देने का नियम है।

**व्याख्या—** अग्निहोत्र में यवागू (यव की माँड़) के होम का नियम सान्नाय्य (दही एवं घृत के घोल) के लिए समस्त पय का होना दर्शाता है, जैसा कि इस वाक्य- नास्यैतां रात्रिं पयसाग्निहोत्रं जुहुयात् यथाऽन्यस्यै देवतायै प्रत्तमन्यस्यै देवतायै दद्यात् तादृक् तत्स्यात्' से संकेत मिलता है॥ ५१॥

**( २३७७ ) तथा पयः प्रतिषेधः कुमाराणाम्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इसी प्रकार, कुमाराणां पयः प्रतिषेधः = कुमारों को दुग्ध प्रदान करने का भी (निषेध) है।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्र में सान्नाय्य के लिए समस्त दूध होने की स्थिति प्रदर्शित होती है। अस्तु, इस सूत्र में उसी के आगे का तथ्य निर्दिष्ट है कि चूँकि यज्ञ में पर्याप्त सान्नाय्य चाहिए एवं इसके निमित्त पर्याप्त मात्रा में दूध की आवश्यकता होती है, अतः कुमारों को दूध प्रदान करने का भी प्रतिषेध है॥ ५२॥

**( २३७८ ) सर्वप्रापिणाऽपि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ**—सर्वप्रापिणा अपि लिंगेन = लिंग वाक्य के अनुसार समस्त गौओं की दोहन क्रिया सम्पन्न करना, मान्य है, संयुज्य = संयुक्त होकर, देवताभिसंयोगात् = देवता के साथ सम्बद्ध होने से।

**व्याख्या**— गो दोहन के क्रम में वत्स एवं मानवों को तृप्त करके देवताओं को भी तृप्त करने का नियम है, इस प्रकार का लिङ्ग वचन भी उपलब्ध है, 'वत्सेभ्यश्च एताः पुरा मनुष्येभ्यश्च आप्याययन्त।' अस्तु; तीन गौओं को मौन रहकर दुहने के उपरान्त समस्त गौओं का दोहन ग्रहणीय है॥ ५३॥

**आग्नेय इत्यादि प्रधानों का ही भेद है। आघार इत्यादि उनके अङ्ग हैं। इनका तन्त्र रूप में अनुष्ठान करना चाहिए अथवा प्रधान के अनुसार इनकी आवृत्ति करनी चाहिए, इस सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २३७९ ) प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ**— अङ्गानाम् = अङ्गों के, प्रधानकर्मार्थत्वात् = प्रधान के निमित्त होने से, तद्भेदात् = प्रधान कर्म के भेदानुसार, कर्मभेदः = अङ्ग कर्मों का भेद, प्रयोगे स्यात् = अनुष्ठान में हुआ करता है।

**व्याख्या**— अङ्ग प्रधान के निमित्त होते हैं, अतः प्रधान कर्मों के अनुसार अङ्ग कर्मों की आवृत्ति होनी चाहिए अर्थात् प्रधान कर्मों के अनुष्ठान भिन्न-भिन्न होने चाहिए॥ ५४॥

**पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आक्षेप करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३८० ) क्रमकोपश्च यौगपद्ये स्यात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ**— च = तथा, यौगपद्ये = कर्म दुहराने वाले अनुष्ठान से, क्रमकोपः स्यात् = विहित प्रधान कर्म बाध होता है।

**व्याख्या**— जब एक ही साथ तन्त्र अर्थात् बहुउद्देशीय अनुष्ठान किया जाता है, तब जो क्रम विहित है उसका बाध होता है। अस्तु; प्रधान कर्मों के क्रम-प्रमाणानुसार अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए॥ ५५॥

**अगले सात सूत्रों में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३८१ ) तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ**— तुल्यानाम् = जिस कर्म के देश,काल एवं कर्ता एक समान हों, तु = तो, एकशब्दोपदेशात् = दर्श-पौर्णमास रूप एक शब्द से ही अङ्ग का उपदेश होने से, (तथा) विशेषाग्रहणात् = अङ्गों में कोई भी विशेष न होने से, यौगपद्यम् स्यात् = अनुष्ठान एक ही समय में साथ-साथ हुआ करता है।

**व्याख्या**— जिस कर्म के देश, काल एवं कर्त्ता एक समान हों, तो उनका अनुष्ठान एक साथ ही हुआ करता है। अङ्गोपदेश भी एक शब्द के प्रयोग से हो जाता है, साथ ही अङ्गों में कोई विशेष भी नहीं (कि यह आग्नेय याग का है एवं यह अग्नीषोमीय याग का है)। अस्तु, तन्त्र से अनुष्ठान होना युक्ति संगत है॥ ५६॥

**( २३८२ ) ऐकार्थ्यादव्यवायः स्यात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ**— ऐकार्थ्यात् = अङ्गों का एक ही उद्देश्य होने से, अव्यवायः स्यात् = क्रम कोप (भंग) नहीं होता।

**व्याख्या**— समस्त अङ्गों का उद्देश्य एक ही है। अस्तु; कोई भी क्रम भंग नहीं होता। स्वर्ग रूप फल सभी के सम्मिलित सहयोग से प्राप्त होता है। जिस प्रकार घट रूप प्रतिफल प्राप्त करने में कुलाल, चक्र, दण्ड एवं अन्य सभी अङ्ग मिलकर पुरुषार्थ करते हैं, उसी प्रकार इस सन्दर्भ में भी समझना चाहिए॥ ५७॥

**( २३८३ ) तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ**— तथा च = एवं उसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = दूसरे दर्शन में भी ऐसे ही प्रमाण संप्राप्त होते हैं, कामुकायनः = ऐसा आचार्य कामुकायन का मत है।

**व्याख्या**— आचार्य कामुकायन ऐसा मानते हैं कि इसी अभिप्राय को सिद्ध या पुष्ट करने

वाले अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं॥ ५८॥

**( २३८४ ) तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ—** तन्न्यायत्वात् = इसी नियम से, अशक्तेः = जिनके साथ अनुष्ठान आवश्यक न हो, संस्कारस्य तदर्थत्वात् = संस्कार उसके निमित्त होने के कारण, आनुपूर्व्यं स्यात् = जिनकी आवृत्ति हुई है, उन अङ्गों का अनुष्ठान होता है।

**व्याख्या—** अङ्ग एक साथ अनुष्ठित होने चाहिए, इस नियम के अनुसार सभी जगह सहक्रिया होती है, लेकिन जहाँ यौगपद्य अर्थात् सहक्रिया अनावश्यक हो, वहाँ आवृत्तिपूर्वक (अनुपूर्व्य) अङ्ग अनुष्ठित होते हैं। कारण यह है कि एक संस्कार से ही कार्य पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे एक स्थल पर पुरोडाश होने से उसके लिए अग्नि उत्पन्न की जाती है, पर सर्वत्र वैसा आवश्यक नहीं होता। एक बार तैयार अग्नि पर ही पुरोडाश की आवृत्ति होनी उचित है॥ ५९॥

**( २३८५ ) असंस्पृष्टोऽपि तादर्थ्यात्॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** असंस्पृष्टः अपि = संस्पृष्ट न होने पर भी, तादर्थ्यात् = तदर्थ ही होने के कारण।

**व्याख्या—** जिस प्रधान यात्रा के निकट जिन अङ्ग-अवयवों का अनुष्ठान सम्पन्न होता है, वह उन्हीं का समझा जाता है। आघार इत्यादि आग्नेय-याग के अवयव हैं; जबकि स्विष्टकृत् इत्यादि अग्नीषोमीय याग के अवयव हैं, किन्तु उपांशु याग किसी प्रधान याग से सम्बद्ध न होने के कारण उसे अनङ्ग नहीं माना जा सकता। वह अनङ्ग नहीं है। अस्तु; जहाँ सम्भव न हो, वहाँ अंग आवृत्ति करणीय है॥ ६०॥

**( २३८६ ) विभवाद्वा प्रदीपवत्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, विभवात् = शक्ति होने के कारण, प्रदीपवत् = दीपक के समान।

**व्याख्या—** जिस प्रकार दीपक में सामर्थ्य होने पर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अङ्गों में शक्ति होने पर उनकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे एक समय में प्रदीप्त दीपक के प्रकाश का सभी लाभ प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार एक समय में अनुष्ठित अंग से समस्त प्रधान कर्मों पर उपकार होता है॥ ६१॥

**( २३८७ ) अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात्॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** लोके तु = लोकव्यवहार में तो, अर्थात् = अर्थ प्रत्यक्ष होने से एक ही बार, विधिः प्रतिप्रधानम् = किन्तु विधिलब्ध कर्म तो प्रत्येक प्रधान कर्म के अनुसार अनुष्ठान, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** लोक व्यवहार में प्रायः कर्म का फल प्रत्यक्ष होने से फल के अनुसार सकृत् (एक बार )अनुष्ठान ग्रहणीय है, परन्तु विधि से किये गये कर्म में प्रधान कर्मों की संख्या के अनुसार ही अङ्गानुष्ठानों की संख्या भी होनी चाहिए॥ ६२॥

**यहाँ पुनः आक्षेप किया जा रहा है—**

**( २३८८ ) सकृदिज्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** परिमाणविरोधात् = (तेरह एवं चौदह आहुतियों के) परिमाण का विरोध होने से, सकृत् इज्याम् = एक बार ही इज्या (अङ्गानुष्ठान) करनी उचित है, कामुकायनः = ऐसा आचार्य कामुकायन मानते हैं।

**व्याख्या—** आचार्य कामुकायन का ऐसा मानना है कि अङ्गानुष्ठान एक बार ही किया जाना चाहिए; क्योंकि आहुतियों के परिमाण में विरोध आ जाता है। अस्तु; अङ्गों की तंत्र विधि से आवृत्ति करनी चाहिए॥ ६३॥

**उक्त आक्षेप का यहाँ निवारण किया जा रहा है—**

**( २३८९ ) विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** विधेः तु इतरार्थत्वात् = अंग अनुष्ठान प्रधान कर्म के निमित्त होने के कारण, सकृत् इज्या = एक ही बार इज्या करनी, श्रुति व्यतिक्रमः स्यात् = श्रुति के विरुद्ध होती है।

**व्याख्या—** अङ्गानुष्ठान प्रधान के निमित्त होने के कारण सकृत् इज्या अर्थात् एक ही बार अनुष्ठान करना शास्त्र के विरुद्ध है॥ ६४॥

**अब आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३९० ) विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ—** विधिवत् प्रकरण-अविभागे = प्रकरण में विधिवत् विभाग न होने से, प्रयोगं = तन्त्र प्रयोग होता है, बादरायणः = ऐसा आचार्य बादरायण (वेदव्यास) मानते हैं।

**व्याख्या—**आचार्य बादरायण ऐसा मानते हैं कि प्रकरण में विधिवत् विभाग न होने से तन्त्र प्रयोग होता है। अस्तु; तन्त्र प्रयोग से अर्थात् यौगपद्य से (एक साथ) अनुष्ठान करणीय है॥ ६५॥

**उक्त सिद्धान्त में आक्षेप प्रस्तुत है—**

**( २३९१ ) क्वचिद्विधानान्नेति चेत्॥ ६६॥**

**सूत्रार्थ—**क्वचिद् विधानात् न = किसी स्थल पर सहविधान किया गया है, उससे सामान्य सहविधान नहीं है, इति चेत् = यदि इस प्रकार की शङ्का की जाये, तो?

**व्याख्या—** कुछ स्थलों पर सह विधान होने के कारण सभी जगह सहविधान नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहा जाये, तो? यथा- 'सह बध्नन्ति सह पिंषन्ति' इससे यही समझा जाता है कि सामान्य रूपेण सहविधान नहीं है, कहीं-कहीं विधान होता है॥ ६६॥

**यहाँ पर आक्षेप का निवारण किया जा रहा है—**

**( २३९२ ) न विधेश्चोदितत्वात्॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, विधेः चोदितत्वात् = निर्वाप विधि का भिन्न कथन है।

**व्याख्या**- निर्वाप (जो कार्य अलग-अलग करने पड़ते हैं, उन्हें निर्वाप या अवाप कहते हैं।) विधि में सहविधान नहीं होता; क्योंकि वहाँ पृथक् कथन (विधान) किया है॥ ६७॥

**अब आग्नेयद्वय की आवृत्ति से देने सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २३९३ ) व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** अगृह्यमाणविशेषाणाम् = जिसमें कोई विशिष्ट ग्रहण न किया जाता हो , तुल्यानाम् = तुल्य हो तो उनका, यौगपद्यम् व्याख्यातम् = सह अनुष्ठान अथवा यौगपद्य व्याख्यायित है।

**व्याख्या—**जिस स्थान पर किसी विशिष्ट के ग्रहण का कथन न हो एवं तुल्यत्व हो, तो वहाँ सह-अनुष्ठान या यौगपद्य होता है, ऐसा पूर्व में व्याख्यायित है। जैसे पशुकाण्ड में-'आग्नेयं कृष्णग्रीवमालभेत सौम्यं बभ्रुमाग्नेयं कृष्णग्रीवं पुरोधायां स्पर्धमान इति' वाक्य में कृष्णग्रीवी इन पशुओं को दान करने का विधान वर्णित है, अतः उन दोनों का युगपत् अर्थात् एक साथ दान करणीय है, क्रमशः नहीं॥ ६८॥

**अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया जाता है—**

**( २३९४ ) भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** कालभेदात् स्यात् = दोनों का काल भिन्न होने से, तु भेदः = दोनों ही प्रधान हैं, चोदना व्यवायात्

= प्रेरक विधान का व्यवधान आने से, प्रधानकालत्वात् = काल का प्राधान्य होने से, विशिष्टानां विधिः = विशिष्टों की विधि होती है।

**व्याख्या—** कालभेद होने के कारण प्रदान करने का भेद होता है और चोदक विधान का व्यवधान होने से कालभेद हुआ करता है तथा काल का प्राधान्य होने से विशिष्टों की विधि की जाती है। उपर्युक्त दोनों पशुओं का दान एक साथ नहीं किया जा सकता; क्योंकि एक साथ प्रदान करने के पश्चात् सौम्य पशु दान करने का नियम है एवं बाद में पुनः कृष्णग्रीव पशु का नियम है। अस्तु काल भेद के कारण भिन्न-भिन्न समय में दान करना चाहिए॥ ६९ ॥

**( २३९५ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ७० ॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = एवं इस प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = दूसरे अर्थ (प्रमाण) का भी दर्शन होता है।

**व्याख्या—** दूसरे प्रमाणों की उपलब्धि से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है। भाव यह है कि अर्थवाद में भी भिन्न अनुष्ठान दर्शित होता है। पृथक् -पृथक् दान करने सम्बन्धी यह वाक्य द्रष्टव्य है-'अभितः सौम्यमाग्नेयौ भवत इति'॥ ७० ॥

**( २३९६ ) विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात्॥ ७१ ॥**

**सूत्रार्थ—** विधिः इति चेत् = कथित वाक्य विधिपरक है, ऐसा यदि कहें तो, न = नहीं, वर्तमानापदेशात् = वर्तमान काल का वर्णन होने के कारण।

**व्याख्या—** यदि यह कहा जाये कि उक्त (कथित ) वाक्य विधिपरक है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि 'भवत' क्रिया पद वर्तमान काल का बोधक है, इसलिए इस वाक्य को विधिपरक भी नहीं कहा जा सकता। अस्तु; आग्नेय कृष्णग्रीव दो पशुओं का क्रमशः दान ही करणीय है॥ ७१ ॥
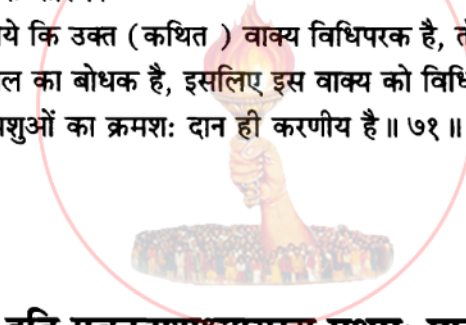


## ॥ इति एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

# ॥ अथ एकादशाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**इस पाद में यौगपद्य अङ्ग सहित प्रधान यागों को एक साथ करने का विचार किया जायेगा। अब आग्नेय इत्यादि प्रधान यागों के अनुष्ठान सम्बन्धी का पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता है—**

**( २३९७ ) एकदेशकालकर्त्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** मुख्यानाम् = अङ्गों सहित प्रधान भूत छः यागों का, एकशब्दोपदेशात् = एक शब्द द्वारा विधान किये जाने से, एकदेशकालकर्त्तृत्वम् = देश, काल एवं कर्त्ता में एकत्व है।

**व्याख्या—** प्रेरक विधान वाक्य एक होने से अङ्गों सहित प्रधान भूत छः यागों में देश, काल और कर्त्ता का एकत्व होता है। जैसे- 'समे देशे यजेत दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत दर्श पूर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजः।' इन वाक्यों से देश, दर्शपूर्णमास रूप एक ही शब्द से काल एवं कर्त्ता का विधान निर्दिष्ट है। यागों और उनके अङ्गों के देश, काल एवं कर्त्ता भिन्न नहीं होते॥ १ ॥

**सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**

**( २३९८ ) अविधिश्चेत्कर्मणामभिसम्बन्धः प्रतीयेत तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद् विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अविधिः चेत् = यदि विधान में भिन्नता का उल्लेख न हो तो, कर्मणाम् अभिसम्बन्धः = देश आदि कर्मों का अभिसम्बन्ध, प्रतीयेत = एक ही प्रतीत होता है, तत् लक्षणार्थाभिसंयोगात् = किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है, लक्षणा के संयोग से, च = और, इतरेषां विधित्वात् = दूसरे विधेय होने के कारण, प्रतिप्रधानभावः स्यात् = प्रधानों के अनुसार ही देश आदि का सम्बन्ध होता है।

**व्याख्या—** दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत मुख्य छः याग हैं एवं प्रत्येक प्रधान याग के अनुसार देश, काल एवं कर्त्ता में पार्थक्य होना चाहिए। प्रधान के साथ में अङ्गों का और उनके देश कालादि का विधान भी है। दर्शपूर्णमास में लक्षणा स्वीकार्य है, कारण यह है कि समुदाय और उसके देश के साथ विधिक सम्बन्ध है, साथ ही प्रधान एवं अङ्ग विधेय है। ऐसी स्थिति में दर्शपूर्णमास शब्द में लक्षणा स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है॥ २ ॥

**अगले सूत्र में पुनः पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है—**

**( २३९९ ) अङ्गेषु च तदभावः प्रधानं प्रति निर्देशात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गेषु = प्रयाज इत्यादि अङ्गों में, प्रधानं प्रतिनिर्देशात् = प्रधान को उद्देश्य बनाकर विधान किये जाने के कारण, तदभावः = देश आदि के नियम का अभाव है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि प्रयाज इत्यादि अङ्गों में देश कालादि का कोई नियम लागू नहीं होता; क्योंकि देश, कालादि तो प्रधान कर्म को उद्देश्य बनाकर ही होते हैं॥ ३ ॥

**अगले चार सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४०० ) यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थाभिसंयोगात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** यदि कर्मणो विधिसम्बन्धः = यदि कर्म विधि के साथ सम्बन्धित हो, ऐक्यशब्द्यात् तु = तो समुदाय वाचक शब्द द्वारा निर्दिष्ट होने से, प्रधानार्थाभिसंयोगात् = स्वर्ग रूपी प्रधान फल-प्राप्ति प्रयोग के साथ सम्बन्धित, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आग्नेय आदि प्रधान कर्म की-विधि से अङ्गों का सम्बन्ध नहीं है; परन्तु स्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले व्यापार के साथ अङ्ग अवश्य सम्बन्धित होते हैं। अस्तु; इस तन्त्र से ही अङ्गानुष्ठान होना

स्वीकार्य है। समुदाय बोधक है, दर्शपूर्णमास शब्द से भी इन्हीं का निर्देश है। अतः अंगसहित प्रधान के प्रयोग के निमित्त देश,काल आदि के नियम बनाये गये हैं॥ ४॥

**( २४०१ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = और उसी प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = दूसरा अर्थ भी इसी तथ्य को दर्शाता है।

**व्याख्या—** इस तथ्य की अन्य प्रमाणों से भी पुष्टि होती है, जैसे-उग्राणि ह वा एतानि घोराणि हवींषि यदमावास्यायां संभ्रियन्ते। आग्नेयं प्रथममैन्द्रे उत्तरे'। वाक्य में हविषों का एक समय निर्दिष्ट है। अस्तु; अंग एवं प्रधान में देश आदि का भेद नहीं है॥ ५॥

**( २४०२ ) श्रुतिश्चैषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः परार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुतित्वाच्च॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** एषाम् = इन (देश आदि) के सम्बन्ध में, श्रुतिः च = श्रुति वाक्य भी, कर्मश्रुतेः परार्थत्वात् = कर्म-श्रुति की परार्थता होने के कारण, कर्मणः अश्रुतित्वात् च = एवं कर्म श्रवण न होने के कारण, प्रधानवत् = प्रधान कर्म समान भासित होते हैं।

**व्याख्या—** चूँकि दर्श-पूर्णमास रूप कर्म का श्रवण परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए है। अस्तु; देश, काल इत्यादि का श्रवण प्रधान के समान होता है। कर्म के अश्रुत होने से भी तन्त्र भाव की सिद्धि होती है। जैसे जब ऐसा कहा जाता है कि दर्शपूर्णमास से यजन किया जाये, तब देश और काल की प्रतीति पुष्ट होती है। अलग से कथन न होने पर भी देश काल तो प्रयोग के अंग हैं ही॥ ६॥

**( २४०३ ) अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गानि तु = अङ्ग तो, विधानत्वात् = विधायक वाक्य होने के कारण, प्रधानेन उपदिश्येरन् = अङ्ग प्रधान कर्म के साथ उपदिष्ट होने से, तस्मात् = अतः, एक देशत्वम् स्यात् = एक देशत्व हुआ करता है।

**व्याख्या—** फल वाक्य से विहित होने के कारण अङ्ग, प्रधान के साथ उपदिष्ट हुआ करते हैं। अस्तु; प्रधान के साथ अङ्गों का एक ही देशत्व, कालत्व तथा कर्तृत्व होता है॥ ७॥

**उक्त सिद्धान्त में आक्षेप प्रस्तुत है—**

**( २४०४ ) द्रव्यदेवतं तथेति चेत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यदेवतम् = द्रव्य एवं देवता, तथा इति चेत् = यदि इन दोनों को प्रमाण माना जाये, तो?

**व्याख्या—** यदि ऐसा कहा जाये कि द्रव्य एवं देवता प्रधान एवं अङ्ग के भेद से हुआ करते हैं, तो?॥ ८॥

**यहाँ अगले दो सूत्रों में आक्षेप का निराकरण प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २४०५ ) न चोदना विधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, चोदना विधिशेषत्वात् = उत्पत्ति विधि का अवशिष्ट होने के कारण, नियमार्थः विशेषः = विशेष नियम के निमित्त हैं।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन उचित नहीं है, द्रव्य एवं देवता का दृष्टान्त विषय है; क्योंकि याग के दो रूप क्रमशः द्रव्य और देवता हैं। उत्पत्ति विधि याग का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। अस्तु; द्रव्य एवं देवता उत्पत्ति विधि के अवशिष्ट भाग हैं, जब कि देश, काल आदि प्रयोगविधि के अवशिष्ट हैं॥ ९॥

**( २४०६ ) तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** तेषु = उन (प्रधान यागों ) में, समवेतानाम्= विहितों का, समवायात् तन्त्रमङ्गानि = सम्बन्ध होने के कारण तन्त्र से अनुष्ठान होता है, तद् भेदात् कर्मभेद: = उनमें भेद होने से कर्मभेद भी हुआ करता है, भेदस्तु प्रयोगे स्यात् = तो प्रयोग में भी भेद होता है, तेषाम् प्रधानशब्दत्वात् = छ: यागों के प्रधान होने के कारण, तथा चान्यार्थदर्शनम् = उसी प्रकार अन्य अर्थों का प्रयोग होता है।

**व्याख्या—** प्रधान याग में विहितों का सम्बन्ध होने के कारण तन्त्र से अर्थात् एक साथ अनुष्ठान हुआ करता है। द्रव्य एवं देवता का पार्थक्य होने के कारण कर्म या अनुष्ठान एवं प्रयोग में भी भेद हुआ करता है। छ: यागों के प्रधान होने एवं अङ्ग-अङ्गी का तन्त्र विधि से (एक साथ) अनुष्ठान करने से पौर्णमास्य में चौदह आहुतियाँ प्रदान करने के विधान की भी समुत्पत्ति हो जाती है॥ १०॥

**अब दर्शपूर्णमासेष्टि इत्यादि में संघ भेद से अङ्गों का भेद होने से सम्बन्धित पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

### ( २४०७ ) इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वैककर्म्यादङ्गानां तन्त्रभाव: स्यात्॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** इष्टिराजसूयचातुर्मास्येषु = इष्टि अर्थात् दर्शेष्टि एवं पौर्णमासेष्टि, राजसूय एवं चातुर्मास्य में, ऐककर्म्यात् = सभी का एक ही फल होने के कारण, अङ्गानां तन्त्रभाव: स्यात् = अङ्गों का तन्त्र भाव होता है।

**व्याख्या—** दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, राजसूय एवं चातुर्मास्य याग में एक ही फल होने के कारण तन्त्र भाव अर्थात् एक साथ प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि उपरिवर्णित अंगों एवं प्रधान कर्मों का जब फल एक ही होता है, तो इनका अनुष्ठान तन्त्रविधि से अर्थात् एक साथ किया जाना चाहिए॥ ११॥

**उक्त पूर्वपक्ष पर आक्षेप प्रस्तुत है—**

### ( २४०८ ) कालभेदान्नेति चेत्॥ १२॥

**सूत्रार्थ—** कालभेदात् = कालभेद होने से अनुष्ठान करना, न = युक्त नहीं, इति चेत् = यदि यह आशङ्का की जाये, तो? (इसका समाधान अगले सूत्र में है)।

**व्याख्या—** यदि यह कहा जाये कि काल (एवं देश) भेद होने से तन्त्र से अनुष्ठान करना उचित नहीं, तो (इसका उत्तर आगामी सूत्र में है)?॥ १२॥

**यहाँ पूर्वपक्ष द्वारा निवारण प्रस्तुत है—**

### ( २४०९ ) नैकदेशत्वात्पशुवत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, एक देशत्वात् = एक देश होने के कारण, पशुवत् = पशु की तरह ।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन उचित नहीं; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि जिस वाक्य में प्रधान कर्म विहित है, उसी में अङ्ग भी प्रधान का उपकार करने वाले हैं। अस्तु; तन्त्र विधि से अनुष्ठान की सिद्धि सम्भव है, पशुवत्। तात्पर्य यह है कि सवनीय पशु में तन्त्र से अनुष्ठान होने के समान उपर्युक्त स्थलों में भी तन्त्रविधि से अनुष्ठान करणीय है॥ १३॥

**अब अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

### ( २४१० ) अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेश: स्यात्॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा तो, कर्म पृथक्त्वात् = दर्श एवं पौर्णमास प्रयोग भिन्न होने के कारण, तेषां तन्त्र विधानात् = दर्शयागत्रय एवं पौर्णमास्य यागत्रय का तन्त्र से विधान होने के कारण, साङ्गानामुपदेश: स्यात् = उन-उन प्रयोगों में साङ्ग अर्थात् अङ्ग सहित प्रयोगों का उपदेश है।

**व्याख्या—** तन्त्र विधि से अङ्गों का अनुष्ठान करणीय नहीं, कारण यह है कि दर्शयागत्रय एवं पौर्णमास यागत्रय का तन्त्र से विधान होने के कारण दर्श एवं पौर्णमास्य प्रयोग भिन्न-भिन्न होते हैं। अस्तु; उन-उन

प्रयोगों में साङ्ग प्रयोगों का उपदेश किया गया है। इसलिए विशिष्ट ग्रहण में भेद होने के कारण पृथक्त्व से अनुष्ठान करना ही उचित है॥ १४॥

**( २४११ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** तथा च = और इस प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य प्रमाण उपलब्ध होने से भी।

**व्याख्या—** पौर्णमास याग में चौदह आहुतियाँ प्रदान करने आदि के प्रमाणों की उपलब्धि से भी भेद की ही सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि पौर्णमास में चौदह एवं दर्श में तेरह आहुतियाँ प्रदान करने का विधान है। यह भेदानुष्ठान के अभाव में सम्भव नहीं है॥ १५॥

**( २४१२ ) तदाऽवयवेषु स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तदा = उस समय, अवयवेषु स्यात् = यागों के अवयवों में देशकालादि भेद से अनुष्ठान होता है।

**व्याख्या—** उस समय चातुर्मास्य आदि यागों के अवयवों में भी देश, काल इत्यादि के भेद से तन्त्र भेद की स्थिति हो जायेगी। अत: भेद से अनुष्ठान होना ही तर्क संगत है॥ १६॥

**( २४१३ ) पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** पशौ तु = पशु (सवनीय पशु) में तो, चोदनैकत्वात् = एक विधान होने के कारण, तन्त्रस्य विप्रकर्ष: = तन्त्र विधि से अनुष्ठान करना उचित है।

**व्याख्या—** सवनीय पशु में तो एक विधान होने के कारण तन्त्र विधि से ही अनुष्ठान करना उचित है॥ १७॥

**अब अगले दो सूत्रों में इष्टियों में संघत्रय में अङ्गभेद से अनुष्ठान करने सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४१४ ) तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषस्यैककालत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इस तरह, विशेषस्य = निर्वापान्त अङ्ग कलापों का, एक कालत्वात् = एक ही समय में विधान होने से अध्वरकल्पेष्टौ = अध्वर-कल्प अभिधानयुक्त इष्टि के अनुसार, स्यात् = एक तन्त्रानुसार कार्य होता है।

**व्याख्या—** इसी प्रकार 'अध्वर-कल्प' नामक इष्टि में निर्वापान्त अङ्ग कलाप का एक ही फल होने से तन्त्र विधि से अनुष्ठान करणीय है। 'अध्वर कल्प' में अग्न्यवधान से निर्वाप तक कर्म का अनुष्ठान तन्त्र से हुआ करता है। अस्तु; उसके पश्चात् के अङ्गों का भी तन्त्र विधि अर्थात् एक साथ से अनुष्ठान करणीय है॥ १८॥

**( २४१५ ) इष्टिरिति चैकवत् श्रुतिः॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** इष्टिरिति च = तथा अध्वर कल्प में 'इष्टि' ऐसा, एकवत् श्रुति: = एक वचनान्तश्रवण होने से (भी यही पुष्टि होती है कि तन्त्र से ही अनुष्ठान करणीय है)।

**व्याख्या—** 'अध्वर कल्प' नामक इष्टि में 'इष्टि' शब्द के एक वचनान्त प्रयोग के श्रवण से भी यह पुष्टि होती है कि सम्पूर्ण इष्टि एक ही है। अस्तु; तन्त्र से अनुष्ठान ही करणीय है॥ १९॥

**अब इसके विपरीत सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २४१६ ) न वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्र विधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** न वा = ऐसा (उक्त कथन) उचित नहीं, कर्मपृथक्त्वात् च तेषाम् = पृथक्-पृथक् समयों में कर्मों का विधान होने के कारण, तन्त्र विधानात् = तन्त्र शास्त्र के विधान से, साङ्गानामुपदेश: स्यात् = साङ्ग कर्मों का उपदेश, पृथक्-पृथक् रूपेण करने के निमित्त किया गया है।

**व्याख्या—** एक साथ अनुष्ठान करणीय नहीं है; क्योंकि पृथक्-पृथक् समयों में कर्मों का विधान है, साथ ही तन्त्र शास्त्र के विधान से जो साङ्ग कर्मों का उपदेश है, वह भेद से (अर्थात् पृथक्-पृथक् रूपेण) अनुष्ठान

करने का निमित्त है। उदाहरणार्थ- आग्नावैष्णव देवताक पुरोडाशत्रय भिन्न-भिन्न तीन कालों में शास्त्र द्वारा विहित है। प्रथम का प्रात:, द्वितीय का मध्याह्न तथा तृतीय का सायंकाल में अनुष्ठान करणीय है॥ २०॥

**पूर्वपक्ष पुन: आक्षेप प्रस्तुत कर रहा है—**

**( २४१७ ) प्रथमस्य वा कालवचनम्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रथमस्य = प्रथम पुरोडाश के निमित्त है, कालवचनम् = प्रात: काल का विधान।

**व्याख्या—** प्रात:काल का विधान तो प्रथम पुरोडाश के निमित्त है न कि अन्य के निमित्त यथा 'पुरावाच: प्रवदितो निर्वपेत्' वाक्य में प्रात:कालीन कर्म का विधान मात्र प्रथम पुरोडाश के लिए है॥ २१॥

**पूर्वपक्ष के आक्षेप का निवारण यहाँ प्रस्तुत है—**

**( २४१८ ) फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** फलैकत्वात् = एक फल का उपदेश होने के कारण, इष्टिशब्द: = इष्टि शब्द एक वचनान्त है, यथा अन्यत्र = जिस प्रकार अन्य स्थलों पर।

**व्याख्या—** एक फल का उपदेश होने के कारण इष्टि शब्द का एक वचनान्त प्रयोग हुआ है, ऐसा अन्य स्थलों पर भी उपलब्ध होता है। ऐसा कहते हैं कि यह एक वचन तो नौ यागों का एक ही प्रतिफल है, इस उद्देश्य से प्रयुक्त है। सर्वपृष्ठ एवं मृगार-इष्टि में भी एक वचन का प्रयोग दिखाई पड़ता है। अस्तु; सिद्ध होता है कि ऐसे स्थलों पर कर्मानुष्ठान भेद से (पृथक्-पृथक्) ही करणीय है॥ २२॥

**'वसा होम' के विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २४१९ ) वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेवतेषु = प्रजापति परमात्मा की प्रीति के निमित्त किये जाने वाले पशुओं के दान में, वसाहोमस्तन्त्रं स्यात् = परिपुष्ट पशु का दान अर्थात् होम किया जाता है, प्रदानस्य एककालत्वात् = उसका दान एक ही बार होने के कारण।

**व्याख्या—** प्रजापति परमात्मा की प्रीति के निमित्त किये जाने वाले पशुदान के सन्दर्भ में, पुष्टपशु का दान एक ही बार करणीय है, कारण यह है कि प्रदान का समय एक ही होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों (ब्रह्मतत्त्वज्ञों) को जितनी संख्या में पशुओं का दान करना अभीष्ट हो, उतनी बार अलग-अलग होम अर्थात् दान करने की आवश्यकता नहीं है, वरन् ऐसी स्थिति में वसा होम अर्थात् पुष्ट शक्तिशाली पशु का दान एक ही बार करना चाहिए॥ २३॥

**उक्त पूर्वपक्ष के विपरीत यहाँ सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४२० ) कालभेदत्त्वाच्चवृत्तिर्देवताभेदे॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** तु = तथा, कालभेदत्वात् = काल के भेद से, देवताभेदे = देवता में भेद होने पर, आवृत्ति: = आवृत्तिपूर्वक अर्थात् भेद से अनुष्ठान करना चाहिए।

**व्याख्या—** काल एवं देवता का भेद होने के कारण भेदपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहाँ समय एवं देवता का भेद निर्दिष्ट हो, वहाँ होम के भेद से अनुष्ठान करणीय है, एक साथ नहीं॥ २४॥

**अब यूपाहुति विषयक पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४२१ ) अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** तद्वत् = वसा होम के समान, अन्ते = अन्त में, यूपाहुति: = यूपाहुतियाँ भी भेदपूर्वक (क्रमश:) करनी चाहिए।

**व्याख्या—** विभिन्न देवताओं में जिस प्रकार वसा होम भेद से अर्थात् पृथक्-पृथक् होता है, उसी प्रकार अन्त में यूपाहुति भी भेद से करणीय है। उदाहरणार्थ- ज्योतिष्टोम में यूपाहुतियाँ देने का विधान है। वहाँ ये क्रमेण दी जाती हैं, एक साथ नहीं दी जातीं- 'तत्र यूपस्य अन्तिके अग्निं मथित्वा यूपाहुतिं जुहोति'॥ २५॥

**उक्त पूर्वपक्ष के विपरीत अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

## ( २४२२ ) इतरप्रतिषेधो वा अनुवादमात्रमन्तिकस्य॥ २६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, इतर प्रतिषेध: = आहवनीय का प्रतिषेध है, अन्तिकस्य = यूप देश के सान्निध्य में अग्निमंथन करना, यह न्याय उपलब्ध है, अनुवाद मात्रम् = अस्तु; यह तो समीपता का अनुवाद मात्र है।

**व्याख्या—** यह आहवनीय का प्रतिषेध है, अन्त विधि नहीं है। अस्तु; अनुष्ठान भेद से न करके तन्त्र से (एक साथ) करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त सूत्र में यूप के समीप में जाकर अग्निमंथन करने का जो न्याय उपलब्ध है, वह तो समीपता का अनुवाद मात्र है एवं आहवनीय से जो होम सम्प्राप्त था, उसका प्रतिषेध ही कथित है। अस्तु; आहवनीय होम सम्पन्न करके यूपों के सन्निकट पहुँचकर समस्त आहुतियों सहित होम करणीय है। यह होम तन्त्र विधि से करना चाहिए, न कि पृथक्-पृथक्॥ २६॥

## ( २४२३ ) अशास्त्रत्वाच्च देशानाम्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** च = और, देशानाम् = देशों का, अशास्त्रत्वात् = विधान न होने के कारण।

**व्याख्या—** अन्य देशों (स्थानों) का विधान न होने के कारण भी यूप-आहुति तन्त्र विधि से ही करणीय है। यदि यह कहा जाये कि परम अन्तिकता का विधान होता है, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि इससे यूप का दहन होना सम्भव है। उल्लेख भी है- न च अन्तिकदेशा: शक्या: शासितुम्। आपेक्षितत्वादन्तिकस्य अथ परमान्तिकं शिष्येत तदायूप उपदह्यत। अस्तु; अन्तिकता अर्थात् यूप सामीप्य का विधान शक्य नहीं है॥ २७॥

**अब अगले दो सूत्रों में अवभृथ में साङ्ग प्रधान के अनुष्ठान सम्बन्धी अधिकरण के अन्तर्गत पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

## ( २४२४ ) अवभृथे प्रधानेऽग्निविकार: स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोग:॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** अवभृथे = अवभृथ में, प्रधानेऽग्निविकार: = प्रधान कर्म में अग्नि विकार होता है, तद्धेतु: न अग्निसंयोग: = अग्नि के साथ प्रधान हेतु वाले अङ्ग सम्बद्ध नहीं होते।

**व्याख्या—** अवभृथ में प्रधान कर्म में अग्नि का विकार होता है, कारण यह है कि अग्नि के साथ प्रधान हेतु वाले अङ्ग सम्बद्ध नहीं हैं। उदाहरणार्थ-ज्योतिष्टोम प्रकरण में आता है- 'अवभृथेन चरन्ति'। इस प्रकरण में आप: (जल) में जो करणीय है, वह मात्र प्रधान कर्म ही है। जल में अङ्ग कर्म सम्पन्न नहीं किये जाते। कारण यह है कि अवभृथ शब्द वरुण देवता सम्बन्धी एक कपाल द्रव्य वाले याग का वाचक है॥ २८॥

## ( २४२५ ) द्रव्यदेवतावत्॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** द्रव्यदेवतावत् = द्रव्य एवं देवता याग के स्वरूप हैं, जल की तरह।

**व्याख्या—** जिस प्रकार द्रव्य (कपाल) एवं देवता (वरुण) का प्रधान कर्मों में विधान है, उसी प्रकार जल का विधान भी प्रधान कर्मों में निर्दिष्ट है। अस्तु; अङ्ग कर्मों के साथ अवभृथ का संयोग नहीं है॥ २९॥

**अब अगले तीन सूत्रों में प्रधान सहित अङ्ग कर्मों के 'आप: में' करणीय होने सम्बन्धी सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २४२६ ) साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रयोगवचनैकत्वात् = प्रयोग विधि में एकत्व पाये जाने के कारण, साङ्ग: = प्रधान कर्म अङ्ग सहित जल में करणीय हैं।

**व्याख्या—** प्रधानकर्म अङ्ग सहित आप: (जल) में करणीय हैं, कारण यह है कि प्रयोग विधि में एकत्व

उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि देश, काल एवं कर्त्ता आदि प्रयोगाङ्ग होते हैं। 'अप्सु' शब्द देश सम्बन्धी विधान का द्योतक है, जो प्रयोग के साथ सम्बन्धित है और अङ्ग एवं प्रधान दोनों के साथ भी संयुक्त है॥ ३०॥

**( २४२७ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = अन्य प्रमाणों की उपलब्धि से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होने से भी उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। जैसे- 'अप्सु तृणं प्रास्य आघारमाघारयति' वाक्य द्वारा जल में दर्भ डालकर आघार अङ्ग करने का स्फुट कथन है। चूँकि आघार अङ्ग कर्म है। अस्तु; प्रधान एवं अङ्ग दोनों ही प्रकार के कर्म जल में करणीय हैं॥ ३१॥

**अब अवभृथ शब्द का अङ्गों के साथ सम्बन्ध न होने सम्बन्धी तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २४२८ ) शब्दविभागाच्च देवतानपनयः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, शब्दविभागात् = अवभृथ शब्द से देवता का पार्थक्य (विभाजन) होने के कारण, अपनयः = अङ्गों के साथ देवता का सम्बन्ध नहीं है।

**व्याख्या—** अवभृथ शब्द से देवता का विभाग होने के कारण द्रव्य देवता का अपनय होता है। अस्तु; अङ्गों के साथ देवता का सम्बन्ध नहीं है॥ ३२॥

**अब अङ्ग भेद से उत्तर-दक्षिण विहारों का अनुष्ठान करने सम्बन्धी अनुशासन प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४२९ ) दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेषु देशभेदात्सर्वं विक्रियते॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** दक्षिणे = दक्षिण विहार में, अग्नौ = अग्नि में, वरुणप्रघासेषु = वरुण प्रघास में, देशभेदात् = देश भेद होने से, सर्वं विक्रियते = समस्त अङ्गों का अनुष्ठान भिन्नता से अर्थात् पृथक्-पृथक् होता है।

**व्याख्या—** वरुण-प्राघासिक याग में दक्षिणाग्नि में देश भेद से समस्त अङ्गों का अनुष्ठान पृथक्-पृथक् रूपेण करणीय है, तन्त्र द्वारा नहीं। जैसे-'उत्तरस्यां वेद्यामन्यानि हवींषि सादयति दक्षिणस्यां मारुतीमिति चातुर्मास्ये वरुण प्रघासे श्रुतम्'। वाक्य का भाव यह है कि चातुर्मास्य में वरुण प्रघास श्रुत होने से यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि दक्षिणाग्नि में सभी अङ्गों का अलग-अलग अनुष्ठान होता है, तन्त्र विधि से एक साथ नहीं होता॥ ३३॥

**अब इस पर आक्षेप करते हैं—**

**( २४३० ) अचोदनेति चेत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** अचोदना इति चेत् = फल प्रत्येक कर्म की चोदना (विधान) नहीं, यदि यह कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** यदि ऐसा कहा जाये कि जब कर्म-विधान होने के कारण अङ्ग प्राप्ति ही नहीं है, तब भेदपूर्वक अथवा तन्त्रपूर्वक अनुष्ठान करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है, तो?॥ ३४॥

**यहाँ उक्त आक्षेप का निवारण प्रस्तुत है—**

**( २४३१ ) स्यात्पौर्णमासीवत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** स्यात् = अङ्ग प्राप्ति होती है, पौर्णमासीवत् = पौर्णमासी के समान।

**व्याख्या—** पौर्णमासी के समान अङ्गों की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि पौर्णमास्य याग करने सम्बन्धी इस वाक्य 'पौर्णमास्यां यजेत' में यजन के साथ फल का सम्बन्ध निर्दिष्ट नहीं है, तथापि अङ्गानुष्ठान सम्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार 'दक्षिणस्यां मारुतीम्' वाक्य में भी अङ्गानुष्ठान वर्णित है॥ ३५॥

**अब इस पर पुनः आक्षेप कर रहे हैं—**

**( २४३२ ) प्रयोगचोदनेति चेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोग चोदना इति चेत् = यदि यह कहा जाये कि प्रयोग विधान है, तो?

**व्याख्या**— 'पौर्णमास्यां यजेत' वाक्य में यजेत शब्द से प्रयोग विधान निर्दिष्ट है। अस्तु; यदि यह कहा जाये कि इस स्थिति में अङ्ग एवं प्रधान दोनों ही प्रकार के कर्मों (यागों) का अनुष्ठित होना औचित्य पूर्ण लगता है, तो?॥

**उक्त आक्षेप का यहाँ निराकरण प्रस्तुत है—**

**( २४३३ ) तथेह॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ**— तथा इह = उसी तरह, (इहापि मारुत्या: प्रयोगश्चोद्यते = यहाँ भी मारुति प्रयोग का विधान है।)

**व्याख्या**—उसी प्रमाण से यहाँ भी मानना चाहिए। 'तस्मान्मारुत्यपि दक्षिण विहारे कर्त्तव्या (शाबर भाष्य)' वाक्य में मारुती के प्रयोग का भी विधान है। अस्तु; दक्षिण विहार में मारुती प्रयोग भी साङ्ग करना चाहिए॥३७॥

**अब इस पर पुन: आक्षेप कर रहे हैं—**

**( २४३४ ) आसादनमिति चेत्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ**— आसादनम् इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का की जाये कि मारुती प्रयोग से आसादन है, तो?

**व्याख्या**— यदि ऐसा कहा जाये कि मारुती याग में आसादन है, तो? पौर्णमासी में 'यजति' और 'मारुती' में आसादयति आख्यात श्रूयमाण है,अत: यह कथन उचित नहीं है कि अङ्ग से प्रयोग विधि सम्भव होती है॥३८॥

**अगले तीन सूत्रों में यहाँ उक्त आक्षेप का निवारण प्रस्तुत कर रहे हैं—**

**( २४३५ ) नोत्तरेणैकवाक्यत्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ**— उत्तरेण = उत्तर के साथ, एकवाक्यत्वात् न = एक वाक्य होने से ऐसा उचित नहीं है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार उत्तर वेदी में हविष् का आसादन याग के निमित्त है, उसी प्रकार दक्षिण की वेदी में हविषासादन याग के निमित्त ही है, न कि अदृष्ट के लिए॥ ३९॥

**( २४३६ ) अवाच्यत्वात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ**— अवाच्यत्वात् = आसादन होमवाच्य न होने से प्रयोग विधि नहीं है।

**व्याख्या**— 'आसादयति' नामक पद होम प्रक्रिया का वाचक नहीं है, अत: प्रयोग विधि नहीं है। तथापि इसे लक्षणा द्वारा प्रयोग-विधि स्वीकार करना चाहिए॥ ४०॥

**( २४३७ ) आम्नायवचनं तद्वत्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ**— तद्वत् = इसी प्रकार, आम्नायवचनम् = वैदिक वचन भी कारण स्वरूप है।

**व्याख्या**— वैदिक वचन भी इसी तथ्य का संकेतक है। जैसे 'यदेव अध्वर्यु: करोति तत्प्रतिप्रस्थाता करोति इति। तथा..... देवतायजनमिति' वैदिक वचन से दक्षिण विहार में उत्तर विहार के समान याग का विधान होता है। अस्तु; यह मानना चाहिए कि दक्षिण विहार में अंग भेद से अनुष्ठान होता है॥ ४१॥

**अब कर्त्तृत्व अधिकरण के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४३८ ) कर्तृभेदस्तथेति चेत्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ**— कर्तृभेद: = कर्ताओं का विभेद होना चाहिए, तथा इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का की जाये, तो? (इसका उत्तर आगामी सूत्र में देंगे)।

**व्याख्या**— जिस प्रकार अङ्गों में भेद हुआ करता है, उसी प्रकार यदि यह कहा जाये कि कर्त्ताओं में विभेद होना चाहिए, तो? चातुर्मास्य यागों में पाँच ऋत्विज्-अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता होता, ब्रह्मा एवं आग्नीध्र होते हैं। अस्तु; पूर्व पक्षवादी का आशङ्का युक्त मन्तव्य है कि इन उपरिवर्णित पाँच ऋत्विजों के अतिरिक्त ऋत्विज् दक्षिण विहार में होने चाहिए॥ ४२॥

**उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त पक्ष अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत है—**

**( २४३९ ) न समवायात्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, समवायात् = पञ्चत्वों का ही समवाय होने के कारण।

**व्याख्या—** नहीं, उपर्युक्त कथन उचित नहीं। कारण यह है कि समवाय होने के कारण अङ्गों के समान कर्तृभेद नहीं होता। पञ्चत्व होने के कारण कर्त्ता तन्त्र विधि से होते हैं। तात्पर्य यह है कि दक्षिण विहार में उपरिवर्णित पाँच ऋत्विज् ही कर्म सम्पादन के निमित्त होते हैं। अस्तु; ऋत्विजों की संख्या पाँच से अधिक नहीं होनी चाहिए॥ ४३॥

**( २४४० ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी, इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

**व्याख्या—** अन्य प्रमाणों-लिङ्ग वाक्यों की उपलब्धि से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ- 'प्रवयसमृषभं दक्षिणां ददाति' से इन्हीं कर्त्ताओं का बोध होता है। दक्षिण विहार से अन्यत्र दक्षिणा का श्रवण न होने से ऋत्विजों की संख्या पाँच से अधिक नहीं होनी चाहिए॥ ४४॥

**इस समाधान में आगामी सूत्र में एक अन्य शङ्का ( आक्षेप ) प्रतिपक्षी प्रस्तुत कर रहा है—**

**( २४४१ ) वेदिसंयोगादिति चेत्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** वेदिसंयोगात् = वेदी के साथ होता का पाद सम्बद्ध होता है, इति चेत् = यदि यह कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि इस वाक्य- 'अन्तर्वेद्यन्यः पादो होतुर्भवति बहिर्वेद्यन्यः इति' से स्पष्ट होता है कि होता का पद अन्तर्वेदि एवं बहिर्वेदि दोनों में होता है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि यदि होता एक ही हो, तो अन्तर्वेदि और बहिर्वेदि दोनों में किस प्रकार स्थित हो सकता है। अस्तु; दो होता होना अथवा कर्तृभेद होना उचित लगता है॥ ४५॥

**अब उक्त आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४४२ ) न देशमात्रत्वात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, देशमात्रत्वात् = देश विशेष की विधि स्वरूपा होने से (होता की स्थिति ही कथित है।)

**व्याख्या—** उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि देश मात्र का विधान होने से होता की स्थिति ही कथित है। जैसे 'देशमात्रमेतद्विधीयते तस्मिन् देशे होत्रा स्थातव्यम् यत्रास्यैकः पादोऽन्तर्वेदि भवति बहिर्वेद्यन्यः' वाक्य में देश विशेष का विधान निर्दिष्ट है कि होता ऐसे स्थान पर स्थित रहे कि उसका एक पाद (पैर) वेदी के अंतर्भाग में तथा दूसरा वेदी के बाह्य भाग में स्थित रहे। अस्तु; एक ही होता रहने का विधान है, न कि दो वेदियों में दो होता रहने का॥ ४६॥

**अब उत्तर-दक्षिण विहार से अपराग्निक होमों से भिन्न अनुष्ठान सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४४३ ) एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रं स्यात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** एकाग्नित्वात् = एक ही अग्नि होने के कारण, अपरेषु = पत्नी संयाज इत्यादि भी, तन्त्रं स्यात् = तन्त्र से होता है।

**व्याख्या—** पत्नी संयाज इत्यादि अपराग्निक होम गार्हपत्य रूप एक ही अग्नि में सम्पन्न होने के कारण पत्नी संयाज भी तन्त्र से सम्पन्न होता है॥ ४७॥

**उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४४४ ) नाना वा कर्तृभेदात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, नाना = आवृत्ति से हुआ करता है, कर्तृभेदात् = कर्ताओं में भेद होने के कारण।

**व्याख्या—** कर्त्ताओं में भेद होने के कारण कर्म की आवृत्ति हुआ करती है। उदाहरण के लिए मारुती इष्टि में होने वाले अङ्ग विधान प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् द्वारा करणीय होते हैं, जबकि अन्य अङ्ग अध्वर्यु नामक ऋत्विज् द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रकार कर्त्ता भेद होने से कर्म की आवृत्ति होती है। इसी प्रकार गार्हपत्य रूप अग्नि के एक रहने पर भी उसके कर्त्ता भिन्न-भिन्न होते हैं॥ ४८॥

**अब वाजपेय याग में ब्रह्म सामकाल में आलम्भ के प्रतिषेध सम्बन्धी अधिकरण पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४४५ ) पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्यवत्तस्माद्ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** उत्सर्गे = उत्सर्ग के समय, प्राजापत्यानाम् = प्राजापत्य पशुओं का, कर्मोत्सर्गः = उत्सर्ग किया जाता है, पर्यग्निकृतानाम् आरण्यवत् = पर्यग्नि किये पशुओं को छोड़ दिये जाने के समान, श्रुतिसामान्यात् = श्रुतिवचन प्राप्त है, तस्मात् = इसलिए, ब्रह्मसाम्नि = ब्रह्म साम के समय, चोदना पृथक्त्वं स्यात् = कर्म में अन्तर हुआ करता है।

**व्याख्या—** वाजपेय याग में परमात्मा के स्मरणपूर्वक पशुओं का त्याग (दान) कर दिये जाने पर याग कर्म भी श्रुति विधान से आरण्य (पशुओं के समान) उत्सर्जित हो जाता है। इसी तरह ब्रह्म साम में चोदना पार्थक्य कर्मान्तर हुआ करता है। आशय यह है कि उनका यह त्याग कर्म, कर्मशेष न होकर भिन्न कर्म ही है॥ ४९॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के समाधन हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४४६ ) संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, संस्कारप्रतिषेधः = संस्कार प्रतिषेध है (काल मात्र का), वाक्यैकत्वे = एक वाक्य होने एवं, क्रतुसामान्यात् = क्रतु सामान्य होने के कारण।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ये दोनों वाक्य 'पर्यग्नि कृतान् उत्सृजन्ति', 'ब्रह्मसाम्न्यालभते' मिलकर एक वाक्यता होती है तथा द्रव्य देवता का श्रवण न होने के कारण पूर्व और उत्तर वाक्यों का समान क्रतुत्व सिद्ध होता है। इससे यह स्पष्ट है कि उपरि-वर्णित दोनों वाक्यों से किसी भिन्न कर्म का विधान न होना और संस्कार का काल मात्र का प्रतिषेध होना सिद्ध होता है॥ ५०॥

**( २४४७ ) वपानां चानभिघारणस्य दर्शनात्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, वपानाम् = वपाओं के, अनभिघारणस्य = अनभिघारण के, दर्शनात् = दर्शन से भी।

**व्याख्या—** इस प्रकार वपा के अनभिघारण के दिखाई पड़ने से भी संस्कारों का प्रतिषेध होता है॥ ५१॥

**अब इसमें शङ्का व्यक्त करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है—**

**( २४४८ ) पञ्चशारदीयास्तथेति चेत्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = पूर्व की तरह, पञ्चशारदीयाः = पञ्चशारदीय अभिधान वाले क्रतु शेष कर्म की अत्यन्त निवृत्ति नहीं है, इति चेत् = यदि यह कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि पाँच वर्षों तक सम्पन्न होने वाले पञ्चशारदीय क्रतु याग में कई पशु प्रथम वर्ष में तथा अवशिष्ट पशु बाद के वर्षों में दान में दिये जाते हैं। इसी के लिए शेष कर्म की अत्यन्त निवृत्ति न होना कहा है। यदि ऐसा माना जाये, तो?॥ ५२॥

**यहाँ अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४४९ ) न चोदनैकवाक्यत्वात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, चोदना = प्रेरणा सम्बन्धी, एक वाक्यत्वात् = एक ही वाक्य होने से।

**व्याख्या—** अनेक गुण विशिष्ट अपूर्व कर्म विधान में एकवाक्यता होने के कारण से उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। विगत सूत्र की व्याख्या में वर्णित पाँच वर्षों में जिन पशुओं के दान का तथ्य है, उस सन्दर्भ में पाँचवें वर्ष में जिन पशुओं का दान किया जाता है, वह अपूर्व कर्म ही है, अवशिष्ट कर्म नहीं॥ ५३॥

## ( २४५० ) संस्काराणां च दर्शनात्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संस्काराणाम् = संस्कारों का, दर्शनात् = श्रवण होने के कारण।

**व्याख्या—** संस्कारों का श्रवण होने के कारण भी दोनों स्थितियों में जिन नये पशुओं का दान किया जाता है, उनके निमित्त पर्यग्निकरण एवं प्रोक्षण रूप संस्कार भी करणीय होते हैं॥ ५४॥

**अगले दो सूत्रों में अभिषेचनीय एवं दशपेय अनुष्ठान करने सम्बन्धी पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २४५१ ) दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राचां तत्समानं तन्त्रं स्यात्॥ ५५॥

**सूत्रार्थ—** दशपेये क्रयप्रतिकर्षात् = दशपेय नाम वाले क्रतु में क्रय का प्रतिकर्ष होने के कारण, ततः प्राचां प्रतिकर्षः = सोमक्रय पूर्व के अङ्गों का भी प्रतिकर्ष है, तत् समानं तन्त्रं स्यात् = अतः समान तन्त्र होता है।

**व्याख्या—** दशपेय नामक एक दिवसीय याग में क्रम प्रतिकर्ष होने के कारण सोमक्रय के पूर्व अङ्गों की भाँति उत्तर अङ्गों का भी प्रतिकर्ष (सह तन्त्र) है। तात्पर्य यह है कि दोनों का समान तन्त्र होता है॥ ५५॥

## ( २४५२ ) समानवचनं तद्वत्॥ ५६॥

**सूत्रार्थ—** तद्वत् = उसी प्रकार, समानवचनम् = अभिषेचनीय एवं दशपेय इन दोनों का समान वचन है।

**व्याख्या—** दोनों का तन्त्र समान है, जिस काल में दशपेय याग के अङ्ग कलाप प्रतिपादित किये गये हैं, उसी में अभिषेचनीय याग के अङ्ग कलाप भी प्रतिपादित हैं। इस साम्य के कारण भी दोनों यागों का सह अनुष्ठान करणीय है, यह सिद्ध होता है। अस्तु; दोनों का अनुष्ठान तन्त्र से (एक साथ) होता है॥ ५६॥

**अब अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २४५३ ) अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते॥ ५७॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अप्रतिकर्षः = प्रतिकर्ष (संयोजन) नहीं है, अर्थहेतुत्वात् = पहले का क्रय अर्थ हेतु होने से, सहत्वं विधीयते = सहत्व का विधान है।

**व्याख्या—** प्रतिकर्ष नहीं है। प्रमुख क्रय में सहत्व का विधान है। क्रत्वारम्भ से पहले सोमक्रय निश्चित होता है। यदि पहले सोमक्रय न किया गया होता, तो प्रयोग के समय वह उपलब्ध कहाँ से होता और तब क्रतु कैसे सम्पन्न होता? साथ में ही सोम क्रय करने के रूप में जो प्रतिकर्ष है, वह तो प्रमुख क्रय में प्रयोग करने के समय प्रतिकर्ष नहीं है। इसलिए इसमें सहत्व या तन्त्र नहीं है॥ ५७॥

## ( २४५४ ) पूर्वस्मिंश्चावभृथस्य दर्शनात्॥ ५८॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पूर्वस्मिन् = पूर्व का जो अभिषेचनीय है, अवभृथस्य दर्शनात् = उसमें अवभृथ का दर्शन होने से भी (सहत्व न होना सिद्ध होता है)।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'समानं वा एतद् यज्ञं छिन्दन्ति यदभिषेचनीयस्यावभृथ इति', वाक्य से स्पष्ट होता है कि यदि ऊपर (सूत्र क्र. ५५ में) वर्णित दोनों यज्ञों के अङ्गों का सह अनुष्ठान सम्भव होता, तो अवभृथ रूप अङ्ग भी दशपेय के पीछे अनुष्ठित होते; किन्तु ऐसा न होने के कारण पूर्व से ही अवभृथ का श्रवण होता है। अतः सिद्ध होता है कि दोनों यागों का तंत्र अर्थात् सह-अंगानुष्ठान नहीं है॥ ५८॥

## ( २४५५ ) दीक्षाणां चोत्तरस्य॥ ५९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उत्तरस्य = बाद के दिवस में, दीक्षाणाम् = दीक्षा का विधान है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का आशय यह है कि यदि दोनों यागाङ्गों का सह अनुष्ठान होता, तो दीक्षा भी साथ ही होती; परन्तु दशपेय याग की दीक्षा का विधान स्वतन्त्ररूपेण दशपेय दिवस में होने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि दोनों यागाङ्गों का तन्त्र विधान नहीं है॥ ५९॥

**( २४५६ ) समानः कालसामान्यात्॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** समानः = समानता तो, कालसामान्यात् = एक ऋतुरूप काल की समानता के कारण है।

**व्याख्या—** दोनों यागों में ऋतुरूप काल की समानता के कारण ही समान शब्द प्रयुक्त हुआ है। नहीं तो दोनों ही यागों के अङ्गों का अनुष्ठान तो पृथक्-पृथक् रूपेण ही हुआ करता है॥ ६०॥

**अब वरुण प्रघास में अवभृथ सम्बन्धी अधिकरण का पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४५७ ) निष्कासस्यावभृथे तदेकदेशत्वात्पशुवत् प्रदानविप्रकर्षः स्यात्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** एकदेशत्वात् = आमिक्षा का एक देश होने के कारण, अवभृथे = अवभृथ में, पशुवत् = पशु के समान, निष्कासस्य प्रदानविप्रकर्षः स्यात् = निष्कास के प्रदान का विप्रकर्ष होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि वरुणप्रघास याग में नियम है कि वारुणी आमिक्षा निष्कास के द्वारा एवं तुष द्वारा अवभृथ का अनुष्ठान करना चाहिए। यह अनुष्ठान वस्तुतः आमिक्षा प्रदान का विप्रकर्ष अवशिष्ट कर्म है अथवा कोई नवीन कर्म है? इस आशङ्का में पूर्व पक्ष मानता है कि शेषकर्म पशुदान के समान निष्कास से अवभृथ का अनुष्ठान करना चाहिए। कारण यह है कि वह वारुणी आमिक्षा का एक देश है एवं आमिक्षा का व इसका देवता भी एक ही है। अस्तु; प्रधान का शेषकर्म (विप्रकर्ष ) मानना उचित ही है॥ ६१॥

**उक्त पूर्वपक्ष पर अगले दो सूत्रों में यहाँ सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४५८ ) अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात्॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रसिद्धेन अभिसंयोगात् = प्रसिद्ध कर्म से संयोग के कारण, अपनयः = पृथक् कर्म ही है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि प्रधान का विप्रकर्ष नहीं होता। 'अवभृथ' इस प्रसिद्ध कर्म नाम से निर्देश होने के कारण निष्कास से अवभृथ का अनुष्ठान करना चाहिए। अस्तु; यह पृथक् कर्म ही है॥ ६२॥

**( २४५९ ) प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** कर्म संयोगात् = कर्म की विद्यमानता से, प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति कर्म है, इति चेत् न = ऐसा मानना उचित नहीं है।

**व्याख्या—** निष्कास एवं तुष से अवभृथ का अनुष्ठान करना प्रतिकर्म है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है। कारण यह है कि 'निष्कासेन' शब्द में तृतीया विभक्ति होने से अवभृथ में प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध समझा जाता है। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि निष्कास एवं तुष द्वारा किया जाने वाला अवभृथ कर्म, भिन्न कर्म है। अस्तु; प्रदान का विप्रकर्ष होने के कारण यह किसी का भी शेष कर्म नहीं है॥ ६३॥

**अगले दो सूत्रों में उदयनीय अधिकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है—**

**( २४६० ) उदयनीये च तद्वत्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उदयनीये = उदयनीय में भी, तद्वत् = अवभृथ के समान अपूर्व कर्म माननीय है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का तर्क है कि जिस प्रकार अवभृथ-धर्म वाला कर्म अपूर्व है, उसी प्रकार उदयनीय-

धर्म वाला कर्म भी अपूर्व है। ज्योतिष्टोम में सुना जाता है– 'प्रायणीय निष्कासे उदयनीयमभिनिर्वपति'। इसमें 'निष्कासे' शब्द में सप्तमी विभक्ति है और सप्तमी विभक्ति वाले पद का अर्थ गुणरूप में होने से उदयनीय कर्म निर्वाप में निष्कास गुणरूप में प्रतिष्ठित है॥ ६४॥

**उक्त पूर्वपक्ष के अन्तर्गत दूसरा सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २४६१ ) प्रतिपत्तिर्वाऽकर्मसंयोगात्॥ ६५॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अकर्म संयोगात् = कर्म-भिन्न होने से, प्रतिपत्तिः = प्रायणीय शेष कर्म है।

**व्याख्या—** यह भी सम्भव है कि प्रायणीय शेष प्रतिपत्ति रूप कर्म है, कारण यह है कि उसका उदयनीय रूप कर्म से भिन्न निर्वाप के साथ सम्बन्ध है॥ ६५॥

**अब दोनों पूर्वपक्षों का निराकरण इस सिद्धान्त सूत्र से करते हैं—**

## ( २४६२ ) अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात्॥ ६६॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थकर्म = निर्वाप प्रमुख कर्म है, शेषत्वात् = निर्वाप प्रत्येक निष्कास रूप द्रव्य शेष होने के कारण, श्रपणवत् = श्रपण के समान, तदर्थेन विधानात् = सप्तम्यन्त पद का अर्थ निर्वाप के निमित्त विहित है इसलिए।

**व्याख्या—** श्रपण के सदृश सप्तम्यन्त पद का अर्थ निर्वाप के निमित्त विहित होने के कारण शेषत्व होने से निष्कास में निर्वाप है, न कि प्रतिपत्ति। निष्कास गुण है एवं निर्वाप अपूर्व कर्म है। अस्तु; उदयनीय निर्वाप जो कि निष्कास द्रव्य से किया जाता है, उसे अपूर्व कर्म कहेंगे॥ ६६॥

### ॥ इति एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

# ॥ अथ एकादशाध्याये तृतीयः पादः ॥

**आचार्य मुख्य कर्म तथा अंग कर्मों के काल की एकता अथवा पृथक्ता का अनुशासन समझाते हैं—**

**( २४६३ ) अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम्॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गानाम् = अङ्ग कर्म के अनुष्ठान का समय, मुख्यकालत्वात् = प्रधान कर्म के समय के अन्तर्गत ही होता है, वचनाद्-अन्य कालत्वम् = भिन्न काल निर्धारक कोई वचन हो, तो भिन्न काल में भी अनुष्ठान होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अङ्ग कर्मों के अनुष्ठान का समय प्रधान कर्मों के अनुष्ठान के समय के साथ ही होता है, किन्तु निर्देश होने पर उनका अनुष्ठान उससे भिन्न देश-काल आदि में भी हो सकता है॥ १॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार आधान के तन्त्रानुसार अनुष्ठान होना बतलाते हैं—**

**( २४६४ ) द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** स्वकालत्वात् = वसन्तादि रूप स्वकाल में विहित होने से, द्रव्यस्य = आधान संस्कृत वह्नि का, अकर्मकाले = प्रधान कर्म के पृथक् काल,निष्पत्तेः=उत्पन्न होने से, प्रयोगः सर्वार्थः स्यात् = आधान प्रयोग सभी के लिये होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि वसन्तादि स्वकालत्व में विहित होने से द्रव्य (आधान संस्कृतवह्नि) के अकर्म (प्रधानकर्म से पृथक्) काल में निष्पत्ति का प्रयोग सर्वार्थ होता है। इससे सभी कर्मों के अर्थ में तन्त्र आधान होता है। अग्न्याधान का प्रयोग सभी क्रतुओं (यज्ञों) के लिए है। एक बार किया हुआ अग्न्याधान सभी यागों में काम आता है। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नि मादधीत' यह आधान समस्त क्रतुओं (यज्ञों) के लिए सुलभ होता है, क्योंकि प्रधान काल में पृथक् (भिन्न) काल में इसका अनुष्ठान हुआ है। अतः प्रधान एवं आधान के काल (समय) अलग-अलग होते हैं॥ २॥

**अग्नीषोमीय आदि में यूप का तंत्र से अनुष्ठान होता है। इस प्रकरण को अगले सूत्र में बतलाते हैं—**

**( २४६५ ) यूपश्चाकर्मकालत्वात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अकर्मकालत्वात् = अनुष्ठान के समय यूप की अनुत्पत्ति होने से, यूपः = तन्त्र है।

**व्याख्या—** आचार्य बतलाते हैं कि यूप कर्मों के भी अनुष्ठान का समय उत्पन्न न होने से उसका अनुष्ठान भी तन्त्र द्वारा सम्पन्न होता है। अतः अमुक अग्नीषोमीय के लिए ही यूप होता है, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता॥ ३॥

**एक ही यूप तीनों पशुओं के लिए सामान्य है। इस प्रकरण को अगले सूत्र में व्यक्त करते हैं—**

**( २४६६ ) एकयूपं च दर्शयति॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एकयूपं = एक ही यूप, दर्शयति = दिखलाता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि तीनों ही पशुओं के लिए सामान्यतः एक ही यूप दिखलाते हैं। सवनीय पशु के लिए त्रिवृत्त यूप रखा जाता है अर्थात् एक ही यूप को तीन सूत्रों (डोरी) से आबद्ध किया जाता है। इस प्रकार यूप के तन्त्र होने से संस्कार भी तंत्र युक्त होंगे। अग्नीषोमीय याग में पशु का बन्धन ही उचित कहा गया है, अतः पुनः सवनीय पशु का बन्धन प्राप्त नहीं होता। इस कारण से यह उक्त विधान भी तंत्र ही है॥ ४॥

**यूप संस्कारों का भी तंत्र द्वारा अनुष्ठान होता है। इस सन्दर्भ में सूत्रकार पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४६७ ) संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थकालत्वात् = पशु नियोजन के समय का होने से, संस्काराः = यूप के जो प्रोक्षण, अञ्जन आदि संस्कार हैं, आवर्तेरन् = उनकी आवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि पशु के नियोजन का अर्थकालत्व अर्थात् निर्धारित समय पर प्रोक्षण आदि होने से उसी समय यूप के प्रोक्षण, अञ्जन आदि संस्कारों की आवृत्ति होती है॥ ५॥

**उक्त पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में आचार्य अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष द्वारा प्रतिपादित करते हैं—**

**( २४६८ ) तत्कालास्तु यूपकर्मत्वात्तस्य धर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्कालाः तु = संस्कार तो दीक्षा कालीन होते हैं, यूपकर्मत्वात् = यूप इनका कार्य होने से, तस्यधर्मविधानात् = वे यूप के धर्मरूप विधान होने के कारण, सर्वार्थानाम् = सर्वार्थ होने पर भी, वचनात् अन्यकालत्वम् = वचन होने से उनका पृथक् काल पुष्ट होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि संस्कारों का अपना एक काल होता है। वे दीक्षा के समय किये जाते हैं। यूप ही इन संस्कारों का कार्य होता है तथा ये यूप के धर्म के रूप में विधान किये गये हैं। यूप सर्वार्थ होता है। यूप में तन्त्र-भाव है। विशेष निर्देश प्राप्त होने पर भिन्न काल में भी किये जा सकते हैं॥ ६॥

**( २४६९ ) सकृन्मानं च दर्शयति॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सकृत्मानम् = एक समय यूप का मान भी, दर्शयति = बतलाता है।

**व्याख्या—** आचार्य उक्त कथन को आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यूप को सकृत् अर्थात् एक समय (एक बार)में मापने से भी यह सिद्ध हो जाता है कि यूप में तन्त्र भाव है॥ ७॥

**'स्वरु साधारण है।' इस प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( २४७० ) स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** अस्वकालत्वात् = स्वरु का अपना स्वतन्त्र काल न होने से, स्वरुस्तन्त्रापवर्गः = अग्नीषोमीय तन्त्र से स्वरु की समाप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्य—** पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हुए आचार्य बतलाते हैं कि अग्नीषोमीय तन्त्र द्वारा स्वरु अर्थात् यूप गढ़ते समय जो प्रथम चीपटी निकलती है उस स्वरु का अपना कोई स्वतन्त्र समय नहीं होता। अतः इसका नियम विधान अंजन रूपी संस्कार के समय में होता है॥ ८॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त कथन को सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं—**

**( २४७१ ) साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अनुनिष्पत्तेः = यूप के साथ उसकी उत्पत्ति होने से तथा, तस्य साधारणत्वात् = उसका एक होने से, साधारणः = स्वरु साधारण होता है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे समस्त पशुओं का यूप साधारण अर्थात् सभी के लिए एक होता है, वैसे ही यह स्वरु भी साधारण सभी के लिए एक ही होना उचित है। यूप के छेदन के समय स्वरु का उद्भव होता है तथा स्वरु प्रथम टुकड़े को ही कहा जाता है॥ ९॥

**( २४७२ ) सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—**च = और, सोमान्ते = सवनत्रय के अन्त में, प्रतिपत्तिदर्शनात् = स्वरु की प्रतिपत्ति का दर्शन होने से।

**व्याख्या—** पुनः आचार्य उक्त पक्ष को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'संस्थिते सोमे प्रस्तरं स्वरुं च प्रहरति' सुबोधिनी नामक जैमिनि सूत्र वृत्ति में उक्त वाक्य का उल्लेख प्राप्त होता है। तीन सवन पूरे होने के

बाद प्रस्तर और स्वरु का प्रहरण किया जाता है। सूत्र वृत्ति का एक और प्रमाण इस प्रकार मिलता है- 'यदि भेदेन स्वरुः अग्नीषोमीयान्त एव प्रहरणं स्यादिति' अर्थात् जो भेद से स्वरु हो, तो अग्नीषोमीय के अन्त में ही ग्रहणीय होता है। अतः स्वरु साधारण अर्थात् सभी के लिए एक ही होता है॥ १०॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्षी की आशङ्का ( आक्षेप ) व्यक्त करते हैं—**

**( २४७३ ) तत्कालो वा प्रस्तरवत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तत्कालः = वही काल है, प्रस्तरवत् = प्रस्तर के समान।

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार प्रस्तर के प्रहरण में सोमान्त काल है, उसी प्रकार स्वरु का भी वही काल है। अर्थात् स्वरु की अवधि उतने काल तक ही होती है॥ ११॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त पूर्वपक्षी की आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४७४ ) न वोत्पत्तिवाक्यत्वात्प्रदेशात्प्रस्तरे तथा॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, न = नहीं, उत्पत्तिवाक्यत्वात् = उत्पत्ति वाक्य होने से, प्रदेशात् = दर्शपूर्णमास प्रदेश में से, प्रस्तरे तथा = प्रस्तर प्रहरण का काल विधान प्राप्त है।

**व्याख्या—** समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऊपर किया गया कथन उचित नहीं है। उत्पत्ति वाक्य होने के कारण दर्शपौर्णमास में प्रस्तर प्रहरण काल का विधान निश्चित होता है। स्वरु प्रहरण का निश्चित नहीं होता। उसकी उत्पत्ति तो 'संस्थिते सोमे प्रस्तरे स्वरुं च प्रहरति' इस एक वाक्यांश के द्वारा ही होती है। प्रस्तर का जो काल विधान है, वह तो दर्शपूर्णमास में से अतिदेश शास्त्र द्वारा प्राप्तव्य है। अतः स्वरु साधारण (सभी के लिए) है॥ १२॥

**द्वादशाह में कृष्ण विषाण प्रासन के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( २४७५ ) अहर्गणे विषाणप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** अहर्गणे = अहर्गणसाध्य याग में, विषाणप्रासनम् = विषाण त्यागने के, धर्म विप्रतिषेधः = धर्म का लोप होने से, अन्त्ये प्रथमे अहनि वा = प्रथम दिवस अथवा अन्तिम दिवस में, विकल्पः स्यात् = प्रासन (त्याग) का विकल्प है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि अहर्गण याग में खुजलाने के लिए प्रयुक्त होने वाले काले सींग को प्रथम या अन्तिम दिवस में विकल्प से फेंका जा सकता है। दोनों पक्षों में धर्म का लोप नहीं होता है, ज्योतिष्टोम में दक्षिणा प्रदान करने के बाद चात्वाल में कृष्ण विषाण (काले सींग) का प्रासन (दे देना) होता है। यह कर्म प्रथम दिन में या फिर अन्तिम दिन में करने का विकल्प है॥ १३॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष के मत को सिद्धान्त पक्ष से बतलाते हैं—**

**( २४७६ ) पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** पाणेः तु अश्रुतिभूतत्वात् = हाथ द्वारा कण्डूयन का श्रुति कथन न होने से अङ्ग का लोप नहीं होता, प्रातः सवनमध्यत्वात् = प्रातः सवन, शिष्टे च = और अन्य समय में, अभिप्रवृत्तत्वात् = दक्षिणा दान के बाद, विषाणानियमः = विषाण प्रासन का नियम, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि विषाण प्रासन अर्थात् सींग फेंकने में विकल्प नहीं है। सींग सभी दिनों में अपने पास ही रहना उचित है; क्योंकि याग के बीच में निश्चित कालों में सींग से कण्डूयन

(खुजलाना) करना होगा। हाथ द्वारा कण्डूयन करने का विधान नहीं है। अत: दक्षिणा दान के उपरान्त अन्तिम दिवस के मध्याह्न में सींग को फेंकने का नियम है॥ १४॥

**अन्तिम हविष्कृत् काल में वाग्विसर्ग के विधान को दो सूत्रों में आचार्य स्पष्ट करते हैं—**

**( २४७७ ) वाग्विसर्गो हविष्कृता बीजभेदे तथा स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** हविष्कृता = हविष्कृत यजमान में, वाग्विसर्ग: = वाणी का विसर्ग करना (अर्थात् मौन तोड़ना), बीजभेदे = पृथक्-पृथक् बीज भेद वाली दृष्टि, तथा स्यात्= के अनुसार होती है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'नाना बीजेष्टि' अर्थात् जिन राजसूय यज्ञों में विभिन्न प्रकार के बीजों का प्रयोग होता है; उनमें उत्तर हविष्कृत् अंतिम बार बीज कूटने वाले हविष्कृत् नामक यजमान को बुलाने के उपरान्त वाग्विसर्ग करना अर्थात् वाणी का मौन तोड़ना चाहिए॥ १५॥

**( २४७८ ) पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** पशौ च पुरोडाशे = पशु का दान करते समय पुरोडाश के समय में, समान तन्त्रं भवेत् = समान तंत्र होना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि आगे इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग के समय में पशु एवं पुरोडाश- इन दोनों का समान तंत्र है। पशु के दान करने के समय और पुरोडाश के समय मौन सेवन करना चाहिए॥ १६॥

**'अग्निचयन में अग्नि विमोक प्रधान कर्म की समाप्ति के समय करना चाहिए।' इस प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४७९ ) अग्निसंयोग: सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मण: परेषु साङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे विमोक: स्यात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** सोमकाले अग्निसंयोग: = सोम के समय जो 'अग्निं संयोग अग्नि युनिज्म' इत्यादि हवन किया जाता है, साङ्गस्य = वह अंग के सहित प्रधान के लिए है, संस्कृत कर्मण: = इस आहुति द्वारा संस्कारित हुआ अग्नि, तदर्थत्वात् = अंगों के लिए भी होने से, परेषु=पीछे के अग्नि कार्य हेतु भी है, तस्मात् = अत: उससे, सर्वापवर्गे = सर्वकर्म होने के उपरान्त, विमोक: स्यात् = विमोक होता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अग्निसंयोग सोमकाल में सर्वकर्म होने के बाद में विमोक होता है। 'अग्निं युनिज्म' इत्यादि मन्त्र द्वारा जो हवन होता है, उसे योग कहते हैं तथा 'इमं स्तनम्' आदि मन्त्र द्वारा जो होम होता है, उसे विमोक कहते हैं। यह विमोकाहुति प्रधान एवम् अङ्ग कर्मों के बाद में देना चाहिए, क्योंकि योग नामक हवन सभी के लिए होता है। इससे जिन लोगों के लिए योग हुआ है, उनकी समाप्ति के बाद ही अग्नि विमोक करना चाहिए॥ १७॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त प्रकरण को सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं—**

**( २४८० ) प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तदर्थत्वात् = वैसा ही उद्देश्य होने से, प्रधानापवर्गे = प्रधान कर्म के अंत में अपवर्ग आहुति देनी चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अग्निविमोक कर्म प्रत्येक प्रधान कर्म के उपरान्त होना चाहिए, प्रधान कर्म हेतु ही योग रूपी कर्म होता है। अत: प्रधान कर्म सम्पन्न होने के पश्चात् तत्क्षण ही 'इमं स्तनं' इत्यादि मन्त्र से अग्निविमोक नामक आहुति प्रदान करनी चाहिए॥ १८॥

**( २४८१ ) अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तद्वत् = इसी प्रकार से, अपवृक्तार्थत्वात् = अपवर्ग के लिए होने से, अवभृथे = अवभृथ में, प्रधानार्थस्य = प्रधान के लिए होने से, प्रतिषेध: = होता के वरण का प्रतिषेध सार्थक होता है।

**व्याख्या—** उक्त प्रकरण को और आगे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि ऐसे ही अवभृथ में तद्वत् अपवृक्तार्थत्व के होने से प्रधान याग का प्रतिषेध कर देना चाहिए, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति तो पूर्व में ही हो जाती है। अत: वहाँ पर प्राकृत होत्र वरण की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती। इसलिए प्रधान अपवर्ग के अन्त में ही विमोक सिद्ध होता है। अवभृथ में 'अवभृथे न होतारं वृणीते' इस वरण का प्रतिषेध जो कि सांग प्रधान हेतु है। उसी तरह योग हवन भी प्रधान कर्म के लिए उचित है। अत: विमोक भी प्रधान कर्म के पश्चात् ही होना चाहिए॥ १९॥

## ( २४८२ ) अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** अहर्गणे = द्वादशरात्रादि में, च = और, तदर्थत्वात् = प्रधान के लिए ही होने से, प्रत्यहं स्यात् = प्रतिदिन योग और विमोक रूप कर्म श्रुति से होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि अहर्गण द्वादशाह में तो प्रतिदिन अग्निसंयोग और अग्नि विमोक करने होते हैं, क्योंकि वहाँ पर तदर्थत्व है अर्थात् वह प्रधान के लिए होता है। इसलिए उसमें सर्वापवर्ग होता है। द्वादशादि अहर्गण याग में प्रत्येक दिन याग और विमोक रूप होम कार्य श्रुति बतलाती है। 'अहरहयुनक्ति अहरहर्विमुञ्चति' इत्यादि जो सर्वार्थ योग होता, तो सर्व के अंत में विमोक होता, किन्तु इसके बाद प्रत्येक दिन योग और विमोक का विधान करने का क्या कारण रहता है? इसलिए प्रधान के लिए ही योग है। अत: विमोक भी प्रधान के पश्चात् ही करना चाहिए॥ २०॥

**'उपसत्कालीन सुब्रह्मण्याह्वान तन्त्र द्वारा अनुष्ठित होता है।' इस प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २४८३ ) सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** तु = तो (निश्चय ही), सुब्रह्मण्या = सुब्रह्मण्याह्वान, दीक्षावत् = दीक्षा की भाँति, अन्यकालत्वात् = अन्यकालिक होने से, तन्त्रम् = तन्त्र द्वारा होता है।

**व्याख्या—** द्वादशाह में उपसद् के समय में सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्र भाव है। वह एक बार ही दीक्षा की भाँति होना चाहिए, जिस प्रकार से दीक्षा पृथक् काल से तन्त्र है, उसी प्रकार में सुब्रह्मण्या भी अन्य कालत्व होने से तन्त्र द्वारा ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए॥ २१॥

**प्रकरण को सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं—**

## ( २४८४ ) तत्कालात्त्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात्॥ २२॥

**सूत्रार्थ—** विशेष संयोगात् = विशेष पद का संयोग होने से, प्रयोगत: = अद्य शब्द को प्रयोग होने से, तत्कालात् तु आवर्तेत = सुत्याकालिक सुब्रह्मण्याह्वान की आवृत्ति है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि सुत्याकाल में जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है। उसमें तन्त्र भाव नहीं है, विशिष्ट पद 'अद्य' का संयोग होने के कारण उसकी आवृत्ति बारम्बार करनी होती है। 'अद्य सुत्यामागच्छ' इस प्रयोग में 'अद्य' नामक विशेष पद का संयोग सम्बन्ध होने से सुब्रह्मण्याह्वान् भेद द्वारा अनुष्ठित होता है॥ २२॥

**अगले सूत्र में आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

## ( २४८५ ) अप्रयोगाङ्गमिति चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ—** अप्रयोगाङ्गम् = यह शब्द प्रयोग का अंग नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो।

**व्याख्या—** आशङ्का यह है कि प्रयोग के निर्देश होने से भेद होता है, फिर भी 'अद्य' शब्द का अर्थ विवक्षित

नहीं है, तब भी जिस दिन या काल में प्रयुक्त किया जाता है, वह उस प्रधान काल का उपकारक होता है। अत: अद्य शब्द अप्रयोगाङ्ग है॥ २३॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४८६ ) स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृभेदवत्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** स्यात् = प्रयोग का अंग है, प्रयोग निर्देशात् = प्रयोग में इसका निर्देश हुआ है, कर्तृभेदवत् = इसलिए कर्त्ता के भेद के समान है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'अद्य' शब्द प्रयोग का अङ्ग ही है। जिस प्रकार वरुणप्रघास में आहवनीय में मारुती याग का सम्भव होने पर भी अदृष्टार्थ दक्षिण वेदी रूप देश के भेद से कर्त्ता गणों में भेद कहा गया है, वैसे ही उसमें यहाँ पर भी भेद भेदवत् ही है। अत: अनुष्ठान अर्थात् सुब्रह्मण्याह्वान होना उचित है॥ २४॥

**( २४८७ ) तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेदपवर्गस्तदर्थत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** अग्निवत् =आवाहित अग्नि की तरह, तद्भूतस्थानात् = आवाहित रूप देवता सर्वार्थ है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो इसका समाधान यह है कि, अपवर्ग: तदर्थत्वात्=उसका आह्वान उस दिन के लिए होता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार एक बार आधान द्वारा संस्कृत की हुई अग्नि सभी के लिए होती है। उसी प्रकार जिसका संस्कार एक बार हो चुका है, उस देवता का पुन: आह्वान नहीं होता। यदि ऐसा कहें, तो उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जिस कर्म में आह्वान किया जाता है, उसी के लिए ही वह होता है, उसी से प्रधान कर्म में अग्नि विमोक होता है। अत: भेद से अनुष्ठान होता है और इसी से आवृत्ति (दुबारा आवाहन किया जाना) सिद्ध होती है॥ २५॥

**अगले सूत्र में उपर्युक्त कथन पर आक्षेप व्यक्त किया जा रहा है—**

**( २४८८ ) अग्निवदिति चेत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** अग्निवत् = अग्नि के तुल्य तन्त्र है, वैसे ही यहाँ पर भी है, इति चेत् = यदि इस प्रकार कहें, तो?

**व्याख्या—** आक्षेप यह है कि यदि आप अग्नि सन्मार्ग का दृष्टान्त प्रस्तुत करें, तो हम आहवनीय अग्नि का दृष्टान्त तन्त्र के लिए प्रस्तुत करेंगे। अत: इस आक्षेप कथन का समाधान नहीं होगा॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त आक्षेप कथन का समाधान सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २४८९ ) न प्रयोगसाधारण्यात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** न = आधान तुल्य नहीं है, प्रयोगसाधारण्यात् = क्योंकि आधान तो प्रयोगान्त है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि ऊपर व्यक्त किया आक्षेप कथन उचित नहीं है; अग्नि का आधान तो प्रयोगान्तर्गत होने के कारण ही इसके साथ समानता नहीं हो सकती। अत: सुब्रह्मण्याधान के साथ उसकी समानता नहीं है॥ २७॥

**( २४९० ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्य का श्रवण होने से भी उक्त भाव प्रकट होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'संस्थिते संस्थिते अहनि आग्नीध्रागारं प्रविश्य सुब्रह्मण्ये सुब्रह्मण्यामाह्वयेति।' यह लिङ्ग वाक्य भी प्रत्येक दिन प्रैष का विधान बतलाता है। इस भेद से भी अनुष्ठान करने में कारण कहा गया है॥ २८॥

**अगले सूत्र में प्रतिपक्षी की पुन: आशङ्का है—**

**( २४९१ ) तद्धि तथेति चेत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** तद् हि तथा = यूपाहुति की तरह यह तन्त्र भी है, इति चेत् = यदि इस प्रकार कहें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि एकादश यूपों में से किसी भी एक यूप के समीप में जाकर देने की जरूरत नहीं है। यह दृष्टान्त जैसे यूपाहुति रूप कर्म तन्त्र है। वैसे ही सुब्रह्मण्याह्वान भी तन्त्र ही है, अर्थात् यह एक ही बार होता है। यदि इस प्रकार से कहें, तो? ॥ २९ ॥

**उक्त आशङ्का का समाधान आचार्य अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४९२ ) नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वात्॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, अशिष्टत्वात् = विहित न होने के कारण, इतरन्यायत्वात् = इतर न्याय ही उचित है।

**व्याख्या—** समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यूप-आहुति में देश का सामीप्य विहित नहीं होता है। यहाँ पर तो केवल आह्वनीय के प्रतिषेध में ही इसका तात्पर्य है, ऐसा आगे बतलाया गया है। इस विषय में यहाँ इतर अग्नि-संस्कार-न्याय ही उपयुक्त है॥ ३० ॥

**अगले सूत्र में पुनः पूर्वपक्ष की शङ्का प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४९३ ) विध्येकत्वादिति चेत्॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ—** विध्येकत्वात् = एक विधि होने से, इति चेत् = यदि ऐसा मानने में आये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि विधि विहित 'वसतीवर्यादिसंभरणादीनाम् एकत्वात् वसतीवर्यादि' वाक्य में जिस प्रकार से एकत्व है, उसी तरह यहाँ भी एकत्व मानना चाहिए, क्योंकि द्वादशाहिक विधि तन्त्र दृष्ट है तथा यह भी द्वादशाहिक विधि है। अतः विधि के सादृश्य होने से इसे भी वैसा ही होना चाहिए॥ ३१ ॥

**अगले सूत्र में उक्त आक्षेप-आशङ्का का समाधान करते हैं—**

**( २४९४ ) न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत्॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् = सोमाभिषवादि समग्र का पुनः प्रयोग होने से, प्रधानवत् = प्रधान के तुल्य-समान है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार से प्रधान कर्म प्रत्येक दिन सम्पन्न किये जाते हैं, उसी प्रकार से सोमाभिषव आदि अन्य समस्त विधियाँ भी फिर से आरम्भ की जाती हैं, अतः तन्त्र नहीं है। वसतीवरी संभरण आदि तो सुत्यादिवस से पूर्व अनुष्ठेय होता है, अतः पृथक् काल होने से तन्त्र संभव है; किन्तु यह तो प्रधान कालीन होने के कारण तन्त्र नहीं है। इसलिए प्रधानवत् ही सुब्रह्मण्याह्वान का भी भेद द्वारा ही अनुष्ठान होना संभव है॥ ३२ ॥

**देश, पात्र एवं ऋत्विजों के अन्य प्रयोग का आदान प्रकरण को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

**( २४९५ ) लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात्॥ ३३ ॥**

**सूत्रार्थ—** लौकिकेषु = देश, पात्र एवं कर्त्ता आदि का यज्ञ में पुनः प्रयोग के सन्दर्भ में, यथाकामी = इच्छा ही नियामिका है (क्योंकि), संस्कारानर्थलोपात् = संस्कारों के प्रयोजन का लोप नहीं होता।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि लौकिक पदार्थों (देश, पात्र एवं कर्त्ता) के सम्बन्ध में तो कोई भी नियम नहीं होता है। उनका अपनी इच्छा द्वारा या फिर अन्य उपादेय द्वारा उपयोग किया जा संकता है। पूर्व कर्म में कर्त्ता आदि का कोई भी संस्कार कृत नहीं होता तथा दूसरों के द्वारा भी इसका प्रयोग नहीं कराया जा सकता है; किन्तु यज्ञादि कार्यों के लिए उन्हीं देश, पात्र एवं ऋत्विजों का उपयोग यदि करना चाहें, तो कर सकते हैं ॥३३ ॥

**'यज्ञपात्रों को अग्निहोत्री द्वारा जीवनपर्यन्त धारण किये रहना चाहिए।' इस सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—**

**( २४९६ ) यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** यज्ञायुधानि = यज्ञपात्र, धार्येरन्=आमरणान्त धारण करने चाहिए, ऋजीषवत् = ऋजीष के समान, प्रतिपत्तिविधानात् = उनकी प्रतिपत्ति अग्निहोत्री की मृत्यु के समय होती है।

**व्याख्या—** आचार्य सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अग्निहोत्री द्वारा यज्ञ के पात्रों को जीवनपर्यन्त धारण करना चाहिए; क्योंकि ऋजीष (सार-विहीन सोम) की तरह से परिधानीय कर्म में उनकी प्रतिपत्ति का विधान है। 'आहिताग्निमग्नि- भिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च अर्थात् मृत्यु को प्राप्त आहिताग्नि को अग्नि द्वारा यज्ञपात्र सहित दग्ध करते हैं। अहर्गणों में सभी दिवसों का ऋजीष रखने में आता है तथा बाद में अवभृथ के समय उसे जल में डाला जाता है, उसी प्रकार जीवनपर्यन्त यज्ञपात्र धारण करना एवं मृत्युकाल में आहिताग्नि के शव के साथ भस्म कर देना ही ठीक है॥ ३४॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त प्रकरण के विषय में पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( २४९७ ) यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यजमान संस्कारः = पात्र यजमान के अकरण होने से, तदर्थः = वे यजमान के लिए हैं, तदर्थत्वात् = वह यजमान के लिए होने से, तत्र = पात्र धारण करने में, यथाकामी=यजमान की इच्छा नियामक है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि यज्ञ पात्र यजमान के संस्कार हेतु हैं। उसके लिए होने से पात्र-धारण में यजमान की इच्छा नियामक है। अतः जो पहले प्रयोग पर पात्रों का परित्याग करें, तो अंतिम यज्ञ में प्रयुक्त अन्य पात्रों से भी यजमान का अन्त्येष्टि संस्कार हो सकता है॥ ३५॥

**अगले सूत्र में उक्त प्रकरण के सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २४९८ ) मुख्यस्य धारणं वा मरणस्यानियतत्वात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, मरणस्य अनियतत्वात् = मृत्यु का काल नियत न होने से, मुख्यस्यधारणम् = आद्यपात्रों को ही धारण किये रखना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि मुख्य अथवा आद्य पात्र को धारण किये रहना चाहिए; क्योंकि मृत्यु की कोई समय सीमा नियत नहीं रहती। पात्रों का परित्याग कर दिया हो तथा उसके पश्चात् यजमान की मृत्यु हो जाये, तो बिना पात्र अन्त्येष्टि करने से यजमान के देह के संस्कार विलुप्त हो जाते हैं। इसलिए मुख्य पात्रों को धारण किये रहना ही उचित है॥ ३६॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप व्यक्त करते हैं—**

**( २४९९ ) यो वा यजनीयेऽहनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यः = जो यजमान, यजनीये अहनि = यज्ञ के दिन, म्रियेत = मृत्यु को प्राप्त हो जाये, तो, उपवेषवत् = जैसे सांनाय्ययाजी को ही उपवेषोपधान का अधिकार है, स अधिकृतः स्यात् = वह संस्कार के लिए अधिकारी है, क्योंकि उसके पात्र सन्निहित हैं।

**व्याख्या—** आक्षेपकर्त्ता कहते हैं कि जो सांनाय्ययाजी होता है, उसे उपवेषोपधान का अधिकार होता है, इसी तरह से जो यजमान यज्ञ के दिनों में मृत्यु को प्राप्त हो जाये, तो उसके शरीर का उसके पात्रों के साथ अन्त्येष्टि संस्कार अवश्य करना चाहिए; क्योंकि उस समय पात्र तैयार होते हैं॥ ३७॥

**अगले सूत्र में उक्त आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५०० ) न वा शास्त्रलक्षणत्वात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** शास्त्रलक्षणत्वात् = शास्त्र लक्षण के अनुसार, न वा = ऐसा नहीं है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि उपवेष का दृष्टान्त यहाँ उचित नहीं है; क्योंकि जो सांनाय्य यज्ञ न करे, उसे उपवेष होना सम्भव नहीं है। यहाँ तो आहिताग्नि के मृत शरीर का यज्ञपात्रों के साथ संस्कार करना पड़ता है तथा पात्र होने की पूरी संभावना रहती है। अत: मृत्युपर्यन्त पात्र धारण किये रहना उचित होता है॥ ३८॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्ष प्रकारान्तर से उक्त प्रकरण में अपना तर्क देते हैं—**

## ( २५०१ ) उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत्॥ ३९॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, आशिरवत् = आशिर के लिए नवीन गाय के दोहन की तरह, प्रयोजकत्वात् = अन्त्येष्टि संस्कार के वे प्रयोजक होने के कारण, उत्पत्तिः = मृत्यु समय नवीन पात्र विनिर्मित करे।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि जैसे आशिर के लिए नवीन गौ का दोहन किया जाता है, वैसे ही संस्कार के प्रयोजक होने से मृत्यु के समय अन्य नये पात्र निर्माण करके भी उसके मृत शरीर का संस्कार हो सकता है, तो बाद में पात्र धारण कर रखने की कोई आवश्यकता नहीं है॥ ३९॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के उक्त कथन पर आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

## ( २५०२ ) शब्दासामञ्जस्यमिति चेत्॥ ४०॥

**सूत्रार्थ—** शब्दासामञ्जस्यम् = शब्द में असामञ्जस्य होगा, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का करें, तो?

**व्याख्या—** आशङ्का व्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि नवीन पात्रों का यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अत: शब्द में सामञ्जस्य उत्पन्न नहीं होता। इस कारण यज्ञपात्र धारण किये रखना जरूरी होता है, यदि ऐसा कहें, तो?॥ ४०॥

## ( २५०३ ) तथाऽऽशिरे॥ ४१॥

**सूत्रार्थ—** तथा = इस प्रकार, आशिरे = आशिर के विषय में भी समझना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि आशिर में भी जो दुहने के लिए अन्य नवीन गाय ली जाती है, वह गाय यजमान की व्रतधुक् (व्रत में दुही जाने वाली) नहीं कहलाती है। उसी तरह से ही यहाँ पर नये पात्र कहे गये हैं, वे यज्ञ से सम्बन्ध प्राप्त किये बिना यज्ञपात्र नहीं कहे जा सकते हैं॥ ४१॥

**अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त सभी आशङ्काओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २५०४ ) शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद् भूतोपदेशः॥ ४२॥

**सूत्रार्थ—** शास्त्रात् = 'घृत व्रतौ भवतः' इस शास्त्र वचन से, तु = तो, विप्रयोगः = (यहाँ) शब्द का असामञ्जस्य है, तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा = वहाँ-गाय के दूध दुहने और आशिर के क्रम में, प्रकृतौ अथ इह = प्रकृति भूत इस ज्योतिष्टोम में, अपूर्वार्थवत् = अपूर्व अर्थ की विधि की भाँति, भूतोपदेशः = यज्ञ सम्बन्धी पात्र का उपदेश है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि वहाँ आशिर प्रकरण का क्रम यहाँ मानने से शब्द का असामञ्जस्य है। प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में गौ के द्रव्य अर्थात् दुग्ध को यजमान की इच्छा के कारण आशिर में दोहन करते हैं, किन्तु यहाँ अपूर्व अर्थ की विधि से यहाँ पर आहिताग्नि की मृत देह के संस्कार में तो यज्ञपात्र ही उचित हैं, नये पात्र काम में नहीं आते। इसलिए इस प्रकरण में तो यज्ञ पात्रों को ही धारण करना चाहिए॥ ४२॥

**जब से अग्न्याधान हुआ, तभी से पात्रों को धारण करना चाहिए। इस अधिकरण (प्रकरण) को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

## ( २५०५ ) प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** प्रकृत्यर्थत्वात् = ये पात्र अनारभ्याधीन होने के कारण, पौर्णमास्याः क्रियेरन् = पौर्णमासी से प्रारम्भ करके ही धारण करने चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी कहते हैं कि जिस दिन से अग्नि का आधान किया गया हो, उस दिन से प्रारम्भ करके नहीं, वरन् पौर्णमासी से धारण करने चाहिए। प्रकृत्यर्थत्व होने के कारण पौर्णमासी से शुरू करके ही ये यज्ञपात्र धारण करने के योग्य होते हैं॥ ४३॥

**उक्त प्रकरण को अब आचार्य अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष से स्पष्ट करते हैं—**

**( २५०६ ) अग्न्याधेये वाऽविप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अविप्रतिषेधात् = कोई बाधक न होने से भी, अग्न्याधेये = अग्न्याधान के समय से ही, तानि धारयेत् = उसे धारण किये रहना चाहिए, मरणस्य अनिमित्तत्वात् = मरण काल अनिश्चित होने से।

**व्याख्या-** सूत्रकार कहते हैं कि यज्ञपात्र पौर्णमास याग के लिए ही होते हैं, किन्तु मृत्यु का समय अनिश्चित होने से उन पात्रों को अग्न्याधान से ही धारण करना चाहिए; क्योंकि इसका कोई प्रतिषेध नहीं होता। यदि ऐसा न करें, तो पूर्णिमा के पूर्व यदि यजमान की मृत्यु हो जाये, तो यजमान की मृत देह का संस्कार नहीं हो सकता॥ ४४॥

**( २५०७ ) प्रतिपत्तिर्वा यथान्येषाम्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यथान्येषाम् = अन्य पात्रों के समान यज्ञ पात्रों का, वा = भी, प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति रूप संस्कार है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जैसे जल में उनका प्रतिपत्ति नामक संस्कार होता है, वैसे ही यज्ञ पात्रों का भी आहिताग्नि की मृत देह के साथ अग्नि में संस्कार होता है। 'दक्षिणे पाणौ जुहूमासादयति' अर्थात् मृतदेह के साथ यज्ञपात्र रखने की भी विधि बतलायी गयी है। यजमान की देह के साथ पात्रों का जो निक्षेप है, उसे ही प्रतिपत्ति कहते हैं॥ ४५॥

**वाजपेय में सर्व-सोमों का अनुष्ठान होने के पश्चात् प्राजापत्य प्रचार होता है। इस अधिकरण ( प्रकरण ) की पुष्टि हेतु सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५०८ ) उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि प्रकृतिकालः॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** सोमानाम् = सभी सोमों का, उपरिष्टात् = अनुष्ठान होने के पीछे, प्राजापत्यैःचरन्ति इति = प्राजापत्य आहुतियाँ होती हैं, हि = क्योंकि, सर्वेषाम् अविशेषात् = सबके बाद के अतिरिक्त कोई विशेष निर्देश नहीं है, प्रकृतिकालः = आर्भव पवमान काल, अवाच्यः = आनुमानिक है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'उपरिष्टात् सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस प्रत्यक्ष वचन के अनुसार वाजपेय याग में प्राजापत्याहुतियों को सभी सोम आहुतियों के बाद में देना चाहिए; क्योंकि कोई विशेष निर्देश नहीं है। तृतीय सवन में सर्वसोमों का अनुष्ठान होने के पश्चात् प्राजापत्य के अङ्गों का प्रचार होता है॥ ४६॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन के सन्दर्भ में आशङ्का व्यक्त की जा रही है—**

**( २५०९ ) अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** विना वचनात् = यदि ऐसा मानने में आये तो वचन के बिना, अंग विपर्यासः = क्रम का बाध (विकार) होगा, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'अग्निमरुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति इति प्रहृत्य परिधीन् हारियोजनम् इति।' इस वाक्य में जो क्रम कहा गया है, उसका यहाँ पर बाध होता है। अतः कोई निर्देश प्राप्त न होने से क्रम का बाध होता है, यदि ऐसा कहें,तो ?॥ ४७॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५१० ) उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** उत्कर्षः = अनुयाज एवं परिधि प्रकरण सम्बन्धी उत्कर्ष का, संयोगात् = पशु प्रचार के साथ सम्बन्ध होने से, इतरत्र = अन्य स्थान पर, कालमात्रम् = एक मात्र केवल काल का बोधक है।

**व्याख्या—** समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि संयोग होने के कारण परिधि प्रहरण का उत्कर्ष न्याय है, दूसरी जगह पर तो केवल काल मात्र का ही बोध होता है। जैसे अग्निहोत्र वेला में यदि अग्निहोत्र नहीं है, तो भी वेला अव्यतीत होती है। पशु प्रचार का उत्कर्ष होने से अनुयाज और परिधि प्रहरण का भी उत्कर्ष करना चाहिए। 'अग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति परिवृत्य परिधीन् जुहोति।' इस सूत्र- वाक्य द्वारा तो केवल काल मात्र की सूचना प्राप्त होती है॥ ४८॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन के विषय में आक्षेप-आशङ्का व्यक्त करते हैं—**

**( २५११ ) प्रकृतिकालासत्तेः शस्त्रवतामिति चेत्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिकालासत्तेः = प्रकृतिकाल की आवृत्ति होने से, शस्त्रवताम् = शस्त्रवत् (स्तुति करने वालों का) प्रचार होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो ?

**व्याख्या—** प्रतिपक्षी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहता है कि प्रकृति काल की समीपता होने से शस्त्र सोमों का ही उपरिष्टात् प्रचार युक्त होता है। शस्त्र (स्तोत्र) वाले सोमों का ही उपरिष्टात् प्रचार उचित है; क्योंकि प्राकृत काल की समीपता में स्तुति करने वालों का कृत प्रचार होता है। प्रकृति काल की प्राप्ति न होने पर भी उसके सामीप्य की प्राप्ति तो होती ही है। यदि ऐसा कहें,तो ?॥ ४९॥

**अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५१२ ) न श्रुतिप्रतिषेधात्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिप्रतिषेधात् = श्रुति का बाध न होने से, न = ऐसा नहीं।

**व्याख्या—** सूत्रकार उक्त आशङ्का का समाधान देते हुए कहते हैं कि श्रुति का बाध होने के कारण ऊपर किया गया कथन उचित नहीं है। शाबर भाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार से मिलता है कि अविशेष से श्रुत हुए काल का बाध (विकार) होने से 'शस्त्रवतां सोमानमुपरिष्टात् प्रचारो मुक्तः' अर्थात् शस्त्र सोमों का पीछे से अर्थात् बाद में प्रचार होना ही उचित है॥ ५०॥

**अगले सूत्र में पुनः आक्षेप करते हैं—**

**( २५१३ ) विकारस्थान इति चेत्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ—** विकारस्थाने = विकार के स्थान में प्रचार होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का हो, तो ?

**व्याख्या—** प्रतिपक्षी की आशङ्का व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहें- विकार स्थान अर्थात् उक्थ्य में प्रचार होना उचित है, तो उक्थ्यादि संस्थाएँ अग्निष्टोम संस्था की विकार हैं और उनके स्थान पर 'अग्निष्टोम प्रचारादूर्ध्वं तत्र प्रचारो भवतु' ऐसा प्रचार होना ठीक है॥ ५१॥

**अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५१४ ) न चोदनापृथक्त्वात्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ**—चोदनापृथक्त्वात् = भिन्न-भिन्न कर्म होने के कारण, न = ऐसी आशङ्का करना उचित नहीं है।

**व्याख्या**—सूत्रकार कहते हैं कि सोमयाग एवं पशु प्रचार दोनों कर्म पृथक्-पृथक् होते हैं। ये दोनों कर्म स्वतंत्र हैं। इनमें प्रकृति एवं विकृति के स्थान पर प्रचार होना चाहिए। अतः पूर्व सूत्र में की गई आशङ्का उचित नहीं है॥ ५२॥

**सवनीय पुरोडाश में देवता का उत्कर्ष होता है। इस प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५१५ ) उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा निष्कर्षेऽनन्वयः॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ**— सूक्तवाकस्य उत्कर्षे = सूक्तवाक् के उत्कर्ष में, सोमदेवतानाम् उत्कर्षः = सोम देवता का उत्कर्ष, न = नहीं होता है, यथा=जैसे, पश्वनङ्गत्वात् = पशु के अङ्ग न होने से, निष्कर्षे अनन्वयः = निष्कर्ष में अनन्वय है।

**व्याख्या**— आचार्य पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सूक्तवाक् के उत्कर्ष में सोम देवों का उत्कर्ष नहीं होता; क्योंकि वे पशुयाग के अङ्ग नहीं हैं। जैसे कि पौर्णमासी देवों के निष्कर्ष में अमावास्या-देवों का अनन्वय होता है, वैसे ही यहाँ पर भी लागू होता है॥ ५३॥

**अगले सूत्र में आचार्य पूर्वपक्ष के कथन को सिद्धान्त पक्ष द्वारा स्पष्ट करते हुए तृतीय पाद को सम्पन्न करते हैं—**



**( २५१६ ) वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, वाक्य संयोगात् उत्कर्षः = वाक्य के संयोग से देवों का उत्कर्ष होता है, समानतन्त्रत्वात् = समान तन्त्र होने तथा, अर्थलोपात् = अर्थ का लोप होने से, अनन्वयः = अनन्वय होता है।

**व्याख्या**— समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि सूक्तवाक् वाक्य में देवता का भी संयोग होने के कारण उत्कर्ष होता है। दर्शपूर्णमास का प्रयोग पाठ समान तन्त्र द्वारा करने में प्रयुक्त हुआ है। अतः एक वाक्य में सभी देवों का पाठ है। अमावास्या और पौर्णमासी में काल भेद होने के कारण अनुष्ठान करने में इष्टदेव के स्मरणरूप कार्य का लोप होने से उस प्रयोग में अन्य का अनन्वय होना उचित है; किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं होता है। शाबर भाष्य में इसका विस्तार से उल्लेख मिलता है॥ ५४॥

## ॥ इति एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

# ॥ अथ एकादशाध्याये चतुर्थ पादः ॥

**राजसूय यज्ञ में आग्नावैष्णवादिक में अङ्गों के भेद के कारण अनुष्ठान करना होता है। इस अधिकरण (प्रकरण) को स्पष्ट करने हेतु पूर्वपक्ष का कथन करते हैं—**

**( २५१७ ) चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** राजसूये = राजसूय यज्ञ में, अनुक्तदेशकालानाम् = जिनके देश और काल का उल्लेख न किया गया हो, समवायात् = ऐसे अङ्गों के फलोत्पत्ति करने में समवाय अर्थात् संयोग होने से, चोदनैकत्वात् = एक ही नियम-विधान होने के कारण, अङ्गानि = अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र द्वारा अर्थात् एक साथ करना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि राजसूय यज्ञ में समवाय होने से अनुक्त देशकाल प्रधानों के अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र द्वारा होना चाहिए; क्योंकि 'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' यह एक ही विधि है। यह समवाय में हेतु है। अतः फलोत्पत्ति में उन (अङ्गों) का संयोग होता है॥ १॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त सन्दर्भ में सूत्रकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५१८ ) प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि तन्निर्वृत्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रतिदक्षिणं कर्तृसम्बन्धात् = प्रत्येक दक्षिणा से कर्त्ता का सम्बन्ध होने से, इष्टिवत् = इष्टि के समान, अङ्गभूतत्वात् = अङ्गभूत होने से, समुदायो = समुदाय, हि = निश्चय ही, तन्निर्वृत्या = फलोत्पत्ति होने से तथा, तदेकशब्दोपदेशः = उस एक शब्द द्वारा उपदेश किया गया है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रति-दक्षिणा के साथ भिन्न ऋत्विजों का सम्बन्ध है, अतः उन-उन अङ्गों का अनुष्ठान दर्शेष्टि एवं पौर्णमासेष्टि के सदृश भेद द्वारा करना उचित है। अतः अङ्गों की आवृत्ति होनी चाहिए तथा इस भाव से एक विधान बनाया गया है, उसका प्रयोग एक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजसूय याग के अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र द्वारा (एक साथ) नहीं, भेद द्वारा (अलग-अलग) करना चाहिए॥ २॥

**( २५१९ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = इस प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य-इतर अर्थ का भी दर्शन होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि अन्य-दूसरे प्रमाणों अन्यार्थ से भी उक्त भाव की सिद्धि होती है; क्योंकि सांगों का फल-संयोग होता है, एकाकी का दर्शन संयोग नहीं होता है। इस प्रकार से प्रयोगों की भिन्नता होने से अङ्गों के भेद से ही अनुष्ठान होना चाहिए॥ ३॥

**अगले सूत्र में पूर्वपक्षी उक्त कथन पर आक्षेप व्यक्त करते हैं—**

**( २५२० ) अनियमः स्यादिति चेत्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** अनियमः स्यात् = नियम नहीं है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि राजसूय याग में जिस ऋत्विज् का वरण होता है, वही यज्ञ-समाप्ति तक संलग्न रहता है। अतः प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का कोई नियम नहीं होता है। यदि ऐसा कहें, तो?॥ ४॥

**अगले चार सूत्रों में सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष की आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५२१ ) नोपदिष्टत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं, उपदिष्टत्वात् = ऋत्विजों का वरण हुआ होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि ऊपर किया गया कथन उचित नहीं है; क्योंकि समूह-समुदाय के लिए एक ही ऋत्विज् वरण करने का विधान होता है। जो प्रारंभ में वरणीय हैं, वे ही अन्त में भी होते हैं, ऐसा

आदि काल से उपदिष्ट होता रहा है। वरण कर्म प्रवृत्ति से पूर्व ही होता है। यज्ञ के शुरू होते ही सर्वप्रथम ऋत्विजों का वरण होता है तथा जिनका वरण हुआ हो, उन्हें ही यज्ञ की समाप्ति तक सभी यज्ञ कर्म करने चाहिए, ऐसा उपदेश ऋत्विजों को दिया जाता है। अत: वरणीय ऋत्विज् ही होने चाहिए, अन्य और कोई नहीं होना चाहिए॥ ५॥

**आचार्य अगले सूत्र में उक्त कथन को और स्पष्ट करते हैं—**

**( २५२२ ) लाघवापत्तिश्च॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लाघवापत्ति: = ऋत्विजों को एक ही समय में वरण करने के कार्य में लाघव अर्थात् सरलता होती है।

**व्याख्या—** उक्त कथन को आगे और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ऋत्विक् के एक ही समय में एक बार वरण करने से कार्य में लाघव अर्थात् सरलता की भी प्राप्ति होती है। ऋत्विजों के बारम्बार वरण करने की अपेक्षा एक ही बार वरण करने में यत्न लाघव होता है अर्थात् कर्म में प्रवृत्त कराने में विलम्ब नहीं होता है। अत:एक ही ऋत्विज् होना चाहिए॥ ६॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि एक ही प्रयोजन होने से भी ऋत्विज् वरण के योग्य होता है—**

**( २५२३ ) प्रयोजनैकत्वात्॥ ७॥**



**सूत्रार्थ—** प्रयोजनैकत्वात् = एक ही प्रयोजन होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार स्पष्ट करते हैं कि प्रयोजन – उद्देश्य एक होने से भी एक ही बार ऋत्विक् का वरण होना चाहिए। यदि प्रयोजन का एकत्व होने से समुदाय-सम्पत्ति के लिए अवयवों द्वारा परिक्रय एक ही बार करना चाहिए, तो आवृत्ति से कोई लाभ नहीं है। ऋत्विजों के समुदाय में दक्षिणा श्रूयमाण न होने से अवयव की कर्म कराने से समुदाय की आनति अर्थात् कर्म कराने की स्वीकरण रूप सिद्धि होती है; क्योंकि अवयवों की अपेक्षा अन्य कोई अलग समूह नहीं होता॥ ७॥

**उक्त कथन को पुन: अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—**

**( २५२४ ) विशेषार्था च पुन: श्रुति:॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, विशेषार्था = विशेष अर्थ के कथन के लिए, पुन:श्रुति: = पुन: (फिर से) श्रवण होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि पुन: श्रुति अर्थात् फिर से कथन करना विशेष अर्थ दिखलाने के लिए है। यदि ऐसा कथन है, तो विशेष अर्थ वाली पुन: श्रुति होती है तथा परिक्रय विशेष का विधान किया जाता है। अत: प्रति अवयव ही उचित है। अवयव में जो दक्षिणा देने की पुन: श्रुति होती है, वह तो अपूर्व अर्थ के लिए है अर्थात् अलग-अलग ऋत्विज् नहीं होने चाहिए। जो वरण किये गये हैं, उन्हें ही कर्म की समाप्ति तक बने रहना चाहिए। यहाँ इसे ही तन्त्र बतलाया गया है॥ ८॥

**'अवेष्टि में अङ्गों का अनुष्ठान भेद प्रकरण के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५२५ ) अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अवेष्टौ = अवेष्टि नामक इष्टि में, एकतन्त्र्यम् = एक तन्त्र, स्यात् = है, लिङ्गदर्शनात् = एक तन्त्र होने में लिङ्ग वाक्य भी है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कहना है कि अवेष्टि नामक इष्टि में तन्त्र भाव होता है; क्योंकि ऐसे प्रमाण शास्त्र में उपलब्ध होते हैं। राजसूय याग में अवेष्टि नामक पाँच हविष् वाली इष्टियाँ होती हैं। ये पञ्च-यज्ञ तंत्र द्वारा होते

हैं। इनमें लिंग वाक्य इस प्रकार है– बार्हस्पत्य चरु मध्य में रखना चाहिए। एक-एक हविष् का अलग-अलग यज्ञ हो, तो एक के लिए मध्य कथन नहीं हो सकता। इसलिए पञ्च-यज्ञों का सह-अनुष्ठान नहीं होता है॥ ९॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त कथन के सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५२६ ) वचनात्कामसंयोगेन॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन से, कामसंयोगेन = कामना का सम्बन्ध होने से।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि साक्षात् वचन होने से एवं कामना के साथ सम्बन्ध (सूत्र क्र० ११.४.२ के अनुसार) होने से अवेष्टि में तन्त्रभाव नहीं होता। वे सभी पृथक्-पृथक् करने होते हैं। 'एतयैवाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' इस वचन से राजसूय से बहिर्भूत प्रयोग की उपलब्धि होती है। अतः अवेष्टि के अङ्गों का भेद द्वारा अनुष्ठान करना उचित है॥ १०॥

**( २५२७ ) क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** वर्णसंयोगात् = वर्ण का संयोग होने से, क्रत्वर्थायाम् इति चेत् न = यह इष्टि क्रत्वर्थ नहीं है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि यह इष्टि दर्शन क्रत्वर्थता में होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है। राजसूय याग तो राजाओं-क्षत्रियों का ही है,वही कर सकते हैं; किन्तु अवेष्टि को अन्य तीनों वर्ण वाले लोग कर सकते हैं। अतः राजसूय क्रतु के लिए नहीं है और इन इष्टियों का भेद से अनुष्ठान करना पुष्ट होता है॥ ११॥

**अब अगले दो सूत्रों में 'पवमानेष्टि के हविषों के प्रकरण में पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत है—**

**( २५२८ ) पवमानहविःष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोग वचनैकत्वात् = प्रयोग वचन एक होने से, पवमानहविःषु = पवमान हविषों में, ऐकतन्त्र्यम् = एकतन्त्रता है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि पवमान हवियों में प्रयोग वचन एक ही है। 'अह्नो निरूप्याणि' यह वाक्य एक ही प्रयोग निर्दिष्ट करता है, अतः तन्त्र से ही अनुष्ठान सम्भव है॥ १२॥

**( २५२९ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, लिङ्गदर्शनात् = यह लिङ्ग वाक्य के दर्शन होने से भी उक्त कथन उचित है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'समानबर्हींषि भवन्ति'– प्रस्तुत यह लिङ्ग वाक्य भी सह-प्रयोग को प्रकट करता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्र द्वारा ही उक्त हविष् सम्पन्न होता है॥ १३॥

**अगले दो सूत्रों में उक्त सन्दर्भ में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २५३० ) वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् तु= वचन से तो, तन्त्र भेदः = तन्त्र में भेद होता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि वचन के द्वारा तन्त्र में भेद होता है। 'अग्नये पवमानाय' ऐसा कहने के उपरान्त समान बर्हिषि में निर्वाप (दान) करने को कहा गया है। इससे तन्त्र में भेद होता है अर्थात् हविष् का निर्वाप (दान) अलग-अलग करना चाहिए। पहले हविष् में भेद है और उसके बाद की दोनों आहुतियों में तन्त्र होता है। अतः अग्न्याधान में जो तीन हवियाँ दी जाती हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् देना चाहिए॥ १४॥

**( २५३१ ) सहत्वे नित्यानुवादः स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** सहत्वे = सहत्व में, नित्यानुवादः = नित्यानुवाद, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि सहत्व में नित्यानुवाद होता है। जो ब्रह्मवर्चस की इच्छा रखता हो, उसे इस तरह की हविषों-आहुतियों का निर्वाप (दान) करना चाहिए। उक्त कथन में बहुवचन विवक्षित है, अतः यहाँ

पर सह-प्रयोग है तथा बाद की दो हविषों में तन्त्र का प्रयोग किया गया है॥ १५॥

**द्वादशाह में दीक्षोपसत्सुत्या कर्मों के सन्दर्भ में आचार्य अगले तीन सूत्रों में विभिन्न पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५३२ ) द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** द्वादशाहे = द्वादशाह याग में, कर्मपृथक्त्वात् = पृथक्-पृथक् कर्म होने से, तत्प्रकृतित्वात् = ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति यज्ञ के अनुसार, एकैकम् अहः अपवृज्येत = एक-एक कर्म समाप्त होता है।

**व्याख्या—**प्रथम पक्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि द्वादशाह नामक यज्ञ में ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति के धर्म-कर्त्तव्य होने से एक-एक कर्म दीक्षा और उपसत् सहित प्रति दिन पूर्ण होता है। ऐसा प्रत्येक कर्म के पृथक्-पृथक् होने से होता है। द्वादश पञ्चविंशति (२५) रात्र कर्त्तव्य होते हैं। सदीक्षोपसद अर्थात् कर्म दीक्षा और उपसत् सहित प्रत्येक दिन ज्योतिष्टोम में ही अपवर्जित (समाप्त) होता है। शाबर भाष्य में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है- 'ज्योतिष्टोमवत् सदीक्षोपसदमेकैकमहः कर्त्तव्यम्' अर्थात्- ज्योतिष्टोम के अनुसार कर्म दीक्षा और उपसत् एक-एक अहः (दिन) में करना कर्त्तव्य होता है। तन्त्रवार्तिक में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है- 'तत्रैकैको यागः फलसाधनत्वात् ज्योतिष्टोमाद्विध्यन्तं गृह्णाति' अर्थात्- प्रत्येक यज्ञ फल तथा साधनवान् होने से ज्योतिष्टोम याग में से विध्यन्त स्वीकार करता है॥ १६॥

**( २५३३ ) अह्नां वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियेत यथा माध्यन्दिने॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अह्नां श्रुतिभूतत्वात् = अहन् की द्वादश संख्या प्रत्यक्ष श्रुत होने से, साङ्गं क्रियेत = अंग सहित की जाती है, यथा = जैसे, माध्यन्दिने = माध्यन्दिन में की जाती है।

**व्याख्या—** सूत्रकार अन्य पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सूत्र 'प्रजाकामं द्वादशाहेन याजयेत' में अहन् की द्वादश संख्या प्रत्यक्षतया श्रुत है; अतः उनका त्याग करके २५ दिन तक का कार्य कराना उचित नहीं है। अतः अंगों के सहित प्रधान कर्म द्वादश दिनों में कराना उचित है, ऐसा ही उल्लेख शाबर भाष्य में मिलता है- 'तत्कालं तदीयं दीक्षोपसदम्'। जिस प्रकार सान्तनीय का माध्यन्दिन में निर्वाप (दान) होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी द्वादश साद्यस्क्र याग करना कर्त्तव्य होता है॥ १७॥

**अब अगले सूत्र में तृतीय पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—**

**( २५३४ ) अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, फलकर्तृसम्बन्धात् = फल और कर्त्ता का संयोग होने से, आग्नेयाग्नीषोमीयवत् = अग्नीषोमीय एवं आग्नेय के अंगों के सदृश होने से, सहप्रयोगः = अंगों का सहप्रयोग, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार तृतीय पक्ष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि प्रजारूप फल एवं कर्त्ताओं में दक्षिणा के एकत्व का संयोग होने से सह-प्रयोग अथवा तंत्र से अनुष्ठान होता है। जिस प्रकार अग्नीषोमीय और आग्नेय याग के अङ्गों का तन्त्र द्वारा अनुष्ठान होता है, उसी प्रकार से यहाँ भी होता है। शाबर भाष्यानुसार चार दिन में दीक्षा, चार दिन में उपसद् एवं चार दिन में सुत्याकर्म होता है। इस तरह से १२ दिनों में उपर्युक्त प्रकार के अङ्गों सहित द्वादशाहरूप याग पूर्ण होता है। अतः अन्य पक्ष की तुलना में इस तीसरे पक्ष में सह प्रयोग एवं अहः (दिन) संख्या का उपपादन सम्भव हो सकता है, अतः वही पक्ष उचित है॥ १८॥

**अब अगले चार सूत्रों में उक्त तीनों पक्षों के सन्दर्भ में आचार्य सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६३५ ) साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानानां विकारः स्यात्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, साङ्गकालश्रुतित्वात् =अङ्गों सहित प्रधानों की काल श्रुति होने से, स्वस्थानानां विकारः स्यात् = स्वस्थानों की वृद्धि होती है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अङ्गों (दीक्षा, उपसद् आदि) सहित प्रधानों की कालश्रुति होने से स्वस्थान की वृद्धि होती है। दीक्षा, उपसद् और सुत्या के अलग अन्य काल का नियम-विधान है और प्रत्येक के साथ द्वादश (१२) का संयोग है॥ १९॥

**( २५३६ ) तदपेक्षं च द्वादशत्वम्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तदपेक्षम् = उस अपेक्षा से, द्वादशत्वम् = द्वादशत्व है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि द्वादश (बारह) संख्या उन- दीक्षा, उपसद् एवं सुत्या की अपेक्षा से है। दीक्षा में भी योगार्थ की अपेक्षा द्वादश (बारह) की संख्या का ही संयोग है॥ २०॥

**( २५३७ ) दीक्षोपसदां च संख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात्॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** दीक्षोपसदां च = दीक्षा और उपसदों की, संख्या = संख्या, पृथक् पृथक् = अलग-अलग, प्रत्यक्ष संयोगात् = द्वादशरात्र पद प्रयोग के लिए है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष संयोग-सम्बन्ध होने के कारण दीक्षा और उपसद् के साथ अलग-अलग द्वादश संख्या का सम्बन्ध-संयोग है। सुबोधिनी जैमिनीय-सूत्र-वृत्ति में प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में कहा गया है-'द्वादशरात्रपदयोगार्थः प्रधानएवास्तु' अर्थात् 'द्वादशरात्र' पद का यौगिक अर्थ प्रधान के लिए है॥ २१॥

**( २५३८ ) वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रमन्यकालत्वादवभृथादीन्युत्तराणि दीक्षाविसर्गार्थत्वात्॥ २२॥**



**सूत्रार्थ—** वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रम् = वसतीवरी पर्यन्त पूर्व तन्त्र है, अन्यकालत्वात् = स्वकाल में विहित न होने से, दीक्षाविसर्गार्थत्वात् = दीक्षा विसर्ग के लिए होने से, अवभृथादीनि उत्तराणि = अवभृथ आदि उत्तर तन्त्र है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इस प्रकार से 'वसतीवरी' पर्यन्त पूर्व तन्त्र होने से विशिष्टता वाले तन्त्र होते हैं तथा अवभृथादि दीक्षा-विसर्ग के लिए होने के कारण उत्तर-तन्त्र होते हैं। कहा भी गया है कि जल में दीक्षा प्रवेश कराकर देवता स्वर्ग लोक में आ गये; क्योंकि वे जल में स्नान करके दीक्षा प्राप्त करते हैं। इसके बाद अवभृथ स्नान करते हैं और उसी दीक्षा को पुनः जल में प्रवेश कराते हैं। इस प्रकार से तन्त्र द्वारा उत्पन्न वह दीक्षा समान रूप से ग्रहण करने के बाद उसी तन्त्र द्वारा विसर्जित कर दी जाती है॥ २२॥

**अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि द्वादश के संयोग से अन्यार्थ दर्शन भी उपपन्न हो जाता है—**

**( २५३९ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तथा = इस प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्यार्थ दर्शन भी उपपन्न हो जाता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इस प्रकार से दीक्षा, अह्न एवं उपसद् के साथ द्वादश (बारह) की संख्या का संयोग-सम्बन्ध होने के कारण अन्यार्थ दर्शन 'षड्त्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशरात्रः' यह कथन भी औचित्यपूर्ण हो जाता है। इसलिए कि यह द्वादशरात्र का प्रयोग (१२×३) ३६ दिन का सिद्ध होता है॥ २३॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार अङ्गों के सहित प्रधान की एक तन्त्रता अर्थात् सह प्रयोग का वर्णन करते हैं—**

**( २५४० ) चोदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** कालसंयोगात् = एक काल का सम्बन्ध होने से, चोदनापृथक्त्वे तु = याग में विधान पृथक् होने पर भी, समवेतानाम् = मिलित अंगों के सहित प्रधानों का, एकतन्त्र्यम् = एक-तन्त्र है।

**व्याख्या—** आग्नेय और अग्नीषोमीय याग में अलग-अलग विधान होने पर भी एक काल का सम्बन्ध विहित होने से अंगों के सहित प्रधान की एकतन्त्रता अर्थात् सह-प्रयोग होता है। द्वादशाह में भी 'पौर्णमास्यां

पौर्णमास्याः सांगया यजेत।' इस वाक्य द्वारा देश, काल और कर्त्ता के एकत्व का विधान प्रतीत होने से तन्त्र अर्थात् सह-प्रयोग है। यहाँ पर प्रधान काल विहित दीक्षादि से लेकर वसतीवरीय ग्रहणान्त आधान की भाँति स्वकाल विहित होने से तथा स्वतन्त्रतापूर्वक विधान न होने से सहप्रयोग होता है॥ २४॥

**प्रधान यज्ञों के साथ अपृथक् काल वाले अङ्गों के अनुष्ठान भेद के सन्दर्भ में अब सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५४१ ) भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** तद्भेदात् = प्रधानकाल का भेद होने से, भेदः तु = भेद तो, तेषाम् प्रधानशब्दत्वात्=प्रधान विधि से विधेय होने से, प्रयोगे = सम्बन्धित अंगों के प्रयोग का भी, कर्मभेदः स्यात् = कर्म का भेद होता है।

**व्याख्या—** मीमांसाकार सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रधान काल का भेद होने से अङ्गों के भी जुड़े होने से तन्त्र भेद होता है। प्रधान के अनुष्ठान का पृथक्-पृथक् काल होने से उसके साथ समानकाल रखने वाले अंगों के प्रयोग में भी भेद होता है। शाबर भाष्य के अनुसार जो प्रधान कर्म आज करने का है, उसके अङ्ग भी आज और जो प्रधान कल करने का हो, उसके अंग कल करने चाहिए। इस प्रकार से अंगों का अनुष्ठान तन्त्र से न होकर भेद से ही होता है॥ २५॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य अन्यार्थ दर्शन द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं—**



**( २५४२ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—**च = और, तथा = इस प्रकार, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य अर्थ का दर्शन यही है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इस प्रकार से पत्नी संयाजान्त अह्नों (दिनों) में 'पत्नीसंयाजान्तानि अहानि संतिष्ठन्ते' यहाँ इस प्रस्तुत वाक्य में अलग-अलग दिन पत्नीसंयाज बताये गये हैं। कर्म भेद द्वारा कर्त्तव्य से ही ऐसे सूत्र सिद्ध हो सकते हैं॥ २६॥

**( २५४३ ) श्वः सुत्यावचनं च तद्वत्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, तद्वत् = इसी प्रकार, श्वः सुत्यावचनम् = श्वः सुत्यावचन यह दूसरा लिङ्ग वाक्य भी है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि 'श्वः सुत्यावचनम्' यह लिङ्ग वाक्य भी कर्मभेद में प्रमाण है। 'संस्थिते संस्थितेऽन्यदग्नीदाग्नीध्रागारं प्रविश्य सुब्रह्मण्ये सुब्रह्मण्यामाह्वयेति' आदि अन्य लिङ्ग वाक्य भी अङ्ग कर्म के भेद अनुष्ठान में प्रमाण स्वरूप प्राप्त होते हैं॥ २७॥

**( २५४४ ) पश्वतिरेकश्च॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, पश्वतिरेकः = पशु का अतिरेक (अन्तर) भी कर्म भेद को सूचित करता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि पशु का अन्तर भी कर्म भेद को सूचित करता है। प्रत्येक दिवस में एक-एक पशु का दान दिया जाता है तथा बारहवें दिन एक पशु दान देना शेष रहता है। यहाँ पर यह वाक्य-कथन भी अङ्ग कर्म के भेद-अनुष्ठान को ही सूचित करता है॥ २८॥

**उपसत्काल में सुब्रह्मण्याह्वान की कर्त्तव्यता के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष सूत्र कहते हैं—**

**( २५४५ ) सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृत्यन्वयात् = ज्योतिष्टोम रूप प्रकृति याग में संख्या का अहन् में अन्वय होने से, आवाहनवत् = जैसे आग्नेय याग में आवाहन की आवृत्ति होती है, वैसी ही, सुत्याविवृद्धौ = स्तुतियों की विवृद्धि में, सुब्रह्मण्यायाम् = इन्द्रदेवता के आवाहन में, सर्वेषाम् = सर्वदिवसों का, उपलक्षणम् = उपलक्षण है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस प्रकार आग्नेय याग में प्रत्येक दिवस आवाहन मंत्र की आवृत्ति होती है, उसी प्रकार द्वादशाह याग में भी इन्द्र देवता के आवाहन में - 'सुत्यामागच्छ मघवन्' आदि आवाहन मंत्र प्रतिदिन बोला जाना चाहिए॥ २९ ॥

**उक्त विषय में अब आचार्य सिद्धान्त सूत्र कहते हैं—**

**( २५४६ ) अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वाद्विभागाच्च॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, इन्द्राभिधानत्वात् = मंत्र इन्द्रवाचक होने से, च = और, कालस्य = कालवाचक चतुरहादि शब्द, लक्षणार्थत्वात् = लक्षणार्थक होने से, अविभागात् = विभाग न होने से, सकृत् = किसी एक समय, उपलक्षणम् = प्रयोग करना, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष का कथन यह है कि इन्द्र एक ही देवता होने के कारण प्रतिदिन मंत्रावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं रहती । अस्तु; एक ही समय मंत्रोच्चारण किया जाना चाहिए। 'उपलक्षणम् चतुरहादिपदानाम्' के अनुसार आग्नेय याग के मध्य तो आवृत्ति की आवश्यकता हो सकती है; परन्तु यहाँ सुत्यात्मक में किसी भी प्रकार का व्यवधान न होने के कारण एक ही समय आवाहन मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए॥ ३०॥

**आगामी चार सूत्रों में आचार्य वाजपेय याग में प्राजापत्य शूल आदि के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत हैं—**

**( २५४७ ) पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** पशुगणे = प्राजापत्य पशुयाग में, कुम्भीशूलवपाश्रपणीनाम् = कुम्भी, शूल तथा वपाश्रपणी का, प्रभुत्वात् = प्रभुत्व (कार्यक्षमत्व) होने से, तन्त्रभावः = तन्त्रभाव, स्यात् = है।

**व्याख्या—** कुम्भी, शूल तथा वपाश्रपणी आदि विशिष्ट पात्रवाचक संज्ञाएँ हैं, इनका भी तंत्र-भाव है। उदाहरणार्थ-एक ही देगची (पतीली) में क्रमशः अलग-अलग समय में दाल, चावल आदि द्रव्यों का पाक किया जा सकता है। द्रव्य के आधार पर अलग-अलग पात्र के उपयोग की आवश्यकता नहीं होती॥ ३१॥

**( २५४८ ) भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** देवतान्तरे तु = भिन्न-भिन्न देवताओं के कारण, संदेहात् = संदेह होने से, भेदः = भेद, स्यात् = है।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि जहाँ पर अलग-अलग देवताओं के लिए पाक तैयार करना हो, वहाँ पर अलग-अलग पात्र होना चाहिए। अस्तु; शूल-संज्ञक पात्र में भेद होना चाहिए॥ ३२॥

**( २५४९ ) अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अर्थात् = उद्देश्य के अनुसार, लिङ्गकर्म = पात्रों पर चिह्न लगाकर कर्म करना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि सह-प्रयोग होने से भेद नहीं होता, जहाँ भिन्न-भिन्न देवता-वाचक संज्ञाएँ होती हैं, वहाँ भी जो पाक विशेष बनाना होता है, तो जितने नाम होते हैं, उतने अलग-अलग पात्रों में पकाने की आवश्यकता नहीं होती; अपितु एक ही कुम्भी आदि पात्र को चिह्नित करके पाक तैयार किया जा सकता है और बाद में उन-उन देवताओं को उद्दिष्ट करके त्याग किया जा सकता है॥ ३३॥

**( २५५० ) अयाज्यत्वाद्वसानां भेदः स्यात्स्वयाज्यप्रदानत्वात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** वसानाम् स्वयाज्याप्रदानत्वात् = स्निग्धद्रव्य से ऋक् विशेष मंत्र का उच्चारण करके होम किए जाने से, अयाज्यत्वाद् भेदः स्यात् = (कुम्भी रूप पात्र के भेद के बिना) अयाज्य होने से भेद है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि स्निग्ध पदार्थ का अपने-अपने विशेष मंत्रों का उच्चारण करके होम (यजन) करने के कारण कुम्भी रूप पात्र पृथक्-पृथक् होना चाहिए; क्योंकि उसके बिना स्निग्ध पदार्थ का हवन नहीं हो सकता। अत: ऐसी अवस्था में कुम्भी रूप पात्र अलग-अलग होना ही चाहिए॥ ३४॥

**उक्त सन्दर्भ में मीमांसाकार अब सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं-**

**( २५५१ ) अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** अपि वा = अथवा, प्रतिपत्तित्वात् = प्रतिपत्तिरूपकर्म होने से, तन्त्रम् स्यात् = तंत्र रूप कुम्भी पात्र है, स्वत्वस्य अश्रुतिभूतत्वात् = स्वयाज्य अर्द्ध ऋचा के अन्त में होतव्य है, इस सम्बन्ध में कोई श्रुति नहीं है।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी का कहना है कि प्रतिपत्ति रूप कर्म होने के कारण तंत्र रूप एक ही कुम्भी पात्र होना चाहिए। स्निग्ध पदार्थ का पाक तैयार करने के लिए अलग-अलग कुम्भी होने तथा अर्द्ध-ऋचा बोलकर उन-उन देवताओं की आहुति देने के सम्बन्ध में कोई भी श्रुति-प्रमाण नहीं है॥ ३५॥

**उक्त विषय में पूर्वपक्ष की ओर से आगामी सूत्र के माध्यम से आक्षेप प्रकट किया जाता है—**

**( २५५२ ) सकृदिति चेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** सकृत् = एक ही बार मंत्रार्द्ध बोलकर सम्पूर्ण होम करना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** यदि 'स्व' श्रुति नहीं है, तो किसी भी स्निग्ध द्रव्य का होम अर्द्ध-ऋचा बोलकर करना चाहिए। यदि ऐसी शङ्का हो, तो आगामी सूत्र में इसका उत्तर देते हैं॥ ३६॥

**आगामी सूत्र के द्वारा आचार्य उक्त शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५५३ ) न कालभेदात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन ठीक नहीं, कालभेदात् = काल का भेद होने से।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि आधी ऋचा होम करने के निमित्त है और निमित्तों का काल भेद होने के कारण एक ही समय सबका होम करना अयोग्य है। काल भिन्नता के कारण नैमित्तिक की आवृत्ति होनी ही उचित है॥ ३७॥

**कुम्भी का भेद कहाँ होना चाहिए, इस प्रकरण पर अगले दो सूत्रों में सूत्रकार अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—**

**( २५५४ ) जात्यन्तरेषु भेदः स्यात् पक्तिवैषम्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** जात्यन्तरेषु = भिन्न-भिन्न जाति के द्रव्यों के पाक में, पक्तिवैषम्यात् = पाक की विषमता के कारण, भेदः स्यात् = भेद होगा।

**व्याख्या—** सिद्धान्तवादी का कथन है कि अलग-अलग जाति के द्रव्यों का पाक करना हो, तो भिन्न-भिन्न कुम्भी रूप पात्रों का भेद होना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की पाक अवधि समान नहीं होती॥ ३८॥

**उक्त विषय की पुष्टि हेतु आचार्य प्रमाण सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५५५ ) वृद्धिदर्शनाच्च॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, वृद्धिदर्शनात् = पात्रों की वृद्धि होने का वचन होने से भी।

**व्याख्या—** उक्त सन्दर्भ में सूत्रकार कहते हैं कि पात्रों की वृद्धि होने का प्रमाण भी पाया जाता है। जहाँ किसी द्रव्य का पाक शीघ्र होता है तथा किसी अन्य के पकने में अधिक समय लगता है। ऐसे स्थान पर भिन्न-भिन्न पात्रों में पाक करने से अलग-अलग पात्र होने ही चाहिए॥ ३९॥

**पुरोडाश प्रमाण के आधार पर चतुष्कपाल-संज्ञक पात्रों के सन्दर्भ में आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २५५६ ) कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसंख्यानाम्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कपालानि = यज्ञीय पुरोडाश पकाने वाले कपाल-संज्ञक पात्र भी, कुम्भीवत् = कुम्भी की तरह (उसी के सदृश) तुल्यसंख्यानाम् = समान संख्या वालों (पुरोडाशों) का तन्त्र होना युक्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस प्रकार से प्राजापत्य यागों में कुम्भी तन्त्र होता है, वैसे ही पुरोडाशों को पकाने वाले कपाल तन्त्र भी समान संख्या वाले हुआ करते हैं, यही समझना युक्त है॥ ४०॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त की स्थापना करते हैं—**

**( २५५७ ) प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतिवत् वा = प्रकृति याग के समान ही, प्रतिप्रधानम् = पुरोडाशों के लिए अलग-अलग कपाल होने चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार (सिद्धान्ती) ने बताया कि 'अग्नीषोमीय एकादशकपाल:' वाक्य के अनुसार जिस प्रकार से आग्नेय- अग्नीषोमीय पुरोडाश एकादश कपालों (पात्रों) में सुसंस्कारित किया जाता है, उसी प्रकार से प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी प्रत्येक पुरोडाश के लिए अलग-अलग कपाल होने चाहिए॥ ४१॥

**( २५५८ ) सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सर्वेषाम् = सभी कपालों का, अभिप्रथनम् = विस्तार (फैलाना), स्यात् = प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्र का भाव यह है कि समस्त कपालों में पुरोडाश का प्रसार सम्भव न होने के कारण कपाल-भेद की प्राप्ति होती है। 'यावत्कपालं पुरोडाशं प्रथयति' इस वाक्य की सिद्धि चतुष्कपाल में भेद मानने पर ही सम्भव है॥ ४२॥

**व्रीहि के अवहनन आदि के क्रम में मन्त्रावृत्ति के सन्दर्भ में अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५५९ ) एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** एकद्रव्ये = एक द्रव्य (व्रीहि आदि ) में, संस्काराणाम् = अवहनन (कूटना) आदि संस्कार का, एककर्मत्वम् = एक कर्मत्व, व्याख्यातम्=विहित है (कहा गया है)।

**व्याख्या—** व्रीहि का अवहनन (धान को छिलका रहित) करते समय 'अवरक्षो दिव: सपत्नं वध्यासम्' मन्त्र उच्चरित किया जाता है। सूत्रकार का कहना है कि यह मन्त्र अवघात की प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही बोलना चाहिए, न कि प्रत्येक अवघात पर; परन्तु आवृत्ति की आवश्यकता वहाँ होती है, जहाँ मन्त्र के अर्थ में भिन्नता होती है॥ ४३॥

**( २५६० ) द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुन: प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुन: प्रयोग: स्यात्तदर्थेन विधानात्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यान्तरे = द्रव्य में भिन्नता होने की स्थिति में, कृतार्थत्वात् = प्रथम बीज में मन्त्र के कृतार्थ हो जाने से, तस्य = उसका, पुन: = फिर से, प्रयोगात् = प्रयोग होता है (तथा), तद्गुणत्वात् = मन्त्र के गुणभूत होने से, प्रयोग: = उसका प्रयोग, तदर्थेन विधानात् = उसके विधान के अनुसार, पुन: = फिर से, स्यात्=होता है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि इष्टियों में पृथक्-पृथक् द्रव्यों के कूटने-पीसने की प्रक्रिया में द्रव्यों के परिवर्तन के समय में हर बार मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए। प्रथम बीज के कूटने-पीसने में मन्त्र के कृतार्थ हो जाने से उसका प्रयोग फिर से होगा। अतिदेश शास्त्र द्वारा विहित होने से तथा तद्गुणत्व होने के कारण मन्त्र का प्रयोग बारम्बार होगा॥ ४४॥

**दर्श-पौर्णमास याग में प्रतिनिर्वपण आदि के क्रम में मन्त्र प्रयोग के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५६१ ) निर्वपणलवनास्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनैकत्वात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, निर्वपणलवनास्तणाज्यग्रहणेषु = निर्वपण, (चार मुट्ठी अन्न निकालना), लवन (बर्हि-कुशा को काटना), आस्तरण (बिछाना- फैलाना), आज्यग्रहण (घृत निकालने) में, एकद्रव्यवत् = द्रव्य के एकत्व से तथा, प्रयोजनैकत्वात् = प्रयोजन के एकत्व के कारण मन्त्रोच्चारण किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि अपघात के समान एक ही प्रयोजन के होने से निर्वपण, लवन, आस्तरण तथा आज्यग्रहण में मन्त्र का उच्चारण एक बार ही होना चाहिए। 'अयुजोमुष्टीन् लुनाति' के स्थान पर 'बर्हि देवसदनम्......', तथा 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' के स्थान पर 'शुक्र त्वा' आदि मन्त्रों का उच्चारण होता है। इसलिए द्रव्य के एकत्व एवं प्रयोजन के एकत्व के कारण एक बार ही मन्त्र का उच्चारण होना चाहिए॥ ४५॥

**सिद्धान्त स्थापन के उद्देश्य से अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५६२ ) द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, द्रव्यान्तरवत् = पदार्थ की भिन्नता की तरह, संस्कारात् = संस्कार भेद से भी मन्त्रों की आवृत्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** निर्वपण, लवन, आस्तरण तथा आज्यग्रहण की प्रक्रिया में पुनः-पुनः मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिए; क्योंकि मन्त्रों के स्मरणपूर्वक निर्वाप की प्रक्रिया से पृथक्-पृथक् द्रव्यों का संस्कार किया जाना आवश्यक होता है। अतएव मन्त्र की आवृत्ति की जानी चाहिए॥ ४६॥

**प्रत्यावृत्ति मन्त्र की वेदि-प्रोक्षण में आवृत्ति के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २५६३ ) वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** वेदि प्रोक्षणे = वेदिका के प्रोक्षण-प्रक्षालन में, मन्त्राभ्यासः = मन्त्र की (अभ्यास रूप) आवृत्ति, कर्मणः = कर्मों के, पुनःप्रयोगात् = पुनः प्रयोग होने के कारण की जानी चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कथन है कि 'वेदिरसि' आदि मन्त्र के द्वारा तीन बार वेदिका का प्रक्षालन करना विहित है- 'त्रिर्वेदीं प्रोक्षति'। प्रोक्षण की प्रक्रिया तीन बार होने से मन्त्रोच्चारण भी तीन ही बार होना चाहिए। यहाँ प्रोक्षण-प्रक्षालन-कर्म प्रधान तथा मन्त्र उसका अङ्गभूत है। अतएव 'प्रतिप्रधानमंगावृत्ति' वाक्य के अनुसार प्रोक्षण के साथ मन्त्र की भी आवृत्ति होनी चाहिए॥ ४७॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त का कथन करते हैं—**

**( २५६४ ) एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, एकस्य = एक ही वेदिका का संस्कार, गुणविधिः = गुणविधि है, तस्मात् = अतएव, द्रव्यैकत्वात् = द्रव्य (वेदि) के एकत्व के कारण, सकृत् = एक बार ही मन्त्र का, प्रयोगः = व्यवहार किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** वेदि-प्रक्षालन स्वरूप कर्म के एक होने से एक ही समय मन्त्रोच्चारण किया जाना चाहिए। उक्त वेदि के तीन बार प्रक्षालन (धोने) का कथन गौण होने से यहाँ पर मन्त्र की आवृत्ति करना अयुक्त है॥ ४८।

**अगले क्रम में आचार्य ने कण्डूयन मन्त्र के प्रयोग के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २५६५ ) कण्डूयने प्रत्यङ्गं कर्मभेदः स्यात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ—** कण्डूयने = अङ्गों के कण्डूयन (खुजाने) में, प्रत्यङ्गम् = प्रत्येक अङ्ग का कण्डूयन, कर्मभेदः = भिन्न-भिन्न कर्म होने से प्रति अङ्ग के कण्डूयन में मन्त्र की आवृत्ति की जानी चाहिए।

**व्याख्या—** यजमान के शरीर के किसी अङ्ग में खुजली होने पर यज्ञ विधान के अनुसार कृष्ण विषाण

(काले सींग) से उस अंग को खुजाना चाहिए। पूर्वपक्षी का कहना है कि जब-जब जिस-जिस अङ्ग में यह क्रिया की जाये, तब-तब मन्त्रों का उच्चारण भी अलग-अलग किया जाना चाहिए॥ ४९॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगले तीन सूत्रों में सिद्धान्त का स्थापन करते हैं—**

## ( २५६६ ) अपि वा चोदनैककालमैककर्म्यं स्यात्॥ ५०॥

**सूत्रार्थ—** अपि वा = यह पद समाधान सूचक अर्थ में प्रयुक्त है, चोदनैककालम् = विधि विहित काल के एक होने से, ऐककर्म्यम् = एक ही कर्म, स्यात् = है।

**व्याख्या—** कर्म के विधि-विहित काल के एक होने से उक्त कण्डूयन मन्त्र का प्रयोग भी एक बार ही होना चाहिए। जिस प्रकार अवहनन में प्रति अवहनन मन्त्र प्रयोग न होकर एक ही समय मन्त्रोच्चारण किया जाता है, वैसे कण्डूयन में भी एक समय ही मन्त्रोच्चारण पूर्वक सभी आवश्यक स्थानों पर कण्डूयन करना चाहिए॥५०॥

## ( २५६७ ) स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम्॥ ५१॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एवम् = कण्डूयन के समान ही, स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु = स्वप्न, नदीतरण, अभिवर्षण एवं अमेध्य-दर्शन में भी मन्त्र की आवृत्ति नहीं की जाती।

**व्याख्या—** आचार्य का कथन है कि यज्ञ-दीक्षा प्राप्त यजमान को स्वप्न आने पर, नदी पार करने में, अभिवृष्टि में तथा पवित्रतारहित वस्तु के दर्शन में जिन-जिन मन्त्रों का प्रयोग किया जाना हो (विस्तार शाबर भाष्य में), उन मन्त्रों को एक ही बार (एक ही समय में) उच्चारित करना चाहिए॥ ५१॥

## ( २५६८ ) प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः॥ ५२॥

**सूत्रार्थ—** आर्थनिर्वृत्तेः = हेतु की निवृत्ति प्राप्त होने से, तु = तो, प्रयाणे = प्रस्थान समय में एक ही बार मन्त्र बोलना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञ-दीक्षा-प्राप्त यजमान के प्रस्थान-काल में एक ही बार मन्त्रोच्चारण करना चाहिए, विश्राम के अनन्तर पुनः प्रस्थान के समय बारम्बार नहीं। प्रयाण के फलोद्देश्य को ध्यान में रखकर ही मन्त्रोच्चारण होता है और वह फल एक ही है। इसलिए 'भद्रादभिश्रेयः प्रेहि' इस प्रयाण मन्त्र की प्रयुक्तता एक ही समय होनी चाहिए॥ ५२॥

**उपरव मन्त्र की आवृत्ति होना उपपन्न करने के लिए अगले सूत्र में पूर्वपक्ष करते हैं—**

## ( २५६९ ) उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात्॥ ५३॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उपरवमन्त्रः = उपरव (उत्खनन) मन्त्र का उच्चारण, लोकवत् = लोक व्यवहार के समान, बहुवचनात् = बहुवचन का प्रयोग होने से, तन्त्रम् = तन्त्र रूप में, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** 'उपरव' का आशय भूमि में खोदे जाने वाले उस गड्ढे से है। सोमरस निकालने के लिए एक हाथ की गहराई वाले चार गड्ढे खोदे जाते हैं- 'सन्ति ज्योतिष्टोमे पीठपाद चतुष्टयाकारा बाहुमात्र खाता उपरव नामकाश्चत्वारो गर्ताः' इन गर्तों के उत्खनन काल में बोला जाने वाला मन्त्र है- 'रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामि'। पूर्वपक्षी का कहना है कि इस मन्त्र का उच्चारण प्रति गर्त के उत्खनन समय में न करके एक ही बार बोलकर चारों गड्ढे खोदने चाहिए। मन्त्रोच्चारण तन्त्र रूप में होना चाहिए॥ ५३॥

**सिद्धान्त स्थापन के उद्देश्य से अगले चार सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २५७० ) न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषाग्रहणे कालैकत्वात्सकृत् वचनम्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ—** सन्निपातित्वात् = उपरव मन्त्र अनुष्ठेय क्रिया की स्मृति का उत्पादक होने के कारण, न = ऐसा

नहीं होता, असन्निपातिकर्मणाम् = केवल जो मन्त्र मात्र अदृष्ट का ही उत्पादक होता है, विशेषाग्रहणे = उस मन्त्र में किसी विशेष के ग्रहण का अभाव होने से, कालैकत्वात् = काल का एकत्व होने से, सकृद्वचनम् = एक ही बार मन्त्र का प्रयोग होता है।

**व्याख्या—** बहुत से मन्त्र अदृष्ट की स्मृति कराने वाले होने से अदृष्ट के जनक (अदृष्टोत्पादक) कहलाते हैं तथा बहुत से केवल अदृष्ट जनक ही हुआ करते हैं। इनमें से पहले प्रकार के जो अदृष्ट का स्मरण कराकर अदृष्टोत्पादक होते हैं, उन्हीं मन्त्रों की आवृत्ति नहीं की जानी चाहिए। प्रकृति-याग ज्योतिष्टोम में प्रति-उपरव के उत्खनन अवसर पर 'रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामि' मन्त्र द्वारा स्मृति करानी होती है- 'यावदेव मन्त्रजनिते ज्ञानं तावदेव तत्क्रिया करणम्' सुबोधिनी सूत्र वृत्ति का यह वाक्य यही कथन करता है। अतः प्रत्येक गड्ढे को खोदते समय उपरव मन्त्र की आवृत्ति की जानी चाहिए॥ ५४॥

**( २५७१ ) हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्य = हविष्कृत्, अध्रिगु, पुरोऽनुवाक्या एवं मनोता मन्त्रों की, आवृत्तिः = आवृत्ति भी, कालभेदात् = काल भेद के कारण होती है।

**व्याख्या—** काल भेद के होने से हविष्कृत्, अध्रिगु, पुरोवाक्या तथा मनोता मन्त्रों की भी आवृत्ति की जाती है। हविष्कृत् मन्त्र का स्वरूप है- 'हविष्कृदेहि'। अध्रिगु प्रैषमन्त्र का स्वरूप है- 'दैव्याः शमितारः', 'अग्ने नयसुपथा राये' आदि पुरोऽनुवाक्या तथा 'त्वं ह्यग्ने मनोता' मनोता मन्त्र है, इनकी आवृत्ति करनी चाहिए॥५५॥

**( २५७२ ) अध्रिगोश्च विपर्यासात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अध्रिगोः = अध्रिगु मन्त्रों की आवृत्ति तो, विपर्यासात् = विपर्यास के कारण भी होती है।

**व्याख्या—** विपर्यास का तात्पर्य विहित क्रम के लोप होने से है। सूत्रकार का कहना है कि उक्त अध्रिगु-प्रैष के मन्त्रों की आवृत्ति विपर्यास (हेतु) के होने से भी होती है॥ ५६॥

**( २५७३ ) करिष्यद्वचनात्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ—** करिष्यत् = कर्म किए जाने वाले, वचनात् = वाक्य-वचन के कारण भी आवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** अध्रिगु-प्रैष मन्त्रों की आवृत्ति की उपपन्नता 'आरभध्वम्' एवं 'उपनयत' आदि वचनों से भी हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग का विस्तार शाबर भाष्य में द्रष्टव्य है॥ ५७॥

## ॥ इति एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

# ॥ अथ द्वादशाध्याये प्रथमः पादः ॥

**बारहवें अध्याय के पहले पाद का शुभारम्भ करते हुए सूत्रकार ने कहा कि अग्नीषोमीय तथा प्रयाज आदि के द्वारा पुरोडाश का उपकार हुआ करता है। इसी हेतु पहले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २५७४ ) तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वमतुल्येषु तु भेदः स्यात् विधिप्रक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** तन्त्रिसमवाये = प्रधान तन्त्रों के समवाय में, चोदनातः = विधि वचन से, समानानाम् = समानों के एक देश, काल, कर्तृत्व की स्थिति में, एकतन्त्रत्वम् = एक (तन्त्र) प्रयोग होता है, अतुल्येषु = तथा विभिन्न विधि से बोधित कर्मों में, तु = तो, भेदः = भेद होता है, विधिक्रमतादर्थ्यात् = (क्योंकि) अङ्ग कर्मों की तदर्थता, श्रुतिकालनिर्देशात् = (एवं) प्रयोग के प्रारम्भिक काल में भेद होने से, तादर्थ्यम् = वह तादर्थ्य है।

**व्याख्या—** जिस स्थल पर प्रधान कर्मों-तन्त्रों का समवाय प्राप्त हो, वहाँ समान रूप से एक ही विधि के द्वारा विहित अङ्ग रूप कर्मों का एक प्रयोग हुआ करता है। पृथक्-पृथक् (विभिन्न) विधि वचनों के द्वारा बोधित जितने भी कर्म प्राप्त हैं, उनमें भेद होता है। अतएव ऐसे स्थलों पर अङ्ग कर्मों को क्रम की आवृत्ति से ही अनुष्ठित किया जाता है। भेद का निर्देश प्राप्त होने से अङ्गों के उक्त अनुष्ठान का क्रम तादर्थ्य होता है॥ १ ॥

**( २५७५ ) गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः स्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, गुणकालविकारात् = गुण तथा काल के भेद से, तन्त्रभेदः = तन्त्र में भी भेद, स्यात् = होता है।

**व्याख्या**— सूत्र का सार संक्षेप यह है कि यदि गुण एवं काल में भेद की प्राप्ति होती है, तो तन्त्र में भी भेद का होना आवश्यक हो जाता है, कार्य का सम्पादन समानतापूर्वक होना सम्भव नहीं॥ २ ॥

**अगले चार सूत्रों में समाधान के भाव से सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष स्थापित किया—**

**( २५७६ ) तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तन्त्रमध्ये = एक तन्त्र के मध्य में, विधानात् = विधान के होने से, मुख्य तन्त्रेण = प्रधान तन्त्र से, सिद्धः = सिद्ध, स्यात् = हो जाता है, तन्त्रार्थस्य = तथा जो अर्थ अङ्गकृत हुआ करता है, अविशिष्टत्वात् = वह उपकार विशिष्ट होता है।

**व्याख्या—** पुरोडाश आदि के ऊपर प्रधान तन्त्र-प्रयोग से उपकृत होता है; क्योंकि पुरोडाश आदि का विधान तन्त्रों में भी प्राप्त है और जो भी तन्त्र के अङ्ग होते हैं, वे अङ्ग भी प्रधान-कर्म को उपकृत किया करते हैं॥ ३ ॥

**( २५७७ ) विकाराच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अर्थस्य = अंगजनित उपकार के, अविकृतत्वात् = अविकृत होने से, विकारात् = विकार के कारण भी, भेदः = भेद की प्राप्ति, न = नहीं, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** एकादशत्व एवं पृषदाज्य स्वरूप गुण विकार के कारण प्रधान तन्त्ररूप प्रयोग में भेद की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि अङ्गजनित उपकार का अतिदेश होने से फलांश विकृत नहीं होता॥ ४ ॥

**( २५७८ ) एकेषां चाशक्यत्वात्॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एकेषाम् = कुछ एक (कतिपय) अङ्गों में भेद होने के कारण, अशक्यत्वात् = असमर्थता की प्राप्ति होने से उन्हें अनुष्ठित किया ही नहीं जा सकता।

**व्याख्या—** देश, कालादि के नियमों में जहाँ व्यवधान का होना प्राप्त हो, वहाँ अङ्गों के भेद के कारण अनुष्ठान का सम्पादन भी सम्भव नहीं। सूत्र का आशय यही है॥ ५ ॥

**( २५७९ ) एकाग्निवच्च दर्शनम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, एकाग्निवत् = पशु एवं पुरोडाश का एक अग्नि के समान प्रत्यक्ष श्रुति, दर्शनम् = दर्शन होता है।

**व्याख्या—** पशु आदि द्रव्य तथा पुरोडाश आदि एक ही अग्नि में आहूत होते हैं, पृथक्-पृथक् अग्नियों में नहीं। प्रत्यक्ष श्रुति वाक्य से ऐसा दृष्टिगत भी है- 'मध्ये अग्नेराज्याहुतीर्जुहोति पुरोडाशाहुतीश्च'॥ ६॥

**पुरोडाश में आज्य भागों की कर्त्तव्यता का कथन करने के प्रयोजन से आचार्य ने अगला सूत्र दिया—**

**( २५८० ) जैमिनेः परतन्त्रापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** जैमिनेः = आचार्य जैमिनि के मतानुसार, परतन्त्रापत्तेः = परतन्त्र की प्राप्ति होने की स्थिति में, स्वतन्त्र प्रतिषेधः = स्वतन्त्र का प्रतिषेध, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** पर का तन्त्र होने से पाशुक तन्त्र में आज्य भाग का किया जाना प्राप्त है; जबकि स्वयं का तन्त्र होने से पुरोडाश तन्त्र में प्रयोग विधि का निषेध प्राप्त है। शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कहा भी है-'यथा देवदत्ते यज्ञदत्तयानमारूढे देवदत्तयानं निवर्तते, न वस्त्रालंकारः' जिस प्रकार देवदत्त के द्वारा यज्ञदत्त के यान पर स्थान ग्रहण कर लेने पर देवदत्त का अपना यान वापस चला जाता है, किन्तु देवदत्त के वस्त्रालंकरण इसलिए नहीं लौटते; क्योंकि उनमें परतन्त्र की विद्यमानता नहीं है। इसी प्रकार आज्य भाग के सम्पादन में भी पाशुक अङ्ग की प्राप्ति न होने से उसके निषेध की स्थिति नहीं बनती, ऐसा समझना चाहिए॥ ७॥

**सोमयाग में दार्शिक वेदी नहीं बनानी चाहिए, यही बतलाने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २५८१ ) नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** सोमे = सोमयाग के अन्तर्गत, दर्श-पूर्णमास प्रकृतीनाम् = दर्शपूर्ण मास की प्रकृति वालों के लिए, नानार्थत्वात् = पृथक् फल होने के कारण, वेदिकर्म = वेदिका का निर्माण पृथक्, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** फल-भिन्नता के कारण दर्शपूर्णमास प्रकृति वालों के लिए अलग वेदिका बनानी चाहिए। अवदान आदि के ग्रहण के सम्पादनार्थ सौमिकी वेदिका बनायी जाती है तथा हविषों के आसादनार्थ दार्शपौर्णमासिकी फलभिन्नता का तात्पर्य यही है। पृथक् वेदिका के निर्माण का कारण भी यही है॥ ८॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सूत्रकार ने सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( २५८२ ) अकर्म वा कृतदूषा स्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अकर्म = पृथक् वेदिका बनाना उचित नहीं, कृतदूषास्यात् = क्योंकि इससे सौमिकी वेदी में दोष आ जायेगा।

**व्याख्या—** प्रचार तथा हविर्धारण दोनों के लिए ही सौमिकी वेदिका सक्षम है। अतएव हविर्धारण के उद्देश्य से यदि अलग से बनायी गई वेदि, दूषण स्वरूप होगी। अतः पृथक् वेदिका बनाना उचित नहीं है॥ ९॥

**सोमयाग में दर्शयाग के यज्ञपात्रों से हवन करने के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५८३ ) पात्रेषु च प्रसङ्गः स्याद्धोमार्थत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पात्रेषु = यज्ञ पात्रों में, प्रसङ्गः = उन्हीं के प्रसङ्ग से हवन, स्यात् = होता है, होमार्थत्वात् = उन पात्रों के होमार्थ होने से।

**व्याख्या—** ग्रह, चमस आदि यज्ञीय पात्रों के द्वारा ही ज्योतिष्टोम याग सम्पादित होता है। ग्रह, चमस के अतिरिक्त जुहू, उपभृत आदि यज्ञीय पात्रों की उपयोगिता दर्श-पूर्णमास में नहीं रहती॥ १०॥

**सिद्धान्त सूत्र से उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( २५८४ ) न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, प्रयुक्तत्वात् = पूर्ण प्रयोग के आधार पर, न्याय्यानि = उन्हीं पात्रों की प्रयुक्तता न्यायोचित है; अप्रयुक्ते = अप्रयोग की स्थिति में ही, प्रसङ्गः = प्रसङ्गपूर्वक उनका प्रयोग, स्यात् = किया जा सकता है।

**व्याख्या—** दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग है। अतएव दार्शिक स्रुव आदि पात्रों से ही होम किया जाना चाहिए, न कि अन्य यज्ञीय पात्रों से। अन्य पात्रों का प्रसङ्ग होना इसलिए भी उचित नहीं; क्योंकि वे प्रकृतियाग की सन्निधि में भी नहीं रहते। अतएव दार्शिक-प्राकृत यज्ञ पात्रों से ही हवन किया जाना युक्त है॥ ११॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार शमित्र अग्नि में पुरोडाश का श्रपण ( पाक ) न होना बतलाते हैं—**

**( २५८५ ) शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, इतरस्य = भिन्न अग्नि पहले से ही, प्रयुक्तत्वात् = प्रयुक्त होने से, शामित्रे = शमित्र अग्नि में, पशुपुरोडाशः = पशुपुरोडाश का श्रपण, न = नहीं, स्यात् = होना चाहिए।

**व्याख्या—** श्रपण (पाक) हेतु अलग से गार्हपत्य अग्नि पहले से ही उपस्थित रहती है। अस्तु; पशुपुरोडाश का पाक शमित्र अग्नि में नहीं किया जाना चाहिए और न ही उसे दान स्वरूप किसी ब्राह्मण को ही देना चाहिए॥ १२॥



**( २५८६ ) श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अग्निहोत्रस्य = अग्निहोत्र हविष् का, श्रपणम् = श्रपण-पाक, शालामुखीये = शालामुखी अग्नि में, न = नहीं, स्यात् = होना चाहिए, प्राजहितस्य = (क्योंकि उसके लिए) प्राजहित-गार्हपत्य की, विद्यमानत्वात् = विद्यमानता पहले से ही रहा करती है।

**व्याख्या—** शालामुखी अग्नि में, अग्निहोत्र के हवि का श्रपण-पाक किया जाना उचित नहीं; क्योंकि उसके हवन हेतु गार्हपत्य अग्नि पूर्व से ही विद्यमान रहती है। पूर्व के विद्वान् आचार्य गार्हपत्य को प्राजहित की संज्ञा प्रदान करते थे। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में प्राजहित का प्रयोग गार्हपत्य अग्नि के तात्पर्यार्थ किया गया है॥ १३॥

**हविर्धान संज्ञक शकट में निर्वाप साधन के सन्दर्भ में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( २५८७ ) हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** हविर्धाने = हविर्धान नाम वाले शकट में, निर्वपणार्थम् = निर्वाप के प्रयोजन की सिद्धि के लिए, साधयेताम् = साधन स्वरूप ही हैं, प्रयुक्तत्वात् = (क्योंकि वे) पहले से प्रयुक्त होते हैं।

**व्याख्या—** सोम के आधारभूत हविर्धान शकट में ही पुरोडाश पकाया जाना चाहिए। उक्त हेतु अन्य शकट का लाया जाना, न तो अपेक्षित होगा और न ही आवश्यक। जैसा कि विहित है- 'अन्यस्य उपादाने केवलमनर्थको व्यापारः' औषधि के गुणों से युक्त अष्टिक कर्म का सम्पादन जिस शकट में किया गया हो, उसी शकट में ही निर्वाप किया जाना उचित है॥ १४॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु आचार्य ने अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष का कथन किया—**

**( २५८८ ) असिद्धिर्वाऽन्यदेशत्वात्प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, अन्यदेशत्वात् = स्थल की भिन्नता के कारण (तथा), प्रधानवैगुण्यात् = प्रधान में विगुणता होने से, असिद्धिः = पूर्वपक्षी तर्क सिद्ध नहीं होता, अवैगुण्ये = विगुणता के न रहने पर ही, प्रसङ्गः = प्रसङ्गपूर्वक उनका प्रयोग होना, स्यात् = हो सकता है।

**व्याख्या—** हविर्धान संज्ञक दोनों शकट हविर्धान के मण्डल में विद्यमान रहते हैं। यदि उनको गार्हपत्य के

पृष्ठ भाग से याग में लाकर निर्वाप किया जाता है, तो सोमयाग में विगुणता उत्पन्न हो जायेगी। सोम याग में विगुणता की उत्पत्ति न हो, इसलिए अन्य शकट की उत्पत्ति कर लेनी चाहिए॥ १५॥

**( २५८९ ) अनसां च दर्शनात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अनसाम् = शकटों में बहुलता का, दर्शनात् = दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** 'अनांसि प्रवर्तयन्ति' इस वाक्य में बहुवचन के अर्थ में 'अनस' पद की प्रयुक्ति है। उक्त वाक्य शकट की बहुलता का है। इससे यही सिद्ध होता है कि हविर्धान नामक दोनों शकटों को छोड़कर अन्य शकट में निर्वाप किया जाना ही उचित है॥ १६॥

**प्रायणीय आदि इष्टियों में दीक्षा-जागरण की पृथक्ता का कथन करते हैं—**

**( २५९० ) तद्युक्तं च कालभेदात्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कालभेदात् = क्योंकि काल का भेद प्राप्त होने से, तत् = प्रायणीय आदि में जागरण (दीक्षा) पृथक् होना ही, युक्तम् = उचित है,

**व्याख्या—** काल का भेद प्राप्त होने से प्रायणीय आदि इष्टियों में दीक्षा- जागरण पृथक्-पृथक् ही होना चाहिए। सूत्र का तात्पर्य यही है॥ १७॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने कहा कि विहार के भेद में मन्त्र का भेद भी प्राप्त होता है—**

**( २५९१ ) मन्त्राश्च सन्निपातित्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सन्निपातित्वात् = सान्निध्य में उपकारक होने के कारण, मन्त्राः = मन्त्र भेद है।

**व्याख्या—** वरुणप्रघास याग के अन्तर्गत दक्षिण विहार में प्रतिप्रस्थाता एवं अध्वर्यु दोनों ऋत्विजों को अपने-अपने मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। मन्त्र के समापन पर 'गृह्णामि' उत्तम पुरुष के क्रिया पद की प्रयुक्ति होती है तथा वह क्रियापद इस बात का द्योतक है कि समीप-सान्निध्य में वे उपकारक होते हैं। अतः विहार के भेद में मन्त्र का भेद होना उपपन्न है॥ १८॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि दीक्षणीय आदि में अग्न्याधान नहीं होता—**

**( २५९२ ) धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** सोमे = सोम याग से सम्बद्ध दीक्षणीय आदि में, धारणार्थत्वात् = समापनपर्यन्त धारण के लिए होने से, अग्न्यन्वाधानम् = अग्नि का अन्वाधान, न = नहीं, विद्यते = होता है।

**व्याख्या—** अग्न्याधान कर्म अग्नि के धारणार्थ सम्पादित किया जाता है तथा वह अग्नि समापनपर्यन्त (याग के पूर्ण होने तक) के लिए होती है- धारण की जाती है। अतः दीक्षणीय आदि में अग्नि का अन्वाधान नहीं हुआ करता, जैसा कि प्रस्तुत वाक्य में विहित है- 'न च धृतस्य धारणकार्यमस्ति'॥ १९॥

**दीक्षणीय आदि इष्टियों में व्रत धारण न करने के सन्दर्भ में आचार्य अगले दो सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २५९३ ) तथा व्रतमुपेतत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा उसी प्रकार दीक्षणीय आदि इष्टियों में, व्रतम् = व्रत नहीं प्राप्त है, उपेतत्वात् = कारण यह कि उनमें पूर्व में ही व्रत धारण हो जाया करता है।

**व्याख्या—** सोमयाग की दीक्षा लेते समय ही यजमान सत्यभाषण एवं ब्रह्मचर्य पालन आदि का व्रत धारण कर लिया करता है, जिसका वह अपने याग के पूर्ण होने तक निष्ठापूर्वक पालन करता है। इसलिए सोमयाग के अन्तर्गत प्रायणीय आदि इष्टियों में पूर्व में ही व्रत ले लिए जाने से, दर्श-पूर्णमास से सम्बन्धित व्रत लिए जाने की आवश्यकता नहीं रहती॥ २०॥

उक्त कथन के पक्ष में एक और सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

**( २५९४ ) विप्रतिषेधाच्च॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विप्रतिषेधात् = विप्रतिषेध (बाध) के प्राप्त होने से भी व्रत धारण नहीं होता।

**व्याख्या—** सोमयाग की समाप्ति तक तो यजमान दीक्षा-व्रत का पालन करता ही रहता है, पुनः 'व्रतं चरिष्यामि' से भविष्य के साथ व्रत के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रतिषेध हो जायेगा। इसलिए उक्त कथन पर भी उक्त व्रत-धारण की आवश्यकता नहीं रहती॥ २१॥

अगले सूत्र में उक्त कथन पर आशङ्का प्रस्तुत करते हैं—

**( २५९५ ) सत्यवदिति चेत्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** सत्यवत् = व्रत धारण के समान ही सत्य भाषण भी है, इति चेत् = यदि ऐसा मानें, तो?

**व्याख्या—** प्रारम्भ में 'सत्यं वद' का व्रत लिया जाने पर भी वही व्रत पुनः दर्शपूर्णमास में धारण करना शास्त्र विहित है। उपर्युक्त प्रकरण में भी यदि ऐसी ही मान्यता रखी जाये, तो?॥ २२॥

उक्त आशङ्का का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—

**( २५९६ ) न संयोगपृथक्त्वात्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** संयोगपृथक्त्वात् = संयोग पृथक्ता के कारण उक्त आशङ्कावादी का कथन, न = युक्त नहीं है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'सत्यं वद' यह स्मृति वचन पुरुषमात्र को उपदेश करता है, जबकि उक्त दर्शपूर्णमास के प्रकरण में याग के उद्देश्य से सत्य-वचन का व्रत विहित है। सोमयाग की दीक्षा के समय ही व्रत ले लिए जाने से पुनः व्रत धारण की आवश्यकता नहीं रहती॥ २३॥

ऐष्टिकों में भी अग्नि का आधान अनुष्ठित नहीं होता—

**( २५९७ ) ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, ग्रहार्थम् = देवता परिग्रह के निमित्त भी अग्नि-अन्वाधान की आवश्यकता नहीं रहा करती, इष्टेः पूर्वम् = क्योंकि दीक्षणीय इष्टि, तदर्थत्वात् = उसी के लिए होती है।

**व्याख्या—** देवता के परिग्रह के लिए भी अग्न्यन्वाधान की आवश्यकता इसलिए नहीं रहती; क्योंकि उसकी सिद्धि भी प्रसङ्ग के द्वारा ही हो जाया करती है। दीक्षणीय इष्टि भी तदर्थ (उसके लिए ही) है॥ २४॥

उक्त कथन में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—

**( २५९८ ) शेषवदिति चेत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** शेषवत् = शेष अङ्गों के लिए ऐष्टिक अन्वाधान होता है, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** ऐष्टिक देवता के उद्देश्य से ही दीक्षणीय इष्टि में अग्नि-अन्वाधान होता है। प्रधान देवता का परिग्रह किये जाने से भिन्नार्थकता की उत्पत्ति होने से उक्त प्रसङ्ग सिद्धि सम्भव नहीं॥ २५॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—

**( २५९९ ) न वैश्वदेवो हि॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त कथन सर्वथा अनुचित है, हि = क्योंकि, वैश्वदेवः = समस्त देवताओं के लिए वैश्वदेव पद की प्रयुक्तता प्राप्त होने से पूर्वपक्षी का कथन अनुपपन्न हो जाता है।

**व्याख्या—** विधेय वाक्य है 'विश्वेदेव पद वाच्यं देवतात्वावच्छिन्नसामान्यं देवतात्वावच्छिन्नान्तः पातिनामङ्ग देवतानामपि तद्ग्रहसम्बन्धात् प्रधानत्वमस्ति'। प्रस्तुत वाक्य में वैश्वदेव पद समग्र देवों के लिए विहित होने से अङ्ग देवता भी उसी में आ जाते हैं। अस्तु; उक्त कथन उचित नहीं है॥ २६॥

**पूर्वपक्षी कथन के प्रस्तुतीकरण हेतु आचार्य ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( २६०० ) स्याद्वाव्यपदेशात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, व्यपदेशात् = कथन में भेद होने से ऐष्टिक अग्नि-अन्वाधान, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** 'अग्निर्वसुभिः सोमोरुद्रैः इन्द्रैर्मरुद्भिः, वरुण आदित्यैः बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः' इस वाक्य में विश्वेदेव का पृथक् व्यपदेश प्राप्त है। विश्वेदेव सम्बोधन को समग्र देववाचक मानना युक्त नहीं। अतएव अङ्गदेवता का कथन किये जाने से अग्नि-अन्वाधान किया जाना चाहिए॥ २७॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का अब सूत्रकार समाधान करते हैं—**

**( २६०१ ) न गुणार्थत्वात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** गुणार्थत्वात् = स्तुति-स्तवन के लिए होने मात्र से, न = उक्त पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** 'अग्निर्वसुभिः सोमोरुद्रैः' आदि वाक्य में विश्वदेवों का पृथक् देवता के रूप में कथन मात्र स्तवन का अभिप्राय है। उदाहरणार्थ- बृहस्पति की स्तुति का यह वाक्य है- 'अग्न्यादयो वरुणान्ता मरुदाद्येकदेश युक्ताः बृहस्पतिस्तु सकलदेवतायुक्तः' अग्न्यादि से लेकर वरुणान्त देव मरुत् आदि के एक देश के समान हैं; किन्तु बृहस्पति देव तो सर्वदेव युक्त हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐष्टिक अन्वाधान करना आवश्यक नहीं॥ २८॥

**ऐष्टिक के अन्तर्गत यजमान भार्या को वस्त्र धारण कराना रूप पत्नी संनहन कर्म भी नहीं करना चाहिए—**

**( २६०२ ) सन्नहनञ्च वृत्तत्वात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सन्नहन = पत्नी सन्नहन रूप कर्म का अनुष्ठान भी, वृत्तत्वात् = पूर्व में ही सम्पन्न हो जाने से उसमें (ऐष्टिक में) नहीं करना चाहिए।

**व्याख्या—** सोमयाग की दीक्षा के समय ही याग के उद्देश्य से यजमान पत्नी का सन्नहन कर्म सम्पन्न हो चुकने के कारण अंगभूत ऐष्टिक आदि में पत्नी सन्नहन नहीं किया जाना चाहिए। प्रस्तुत वाक्य से उक्त कथन पुष्ट होता है- 'योक्त्रेण पत्नी सन्नह्यति मेखलया दीक्षितम्'। सन्नहन करने का तात्पर्य यह है कि पहना हुआ वस्त्र बँधा रहे, शबर स्वामी ने अपने भाष्य में लिखा भी है- 'सन्नहनं च वाससो धारणार्थं सर्वार्थम्'॥ २९॥

**ऐष्टिक कर्म में आरण्य भोजन नहीं करना चाहिए, यही बतलाने के लिए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६०३ ) अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्यर्थम्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यविधानात् = अन्य भोजन का विधान प्राप्त होने से, आरण्यभोजनम् = आरण्य भोजन, न = नहीं, स्यात् = करना चाहिए, हि = क्योंकि, उभयम् = दोनों ही, वृत्यर्थम् = वृत्ति के लिए ही हुआ करते हैं।

**व्याख्या—** विधि वचन की मान्यता के अनुसार दर्श-पूर्णमास में आरण्य (वन के पदार्थों से बना) भोजन तथा सोमयाग में ब्राह्मण के लिए पयोव्रत (दूध का आहार) ये दोनों जीवन निर्वाह के लिए हुआ करते हैं। प्रस्तुत वाक्य उक्त कथन में प्रमाण है- 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्याऽमिक्षा वैश्यस्य'। जो भोजन प्रत्यक्ष रूप से श्रुत है, वह अतिदेश किये गये भोजन की अपेक्षा सामर्थ्यवान् है। इसलिए आरण्य भोजन का ऐष्टिक कर्मों में अभाव बतलाया गया है, पयोव्रत ही अपनाना उचित एवं वैदिक मान्यता युक्त है॥ ३०॥

**शेषभक्षों को ऐष्टिकों में अनुष्ठित किया जाना चाहिए, यही बतलाने के लिए यह सूत्र दिया—**

**( २६०४ ) शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** शेषभक्षाः = शेषभक्षण की भी, तथा = उसी प्रकार से निवृत्ति होनी चाहिए, इति चेत् = यह

आशङ्का करें तो, न = ऐसा उचित नहीं, अन्यार्थत्वात् = क्योंकि उस भक्षण का उद्देश्य भिन्न होता है।

**व्याख्या—** 'हविः शेषान् भक्षयति' इस वाक्य में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति यह प्रतीति कराती है कि उक्त शेषभक्षण संस्कारार्थ होता है। इसलिए आरण्य भोजन के समान शेष भक्षण की भी निवृत्ति मानना सर्वथा अनुचित है। उस भक्षण के उद्देश्य में भिन्नता है। अतः शेष भक्षण तो किया ही जाना चाहिए॥ ३१॥

**अगले क्रम में आचार्य ने कहा कि ऐष्टिक-दर्शपूर्णमास में अन्वाहार्य दान ( दक्षिणा ) भी नहीं होता—**

**( २६०५ ) भृतत्वाच्च परिक्रयः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, परिक्रयः = दर्शपूर्णमास में परिक्रय, भृतत्वात् = ज्योतिष्टोम की दीक्षा के समय ही हो जाने से (अन्वाहार्य दान की निवृत्ति हो जाती है)।

**व्याख्या—** 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' वाक्य के अनुसार ज्योतिष्टोम की दक्षिणा बारह सौ मुद्रा होती है तथा यही दक्षिणा प्रमुख दक्षिणा भी मानी जाती है। दर्श-पूर्णमास की दक्षिणा को उससे अलग अङ्ग दक्षिणा कहा जाता है और यही अन्वाहार्य परिक्रय है। अन्वाहार्य परिक्रय स्वरूप यह अङ्ग दक्षिणा इसलिए नहीं देनी चाहिए; क्योंकि ऋत्विजों का परिक्रय ज्योतिष्टोम की मुख्य दक्षिणा से ही हो जाता है॥ ३२॥

**उक्त कथन में आशङ्का के भाव से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६०६ ) शेषभक्षास्तथेति चेत्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इसी प्रकार, शेषभक्षाः = शेषभक्षण की भी निवृत्ति है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** अन्वाहार्य परिक्रय की जिस प्रकार से निवृत्ति मानी गयी है, उसी प्रकार से शेष भक्षण की भी निवृत्ति माननी चाहिए; क्योंकि वह भी तो परिक्रयार्थ ही है॥ ३३॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६०७ ) न कर्मसंयोगात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मसंयोगात् = संयोग के आधार पर, न = उपर्युक्त कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि 'हविः शेषान् भक्षयति' में द्वितीया विभक्ति की प्रयुक्तता से शेषभक्ष की प्रतीति संस्कार कर्म के रूप में ही होती है। अस्तु; अन्वाहार्य परिक्रय के समान शेषभक्ष की निवृत्ति होनी सम्भव नहीं है॥ ३४॥

**ऐष्टिक कर्मों के अन्तर्गत होताओं का वरण किया जाना प्राप्त है—**

**( २६०८ ) प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियते॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतितन्त्रम् = प्रत्येक तन्त्र-इष्टि में, होतुः = होता का, वरणम् = वरण, क्रियते = किया जाता है, प्रवृत्तिवरणात् = कार्यारम्भ होने के अनन्तर वरण होने से (होता का वरण होता है)।

**व्याख्या—** प्रस्तुत वाक्य 'अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षत, में कर्म की प्रवृत्ति होने के पश्चात् वरण किया जाना प्राप्त है। उक्त वरण ऋत्विज् की अनुमति के प्रकाशनार्थ न होकर अदृष्टार्थक है। अतएव सौमिक वरण के द्वारा अदृष्टार्थक वरण की सिद्धि न हो पाने से वरण की आवृत्ति होना सर्वथा उचित है॥ ३५॥

**उक्त कथन में आशङ्का के भाव से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६०९ ) ब्रह्मापीति चेत्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** ब्रह्मा = प्रत्येक इष्टि में ब्रह्मा का, अपि = भी वरण होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** कर्म के मध्य में ही 'भूपते भुवनपते' आदि मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विक् का वरण करके, वरण की आवृत्ति की जानी चाहिए॥ ३६॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६१० ) न प्राग्नियमात्तदर्थंहि॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** न = उक्त पूर्वपक्षी कथन सर्वथा उचित नहीं, हि = क्योंकि, नियमात् = नियमानुसार ब्रह्मा का वरण, प्राक् = पहले ही हो जाता है, तदर्थम् = ब्रह्मा कार्यार्थ ही हुआ करता है।

**व्याख्या—** ब्रह्मा द्वारा जितने भी कर्म सम्पादित होते हैं, उनके सम्पादन से पूर्व ही ब्रह्मा का वरण सम्पन्न हो जाता है। अत: कर्म के मध्य में उनका वरण किया जाना औचित्यहीन है। आम्नात (शास्त्र वचन) के अनुसार 'होता' का वरण कार्यारम्भ के पीछे तथा 'ब्रह्मा' का वरण कार्यारम्भ के पूर्व होता है॥ ३७॥

**उक्त कथन में आशङ्का करते हैं—**

**( २६११ ) निर्दिष्टस्येति चेत्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** निर्दिष्टस्य = वरण के पूर्व ब्रह्मा द्वारा वेदिका बनाने का निर्देश प्राप्त है, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** ब्रह्मकर्तृक कर्मों का आरम्भ ब्रह्मा का वरण किये जाने से पहले ही हो जाया करता है। उदाहरणार्थ-अमावस्या से पहले दिवस में ही ब्रह्मा के द्वारा वेदिका निर्माण की अनुज्ञा प्रदान की जाती है॥ ३८॥

**उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—** 

**( २६१२ ) नाश्रुतत्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** अश्रुतत्वात् = परिग्रह का श्रवण प्राप्त न होने से,न = यह कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** अमावस्या के पहले दिन वेदि-निर्माण कर्म होता है; किन्तु उक्त वेदि परिग्रह का श्रवण, ब्रह्मा के वरण के पूर्व श्रुत नहीं हैं। शास्त्र विहित न होने से उक्त सूत्र का कथन न्याय सङ्गत नहीं है॥ ३९॥

**पुन: आक्षेप का कथन करते हैं—**

**( २६१३ ) होतुस्तथेति चेत्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = ब्रह्मा के समान ही, होतु: = होता का भी नियम होना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहें, तो?

**व्याख्या—** ब्रह्मा के वरण से पूर्व जैसे- ब्रह्मकर्तृक कर्म सम्पादित नहीं हो सकता, वैसे ही होता के वरण के पूर्व कोई भी होतृकर्तृक कर्म नहीं हो सकता॥ ४०॥

**अगले सूत्र में उक्त आक्षेप का निस्तारण करते हैं—**

**( २६१४ ) न कर्मसंयोगात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मसंयोगात् = कर्म के साथ संयोग प्राप्त होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं।

**व्याख्या—** 'अवृत्तसामिधेनीरन्वाह' होता का सम्बन्ध उसके वरण के पूर्व ही सामिधेनीय कर्म के साथ प्राप्त है, वह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता है। इसलिए होता के वरण की आवृत्ति होनी चाहिए। जबकि ब्रह्मा का वरण अदृष्टार्थक न होकर दृष्टार्थक है तथा सोमयाग के शुभारम्भ में ही वरण हो जाने से ब्रह्मा के वरण की आवृत्ति आवश्यक नहीं रहती॥ ४१॥

**आतिथ्या इष्टि में सम्पादित होने वाले प्रोक्षण आदि कर्म के विषय में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६१५ ) यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** यज्ञोत्पत्युपदेशे = याग के निकटस्थ देश में, निष्ठितकर्म = प्रोक्षणादि कर्म, प्रयोगभेदात् = प्रयोग की भिन्नता के कारण, प्रतितन्त्रम् = प्रत्येक तन्त्र में, क्रियेत = क्रियान्वित होते हैं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि आतिथ्या इष्टि के अन्तर्गत जो प्रोक्षण आदि कर्म सम्पादित होते हैं, उसके सन्दर्भ में 'यदातिथ्यायां बर्हि: तदुपसदां तदग्नीषोमीयस्य ' आदि निर्देश प्राप्त है। अस्तु; इस सामान्य बर्हिष् में प्रोक्षण आदि संस्कारों की सम्पन्नता प्रत्येक कर्म में अलग-अलग किया जाना चाहिए॥ ४२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## ( २६१६ ) न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि॥ ४३॥

**सूत्रार्थ—** न वा = ऐसा नहीं है, हि = क्योंकि, कृतत्वात् = वे प्रोक्षण आदि कर्म तो पूर्व में ही किये जा चुकते हैं, उपदेश: = उक्त वाक्य को उपदेश ही समझना युक्त है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त पूर्वपक्षी कथन सर्वथा अयुक्त है। 'बर्हि: प्रोक्षति' में बर्हिष् का प्रयोग द्वितीया विभक्ति में किये जाने से वह बर्हिष् के संस्कार का कथन करता है तथा उक्त बर्हिष् के एक ही होने के कारण प्रति प्रयोग प्रोक्षण आदि संस्कार कर्म की आवृति किया जाना अनावश्यक ही माना जायेगा॥ ४३॥

## ( २६१७ ) देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तते॥ ४४॥

**सूत्रार्थ—** देशपृथक्त्वात् = देश भिन्नता के कारण, मन्त्र: = मन्त्र की, अभ्यावर्तते = आवृत्ति की जाती है।

**व्याख्या—** देश पृथक्त्व होने से 'ऊर्णाम्रदसन्त्वा स्तृणामि' मन्त्र की आवृत्ति की जानी चाहिए। प्राग्वंश को आतिथ्या का देश कहा गया है तथा उत्तर-वेदि को अग्नीषोमीय का। देश पृथक्त्व का यही आशय है॥ ४४॥

**अन्य देश में बर्हिष् के ले जाने की स्थिति में संनहन मन्त्रों के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( २६१८ ) सन्नहनहरणे तथेति चेत्॥ ४५॥

**सूत्रार्थ—** सन्नहनहरणे = कुशों को बाँधकर ले जाने के क्रम में भी, तथेति चेत् = इसी प्रकार करें, तो?

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के कथनानुसार 'पूषा ते ग्रन्थिम्' आदि मंत्र के द्वारा (बर्हि को बाँधे जाने) संनहन करने तथा 'बृहस्पतेर्मूर्ध्ना हरामि' मन्त्र द्वारा हरण (ले जाना) के क्रम में दोनों मन्त्रों की आवृत्ति की जानी चाहिए॥ ४५॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त सूत्र देते हैं—**

## ( २६१९ ) नान्यार्थत्वात्॥ ४६॥

**सूत्रार्थ—** अन्यार्थत्वात् = अर्थपृथक्त्व होने से, न = उक्त कथन युक्त नहीं।

**व्याख्या—** उक्त दोनों मन्त्र सन्नहन एवं हरण के लिए न होकर, दर्भ देश में बर्हि के छेदन के समय तथा छेदन के अनन्तर उसके सन्नहन एवं हरण के लिए है। उस बर्हिष् के मात्र एक होने से आवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतएव इनमें प्रसङ्ग का नियम होना चाहिए। शबर स्वामी के भाष्य में उल्लेख है- 'यथा तत्रैवातिथ्यायां यदा गार्हपत्यदेशादाहवनीयदेशं प्रोक्ष्य बर्हिर्नीयते न तदाहरणमन्त्र: प्रयुज्यते एवमिहापि' जिस प्रकार आतिथ्या इष्टि में जब गार्हपत्य देश से आहवनीय देश में बर्हि को प्रोक्षणरूप संस्कार हेतु लाया जाता है, तब आहरण मंत्र का प्रयोग नहीं किया जाता। अस्तु; यहाँ मन्त्रों की आवृत्ति नहीं की जाती॥ ४६॥

## ॥ इति द्वादशाध्यायस्य प्रथम: पाद:॥

# ॥ अथ द्वादशाध्याये द्वितीयः पादः ॥

**अब इस पाद के शुभारम्भ में विहार अग्नि का वैदिक कर्म होने के क्रम में अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६२० ) विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात्॥ १॥**

**सूत्रार्थ—** विहारः = गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय ये तीनों अग्नियाँ, प्रभुत्वात् = प्रभुत्व सम्पन्न होने से, लौकिकानाम् = लौकिक कर्मों के, अर्थम् = प्रयोजन को भी, साधयेत् = सिद्ध करती हैं।

**व्याख्या—** विहार अग्नि अर्थात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि एवं आहवनीय यह तीनों अग्नियाँ लौकिक कर्मरूपी प्रयोजनों को भी सिद्ध करती हैं; पक्वता, दग्धता एवं प्रकाशत्व आदि कर्मों की क्षमता होने से वे अग्नियाँ लौकिक कर्मों के अर्थ की साधक हैं॥ १॥

**( २६२१ ) मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्॥ २॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, तद्वत् = वैसे ही, मांसपाक = मांस पकाने का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध भी है।

**व्याख्या—** विहार अग्नि में मांस पकाने का भी प्रतिषेध प्राप्त है। इससे भी इसे लौकिक कर्म के लिए भी मानना चाहिए॥ २॥

**पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने अगले चार सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की—**

**( २६२२ ) निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ—** निर्देशात् वा = निर्देश की प्राप्ति होने से ही विहार अग्नि में, वैदिकानाम् = वैदिक कर्मों का होना ही, स्यात् = संभव है।

**व्याख्या—** निर्देश वाक्यों के अनुसार विहार अग्नि में केवल वैदिक कर्मों को सम्पादित करना चाहिए। उदाहरणार्थ- गार्हपत्ये पत्नीः संयाजयन्ति, दक्षिणाग्नौ फलीकरणं होमं करोति, यदाहवनीये जुहोति। इस वाक्य से तीनों प्रकार की अग्नियों में होम अर्थात् लौकिक कर्म न करके, वैदिक कर्म ही किया जाना न्यायोचित है। माधवाचार्य जी ने अपनी न्यायमाला में भी यही कहा है-'अग्निहोत्रादिर्वैदिकार्थोविहारः'॥ ३॥

**( २६२३ ) सति चौपासनस्य दर्शनात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, औपासनस्य = औपासन अग्नि की, सति = उपस्थिति के, दर्शनात् = दर्शन होने से भी यही उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** यदि विहार अग्नि में लौकिक कर्मों की सम्पन्नता प्राप्त होती, तो विहार अग्नि के रहते हुए भी लौकिक कर्म के लिए औपासन अग्नि का दर्शन प्राप्त न होता है, जबकि वह प्राप्त है। अतः इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि विहार अग्नि मात्र वैदिक कर्मों के लिए ही है॥ ४॥

**( २६२४ ) अभावदर्शनाच्च॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, अभावः = लौकिक कर्मों के निर्देश का अभाव, दर्शनात् = दृष्टिगोचर होने से भी यही सिद्ध है।

**व्याख्या—** विहार अग्नियों में लौकिक कर्म के निर्देश का अभाव भी यही बतलाता है कि वे वैदिक कर्मार्थ ही हैं॥ ५॥

**( २६२५ ) मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाऽऽहुतिसंयोगात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** वा = और भी, आहुतिसंयोगात् = विहार अग्नि के साथ आहुति का सम्बन्ध होने से, मांसपाकः = अपवित्र मांस के पाक का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध, विहित = विहित, स्यात् = है।

**व्याख्या—** यज्ञ प्राणिमात्र का उपकारक है। केवल मनुष्य की जिह्वा के रसास्वादन हेतु निरीह पशुओं की हिंसा करके उनके मांस को पकाना, यज्ञ की पवित्रतम भावना के अनुकूल न होने से उसमें यज्ञाग्नि में मांस पकाने का स्पष्ट प्रतिषेध प्राप्त है॥ ६॥

## ( २६२६ ) वाक्यशेषो वा दक्षिणस्मिन्नारभ्यविधानस्य॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** दक्षिणस्मिन् = दक्षिणाग्नि में होने वाले, अनारभ्य विधानस्य = अनारभ्यविधान का यह, वाक्यशेष: वा = वाक्यशेष भी इसका प्रमाण है।

**व्याख्या—** 'पत्नीव्रतं श्रपयति' दक्षिणाग्नि में होने वाले अनारभ्य विधान का यह वाक्य शेष है। शबर स्वामी ने लिखा है- 'दक्षिणाग्नौ पत्न्या व्रतस्य श्रपणमाम्नातम्' यजमान पत्नी ने यदि किसी भी कारण से होमार्थ पुष्टिकारक व्रत किया हो, तो दक्षिणाग्नि में उक्त पुष्टिकारक पाक का श्रपण (पकाना) सम्भव है। आशय यह है कि दक्षिणाग्नि में पाक कर्म करने की छूट है, गार्हपत्य एवं आहवनीय में नहीं॥ ७॥

**सवनीय पशु में पुरोडाश का किया जाना उचित है, यही बतलाने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( २६२७ ) सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशुपुरोडाशो न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात्॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** सवनीये = पशुदान के समय में,छिद्रापिधानार्थत्वात् = यज्ञीय कर्म में अज्ञानतावश यदि किसी प्रकार की विगुणता आ गई हो, तो उसके लिए; पशुपुरोडाश: = पशु-पुरोडाश (पशुदान के पश्चात्), न = नहीं, स्यात् = करना चाहिए, अन्येषाम् = अन्य कर्मों से, एवमर्थत्वात् = उस कार्य की सिद्धि हो जाती है।

**व्याख्या—** पशुदान के समय में पशु के लिए किसी भी पुरोडाश के सम्पादन की आवश्यकता नहीं रहती। अज्ञानतावश यदि उक्त सवनीय में कतिपय न्यूनाधिकता की प्राप्ति होती हो, तो उस दोष के निवारणार्थ अन्य कर्म सम्पादित करके दोष का अपाकरण (दोष को दूर) किया जा सकता है॥ ८॥

**पूर्वपक्ष के समाधान हेतु सिद्धान्त पक्ष का प्रस्तुतीकरण अगले दो सूत्रों में किया गया है—**

## ( २६२८ ) क्रिया वा देवतार्थत्वात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** देवतार्थत्वात् = देवता के संस्कारार्थ होने से, क्रिया वा = पुरोडाश किया ही जाना चाहिए।

**व्याख्या—** संस्कारार्थ अर्थात् देवता के संस्कार उसका सम्बन्ध होने के कारण पुरोडाश (पशु पुरोडाश) किया जाना चाहिए। अन्य कर्म से उसकी पूर्ति नहीं होती॥ ९॥

## ( २६२९ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = प्रमाणों की उपलब्धता से भी उक्त अर्थ उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** पुरोडाश की कर्त्तव्यता का कथन करने वाला प्रमाणपरक वाक्य है- 'पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने चरन्ति'। इस लिङ्गरूप प्रमाण की प्राप्ति से पुरोडाश किया जाना उपपन्न होता है॥ १०॥

**सवनीय पुरोडाश में हविष्कृत् के आह्वान के सन्दर्भ में आचार्य अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २६३० ) हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात् प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहूता सा कुर्याद् विद्यमानत्वात् ॥ ११॥

**सूत्रार्थ—** सवनीयेषु = सवनीय पशु पुरोडाशों में, हविष्कृत् = हवि निर्माण करने वाली का आह्वान, न = नहीं, स्यात् = हुआ करता, प्रकृतौ = प्रकृति में यदि आह्वान किया जाता है, यदि = तथा यदि वह, सर्वार्था = सर्वार्थ है तो, वह उक्त हविष्कृत्, पशुम् = पशु के दान के अवसर पर, प्रत्याहूता सा = उसका आहूत होना प्राप्त है, विद्यमानत्वात् = विद्यमान होने से, कुर्यात् = उसी के द्वारा आह्वान किया जायेगा।

**व्याख्या—** हविष्कृत् का आह्वान पशु के लिए होने से सवनीय पुरोडाश में उसका आह्वान नहीं होना चाहिए। पशु के लिए आह्वान किये जाने पर आहूत हविष्कृत् की विद्यमानता सवनीय पुरोडाश में रहती ही है। वहाँ पर उपस्थित होने से, वह समस्त कार्य सम्पन्न कर देगी। प्रकृति में सभी कार्यों के सम्पादनार्थ उसका आह्वान हो ही चुका था; अत: पुन: आह्वान किये जाने की आवश्यकता ही नहीं होती॥ ११॥

**अगले दो सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि तीसरे सवन में हविष्कृत् के आह्वान की पुनरावृत्ति नहीं हुआ करती—**

**( २६३१ ) पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवनकेषु स्यात्सौम्याश्विनयोश्चापवृत्तार्थत्वात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कृते = संस्कारित, पशौ = पशु पुरोडाश में, विधानात् = विधान प्राप्त होने से, तार्तीयसवनकेषु = तीसरे सवन के पुरोडाश में, च = तथा, सौम्याश्विनयो: = सौम्य आश्विन चरु में भेद होने के कारण हविष्कृत् का आह्वान, अपवृत्तार्थत्वात् = गतार्थक होने से, स्यात् =होता है।

**व्याख्या—** तीसरे सवन में पुरोडाश के समय तथा सौम्याश्विनौ में भेद होने के कारण हविष्कृत् का आह्वान किया जाता है; किन्तु पशु के दान कर्म को सम्पादित करते समय उसकी आवश्यकता नहीं हुआ करती। उस अवसर पर पशु की हविष्कृत् कृतार्थ होने के कारण अपवृत्त होती है॥ १२॥

**( २६३२ ) योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्ग: स्यात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, यज्ञाय = यज्ञ के लिए ही हविष्कृत् की, योगात् = विनियुक्तता होने से, तद्विमोक: = उससे छुटकारा, विसर्ग: = अनुष्ठान के समापन के अनन्तर ही, स्यात् = हो सकता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय अनुष्ठान के सम्पादनार्थ ही हविष्कृत् को नियोजित किया जाता है। इसलिए यज्ञ के समापन तक उसका वहाँ रहना अनिवार्य रहता है। उसका विमोक (छुटकारा) तभी संभव है, जब याग पूर्ण हो जाये। इसी से तृतीय सवन के पुरोडाश में हविष्कृत् का आह्वान नहीं हुआ करता॥ १३॥

**निशियज्ञ में अमावस्या तन्त्र के प्रयोग के सन्दर्भ में अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६३३ ) निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्ति: स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** निशि यज्ञे = निशियज्ञ में, प्राकृतस्य = प्राकृत-अमावस्या तन्त्र की, अप्रवृत्ति: = प्रवृत्ति नहीं, स्यात् = होती है , प्रत्यक्षशिष्टत्वात् = क्योंकि उक्त इष्टि प्रत्यक्ष शिष्ट अर्थात् उपदिष्ट है।

**व्याख्या—** निशियज्ञ रूपी इष्टि का प्रत्यक्ष विधान होने से निशियज्ञ में दर्शेष्टि तन्त्र की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। स्वतन्त्र श्रुति प्राप्त होने से वह किसी का शेष- अङ्ग नहीं है। उक्त निशियज्ञ का विधायक वाक्य इस प्रकार है- 'अग्नये रक्षोघ्ने अष्टाकपालं निर्वपेत्। यो रक्षोभ्यो बिभीयात्'। इसलिए तन्त्र भिन्नता प्राप्त है॥ १४॥

**( २६३४ ) कालवाक्यभेदाच्च तन्त्रभेद: स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, कालवाक्यभेदात् = काल एवं वाक्य का भेद होने से, तन्त्रभेद: = तन्त्र में भेद की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** काम्येष्टि का अनुष्ठान मध्यरात्रि में तथा दर्श इष्टि को दूसरे दिन अनुष्ठित किया जाता है। दोनों में काल भेद की प्रत्यक्ष प्राप्ति होने के कारण तन्त्र में भेद का होना उचित ही है॥ १५॥

**( २६३५ ) वेद्युद्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** वेद्युद्धननव्रतम् = वेदिका का उत्खनन एवं व्रत का ग्रहण, तदेव = दर्शेष्टि के समान ही, स्यात् = होंगे, विप्रतिषेधात् = क्योंकि (अन्य प्रकार से) अन्यथा होने से वैगुण्यता (विप्रतिषेध) की प्राप्ति होगी।

**व्याख्या—** कतिपय अङ्ग अपनी अवस्था में यथावत् बने रहते हैं, प्रयोग भिन्नता के रहते हुए भी समस्त अङ्गों की आवृत्ति नहीं हुआ करती। इसलिए दर्शेष्टि के लिए विनिर्मित की गई वेदिका भी वही (यथावत् बनी) रहती है और तत्सम्बन्धी व्रत ग्रहण भी उसी प्रकार यथावत् वही रहा करता है, क्योंकि यदि उसका खनन किया जाता है, तो उससे दर्शेष्टि में विगुणता उत्पन्न हो सकती है॥ १६॥

**पूर्वपक्ष का समुचित समाधान करने के लिए आचार्य ने अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष स्थापित किया—**

**( २६३६ ) तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** सवनीयवत् = सवनीय पुरोडाश के समान, तन्त्रमध्ये = तन्त्र के मध्य में, विधानात् वा = विधान के प्राप्त होने से भी, तत्तन्त्रा = वह काम्येष्टि दर्श-तन्त्र से युक्त है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि दर्शतन्त्राधीन होने के कारण निशियज्ञ-काम्येष्टि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'अमावस्यायां निशि निर्वपेत्' अमावस्या में ही काम्येष्टि का विधान विहित है। सवनीय पुरोडाश का विधान पशु तन्त्र में प्राप्त होने से जैसे उनको पशु तन्त्र वालों के द्वारा ही स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार से अमावस्या- दर्श के तन्त्र में विधान किये जाने से काम्येष्टि भी दर्शतन्त्र वाली है॥ १७॥

**( २६३७ ) वैगुण्यादिध्माबर्हिर्न साधयेदग्न्यन्वाधानं च यदि देवतार्थम्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** अग्न्यन्वाधानम् = अग्नि-अन्वाधान, च = भी, यदि = यदि, देवतार्थम् = देवता के लिए हो, तो वैगुण्यात् = विगुणता के होने से, इध्माबर्हिः = इध्म तथा बर्हि काम्येष्टि के, साधयेत् = साधक, न = नहीं हो सकते।

**व्याख्या—** काम्येष्टि (निशियाग) का देवता भिन्न है, अतः इध्म तथा बर्हि आदि अङ्गों के द्वारा काम्येष्टि-निशियज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। निशियाग में दर्शेष्टि के सम्पूर्ण कृत्य नियमानुसार होते हैं, किन्तु इध्म तथा बर्हि आवृत्ति रूप में नये लाने होते हैं और अग्नि-अन्वाधान भी अलग से करना पड़ेगा॥ १८॥

**सौर्यादि विकृतियों में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए, यह बतलाने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६३८ ) आरम्भणीया विकृतौ न स्यात्प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता पुनस्तदर्थेन॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** आरम्भणीया = आरम्भणीया नामक इष्टि, विकृतौ = विकृति सौर्यादि में, न = नहीं करनी चाहिए; क्योंकि, प्रकृति = यह प्रकृतिभूत- दर्शपूर्णमास के, कालमध्यत्वात् = काल में पड़ने से, कृता = पहले ही कर ली जाती है, तदर्थेन = उसी के लिए, पुनः उसे सम्पादित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

**व्याख्या—** आरम्भणीया इष्टि विकृति याग सौर्यादि में नहीं की जानी चाहिए। 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्' उक्त वाक्य द्वारा जीवन-पर्यन्त काल के अङ्गत्व का विधान प्राप्त होता है। एक समय में अनुष्ठित किया जाने वाला प्रयोग एक ही हुआ करता है। विकृति सौर्यादि का उसमें प्रयोग प्राप्त है, अतएव इसको पुनः किये जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहा करती॥ १९॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगले दो सूत्रों में सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २६३९ ) स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** कालस्य = काल के, अशेषभूतत्वात् = प्रकृति का अङ्ग न होने से उक्त विकृति याग सौर्यादि में आरम्भणीया इष्टि, स्यात् वा = की भी जानी चाहिए।

**व्याख्या—** उपर्युक्त वाक्य 'यावज्जीवं' आदि में किया गया काल का विधान प्रकृति का शेषभूत-अङ्ग न होकर निमित्तपरक है। अतः प्रत्येक पर्व में पृथक् प्रयोग प्राप्त होने से तथा तन्त्र के बीच में उसकी प्राप्ति न होने से विकृति याग सौर्यादि में आरम्भणीया इष्टि अनुष्ठित की जानी चाहिए॥ २०॥

**( २६४० ) आरम्भविभागाच्च॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, आरम्भविभागात् = आरम्भ का विभाग होने से भी आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए।

**व्याख्या—** प्रकृतियाग- दर्शपूर्णमास के प्रारम्भ तथा विकृतियाग सौर्यादि के प्रारम्भ में भेद होता है। इस भेद के कारण प्रत्येक प्रधान में अङ्गों की आवृत्ति भी करनी पड़ती है। इसलिए विकृति याग सौर्यादि में भी आरम्भणीया इष्टि अनुष्ठित की जानी चाहिए॥ २१॥

**प्रधानों के धर्म के प्रतिषेध में बहु धर्मों की कर्त्तव्यता बतलाने के प्रयोजन से पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६४१ ) विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** विप्रतिषिद्धधर्माणाम् = प्रतिषेधपूर्ण-विरोधी धर्मों के, समवाये = समवाय में, भूयसाम् = सर्वाधिक अङ्गों में जिनकी, सधर्मत्वम् = सहधर्मिता हो, स्यात् = उन्हीं का अनुष्ठान किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** जितने भी प्रधानयाग एक ही साथ समवाय रूप में अनुष्ठित किये जाते हैं तथा उन यागों के धर्मों में यदि पारस्परिक प्रतिषेध-विरोध का होना प्राप्त हो, तो उस स्थिति में वही धर्म अनुष्ठित किये जायेंगे, जिन धर्मों की सदृशता-सहधर्मिता सर्वाधिक यागों में होगी। पूर्वपक्षी के कथन का यही सार-संक्षेप है॥ २२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६४२ ) मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्वचोदनात् = पूर्व में पठित होने से, लोकवत् = लोक व्यवहार की भाँति, मुख्यम् वा = प्रमुख-प्रधान कर्म के धर्मों को ही अनुष्ठित किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सिद्धान्त पक्ष के अनुसार तुल्य संख्याओं वाले मुख्य अङ्गों में यदि प्रतिषेधात्मक प्रतीति होती हो, तो प्रथम पठित मुख्य-प्रधान अङ्गों के धर्मों का ही अनुष्ठान किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ- 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेदपराह्णे सारस्वतीमथाज्यंस्त यजत इति' पाठ के क्रम में पहले पढ़े जाने के कारण उक्त दृष्टान्त वाक्य में आग्नावैष्णव एकादश कपाल के धर्म की कर्त्तव्यता विहित है॥ २३॥

**( २६४३ ) तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = इस प्रकार से, अन्यार्थदर्शनम् = अन्य अर्थ का दर्शन, च = भी होता है।

**व्याख्या—** उक्त कथन को स्वीकार करने की स्थिति में अन्य प्रमाण- 'अध्वरस्येव पूर्वमथाग्नेयीज्यते' की भी सङ्गति बैठ जाती है। अतः उक्त अर्थ की उपपन्नता है॥ २४॥

**अब सूत्रकार अङ्ग विरोध की स्थिति में प्रधान कर्म के धर्मों का महत्त्व बताते हैं—**

**( २६४४ ) अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** अङ्गगुणविरोधे च = प्रधान के धर्म के साथ अङ्ग के गुणों-धर्मों का विरोध प्राप्त हो, तो भी तादर्थ्यात् = अङ्ग के तदर्थ (प्रधान के लिए होने से) प्रधान के ही धर्म अनुष्ठित होंगे।

**व्याख्या—** अङ्ग प्रधान के लिए ही हुआ करते हैं। अस्तु जहाँ प्रधान के गुण के साथ प्रतिषेध प्राप्त हो, वहाँ प्रधान के ही गुणों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ- 'य इष्ट्या पशुना सोमेनाग्रयणेन वा यजेत सोयमावास्यायां पौर्णमास्यां वा' इस वाक्य में दीक्षणीया इष्टि तथा सोमयाग दोनों का पर्व के साथ सम्बन्ध प्राप्त है। यहाँ पर सोमयाग के प्रधान होने के कारण पर्व के दिनों में ही इसे अनुष्ठित किया जाना चाहिए। पर्व दिवस का तात्पर्य दर्श-(अमावस्या) एवं पौर्णमासी-(पूर्णिमा) से है॥ २५॥

**अगले क्रम में आचार्य ने कहा कि परिधि में परिधि तथा यूप दोनों के धर्मों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए—**

**( २६४५ ) परिधिर्द्व्यर्थत्वादुभयधर्मा स्यात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** परिधिः = परिधि, द्व्यर्थत्वात् = दो अर्थ वाली एवं, उभयधर्मा = उभयधर्मा, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** परिधि एवं यूप दोनों के धर्म परिधि में घटित होने से वह उभय धर्मा (दोनों के धर्म वाली) है। जिस प्रकार से मार्जन आदि परिधि के धर्म होते हैं, उसी प्रकार से नियोजन यूप का भी कार्य है। अतएव परिधि के विधान के अनुसार प्रोक्षण आदि यूप के धर्मों को भी अनुष्ठित किया जाना चाहिए॥ २६॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( २६४६ ) यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात्॥ २७॥

**सूत्रार्थ—** विरोधे तु = जिस स्थल पर दोनों के धर्मों का विरोध हो, वहाँ पर तो, मुख्यानन्तर्यात् = मुख्य की ही सामीप्यता होने से, यौप्यः = यूप के धर्म को ही अनुष्ठित किया जाना, स्यात् = उचित है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष के कथनानुसार जहाँ पर यूप के धर्म में एवं परिधि के धर्मों में विरोध ज्ञात हो, वहाँ पर यूप के ही धर्मों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए, क्योंकि उसके साथ मुख्य की सामीप्यता अधिक है॥ २७॥

**पूर्वपक्ष के समाधान हेतु आचार्य ने अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—**

## ( २६४७ ) इतरो वा तस्य तत्र विधानात्॥ २८॥

**सूत्रार्थ—** इतरः वा = यूप से इतर परिधि के ही धर्मों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए, तत्र = क्योंकि वहाँ, तस्य = उस (परिधि में) पशु-नियोजन का, विधानात् = विधान प्राप्त होने से।

**व्याख्या—** यज्ञीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही गाय आदि पशुओं को परिधि में बाँधा जाता है। बाँधने के अनन्तर उनका दूध निकाल कर उससे दही आदि पदार्थ यज्ञीय प्रयोजनार्थ विनिर्मित किये जाते हैं। अतः यूप के धर्मों को अनुष्ठित करने के अनन्तर परिधि को मिटाना नहीं चाहिए। सत्वक् होने के कारण परिधि का छिलका उतारने से उसका सत्वक्त्व विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह निकला कि परिधि के साथ यदि यूप के धर्मों का विरोध प्राप्त नहीं है, तभी उसके (परिधि के) धर्मों को अनुष्ठित करना चाहिए॥ २८॥

## ( २६४८ ) उभयोश्चाङ्गसंयोगः॥ २९॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा, उभयोः = उक्त दोनों पक्षों का, अङ्गसंयोगः = अङ्ग के साथ संयोग है।

**व्याख्या—** शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कहा भी है- उभयोश्च पक्षयोरंगेनैव धर्मस्य संयोगः। न क्वचित् प्रधानस्य प्रत्यासत्तिः। नासत्योपकारकविशेषः अतः परिधिधर्मः कर्त्तव्यः। अस्तु अङ्ग के साथ जहाँ पर दोनों पक्षों का सम्बन्ध प्राप्त हो, वहाँ पर परिधि के ही धर्मों को अनुष्ठित किया जाना चाहिए॥ २९॥

**यहाँ सवनीय तथा पुरोडाश में पाशुक तन्त्र के आदान के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

## ( २६४९ ) पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वैकृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** पशुसवनीयेषु = सवनीय पुरोडाश प्रसङ्ग में, विकल्पः = विकल्प की प्राप्ति, स्यात् = होती है, उभयोः = दोनों के अङ्गों का, अश्रुतिभूतत्वात् = श्रुति वचन प्राप्त न होने से, वैकृतः = इसके अङ्गों का ग्रहण, चेत = निश्चित नियमों के अनुसार होता है,

**व्याख्या—** पशुदान की प्रयुक्तता एवं पुरोडाश की प्रयुक्तता में विकल्प प्राप्त है; क्योंकि दोनों में से प्रत्यक्षतः किसी के भी अङ्गों का विधान उपलब्ध नहीं है। इसलिए इनकी प्राप्ति अतिदेश शास्त्र के द्वारा होती है॥ ३०॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

## ( २६५० ) पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाम्नानात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** वा = यह पद उक्त पूर्वपक्ष के परिहारार्थ एवं सिद्धान्तपक्ष के स्थापनार्थ प्रयुक्त है। पाशुकम् = तन्त्रीपशु से सम्बन्धित प्रयोग है, तस्य = उसका, वैशेषिकाम्नानात् = विशिष्ट रूप से आम्नान (कथन)

किये जाने से, विकल्पे = यदि विकल्प की स्थिति बनती हो, तत् अनर्थकम् = तो वह आम्नान निरर्थक, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** पशुदान के प्रयोग में तथा पुरोडाश हवन के प्रयोग में (इन दोनों में) पशु प्रयोग ही प्रधान अर्थात्- तन्त्री है, जबकि पुरोडाश प्रयोग उसमें ही समाहित हो जाने से (तन्त्री) प्रधान नहीं है। दोनों में विकल्प मानने पर उपर्युक्त आम्नान ही अर्थहीन हो जायेगा, ऐसा समझना चाहिए॥ ३१॥

**( २६५१ ) पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, पशो: = पशुदान के प्रयोग रूप तन्त्र का, विप्रकर्ष: = विप्रकर्ष (दीर्घकालिक) होने से, तन्त्र मध्ये = तन्त्र के मध्य में, विधानात् = पुरोडाशों का विधान प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** प्रात: सवन एवं सायं सवन में ही पशु के दान का प्रयोग प्राप्त है। पुरोडाश का प्रयोग मात्र माध्यन्दिन सवन में ही होता है। अतएव पाशुक प्रयोग की ही प्रधानता होने से वही तन्त्री (प्रधान) है और पुरोडाश प्रयोग प्रासंगिक है, ऐसा समझना चाहिए॥ ३२॥

**अब प्रकृति एवं विकृति का तन्त्र समान होने की स्थिति में अनुशासन समझाते हैं—**

**( २६५२ ) अपूर्वं च प्रकृतौ समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रकृतौ समानतन्त्र = जहाँ पर प्रकृति तथा विकृति के तन्त्रों में समानता हो, वहाँ, अपूर्वम् = प्रकृति तन्त्र हुआ करती है, चेत् = यदि ऐसा माना जाता है तो, अनित्यत्वात् = विकृति के अनित्य होने के कारण वह, हि = सुनिश्चित ही, अनर्थकम् = अनर्थक, स्यात् = हो जाता है।

**व्याख्या—** प्रकृति तथा विकृति में जहाँ पर समानता की स्थिति हो, वहाँ पर नित्यता के कारण (प्रकृति के नित्य होने से) क्या प्रकृति तन्त्र का ही प्रयोग किया जाना चाहिए, इसके समाधान में सूत्रकार ने कहा कि नैमित्तिक इच्छा द्वारा नित्यकर्म की इच्छा को बाँध लिए जाने से समान तन्त्र होने की स्थिति में विकृति तन्त्र को ही मान्यता मिलनी चाहिए। शाबर भाष्य का भी कथन है- 'नैमित्तिकी चिकीर्षा नित्यां चिकीर्षां बाधते'। इस प्रकार से प्रकृति एवं विकृति में समान तन्त्र होने की दशा में विकृति का ही होना सिद्ध होता है॥ ३३॥

**आग्रयण में प्रसून बर्हिषों का ही ग्रहण माना गया है—**

**( २६५३ ) अधिकश्च गुण: साधारणेऽविरोधात्कांस्यभोजिवदमुख्येऽपि॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, साधारणे = सामान्य-साधारण में, अविरोधात् = अविरोध प्राप्त होने से, कांस्यभोजिवत् = कांस्यपात्र में भोजन करने का व्रत निभाने वाले शिष्य के समान, अमुख्ये अपि = मुख्य न होने की स्थिति में भी, अधिक: = अधिक, गुण: = गुण किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** सूत्रकार का कथन है कि अमुख्य आग्रयण में मात्र प्रसूनमय-पुष्पित बर्हि का ही ग्रहंण किया जाना उचित है- उदाहरणार्थ- गुरु के मुख्य होते हुए भी अमुख्य शिष्य को काँस के बर्तन में भोजन करने का विधान है। वैसे ही साधारण में किसी प्रकार का प्रतिषेध न होने पर अमुख्य होते हुए भी अधिक गुण का ही ग्रहण करना चाहिए॥ ३४॥

**उक्त कथन में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २६५४ ) तत्प्रवृत्त्या तु तन्त्रस्य नियम: स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** तत्प्रवृत्त्या तु = प्रवृत्ति के अनुसार तो, तन्त्रस्य = द्यावा-पृथिवी तन्त्र का, नियम: = नियम, स्यात् = होता है, यथा = जिस प्रकार, सूक्तवाकेन = सूक्तवाक् मंत्र की प्रवृत्ति होने से, पाशुकम् = पाशुकतन्त्र का नियम प्राप्त है।

**व्याख्या**— पुष्पित दर्भ के नियम की प्रवृत्ति होने के कारण द्यावा-पृथिवी तन्त्र को ही अनुष्ठित किया जाना चाहिए; क्योंकि वही प्रधान है। जिस प्रकार इसी पाद के गत ३१ वें सूत्र के अन्तर्गत पाशुक तन्त्र का विधान किया गया है, उसी तरह से यहाँ पर भी द्यावा- पृथिवी का ही तन्त्र किया जाना मान्य है॥ ३५॥

**अगले दो सूत्रों में समाधान के भाव से सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की—**

**( २६५५ ) न वाऽविरोधात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ**—अविरोधात् = किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण, न वा = तन्त्र का नियम होना सम्भव नहीं।

**व्याख्या**— आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार से प्रसून बर्हि ऐन्द्राग्न का अङ्ग है, उसी प्रकार से वह द्यावा-पृथिवी का भी अङ्ग है। विरोध न होने तथा अतिदेश से दोनों मन्त्रों की प्राप्ति होने से दोनों में से किसी भी तन्त्र को अनुष्ठित किया जा सकता है अर्थात् तन्त्र का नियम लागू नहीं होता॥ ३६॥

**( २६५६ ) अशास्त्रलक्षणत्वाच्च॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ**— अशास्त्रलक्षणत्वाच्च = किसी प्रमाण स्वरूप शास्त्रीय लक्षण के प्राप्त न होने से उक्त कथन मान्य है।

**व्याख्या**— उक्त प्रसून बर्हि के लिए किसी भी शास्त्रीय-श्रुतिवचन रूप प्रमाण की उपलब्धता न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से अमुक का तन्त्र होना चाहिए और अमुक का नहीं। आशय यह है कि इस प्रकार का नियम न बनाये जा सकने से दोनों की ही तन्त्रता माननी चाहिए॥ ३७॥

**॥ इति द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥**

# ॥ अथ द्वादशाध्याये तृतीयः पादः ॥

**इस पाद के प्रारम्भ में सूत्रकार ने अष्टरात्र याग में वत्सत्वक् एवं अहत- ( नवीन वस्त्र ) का समुच्चय बतलाने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( २६५७ ) विश्वजिति वत्सत्वङ्‌नामधेयादितरथा तन्त्र भूयस्त्वादहतं स्यात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** विश्वजिति = विश्वजित् संज्ञक यज्ञीय कर्मानुष्ठान में, वत्सत्वङ्नामधेयात् = नाम को कथन किये जाने से वत्सत्वक् पहनने का विधान है, इतरथा = अथवा, तन्त्रभूयस्त्वात् = दिनों की अधिकता होने से, अहतम् = नवीन वस्त्र की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** अहीन याग अष्टरात्र के पहले दिन में सम्पादित होने वाला याग 'विश्वजित्', अष्टरात्र के अन्तिम आठवें दिन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ 'अभिजित्' तथा मध्य के समय में छह अह्नों तक सम्पादित होने वाला याग 'ज्योति' के नाम से जाना जाता है। विश्वजित् यज्ञ में वत्सत्वक्-वस्त्रविशेष का परिधान रूप में विधान प्राप्त है तथा ज्योतिष्टोम याग में अहतवास-नवीन वस्त्र का विधान किया गया है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त अष्टरात्र याग में वत्सत्वक् की ही उपयोगिता माननी चाहिए; क्योंकि नामधेय होने से वत्सत्वक् की ही प्रधानता है। क्योंकि नामधेय को प्रेरक की अपेक्षा सबलतर माना जाता है॥ १ ॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान देने के उद्देश्य से आचार्य सिद्धान्त पक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६५८ ) अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** अविरोधः वा = अहतवास एवं वत्सत्वक् में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, उपरिवासोः = उपरिवस्त्र के रूप में ही, वत्सत्वक् = वत्सत्वक् अर्थात् प्रावरण वस्त्र धारण किया जाता है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि उक्त दोनों वस्त्रों में से वत्सत्वक् शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए प्रयुक्त होता है तथा अहतवस्त्र कौपीन के रूप में धारण किया जाता है। अतएव दोनों में न तो विरोध की स्थिति है और न ही विकल्प की। दोनों की ही अपेक्षा-आवश्यकता होने से दोनों का ही समुच्चय है॥ २ ॥

**अब सूत्रकार अनुनिर्वाप्य पशुओं में पशु पुरोडाश प्रकरण में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २६५९ ) अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्र नियमः स्यात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** अनुनिर्वाप्येषु = अनुनिर्वाप्य हवियों में, भूयस्त्वेन = अह्न (दिन) की बहुत्वता होने से, तन्त्रनियमः = पुरोडाश (पशु पुरोडाश) तन्त्र की प्रसक्ति, स्यात् = होनी चाहिए।

**व्याख्या—** 'अग्नीषोमीयस्य पशुपुरोडाशमनु अष्टौ देवसुवां हवींषि निर्वपति' इस वाक्य का पाठ अग्नि के प्रकरण में किया गया है। इस वाक्य में आठ हवियों का निर्वाप प्राप्त होने से भूयस्त्व (बहुत्वता) के अनुग्रह से पुरोडाशों-हविषों के तन्त्र को ही अनुष्ठित किया जाना चाहिए॥ ३ ॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष का समाधान सिद्धान्त पक्ष से करते हैं—**

**( २६६० ) आगन्तुकत्वाद्वा स्वधर्मा स्यात् श्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात्॥ ४ ॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिविशेषात् = श्रुति विशेष से- अनुशब्द के स्वारस्य से, च = भी, इतरस्य = इतर के - पशु पुरोडाश के, मुख्यत्वात् = मुख्य होने से, आगन्तुकत्वात् वा = आगन्तुक (गौण) अमुख्य होने के कारण, स्वधर्मा स्यात् = पशु पुरोडाश का ही तन्त्र किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** आठों अनुनिर्वाप्य हविषों के आगन्तुक-गौण (अमुख्य) होने के कारण तथा पुरोडाश के पीछे निर्वाप्य किये जाने से पुरोडाश तन्त्र की मुख्यता होने से उसका ही अनुष्ठान किया जाना चाहिए॥ ४ ॥

**( २६६१ ) स्वस्थानत्वाच्च॥ ५ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, स्वस्थानत्वात् = स्व-अपने स्थान में रहने के कारण भी उक्त कथन उपपन्न होता है।

**व्याख्या—** स्व-स्थान में पशु-पुरोडाश के विद्यमान रहने के कारण भी पशु-पुरोडाश का ही तन्त्र किया जाना उचित एवं आम्नात है, ऐसा समझना चाहिए॥ ५॥

**अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष पर आक्षेप करते हैं—**

## ( २६६२ ) स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत्॥ ६॥

**सूत्रार्थ—** स्विष्टकृच्छ्रवणात् = स्विष्टकृत् का श्रवण होने से ऐसा करना सम्भव नहीं, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** स्विष्टकृत का श्रवण प्राप्त होने से पुरोडाश तन्त्र का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता॥ ६॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार उक्त आक्षेप का निराकरण करते हैं—**

## ( २६६३ ) विकारः पवमानवत्॥ ७॥

**सूत्रार्थ—** विकारः = 'अग्नये पवमानाय' वचन में जिस प्रकार से पवमानरूप गुण का विधान प्राप्त है, पवमानवत् = उसी प्रकार से पवमान के समान ही प्रकृति में भी गुण विधान है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि जिस प्रकार से अग्नि के समान पवमान गुण का विधान है, उसी प्रकार से आठों अनुनिर्वाप्य हविषों के लिए स्विष्टकृत् को भी गुण का विधान माना गया है॥ ७॥

## ( २६६४ ) अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च॥ ८॥

**सूत्रार्थ—** अविकारः वा = प्रस्तुत प्रसङ्ग में विकार का विधान न होने से अस्विष्टकृत् पद वाला वचन किया जाना युक्त है, प्रकृतिवत् = प्रकृति के समान अतिदेश होने से, च = और, चोदनां प्रति भावात् = विधान के प्रति भाव होने से है।

**व्याख्या—** सूत्रकार कहते हैं कि यह विधान प्रकृतियाग-दर्शपूर्णमास में स्विष्टकृत् के लिए विहित किया गया है। अतः विधान के प्रतिभाव से स्विष्टकृत् पद के द्वारा प्रकृति याग में विहित देवता का अनुकथन लक्षणा रूप से हुआ है। इस अधिकरण का सार संक्षेप यह है कि पुरोडाश तन्त्र का ही तन्त्रित्व मानना उचित है॥ ८॥

**अगले दो सूत्रों में सूत्रकार विभिन्न कार्यों में गुणों-धर्मों के समुच्चय एवं विकल्प के अनुशासन बताते हैं—**

## ( २६६५ ) एककर्मणि शिष्टत्वाद्गुणानां सर्वकर्म स्यात्॥ ९॥

**सूत्रार्थ—** एककर्मणि = एक कर्म के अन्तर्गत, गुणानाम् = भिन्न-भिन्न गुणों का, शिष्टत्वात् = विधान प्राप्त होने से, सर्वकर्मः = तो समस्त गुणों का समुच्चय, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** एक ही यज्ञीय कर्म में यदि भिन्न-भिन्न गुणों का विधान किया जाता है, तो सम्पूर्ण गुणों का समुच्चय होना चाहिए। उदाहरणार्थ- ऋजुमाघारयति, सततमाघारयति। इन वाक्यों में एक ही कर्म में ऋजुत्व तथा संतत्व रूप गुणों का समुच्चय है। इसी प्रकार से उक्त कर्म में भी समझ लेना चाहिए॥ ९॥

## ( २६६६ ) एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यवृत्तिः स्यात्प्रधानस्य॥ १०॥

**सूत्रार्थ—** तु = परन्तु यदि, एकार्थाः = समस्त गुणों का प्रयोजन एक ही हो, तो, विकल्पेरन् = गुणों का विकल्प मानना ही औचित्यपूर्ण है, हि = क्योंकि, समुच्चये = समुच्चय मानने की स्थिति में तो, प्रधानस्य आवृत्तिः = प्रधान कर्म की आवृत्ति, स्यात् = माननी होगी।

**व्याख्या—** यदि एक ही प्रयोजन की पूर्ति के उद्देश्य से समस्त (अनेकों) गुणों का विधान प्राप्त होता हो, तो गुणों का विकल्प मानना होगा। कारण यह कि एक ही गुण के द्वारा प्रयोजन सिद्ध हो जाने से अन्य गुणों को अनुष्ठित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और यदि अन्य गुणों को भी अनुष्ठित किया जाता है, तो प्रधान

कर्म की आवृत्ति माननी पड़ेगी, जिसके सन्दर्भ में कोई प्रमाण नहीं है॥ १०॥

**अगले सूत्र में उक्त कथन पर आशङ्का बतलाते हैं—**

**( २६६७ ) अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** अर्थवत्त्वात् = उपयोगी होने से-अपूर्व के लिए, अभ्यस्येत् = प्रधान की भी अभ्यास-रूप आवृत्ति की जानी चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?।

**व्याख्या—** उपयोगी होने से अपूर्व प्रयोजन के लिए यदि प्रधान की भी आवृत्ति की जाती है, तो वह उचित ही होगा। ऐसा माना जाये, तो उसमें क्या हानि है?॥ ११॥

**उक्त आशङ्का के निवारणार्थ आचार्य सूत्रकार ने अगले चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं—**

**( २६६८ ) नाश्रुतित्वात्॥१२॥**

**सूत्रार्थ—** अश्रुतित्वात् = श्रुति में विधान के प्राप्त न होने से, न = उक्त आशङ्का उचित नहीं।

**व्याख्या—** शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कहा है कि- 'गुणान्तरशासनस्यार्तत्वं वक्ष्यति, कालान्तरे अर्थवत्यं स्यादिति' एक गुण का उपयोग इस समय में किया जाता है, तो दूसरे समय में अन्य गुण का उपयोग किये जाने से अन्य गुणों की भी सार्थकता सिद्ध होगी। ऐसा कोई शास्त्रीय वचन (श्रुति वचन) भी प्राप्त नहीं है, जिससे यह उपपन्न होता हो कि समस्त अङ्गों के उपयोग हेतु प्रधान की भी आवृत्ति की जानी चाहिए॥ १२॥

**( २६६९ ) सति चाभ्यासशास्त्रत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, सति = जहाँ पर आवृत्ति किया जाना अपेक्षित होता है, अभ्यासशास्त्रत्वात् = वहाँ पर अभ्यास का शास्त्रीय विधान प्राप्त है।

**व्याख्या—** सूत्रकार ने कहा कि यदि कहीं पर प्रधान कर्म की आवृत्ति का होना आवश्यक होता है, तो वहाँ पर शास्त्रीय विधान की प्राप्ति है। जैसे- 'उभे बृहद्रथन्तरे भवत:' वाक्य में दो बृहद्रथन्तरों का कथन प्राप्त है, तो वहाँ पर दोनों का गान किया जाना चाहिए॥ १३॥

**( २६७० ) विकल्पवच्च दर्शयति॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, विकल्पवत् = विकल्प के समान शास्त्रीय निर्देश की प्राप्ति भी, दर्शयति = अपेक्षित आवृत्ति को दर्शाती-उपपन्न करती है।

**व्याख्या—** गुणों के विधान के विकल्प की भी प्राप्ति किसी याग में देखी जाती है। उदाहरणार्थ- 'बैल्वो वा खादिरो वा पालाशो वा' यज्ञ में यूप निर्माण के लिए बिल्व (बेल), खदिर (खैर) अथवा पलाश की लकड़ी का चयन करना विहित है। इस प्रकार से प्रस्तुत विवेचन में विकल्प की प्रतीति होती है॥ १४॥

**( २६७१ ) कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** कालान्तरे = कालान्तर में विकल्प, अर्थवत्त्वम् = सफल प्रयोजन वाला, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** 'कालान्तर में विकल्प सफल प्रयोजन वाला सिद्ध होगा', इस कथन का अभिप्राय यह है कि उपलब्धता के अनुसार यजमानगण यज्ञ में बिल्व का यूप बनायेगा, कोई खदिर की लकड़ी का यूप बनाएगा और कोई पलाश की लकड़ी का उपयोग यूप के रूप में करेगा॥ १५॥

**अगले दो सूत्रों में विगुणता के अपाकरण हेतु प्रायश्चित्तों का अनुशासन बतलाते हैं—**

**( २६७२ ) प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घात:॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, प्रायश्चित्तेषु = बहुत से प्रायश्चित्तों में, एकार्थ्यात् = एक ही प्रयोजन का भाव होने से,निष्पन्नेन = उत्पन्न होने वाले निमित्त के साथ, अभिसंयोग: = प्रायश्चित्त का संयोग हुआ करता है, तस्मात्

= इसलिए एक ही प्रायश्चित्त के अनुष्ठित होने से, सर्वस्य = समस्त दोषों का, निर्घातः = नाश हो जाता है।

**व्याख्या—** यज्ञीय अनुष्ठान के क्रम में प्रकार की विगुणता आने की स्थिति में उनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त विहित है। किसी वैगुण्य के नाश में मात्र एक ही प्रायश्चित्त विधान पर्याप्त होता है। इस प्रकार से जहाँ अनेकों प्रायश्चित्तों का विधान प्राप्त हो, वहाँ पर विकल्प मानना ही उचित है॥ १६॥

**( २६७३ ) समुच्चयस्त्वदोषोऽर्थेषुः॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** अदोषः अर्थेषु = जहाँ पर अर्थ में विगुणता (प्रत्यवाय) का श्रवण न होता हो तथा मात्र कर्म कर्त्तव्यता का श्रवण प्राप्त होता हो, समुच्चयः = वहाँ पर प्रायश्चित्त का समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** कर्म में जहाँ पर दोष न हो तथा प्रायश्चित्त का विधान निमित्त के कारण से किया गया हो, वहाँ पर प्रायश्चित्त का समुच्चय होता है। इसके लिए दृष्टान्त वाक्य इस प्रकार है– 'भिन्नेषु जुहोति स्कन्ने जुहोति' यज्ञीय पात्र में भिन्नता-भग्नता के प्राप्त होने या उसमें स्कन्न छिद्र हो जाने से उस पात्र में रखा हुआ पदार्थ यदि बह जाता है, तो उसका प्रायश्चित्त, होम है। इस वाक्य में भिन्नता एवं स्कन्नता मात्र निमित्त हैं, उन्हीं के लिए होम (प्रायश्चित्त रूप में) किया जाना विहित है। अतएव निमित्त वाले प्रायश्चित्त होने से यहाँ समुच्चय है, ऐसा समझना चाहिए॥ १७॥

**यज्ञ के अन्तर्गत अनध्याय का निर्देश होने पर मन्त्र पाठ के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत है—**

**( २६७४ ) मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात्॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्राणाम् = मन्त्रों का, कर्मसंयोगात् = कर्म के साथ सम्बन्ध होने पर, धर्मस्य = क्योंकि पाठरूप धर्म का, तन्निमित्तत्वात् = उसके लिए ही होने से, स्वधर्मेण = स्वधर्म के अनुसार मन्त्र प्रयोग होना चाहिए।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्म के अङ्गरूप में जो मन्त्र विहित किये गये हों तथा उन विहित किये गये मन्त्रों से कर्म का सम्पादन करते समय यदि दर्श = अमावस्या आदि पर्वों की प्राप्ति हो जाती है, तो पर्व में अध्ययन रूप मन्त्र पाठ का निषेध (अनध्याय) प्राप्त होने से उस दिन (पर्व के दिन) मन्त्र का उच्चारण रूप पाठ नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि अनध्याय के अवसर पर स्वाध्याय (कर्म के अङ्गभूतमन्त्रों का पाठ) नहीं करना चाहिए॥ १८॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से सिद्धान्त की स्थापना करते हैं—**

**( २६७५ ) विद्यां प्रतिविधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** विद्यांप्रति = विद्याध्ययन के प्रति अनध्याय का, विधानात् वा = विधान प्राप्त होने पर भी, सर्वकालम् = सभी दिनों में, प्रयोगः = पाठ का प्रयोग, कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य = मन्त्र में यज्ञीय कर्म के लिए मन्त्र होने से, स्यात् = होना सम्भव है।

**व्याख्या—** मन्त्र पाठ न करने (अनध्याय) का विधान यज्ञीय कर्मानुष्ठान के लिए न होकर केवल विद्याध्ययन के लिए ही है। इसलिए यज्ञादि कर्मों के समस्त दिनों में मन्त्र पाठ किया जा सकता है। अतएव मन्त्र पाठ के क्रम में किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं है॥ १९॥

**जप आदि मन्त्रों में मन्त्र-समाम्नाय सिद्ध स्वर का नियम होना बतलाने के लिए पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २६७६ ) भाषास्वरोपदेशे ऐरवत्प्रायवचनप्रतिषेधः स्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** भाषास्वरोपदेशे = भाषिक स्वर के उपदेश में, प्रायवचनप्रतिषेधः = प्रचलित मान्यता से स्वर का प्रतिषेध, ऐरवत् = 'इरा'-'गिरा' पद की तरह, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों को भाषिक स्वर कहा जाता है। सामवेदीय, ऋग्वेदीय एवं

यजुर्वेदीय ब्राह्मण भाषिक स्वरों को ही उच्चारित करते हैं। उक्त ब्राह्मण मन्त्रों में जो प्रायवचन का स्वर विद्यमान रहता है, उस पद का प्रतिषेध वैसे ही होता है, जैसे 'इरा' पद उच्चरित होने से 'गिरा' पद निषिद्ध होता है। दोनों स्वरों में (भाषिक एवं प्रायवचनिक) स्वर पृथक्त्व की भी स्थिति रहती है॥ २०॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में दिया जा रहा है—**

**( २६७७ ) मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्रोपदेशः वा = मन्त्रों का ही उपदेश हुआ करता है, भाषिकस्य = भाषिक स्वर का, न = नहीं, प्रायापत्तेः = उत्पत्ति के समय के स्वर का बाध होने के कारण, भाषिकश्रुतिः = भाषिक श्रुति है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं; क्योंकि मात्र भाषिक स्वरों का उपदेश नहीं होता, प्रत्युत विशिष्ट स्वर वाले मन्त्रों का उपदेश होता है। उत्पत्तिकालिक (मन्त्र के उत्पत्ति का जो समय होता है वह) मन्त्र का जो स्वर होता है, कर्मानुष्ठानरत ब्राह्मण का भी उस समय वही स्वर होता है। अतएव स्वर विशिष्ट मन्त्र-प्रायवचन को ही उच्चारित किया जाना चाहिए, यही मानना युक्त है॥ २१॥

**( २६७८ ) विकारः कारणाग्रहणे॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** कारणाग्रहणे = कारण का अग्रहण होने से, विकारः = 'इरा' पद के द्वारा 'गिरा' पद बाधित होता है।

**व्याख्या—** किसी भी प्रकार के कारण का ग्रहण न होने से ही 'इरा' पद के द्वारा 'गिरा' पद का बाध होना प्राप्त है। यह बाध उसी प्रकार से है, जैसे- स्वर में भाषिक स्वर का अनुपदेश किये जाने पर मन्त्र का उपदेश कारण रूप में प्राप्त होता है॥ २२॥

**उक्त कथन में पुनः पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २६७९ ) तन्न्यायत्वाददृष्टोऽप्येवम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** तन्न्यायत्वात् = उसी न्याय का आधार लेकर फिर तो, अदृष्टः अपि एवम् = मन्त्रकाण्ड (वेद) में प्राप्त अदृष्ट मन्त्रों में भी प्रायवचन स्वर होना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी का कहना है कि वेद में तो मन्त्रों का पाठ त्रैस्वर्य से किया गया है, किन्तु यज्ञीय कर्मानुष्ठान सम्पन्न करते समय उसके अन्तर्गत एक श्रुति स्वर भी होता है। अतएव इन मन्त्रों का पाठ भाषिक स्वर से नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि पूर्व के सूत्र में केवल मन्त्र का ही विधान प्राप्त है, स्वर का नहीं॥ २३॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( २६८० ) तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** तदुत्पत्तेः वा = ब्राह्मण में उत्पत्ति प्राप्त होने से भी, प्रवचनलक्षणत्वात् = ब्राह्मण वाक्य में प्रवचन का लक्षण होने के कारण मन्त्रत्व की भी उसमें उपपन्नता है।

**व्याख्या—** शबरस्वामी ने अपने भाष्य में लिखा है-ब्राह्मणोत्पत्तेर्मन्त्रस्य भाषिकेण प्रयोगः स्यात् प्रवचन-लक्षणत्वात्। प्रवचनं मन्त्राणां लक्षणं यथा मन्त्रा प्रोच्यन्ते तथा विधा विज्ञायन्ते। ते च भाषिक एव उत्पन्नाः। तोषातन्यथा विधत्वे प्रमाणं नास्ति तस्माद्यथोत्पन्नास्तथा विधा एव प्रयोक्तव्याः। जिन मन्त्रों की प्राप्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में ही होती है तथा भाषिक स्वर में ही वह प्राप्ति होती है, तो उनका पाठ भाषिक स्वर में ही किया जाना चाहिए। स्वर वैशिष्ट्यता ही ब्राह्मण मन्त्र की उत्पत्ति है तथा दूसरे अध्याय में प्रायवचन मन्त्रों के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हीं लक्षणों की प्राप्ति ब्राह्मण वाक्य में भी होने से उन्हें भी (ब्राह्मण वाक्य को भी) मन्त्र

स्वरूप माना जा सकता है। शबर स्वामी के कथन का सार संक्षेप यह है कि मन्त्रों की उत्पत्ति भाषिक स्वर में ही होने से, प्रयोग भी भाषिक स्वर से ही किया जाना चाहिए॥ २४॥

**अगले क्रम में आचार्य ने कहा कि करण मन्त्रों में कर्म का शुभारम्भ मन्त्र के अन्त में किया जाना चाहिए—**

**( २६८१ ) मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्राणां करणार्थत्वात् = क्रिया के सम्पादनार्थ मन्त्र होते हैं, सर्वस्य = मन्त्रों के सभी, वचनार्थत्वात् = वचन अर्थ बोधक होने से, मन्त्रान्तेन = मन्त्र बोलने के पश्चात्, कर्मादिसन्निपातः = कर्म का शुभारम्भ करना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में जहाँ पर यह विहित है कि अमुक मन्त्र से अमुक कर्म सम्पादित करना चाहिए, वहाँ समस्त मन्त्र उच्चारित करने के बाद ही कर्म का आरम्भ किया जाना उचित है। मन्त्र के सभी शब्द अर्थ की स्मृति कराने वाले होते हैं। यदि एकाध पद का उच्चारण करके ही कर्म की सम्पन्नता कर ली जाती है, तो कार्य हो जाने के पश्चात् शेष मन्त्र को उच्चारित करना अनर्थक ही होगा। इसी से ऐसा विधान किया गया कि पूरा मन्त्र बोलने के पीछे (पश्चात्) ही क्रिया का सम्पादन किया जाना चाहिए॥ २५॥

**अगले सूत्र में वसोर्धारा के अन्तर्गत मन्त्र पाठ और क्रिया के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष का कथन स्थापित करते हैं—**

**( २६८२ ) सन्ततवचनाद्धारायामादिसंयोगः॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** सन्ततवचनात् = 'सन्तत' वचन के विद्यमान होने से, धारायाम् = वसोर्धारा में, आदिसंयोगः = मन्त्र पाठ के साथ ही क्रिया का प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन यह है कि मन्त्र तथा धारा का संयोग प्राप्त होने के कारण वसोर्धारा की क्रिया मन्त्र के साथ प्रारम्भ में ही की जानी चाहिए। इस सन्दर्भ में वचन भी प्राप्त है-'संततां वसोर्धारां जुहोतीति'। अतः मन्त्र पाठ के साथ ही वसोर्धारा में क्रिया का शुभारम्भ करना चाहिए॥ २६॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त के माध्यम से उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—**

**( २६८३ ) कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याशक्यत्वात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कर्मसन्तानः = मन्त्र के साथ कर्म की निरन्तरता, नानाकर्मत्वात् = कर्मों की विविधता होने से मन्त्रों के साथ सम्भव नहीं है, इतरस्य अशक्यत्वात् = क्रिया एवं मन्त्र का संयोग सम्भव न होने के कारण वसोर्धारा में मन्त्र पाठ के पश्चात् ही क्रिया का आरम्भ करना चाहिए।

**व्याख्या—** मन्त्र का अस्तित्व चिरकाल तक बना रहता है, जबकि क्रिया अस्थायी-शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली होती है। इसी कारण मन्त्र एवं क्रिया में संतत संयोग सर्वथा असम्भव है। इसलिए मन्त्र के समापन पर ही क्रिया का शुभारम्भ होना चाहिए॥ २७॥

**( २६८४ ) आघारे च दीर्घधारत्वात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** आघारे च = आघार कर्म में भी, दीर्घधारत्वात् = दीर्घधारा होने से मन्त्र के अन्त में ही कर्म करना उचित है।

**व्याख्या—** दीर्घधारा होने के कारण आघार में भी 'संतत' पद का संयोग होने से मन्त्र के समापन पर ही (आघार) कर्म किया जाना उचित है- 'संततमाघारयति'॥ २८॥

**अगले दो सूत्रों में आचार्य एक ही यज्ञ कर्म में अनेक मन्त्रों की प्राप्ति पर मन्त्र प्रयोग के अनुशासन स्पष्ट करते हैं—**

**( २६८५ ) मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** मन्त्राणाम् = विभिन्न मन्त्र के, सन्निपातित्वात् = एक दूसरे के पूरक हों तो, एकार्थानाम् = अर्थ सिद्धि के लिए एक ही मन्त्र को, विकल्प: = विकल्प स्वरूप उच्चरित, स्यात् = किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** पुरोडाश का विभाग करने के उद्देश्य से जो तीन मन्त्र उपलब्ध हैं- 'पूषा वां विभजतु, भगो वां विभजतु, अर्यमा वां विभजतु।' उनमें पुरोडाश का विभाग एक ही मन्त्र द्वारा पुरोडाश का स्मरण हो सकने के कारण सम्भव है। इसलिए तीनों मन्त्रों में से एक का चयन कर कर्म सम्पन्न किया जा सकता है। मन्त्रों के समुच्चय की उसके लिए आवश्यकता नहीं पड़ती॥ २९॥

## ( २६८६ ) संख्याविहितेषु समुच्चयोऽसन्निपातित्वात्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ—** असन्निपातित्वात् = भिन्नार्थक होने पर, संख्याविहितेषु = मन्त्रों का विधान जहाँ पर संख्या सहित प्राप्त हो, समुच्चय: = वहाँ पर मन्त्र समुच्चय ही मानना चाहिए।

**व्याख्या—** 'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' यहाँ पर चारों मन्त्रों को उच्चारित करने के अनन्तर ही हाथ से अभ्रि का ग्रहण किया जाना विहित है। अर्थ का स्मरण यद्यपि एक ही मन्त्र से हो जाता है; किन्तु चारों मन्त्रों का विधान प्राप्त होने से सभी का उच्चारण किया जाना आवश्यक एवं युक्त है॥ ३०॥

**ब्राह्मण ग्रन्थों में 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों का जो विधान मिलता है, उनके उपयोग के सन्दर्भ में अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—**

## ( २६८७ ) ब्राह्मणविहितेषु च संख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात्॥ ३१॥

**सूत्रार्थ—** उपदिष्टत्वात् = सभी का उपदेश होने से, च = और, ब्राह्मणविहितेषु = ब्राह्मण ग्रन्थों के विधान में भी, संख्यावत् = संख्या के समान, सर्वेषाम् = सभी मन्त्रों का समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित मन्त्र हैं- 'उरु प्रथस्व' एवं 'उरु प्रथोरु ते, ते यज्ञपति: प्रथताम्' पुरोडाश प्रथन में प्रमाण रूप से इन दोनों मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। उपदेश से उक्त दोनों मन्त्रों का विधान प्राप्त होने से पूर्वपक्ष के अनुसार प्रथन में दोनों मन्त्रों का समुच्चय मानना चाहिए॥ ३१॥

## ( २६८८ ) याज्यावषट्कारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत्॥ ३२॥

**सूत्रार्थ—** याज्यावषट्कारयो: च = जिस प्रकार याज्या एवं वषट्कार में भी, समुच्चयदर्शनम् = समुच्चय का दर्शन होता है, तद्वत् = वैसे ही उक्त दोनों मन्त्रों का समुच्चय मानना चाहिए।

**व्याख्या—** एक ही हवन रूप कर्म में जिस प्रकार से 'याज्यया जुहोति' एवं 'वषट्कारेण जुहोति' इन दोनों मन्त्रों के समुच्चय की तरह पुरोडाश प्रथन में भी उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का समुच्चय मानना चाहिए॥ ३२॥

**अगले तीन सूत्रों में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करने के लिए सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करते हैं—**

## ( २६८९ ) विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात्॥ ३३॥

**सूत्रार्थ—** समुच्चयस्य = समुच्चय का, अश्रुतित्वात् = श्रवण न होने के कारण, विकल्प: वा = विकल्प ही मान्य है।

**व्याख्या—** ब्राह्मण ग्रन्थों में जो पुरोडाश के मन्त्र के लिए विहित हैं, उनमें (उन मन्त्रों में) समुच्चय का श्रवण न होने से उन मन्त्रों में विकल्प ही मानना उचित होगा॥ ३३॥

## ( २६९० ) गुणार्थत्वादुपदेशस्य॥ ३४॥

**सूत्रार्थ—** उपदेशस्य = उपदेश के, गुणार्थत्वात् = गुणार्थक होने से भी विकल्प ही मानना सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक मन्त्रों का उपदेश किया गया है, वह स्तुति गुणार्थक है, न कि मन्त्र प्राप्त्यर्थक। इसलिए उक्त मन्त्रों में विकल्प ही मानना युक्त है॥ ३४॥

## ( २६९१ ) वषट्कारे नानार्थत्वात्समुच्चयः ॥ ३५ ॥

**सूत्रार्थ—** वषट्कारे = वषट्कार के उदाहरण में, नानार्थत्वात् = भिन्नार्थकता की प्राप्ति होने से वहाँ, समुच्चयः = समुच्चय होता है।

**व्याख्या—** वषट्कार के उदाहरण में 'याज्यया जुहोति' में 'याज्या' का उद्देश्य देवता का स्मरण कराना है तथा वषट्कार केवल प्रदानार्थ ही है। यहाँ याज्या एवं वषट्कार के अर्थ भिन्न-भिन्न होने से वहाँ समुच्चय का होना सम्भव है, किन्तु 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में भिन्नता न होने से विकल्प ही उचित है ॥ ३५ ॥

**हौत्र मन्त्रों का भी समुच्चय होना बतलाने के लिए अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

## ( २६९२ ) हौत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

**सूत्रार्थ—** हौत्राः तु = होत्र-मन्त्रों में तो, एकार्थत्वात् = एकार्थकत्वता-एक ही प्रयोजन वाले होने से, विकल्पेरन् = उनमें विकल्प हुआ करता है।

**व्याख्या—** होता ऋत्विज् प्रैष वाक्य उच्चारित करने के पश्चात् उच्छ्रायण लिङ्गक मन्त्र का उच्चारण करता है, जो मन्त्र इस प्रकार है-'उच्छ्रयस्व वनस्पते, समिद्धस्य, ऊर्ध्वम् ऊषु णः तथा उर्ध्वीन'। पूर्वपक्ष का कथन है कि इन मन्त्रों में विकल्प मानना उचित है, समुच्चय मानना नहीं ॥ ३६ ॥

**अगले दो सूत्रों में सिद्धान्त बतलाते हुए उक्त पूर्वपक्ष का निस्तारण करते हैं—**

## ( २६९३ ) क्रियमाणानुवादित्वात् समुच्चयो वा होत्राणाम् ॥ ३७ ॥

**सूत्रार्थ—** होत्राणाम् = होत्र मन्त्रों में, क्रियमाणानुवादित्वात् = क्रियमाण कर्म का अनुवाद प्राप्त होने से, समुच्चयः = समुच्चय होता है, वा = यह पद पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ प्रयुक्त है।

**व्याख्या—** होत्र मन्त्र, करण मन्त्र न होकर क्रियमाण कर्म के अनुवादक हैं। अतएव होत्र मन्त्रों में विकल्प न मानकर समुच्चय मानना ही उचित एवं युक्तिसङ्गत होगा ॥ ३७ ॥

## ( २६९४ ) समुच्चयं च दर्शयति ॥ ३८ ॥

**सूत्रार्थ—** च = तथा शास्त्रों से भी, समुच्चयम् = समुच्चय की, दर्शयति = दृष्टिगोचरता होती है।

**व्याख्या-** शास्त्रीय प्रमाण रूप वाक्यों 'त्रिः प्रथमामन्वाह' की पहली ऋचा का उच्चारण तीन बार करना चाहिए एवं 'त्रिरुत्तमाम्' उत्तम अर्थात् तीसरी ऋचा को तीन बार बोले, मन्त्र की गणना के अभाव में प्रथमत्व एवं उत्तमत्व का होना सर्वथा असम्भव है। अतः समुच्चय का मानना ही उचित है ॥ ३८ ॥

## ॥ इति द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

# ॥ अथ द्वादशाध्याये चतुर्थः पादः ॥

**चतुर्थ पाद के प्रथम दो सूत्रों में आचार्य जप, स्तुति, आशीः एवं अभिधान के मन्त्रों में भी समुच्चय होना बतलाते हैं—**

**( २६९५ ) जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः स्तुत्याशीरभिधानाच्च याजमानेषु समुच्चयः स्यादाशीः पृथक्त्वात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** जपाः = जप वाले मन्त्रों का, अकर्मसंयुक्ताः = कर्म प्रकाशक लिङ्ग न होने, आशीः = आशीः आदि कर्मों का, पृथक्त्वात् = पृथक्त्व होने से, च = तथा, स्तुत्याशीरभिधानात् = स्तुति, प्रशंसा, आशीः एवं अभिधान (बुलाना) होने से, याजमानेषु = यजमान द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म में, समुच्चयः = समुच्चय,स्यात् = हुआ करता है।

**व्याख्या—** कर्म को प्रकाशित करने वाले लिङ्ग से शून्य होने के कारण यजमान के द्वारा प्रयुक्त जप आदि के मन्त्रों का समुच्चय प्राप्त होता है। वैष्णवीमनूच्य वाग् यन्तव्या सारस्वतीमनूच्य वाग् यन्तव्या। बार्हस्पत्यमनूच्य वाग् यन्तव्या। इन मन्त्रों से जप किया जाना विहित होता है। 'अग्निर्मूर्धा' आदि मन्त्र स्तुतिपरक मन्त्रों की श्रेणी में आते हैं तथा आशीः मन्त्रों में 'आयुर्दाअग्नेऽसि आयुर्मे देहि' आदि हैं। अतः आशीः आदि कर्म भिन्न-भिन्न होने से समस्त आशीः मन्त्रों के सहित जप स्तुति अभिधान के मन्त्रों का समुच्चय समझना उचित है॥ १ ॥

**( २६९६ ) समुच्चयं च दर्शयति॥ २॥**



**सूत्रार्थ—** च = तथा, समुच्चयम् = शास्त्र वचन भी, समुच्चय को, दर्शयति = दर्शाता है।

**व्याख्या—** उक्त समुच्चय का कथन शास्त्रीय वचन से भी दृष्टिगत है 'त्रिःप्रथमामन्वाह' अर्थात् इस एक ही मन्त्र में जप, स्तुति एवं अभिधान तीनों ही का होना प्राप्त है। शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कहा है कि 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' आदि मन्त्र से यदि किसी अन्य को विष्णु का बोध कराये जाने पर उसे स्तुति कहा जाएगा, मात्र वृत्तान्त कहे जाने पर उसे ही अभिधान एवं अपने निज के लिए ही निर्णय किया जाना हो, तो उसे ही जप कहा जाता है। इस तरह से शास्त्र वचन भी समुच्चय का ही कथन करते हैं॥ २ ॥

**अगले दो सूत्रों में द्विविध याज्या तथा अनुवाक्य का ऐन्द्र बार्हस्पत्य में विकल्प होना बतलाते हैं—**

**( २६९७ ) याज्यानुवाक्यासु तु विकल्पः स्याद्देवतोपलक्षणार्थत्वात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** तु = किन्तु, देवतोपलक्षणार्थत्वात् = देवता के स्मरणार्थ होने से, याज्यानुवाक्यासु = ऐन्द्र-बार्हस्पत्य, लिंगक अनेक याज्यानुवाक्या तथा पुरोवाक्या युगलों का, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** 'इदं वामास्ये हविः' अनुवाक में इन्द्र तथा बृहस्पति लिङ्ग वाले याज्या एवं अनुवाक्या के युगलों का आम्नान किया गया है। इन युगलों में से कोई एक ही ऋचा उच्चारित होनी चाहिए अर्थात् इनमें समुच्चय न मानकर विकल्प मानना ही उचित है। दोनों का प्रयोजन देवता का स्मरण कराना ही है तथा इष्टफल भी दोनों का एक ही है, इसलिए विकल्प ही मानना युक्त है॥ ३ ॥

**( २६९८ ) लिङ्गदर्शनाच्च॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, लिङ्गदर्शनात् = लिङ्ग वाक्यों के दर्शन से भी उक्त विकल्प का होना सिद्ध है।

**व्याख्या—** सूत्र में वर्णित लिङ्ग वाक्य का तात्पर्य 'द्वे द्वे संभरन्ति' वाक्य से है, जिसमें एक याज्या संज्ञक एवं एक पुरोवाक्या संज्ञक में से किसी एक का चयन होता है। अस्तु; इस लिङ्ग वाक्य के द्वारा भी विकल्प की ही सिद्धि होती है॥ ४॥

**अब सोम का क्रय करने वाले द्रव्यों में समुच्चय होने का कथन करने के लिए पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २६९९ ) क्रयणेषु तु विकल्पः स्यादेकार्थत्वात्॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** क्रयणेषु = सोम क्रय करने वाले द्रव्यों में, तु = तो, एकार्थत्वात् = एक ही प्रयोजन होने से, विकल्पः = विकल्प की प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** 'अजया क्रीणाति', 'हिरण्येन क्रीणाति' बकरी आदि तथा सोना अथवा वस्त्र आदि साधनों से सोम का क्रय किया जाता है। पूर्वपक्षी का कहना यह है कि उक्त में से किसी भी एक द्रव्य से सोम का क्रय कर लेना चाहिए अर्थात् उन साधनों में विकल्प मानना उचित है॥ ५॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( २७०० ) समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रयोगे = प्रयोग में, द्रव्यसमवायात् = द्रव्यों का समवाय होने से, समुच्चयः वा = समुच्चय ही है।

**व्याख्या—** सोमक्रय रूप प्रयोग में सोम के क्रय हेतु साधन रूप में वर्णित सभी प्रकार के द्रव्यों से सोम का क्रय किया जाना चाहिए; इस क्रम में विकल्प नहीं, साधन द्रव्य का समुच्चय ही मान्य है॥ ६॥

**( २७०१ ) समुच्चयं च दर्शयति॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, समुच्चयम् = उक्त समुच्चय का होना, दर्शयति = शास्त्र भी दर्शाते हैं।

**व्याख्या—** इस सन्दर्भ में वाक्य इस प्रकार है- 'दशभिः क्रीणाति, दशाक्षरा विराट्, विराजमेव प्राप्नोति'। अतः शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार सोम के साधनभूत द्रव्यों का समुच्चय मानना सर्वथा उचित है॥ ७॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने कहा कि उपयजन आदि प्रतिपत्ति कर्मों का भी समुच्चय होता है—**

**( २७०२ ) संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संस्कारे = संस्कारों में, तत् = उसकी, प्रधानत्वात् = प्रधानता होने से भी समुच्चय है।

**व्याख्या—** उपयजन कर्म में होमीय द्रव्य की प्रधानता होने से समस्त द्रव्यों का समुच्चय है। प्रत्येक प्रधान के अनुरूप अङ्ग कर्मों की आवृत्ति किया जाना आवश्यक होता है-'प्रति प्रधानमंगावृत्तिः'। अतः संस्कार कर्म में उसकी प्रधानता होने से समुच्चय की प्राप्ति होती है॥ ८॥

**अगले सूत्र में आचार्य ने विविध प्रकार की संख्याओं में दक्षिणा के विकल्प का कथन किया—**

**( २७०३ ) संख्यासु तु विकल्पः स्यात् श्रुतिविप्रतिषेधात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** संख्यासु = संख्याओं में, तु = तो, श्रुतिविप्रतिषेधात् = उनके श्रवण में विरोध की प्राप्ति होने से, विकल्पः = विकल्प, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** आधान कर्म में दक्षिणा के सन्दर्भ में निर्देश है- 'एका देया, षट्देया द्वादशदेया'। इस विधान में सूत्रकार ने उक्त सूत्र से यह सुनिश्चित किया कि यहाँ दक्षिणाओं में विकल्प मानना चाहिए; समुच्चय नहीं॥९॥

**पशु गणों में द्रव्य के विकार में द्रव्याहुतियों का विकल्प बतलाते हुए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—**

**( २७०४ ) द्रव्यविकारे च पूर्ववदर्थकर्म स्यात्तथा विकल्पे नियमः प्रधानत्वात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, द्रव्यविकारे = द्रव्य के विकार में, पूर्ववत् = पूर्व के अधिकरण के अनुरूप, अर्थकर्मः = विकल्प, स्यात् = है, तथा = तथा, प्रधानत्वात् = प्रधान होने से, विकल्पे = विकल्प में, नियमः = नियम का बन्धन है।

**व्याख्या—** यज्ञीय कर्म के अन्तर्गत अधिक पशुओं के दान की स्थिति में उन पशुओं से सम्बन्धित पवित्र द्रव्यों को होमा जाता है, इस क्रम में सभी द्रव्यों से हवन न करके किसी एक द्रव्य के द्वारा ही होम कर्म पूर्ण कर लेना चाहिए। द्रव्य की गौणता एवं कर्म की प्रधानता होने से विकल्प ही उचित एवं मान्य है॥ १०॥

**उक्त कथन में आक्षेप के भाव से अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २७०५ ) द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्तेः प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति यथाप्रकृति॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** द्रव्यत्वे = द्रव्य होने पर, अपि = भी, द्रव्यस्य = होम द्रव्य की, निष्पत्तेः = निष्पत्ति-उत्पत्ति, कर्म = कर्म से होती है, प्रतिपशु = प्रतिपशु के पीछे, कर्मभेदात् = कर्म का भेद प्राप्त होने से, समुच्चयः = समुच्चय होना चाहिए, यथाप्रकृति = प्रकृति यज्ञ के अनुसार, एवं = ऐसा, सति = होना उचित है।

**व्याख्या—** प्रकृति यज्ञ में दानीय पशुओं का समुच्चय होता है। द्रव्य का हवन भी पशुओं के निमित्त ही होता है। अस्तु; 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के नियम से विकृति याग में यजनीय पदार्थों का भी समुच्चय होना औचित्यपूर्ण है॥ ११॥

**( २७०६ ) कपालेऽपि तथेति चेत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** तथा = उसी प्रकार से, कपाले = कपाल में, अपि = भी समुच्चय मानना चाहिए, इति चेत् = यदि ऐसा कहा जाये, तो?

**व्याख्या—** आक्षेपी का कहना है कि यदि कारण से ही द्रव्य का समुच्चय माना जाता है, तो फिर कर्म से ही कपालों का प्रयोग होने के कारण, कपाल स्वरूप द्रव्य का भी समुच्चय मानना चाहिए॥ १२॥

**उक्त आक्षेप का निस्तारण करने के लिए अगले तीन सूत्र प्रस्तुत करते हैं—**

**( २७०७ ) न कर्मणः परार्थत्वात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणः = कर्म के, परार्थत्वात् = परार्थ होने से, न = उक्त कथन युक्त नहीं है।

**व्याख्या—** कर्म के परार्थ (यज्ञार्थ) होने के कारण भी द्रव्यों में समुच्चय का माना जाना सम्भव नहीं है। शबर स्वामी ने अपने भाष्य में इस विषय को दृष्टान्त से समझाया है- 'तद्यथा काष्ठान्याहर्तुं प्रस्थिते पुरुषे शाकाहरणमप्युपाधिःक्रियते शाकमप्याहरेत्' काष्ठ के आनयन हेतु प्रस्थित मनुष्य को शाक भी लाने के लिए कहा जाता है कि काष्ठ लेने के साथ-साथ शाक भी लेते आना, तो वहाँ शाक का लाना गौण तथा काष्ठ का लाना प्रधान है। शाक का कथन विकल्प रूप में है, इसलिए दोनों का समुच्चय यहाँ सम्भव नहीं। उसी प्रकार से प्रकृति के स्थान पर भी उक्त होमीय द्रव्यों में किसी एक द्रव्य का विकल्प ही माना जाता है॥ १३॥

**( २७०८ ) प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** शेषत्वात् = शेष होने से, तु = तो, प्रतिपत्तिः = प्रतिपत्ति कर्म है।

**व्याख्या—** आक्षेप कर्त्ता का कथन है कि शेष-अवशिष्ट द्रव्य की प्रतिपत्ति किये जाने (यथास्थान रखने) से भी समुच्चय की ही उपपन्नता होती है॥ १४॥

**( २७०९ ) शृतेऽपि पूर्ववत्स्यात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** शृतेऽपि = पके हुए दूध में भी, पूर्ववत् स्यात् = पूर्व के समान प्रतिपत्ति होने से समुच्चय है।

**व्याख्या—** अभ्युदय इष्टि में 'शृते चरुम् दधँश्चरुम्' आदि वाक्य विहित हैं। इन वाक्यों में प्रतिपत्ति कर्म का कथन करके समुच्चय का निरूपण भी किया गया है॥ १५॥

**अगले सूत्र में अब सिद्धान्त पक्ष के स्थापन से समाधान देते हैं—**

**( २७१० ) विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्मकार्यसमवायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** नियमप्रधानत्वात् = नियम की प्रधानता होने से, विकल्पे = विकल्प में, तु = तो, अर्थकर्म =

उद्देश्यपूर्ण चयन (विकल्प) होता है, शेषे च = शेष में भी, कर्मकार्यसमावायात् = कर्म कार्य का समवाय होता है, तस्मात् = इसलिए, तेन= उससे, अर्थकर्म = (विकल्प) की ही प्राप्ति, स्यात् = होती है।

**व्याख्या—** नियमानुसार पशु का दान करने के पश्चात् जो उसके अङ्ग में होम किया जाना बतलाया है, उस होम का सम्पादन एक ही द्रव्य से करना चाहिए। प्रकृति याग भी प्रतिकर्म की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब द्रव्य का कहीं किसी भी कर्म में उपयोग न हुआ हो। कारण यह कि उपयोग करने की स्थिति में वह अर्थ कर्म ही होता है और दधि तथा शृत (पके हुए दूध) का किसी भी कर्म में उपयोग न होने के कारण इनका प्रतिपत्ति कर्म नहीं; प्रत्युत विकल्प-अर्थकर्म ही है॥ १६॥

**काम्य अग्नि एवं नित्य अग्नि के समुच्चय हेतु अगले तीन सूत्रों में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

## (२७११) उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो नियोगे कामदर्शनात्॥ १७॥

**सूत्रार्थ—** उखायाम् = उखा में, नियोगे = अग्नि के नियोजन में, कामदर्शनात् = कामना (इच्छा) का दर्शन प्राप्त होने से, काम्यनित्यसमुच्चय: = काम्य तथा नित्य अग्नि का समुच्चय प्राप्त है।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का मत है कि अग्नि चयन की प्रक्रिया के अन्तर्गत अग्नि के धारणार्थ उखा विनिर्मित करके उसमें नित्य अग्नि बनाकर रखी जाती है। प्रेरक वाक्य 'वृक्षाग्राज्वलतो ब्रह्मवर्चसकामस्य आहृत्य अन्वादध्यात्' से उसमें ब्रह्मवर्चस प्राप्ति की कामना होने से वह काम्य अग्नि भी मान्य है। अतएव दोनों का समुच्चय मानना ही उचित है॥ १७॥



## (२७१२) असति चासंस्कृतेषु कर्म स्यात्॥ १८॥

**सूत्रार्थ—** च = और यदि, असति = समुच्चय का अभाव माना जाये, असंस्कृतेषु = तो असंस्कारित अग्नि में, कर्म = कर्म सम्पादन, स्यात् = करना होगा।

**व्याख्य—** देवता के प्रयोजनार्थ होने से नित्य अग्नि में रहने वाली काम्य अग्नि तो मात्र सन्निधानार्थ ही रहती है। इसलिए समुच्चय ही मानना उचित है॥ १८॥

## (२७१३) तस्य च देवतार्थत्वात्॥ १९॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तस्य = उस अग्नि का, देवतार्थत्वात् = देवता के लिए होना सिद्ध है।

**व्याख्या—** वह अग्नि देवता के प्रयोजनार्थ (होमार्थ) होने के कारण उसमें स्थित अग्नि का स्थापन तो मात्र सन्निधान हेतु ही किया जाता है, अतएव समुच्चय मानना उचित है॥ १९॥

**अगले दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के समाधान के उद्देश्य से सूत्रकार ने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की—**

## (२७१४) विकारो वा तदुक्तहेतुः॥ २०॥

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तदुक्तहेतु: = पूर्वोक्त हेतु से, विकार: = विकार की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** नित्य अग्नि में काम्य यज्ञ का निषेध है, वह काम्य अग्नि में सम्पादित होता है। काम्य अग्नि में यदि हवन कर्म का सम्पादन न किया जाये, तो उसका आहरण ही फलहीन हो जायेगा। जिस स्थल पर बाध का अभाव प्राप्त हो, वहाँ पर नित्य अग्नि की भी सार्थकता सिद्ध होगी। कामनारहित को नित्य अग्नि में तथा सकाम को काम्य अग्नि में होम करना उचित है॥ २०॥

## (२७१५) वचनादसंस्कृतेषु कर्म स्यात्॥ २१॥

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वैदिक वचनों द्वारा प्राप्त निर्देश से, असंस्कृतेषु = असंस्कारित अग्नि में भी, कर्म = कर्म का होना, स्यात् = सम्भव है।

**व्याख्या—** वेद वाक्यों का निर्देश प्राप्त होने से होम कर्म का सम्पादन असंस्कारित अग्नि में भी किया जा

सकता है। वचन की सामर्थ्य से उसमें निषेध मान्य नहीं है॥ २१॥

**अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि समुच्चय मानने की स्थिति में संसर्ग होने पर दोष की प्राप्ति होती है—**

**( २७१६ ) संसर्गे चापि दोषः स्यात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, संसर्गे = संसर्ग होने पर, दोषः = दोष, अपि = भी, स्यात् = होता है।

**व्याख्या—** समुच्चय स्वीकार करने की स्थिति में तो प्रादाव्य तथा वैकारिक अग्नियों के संसर्ग में दोष का श्रवण प्राप्त है। प्रादाव्य अग्नि का तात्पर्य असंस्कारित अग्नि से है,ऐसा समझना चाहिए॥ २२॥

**अगले सूत्र में आक्षेप बतलाते हैं—**

**( २७१७ ) वचनादिति चेत्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** वचनात् = वचन के द्वारा प्राप्त निर्देश से संसर्ग है, इति चेत् = यदि ऐसी आशङ्का की जाये, तो?

**व्याख्या—** जो वचन प्राप्त हैं, उनसे संसर्ग मानना उचित है; क्योंकि वचन के द्वारा निर्देशित कर्म के सम्पादन में दोष नहीं होता, यदि ऐसा कहा जाये, तो?॥ २३॥

**उक्त आक्षेप का समाधान अगले दो सूत्रों में करते हैं—**

**( २७१८ ) तथेतरस्मिन्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** इतरस्मिन् = ऐसे अन्य वाक्यों की प्राप्ति होने से, तथा = ऐसी आशङ्का उचित नहीं है।

**व्याख्या—** होम कर्म का सम्पादन असंस्कारित अग्नि में किया जाना चाहिए, इसके लिए भी वाक्यों की उपलब्धता है। इस प्रकार से तो इसमें भी दोष की प्राप्ति नहीं मानी जा सकती॥ २४॥

**( २७१९ ) उत्सर्गेऽपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** उत्सर्गे = उत्सर्ग अग्नि में, अपि = भी, परिग्रहः = ग्रहण (सम्पादन), कर्मणः = कर्म का सम्पादन, कृतत्वात् = किये जाने से भी उक्त कथन की उपपन्नता है।

**व्याख्या—** गत १९ वें सूत्र में जिस नित्य अग्नि के विषय में कथन प्राप्त है, यदि उसका परित्याग कर दिया जाता है, तो भी उसमें दोष नहीं होता। कारण यह कि होम कर्म का सम्पादन तो पूर्व में ही हो चुका होता है। अतएव अन्य अग्नि में भी वाक्यों के द्वारा यज्ञ कर्म किया जाना उचित है॥ २५॥

**वैकारिक एवं आहवनीयत्व अग्नियों के सन्दर्भ में सूत्रकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना की—**

**( २७२० ) स आहवनीयः स्यादाहुतिसंयोगात्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** सः = उस काम्य अग्नि को, आहुतिसंयोगात् = आहुति के संयोग के कारण, आहवनीयः स्यात् = आहवनीय अग्नि मानना उचित है।

**व्याख्या—** वैकारिक अग्नि के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का कहना है कि उस काम्य अग्नि को आहवनीय अग्नि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है; क्योंकि वैकारिक अग्नि में भी आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं 'हूयतेऽस्मिन्'। अतः आहवनीय नाम दिये जाने में कोई दोष नहीं है॥ २६॥

**अगले सूत्र में उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करने के भाव से आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया—**

**( २७२१ ) अन्यो वोद्धृत्याऽऽहरणात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** उद्धृत्य आहरणात् = आहरित किये जाने से, अन्यः वा = काम्य-अग्नि आहवनीय अग्नि से भिन्न अन्य अग्नि है।

**व्याख्या—** आहरित की जाने वाली अग्नि को आहवनीय न मानकर लौकिक अग्नि ही मानना युक्त है; क्योंकि आहवनीय अग्नि आधान आदि के द्वारा सुसंस्कारित की जाती है, तभी उसे आहवनीय कहा जाता

है। अतएव काम्य-अग्नि को आहवनीय कहना सर्वथा अयुक्त है॥ २७॥

**वैकारिक अग्नि के संस्कार के सन्दर्भ में आचार्य अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २७२२ ) तस्मिन्संस्कारकर्म शिष्टत्वात्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मिन् = उसमें (उस वैकारिक अग्नि में), संस्कारकर्म = आधान आदि संस्कार कर्म सम्पादित होना चाहिए, शिष्टत्वात् = समस्त कर्मों के शिष्ट (शेष) रूप में विहित होने से ऐसा मानना युक्त है।

**व्याख्या—** समस्त कर्मों के शेष-शिष्ट रूप में विहित होने के कारण वैकारिक अग्नि का भी आधान आदि संस्कार किया जाना चाहिए। पूर्वपक्ष के मतानुसार यदि उक्त अग्नि का आधान आदि संस्कार नहीं किया जाता है, तो उससे सम्पन्न होने वाला होम दोषपूर्ण अर्थात् विगुण हो जायेगा॥ २८॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—**

**( २७२३ ) स्थानात्तु परिलुप्येरन्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** स्थानात् = असंस्कृत अग्नि के संस्कृत अग्नि के स्थान में होने से, परिलुप्येरन् = आधान आदि संस्कारों का उसमें लोप होना प्राप्त है।

**व्याख्या—** आचार्य कहते हैं कि जैमिनि सूत्र वृत्ति में वर्णित है-'चैत्रो मैत्रकार्ये विनियुक्तः मैत्रकार्यं कुरुते, मैत्रमातुरुदरादिर्निःसरणादि-नोपेक्षते' अर्थात् मैत्र के कार्य में विनियुक्त चैत्र, मैत्र के कर्म को सम्पन्न करता है; किन्तु मैत्र की माता के उदर से जन्मने आदि की प्रक्रिया की उसको अपेक्षा नहीं रहा करती। इसी प्रकार से उक्त वैकारिक अग्नि भी आधान आदि संस्कार से निरपेक्ष है, ऐसा समझना चाहिए॥ २९॥

**अगले क्रम में उखा अग्नि के सन्दर्भ में सूत्रकार पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २७२४ ) नित्यधारणे विकल्पो न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** नित्यधारणे = उखा अग्नि के नित्य धारण में, विकल्पः = विकल्प है, हि = क्योंकि, अकस्मात् = बिना कारण के- अकस्मात्, प्रतिषेधः = प्रतिषेध का होना, स्यात् = सम्भव, न = नहीं।

**व्याख्या—** पूर्वपक्ष का कथन है कि उखा अग्नि के नित्य धारण में विकल्प होना चाहिए; क्योंकि बिना किसी कारण के अकस्मात् प्रतिषेध का प्राप्त होना सम्भव नहीं। 'न प्रति समिध्यः' आदि प्रतिषेध अहैतुक नहीं हो सकते। अतः उखा अग्नि के नित्य धारण में विकल्प मानना उचित है॥ ३०॥

**उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु आचार्य अगले सूत्र में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**

**( २७२५ ) नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रियः॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** नित्यधारणात् वा = नित्य धारण करना ही उचित है, गतश्रियः = गतश्री अग्नि के लिए, प्रतिषेधः = प्रतिषेध है।

**व्याख्या—** 'धार्यो गतश्रिय आहवनीयः' इस वाक्य द्वारा गतश्री के (गतश्री पुरुष के द्वारा) आहवनीय अग्नि के धारण किये जाने का नित्य धारण होने के कारण प्रतिषेध है। उख्य अग्नि के सन्दर्भ में विकल्प का मानना युक्त नहीं। 'न प्रति समिध्यः' का श्रवण इसी से होता है। आशय यह है कि मात्र गतश्री के अतिरिक्त अन्य उख्य अग्नि को नित्य धारण करना मान्य है॥ ३१॥

**अगले तीन सूत्रों में आचार्य विभिन्न सत्रों में परार्थ कर्मों-शुक्र ग्रह आदि के स्पर्श के अनुशासन समझाते हैं—**

**( २७२६ ) परार्थान्येको यजमानगणे॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** यजमानगणे = अधिक यजमान होने की स्थिति में, परार्थानि = परार्थ कर्मों का सम्पादन, एकः = एक ही यजमान द्वारा होता है।

**व्याख्या—** सत्र याग में यजमानों की संख्या अधिक रहती है; परन्तु शुक्र ग्रह स्पर्शादि परार्थ कर्मों का सम्पादन किसी एक ही यजमान के द्वारा सम्पन्न किया जाता है- 'शुक्रं यजमानोऽन्वारभते'। आशय यह है कि जितने भी परार्थ-कर्म हैं, उन्हें विकल्प से कोई भी यजमान सम्पन्न कर सकता है॥ ३२॥

**( २७२७ ) अनियमोऽविशेषात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** अनियम: = एक ही यजमान के स्पर्श का कोई नियम नहीं है, अविशेषात् = विशेष न होने के कारण।

**व्याख्या—** अहीन याग में शुक्र स्पर्श किसी विशेष यजमान द्वारा किए जाने का प्रमाण प्राप्त न होने से वह संस्कार किसी भी यजमान द्वारा किया जा सकता है॥ ३३॥

**( २७२८ ) मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** अविप्रतिषेधात् = विरोध का सर्वथा अभाव होने से, मुख्य: = प्रधान यजमान के द्वारा ही सत्र में शुक्र ग्रह का स्पर्श किया जाना चाहिए।

**व्याख्या—** शुक्र ग्रह स्पर्श रूप संस्कार कर्म प्रधान यजमान गृहपति को ही करना चाहिए; क्योंकि ऐसा किये जाने में किसी प्रकार का प्रतिषेध प्राप्त नहीं है॥ ३४॥

**अगले दो सूत्रों में अञ्जन आदि संस्कारों का सम्पादन सुनिश्चित करने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं—**

**( २७२९ ) सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** सत्रे = सत्र याग में, अञ्जन तथा अभ्यञ्जन संस्कार, हौत्रवत् = होता के समान, असंयोगात् = संयोग का अभाव होने से, गृहपति: = गृहपति के द्वारा ही सम्पन्न होने चाहिए।

**व्याख्या—** सत्र याग में अञ्जन एवं अभ्यञ्जन संस्कार गृहपति ही सम्पन्न करे, जैसे कि होता, हौतृ कर्म सम्पादित करता है। कारण यह है कि उसके साथ अन्य यजमानों का संयोग निर्दिष्ट नहीं है॥ ३५॥

**( २७३० ) आम्नायवचनाच्च॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, आम्नायवचनात् = आम्नाय के वचन की प्राप्ति होने से भी उक्त कथन की सिद्धि है।

**व्याख्या—** इस सन्दर्भ में आम्नाय का वाक्य है- यो वै सत्रे बहूनां यजमानानां गृहपति: स सत्रस्य प्रत्येता स हि भूयिष्ठामृद्धिमृर्ध्नोति। इस वाक्य का भाव सार-संक्षेप में यह है कि उक्त संस्कार कर्म को सम्पन्न करने वाला गृहपति सुख-समृद्धि का भागीदार बनता है॥ ३६॥

**उक्त पूर्वपक्ष के समाधान हेतु अगले पाँच सूत्र में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करते हैं—**

**( २७३१ ) सर्वैर्वा तदर्थत्वात्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** तदर्थत्वात् = वे सभी के लिए होने से, सर्वै: वा = अञ्जनादि संस्कार समस्त यजमानों द्वारा किए जाने चाहिए।

**व्याख्या—** सत्रह ऋत्विजों में से एक गृहपति भी है, अतएव गृहपति सहित सभी ऋत्विजों को अञ्जन आदि संस्कार करना चाहिए; क्योंकि यह संस्कार समस्त ऋत्विजों के लिए है॥ ३७॥

**( २७३२ ) गृहपतिरिति च समाख्या सामान्यात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, सामान्यात् = सामान्य-समान रूप से सभी यजमानों के लिए गृहपति पद का प्रयोग-व्यवहार होने से, गृहपति: = गृहपति, इति = ऐसी (यह), समाख्या = समाख्या है।

**व्याख्या—** समान रूप से (सामान्यत:) स्वामित्व के प्रकर्ष का बोध कराने वाला होने के कारण गृहपति एक समाख्या है। उसके सर्वार्थत्व की प्रतीति कराने वाला वाक्य है- 'ऋद्धिकामा: सत्रमासीरन्' और सामान्यत्व

की प्रतीति कराने वाला वाक्य है- 'गृहस्य शालाया मखस्य वा प्रभुत्वं सर्वसाधारणं शक्यार्थस्य बाधा भावः।' इसलिए अञ्जन एवं अभ्यञ्जन संस्कार सभी ऋत्विजों को करना चाहिए॥ ३८॥

**( २७३३ ) विप्रतिषेधे परम्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** विप्रतिषेधे = विरोध होने की स्थिति में, परम् = परम कर्म सम्पन्न किया जाता है।

**व्याख्या—** जिस स्थल पर यजमान तथा ऋत्विज् दोनों का कार्य एक ही साथ कराना होता है। वहाँ निर्देश वाक्य 'ये यजमानास्ते ऋत्विजः' के अनुसार ऋत्विजों का ही कर्म होता है; क्योंकि अतिदेश प्राप्त होने से ऋत्विक् कर्म यजमान के कर्म की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है॥ ३९॥

**( २७३४ ) हौत्रे परार्थत्वात्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** परार्थत्वात् = कर्म के परार्थ होने के कारण, हौत्रे = हौत्र कर्म में ऐसा ही नियम है।

**व्याख्या—** हौत्र कर्म में पुरुष के परार्थ होने से उसका सम्पादन किसी एक ही पुरुष द्वारा किया जाना चाहिए; क्योंकि समाख्या वहाँ पर नियामक होती है- 'तत्र समाख्या नियामिका स्यात्'। उक्त हौत्र कर्म में यजमान के मुख्य-प्रधान होने के कारण प्रधान संस्कार की आवृत्ति की जानी चाहिए॥ ४०॥

**( २७३५ ) वचनं परम्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** वचनम् = वह आम्नाय का वाक्य, परम् = मात्र अर्थवाद है।

**व्याख्या—** 'यो वै सत्रे बहूनां यजमानानां गृहपतिः स सत्रस्य प्रत्येता स हि भूयिष्ठामृद्धिमृघ्नोति' जो गृहपति होता है, वह अधिकाधिक समृद्धि पाता है। फल के भूयस्त्व का कथन करने वाला उक्त आम्नाय-वचन मात्र अर्थवाद ही है, ऐसा समझना उचित है॥ ४१॥

**ऋत्विज् कर्म आदि का अधिकार स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने अगले सूत्र में पूर्वपक्ष स्थापित किया—**

**( २७३६ ) प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रभुत्वात् = प्रभुता-सम्पन्न, सामर्थ्यवान् होने से, सर्ववर्णानाम् = समस्त वर्ण वालों को, आर्त्विज्यम् = ऋत्विक् कर्म करना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी वर्णों में विद्वान् पुरुष उपलब्ध रहते हैं, विद्वान् पुरुषों की प्राप्ति सभी वर्णों में होने से उक्त सभी वर्णों का पुरुष ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी हो सकता है और जो विद्वान् नहीं है, वह तो सर्वथा अनधिकृत ही माना गया है-न ह्यविद्वान् विहितोऽसौ॥ ४२॥

**उक्त पूर्वपक्ष का समाधान देने के उद्देश्य से आचार्य ने पाँच सूत्रों में सिद्धान्त पक्ष बतलाया—**

**( २७३७ ) स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ—** स्मृतेः वा = स्मृति में प्राप्त प्रमाण के अनुसार तो उक्त ऋत्विक् कर्म, ब्राह्मणानाम् = ब्राह्मण वर्ण में स्थित पुरुषों को ही कराना, स्यात् = चाहिए।

**व्याख्या—** स्मृति के वचनानुसार 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा' याजन (यज्ञ), अध्यापन (पढ़ाना) एवं प्रतिग्रह (दान) इन तीनों कर्मों के लिए ब्राह्मण को ही अधिकृत किया गया है। कल्पसूत्र के अनुसार भी आर्त्विज्य का अधिकारी ब्राह्मण वर्ण वाला विद्वान् पुरुष ही माना गया है। अतएव मात्र ब्राह्मण को ही ऋत्विज् के कर्म कराने का अधिकार प्राप्त है॥ ४३॥

**( २७३८ ) फलचमसविधानाच्चेतरेषाम्॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, फलचमसविधानात् = फलचमस का विधान प्राप्त होने के कारण, इतरेषाम् = ब्राह्मण से इतर क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण वाले पुरुषों को ऋत्विज् बनाने का अधिकार नहीं है।

**व्याख्या—** वटवृक्ष की कोपलों को पीसने के अनन्तर उसमें दधि का सम्मिश्रण करके जो भक्ष्य तैयार किया जाता है, उसे ही फलचमस की संज्ञा प्राप्त है। फलचमस का विधान उपलब्ध है- 'यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं विभक्षयिषीत न्यग्रोधवल्लरीराहृत्यताः सम्पिष्यद धन्युन्मृज्य ता अस्मै भक्ष्यं प्रयच्छेन्न सोमम् इति सोमपान निषेधात्' अर्थात् यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा यज्ञ कराये तथा वे सोमपान को उत्सुक हों, तो फलचमस का भक्ष्य देना चाहिए, सोमरस नहीं। इस निषेध से यही सिद्ध होता है कि मात्र ब्राह्मण (ऋत्विज्) ही सोमपान के लिए अधिकृत है। अतः आर्त्विज्य कर्म कराने का अधिकार मात्र ब्राह्मणों को ही है॥ ४४॥

**( २७३९ ) सान्नाय्येप्येवं प्रतिषेधः सोमपीथहेतुत्वात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ—** सोमपीथहेतुत्वात् = सोमपायी न होने से ही, सान्नाय्ये = सान्नाय्य में, अपि = भी, एवम् = वैसा ही, प्रतिषेधः = प्रतिषेध-निषेध है।

**व्याख्या—** सान्नाय के पान का भी निषेध प्राप्त है-'न राजन्यो न वैश्यो वा सान्नाय्यं पिबेत्'। अतएव सोमरस के पान की तरह सान्नाय पान की पात्रता क्षत्रिय एवं वैश्य की न होकर मात्र ब्राह्मण की है॥ ४५॥

**चतुर्धाकरण में भी यही समझना चाहिए-**

**( २७४० ) चतुर्धाकरणे च निर्देशात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, चतुर्धाकरणे = चतुर्धाकरण की प्रक्रिया में भी, निर्देशात् = शास्त्रीय निर्देश के अनुसार ब्राह्मणों को ही अधिकार है।

**व्याख्या—** चतुर्धाकरण का तात्पर्य है पुरोडाश को चार भागों में विभाजित करना। दर्श-पूर्णमास याग में की जाने वाली चतुर्धाकरण की प्रक्रिया का अधिकार भी ब्राह्मणों को ही है। 'ब्राह्मणानामेवेदं हविः सोम्यानां सोम पीथिनाम्' यह हवि सोमपीथ ब्राह्मणों का है। 'नेह ब्राह्मणस्यास्ति' ब्राह्मणों से इतर (क्षत्रिय या वैश्य) का नहीं। इस प्रकार से मात्र ब्राह्मण ही ऋत्विज् होने का अधिकार रखता है, क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं॥ ४६॥

**( २७४१ ) अन्वाहार्ये च दर्शनात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** च = तथा, दर्शनात् = दर्शन के आधार पर, अन्वाहार्ये = अन्वाहार्य दक्षिणा के अन्तर्गत भी ऐसा ही है।

**व्याख्या—** अन्वाहार्य दक्षिणा का आशय उस दक्षिणा से है, जो दर्श-पूर्णमास याग के अन्तर्गत ब्राह्मणों को दी जाती है। ब्राह्मण ही उक्त अन्वाहार्य दक्षिणा का अधिकार रखता है, क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ऋत्विक् कर्म में मात्र ब्राह्मण ही अधिकृत है॥ ४७॥

## ॥ इति द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

# परिशिष्ट–

## मीमांसादर्शन–सूत्रानुक्रमणिका

| सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण |
|---|---|---|---|---|---|
| आज्यमपीति चेत् | ५.४.२० | आवृत्या मन्त्रकर्म | १०.३.२५ | उक्थ्याच्च वचनात् | १०.५.४३ |
| आज्यसंस्था प्रति | ९.४.५२ | आवेश्येरन् वाऽर्थ | ९.२.४२ | उक्थ्यादिषु वार्थ | ३.३.२९ |
| आज्याच्च सर्व | ३.५.१ | आश्रयिष्वविशेषेण | ४.१.१८ | उखायां काम्य | १२.४.१७ |
| आज्ये च दर्श | ३.५.४ | आश्रितत्वाच्च | ९.२.११ | उत्कर्षः संयोगा | ११.३.४८ |
| आतञ्चनाभ्यास | ६.५.४ | आसादनमिति चेत् | ११.२.३८ | उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य | ५.४.१० |
| आदाने करोतिशब्दः | ४.२.६ | इज्यायां तद्गुण | ६.६.३९ | उत्कर्षे सूक्तवाकस्य | ११.३.५३ |
| आदितो वा तन्न्याय | १०.५.८ | इज्याविकारो वा | ३.५.४८ | उत्कर्षो वा ग्रहणाद् | ३.३.२४ |
| आदितो वा प्रवृत्तिः | १०.५.६ | इज्याशेषात्स्विष्ट | १०.७.१० | उत्कर्षो वा दीक्षित | ६.५.३९ |
| आदित्यवद्यौगप | १.१.१५ | इतरप्रतिषेधो वा | ११.२.२६ | उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत् | ९.३.१८ |
| आदेशार्थेतरा | ६.५.२७ | इतरस्याश्रुतत्वाच्च | ८.३.१९ | उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ | ९.३.३९ |
| आधानं च भार्या | ६.८.१३ | इतरेषु तु पित्र्याणि | ६.८.२५ | उत्तरवदिप्रतिषेध | ७.३.२० |
| आधानेऽपि तथेति | ३.८.३७ | इति कर्तव्यताऽविधे | ७.४.१ | उत्तरस्य वा मन्त्रा | १०.३.१५ |
| आधाने सर्वशेष | २.३.४ | इतरो वा तस्य तत्र विधानात् | | उत्तरार्थस्तु स्वाहा | ८.४.१४ |
| आनन्तर्य व साम्ना | १०.८.५५ | १२.२.२८ | | उत्तरासु न यावत्स्व | ११.१.४७ |
| आनन्तर्यमचोदना | ३.१.२४ | इष्टित्वेन तु | ६.८.२ | उत्तरास्वश्रुतित्वा | ११.१.१९ |
| आनन्तर्यात्तु चैत्री | ६.५.३१ | इष्टित्वेन संस्तुते | ६.८.७ | उत्थाने चानुप्ररोहात् | ६.५.३६ |
| आनर्थक्यं च संयोगा | ६.१.४७ | इष्टिपूर्वत्वाद | ६.८.१ | उत्पत्तावभिसम्बन्ध | ४.४.३७ |
| आनर्थक्यात्तदङ्गेषु | ३.१.१८ | इष्टिरयक्ष्यमाणस्य | ५.४.९ | उत्पत्तिकालविषये | ४.३.३७ |
| आनर्थक्यात्त्वधिकं | १०.४.९ | इष्टिराजसूय | ११.२.११ | उत्पत्तितादर्थ्या | १०.८.२९ |
| आनर्थक्यादकारणं | १.४.२२ | इष्टिरारम्भसंयोगा | १०.१.४ | उत्पत्तिनां समत्वाद्वा | ७.४.८ |
| आनर्थक्यान्नेति | ५.३.३५ | इष्टिरिति चैक | ११.२.१९ | उत्पत्तिनामधेयत्वाद् | ८.३.२२ |
| आनुपूर्व्यवतामेके | १०.५.१ | इष्टिषु दर्शपूर्णमास | ८.१.११ | उत्पत्तिरिति चेत् | ३.६.६ |
| आप्तिः संख्या | १०.२.८ | इष्ट्यन्तेन वातदर्था | ५.३.३० | उत्पत्तिर्वा प्रयोजक | ११.३.३९ |
| आमने लिङ्गदर्श | १०.४.७ | इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं | ३.६.११ | उत्पत्तिशेषवचनं च | ७.४.९ |
| आमिक्षो भयभाव्य | ८.२.१९ | इष्ट्यावृत्तौ प्रयाज | ९.१.३४ | उत्पत्तेश्चातत्प्रधान | ४.३.२ |
| आम्नातस्त्वविकां | ९.४.१२ | ईहार्थश्चाभावात् | १०.२.५१ | उत्पत्तेस्तु निवेशः | १०.८.६६ |
| आम्नातादन्यदधि | ९.१.५० | उक्तं क्रियाभिधानम् | ७.३.१ | उत्पत्तौ कालभेदात् | १०.६.७१ |
| आम्नानं परिसंख्यार्थं | १०.५.३९ | उक्तं च तत्त्वमस्य | ९.३.२८ | उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः | ३.७.२६ |
| आम्नायवचनं तद्वत् | ११.२.४१ | उक्तं तु वाक्यशेष | १.२.२२ | उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् | ६.१.४२ |
| आम्नायवचनाच्च | १२.४.३६ | उक्तं तु शब्दपूर्वत्वं | १.१.२९ | उत्पत्तौ येनसंयुक्तं | ४.२.१९ |
| आम्नायस्य क्रियार्थ | १.२.१ | उक्तं समवाये पार | ८.४.१७ | उत्पत्तौ वाऽवचना | १.१.२४ |
| आरम्भणीय विकृतौ | १२.२.१९ | उक्तं समाम्नायैदम | १.४.१ | उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा | ७.१.७ |
| आरम्भस्य शब्द | ११.१.१० | उक्तमनिमित्तत्वम् | ६.१.४९ | उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा | ७.१.२ |
| आरम्भासमवायाद्वा | १०.४.२७ | उक्तमभावदर्शनम् | १०.५.४० | उत्पत्त्यसंयोगात् | ४.२.१४ |
| आराच्छिष्टमसंयु | ३.६.३२ | उक्तश्चानित्यसंयोग | १.२.५० | उत्पन्नाधिकारात् | ३.५.१० |
| आरादपीति चेत् | ३.७.३ | उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः | ८.४.९ | उत्पन्नाधिकारो | ७.३.९ |
| आर्थापत्याच्च | ९.१.७ | उक्ता विकाराच्च | १०.५.१९ | उत्सर्गस्य क्रत्वर्थ | १०.३.७१ |
| आर्षेयवदिति | ६.८.३३ | उक्त्वा च यजमा | ३.७.३७ | उत्सर्गाच्च भक्त्या | ९.३.३८ |
| आवापवचनं वा | १०.५.२२ | उक्थाऽग्निष्टोम | १०.५.४९ | उत्सर्गेऽपि परिग्रहः | १२.४.२५ |
| आवृत्तिस्तु व्यवाये | १०.६.३१ | उक्थ्यविच्छेद | १०.५.४६ | उत्सर्गे तु प्रधान | ३.७.१९ |

| सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण |
|---|---|---|---|---|---|
| जैमिनेः परतन्त्रत्वा | १२.१.७ | तत्रैकत्वमयज्ञा | ४.१.११ | तथा यावदुक्तमा | ६.१.२४ |
| ज्ञाते च वाचनं | ३.८.१८ | तत्रोत्पत्तिरविभक्ता | ४.१.४२ | तस्या यूपस्य वेदिः | ३.७.१३ |
| ज्योतिष्टोमे तुल्या | ४.४.३९ | तत्रौषधानि चोद्यन्ते | ८.४.२५ | तथावभृथः सोमात् | ७.३.१२ |
| ज्योतिष्टोमोम्यस्तु | १०.६.६५ | तत् श्रुतौ चान्य | १०.१.४० | तथा व्रतमुपेतत्वात् | १२.१.२० |
| तच्चोदकेषु मन्त्रा | २.१.३२ | तत्संयोगात्कर्मणो | ३.७.४० | तथा शरेष्वपि | ८.३.३३ |
| तच्चोदना वेष्टेः | ८.४.१८ | तत्संस्कारश्रुते | १०.८.३० | तथा सोमविकारा | ५.४.२६ |
| तच्छब्दो वा | ५.३.५ | तत्सर्वत्राविशेषात् | ३.४.३४ | तथा स्यादध्वर | ११.२.१८ |
| तच्छेषो नोपपद्यन्ते | १.४.१९ | तत्सर्वार्थमनादेशात् | ४.३.१३ | तथा स्वामिनः फल | ६.३.२१ |
| ततश्च तेन सम्ब | ९.१.८ | तत्सर्वार्थमविशेषा | ३.३.३५ | तथा हि लिङ्गदर्शनम् | ६.२.२९ |
| ततश्चावचनं | ९.१.३७ | तत्सिद्धिः | १.४.२३ | तथाह्वानमपीति | ३.२.५ |
| ततोऽपि यावदुक्तं | १०.७.३४ | तथाऽग्निहविषोः | ८.४.८ | तथेतरस्मिन् | ८.३.३५, |
| तत्कालात्त्वावर्तेत | ११.३.२२ | तथाऽपूर्वम् | ५.१.२९ | | १०.७.५५,११.१.४२,१२.४.२४ |
| तत्कालास्तु यूपकर्म | ११.३.६ | तथाभिधानेन | ३.७.९ | तथेहापि स्यात् | ८.३.३० |
| तत्काले वा लिङ्गदर्श | ३.८.३९ | तथाऽऽज्यभागाग्नि | १०.१.१६ | तथेह | ११.१.४०, |
| तत्कालो वा प्रस्तरवत् | ११.३.११ | तथाऽऽशिरे | ११.३.४१ | | ११.२.३७ |
| तत्पृथक्त्वं च दर्श | १०.३.२८ | तथा कर्मोपदेशः | ११.१.१७ | तथैकार्थविकारे | १०.७.६१ |
| तत्प्रकरणे यत्त | ३.४.६ | तथा कामोऽर्थसंयो | ३.८.१३ | तथोत्तरस्यां ततौ | १०.४.२४ |
| तत्प्रकृतेर्वा | ५.३.४० | तथा च ज्वलनम् | १०.१.५७ | तथोत्थानविसर्जने | ३.२.१० |
| तत्प्रकृत्यर्थं यथाऽन्ये | ३.६.१४ | तथा च लिङ्गम् | ४.१.१७ | तथोत्पत्तिरितरेषां | ७.३.३२ |
| तत्प्रख्यञ्चान्य शास्त्रम् | १.४.४ | तथा च लिङ्गदर्शनम् | १०.१.४४, | तदकर्माणि च | ६.३.३ |
| तत्प्रतिषिध्य प्रकृति | ९.४.१८ | | १०.३.६१,१०.५.७२ | तदपेक्षं च द्वादशत्वम् | ११.४.२० |
| तत्प्रतिषेधे च तथा | ९.४.३२ | तथा च लोकभूतेषु | ४.१.६ | तदभावेऽग्निवदिति | ९.२.५५ |
| तत्प्रधाने वा | ३.४.७ | तथा च सोमचमसः | १०.३.६८ | तदभ्यासः समासः | ९.२.२१ |
| तत्प्रयुक्तत्वे च धर्म | ९.१.१५ | तथा चान्यार्थदर्शनम् | ४.४.३१, | तदर्थत्वात्प्रयोगस्य | १.३.३५ |
| तत्प्रवृत्तिर्गणेषु | ८.१.१५ | ५.१.७,५.२.२०,६.१.११,३८,६.५.१६, | | तदर्थमिति चेन्न | १०.८.६४ |
| तत् संयोगात् | २.३.२३ | ६.७.१०,८.१.३१,८.३.५,९.२.१८,१०.२.३२, | | तदर्थवचनाच्च | ५.४.७ |
| तत्संस्तवाच्च | ३.४.५४ | १०.८.४६,५८,११.१.४५,७०,११.२.५,१५, | | तदर्थशास्त्रात् | १.२.३१ |
| तत्प्रवृत्या तु | १२.२.३५ | ११.४.३,२३,१२.२.२४ | | तदष्टसंख्यं श्रवणात् | ४.१.४६ |
| तत्र जौहवमनुयाज | ४.१.४३ | तथा चान्यार्थदर्शनं कामु | ११.१.५८ | तदशक्तिश्चानुरूप | १.३.२८ |
| तत्र तत्त्वमभियोग | १.३.२७ | तथा तद्ग्रहणे स्यात् | १०.७.३२ | तदाऽवयवेषु स्यात् | ११.२.१६ |
| तत्र दानं विभागेन | १०.३.५० | तथा द्रव्येषु गुण | ४.२.२५ | तदाख्यो वा प्रकरणो | ३.२.२१ |
| तत्र प्रतिहोमो न | ६.५.४० | तथा निर्मन्थ्ये | १.४.१२ | तदादि वाऽभिसम्बन्धा | ५.१.२४ |
| तत्र विप्रतिषेधाद्वि | ६.५.५१ | तथान्तः क्रतुप्रयुक्तानि | ६.२.३० | तदावृत्तं तु जैमिनि | ८.३.७ |
| तत्र सर्वेऽविशेषात् | ४.३.२७ | तथा पयः प्रतिषेधः | ११.१.५२ | तदुक्तदोषम् | ९.२.२ |
| तत्रान्यानृत्विजो | १०.२.४१ | तथा पूर्ववति स्यात् | ८.३.२७ | तदुक्तित्वाच्च | ६.१.७ |
| तत्राभावस्य हेतु | ८.४.२१ | तथा फलाभावात् | १.२.३ | तदुक्ते श्रवणा | ४.२.२८ |
| तत्रार्थात्कर्तृ | ३.७.२१ | तथा भक्षप्रैषा | ६.८.२८ | तदुत्पत्तेर्वा प्रवचन | १२.३.२४ |
| तत्रार्थात्प्रतिवचनम् | ३.५.४२ | तथाभिघारणस्य | १०.३.३८ | तदुत्पत्तेस्तु निवृत्ति | ९.२.४१ |
| तत्राविप्रतिषिद्धो | ९.२.५ | तथा भूतेन संयोगाद् | १०.३.१० | तदुत्सर्गं कर्माणि | ४.१.३ |
| तत्राहर्गणेऽर्थाद्वा | १०.६.७८ | तथा याज्यापुरोरुचोः | २.१.१९ | तदुपहूत उपह्वयस्वे | ३.५.४१ |

| सूत्र | सूत्रविवरण |
|---|---|
| दर्शपूर्णमासयो | ४.४.२९ |
| दर्शयति च | ९.२.१६ |
| दशत्वं लिङ्गदर्श | ३.७.२७ |
| दशपेये क्रियप्रति | ११.२.५५ |
| दशमविसर्गवचनाच्च | १०.६.३९ |
| दशमेऽहनीति | १०.६.४० |
| दातुस्त्वविद्यमान | १०.७.१६ |
| दाने पाकोऽर्थलक्षण: | १०.३.३६ |
| दिग्विभागश्च तद्वत् | ३.४.१० |
| दीक्षाकालस्यशिष्ट | ६.५.३८ |
| दीक्षाणां चोत्तरस्य | ११.२.५९ |
| दीक्षादक्षिणं तु | ३.७.११ |
| दीक्षापराधे चानुग्रहात् | ६.५.३५ |
| दीक्षापरिमाणे यथा | ६.५.२८ |
| दीक्षासु विनिर्देशा | ६.७.१३ |
| दीक्षितस्य दानहोम | १०.८.१२ |
| दीक्षिताऽदीक्षित व्यय | १०.६.५८ |
| दीक्षोपसदां च संख्या | ११.४.२१ |
| दूरभूयस्त्वात् | १.२.१२ |
| दृष्ट: प्रयोग इति | ८.३.३२, ११.१.३९ |
| दृश्यते | २.१.२३ |
| देवतया वा नियम्येत | ८.३.२ |
| देवता तु तदाशी | ९.३.३७ |
| देवता वा प्रयोजयेद | ९.१.६ |
| देवतायां च तदर्थ | ६.३.१९ |
| देवतायाश्च हेतुत्वे | १०.१.२९ |
| देवतायास्त्वनिर्वच | १०.८.५२ |
| देवताश्रये च | ६.२.१९ |
| देशपृथक्त्वान्मन्त्रो | १२.१.४४ |
| देशमात्रं वा प्रत्यक्षं | ३.७.१६ |
| देशबद्धमुपांशुत्वं | ९.१.२० |
| देशमात्रं वाऽशिष्टे | ३.७.१४ |
| दैक्षस्य चेतरेषु | ८.१.१३ |
| दैवतैर्वैककर्म्यात् | ५.२.११ |
| दोषात्तु वैदिके | ३.४.३३ |
| दोषात्त्विष्टिर्लौकिके | ३.४.२८ |
| दोहयो: कालभेदाद | ३.६.२८ |
| द्यावोस्तथेति चेत् | ९.३.२० |
| द्रवत्वं चाविशिष्टम् | ८.२.१८ |
| द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् | ३.१.११ |
| द्रव्यं वा स्याच्चोदना | २.३.२२ |
| द्रव्यगुणसंस्कार | ३.१.३ |
| द्रव्यत्वेऽपि समु | ११.४.११ |
| द्रव्यदेवतं तथेति | ११.२.८ |
| द्रव्यदेवतावत् | १२.२.२९ |
| द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसा | ६.१.१० |
| द्रव्यविकारं तु पूर्व | १२.४.१० |
| द्रव्यविधिसन्नि | १०.३.३९ |
| द्रव्यसंख्याहेतु | ९.१.११ |
| द्रव्यसंयोगाच्च | ३.४.२३ |
| द्रव्यसंयोगाच्चोद | २.२.१७ |
| द्रव्यसंस्कारकर्म | ४.३.१ |
| द्रव्यसंस्कारविरोधे | ६.३.३८ |
| द्रव्यसंस्कार: प्रकरणा | ३.८.३० |
| द्रव्यस्याकर्मकाल | ११.३.२ |
| द्रव्याणां कर्मसंयोगे | ६.१.१ |
| द्रव्याणां तु क्रियार्थाना | ४.३.८ |
| द्रव्याणि त्वविशेषेणा | ४.१.७ |
| द्रव्यादेशे तद् | ७.३.१६ |
| द्रव्यान्तरवद्वा | ११.४.४६ |
| द्रव्यान्तरे कृतार्थ | ११.४.४४ |
| द्रव्यान्तरेऽनिवेशाद | ८.३.२० |
| द्रव्ये चाचोदितत्वाद् | २.४.२५ |
| द्रव्येष्वारम्भगामि | १०.४.२८ |
| द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् | ३.५.१६ |
| द्रव्योत्पत्तेश्चोभयो: | ६.४.२७ |
| द्रव्योत्पदेश इति चेत् | २.१.११ |
| द्रव्योपदेशाद्वा | ८.४.५ |
| द्वयोर्विधिरिति चेत् | ७.३.१० |
| द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं | ४.१.४८ |
| द्वादशशतं वा प्रकृति | ६.७.१५ |
| द्वादशाहस्तु लिङ्गात् | ६.५.२९ |
| द्वादशाहस्य व्यूढ | १०.५.७९ |
| द्वादशाहस्य सत्रत्व | १०.६.६० |
| द्वादशाहिकमहर्गणे | ७.४.१३ |
| द्वादशाहे तत्प्रकृति | ११.४.१६ |
| द्वादशाहे तु वचनात् | १०.६.६६ |
| द्वित्वबहुत्वयुक्तं | ३.३.१७ |
| द्विपुरोडाशायां स्याद् | १०.८.६२ |
| द्विविभाग: स्याद् | १०.७.२० |
| द्विरात्रादिनामैका | ८.२.२६ |
| द्वेष्ये वा चोदना | १०.२.४५ |
| द्वैधं वा तुल्य | ९.१.५१ |
| द्वैयहकाल्ये तु | ५.४.२३ |
| द्व्यर्थत्वं च विप्रति | ७.१.६ |
| द्व्याधानं च द्वियज्ञ | ६.१.२२ |
| द्व्याम्नातेषूभौ | ३.८.१७ |
| धर्ममात्रे तु कर्म | २.१.९ |
| धर्ममात्रे त्वदर्शना | ११.१.२८ |
| धर्मविप्रतिषेधाच्च | ३.३.४० |
| धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् | १.३.१ |
| धर्मस्यार्थकृतत्वाद् | ९.२.४० |
| धर्माद्वा स्यात् | १०.८.५१ |
| धर्मानुग्रहाच्च | ८.२.२३, ८.१.३६,४२ |
| धर्मोपदेशाच्च न हि | ३.३.४ |
| धारणार्थत्वात्सोमे | १२.१.१९ |
| धारणे च परार्थत्वात् | ९.४.२७ |
| धारासंयोगाच्च | १०.५.६४ |
| धुर्येष्वपीति चेत् | १०.५.२४ |
| धेनुवच्चाश्वदक्षिणा | १०.३.६५ |
| ध्रौवाद्वा सर्वसंयो | १०.८.४८ |
| न ऋग्व्यपदेशात् | २.१.४५ |
| न कर्मण: परार्थ | १२.४.१३ |
| न कर्मसंयोगात् | १०.४.४५, ११.१.१३,१२.१.३४,४१ |
| न काम्यत्वात् | ६.१.३२ |
| न कालभेदात् | ११.४.३७ |
| न कालविधिश्चो | ३.२.६ |
| न कालेभ्य उपदि | ६.२.२६ |
| न कृत्स्नस्य पुन: | ११.३.३१ |
| न क्रिया स्यादिति | १.३.३४ |
| न गुणादर्थकृत | ९.४.३ |
| न गुणार्थत्वात् | १२.१.२८ |
| न गुणार्थत्वाप्राप्ते | १०.८.४० |
| न चाङ्गविधिरङ्गे | १०.३.५ |
| न चानङ्गं सकृ | १०.८.५९ |
| न चाविशेषाद् | १०.३.२९ |
| न चेदन्यं प्रकल्प | १०.८.७ |

| सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण | सूत्र | सूत्रविवरण |
|---|---|---|---|---|---|
| न चैकं प्रति शिष्यते | २.७.१८ | न नित्यत्वात् | ६.२.१० | न वा शब्दकृतत्वा | ५.२.९ |
| न चैकसंयोगात् | ६.५.५३ | न निर्वापशेषत्वात् | १०.२.६४ | न वा शब्दपृथक्त्वा | १०.७.२६ |
| न चोदनातो हि | ९.१.५ | न पक्तिनामत्वात् | ३.३.३८ | न वा संयोगपृथक्त्वा | ६.६.३८ |
| न चोदनापृथक् | ११.३.५२ | न परार्थत्वात् | ९.१.४४ | न वा संस्कार | १०.४.५२ |
| न चोदनाभिसम्ब | १०.२.६६ | न पूर्वत्वात् | १.२.२१ | न वा स्यादगुण | १०.४.५८ |
| न चोदनाविधिशेष | ११.२.९ | न पूर्ववत्वात् | ७.१.११ | न वा स्वाहाकारेण | ८.४.११ |
| न चोदनाविरोधात् | ६.४.९, | न प्रकृतावक् | १०.६.१८ | न विंशतौ दशेति | ८.३.१४ |
| | ६.८.३३ | न प्रकृतावपीति | ८.४.१६ | न विधेश्चोदित | ११.१.६७ |
| न चोदनाविरोधाद् हविः | ३.५.९ | न प्रकृतावशब्द | १०.७.६३ | न वैदिकमर्थ | ७.३.३१ |
| न चोदनैकत्वात् | १०.७.७३ | न प्रकृतेरशास्त्र | ३.३.२३ | न वैश्वदेवो हि | १२.१.२६ |
| न चोदनैकवाक्य | ११.२.५३ | न प्रकृतेरेकसंयो | ३.३.१९ | न वोत्पत्तिवाक्य | ११.३.१२ |
| न चोदनैकार्थ्यात् | ३.६.५ | न प्रतिनिधौ सम | ६.३.३२ | न व्यर्थत्वात्सर्व | ७.३.११ |
| न चोदितत्वात् | १०.५.३३ | न प्रयोगसाधारण्यात् | ११.३.२७ | न शब्दपूर्वत्वात् | १०.८.११ |
| न तत्प्रधानत्वात् | ६.६.५, | न प्रसिद्धग्रहण | १०.६.५६ | न शब्दैकत्वात् | ४.३.३३ |
| | ९.१.५८ | न प्राङ्नियमात् | १२.१.३७ | न शास्त्रपरिणाम | १.३.६ |
| न तत्र ह्यचोदित्वात् | ६.८.३४ | न भक्तित्वात् | ७.३.१४ | न वा शास्त्रलक्षणत्वात् | ११.३.३८ |
| न तत्सम्बन्धात् | ५.१.२२ | न भक्तित्वादेषा | ६.५.३४ | न शेषसन्निधानात् | ४.१.३० |
| न तदर्थत्वाल्लोकवत्त | २.१.१२ | न भूमिः स्यात् | ६.७.३ | न श्रुतिप्रतिषेधात् | ११.३.५० |
| न तदाशीष्ट्वात् | १०.२.५५ | न मिश्रदेवतात्वा | ५.४.२१ | न श्रुतिविप्रषेधात् | ३.६.२४, |
| न तदीप्सा हि | ६.३.३४ | न यज्ञस्याश्रुतित्वा | ९.१.२४ | | ६.८.१६ |
| न तद्भूतवचनात् | १०.१.२० | न लौकिकानामा | ८.४.६ | न श्रुतिसमवायित्वा | २.१.१६ |
| न तद्वत्प्रयोजनै | ३.६.३८ | न वाऽङ्गभूतत्वात् | १०.१.७ | न संयोगपृथक्त्वा | १२.१.२३ |
| न तद्वाक्यं हि | ३.७.४ | न वाऽनारभ्यवाद | ६.६.३ | न सन्निपातित्वाद | ११.४.५४ |
| न तल्लक्षणत्वादु | ६.४.२३ | न वाऽर्थान्तरसंयोग | १०.१.४७ | न समत्वात्प्रयाज | १०.६.१२ |
| नतस्यादुष्टत्वाद | ६.५.८ | न वाऽविरोधात् | १२.२.३६ | न समवायात् | ६.२.१२, |
| न तस्यानधिकाराद | ४.२.१३ | न वासम्बन्धात् | ५.३.३३ | | ९.१.३९,११.२.४३ |
| न तस्येति चेत् | ४.१.३८ | न वाऽकर्मपृथक् | ११.२.२० | न सर्वस्मिन्निवेशात् | ३.३.७ |
| न तुल्यत्वात् | ३.६.७, | न वा कल्पविरोधात् | ६.६.२२ | न सर्वेषामनधिकारः | ३.७.३५ |
| | १०.७.३१ | न वा कृतत्वात् | १२.१.४३ | न स्याद्देशान्तरे | १.३.२० |
| न तुल्यहेतुत्वादुभ | १०.८.३ | न वाक्यशेषत्वात् | ८.१.८ | न स्याद्विशये तन्न्या | १०.६.२० |
| न तूत्पन्ने यस्य | ९.४.२९ | न वाक्यशेषत्वद्गुणा | ८.४.२३ | न स्वामित्वं हि | ६.६.२० |
| न त्वशेषे वैगुण्यात् | ६.४.११ | न वा क्रत्वभिधाना | ७.४.१५ | नाऽनङ्गत्वात् | ६.३.३० |
| न त्वनित्याधिकारो | १०.८.३६ | न वा तासां तदर्थ | ३.६.१२,१७ | नाप्रकरणत्वाद | ३.८.३८ |
| न त्वाम्नातेषु | २.१.२२ | न वा परार्थत्वा | १०.४.५० | नाशब्दं तत्प्रमाण | ४.१.१४ |
| न त्वेतत्प्रकृति | १०.२.३९ | न वा परिसंख्यानात् | ३.७.३३ | नासन्नियमात् | १.३.१२ |
| न दक्षिणा शब्दात्त | १०.२.३७ | न वा पात्रत्वाद | ४.१.३४ | नाकृतत्वात् | ५.१.१० |
| न देवताग्निशब्द | ६.३.१८ | न वा प्रकरणात् | १.४.१४ | ना चोदितत्वात् | ९.२.६० |
| न देशमात्रत्वात् | ११.२.४६ | न वा प्रधानत्वा | १०.५.७६ | नातत्संस्कारत्वात् | ६.५.२४ |
| न द्व्यर्थत्वात् | १०.१.३७ | न वा प्रयोगसम | ६.८.३७ | नादवृद्धिपर | १.१.१७ |
| न नाम्ना स्याद | २.४.१० | न वार्थधर्मत्वात् | ७.४.१७ | नादानस्यानित्य | ६.७.१२ |

## ॥ इति मीमांसादर्शन–सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

# : युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :

ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें : http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता :** विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उथाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार :** जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक :** मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार :** जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता :** जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है"।
- **'२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' के उद्‌घोषक :** जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी :** जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक :** जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्‌बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी :** जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक :** जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक :** जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्‌भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक :** जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना :** जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

**गायत्री परिवार** जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।